श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्

श्रील श्रीजीवगोस्वामिप्रभुपाद-विरचिते

श्रीभागवतसन्दर्भे

षष्ठः

# श्रीप्रीतिसन्दर्भः

श्रीवृन्दावनधामवास्तव्येन न्यायवैशेषिकशास्त्रि, नव्यन्यायाचार्य्य,
काव्यव्याकरणसांख्यमीमांसा वेदान्ततर्कतर्कतर्क
वैष्णवदर्शनतीर्थाद्युपाध्यलङ्कृतेन
श्रीहरिदासशास्त्रिणा
सम्पादितः ।

सद्ग्रन्थप्रकाशक
श्रीगदाधरगौरहरिप्रेस
श्रीहरिदास निवास, कालीदह,
पो०—वृन्दावन, जिला—मथुरा,
(उत्तर प्रदेश) पिन—२८११२१

सङ्गणकसंस्करणं दासाभासेन हरिपार्षददासेन कृतम्

मुद्रक॥प्रकाशक :—

श्रीहरिदासशास्त्री

श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस, श्रीहरिदास निवास, कालीदह,

पो०—वृन्दावन, जिला—मथुरा (उ० प्र०)

पिन—२८११२१

प्रकाशनतिथि—

श्रीगुरुपूर्णिमा

२१-७-८६

प्रथम संस्करणम्—१०००

"भारतशासनाधीनशिक्षासंस्कृतिमन्त्रणालयतः प्राप्तसाहाय्येन मुद्रितोऽयं ग्रन्थः"

"Published with the financial assistance from the Ministry of Education. Govrnment of India."

प्रकाशन सहायता—

१४२-००

✻ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ✻

# विज्ञप्तिः

अधुना "प्रीति सन्दर्भ" ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। रचयिता श्रीमज्जीव गोस्वामि चरण हैं। यह ग्रन्थ 'षड् सन्दर्भ नाम से विख्यात भागवत सन्दर्भ के मध्य में षष्ठ सन्दर्भ है। श्रीमद् भागवत ग्रन्थ के सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजन, निरूपण प्रसङ्गमें षट् सन्दर्भ ग्रन्थ की प्रवृत्ति हुई है। तत्त्व, भगवत, परमात्म, श्रीकृष्ण सन्दर्भ नामक सन्दर्भ चतुष्टय में सम्बन्ध तत्त्व का वणन है, अभिधेय---अर्थात् साधन तत्त्व का वर्णन पञ्चम सन्दर्भ भक्ति सन्दर्भ में हुआ है, एवं प्रयोजन तत्त्व का वर्णन षष्ठ सन्दर्भात्मक प्रीति सन्दर्भ में हुआ है।

प्रीति सन्दर्भ में मानव का परम पुरुषार्थ निरूपित हुआ है। मानव आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति पूर्वक आत्यन्तिक सुख प्राप्ति के अभिलाषी है। वही पुरुषार्थ शब्द वाच्य है। यदि उपाय विशेष के द्वारा दुःख निवृत्ति के अनन्तर पुनर्वार दुःख उपस्थित होने की सम्भावना होती है तो उस से कोई सन्तुष्ट नहीं हो सकता है, सुख के मध्य में यदि दुःख उपस्थित होता है, वा वह समाप्त हो जाता है, अथवा वह प्रचुर परिमाण में न हो तो भी उससे कोई सन्तुष्ट नहीं होता है, अतएव जीव आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति पूर्वक अखण्ड अनन्त परमानन्द लाभ करने का इच्छुक है।

अनुकूल वेदनीय को सुख कहते हैं, एवं प्रतिकूल वेदनीय को दुःख कहते हैं। मायिक सुख-दुःख मिश्रित है, सत्त्व, रज, तम, स्वरूप मायिक गुण समूह अन्योन्य मिलित हो कर ही सदा रहते हैं। अतः मायिक सुख सु प्रचुर नहीं है। शास्त्र, ब्रह्मानन्द को ही अखण्ड अनन्त परमानन्द निर्देश किये हैं। वह मायातीत है, जीव स्वरूप–आत्मा--मायातीत एवं अनाविल आनन्द होने पर भी, उस की सत्त्वा अणुमात्र होने के कारण जीव स्वरूप साक्षात्कार के द्वारा भी सुप्रचुर आनन्द लाभ नहीं होता है। सुतरां ब्रह्मानन्द प्राप्ति व्यतीत परमानन्द लाभ नहीं होता है।

जिस ब्रह्मानन्दानुभव से अखण्ड परमानन्द लाभ होता है, उस को परतत्त्व कहते हैं। वह अद्वय ज्ञान स्वरूप है। शक्ति प्रकाश के तारतम्य के अनुसार वह ब्रह्म, परमात्मा, एवं भगवान्–त्रिविध रूप से अभिहित होता है। निखिल शक्ति का प्रकाश मय स्वरूप भगवान् हैं, शक्ति का आंशिक प्रकाशमय स्वरूप परमात्मा हैं, एवं शक्ति का अभिव्यक्ति हीन प्रकाश ब्रह्म हैं। विविध स्वरूप धर्म समन्वित परतत्त्व ही शास्त्र में परमानन्द स्वरूप वर्णित है। सुतरां उस के त्रिविध प्रकाश ही परमानन्द मय हैं। किन्तु भगवत् स्वरूप में विविध शक्ति कार्य्य की अभिव्यक्ति होने के कारण उस में आनन्द वैचित्री विद्यमान है।

मुक्ति में ही परमानन्द लाभ होता है। मुक्ति शब्द का अर्थ परतत्त्व साक्षात् कार में पर्य्यवसित है। जीव, श्रीभगवान् का अंश एवं नित्य सेवक होने पर भी स्वभावतः वह अनादि काल से भगवज् ज्ञान लाभ से वञ्चित है। एतज्जन्य भगवदीय माया के द्वारा पराभूत होकर निज स्वरूप ज्ञान का अभाव निबन्धन माया कल्पित देहादि में आवेश हेतु अनादि संसार दुःखसे वह आबद्ध है। परतत्त्व साक्षात् कार के सहित अर्थात् भगवज् ज्ञान के सहित ही सूर्य्योदय से अन्धकार विनाश के समान संसार दुःख निवृत्त होता है। इस हेतु उस को मुक्ति कहते हैं, उस परतत्त्व परमानन्द स्वरूप होने के कारण मुक्ति में परमानन्द लाभ

होता है। परतत्त्व साक्षात् कार व्यतीत जीव स्वरूप साक्षात् कार की सम्भावना न होने कारण, जीव स्वरूप साक्षात् कार से मुक्ति हो ही नहीं सकती है।

अतएव परतत्त्व साक्षात् कारात्मक मोक्ष की परम पुरुषार्थता निश्चित होती है। वह साक्षात्कार दो प्रकार से आविर्भूत होता है। अस्पष्ट विशेष रूप से—एवं स्पष्ट विशेष रूप से, ब्रह्म में विशेष अर्थात् शक्ति एवं शक्ति कार्य्य की अभिव्यक्ति न होने के कारण, वह अस्पष्ट विशेष है, और परमात्मा तथा भगवान् में शक्ति कार्य्य की अभिव्यक्ति विद्यमान हेतु तदुभय स्पष्ट विशेष हैं। अस्पष्ट विशेष परतत्त्व वा ब्रह्म आनन्द स्वरूप होने पर भी उस में आनन्द वैचित्री नहीं है। स्पष्ट विशेष परतत्त्व आनन्द स्वरूप होकर भी शक्ति क्रिया के द्वारा आनन्द वैचित्र्य शाली है, इस हेतु तदीय स क्षात्कार श्रेष्ठतर है। उस से भी भगवत् स्वरूप में आनन्द वैचित्री की पराकाष्ठा निबन्धन तदीय साक्षात् कार श्रेष्ठतम है।

बहु गुण सम्पन्न व्यक्ति—प्रीति हीन होने से उसका गुण का गौरव नहीं होता है, पक्षान्तर में बहु गुणश ली व्यक्ति को प्रीति नेत्र से न देखने से भी उसका गुण अनुभूत नहीं होता है। सुतरां विविध स्वरूप धर्म समन्वित श्रीभगवान् के प्रियत्व लक्षण धर्म विशेष का साक्षात् कार न होने से अर्थात् वह प्रीति करता है, इस प्रकार बोध न होने से एवं जो साक्षात्कार लाभ करेगा उसकी प्रीति उसके प्रति न होने से भगवत् साक्षात् कार हेतु परमानन्द लाभ की सम्भावना नहीं है। इस से प्रतीत होता है कि प्रीति ही परमानन्द लाभ का एकमात्र उपाय है। इस हेतु मानव वृन्दों के पक्ष में प्रीति अ वेषण करना एकान्त कर्त्तव्य है। इस से प्रीति जो परम पुरुषार्थ है, यह निश्चित हुआ।

लोक व्यवहार से भी प्रीति की परमोपादेयता प्रतीत होता है, समस्त प्राणी ही प्रीति तात्पर्य्य विशिष्ट हैं। जिस में प्रीति है, उस के हेतु कर्म्म करने में लोक कुण्ठित नहीं होता है, यहाँतक कि-प्राण विसर्जन भी करता है, जिस के प्रति प्रीति नहीं है, उस के निमित्त लोक कुछ भी करना नहीं चाहता है।

पारस्परिक प्रीति तो जीवगण में है, किन्तु कोई भी प्रीति का योग्य विषय नहीं हो सकता है, कारण, अखण्ड अनन्त परमसुखात्मक वस्तु के प्रति ही सब लोक प्रीति करना चाहते हैं। कोई भी जीव-- उस प्रकार नहीं हो सकता है। इस हेतु जीव गण, क्रमशः प्रीति के विषय समूह की क्रमशः परित्याग करके नूतन प्रीत्यास्पद के अनुसन्धान में व्याकुल होते हैं। शैशव में जननी, बाल्य में सखा, यौवन में प्रेयसी, अनन्तर नूतन तर प्रिय के अनुसन्धान में सब लोक व्यग्र होते रहते हैं। समस्त व्यक्ति ही जब प्रीति के विषयानुसन्धान करते रहते हैं, तब बोध होता है कि--इस जगत् में प्रीति के विषय होने की योग्यता किसी में नहीं है। किन्तु एक ही व्यक्ति प्रीति का विषय है। वह कौन है?—जीव जन्म जन्मान्तर भ्रमण करते करते माता पिता, भ्राता भगिनी पत्नी पुत्र, लाभ, पूजा प्रतिष्ठा को प्राप्त किया है, किन्तु जिस को नहीं पाया है--वह भगवान् ही यथार्थ प्रीति के विषय हैं। श्रीभगवान् में ही प्रीति का पर्य्यवसान होता है। जो लोक, श्रीभगवान् में प्रीति करते हैं, वे स्वतन्त्र रूप से अपर किसी को प्रीति कर नहीं सकते हैं, मुक्ति भी उनके पक्ष में अतितुच्छ वस्तु है। सुतरां पूर्व में प्रीति को जो परम पुरुषार्थ कहा गया है, उस को भगवत् प्रीति के सम्बन्ध में ही जानना होगा।

प्रीति शब्द से सुख एवं प्रियता--एकदुभय का बंध ही होता है। उल्लासात्मक ज्ञान विशेष का नाम सुख है, एव विषय आनुकुल्य ही जिस का जीवन है, जिस के द्वारा विषय का आनुकूल्य ही होता है, तदनुगत भाव से उस को प्राप्त करने के निमित्त जो इच्छा होती है, उस में विषयानुभव हेतुक जो ज्ञान विशेष उदित होता है, उसको प्रियता कहते हैं।

विषय आश्रय भेद से प्रीति का आलम्बन द्विविध हैं। जिस को उद्देश्य कर प्रीति का उदय होता

है—वह प्रीति का विषय है। एवं जो प्रीति करता है—वह प्रीति का आश्रय है। श्रीकृष्ण प्रीति का विषय हैं। और जो प्रीति करते हैं, वे प्रीति का आश्रय हैं। श्रीकृष्ण प्रीति का श्रीकृष्ण--विषय हैं, एवं भक्त गण आश्रय हैं।

सुख एवं प्रियता में पार्थक्य है। सुख-माया शक्ति के सत्त्व गुण की वृत्ति है। एवं भगवत् प्रीति--स्वरूप शक्ति की वृत्ति है। स्वरूप शक्ति वा चिच्छक्ति की ह्लादिनी, सन्धिनी, सम्वित् ये तीन वृत्ति हैं। प्रीति—ह्लादिनी--अर्थात्–आनन्द शक्ति-सार समवेत सम्बित्- ज्ञान-रूपा है। प्रियता में सुख का धर्म विद्यमान है, तथापि प्रियता को सुख--नहीं कहा जा सकता है। सुख का स्वरूप वा जीवन है—एकमात्र अपना उल्लास। प्रियता में जो उल्लास है, वह प्रीति का विषय–वा, प्रियजन के उल्लास के अनुगत भाव से प्रकाशित होता है।

एकमात्र विषय अर्थात् प्रियजन का आनुकूल्य वा सुख साधन ही प्रियता का असाधारण धर्म वा स्वरूप है। सुतरां जिस से प्रियजन को सुख होता है, उस रीति से अथवा उस के अविरोध से उस को प्राप्त करने की इच्छा होती है, किन्तु प्रतिकूल से अथवा निज सुख के निमित्त नहीं। प्रियजन को प्राप्त करने की इच्छा के समय यदि प्रियजन के सुख में किसी प्रकार बाधा उपस्थित होती है तो, उस अवस्था में प्रियजन को प्राप्त करने की इच्छा नहीं होती है। इस अवस्था में भी हृदय में प्रियजन की स्फूर्त्ति वर्त्तमान रहती है। प्रियजन सुख पूर्वक है, यह जानकर उल्लास होता है। एवं प्रियजन के अनुकूल में उनको प्राप्त करने से उस प्राप्ति से उनका सुख हो रहा है, यह देख कर उल्लास होता है।

इस रीति से योग एवं वियोग—उभय अवस्था में ही प्रियता में उल्लास वर्त्तमान रहता है। सुतरां प्रियता सतत उल्लासमयी है। प्रीति में स्वसुख वासना विद्यमान न होने पर भी सर्वदा सुख वर्त्तमान रहता हैं। यह सुख—केवल प्रियजन के सुखानुभव सञ्जात है।

सुखके मूलमें किसी के आनुकूल्य करने की स्पृहा रहती है। किन्तु प्रियता में प्रियजन के आनुकूल्य करने को स्पृहा रहती है--यही हैं सुख के सहित प्रियता का पार्थक्य। सुख में--अपर का आनुकूल्य सम्बन्ध न होने के कारण--उसका विषय नहीं है। किन्तु प्रियजन का आनुकूल्य सम्बन्ध व्यतीत प्रियता का आविर्भाव न होने के कारण उसका विषय है।

चित्त का द्रवीभाव ही प्रीति का लक्षण है। हरिकथा--श्रवण समय में अश्रु पुलकादि का उद्गम ही चित्तार्द्रता का परिचायक है। कारणान्तर से चित्तार्द्रता वा रोमाञ्चादि प्रकाशित होने पर भी यदि अन्तः करण शुद्ध नहीं होता है तो प्रीति का सम्यगाविर्भाव नहीं होगा, यह समझना चाहिये। प्रीति का सम्यक् आविर्भाव से अन्तः करण विशुद्ध होता है। अन्य तात्पर्य्य रहित अन्तः करण के वृत्ति समूह में केवल प्रीति का अनुशीलन ही अन्तः करण विशुद्धि का परिचायक है। प्रीतिमान् व्यक्ति अपर किसी प्रकार अभीष्ट सिद्धि हेतु भगवत् प्राप्ति के अभिलाषी नहीं होते हैं। केवल तदीय माधुर्य्यास्वादन के निमित्त ही तत् प्राप्ति के अभिलाषी होते हैं। केवल भगवन्माधुर्य्यास्वादन ही प्रीति का तात्पर्य्य है, इस माधुर्य्यास्वादन का अर्थ है—श्रीभगवान् को सुखी देखना सुतरां इस में निज सुखाभि सन्धि का लेश भी नहीं रह सकता है।

प्रीति नित्य सिद्ध परिकर वृन्द में स्वतः सिद्ध रूप में वर्त्तमान है। उनकी कृपा परम्परा के क्रम से जीव गण में उसका आविर्भाव होता है।

प्रीति की प्रथमोदयावस्था में देहाद्यासक्ति तिरोहित होती है, एवं श्री भगवान् में प्रगाढ़ निष्ठा आविर्भूत होती है। सर्वावस्था में उस आवेश का स्थायित्व होता है, परमानन्द पूर्णता एवं संसर्गादि के द्वारा अपर दुःखी व्यक्ति को परमानन्दित करने की सामर्थ्य होती हैं।

श्रीभगवान् जिस प्रकार अद्वय ज्ञान तत्त्व हैं, प्रीति भी उस प्रकार अखण्ड स्वरूपा है। साधक की योग्यता के तारतम्यानुसार श्रीभगवदाविर्भाव का तारतम्य जिस प्रकार होता है, प्रीति का विषयालम्बन श्रीभगवान् के आविर्भाव तारतम्य के अनुसार उस प्रकार प्रीति के आविर्भाव त रतम्य होता है। अर्थात् जिस स्वरूप में भगवत्ता का पूर्ण विकाश है, उस के सम्बन्ध में प्रीति का पूर्णाविर्भाव होता है। जिस स्वरूप में भगवत्ता आंशिक विकशित है, उसके सम्बन्ध में प्रीति का भी आंशिक आविर्भाव होता है। स्वयं भगवत् स्वरूप के भक्त गण उनको जितनी प्रीति करते हैं, अंशी भगवत् स्वरूप के भक्तगण उनको जितनी प्रीति करते हैं, अंश भगवत् स्वरूप के भक्त गण उनको उतनी प्रीति नहीं करते हैं। ऐसा होने पर श्रीकृष्ण सन्दर्भ में श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता प्रतिपन्न होने के कारण, श्रीकृष्ण विषय में ही प्रीति का पूर्णतम आविर्भाव है, एवं कृष्ण भक्त गण में ही प्रीति की परम प्रतिष्ठा है।

भक्त चित्त में आविर्भूता--प्रीति का कार्य्य प्रधानतः द्विधा विभक्त हैं—भक्त चित्त का संस्कार विशेष साधन, एवं भक्त का अभिमान विशेष उत्पादन। भक्त चित्त संस्कार के तारतम्यानुसार प्रीति के वक्ष्यमाण गुण समूह प्रकाशित होते हैं। प्रीति—भक्त चित्त को उल्लासित करती है। (१) ममता द्वारा भगवान् के सहित युक्त करती है, (२) विश्वास युक्त करती है (३) प्रियतातिशय द्वारा अभिमान विशिष्ट करती हैं (४) विगलित करती है (५) प्रचुर लोभोत्पन्न करके आसक्त करती है (६) प्रतिक्षण में भगवान् को नूतन से नूतन तर रूप में अनुभव कराती है (७) एवं असमोर्द्ध्व चमत्कारिता द्वारा उन्मादित करती है (८)

जिस प्रीति में केवल उल्लासाधिक्य व्यक्त होता है, – उसका नाम रति है, जिस में ममतातिशय का आविर्भाव होता है, उसका नाम प्रेम है। विश्वासात्मक प्रेमका नाम प्रणय है, प्रियतातिशय का अभिमान निबन्धन यदि प्रणयादि कौटिल्याभास युक्त भाव धारण करते हैं,तो मान संज्ञा होती है। प्रेम चित्तको द्रवित करके स्नेह नाम से अभिहित होता है। अतिशय अभिलाषात्मक स्नेह राग है। जो राग सर्वदा अनुभूत प्रिय को भी नवीन नवीन बोध कराता है, स्वयं भी नवीन नवीन होता है, वह अनुराग है, एवं असमोर्द्ध्व-चमत् कारिता द्वारा उन्मादक अनुराग ही महाभाव नाम से अभिहित होता है।

श्रीभगवान् के स्वभाव विशेष का आविर्भाव से ही प्रीति भक्तका अभिमान विशेष उत्पन्न होता है, जिस भक्तके सङ्गादि के द्वारा जो साधक भक्त भगवत् प्रीति को प्राप्त करते हैं, उन भक्त के निकट श्रीभगवान् जिस प्रकार स्वभाव प्रकट करते हैं, उक्त साधक जीव के निकट भी तद्रूप स्वभाव को प्रकट करते हैं। उस से उनका तदनुरूप अभिमान उपस्थित होता है, जिस प्रकार कोई जीव यदि दास भक्त के सङ्ग से प्रीति लाभ करता है तो, उस जीव के निकट भगवान् स्वीय प्रभुभाव प्रकटित करेंगे। उस का अनुभव होने पर अपने में उस जीव का दास अभिमान उपस्थित होता है। इस रीति से प्रीति भगवत् स्वभाव विशेष की सहायता से प्रीतिमान् व्यक्ति में अनुग्राह्याभिमान, अनुग्राहकाभिमान, मित्राभिमान एवं प्रियाभिमान उपस्थित करती है।

अनुग्राह्याभिमान विशिष्ट भक्त द्विविध होते हैं—श्रीभगवान् में ममता हीन एवं ममतावान्। ममता हीन भक्त गण--श्रीभगवान् को परम ब्रह्म वा परमात्मा जानते हैं। आह्लादक स्वभावचन्द्र होने के कारण, ममता न होने पर भी उसके दर्शन से जिस प्रकार आनन्द होता है, भगवद् दर्शन से भी ये सब उस प्रकार आनन्द लाभ करते हैं। इन सब की प्रीति का नाम ज्ञान भक्ति है। रति पर्य्यन्त--इस की सीमा है। ये सब शान्त भक्त नाम से प्रसिद्ध हैं। इन सब की रति को शान्तरति कहते हैं।

अनुग्राह्याभिमान विशिष्ट ममतावान् भक्त गण--श्रीभगवान् को निज प्रभु जानते हैं। इनके मध्य में

कोई तो अपने को श्रीभगवान् के पाल्य, कोई तो भृत्य, कोई तो लाल्य मानते हैं। श्रीभगवान् भी उन सब के निकट स्वीय पालक, सेव्य वा पित्रादि गुरु भाव प्रकट करते हैं। इन सब की प्रीति का नाम दास्य भक्ति है, राग पर्य्यन्त इनकी प्रीति की सीमा है, ये सब दास भक्त नाम से प्रसिद्ध है। इन सब की रति को दास्य रति कहते हैं।

अनुग्राहकाभिमान विशिष्ट भक्त वृन्द के श्रीभगवान् में पुत्रादि भाव वर्तमान है, इन सब की प्रीति का नाम वात्सल्य प्रीति है। ये सब वत्सल भक्त हैं। इन सब की प्रीति में राग का प्राचुर्य्य वर्तमान है, इन की रति वात्सल्य नाम से ख्यात है। मित्राभिमानी भक्त गण श्रीभगवान् को अपने के समान मधुर स्वभाव एवं निज विषयक निरुपाधि प्रणय का आश्रय विशेष जानते हैं। इनकी प्रीति का नाम सख्य प्रीति है, ये सब सख्य भक्त होते हैं। इनकी प्रीति में भी राग का प्राचुर्य्य वर्तमान है, इन सब की रति सख्य रतिनाम से ख्यात है।

प्रियाभिमानि भक्त वृन्द का श्रीभगवान् में कान्तभाव वर्तमान है। इन सब की प्रीति का नाम मधुर वा कान्त भाव है। महाभाव पर्य्यन्त इन सब की प्रीति की सीमा है। इन सब की रति को मधुर वा कान्त रति कहते हैं।

उक्त शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर--ये पञ्चविध रति– रस शास्त्र में स्थायिभाव नाम से अभिहित हैं। विभाव, अनुभाव, सात्त्विक एवं व्यभिचारि भाव सम्मिलन से वह रसरूप में परिणत होती है, इस हेतु शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर भेद से रस पञ्चविध हैं। हास्यादि भेद से और भी सप्तविध रस हैं।

रति का आस्वादन के कारण को विभाव कहते हैं। आलम्बन--उद्दीपन भेद से विभाव द्विविध होते हैं। श्रीभगवान् विषयालम्बन, भक्तगण आश्रयालम्बन हैं, श्रीभगवान् के गुण चेष्टादि उद्दीपन हैं।

नृत्य, विलुठन प्रभृति जो सब क्रिया चित्तस्थ भाव समूह को अभिव्यक्त करती रहती हैं, उस का नाम अनुभाव है।

स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च प्रभृति को सात्त्विक कहते हैं। स्तम्भादि सात्त्विक भी अनुभाव विशेष है। सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण इसे सात्त्विक कहते हैं। कृष्ण सम्बन्धिभाव समूह के द्वारा साक्षात् सम्बन्ध से वा किञ्चित् व्यवधान से आक्रान्त चित्त को सत्त्व कहते हैं। अनुभाव एवं सात्त्विक, उभय ही सत्त्व से उत्पन्न है। अतएव अनुभाव के आविर्भाव में बुद्धि का संयोग रहता है। सात्त्विक समूह बुद्धि को लुप्त करके आविर्भूत होते हैं। किन्तु, अनुभाव एवं सात्त्विक उभय ही अभ्यास लब्ध नहीं हैं, प्रीति सम्भूत हैं।

निर्वेदादि जो सब भाव स्थायि भाव को सन्धुक्षित करके समीरण सन्ताड़ित समुद्र के समान तरङ्ग वर्द्धित करते हैं, उन सब भाव को व्यभिचारी कहते हैं।

रसरूप में परिणता प्रीति ही परमानन्द स्वरूपा है, रसमय होने के कारण, 'रसोवै सः' श्रुति श्रीभगवान् को 'रस' शब्द से निर्द्देश करती है, एवं उस को प्राप्तकर जीव अभीष्ट परमानन्द लाभ कर सकता है। 'रसं ह्येवायं लब्धानन्दी भवति' इस प्रकार घोषणा भी श्रुति करती है। रस का आस्वादन से ब्रह्मानन्द भी अतितुच्छ होता है। अर्थात् भगवत्तत्त्व रूप रसास्वादन, ब्रह्मानन्द तुच्छ कारी है।

कतिपय व्यक्ति मानते हैं कि—लौकिक विषय प्रीति ही विभावादि संयोग से रसरूप में परिणत होती है। किन्तु यह कथन सर्वथा असम्भव है। लौकिक प्रीति प्राकृत स्वत्त्व गुणका विकार होने के कारण, वह परमानन्द स्वरूपा नहीं है, उसके आलम्बन समूह भी निर्द्दोष नहीं है, एवं प्रीति हेतु मोक्ष पर्य्यन्त

सुख समूह को तुच्छ कर सकता है, इस प्रकार प्रीति वासना विशिष्ट लौकिक प्रीतिमान् कोई नहीं है। पक्षान्तर में भगवत् प्रीति ह्लादिनी शक्तिका विकार होने के कारण वह आनन्दस्वरूपा है, उसके आलम्बन समूह निर्दोष हैं, एवं भगवत् प्रीतिमान् भक्त गण के मध्य में मोक्ष पर्य्यन्त समस्त सुख की तुच्छ कारिता दृष्ट होती है, इस हेतु केवल भगवत् प्रीति ही रसरूप में परिणत हो सकती है। लौकिक काव्य में प्राकृत नायक नायिका अवलम्बन से जो रस निष्पत्ति दृष्ट होती है, वह सत् कवि का वर्णन चातुर्य्य है।

श्रीकृष्ण में ही भगवत्ता का पूर्णतम विकाश है। श्रीकृष्ण प्रीति गरीयसी है। कृष्ण भक्त वृन्द में प्रीति का चरम विकाश हैं, सुतरां अन्यान्य भगवत् स्वरूप के प्रीति रस से कृष्ण प्रीतिरस श्रेष्ठ है। प्रीत्याविर्भाव के तारतम्य के अनुसार श्रीकृष्ण में भी तारतम्य है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर ये पञ्चविध कृष्ण प्रीति रस,--उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है।

मधुर वा उज्ज्वल रस में कान्त रूप में स्फूर्त्तिमान् श्रीकृष्ण विषयालम्बन हैं। तदीय प्रेयसी वृन्द--उसका आश्रयालम्बन है। स्वकीया--परकीया भेद से श्रीकृष्ण प्रेयसी द्विविधा हैं। श्रीरुक्मिणी प्रभृति स्वीया कान्ता हैं। परम स्वीया होने पर भी श्रीराधा प्रभृति व्रजदेवी गण प्रकट लीला में परकीया रूप में प्रतीयमाना हैं।

"करग्रहविधिं प्राप्ता पत्युरादेशतत्परा।
पातिव्रत्यादविचला: स्वकीया: कथिता इह॥"

विवाह विधि से गृहीता, पति की आज्ञानुवर्त्तिनी एवं पातिव्रत्यधर्म्म से अविचला को स्वकीया कहते हैं।

श्रीरुक्मिणी प्रभृति महिषी वर्ग प्रकट लीला में श्रीकृष्ण की विवाहिता पत्नी हैं, अप्रकट लीला का आदि अवसान न होने के कारण उस में विवाह विधि के द्वारा गृहीत होने का अवकाश नहीं है। तथापि वे अपने को श्रीकृष्ण की विवाहिता पत्नी मानती हैं। उन सब के प्रीति के स्वभाव से उस प्रकार अभिमान उपस्थित होता है, श्रीकृष्ण भी, उन सब के निकट तादृश स्वभाव प्रकट करते हैं। लीला शक्तिके अचिन्त्य प्रभाव से तादृश अभिमान का समाधान सम्भव होता है। प्रगाढ़ अनुराग होने पर भी उनके श्रीकृष्ण सङ्गम में विवाह विधि की अपेक्षा होने के कारण उन सब का अनुराग प्रबल नहीं है।

"रागेणैवार्पितात्मानो लोक युग्मानपेक्षिणा।
धर्मेणास्वीकृता यास्तु परकीया भवन्ति ता:॥"

जो प्रबल अनुराग इह लोक पर लोक प्रभृति की अपेक्षा नहीं करता है, उस प्रकार प्रबल अनुराग से जिन्होंने श्रीकृष्ण को आत्म समर्पण किया है, श्रीकृष्ण ने भी विवाह विधि की अपेक्षा न करके तदनुरूप अनुराग से जिन सब को प्रेयसी रूप में अङ्गीकार किया है, वे परकीया हैं।

प्रकट लीला में श्रीराधादि व्रजसुन्दरी गण में परकीया लक्षण वर्त्तमान है, वे इह लोक पर लोक की किसी प्रकार अपेक्षा न करके श्रीकृष्ण को आत्म समर्पण किये हैं। तदनुरूप अनुराग के द्वारा श्रीकृष्ण कर्त्तृक गृहीत भी हुई हैं, विवाह विधि से नहीं। श्रीव्रज सुन्दरी गण, किसी प्रकार विधि की अपेक्षा न करके श्रीकृष्ण में सङ्गत होने से उन सब के अनुराग की परम प्रबलता व्यक्त हुई है।

पर पुरुष विषयिणी रति अधर्म्ममयी होने के कारण घृणा का विषय है। केवल यही नहीं किन्तु उस में सर्वदा उद्वेग की सम्भावना को विद्यमानता से निविड़ आनन्द का समावेश हो ही नहीं सकता। इस हेतु व्रजीय परकीया परम पुरुषार्थ नहीं हो सकता, इस प्रकार कतिपय व्यक्ति मानते हैं। किन्तु यह

असङ्गत है। श्रीव्रज सुन्दरी गण श्रीकृष्ण की नित्य प्रेयसी हैं। उन सब का प्रबल तम अनुराग आस्वादन करने के निमित्त अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न श्रीकृष्ण, स्वीय अघटन घटन पटीयसी शक्ति योग माया के प्रभाव से नित्य प्रेयसी व्रजसुन्दरी गण को प्रकट लीला में परकीया नायिक रूप में प्रतीत कराते हैं। प्रकट लीला का अवसान में नित्य प्रेयसी भाव व्यक्त होती है, धर्म पत्नी भाव नहीं।

प्रकट लीलामें परकीयात्व सम्पादन हेतु अपर गोपों के सहित जो विवाह संघटित हुआ है, वह योग माया कृत है, विशेषतः श्रीकृष्ण सब के अन्तर्यामी रूप में हृदय विहारी हैं, अतः किसी भी रमणी के श्रीकृष्ण पर पुरुष नहीं हैं, यथार्थ पति अध्यक्ष श्रीकृष्ण ही है। अप्रकट लीला में प्रकट लील गत अभिमान के सहित लीलायमान रूप में प्रवेश होने के कारण नित्य प्रेयसी भाव धारा प्रवाह रूप में व्यक्त होता है, वहाँ उद्वेग की आशङ्का है हो नहीं। प्रकट लीला में व्रज सुन्दरी गण के श्रीकृष्ण सङ्गम के समय योग माया कल्पित मूर्त्ति गृह में रह जाती, कभी तो स्वरूप शक्ति रूपिणी योगमाया उपायान्तर के द्वारा समाधान करके निरुद्वेगकर परिवेश उपस्थित करती है।

यहाँ शङ्का हो सकती है कि जब धैर्य्य, लज्जा, धर्म, स्वजन, बान्धव समुह को परित्याग व्यभिचारिण रमणी भी अभीष्ट पर पुरुष के सङ्ग लाभ हेतु करती है, यह त्याग उत्कर्ष का विषय तो होता ही नहीं, किन्तु पापावह एवं घृणित होता, उस प्रकार त्याग के द्वारा श्रीकृष्ण सङ्गता व्रजसुन्दरी वृन्दका प्रेमोत्कर्ष कैसे हो सकता है। इस से व्रजसुन्दरी वृन्द का महत्त्व ही क्या है।

समाधान यह है—व्यभिचारिणी रमणी वृन्द का उद्देश्य है, निज सुख सम्पादन, और व्रजदेवी गण निज सुख सम्पादन हेतु बिन्दु मात्र भी चेष्टा न करके कृष्ण सुख सम्पादन हेतु सर्वत्यागिनी हुई थीं। निज सुख वासना का लेश मात्र न रखकर अपर के सुख हेतु इस रीतिसे अपने को समर्पण कर देने का दृष्टान्त व्रजदेवी गण व्यतीत अन्यत्र है ही नहीं। इसी से उन सब की प्रेम महिमा प्रोज्ज्वल रूप से व्यक्त हुई है।

प्रीति पराकाष्ठा जो महाभाव है—वह केवल व्रजदेवी गण में ही वर्त्तमान है। केवल यही नहीं, उन सब का प्रेम निरुपाधि एवं सुनिर्म्मल है। कान्ता भाव की उपाधि है—ऐश्वर्य्य ज्ञान, भावोत्पादन में रूप गुणादि की अपेक्षा, स्वसुखानुसन्धान, धर्माधर्म सम्बन्ध एवं रमण (पुरुष) रमणी (स्त्री) बोध। श्रीव्रजदेवी देवी की प्रीति में अन्य उपाधि समूह तो है ही नहीं, यहाँतक कि—कान्त भाव का जो प्राण है--वह रमण रमणी बोध भी उस प्रीति में नहीं है। वे केवल प्रबल अनुराग से ही आत्म विभोर हैं। उन सब के चित्तेन्द्रिय देह उस अनुराग से विभावित है, उन सब की निखिल चेष्टा कृष्णानुराग की अभिव्यक्ति मात्र है। श्रीकृष्ण के सहित व्रजदेवी वृन्द का जो सम्बन्ध है, वह वैध वा अवैध किसी भी सम्बन्ध का अनुरूप नहीं है। वह शुद्ध अनुराग मय है। अतएव इस को "अनुराग सिद्ध दाम्पत्य" कहा जा सकता है।

श्रीकृष्ण तत्त्व एवं श्रीगोपी तत्त्व के सम्बन्ध में निगूढ़, अज्ञता ही व्रज परकीया एवं रासादि सम्भोगात्मक लीला के सम्बन्ध में संशय का कारण है। एवं वैवाहिक सम्बन्ध सिद्ध नायक नायिका का अनुष्ठित वीभत्स रसात्मक रासादि लीला का आस्वादन सम्प्रति सामाजिक जन गण करते रहते हैं।

यावत् पर्य्यन्त जीव का देहात्म बोध तिरोहित नहीं होता है एवं स्वीय चित् सत्ता की अनुभूति नहीं होती है, तावत् पर्य्यन्त तदीय परिकर तत्त्व तथा गोपी तत्त्व के सम्बन्ध में अज्ञता विदूरित नहीं होती है। इस से स्वीय अभ्यासज संस्कार निबन्धन मूर्त्त वस्तु मात्र को ही प्राकृत रूप विशिष्ट मानते हैं, श्रीकृष्ण एवं तदीय प्रेयसी वृन्द को प्राकृत शरीर विशिष्ट मान कर उनकी लीला को प्राकृत चेष्टा मानते हैं, अर्थात् प्राकृत देहेन्द्रिय सम्पन्न व्यक्ति के समान देह धर्म्माधीन मानते हैं, अतएव संशय उपस्थित होता है। एवं आश्वस्त होने के कारण विवाह अनुष्ठान सिद्ध दाम्पत्य धर्म सम्पुट के द्वारा राधाकृष्ण की व्रजलीला रसका

आस्वादन करते रहते हैं।

वास्तविक पक्ष में श्रीकृष्ण मायातीत हैं, सच्चिदानन्द विग्रह हैं, अखण्ड अनन्त सच्चिदानन्द का मूर्त्ति प्रकाश हैं। श्रीकृष्ण केवल आनन्द ही नहीं हैं किन्तु आनन्दी भी हैं, जिस आनन्द से आप आनन्दी हैं, श्रीराधा उस आनन्द की प्रकाश मूर्त्ति हैं। जीव जगत् में आनन्द भाव वस्तु है, एवं अमूर्त्त है। किन्तु अचिन्त्य शक्ति समन्वित श्रीभगवान् स्वीय परमानन्द को रूप प्रदान कर विविध प्रकार से आस्वादन करते रहते हैं। एतज्जन्य श्रीभगवान् रसिक शेखर हैं—अर्थात् आस्वादक शिरोमणि हैं। मूलतः आनन्द ही आस्वादन की सामग्री है, रसिक शेखर भगवान् श्रीकृष्ण, स्वीय परमानन्द के मूर्त्त प्रकाश को प्राप्त कर विविध रूप एवं भाव से आस्वादन करते रहते हैं। अद्वय ज्ञान स्वरूप स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण जिस प्रकार श्रीनारायणादि अनेक रूप में विराजित हैं, श्रीराधा भी उस प्रकार उक्त स्वरूप समूह की आनन्द शक्ति श्रीलक्ष्मी प्रभृति रूप में तत्तत् समीप में विराजमान हैं जिस प्रकार श्रीकृष्ण में स्वयं भगवान् की प्रतिष्ठा है, श्रीराधा में भी उस प्रकार भावदानन्द--प्रीति का चरम विकाश है। एकक श्रीराधा ही श्रीकृष्ण सुख सम्पादन हेतु अशेष प्रकार से श्रीकृष्ण के आनकूल्य करती रहती है। अर्थात् उनका सुख सम्पादन करती रहती हैं। श्रीकृष्ण सुख सम्पादन हेतु वृन्दावन मे काय व्यूह निज अनेक मूर्त्ति प्रकाश किये है, वे सब कृष्ण प्रेयसी गोपी हैं. ऐसा होने पर भी श्रीराधा में कृष्णानुकूल्य की पराकाष्ठा है. अतः आप प्रीति पराकाष्ठा महाभाव स्वरूपा असमोर्द्ध्व चमत्कारिताशालिनी आनन्द रूपा है, इस आनन्द का आस्वादन श्रीकृष्ण अनादि काल से अशेष विशेष प्रकार से करते रहते हैं। इस से ही' रासादि लीला की अभिव्यक्ति है।

नायक नायिका का सङ्गम प्रसङ्ग--परमार्थाभिलाषी व्यक्ति वृन्द के पक्ष में जो घृणा का विषय है, वही उज्ज्वल रस का प्राण है, वह उज्ज्वल रस कैसे परम पुरुषार्थ हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में उज्ज्वल रस में सम्भोग लक्षण के द्वारा दिया गया है। वह यह है—

"दर्शनालिङ्गनादीनामानुकूल्यान्निषेवया। यूनोरुल्लासमारोहन् भावः सम्भोग ईर्य्यते॥"

नायक नायिका के पारस्परिक आनुकूल्य से दर्शन आलिङ्गनादि की निरतिशय सेवा द्वारा उल्लास प्राप्त भाव को सम्भोग कहते हैं। यहाँ आनुकूल्य को ही सम्भोग का कारण कहा गया है। इस के पहले आनुकूल्य को ही प्रीति का प्राण कहा गया है। अन्य वस्तु के द्वारा--सेव्य वस्तु का आनुकूल्य किया जा सकता है, किन्तु अपने को दे देना, निज देह प्राण प्रभृति को जड़ भोग्य वस्तु के समान अपर के भोग निमित्त अर्पण कर देना एक अभावनीय व्यापार है, उस में भी निज सुख वासना का लेश मात्र न रहना धारणातीत हैं। यह केवल गोपी भाव में ही सम्भव है। कामोत्पन्न शरीर में जब तक काम संस्कार वर्तमान रहता है, जब तक काम सम्भूत देहाभिमान वर्त्तमान है, तब तक यह विषय किसी को बोध गम्य नहीं हो सकता है। काममय चित्त में इस को समझने का प्रयत्न करना निष्फल हास्यास्पद ही है। श्रीकृष्ण चैतन्य चरणानुचर श्रीरूप सनातनादि गोस्वामिवृन्द--उज्ज्वल रस को परम पुरुषार्थ प्रतिपन्न किये हैं, उन सब का कथन है—उज्ज्वल रस में नायक नायिका का सम्भोग--काममय सम्भोग नहीं है---पशुवत् शृङ्गार भी नहीं है। किन्तु भावास्वादन में ही तात्पर्य्य है। किन्तु उस में जो प्राकृत कामवत् आलिङ्गनादि का उल्लेख है, वे सब नृत्यादि के समान प्रीति के अनुभाव हैं, अर्थात् प्रीति की बहिः प्रसारिणी क्रिया मात्र है, एवं श्रीभगवान् की स्वरूप शक्ति ह्लादिनी की परिपाक विशेष प्रीति है, श्रीजीव-गोस्वामि चरण उक्त विषय समूह का अङ्कन शास्त्रीय प्रमाण एवं दार्शनिक गवेषणा के सहित प्रीतिसन्दर्भ ग्रन्थ में अति विस्तृत रूपसे किये हैं। जिस प्रेम प्राप्ति हेतु जीव समूह व्याकुल हैं, उस साङ्गोपाङ्ग प्रेमका सुविस्तृत निर्द्दुष्ट दर्शन ग्रन्थ यह प्रीति सन्दर्भ है।

श्रीहरिदास शास्त्री

❀ श्रीश्रीगौरगदाधरौ जयतः ❀

—❀—

# ❀ प्रीतिसन्दर्भस्यश्लोकसूची ❀

—❀—

—※※—

# ❀ विषय सङ्कलनम् ❀

—※※—

**** श्रीश्री गौरगदाधरौ जयतः ****

# श्रील-श्रीजीवगोस्वामि-प्रभुपाद-विरचिते

## षट्सन्दर्भात्मक-

# श्रीभागवतसन्दर्भे

## षष्ठः

# श्रीप्रीतिसन्दर्भः

**श्रीवृन्दावनचन्द्राय नमः**

तौ सन्तोषयता सन्तौ श्रील-रूप-सनातनौ ।
दाक्षिणात्येन भट्टेन पुनरेतद्विविच्यते ।।१।।
तस्याद्यं ग्रन्थनालेखं क्रान्त-व्युत्क्रान्त-खण्डितम् ।
पर्य्यालोच्याथ पर्य्यायं कृत्वा लिखति जीवकः ।।२।।

---

षट् सन्दर्भ नामक श्रीभागवत सन्दर्भ में तत्त्व भगवत् परमात्म, कृष्ण, भक्ति एवं प्रीति—यह षट् सन्दर्भ हैं, उस के मध्य में यह प्रीति सन्दर्भ-षष्ठ सन्दर्भ है ।

"गूढ़ार्थस्य प्रकाशश्चसारोक्तिः श्रेष्ठता तथा ।
नानार्थवत्त्वं वेद्यत्वं सन्दर्भः, कथ्यते बुधैः ।।"

जिस में गूढ़ार्थ का प्रकाश, सारोक्ति, श्रेष्ठता, नानार्थवत्त्व एवं वेद्यत्व है, उस को विज्ञ व्यक्ति गण 'सन्दर्भ' कहते हैं ।

ज्ञान वैराग्य तपस्यादि सम्पत्तिमान् एवं श्रीवृन्दावन में सतत विराजमान् श्रीकृष्णचैतन्य देव के श्रीचरणानुचर श्रीरूप सनातन नामक गोस्वामीद्वय के सन्तोषार्थ दाक्षिणात्य भट्टवंशोद्भूत श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी कर्त्तृक पुनर्वार इस विषय का विवेचन हुआ ।।१।।

उक्त ग्रन्थ का सङ्कलन—पर्य्याय क्रम से-अपर्य्यायक्रम से एवं असम्पूर्ण रूप से हुआ था । उक्त ग्रन्थस्य विषय समूह का विशेष विवेचन करके जीव नामक व्यक्ति, क्रम पूर्वक उक्त ग्रन्थ का लिखन

१। अथ प्रीतिसन्दर्भो लेख्यः। इह खलु शास्त्रप्रतिपाद्यं परमतत्त्वं हि सन्दर्भचतुष्टयेन पूर्व्वं सम्बद्धम्, तदुपासना च तदनन्तरसन्दर्भेणाभिहिता।। तत् क्रमप्राप्तत्वेन प्रयोजनं खल्वधुना विविच्यते। पुरुषप्रयोजनं तावत् सुखप्राप्तिदुःखनिवृत्तिश्च, श्रीभगवत् प्रीतौ तु सुखत्वं दुःख

---

कर रहा है ।।२।।

शास्त्रार्थ विचार से ही परमतत्त्व वस्तु का परिज्ञान होता है। वेद एवं वेदानुगत शास्त्र—ईश्वर के आविर्भाव विशेष है। भगवद् विभूति स्वरूप ऋषि वृन्द के हृदय में प्रति युग में शास्त्र स्फुरित होता रहता है, वे ही शास्त्र प्रकाशक होते हैं, साधारण जनगण, शास्त्रार्थ निर्णय करने में सक्षम नहीं हैं, केवल ईश्वरानुगृहीत व्यक्ति के निकट ही शास्त्रार्थ प्रकाशित होता है। संसार ताप सन्तप्त जीव निवह को दुःख दुर्दशा से मुक्त करने के निमित्त उक्त महापुरुष वृन्द-जन साधारण में शास्त्रार्थ का प्रकाश करते हैं।

श्रीभगवदवतार विशेष श्रीकृष्ण द्वैपायन (वेदव्यास) वेद वारिधि से ब्रह्म सूत्र रूप रत्नराजि का सङ्कलन करके उक्त सूत्र समूह का भाष्य स्वरूप श्रीमद्भागवत ग्रन्थ का प्रकाश किये थे। निखिल वेदों का तात्पर्य्य-ब्रह्म सूत्र में निहित है, एवं उसकी सरल रूप से अभिव्यक्ति-श्रीमद् भागवत में हुई है। परोक्षरीति से वर्णित होने के कारण-श्रीमद् भागवतार्थ भी दुर्बोध्य है। भगवदनुगृहीत भक्त के हृदय में ही भागवतार्थ प्रकाशित होता है। श्रीमद् भागवत के मर्म्मार्थ प्रकाश हेतु जो सन्दर्भ ग्रन्थ सम्बन्धाभिधेय प्रयोजन मुख से प्रणीत हुआ है, वही ग्रन्थ भागवत सन्दर्भ नाम से अभिहित है। इस में गूढ़ार्थ प्रकाश-भक्ति रूप निगूढ़ार्थ व्यक्त हुआ है। सारोक्ति मुख्य प्रतिपाद्य विषय आविष्कृत हुआ है। श्रेष्ठता-विविध प्रमाण एवं युक्ति के द्वारा वह सुष्ठु मण्डित है, अर्थात् वह अप्रतिद्वन्द्वी रूप से गौरवान्वित हुआ है। नानार्थवत्त्व—इस ग्रन्थ में विविध ज्ञातव्य विषय हैं। अर्थात् प्रस्तुत सन्दर्भ ग्रन्थ में श्रीमद् भागवतीय पद्य समूह का समन्वयात्मक अर्थ प्रकाशित है, एवं वेद्यत्व–तत्त्व जिज्ञासु व्यक्ति के पक्ष में यह अवश्य आलोच्य है। श्रीमद् भागवत ग्रन्थ के पद्य समूह में प्रीति विषयिणी जो निगूढ़ोक्ति है, तत् समुदय का सङ्कलन इस ग्रन्थ में है, अर्थात् भगवत प्रेम की परम पुरुषार्थरूपता इस ग्रन्थ में सुव्यक्त हुई है। विविध युक्ति एवं प्रमाण द्वारा इसमें तद्रूपता प्रतिपन्न की गई है। अर्थात् श्रीभगवतीय पद्य समूह से विभिन्न अर्थ ग्रहण करके भगवत प्रेम को परम पुरुषार्थ स्थापन किया गया है। अतएव भगवत् प्रीति रहस्य जिज्ञासु व्यक्ति के पक्ष में यह प्रीति सन्दर्भ ग्रन्थ अवश्य अनुशीलनीय है। (२)

"अथ प्रीति सन्दर्भोलेख्यः" 'अथ' शब्द का अर्थ, मङ्गल एवं आनन्तर्य्य हैं।

"ॐ कारश्चार्थ शब्दश्चद्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठ भित्वा विनिर्जातौ तेन माङ्गलिकावुभौ।।"

पूर्व काल में ॐ एवं अथ शब्द ब्रह्मा के कण्ठ देश से निर्गत हुई थे। तज्जन्य एतदुभय शब्द ही माङ्गलिक हैं। अर्थात् आनन्तर्य्य अर्थ विशिष्ट अथ शब्द श्रवण कीर्त्तन के द्वारा मङ्गल विधानार्थ प्रस्तुत स्थल में प्रयुक्त हुआ है। अनन्तर प्रीति सन्दर्भ ग्रन्थ लिखित होगा। प्रथम तत्त्व भगवत्--परमात्म एवं कृष्णसन्दर्भ में शास्त्रोक्त परम तत्त्व का स्थापन हुआ है। शब्द के सहित सम्बन्ध तत्त्व अर्थात् उपास्य तत्त्व का वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध है। उक्त उपास्य तत्त्व की उपासना--का वर्णन–पञ्चम-भक्ति सन्दर्भ में हुआ है। उक्त क्रमानुसार सम्प्रति प्रयोजन तत्त्व का वर्णन करते हैं। अर्थात् उपास्य, उपासना एवं उपासना का फल निरूपण करना शास्त्र का अभीप्सित है। उपास्य एवं उपासना निश्चय के अनन्तर उपासना का फल कथन वाञ्छनीय है। अतः उसका निरूपण प्रस्तुत ग्रन्थ में करते हैं। मानव शरीर में अवस्थित जीव

निवर्त्तकत्वञ्चात्यन्तिकमिति । एतदुक्तं भवति–यत् खलु परमतत्त्वं शास्त्रप्रतिपाद्यत्वेन पूर्व्वं निर्णीतम्, तदेव सदनन्तपरमानन्दत्वेन सिद्धम । श्रुतावपि (तै २।८।१) "सैषानन्दस्य मीमांसा भवति" इत्यारभ्य मानुषानन्दतः प्राजापत्यानन्द–पर्य्यन्तं दशकृत्वः शतगुणिततया क्रमेण तेषामानन्दोत्कर्ष-परिमाणं प्रदर्श्य पुनश्च ततोऽपि शतगुणत्वेन परब्रह्मानन्दं प्रदर्श्याप्य–परितोषात् (तै० २।४।१ ) "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इत्यादि-श्लोकेन तदानन्दस्यानन्त्यमेव

---

का एकमात्र प्रयोजन--सुख प्राप्ति एवं दुःख निवृत्ति है। श्रीभगवत् प्रीति से ही आत्यन्तिक सुख प्राप्ति एवं दुःख निवृत्ति होती है। अर्थात् अन्य उपायों से सुखलाभ होने पर भी वह अनित्य है, दृष्ट उपायों से दुःख निवृत्ति होने पर भी वह मूलतः विनष्ट नहीं होता है, पुनः पुनः दुःख भोग की सम्भावना वनी रहती है। श्रीभगवत् प्रीति में जो सुख है, वह नित्य अविनाशी, एवं परिपूर्ण है। उस से ही सम्यक् दुःख निवृत्ति स्थायी रूप से होती है। एवं कभी भी दुःख स्पर्श लेश की सम्भावना भी नहीं रहती है।

शास्त्र प्रतिपाद्य रूप में जिस परम तत्त्व का निरूपण किया गया है,— वह सदनन्त परमानन्द रूप में सिद्ध है। अर्थात् शास्त्र जिस परम तत्त्व वस्तु का प्रतिपादन किये हैं, वह नित्य अनन्त परमानन्द स्वरूप में विराजमान है। तैत्तिरीयक २।८।१ श्रुति में उसका वर्णन है— "ब्रह्मानन्द का विचार इस प्रकार होता है" इस प्रकार उपक्रम करके मनुष्यानन्द से प्राजापत्यानन्द पर्य्यन्त दश भाग करके क्रमशः शत गुणित रूप से उक्त आनन्द समूह का उत्कर्ष परिमाण-प्रदर्शित हुआ है। अर्थात् मनुष्यानन्द (१) से गन्धर्वानन्द (२) शतगुण, मनुष्य एवं गन्धर्वानन्द से देव गन्धर्व का आनन्द (३) शतगुण, पितृवृन्द के आनन्द से स्वर्ग में अवस्थित देव वृन्द का आनन्द (५) शतगुण। स्वर्गस्थ देववृन्द के आनन्द से कर्म देव वृन्द का आनन्द (६) शतगुण कर्म्म देव वृन्द के आनन्द से देव वृन्द का आनन्द (७) शतगुण। देववृन्द के आनन्द से इन्द्र का आनन्द (८) शतगुण। इन्द्र का आनन्द से वृहस्पति का आनन्द (९) शतगुण, वृहस्पति के आनन्द से प्रजापति का आनन्द (१०) शतगुण, प्राजापत्य आनन्द से परम ब्रह्म आनन्द शतगुण हैं, इस प्रकार कथन के पश्चात् कथित है–'जिस से वेद भी निवृत्त होते हैं।" अर्थात् परम ब्रह्मानन्द निरूपण करने में श्रुति भी असमर्थ है। इस प्रकार उक्त आनन्द का अनन्तत्व एवं विलक्षणत्व स्थापित हुआ है।

"सैषानन्दस्य मीमांसा भवति। युवा स्यात् साधु युवाध्यापकः। आशिष्टो दृढ़िष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णास्यात्। स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्य गन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामाहतस्य। ते ये शतं मनुष्य गन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देव गन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामाहतस्य। ते शतं देव गन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितॄणां चिर लोकानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामाहतस्य। ते ये शतं पितॄणां चिर लोकानामानन्दाः। स एक आजान जानां देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामाहतस्य। ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दः। स एकः कर्म्म देवानामानन्दः। ये कर्मणा देवानपि यान्ति। श्रोत्रियस्य चाकामाहतस्य ते ये शतं कर्म देवानामानन्दाः। स एक इन्द्रस्य आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामाहतस्य। ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः। स एको बृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य, ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्यमनसासह।

तैत्तिरीयोपनिषत्। ब्रह्मानन्दवल्ली।।८ म अणुवाक्।

ब्रह्मानन्द क्या विषयिव्यक्ति का विषय भोग जन्य लौकिकानन्द सदृशः, किं वा स्वाभाविक?

स्थापितं विलक्षणत्वञ्च । (तै० २।७।१) "को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" इत्यनेन नानास्वरूपधर्म्मवतोऽपि तस्य केवलानन्दरूपत्वमेव च दर्शितम्, तथाभूत-मार्त्तण्डादिमण्डलस्य केवलज्योतिष्ट्ववत् । अथ जीवश्च तदीयोऽपि तज्ज्ञानसंसर्गाभावयुक्तत्वेन

---

ब्रह्मानन्द लौकिकानन्द से भिन्न हैं । लौकिकानन्द क्षणिक ऐन्द्रियक एवं उसका परिमाण भी अति सामान्य है । ब्रह्मानन्द नित्य एवं अनन्त हैं श्रुति इस को कहती है—ब्रह्मानन्द की वह मीमांसा इस प्रकार होती है, जो युवा साधु, अधीत वेद, क्षिप्रकर्मा, दृढ़ काय एवं बलवान् है, सर्व सम्पत् परिपूर्णा यह पृथिवी उस की अधिकृता होती है । जो व्यक्ति, विविध विषय भोग द्वारा मनुष्य लोक का श्रेष्ठ आनन्द लाभ करता है। वह मनुष्यानन्द है । इस मनुष्यानन्द को एक परिमाण मानकर अन्यान्य आनन्द का परिमाण करते हैं, यह जो मनुष्यानन्द है, उस के शतगुण मनुष्य गन्धर्व का आनन्द है । कर्मानुष्ठान विशेष के द्वारा जो मनुष्य गन्धर्वत्व को प्राप्त किया है । उस को मनुष्य गन्धर्व कहते हैं । एवं जो श्रोत्रिय—ब्रह्मविद् ब्राह्मण हैं, जिन्होंने विषय कामना को परित्याग किया है, वह मनुष्य गन्धर्व तुल्य आनन्द लाभ करता है, अर्थात् उस का आनन्द मनुष्यानन्द से शतगुण अधिक है । यह जो मनुष्य गन्धर्व का आनन्द है, उस के शतगुण-देव-गन्धर्व का आनन्द है, अर्थात् जन्मतः जो गन्धर्व है, वह देव गन्धर्व है । एवं जो ब्रह्मविद् ब्राह्मण, विषय कामना को परित्याग किया है। वह देव गन्धर्व तुल्य आनन्द भोग करता है । यह जो देवगन्धर्व का आनन्द है, उस के शतगुण चिरकाल लोक पितृवृन्द का आनन्द है, चिरस्थायी लोक अर्थात् स्थान जिस का है, वह चिर लोक लोक है । और जो ब्रह्मविद् ब्राह्मण विषय कामना को परित्याग किया है, वह चिर लोक पितृ वृन्द का तुल्य आनन्द भोग करता है । चिर लोक लोक पितृ वृन्द का जो आनन्द है, उस के शत गुण आजानज देव गण का आनन्द है । आजानज-देव लोक, स्मृति शास्त्रोक्त कर्म विशेष के द्वारा जो देव लोक में जन्म ग्रहण करता है, वह आजानज देव है । एवं जो ब्रह्मविद् ब्राह्मण, विषय कामना को परित्याग किया है, वह आजानज देव तुल्य आनन्द भोग करता है, आजानज देवगण का आनन्द है, उस के शतगुण कर्म देववृन्द का आनन्द है, जिन्होंने अग्नि होत्रादि वैदिक कर्म द्वारा देव लोक को प्राप्त किया है, वह कर्म देव हैं, जो ब्रह्मविद् ब्राह्मण विषय कामना को परित्याग किया है, वह कर्म्म देव गण के तुल्य आनन्द प्राप्त करता है ।

कर्म देव वृन्द का जो आनन्द है उस के शतगुण देव वृन्द का आनन्द है । देव—अष्ट वसु, एकादश रुद्र, द्वादशादित्य एव इन्द्र—प्रजापति—यह तेत्तीस हैं । इन्द्र—इन के अधिपति हैं, एवं वृहस्पति, इन के गुरु हैं । जो ब्रह्म विद् ब्राह्मण, विषय कामना को परित्याग किया है, वह देव वृन्द के तुल्य आनन्द लाभ करता है । देव वृन्द का जो आनन्द है, उस के शतगुण आनन्द इन्द्र का है, एवं जो ब्रह्मविद् ब्राह्मण विषय कामना को परित्याग किया है, वह इन्द्र तुल्य आनन्दोपभोग करता है । इन्द्र का जो आनन्द है, उस के शत गुण–बृहस्पति का आनन्द है । जो ब्राह्मण, विषय कामना को परित्याग किया है, वह बृहस्पति के तुल्य आनन्द भोग करता है, बृहस्पति का जो आनन्द है, उस के शतगुण आनन्द प्रजापति का है, जो ब्रह्मविद्, ब्राह्मण, विषय कामना को परित्याग किया है, वह प्रजापति के तुल्य आनन्द भोग करता है । प्रजाप्रति का जो आनन्द है, उस के शत गुण आनन्द ब्रह्मानन्द है, और जो ब्रह्मविद् ब्राह्मण, विषय कामना को परित्याग किया है, वह ब्रह्मानन्द लाभ करता है ।

इस प्रकार परिमाण की तुलना से ब्रह्मानन्द का यथार्थ परिमाण नहीं होता है । ब्रह्मानन्द अपरिमित है । तैत्तिरीयक श्रुति २।४।१ में उक्त है—'यतो वाचो निवर्त्तन्ते" ब्रह्मानन्द का परिमाण प्राप्त न होने से जिस से मन के सहित वेद लक्षण वाणी निवृत्त होती है" अर्थात् वेद भी ब्रह्मानन्द का परिमाण

तन्मायापराभुतः सन्नात्म-स्वरूपज्ञानलोपान्मायाकल्पितोपाध्यावेशाच्चानादि-संसार-दुःखेन सम्बध्यत इति परमात्मसन्दर्भादावेव निरूपितमस्ति । तत इदं लभ्यते–परमतत्त्वसाक्षात्-कारलक्षणं तज्ज्ञानमेव परमानन्दप्राप्तिः, सैव परमपुरुषार्थं इति । स्वात्मज्ञान–प्रवृत्ति दुःखात्यन्त-निवृत्तिश्च निदाने तदज्ञाने गते सति स्वत एव सम्पद्यते । पूर्व्वस्याः परमतत्त्व-

---

जानने में अक्षम है, एवं मन भी असमर्थ है ।

यहाँ पर कामना रहित ब्रह्मविद् व्यक्ति मनुष्यानन्द व्यतीत अपर दशविध आनन्द का उपभोग कर सकता है । इस प्रकार कथन का तात्पर्य्य यह है कि तादृश ब्रह्मविद् व्यक्ति मुक्ति प्राप्त करने का अधिकारी है, मुक्ति द्विविध हैं । सद्यो मुक्ति एवं क्रम मुक्ति. जिस का अभिलाष-सद्यो मुक्ति में है, उस का प्रवेश, देह भङ्ग के पश्चात् ब्रह्मानन्द में होता है । एवं क्रम मुक्ति कामी व्यक्ति क्रमशः गन्धर्व लोकादि का आनन्द भोग करने के पश्चात् सत्य लोक को प्राप्त करता है । महाप्रलय में सत्यलोक ध्वंस होने पर वह ब्रह्मानन्द में प्रविष्ट होता है । अनासक्त भाव से सुख भोग विभिन्न लोकों का होने पर भी कर्म बन्ध उपस्थित नहीं होता है । एवं मुक्ति का अन्तराय भी वह भोग नहीं होता है । पार्थिव सुख भोग से विरत होने के कारण, उस के पक्ष में मनुष्यानन्द भोग वार्त्ता का उल्लेख श्रुति में नहीं हुआ है ।

श्रीभगवान् विविध स्वरूप धर्म समन्वित होने पर भी तैत्तिरीय २।७।१ "को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" यदि परमात्मा का आनन्द स्वरूप नहीं होता तो कौन व्यक्ति–अपान एवं प्राण वायु का प्रयत्न करता ? श्रुति के द्वारा परमात्मा का केवल आनन्द रूपत्व प्रदर्शित हुआ है । वस्तु का जो स्वभाव सिद्ध गुण है, जो उसका वैशिष्ट्य द्योतक है—वही वस्तु का स्वरूप धर्म होता है । जिस प्रकार सूर्य्य मण्डल एवं तरल वायवीय विभिन्न अवस्थापन्न ग्रहनक्षत्र को प्रतीति केवल ज्योतिर्म्मय पदार्थ विशेष रूप में होता है । उस प्रकार विविध स्वरूप धर्म विशिष्ट श्रीभगवान् की श्रुति केवल आनन्द स्वरूप ही कहती है । ज्योतिष्क पदार्थ वृन्द की ज्योति के द्वारा उस के मध्यस्थित अपर वस्तु समूह अनुभव प्राप्त होते हैं, अतः उस की उपलब्धि नहीं होती है । श्रीभगवान् में भी आनन्द का प्राचुर्य्य होने के कारण, तद् द्वारा अन्यान्य स्वरूप धर्म अभिभूत होते हैं, तज्जन्य श्रुति उनको सच्चिदानन्द विग्रह रूप में वर्णन करती है ।

"तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्द विग्रहम् ।। (गी० ता०)

"अर्द्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैक विग्रहः "(राम तापनी)

जीव, श्रीभगवान् का अंश एवं नित्य सेवक होने पर भी श्रीभगवज् ज्ञान का संसर्गाभाव युक्त होने से तदीय माया के द्वारा पराभूत होकर निज स्वरूप ज्ञान का लोप निबन्धन माया कल्पित देहादि उपाधि में आविष्ट होने के कारण, संसार दुःख से सम्यक् बद्ध होता है । परमात्मसन्दर्भ प्रभृति में इस विषय का विशेष विवेचन हुआ है ।

संसर्गाभाव एवं अन्योन्याभाव भेद से अभाव द्विविध हैं । संसर्गाभाव--प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, एवं अत्यन्ताभाव भेद से त्रिविध हैं । यहाँ घट नहीं है,यह प्रागभाव है,वह विनाशी है, घट आनयनानन्तर प्राग भाव विनष्ट होता है—घट ध्वस्त होने से जो अभाव परिलक्षित होता है, वह ध्वंसाभाव है । ध्वंसाभाव नित्य है । घट भग्न होने पर वह उत्पन्न नहीं होता है । शशविषाण-प्रभृति स्थल में अत्यन्ताभाव परि लक्षित होता है, यह नित्य है । कभी भी शशक में शृङ्गोद् गम नहीं होता है ।

जीव के पक्ष में भगवद् विषयक ज्ञानाभाव-प्रागभाव है । अर्थात् अनादि काल से जीव में भगवज् ज्ञान का अभाव है । श्रीभगवत् कृपा से उक्त अभाव विदूरित होता है । एवं जीव भगवत्तत्त्व को जान

स्वप्रकाशताभिव्यक्तिलक्षणमात्रात्मकत्वादुत्तरस्याश्च ध्वंसाभावरूपत्वादनश्वरत्वम्। उक्तञ्च पूर्व्वस्याः परमपुरुषार्थत्वं (भा० १।२।६) "धर्म्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य" इत्यादिना, (भा० १।२।१२)-

---

सकता है यदि यह अभाव-ध्वंसाभाव वा अत्यन्ताभाव होता तो, कभी भी ज्ञान लाभ सम्भव नहीं होता।

कतिपय व्यक्ति के मत में—पूर्व में जीव का भगवद् विषयक जो ज्ञान था, वह मायाच्छन्न होने के कारण विनष्ट हो गया है, इस प्रकार कहने पर वह अभाव ध्वंसाभाव होता है, वह नित्य होने के कारण कभी भी ज्ञानोदय की सम्भावना ही नहीं होगी। तज्जन्य यह अभाव संसर्गाभाव के अन्तर्भूत प्रागभाव स्वीकृत हुआ है। 'घटो पटो न' यह अभाव अन्योन्याभाव है, यह नित्य है। इस से यह प्रतीत होता है कि-परम तत्त्व साक्षात् कार लक्षण श्रीभगवज् ज्ञान ही परमानन्द प्राप्ति है, वही परम पुरुषार्थ है।

निज स्वरूप में अज्ञान एवं संसार दुःख प्राप्ति का कारण ही परमतत्त्व ज्ञानाभाव है, रोग का निदान--अर्थात् मूल कारण दूरीभूत होने से जिस प्रकार रोग निवृत्त होता है, उस प्रकार परतत्त्व ज्ञानाभाव विदूरित होने से प्रयत्न के विना ही निज स्वरूपगत अज्ञान निवृत्ति एवं आत्यन्तिक संसार दुःख निवृत्ति होती है। निज स्वरूप गत अज्ञान निवृत्ति एवं आत्यन्तिक संसार दुःख निवृत्ति-अविनश्वर है, कारण, स्वात्माज्ञानाभाव निवृत्ति, और कुछ नहीं है—परम तत्त्व की स्वप्रकाशता की अभिव्यक्ति ही है। और संसारदुःख का एकान्ताभाव—दुःख की एकान्त निवृत्ति होने के कारण—ध्वंसाभाव स्वरूप है।

जीव श्रीभगवान् को नहीं जानता है, अतः निज स्वरूप को भी नहीं जानता है। श्रीभगवान् स्व प्रकाश है, स्व प्रकाश सूर्य्य, जिस प्रकार स्वयं प्रकाशित होकर जागतिक वस्तु निचय को प्रकाशित करता है, श्रीभगवान् भी उसी प्रकार निज महिमा में प्रकाशित होकर अनन्त ब्रह्माण्ड एवं वैकुण्ठ को प्रकाशित करते हैं। जो सूर्य्य को नहीं देखता है, वह अपने को एवं अपर को नहीं देखता है। निविड़ अन्धकार में निमग्न होता है, उस प्रकार जो भगवान् को नहीं देखता है, वह स्वयं को नहीं देखता है, एवं अपर के स्वरूप को भी नहीं देख सकता है। मायिक कुहक में निमज्जित होकर विविध दुःख भोग करता है। सूर्य्य को देखने से स्वयं को देखने के निमित्त एवं अन्धकार दूर करने के निमित्त प्रयत्न नहीं करना पड़ता है, तदुभय विना प्रयत्न से ही निष्पन्न होते हैं, उस प्रकार भगवज् ज्ञान के साथ ही साधन के विना ही निज स्वरूप गत अज्ञान विदूरित होता है एवं संसार दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। कभी भी उक्त अज्ञान एवं दुःख पुनर्व्वार उपस्थित नहीं हो सकता है। अर्थात् निज स्वरूपगत अज्ञान एकवार तिरोहित होने से कभी भी वह उपस्थित नहीं हो सकता है, एवं संसार दुःख विनष्ट होने से कभी भी उसका पुनरागमन नहीं होता है। स्वात्माज्ञान निवृत्ति और कुछ नहीं है, वह श्रीभगवान् की स्वप्रकाशता का एक चिह्न मात्र है। अर्थात् जिस के निकट में उक्त स्व प्रकाशता अभिव्यक्त होती है, उसी की स्वात्माज्ञान निवृत्ति होती है। श्रीभगवान् में भी कभी भी स्वप्रकाशता धर्म का व्यभिचार नहीं होता है। जीव का स्वभावसिद्ध वैमुख्य दोष से ही वह अनभिव्यक्त होता है। ईश वैमुख्य दोष दूरीभूत होने से उक्त धर्म की अभिव्यक्ति होती है, अतः जीव, ईश्वर साक्षात्कार के सहित ही निज स्वरूप का साक्षात् कार लाभ करता है, वही स्वात्माज्ञान निवृत्ति है, अर्थात् निज स्वरूप गत अज्ञान निवृत्ति है, यह स्वात्माज्ञान निवृत्ति ध्वंसाभाव रूप—अविनश्वर है। अतः पुनर्व्वार उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती है। श्रीमद् भागवत के १।२।६—१।२।१२। १।२।२१ में निज स्वरूप गत अज्ञान निवृत्ति का वर्णन परम पुरुषार्थ रूप में है।

"धर्म्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
नार्थस्य धर्म्मैकान्तस्य कामोलाभाय हि स्मृतः।
कामस्य नेन्द्रिय प्रीति र्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभि.॥
वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज् ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते।
तच्छ्रद्धधाना मुनयो ज्ञान वैराग्य युक्तया।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया॥३॥

टीका—तदेवं हरिभक्ति द्वारा तदितर वैराग्यात्मज्ञानपर्य्यन्तः परोधर्म्म इत्युक्तम्। अन्ये तु मन्यन्ते-धर्मस्यार्थ, फलम्, तस्य च कामः फलं, तस्य चेन्द्रिय प्रीतिः, तत् प्रीतेश्च पुनरपि धर्मादि परम्परेति। यथाहुः—धर्म्मादर्थश्च कामश्च सकिमर्थं न सेव्यन इत्यादि। तन्निराकरोति--धर्मस्येति-द्वाभ्याम्। आपवर्ग्यस्य--उक्त न्यायेनापवर्गपर्य्यन्तस्य धर्मस्य अर्थाय फलत्वाय अर्थो नोपकल्पते योग्यो न भवति। तथा अर्थस्याप्येवम्भूत धर्म्माव्यभिचारिणः, कामो लाभाय फलत्वाय न हि स्मृतो मुनिभिः। कामस्य विषय भोगस्य इन्द्रिय प्रीतिर्लाभः, जीवन पर्य्यन्त एव कामः सेव्य इत्यर्थः। जीवस्य जीवनस्य च पुनः कर्म्मभिर्धर्म्मानुष्ठान द्वारा य इह प्रसिद्ध स्वर्गादिः सोऽर्थो न भवति, किन्तु तत्त्वजिज्ञासैव। ननु तत्त्व जिज्ञासा नाम धर्म जिज्ञासैव धर्म एव हि तत्त्वमिति केचित्—तत्राह वदन्तीति। तत्त्वविदस्तु तदेव तत्त्वं वदन्ति। किं तत्? यत् ज्ञानं नाम। अद्वयमिति, क्षणिक ज्ञान पक्षं व्यावर्त्तयति। ननु तत्त्वविदोऽपि विगीत वचना एव? मैवं, तस्यैव तत्त्वस्य नामान्तरैरभिधानादित्याह। औपनिषदै ब्रह्मेति, हैरण्य गर्भैः परमात्मेति, सात्वतै भगवानिति शब्द्यते,—अभिधीयते। तच्च तत्त्वं सपरिकरया भक्त्या एव प्राप्यत इत्याह--तच्चेत्यन्वयः। ज्ञान वैराग्य युक्तयेत्यत्र ज्ञानं परोक्षम्। तच्चतत्त्वं आत्मनि क्षेत्रज्ञे पश्यन्ति। किं तत्? आत्मानं परमात्मानम्। श्रुतेन वेदान्त श्रवणेन गृहीतया प्राप्तया इति भक्ते र्दार्ढ्यमुक्तम्॥"

ज्ञानी एवं योगि गण के मत में अपवर्ग शब्द का अर्थ मुक्ति है, एवं भक्त वृन्द के मत में अपवर्ग शब्द का अर्थ प्रेम भक्ति है। अपवर्ग पर्य्यन्त जो धर्म, उस का फल रूप में अर्थ कल्पित नहीं हो सकता है। अर्थात् जिस धर्म से अपवर्ग सिद्ध होता है, उस का फल अर्थ - सम्पत्ति है—यह किसी प्रकार सम्भव नहीं है। और धर्म ही जिसका एकमात्र फल है—उस अर्थ का फल काम है, इस प्रकार कथन भी समीचीन नहीं है। भक्ति रूप फल के द्वारा ही धर्म सार्थक होता है। अर्थ का फल काम, काम का फल–इन्द्रिय प्रीति उस इन्द्रिय प्रीति का फल—पुनर्वार धर्म्मादि परम्परा है—इस प्रकार कथन भी समीचीन नहीं है। इस का वर्णन उक्त ९-१० श्लोक में हुआ है। अपवर्ग भक्ति। अर्थ—सम्पत्ति लाभ--भक्ति सम्पादक धर्म का फल रूप में गण्य नहीं हो सकता है। उस का फल—भक्ति लाभ है। अर्थात् साधन भक्ति का अनुष्ठान के द्वारा साध्य प्रेम भक्ति लाभ होती है। और जिस अर्थ सम्पत्ति के द्वारा भक्ति सम्पादक धर्मानुष्ठान होता है, उस के द्वारा इन्द्रिय सुख सम्पादन में प्रयत्नशील होना—अनुचित है। इन्द्रिय सुख--क्षण स्थायी है, परिणाम में भी विरस एवं दुःखद है। जिस के द्वारा नित्य एवं चिर वर्धन शील सुख सम्पादित होता है, उस अर्थ सम्पत्ति इन्द्रिय सुख हेतु विनियोग करना अतीव अज्ञता का कार्य्य है। काम—अर्थात् विषय भोग का फल इन्द्रिय प्रीति नहीं है, जीवन पर्य्यन्त ही काम सेव्य है। जीवित मानव का कर्म्म द्वारा अर्थात् धर्म्मानुष्ठान के द्वारा प्रसिद्ध स्वर्गादि भोग रूप फल लाभ भी समीचीन नहीं है। तत्त्व जिज्ञासा ही उसका

फल है ।

अर्थात् इन्द्रिय सुख सम्पादन हेतु विषय सेवन कर्त्तव्य नहीं है । जिस से जीवन रक्षा हो, उस परिमाण में विषय भोग करना चाहिये । इन्द्रिय सुख साधन में रत होकर जीवन अति वाहित करने पर--जीवन व्यर्थ होता है ।

जीवन का अपर एक महदुद्देश्य है—तत्त्व जिज्ञासा ही मानव का एवं मानव जीवन का उद्देश्य है ।

धर्म्म द्वारा ऐहिक पारत्रिक सुखानुसन्धान भी वाञ्छनीय नहीं है, ज्ञानी एवं योगि वृन्द के ज्ञान एवं योग साधन के साधन के द्वारा आनुषङ्गिक फल रूप में सुख दुःख उपस्थित होते हैं । वे कर्म्म फल होते हैं । कारण, ज्ञान एवं योग—उभय साधन ही निष्काम कर्म्म के परिणाम हैं, अर्थात् निष्काम कर्म्मानुष्ठान से ही ज्ञान एवं योग में प्रवृत्ति होती है । भक्त वृन्द के दृष्ट सुख दुःख कर्म फल रूप में गण्य नहीं हैं । कारण, भक्ति, कर्म परिणाम नहीं हैं, वह भगवत् कृपा सम्भूता है । अतएव भक्त वृन्द का दृष्ट सुख एवं दुःख भक्ति के ही फल हैं । भा० १०। ८८ में उक्त है—

"यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः ।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःख दुःखिनम् ॥"

जिस के प्रति मैं अनुग्रह करता हूँ,—शनैः शनै उस का धनापहरण करता हूँ, उस से स्वजन गण--दुःख दुःखित होकर उस को परित्याग करते हैं। इस प्रकार भगवदुक्ति के अनुसार— निरपराध भक्त वृन्द का दुःख—भगवदिच्छा सम्भूत है। सापराध व्यक्ति का दुःख—अपराध सम्भूत है । अनन्तर तत्त्व का वर्णन करते हैं—'तत्त्वविद् व्यक्ति गण, अद्वय ज्ञान को ही तत्त्व कहते हैं ।

श्रीमद् भागवत में एवं अपर किसी किसी शास्त्र में एक ही तत्त्व ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्—त्रिधा अभिहित होते हैं । चिदेक रूप को ज्ञान कहते हैं । उस ज्ञान को अद्वय कहने का अभिप्राय यह है कि—उस के स्वयं सिद्ध-सदृश-वा असदृश कोई पदार्थ भी नहीं हैं । निज शक्ति वर्ग उस के सहायक हैं । तद्भिन्न शक्ति वर्ग की असिद्धि हेतु वह अद्वय है ।

तत्त्व शब्द के द्वारा अद्वय ज्ञान की परम पुरुषार्थता द्योतित हुई है । "उस से वह तत्त्व सुख स्वरूप है, यह बोध होता है । कारण, सुख स्वरूप वस्तु ही पुरुषार्थ है । यह अद्वय ज्ञान ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्—नाम से त्रिधा आविर्भूत होता है। शक्ति वर्ग लक्षण—तद्धर्मातिरिक्त केवल ज्ञान, ब्रह्म शब्द से अभिहित होता है । अर्थात् उक्त तत्त्व की शक्ति एवं शक्ति कार्य्य का अनभिव्यक्ति स्वरूप ही ब्रह्म है । अन्तर्य्यामितामय मायाशक्ति प्रचुर चिच्छक्त्यंश विशिष्ट स्वरूप-परमात्मा हैं । अर्थात् परमात्म स्वरूप, अन्तर्य्यामिता के द्वारा माया शक्ति को नियमित करता है । तदीय स्वरूप में चिच्छक्ति का आंशिक कार्य्य अभिव्यक्त है । परिपूर्ण सर्वशक्ति विशिष्ट स्वरूप भगवान् हैं ।

श्रद्धावान् मुनिवृन्द ज्ञान वैराग्य युक्ता श्रुत गृहीता (गुरुमुख से श्रुता, पश्चात् गृहीता ) भक्ति के द्वारा शुद्ध चित्त में आत्मा का (अद्वय ज्ञान का) दर्शन करते रहते हैं ।" ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् रूप में त्रिधा आविर्भूत परतत्त्व का साक्षात्कार एकमात्र भक्ति के द्वारा ही किया जा सकता है । यहाँ भक्ति शब्द से भगवत् कथा रुचि रूपा भक्ति की परिपाकावस्था रूपा प्रेम लक्षणा भक्ति को जानना चाहिये । अर्थात् भगवत् कथा श्रवण कीर्त्तन में रुचि ही भक्त्याविर्भाव का लक्षण है, वह भक्ति--प्रगाढ़ावस्था में प्रेम भक्ति में पर्य्यवसित होती है । श्रुत गृहीता एवं ज्ञान वैराग्य युक्ता--यह भक्ति का विशेषण हैं । श्रीगुरु मुख से श्रीभगवत् कथा श्रवण के पश्चात् गृहीत होने के कारण, वह श्रुत गृहीता है । उक्त ज्ञान वैराग्य भी भक्ति सम्भूत हैं, अभ्यासज नहीं हैं । साधन भक्ति का अनुष्ठान करते करते जो ज्ञान वैराग्य का उदय होता है, उस ज्ञान वैराग्य समन्वित प्रेम भक्ति द्वारा शुद्ध चित्त में भगवत् साक्षात्कार होता है ।

इत्यन्तेन । स्वतः सर्व्वदुःखनिवृत्तिश्च तत्रैवोक्ता-(भा० १।२।२१) "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" इत्यादिना । श्रीविष्णुपुराणे च (६।५।५९)-

---

तात्पर्य्य यह है कि—ज्ञानी योगी एवं भक्त भेद से त्रिविध साधक—उक्त तत्त्व का साक्षात् कार करते हैं। ज्ञानिगण के मत में परतत्त्व ब्रह्म हैं, वे आत्मा में तत् पदार्थ ईश्वर में, त्वं पदार्थ आत्मा, आत्मा जीव को अनुभव करते हैं। योगिगण के मत परमात्मा-परतत्त्व हैं। वे आत्मा में—निज अन्त हृदय में आत्मा को अन्तर्य्यामी को ध्यान द्वारा अवलोकन करते हैं। भक्त गण के मत में पर तत्त्व वस्तु भगवान् हैं, वे आत्मा में मन में एवं बाहर (श्लोकस्थित चकार द्वारा बाहर अर्थ होता है) स्फूर्त्ति प्राप्त भगवान् का दर्शन निज नयन युगलों के द्वारा करते हैं। वे भगवन्माधुर्य्यानुभव करते हैं। भक्ति शब्द से--भगवद् विषयक श्रवण कीर्त्तनादि को जानना होगा। वही मुख्य साधन है। ज्ञान एवं योग, भक्ति साहचर्य्य भिन्न निज निज फल प्रकाशन में असमर्थ हेतु—ज्ञानी एवं योगी के पक्ष में स्व स्व साध्यसिद्धि हेतु भक्त्यनुष्ठान करना अवश्य कर्त्तव्य है।

इन सब श्लोकों के द्वारा परम तत्त्व साक्षात् कार ही जीवका परम अभीष्ट है—यह वर्णित है। पर तत्त्व साक्षात् कार व्यतीत जीव का स्वरूपगत अज्ञानान्धकार विदूरित नहीं होता है। अज्ञानान्धकार विदूरित न होने से परतत्त्व का साक्षात् कार नहीं होता है। जैसे सूर्य्य प्रकाश व्यतीत अन्धकार विदूरित नहीं होता है। अन्धकार विदूरित न होने से सूर्य्य दर्शन भी नहीं होता है। सूर्य्योदय एवं अन्धकार नाश युगपत् सम्भव होता है, परम तत्त्व साक्षात् कार एवं स्वात्माज्ञान विनाश भी उस प्रकार युगपत् सिद्ध होता है। तज्जन्य स्वात्माज्ञान निवृत्ति को परम पुरुषार्थ कहा गया है।

शुद्ध चित्त में भक्ति द्वारा जो आत्मदर्शन मुनिगण करते हैं, उस को परम तत्त्व कहते हैं। कारण, श्लोक समूह के द्वारा तत्त्व जिज्ञासा को परमपुरुषार्थ रूप में निर्णय करने के पश्चात्—कहा गया है कि—मुनिगण उस तत्त्व का दर्शन करते हैं, इस से उक्त दर्शन में ही परमपुरुषार्थता सुनिश्चित है। पुरुषार्थ वस्तु ही मुनि वृन्द की अभीप्सित है। उक्त पुरुषार्थ प्राप्ति हेतु मुनिगण धर्मादि अपर पुरुषार्थ में वीतस्पृह होते हैं।

अतएव परतत्त्व साक्षात् कार के अनन्तर हो प्रयत्न के विना ही जो समस्त दुःख निवृत्ति होती हैं, उस का वर्णन भा० १।२।२१ में है।

"भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्त सर्व संशया ।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ॥"

टीका—ज्ञान फलमाह-भिद्यत इति । हृदयमेव ग्रन्थिः, चिज्जड़ ग्रन्थन रूपोऽहङ्कारः, अतएव सर्वे संशया असम्भावनादि रूपाः । कर्म्माण्यनारब्ध फलानि । आत्म स्वरूप भूते ईश्वरे दृष्टे साक्षात् कृतेसति । एव कारेण ज्ञानानन्तर मेवेति दर्शयति ॥

भगवत् तत्त्वज्ञ-मुक्त सङ्ग पुरुष को आत्मा में अर्थात् मन में ईश्वर दर्शन होने से ही अहङ्कार रूप हृदय ग्रन्थि टूट जाती है। सर्व संशय छिन्न होते हैं एवं निखिल कर्म क्षय होते हैं।

हृदय ग्रन्थि—शब्द से अविद्याग्रस्त कर्म्मबद्ध जीवाभिमान को जानना होगा। सर्व संशय—असम्भावना विपरीत भावना भेद से द्विविध हैं। उस में से ज्ञेय (श्रीभगवान्) गत असम्भावना एवं विपरीत भावना एवं आत्म (साधक) योग्यता गत असम्भावना-विपरीत भावना भेद से संशय चतुर्विध हैं। कर्म्म—अनारब्ध फल, अर्थात् जिस कर्म का फल भोग अभी तक आरम्भ नहीं हुआ है, वह अनन्त हैं।

उक्त श्लोक में ग्रन्थि भेद, संशय च्छेद, एवं कर्म्म क्षय त्रिविध-कार्य्य का उल्लेख है। यह कार्य्यत्रय

"निरस्तातिशयाह्लाद-सुखभावैकलक्षणा । भेषजं भगवत् प्राप्तिरेकान्तात्यन्तिकी मता ॥४॥ इति,

श्रुतौ च (तै० २।४।१)—"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" इति । एष एव च मुक्ति-शब्दार्थः,-संसारबन्धच्छेदपूर्व्वकत्वात्, यथोक्तं श्रीसूतेन (भा० १२।४।३४) -

"यदैवमेतेन विवेकहेतिना, मायामयाहङ्करणात्मबन्धनम् ।
छित्त्वाच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते, तमाहुरात्यन्तिकमङ्ग संप्लवम् ॥"५॥ इति,

अच्युताख्ये आत्मनि परमात्मन्यनुभवो यस्य तथाभूतः सन्नवतिष्ठते यत्तमात्यन्तिकं

---

भगवत् साक्षात् कार के मुख्य फल नहीं हैं। परमानन्द प्राप्ति ही मुख्य फल है । हृदय ग्रन्थि भेदनादि भगवत् साक्षात् कार का आनुषङ्गिक फल है । संशय छेदन के प्रति हेतु श्रवण मनन ही है, श्रवण द्वारा ज्ञेय गत असम्भावना एवं विपरीत भावना, मनन के द्वारा आत्म योग्यता गत असम्भावना एवं विपरीत भावना रूप संशय विदूरित होता है । कर्म्म क्षय होता है,—अर्थात् साक्षात् कार के सहित निखिल कर्म सम्पूर्ण रूप से ध्वस्त होते हैं । क्षय शब्द प्रयोग से जानना होगा कि—क्षीण भाव से किञ्चित् कर्म्म की स्थिति अनुमित होती है । श्रीभगवत् साक्षात् कार के पश्चात् तदीय इच्छानुसार प्रारब्ध कर्माभास रूप में भक्तवृन्द उक्त कर्म्मस्थिति को जाननी होगी । ब्रह्म विद्या एवं भगवद्धर्म प्रचार हेतु जीवन्मुक्त पुरुष में श्रीभगवदिच्छा से प्रारब्ध कर्म्माभास की स्थिति होती है । श्रीविष्णु पुराण के ६।५।५९ में भी उक्त है—

"निरस्तातिशयाह्लाद सुख भावैक लक्षणा ।
भेषजं भगवत् प्राप्तिरेकान्तात्यन्तिकी मता ।।"४।।

निरतिशय आह्लाद सुख स्वरूपा भगवत् प्राप्ति एकान्त आत्यन्तिकी सम्मता है । वही भव व्याधि की औषधि है । तैत्तिरीयक २।४।१ श्रुति में उक्त है—"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन"

जो परम ब्रह्म का आनन्दानुभव करते हैं, वे कभी भी किसी से भय प्राप्त नहीं होते हैं ।

** इति पुरुषार्थ निरूपणम् ।।

## अथ मुक्ति निरूपणम् ।

यह परतत्त्व साक्षात् कार ही मुक्ति शब्द का अर्थ है । कारण, इस के पहले हि संसार बन्धन च्छिन्न होता है । सूर्य्योदय के प्राक् काल में जिस प्रकार अन्धकार राशि विदूरित होती हैं, यहाँ पर भी उस प्रकार जानना होगा । भा० १२।८।३४ में श्रीसूतने कहा भी है—

"यदैवमेतेन विवेकहेतिना, मायामयाहङ्करण त्मबन्धनम् ।
छित्त्वाच्युतात्मानुभवोऽवतिष्ठते, तमाहुरात्यन्तिकमङ्ग संप्लवम् ।।"५।। इति,

टीका—सोऽयमात्यन्तिकः प्रलय इत्युपसंहरति यदैवमिति । विवेकहेतिना-ज्ञानशास्त्रेण । अहङ्करण मेवात्मबन्धनम् । अच्युतं परिपूर्णमात्मानुभवतीति तथा ।

जिस समय विवेकास्त्र के द्वारा मायामय अहङ्कार रूप आत्म बन्धन छेदन पूर्वक जो अच्युतात्मानुभव उत्पन्न होता है, उस को आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं । अचुत नामक आत्म—परमात्मा में जिस का अनुभव है, उस के समान जो अ स्थान है, उस अवस्थान को आत्यन्तिक प्रलय--अर्थात् मुक्ति कहते हैं ।

संसारावस्था में जीव में मायिक अहङ्कार रहता है, अर्थात् जन्म कम वर्ण आश्रय जाति प्रभृति में अहं बुद्धि होती है । विवेक द्वारा यह अहङ्कार विदूरित होता है। अनन्तर भक्ति योग से जो भगवत् साक्षात् कार होता है, वही आत्यन्तिक प्रलय है, जिस समय मायिक समस्त पदार्थ विनष्ट होते हैं,

संप्लवं मुक्ति-माहुरित्यर्थः।

अथ (भा० २।१०।६) "मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः" इत्येतदपि तत्तुल्यार्थमेव, यतः स्वरूपेण व्यवस्थितिर्नाम स्वरूपसाक्षात् कार उच्यते,-तदवस्थानमात्रस्य संसारदशायामपि स्थितत्वात्, अन्यथारूपत्वस्य च तदज्ञानमात्रार्थत्वेन तद्धानौ तज्ज्ञानपर्य्यवसानात्। स्वरूपञ्चात्र मुख्यं परमात्मलक्षणमेव। रश्मिपरमाणूनां सूर्य्य इव स एव हि जीवानां परमो-ऽंशिस्वरूपः, यथोक्तं ब्रह्माणं प्रति श्रीमता गर्भोदशायिना (भा० ३।९।३३)--

"यदा रहितमात्मानं भूतेन्द्रियगुणाशयैः
स्वरूपेण मयोपेतं पश्यन् स्वाराज्यमृच्छति ।।"६।। इति,

---

उस को आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं। श्रीभगवत् साक्षात् कार में भक्त का संसार क्षय होता है—तज्जन्य उस को आत्यन्तिक प्रलय कहा जाता है। भगवद् बहिर्मुखता हेतु जो पुनः पुनः जन्म मरण रूप संसार भय उपस्थित हुआ था, उस का सम्यक् ध्वंस होता है, तज्जन्य उस को मुक्ति कहते हैं। भा० २।१०।६ में उक्त है—

"निरोधोऽस्यानुशयान मात्मनः सह शक्तिभिः।
मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।।"

टीका—अस्यात्मनो जीवस्य हरे र्योगनिद्रामनु पश्चात् शक्तिभिः स्वोपाधिभिः सह शयनं लयः निरोधः। अन्यथारूपं अविद्याध्यस्तं कर्त्तृत्वादि हित्वा स्वरूपेण ब्रह्मतया व्यवस्थितिर्मुक्तिः।।"

अन्यथा रूप अर्थात् ईश विमुखता से निवृत्त होकर स्वरूप में अवस्थिति का नाम मुक्ति है। यहाँ पर भी आत्यन्तिक प्रलय लक्षणात्मक श्लोक का तुल्यार्थ प्रकाशित हुआ है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि--केवल स्वरूपावस्थिति को मुक्ति क्यों नहीं कहते हैं ? उत्तर में कहते हैं—जगत् में भगवदाविर्भाव के समय जीव की स्वरूप में अवस्थिति होती है, अर्थात् परम स्वरूप भगवत् साक्षात् कार होता है। स्वरूप में अवस्थिति को मुक्ति कहने से उक्त दर्शन को भी मुक्ति कहनी होगी। उस को निषेध करने के निमित्त-अन्यथा रूप निवृत्ति की कथा कही गई है। अर्थात् जड़ीय वस्तु के सहित मानस सम्बन्ध त्याग पूर्वक जो सच्चिदानन्द स्वरूपानुभव है, उस को मुक्ति कहते हैं। कारण, उक्त श्लोकोक्त—स्वरूप व्यवस्थिति का अर्थ भी स्वरूप साक्षात् कार है। स्वरूप साक्षात्कार अर्थ न करके स्वरूपावस्थिति अर्थ करना असम्भव है। कारण, संसार दशा में भी स्वरूपावस्थिति है। जब जीव, मायाबद्ध होकर संसार भोग करता है। उस समय भी उसका चिन्मय स्वरूप का व्यभिचार नहीं होता है। तब जो अन्य रूप प्रतीति होती है, अर्थात् देह दैहक ममता पाश बद्ध मनुष्य पश्वादि अभिमान होता है। वह केवल निज स्वरूप ज्ञानाभाव का फल है। वह अज्ञान विदूरित होने से निज चित् स्वरूप का बोध होता है। यहाँ जो स्वरूपावस्थिति की कथा कही गई है—उस को भी परमात्म लक्षण मुख्य स्वरूप को जानना होगा। जीवात्माका अणुचित् स्वरूप नहीं है। कारण, परमात्म स्वरूप सत्ता से ही जीवात्मत्व रूप सत्तावान् है। परमात्म स्वरूप--जीवात्मस्वरूप का आश्रय है। तज्जन्य परमात्म स्वरूप को मुख्य स्वरूप कहा गया है। रश्मि परमाणु समूह का सूर्य्य जिस प्रकार परमाश्रय है। परमात्मा भी उस प्रकार जीव समूह का परम अंशी स्वरूप हैं। भा० भा० ३।९।३३ में श्रीब्रह्मा के प्रति श्रीगर्भोदशायी ने कहा है—

"यदा रहितमात्मानं भूतेन्द्रियगुणाशयैः।

उपेतं युक्तमित्येवाविलष्टोऽर्थः। जीवस्वरूपस्यैव गौणानन्दत्वं दर्शितम्। (भा० १०।१४।५४) तस्मात् प्रिय-तमः स्वात्मा" इत्युक्त्वा, (भा० १०।१४।५५) "कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्। जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीव" इत्यनेन, जीवपरयोरभेदवादस्तु परमात्मसन्दर्भादौ विशेषतोऽपि परिहृतोऽस्ति, अतएव निरधारयच्छ्रुतिः--(तै० २।७।१) "रसो वै सः

---

स्वरूपेण मयोपेतं पश्यन् स्वाराज्यमृच्छति॥"६॥ इति,

टीका—तदा च मिथ्या ज्ञान निवृत्तौ मुच्यते इत्याह—यदिति। भूतादिभि र्विरहित मात्मानं जीवं शुद्धं त्वम्पदार्थं स्वरूपेण स्वस्यात्मभूतेन मया तत् पदार्थेन उपेतमेकी भूतं पश्यन् भवति तदा स्वाराज्यं मोक्षं प्राप्नोति।

जिस समय जीव—भूत, इन्द्रिय गुण, एवं आशय विरहित जीवात्मा को--स्वरूप अर्थात् जीव शक्ति का आश्रयभूत शक्तिमान् मेरे सहित संयुक्त रूप से दर्शन करता है। उस समय जीव को सार्ष्टि प्रभृति मुक्ति प्रभृति मिलती हैं। यहाँ टीका में स्वामिपाद ने लिखा है—आत्मानं जीवं, शुद्धं त्वं पदार्थं, स्वरूपेण स्वस्यात्मभूतेन मया तत् पदार्थेन उपेतं" अर्थात् आत्मा को शुद्ध जीव स्वरूप 'त्वं' पदार्थ को, स्वरूप निजात्मभूत मेरा अर्थात् तत् पदार्थ के सहित एकीभूत दर्शन करने से मोक्ष लाभ होता है। यह व्याख्या अद्वैतवाद पोषक है। इस में उपेत शब्द का 'एकीभूत' अर्थ किया गया है, उस से कष्ट कल्पना का आश्रय ग्रहण हुआ है। कारण, उप-इ-क्त-उपेत होता है. उप—समीप में—इ गत। सुतरां उपेत शब्द का एकीभूत अथ कष्ट कल्पना प्रसूत है। अतएव—उपेत शब्द का अक्लिष्टार्थ -'युक्त' समीचीन है। उक्त श्लोक में 'मया' पद का विशेषण रूप में स्वरूपेण' पद उपन्यस्त है। इस से श्लोक वक्ता श्रीभगवान् हैं, यह बोध होता है। उस से स्वरूप शब्द जो परमात्म लक्षण मुख्य स्वरूप का बोधक है, उस का बोध सुस्पष्ट रूप से होता है।

वस्तु द्वय के मिलन से उभय एक होते हैं, इस प्रकार कहना ठीक नहीं है। निज निज सत्ता में अक्षुण्ण रह कर ही उभय मिलित हो सकते हैं, वस्तुत उभय की सत्ता विद्यमान न होने से 'उभय का मिलन" इस प्रकार शब्द प्रयोग सार्थक नहीं होता है। उस प्रकार मिलन में महत् का गुण क्षुद्र में संक्रमित होता है, किन्तु क्षुद्र की सत्ता विलुप्त नहीं होती है। मुक्तावस्था में विभु चैतन्य ईश्वर में अणु चैतन्य जीव युक्त होता है। किन्तु जीवेश्वर एक नहीं हो जाता है। एवं जीव की सत्ता लुप्त नहीं होती है, अन्यथा ईश्वर का ईश्वरत्व ही नहीं रहेगा। किन्तु ईश्वर के अनेक स्वरूप सिद्ध गुण जीव में सञ्चारित होते हैं।

अणुचित् जीव स्वरूप में अणु परिमित आनन्द है, उस अणु स्वरूपानन्द का अनुभव होने से भी परमानन्द लाभ नहीं होता है, तज्जन्य भगवत् स्वरूप की अपेक्षा है। भगवत् कृपा से जीव, परमानन्द लाभ कर सकता है। जीव, विपुल आनन्द मय भगवान् का अंशभूत होने के कारण उस में किञ्चित् आनन्द है। उस की स्वरूपानुभूति भी भगवदनुभव सापेक्ष है। भगवदनुभव व्यतीत कोई भी निज स्वरूपानुभव करने में सक्षम नहीं हो सकते हैं। तज्जन्य जीवस्वरूप में गौणानन्द है, एवं भगवत् स्वरूप में मुख्यानन्द है। निम्नोक्त प्रमाण समूह के द्वारा जीवस्वरूप का गौणानन्दत्व प्रदर्शित हुआ है। भा० १०।१४।५४ में उक्त है।

'तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम्।
तदर्थमेव सकलं जगच्चैतच्चराचरम्॥

इस प्रकार कह कर कहा है—भा० १०।१४।५५—

"कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनां।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देही वाभाति मायया॥"

टीका—तदर्थमेव सकलं प्रियमित्यर्थः। प्रस्तुतमाह—कृष्णमेनमिति।

व्रजवासि वृन्द की श्रीकृष्ण में प्रीति निज पुत्र से भी अत्यधिक थी, इस का कारण क्या है? महाराज परीक्षित् के प्रश्नोत्तर में श्रीशुक कहे थे—अतएव देहिवृन्द के आत्मा ही प्रियतम है। आत्मा के निमित्त ही सचराचर जगत् प्रिय होता है। श्रीकृष्ण को अखिल देही के आत्मा जानो, श्रीकृष्ण, जगद्धितार्थ योगमाया द्वारा देही के समान प्रतिभात होते हैं।

इस प्रकरण के पूर्ववर्त्ति श्लोक चतुष्टय, इस प्रकार हैं—

श्रीशुक उवाच—"सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः।
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि ॥१०।१४।५०
तद्राजेन्द्र यथा स्नेहः स्वस्वकात्मनि देहिनाम्।
न तथा ममतालम्बि पुत्र वित्त गृहादिषु ॥५१॥
देहात्मवादिनां पुंसामपि राजन्यसत्तम।
यथा देहः प्रियतम स्तथा नह्यनु येच तम् ॥५२॥
देहोऽपि ममता भाक् चेतर्ह्यसौ नात्मवत् प्रियः।
यज्जोर्य्यत्यपि देहेऽस्मिन् जीविताशाबलीयसी ॥"५३॥

टीका—श्रीकृष्णस्य साक्षादात्मत्वात् तस्मिन् आत्मीयेभ्यः प्रेमाधिक्यं युज्यत इति वक्तुं प्रथमं तावदात्मनः स्वतः प्रेष्ठत्वमन्येषान्तु तदुपाधिकमिति दर्शयति। पञ्चभिः। सर्वेषामपीति ॥५०॥ कुतः तथा दर्शनादित्याह। तदिति। तस्मादेव कारणात् स्व स्वकात्मनि अहङ्कारास्पदे देहे ।५१। आत्माध्यास तारतम्येन प्रेम तारतम्यं दृश्यमानं दर्शयितुं मूढ़ामूढ़भेदेन विशेषमाह देहात्मवादिनामिति द्वाभ्याम्। तं देहमनु भवन्ति ये पुत्रादयस्ते तु न तथा प्रियतमा इत्यर्थः ।५२। यद् यस्माज्जीर्य्यत्यपि आसन्न मरणेऽपि जीविताशा भवति। अयं भावः। न जीविष्यतीति निश्चितेऽपि देहे यत् प्रेमास्पदत्वं तदात्मगतमेव सङ्गच्छत इति। अथवा यद् यस्मिन् देहे जीर्य्यत्यपि जीविताशा अविवेक दशायामासीत् सापि विवेकिनो यदा ममता भाग् तदात्मवत् प्रिया न भवति अतस्तत्र नातीवास्थेति।

श्रीशुक कहे थे—राजन्! समस्त प्राणियों का परम प्रिय निज आत्मा ही है। पुत्र वित्त प्रभृति अन्यान्य द्रव्य समूह प्रिय आत्मा के सम्बन्ध से ही प्रिय होते हैं। हे राजेन्द्र देही वृन्द के अहङ्कारास्पद निज निज देह में जिस प्रकार प्रीति है, ममतास्पद पुत्र, वित्त, गृह प्रभृति में तद्रूप प्रीति नहीं होती है। जो लोक देहातिरिक्त आत्मा को नहीं मानते हैं, उन के मत में भी देह जिस प्रकार प्रिय है, उस प्रकार देह सम्भूत पुत्रादि उस प्रकार प्रिय नहीं होते हैं। देह ममतास्पद होने पर भी वह आत्मा के समान प्रियतम नहीं है। देह जीर्ण होने परभी जीवित रहने की आशा बलवती होती है, अर्थात् आत्म रक्षा की आकाङ्क्षा बलवती होती है।

यह सब वाक्य की पर्य्यालोचना करने से पत्नी पुत्र प्रभृति से भी अतीव प्रियता की प्रतीति देह में होती है, उस देह से भी आत्मा प्रियतम है। अदृष्ट आत्मा को प्रीति करता है, किन्तु दृष्ट शरीर को आदर नहीं करता है, आत्मा की अविद्य मानता में उस को अशिव मानता है। इस से बोध होता है कि—आत्मा स्वभावतः प्रिय है। दृष्ट के अन्तराल में रह कर भी प्रीति आकर्षण करने में सक्षम है, आत्मा श्रीकृष्ण, उस आत्माधिष्ठान का भी हेतु हैं। श्रीकृष्ण, अन्तर्यामि रूप में विराजित होने के कारण, आत्मा सत्तर प्रकाशित होती है। तज्जन्य हो श्रीशुक देवने कहा—श्रीकृष्ण के समान अपर कोई भी प्रिय नहीं हैं, निरतिशय प्रीत्यास्पद हेतु श्रीकृष्ण ही मुख्य आनन्द स्वरूप हैं। उनका अंश जीव है। जीव

रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" इति । अत्रांशेनांशि-प्राप्तिश्च द्विधा योजनीया । (१) तत्राद्या ब्रह्मप्राप्तिर्मायावृत्त्यविद्याविद्यानाशानन्तरं केवल-तत्स्वरूपशक्ति-लक्षण-तद्विज्ञानाविर्भावमात्रम्, सा च स्वस्थान एव वा स्यात्, क्रमेण सर्व्वलोकसर्व्वावरणाति-क्रमानन्तरं वा स्यात्, उपासनाविशेषानुसारेण, (२) द्वितीया भगवत्प्राप्तिश्च, तस्य विभोरप्य सर्व्वप्रकटस्य तस्मिन्नाविर्भावेन, विभुनापि वैकुण्ठे सर्व्वप्रकटेन तेनाचिन्त्यशक्तिना स्वचरणार-

---

स्वरूपानन्द-श्रीकृष्ण स्वरूपानन्द सापेक्ष है— अतएव जीव— स्वरूप का आनन्द गौण है ।

जीव एवं ईश्वर—उभय ही आनन्द स्वरूप होने के कारण, कतिपय व्यक्ति जीवेश्वर को अभिन्न वस्तु मानते हैं । वह सङ्गत नहीं है । जीवेश्वर अभिन्नता वाद का परिहार परमात्म सन्दर्भादि में विशेष रूप से किया गया है । अतएव जीव स्वरूप का गौण नन्दत्व एवं जीव स्वरूप का पार्थक्य का निर्द्धारण श्रुति करती रहती है —(तै० २।७।१ )

"रसो वैसः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ।"

"परमब्रह्म ही रस हैं, अर्थात् आनन्द स्वरूप हैं, उस रस को प्राप्त कर जीव सुखी होता है ।

"रसो नाम तृप्ति हेतुरानन्द करो मधुरम्लादि प्रसिद्धो लोके"

शाङ्कर भाष्यम् । यहाँ अंशभूत जीव कर्त्तृक अंशिप्राप्ति की योजना दो प्रकार से करनी चाहिये । एक—ब्रह्म प्राप्ति—द्वितीय-भगवत् प्राप्ति । उस के मध्य में प्रथमतः ब्रह्म प्राप्ति - मायावृत्तिस्वरूप अविद्या विद्या नाश के अव्यवहित उत्तर काल में स्वरूप शक्ति लक्षण-जो ब्रह्म ज्ञान है—उस का आविर्भाव मात्र ही है ।

देहात्म बोध ही अज्ञान का कार्य्य है, तद् द्वारा जीव आवृत रहता है, उस अवस्था में जन्म मरणादि विविध दुःख भोग होते रहते हैं । ज्ञान के द्वारा अज्ञान तिरोहित होने से निज स्वरूप ज्ञान आविर्भूत होता है, एवं संसार दुःख विनष्ट होता है । तदनन्तर पर तत्त्व की अनुकम्पा से विद्यावृत्ति विनष्ट होने पर ब्रह्म ज्ञानोदय होता है । इस को ब्रह्म प्राप्ति कहते हैं । ब्रह्म ज्ञान अध्ययनादि जनित ज्ञान नहीं है, वह स्वरूप शक्ति का आविर्भाव मात्र है । जिस प्रकार सूर्य्य लोक से सूर्य्यरश्मि पृथिवी में अवतीर्ण होकर पार्थिव वस्तु एवं सूर्य्य को प्रकाशित करती है, तद्रूप चिच्छक्ति—साधक जीव में आविर्भूत होकर निज स्वरूपानुभव एवं ब्रह्मानुभव उपस्थित करती है । उस ब्रह्मानुभव में निमग्न होना ही ब्रह्म प्राप्ति है । यह प्राप्ति—उपासना तारतम्य के अनुसार द्विविध होती हैं, स्वस्थान में किं वा सर्वलोक एवं एर्वावरण अति क्रमण के अनन्तर होती है । जो लोक- फल प्राप्ति हेतु परमोत्कण्ठित होते हैं, वे जहाँपर साधन करते हैं, वहाँपर ही ब्रह्मानुभव करते हैं । एवं तत् प्राप्ति योग्य साधन सम्पन्न व्यक्ति वृन्द-विभिन्न लोक वैभव दर्शनाभिलाषी होकर भूतादि विभिन्न लोकों के वैभवादि को उपभोग करने के पश्चात् क्रमशः प्रकृति के अष्टावरण वैभव को उपभोग करते हैं । अनन्तर प्रकृति के आवरण भेदन करके प्रकृति पार पर में गमन करके ब्रह्मानुभव करते हैं ।

द्वितीया भगवत् प्राप्ति भी द्विविध हैं । प्रथम—भगवान् विभु (सर्वव्यापी) होने पर भी सर्वत्र प्रकटित नहीं होते हैं, भगवत् प्राप्ति योग्य भक्त के निकट आविर्भूत होते हैं । उस से भजनानुष्ठान के स्थान में भगवत् प्राप्ति होती है । द्वितीय—भगवान् विभु होने पर भी अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से वैकुण्ठ में सर्वतोभावेन प्रकाशित होते हैं, तत् प्राप्ति योग्य भक्त को निज चरण सान्निध्य प्रदान करते हैं । उस से वैकुण्ठ में भगवत् प्राप्ति होती है । ऐसा होने पर वह मुक्ति—उत्क्रान्त दशा में अर्थात् देह त्याग के पश्चात्

विन्द-सान्निध्यप्रापणया च। तदेवं स्थिते, सा च मुक्तिरुत्क्रान्तदशायां जीवद्दशायामपि भवति, उत्क्रान्तस्योपाध्यभावेऽपि तदीयस्वप्रकाशता-लक्षणधर्म्माव्यवधानस्यैतत्साक्षात्कारूपत्वात्, जीवतस्तत्साक्षात्कारेण मायाकल्पितस्यान्यथाभावस्य मिथ्यात्वावभासात् सैषा

---

होती है, जीवद्दशा में भी होती है। मुक्ति की परम पुरुषार्थता। उत्क्रान्त व्यक्ति में स्थूल सूक्ष्म देहरूप उपाधि का अभाव होने पर भी श्रीभगवान् के स्वप्रकाशता लक्षण धर्म, व्यवधान रहित पर तत्त्वसाक्षात्कार का हेतु है। एवं जीवद्दशा में परतत्त्व साक्षात् कार के द्वारा अन्यथा भाव का अर्थात् देह दैहिक अभिमान का मिथ्यात्व बोध हेतु उभयविध मुक्ति ही आत्यन्तिक पुरुषार्थ रूप से उपदिष्ट हुई हैं।

परतत्त्व वैमुख्य दोष से जीव मायाभिभूत हुआ है, तज्जन्य उस की स्वरूप विस्मृति हुई है एवं अस्वरूप देहादि में आवेश भी हुआ है। इस से विविध संसार दुःख उपस्थित होते हैं। सुख ही पुरुषार्थ है। धर्म अर्थ, काम—त्रिवर्ग की सेवा से किञ्चित् सुख उपस्थित होने पर भी वह वास्तविक सुख नहीं है, सुख का आभासमात्र है, तथापि वह क्षणस्थायी है। मुक्ति में अनवच्छिन्न अनन्तसुख उपस्थित होता है। तज्जन्य वह आत्यन्तिक अर्थात् चरम पुरुषार्थ है। अर्थात् इस के आगे और कोई पुरुषार्थ नहीं है।

परतत्त्व साक्षात्कार ही मुक्ति है। मुक्ति में स्वरूप स्मृति उदित होती है, अस्वरूप आवेश तिरोहित एवं परतत्त्वानुभव उपस्थित होता है। एतज्जन्य मुक्त जीव निरतिशय सुख प्राप्त करता है। परतत्त्व--स्व प्रकाशवस्तु है निज प्रभाव से सर्वदा प्रकाशमान है, जीव, तदीय आश्रित एवं तच्छक्ति से ही प्रकाशमान है। खद्योत जिस प्रकार सूर्य को प्रकाश करने में अक्षम है। इस प्रकार जीव भी परतत्त्व को प्रकाश कर नहीं सकता है। वह निरन्तर प्रकाशित हैं। किन्तु जीव—विमुखता दोष उन को देखने में अक्षम है। परतत्त्व का स्वप्रकाशतालक्षण धर्म है, जिस से वह सर्वदा प्रकाशित हैं। जीव उन से दूर में अवस्थित होने के कारण तदीय स्वरूप आस्वादन करने में अक्षम है। संसार दशा में मायिक उपाधि द्वारा जीव के सहित परतत्त्व का स्वप्रकाशताधर्म का व्यवधान हुआ है। ऐसा होने पर मायिक उपाधि का क्षय एवं पर तत्त्व का स्वप्रकाशता लक्षण धर्म्म का अव्यवधान होना आवश्यक है। ईश वैमुख्य दोष से मायिक उपाधि का उद्भव हुआ है, ईश उन्मुखता होने पर मायिक उपाधि का क्षय एवं स्व प्रकाशता लक्षण धर्म के सहित जीव का संयोग होता है। पर तत्त्व साक्षात् कार में उपाधि का अभाव गौण कारण है, उक्त धर्म का अव्यवधान--मुख्य हेतु है। जब पर तत्त्व का स्व प्रकाशता लक्षण धर्म का अव्यवधान होता है, तब मायिक उपाधि विनष्ट होती है, केवल उपाधि क्षय ही परतत्त्व साक्षात् कार नहीं है, तज्जन्य कहा गया है कि—"उत्क्रान्त व्यक्ति की स्थूल सूक्ष्म देह रूप उपाधि का अभाव होने पर भी स्व प्रकाशता लक्षण धर्म का अव्यवधान ही पर तत्त्व साक्षात् कार है। उपाधि का अभाव ही परतत्त्व साक्षात् कार नहीं है।

उक्त उपाधि का अभाव दो प्रकार से होता है, एक--उत्क्रान्त मुक्ति में स्थूल सूक्ष्म देह नाश से, द्वितीय—जीवन्मुक्ति में उपाधि की मिथ्यात्व प्रतीति से। अद्वैतवादि गण के मत में स्थूल सूक्ष्म देह भिन्न कारण शरीर स्वीकृत है, वह श्रीमद् भागवत सिद्धान्त सम्मत नहीं है। तज्जन्य ही स्थूल सूक्ष्म उभय देह नाश का उल्लेख हुआ है।

जिस देह के द्वारा जीव, मायिक सुख भोग करता है, वह स्थूल शरीर है, मृत्यु अवस्था में स्थूल देह विनष्ट होता है। उस समय सूक्ष्म देहावलम्बन से लोकान्तर में सुख दुःखानुभव होता है। उत्क्रान्त दशा में जो मुक्ति होती है, उस में उभय देह विनष्ट होने से मायिक सुख दुःख मूलतः विनष्ट होते हैं। एवं

मुक्तिरेवात्यन्तिक-पुरुषार्थतयोपदिश्यते (भा० ४।२२।३५) —

"तत्रापि मोक्ष एवार्थं आत्यन्तिकतयेष्यते ।
त्रैवर्ग्योऽर्थो यतो नित्यं कृतान्तभयसंयुतः ॥"७॥

इति श्रीपृथुं प्रति श्रीसनत्कुमारेण, श्रुतिश्च (वृ० २।४।३)–"येनाहं नामृतः स्यां किमहं तेन कुर्य्याम्" इति ।

तदेवं परमतत्त्वसाक्षात्कारात्मकस्य तस्य मोक्षस्य परमपुरुषार्थत्वे स्थिते पुनर्विविच्यते । तच्च परमं तत्त्वं द्विधाविर्भवति, अस्पष्टविशेषत्वेन स्पष्टस्वरूपभूतविशेषत्वेन च । तत्र ब्रह्माख्यास्पष्टविशेषपरतत्त्व-साक्षात्कारतोऽपि भगवत्-परमात्माद्याख्य-स्पष्टविशेष-तत्-साक्षात्कारस्योत्कर्षं (८० अनु०) भगवत्-सन्दर्भे ( भा० १।५।४)—

---

परतत्त्व का स्व प्रकाशता लक्षण धर्म का अव्यवधान होने से कालान्तर में दुःख उपस्थिति की सम्भावना भी नहीं रहती है । उस में परमानन्द परतत्त्वानुभव हेतु अनवच्छिन्न अनन्तसुख उपस्थित होने से उत्क्रान्त मुक्ति को आत्यन्तिक पुरुषार्थ कहते हैं ।

जीवन्मुक्ति में परतत्त्व साक्षात्कार द्वारा देह दैहिकाभिमान की मिथ्यात्व प्रतीति हेतु--देहादि आवेश जनित दुःख बोध नहीं हो सकता है, एवं परतत्त्वानुभव विद्यमान होने के कारण उस में परमानन्द लाभ भी होता है । एतज्जन्य जीवन्मुक्ति भी आत्यन्तिक पुरुषार्थ है ।

श्रीमद् भागवत एवं बृहदारण्यक उपनिषद् में यही आत्यन्तिक पुरुषार्थ अभिहित है । भा० ४.२२। ३५ में उक्त है ॥

"तत्रापि मोक्ष एवार्थ आत्यन्तिक तयेष्यते ।
त्रैवर्ग्योऽर्थो यतो नित्यं कृतान्त भय संयुतः ॥७॥

टीका—तुल्यवन्निर्देशात् पुरुषार्थ साम्य भ्रान्ति वारयति, तत्रापीति । कृतान्तः कालः ।

श्रीपृथु महाराज के प्रति सनत् कुमार कहे थे—उस में भी मोक्ष ही आत्यन्तिक पुरुषार्थ रूप में मनोनीत हो सकता है । कारण धर्म अर्थ, काम, यह त्रिवर्ग पुरुषार्थ होने पर भी सर्वदा यम-भय-संयुक्त हैं । बृहदारण्यक श्रुति में उक्त है (२।४।३) "येनाहं नामृतः स्यां किमहं तेन कुर्य्याम्" जिस से मैं अमृता अर्थात् मोक्ष प्राप्ता नहीं हूँगी, उस को लेकर मैं क्या करूँगी ?

### प्रीति की परमतम पुरुषार्थता ।

उक्त रीति से परतत्त्व साक्षात् कारात्मक मोक्ष की परम पुरुषार्थतास्थिर होने पर उस के सम्बन्ध में पुनर्वार विवेचना करते हैं । उस परम तत्त्व का आविर्भाव, दो प्रकार से होता है । अस्पष्ट विशेष रूप से एवं स्पष्ट स्वरूप भूत विशेष रूप से । यहाँ विशेष शब्द से शक्ति एवं शक्ति कार्य्य को जानना होगा । ब्रह्म में शक्ति एवं शक्ति कार्य्य की अनभिव्यक्ति हेतु—ब्रह्म अस्पष्ट विशेष हैं, एवं श्रीभगवान् में शक्ति एवं शक्ति कार्य्य की अभिव्यक्ति हेतु—भगवान् स्पष्ट विशेष हैं । उस के मध्य में ब्रह्म नामक अस्पष्ट विशेष पर तत्त्व साक्षात् कार से भी भगवान् परमात्मा नामधेय स्पष्ट विशेष परतत्त्व साक्षात् कार का उत्कर्ष है । भगवत् सन्दर्भ के अनुच्छेद में प्रदर्शित हुआ है । ( भा० १।५।४)

"जिज्ञासितमधीतञ्च ब्रह्म यत्तत् सनातनम् ।
तथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थ इव प्रभो ॥"८॥

इत्यादिप्रकरणकप्रघट्टकेन दर्शितवानस्मि ।

अत्रापि वचनान्तरैर्दर्शयिष्यामि । तस्मात् परमात्मत्वादिलक्षण-नानावस्थ-भगवत्साक्षात्कार एव तत्रापि परमः । तत्र सत्यपि निरुपधिप्रीत्यास्पदत्व-स्वभावस्य तस्य स्वरूप-धर्म्मान्तरवृन्द-साक्षात्कृतौ परमत्वे प्रीति-भक्त्यादि-संज्ञं प्रियत्वलक्षण–धर्म्मविशेषसाक्षात्-कारमेव परमतमत्वेन मन्यन्ते, तथा प्रीत्यैवात्यन्तिक-दुःखनिवृत्तिश्च, यां प्रीतिं विना तत्-

---

"जिज्ञासितमधीतञ्च ब्रह्म यत्तत् सनातनम् ।
तथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थ इव प्रभो ॥"८॥

टीका – किञ्च यत् सनातनं नित्यं परं ब्रह्म तच्चत्वया जिज्ञासितं विचारितं अधीतम्-अधिगतं प्राप्तञ्चेत्यर्थः । तथापि शोचसि तत् किमर्थमिति शेषः ।

हे प्रभो ! सनातन ब्रह्म का विचार अर्थात् अपरोक्षानुभव–तुमने किया है, एवं उसे प्राप्त भी किया है । तथापि अकृतार्थ के समान क्यों शोककर रहे हो ? अर्थात् शान्ति प्राप्तकरने में तुम सक्षम हो,तथापि इस प्रकार बोध क्यों हो रहा है ? (८) भगवत् सन्दर्भ के उक्त अनुच्छेद में कहा गया है कि—

साधन के तारतम्य से ही परतत्त्व आविर्भाव का तारतम्य होता है । उस में भी भक्ति ही सम्यक् दर्शन के प्रति हेतु है, भक्ति के प्रभाव से आविर्भूत श्रीभगवान् का साक्षात् कर्त्तृत्व, सर्व श्रेष्ठत्व ब्रह्मादि स्वरूप से भी परमत्व निरूपित हुआ है।

प्रीति भक्ति संज्ञक प्रियत्व लक्षण धर्म विशेष का साक्षात् कार को ही महानुभव वृन्द--श्रेष्ठ एवं परम अन्तरङ्ग मानते हैं । कारण, पूर्व में कथित है—यह परतत्त्व अनन्त स्वरूप मण्डित होने पर भी उन का आनन्द स्वरूप ही मुख्य परम अन्तरङ्ग है । आनन्द स्वरूप के अनेक धर्म्म के मध्य में प्रीत्यास्पदता का मुख्यत्व-सर्व शास्त्र एवं लोक प्रसिद्ध है । तज्जन्य अन्यान्य स्वरूप धर्म का साक्षात् कार से प्रियत्व लक्षण धर्म का साक्षात् कार ही मुख्य एवं परम अन्तरङ्ग है । प्रस्तुत प्रीति सन्दर्भ ग्रन्थ में सप्रमाण उसका वर्णन करेंगे ।

सुतरां परमात्मादि लक्षण विविध प्रकार से विराजमान भगवत् साक्षात् कार, परम तत्त्व साक्षात् कार के मध्य में श्रेष्ठ है । उस में भी निरूपाधि प्रीत्यास्पद स्वभाव श्रीभगवान् के प्रियत्व लक्षण धर्म भिन्न अपर स्वरूप धर्म समूह का साक्षात् कार श्रेष्ठ होने पर प्रियत्व लक्षण धर्म विशेष का साक्षात्कार को ही महानुभाव गण परम पुरुषार्थ मानते हैं ।

जिस प्रीति के विना श्रीभगवत् स्वरूप का एवं प्रियत्व भिन्न अन्य स्वरूप धर्म समूह का साक्षात् कार सम्पन्न नहीं होता है, उस प्रीति के द्वारा ही आत्यन्तिक दु.ख निवृत्ति होती है । जिस से प्रीति का आविर्भाव होता है, उस से अवश्य ही श्रीभगवत् स्वरूप एवं स्वरूप धर्म समूह का साक्षात् कार सम्पन्न होता है । जिस की जिस परिमाण में प्रीति सम्पत्ति है, उस को उस परिमाण में साक्षात् कार लाभ होता है । जिस से स्वरूप एवं स्वरूप धर्म वृन्द का साक्षात् कार सम्पन्न होता है, उस से सम्पत्ति युक्ता के समान साक्षात् कार सम्पत्ति अत्यधिक रूप से आविर्भूता होती है । आविर्भाव हेतु उक्त सिद्धान्त समूह सुतरां युक्ति सङ्गत होते हैं ।

स्वरूपस्य तद्धर्म्मान्तरवृन्दस्य च साक्षात्कारो न सम्पद्यते, यत्र सा तत्रावश्यमेव सम्पद्यते, यावत्येव प्रीतिसम्पत्तिस्तावत्येव तत्सम्पत्तिः, सम्पद्यमाने सम्पन्ने च तस्मिन् साधिकमाविर्भवति । तदेतत् सर्व्वमपि युक्तमेव ।

परमसुखं खलु भगवतस्तद्गुणवृन्दस्य च स्वरूपम्, सुखञ्च निरुपधिप्रीत्यास्पदम्, ततस्तदनुभवे प्रीतेरेव मुख्यत्वमिति । तस्मात् पुरुषेण सैव सर्व्वदान्वेषितव्येति पुरुषप्रयोजनत्वं तत्रैव परमतममिति । स्थितम् ।

क्रमेणोदाह्रियते तत्र सत्यपीत्यादिकं (भा० ११।२०।३३)—

"सर्व्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद्यदि वाञ्छति ।।" ९।।

इत्यादि-श्रीभगवद्वाक्यादौ, तयेत्यादिकम् (भा० ५।५।६) —"प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे, न

---

अर्थात् प्रीति द्वारा भगवत् स्वरूप साक्षात् कार उपस्थित होने पर वह साक्षात् कृति—साधक के निकट में विविध प्रकार से निज वैभव को प्रकट करती है । किन्तु ज्ञान योगादि के द्वारा साक्षात् कार से उस प्रकार सुख नहीं होता है, जिस प्रकार प्रीति हेतु साक्षात् कार से होता है । अतएव यहाँ अधिक रूप से साक्षात् कार सम्पत्ति आविर्भाव की कथा कही गई है । प्रीति हेतु साक्षात्कार से भक्त—भगवान् का स्वरूप वैभव, धाम परिकर लीलादि को प्रत्यक्ष करते हैं । अन्य प्रकार से इस प्रकार साक्षात् कार नहीं होता है । यही अधिक आविर्भाव' कहने का अभिप्राय है ।

भगवान् एवं उन के गुण समूह—परम सुख स्वरूप हैं । सुख–निरूपाधि प्रीत्यास्पद है, अर्थात् सभी व्यक्ति समस्त अवस्था में सुख को प्यार करते हैं । सुतरां परतत्त्वानुभव में प्रीति ही मुख्य कारण है । सुतरां मानव वृन्द के पक्ष में सर्वदा उस प्रीति का अन्वेषण करना कर्त्तव्य है । सुतरां प्रीति ही एकमात्र परमतम पुरुषार्थ है । यह सुनिश्चित हुआ । क्रम पूर्वक उदाहरण समूह प्रस्तुत करते हैं ।

परमतम पुरुषार्थ —

"तत्र सत्यपि निरूपाधि प्रीत्यास्पदत्व स्वभावस्य तस्य स्वरूप धर्मान्तर वृन्द साक्षात् कृतौ परमत्वे प्रीतिभक्त्यादि संज्ञं प्रियत्वलक्षण धर्म विशेष साक्षात्कारमेव परमार्थत्वेन मन्यन्ते" यहाँ प्रियत्व लक्षण धर्म विशेष का साक्षात् कार की पर पुरुषार्थता (१) प्रीति द्वारा आत्यन्तिकी दुःख निवृत्ति (२) प्रीति भिन्न भगवत् स्वरूप एवं स्वरूप धर्म वृन्द का साक्षात् काराभाव (३) प्रीति द्वारा स्वरूप वैभव युक्त परतत्त्व साक्षात् कार (४) प्रीति द्वारा स्वरूप साक्षात् कार की निश्चयता (५) एवं प्रीति के अनुरूप परतत्त्व साक्षात् कार (६) इन छै सिद्धान्तों का स्थापन हुआ है, अनन्तर उक्त सिद्धान्त समूह की दृढ़ता हेतु शास्त्रीय प्रमाण समूह का उट्टङ्कन करते हैं । भा० ११।२०।३३ में उक्त है—

"सर्वं मद् भक्ति योगेन मद्भक्तोलभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति ।।९।।

टीका—तत्र हेतु, यत् कर्मभिरित्यादि । इतरैरपि, तीर्थ यात्रा व्रतादिभिः श्रेयः साधनैर्यद् भाव्यं सत्त्वशुद्ध्यादि तत् सर्वमञ्जसा अनायासेनैव स्वर्गमपवर्गं मद्धाम—वैकुण्ठं लभत एव । वाञ्छा तु नास्तीत्युक्तं ।

मुच्यते देहयोगेन तावत्" इति श्रीऋषभदेव-वाक्ये, यामित्यादिकम् (भा० ११।१४।२१)—
"भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्" इति श्रीभगवद्वाक्ये, यत्रेत्यादिकम्—
"भक्तिरेवैनं नयति, भक्तिरेवैनं दर्शयति, भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसी" इति माठर-

---

यदि वाञ्छतीति। (१) प्रियत्व लक्षण धर्म विशेष साक्षात् कार की परम पुरुषार्थता का प्रमाण-- मदीय भक्त, यदि कथञ्चित् वाञ्छा करते हैं तो स्वर्ग, अपवर्ग, (मुक्ति) वैकुण्ठ नामक मद्धाम, सब कुछ को अनायास प्राप्त कर सकते हैं। यह श्रीभगवदुक्ति है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय के एकतर पुरुषार्थ सिद्ध होने से अपर पुरुषार्थत्रय की सिद्धि अनायास होगी, इस प्रकार निश्चयता नहीं है। किन्तु भक्ति—अर्थात् भगवत् प्रीति से भक्त की कथञ्चित् स्वर्गादि वाञ्छा पूर्ति अनायास से होती है। इस प्रकार श्रीभगवत् कथन विद्यमान होने के कारण, प्रियत्व लक्षण धर्म विशेष साक्षात् कार की अर्थात् प्रेम भक्ति लाभ की परम पुरुषार्थता सिद्ध हुई। "तया प्रीत्यैवात्यन्तिक दुःख निवृत्तिञ्च"

(२) प्रीति के द्वारा आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति का प्रमाण— (भा० ५।५।६)

"प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे।
न मुच्यते देह योगेन तावत्॥"

टीका—उपधीयमाने-युज्यमाने। यद्यप्येवमात्मतत्त्वबोधान्त एव बोधस्तथापि मत् प्रीतिं विना सोऽपि न सिद्ध्यतीत्याह, प्रीतिरिति।

वासुदेव स्वरूप मुझ में यावत् प्रीति का आविर्भाव नहीं होता। तावत् देह सम्बन्ध से मानव मुक्त नहीं हो सकता है। यह कथन श्रीऋषभ देव का है।

जीवात्मा अणु एवं अणु आनन्द स्वरूप है, स्वरूप में दुःख न होने पर भी शरीर में अभिनिवेश हेतु बिविध दुःख उपस्थित होते हैं। स्थूल देह में दुःखानुभव प्रसिद्ध है, सूक्ष्म देह का देहानुभव शास्त्र वचनों से ज्ञात होता है। दृष्टादृष्ट उपायों के द्वारा दुःख विदूरित नहीं होता है, परन्तु पुनरपि दुःख भोग होता है, कारण, शरीर सम्बन्ध ही दुःख का निदान है। श्रीकृष्णप्रेम भक्ति के द्वारा उक्त शरीर सम्बन्ध विनष्ट होता है, अतः प्रीति द्वारा दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति होती है। प्रीति का आविर्भाव से जो दुःख नाश उपस्थित होता है, उस में कभी भी दुःख योग की आशङ्का नहीं है।

"यां प्रीतिं विना" (३) प्रीति भिन्न स्वरूप एवं स्वरूप धर्म वृन्द का साक्षात् काराभाव का प्रमाण—भा० ११।१४।२१ में है—

"भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्"

टीका—श्रद्धया--या भक्ति स्तया। सम्भवात् जातिदोषादपीत्यर्थः।

क्रमसन्दर्भ—"न साधयति मां योगः" इत्येतत् सार्द्ध पद्यं 'प्रियः सताम्' इत्यन्तं—योगादीनां साधन रूपाणां प्रतियोगित्वेन निर्द्दिष्टत्वाच्छ्रद्धा सहायत्वेन विधानाच्च तत्—साधन भक्ति परम्। साध्यायां श्रद्धोल्लेखस्तु पुनरुक्त इति। यद्यपि फल 'साध्य'भक्ति द्वारैव तद्वशीकारित्व तस्यास्तथाप्यत्र साधन भक्ति रूपाया मुख्यत्वेन प्राप्तत्वात्तवैवोदाहृतम्। किंवा (भा० ५।६।१८) अस्त्वेवमङ्ग भजताम्। इति न्यायेन नावशः 'नावशीभूतः' सन् प्रेमाणं ददातीति तस्या एव साक्षात् तद् गुणकत्वं ज्ञेयम्॥"

साधु वृन्द का प्रिय आत्मा मैं ही हूँ, एवं एकमात्र श्रद्धासहकृत भक्ति द्वारा ही मैं लभ्य हूँ। यह उक्ति श्रीभगवान् की है।

यहाँ भक्ति द्वारा लभ्य—कहने से योगादि द्वारा श्रीभगवत् प्राप्ति की सम्भावना निरस्त हुई है,

श्रुतौ, यावतीत्यादिकम् (भा० ११।२।४२) —"भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-,रन्यत्र चैष त्रिक एककालः" इति कवियोगेश्वर-वाक्ये, सम्पद्यमान इत्यादिकम्—

"मद्रूपमद्वयं ब्रह्म मध्याद्यन्त-विवर्जितम्।
स्वप्रभं सच्चिदानन्दं भक्त्या जानाति चाव्ययम् ॥"१०॥

इति वासुदेवोपनिषदि ।

---

शास्त्र प्रसिद्ध ज्ञानादि द्वारा ब्रह्म प्राप्ति का जो विवरण है, वहाँ ज्ञानादि की सह योगिनी रूप में अवस्थिता अप्रधानीभूता भक्ति ही कारण है। 'यत्र सा तत्रावश्यमेव सम्पद्यते' (४) प्रीति के द्वारा स्वरूप वैभवयुक्त परतत्त्व साक्षात् कार का प्रमाण यह है—

"भक्तिरेवैनं नयति, भक्तिरेवैनं दर्शयति, भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसी" यह माठर श्रुति है।

भक्ति ही भक्त को भगवद्धाम प्राप्त कराती है, भगवान् का दर्शन कराती है, श्रीभगवान् भक्ति वश हैं। भक्ति ही भगवत् प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन है।

"यावत्येवप्रीतिसम्पत्तिस्तावत्येव तत्सम्पत्तिः"(५)

प्रीति के अनुरूप परतत्त्व साक्षात्कार का प्रमाण भा० ११।२।४२ में है—

"भक्तिः परेशानुभवोविरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥"

टीका—नन्वियमारूढ़ योगानामपि बहुभि र्जन्मभि र्दुर्ल्लभा गतिः कथं नाम सङ्कीर्त्तन मात्रेण एकस्मिन्नेव जन्मनि भवेदित्याशङ्क्य सदृष्टान्तमाह भक्तिरिति। प्रपद्यमानस्य-हरिं भजतः पुंसो भक्तिः प्रेमलक्षणा। परेशानुभवः प्रेमास्पदभगवद्रूपस्फूर्त्तिः, तया निर्वृतस्य ततोऽन्यत्र गृहादिषु विरक्तिरित्येष त्रिकः, एककालो भजन समकाल एव स्यात्। यथा अश्नतो भुञ्जानस्य तुष्टिः सुखं, पुष्टिरुदरभरणं क्षुन्निवृत्तिश्च प्रतिघासं स्युः। उपलक्षणमेतत्। प्रति सिक्थमपि यथास्यु स्तद्वत्। एवमेकैकस्मिन् भजने किञ्चित् प्रेमादित्रिके जायमानेऽनुवृत्त्या भजतः परमप्रेमादि जायते। बहुग्रास भोजिन इव परमतुष्ट्यादि।

जिस प्रकार भोजन समय में प्रति ग्रास भोजन ग्रहण से तुष्टि, पुष्टि, एवं क्षुधानिवृत्ति होती है, उस प्रकार भगवद् भजन समय में भगवत् प्रेम, परेशानुभव एवं विषय वितृष्णा होती है। यह तीन एक काल में सम्पन्न होती हैं। श्रीकवि नामक योगीन्द्र की उक्ति है।

(६) सम्पद्यमान इत्यादिकम्। वासुदेवोपनिषद् में उक्त है—

"मद्रूपमद्वयं ब्रह्म मध्याद्यन्त विवर्जितम्।
स्व प्रभं सच्चिदानन्दं भक्त्या जानाति चाव्ययम् ॥"१०॥

प्रीति के द्वारा स्वरूप वैभव युक्त परतत्त्व साक्षात् कार का प्रमाण-मेरा रूप अद्वय, ब्रह्म, आदि मध्य अन्त्य वर्जित, स्वप्रभ, सच्चिदानन्द एवं अव्यय है। भक्ति द्वार वह ज्ञात होता है।

जिस समय भक्त,—भगवत् साक्षात्कार प्राप्त करता है, उस समय केवल तदीय स्वरूप का ही भक्त दर्शन करता है, ऐसा नहीं किन्तु स्वजातीय विजातीय स्वगत भेद रहित, सर्व व्यापक, जन्मादि- जन्म हेतु, स्थिति एवं मरण-रहित, स्व प्रकाशः, सच्चिदानन्द स्वरूप एवं सर्वदा पूर्णावस्था, का भी अनुभव करता है, यह सब उक्त वस्तु के स्वरूप वैभव हैं। भक्ति द्वारा पर तत्त्वानुभव के सहित इन सब की अनुभूति उपस्थित होने के कारण प्रीति द्वारा स्वरूप वैभव युक्त पर तत्त्व साक्षात् कार लब्ध होता है, यह

एवं (छा० ६।८।७) "तत्त्वमसि" इत्यादि-शास्त्रमपि तत्प्रेमपरमेव ज्ञेयम्, त्वमेवामुक इतिवत्। किञ्च, लोकव्यवहारोऽपि तत्पर एव दृश्यते। सर्व्वे हि प्राणिनः प्रीतितात्पर्य्यका एव,—तदर्थमात्मव्ययादेरपि दर्शनात्। किन्तु योग्यविषयमलब्ध्वा तैस्तत्र तत्र सा

---

कहा गया है। इस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् ६।८।७ में उक्त 'तत्त्वमसि' इत्यादि वचन को भगवत् प्रेम पर जानना चाहिये। 'तुम ही वही हो। इस वाक्य के समान अर्थ निष्पत्ति को समझना होगा।

छान्दोग्य के षष्ठ प्रपाठक में 'तत्त्वमसि' वाक्य में जीव का चरम पुरुषार्थ ही निर्णीत हुआ है। साधारण का विश्वास यह है कि—उक्त वाक्य ज्ञान पर है। ऐसा होने पर भगवत् प्रेम को परम पुरुषार्थ कैसे कहा जा सकता है? तज्जन्य कहा है—तत्त्वमसि वाक्य भी प्रेम पर है। तत्त्वमसि श्रुति – जीव को निज स्वरूप परिचय कराती है। त्वं तत् असि-तुम वह हो, यही तत्त्वमसि वाक्य का अर्थ है। यहाँ तत् पद के द्वारा परोक्ष निर्देश हुआ है। एवं 'त्वं' पद के द्वारा साक्षात् निर्देश हुआ है। परतत्त्व-परोक्ष वस्तु है, एवं जीव साक्षाद् वस्तु है। 'असि' क्रिया तदुभय का अन्वय (योग) की प्रतीति कराती है। कारण, ऐक्य असिद्ध होने पर, अन्वय को अङ्गीकार करना ही पड़ता है। अद्वैतवादि गण कहते हैं—उक्त क्रिया उभय की ऐक्य सूचना करती है। वे कहते हैं—

"एकमेवाद्वितीयं सत् नामरूप विवर्जितम्
सृष्टेः पुराधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्य्यते॥"

सृष्टि के पूर्व में नाम रूप विवर्जित एकमात्र अद्वितीय सत् स्वरूप परम ब्रह्म थे। सृष्टि के पश्चात् अभी भी आप तद्रूप में अवस्थित हैं, आप 'तत्' पद वाच्य हैं।

श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वं पदेरितम्।
एकता गृह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम्॥"

श्रवणादि द्वारा वाक्यार्थ बोध जो जीव करता रहता है, उस के देहेन्द्रिय से भिन्न वस्तु जीवात्मा 'त्वं' पद वाच्य है। 'असि' पद द्वारा 'तत्' एवं 'त्वं' पद वाच्य की एकता का प्रतिपादन होता है। तदुभय का ऐक्यानुभव करना कर्त्तव्य है। (पञ्चदशी ५ मा परिच्छेद) श्रीमध्वाचार्य्य के मत में तत्त्वमसि का अर्थ है 'तस्य त्वं असि' उसका तुम हो। इस अर्थ से तत्त्वमसि वाक्य सुस्पष्ट रूप से जीवेश्वर की प्रीति को सूचित करता है। भेदवादि वृन्द के मत में—जीवेश्वर में अणु, विभु, आश्रित,--आश्रय, नियम्य--नियामक-शक्ति शक्तिमान् रूप भेद विद्यमान है। यह भेद नित्य है। सुतरां जीवेश्वर का ऐक्य सर्वथा असम्भव है। जीवेश्वर उभय ही चित् स्वरूप हैं, उभय चेतन पदार्थ—केवल प्रीति के बन्धन से युक्त हो सकते हैं, अन्य उपाय से सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। 'तत्त्वमसि' वाक्य जीवेश्वर—उभय का संयोग व्यञ्जक होने के कारण, वह प्रीति पर है—अर्थात् प्रेम तात्पर्य्य व्यञ्जक है।

"तुम्हीं वह" कहने से जिस प्रकार 'तुम' पद के सहित एक सम्बन्ध सूचित होता है, उस प्रकार 'तत्त्वमसि वाक्यस्थ 'तत्' पद वाच्य के सहित 'त्वं' पद वाच्य का सम्बन्ध का भी बोध होता है। एतज्जन्य 'तत्त्वमसि' वाक्य भगवत् प्रेमपर है।

लोक व्यवहार में भी प्रीति का प्राधान्य दृष्ट होता है, जहाँ प्रीति हैं, वहाँ उभय का सम्बन्ध भी है, प्रीति व्यतीत अपर किसी प्रकार से निविड़ सम्बन्ध स्थापित हो ही नहीं सकता है। समस्त प्राणी ही प्रीति तात्पर्य्य विशिष्ट है, जो, जो कुछ करता है, वह प्रीति वश होकर ही करता है, जिस के निमित्त प्रीति नहीं है, उस के निमित्त कोई कुछ भी नहीं करता है, कारण, प्रीति हेतु प्राणोत्सर्ग भी लोक में

परिवर्ज्जते । अतः सर्व्वैरेव योग्य-तद्विषयेऽन्वेष्टुमिष्टे सति श्रीभगवत्येव तस्याः पर्य्यवसानं स्यादिति । तदेवं भगवत्प्रीतेरेव परमपुरुषार्थत्वे समर्थिते साधूक्तम्— अथ प्रीतिसन्दर्भो लेख्य इत्यादि ।

स एष एव परमपुरुषार्थः क्रमरीत्या सर्व्वोपरिदर्शयितुं सन्दृभ्यते । तत्रोक्तलक्षणस्य

---

दृष्ट होता है ।

जीव गण, परस्पर को प्रीति तो करते रहते हैं किन्तु कोई भी किसी की प्रीति के योग्य विषय नहीं हो सकते हैं, कारण, प्रीति सुख स्वरूपा है, वह अखण्ड सुखात्मक वस्तु को वह चाहती है । जीव, स्वरूपतः आनन्द वस्तु होने पर भी अणु आनन्द मात्र हैं, वह भी पृथिव्यादि दुर्भेद्य अष्ट आवरणों के मध्य में अवस्थित है । उक्त आवरण, त्रितापमयी माया का विकार होने के कारण, स्वरूप गत आनन्द के समीप में कोई भी उपस्थित नहीं हो सकते हैं । दुःख के आवरण द्वारा वेष्टित अणु आनन्द को प्रीति करके कौन जीव सुखी हो सकते हैं । अनावृत आनन्द को प्रीति चाहती है, जीव के आवरण को भेदन करके स्वरूप को प्राप्त करने से वह प्रीति सफल होती, किन्तु वह असम्भव है, प्रीति करके तृप्त नहीं हो सकता है, कारण, वह परिमाण में अतिस्वल्प है । एतज्जन्य जीवगण, क्रमशः प्रीति के विषय समूह में प्रीति वर्जन करके नूतन प्रीत्यास्पद के अनु सन्धान में व्यापृत होता है । शैशव में, बाल्य में सख्य, यौवन में-प्रेयसी, अनन्तर नूतन प्रियतम के सन्धान में धावित होना, दिखने में आता है, अतएव सभी व्यक्ति जब प्रीति योग्य व्यक्ति का अनुसन्धान करते रहते हैं, तब समझने में आता है कि—इस जगत् के कोई भी व्यक्ति प्रीति का विषय नहीं हो सकते हैं, एक ही व्यक्ति प्रीति का विषय है, वह कौन है ? जीव जिस को नहीं पाया है, वह श्रीभगवान् हैं । अर्थात् श्रीभगवान् ही यथार्थ एकमात्र प्रीति का विषय हैं । श्रीभगवान् अनावृत असीम सुख स्वरूप हैं, तज्जन्य प्रीति का पर्य्यवसान श्रीभगवान् में ही होता है ।

उक्त रीति से भगवत् प्रीति की परम पुरुषार्थता का स्थापन, युक्ति प्रमाणों के द्वारा होने के कारण प्रस्तुत ग्रन्थारम्भ में 'अथ प्रीति सन्दर्भो लेख्यः' जो लिखा गया है, यह उक्ति अतीव समीचीन है ।

जीव को जिस विषय का एकान्त प्रयोजन है,उस को प्रकाश करने पर चेष्टा साफल्य मण्डिता होती है । जीव के पक्ष में प्रीति ही एकमात्र प्रयोजनीय वस्तु है । उस विषय का वर्णन करना अवश्य कर्त्तव्य है । इस प्रकार अवश्य कर्त्तव्यता ख्यापन हेतु–भक्तिसन्दर्भ लिखनानन्तर प्रीतिसन्दर्भ लेख्य' कहा गया है ।

श्रीभगवान् के प्रियत्व लक्षण धर्म विशेष का साक्षात्कार रूप पुरुषार्थ की कथा जो पहले कही गई है, वह सब के अभीष्ट है । यहाँ उसका वर्णन हुआ है । उक्त पुरुषार्थ की सर्व्वोपरि स्थिति को क्रम रीति के द्वारा दर्शाने के निमित्त यह प्रीतिसन्दर्भ ग्रन्थ ग्रथित हो रहा है । भा० २।१०।६ में उक्त है—"मुक्ति र्हित्वान्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः" स्वरूप में व्यवस्थिति अर्थात् परतत्त्व साक्षात् कार ही मुक्ति है । वह मुक्ति सालोक्यादि भेद से पञ्चविध हैं, उक्त साक्षात्कार–अन्तर्वहिर्भेद से द्विविध हैं, अन्तः साक्षात्कार से वहिः साक्षात् कार की श्रेष्ठता है । सालोक्यादि मुक्ति के मध्य में सामीप्य मुक्ति--श्रेष्ठ है । कारण--यह वहिः साक्षात् कार मय है । परतत्त्व साक्षात् कार में श्रीभगवान् के प्रियत्व लक्षण धर्म विशेष का साक्षात् कार अर्थात् प्रेम भक्ति-सर्वोत्तम पुरुषार्थ है । उस में ही सम्यक् रूप से अन्तर्वहिः उभय विध साक्षात्-कार लाभ होता है । अर्थात् धाम, परिकर एवं लीला के सहित श्रीभगवत् साक्षात् कार होता है, इस को ही सम्यक् दर्शन कहते हैं । भागवतीय श्लोक समूह के अर्थ विचार के द्वारा क्रमशः सालोक्यादि मुक्ति का उत्कर्ष प्रदर्शनानन्तर प्रेम भक्ति का सर्व श्रेष्ठत्व प्रदर्शन हेतु इस सन्दर्भ की रचना की जाती है । यहाँ ग्रन्थ

मुक्तिसामान्यस्य शास्त्रप्रयोजनत्वमाह (भा० १२।१३।१२)—

(१) "सर्व्ववेदान्त-" इत्यादौ "कैवल्यैकप्रयोजनम्" इति।

केवलः शुद्धस्तस्य भावः कैवल्यम्, तदेकमेव प्रयोजनं परमपुरुषार्थत्वेन प्रतिपाद्यं यस्य तदिदं श्रीभागवतमिति पूर्व्वश्लोकस्थेनान्वयः। दोषमूलं हि जीवस्य परमतत्त्वज्ञानाभाव

---

प्रतिपाद्य वस्तु का निर्देश हुआ।

शास्त्र प्रयोजन—अन्यथा रूप को परित्याग करके स्वरूप में व्यवस्थिति रूप जिस मुक्ति का लक्षण श्रीमद् भागवत में लिखित है। उक्त लक्षणाक्रान्त साधारण मुक्ति की शास्त्र प्रयोजनीयता का वर्णन श्रीसूतने किया है। (भा० १२।१३।१२)

"सर्व वेदान्त सारं यद्ब्रह्मात्मैकत्व लक्षणम्।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैक प्रयोजनम्॥"

टीका—तन्निष्ठं-तद्विषयम्।

क्रमसन्दर्भ—ननु, नील पीताद्याकारं क्षणिकमेव ज्ञानं दृष्टम्, तत् पुनरद्वयं नित्यं ज्ञानं कथं लक्ष्यते,—यन्निष्ठमिदं शास्त्रम्? सर्वेति। ब्रह्मात्मनोर्यदेकत्वम्, तदेव लक्षणं यस्य तदद्वितीयं, सर्व वेदान्तसारं वस्तु तन्निष्ठमित्यन्वयः। अयमर्थ.। (तै० २।१२) 'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म' इति यस्य स्वरूपमुक्तम् (छा० ६।१।३) 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इत्यनया, (छा० ६।२।१) 'यद्विज्ञानेन' इत्यनया सर्वं विज्ञानं प्रति ज्ञातम्। यस्मिन्ननन्ता नित्यसिद्धा एव नान.धर्मा अभ्युपगताः, (छा० ६।१।१) 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इत्यादिना जगदेक कारणता, (छा० ६।२।३) 'स ऐक्षत बहुस्याम्' इत्यनेन सत्यसङ्कल्पता च प्रतिपादिता, तेन ब्रह्मणा स्वरूप शक्तिभ्यां सर्वं बृहत्तमेन (अथर्व शिरा ३।५।) 'अथ कस्मादुच्यते ब्रह्म, बृंहति बृंहयति च' इति श्रुतिभिः' (वि पु ३।३।८१) 'बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च यद् ब्रह्म परमं विदुः' इति विष्णु पुराणादिभिश्च प्रति पादितेन सार्द्धम् (छा० ६।३।२) 'अनेन जीवेनात्मना' इत्यादि तदीय वचन रूपायां श्रुताविदं ता—'अनेन' इति इदं पदत्र निर्देशेन ततोऽभिन्नत्वेऽप्यात्मतानिर्देशेन तदात्मांश विशेषत्वेन लब्धस्य (गी० १५।७) 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' इत्याद प्रतिपादितस्य (ब्र० सू०) (२ ३।४२) 'अंशो नाना व्यपदेशात्' इत्यादि न्यायसिद्धस्य, बादरायण समाधि दृष्ट युक्ते रत्यभिन्नता रहितस्य जीवात्मनो यदेकत्वं (छा० ६।८।७) 'तत्त्वमसि, इत्यादौ ज्ञातृतया तदंशभूत चिद्रूपत्वेन समानाकारता, तदेव लक्षणं प्रथमो ज्ञाने साधकतमं यस्य, तथाभूतम् (भा० १।२।११) (वदन्ति तत्त्वविदस्तत्त्वं यज् ज्ञानमद्वयं, ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते" इति त्रिधाविभूतं यत् सर्ववेदान्त सारमद्वितीयवस्तु, तन्निष्ठं तदेक विषयमिदं श्रीमद् भागवतं महापुराणमिति प्राक्तनपद्यस्थेनानुषङ्गः। तथा कैवल्यैक प्रयोजनम्-केवलः शुद्धः, स च प्रोज् झत कैतवोऽत्र परमः" इत्युक्तत्वात्, तस्य भ व कैवल्यम्—मोक्षादि काम रहिता भक्तिः—(भा० २।३।१२) "कैवल्यसम्मतपथस्त्वथ भक्तियोगः" इत्यत्र 'कैवल्यमित्येव सम्मतः पन्था सा भक्तिः,

"यो भक्तियोगः' इति टीका कृद्भि र्व्याख्यातत्वात्।
तत्र पन्था इति भगवत् प्राप्त्युपाय इत्यर्थः।

प्रेमलक्षणैव, तस्यैव तत्र मुख्यत्वात्। तस्मात् कैवल्यं भगवत् प्रेमैव पुरुषार्थत्वेन प्रतिपाद्यं यस्य तत् (भा० ३।२९।१३) 'सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य' इत्यादि वचनवृन्देभ्य इति।

श्लोक की व्याख्या—केवल--शुद्ध, उस का भाव--कैवल्य। कैवल्य—एकमात्र प्रयोजन परम पुरुषार्थ रूप में प्रतिपाद्य है जिसका, वही श्रीमद्भागवत है। इस श्लोक में नामतः श्रीमद् भागवत का उल्लेख न

एवेत्युक्तम् (भा० ११।२।३७) —"भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्" इत्यादौ "ईशादपेतस्य" इत्यादिभिः । अतस्तज्ज्ञानमेव शुद्धत्वमिति-कैवल्य-शब्दस्यात्र पूर्व्ववत्तदनुभव एव तात्पर्य्यम् । अथवा, कैवल्य-शब्देन परमस्य स्वभाव एवोच्यते, यथा स्कान्दे—

"ब्रह्मेशानादिभिर्देवैर्यत् प्राप्तुं नैव शक्यते । स यत्स्वभावं कैवल्यं स भवान् केवलो हरे ॥"११। इति ।

---

होने पर भी---(भा० १२।१३।८) पूर्व श्लोक स्थित श्रीमद् भागवत शब्द के सहित इसका अन्वय है । जीव, स्वरूपतः अशुद्ध नहीं है, परतत्व ज्ञानाभाव ही जीवगत दोष का मूल कारण है, अर्थात् अशुद्धि का कारण है, भा० ११।२।३७) में उक्त है—

"भयं द्वितीयाभि निवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्य्ययोऽस्मृतिः ।
तन्मायया तो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेश गुरुदेवतात्मा ॥

टीका—ननु किमेव, परमेश्वरभजनेन ? अज्ञान कल्पित भयस्य ज्ञानैक निवर्त्यत्वादित्याशङ्क्याह भयमिति । यतो भयं तन्मायया भवेत् अतोबुधो बुद्धिमांस्तमेव आभजेत् । ननु भयं देहाद्यभिनिवेशतो भवति, स च देहाद्यारतः स च स्वरूपास्मरणात् ईश विमुखस्य तन्मायया अस्मृति भगवतः स्वरूपास्फूर्त्ति स्ततो विपर्य्ययो देहोऽस्मीति ततो द्वितीयाभिनिवेशाद् भयं भवति । एवं हि प्रसिद्धं लौकिकेष्वपि मायासु । उक्तञ्च भगवता, "दैवीह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव यो प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" इति । ऐकया अव्यभिचारिण्या । भक्त्या भजेत् । किञ्च गुरुदेवतात्मा, गुरुरेव देवता-ईश्वर-आत्मा-प्रेष्ठश्च यस्य तथादृष्टिः सन्नित्यर्थः ।

भगवद् विमुख जीव की तदीय माया से स्वरूप की अस्फूर्त्ति, एवं शरीर में आत्मबुद्धि हुई है । देहाद्यभिमान हेतु—भय--संसार दुःख होता है । अतएव बुद्धिमान् व्यक्ति, गुरु में इष्ट देवता बुद्धि एवं प्रियतम बुद्धि पोषण करतः एक मात्र भक्ति द्वारा ईश्वर का भजन करे ।

जीवगत निखिल दोष का कारण—परतत्त्व ज्ञानाभाव है । परतत्व ज्ञानोदय व्यतीत निज स्वरूप स्फूर्त्ति नहीं होती है, एवं देहाभिनिवेश विदूरित नहीं होता है, ईश्वरीय माया के प्रभाव से जीव निज शुद्ध बुद्ध, मुक्त स्वरूप को भूल जाता है । तज्जन्य संसार बन्धन के निदानभूत शरीर में आविष्ट हो होता है, परतत्व ज्ञानाविर्भाव होने से माया का आवरण अपसारित होता है, देहाभिमान का अवसान होता है, एवं शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप की स्फूर्त्ति होती है तज्जन्य परतत्त्व ज्ञान का ही शुद्धत्व है । सुतरां केवल शब्द का 'शुद्ध' अर्थ सिद्ध हुआ । अतएव इस श्लोक के पूर्व में जिस प्रकार परतत्त्वानुभवात्मक ज्ञान को ही परमानन्द प्राप्ति कही गई है, उस प्रकार 'केवल' शब्द का परतत्त्वानुभव में ही तात्पर्य्य है । अर्थात् परतत्त्वानुभव सम्पन्न होने से 'कैवल्य'- शुद्धावस्था की प्राप्ति होती है । अथवा, केवल शब्द का अर्थ परम श्रीहरि का स्वभाव है । स्कन्द पुराण में लिखित है ।

"ब्रह्मेशानादिभिर्देवैर्यत् प्राप्तुं नैव शक्यते ।
स यत् स्वभावं कैवल्यं स भवान् केवलो हरे ॥"११॥

हे हरे ! ब्रह्म शिवादि देववृन्द जिस को प्राप्त करने में सक्षम नहीं हैं, वह कैवल्य जिनका स्वभाव है, वही आप केवल हैं । किसी स्थल में स्वार्थिक तद्धित प्रत्यय 'ष्यञ्' केवल शब्द के उत्तर करने से कैवल्य शब्द निष्पन्न होता है । उक्त कैवल्य शब्द से भी परम श्रीहरि कथित होते हैं ।( भा० ११।९।१८)श्रीदत्तात्रेय शिक्षा में उक्त है—

"परावराणां परम आस्ते कैवल्यसंज्ञितः ।
केवलानुभवानन्दसन्दोहो निरुपाधिकः ।।"१२॥ इति ।

क्वचित् स्वार्थिक-तद्धितान्तेन कैवल्य-शब्देनापि परम उच्यते, यथा श्रीदत्तात्रेय-शिक्षायाम् (भा० ११।९।१८)—

"परावराणां परम आस्ते कैवल्यसञ्ज्ञितः।
केवलानुभवानन्दसन्दोहो निरुपाधिकः॥"१२॥ इति।

तथाप्युभयथैव तदनुभव एव तात्पर्य्यं तत्स्वभावं वा, तमेवानुभावयितुमिदं शास्त्रं प्रवृत्तमित्यर्थः॥ श्रीसूतः॥

२। तथा चान्यत्र (भा० ६।१६।६३) —

(२) "एतावानेव मनुजैर्योगनैपुण्यबुद्धिभिः।
स्वार्थः सर्व्वात्मना ज्ञेयो यत् परात्मैकदर्शनम्॥"१३॥

टीका च—"न चातः परः पुरुषार्थोऽस्तीत्याह,—एतावानिति। योगे नैपुण्यं यस्याः सा

---

टीका—परावराणां—परे ब्रह्मादयः, अवरे अन्ये च मुक्ता जीवास्तेषां स्तेषां परमः। कुतः? कैवल्य संज्ञितो मोक्ष शब्दाभिधेयः। तत्र हेतुः केवलेति। केवलो निर्विषयः, अनुभवः स प्रकाशः। आनन्दानां सन्दोहः समूहः। परमानन्द इत्यर्थः। कुतः—निरुपाधिकः। "परावराणां वृन्द के श्रेष्ठ-कैवल्य नामक आदि पुरुष हैं। आप निरुपाधिक, केवलानुभवानन्द सन्दोह हैं।

पर एवं अवर—परावर, पर—स्वांश-मत्स्याद्यवतार हैं। अवर-विभिन्नांश जीव है। परावर वृन्द के श्रेष्ठ—परमाश्रय हैं। केवल शुद्ध स्वरूप भूत, अनुभव आनन्द का सन्दोह—समूह हैं। क्रमसन्दर्भ। कैवल्य शब्द से श्रीहरि कथित होने पर भी उभय प्रकार से ही शुद्धत्व एवं श्रीहरि—कैवल्य शब्द के द्विविध अर्थ का हो तात्पर्य्य परतत्त्वानुभव में ही है। अथवा उन का स्वभाव ही कैवल्य है, इस प्रकार कैवल्य शब्द का अर्थ निर्णीत होने पर "कैवल्येक प्रयोजनं" पदका अर्थ निर्णय करते हैं। वह परमतत्त्व वा उस के स्वभाव--गुण लीलादि का अनुभव कराने के निमित्त श्रीमद् भागवत् की प्रवृत्ति हुई है।

श्रीसूत कहे थे॥१॥

२। मुक्ति को परम पुरुषार्थ रूप में कीर्त्तन करने के निमित्त जो शास्त्र की प्रवृत्ति हुई है, उस का वर्णन अन्यत्र भी हैं—भा० ६।१६।६३ में उक्त है—

(२) "एतावानेव मनुजैर्योगनैपुण्यबुद्धिभिः।
स्वार्थः सर्व्वात्मना ज्ञेयो यत् परात्मैकदर्शनम्॥"१३॥

श्रीसङ्कर्षण, चित्र केतु को कहे थे—"परमात्मा एवं जीव तत्त्व का जो ऐक्यानुभव, योग निपुण बुद्धि मनुष्यगण, उस को ही सर्व प्रकार से स्वार्थ मानते हैं। इस श्लोक की स्वामिपाद कृत टीका इस प्रकार है—इस के आगे और पुरुषार्थ नहीं है। अर्थात् जो परम पुरुषार्थ है, उसका वर्णन इस श्लोक में हुआ है। योग में निपुणता है, जिस बुद्धि की, इस प्रकार बुद्धि जिस की है, वह योग निपुण बुद्धि है। परमात्मा के सहित—अर्थात् ब्रह्म के सहित जीव तत्त्व का एक—केवल अर्थात् ऐक्य दर्शन ही पुरुषार्थ है। यह ही टीका का अर्थ। अपर व्याख्या इस प्रकार है—अर्थ— परात्मैक दर्शन- परात्मा, परात्मा एक केवल, अर्थात् परमात्मा ही केवल 'शुद्ध' है। उनका दर्शन ही परात्मैक दर्शन है।

उक्त श्लोक स्वामिकृत टीका में जीव ब्रह्म का ऐक्यानुभव रूप सायुज्य मुक्ति को परम पुरुषार्थ रूप

बुद्धिर्येषाम्, परस्यात्मनो ब्रह्मणो जीवतत्त्वस्य तस्यैकं केवलमैक्येन दर्शनमिति यद्वेतावानेव" इत्येषा। परमात्मनः केवलस्य दर्शनमिति वा ॥ श्रीसङ्कर्षणश्चित्रकेतुम् ॥

३। सैषा हि मुक्तिरुत्क्रान्त-दशायां द्विधा भवति,—सद्य एव च, क्रमरीत्या च। तत्र

---

में वर्णित है। पञ्चविध मुक्ति के मध्य में सायुज्य मुक्ति अति निकृष्ट है उस की परम पुरुषार्थता निश्चित होने से अन्यान्य मुक्ति की परम पुरुषार्थता अनायास सिद्ध होती है। मुक्ति व्यतीत—धर्म, अर्थ, काम, श्रेष्ठ पुरुषार्थ नहीं हो सकते हैं अर्थात् जीव की आकाङ्क्षा की सामग्री नहीं हो सकती है। सुख ही जीव का एकमात्र प्रार्थनीय है। मुक्ति की परम पुरुषार्थता प्रतिपन्न होने से, केवल उस में ही सुख है, धर्म अर्थ कामरूप त्रिवर्ग की सेवा में सुख नहीं है, यह निश्चित होता है।

'परात्मैक दर्शन' पद की व्याख्या में स्वामीपादने अद्वैत वाद समर्थन पक्ष में व्याख्या की है, श्रीजीव गोस्वामी चरण समन्वयात्मक उस की व्याख्या करते हैं—एक शब्द का आभिधानिक अर्थ है—केवला अतः केवल 'शुद्ध' परमात्मा का दर्शन को पुरुषार्थ श्रीजीव गोस्वामी पाद मानते हैं, इन के मत में परमात्म दर्शन, भीतर--बाहर, मन एवं नयन में श्रीहरि को ही देखना है। अपर कुछ न देखना ही परम पुरुषार्थ है। वस्तुतः भीतर बाहर आनन्दमय की अनुभूति से ही परमानन्द लाभ होता है।

श्रीसङ्कर्षण—चित्र केतु को कहे थे ॥२॥

३। विविध प्रकार की मुक्ति—

उत्क्रान्तदशा में अर्थात् मृत्यु के पश्चात् वह मुक्ति दो प्रकार से होती है, सद्यः एवं क्रमरीति से। यह द्विविध मुक्ति—सद्योमुक्ति एवं क्रम मुक्ति नाम से प्रसिद्धा हैं। सद्यो मुक्ति का विषय--श्रीमद् भागवत २।२।१५--२१ "स्थिरं सुखं" इत्यादि प्रकरण के शेष भाग में "विसृजेत् परं गतः" पर्य्यन्त श्लोक समूह में वर्णित है।

"स्थिरं सुखं चासन मास्थितो यति र्यदा जिज्ञासुरिममङ्गलोकम्।
देशे च काले च मनो न सज्जेत् प्राणान्नियच्छेन्मनसा जितासुः ॥१५॥
मनः स्वबुद्धयामलया नियम्य क्षेत्रज्ञ एतां निलयेत्तमात्मनि।
आत्मानमात्मन्यवरुध्य धीरो लब्धोपशान्ति र्विरमेतकृत्यात् ॥१६॥
न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः कुतो न देवा जगतां य ईशिरे।
न यत्र सत्त्वं नरजस्तमश्चनैव विकारो न महान् प्रधानम् ॥१७॥
परं पदं वैष्णव मामनन्ति तद् यन्नेतिनेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्य सौहृदा हृदोपगुह्यार्हं पदं पदे पदे ॥१८॥
इत्थं मुनिस्तूपरमेद्व्यवस्थितो विज्ञान दृग्वीर्य्य सुरन्धिताशयः।
स्वपार्ष्णिनापीड्य गुदं ततोऽनिलं स्थानेषु षट् सून्नमयेजितक्लमः ॥१९॥
नाभ्यांस्थितं हृद्यधिरोप्य तस्मादुदानगत्योरसि तं नयेन्मुनिः।
ततोऽनुसन्धाय धियामनस्वी स्वतालुमूलं शनकै र्नयेत ॥२०॥
तस्माद् भ्रुवोरन्तरमुन्नमयेत निरुद्ध सप्तास्वयनोऽनपेक्षः।
स्थित्वा मुहूर्त्तार्द्धमकुण्ठ दृष्टि र्निर्भेद्य मूर्द्धन् विसृजेत् परं गतः ॥२१॥

भक्तिमिश्र योग साधन परायण योगिगण का देह त्याग प्रकार उक्त श्लोक समूह में वर्णित है-श्रीशुक-श्रीपरीक्षित् को कहे थे, हे राजन्! जितचित्त योगी निज हृदय के मध्य में सतत श्रीहरि की चिन्ता

पूर्व्वा द्वितीये (भा० २।२।१५) "स्थिरं सुखं चासनम्" इत्यादि-प्रकरणान्ते (भा० २।२।२१) "विसृजेत् परं गतः" इत्यत्र, उत्तरा च तदनन्तरम्, (भा० २।२।२२) "यदि प्रयास्यन्नृप

करके स्वयं जब देह त्याग करने की इच्छा करते हैं, तब देश, पुण्य क्षेत्र, काल—उत्तरायणादि उत्तम काल में मनो निवेश न करके अर्थात् उत्तम देश काल में प्राण त्याग करने से सद्‌गति होती है—इस प्रकार विचार न करके योग ही सिद्धि हेतु है, यह निश्चय करके सुखासन में उपवेशन पूर्वक मनो द्वारा प्राण इन्द्रिय समूह को जय करे। अर्थात् मन में प्राण को विलीन करे ॥१५॥

निर्म्मल स्व बुद्धि के द्वारा मन नियमन करे, अर्थात् मन को निज निर्म्मल बुद्धि में विलीन करे। बुद्धि को क्षेत्रज्ञ अर्थात् बुद्धयादि द्रष्टा जीव में विलीन करे। क्षेत्रज्ञ को, शुद्ध जीव में शुद्ध जीव को परब्रह्म में योजित करके परमानन्दित होकर कृत्य से विरत होवे। कारण—इस के वाद अपर प्राप्य वस्तु नहीं है ॥१६॥

उस प्रकार मुक्त पुरुष के प्रति देववृन्द के परम प्रभु काल किसी प्रकार प्रभाव विस्तार करने में समर्थ नहीं है, सुतरां देवगण का प्रभाव भी उस के प्रति नहीं होता है। इन्द्रादि देवगण—प्राकृत जगत् के प्रभु हैं, और मुक्त पुरुष, प्रकृत्यतीत धाम में अवस्थान करते हैं। उस में सत्त्व, रजः तमः--यह गुणत्रय नहीं है। जगत् कारणभूतअहङ्कार तत्त्व, महत्तत्त्व एवं प्रकृति तत्त्व भी वहाँ नहीं हैं ॥१७॥

ब्रह्मधाम प्राकृत सत्त्वादि के अतीत है, उसका वर्णन करते हैं—योगिव्यक्ति--चित् वस्तु आत्मा को एवं जड़ वस्तु को जो चिद्वस्तु नहीं जानते हैं। इस प्रकार विचार पूर्वक वैकुण्ठाख्य वैष्णव पद को प्रकृत्यतीत जानकर प्राप्त करते हैं, वे भगवान् के सहित अपना अभेद बुद्धि रूप दौरात्म्य को परित्याग पूर्वक सेव्य श्रीभगवत् चरणों को हृदय में स्थापन करते हैं, वे सब अनन्य सौहृद हैं, अर्थात् श्रीहरि व्यतीत अपर कोई प्रीति का विषय उन का नहीं है ॥१८॥

इस रीति से मुनि—स्थित धी र्मुनिरुच्यते—जिन की बुद्धि श्रीहरि में निष्ठा प्राप्त है, वे मुनि हैं। उपरति—विषय वैराग्य को प्राप्त करते हैं। स्वरूप सम्प्राप्त परतत्त्वानुभव रूप वीर्य्य द्वारा उन की विषय वासना मूलतः विनष्ट होती है। सम्प्रति उक्त योगी की देहत्याग रीति का वर्णन करते हैं। निज पाद मूल द्वारा मूलाधार (गुह्य एवं लिङ्ग के मध्य वर्त्ति स्थान) को निपीड़न करके अश्रान्त भाव से प्राण वायु को यथा क्रम से नाभि, हृदय, वक्षःस्थल तालुमूल, भ्रूमध्य एवं ब्रह्मरन्ध्रमें लेजाना चाहिये ॥१९॥

अनन्तर श्लोक द्वय के द्वारा प्राण वायु को ऊर्द्ध्व में से जाने की प्रक्रिया को कहते हैं, योगि व्यक्ति, नाभि देश के मणिपूर्वक चक्र में अवस्थित प्राण वायु को हृदयस्थ अनाहत चक्र में ले जाते हैं, वहाँ से उदान गति के क्रम से वक्षः स्थल में अर्थात् कण्ठ देश के अधोभाग स्थित विशुद्ध चक्र में ले जाते हैं। पश्चात् जितचित्तमुनि बुद्धि द्वारा अनुसन्धान पूर्वक प्राण को तालु मूल में अर्थात् विशुद्धाख्य चक्र के अग्र भाग में ले जाते हैं ॥२०॥

तदनन्तरं कर्णद्वय, नेत्रद्वय, नासिकाद्वय एवं मुख प्राण—इन सप्तमार्ग को निरोध करके विशुद्ध चक्र के अग्रभागस्थित प्राण वायु को भ्रूद्वय के मध्यस्थित आज्ञाचक्र में स्थापन करते हैं। योगी यदि अनपेक्ष अर्थात् सर्व प्रकार भोगा काङ्क्षा रहित होते हैं। तो उस स्थान में अर्द्धमुहूर्त्त (एकदण्ड) अवस्थान पूर्वक परम ब्रह्म गत होकर प्राण वायु को ब्रह्मरन्ध्र में ले जाते हैं। उस के वाद—ब्रह्म रन्ध्र भेद करके देह एवं इन्द्रिय समूह को परित्याग करते हैं ॥२१॥

यह है सद्यो मुक्ति का निदर्शन। सद्यो मुक्त योगी इस देह को परित्याग करके ब्रह्म धाम (प्रकृति के

पारमेष्ठ्यम्" इत्यादौ (भा० २।२।३१) "तेनात्मनात्मानमुपैति शान्तम्" इत्यत्र । जीवद्दशायामपि

ऊद्‌र्ध्वभाग में अवस्थित ब्रह्म धाम गमन करते हैं, अथवा वैकुण्ठ गमन करते हैं। क्रममुक्ति का वर्णन उस के बाद भा० २।२।२२--३१) "यदि प्रयास्यन् नृप पारमेष्ठ्यम् से आरम्भ कर भा० २।२।३१—

"तेनात्मनात्मानमुपैति शान्तम्' पर्य्यन्त है ।

"यदि प्रयास्यन् नृपपार मेष्ठ्यं वैहायसानामुत यद् विहारम् ।
अष्टाधिपत्यं गुण सन्निवाये सहैव गच्छेन्मसेन्द्रियैश्च ॥२२॥
योगेश्वराणां गतिमाहुरन्तर्वहि स्त्रिलोक्याः पवनान्तरात्मनाम् ।
न कर्म्मभिस्तां गतिमाप्नुवन्ति विद्या तपोयोग समाधिभाजाम् ॥२३॥
वैश्वानरं यातिविहा्य सागतः सुषुम्नया ब्रह्मपथेन शैशुमारम् ।
विधूत कल्कोऽथ हरेरुदस्तात् प्रयाति चक्रं नृप शंशम् ॥२४॥
तद् विश्वनाभिं त्वतिवर्त्य विष्णोरनीयसा विरजेनात्मनैकः ।
नमस्कृतं ब्रह्मविदामुपैति--कल्पायुषो यद् विबुधा रमन्ते ॥२५॥
अथो अनन्तस्य मुखानलेन दंदह्यमानं स निरीक्ष्य विश्वम् ।
निर्य्याति सिद्धेश्वरं जुष्टधिष्ण्यं यद् वैपरार्द्धं तदुपारमेष्ठ्यम् ॥२६॥
न यत्र शोको न जरा न मृत्युर्नार्त्तिर्नचोवेग ऋते कुतश्चित् ।
यच्चित्ततोऽदः कृपयाऽनिदं विदां दुरन्तदुःख प्रभावानुदर्शनात् ॥२७॥
ततो विशेषं प्रतिपद्य निर्भय स्तेनात्मनापोऽनल मूर्त्तिरत्वरन् ।
ज्योतिर्म्मयो वायुमुपेत्य काले वाय्वात्मना खं वृहदात्मलिङ्गम् ॥२८॥
घ्राणेन गन्धं रसनेन वै रसं रूपञ्च दृष्ट्या श्वसनं त्वयैव ।
श्रोत्रेण चापेत्य नभोगुणत्वं प्राणेन चाकूतिं मुपैति योगी ॥२९॥
स भूतसूक्ष्मेन्द्रिय सन्निकर्षं मनोमयं देवमयं विकार्य्यम् ।
संसाद्य गत्यासह तेन याति विज्ञान तत्त्वं गुण सन्निरोधम् ॥३०॥
तेनात्मनात्मनमुपैति शान्तमानन्द मानन्दमयोऽवसाने ।
एतां गतिं भागवतीं गतो यः सवै पुनर्नेह विसज्जतेऽङ्ग ॥३१॥

हे नृप ! यदि सद्यो मुक्त लाभ की इच्छा न हो, एवं ब्रह्मपद सिद्धवृन्द के क्रीड़ास्थान, अणिमादि अष्टैश्वर्य्य अथवा ब्रह्माण्ड का आधिपत्य लाभ की आकाङ्क्षा हो, तो पूर्वोक्त प्रकार से देह त्याग के समय में मन एवं इन्द्रिय समूह को परित्याग न करके उक्त सम्पद् समूह भोग हेतु मन एवं इन्द्रिय वृन्द के सहित प्राण वायु को परित्याग करे। २२॥

जो लोक, क्रममुक्ति अभिलाषी हैं, वे विविध भोग सम्पन्न होने पर भी उनकी गति कर्म्मी के समान नहीं है। कर्म्मी की गति--परिच्छिन्ना है, कर्म्मी- कर्म्मानुरूप स्वर्गादि भोग करता है, भोगक्षय के पश्चात् कर्म्म पर तन्त्र जीवरूप में विभिन्न शरीर में भ्रमण करना पड़ता है। भोग की गति परिच्छिन्ना नहीं है, वायु के मध्य में भोगेश्वर वृन्द के लिङ्ग शरीर रहता है, उस के द्वारा ब्रह्माण्ड के भीतर बाहर, गमन करना सम्भव होता है। उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती है। सुतरां भोगेश्वरात्मा उक्त साधन समूह के द्वारा जो गति को प्राप्त करते हैं, कर्म्मिगण कर्म्म के द्वारा उस गति को प्राप्त नहीं कर सकते हैं ॥२३॥

अनन्तर क्रम मुक्ति भागि व्यक्ति की ऊद्‌र्ध्वगति का वर्णन करते हैं। हृदय में एकशत एक नाड़ी है,

उस के मध्य में एक नाड़ी मस्तक से अभिनिःसृता है। इस का नाम सुषुम्ना नाड़ी है, इस के द्वारा उत्क्रमण अर्थात् देह त्याग करने से मोक्ष होता है, तद्भिन्न अपर नाड़ी के द्वारा देह त्याग करने पर संसार गति होती है। हे नृप! संसार गति भागी व्यक्ति ज्योतिर्म्मयी सुषुम्ना नाड़ी को अवलम्बन करके देह त्याग करता है। यह नाड़ी ब्रह्मलोक गमन के निमित्त पथ स्वरूपा है। यह केवल देह मध्य में सीमाबद्धा नहीं है, किन्तु देह के बाहर भी विस्तृत है। उस को अवलम्बन करके योगी आकाश पथ से अग्न्याभिमानी देवता को प्राप्त करता है। वहाँ वह विशुद्ध होता है। किसी के प्रति आसक्ति नहीं रहती है। अनन्तर तदुपरि शिशुमार जल जन्तु विशेष के समान ज्योतिश्चक्र को प्राप्त करता है। यह तारकारूप में श्रीहरि का अधिष्ठान स्थान है। सूर्य्य लोक से आरम्भ कर ध्रुव लोक पर्य्यन्त इस की व्याप्ति है ॥२४॥

वह शिशुमार के आकार विष्णुचक्र विश्व नाभि है, अर्थात् विश्वकार पुरुष के नाभि स्थानीय सूर्य्यादि का आश्रय भूत है। तदुपरि स्वर्ग निवासी की गमन सम्भावना नहीं है। यह एक अत्युत्तमस्थान है। क्रममुक्ति भागी अणिमादि सिद्धि के प्रभाव से निर्म्मल लिङ्ग शरीर द्वारा उस स्थान को अतिक्रम करके ब्रह्मविद् व्यक्ति का निवास स्थान महर्लोक को जाते हैं। वहाँ कल्पायु भृगु प्रभृति अवस्थान करते हैं ॥२५॥

क्रम मुक्ति भागी को जो कल्प परिमिति समय ही महर्ल्लोक में रहना होगा। ऐसी बात नहीं है, इच्छा होने पर उस के मध्य में ही ऊर्द्ध्व गति होती है। यदि कौतूहल के वशवर्त्ती होकर सम्पूर्ण कल्प वहाँ निवास करना चाहे तो, कल्पान्त समय में भगवान् अनन्त देव के मुखाग्नि द्वारा भू भुव, स्वर्ग लोकत्रय दग्ध होने से महर्ल्लोक भी उष्ण होता है, अतः उस स्थान को परित्याग करके ब्रह्म लोक गमन करते हैं। वह द्विपरार्द्ध काल स्थायी है। वहाँ सिद्धेश्वर गण सेवित विमान समूह हैं। यह स्थान सत्य लोक नाम से विख्यात है ॥२६॥

इस सत्य लोक में शोक, जरा, मृत्यु, दुःख नहीं है। किन्तु यहाँ के अधिवासी के हृदय में एक दुःख है। जीव गण श्रीभगवद्ध्यान न करके दुरन्त दुःख प्राप्त करते हैं, यह देखकर चित्त करुणा से विगलित हो जाता है ॥२७॥

जो उक्त प्रकार से सत्यलोक प्राप्त करते हैं, उनकी गति। त्रिविध है, पुण्योत्कर्ष के कारण—जो लोक वहाँ जाते हैं, कल्पान्तर में पुण्य के तारतम्य के अनुसार वे अन्यत्र अधिकारी होते हैं। हिरण्य गर्भादि की उपासना के द्वारा जो उस स्थान को प्राप्त करते हैं, वे ब्रह्मा के सहित मुक्त होते हैं। और जो लोक श्रीभगवदुपासना करते हैं स्वच्छाक्रम से उस स्थान को प्राप्त करते हैं, वे स्वेच्छा क्रम से ब्रह्माण्ड भेद करके विष्णुधाम प्राप्त करते हैं। यहाँ भगवद् भक्त वृन्द की ब्रह्माण्ड भेदन प्रक्रिया उक्त हैं। पञ्चाशत कोटि योजन विस्तृत ब्रह्माण्ड है। उस में चतुर्द्दश भुवन की स्थिति है। उस ब्रह्माण्ड का प्रथम आवरण पृथिवी हैं। ऐसा होने पर उत्तरोत्तर दश गुण वृद्धि से जल, अनल, वायु, आकाश, अहङ्कार एवं महत् यह छः आवरण हैं। अष्टम आवरण प्रकृति है। क्रममुक्तिभागी व्यक्ति की पृथिव्यादि आवरण समूह भेदन प्रक्रिया इस प्रकार है—

लिङ्ग शरीर द्वारा पृथिवी स्वरूप होकर निर्भय से जल रूप धारण करता है। उस शरीर के द्वारा जल रूप धारण करता है। उस शरीर से अनल मूर्त्ति धारण करता है। यह ज्योतिर्म्मयमूर्त्ति काम क्रम से वायु स्वरूप को प्राप्त करता है। वायु मूर्त्ति के पश्चात् जिस को परमात्म स्वरूप कहा जाता है। एवं उपासना भी होती है, उस आकाश मूर्त्ति को प्राप्त करता है।

तात्पर्य्य यह है कि—स्थूल शरीर पञ्चभूत निर्म्मित है, एवं सूक्ष्म देह सूक्ष्म पञ्चभूत द्वारा निर्म्मित

है,स्थूल देह त्याग करने से भू लोक त्याग होता है,एवं सूक्ष्म देह से ऊद्र्ध्वलोक गमन होता है । अष्टमावरण प्रकृति पर्य्यन्त ही सूक्ष्म देह की स्थिति है। सत्य लोक पर्य्यन्त साधारण सूक्ष्म देह का आवेश रहता है, सत्य लोक के ऊद्र्ध्व में अष्ट आवरण में प्रवेश के समय यह अन्यविध होता है । पृथिवी आवरण में प्रवेश के समय सूक्ष्म लिङ्ग शरीर का पार्थिव अंश में आवेश होता है । मानव स्थूल शरीराभिमानी है, एवं सूक्ष्म देहान्तिमानी देवतागण हैं । पृथिवी आवरण में प्रवेश के समय जीव भी उस प्रकार पृथिवी मर्त्याभिमानी होता है । इस प्रकार पृथिवी आवरण से जल आवरणमें प्रवेश समयमें जलमूर्त्ति धारण जीव करता है ।

जिस आवरण में प्रवेश होता है, सूक्ष्म शरीर स्थित उस अंश में आवेश होता है । एवं उस प्रकार देहाभिमान भी होता । है

सूक्ष्म देहाभिमान प्राप्त समय में जिस प्रकार स्थूल देहाभिमान का परित्याग होता है, उस प्रकार पृथिव्यादि विशेष सूक्ष्म देहाभिमान होने से साधारण देहाभिमान का त्याग होता है । इस प्रकार क्रमशः अन्यान्य विशेष सूक्ष्म देहाभिमान समूह विदूरित होते हैं । आवरण समूह में जो सूक्ष्मदेहावेश रहता है, उस से देव दुर्ल्लभ प्रचुर सुखानुभव होता है । आकाशादि पञ्चभूत के गुण--शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध का उपभोग कर्णादि इन्द्रिय द्वारा करके जीव सुखी होता है । स्थूल देह एवं सूक्ष्म देह में परिमित विषय भोग होता है । पृथिव्यादि आवरण स्थित पुरुष—गन्धादि उपभोग हेतु विपुल सुख भोग करता है । जिस प्रकार मानव की निखिल शक्ति यदि नयनेन्द्रिय में केन्द्रित होती हैं, एवं ब्रह्माण्ड के निखिल रूप उस के निकट उपस्थित होत हैं तो वह व्यक्ति जिस प्रकार विपुल सुख भोग कर सकता है, उस प्रकार पृथिव्यादि आवरण गत जीव भी विपुल सुख उपभोग करता है । भगवत् सेवा सुख इस से भी अनन्त गुण अधिक है । तज्जन्य क्रम मुक्ति परायण जीव उक्त विषय सुख में आविष्ट न होकर भोग एवं भोग साधन विशेष सूक्ष्म देहावेश को भी क्रमश परित्याग करता है । यहाँ ज्ञातव्य यह है कि—क्रम मुक्ति परायण व्यक्ति-विभिन्न लोकमें विभिन्न विषय सुखभोग करने पर भी उसके भोग साधन देह समूह कर्माधीन नहीं है । इच्छानुरूप मुक्त जीव–उक्त देह समूह का संकल्प द्वारा ग्रहण एवं वर्जन करता है ।।२८।।

पृथिव्यादि आवरण में जो गन्धादि गुण हैं, यह सब पृथिव्यादि सूक्ष्मभूत को अवलम्बन करके ही विद्यमान हैं । आकाशावरण के बाहर गन्ध तन्मात्रादि की स्थिति है । इन के भी सूक्ष्म आवरण है । तन्मात्र समूह सूक्ष्म हैं, तज्जन्य यह सब उपलब्ध नहीं होते हैं । यह सब आवरण—आकाश तुल्य होते हैं, इन सब को आकाश के अन्तर्गत भी मान सकते हैं । सुतरां अष्टावरण में पर्य्यवसित होता है । तन्मात्र समूह का आवरण स्वीकार करने पर भी अष्ट संख्या का आधिक्या नहीं होता है । सम्प्रति सूक्ष्मावरण समूह का अतिक्रम का वर्णन करते हैं । योगी – घ्राणेन्द्रिय में अधिष्ठित होकर गन्ध, रसनेन्द्रिय में रस, नयनेन्द्रिय में रूप, त्वगिन्द्रिय में स्पर्श, कर्णेन्द्रिय में शब्द, कर्म्मेन्द्रिय—वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ,-- समूह में उस उस इन्द्रियों के द्वारा क्रिया को प्राप्त करता है, । अर्थात् उक्त सूक्ष्मावरण समूह को अतिक्रम करता है।।२९।।

अनन्तर योगी सूक्ष्म भूत एवं इन्द्रिय समूह का लयस्थान एवं मनोमय एवं देवमय अहंकारावरण को प्राप्त करता है । सात्त्विक, राजस, तामस, भेद से अहंकार त्रिविध हैं । तामस अहंकार से सूक्ष्मभूत की, राजस अहंकार से दश इन्द्रिय की, सात्त्विक अहंकार से इन्द्रियाधिष्ठात्री दश देवता एवं मन की उत्पत्ति होती है । तज्जन्य अहङ्कार की वर्णना उक्त रूप से की गई है । पश्चात् गमन क्रम से अहङ्कार के सहित विज्ञान तत्त्व अर्थात् महत्तत्त्व को प्राप्त करता है । तदनन्तर गुण समूह का लयस्थान अष्टावरण प्रकृति को प्राप्त करता है ।।३०।।

सा तु तद्विशेषेष्वग्रतोद र्शनीया । तत्र ब्रह्मसाक्षात्कारलक्षणां जीवन्मुक्तिमाह (भा० १।३।३३)-

(३) "यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषिद्धे स्वसंविदा ।
अविद्ययात्मनि कृते इति तद्ब्रह्मदर्शनम् ।।"१४।।

यत्र यस्मिन् दर्शने स्थूल-सूक्ष्मरूपे शरीरे स्वसंविदा जीवात्मनः स्वरूपज्ञानेन प्रतिषिद्धे भवतः । केन प्रकारेण ? वस्तुत आत्मनि ते न स्त एव, किन्त्वविद्ययैवात्मनि कृते अध्यस्ते,

---

प्रकृति में प्रवेश करके प्राकृतिक सम्बन्ध परिहार पूर्वक ऊर्द्ध्व गमन करता है । यहाँ सूक्ष्म देहोपाधिकालय होता है । अवशेष में शुद्ध जीव स्वरूप में शान्त आनन्द स्वरूप परमात्मा श्रीवैकुण्ठ नाथ को प्राप्त करता है । उस से आनन्दमय होता है । हे राजन् ! जो इस प्रकार भागवती गति को प्राप्त करता है, उस की संसारावृत्ति नहीं होती है । अनन्त काल अकुण्ठ वैकुण्ठ सुख भोग करता हैं, एवं श्रीहरि सेवामृत जलधि में चिरनिमग्न होता है ।।३१।।

पहले कहा गया है कि—उत्क्रान्त दशा में एवं जीवित अवस्था में मोक्ष लाभ होता है । उत्क्रान्त दशा की मुक्ति का वर्णन हुआ । जीवित अवस्था में जो मोक्ष लाभ होता है—उसका विशेष वर्णन, मुक्ति वर्णन प्रसङ्ग में होगा ।

विविध प्रकार मुक्ति के मध्य में ब्रह्म साक्षात्कार लक्षणा जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में श्रीसूत शौनक को कहे थे—"(भा० १।३।३३)

(३) "यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषिद्धे स्वसंविदा ।
अविद्ययात्मनि कृते इति तद्ब्रह्मदर्शनम् ।।"१४।।

टीका—तदेवमुपाधि द्वयमुक्त्वा तदपवादेन जीवस्य ब्रह्मतामाह यत्रेति । यत्र यदा, इमे--स्थूल सूक्ष्म रूप स्वसंविदा स्वरूप सम्यक् ज्ञानेन प्रतिसिद्धे भवतः । ज्ञानेन प्रतिषेधार्हत्वे तमेव हेतुमाह अविद्यया आत्मनि कृते कल्पिते इति हेतोः । तद् ब्रह्म, तदा जीवो ब्रह्मैवभवतीत्यर्थः ।

अविद्या कर्त्तृक आत्मा में आरोपित—यह सदसद्रूप—जिस में स्वसंवित् द्वारा भ्रम रूप में प्रतीत होता है, वह ब्रह्म दर्शन है । मिथ्या ज्ञान को आरोप कहते हैं । जिस प्रकार रज्जु में सर्प भ्रान्ति होता है । अर्थात् जिस दर्शन में सदसद्रूप—स्थूल सूक्ष्म शरीर, स्वसंवित्--जीवात्मा का स्वरूप ज्ञान द्वारा निषिद्ध होता है, वह ब्रह्म दर्शन है ।

स्थूल सूक्ष्म शरीर कैसे निषिद्ध होते हैं ? वस्तुतः यह शरीर द्वय स्वरूपभूत नहीं हैं, आत्मा में आरोपित हैं, एतज्जन्य ही स्वरूप ज्ञान द्वारा तिरोहित हो सकते हैं । अर्थात् सत्-कार्य्य, असत्--कारण, स्वरूप स्थूल सूक्ष्म देह अविद्या कर्त्तृक आत्मा में आरोपित होने के कारण—स्थूल देह मैं हूँ, सूक्ष्म देह मैं हूँ—जीव की इस प्रकार भ्रान्ति हुई है । जो ज्ञान आविर्भूत होने से जीवात्मा का स्वरूप ज्ञान द्वारा वह भ्रान्ति विदूरित होती है, उस ज्ञान को ब्रह्म दर्शन कहते हैं ।

'तद् ब्रह्मदर्शनम्' 'वह ब्रह्म दर्शन है' यहाँ तद् शब्द का प्रयोग हुआ है, श्लोक के प्रारम्भ में यद् (यत्र-यद्) शब्द के सहित उस की योजना है । अन्वय—अर्थात् पद समूह का परस्पर सम्बन्ध-विशिष्ट शब्द द्वय से एकार्थ का बोध होता है । उस से तद् शब्द के सहित 'यत्र' पद की अर्थ निष्पत्ति होती है । अन्यथा 'यत्र' पद का अन्य अर्थ भी हो सकता है । यद् एवं तद् शब्द का नित्य सम्बन्ध होने के कारण, उस प्रकार नहीं हुआ ।

इति एतत्प्रकारेणेत्यर्थः। तद्ब्रह्मदर्शनमिति यत्तदोरन्वयः। ब्रह्मणो दर्शनं साक्षात्कारः। यत्र स्वसंविदेत्युक्त्या जीवस्वरूपज्ञानमपि तदाश्रयमेव भवतीति, तथा केवल-स्वसंविदा ते निषिद्धे, न भवत इति च ज्ञापितम्। ततश्च जीवत एवाविद्याकल्पित-मायाकार्य्यसम्बन्ध-

---

'ब्रह्म दर्शनम्' शब्द का अर्थ है– ब्रह्म का दर्शन, अर्थात् साक्षात् कार है। जिस दर्शन से जीवात्मा का स्वरूप ज्ञान द्वारा—कहने का तात्पर्य्य यह है कि—जीव का स्वरूप ज्ञान भी ब्रह्म दर्शन का अन्तभुक्त है। ब्रह्म दर्शन न होने से जीव का स्वरूप ज्ञानोदय नहीं होता है। ब्रह्म दर्शन होने से प्रयत्न के विना ही जीव का स्वरूप ज्ञानोदय होता है। यहाँ और भी सूचित हुआ है कि—केवल जीव का स्वरूप ज्ञान के द्वारा देहाभिनिवेश दूर नहीं होता है। परतत्त्व ज्ञान के द्वारा ही वह विदूरित होता है।

ऐसा होने पर जिस जीवस्वरूप साक्षात् कार के द्वारा अविद्या कल्पित माया कार्य्य (देहादि)सम्बन्ध मिथ्यारूप से ज्ञात होता है, जीवित अवस्था में ही उस साक्षात् कार के सहित तादात्म्यापन्न ब्रह्म साक्षात्कार ही जीवन्मुक्ति विशेष है।

यहाँ जीवन्मुक्ति का लक्षण कहा गया है। माया बद्ध जीव की माया सम्बन्धतिरोधान ही मुक्ति है। वह देह त्याग के पश्चात् हो सकती है, देह स्थिति काल में भी हो सकती है, यहाँ शेषोक्त मुक्ति की कथा कही गई है। जीवित अवस्था में यह मुक्ति होती है, तज्जन्य उस को जीवन्मुक्ति कहते हैं, जीवित अवस्था में माया सम्बन्धातिरोहित होने से यह मुक्ति होती है। मायिक देह विद्यमान होने पर माया सम्बन्ध कैसे विदूरित होता है, जीवन्मुक्त लक्षण में उसको कहा गया है। जीव स्वरूप साक्षात् कार का अभाव रूप जो अज्ञान है, उस के प्रभाव से देह दैहिक विषयों में आत्मा आत्मीय भ्रान्ति उपस्थित होती है। यह सब माया कार्य्य—स्थूल—सूक्ष्म देह, स्त्री, पुत्र, परिजन धन सम्पद् प्रभृति माया से उत्पन्न हैं। जीव स्वरूप का साक्षात् कार होने से देह दैहिक वस्तु में मैं मेरा बुद्धि मिथ्या रूप से प्रतीत होती है। स्वरूप—आत्मा मैं हूँ। स्वरूप का परमाश्रय परमात्मा मेरा है—इस प्रकार ज्ञानोदय होता है।

पहले कहा गया है कि—परमात्मा विषयक ज्ञान ही जीवात्मा ज्ञान के प्रति कारण है। भक्त वृन्द का परमात्म ज्ञान एवं जीवात्म ज्ञान, मुक्तावस्था में भी पृथक् रहता है। कारण, सेव्य सेवक बुद्धि विद्यमान रहती है। ज्ञानि वृन्द का साधन ही उभय स्वरूप का अभेदानुसन्धानात्मक है। साधन की परिपक्व अवस्था में उक्त ज्ञान होता है। ऐसा होने पर उभय का ऐकात्म्य सर्वथा असम्भव है, किन्तु तादात्म्यसम्भव है। जीव एवं ब्रह्म के शक्तित्व एवं शक्तिमत्त्व प्रभृति भेद वर्त्तमान हैं, सुतरां उभय में तादात्म्य ही सम्भव है, ऐकात्म्य सम्भव नहीं है। जीव ब्रह्म का एक हो जाना कभी भी सम्भव नहीं है।

जीव स्वरूप एवं ब्रह्म स्वरूप पृथक् होने के कारण, उभय का साक्षात् कार भी पृथक् है। किन्तु ब्रह्म साक्षात् कार जीव स्वरूप साक्षात् कार में अनुप्रविष्ट होकर उस को सम्पन्न करता है। जैसे अग्नि लौह में अनुप्रविष्ट होकर लौह को अग्निमय करता है, उस प्रकार ही ब्रह्मानुभव भी जीव-स्वरूपानुभव में अनुप्रविष्ट होकर मायातीत आनन्दमय ब्रह्मवत् जीव स्वरूप को भी मायातीत आनन्दमय प्रतीत कराता है। अणु चैतन्य एवं अणु आनन्द जीव है, ब्रह्म ज्ञान एवं ब्रह्मानन्द प्राप्त करके ही विपुल ज्ञान एवं आनन्द सम्पन्न जीव होता है। यही जीवस्वरूप साक्षात् कार के सहित ब्रह्म साक्षात् कार की तादात्म्य प्राप्ति कहने का तात्पर्य्य है। यह तादात्म्य प्राप्त ब्रह्म साक्षात् कार ही मुक्ति है।

पहले मुक्ति लक्षण में परतत्त्व साक्षात्कार को मुक्ति कही गई है, उस परतत्त्व की 'ब्रह्म, परमात्म, भगवान्' यह त्रिविध अभिव्यक्ति हैं। ब्रह्म साक्षात्कार लक्षणा मुक्ति में उस साक्षात्कार का जो कुछ वैशिष्ट्य है, उसका वर्णन यहाँ हुआ है। ज्ञानिगण का ब्रह्म साक्षात् कार, निज स्वरूप साक्षात्कार

मिथ्यात्वज्ञापक–जीवस्वरूपसाक्षात्कारेण तादात्म्यापन्नब्रह्मसाक्षात्कारो जीवन्मुक्तिविशेष इत्यर्थः ॥ श्रीसूतः ॥

४। ईदृशमेव तन्मुक्तिलक्षणं श्रीकापिलेये (भा० ३।२८।३५–३८) "मुक्ताश्रयम्' इत्यादि–

---

से पृथक् रूप से--उपस्थित नहीं होता है, वे निज स्वरूप की भावना ब्रह्म रूप में करते हैं। सिद्धावस्था में उनका स्वरूप ही ब्रह्म भावापन्न अनुभूत होता है। ऐसा होने पर जिस प्रकार ज्वलन्त लौह गोलक की अग्नि पृथक् वस्तु है, वह दहन कार्य्य करने में सक्षम है, उस प्रकार ब्रह्म भावापन्न जीव स्वरूप में ब्रह्म, पृथक् वस्तु है। तादृश स्वरूपानुभव में ब्रह्मानुभव ही मुक्ति है। जीव स्वरूपानुभव में मुक्ति नहीं होती है। तादात्म्यापन्न उभय साक्षात्कार का अपृथक् रूपसे उपस्थित होने पर भी एवं ज्ञानिगण का अभिनिवेश निज स्वरूप साक्षात्कार में विद्यमान होने से भी परतत्त्व साक्षात् कारमें मुक्ति लक्षण का पर्य्यवसान करने के निमित्त यह सिद्धान्त किया गया है।

ईदृश ब्रह्म साक्षात् कार जीवित अवस्था में उपस्थित होने पर देहानुसन्धान निवृत्त होता है, केवल ब्रह्मानुभव विद्यमान रहता है। तज्जन्य यह जीवन्मुक्ति है। इस समय साधक देह धर्म से लिप्त नहीं होता है। जीवित अवस्था में केवल ब्रह्मानुभव के द्वारा ही मुक्ति होती है, यही नहीं, किन्तु परमात्मा एवं भगवान् का अनुभव के द्वारा भी मुक्त हो सकता है। तज्जन्य उक्त दर्शन को जीवन्मुक्ति विशेष कहते हैं।

प्रवक्ता–श्रीसूत हैं। (३)

॥४॥ श्रीमद् भागवत के श्रीकपिल देवहूति संवाद (३।२८।३५--३८) 'मुक्ताश्रयादि' चार श्लोकों में है।

"मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक--
मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्त गुण प्रवाहः।
सोऽप्येतयाचरमया मनसो निवृत्त्या
तस्मिन्महिम्न्यवसित सुख दुःख वाह्ये।
हेतुत्वमप्यसति कर्त्तरि दुःखयोर्यत्
स्वात्मन् विधत्त उपलब्ध परात्मकाष्ठः।
देहञ्च तं न चरमस्थितमुत्थितम्बा
सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।
दैवादपेतमुतदैववशादुपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः।
देहोऽपि दैव वशगः खलु कर्म्म यावत्
स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एवसासुः।
तं सप्रपञ्च मधिरूढ़ समाधियोगः
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तु ॥"

टीका—यर्हि यदा एवं निर्विषयं भवेति,अतएव मुक्ताश्रयञ्च ध्येय सम्बन्धं विना। धातर्य्यवस्थाना-सम्भवात्। नच पूर्ववत् शब्दादिविषयः स्यात्। यतस्तत्र विरक्तं परमानन्दानुभवेन। अतोनिर्वाणं लयमृच्छति। वृत्तिरूपतां परित्यज्य ब्रह्माकारेण परिणमत इत्यर्थः। यथा अर्च्चिर्ज्वाला आश्रयविषयापगमे

चतुष्टये दर्शितम् । तत्र हि प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः सन्नात्मानं परमात्मानमीक्षत इति मुक्ताश्रयमित्यादौ, स्वस्वरूपभूते महिम्न्यवसितो निष्ठां प्राप्तः सन्नुपलब्धपरात्मकाष्ठ इति

---

महाभूत ज्योतीरूपेण परिणमते, अत्र अस्यां दशायाम्, अव्यवधानं ध्यातृ ध्येय विभाग शून्यं, एवं अखण्डम्, आत्मानुगतमीक्षते । अत्र हेतुः–प्रति निवृत्तोऽपगतो गुण प्रवाहो देहाद्युपाधिर्यस्य ॥३५॥

न च सुप्तोत्थित इव पुनः संसरतीत्याह, सोऽपि, स च पुरुषस्तस्मिन् महिम्नि ब्रह्म रूपेऽवसितिः, अवसानं निष्ठां प्राप्तः । कया ? मनसो निवृत्त्या, चरमया अविद्या रहितयेति सुषुप्ताद्विशेषः । तत्रहि अविद्यास्ति, नत्विदानीम् । तत्र हेतुः–एतया,-योगाभ्यास कृतयेत्यर्थः । नन्वेवमपि सुख दुःखयो रात्मधर्मत्वे कुतो ब्रह्मैक्यं तत्राह–दुःखयोः–सुखदुःखयोः, हेतुत्वं भोक्तृत्वञ्च यत् पूर्वमात्मनि आसीत्, तदपि असति अविद्यया कृते कर्त्तरि अहङ्कारे विधत्ते, तन्निष्ठमेव पश्यतीत्यर्थः । यतः उपलब्ध परात्मकाष्ठः । अपरोक्षीकृतात्मतत्त्वः ॥३६॥

तस्य जीवन्मुक्ततामाह देहञ्चेति–द्वाभ्याम् । चरमः, उक्त लक्षणः सिद्धो देहमपि नविपश्यतीति कुतः सुख दुःखे ? आसनादुत्थितम्– उत्थाय तत्रैव स्थितं तत् स्थानादपेतं ततो दैववशात् पुनरपि उपेतं वा न विपश्यति । यतः स्वरूप प्राप्तः । यतो देहात् स्वरूपमध्यगमत्, तं देहमिति वा । स्वतोऽप्यननुसन्धाने दृष्टान्तः । वासः परिकृतं, कटितटे परिवेष्टितं, हितं गतं वा, मदिरामदेनान्धो यथा न पश्यतीत्यर्थः ॥३७॥

ननु कथं तर्हि देहस्य प्रवृत्ति निवृत्ती जीवनं वा तत्राह–देहोऽपीति । दैवं पूर्व संस्कारः, तद्वशेन, गच्छन्, यावत् स्वारम्भकं कर्म्माणि तावत् प्रति समीक्षते, जीवत्येव, सासुः सेन्द्रियः । ननु तर्हि तस्मिन् पुनः सङ्गः स्यात्, तत्राह । तं देहं स्वाप्न देहादि तुल्यं स प्रपञ्चं पुत्रादि सहितं पुनर्न भजते, अहं ममेति नाभिमन्यते । अधिरूढः प्राप्तः, समाधिपर्य्यन्तोयोगोयेन, अतएव प्रतिबुद्धं वस्तु आत्म तत्त्वं येन सः ॥३८॥

योगमिश्र भक्ति के द्वारा श्रीभगवान् का ध्यान करते करते मोक्षाकाङ्क्षी योगी में श्रीभगवत् प्रीति का उदय होता है । किन्तु मोक्षाभिलाष निबन्धन ध्येय श्रीभगवान् से चित्त वियोजित हो जाता है । उस प्रकार से चित्त जब निर्विषय होता है, तब उसका कोई आश्रय नहीं रहता है । कारण, ध्येय सम्बन्ध व्यतीत चित्त केवल ध्याता होकर नहीं रह सकता है । साधन दशा में ध्यान योग के द्वारा परमानन्दानुभव हेतु शब्दादि विषय सुख में भी चित आकृष्ट नहीं होता है । पूर्व में ही उस में वह वितृष्ण हुआ है । सुतरां दीप शिखा जिस प्रकार तैल वर्त्तिका का अभाव से निर्वाण को प्राप्त करती है, तद्रूप चित्त भी सहसा लय प्राप्त होता है । उस अवस्था में पुरुष देहादि उपाधि रहित होकर, ध्यातृध्येय विभाग शून्य आत्मा-परमात्मा का दर्शन करता है ॥२५॥

ईदृश योगी सुप्तोत्थित व्यक्ति के समान पुनर्वार संसार को प्राप्त नहीं करता है । सुप्त व्यक्ति को अविद्या निवृत्ति नहीं होती है, अतः जाग्रद्दशा में संसार प्राप्ति होती है । योगाभ्यास द्वारा योगी का चित्त विक्षेप निवृत्ति की चरम अवस्था में उपस्थित होता है । अर्थात् अविद्या विदूरित होती है । उस से स्व स्वरूपभूत महिमा में निष्ठा प्राप्त होकर योगी आत्मतत्त्व प्रत्यक्ष करता है । पहले आत्मा में जो सुख एवं दुःख का भोक्तृत्व था, वह अविद्या सम्भूत अहङ्कार में अवस्थित है, इस प्रकार देखता है । आत्मा में अविद्या सम्भूत अहङ्कार न होने के कारण सुख दुःख के कर्त्तृत्व भोक्तृत्व उस में नहीं रहते हैं ॥३६॥

इस प्रकार योगी की मुक्तावस्था का वर्णन करते हैं । उक्त परम दशा प्राप्त सिद्ध योगी, निज देहानु सन्धान रहित होते हैं, सुखानुसन्धान की बात तो दूर है । देह आसन से उत्थित हो अथवा उत्थित होकर उस में ही अवस्थित हो, किंवा वहाँ से अन्यत्र गमन करे । अथवा दैव वशतः पुनर्वार उस स्थान को प्राप्त

"सोऽप्येतया" इत्यादौ, स्वरूपं जीवब्रह्मणोर्याथात्म्यमध्यगमदिति "देहञ्च" इत्यादौ, एवं प्रतिबुद्धवस्तुरिति "देहोऽपि" इत्यादौ चेति। तस्मादस्य प्रारब्धकर्म्ममात्राणामनभिनिवेशेनैव

करे—मदिरांमदान्ध व्यक्ति, जिस प्रकार परिहित वसन का अनुसन्धान नहीं रखता है, उस योगी का भी उस प्रकार देहानुसन्धान नहीं रहता है, कारण, उसने– स्वरूप अर्थात् जीव ब्रह्म का याथार्थ्य स्वरूप को जान लिया है ॥३७॥

जब तक निजारम्भक कर्म समाप्त नहीं होता है, तब तक पूर्व संस्कार वश से दैहिक व्यापार समूह निर्वाह करने के निमित इन्द्रिय के सहित विद्यमान रहता है। समाधि योग प्राप्त करने के कारण, स्वप्नवत् प्रतीत देह एवं सम्बन्धीय व्यक्ति समूह में योगी अनुरक्त नहीं होता है, उस से आत्मतत्त्व का अनुभव किया है ॥३८॥

उक्त श्लोक समूह के जिस जिस स्थान में जीवन्मुक्त लक्षण वर्णित है—उस को दर्शाते हैं— 'मुक्ताश्रय' ३५ श्लोक ये "देहाद्युपाधिरहित होकर आत्मा परमात्मा का दर्शन करता है। इस वाक्य में, सोऽप्येतया इत्यादि (३५) श्लोक के "स्व स्वरूप भूत महिमा में निष्ठाप्राप्त होकर आत्म तत्त्व प्रत्यक्ष करता है – इस वाक्य में, 'देहञ्च' इत्यादि(३७)श्लोक के 'स्वरूप अर्थात् जीव ब्रह्म का याथार्थ्य को जानता है,' इस वाक्य में, 'देहोऽपि' इत्यादि (३८) श्लोक के (वह आत्म तत्त्वानुभव किया है। इस वाक्य में जीवन्मुक्त लक्षण वर्णित है।

जीवन्मुक्त पुरुष, अविद्या कल्पित माया कार्य्य सम्बन्ध को मित्था जानता है। तज्जन्य अनभिनिवेश से ही केवल प्रारब्ध कर्म भोग उस को होता है।

संसार भोग हेतु प्रारब्ध कर्म्म, अप्रारब्धकर्म, वासना एवं अविद्या हैं, पाञ्चभौतिक देह प्राप्ति काल से जिस का भोग उपस्थित है, वह प्रारब्ध कर्म है, देह दैहिक भोग—प्रारब्ध कर्म्म फल है, जिस का भोग काल उपस्थित नहीं हुआ है, वह अप्रारब्ध कर्म है। वासना से विविध कर्म उपस्थित होते हैं। अज्ञान वासना की हेतु भूता को अविद्या कहते हैं।

देहस्थिति पर्य्यन्त – प्रारब्ध कर्म्म भोग विद्यमान रहता हैं। उस के प्रभाव से उच्चनीच कुल में जन्म, सम्पत्तिमत्ता, निर्धनता, पाण्डित्य--मूर्खता प्रभृति संघटित होते हैं, यावत् पर्य्यन्त देहानुसन्धान रहता है, तावत् पर्य्यन्त देह सम्बन्धीय उक्त भोग समूह अनुभूत होते हैं, आत्म दृष्टि के प्रभाव से देहानुसन्धान रहित होने से अनभिनिवेश से दैहिक व्यापार निष्पन्न होता है। जिस,प्रकार कुम्भकार,चक्र,भ्रमण कराकर दण्ड को उठालेता है, और चक्र संस्कार वेग से चलता रहता है, उस प्रकार देहाभिनिवेश रहित जीवन्मुक्त पुरुष का पूर्वाभ्यास से दैहिक व्यापार निष्पन्न होता है।

प्रश्न हो सकता है—कि-देहादि बन्धन हेतु भूत भगवद् वैमुख्य तिरोहित होने के पश्चात् जीवन्मुक्त पुरुष की देहस्थिति कैसे सम्भव होती है ? उत्तर, ब्रह्मविद् एवं परम भागवत ब्रह्मविद्या एवं भागवत धर्मोपदेश प्रदान करने में समर्थ हैं। यह जीवन्मुक्त होते हैं। जीवन्मुक्तावस्था प्राप्त होने से ही यदि देह ध्वंस होता है तो, जगत् से ब्रह्मविद्या एवं भागवत धर्मोपदेश विलुप्त होगा। तज्जन्य भगदिच्छाक्रम से उन का प्रारब्धावशेष रह जाता है। किन्तु उनकी साधन निष्ठा एवं भगवत् प्राप्त्युत्कण्ठा से करुणा कोमल श्रीभगवान् की कृपा से अविद्या, वासना एवं अप्रारब्ध कर्मभोग क्षीण होते हैं।

ब्रह्मसूत्र ४।१।१५—अनारब्ध कार्य्य एव तु पूर्वेतदवधेः,,

भागवत भाष्य—"त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयो
गुणविगुणान्वयास्तर्हि देहभृताञ्च गिरः।

भोगः। एवमेवोक्तम्(ईश० ७) "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इति। अथान्तिमां ब्रह्मसाक्षात्कारलक्षणां मुक्तिमाह (भा० १।३।३४)—

अनुयुगमन्वहं सगुण गीत परम्परया।
श्रवण भृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः॥" भा० १०।८७।

ब्रह्मविदां देहस्थिति दर्शनात् तदारम्भकं कर्म्म उपदेशादि प्रचारिण्या तदिच्छयैव तिष्ठतीति स्वीकार्य्यम्। एवञ्चसति मण्यादि प्रतिबन्ध शक्ते र्वह्ने रिव विद्यायाः किञ्चित् कर्म्मादाहकत्वेऽपि न क्वापि क्षतिरिति।

जीवन्मुक्त पुरुष जो अनभिनिवेश से प्रारब्ध कर्म भोग करता है, उसका वर्णन (ई श १) श्रुति में है—"तत्र को मोहः, कः शोकः, एकत्वमनुपश्यतः" इति।

"यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इस के पूर्ववर्त्ती मन्त्र--
"यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

जो आत्मा में (परमात्मा में) समस्त भूतों का दर्शन करता है, एवं सर्वभूत में आत्मा का (परमात्मा का) दर्शन करता है। उस प्रकार दर्शन से मोह विदूरित होने के कारण, वह व्यक्ति किसी को धृणा नहीं करता है। श्रीमद् भागवत ११।२।४३ में ईदृश लक्षणाक्रान्त व्यक्ति को उत्तम भागवत कहा गया है।

"सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद् भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

श्रीहविर्योगीन्द्र कहे थे—जो सर्वभूत में निजाभीष्ट भगवदाविर्भाव को अनुभव करता है, एवं स्वचित्त में स्फूर्त्ति प्राप्त भगवान् का आश्रितत्व रूप में सर्वभूत को अनुभव करता है, वह उत्तम भ गवत है।

महाभागवत सर्वत्र सर्वदा भगवदनुभव सम्पन्न होते हैं। ब्रह्मविद् व्यक्ति की भी यही अवस्था होती है—वे भी सर्वत्र सर्वदा ब्रह्मानुभव सम्पन्न होते हैं। तज्जन्य परतत्त्व वैमुख्य जनित अविद्या कर्त्तृक पराभव, अविद्या पराभव हेतु शोक मोह प्रभृति संसार दुःख—उन के निकट उपस्थित नहीं हो सकता है। "तत्र को मोह" इत्यादि श्रुति के द्वारा इस को ही प्रकाश किया गया है।

यहाँ ज्ञातव्य यह है कि "एकत्वमनुपश्यतः" एकत्व पद से जीवन्मुक्त व्यक्ति मात्र के पक्ष में ही ईश्वराभिन्नत्व दर्शन अभिप्रेत नहीं है, जो ज्ञान योग के द्वारा परमात्मा के सहित सायुज्याभिलाषी है उस के पक्ष में ही यह रीति है।

भक्त योग के द्वारा जो लोक जीवन्मुक्त होते हैं, उनके पक्ष में श्रीभगवान् के सहित--सेव्य सेवक भाव विद्यमान रहता है। इस प्रकार विभेद—साधक दशा में, जीवन्मुक्त दशा में, एवं उत्क्रान्त दशा में--अर्थात् सर्वावस्था में विभेद वर्त्तमान रहता है। भक्त वृन्द का कभी भी सेवक भाव तिरोहित नहीं होता है, उनके पक्ष में 'सर्वत्र एकत्व' दर्शन का दृष्टान्त—उत्तम भागवत् के वर्णित लक्षणानुसार जानना होगा। भक्तगण—सर्वभूत में निजेष्ट भगवान् की स्फूर्त्ति की उपलब्धि करते हैं। सर्वभूत को भगवदाश्रितरूप में देखते हैं। इस प्रकार सतत श्रीभगवदनुभव में निमग्न होने के कारण, देहस्थिति विद्यमान होने पर भी दैहिक सुख दुःख से लिप्त नहीं होते है। ब्रह्मविद् के सम्बन्ध में भी इस प्रकार जानना चाहिये।

अनन्तर श्रीसूत भा० १।३।३४ में ब्रह्म साक्षात्कार लक्षणा अन्तिमा मुक्ति को कहते हैं—

(४) "यद्येषोपरता देवी माया वैशारदी मतिः ।
सम्पन्न एवेति विदुर्महिम्नि स्वे महीयते ॥"१५॥

एषा जीवन्मुक्तिदशायां स्थिता विशारदेन परमेश्वरेण दत्ता देवी द्योतमाना मतिर्विद्या तद्रूपा या माया स्वरूपशक्तिवृत्तिभूतविद्याविर्भावद्वारलक्षणा सत्त्वमयी मायावृत्तिः, सा यद्युपरता निवृत्ता भवति, तदा व्यवधानाभासस्यापि राहित्यात् सम्पन्नो लब्धब्रह्मानन्द सम्पत्तिरेवेति विदुर्मुनयः । ततश्च तत्सम्पत्तिलाभात् स्वे महिम्नि स्वरूपसम्पत्तावपि महीयते पूज्यते, प्रकृष्टप्रकाशो भवतीत्यर्थः ॥ श्रीसूतः ॥

५ । अत्र पूर्व्वं तत्त्व-भगवत्-परमात्म-सन्दर्भेष्वेवं मूलेन श्रुत्यादिभिश्च प्रतिपादितम् ।

---

(४) "यद्येषोपरता देवी माया वैशारदी मति ।
सम्पन्न एवेति विदुर्महिम्नि स्वेमहीयते ॥"१५॥

टीका—तथापि भगवन् मायायाः संसृति कारण भूताया विद्यमानत्वात् कथं ब्रह्मता ? तत्राह यदीति । यदीति असन्देहे सन्देह वचनं, यदि वेदाः प्रमाणं स्युरितिवत् । वैशारदी—विशारदः सर्वज्ञ ईश्वरः, तदीया देवी, संसार चक्रेण क्रीड़न्ती एषामाया यद्युपरता भवति । किमित्युपरता भवेत् तत्राह--मतिर्विद्या । अयं भावः । यावदेषा अविद्या आत्मना आवरण विक्षेपौ करोति तावन्नोपरमति । यदातु नैव विद्यारूपेण परिणता तदा, सदसद्रूपं जीवोपाधिं दग्ध्वा निरिन्धनारणिवत् स्वयमेवोपरमेदिति, तदा सम्पन्नः ब्रह्म स्वरूपं प्राप्त एवेति विदुः । तत्त्वज्ञाः । किमतः ? यद्येवं स्वे महिम्नि परमानन्द स्वरूपे महीयते पूज्यते विराजते इत्यर्थः ॥३४॥

यदि यह वैशारदी देवी मतिमाया उपरता होती है, तब निश्चय ही सम्पन्न हुआ है—मुनिगण इस प्रकार मानते हैं । उस से सम्पन्न पुरुष स्वमहिमा में पूजित होते हैं ।

जीवन्मुक्ति-जीवित अवस्था में होती है, एवं अन्तिमामुक्ति, देहत्याग के पश्चात् होती है । उभय विधा मुक्ति का 'ब्रह्म साक्षात्कार लक्षणा" यह एक ही विशेषण है । ब्रह्म साक्षात्कार के द्वारा ही उभय विध मुक्ति होती हैं, ब्रह्म साक्षात्कार—उभयविध मुक्ति का लक्षण है । ब्रह्म साक्षात् कार के द्वारा जिस प्रकार मुक्ति होती है, उस प्रकार भगवत् साक्षात् कार से भी मुक्ति होती है । सुतरां भगवत् साक्षात्कार लक्षणा मुक्ति से यह मुक्ति पृथक् है । जीवन्मुक्त व्यक्ति ही अन्तिमा मुक्तिका अधिकारी है । श्लोक व्याख्या में उभयविध मुक्ति का तारतम्य प्रदर्शित होगा ।

श्लोक व्याख्या—'एषा' जीवन्मुक्ति दशा में स्थिता, वैशारदी, विशारद परमेश्वर कर्त्तृक प्रदत्ता, देवी—द्योतमाना, प्रकाशमाना- मति--विद्या, तद्रूपा जो माया-स्वरूप शक्ति वृत्तिभूता जो विद्या (ज्ञान) उसका आविर्भाव का द्वार स्वरूपा, सत्त्वमयी माया वृत्ति, वह यदि उपरता होती है, अर्थात् निवृत्ता होती है, तब व्यवधानाभास भी नहीं रहता है, वह व्यक्ति, निश्चय ही सम्पन्न होता है । मुनि वृन्द इस प्रकार मानते हैं । ऐसा होने पर ब्रह्मानन्द सम्पत्ति लाभ हेतु स्वमहिमा से पूजित होता है, अर्थात् स्वरूपसम्पत्ति से पूजित होता है—प्रकृष्ट प्रकाश प्राप्त होता है ।

वक्ता—श्रीसूत हैं—॥४॥

५ । तत्त्व भगवत् परमात्म सन्दर्भ में श्रीमद् भागवत् एवं श्रुति प्रमाण के द्वारा यह प्रतिपादित

जीवाख्य-समष्टिशक्ति-विशिष्टस्य परमतत्त्वस्य खल्वंश एको जीवः। स च तेजोमण्डलस्य वहिश्चर-रश्मिपरमाणुरिव परमचिदेकरसस्य तस्य वहिश्चरचित्परमाणुः। तत्र तस्य

---

हुआ है कि—जीवाख्य समष्टि शक्ति विशिष्ट जो परम तत्त्व है, प्रत्येक जीव ही उन परमात्मा का अंश है। वह जीव, तेजोमण्डल सूर्य्य के वहिश्चर रश्मि परमाणु के समान परम चिदेकरस परमात्मा का वहिश्चर चित् परमाणु है। जीवेश्वर के इस प्रकार संस्थान में परम तत्त्व का व्यापकत्व निबन्धन, जीव में परमात्मा का एक देशत्व हीं है। परतत्त्व निराकार विभु होने के कारण जीव के पक्ष में उनका एक देशत्व विरुद्ध नहीं है। जीव, एक देश में अवस्थित होने पर भी वह अन्तश्चर नहीं है, परतत्त्व का आश्रित होने के कारण वह वहिश्चर है। परतत्त्व ज्ञानाभाव निबन्धन, छाया द्वारा रश्मि जिस प्रकार अभिभव को प्राप्त करती है, उस प्रकार माया कर्त्तृक पराभव योग्य होने के कारण जीव को वहिश्चर कहा गया है। परतत्त्व का व्यतिरेक से व्यतिरेकिता निबन्धन जीव का जो आश्रयभाव है वही उसका रश्मि स्थानीयत्व है, एवं परम तत्त्व परमात्मा का वहिश्चर परमाणु रूपी जीव है, इन दोनों की विद्यमानता में भी जो एक वस्तुत्व श्रुति है, अर्थात् अद्वय परमतत्त्व की प्रसिद्धि है, वा साक्षान्निर्देश है—उस का विवरण श्रीमद्-भागवत एवं श्रुति प्रभृति से ज्ञात होता है। वहिश्चर रूप में ही जीव, परमेश्वर की जगत सृष्ट्यादि लीला का उपकरण होने के कारण—जीव-उनकी शक्ति है। शब्द अर्थात् श्रुति प्रमाण से ज्ञात होता है कि जीव अणु है। हरि चन्दन विन्दुवत् प्रभाव लक्षण गुण द्वारा ही जीव की सर्व देह व्याप्ति होती है,

जीव को जीव शक्ति विशिष्ट परमात्मा का अंश कहने से, जीव ईश्वर का साक्षात् अंश है, इस प्रकार बोध नहीं होता है। कारण, ईश्वर अर्थात् श्रीभगवान् के साक्षात् अंश—मत्स्यादि अवतार समूह हैं। जीवाख्य समष्टि शक्ति का अंश, व्यष्टि जीव है। इस जीव को समष्टि शक्ति विशिष्ट परमतत्त्व का अंश कहते हैं। प्रत्येक जीव की पृथक् पृथक् सत्ता व्यष्टि जीव है, एवं समस्त जीव की समवेत सत्ता समष्टि जीव है। परमात्म सन्दर्भ में लिखित है—"अत्र रश्मिस्थानीय परमाणु स्थानीयो व्यष्टिः। तत्र सर्वाभिमानी कश्चित् समष्टिरिति ज्ञेयम् ॥" व्यष्टि जीव, रश्मि परमाणु स्थानीय है, एवं सर्वाभिमानी कोई समष्टि जीव है, प्रत्येक व्यक्ति व्यष्टि जीव है, एवं ब्रह्मा समष्टि जीव है। जीव जो शक्ति रूप में ही अंश है, उस का कथन इस प्रकार है "जीव शक्ति विशिष्टस्यैव तव जीवोऽंशो नतु शुद्धस्येति गमयित्वा जीवस्य तच्छक्ति रूपत्वेनैवांशत्वमित्यनेनैवांशत्वमित्येतद् व्यञ्जयन्ति ॥"

श्रीमद् भागवत के श्रुति स्तुति में उक्त है—

जीव शक्ति विशिष्ट तुम्हारा अंश जीव है, तुम्हारा शुद्ध स्वरूप का नहीं है। जीव-शक्ति स्वरूप होने के कारण ही अंश है, अतः जीव को भगवान् के अंश कहते हैं, समष्टि जीव स्वरूप जो ब्रह्मा है, उन से चतुर्दश भुवन एवं भुवन समूहस्थ जीव समूह की सृष्टि होती है। अनन्त ब्रह्माण्ड का आश्रय महाविष्णु—निखिल जीव शक्ति का आधार है। यह महाविष्णु जीवाख्य समष्टि शक्ति विशिष्ट परमतत्त्व है।

ईश्वर के शक्ति विशेष ही जीव है, जलकण समूह की समष्टि जिस प्रकार जल पद वाच्य है, उस प्रकार अनन्त जीव समष्टि भी जीव नामक शक्ति हैं। जल राशि का अंश जिस प्रकार जल कण है, प्रत्येक जीव भी उस प्रकार जीव नामक समष्टि शक्ति का अंश है। शक्तिमान् को आश्रय करके ही शक्ति की अभिव्यक्ति होती है।

"केशाग्रशतभागस्य शतांश सदृशात्मकः।
जीवः सूक्ष्म स्वरूपोऽयं संख्यातीतो हि चित्कणः॥"

व्यापकत्वात्तदेकदेशत्वमेव जीवे स्यात् । निराकारतया तदेकदेशत्वं न विरुद्धम्, तथापि वहिश्चरत्वं तदाश्रयित्वात् । तज्ज्ञानाभावाच्छायया रश्मिवन्माययाभिभाव्यत्वाच्च

---

प्रमाण से जोवाख्य शक्ति अनन्तधा विभक्त होने पर भी "एकोबहूनां यो विदधाति कामान्" श्रुति के अनुसार ईश्वर एक स्वरूप में ही सब का नियामक हैं। शक्ति के प्रत्येक अंश में प्रत्येक जीव में पृथक् पृथक् रूप से उनका नियामकत्वविद्यमान् होने के कारण प्रति जीव को उनका अंश कहा गया है।

ईश्वर केवल चित् स्वरूप हैं, चित् शब्द का अर्थ ज्ञान है। अतएव ईश्वर के समुदय स्वरूप ज्ञानमय हैं, अज्ञान वा जड़ माया का सम्पर्क लेश किसी अंश में नहीं है। तेजोमय सूर्य्य के रश्मि परमाणु जिस प्रकार एक अंश है, वह भी अणुपरिमित तेज है, चिन्मय भगवान् का एक अंश जो जीव है, वह भी अणु परिमित चित् है। सूर्य्य का रश्मि परमाणु जिस प्रकार बाहर प्रकाशित होता है, जीव भी उस प्रकार ईश्वर को आश्रय करके ईश्वर की अभिव्यक्ति के वाहर ( सत्ता के वाहर नहीं ) प्रकाशित होता है। जीव, स्वयं निज सामर्थ्य से ईश्वर स्वरूप में वा स्वरूप शक्तिमें प्रविष्ट नहीं हो सकता है। जहाँ ईश्वर का स्वरूप की अथवा स्वरूप शक्ति कार्य्य की अनभिव्यक्ति है, जीव कर्म परवश होकर वहाँ पर विचरण करता है। तज्जन्य जीव को वहिश्चर चित् परमाणु कहा गया है। किन्तु जीव, ईश्वर के अनुग्रह से तदीय स्वरूप की लीलाभूमि एवं स्वरूप शक्ति की अभिव्यक्ति का स्थान—वैकुण्ठादि धाम को प्राप्त कर सकता है।

अनन्तर चित् कण जीवस्वरूप की स्थिति का निरूपण करते हैं। परम तत्त्व विभु एवं सर्वव्यापी हैं, जीव अणु है, एवं तत् परिमित स्थान भागी है। परम तत्त्व अनन्त हैं जीव—अति क्षुद्र सीमाबद्ध है। तज्जन्य ईश्वर जीव का आश्रय (आधार) होने पर भी जहाँ तक ईश्वर की सत्ता है, वहाँ तक व्याप्त होकर नहीं रह सकता है। निज परिमाण के अनुरूप स्थान में ही रहता है। तज्जन्य जीव में एकदेशत्व है, अर्थात् जीव, ईश्वर का एकदेश भागी है।

वहिश्चर जीव कैसे परतत्त्व का अंश हो सकता है ? कारण, भीतर की वस्तु ही अंशभूत हो सकती है। उत्तर में कहते हैं—परम तत्त्व का व्यापकत्व हेतु उनका एकदेशत्व विरुद्ध नहीं है। यह एक देश—स्वरूप एवं स्वरूप शक्ति अभिव्यक्ति स्थान का वहिर्भाग है, यह वहिः प्रदेश भी ईश्वरीय सत्ता शून्य नहीं है, कारण, ईश्वर —सर्वव्यापी हैं। ऐसा होने पर भी मायातीत चिन्मय धाम में ईश्वर प्रकारमान हैं, माया का अधिकार में प्रकाशित नहीं होते हैं। परमतत्त्वाभिव्यक्ति के वहिर्भाग में जीव विचरण करता है, अतः उस को वहिश्चर कहा गया है, अन्तश्चर वह नहीं है। अर्थात् स्वरूप शक्ति के अभिव्यक्ति स्थान-- वैकुण्ठादि में स्वतः विचरण करने में वह असमर्थ है।

जीव, परमतत्त्व का अंश विशेष होकर भी तदीय वहिश्चर क्यों है ? उत्तर, सूर्य्य रश्मि परमाणु, जिस प्रकार छाया द्वारा अभिभूत होकर प्रकाश रहित होता है, जीव भी उस प्रकार माया द्वारा अभिभूत ज्ञान रहित होकर ज्ञानघन परमतत्त्व का वहिश्चर हो गया है, अर्थात् निजाश्रयभूत परम तत्त्व को अनुभव करने में अक्षम है।

जीव को परम तत्त्व का रश्मिस्थानीय कहने का तात्पर्य्य यह है कि—सूर्य्य प्रकाशित होने से सूर्य्य रश्मि प्रकाशित होती है, सूर्य्य अस्तमित होने से सूर्य्य रश्मि भी अस्तमित होती है, सूर्य्य सत्ता से रश्मि की सत्ता है, सूर्य्याभाव से रश्मि का अभाव है, उस प्रकार ईश्वर, माया शक्ति के द्वारा सृष्ट्यादि लीलानुरत होने के कारण ही जीव का प्रकाश होता है। ईश्वर, सृष्ट्यादि लीला रहित होकर अवस्थान करने से जीव का प्रकाश नहीं होता है। इस से प्रतीत होता है कि—जीव, परम तत्त्व को आश्रय करके

वहिश्चरत्वं व्यपदिश्यते । रश्मिस्थानीयत्वञ्च तद्व्यतिरेकाद्व्यतिरेकितया यस्तदाश्रयिभावः, या च पूर्व्वमुक्तया वहिश्चरत्वेऽप्येकवस्तुत्वश्रुतिस्तदादिभिर्गम्यते । शक्तित्वञ्च

---

ही विद्यमान है, यही जीव का रश्मि स्थानीयत्व है ।

'तद् व्यतिरेकितया' मूलस्थ व्यतिरेक शब्द का अर्थ यहाँपर अभाव नहीं है, कारण, यहाँ अभाव अर्थ असम्भव है । अतः व्यतिरेक पद का अर्थ यहाँ रहित अर्थ है, अर्थात् सृष्ट्यादि लीला रहित होकर अवस्थान करने से जीव का प्रकाश नहीं होता है । सृष्ट्यादि शब्द से ब्रह्माण्ड समूह के सृष्टि स्थिति लय रूप कार्य्य को जानना होगा । श्रीभगवान् जब सृष्ट्यादि लीला रहित होकर अवस्थान करते हैं, उस समय वैकुण्ठादि धाम निज परिकर वृन्द के सहित विविध लीला निरत रहते हैं ।

पूर्व युक्ति के द्वारा जीव शक्ति वहिश्चर होने पर भी एक वस्तु है, इस प्रकार कथन का तात्पर्य्य यह है । ऐक वस्तुत्व पद से जीवेश्वर का एक वस्तुत्व कहना यहाँ अभिप्रेत नहीं है, कारण, जीवेश्वर का भिन्नत्व ही इस सम्प्रदाय का एक प्रमेय है । तज्जन्य परमेश्वर का एक वस्तुत्व तथा अद्वयरूपत्व है ।

"वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज् ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते ॥"

श्रीमद्भागवत प्रमाण वचनों के द्वारा एवं 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" श्रुति के द्वारा स्थापित हुआ है, जीव, वहिश्चर परमाणु रूप है, यह स्वीकृत होनेपर परतत्त्व की सत्ता व्यतीत अन्य वस्तु की सत्ता भी स्वीकृत होती है, उस से एक वस्तुत्व बाद असम्भव होता है ? उत्तर में कहते हैं – एक परतत्त्व ही सर्वमूल तत्त्व है, उस से निखिल शक्ति एवं शक्ति कार्य्य का प्रकाश होता है । एक परतत्त्व की सत्ता को छोड़कर अपर किसी की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, यह शास्त्र प्रसिद्ध है । जीव, भिन्न तत्त्व होने पर भी परतत्त्व की शक्ति विशेष है एवं स्वरूपतः चिद्वस्तु है, तज्जन्य ही वह परमतत्त्व से अभिन्न है । परतत्त्व में विविध शक्ति का समावेश हेतु परतत्त्व से भिन्न होने पर भी जीव एवं परमेश्वर के स्वरूपातिरिक्त होने से भी स्वतन्त्र नहीं है । परमात्म सन्दर्भ में इस विषय का विचार इस प्रकार है ॥

तदेवं शक्तित्वे सिद्धे शक्तिशक्तिमतोः परस्परानुप्रवेशात् शक्तिमद्व्यतिरेके सति शक्ति व्यतिरेकात् चित्त्वाविशेषाच्च क्वचिदभेद निर्देशः, एकस्मिन्नपि वस्तुनि शक्ति वैविध्य दर्शनात् भेदनिर्देशश्च नासमञ्जसः ।"

इस प्रकार से जीव का शक्तित्व निश्चित होने पर शक्ति एवं शक्ति मान् का परस्परानुप्रवेश हेतु शक्तिमान् के व्यतिरेक से व्यतिरेक से शक्ति व्यतिरेक हेतु एवं चेतनत्व के सम्बन्ध में अविशेष होने के कारण स्थल विशेष में जीवेश्वर का निर्देश अभेद रूप में हुआ है । एक ही वस्तु में विविध शक्ति का समावेश निबन्धन भेद निर्देश भी असङ्गत नहीं है ।

अनन्तर जीव का शक्तित्व का निर्देश करते हैं, अनन्त शक्ति मण्डित श्रीभगवान् में प्रधानतः शक्ति त्रय हैं । अन्तरङ्गा चिच्छक्ति, तटस्था जीवशक्ति वहिरङ्गा मायाशक्ति, चिच्छक्ति द्वारा वैकुण्ठादि धामगत लीलाविस्तार करते हैं, एवं मायाशक्ति–जीव शक्ति द्वारा जगत् की सृष्टि स्थिति, लय, लीला का सम्पादन करते हैं । अतएव सृष्ट्यादि कार्य्य में जीव मुख्योपकरण है । इस रीति से जीव—लीला का उपकरण विशेष होने के कारण, इस को शक्ति शब्द से कहते हैं ।

श्वेताश्वतर उपनिषद्—"बालाग्रशत भागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागोजीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्प्यते ॥"

तद्रूपस्यैव, तदीय-लीलोपकरणत्वात्, अणुत्वञ्च शब्दात्, हरिचन्दनविन्दुवत्तस्य प्रभाव-लक्षणगुणेनैव सर्व्वदेहव्याप्तेः । सर्व्वं चैतत् परमस्याचिन्त्य, शक्तिमयत्वादविरुद्धमिति पूर्व्वं दृढ़ीकृतमस्ति, (भा० २।१।२७) "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इति-न्यायेन, (वि० पु० १।२२।५४)

---

केशाग्र के शत भागका एक भाग को शत भाग करने पर जितना वह सूक्ष्म होता है, जीव को उतना ही सूक्ष्म जानना होगा । जीव अणु चैतन्य स्वरूप हैं, श्रुति प्रमाण से यह प्रतिपन्न होता है, यह परम सूक्ष्म जीव, शरीर के एकदेश में अवस्थित होने पर भी उस में जो इच्छा-क्रिया-अनुभवात्मक प्रभाव है, उस से वह समस्त देह का अनुभव करता है । हरि चन्दन बिन्दु जिस प्रकार शरीर के एक स्थान में स्थित होकर समस्त देह को शैत्य एवं आह्लादक मण्डित करता है, उस प्रकार जीव भी शरीर के एकदेश में अवस्थित होकर समस्त देह की उपलब्धि करता है । वेदान्तसूत्र २।३।२३ में इसका विवरण है—"अविरोधश्चन्दनवत्"

"अपरिमिताध्रुवास्तुभृतोयदि सर्वगता ।
तर्हि न शास्यतेति नियमोध्रुव नेतरथा ।।" भा० भाष्यम्

यदि जीव व्यापक होता है तो—ईश्वर के साथ नियम्य नियामक भाव भी नहीं होगा, अतः जीव अणु है, व्याप्य है, एवं देह व्यापी भी नहीं है, देह के एकदेश में स्थित होकर समस्त देह को परिचालन करता है । मध्व भाष्य धृत ब्रह्माण्ड पुराण वचन यह है—

"अणुमात्रोऽप्ययं जीवः स्व देहं व्याप्य तिष्ठति
यथा व्याप्य शरीराणि हरि चन्दन विप्रुषः ।।"

यह जीव अणु मात्र होने पर भी निज देह में व्याप्त होकर रहता है, हरि चन्दन बिन्दु जिस प्रकार एक स्थान में रहकर समस्त देह को हर्ष प्रदान करता यह भी तद्रूप है ।

परम तत्त्व अचिन्त्य शक्तिमय होने के कारण यह सब विरुद्ध नहीं हैं, पूर्व ग्रन्थ में वक्ष्यमाण प्रमाण द्वय के द्वारा उस का प्रतिपादन हुआ है । श्रीभगवत् सन्दर्भ में उक्त है—

अचिन्त्यं—तर्कासहम् । यद्वा भिन्नाभिन्नत्वादि विकल्पैश्चिन्तयितुमशक्याः । दुर्घटघटकत्वं ह्यचिन्त्यत्वमिति "

ब्रह्म सूत्र २।१।२७ "श्रुतेस्तु शब्द मूलत्वात्' सूत्रस्य भागवतभाष्यम्—

'शब्द ब्रह्मात्मनस्तस्य व्यक्ता व्यक्तात्मनः परः ।
ब्रह्मावभाति विततो नाना शक्त्युपबृंहितः " भा० ३।१२।४७
'नारायण परा वेदाः' भा० २।५।१५
"स वाच्यवाचक तया भगवान् ब्रह्मरूपधृक् ।
नामरूप क्रिया धत्ते सकर्माकर्मकः परः । भा० २।१०।३६
शब्द ब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वतीतनू ।।भा० ६।१६।५१

ईश्वर का कर्त्तृत्व में युक्ति विरोध नहीं है, लोक में जो युक्ति विरुद्ध प्रतीत होता है, वह ईश्वर में अविरुद्ध रूप में विद्यमान है । जो परमात्मा हैं, वह विरुद्ध होकर भी अविरुद्ध हैं, अनुरागवान् होकर भी अनुराग हीन हैं, इन्द्र होकर भी अनिन्द्र हैं, प्रवृत्त होकर भी अप्रवृत्त हैं, वह प्रकृत्यतीत हैं । यह पैङ्गादि श्रुति संवाद हेतु ईश्वर में विरुद्ध शक्ति का समन्वय युक्ति विरुद्ध नहीं है । अर्थात् ईश्वर में परस्पर विरुद्ध धर्म का समावेश कैसे होता है, इस प्रकार प्रश्न हो ही नहीं सकता है, कारण, श्रुति- स्वतः प्रामाण्य मण्डित है, वहाँ भ्रम, प्रमाद, विप्र लिप्सा, करणापाटव दोष नहीं है, वह सत्य है । परमात्म सन्दर्भ के

"एकदेशस्थितस्याग्नेः" इत्यादिना च। तत्र जीवेश्वरयो-रत्यन्ताभेदे युगपदविद्याविद्याश्रयत्वाद्यनुपपत्तिश्च पूर्व्वं विवृता। (छा० ६।८।७ "तत्त्वमसि" इत्यादौ लक्षणा त्वत्यन्ताभेदे तदंशत्वे च समानैव। परमतत्त्वस्य निरंशत्व-श्रुतिस्तु द्विधा प्रवर्त्तते। तत्र केवलविशेष्य-लक्षणनिर्देशपराया मुख्यैव प्रवृत्तिः, आनन्दमात्रत्वात्तस्य। आनन्दैकरूपस्य तस्य स्वरूपशक्ति विशिष्टस्य निर्देश-परायास्तु प्राकृतांशलेशराहित्यमात्रे तात्पर्य्याद्गौणी प्रवृत्तिः। सर्व्वशक्ति-

---

उक्त सूत्र प्रमाण में उक्त है—

"तस्मान्निर्विकारादि स्वभावेन सतोऽपि परमात्मनोऽचिन्त्यशक्त्या विश्वाकारत्वादिना परिणामादिकं भवति, चिन्तामण्ययस्कान्तादीनां सर्वार्थ प्रसव लौह चालनवत्। तदेतदङ्गीकृतं श्रीबादरायनेन श्रुतेस्तु शब्द मूलत्वादिति॥

परमात्मा निर्विकारादि स्वभाव में विराजित होने पर भी तदीय अचिन्त्य शक्ति निबन्धन जगदादि रूप में परिणाम प्रभृति होते रहते हैं, तादृश अचिन्त्य शक्ति का दृष्टान्त अन्यत्र भी दृष्ट होता है। चिन्तामणि सर्वार्थ प्रसव करती है। चिन्तामणि के निकट अभीप्सित वस्तु मिल जाती है। अयस्कान्त–चुम्बक लौह को आकर्षण करता है। चिन्तामणि एवं चुम्मक में जिस प्रकार अचिन्त्य शक्ति दृष्ट होती है, तद्रूप परमेश्वर में भी अचिन्त्य शक्ति है। श्रीवेदव्यास श्रुतेस्तु शब्द मूलत्वात्" सूत्र में उस को स्वीकार किये हैं। विष्णु पुराण के १।२८।५४ में उक्त है—

"एकदेशस्थितस्याग्ने ज्योत्स्नाविस्तारिणी यथा।
परस्य ब्रह्मणः शक्ति स्तथेदमखिलं जगत्॥"

एक देशस्थित अग्नि की ज्योत्स्ना जिस प्रकार बहु स्थान में प्रकाशित होती है, उस प्रकार यह जगत् परब्रह्म की शक्ति है।

"अत्रेय प्रक्रिया—एकमेव तत् परमतत्त्वं स्वाभाविकाचिन्त्यशक्त्या सर्वदैव स्वरूप तद्रूप वैभव–जीव--प्रधान रूपेण चतुर्द्धावतिष्ठते। सूर्य्यमण्डलस्य तेजइव, मण्डल तद्वहिगत रश्मि तत् परमाणु तत् प्रतिच्छविरूपेण। एवमेव श्रीविष्णु पुराणे- एकदेश स्थितस्याग्नेः, इत्यादि।

श्रीभगवान् की शक्ति समूह की स्वाभाविकी स्थिति एवं शक्ति--शक्तिमान का अभेद प्रतिपादन हेतु कहते हैं इस विषय में प्रक्रिया इस प्रकार है—एक ही परमतत्त्व स्वाभाविक अचिन्त्यशक्ति द्वारा सर्वदा स्वरूप ( ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्। स्वरूप वैभव—(धाम, परिकर, लीला। जीव एवं प्रधान, इन चार रूपों में अवस्थान करते हैं। सूर्य्य मण्डलस्थित तेजः जिस प्रकार मण्डल, मण्डल बहिर्गत रश्मि, रश्मि परमाणु एवं प्रतिच्छविरूप में अवस्थित है, यह भी तद्रूप है। श्रीविष्णु पुराणस्थ 'एकदेशस्थित' श्लोक में उक्त वृत्तान्त कथित है।

जीवशक्ति एवं मायाशक्ति—उभय शक्ति सम्मिलन द्वारा यह जगत् रचित है। जिस प्रकार गृह के एक देश में अग्नि प्रज्ज्वलित होने पर समस्त गृह में आलोक विस्तृत होता है, उस प्रकार परमेश्वर निज स्वरूप शक्ति रूप मायातीत चिन्मय धाम में विहार करने पर भी तद् बहिर्भाग में अर्थात् एकपाद विभूति में जीवशक्ति एवं माया की अनन्त विस्तृति है। उस में अनन्त ब्रह्माण्ड अवस्थित हैं। जिस प्रकार ज्योत्स्ना अग्नि से भिन्न नहीं है, किन्तु ज्योत्स्ना अग्नि नहीं है, तद्रूप जीव एवं मायिक जगत् ईश्वर से भिन्न नहीं है, एवं वस्तुद्वय भी ईश्वर नहीं हैं। यहाँ ईश्वर अग्नि स्थानीय एवं जगत् ज्योत्स्ना स्थानीय

विशिष्टस्य तस्य तु सर्व्वांशित्वं गीतमेव । तदेवं तस्य रश्मिपरमाणुस्थानीयांशत्वे सिद्धे तद्वत् सर्व्वस्यामपि दशायां कर्त्तृत्व-भोक्तृत्वादि-स्वरूपधर्म्मा अपि सिध्यन्ति । तद्वदेव च परमेश्वरशक्त्यनुग्रहेणैव ते कार्य्यक्षमा भवन्ति । तत्र तेषां प्रकृतिविकारमयकर्त्तृत्वादिकं-तदीयं मायाशक्तिमयानुग्रहेण । अतएव तत्सम्बन्धात्तेषां संसारः । स्वानुभव-ब्रह्मानुभव-भगवदनुभव-

---

रूप में निर्दिष्ट है। इस प्रसङ्ग में श्रीजीव गोस्वामी कर्त्तृक अचिन्त्यभेदाभेद वाद स्थापित हुआ है।

जीवेश्वर के स्वरूप विचारोपलक्ष्य में कथित हुआ है कि तदुभय का अत्यन्ताभेद स्वीकृत होने पर एक ही समय में अविद्या एवं विद्या के आश्रयत्व प्रभृति प्रतिपन्न होना सम्भव नहीं है।

कारण, जीव अविद्यावश है, ईश्वर—ज्ञानमय हैं, एतदुभय के मध्य में यदि भेद विद्यमान न हो तो अर्थात् उभय यदि एक ही वस्तु हों तो, एक ही समय में परस्पर अत्यन्त विरुद्ध अज्ञान एवं ज्ञान--उभय को अवलम्बन नहीं कर सकते हैं। एक ही वस्तु में समय भेद से धर्म भेद होना सम्भव है। किन्तु एक समय में वह असम्भव है, जीव एवं ईश्वर में एक ही समय में धर्म भेद दृष्ट होता है। जिस समय में जीव अविद्या ग्रस्त है, उस समय में ईश्वर, विद्या परिसेवित हैं, इस से प्रतीत होता है कि—जीव एवं ईश्वर में भेद विद्यमान है, यह अति प्रसिद्ध सत्य भी है, अत्यन्ताभेद को स्वीकार करने पर--इस प्रकार सत्य का अपलाप होता है। भगवत् सन्दर्भ में इस विषय का विस्तृत विवेचन है।

ईश्वर की तटस्था शक्ति-एवं उनका अंश जीव है, इस प्रकार अचिन्त्य भेदाभेद स्थापित होने पर-- 'तत्त्वमसि' वाक्य का समाधान होना आवश्यक है, उस में जीवेश्वर का अत्यन्ताभेद उपदिष्ट हुआ है। छान्दोग्य ६।८।७ में "तत्त्वमसि" उक्त है, इस से जीवेश्वर का अत्यन्ताभेद स्वीकार करने पर जिस प्रकार लक्षणा वृत्ति के द्वारा अर्थ बोध होता है, जीव को ईश्वर का अंश मानने पर भी लक्षणा द्वारा उस का अर्थ बोध होता है। यहाँ ज्ञातव्य वह है—

(१) तत्त्वमसि वाक्य का अर्थ, (२) लक्षणा वृत्ति, (३) लक्षणा वृत्ति द्वारा प्रतिपन्न तत्त्वमसि वाक्य का अर्थ, (४) अत्यन्ताभेद में भी अंशत्व में लक्षणा की समान अवस्था कैसे हो सकती है?

(१) तत्त्वमसि—त्वं तत् असि, तुम वही हो, तत् परोक्ष चैतन्य, त्वं अपरोक्ष चैतन्य, परोक्ष चैतन्य ब्रह्म, अपरोक्ष चैतन्य जीव है। अद्वैत वादो की व्याख्या—

"एकमेवाद्वितीयं सत् नाम रूप विवर्जितम्।
सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्य्यते ॥

सृष्टि के पूर्व में नामरूप विवर्ज्जित एकमात्र अद्वितीय सत् स्वरूप परम ब्रह्म थे। सृष्टि के अनन्तर सम्प्रति उस रूप में आदि अवस्थित हैं, वह तत् पद वाच्य हैं।

"श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वं पदेरितम्।
एकता गृह्यते असीति तदैक्यमनुभूयताम् ॥"

श्रवणादि द्वारा वाक्यार्थ बोध, जो जीव कर रहा है, उस की देहेन्द्रिय व्यतीत अपर वस्तु जीवात्मा 'त्वं' पद वाच्य है। 'असि' पद, तत् पद एवं 'त्वं' पद की एकता को प्रति पादन करता है।

तत्त्ववादी श्रीमन्मध्वाचार्य्य के मत में 'तत्त्वमसि' का अर्थ—तस्य त्वं असि है। इस से जीवेश्वर का प्रीतिमय सम्बन्ध सूचित हुआ है।

(२) लक्षणा—मुख्यार्थ बाधे शक्यस्य याऽन्यधी र्भवेत्। (अलङ्कार कौस्तुभ)

कर्त्तृत्वादिकन्तु तदीयस्वरूपशक्त्यनुग्रहेण । (वृ० २।४।१३) "यत्र तस्य सर्व्वमात्मैवाभूत्, तत् केन कं पश्येत्" इति श्रुतिश्च । तत्स्वरूपशक्तिं विना तद्दर्शनासामर्थ्यं द्योतयति, (कठ० १।२।२३) "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" इत्यादि श्रुतेः । अतएव स्वरूपशक्तिसम्बन्धान्

---

मुख्यार्थ की बाधा होने पर शक्य (वाच्य) सम्बन्ध विशिष्ट अन्य पदार्थ विषयिणी जो प्रतीति होती है—उस को लक्षणा कहते हैं । 'यमुनायां घोषः प्रति वसति' लक्षणा वृत्ति द्वारा इस वाक्य का अर्थ बोध होता है । यमुना प्रवाह में वास असम्भव निबन्धन, यमुनातीर में वास ही उक्त वाक्य का तात्पर्य्य है ।

(३) शब्द श्रवण मात्र से जो अर्थ प्रतीत होता है, वही मुख्यार्थ है । 'तत्' पद से किसी परोक्षवस्तु का बोध न होकर परोक्ष चैतन्य का बोध होने से वह मुख्यार्थ है । लक्षणा वृत्ति से अर्थ निष्पन्न हुआ— "प्रत्यक्ष चैतन्य जीव, तुम परोक्ष चैतन्य हो"।

(४) 'तत्त्वमसि' वाक्य का जीवेश्वराभेदार्थक मत में परस्पर विरुद्ध परोक्षत्व--अपरोक्षत्व का त्याग करके भाग लक्षणा द्वारा एक ही चैतन्य में तत्त्वमसि वाक्य का तात्पर्य्य ।

प्रत्यक्ष चैतन्य जीव को परोक्ष चैतन्य परम तत्त्व का अंश स्वीकार करने पर भी एक चैतन्य तात्पर्य्य ही पर्य्यवसित होता है । कारण विभु चैतन्य ईश्वर एवं अणु चैतन्य जीवमें चिद् वस्तु गत ऐक्य ही स्वीकृत है ।

ऐसा होने पर स्वरूपगत, शक्तिगत, एवं शक्ति कार्य्य गत भेद का असद् भाव कभी भी नहीं हो सकता है, परमतत्त्व स्वरूप में अनन्त है, उनकी अनन्त शक्ति हैं, एवं शक्ति कार्य्य भी अनन्त हैं । जीव स्वरूप में अणु है, उस की शक्ति, अति स्वल्प है, कार्य्य भी यत् किञ्चित् है । जीवेश्वर का चिद् वस्तुगत अभेद होने पर भी स्वरूप, शक्ति, एवं शक्ति कार्य्य गत भेद का अवसान कभी भी नहीं हो सकता है । वह भेद नित्य है ।

द्वितीय विरोध यह है कि—श्रुति परमतत्त्व को निरंश कहती है, सुतरां जीव, उनका अंश कैसे हो सकता है ? उत्तर में कहते हैं—'परम तत्त्वस्य निरंशत्व श्रुतिस्तु द्विधा प्रवर्त्तते ।' परम तत्त्व का निरंशत्व श्रुति दो प्रकार से प्रवर्त्तित होता है । (१) परमतत्त्व–केवल आनन्दमय होने के कारण, केवल विशेष्य लक्षण निर्देशद्वारा श्रुति की मुख्या प्रवृत्ति है । (२) स्वरूप शक्ति विशिष्ट एक मात्र आनन्द मूर्त्ति को श्रुति जो निरंश कहती है, उस में प्राकृतांश लेश राहित्य है । यही श्रुति का तात्पर्य्य होने से उस श्रुति की गौणी प्रवृत्ति होती है । अर्थात् जो श्रुति परम तत्त्व को निरंश कहती है—उस श्रुति के दो प्रकार अभिप्राय हैं । (१) परम तत्त्व केवल आनन्द वस्तु है, इस को सूचित करने के निमित्त किसी श्रुति उनको निरंश कहती है, (२) परम तत्त्व वस्तु आनन्दमय होने पर भी वह सत्तामात्र में पर्य्य वसित नहीं है, आनन्द मूर्त्ति हैं, एवं स्वरूपानन्द आस्वादन में भी निपुण हैं, ऐसा होने पर प्राकृतांशलेश भी उन में नहीं है, उस को सूचित करने के निमित्त किसी श्रुति उन को निरंश कहती है । वस्तुतः परम तत्त्व का कोई अंश नहीं है, इस अर्थ से उनको निरंश नहीं कहा गया है । प्रथम श्रुति—उनका अंश नहीं है--इस प्रकार कह कर अभिधा वृत्ति के द्वारा उनका अंश को निषेध कहती है, एवं द्वितीया श्रुति—स्वरूप भूत धाम परिकर लीला प्रभृति को स्वीकार करके उनके प्राकृत देहेन्द्रिय प्रभृति को निषेध करती है, यह गौणी वृत्ति है । अर्थात् व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा अंश को निषेध करती है ।

सर्वशक्ति विशिष्टपरतत्त्व का सर्वांशित्व का कीर्त्तन श्रुति ही करती है । श्वेताश्वतरोपनिषद् ५।१४ में उक्त है -- भाव ग्राह्यमनीड़ाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।

मायान्तर्द्धाने तेषां संसारनाशः। येषान्तु मते मुक्तावानन्दानुभवो नास्ति, तेषां पुमर्थता न सम्पद्यते,—सतोऽपि वस्तुनः स्फुरणाभावे निरर्थकत्वात् । न च 'सुखमहं स्याम्' इति कस्यचिदिच्छा, किन्तु 'सुखमहमनुभवामि' इत्येव । ततश्च प्रवृत्त्यभावात्तादृशपुरुषार्थसाधन-प्रेरणापि शास्त्रे व्यर्थैव स्यात् । तन्मते केवलानन्दरूपस्याज्ञानदुःखसम्बन्धासम्भवात्

---

कलासर्गं करं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥

उक्त प्रमाणों से जीव का, परमतत्त्व का रश्मिस्थानीय अंशत्व निश्चित होने पर, संसार दशा में, जीवन्मुक्तावस्था में एवं मुक्तावस्थादि निखिल अवस्था में जीव में कर्त्तृत्व भोक्तृत्व प्रभृति स्वरूप धर्म समूह भी सिद्ध होते हैं। अर्थात् जीव जिस प्रकार सूर्य्यस्थानीय परमेश्वर के रश्मिस्थानीय है, उस को कर्त्तृत्व भोक्तृत्व प्रभृति भी तदनुरूप हैं अर्थात् रश्मि परमाणु जिस प्रकार सूर्य्याश्रित है, उस प्रकार अति क्षुद्र जीव भी परमेश्वराश्रित है, एवं अति क्षुद्र है। परमेश्वर के शक्त्यनुग्रह से ही उक्त स्वरूप धर्म समूह जीव के परिमाणानुरूप ही कार्य्यक्षम होते हैं। अर्थात् जीव के कर्त्तृत्वादि परमेश्वर के आश्रय में प्रकाशित होते हैं, एवं वे सब अति सामान्य भी हैं।

जीव के स्वरूप धर्म समूह के कर्त्तृत्वादि में कार्य्य क्षम होना---परमेश्वर के अनुग्रह सापेक्ष है। अर्थात् जीव के प्रकृति विकार मय कर्त्तृत्वादि, प्रकृति विकार चक्षु कर्ण नासिका जिह्वा त्वक वाक् पाणि, पाद, वायु, उपस्थ, मनः, यह एकादशेन्द्रिय, पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्र, बुद्धि अहङ्कार यह त्रयोविंशति तत्त्व हैं, इन त्रयोविंशति तत्त्व सम्पर्कित कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व परमेश्वर के माया शक्तिमय अनुग्रह से निष्पन्न होते हैं। अतएव माया सम्बन्ध हेतु जीव का संसार बन्धन हुआ है। एवं निज स्वरूपानुभव, ब्रह्मानुभव, एवं भगवदनुभव के कर्त्तृत्वादि-परमेश्वर के स्वरूप शक्तिमय अनुग्रह से ही सम्भव होते हैं। वृहदारण्यक २।४।१४ में उक्त है—

"यत्रतस्य सर्वमात्मैवाभूत्, तत् केन कं पश्येत्"

जब सभी आत्मा ही हैं, तब किस के द्वारा कौन दृष्ट होते हैं ? सम्पूर्ण श्रुति यह है—

'यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत् केन कं जिघ्रेत्तत् केन कं पश्येत्तत् के न कं श्रृणुयात् केन कमभिवदेत्तत् केनकमन्वीत तत् केन कं विजानीयात्।" शाङ्कर भाष्य—यत्र तु ब्रह्म विद्यया अविद्या नाशमुपगमिता तत्रात्मव्यतिरेकेण न्यस्याभावो यत्र वै अस्य ब्रह्म विदःसर्वं नाम रूपाद्यात्मन्येव प्रविलापितः। आत्मैव संवृत्तं यत्रैवमात्मैवाभूत्तत्र केन करणेन कं द्रष्टव्यं कः पश्येत्तथा जिघ्रेद्विजानीयात् ॥

ब्रह्म विद्या द्वारा अविद्या प्रशमित होने पर ब्रह्मविद् व्यक्ति के पक्ष में आत्मा ही सब कुछ है, अर्थात् उस समय आत्मा व्यतीत अपर किसी की उपलब्धि नहीं होतो है, तब किस इन्द्रिय के द्वारा कौन किसको देखेगा ? जिस अवस्था में आत्मा—परमेश्वर भिन्न अपर किसी का अनुभव नहीं रहता है, जिस से अनुभव होता है, इस प्रकार निजेन्द्रिय एवं इन्द्रियग्राह्य वस्तु का अभाव होता है, उस समय सर्वमय परमेश्वर का अनुभव विद्यमान रहता है। अतः परमेश्वर के द्वारा ही परमेश्वर को अनुभव किया जाता है, यह व्यञ्जित हुआ। परमेश्वर के द्वारा परमेश्वर को अनुभव किया जाता है, इस प्रकार कहने का तात्पर्य्य यह है कि—स्वरूप शक्ति के अनुग्रह लब्ध इन्द्रिय द्वारा श्रीभगवान् को प्रत्यक्ष किया जाता है, स्वरूप शक्ति एवं स्वरूप शक्ति की अभिन्नता निबन्धन शक्ति कार्य्य को स्वरूप का कार्य्य कहा गया है। कठोपनिषद् १।२।२३ में उक्त है—

"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः"

यह श्रीभगवान् आत्म दर्शन हेतु जिस को वरण करते हैं, अर्थात् जिस के प्रति स्वयं प्रसन्न होते हैं,

तन्निवृत्तिरूपश्च पुरुषार्थो न घटते । विगीतं त्वीदृशपुरुषार्थत्वं प्राचीनवर्हिषं प्रति श्रीनारद-वाक्ये (भा० ४।२५।४) "दुःखहानिः सुखावाप्तिः श्रेयस्तन्नेह चेष्यते" इति । तस्मादस्त्येवानुभवः, तथा च श्रुतिः, (तै० २।७ १)–"रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" इति, (छा० ७।२५।२) "आत्मरतिः आत्मक्रीड़ः" इत्यादिश्च ।

यथा विष्णुधर्म्मे—

---

वही उनको प्राप्त करता है । उस के निमित्त ही स्वकाय तनु प्रकाश करते हैं । इस श्रुति से बोध होता है कि—श्रीभगवान् के स्वरूप शक्तिमय अनुग्रह के द्वारा उनका दर्शन लाभ होता है । अतएव स्वरूप शक्ति सम्बन्ध हेतु माया अन्तर्हित होने पर जीव का संसार दुःखावसान होता है ।

जिनके मत में मुक्ति में आनन्दानुभव नहीं है, उन के मत में मुक्ति पुरुषार्थ नहीं हो सकती है, कारण वस्तु विद्यमान होने पर भी स्फुरणाभाव से वह निरर्थक है ।

अर्थात् अद्वैत वादी के मत में आनन्द स्वरूप ही मुक्ति है। जहाँ अनुभव कर्त्ता एवं अनुभव योग्य सामग्री है, वहाँ अनुभव क्रिया सम्पन्न होता है । अद्वैत मत में ईदृश वस्तुद्वय अस्वीकृत हैं । अतएव इस मत में मुक्ति में आनन्दानुभव को कर्त्ता ही नहीं है ।

जीव समूह आनन्दाभिलाषी हैं, तज्जन्य, आनन्द ही पुरुषार्थ है । ग्रन्थोपक्रम में इसका कथन हुआ है । वह आनन्द विद्यमान होने पर भी यदि अनुभव में नहीं आता है, तो वह पुरुषार्थ पद वाच्य नहीं हो सकता । कारण, जो है, उसका अनुभव से वह सार्थक होता है, जिस का अनुभव नहीं होता है, उसका रहना न रहना समान है । यदि आनन्द का अनुभव ही नहीं होता है तो उसका रहने से प्रयोजन ही क्या है ? तज्जन्य कहा गया है – स्फुरणाभाव से वस्तु की विद्यमानता निरर्थक हो जाती है । कहा जा सकता कि—आनन्दानुभव का प्रयोजन ही क्या है ? आनन्द स्वरूप होने से ही पुरुषार्थ सिद्धि होती है, इस के उत्तर में कहते हैं – न च 'सुखमहं स्याम्' इति कस्यचिदिच्छा' किन्तु 'सुखमहमनुभवामि' इत्येव ।

मैं सुख बनूँ, इस प्रकार इच्छा किसी की नहीं है, किन्तु मैं सुखानुभव करूँ, इस प्रकार इच्छा सब की होती है, दोष यह है कि – प्रवृत्ति का अभाव हेतु जिस में पुरुषार्थ बुद्धि नहीं है, उस प्रकार पुरुषार्थ प्राप्ति हेतु साधनोपदेश प्रदान करना भी व्यर्थ है । अर्थात् शास्त्रारम्भ व्यर्थ ही होता है ।

जिस के मत में मुक्ति में आनन्दानुभव नहीं है । उस के मत में जीव स्वरूप—केवल आनन्द रूप है, वस्तुत इसमत में जीव है ही नहीं, न तो जीव स्वरूप का कुछ निर्वचन ही है । अतः आनन्द स्वरूप भ्रान्त ब्रह्मात्मक जीव का अज्ञान एवं तज्जन्य दुःख सम्बन्ध होना भी असम्भव है । अतएव उस जीव का अज्ञान—वा दुःख निवृत्ति रूप पुरुषार्थ भी नहीं हो सकता है ।

भा० ४।२५।४ में श्रीनारद ने प्राचीन वर्हि को कहा है कि उस प्रकार पुरुषार्थ निन्दनीय है—

"श्रेयस्त्वं कतमद्राजन कर्मणात्म ईहसे ।
दुःख हानि सुखावाप्तिः श्रेयस्तन्नेह चेष्यते ॥

टीका—श्रेयः फलम्, ईहसे इच्छसि । इह कर्म्मणि तदुभयं नेष्यते विचारकैः ।

देवर्षि ने कहा, "हे राजन् ! कर्म्म द्वारा निज श्रेयः अभिलाषी तुम हो दुःख निवृत्ति एवं सुख प्राप्ति यह दोनों श्रेयः को कर्म्म द्वारा प्राप्त करना असम्भव है ।

स्वर्गादि भोग रूप जो सुख लाभ कर्म द्वारा होता है, वह भी दुःख मिश्र एवं नश्वर हेतु तद् द्वारा

'भिन्ने दृतौ यथा वायुर्नैवान्यः सह वायुना । क्षीणपुण्याघबन्धस्तु तथात्मा ब्रह्मणा सह ॥१६॥
ततः समस्तकल्याण-समस्तसुखसम्पदाम् । आह्लादमन्यमकलङ्कमवाप्नोति शाश्वतम् ॥१७॥
ब्रह्मस्वरूपस्य तथा ह्यात्मनो नित्यदैव सः । व्युत्थानकाले राजेन्द्र आस्ते हि अतिरोहितः ॥१८॥
आदर्शस्य मलाभावाद्वैमल्यं काशते यथा । ज्ञानाग्निदग्धहेयस्य स ह्लादो ह्यात्मनस्तथा ॥१९॥
तथा हेयगुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः । प्रकाशन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते ॥२०॥
ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्य्यं धर्म्मश्च मनुजेश्वर । आत्मनो ब्रह्मभूतस्य नित्यमेव चतुष्टयम् ॥२१॥
एतदद्वैतमाख्यातमेष एव तवोदितः । अयं विष्णुरिदं ब्रह्म तथैतत् सत्यमुत्तमम् ॥''२२॥ इति ।

**अत्र जीवब्रह्मणोरंशांशित्वांशेनैव वायुदृष्टान्तः । अंशत्वेऽपि वहिरङ्गत्वं त्वन्यतो ज्ञेयम् ।**

---

परम सुख नित्य आनन्द लाभ नहीं होता है—। दुःख निवृत्ति पूर्बक परम सुख प्राप्ति ही पुरुषार्थ सुनिश्चित है। जीव का दुःख सम्बन्ध होने के कारण, दुःख निवृत्ति को पुरुषार्थ कहते हैं, भ्रान्त ब्रह्म जीव यदि आनन्द स्वरूप होता तो, उस को दुःख निवृत्तिका प्रयोजन नहीं होता। सुतरां मुक्ति में आनन्दानुभव है, इस विषय में किसी प्रकार संशय नहीं है। ( तै० २।४।१) श्रुति ही इस में प्रमाण है—"रसं ह्येवायं लब्धानन्दी भवति" यह जीव रस आनन्द को प्राप्त कर ही आनन्दी—सुखी होता है।

छान्दोग्य ७।२५।४ में उक्त है—' आत्मरतिः, आत्म क्रीड़ः "

जो प्राण स्वरूप परमात्मा को जान सकता है, वह परमात्मा में सर्वदा क्रीड़ा करता है, उस की प्रीति सर्वदा परमात्मा में ही होती है। विष्णु धर्म में भी कथित है—

"भिन्ने दृतौ यथा वायु नैवान्यः सह वायुना ।
क्षीण पुण्याघबन्धस्तु तथात्मा ब्रह्मणासह ॥१६॥
ततः समस्त कल्याण समस्तसुखसम्पदाम् ।
आह्लादमन्यमकलङ्कमवाप्नोति शाश्वतम् ॥१७॥
ब्रह्मस्वरूपस्य तथा ह्यात्मनो नित्यदैव सः ।
व्युत्थानकाले राजेन्द्रा आस्तेहि अतिरोहितः ॥१८॥
आदर्शस्य मलाभावाद् वैमल्यं काशते यथा ।
ज्ञानाग्नि दग्ध हेयस्य सह्लादो ह्यात्मन स्तथा ॥१९॥
तथा हेय गुणध्वंसादवबोधादयोगुणाः ।
प्रकाशन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हिते ॥२०॥
ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्य्यं धर्मश्च मनुजेश्वर ।
आत्मनो ब्रह्म भूतस्य नित्यमेव चतुष्टयम् ॥२१॥
एतद द्वैतमाख्यातमेष एव तवोदितः ।
अयं विष्णुरिदं ब्रह्म तथैतत् सत्यमुत्तमम् ॥२२॥

'दृति (भस्त्रा-धूँकनी) छिन्न होने पर जिस प्रकार वायु के सहित वायु मिलित होता है, उस प्रकार जिस आत्मा के पाप पुण्य विनष्ट हो गये हैं, वह ब्रह्म से मिलित होता है। अनन्तर समस्त कल्याण एवं समस्त सुख सम्पद के अतीत अकलङ्क, नित्य आह्लाद को प्राप्त करता है। ब्रह्म स्वरूप का यह आह्लाद नित्य है, अर्थात् ध्वंस-प्रागभाव रहित है। हे राजेन्द्र ! व्युत्थानकाल में अतिरोहित सुख रहता है। जिस प्रकार मालिन्य का अभाव होने पर दर्पण की विमलता प्रकाशित होती है, उस प्रकार ज्ञानाग्नि द्वारा हेय (अविद्या) दग्ध होने से आत्मा का वह सुख प्रकाशित होता है। उस प्रकार हेय गुण अर्थात् मायिक गुण

अतः पृथगीश्वरे स्वरूपभूतानुभवे च सति तद्वैमुख्येनानादिना लब्धच्छिद्रयेशमायया तदनुभव-लोपादेः सम्भवात् कथञ्चित्साम्मुख्येन तदनुग्रहान्निवृत्तिश्चास्ति, (तै० २।४।१) "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" इत्यादि श्रुतेः (वृ० ४।४।६) "न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति, अत्रैव समवलीयन्ते, ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" इत्यत्राप्यन्ये ब्रह्मभावस्तथान्यो ब्रह्मण्यप्यथ इति स्पष्टम् ।

ध्वस होने से अवबोध प्रभृति स्वरूपसिद्ध गुण समूह प्रकाशित होते हैं, 'यह सब गुण-उत्पन्न नहीं होते हैं, आत्मा में नित्य ही विद्यमान हैं । हे नराधिप ! ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य्य एवं धर्म--यह चार ब्रह्मभूत आत्मा के नित्य गुण हैं । यह अद्वैत कथित हुआ । इस को ही तुमने कहा था । यह अद्वैत विष्णु है, यह ब्रह्म है, यह सत्य है, यह उत्तम है ।

यहाँ जीव ब्रह्म का अंशांशित्व सम्बन्धांश में वायु का दृष्टान्त दिया गया है । जीव अंश स्वरूप होने पर भी अन्य से अर्थात् माया द्वारा आवृत स्वरूप होने के कारण, उस का वहिरङ्गत्व जानना होगा । अतएव जीव का अनादि ईश्वर वैमुख्य हेतु लब्ध छिद्र ईश्वरीय माया द्वारा ईश्वरानुभव एवं स्वरूप नुभव लोप होता है। पृथिवीश्वर एवं जीव स्वरूप अनुभूत होने पर कथञ्चित् साम्मुख्य द्वारा ईश्वर के अनुग्रह से मायानिवृत्ति होती है ।

अर्थात् भस्त्रास्थित वायु, जिस प्रकार वायु राशि का अंश है, उस प्रकार चिदेकरस श्रीभगवान् का अंश चिकण जीव है । जीवेश्वर का अंशांशित्व सम्बन्ध व्यक्त करने के निमित्त वायु दृष्टान्त उपस्थापित हुआ है । पृथक् पृथक् वायु का व्यवधान विदूरित होने से वायु जिस प्रकार एक हो जाता है, उस अंश में यह द्रष्टान्त नहीं है । ऐसा होना असम्भव है । कारण, जीवेश्वर का अणुत्व बिभुत्व रूप भेद नित्य है, एवं उभय ही निज निज स्वरूप में स्थित है ।

जीवेश्वर– उभय ही चित् स्वरूप होने पर भी उभय के व्यवधान रूपमें माया विद्यमान है, तज्जन्य जीव-ईश्वर का अन्तरङ्ग नहीं हो सकता है । कारण, वह स्वरूप शक्ति का कार्य्य क्षेत्र के बाहर रहता है ।

ईश्वर वैमुख्य ही जीवगत बहिरङ्गत्व का मूल है । यह अनादि है, कारण, क्यों, कहाँ, एवं कब रूप से इस का निर्वचन नहीं होता है । ईश वैमुख्य हेतु माया कर्त्तृक अभिभूत अर्थात् लुप्त ज्ञान जीव हुआ है । तज्जन्य जीव ईश्वर को नहीं जानता है, एवं स्वयं को भी नहीं जानता है, किन्तु जिस माया का कार्य्य ज्ञान लोप करना है, वह माया ईश्वराधीन है, एतज्जन्य ईश्वर नुग्रह से माया निवृत्ति होती है । यहाँ "पृथगीश्वरे" पृथगीश्वर कहने का तात्पर्य्य यह है कि—जीव से पृथक् ईश्वर हैं, आप के अनुग्रह से मायापसारण हो सकता है, यदि अपने से पृथक् ईश्वर नहीं है तो मायापसारण किस से होगा ? जीव, निज सामर्थ्य से मायापसारण करने में अक्षम है, वह तो मायाभिभुत है न, माया भी स्वयं अपसारित क्यों होगी ? साधन द्वारा माया निवृत्ति होगी, यह भी असम्भव है, कारण, अन्तरिन्द्रिय के द्वारा साधन सम्भव है, किन्तु तत् समुदय माया से उत्पन्न हैं, एवं मायाधीन हैं, मायावश्यता त्याग करने में वे असमर्थ हैं, तज्जन्य कहा है "स्वरूपानुभवे च सति" स्वरूपानुभव होने से "दासभूतोहरेरेव जीव नित्य हरिदास है, मैं हरिदास हूँ इस प्रकार बोध होने से निज प्रभु के अनुसन्धान में प्रवृत्ति होती है, यही "कथञ्चित साम्मुख्य हैं ।" इस से माया निवृत्ति होती है, जिस समय जीव निज प्रभु श्रीहरि को प्राप्त करने के निमित्त व्याकुल होता है, उस समय श्रीभगवान् तत् प्राप्ति का अन्तराय स्वरूप निज माया को अपसारित करते हैं। इस रीति से माया निवृत्ति हेतु स्वतन्त्र ईश्वर सत्ता एवं जीव स्वरूपानुभव की आवश्यकता होने के कारण –'पृथगीश्वरे स्वरूपानुभवे च सति' वाक्य योजना हुई है ।

ब्रह्मभावानन्तरं तदप्ययस्य पुनरभिधानादप्येतेः कर्म्मतया ब्रह्मनिर्द्देशाच्च । ततश्च ब्रह्मैव सन्निति तत्साम्य तत्तादात्म्यापत्त्यैवाभेद–निर्द्देशः । एवं (मु० ३।२।९) "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इत्यत्रापि व्याख्येयम् । क्वचिदेकत्व-शब्देनापि तथैवोच्यते । अत्र तत्साम्यं यथोक्तम्

---

तैत्तिरीयक में उक्त है ( २।४।१ ) 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचनेति"

जो ब्रह्म का आनन्दानुभव करता है, वह कभी भय प्राप्त नहीं होता है। परतत्त्व साम्मुख्य ही ब्रह्मानन्दानुभव है, उस से निखिल भय की हेतु भूता माया निवृत्ता होती है। तज्जन्य ब्रह्मविद् व्यक्ति कभी भीत नहीं होता है। अपर बृहदारण्यक ४।४।६ श्रुति यह है—

"न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते, ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ।।"

कर्म्मबद्ध जीवगण कर्म फल भोग करने के निमित्त पर लोक गमन करते हैं, भोग के पश्चात् कर्मानुसार इस लोक में आगमन करते हैं। प्राण अर्थात् इन्द्रिय वृन्द के सहित ही जीव का यह गमनागमन होता है। जिस का कर्म्मक्षय हुआ है, वह आत्मकाम है। आत्मा—आत्मैवानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एकरसो नोर्द्ध्वं नतिर्य्यग् नाधः" शङ्करभाष्य।

एकमात्र परतत्त्वानुभवाभिलाषी को आत्मकाम कहते हैं। उनके इन्द्रियवृन्द, देह से उत्क्रान्त नहीं होते हैं, अर्थात् ऊर्द्ध्व में गमन नहीं करते हैं। वे ब्रह्म होकर ब्रह्मलाभ करते हैं, अर्थात् आत्मकाम ब्रह्मविद् व्यक्तिगण जीवित अवस्था में ही ब्रह्मत्व लाभ करते हैं। यहाँ ब्रह्मभाव जिस प्रकार एक अवस्था विशेष है, उस प्रकार ब्रह्म प्राप्ति भी एक अवस्था विशेष है। "अन्यो ब्रह्मभाव स्तथान्यो ब्रह्मण्यप्यय इति स्पष्टम्" "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" यहाँ 'अपि शब्द का प्रयोग होने के कारण – 'तस्मादस्त्येवानुभवः' मुक्ति में आनन्दानुभव है। अर्थात् जिस प्रकार उक्त श्रुति से मुक्ति में आनन्दानुभव का बोध होता हैं, उस प्रकार 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" श्रुति भी मुक्ति में आनन्दानुभव का संवाद प्रदान करती है। ब्रह्मभाव लाभ ही मुक्ति है, उस के बाद जो ब्रह्म प्राप्ति की कथा कही गई है, वही ब्रह्मानन्दानुभव है। 'अप्येति' क्रिया का कर्म्मरूप में ब्रह्म ही निर्दिष्ट हुआ है। अर्थात् इस वाक्य में प्राप्य ब्रह्म कर्म कारक है, मुक्त जीव—कर्त्तृ कारक है,। प्राप्य एवं प्रापक रूप में ब्रह्म एवं जीवका भेद निर्द्दिष्ट हुआ है। ब्रह्म भाव एवं ब्रह्म प्राप्ति भिन्न वस्तु होने के कारण ही श्रुति में लिखित है—'ब्रह्मैव सन्' ब्रह्म होकर ही। यहाँ ब्रह्म सामान्य—ब्रह्म–तादात्म्य प्राप्ति की अपेक्षा से ही अभेद निर्देश हुआ है।

अर्थात् ब्रह्म सामान्य— ब्रह्म समानता है। जो ब्रह्म सामान्य है वही ब्रह्म तादात्म्य है। पापराहित्य, जराराहित्य, मृत्यु राहित्य, शोक राहित्य, क्षुधापिपासाराहित्य, सत्य सङ्कल्पत्व सत्यकामत्व यह आठ ब्रह्म के साधारण गुण हैं। " एष आत्मा अपहत पाप्मा विजरो विमृत्यु विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सङ्कल्प इति। छान्दोग्योपनिषत्।

मुक्त पुरुष, उक्त गुण सम्पन्न होते हैं,। अग्नि संयोग से जिस प्रकार लौह अग्नि धर्मको प्राप्त करता है, ब्रह्मानुभव के द्वारा मुक्त जीव भी उस प्रकार उक्त धर्म समूह को प्राप्त करता है। यही "तत् सामान्य तत्तादात्म्य प्राप्ति है" मुक्तावस्था में इस प्रकार तादात्म्य प्राप्त होने पर भी उपास्य परतत्त्व ब्रह्म, ईदृश ब्रह्म तादात्म्यापन्न जीव से स्वरूपतः भिन्न ही रहते हैं।

मुण्डक ३।२।९ स्थित "ब्रह्मवेद ब्रह्मैवभवति" इस का अर्थभी उक्त प्रकार ही करना होगा। अर्थात् ब्रह्मविद् व्यक्ति ब्रह्म तादात्म्य प्राप्ति के द्वारा ही ब्रह्म स्वरूप होते हैं। किन्तु एकत्व प्राप्त करके नहीं। यही उक्त श्रुति का तात्पर्य्य है। तादृश ब्रह्मतादात्म्य प्राप्ति को स्थल विशेष में "एकत्व" शब्द से भी कहते हैं। मुण्डकोपनिषदुक्त सम्पूर्ण श्रुति यह है—

(मु० ३।१।३)–"निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इत्यादि श्रुतौ, (गी० १४।२) "इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्म्यमागताः" इति श्रीगीतोपनिषत्सु च। उभयं चोक्तं स्पष्टमेव, (कठ० २।१।१५)—

"यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥"२३॥

इति श्रुतौ। तत्रैव-कारेण, न तु तदेव भवति, न तु वा तदसाधर्म्म्येण पृथगुपलभ्यत

---

"स योवै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैवभवति। नास्याब्रह्मवित् कुले भवति। तरति शोकं, तरति पाप्मानं, गुहा ग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतोभवति॥"

मुक्ति में जीव ब्रह्म का अभेद निर्देश व्यतीत कतिपय स्थल स्थल में साम्य निर्द्देश भी दृष्ट होता है, मुण्डक (३।१।३) श्रुति में एवं भगवद् गीता (१४।२) में साम्य निर्देश है।

"यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदाविद्वान् पुण्य पापे विधूय निरञ्जनं परमं साम्यमुपैति॥"

जिस समय विद्वान् साधक स्वयं ज्योतिः स्वरूप अर्थात् स्व प्रकाश, अनन्त ब्रह्माण्ड कर्त्ता, परम पुरुष, ब्रह्मयोनि निर्विशेष ब्रह्म का परम स्वरूप, श्रीगीतोक्त-ब्रह्म की प्रतिष्ठा—घनीभूत स्वरूप वा जगत् श्रेष्ठ ब्रह्मा का उत्पत्तिस्थान—परम ब्रह्म का दर्शन करता है, उस समय—वह संसार बन्धन के हेतु भूत पुण्य पाप को मूलतः दग्ध करके निर्लिप्त होता है, सर्वविध क्लेश से मुक्त होता है एवं परम साम्य लाभ करता है। श्रीमद् भागवद् गीता में उक्त है—

"इदं ज्ञानमुपाश्रित्य ममसाधर्म्म्यमागतः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥

टीका—साधर्म्मं--सारूप्य लक्षणां मुक्तिम्। न व्यथन्ति—न व्यथन्ते।

श्रीभगवान् अर्जुन को कहे थे—जिस ज्ञान को प्राप्त कर मुनिगण परमासिद्धि को प्राप्त किये हैं, उस उत्तम ज्ञान को पुनर्वार कहता हूँ। इस ज्ञान को प्राप्त कर जनगण मेरा साधर्म्म्य को प्राप्त करते हैं। अर्थात् सर्वेश्वर मुझ में पापराहित्य प्रभृति जो अष्ट गुण नित्य प्रकाशित हैं, उक्त व्यक्ति समूह में साधन द्वारा उक्त गुण समूह नित्य आविर्भूत होते हैं,अतः वे उक्त गुण के द्वारा मेरी समता को प्राप्त करते हैं, ईदृश पुरुष सृष्टि काल में जन्म ग्रहण नहीं करते हैं, प्रलय काल में भी व्यथित नहीं होते हैं।

मुक्त जीव का ब्रह्म सामान्य ब्रह्म तादात्म्य प्राप्ति रूप अभेद एवं ब्रह्म साम्य, अर्थात् भेदाभेद--दोनों का वर्णन निम्नोक्त श्रुति में है। कठोपनिषत्—(२।१।१५)

"यथोदकं शुद्धेशुद्धमासिक्तं तादृगेवभवति।
एवं मुने विजानत आत्मा भवति गौतम॥"२३॥

जिस प्रकार निर्म्मल जल, निर्म्मल जल में मिश्रित होने से वह निर्म्मल जल के समान ही होता है। उस प्रकार परतत्त्वानुभव सम्पन्न व्यक्ति का आत्मा परमतत्त्व सदृश होता है।

"तादृगेव" उस के समान, यहाँ 'एव' कार द्वारा तत् सादृश्य प्राप्ति की निश्चयता सूचित हुई हैं, वही नहीं होता है। अथवा असमान धर्म निबन्धन पृथक् उपलब्धि का विषय भी नहीं होता है, अर्थात् भिन्न वस्तु नहीं होती है। यह प्रकाशित हुआ है।

इति द्योत्यते, स्कान्दे च—

"उदके तूदक सिक्तं मिश्रमेव यथा भवेत् । तद्वै तदेव भवति यतो बुद्धिः प्रवर्त्तते ॥२४॥
एवमेवं हि जीवोऽपि तादात्म्य परमात्मना । प्राप्तोऽपि नासौ भवति स्वातन्त्र्यादिविशेषणात् ॥'२५॥ इति

**बिम्ब-प्रतिबिम्बनिर्द्देशश्च** (ब्र० सू० ३।२।१९-२०) **"अम्बुवदग्रहणात्"** **इत्यादि-सूत्रद्वये**

---

शुद्ध जल में अपर शुद्ध जल मिश्रित होने पर मिश्रित होते के पहले का जल ही नहीं रहता हैं, किन्तु परिमाणाधिक्य भी होता है। मुक्त जीव परतत्त्वानुभव करसे परतत्त्व के सहित एकत्व लाभ नहीं करता है। 'तादृक्' पद के द्वारा दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक उभय स्थल में ही ऐक्य निषेध होता है, एवं सादृश्य का विधान होता है। जल मिश्रण से जल की जिस प्रकार वृद्धि होती है, उस प्रकार मुक्त जीव भी पाप राहित्य प्रभृति गुणाष्टक समन्वित होता है। जल की वृद्धि परिमाण से होती है, और मुक्त जीव की वृद्धि-गुणों से होती है। यदि मुक्ति में जीव एवं ईश्वर की एकत्व सम्भावना होती तो, उक्त श्रुति 'तादृगेव भवति' न कह कर 'तदेव भवति' कहती। अर्थात् उस के समान होता है, ऐसा न कहकर 'वही होता है। ऐसा कहती।

शुद्ध जल में शुद्ध जल मिलित होने पर उभय जल गत स्वरूपतः भेद नहीं रहता है। दृष्टान्त गत यह तत्थ्य सत्य है। दार्ष्टान्तिक में मुक्त जीव एवं ब्रह्म का स्वरूप गत अभेद होता है, अर्थात् ब्रह्म, जिस प्रकार चित् स्वरूप है, शुद्ध जीव भी उस प्रकार चित् स्वरूप है, यह प्रतिपन्न होता हैं।

वस्तुतः 'तादृगेव भवति' उस के समान ही होता है, दृष्टान्त गत इस वाक्यांश की अनुवृत्ति दार्ष्टान्तिक में भी होगी। उस से ब्रह्मविद् पुरुष को आत्मा ब्रह्म सदृश होती है। इस प्रकार अर्थ से उभय का साम्य बोध होता है। यह साम्य--स्वतः सिद्ध गुण वा परिमाण गत नहीं है, केवल चित् स्वरूप गत है।

गुण वा परिमाण में 'स्वतः सिद्ध' विशेषण प्रदान करने का हेतु यह है — गुण एवं परिमाण में जीव एवं ब्रह्म का अणुत्व एवं विभुत्व स्वतः सिद्ध है। किन्तु ईश्वरानुगृहीत पुरुष तदीय स्वरूप शक्ति भोग से उनकी लीला आस्वादन हेतु साधारण गुणाष्टक—'पूर्वोक्त पाप राहित्य प्रभृति' समन्वित होता है। जीव के स्वरूप गत ज्ञातृत्वादि की भी विपुलता होती है,एवं वह बहुधा प्रकाशित हो सकता है। मुक्त जीवकी गुण गत वृद्धि का वर्णन हुआ है। बहुधा प्रकाश का विवरण अग्रिम ग्रन्थ में है। मुक्त जीव में बहुधा प्रकाशित होने की सामर्थ्य होने के कारण विभिन्न स्थान गत लीला का युगपत् आस्वादन करने में वह सक्षम है।

उक्त दृष्टान्त के द्वारा अचिन्त्य भेदाभेदवाद स्थापित होता है, शास्त्रैक गम्य को अचिन्त्य कहते हैं। साम्य निर्देश द्वारा भेद सूचित हुआ है, साम्य शब्द का अर्थ है—समता। वस्तु द्वय के मध्य में ही समता (साम्य) सम्भव है। एक वस्तु में उस शब्द का प्रयोग नहीं होता है। कौन किस का समान होगा? अभेद-तत् सामान्य एवं तत्तादात्म्य प्राप्ति रूप है। मुक्त जीव एवं ईश्वर में—साम्य एवं अभेद विद्यमान होने से भेदाभेद सिद्धान्त स्थिर हुआ है। यह भेदाभेद चिन्तातीत होने के कारण, शास्त्र प्रमाणैक गम्य हेतु अचिन्त्य भेदाभेद नाम से यह वाद प्रसिद्ध है। स्कन्द पुराण में उक्त है—

"उदके तूदकं सिक्तं मिश्रमेव यथाभवेत्।
तद्वै तदेव भवति यतो बुद्धिः प्रवर्त्तते ॥२४॥
एवमेवहि जीवोऽपि तादात्म्यं परमात्मना।
प्राप्तोऽपि नासौ भवति स्वातन्त्र्यादि विशेषणात् ॥२५॥

गौण एव योजितः । (छा० ८।१२।२) "एवमेष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपं संपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यत्रापि तथैव भेदः, प्रतिपादितः । श्रीविष्णुपुराणेऽपि (६।६।९४)–"विभेदजनकेऽज्ञाने नाशम्" इत्यादौ देवादिभेद-नाशानन्तरं ब्रह्मात्मनोर्भेदं न

---

स्कन्द पुराण में भी भेदाभेद का वर्णन है—"जल में सिक्त—निक्षिप्त जल जिस प्रकार मिश्रित होता है, जल, जल हो गया है, इस प्रकार बोध होता है, उस प्रकार मुक्त जीव, परमात्मा के सहित तादात्म्य प्राप्त होने पर भी परमात्मा नहीं होता है, स्वातन्त्र्यादि विशेषण ही उस के प्रति हेतु है । विशेषण-- कार्य्यान्वयी है स्वातन्त्र्य अर्थात् स्वाधीनता धर्म परमात्मा में सर्वदा है, जीवात्मा में वह नहीं है, तज्जन्य परमात्मा में मिलित होने पर भी जीव परमात्मा नहीं होता है । कारण, उस समय में भी जीवात्मा में स्वातन्त्र्याभाव रहता है ।

उक्त रीति से जीवेश्वर का केवलाद्वैत अर्थात् एकान्त अभेद निरसन पूर्वक, अचिन्त्य भेदाभेद वाद स्थापन करके सिद्धान्त की दृढ़ता सम्पादन निबन्धन अपर सन्देह निरसन करते हैं ।

"बहवः सूर्य्य का यद्वत्सूर्य्यस्य सदृशा जले ।
एवमेवात्मका लोके परात्मसदृशा मताः ।।"

जिस प्रकार जल में सूर्य्य तुल्य अनेक सूर्य्य प्रति विम्ब दृष्ट होते हैं, उस प्रकार इस जगत् में परमात्म सदृश अनेक आत्म प्रतिबिम्ब दृष्ट होते हैं, इस से प्रतीत होता है कि– जीव को परमात्मा का प्रतिविम्ब-श्रुति कहती है । समाधानार्थ कहते हैं—

वेदान्तसूत्र ३।२।१९--२० में उस का विवरण है—

"अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्"
एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते
बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः ।। भा० ११।११।४

टीका—तत्र शरीरिकमिति बहु वचन निर्देशात् । विषयभेदेनाविरोध उक्त इति भ्रान्ति व्यावर्त्तयन् मोक्ष बन्ध व्यवस्थामुपपादयति । एकस्यैवेति । तर्हि किमात्माभेदात् तवापि बन्धो नहीत्याह–अस्य जीवस्यैवेति । ननु आत्माभेदे जीवोनाम कोऽन्योऽस्तिपृथक् कथञ्च बन्ध मोक्ष सुख दुःखादि व्यवस्था, तत्राह, ममांशस्येति । अयं भ व । यथैकस्यापि चन्द्रादे र्जलाद्युपाधिना विम्ब प्रति बिम्ब रूप भेदोयथा च तत्र जल कृताः कम्पादयः प्रति विम्बस्यैव । यथा च प्रतिविम्बानामुपाधिभेदेन भेदादेकस्मिन्नुद कुम्भे भग्ने तद्गत प्रति विम्बस्यैव विम्बैक्यं नान्यगतस्य तथा अविद्यायां प्रतिविम्बस्य मदशंस्य जीवस्यैव तत् कृतो बन्धस्तस्य चोपाधितोभेदात् नानावस्थेति । तथाचाहुः– यथैकस्मिन् घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते । न सर्वे सम्प्रयुज्यन्ते तथा जीवाः सुखादिभिरिति । एतच्चातिरहस्यं स्वबुद्धया निश्चेतव्यमिति सम्बोधयति–हेमहामते ! इतरो मोक्षः ।

वृद्धि ह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ।।
यथाजले चन्द्रमसः कम्पादिस्तत् कृतोगुणः ।
दृश्यतेऽसन्नपि द्रष्टु रात्मनोऽनात्मनोगुण । भा० ३।७।११

टीका—ननु तर्हि ईश्वरस्यापि किं न प्रतीयेत ? तत्राह । यथाजले प्रतिविम्बस्यैव चन्द्रमसो जलोपाधिकृतः कम्पादि धर्म्मोदृश्यते, नत्वाकाशे स्थितस्य, तथानात्मनो देहादे र्धर्म्मोऽसन्नपि तदभिमानिनो द्रष्टुरात्मनो जीवस्यैव नत्वीश्वरस्येत्यर्थः ।

कोऽप्यसन्तं करिष्यति, अपि तु सन्तमेव करिष्यतीति व्याख्यातमेव । एवमेव टीकाकृद्भिः

उक्त सूत्र द्वय का अर्थ—विदूरवर्त्ती सूर्य्य एवं उसका प्रतिविम्ब का आश्रयभूत जल के सहित परमात्मा एवं जीवोपाधिका साम्य न होने के कारण, जीव को परमात्मा का बिम्ब नहीं कहा जा सकता है। जीवोपाधि अविद्या है, वह अपर कुछ नहीं है, परमात्मा की शक्ति है, जल जिस प्रकार सूर्य्य से दूरवर्त्ती है, अविद्या उस प्रकार परमात्मा से दूरवर्त्तिनी नहीं है। परमात्मा विभु अर्थात् सर्वव्यापी होने के कारण कोई भी वस्तु उनके दूरवर्त्ती नहीं हैं। वस्तुतः परिच्छिन्न वस्तु का ही प्रतिविम्ब सम्भव होता है। परमात्मा अपरिच्छिन्न है, तज्जन्य परमात्मा का प्रतिविम्ब हो ही नहीं सकता। कतिपय व्यक्ति कहते हैं—अपरिच्छिन्न आकाश का प्रतिविम्ब जिस प्रकार सम्भव होता है। अपरिच्छिन्न परमात्मा का भी उस प्रकार प्रतिविम्ब होता है। यह कथन असमीचीन है। कारण—आकाश का प्रतिविम्ब को किसी ने नहीं देखा है। किन्तु आकाशगत परिच्छिन्न ज्योतिष्क पदार्थ का, अर्थात् ज्योति के अंश विशेष का श्रुति में प्रतिविम्ब की जो कथा लिखित है, उस का तात्पर्य्य—मुख्यभाव से प्रतिविम्ब निर्देश करना नहीं है, किन्तु गौणभाव से है।

अनन्तर प्रतिविम्ब शास्त्र सङ्गति को दर्शाते हैं—प्रतिविम्ब शास्त्र द्वारा यह दृष्टान्त मुख्या वृत्ति से प्रयुक्त नहीं हुआ है। किन्तु गौणीवृत्ति द्वारा वृद्धि ह्रास भागित्व को कहा गया है। साधर्म्यांश में यह उप लक्षण मात्र है। साधर्म्यांश में ही प्रतिविम्ब शास्त्र तात्पर्य्य का पर्य्यवसान है। इस प्रकार होने पर उपमान उपमेय उभय की सङ्गति होती है। पूर्व सूत्र में विम्ब प्रतिविम्ब भाव का मुख्यत्व निरसन करके किञ्चित् साधर्म्य ग्रहण के द्वारा उस भाव का कथन हुआ है।

अतएव इस प्रकार समझना होगा कि—सूर्य्य वृद्धि भाक् वृहदायतन, जलादि उपाधिधर्म द्वारा असंस्पृष्ट एवं स्वतन्त्र है, एवं सूर्य्य प्रतिविम्ब, वृद्धि ह्रासभाक् क्षुद्रायतन, जलाधि उपाधि धर्म संयुक्त एवं परतन्त्र है, अर्थात् सूर्य्याधीन है। इस प्रकार परमात्मा विभु, प्रकृति धर्म में निर्लिप्त एवं स्वतन्त्र हैं, एवं उनके अंशभूत जीव—अणु, प्रकृति धर्म लिप्त एवं परतन्त्र है।

छान्दोग्योनिषत् ८।१२।२ में में उक्त है—"एवमेष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतीरूपं संपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" यह मुक्त जीव--सम्प्रसाद, इस शरीर से समुत्थित होकर अभिव्यक्ति प्राप्त करके निज रूप से अभिनिष्पन्न होता है, अर्थात् निजरूप को प्राप्त करता है।

स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते--निज रूप से अभिनिष्पन्न होता है, इस प्रकार कथन के द्वारा बोध होता है कि—मुक्त जीव--ईश्वर के सहित अभिन्न नहीं होता है। वह निज रूप में अर्थात् जीवरूप में मुक्तयानन्द उपभोग करता है। ईश्वर रूप प्राप्त करके नहीं। वैसा सम्भव होने से 'स्वेन रूपेण। नहीं कहते। श्रीभगवान् के अनुग्रह मात्र होने के कारण मुक्त जीव को सम्प्रसाद कहा जाता है।

श्री विष्णुपुराण के ६।७।८४ में भी उक्त है

"विभेद जनके ऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते।
आत्मनो ब्रह्मणोभेदं असन्तं क. करिष्यति।।

विभेद जनक अज्ञान आत्यन्तिक नाश प्राप्त होने पर आत्मा एवं ब्रह्म का भेद को असत्य कौन कर सकता है?

अभिप्राय यह है कि—विभेद जनक अज्ञान—देवमनुष्यादि ज्ञान,—अर्थात् मैं देवता, मनुष्य इत्यादि ज्ञान विनष्ट होकर स्वरूप ज्ञानोदय होने से भी ब्रह्म एवं जीवात्मा का भेद को असत्य करने की सामर्थ्य

सम्मतं श्रीगोपानां ब्रह्मसम्पत्त्यनन्तरमपि वैकुण्ठदर्शनम्। तस्मात् साधु व्याख्यातं(भा० १।३।३४) "यद्येषोपरता" इत्यादि। तदेवं ब्रह्मसम्पत्तिर्व्याख्याता। तत्र श्रीविष्णुपुराणे परमार्थनिर्णये

किसी में नहीं है। उस समय भी यथार्थतः भेद ज्ञान विद्यमान रहेगा। परमात्म सन्दर्भ में इस की व्याख्या हुई है। "देवत्व मनुष्यत्वादि लक्षणो विशेषतो यो भेदस्तस्य जनकेऽप्यज्ञाने नाशं गते ब्रह्मणः परमात्मनः सकाशादात्मनो जीवस्य यो भेदः स्वाभाविक रसं भेदं असन्तं कः करिष्यति, अपितु सन्तं विद्यमान मेवसर्व एव करिष्यति।

देवत्व मनुष्यत्वादि लक्षण भेद विशेष रूप से दृष्ट होता है। उसका जनक अज्ञान है। वह विनष्ट होने पर ब्रह्म अर्थात् परमात्मा के निकट से आत्मा, जीव का जो भेद, उस को असत्य करेगा? परन्तु सभी व्यक्ति उस भेद को सत्य विद्यमान करेगा। अर्थात् वह भेद उपलब्धि का विषय भोग। मुक्ति में आनन्दानुभव है—इस को प्रतिपन्न करने के निमित्त जो विचार उपस्थित हुआ था, उसका बोधक रूप में यह सब विषय आलोचित हुए हैं। भा० १०।२८।१४ श्लोक की

"इति सञ्चिन्त्य भगवान् महाकारुणिको हरिः,
दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्॥
सत्यं ज्ञान मनन्तं यद् ब्रह्मज्योतिः सनातनम्।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः।
तेतु ब्रह्म ह्रदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः।
ददृशुर्ब्रह्मणो लोकं यत्राक्रूरोऽध्यगात् पुरा॥
नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्द निर्वृताः।
कृष्णञ्च तत्रच्छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः॥

टीका—स्वंब्रह्म स्वरूपं लोकं वैकुण्ठाख्यञ्च तमसः प्रकृतेः परम्। देहादि पिहितानां दर्शनमशक्यमिति प्रथमं देहादि व्यतिरिक्तं ब्रह्म स्वरूपं दर्शयामास' तदाह सत्यमिति—सत्यमबाध्यं ज्ञानमजड़म्, अनन्तम परिच्छिन्नम्। ज्योतिः, स्वप्रकाशं, सनातनं—शश्वत् सिद्धं, ब्रह्म, गुणापाये गुणापोहे, ज्ञानिनो यत् पश्यन्ति-तत् कृपयैव दर्शयामास।

श्रीधरस्वामि पाद के मत में ब्रह्म सम्पत्ति प्राप्त होने के पश्चात् ही वैकुण्ठ दर्शन होता है। अतएव भा० १।३।३४ में जो कहा गया है।

"यद्येषोपरतादेवी माया वैशारदीमतिः।
सम्पन्न एवेति विदुर्महिम्निस्वे महीयते"॥

इस की जो व्याख्या की गई है, वह अत्युत्तम है। अर्थात् मायिक सत्व गुणोपाधि तिरोहित होकर मुक्ति लाभ होने पर ब्रह्म सम्पत्ति लाभ होती—इस प्रकार जो व्याख्या की गई है, वह सुसङ्गत है।

"अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत् स्तनयित्नवो शरीराण्येतानि तद् यथैतान्यमुष्मादाकाशात् समुत्थाय परं ज्योतिरूप सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते"

वायु—अशरीर है, मेघ, विद्युत् एवं मेघ गर्जन भी अशरीर है। यह सब आकाश में अशरीर होकर अवस्थित हैं। आकाश से समुत्थित होकर, अभिव्यक्ति प्राप्त कर निज रूप में अभिनिष्पन्न होते हैं। वायु प्रभृति के समान मुक्त जीव की निज रूप में अवस्थिति होती है।

मुक्ति में जो आनन्द अनुभूत होता है, वही ब्रह्मानन्द है, ऐसा होने पर ब्रह्म में आनन्द सम्पत्ति है,

रहूगणं प्रति जड़भरत-वाक्यं यथा। तत्र केवलब्रह्मानुभवस्यैव परमार्थत्वं निर्णेतुं यज्ञाद्यपूर्व्वस्य तावदपरमार्थत्वं चतुर्भिरुक्तम् वि० पु० १।१४।२१-२४)—

'ऋग्यजुःसामनिष्पाद्यं यज्ञकर्म्म मतं तव। परमार्थभूतं तत्रापि श्रूयतां गदतो मम ॥२६॥
यत्तु निष्पाद्यते कार्य्यं मृदा कारणभूतया। तत्कारणानुगमनाज्जायते नृप मृन्मयम् ॥२७॥
एवं विनाशिभिर्द्रव्यैः समिदाज्यकुशादिभिः। निष्पाद्यते क्रिया या तु सा भवित्री विनाशिनी ॥२८॥
अनाशी परमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते। तत्तु नाशि न सन्देहो नाशि-द्रव्योपपादितम् ॥''२९॥ इति।

एतद्दृष्टान्तेन पूजादिमयभक्तेरपि तादृशत्वं नानुमेयम्, अपूर्व्ववद्भक्तेर्निष्पाद्यत्वाभावात्।

---

यह व्याख्या हुई है। मुक्ति में ब्रह्मानन्दानुभव के विषय में श्रीविष्णु पुराणस्थ परमार्थ निर्णय प्रसङ्ग में रहूगण के प्रति जड़ भरत वाक्य इस प्रकार है—जड़ भरत के वाक्य में केवल ब्रह्मानन्दानुभव का ही परमार्थत्व निर्णय करने के निमित्त यद्वाक्य पूर्व का अपरमार्थ का कथन चार श्लोकों के द्वारा हुआ है—(विष्णु पुराण—२।१४।२१-२४)

''ऋग् यजुः सामनिष्पाद्यं यज्ञकर्म्म मतं तव।
परमार्थभूतं तत्रापि श्रूयतां गदतोमतः ॥२६॥
यत्तु निष्पाद्यते कार्य्यं मृदा कारण भूतया।
तत् कारणानुगमनाज्जायते नृप मृन्मयम् ॥२७॥
एवं विनाशिभिर्द्रव्यैः समिदाज्य कुशादिभिः।
निष्पाद्यते क्रिया या तु साभवित्री विनाशिनी ॥२८॥
अनाशी परमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते।
तत्तु नाशि न सन्देहो नाशि द्रव्योपपादितम् ॥२९॥

जड़भरत ने कहा—'ऋक्, यजुः, सामवेद निष्पाद्य यज्ञ कर्म—तुम्हारे मत में यदि परमार्थ होता है तो—उस विषय में मैं कहता हूँ-सुनो! हे राजन्! मृत्तिका रूप कारण (उपादान) से निर्म्मित जो घटादि कार्य्य में, कारण का अनुगमन हेतु वह मृन्मय ही होता है। इस प्रकार विनाशी द्रव्य समिध् घृत, कुश प्रभृति द्वारा जो क्रिया निष्पन्न होती है, वह भी विनाशशील है। प्राज्ञगण अविनाशी परमार्थ को ही स्वीकार करते हैं। कर्म्म नाशशील हैं, इस में सन्देह नहीं है। कारण, नाशशील द्रव्य द्वारा यह सम्पन्न होता है, एतज्जन्य ज्ञानि वृन्द का वह पुरुषार्थ नहीं होता है।

उक्त दृष्टान्त के द्वारा पूजादि मय भक्ति का विनाशित्व अनुमान गम्य नहीं है। कारण, यज्ञादि अपूर्व के समान भक्ति निष्पाद्य नहीं है। अर्थात् व्यक्ति विशेष के प्रयत्न साध्य नहीं है। जो गुणमय है, वही निष्पाद्य है। जो गुणातीत है, वह किसी की चेष्टा के द्वारा सम्पन्न नहीं होता है। भा० ११।२५।२४ में से आरम्भकर छः श्लोक के द्वारा भक्ति जो गुणमय नहीं इस का प्रतिपादन श्रीभगवान् ने ही किया है।

''कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकन्तु यत्।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्।
वनञ्च सात्त्विको वासो ग्राम्यो राजस उच्यते।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतन्तु निर्गुणम्।
सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः।
तामस स्मृति विभ्रष्टो निर्गुणोमदपाश्रयः।

गुणमयं हि निष्पाद्यं स्यात्, नागुणमयम्, (भा० ११।२५।२४) "कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानम्', इत्यारभ्य एकादशे श्रीभगवतैवागुणमयत्वमङ्गीकृतम्, अतः स्वरूपशक्तिवृत्तिविशेषत्वेन तस्या भगवत्प्रसादे सति स्वयमाविर्भाव एव जन्म, स चाविर्भावोऽनन्त एव,—तदीयफलानन्त्य-

सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्म्म श्रद्धा तु राजसी ।
तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायान्तु निर्गुणा ।।
पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्य्यं सात्त्विकं स्मृतम् ।
राजसञ्चेन्द्रियप्रेष्ठं तामसञ्चार्त्तिदाऽशुचि ।
सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसम् ।
तामसं मोह दैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम् ।।

श्रीकृष्ण उद्धव को कहे थे—केवल्य ज्ञान सात्त्विक है, वैकल्पिक अर्थात् देहादि विषयक ज्ञान राजस है, अर्थात् बालक, मूक, प्रभृति के ज्ञान के तुल्य ज्ञान तामस है, परमेश्वर विषयक ज्ञान निर्गुण है।

कैवल—शुद्ध जीव से पृथक् रूप से निर्विशेष ब्रह्म को जानना है। त्वं पदार्थ अर्थात् जीवात्म ज्ञान द्वारा कैवल्य नहीं होता है, कारण, त्वं पदार्थ का ज्ञान तत् पदार्थ अर्थात् ब्रह्म ज्ञान सापेक्ष है, ब्रह्मज्ञान व्यतीत जीवात्म ज्ञानोदय हो नहीं सकता है। सत्त्व युक्त चित्त में प्रथमतः शुद्ध सूक्ष्म जीव चैतन्य प्रकाशित होता है। अनन्तर शुद्ध जीव एवं ब्रह्म उभय की चित् स्वरूपता रूप अभिन्नता हेतु उस चित्त में ब्रह्म चैतन्य अनुभूत होता है, जिस प्रकार अन्धकाराच्छन्न व्यक्ति, प्रथमतः निज सान्निध्य में आलोकानुभव करके पश्चात् सूर्य्योदय का अनुभव करता है, उस प्रकार ब्रह्म ज्ञानाविर्भाव में प्रथम जीव स्वरूप का ज्ञान, अनन्तर ब्रह्मानुभव होता है। इस प्रकार ज्ञानाविर्भाव में सत्त्व गुण ही प्रधान कारण है। तज्जन्य इस को सात्त्विक ज्ञान कहे हैं।

सत्त्वादि विद्यमान होने पर भी सत्त्व गुण सम्पन्न देवतावृन्द में तथा गुण सम्पर्क रहित मुक्त पुरुष वृन्द में भी भगवज् ज्ञानभाव दृष्ट होता है। अपर पक्ष में वृत्रासुरादि में सत्त्वादि का अभाव होने पर भी भगवज ज्ञान का सद्भाव निबन्धन मायिक सत्त्व भगवज् ज्ञान के प्रति हेतु नहीं हो सकता है। सुतरां भगवत् कृपा परिमल के पात्रभूत जो महद् व्यक्ति हैं, उनके सङ्ग ही भगवज् ज्ञान लाभ का कारण है। तादृशमहद्गण गुणातीत हैं, सुतरां उनके सङ्ग—गुणातीत है। अतएव महत् सङ्ग सम्भूत भगवज् ज्ञान निर्गुण है, वन में निवास–सात्त्विक है, ग्राम में वास—राजसिक है, द्यूत—गृह में वास तामसिक है, श्र भगवद् गृह में वास निर्गुण है।

पूर्व श्लोक में ज्ञान रूपा भक्ति का निर्गुणत्व कह कर प्रस्तुत श्लोक में भक्ति का निर्गुणत्व को कहते हैं। श्रवण कीर्त्तन रूपा भक्ति का निर्गुणत्वसुप्रसिद्ध है। इस श्लोक में भगवत् सम्बन्ध हेतु भगवद् गृह में वासरूपा भक्ति का भी निर्गुणत्व कहे हैं। वनवास—वानप्रस्थाश्रम धर्म को अवलम्बन करके वन में अवस्थान–सात्त्विक है। गृहस्थाश्रम को अङ्गीकार करके ग्राम में अवस्थान--राजस है। दुराचार व्यक्तियों का द्युतक्रीड़ास्थान, मद्यपान गृह प्रभृति में वास—तामस है। भगवत् सेवा परायण व्यक्तियों का भगवद् गृह में वास निर्गुण है। जिस प्रकार स्पर्शमणि के स्पर्श से लौह स्वर्णत्वको प्राप्त करता है, उस प्रकार भगवत् सम्बन्ध महिमा से उनका मन्दिर भी निर्गुण है।

आसक्ति रहित कर्त्ता—सात्त्विक है, अनित्य विषय सुख में आविष्ट कर्त्ता—राजस है, स्मृति विभ्रष्ट कर्त्ता तामस है एवं एकमात्र मेरी शरणागत कर्त्ता निर्गुण है।

श्रवणात् । तस्मात् परमेश्वरानाश्रयत्वं तत्रोपाधि-र्भविष्यति । हिंसायां पापोत्पत्त्यनुमितावविहितत्ववत् । ज्ञानप्रकरणे चास्मिन् भक्तिर्न प्रस्तूयत इति साधारणयज्ञादिकमुपादायैव

---

इस श्लोक में क्रियाओं की विविधता का वर्णन हुआ है। क्रिया के अनुसार ही कर्त्ता का भेद होता है। अतएव यहाँ क्रिया में ही तात्पर्य्य है।

आध्यात्मिकी श्रद्धा—सात्त्विकी है, कर्म में श्रद्धा राजसी है। अधर्म में श्रद्धा तामसी है, एवं मेरी सेवा में जो श्रद्धा है, वह निर्गुणा है। यहाँ क्रिया में प्रवृत्ति के प्रति कारणरूपाश्रद्धा का भेद निर्णय हुआ है। हितकर, पवित्र, अनायास लभ्य--आहार्य्य सामग्री, सात्त्विक हैं, भोग काल में इन्द्रिय सुखप्रद वस्तु राजस हैं, दुःखप्रद अपवित्र भोज्य पदार्थ तामस हैं, एवं मुझ को निवेदित सामग्री निर्गुण है।

आत्मोत्थसुख सात्त्विक है, विषयभोग जनित सुख राजस है, मोह दैन्य समुत्पन्न सुख तामस है, एवं मेरी शरणापत्ति जनित सुख निर्गुण है।

उत्पत्ति शील वस्तु अनित्य है। भक्ति का नित्यत्व ज्ञापन हेतु उस का जन्म निषेध किये हैं। जो अनित्य है, वह परम पुरुषार्थ नहीं हो सकता है। भक्ति—भगवत् परिकर गण में नित्यसिद्धा है। स्वर्ग से मर्त्यलोक में अवतरित गङ्गा के समान नित्य सिद्ध परिकर से कृपा परम्परा से मर्त्य जीव में भक्ति का उदय होता है।

हृदय में भक्ति का आविर्भाव होने से भक्ति की अनुकम्पा से श्रवणादि साधन भक्ति में साधक की प्रवृत्ति होती है। स्वतः प्रवृत्त होकर भक्त्यनुष्ठान नहीं हो सकता है। भक्ति के अनुष्ठान मात्र ही स्वरूप शक्ति का कार्य्य है। श्रीमन्दिर मार्जन, पुष्पचयन प्रभृति जो सब साधारण दृष्टि से प्राकृत बोध होते हैं, यह सब भी स्वरूप शक्ति की प्रेरणा से सम्भव होते हैं। तज्जन्य महत् कृपा प्राप्त पुरुष व्यतीत साधारण जनकी प्रवृत्ति भक्त्यनुष्ठान में नहीं होती है।

अतएव भक्ति स्वरूप शक्ति की वृत्ति विशेष है। भगवत् कृपा से भक्ति स्वयं आविर्भूत होती है, भक्ति की उत्पत्ति नहीं होती है। भक्ति का आविर्भाव--अनन्त है, कारण, भक्ति के अनन्त फल वर्णित हैं। भक्ति का आविर्भाव अनन्त हैं इस प्रकार कहने का तात्पर्य्य यह है कि—कर्म फल भोग से क्षय होता है, किन्तु भक्ति का अवसान कभी नहीं होता है, जिस के हृदय में भक्ति उदित होती है, वह अनन्त भक्ति फल श्रीभगवत् सेवासुखलाभ करता है। "तस्मात् परमेश्वरानाश्रयणत्वं तत्रोपाधि र्भविष्यति॥"

यज्ञादि अपूर्व का अपरमार्थत्व में परमेश्वर अनाश्रयणत्व उपाधि होती है। जिस प्रकार हिंसा द्वारा पापोत्पत्ति अनुमान से शास्त्राविहितत्व बोध गम्य होता है। यह भी उस प्रकार है।

"साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः' यथा पर्बतो धूमवान् वह्निमत्त्वात्, इत्यत्रार्द्रेन्धन संयोग उपाधिः। तथाहि यत्र धूम स्तत्रार्द्रेन्धन संयोग इति साध्य व्यापकत्वम्। यत्र वह्निः, तत्रार्द्रेन्धन संयोगो नास्ति, अयो गोलके आर्द्रेन्धनाभावात्। इति साधनाव्यापकत्वम्॥

जिस पदार्थ में साध्य व्यापक है—अथच हेतु-अव्यापक होता है, उस को उपाधि कहते हैं। जैसे पर्वत धूमवान्, कारण, उस में अग्नि है, यहाँ आर्द्र काष्ठ संयोग उपाधि है, जहाँ धूम है, वहाँ आर्द्र काष्ठ संयोग है, यह साध्य व्यापकत्व है, जहाँ अग्नि है, वहाँ आर्द्र काष्ठ संयोग होगा ही ऐसानियम कोई नहीं हैं। लौह गोलक में अग्नि होने पर भी वहाँ आर्द्र इन्धन संयोग नहीं है। 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः" स्थल में जिस प्रकार धूमवत्त्वसाध्य है, अग्नि उसका साधन है, धूमोत्पत्ति का हेतु आर्द्रेन्धन संयोग उपाधि है, प्रस्तुत स्थल में भी उस प्रकार यज्ञादि अपूर्व का अपरमार्थत्व साध्य है, विनाशि द्रव्य में उत्पत्तिसाधन है, परमेश्वरानाश्रयणत्व—उपाधि है। उस में साध्य व्यापकत्व है, किन्तु साधन व्यापकत्व नहीं है। यज्ञादि

प्रवृत्तिश्चेयम् । तदेवं यज्ञादि-कर्म्मापूर्व्वस्य विनाशित्वादपरमार्थत्वमुक्त्वा निष्कामकर्म्मणोऽपि साधनत्वेनार्थान्तरस्यैव साध्यत्वात्तादृशत्वमुक्तमेकेन (वि० पु० २।१४।२५)—

"तदेवाफलदं कर्म्म परमार्थो मतस्तव । मुक्तिसाधनभूतत्वात् परमार्थो न साधनम् ॥"३०॥

अत्र भक्तेः साधनभूतत्वेऽपि न तादृशत्वं मन्तव्यम् । भगवत्प्रेमविलासरूपतया सिद्धानामपि

---

कर्म में परमेश्वर शरणापत्ति नहीं रहती है, यही यहाँ पर परमेश्वरानाश्रयत्व रूप उपाधि का साध्यव्यापकत्व है, और ध्वंसशील वस्तु द्वारा जो होता है, उस में सर्वत्र परमेश्वर आश्रयणाभाव नहीं रहता है, यही यहाँ पर साधन अव्यापकत्व है ।

गन्ध पुष्प धूप दीपादि उपचार समूह विनाशि वस्तु--भगवदर्च्चन में व्यवहृत होने से उस से अविनश्वर भक्ति साधित होती है । कारण, जो सब वस्तु द्वारा जो क्रिया निष्पन्न होती है, उस का अवलम्बन श्रीभगवान् हैं, एवं समिध, कुशादि यज्ञोपकरण समूह नश्वर वस्तु हैं, उस के द्वारा जो यज्ञ निष्पन्न होता है, उस का अवलम्बन उक्त यज्ञ कर्म्म है । यज्ञ कर्म्म गुणमय होने के कारण अविनाशी नहीं है, श्रीमद्भागवतीय श्लोक प्रमाण से गुणमय वस्तु समूह,—भगवत् सम्पर्क से गुणातीत होते हैं, अतः भक्त्युपकरण गन्ध पुष्पादि गुणमय वस्तु होने से भी भगवत् सम्पर्क से गुणातीत होते हैं । तज्जन्य वह सब पदार्थ अविनाशि पुरुषार्थ रूपा भक्ति साधन करने में सक्षम हैं ।

उक्त स्थल में परमेश्वरानाश्रयणत्व को उपाधि कहने का कारण यह है—"उपाधि व्यभिचारेण हेतौ साध्यव्यभिचारानुमानम्,—उपाधेः प्रयोजनमित्यर्थः ।।" उपाधि व्यभिचार द्वारा साध्य व्यभिचार अनुमान करना ही उपाधि का प्रयोजन है । जहाँ आर्द्रकाष्ठसंयोग का अभाव है, वहाँ धूमवत्ता का अभाव अनुमान करने के निमित्त धूमवत्ता के पक्ष में आर्द्रकाष्ठ संयोग रूप उपाधि स्वीकार करना आवश्यक है । उस प्रकार परमेश्वरानाश्रयणत्व का अभाव से यज्ञादि अपूर्व का अपरमार्थत्व अनुमान हेतु उक्त उपाधि स्वीकार करना आवश्यक है, यज्ञादि अपूर्व परमेश्वर को आश्रय करके निष्पन्न होने से वह भक्तिमें परिणत होकर परमार्थभूत होता है ।

"हिंसा से पापोत्पत्ति' इत्यादि दृष्टान्त में पापोत्पत्ति साध्य है हिंसा—साधन है, अविहितत्व उपाधि है । पापोत्पत्ति में अविहितत्व का योग है । हिंसा में अविहितत्व का योग नहीं है । कारण, वैदिक कर्म्म में हिंसाविहित है । अर्थात् जहाँ अविहित हिंसा है, वहाँ पापोत्पत्ति होती है ।

विष्णु पुराण के परमार्थ निर्णय प्रसङ्ग—ज्ञान प्रकरण है, सुतरां इस प्रकरण में भक्ति विषय की आलोचना अनभिप्रेत है । तज्जन्य यज्ञादि साधारण कर्म को अवलम्बन करके उक्त आलोचना हुई है । अतएव यज्ञादि कर्म्मापूर्व विनाशि हेतु जड़भरत, उस को अपरमार्थ कहकर निष्काम कर्म को साधन विशेष कहे हैं, उस का प्रयोजन चित्त शुद्धि है, अतः यह भी अपरमार्थ है । उस का कथन विष्णु पुराण के २।१४।२५ में इस प्रकार है—

"तदेवाफलदं कर्म्म परमार्थो मतस्तव ।
मुक्तिसाधनभूतत्वात् परमार्थो न साधनम् ।।"३०॥ इति ।

यदि निष्काम कर्म को पुरुषार्थ कहना चाहते हो तो, वह भी नहीं हो सकता है । कारण, वह कर्म, मुक्ति रूप फल का साधन है, परमार्थ नहीं है ।

अभिप्राय यह है—कर्म द्विविध हैं—सकाम एवं निष्काम । फलाकाङ्क्षा से जो कर्म अनुष्ठित होता है, वह सकाम है, एवं फलाकाङ्क्षा शून्य होकर जो कर्म्म अनुष्ठित होता है, वह निष्काम है । पहले कहा

तदत्यागश्रवणात् । तस्मादिदमपि पूर्व्ववज्ज्ञेयम् । ननु शुद्धजीवात्मध्यानस्य परमार्थत्वं भवेत्, मुक्तिदशायामपि स्फूर्त्त्यङ्गीकारेण तद्रूपस्य तस्यानश्वरत्वात्, तदाच्छादनादधुना संसार इति तस्यैव साध्यत्वाच्च ? तत्रोक्तमेकेन (वि०पु० २।१४।३६)—

---

गया है, अविनाशी पुरुषार्थ ही विज्ञ व्यक्ति वृन्द का अभिमत है। यज्ञादि कर्मानुष्ठान--उत्तर क्षण में विनष्ट होता है। उस से जो अपूर्व उत्पन्न होता है, उसको अदृष्ट कहते हैं। अपूर्व द्वारा कर्म्म फल स्वर्गादि भोग उत्पन्न होता है। अपूर्व अनन्त नहीं है किन्तु कर्म्मानुरूप है। कोई भी कर्म्म अनन्त फल प्रदान में सक्षम नहीं है। कारण, सत्य लोक प्राप्ति पर्य्यन्त—कर्म्म का सर्वोत्तम फल है। वह भी द्वि परार्द्ध काल स्थायी होने के कारण—विनाशी है। तज्जन्य अपूर्व भी विनाशी है। पूर्व सिद्धान्त के अनुसार अविनाशी वस्तु का पुरुषार्थ निबन्धन, यज्ञादि कर्म्मापूर्व की पुरुषार्थता स्वीकृत नहीं हुई है। निष्काम कर्म भी जो पुरुषार्थ नहीं है, इस का कथन भी हुआ। नश्वर साधन, मानवीय इन्द्रिय साध्यव्यापार विशेष है। द्वितीयतः प्रयोजन विशेष के वशवर्त्ती होकर साधन में प्रवृत्ति होती है, प्रयोजन व्यतीत कोई भी किसी प्रकार प्रयत्न नहीं करता है। जिस के प्रयोजन से जो कुछ किया जाता है, वह सिद्ध होने से प्रयत्न निवृत्त होता है। इस से भी निष्काम कर्म का विनाशित्व प्रतीत होता है। निष्काम कर्म्म में स्वर्गादि फलाकाङ्क्षा न होने पर भी चित्त शुद्धि हेतु निष्काम कर्म अनुष्ठित होता है। चित्त शुद्धि का फल—ज्ञान लाभ है। एवं ज्ञान का फल—मुक्ति है। अतएव निष्काम कर्म—साध्य का प्रयोजन नहीं है, अर्थात् कोई भी निष्काम कर्म्म हेतु निष्काम कर्म्म नहीं करता है। जो साध्य नहीं है, वह पुरुषार्थ नहीं हो सकता है। उक्त श्लोक में भी यह तात्पर्य्य प्रकाशित हुआ है। निष्काम कर्म्म साधन है, तज्जन्य यह विनश्वर है। उस में किसी की प्रयोजन बुद्धि नहीं है। अपेक्ष्य वा प्रयोजन-मुक्ति है। एतदुभय कारण से ही जड़भरत ने निष्काम कर्म को पुरुषार्थ नहीं माना है।

जो साधन है, वह विनश्वर हेतु परमार्थ नहीं हो सकता है। इस रीति से भक्ति को साधन स्वरूप मान कर कर्म्म के समान उस को विनश्वर एवं अपरमार्थ नहीं माना जा सकता है। कारण, भक्ति, स्वरूपतः भगवत् प्रेम की विलास रूपा है। तज्जन्य सिद्धगण भी श्रवण कीर्त्तनादि साधन रूपा भक्ति का अनुशीलन करते रहते हैं।

अभिप्राय यह है कि—भक्ति की प्रवृत्ति स्वसुख तात्पर्य्य विहीना है, कारण, आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं---भक्ति का स्वरूप लक्षण है, निष्काम कर्म्म की प्रवृत्ति भी विषय भोगाकाङ्क्षा रहित है, अतएव इस अंश में किसी की भक्ति में निष्काम कर्म्म तुल्यता भ्रान्ति हो सकती है। अतः भ्रान्ति निरसन हेतु प्रवृत्ति भेद से निष्काम कर्म की अपरमार्थता स्थिर हुई है. कारण, निष्काम कर्म्म मानवीय इन्द्रिय साध्य है। किन्तु भक्ति—श्रीभगवान् की स्वरूप शक्ति कार्य्य स्वरूपा है। स्वरूप शक्ति साधक की इन्द्रिय को अग्नि जिस प्रकार लौह को तादात्म्यापन्न करता है, उस प्रकार तादात्म्यापन्न करके साधन भक्ति निर्वाह करती है।

"ननु शुद्ध जीवात्मध्यानस्य परमार्थत्वं भवेत् ।"

परतत्त्व ध्यान को परमार्थ कहा गया है। अतएव जीवेश्वर स्वरूपगत चिदेकरसता निबन्धन शुद्ध जीवात्मध्यान का भी परमार्थत्व हो सकता है। कारण, मुक्ति दशा में भी उस की स्फूर्त्ति होती है। शुद्ध जीवात्मा रूप में जीव अविनश्वर है, मायाच्छादित हेतु संसार होता है। शुद्ध जीवात्म स्वरूप प्राप्ति होने से मुक्ति होती है, वह स्वरूप साध्य है ? इस प्रकार कथन के उत्तर में विष्णु पुराण २।२४।२६ के पद्य के

"ध्यानं चेदात्मनो भूप परमार्थार्थ-शब्दितम् । भेदकारिपरेभ्यस्तत्परमार्थो न भेदवान् ॥"३१॥ इति ।

**यद्विज्ञानेन सर्व्वविज्ञानं भवति, तदेव ब्रह्म श्रुतौ परमार्थत्वेन प्रतिज्ञातम् । सर्व्वविज्ञानमयत्वञ्च तस्य सर्व्वात्मत्वात् । अग्निविज्ञानं हि ज्वालाविस्फुलिङ्गादेरपि विज्ञापकं भवति । एकस्य जीवस्य तु तदीयजीवशक्तिलक्षणांश-परमाणुत्वमित्यतस्तस्य तत्स्फुरणस्य च भेदवतो न परमार्थत्वमित्यर्थः । ननु जीवात्मपरमात्मनोरेकत्र-स्थितभावनयात्यन्तसंयोगे प्रादुर्भूते सति तस्यापि सर्व्वात्मता स्यात्, तदभेदापत्तेः, स च योगो न विनश्वरः, ज्ञानानन्तरसिद्धत्वात् तस्मात्तयोर्योग एव परमार्थो भवतु ? तत्रोक्तमेकेन (वि० पु० २।१४।२७)—**

"परमात्मात्मनोर्योगः परमार्थ इतीष्यते । मिथ्यैतदन्यद्द्रव्यं हि नैति तद्द्रव्यतां यतः ॥"३२॥ इति ।

---

द्वारा समाधान करते हैं ।

"ध्यानं चेदात्मनो भूप परमार्थार्थ-शब्दितम् ।
भेदकारिपरेभ्यस्तत्परमार्थो न भेदवान् ।।"३१ ॥ इति ।

जड़भरत रहूगण को कहे थे—हे राजन् ! यदि कहो कि—आत्मा का ध्यान परमार्थ है, वह भी असमीचीन है, वह ध्यान परमेश्वर से भेद निष्पन्न करता है । किन्तु परमार्थतः भेदवान् नहीं है ।

उक्त श्लोक की व्याख्या इस प्रकार है—

"येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति ॥" (छा० ६।१।६)

जो ज्ञान द्वारा अश्रुत श्रुत होता है, अनालोचित विषय, आलोचित होता है, अज्ञात वस्तु जानी जाती है, अर्थात् जिस को जानने से सब कुछ जाने जाते हैं, वही ब्रह्म है । इस श्रुति में ब्रह्म ही परमार्थ पदार्थ रूप में ज्ञात हैं । ब्रह्म,--सर्वात्मा हैं, एतज्जन्य उन में सर्व विज्ञानमयत्व सम्भव है । अर्थात् ब्रह्म अन्तर्य्यामी - सब के मूल स्वरूप हैं, तज्जन्य ब्रह्म ज्ञानोदय होने पर सब जाने जाते हैं । अग्नि का ज्ञान जिस प्रकार अग्नि शिखा स्फुलिङ्गादि से होता है, उस प्रकार परमात्म विज्ञान से तदीय चिच्छक्ति एवं माया शक्ति का विचित्र कार्य्य जान जाता हैं, एवं जीव स्वरूप का ज्ञानोदय होता है । एक जीव परमेश्वर के जीव शक्ति लक्षण अंश परमाणु है, एतज्जन्य परमेश्वर एवं प्रत्येक जीव स्फुरण के मध्य में भेद विद्यमान हेतु जीव स्वरूप स्फूर्त्ति परमार्थ नहीं हो सकती है ।

अर्थात् अनन्त शक्ति सम्पन्न परमेश्वर की एक जीव शक्ति का अंश मात्र जीव है, सुतरां जीवस्वरूप ज्ञान द्वारा परमेश्वर की एक शक्ति का आंशिक--ज्ञान होने पर भी समस्त शक्ति का ज्ञान नहीं होता है, शक्तिमान् परमेश्वर का ज्ञान तो होता ही नहीं । किन्तु श्रुत्यादि प्रमाण द्वारा इस के पहले प्रमाणित हुआ है कि—परमार्थ भूत मुक्तिलाभ करने से सार्वज्ञादि गुण सम्पन्न हो सकते है । जीव स्वरूप ज्ञान से वह असम्भव है, अतः जीव स्वरूप का ज्ञान परमार्थ ही हो नहीं सकता है ।

"ननु जीवात्मपरमात्मनोरेकत्र द्वारा अपर पूर्व पक्ष उत्थित होता है, जीवात्म एवं परमात्मा की एकत्रस्थिति भावना द्वारा अत्यन्त संयोग प्रादुर्भूत होने से जीवात्मा का भी सर्वात्मत्व हो सकता है । कारण, उस से जीवात्म परमात्म की अभेद प्राप्ति होती है । वह योग, विनश्वर नहीं है, कारण, वह अन्य ज्ञान अर्थात् परमार्थ स्वरूप ज्ञान द्वारा वह सिद्ध है । सुतरां जीवात्म परमात्मा का योग ही परमार्थ हो ? यह भी परमार्थ नहीं हो सकता है । श्रीविष्णु पुराणोक्त (२।१४।२७) एक श्लोक द्वारा उक्त पूर्व पक्ष को निरस्त करते हैं ।

एतत् परमार्थत्वं मिथ्यैवेष्यत इत्यर्थः । हि निश्चितम्, यतो यस्मात् जीवलक्षणमन्यद्-द्रव्यं तद्द्रव्यतां परमात्म-लक्षणद्रव्यतां न याति । तस्मान्महातेजः प्रविष्ट-स्वल्पतेजोवदत्यन्त-संयोगतोऽप्यभेदानुपपत्तेस्तयोर्योगोऽपि न परमार्थ इति भावः । अथवात्र योग शब्देनैकत्वमेवोच्यते । ततश्चैतदेकत्वमिति व्याख्येयम् । शेषं पूर्ववत् । तदेवं पूर्व्वपक्षान् निषिध्योत्तरपक्षं स्थापयितुमुपक्रान्तमेकेन (वि० पु० २।१४।२८)—

"तस्मात् श्रेयांस्यशेषाणि नृपैतानि न संशयः । परमार्थस्तु भूपाल संक्षेपाच्छ्रूयतां मम ॥"३३॥ इति ।

श्रेयांसि परमार्थसाधनानि, परमार्थ निर्द्देशस्त्रयेणोक्तः (वि० पु० २।१४।२९-३१)—

"एको व्यापी समः शुद्धो निर्गुणः प्रकृतेः परः । जन्मवृद्धयादि-रहित आत्मा सर्व्वगतोऽव्ययः ॥३४॥
परज्ञानमयोऽसद्भिर्नामजात्यादिभिर्विभुः । न योगवान्न युक्तोऽभून्नैव पार्थिव योक्ष्यति ॥३५॥
तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽप्येकमयं हि यत् । विज्ञानं परमार्थोऽसौ द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः ॥"३६॥ इति ।

---

"परमात्मात्मनोर्योगः परमार्थ इतीष्यते ।
मिथ्यैतदन्यद्द्रव्यं हि नैति तद्द्रव्यतां यतः ॥"३२॥ इति ।

"एतत् परमार्थत्वं मिथ्यैवेष्यत इत्यर्थः । हि निश्चितम् ।

जीवात्मा एवं परमात्मा का योग को परमार्थ मानना मिथ्या है । श्लोकस्थ 'हि' शब्द निश्चयार्थ में प्रयुक्त हुआ है । अर्थात् उस से मिथ्या की निश्चयता सूचित हुई है । यह योग जो पुरुषार्थ हो ही नहीं सकता है,—उस का कारण है—जीव लक्षण अन्य द्रव्य है, वह द्रव्यता--परमात्म लक्षण द्रव्यता को प्राप्त कर नहीं सकती है । सुतरां महातेज में प्रविष्ट अत्यल्प तेज के समान परमात्मा में प्रविष्ट जीवात्मा का अत्यन्त संयोग से भी अभेद प्रतिपन्न नहीं होता है । अतएव जीवात्मा परमात्मा-उभय का योग भी परमार्थ नहीं है । उक्त श्लोक का यही तात्पर्य्य है ।

अथवा उक्त श्लोकस्थित 'योग' शब्द का 'एकत्व' अर्थ भी हो सकता है । उस से जीवात्मा एवं परमात्मा का एकत्व अर्थ निष्पन्न होता है । इस प्रकार व्याख्या में भी श्लोक के अवशिष्टांश की व्याख्या भी पूर्ववत् होगी । अर्थात् जीवात्मा परमात्मा का एकत्व यदि माना जाय तो वह मिथ्या है । कारण, वह ही हो नहीं सकता भिन्न वस्तु जीवात्मा परमात्मा का एकत्व असम्भवहै । इस रीति से पूर्व पक्षको निषेध करके उत्तर पक्ष स्थापन हेतु विष्णु पुराण (२।१४।२८) के एक श्लोक का उपक्रम करते हैं ।

"तस्मात् श्रेयांस्यशेषाणि नृपैतानि न संशयः ।
परमार्थस्तु भूपाल संक्षेपाच्छ्रूयतां मम ॥"३३॥ इति ।

हे राजन् ! यह सब जो अशेष श्रेय हैं, इस में संशय नहीं है । किन्तु परमार्थ नहीं है । हे भूपाल ! अनन्तर परमार्थ क्या है, संक्षेप से कहता हूँ सुनो ।

यहाँ परमाथ साधन समूह को 'श्रेयः' कहा गया है । अनन्तर श्लोकत्रय के द्वारा (२।१४।२९-३१) द्वारा परमार्थ का निर्देश हुआ है ।

"एको व्यापी समः शुद्धो निर्गुणः प्रकृतेः परः ।
जन्मवृद्धयादि-रहित आत्मा सर्व्वगतोऽव्ययः ॥३४॥
परज्ञानमयोऽसद्भिर्नामजात्यादिभिर्विभुः ।
न योगवान्न युक्तोऽभून्नैव पार्थिव योक्ष्यति ॥३५॥

एकः, न तु जीवा इवानेके। ज्वालाविस्फुलिङ्गेष्वग्निरिव स्वशक्तिषु स्वकार्य्येषु सर्व्वेषु व्याप्नोतीति व्यापी। सर्व्वगत इत्यनेन जीव इव नाखण्डे देहे प्रभावेणैव व्यापीति ज्ञापितम्। जीवज्ञानादपि परं यज्ज्ञानं तन्मयस्तत्प्रकाशप्रधानः। असद्भिरिति विशेषणाद्भगवद्रूपे प्रकाश्येऽपि सद्भिः स्वरूपसिद्धैरेव नामादिभिर्योगवान् भवतीति विज्ञापितम्। तस्यैवंलक्षणस्य परमात्मरूपेणात्मपरदेहेषु आत्मनः परेषामपि देहेषु तत्तदुपाधिभेदेन पृथक् पृथगिव सतोऽपि एकं तदीयं स्वस्वरूपं तन्मयं तदात्मकं यद्विज्ञानं तदनुभवः, असावेव परमार्थः,–अनाशित्वात्

---

तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽप्येकमयं हि यत्।
विज्ञानं परमार्थोऽसौ द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः॥"३६॥ इति।

एक, व्यापी, सम, शुद्ध, निर्गुण, प्रकृत्यतीत, जन्म वृद्धयादि रहित, आत्मा, सर्वगत, अव्यय, पर ज्ञानमय, विभु, असत् नाम जात्यादि द्वारा योगवान् नहीं है, युक्त नहीं था, एवं पार्थिववस्तु युक्त भी नहीं होगा। सुतरां आत्मदेह एवं परदेह में विद्यमान होने पर भी एकमय जो विज्ञान है वह परमार्थ है, द्वैतिगण यथार्थ दर्शन नहीं करते हैं, उक्त श्लोकत्रय की व्याख्या यह है—

परमात्मा एक है, किन्तु जीव के समान अनेक नहीं हैं। ज्वाला—विस्फुलिङ्ग व्याप्त होकर जिस प्रकार अग्नि, अवस्थित है उस प्रकार निज शक्ति समूह में एवं निज कार्य्य समूह में व्याप्त होकर परमात्मा अवस्थान करते हैं। तज्जन्य व्यापी है, 'सर्वगत' पद के द्वारा बोध होता है कि– परमात्मा, प्रभाव के द्वारा सर्व देह व्यापी जीव के समान परमात्मा नहीं हैं। जीव ज्ञान से श्रेष्ठ जो ज्ञान है, परमात्मा वह ज्ञानमय हैं, अर्थात् वह ज्ञान प्रधान है। परमात्मा—असत् नाम जात्यादि द्वारा युक्त नहीं हैं। यहाँ असत् विशेषण द्वारा नाम जाति प्रभृति भगवान् में प्रकाश्य होने पर भी वह सब सत् हैं। अर्थात् स्वरूपसिद्ध नामादि द्वारा ही परमात्मा योगवान् हैं। यह विज्ञापित हुआ है।

उस प्रकार लक्षणाक्रान्त परमात्मा स्वपर देह में अवस्थित होने पर भी एवं विभिन्नवत् प्रतीत होने पर भी तदीय निज स्वरूप एक है। वह स्वरूपमय –स्वरूपात्मक जो विज्ञान उसका जो अनुभव, वही परमार्थ है। यह विज्ञान--अविनश्वर साध्य है, एवं सर्व विज्ञान इसके अन्तर्भूत है, तज्जन्य यह पुरुषार्थ है। द्वैतिगण—उस उस उपाधि दृष्टि से परमात्मा का भेद जो मानते हैं, सर्व विज्ञान भी तदीय विज्ञान के अन्तर्भुक्त है, यह जो नहीं मानते हैं, वे अयथार्थ दर्शी हैं।

विष्णु पुराण में जीव स्वरूप ज्ञान की परमार्थता निषेध करके परमतत्त्व ज्ञान को निश्चयता का वर्णन हुआ है। जीव, अणु चैतन्य है, तज्जन्य वह असंख्य है। जीव, प्रभाव लक्षण गुण के द्वारा समस्त देह में व्याप्त होकर रहता है। स्वरूप में अणु होने के कारण, स्वरूप के द्वारा समस्त शरीर में व्याप्त होकर रह नहीं सकता है। परमतत्त्व, स्वरूप में विभु होने के कारण, स्वरूपतः ही सर्वव्यापी हैं, तज्जन्य उनको सर्व गत कहा गया है।

ग्रन्थारम्भ में कहा गया है कि—ब्रह्म परमात्मा एवं भगवान् रूप में परम तत्त्व की त्रिविध अभिव्यक्ति हैं। शक्ति की अभिव्यक्ति न होने के कारण, ब्रह्म की कोई भी लीला नहीं हैं। लीला से नाम जाति प्रभृति का प्रकाश होता है। एतज्जन्य ब्रह्म की कोई जाती नहीं हैं। परमात्मा--अन्तर्य्यामी हैं, सृष्ट्यादि लीला निर्वाहक, होने पर भी भक्त विनोदन हेतुः उनका विचित्र लीलाविष्कार नहीं है। पुरुषावतार रूप में कारणोदक में, गर्भोदक में एवं क्षीरोदक में आप विराज करते हैं, जन्मादि हेतुक

साध्यत्वात् सर्व्वविज्ञानान्तर्भावित्त्वाच्चेति भावः । ये तु द्वैतिन-स्तत्तदुपाधिदृष्ट्या तस्यापि भेदं मन्यन्ते, तद्विज्ञानेन सर्व्वविज्ञानान्तर्भावञ्च न मन्यन्ते, ते पुनरतथ्यदर्शिन एवेति । तत्रोपाधिभेदेऽंशभेदेऽप्यभेदो दृष्टान्तेन साधितो द्वाभ्याम् (वि० पु० २।१४।३२-३३)—

"वेणुरन्ध्रविभेदेन भेदः षड़्जादि-संज्ञितः । अभेदव्यापिनो वायोस्तथा तस्य महात्मनः ।।३७।।
एकत्वं रूपभेदश्च वाह्यकर्म्मप्रवृत्तिजः । देवादिभेदमध्यास्ते नास्त्येवावरणो हि सः ।।"३८।। इति ।

तथा तस्यैकत्वमित्यन्वयः । रूपस्य तत्तदाकारस्य भेदस्तु वाह्यस्य तदीयवहिरङ्गचिदंशस्य जीवस्य या कर्म्मप्रवृत्तिस्ततो जातः, स तु परमात्मा देवादिभेदमन्तर्यामितयैवाधिष्ठायास्ते,

---

अभिव्यक्ति उनकी नहीं होती है, प्रपञ्च में परमात्मा कभी भी आविर्भूत नहीं होते हैं।

सुतरां प्रापञ्चिक लीलाविष्कार के सहित उनका नाम प्रकाशित नहीं होता है । तज्जन्य परमात्मा के नाम के सम्बन्ध में कोई संशय नहीं हो सकता है । प्रापञ्चिक किसी रूप का सादृश्य उनमें न होने कारण जात्यादि सम्बन्ध में भी कोई संशय नहीं हो सकता है । भगवत् स्वरूप का प्रपञ्च में भक्त विनोदत हेतु होता है । उस के सहित नाम--एवं जाति प्रभृति—प्रापञ्चिक मत्स्यादि रूप के सादृश्य हेतु उन में संयोजित होते हैं । एतज्जन्य नाम जाति प्रभृति को भगवद्रूप में प्रकाश्य कहा गया है । यह नाम जात्यादि—

प्रपञ्च सम्बन्ध में प्रकाशित होने पर भी असत् एवं अनित्य नहीं हैं । नाम जात्यादि स्वरूप सिद्ध-अर्थात् स्वरूप में सतत विद्यमान हैं । जीव के नाम जात्यादि के समान—जन्म हेतु सञ्जात नहीं है। नित्य हैं । उक्त परमतत्त्व परमात्म रूप में प्रत्येक जीव देह में जीव के पक्ष में जो अपर है, उस के देह में अवस्थान करते हैं—अपर देह के सहित उपाधिगत भेद विद्यमान होने पर भी परमात्मा विभिन्न नहीं हैं । सब के देह में एक मात्र परमात्मा विराजित हैं । समस्त देह में एकमात्र परमात्मा की विद्यमानता का अनुभव ही परमार्थ है । यह अनुभव मायानिवृत्ति के पश्चात् उपस्थित होने से वह नित्य है, यह अनुभव लाभ करना ही साधन का उद्देश्य है । एवं इस अनुभव से सब कुछ जाने जाते हैं, अतः यह परमार्थ है ।

परमात्मा भेद दर्शी व्यक्ति को द्वैती कहा जाता है । द्वैतिगण मानते हैं--कि—विभिन्न देह में विभिन्न अन्तर्य्यामी हैं । एवं परमात्म ज्ञान के द्वारा जो सर्व विज्ञान लाभ होता है, इस को वे विश्वास नहीं करते हैं। केवल यही नहीं, वे अयथार्थ दर्शन ही करते हैं। अर्थात् स्वरूपभूत भगवन्नाम जाति प्रभृति को असत् अर्थात् प्राकृत मानते हैं।

विष्णु पुराण के २।१४।३२ ३३ में उपाधि भेद से होने पर भी दृष्टान्त के द्वारा अभेद साधित हुआ है—

"वेणुरन्ध्रविभेदेन भेदः षड़्जादि-संज्ञितः ।
अभेदव्यापिनो वायोस्तथा तस्य महात्मनः ।।३७।।
एकत्वं रूपभेदश्च वाह्यकर्म्मप्रवृत्तिजः ।
देवादिभेदमध्यास्ते नास्त्येवावरणो हि सः ।।"३८।। इति ।

जिस प्रकार अभेद व्यापी एक वायु, वेणुरन्ध्रभेद से षड़्जादि भेद से भेदित होता है, उन महात्मा का एकत्व भी तद्रूप है । रूप भेद से वाह्य कर्म्म प्रवृत्ति सम्भूत है । देवादि रूप अध्यस्त होने पर भी आप आवृत नहीं हैं । प्रथम श्लोकस्थ 'तथा' भेद के सहित द्वितीय श्लोक का 'एकत्व' पद का अन्वय है । अर्थात् "तथा तस्यैकत्वमित्यन्वयः" उक्त श्लोक द्वय की व्याख्या इस प्रकार है ।

रूपभेद—रूप-देवादि आकार—उसका भेद, वाह्य कर्म्म--वाह्य—तदीय (परमात्मा) वहिरङ्ग

ततदुपाधिसम्बन्धाभावाच्च नास्त्येवावरणं यस्य तथाभूतः सन्निति। तस्मात्तस्य देवाद्यवतारता तु स्वलीलामय्येवेति भावः।

अथ श्रीभगवत्साक्षात्कारस्य मुक्तित्वमाह (भा० ७।६।१८)—

(५) 'ततो विदूरात् परिहृत्य दैत्या, दैत्येषु सङ्गं विषयात्मकेषु।
उपेत नारायणमादिदेवं, स मुक्तसङ्गैरिषितोऽपवर्गः॥" ३८॥

टीका च—"यस्मात् स एवापवर्ग इष्टः" इत्येषा। अत्र नारायणस्यापवर्गत्वं तत्साक्षात्-कृतावेव पर्य्यवस्यति,— तस्या एव संसारध्वंस पूर्व्वक-परमानन्दप्राप्तिरूपत्वात्, तदस्तित्व-मात्रत्वे तादृशत्वाभावाच्च॥ श्रीप्रह्लादः॥

---

चिदंश जीव की जो कर्म्म प्रवृत्ति है—उस से उत्पन्न है। अर्थात् जीव की कर्म प्रवृति के कारण देव मनुष्यादि रूप भेद होते हैं। यह परमात्मा— देवादि विविध देह में अन्तर्य्यामी रूप मे अधिष्ठित हैं। किन्तु यह सब उपाधि (देवादि देह) सम्बन्धाभाव हेतु परमात्मा इस प्रकार रहते हैं कि—उनका कुछ भी आवरण नहीं है। सुतरां उनकी देवता रूपता निज लीलामयी है, यही तात्पर्य्य है।

अर्थात् परमात्मा अन्तर्यामि रूप में विभिन्न देह में अधिष्ठित होने पर भी आप देह धर्म में लिप्त नहीं होते हैं, उनका देह सम्बन्ध न होने के कारण, कभी भी देह द्वारा आवृत नहीं होते हैं, तज्जन्य उन में सर्व व्यापिता, स्व प्रकाशता, प्रभृति धर्म का व्यभिचार कभी नहीं होता है। कर्म्म का अभिमान निबन्धन जीव--देह बद्ध होता है। परमात्मा, सृष्ट्यादि लीला निर्वाह हेतु देवादि देह में अन्तर्य्यामि रूप में अवस्थित हैं, उनकी यह अवस्थिति पारतन्त्र्य निबन्धन नहीं हैं। अत एव कहा गया है कि—उनकी देवादि रूपता निज लीलामयी है।

## श्रीभगवत् साक्षात्कार—

ब्रह्म साक्षात्कार लक्षणा मुक्ति--एवं परमात्म साक्षात् कार लक्षणा मुक्ति का वर्णन करके सम्प्रति भगवत् साक्षात्कार लक्षणा मुक्ति का वर्णन करते हैं। भा० ७।६।१८ में उक्त है—

(५) "ततो विदूरात् परिहृत्य दैत्या, दैत्येषु सङ्गं विषयात्मकेषु।
उपेत नारायणमादिदेवं, स मुक्तसङ्गैरिषितोऽपवर्गः॥" ३८॥

टीका—विदूरात्—विदूरतः, सङ्गं परिहृत्य। यद्वा अविदूरात् शीघ्रं नारायणम्—उपेतेत्यन्वयः। यस्मात् स एव अपवर्ग इष्टः॥

श्रीप्रह्लाद कहे थे—हे दैत्य बालक वृन्द! विषयात्मक दैत्य समूहका सङ्ग परित्याग पूर्वक आदिदेव नारायण की शरण लो, श्रीनारायण--निःसङ्ग मुनिवृन्द के अभीष्ट मोक्ष हैं। स्वामिपादने कहा—कारण, श्रीनारायण ही अभीष्ट मोक्ष हैं।

यहाँ श्रीनारायण को जो मोक्ष रूप में कहा गया है, वह तदीय साक्षात् कार में ही पर्य्य वसित है। अर्थात् श्रीनारायण का साक्षात्कार ही मोक्ष है, कारण, वह साक्षात्कार—संसार ध्वंस पूर्वक-परमानन्द प्राप्ति रूप है। किन्तु श्रीनारायण का अस्तित्वमात्र से ही तादृशत्व की सम्भावना नहीं है। अर्थात् श्रीनारायण केवल विद्यमान हैं, अतः जीव का संसार बन्धनाश एवं परमानन्द लाभ सम्भव है, ऐसा नहीं। तदीय साक्षात्कार के द्वारा ही संसार बन्धनाश एवं परमानन्द लाभ सम्भव हो सकता है। तज्जन्य

६ । तथा (भा० ४।९।१७)—

(६) "सत्याशिषो हि भगवंस्तव पादपद्म,-माशीस्तथानुभजतः पुरुषार्थमूर्त्तेः ।
अप्येवमर्य्य भगवान् परिपाति दीनान्, वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान् ॥"४०॥

टीका च—"हे भगवन् ! पुरुषार्थः परमानन्दः, स एव मूर्त्तिर्यस्य तस्य तव पादपद्मम्, आशिषो राज्यादेः सकाशात् सत्या आशीः परमार्थफलम् हि निश्चितम्, कस्य ? तथा तेन प्रकारेण त्वमेव पुरुषार्थ इत्येवं निष्कामतया अनुभजतः । यद्यप्येवं तथापि हे अर्य्य हे स्वामिन् ! दीनान् सकामानप्यस्मान्" इत्यादिका । ध्रुवः श्रीध्रुवप्रियम् ॥

७ । स चात्मसाक्षात्कारो द्विविधः,—अन्तराविर्भावलक्षणो वहिराविर्भावलक्षणश्च, यथा (भा० १।६।३४)—

"प्रगायतः स्ववीर्य्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः ।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि ॥"४१॥

---

साक्षात्कार को ही मोक्ष कहा गया है । प्रवक्ता श्रीप्रह्लाद हैं ॥५॥

६ । उस प्रकार श्रीमद् भागवत के ४।९।१७ में वर्णित हैं--

(६) "सत्याशिषो हि भगवंस्तव पादपद्म-,माशीस्तथानुभजतः पुरुषार्थमूर्त्तेः ।
अप्येवमर्य्य भगवान् परिपाति दीनान्, वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान् ॥"४०॥

ध्रुव श्रीध्रुव प्रिय को कहे थे—हे भगवन् ! पुरुषार्थ मूर्त्ति आप का जो लोक भजन करते हैं, उनके पक्ष में आप का पादपद्म, राज्यादि से भी परमार्थ फल है । यह निश्चय सत्य है । तथापि हेस्वामिन् ! धेनु गण जिस प्रकार वत्स पालन करती हैं, उस प्रकार दीन हम सब को आप पालन करते हैं, कारण, आप अनुग्रह कातर हैं । श्लोकोक्त स्वामिटीका—हे भगवन् ! पुरुषार्थ--परमानन्द, वही जिन की मूर्त्ति है, वह आप हैं, उस प्रकार आपका पाद पद्म आशिस्--राज्यादि के निकट से निश्चय ही परमार्थ फल है, वह किस के निमित्त है ? उस प्रकार से आप ही पुरुषार्थ हैं, यह जानकर जो लोक निष्काम भाव से निरन्तर आप का भजन करते हैं, उनके निमित्त हैं । आप यद्यपि इस प्रकार हैं, तथापि हे अर्य्य ! हे स्वामिन् ! दीन सकाम हम सब को आप परि पालन करते हैं । हित साधन करने के निमित्त व्याकुल धेनु जिस प्रकार वत्स को दुग्ध पान कराती है, व्याघ्रादि से रक्षा करती है, आप उस प्रकार कृपालु होकर हमारी रक्षा करते हैं ।

यहाँ भक्ति माधुर्य्यास्वादन दुग्ध पान सदृश है, एवं भक्ति विघ्न से रक्षा, व्याघ्रादि से रक्षा तुल्य है । इस श्लोक में श्रीभगवान् को पुरुषार्थ मूर्त्ति कहने से उनको मोक्ष स्वरूप कहा गया है । जिस प्रकार पूर्वोक्त श्लोक में श्रीनारायण को मोक्ष स्वरूप कहा गया है । उस प्रकार इस श्लोक में भी भगवत् साक्षात् कार को मोक्ष रूप में निर्देश किया गया है ।

ध्रुव श्रीध्रुवप्रिय को कहे थे ॥६॥

श्रीभगवत् साक्षात् कार का भेद—

७ । जिस साक्षात्कार को मोक्ष कहा गया है, वह भगवत् साक्षात् कार द्विविध हैं—अन्तराविर्भाव

इत्यादौ, (भा० ३।१५।३८) "तेऽचक्षताक्षविषयं स्वसमाधिभाग्यम्" इत्यादौ च । तत्रान्तःसाक्षात्कारे योग्यता श्रीरुद्रगीते (भा० ४।२४।५९) —

---

लक्षण, वहिराविर्भाव लक्षण । भा० १।६।३४ में उक्त है—

"प्रगायतः स्ववीर्य्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः ।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि ।।४१।।

टीका—स्वप्रयोजनमाह—प्रगायत इति ।

क्रमसन्दर्भ—श्रीभगवतः प्रियश्रवस्त्वं नाम 'मत्तः सर्वेषां सुखमेव भवतात्, नेतरत्' इति दयामात्रापेक्षया । न तु स्व प्रतिष्ठेच्छयेति । विवेचनीयम् । अत्र यद्रूपेण वीणा ग्राहिता, तद्रूपेणैव चेतसि दर्शनं स्वारस्यलब्धम् ।।

श्रीनारद वेद व्यास को कहे थे—जिन के श्रीचरण का आविर्भावस्थान ही तीर्थ होता है, जो स्वीय यशः श्रवण से सुखी होते हैं, वह श्रीकृष्ण, उनका यशः कीर्त्तन समय में आहुत के समान मेरा हृदय में आविर्भूत होकर दृष्ट होते हैं । यह अन्तः साक्षात् कार का दृष्टान्त है । भा० ३।१५।३८ में उक्त है—

"तन्त्वागतं प्रति हृतौपयिकं स्व पुम्भि,
स्तेऽचक्षताक्षविषयं स्व समाधिभाग्यम् ।
हंसश्रियोर्व्यजनयोः शिव वायु लोल
शुभ्रातपत्र शशि केशर शीकराम्बुम् ।।"

टीका—तत्र तद्दृष्टं देवमनुवर्णयति पञ्चभिः । तन्तु आगतं ते अचक्षत अपश्यन् । आ पञ्चमादिदमेव क्रियापदम् । स्वपुम्भिः शीघ्रं प्रति हृतम्, आनीतम् औपयिकं गमनोचितं छत्र पादुकादि यस्य । कथम्भूतम् स्व सम धिना भाग्यं भजनीयं फलं यद् ब्रह्म तदेवाक्ष विषयम् । हंसवत् श्रीर्ययोस्तयोरुभयतश्चलतो-र्व्यजनयोर्यः शिवोऽनुकूल वायु स्तेन लोलन्तश्चलन्तः शुभ्रातपत्राः शशिकेशराः शुभ्रं यत् आतपत्रं तदेव शशि साहश्याच्छशी तस्य केशरामुक्ताहार विलम्वाः तेभ्यो गलन्ति शीकराम्बुनि यस्मिन्तस्य । शीकरोऽम्बुकणा ।

क्रमसन्दर्भ—तं त्वेति पञ्चकम् । ते सनकादयस्तमचक्षत ।" निरीक्ष्य च नेमुः' इति पञ्चभिरन्वयः । कथम्भूतम् ? स्वसमाधिना भाग्यं भजनीयं फलं यद् ब्रह्म, तदेवाक्षविषयम् । यद्वा स्तस्य ब्रह्म समाधि रूपस्य साधनस्य भाग्य फलरूपम् । यद्वा, स्व समाधेः स्वस्य हृदि ब्रह्माकारेण परतत्त्व स्फूर्त्ते भाग्यं फलरूपम् । यतोऽक्ष विषयं तदीय स्व प्रकाशता शक्ति संस्कृत निखिल धीन्द्रिय स्फुरितत्वेन सम्प्रति विस्पष्टमेवानुभूय-मानम् । अनेन पूर्ववत्तस्य शब्दस्पर्श रूप रस गन्धाख्यानां सर्वेषामेव धर्मानां सच्चिदानन्दघनात्मकत्वं साधितम् । तथानित्यमेव तथाविधमन्ततोदित्वर माधुरी वैचित्र्यानुभवपूर्वकं परम प्रेमानन्द सन्दोहेन सेवमानैस्तस्यात्मीयैः पुरुषैरानीत सेवौपयिक नाना वस्तुभिः सेव्यमानं भगवन्तं कथञ्चित् क्वचित् कदाचिदेव नापश्यन्, तदानीं केनापि समाधिजभाग्योदयेन केवलमपश्यन्निति तेषां परम विदुषां स्पृह.स्पदावस्थेषु तेषु श्रीवैकुण्ठ पुरुषेषु कस्या अपि भगवदानन्दशक्ते विलासमयत्वं दर्शितम् । अथतेषां भगवद्रतेरुद्दीपनत्वे न चित्तक्षोभकत्व त् तत् परिच्छदादीनामपि तादृशत्वमाह—हंसेति सार्द्धत्रिभिः केशरा मुक्तामय प्रालम्बाः । अत्र छत्रस्य शशितया केशराणां शीकराम्बुत्वेन रूपकम् । शशि सम्बन्धित्वच्छीकर रूपाणामम्बुनाममृतत्वं लभ्यते ।

ब्रह्मा के पुत्र सनकादि मुनिगण ब्रह्म समाधिरूप साधन के फल स्वरूप सुस्पष्ट अनुभूयमान श्रीभगवान् का दर्शन किये थे । उनके सन्मुख में भगवान् पद व्रज से आये थे एवं परिकर वृन्द उस समय

"न यस्य चित्तं वहिरर्थविभ्रमं, तमोगुहायाञ्च विशुद्धमाविशत् ।
यद्भक्तियोगानुगृहीतमञ्जसा, मुनिर्विचष्टे ननु तत्र ते गतिम् ॥"४२॥ इति ।

तत्र तेषां पूर्व्वोक्तानां सतां भक्तियोगेनानुगृहीतं विशुद्धं यस्य चित्तं वाह्येष्वर्थेषु भ्रान्तं न भवति, तमोरूपायां गुहायां च न विशति, स मुनिरित्यादिकं च व्याख्येयम् । वहिः

---

सेवायोग्य विभिन्न प्रकार वस्तु के द्वारा उनकी सेवा कर रहे थे । यह वहिः साक्षात्कार का दृष्टान्त है ।

यह द्विविध साक्षात्कार के मध्य में अन्तः साक्षात् कार की योग्यता का वर्णन श्रीरुद्रगीत भा० ४। २४।५९ में वर्णित है ।

"न यस्य चित्तं वहिरर्थविभ्रमं, तमोगुहायाञ्च विशुद्धमाविशत् ।
यद्भक्तियोगानुगृहीतमञ्जसा, मुनिर्विचष्टे ननु तत्र ते गतिम् ॥"४२॥

टीका—तत्त्व ज्ञानञ्च त्वद्भक्त सङ्गादेव भवतीत्याह न यस्येति । येषां सतां भक्तियोगेनानुगृहीतं विशुद्धं सत् यस्य चित्तं, वाह्यार्थ विक्षिप्तं न भवति, तमोरूपायां गुहायाञ्च नाविशत् लयं न प्राप, तत्र तदा स मुनिः तव गतिं तत्त्वं पश्यति ।

जिसका विशुद्ध चित्त वहिर्विषय में भ्रान्त नहीं होता है, तमोगुहा में प्रविष्ट नहीं होता है, वह मनन शील व्यक्ति, उक्त चित्त में तुम्हारी गति—चेष्टा लीला दर्शन करता है । विशुद्ध चित्त में भगवद्दर्शन लाभ होता है । विशुद्ध चित्त होने का कारण इस के पूर्ववर्त्ती भा० ४।२४।४९ में उक्त है ।

"अथानघाङ्घ्रेस्तव कीर्त्ति तीर्थयो
रन्तर्वहिः स्नानविधूत पाप्ननाम् ।
भूतेष्वनुक्रोश सुसत्त्वशीलिनां
स्यात् सङ्गमोऽनुग्रह एष न स्तव ॥"

टीका—अथ अतो हेतोः, अनघौ अघहरौ अङ्घ्रीयस्यतस्य तव कीर्त्ति यंशः, तीर्थं गङ्गा, तयोः क्रमेणान्तर्वहिः स्नानाभ्यां विधूतः पाप्ना येषाम् अतएव भूतेषु अनुक्रोशः कृपा सु सत्त्वञ्च रागादि रहितं चित्तं शीलञ्च आर्ज्ज वादि विद्यते येषां तेषां सङ्गमोऽस्माकं स्यात्, एष एव नः त्वदनुग्रहः ।

श्रीभगवद् यशः एवं गङ्गा—क्रमशः उभय के अन्तः वहिः स्नान के द्वारा जिनका पाप विदूरित हुआ है । जिन की दया, प्राणिगण के प्रति है, जिन का चित्त, रागादि रहित है, जो सारल्यादि गुण मण्डित है । उन साधु वृन्द के कृपालब्ध भक्ति योग के द्वारा अनुगृहीत होकर जिनका चित्त विशुद्ध है, अर्थात् हरि भक्ति से जिनका चित्त निर्म्मल है, अतः वहिः विषय में चित्त भ्रान्तः नहीं होता है, एवं तमो गुहा में प्रविष्ट नहीं होता है । वह मुनि विशुद्ध चित्त में तुम्हारी गति दर्शन करता है ।

अर्थात् भगवान् के जो सब साधु हैं, उन के सङ्ग से ही चित्त' विशेष रूप से शुद्ध होता है । अर्थात् प्रचुर साधनानुष्ठान करने पर भी जब तक साधु सङ्ग लाभ नहीं होता है, तब तक चित्त सर्वतो भावेन निर्म्मल वासना लेश शून्य नहीं होता है । जिन्हों ने अति तुच्छ जानकर मोक्षाभिलाष को परित्याग किया है, वे साधु हैं । उन साधु वृन्द के सङ्ग लाभ से चित्त विशुद्ध होता है, विशुद्ध चित्त में श्रीभगवल्लीला अनुभूत होती है । तज्जन्य विशुद्ध चित्त का परिचय प्रदान करते हैं । जिनका चित्त वहिरर्थ विभ्रम अर्थात् श्रीभगवत् स्मरण समय में विषय भावना से चञ्चल नहीं होता है, जिनका चित्त तमो गुहा—निद्रारूप गह्वर में प्रविष्ट नहीं होता है अर्थात् श्रवण स्मरणादि समय में निद्रातन्द्रायुक्त नहीं होता है, उनका चित्त विशुद्ध है । इस प्रकार चित्त शुद्धि के प्रति हेतु है—भक्ति योग । उस प्रकार विशुद्ध चित्त व्यक्ति,

साक्षात्कारेऽपि व्यतिरेकेण तथैव नारदं प्रति श्रीभगवतोक्तम्, (भा० १।६।२२)—

"हन्तास्मिन् जन्मनि भवान् मा मां द्रष्टुमिहार्ह ति ।
अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ।।"४३।। इति ।

न च केवलं शुद्धचित्तत्वमेव योग्यता, किं तर्हि ? तद्भक्तिविशेषाविष्कृत-तदिच्छामयतदीय-स्वप्रकाशता-शक्तिप्रकाश एव मूलरूपा सा, यत्प्रकाशेन तदपि निःशेषं सिद्ध्यति । यथान्तःसाक्षात्कारे (भा० ११।२।२१) "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" इत्यादि, तथा वहिः साक्षात्कारेऽपि

---

मननशील होकर श्रीभगवान् की गति–चेष्टा लीला लावण्यादि का दर्शन करता है ।

वस्तुतः अस्वच्छ चित्त के प्रति कारण, दशविध नामापराध ही भक्त्यपराध हैं, उक्तापराध की विद्यमानता में भक्ति देवी प्रसन्न नहीं होती है । अपराध समूह लय विक्षेप के हेतु हैं । प्रगाढ़ साधनाभि निवेश वा महत् कृपा से अपराध समूह विदूरित होते हैं, एवं लय विक्षेप भी दूर होते हैं । (१) सत् की निन्दा (२) श्रीविष्णु के नामादि से श्रीशिव नामादिका पृथक् चिन्तन (३) श्रीगुरुदेव की अवज्ञा (४) वेद-एवं वेदानुगत शास्त्र की निन्दा (५) हरिनाम माहात्म्य में अर्थवाद मानना । (६) प्रसिद्धार्थ परित्याग पूर्वक प्रकारान्तर से श्रीहरिनाम की अर्थ कल्पना, (७) अन्य शुभ कर्म के सहित श्रीहरिनाम की तुलना करना । (८) श्रद्धा हीन जन को नामोपदेश करना (९) नाम माहात्म्य श्रवण करके भी श्रीहरिनाम में अप्रीति एवं (१०) नाम के बल से पाप कार्य्य में प्रवृत्ति ।

भगवत् साक्षात् कार का मनोरम क्रम इस प्रकार है—(१) साधु कृपा, (२) महत् सेवा, (३) श्रद्धा (४) गुरु पादाश्रय, (५) भजन स्पृहा, (६) भक्ति--भजन क्रिया, (७) अनर्थ निवृत्ति, (८) निष्ठा, (९) रुचि, (१०) आसक्ति, (११) रति, (१२) प्रेम, (१३) भगवत् साक्षात् कार (१४) भगवन्माधुर्य्यानुभव ।

भक्त्यनु गृहीत विशुद्ध चित्त में जिस प्रकार अन्तः साक्षात्कार सम्भव होता है, तादृश चित्त में उस प्रकार वहिः साक्षात् कार भी सम्भव होता है—व्यतिरेक मुख से अर्थात् निषेध मुख से श्रीनारद के प्रति श्रीभगवान् कहे थे (भा० १।६।२२)

"हन्तास्मिन् जन्मनि भवान् मा मां द्रष्टुमिहार्हति ।
अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ।।"४३।।

टीका—हन्तेति सानुकम्प सम्बोधने । मा इति मां द्रष्टु' मार्हति—नार्हति । यतोऽविपक्वा अदग्धाः कषाया मलाः कामादयो येषां तेषां कुयोगिनाम् अनिष्पन्न योगानाम् ।

हे नारद ! इस जन्म में तुम मुझ को देख नहीं पाओगे । कारण, जिसका कषाय दग्ध नहीं हुआ है, इस प्रकार कुयोगि वृन्द मुझ को देख नहीं पाते हैं ।

केबल शुद्ध चित्तता ही भगवत् साक्षात्कार के प्रति हेतु नहीं है, किन्तु भगवद् भक्ति विशेष द्वारा आविष्कृत श्रीभगवान् की इच्छा विशेषमय भगवदीय स्व प्रकाशता शक्ति का प्रकाश ही मौलिक योग्यता है । "तद्भक्ति विशेषाविष्कृत तदिच्छामय तदीय स्व प्रकाशता शक्ति प्रकाश एव मूलरूपा सा, यत् प्रकाशेन तदपि निःशेषं सिध्यति ।।" उक्त शक्ति का प्रकाश होने पर सम्पूर्ण रूप से चित्त शुद्धि होती है । भा० ११।२।२१ में अन्तः साक्षात् कार का दृष्टान्त है—

"भिद्यते हृदय ग्रन्थि श्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयते चास्य कर्म्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ।।"

श्रीसङ्कर्षणं प्रति चित्रकेतुवाक्ये (भा० ६।१६।४४) —"न हि भगवन् न घटितमिदं, त्वद्दर्शनान्-नृणामखिलपापक्षयः" इति, प्रह्लादं प्रति श्रीनृसिंह-वाक्ये (भा० ७।९।५३) —

"मामप्रीणत आयुष्मन् दर्शनं दुर्लभं मम।
दृष्ट्वा मां न पुनर्जन्तुरात्मानं तप्तुमर्हति ॥"४४॥ इति,

श्रीभगवन्तं प्रति श्रुतदेववाक्ये च, (भा० १०।८६।४९)—

"स त्वं शाधि स्वभृत्यान्नः किं देव करवाम ते।
एतदन्तो नृणां क्लेशो यद्भवानक्षिगोचरः ॥"४५॥ इति।

---

टीका—ज्ञान फलमाह भिद्यत इति। हृदयमेव ग्रन्थिः, चिज्जड़ ग्रन्थन रूपोऽहङ्कारः, अतएव सर्वे संशया असम्भावनादि रूपाः, कर्म्माण्यनारब्ध रूपाणि। आत्मनि स्वरूपभूते ईश्वरे दृष्टे साक्षात् कृते सति। एव करेण ज्ञानानन्तर मेवेति दर्शयति।

भगवत्तत्वज्ञ मुक्त सङ्ग व्यक्ति का आत्मामें अर्थात् मनोमध्य में ईश्वर का दर्शन होने से अहङ्कार ग्रन्थि भिन्न होती है, सर्व संशय च्छिन्न होते हैं, एवं निखिल कर्म क्षीण होते हैं।

बहिः साक्षात्कार का दृष्टान्त भा० ६।१६।४४ में है।

"नहि भगवन्नघटितमिदं त्वद् दर्शनान्नृणामखिल पापक्षयः।
यन्नामसकृच्छ्रवणात् पुक्कशोऽपि विमुच्यते संसारात् ॥"

टीका—एवम्भूतस्य भगवन्धर्मप्रवर्त्तकस्य तव दर्शनात् सर्वपापक्षयो भवतीति कि चित्रमित्याह-नहीति ॥'

श्रीचित्र केतु श्रीसङ्कर्षण देव के कहे थे। हे भगवन्! आप के दर्शन से मानव वृन्द के अखिल पाप क्षय होते हैं, यह आश्चर्य्य का विषय नहीं है। आप का नाम एकबार मात्र श्रवण करके पुक्कश भी संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है। भा० ७।९।५३में प्रह्लाद के प्रति श्रीनृसिंह देव कहे थे।

"मामप्रीणत आयुष्मन् दर्शनं दुर्लभं मम।
दृष्ट्वा मां न पुनर्जन्तुरात्मानं तप्तुमर्हति ॥"४४॥

टीका—अप्रीणतः-अप्रीणयतः। तप्तुमकामत्वेन शोचितुम्।

हे आयुष्मन्! जो व्यक्ति, मेरा प्रियकार्य्य नहीं करता है, अर्थात् प्रीति सम्पादन नहीं करता है, उस के पक्ष में मेरा दर्शन दुर्ल्लभ है। मुझ को दर्शन करने से कुछ मनोरथ अपूर्ण रह गया है, यह मानकर शोक करना नहीं पड़ता है।

इस से सुस्पष्ट हुआ कि—भगवत् साक्षात् से सर्वाभीष्ट सिद्ध होते हैं। सुतरां चित्त क्षोभ का अभाव होता है, वही चित्त शुद्धता का परिचायक है। भा० १०।८६।४९ में

श्रीभगवान् के प्रति श्रुतदेवने भी कहा था—

"स त्वं शाधि स्वभृत्यान्नः किं देव करवाम ते।
एतदन्तो नृणां क्लेशो यद्भवानक्षिगोचरः ॥"४५॥

टीका—स एवम्भूतः परमेश्वरस्त्वं नोऽस्मान् स्वभृत्यान् शाधि-अनुशिक्षय ॥

हे देव! हम सब आप के भृत्य हैं, आप के कौन कार्य्य हम सब करेंगे—इस विषय में शिक्षाप्रदान करें, आप नयन गोचरीभूत होने से मानवों का क्लेश का अवसान होता है।

तदेवं तत्प्रकाशेन निःशेष-शुद्धचित्तत्वे सिद्धे, पुरुषकरणानि तदीय-स्वप्रकाशताशक्ति-तादात्म्यापन्नतयैव तत्प्रकाशताभिमानवन्ति स्युः। तत्र भक्तिविशेषसापेक्षत्वमुक्तम्—(भा० १।२।१२) "तच्छ्रद्दधाना मुनयः" इत्यादौ। तदिच्छामयेत्याद्युदाहरणं च ब्रह्म-भगवतोरविशेषतयैव दृश्यते, यथा सत्यंव्रतं प्रति श्रीमत्स्यदेववाक्ये (भा० ८।२४।३८)—

---

श्रीश्रुत देव ने 'शिक्षादान करें' इस प्रकार प्रार्थना की, उक्त प्रार्थना के पश्चात् हेतु निर्देश किया, हम सब आप के भृत्य हैं, प्रभु के निकट से शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार भृत्य का है। शिक्षादान के विषय में भी आपने कहा—जो कार्य्य हमें करना है, वह कार्य्य आप का प्रीति सम्पादनार्थ ही करेंगे—इस प्रकार ही शिक्षा प्रदान करें। निजेच्छानुरूप कार्य्य न करके प्रभु की इच्छा के अनुरूप कार्य्य भृत्य क्यों करेंगे? उत्तर में कहते हैं, आप 'देव' हैं, निजेष्ट देव हैं, निजेष्ट देव की प्रीति सम्पादन करना ही भृत्य का कर्त्तव्य है। इस से प्रभु कह सकते हैं कि संसार क्लेशाभिमानी जीव के पक्ष में पूर्ण रूपेण मदीय उपदेश के अनुसार चलना असम्भव है? तज्जन्य उन्होंने कहा—श्रीकृष्ण! आप का दर्शन मात्र से ही संसार क्लेशाभिमान विदूरित हो गया है। सम्प्रति केवल आप की आज्ञा पालन रूप जो पुरुषार्थ है, वही अवशिष्ट है, उस को प्रदान आप करें।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश--यह पञ्चविध क्लेश भोग जीव करता है। उक्त क्लेश समूह के द्वारा जीव का चित्त विक्षुब्ध-अर्थात् मलिन है। भगवत् साक्षात् कारके द्वारा यह सब क्लेश की निवृत्ति हो गई हैं, उस से चित्त सम्यक् विशुद्ध होता है, यह प्रतीति हुआ। इस से प्रतिपन्न हुआ हैं कि--श्रीभगवान् की स्व प्रकाशता शक्ति प्रकाश से सम्यक् चित्त शुद्धि होती है। भगवत् साक्षात् कार योग्य मानवीय इन्द्रिय समूह, तदीय स्व प्रकाशता शक्ति के सहित तादात्म्यापन्न होकर ही श्रीभगवान् को प्रकाश कर रही हैं इस प्रकार अभिमान करती हैं।

अर्थात् भगवत् साक्षात् कार के समय बोध होता है कि- प्राकृत चक्षुरादि इन्द्रिय द्वारा श्रीभगवान् को अनुभव कर रहा हूँ। वास्तविक यह नहीं है। भगवान् निज स्वप्रकाशता शक्ति से ही भक्त के गोचरीभूत होते हैं। उस समय इन्द्रिय समूह उक्त शक्ति के सहित तादात्म्यापन्न होने के कारण, बोध होता है कि—इन्द्रिय समूह के द्वारा मैं अनुभव कर रहा हूँ। जिस प्रकार लौह दग्ध करने में सक्षम नहीं है, किन्तु अग्नि तादात्मापन्न लौह ही दहन कार्य्य में सक्षम है। उस प्रकार श्रीभगवान् की स्वप्रकाश के सहित तादात्म्य प्राप्त इन्द्रिय--भगवदनुभव करने में समर्थ है।

तद्भक्ति विशेषाविष्कृत तदिच्छामय तदीय स्व प्रकाशता शक्ति प्रकाश ही भागवत् साक्षात् कार की मुख्य योग्यता निर्दिष्ट हुई है।

भगवान् की स्व प्रकाशता शक्ति प्रकाश में हेतुद्वय हैं। भक्ति विशेष, एवं श्रीभगवान् की इच्छा। भगवद् विषयिणी भक्ति विशेष द्वारा तदीय स्व प्रकाशता शक्ति प्रकटित होती है, अतः उस में भक्ति विशेष की अपेक्षा है। एवं जिस समय श्रीभगवान् जिस के समीप में स्व प्रकाशता शक्ति को प्रकट करने की इच्छा करते हैं, उस समय उस के निकट में स्वप्रकाशता शक्ति प्रकाशित होती है। तज्जन्य भगवदिच्छा उक्त शक्ति प्रकाश में अपर हेतु है। क्रमशः उस का प्रदर्शन करते हैं।

स्व प्रकाशता शक्ति प्रकाश में भक्ति विशेष की अपेक्षा का विवरण-भा० १।२।१२ है-

"तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञान वैराग्य युक्तया।
पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया॥

"मदीयं महिमानञ्च परं ब्रह्मेति शब्दितम् ।
वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नैर्विवृतं हृदि ।।"४६।। इति,

तथैव हि ब्रह्माणं प्रति श्रीभगवद्वाक्ये (भा० २।६।२१) "मनीषितानुभावोऽयं मम लोकावलोकनम्" इति, श्रीनारायणाध्यात्मे—

---

टीका—तच्च तत्त्वं सपरिकरया भक्त्या एव प्राप्यत इत्याह । तच्चेत्यन्वय । ज्ञान वैराग्य युक्तयेत्यत्र ज्ञानं परोक्षम् । तच्चतत्त्वम् आत्मनि क्षेत्रज्ञे पश्यन्ति । किं तत् ? आत्मानं परमात्मानम् । श्रुतेन वेदान्त श्रवणेन, गृहीतया प्राप्तया इति भक्ते र्दार्ढ्यमुक्तम् ।

श्रद्धावान् मुनिगण, ज्ञान वैराग्य युक्ता श्रुत गृहीता भक्ति द्वारा शुद्ध चित्त में आत्मा का दर्शन करते हैं । एवं तदीय इच्छामय इत्यादि का उदाहरण--ब्रह्म एवं भगवान् का अविशेष है, अर्थात् एक ही तत्त्व रूप में वर्णन मत्यदेव प्रसङ्ग में है— भा० ८।२४।३८ में सत्यव्रत के प्रति श्रीमत्स्य देवने कहा

"मदीयं महिमानञ्च परं ब्रह्मेति शब्दितम् ।
वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नैर्विवृतं हृदि ।।"४६।।

टीका—मे--मयानुगृहीतं प्रसादीकृतं हृदि अपरोक्षं वेत्स्यसि । त्वया कृतैः सम्प्रश्नैर्मया विवृतं प्रकाशितं सन्तम् ।

मेरी महिमा—परम ब्रह्म शब्द से अभिहित है । तुमने सम्यक् प्रश्न किया है । तज्जन्य मदीय अनुग्रह से तुम्हारे हृदय में प्रकाशित वस्तु का अनुभव तुम करोगे ।

श्रीमत्स्य देव की इच्छा से सत्य व्रत के हृदय में परम ब्रह्म प्रकाशित हुए थे । वह भी मदीय अनुग्रह से सम्भव है । इस से बोध होता है, ब्रह्म एवं भगवान्—उभय ही अद्वय ज्ञान—स्व प्रकाशित वस्तु हैं । सुतरां ब्रह्म प्रकाश के प्रति जो हेतु है, वही भगवत् प्रकाश में भी हेतु है । एतज्जन्य सन्दर्भ ग्रन्थ में ब्रह्म एवं भगवान् को अविशेष रूप से कहा गया है । श्लोकोक्त अभिप्राय यह है—आत्माराम वृन्द के सङ्ग से सत्य व्रत को ब्रह्मानुभव की इच्छा हुई थी, भक्त वाञ्छाकल्पतरु श्रीभगवान् भक्त के अभीष्ट पूर्ण करते हैं । तज्जन्य उनको ब्रह्मानुभव कराये थे । सर्व प्रथम ब्रह्म का स्वरूप वर्णन करते हैं--मेरी महिमा--अर्थात् ऐश्वर्य्य है, मेरा व्यापक निर्विशेष स्वरूप ही ब्रह्म शब्द से अभिहित है । ब्रह्म स्वरूप को मैं मेरी महिमा, ऐश्वर्य्य-अर्थात् मेरा एक धर्म--क्यों कहता हूँ, सुनो । तुम्हारे निकट सच्चिदानन्द विग्रह जो मत्स्य रूप में आविर्भूत है, इस रूप में ही मेरा सम्यक् प्रकाश है । ब्रह्म,-इस रूप की ही महिमा है । मैं न दिखाने से कोई भी मेरा स्वरूप ऐश्वर्य्यादि को देखने में सक्षम नहीं हैं । तज्जन्य मैं अनुग्रह पूर्वक प्रकाश करता हूँ । यद्यपि, ब्रह्मानुभव भी मेरा अनुभव को ही अन्तर्भुक्त है, एतज्जन्य पृथक् ब्रह्मानुभव की कोई अपेक्षा नहीं है, तथापि भक्त के द्वारा प्रकाशित साक्षात् मदीय अनुभव के समय में 'केवल ब्रह्मानुभव' अभिव्यक्त नहीं होता है । यदि ब्रह्मानुभव करने की कथञ्चित् इच्छा हो तो, मदीय अनुग्रह वह अभीष्ट भी पूर्ण होगा ।

ब्रह्मा के प्रति श्रीभगवद् वाक्य में भी उस प्रकार अभिप्राय व्यक्त हुआ है । भा० २।९।२१ में उक्त है—

"मनीषितानुभावोऽयं मम लोकावलोकनम् ।
यदुपश्रुत्य रहसि चकर्थ परमंतपः ।।"

टीका—एतच्च मत् कृपयैव त्वया प्राप्तमित्याह । मनीषितमिच्छा तुभ्यमिदं दातव्यमिति या ममेच्छा, तस्या अनुभावोऽयम् । कोऽसौ तमाह । मम लोकस्यावलोकनयत् । न चेदं ममैव तपोबलेन

"नित्याव्यक्तोऽपि भगवानीक्ष्यते निजशक्तितः । तामृते पुण्डरीकाक्षं कः पश्येतामितं प्रभुम् ।।"४७।। इति ।

श्रुतौ च (कठ० १।२।२३) "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्" इति, ततस्तत्–करणशुद्धयपेक्षापि तच्छक्तिप्रतिफलनार्थमेव ज्ञेया । एवमपि भक्त्या तं दृष्टवति मुचुकुन्दादौ या मृगया–पापाद्यस्तिता श्रीभगवता कीर्त्तिता, सा तु प्रेमवर्द्धिन्या झटिति-भगवदप्राप्तिशङ्काजन्मनस्तदुत्कण्ठाया वर्द्धनार्थं विभीषिकयैव कृता । यत्तु तदीय-स्निग्धानां श्रीयुधिष्ठिरादीनां नरकदर्शनम्, तत् खलु इन्द्रमायामयमेवेति स्वर्गारोहणपर्व्वण्येव-

---

प्राप्तव्यमिति स्वातन्त्र्यं मन्यस्व, तत् प्रवृत्तेरपि मत्कृतत्वादित्याह, रहसि तप तपेति यद्व च उपश्रुत्य परमं तपश्चकर्थ कृतवानसि ।

श्रीभगवदिच्छा से ही उनका दर्शन लाभ होता है । ब्रह्मा को कहे थे– मेरा लोक-स्थान 'श्रीवैकुण्ठ' दर्शनेच्छा तुम्हारी हुई, यह मेरी इच्छा का ही प्रभाव है । अर्थात् तुम को स्थान दर्शन कराने की मेरी इच्छा हुई थी उस से ही तुम दर्शन कर पाये हो ।

श्रीनारायणाध्यात्म में लिखित है—

"नित्याव्यक्तोऽपि भगवानीक्ष्यते निज शक्तितः ।
तामृते पुण्डरीकाक्षं कः पश्येतामितं प्रभुम् ।।"४७।।

भगवान् नित्य अव्यक्त होने पर भी भक्त वृन्द, तदीय निजशक्ति के द्वारा उनको दर्शन करते हैं । उनकी शक्ति को छोड़कर कमल नयन अमित प्रभु को कौन देख सकता है ? कठोपनिषत् १।२।२३ में उक्त

"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ।।"

श्रीभगवान् जिस को निज दर्शन कराने के निमित्त वरण करते हैं, वह उनको दर्शन कर सकता है । यह आत्मा (भगवान्) उस के निकट में निजरूप को प्रकट करते रहते हैं ।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—भगवदिच्छामयतदीय स्व प्रकाशता शक्ति प्रकाश ही यदि तदीय साक्षात् कार के प्रति हेतु है, तो दर्शनार्थी को इन्द्रिय शुद्धि की आवश्यकता ही क्या है ? उत्तर में कहते हैं, भगवदीय शक्ति प्रति फलन हेतु दर्शनार्थी को इन्द्रिय शुद्धि की अपेक्षा है । इस प्रकार जानना चाहिये । यदि ऐसा हो तो भगवत् साक्षात् कारी मुचुकुन्द प्रभृति में मृगया पापादि वर्त्तमान हैं, श्रीकृष्ण-इस प्रकार क्यों कहे थे ? उत्तर में कहते हैं—श्रीभगवान् की स्व प्रकाशता शक्ति का प्रति फलन निबन्धन इन्द्रिय शुद्धि का प्रयोजन होने पर भी भक्ति बल से भगवद् दर्शन कारी मुचुकुन्द प्रभृति में मृगया जनित पापादि अस्तित्व की कथा का कीर्त्तन, श्रीभगवान् किये थे– उस का कारण है, उत्कण्ठा वर्द्धन करना है । अर्थात् झटिति भगवद् अप्राप्ति की आशङ्का को उत्पन्न करके मुचुकुन्द में प्रेम वर्द्धिनी उत्कण्ठा वर्द्धित किये थे । वास्तविक उन में पाप लेश नहीं था ।

और श्रीकृष्ण प्रेमवान् भक्त श्रीयुधिष्ठिर प्रभृति को जो नरक दर्शन हुआ था– इस का वर्णन महाभारत में प्रसिद्ध है, वह नरक दर्शन—यथार्थ नरक दर्शन नहीं है, किन्तु इन्द्र मायामय है, इस का वर्णन महाभारत के स्वर्गारोहण पर्व में है । इन्द्र माया द्वारा स्वर्ग में नरक दर्शन असम्भव नहीं है, कारण, विष्णु धर्मोत्तर में उक्त है, एक ब्राह्मण ने तृतीय जन्म में तिल धेनु दान किया था, उस विप्र का प्रसङ्ग मात्र से ही नरकस्थ व्यक्ति वृन्द को भी स्वर्गस्थ व्यक्ति वृन्द के समान रूपलाभ हुआ था । श्रीमद् भागवत किन्तु इस प्रकार उक्ति को स्वीकार नहीं करते हैं, कारण, श्रीमद् भागवत में इस उपाख्यान का वर्णन नहीं

व्यक्तमस्ति—विष्णुधर्म्मे तृतीयजन्मनि दत्ततिलधेनोरपि विप्रस्य प्रसङ्गमात्रेण नारकाणामपि स्वर्गे तुल्यरूपताप्राप्तिवर्णनात्, श्रीभागवतेन तु तदपि नाङ्गीक्रियते, तदनुपाख्यानात्, प्रत्युताऽव्यवहित-भगवत् प्राप्तिवर्णनाच्च ।

अथ यदवतारादावशुद्धचित्तानामपि तत्साक्षात्कारः श्रूयते, तत् खलु तदाभास एव ज्ञेयः,—(गी० ७।२५) "नाहं प्रकाशः सर्व्वस्य योगमायासमावृतः" इति श्रीगीतोपनिषद्भ्यः, "योगिभिर्दृश्यते भक्त्या नाभक्त्या दृश्यते क्वचित् । द्रष्टुं न शक्यो रोषाच्च मत्सराच्च जनार्दनः ॥"४८॥

---

हुआ है, अधिकन्तु स्वर्गारोहण के अव्यवहित पश्चात् काल में श्रीभगवत् प्राप्ति वर्णित है ।

"यत्तु तदीयस्निग्धस्य श्रीयुधिष्ठिरस्य नरक दर्शनम्, तत् खलु लोक विभीषितार्थं स्वदृष्टयानेक नारक निस्तारणार्थञ्च स्वाच्छन्द्येनैवाचरितमिति ज्ञेयम" इस प्रकार भी पाठान्तर है ।

शुद्धेन्द्रिय में स्वप्रकाशता शक्ति प्रतिफलन द्वारा श्रीभगवत् साक्षात्कार की योग्यता होती है, इस प्रकार सिद्धान्त के प्रतिकूल में संशय हो सकता है कि—भगवदवतार के समयमें अशुद्ध चित्त साधारण जनगण भी भगवत् साक्षात्कार किये हैं, यह प्रसिद्ध है । ऐसा होने पर भगवत् साक्षात्कार के प्रति इन्द्रिय शुद्धि की अपेक्षा कहाँ रहती है ? इस प्रकार संशय अपनोदन हेतु कहते हैं—अवतार समय में अशुद्ध चित्त व्यक्ति गण के पक्ष में भगवत् साक्षात्कार का जो विवरण श्रुत है, वह साक्षात् कार का आभास मात्र ही है । इस प्रकार जानना होगा । कारण श्रीमद् भगवद् गीता ७।२५ में कथित है—

"नाहं प्रकाशसर्वस्य योगमाया समावृतः ।
मूढ़ोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥"

टीका—ननु भक्ता इवाभक्ताश्च त्वां प्रत्यक्षी कुर्वन्ति प्रसादादेव भजत्स्वभिव्यक्ति रिति कथम् ? तत्राह, नाहमिति । भक्तानामेवाहं नित्यविज्ञान सुखधनोऽनन्त कल्याण गुणकर्म्मा प्रकाशोऽभिव्यक्तो, नतु सर्वेषां भक्तानामपि । यदहं योगमायया समावृतो मद्विमुखव्यामोहकत्व योग युक्तया मायया समाच्छन्न परिसर इत्यर्थः । यदुक्तं-- 'मायाजवनिकाच्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः ॥" इति । मायामूढ़ोऽयं लोकोऽलि मानुष दैवत प्रभावं विधिरुद्रादि वन्दितमपि मां नाभिजानाति । कीदृशम् ? अजं—जन्म शून्यम्, यतोऽव्ययमप्रच्युत स्वरूप सामर्थ्य सार्वज्ञयादिकमित्यर्थः ॥

श्रीकृष्ण चन्द्र का प्रकट विहार समय में भक्त--अभक्त सर्व साधारण जनगण उनको दर्शन करने पर भी भक्त वृन्द में ही उनकी अभिव्यक्ति होती है, श्रीमुख से ही इस का कथन श्रीकृष्ण किये हैं—नित्य विज्ञान सुखघन अनन्त कल्याण गुण कर्मा मैं भक्त वृन्द के निकट प्रकाशित होता हूँ । अर्थात् अभक्त वृन्द के निकट व्यक्त नहीं होता हूँ । कारण, मैं योगमाया समावृत हूँ । श्रीकृष्ण का अचिन्त्य प्रज्ञा विलास का नाम योग है, वह भगवद् विमुख जनगण में विमोह उत्पन्न करता है । इस प्रकार योगयुक्त मायाद्वारा मैं समावृत रहता हूँ ।

माया विमोहित जनगण, अचिन्त्य प्रभावशाली, ब्रह्मरुद्रादि वन्दित--मुझ को नहीं जानते हैं, मैं जन्म रहित हूँ । मदीय स्वरूप स्थित सार्वज्ञादि का कभी व्यतिक्रम नहीं होता है ।

भक्ति द्वारा योगिगण भगवान् का दर्शन करते हैं, भक्ति के अभाव से भगवद् दर्शन नहीं होता है । क्रोध एवं पर श्री कातरता हेतु भगवद् दर्शन में सामर्थ्य नहीं होती है । पाद्मोत्तर खण्ड में लिखित है—

"योगिभिर्दृश्यते भक्त्या नाभक्त्या दृश्यते क्वचित् ।
द्रष्टुं न शक्यो रोषाच्च मत्सराच्च जनार्दनः ॥"४८॥

इति पाद्मोत्तरखण्डाच्च । अदर्शनञ्चात्रानवतारसमये व्यापकस्यापि दर्शनाभावः, अवतारसमये तु परमानन्देऽपि दुःखदत्वम्, मनोरमेऽपि भीषणत्वम्, सर्व्वसुहृद्यपि दुर्हृत्त्वमित्यादि-विपरीत-दर्शनमेव । तदप्रकाशे योगमायाप्रकाशे च मूलं कारणं तद्भक्तापराधादिमयपुरुष-चित्तास्वाच्छ्यम्, यत् खलु तदानीन्तने तस्य सार्व्वत्रिकप्रकाशेऽपि वज्रलेपायते । अतएव (भा० २।१०।६) "मुक्तिर्हित्वा" इत्यादिलक्षणस्याव्याप्तेर्न तस्य साक्षात्कारा भासस्य मुक्ति-संज्ञत्वमपि । अतएव श्रीविष्णुपुराणे (४।१५।८) "तच्च रूपम्" इत्यादि-गद्येन यद्यपि शिशुपालस्य तद्दर्शनमुक्तम्, तथापि निर्दोषदर्शनं त्वन्तकाल एव उक्तम्, (वि० पु० ४।१५।६)

---

भगवद्दर्शन की रीति इस प्रकार है—अवतार काल भिन्न अन्य समय में सर्वव्यापी श्रीभगवान् होने पर भी दर्शन उनका नहीं होता है, एवं भगवान् परमानन्द स्वरूप होने पर भी अवतार समय में उन में दुःखदत्व मनोरम होने पर भी भीषणत्व, एवं सर्व सुहृद् होने पर भी शत्रुत्व की उपलब्धि प्रभृति विपरीत दर्शन होता ही है ।

अवतार भिन्न काल में सर्वव्यापक श्रीभगवान् का अप्रकाश के प्रति एवं अवतार समय में योग माया द्वारा अप्रकाश के प्रति मूल कारण ही है, भगवद् भक्त चरणों में अपराधादिमय जीव चित्त की अस्वच्छता । वह श्रीभगवान् के तात् कालीन सार्वत्रिक प्रकाश में भी वज्र लेप के समान वर्त्तमान रहती है । अर्थात् वज्र--हीरक अति कठिन पदार्थ है, उस के द्वारा किसी वस्तु आवृत होने पर अन्य पदार्थ उस को स्पर्श करने में जिस प्रकार सक्षम नहीं है, उस प्रकार जिस का चित्त वैष्णवापराध मालिन्य द्वारा आवृत है, श्रीभगवान् सर्वत्र प्रकाशित होने पर भी उस चित्त में स्फुरित नहीं होते हैं ।

वज्रलेप आयुर्वेदोक्त लेपन प्रक्रिया है । अतएव भा० २।१०।६ में उक्त "मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः" अन्यथा रूप, अर्थात् वहिर्म्मुखता निवृत्त होने के पश्चात् स्वरूप में व्यवस्थिति का नाम मुक्ति है । इस वाक्य रूप "स्वरूपेण व्यवस्थितिः" का अर्थ किया गया है—स्वरूप साक्षात्कार । इस के पहले जो साक्षात्काराभास की कथा कही गई है, उस में स्वरूप का साक्षात् कार नहीं होता है, तज्जन्य अवतार समय में अशुद्ध चित्त व्यक्ति को जो भगवद् दर्शन होता है, उस में मुक्ति लक्षण की अव्याप्ति हेतु अभाव के कारण, साक्षात्काराभास की मुक्ति संज्ञा नहीं हो सकती है । साक्षात्काराभास की मुक्ति संज्ञा न होने के कारण—विष्णु पुराण के ४।१८।८ गद्य में

"तच्च रूपमुत्फुल्ल पद्मदलामलाक्षमत्युज्ज्वल पीत वस्त्र धार्य्यमल किरीट केयूर कटकोपशोभित मुदार पीवर चतुर्बाहु शङ्ख चक्र गदासिधरम्, अति प्रौढ़ वैरानुभावात् अटन भोजन स्नानासन शयनादिष्व वस्थान्तरेषु नैवाप यथावश्यात्मचेतसः ।।"

"प्रबल वैरभाव निबन्धन शिशुपाल के चित्त से भ्रमण, भोजन, स्नान, आसन एवं शयनादि अवस्था समूहमें भी भगवान् का रूप अपसृत नहीं होता था । वह रूप,प्रफुल्ल पद्मदल सदृश अमल नेत्रधारी, अत्युज्ज्वल पीत वस्त्र, धारी, अमल केयूर किरीट एवं कटक द्वारा उपशोभित, दीर्घपुष्ट बाहु चतुष्टय द्वारा शङ्ख, चक्र गदा एवं असिधारी है ।" यद्यपि शिशु पाल का श्रीभगवद् दर्शन उक्त है, तथापि अन्तिम समय में ही निर्दोष दर्शन का विवरण परवर्त्ती गद्य में वर्णित है । विष्णु पुराण (४।१५।६) "आत्मविनाशाय भगवदस्तचक्रांशुमालोज्ज्वलमक्षयतेजः स्वरूपं परमब्रह्मभूतमपगतद्वेषादिदोषो भगवन्तमद्राक्षीत्"

शिशुपाल के द्वेषादि दोष विदूरित होने से, विनाश हेतु श्रीभगवत् कर्त्तृक निक्षिप्त चक्र के किरण

"आत्मविनाशाय भगवदस्तचक्रांशुमालोज्ज्वलमक्षयतेजःस्वरूपं परमब्रह्मभूतमपगतद्वेषादिदोषो भगवन्तमद्राक्षीत्" इत्यनेन, (भा० १०।८६।४९) "एतदन्तो नृणां क्लेशो यद्भवानक्षिगोचरः" इत्यादिकं च नृषु ये स्वच्छचित्ता ये च तद्भक्तापराधेतरदोष-मलिनचित्तास्तेषां क्लेशनाशस्य तदात्वापेक्षया ये त्वन्यादृशास्तेषां तन्नाशस्योन्मुखतापेक्षयैव, (भा० १०।८६।२१) "तेभ्यः स्ववीक्षणविनष्ट-तमिस्रदृग्भ्यः, क्षेमं त्रिलोकगुरुरर्थदृशं च यच्छन्" इति श्रवणात्, श्रीविष्णु-पुराणगद्यानुसाराच्च । ते चास्वच्छचित्ता द्विविधाः,—भगवद्बहिर्म्मुखा भगवद्विद्वेषिणश्च,

---

समूह द्वारा उज्ज्वल अक्षय तेजः स्वरूप परम ब्रह्म स्वरूप श्रीभगवान् का दर्शन शिशुपालने किया था।
भा० १०।८६।४९ में उक्त है

"सत्वं शाधि स्व भृत्यान् नः किं देव करवाम हे।
एतदन्तो नृणां क्लेशो यद् भवानक्षि गोचरः ॥"

आप नयन गोचरीभूत होने से मानव वृन्द का क्लेशबसान होता है।

मानव वृन्द के मध्य में जो लोक स्वच्छ चित्त के हैं, जो भक्तापराध भिन्न अपर दोष से मलिन चित्त हैं, भक्तापराध षड् विध हैं, प्रहार, निन्दा, बिद्वेष करना, क्रोध प्रकाश करना, देखकर हर्ष प्रकाश न करना एवं अभिनन्दन न करना। उनका क्लेश नाशका तात् कालिकत्व है, एवं जो लोक एतद्भिन्न दोष से अर्थात् भक्तापराधदोष से मलिन चित्त हैं, उनकी क्लेशनाशोन्मुखता मात्र कथित है। अर्थात् जिस का भक्तापराध नहीं है, वह भगवत् साक्षात् कार के समकाल में ही निखिल क्लेशमुक्त होता है, और जिसका भक्त वा भगवच्चरणों में अपराध है, उसका भगवत् साक्षात् कार से क्लेशनाश आरम्भ होता है। जब तक अपराध रहता है, तब तक क्लेश भी रहता है, किन्तु जिस परिमाण अपराधक्षय होता है, उस परिमाण क्लेश नाश होता है। भा० १।०८६।२१ में उक्त है—

"तेभ्यः स्ववीक्षण विनष्ट तमिस्र दृग्भ्यः
क्षेमं त्रिलोक गुरुरर्थं दृशञ्च यच्छन्।
शृण्वन् दिगन्त धवलं स्वयशोऽशुभघ्नं
गीतं सुरैर्नृभिरगाच्छनकैर्विदेहान् ॥"

टीका--स्व वीक्षणेनैव विनष्ट तमिस्रा दृग् येषां तेभ्यः। क्षेममभयम् अर्थदृशं तत्त्व ज्ञानञ्च।

मिथिला गमन समय में विखिन्न देश के जन गण को दर्शन प्रदान श्रीकृष्ण किये थे। उस का वर्णन श्रीशुक उक्त श्लोक में किये हैं। "त्रिलोक गुरु श्रीकृष्ण, निज दर्शन दान द्वारा जनगण की अज्ञान दृष्टि बिनष्ट करके, क्षेम (मङ्गल) एवं अर्थ दृष्टि प्रदान पूर्वक, दिगन्त धवल कारी अशुभ नाशक निजयशः श्रवण करते करते, देवगण एवं ऋषिवृन्द के सहित विदेह ( मिथिला ) नगर में प्रवेश किये थे।

परम ब्रह्म स्वरूप श्रीभगवान् का दर्शन जन साधारण, अज्ञानमय नयनों से कैसे किये थे ? उत्तर में कहे हैं—स्ववीक्षण-(निजदर्शन) स्वकर्त्तृका कृपादृष्टि, अर्थात् श्रीकृष्ण, स्वयं जिस कृपादृष्टि को प्रकाश किये थे, उस के द्वारा जनगण श्रीकृष्ण को देखने में समर्थ हुए थे। अर्थात् श्रीकृष्ण की कृपा से ही श्रीकृष्ण को देखे थे। उस दृष्टि उन सब का अज्ञान विनष्ट हुआ था। क्षेमदान--पुनर्वार अज्ञानागमन की आशङ्का को विदूरित किये थे। अर्थात् निज भक्ति योग दान किये थे। अर्थ दृष्टि—भगवत् स्वरूप भूत परमार्थ प्रकाशक चिच्छक्ति। वह भक्ति रूपा है। सक्त्यनुगृहीत नयनों से जनगण श्रीकृष्ण को देखे थे। जो ज्ञान

तद्वहिर्म्मुखाश्च द्विविधाः,—लब्धे तद्दर्शनेऽपि विषयाद्यभिनिवेशवन्तस्तदवज्ञातारश्च, यथा तदवतारसमये साधारणदेव-मनुष्यादयः, यथा च—(भा० १०।२५।३) "कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य" इत्यादिदुर्वचसो महेन्द्रादयः, यत उक्तं श्रुतिभिः—(भा० १०।८७।३५) "दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे, न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान्" इति, महेन्द्रं प्रति श्रीभगवता च (भा० १०।२७।१६)—

"मामैश्वर्य्यमदान्धो हि दण्डपाणिं न पश्यति ।
तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य वाञ्छाम्यनुग्रहम् ॥" ४९॥ इति ।

श्रीगोपानान्तु विषयसम्बन्धो न स्वार्थः, किन्तु तत्सेवोपयोगार्थ एव, यथा (भा० १०।१४।३५)

---

चक्षु उन्मेष करते हैं, वह गुरु हैं, श्रीकृष्ण, त्रिजगत् के। (ऊर्द्ध्व, अधः एवं मध्य) ज्ञान चक्षु उन्मीलित करते हैं, तज्जन्य आप त्रिलोक गुरु हैं, वैध दीक्षा द्वारा ज्ञान चक्षु उन्मीलित होता है।

श्रीभगवान् का यशः ही दशदिक् को निर्म्मल करता है, तज्जन्य उनको दिगन्त धवल कारी कहा गया है। श्रीकृष्ण के मिथिला गमन समय में आकाश गामी देवगण एवं ऋषि गण उन के सहित मिलित हुये थे।

उक्त श्लोक के द्वारा एवं विष्णु पुराण के गद्य के द्वारा क्लेश नाश के उक्त रूप द्वैविध्य प्रतीत होते हैं।

भक्तापराधादि दोष से मलिन चित्त जीव द्विविध हैं, भगवद् वहिर्मुख--एवं भगवद् विद्वेषी। भगवद् वहिर्मुख भी द्विविध हैं। भगवद् दर्शन प्राप्त कर के भी विषयादि अभिनिवेश विशिष्ट एवं भगवदवज्ञाता।

जैसे भगवदवतार समय में साधारण देवता मनुष्य प्रभृति प्रथम प्रकार के विषयाभिनिविष्ट वहिर्मुख हैं, एवं भा० १०।२५।३ के अनुसार

"अहो श्रीमदमाहात्म्यं गोपानां काननौकसाम् ।
कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य ये चक्रुर्देवहेलनम् ॥"

श्रीकृष्ण के अभिप्रायानुसार व्रजवासि गण इन्द्रयागानुष्ठान से विरत होने पर इन्द्र क्रुद्ध होकर कहे थे—वन वासी गोपगण का धन मद का कैसा आश्चर्य्यकर माहात्म्य है! वे मनुष्य कृष्ण को अवलम्बन करके देवता रूप मुझ को अवहेलन किये हैं। इस रीति से दुरुक्ति कारी इन्द्र प्रभृति—द्वितीय प्रकार के भगवदवज्ञाता वहिर्म्मुख है।

उक्त द्विविध वहिर्मुख का प्रति पादन भा० १२।८७।३५

"दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे,
न पुन रुपासते पुरुषसार हरावसथान् ॥"

श्रुति स्तुति के द्वारा एवं भा० १०।२७।१६ महेन्द्र के प्रति श्रीभगवद् वचन के द्वारा हुआ है।

"मामैश्वर्य्यमदान्धो हि दण्डपाणिं न पश्यति ।
तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य वाञ्छाम्यनुग्रहम् ॥"४९॥

श्रुतिगण श्रीभगवान् को कही थीं—"नित्य सुख स्वरूप परमात्मा आप हैं, आप में जो एक वारमात्र मनोनिवेश करते हैं, उनकी प्रवृत्ति--विवेक, धैर्य्य, क्षमा, शान्ति प्रभृति पुरुषसार हरण कारी गृहादि सम्भूत

"यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनय-प्राणाशयास्त्वत्कृते" इति, (भा० १०।१६।१०) "कृष्णेऽर्पितात्म-सुहृदर्थकलत्रकामाः" इति, "कृष्णे कमलपत्राक्षे संन्यस्ताखिलराधसः" इति च। श्रीयादव-पाण्डवानां स्वार्थ इवापि तत्सम्बन्धस्तदाभास एव, यथोक्तम् (भा० १०।९०।४६)—

---

कुत्सित् सुख में नहीं होती है।

भगवान् में एक बार मनोनिवेश करने से ही यदि गृह सुख में विरति सम्भव होती है तो, भगवद् दर्शन के पश्चात् भी जिस का विषयाभिनिवेश रहता है, वह वहिर्मुख है। व्यतिरेक मुख से यह श्लोक प्रमाण रूप में उल्लिखित हुआ, यह श्लोक प्रथम प्रकार वहिर्मुख के सम्बन्ध में प्रमाण है

इन्द्र यज्ञ भग्न होने पर कुपित इन्द्र एक सप्ताह यावत् व्रज में शिलावृष्टि प्रभृति के द्वारा उपद्रव किये थे। उस समय गोवर्द्धन धारण पूर्वक श्रीकृष्ण व्रजवासि वृन्द को रक्षा किये थे।

इस कार्य्य से भीत होकर इन्द्र स्तव के द्वारा श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने में सचेष्ट हुए थे। यह देख कर श्रीकृष्ण कहे थे—"ऐश्वर्य्य मदान्ध व्यक्तिगण, दण्ड पाणि मुझ को देख नहीं पाते हैं, जिस के प्रति अनुग्रह करने की इच्छा मेरी होती है, मैं उस को सम्पद् से भ्रष्ट कर देता हूँ। इस श्लोक में इन्द्र भगवदव ज्ञाता वहिर्मुखरूप में निर्दिष्ट हुये हैं। इन्द्र, श्रीकृष्ण दर्शन करके भी दर्शन फल से वञ्चित हुये थे। भगवद् दर्शन का फल—कर्म्मक्षय है, कदाचित् जीवन्मुक्त पुरुष में अनभिनिवेश से प्रारब्ध कर्म भोग विद्यमान होने पर भी इन्द्र का विषय भोग उस जातीय नहीं है, इन्द्र, अभिनिवेश के सहित स्वर्गीय विषय भोग हेतु स्वर्ग में गमन किये हैं। कर्म्मभोग क्षय हेतु किसी प्रकार प्रार्थना उन्होंने नहीं की, विषय सुख के प्रति विरक्ति प्रकाश भी उन्होंने नहीं किया। श्रीकृष्ण चरण सान्निध्य लाभ हेतु आग्रहान्वित भी नहीं हुये थे। इस से वहिर्मुखता का सुस्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। अन्तर्मुख व्यक्ति-भगवत् सेवाभिलाषी है, एवं वहिर्मुख व्यक्ति—विषय सुखाभिलाषी है।

यावत् भगवत् साक्षात्कार नहीं होता है, तावत् पर्य्यन्त स्वाभाविक रूप से जीव में भगवद् वहिर्मुखता रहती है। भगवत् साक्षात्कार के पश्चात् वहिर्मुखतानिवृत्त होकर भगवदुन्मुख होना ही स्वाभाविक है। यहाँ व्यतिक्रम दृष्ट होने पर—साक्षात्कार को साक्षात्काराभास मानना होगा। सुकठिन आवरणवत् भक्तापराध विद्यमान होकर दर्शन में विघ्न उपस्थित करता है। इन्द्र का भक्तद्रोह एवं भगवदवज्ञा रूप अपराध था, अतः भगवद् दर्शन करके भी उनकी वहिर्मुखता अपसारित नहीं हुई।

यहाँ जिज्ञासा हो सकती कि—विषय सम्बन्ध-यदि वहिर्मुखतापादक है तो श्रीकृष्ण परिकर गोप वृन्द का विषय सम्बन्ध क्यों था? गोपगण—केवल अन्तर्मुख ही नहीं हैं, किन्तु परम अन्तरङ्ग भी हैं।

उत्तर में श्रीमद्भागवत १०।१४।३५ "यद्धामार्थ सुहृत् प्रियात्म तनय प्राणाशयास्त्वत्कृते" संवाद से कहते हैं—

गोप वृन्द का विषय सम्बन्ध निज प्रयोजन निबन्धन नहीं है, किन्तु श्रीकृष्ण सेवा सम्पादन निमित्त ही हैं। उक्त ब्रह्मस्तव में वह व्यक्त हुआ है—ब्रह्मा, श्रीकृष्ण को कहे थे—

"व्रज वासि वृन्द के गृह, धन, सुहृत्, प्रिय, आत्मा तनय, प्राण, एवं आशय- कर्म्म वासना-वह सब आप के निमित्त ही हैं।

विषयी व्यक्ति, जिस प्रकार निज सुखोपभोग हेतु उक्त वस्तु संग्रह करता है, व्रजवासिगण उस प्रकार स्वभावतः ही अर्थात् किसी की प्रेरणा से नहीं, श्रीकृष्ण सुखार्थ समस्त विषय संग्रह करते हैं। तज्जन्य व्रजवासि वृन्द का आवेश विषय में नहीं हैं, किन्तु श्रीकृष्ण में ही है। श्रीमद्भागवत के १०।१६।

"शय्यासनाटनालाप-क्रीड़ा-स्नानाशनादिषु।
न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः ॥" ५०॥ इति,

(भा० १।१२।६)—

"किन्ते कामाः सुरस्पार्हा मुकुन्दमनसो द्विजाः।
अधिजह्रूर्मुदं राज्ञः क्षुधितस्य यथेतरे ॥"५१॥ इति,

अतः (भा० १।१३।१७) "एवं गृहेषु सक्तानां प्रमत्तानां तदीहया" इत्यादिकं जहल्लक्षणया

---

१० में भी उस प्रकार वर्णित है—"कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामाः" श्रीकृष्ण के प्रिय सखा गोपवृन्द के आत्मा, सुहृत् पितामाता प्रभृति, धन, स्त्री, ऐहिक, पारात्रिक सुख-यह सभी श्रीकृष्ण में अर्पित हुये थे। "कृष्णे कमलपत्राक्षे संन्यस्ताखिल राधसः" (भा० १०।६५।५) कमल नयन श्रीकृष्ण में गोपगण के समस्त विषय अर्पित हुए थे।

जो लोक, निज सुख भोग हेतु विषय संग्रह करते हैं, श्री यादव एवं पाण्डवों का विषय सम्बन्ध उस प्रकार होने पर भी विषय सम्बन्ध उन सब का सम्बन्धाभास मात्र ही था, अर्थात् निज सुखानुसन्धान नहीं था। भा० १०।९० ४६ में उसका वर्णन है—

"शय्यासनाटनालाप क्रीड़ा स्नानाशनादिषु।
न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः ॥"५०॥

श्रीकृष्णगत चित्त यादवगण—शयन, उपवेशन, गमन, क्रीड़ा, स्नान भोजनादि क्रिया में अपने को नहीं जानते थे।

अर्थात् विषय सुख भोग में रत होकर भी यादवगण, अपने को नहीं जानते थे, अर्थात् मैं अमुक व्यक्ति हूँ, मैं सुख भोग कर रहा हूँ, उस प्रकार अनुसन्धान यादव वृन्दों को नहीं था। वे श्रीकृष्ण गत चित्त थे एवं श्रीकृष्ण प्रेरणा से ही सब कुछ करते थे। अनुसन्धानात्मिका वृत्ति को चित्त कहते हैं, वह चित्त श्रीकृष्ण में निबद्ध था। तज्जन्य स्वतन्त्र रूप से अनुसन्धान करने की सामर्थ्य उन सब की नहीं रही। भा० १।१२।६ में उक्त है—

"किन्ते कामाः सुरस्पार्हा मुकुन्दमनसोद्विजाः।
अधिजह्रुर्मुदं राज्ञः क्षुधितस्य यथेतरे ॥"५१॥

श्रीसूत,--शौनकादि को कहे थे—हे द्विज वृन्द ! श्रीयुधिष्ठिर जो विषय भोग में निःस्पृह थे, वह देव के पक्ष में भी प्रार्थनीय है। श्रीयुधिष्ठिर—कृष्णगत चित्त थे। तज्जन्य यह सब उनको आनन्दित करने में सक्षम नहीं थे। क्षुधित व्यक्ति का मन, जिस प्रकार भोज्य पदार्थ में संलग्न रहता है, गन्ध माल्यादि उपभोग के विषय समूह उस को आनन्दित नहीं कर सकता है, उस प्रकार श्रीयुधिष्ठिर महाराज का मन भी श्रीकृष्ण में निबद्ध था, तज्जन्य उक्त विषय समूह में उनकी प्रीति नहीं थी।

उक्त श्लोक में पाण्डव वृन्द की विषयाभिनिवेशनिषिद्ध होने पर भी भा० (१।१३।१७)

"एवं गृहेषु सक्तानां प्रमत्तानां तदीहया।"

इस प्रकार पाण्डवगण गृहस्थाश्रम में आसक्त होकर गृहकृत्य में प्रमत्त होने पर अज्ञात सार से दुस्तर काल--उन सबको अतिक्रम किया था, अर्थात् उन सबकी आयु ! समाप्त हो गई थी, यहाँ पर पाण्डवों की विषयासक्ति वर्णित हुई है,—इस प्रकार संशय उत्थित हो सकता है। समाधान हेतु कहते हैं, ऊपरोक्त

तदुपलक्षितान् धृतराष्ट्रादीनपेक्ष्योक्तम्। अतएवानन्तरम् (भा० १।१३।१८) "विदुरस्तदभिप्रेत्य' इत्यादौ तेन धृतराष्ट्रस्यैव शिक्षा, न तु तेषामपि। क्वचिन्न लीलाशक्तिरेव स्वयं तल्लीलामाधुर्य्यपोषाय प्रतिकूलेष्वनुकूलेषु चात्मोपकरणेषु तादृशशक्ति विन्यस्य तादृश-तत्प्रियजनानामपि विषयावेशाद्याभासं सम्पादयति, यथा पूतनावर्णने (भा० १०।६।६) "वल्गुस्मितापाङ्गविसर्गवीक्षितै-, र्मनोहरन्तीं वनितां व्रजौकसाम्" इति, तदाभासत्वविवक्षया च मनोहरन्तीं मनोहरेवाचरन्तीमिति श्लिष्टमुक्तम्। तद्दत्तशक्तित्वञ्च तस्यास्तत्रैव सूचितम् (भा० १०।६।३)—

---

श्लोक में श्रीयुधिष्ठिर प्रभृति की विषयासक्ति स्पष्टत: निषिद्ध हुई है। अत: जहल्लक्षणा द्वारा उन के उपलक्ष्य में इस श्लोक के द्वारा धृतराष्ट्र प्रभृति की गृहासक्ति वर्णित हुई है।

कारण, तत् परवर्त्ती श्लोक में (भा० १।१३।१८) उक्त है—

"विदुरस्तदभिप्रेत्य धृत राष्ट्रमभाषत।
राजन्निर्गम्यतां शीघ्रं पश्येदं भयमागतम्॥"

विदुर, उन सब की आयु:शेष को जानकर धृतराष्ट्र को कहे थे, राजन्! सत्वर यहाँ से प्रस्थान करें। देखें-महाभय उपस्थित है। इस श्लोकमें श्रीविदुर कर्त्तृक धृतराष्ट्र को शिक्षादान प्रसङ्ग उक्तहै, पाण्डव गण को नहीं।

"मुख्यार्थ बाधे तद् युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढ़ेः प्रयोजनाद्वापि लक्षणा शक्तिरर्पिताः।

अर्थात् मुख्यार्थ की बाधा होने पर यद् द्वारा वाच्य सम्बन्धीय अन्य अर्थ प्रतीत होता है, उस को लक्षणा कहते हैं। यमुनायां घोष: प्रति वसति' यमुनामें घोष निवास करता हैं। इस वाक्य से यमुना में निवास की असम्भावना निबन्धन तीर में वास प्रतीत होता है। यहाँ लक्षणा वृत्ति के द्वारा अर्थ निष्पन्न हुआ है, यह लक्षणा–जहत् स्वार्था, अजहत् स्वार्था, जहदजत् स्वार्था भेद से त्रिविध हैं। यमुना में घोष निवास करता है—यहाँ यमुना में वास रूप अर्थ परित्यक्त होने के कारण जहत्स्वार्था है, कुन्त प्रवेश करता है—यहाँ कुन्तास्त्रविशिष्ट पुरुष का प्रवेश प्रतीत होता है, अत कुन्तास्त्र का प्रवेश परित्यक्त न होने के कारण--यह अजहत् स्वार्था है, रथ गमन कर रहा है—यहाँ जहदजहत् स्वार्थ लक्षणा है। उक्त श्लोक में श्रीयुधिष्ठिर की राज्य प्राप्ति के प्रसङ्ग में गृहासक्ति वर्णित होने पर भी प्रमाणान्तर के द्वारा उस को असम्भावना हेतु यमुना प्रवाह में वास की असम्भावना के समान प्रतीत होने पर तीर में वास के समान धृतराष्ट्र प्रभृति में गृहासक्ति की प्रतीति कराती है।

स्थल विशेषमें भगवल्लीला शक्ति स्वयं ही आरब्ध लोला का माधुर्य्य पोषण निबन्धन निज प्रतिकूल अनुकूल उप करण में लीलोपयोगिनी शक्ति विन्यस्त करके श्रीगोपादि के समान भगवत् प्रिय जन के विषयावेशादि का आभास सम्पादन करती है। जिस प्रकार (भा० १०।६।६) पूतना वर्णन प्रसङ्ग में उक्त है— "वल्गुस्मितापाङ्गविसर्ग वीक्षितैर्मनोहरन्तींवनितां व्रजौकसाम्॥"

पूतना मनोहर हास्ययुक्त कटाक्ष के द्वारा व्रजवासि वृन्दकी मनो हारिणी हुई थी।

चिन्मय विग्रह, कृष्ण प्रेमवान् व्रजवासि वृन्द के पक्ष में मायामयी रमणी की कटाक्ष से कामोद्रेक हेतु चित्त विभ्रम उपस्थित होना सम्भव नहीं है, लीलाशक्ति की प्रेरणा से उसका आभासमात्र प्रकटित

"न यत्र श्रवणादीनि रक्षोघ्नानि स्वकर्म्मसु ।
कुर्व्वन्ति सात्वतां भर्त्तुर्यातुधान्यश्च तत्र हि ।"५२॥

इत्यनेन। तथैवेदं घटते—(भा० १०।६।६) "अमंसताम्भोजकरेण रूपिणीं, गोप्यः श्रियं द्रष्टुमिवागतां पतिम्" इति, श्रियं प्राकृतसम्पदधिष्ठात्रीम्, पतिं यं कञ्चित्तदुचितप्राचीन-पुण्यभाजमित्यर्थः, पूर्व्ववदेव (भा० १०।६।६) "तां तीक्ष्णचित्ताम्" इत्यादौ "तत्प्रभयावधर्षिते जननी अतिष्ठताम्" इत्युक्तम्। एवमेव क्वचित्तादृशानामपि मायाभिभवाभासो मन्तव्यः, यथा—(भा० १०।१३।३७) "प्रायो मायास्तु मे भर्त्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी" इत्यादिषु

---

हुआ था। इस अभिप्राय से ही मनोहरन्ती मनोहरा के समान आचरण कारिणी इस प्रकार श्लिष्ट पदन्यास हुआ है। श्लेषयुक्त शब्द को श्लिष्ट कहते हैं---"श्लिष्टमिष्टमविस्पष्टमेकरूपान्वितं वचः" अर्थात् भिन्नार्थ जिस में विद्यमान है, इस प्रकार एक रूपान्वित वाक्य। भगवल्लीला शक्ति-पूतना को जो शक्ति प्रदान की थी, उस का वर्णन पूतना मोक्षणाध्याय भा० १०।६।३ में है—

"न यत्र श्रवणादीनि रक्षोघ्नानि स्वकर्म्मसु ।
कुर्वन्ति सात्वतां भर्त्तुर्यातु धान्यश्च तत्रहि ॥"५२॥

"यज्ञादि कर्म्मस्थल में जहाँ सात्वतपति श्रीभगवान् के श्रवणादि नहीं हैं, वहाँ राक्षसी गण दौरात्म्य प्रकट कर सकती है, जहाँ भगवत् कथा होती है, वहाँ राक्षसी जा नहीं सकती, और जहाँ गोकुल में स्वयं भगवान् विद्यमान हैं, वहाँ पूतना राक्षसी जाने में समर्था कैसे हुई ? अवश्य इस में रहस्य है, वह है–लीला शक्ति की सहायता। निखिल लोकोल्लासमयी उस लीला सम्पादन हेतु गोकुल में प्रवेश करने की शक्ति पूतना में न होने पर भी लीलाशक्ति उस को तादृश शक्ति मण्डित की थी।

और लीलाशक्ति की सहायता से यह भी सम्भव हुआ था, भा० १०।६।६ में उक्त है, ,

"अमंसताम्भोजकरेण रूपिणीं, गोप्यः श्रियं द्रष्टुमिवागता पतिम्" पूतना के हस्त में कमल धृत होने के कारण, गोपीगण उस को मूर्त्तिमती लक्ष्मी मानली थीं, एवं सोच रही थीं कि—पति दर्शनार्थ इस का आगमन हुआ है। उक्त श्लोक में उल्लिखित लक्ष्मी शब्द का यहाँ अर्थ है—प्राकृत सम्पद् की अधिष्ठात्री देवी। पति–शब्द का यहाँ अर्थ है—उक्त सम्पत्ति लाभ योग्य प्राचीन पुण्य भाजन किसी व्यक्ति। लीला शक्ति की सहायता व्यतीत कदाकार राक्षसी की लक्ष्मी रूप में परिचिता होने की सम्भावना है ही नहीं विशेष कर भगवत् परिकर के निकट।

भा० १०।६।६ में शुकदेव ने कहा है "तां तीक्ष्ण चित्ताम्" "तत् प्रभयावधर्षिते जननी अतिष्ठताम्। इस में पूतना की सप्रतिभा मनोहर चेष्टा की कथा वर्णित है। पूतना की प्रभा से अभिभूता श्रीयशोदा रोहिणी उस के ओर देखती रह गई थीं, निवारण कर न सकीं। पूर्ववत् यहाँपर भी अभिभवाभास का वर्णन हुआ है। अर्थात् पूतना कर्त्तृक गोपगण का मनोहरण जिस प्रकार है, आभास मात्र है, उस प्रकार यहाँ श्रीयशोदा रोहिणी का अभिभव भी यथार्थ अभिभव नहीं है, आभास मात्र है।

लीलाशक्ति प्रदत्त शक्ति के प्रभाव से स्थल विशेष में जिस परिकर के प्रति माया प्रभाव विस्तार करने में अक्षम है, उस प्रकार परिकर वृन्द को जो माया द्वारा अभिभूत होना उस को भी मायाभिभवाभास जानना चाहिये। जिस प्रकार भा० १०।१३।३७ में उक्त है—"प्रायो मायान्तु मे भर्त्तु

श्रीबलदेवादीनाम्, यथा दैत्यजन्मनि जय-विजययोः । अत्र पूर्व्वेषां स्वल्प एव तदाभासः, तयोस्तु सम्यगिति विशेषः,–तत्प्रेमादीनामनावरणादावरणाच्च । तत्र तयोर्वैरभावप्राप्तौ खलु मुनिकृतत्वं न स्यात्, (भा० ३।१६।२९) "मतन्तु मे" इत्यत्र भगवदिच्छाया-स्तत्कारणत्वेन स्थापितत्वात् । नापि सा तदीयवैरभावाय सम्पद्यते (भा० १०।१४।२) "स्वेच्छामयस्य"

---

नन्या मेऽपि विमोहिनी" श्रीबलराम कहे थे— यह माया मेरा प्रभु श्रीकृष्ण की ही है, अन्य माया नहीं है । कारण, उस से मेरा मोह उत्पन्न हुआ है । वत्सहरण प्रसङ्ग में श्रीबलराम का इस प्रकार कथन है ।

अपर दृष्टान्त यह है— दैत्य जन्म में जय विजय का अभिभवाभास है । उस के मध्य में पूर्व दृष्टान्त स्थित श्रीबलदेव प्रभृति का आभास अत्यल्प ही था, किन्तु जय विजय का आभास–सम्यक् रूप से था । यहाँ यही विशेष है ।

भगवत् प्रेमादि का अनावरण एवं आवरण हेतु उक्त दृष्टान्त द्वय में उक्त वैशिष्ट्य सम्भव हुआ है । अर्थात् श्रीबलदेवादि के प्रेमादि आवृत न होने के कारण–उन सब का अभिभवाभास अति सामान्य है, एवं जय विजय के प्रेमादि आवृत होने के कारण, उनका अभिभवाभास सम्यक् है । उस अभिभवाभास से जय विजय का वैरभाव अर्थात् भगवद् विद्वेष–प्राप्ति हेतु मुनि चतुः सन का अभिशाप कारण नहीं है, किन्तु 'मेरा अभिमत यह है, इस वाक्य से भगवदिच्छा को उसका कारण रूप में स्थापन किया गया है । भा० ३।१६।२९ में उक्त है—"भगवाननुगावाह यातं मा भैष्टमस्तुशम् ।

ब्रह्मतेजः समर्थोऽपि हन्तुंनेच्छे मतं तु मे ।।"

सनकादि मुनिगण, वैकुण्ठ के द्वारपाल जय विजय को भगवद् द्वेषी असुर कुल में जन्म ग्रहण करने का अभिशाप प्रदान करने से श्रीभगवान् उन को सान्त्वना प्रदान हेतु कहे थे— तुम दोनों यहाँ से प्रस्थान करो,भय नहीं है,मङ्गल होगा । ब्रह्मशाप निवारण में समर्थ होने पर भी निवारण करनेके इच्छुक मैं नहीं हूँ । मदीय मतानुसार ही तुम दोनों की इस प्रकार अवस्था मिली है ।

जय विजय को वैरभाव लाभ से श्रीभगवान् में वैरभाव निष्पन्न नहीं हुआ है, अर्थात् मनुष्य जगत् में प्रसिद्ध है—कोई किसी का शत्रु होने से वह भी उस का शत्रु होता है । उस प्रकार जय विजय श्रीभगवान् के प्रति वैरभाव प्रकाश करने पर भी श्रीभगवान् उस के प्रति शत्रुभाव पोषण नहीं किये थे । भा० १०।१४।२ में उक्त ब्रह्म स्तुति से उसका विवरण ज्ञात होता है—

"अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य नतु भूतमयस्य कोऽपि ।
नेशेमहि त्ववसितुं मनसान्तरेण ।
साक्षात्–तवैव किमुतात्म सुखानुभूतेः ।।

श्रीकृष्ण, ब्रह्मा को निज महिमा प्रदर्शन हेतु निज वयस्यादि अंश से नारायण मूर्त्ति समूह को प्रकट करने पर ब्रह्मा कहे थे—मेरे प्रति अनुग्रह प्रदर्शन करने के निमित्त जिस वपुः को आपने प्रकाश किया है, वह पाञ्च भौतिक नहीं है – किन्तु विशुद्ध सत्त्वात्मक है, वह रूप स्वेच्छामय है । जव मैं ब्रह्मा वा अपर व्यक्ति वयस्यादि रूप अंश से प्रकटित नारायण रूप की महिमा को जानने में असमर्थ है । तव आत्म-सुखानुभूति स्वरूप मूलावतारी श्रीव्रजेन्द्रनन्दन रूप आप की महिमा को निरुद्ध मन के द्वारा क्या कोई जान सकता है ? उस की सम्भावना किसी प्रकार से नहीं की जा सकती है ।

इत्यादिभ्यः, (भा० ६।११।२३) "त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत्-,पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र" इत्यादिभिः कैमुत्यापाताच्च, यथा चोक्तम्—(भा० १०।२।३३) "तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्-,भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः" इति । न च तयोरेव स्वापराधभोगशीघ्र—निस्तारार्थमपि तादृशीच्छा जातेति वाच्यम्, तादृशैः परमभक्तैर्हि भक्तिं विना सालोक्यादिक-

---

जय विजय-असुर (हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, ) राक्षस-रावण कुम्भकर्ण, एवं असुर भावाक्रान्त-मनुष्य--शिशुपाल दन्त वक्र रूप में उत्पन्न होकर भगवद् विद्वेष प्रचार करने पर भी भगवान् वराह, नृसिंह, राम, एवं कृष्ण रूप में आविर्भूत होकर उनके प्रति जो वैरभाव प्रकट किये थे, वह उनका वैरभाव को देखकर उद्भूत नहीं हुआ है। भगवान् स्वेच्छामय हैं । अपर किसी भी कार्य्य--उनकी इच्छा को उद्बुद्ध कर नहीं सकता है। स्वतन्त्र रूप से निजेच्छा से विचित्र लीला कौतुक निर्वाह करने के निमित्त उस भाव को अङ्गीकार किये थे। उनका वीररस—युद्ध कौतुकानुभव इच्छा ही उसका मूल है। भा० ६।११।२३ में उक्त "त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत् पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र ।।"

वृत्रासुर कहे थे—हे इन्द्र ! मदीय प्रभु निज भक्त जन के धर्म, अर्थ, काम--इन त्रिवर्ग विषयक का कैमुत्य उपस्थित हुआ है, उस के द्वारा भी जय विजय की वैरभाव प्राप्ति हेतु जो श्रीभगवान् उस के प्रति वैर भाव सम्पन्न नहीं हुए हैं—यह बोध होता है। कैमुत्य शब्द का अर्थ है—कैमुत्यन्याय। युक्ति मूलक दृष्टान्त को कैमुत्य कहते हैं-कैमुत्यन्यायः—यद् भारवहनं दुर्बलस्यादि साध्यं तद्भार वहनं सुतरां सबलस्य साध्यं" जिस भार वहन में दुर्बल व्यक्ति सक्षम है, उस भार वहन में सबल व्यक्ति समर्थ है—इस विषय में कहना ही क्या है। उक्त वृत्रासुर वाक्य से कैमुत्यन्यायानुसार यहाँ प्रतिपन्न होता है कि—धर्म, अर्थ, काम, रूप त्रिवर्ग को भक्ति विघातक जानकर श्रीभगवान् उस में भक्त की अरुचि उत्पन्न कराते हैं। साधक भक्त के प्रति यदि भगवान् के इस प्रकार अनुग्रहसम्भव होता है तो, पार्षद भक्त, जय विजय असुर योनि प्राप्त होकर जब भक्ति विघातक वैरभाव सम्पन्न हुये थे, तब श्रीभगवान् उन के प्रति अनुग्रह प्रकाश न करके क्या वैरभाव प्रकाश कर सकते हैं ? यहाँ पर उनके द्वारा सम्पूर्ण रूप से अनुग्रह प्रकाश करना ही सम्भव है। केवल स्वेच्छा से ही युद्ध कौतुक आस्वादन करने के निमित्त भगवान् वैरभाव अङ्गीकार किये थे। भा० १०।२।३३ में उक्त है—

"तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयिबद्धसौहृदाः"

सनकादि मुनि वृन्द का अभिशाप जो जय विजय का पतन कारण नहीं हो सकता है—उस का बोध देवकी गर्भस्थित श्रीकृष्ण का स्तव करके देव गण जो कहे थे—उस वाक्य से होता है।—देव गण कहे थे-हे माधव ! मुक्ताभिमानी ज्ञानिगणजिस प्रकार विघ्नाभिभूत होते हैं, जो लोक आप के चरणाश्रित हैं, एवं आप के सहित सौहार्द्य स्थापन करते हैं, वे लोक कभी भी उस प्रकार पथ भ्रष्ट नहीं होते हैं।

"त्वयाभिगुप्ताविचरन्ति निर्भयाविनायकानीकपमूर्द्धसुप्रभो ।

हे प्रभो वे आप के द्वारा सर्वतोभावेन रक्षित होकर निर्भय होते हैं, एवं विघ्न समूह के अधीश्वर वृन्द के मस्तकोपरि विचरण करते हैं।

ज्ञान मार्गावलम्बन से अति कष्ट से परमपद अर्थात् जीवन्मुक्त होकर भी यदि वे भगवत् चरणों में अवज्ञा द्वारा अपराधी होते हैं तो पतित अवश्य होते हैं इस प्रकार कहकर भक्त महिमा का कीर्त्तन करते हैं—भगवद् भक्त गण—आत्मतत्त्वादि ज्ञानाभाव से स्वकर्म्म त्याग करके भी पातकी नहीं होते हैं, जो भगवच्चरणाश्रय किये हैं, वे कभी पतित नहीं होते हैं। अर्थात् जो भगवत् प्राप्ति हेतु साधनावलम्बन किये

मपि नाङ्गीक्रियते, तत्सद्भावे निरयोऽप्यङ्गीक्रियत इति, (भा० ३।१५।४८) "नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि" इत्यादेः, (भा० ३।१५।४९) "कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नरतात्" इत्यादेश्च। अतएवाभ्यामपि तथैव प्रार्थितम्-(भा० ३।१५।३६) "मा वोऽनुतापकलया भगवत् स्मृतिघ्नो,

---

हैं, वे कभी भी साधन पथ से भ्रष्ट नहीं होते हैं। सुतरा लक्ष्य भ्रष्ट अर्थात् भगवत् प्राप्ति से वञ्चित भी नही होते हैं।

किन्तु भगवान् में सौहार्द्द बन्धन ही उनका होता है। अर्थात् निश्चल के सहित प्रेम सम्पन्न वे होते है। अतएव वे सर्वतोभावेन आप के द्वारा रक्षित होते हैं।

निजकृत अपराध से निष्कृति लाभ हेतु जय विजय की वैरभाव प्राप्तीच्छा हुई थी,—इस प्रकार कहना भी समीचीन नहीं है। कारण, तादृश परमभक्त वृन्द, भक्ति भिन्न सालोच्यादि मुक्ति को भी अङ्गीकार नहीं करते हैं, किन्तु भक्ति लाभ की सम्भावना होने पर नरक को भी अङ्गीकार करते हैं,

तादृशैः—जय विजय के समान—साधक देहमें भक्त गण निर्धूत कषाय—अर्थात् वासनालेशाभास रहित होते हैं। चिन्मय पार्षद देह होता है, वह केवल भगवत्सेवोपयोगी है। उस में स्वसुख वासना लेश स्वतः ही उपस्थित नहीं हो सकता है। कारण, पार्षद गण—भक्ति सुख में मग्न रहते हैं। अपर भक्त वृन्द जब भक्ति व्यतीत—अपर कुछ भी नहीं चाहते हैं, तब पार्षद भक्त वृन्द कैसे अन्य वासना रूप वैरभाव लाभ की आकाङ्क्षा कर सकते हैं। आनुकूल्येन—कृष्णानुशीलन ही भक्ति है, आनुकूल्य ही भक्ति का जीवन है। वैरभाव-किन्तु प्राति कूल्यमय अनुशीलन है, वह भक्ति तथा भक्त स्वभाव का एकान्त विरोधी है। पार्षद भक्त वृन्द के पक्ष में श्रीभगवान् प्राण कोटि प्रियतम हैं। वैरभाव के द्वारा आनुकूल्य सम्भव नहीं है, जिस भक्ति के द्वारा तदीय आनुकूल्य सम्भव है, उस भक्ति के निमित्त भक्त गण सहस्र सहस्र जन्म ग्रहण करने के निमित्त प्रस्तुत रहते हैं। भा० ३।१५।४८ एवं ३।१५।४९ में उस का विवरण है।

"नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं
किम्वन्यदर्पित भयं भ्रुव उन्नयैस्ते।
येऽङ्ग त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः
कीर्त्तन्य तीर्थ यशसः कुशला रसज्ञाः।
कामं भवः स्ववृजिनै र्निरयेषु नस्ता
च्चेतोऽलिवद् यदि नु ते पदयो रमेत।
वाचश्च नस्तुलसीवद् यदि तेऽङ्घ्रि शोभा
पूर्य्येत ते गुण गणैर्यदि कर्णरन्ध्रः॥"

हे प्रभो। त्वदीय यशः परम रमणीय एवं निरतिशय पवित्र है। तज्जन्य वह कीर्त्तन योग्य एवं तीर्थ स्वरूप है। तुम्हारे चरणाश्रित जो सब कुशल व्यक्ति तुम्हारी कथा रसज्ञ हैं। वे तुम्हारे आत्यन्तिक प्रसाद रूप जो मोक्ष है, उस को भी आदर नहीं करते हैं। अन्य इन्द्रादि पद की तो कथा ही क्या है? फलतः इन्द्रादि पद में तुम्हारी भ्रूभङ्गी मात्र से ही भय निहित है।

यदि हमारा चित्त भ्रमर के समान तुम्हारे चरण कमल में रत हो, यदि हमारा वाक्य—तुलसी के समान तुम्हारे चरण सन्निधि में ही शोभित हो, यदि हमारे कर्ण तुम्हारे गुण समूह से पूर्ण हो, तो निज कृत कर्म्म फल से हम सब को यथेष्ट नरक वास हो, उस से हानि नहीं है।

ब्रह्म ज्ञान निष्ठ सनकादि की पूर्व मे जीव ब्रह्म में अभेद बुद्धि थी। वैकुण्ठ आगमन के पश्चात्

मोहो भवेदिह तु नौ व्रजतोरधोऽधः" इत्यनेन। न च तयोर्वास्तववैरभावे सति भक्तान्तराणामपि सुखं स्यादिति वाच्यम्,–भक्तिस्वभाव-भक्तसौहृदविरोधादेव। तस्मात्तयोर्वैरभावाभासत्व एव श्रीभगवतस्तयोरन्येषां भक्तानामपि रसोदयः स्यादिति स्थितम्। तत एवमर्थापत्तिलब्धं सर्व्वभक्तसुखद-श्रीभगवदभिमतयुद्धकौतुकादिसम्पादनार्थं वैरभावात्मकमायिकोपाधिं स्वाभाविकाणिमादिसिद्धिकेन शुद्धसत्त्वात्मक-स्वविग्रहेण प्रविश्य स्वसान्निध्येन चेतनीकृत्य च

---

स्वरूपानन्द शक्ति विलास दर्शन करके विस्मित हुए थे। सम्प्रति जीवेश्वर की सेवक सेव्य भेदात्मिका भक्ति प्राथना करने के निमित्त 'नात्यन्तिकं' इत्यादि श्लोकों के द्वारा भक्ति का सुखातिशय्य का वर्णन किये थे। भगवत् साक्षात्कार की वात क्या कहना है ? भगवद् दर्शन व्यतीत केवल उनकी क्या कीर्त्तन आनन्द भी ब्रह्मानन्द से अधिक है। जो कथा रसज्ञ है, वे ही कुशल हैं, अपर व्यक्ति ही अकुशल हैं, इस प्रकार भक्ति माहात्म्य ख्यापन करना ही उन सब का अभिप्राय था।

ब्रह्म ज्ञान सम्पन्न व्यक्ति का पूर्वकृत कर्म विनष्ट होता है। वर्त्तमान में कृत कर्म्म फल के सहित भी किसी प्रकार सम्पर्क नहीं रहता है।

"तदधिगम उत्तर पूर्वाघयोरश्लेष विनाशौ तद् व्यपदेशात्" ब्र० सू० ४।१।१३
भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्त सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे। भा० १।२।२१ भाष्यम्।

प्रकरण में उस विषय का विशेष वर्णन है। ऐसा होने पर भी भक्तद्रोहापराध से उस की निष्कृति नहीं होती है। सनकादि, ब्रह्मविद् होकर भी परम भागवत जय विजय को अभिशाप प्रदान करके बहुल नरक भोग कारक दारुण अपराध भागी हुए थे। इस से क्षमाशील जय विजय का परम महत्त्व सूचित हुआ है। अनन्तर अपराध भयसे भीत होकर सनकादि कहे थे—यदि हमसब को निश्चय नरक भोग करना ही पड़े तो भी इस अपराध का समुचित दण्ड नहीं होगा, नरक भय से हम सब भीत भी नहीं हैं। किन्तु अपराध का भीषण कुफल यह है कि—श्रीभगवान् में पराङ्मुखीभाव, वह जैसे हम सब में न हो, मुनिगण—श्रीभगवान् के निकट कातर भाव से यही प्रार्थना किये थे। तज्जन्य–'यदि' वाक्य के द्वारा नरक वास में भी भगवत् स्मृति की प्रार्थना–किये थे। उस में श्रीभगवच्चरण कमल में भ्रमर के समान चित्त की रति प्रार्थना किये थे। वह भी श्रीभगवच्चरण का माधुर्य्यास्वादन की अपेक्षा से की, ब्रह्मानुभव की अपेक्षा से नहीं। निरपराध न होने पर उनकी प्रार्थना रूप भगवत् स्मृति सम्भव नहीं है, ऐसा जानकर भी जो उन्होंने तादृशी प्रार्थना की है, उस की अभिसन्धि है—श्रीभगवान् के निकट में उस अपराध की क्षमा प्रार्थना करना। भक्त के निकट अपराध की क्षमा–भगवान् नहीं करते हैं। यहाँ किन्तु काम क्रोधादि रिपुजयी मुनि वृन्द के चित्त में भगवदिच्छा मात्र से ही क्रोधोद्रेक हुआ था, सुतरां वे वास्तविक अपराधी नहीं हैं। उन सब में अपराधाभास था। एतज्जन्य भगवान् क्षमा कर सकते हैं, इस अभिप्राय से ही सर्वज्ञ मुनिगण उन के समीप में क्षमा प्रार्थना किये थे। इस श्लोक में मुनिगण स्वाभिप्राय प्रकट किये थे कि—हम सब केवल भक्त्यभिलाषी हैं। कैवल्य में जीवेश्वर की अभेद ज्ञान सम्भावना हेतु–वह भक्ति विरोधी है। नरक में वह आशङ्का नहीं है। सुतरां भक्ति का अविरोधी होने के कारण कैवल्य से नरक भी हमारे पक्ष में सर्वोत्तम व वाञ्छनीय है।

नरक गमन यदि भक्ति विघातक न हो तो भक्तगण नरक वास को भी अङ्गीकार करते हैं। तज्जन्य जय विजय भी उस प्रकार ही प्रार्थना किये थे। भा० ३।१५ ४९ में उक्त है—

विलीय स्थितताया अपि भक्तिवासनायाः प्रभावेण तत्रानाविष्टावेव तिष्ठतः । अतो वैरभावज-स्मरणेन वैरभावोऽपगत इत्युभयमपि वाह्यम् । एतदभिप्रेत्यैव श्रीवैकुण्ठेनाप्युक्तम्—

"मा वोऽनुतापकलया भगवत् स्मृतिघ्नो
मोहोभवेदिह तु नौ व्रजतोऽधोऽधः ।।

जय विजय, मुनिगण के निकट प्रार्थना किये थे—हम दोनों नीच से नीचतर पाप योनि में भ्रमण करने पर भी आप की करुणा से जो अनुताप लेश उपस्थित हुआ, उस के प्रभाव से भगवत् स्मृति का प्रतिबन्धक मोह का उदय जैसे हम दोनों में न हो ।

यदि जय विजय का वैरभाव स्वाभाविक होता तो, अपर भक्त वृन्द का उस से सुख हो सकता है, इस प्रकार भी कहा नहीं जा सकता है । कारण, भक्ति का स्वभाव हो है—भक्त सौहार्द्य--इस के सहित विरोध उपस्थित होता है ।

अर्थात् भक्ति लाभ होती है तो भक्ति के गुण से ही भक्तगण के प्रति बन्धुवत् व्यवहार करने की अभिरुचि भक्तिमान् व्यक्ति की होती है । बन्धु सुखी होने से सुखोदय होता है, तज्जन्य भक्त की कुशल वार्त्ता सुनने से ही भक्त का उल्लास होता है, श्रीभगवान् में वैरभाव सम्पन्न होने के समान भक्त वृन्द का अकुशल अपर कुछ भी नहीं है, परम भक्त जय विजय की तादृश अकुशल घटना से किसी भी भक्त में सुखोदय होना सम्भव नहीं है ।

"तस्मात्तयोर्वैरभावाभासत्व एव" अतएव जय विजय में वैरभावाभास ही था, तज्जन्य श्रीभगवान् एवं जय विजय भिन्न अन्य वृन्द का रसोदय हुआ था ।—यह स्थिर हुआ ।

उक्त सिद्धान्त रूप अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा प्रतीत होता है कि—जय विजय,—सर्वभक्त सुखद श्रीभगवदभिमत युद्ध कौतुक सम्पादन हेतु वैरभावात्मक मायिक देह में स्वाभाविक अणिमादि सिद्धि युक्त शुद्ध सत्वात्मक निज विग्रह द्वारा प्रवेश करके, निज निज सान्निध्य द्वारा अचेतन देह को सचेतन करके, भक्ति वासना विलीन होने पर भी उस के प्रभाव से उस देह में आविष्ट अर्थात् देह धर्म्म में लिप्त न होकर अवस्थान किये थे । अतएव वैरभाव सम्भूत भगवत् स्मरण के द्वारा उन के वैरभाव विदूरित हुआ था । इन दोनों ही वाह्यिक है ।

अर्थात् वैर भावात्मक मायिक देह सम्बन्ध हेतु उन दोनो में-वैर भाव व्यक्त हुआ था । और श्रीभगवान् का युद्ध कौतुक निर्वाह के पश्चात् वह देह सम्बन्ध विनष्ट हो गया था । वे दोनों नित्य पार्षद हैं, तज्जन्य प्रेमवान् भी है, प्रेम पूर्ण चित्त में वैरभावोदय होना सम्भव नहीं है । वाह्यिक देह सम्बन्ध में वैरभाव सहकृत स्मरण एवं उस भाव का विलय हेतु--तदुभय ही वाह्यिक हैं ।

अनुपपद्य मानार्थदर्शनेनोपपादकार्थान्तर कल्पनं— अर्थापत्तिः । अनुपपद्यमान अर्थान्तर दर्शन करके उपपादक अर्थान्तर कल्पना का नाम अर्थापत्ति है । येना बिना यदनुपपन्नं तत् तत्र उपपाद्यम् । यस्य अनुपपत्ति तत् तत्र उपपादकम् ।

जिस का अभाव होने पर जो नहीं हो सकता है, उस को उपपाद्य, और जिस का अभाव है, उस को उपपादक कहते हैं ।

रात्रि भोजन व्यतीत दिवस में अभोक्ता का स्थूलत्व को देखकर रात्रिभोजन की सम्भावना करनी पड़ती है । यहाँ स्थूलत्व उपपाद्य है, एवं रात्रि भोजन—उपपादक है ।

जय विजय के चित्त में वैरभाव नहीं था । सुतरां उनके हृदय से वैरभाव विदूरित भी नहीं हुआ ।

(भा० ३।१६।२९) "यातं मा भैष्टमस्तु शम्" इति। तथाहि हिरण्याक्ष-युद्धे (भा० ३।१८।९)— "परानुषक्तम्" इत्यादि-पद्ये टीका—"प्रचण्डमन्युत्वमधिक्षेपादिकं चानुकरणमात्रं दैत्यवाक्य-भीतानां देवानां भयनिवृत्तये, वस्तुतस्तेन तथानुक्तत्वेन कोपादिहेत्वभावात्" इत्येषा। (भा० ३।१९।८) "कराल-" इत्यादि-पद्ये च—"इवेति वस्तुतः क्रोधाभावः" इत्येषा। तदेवं स्यमन्तकोपाख्यान-महाकाल-पुरोपाख्यान-मौषलोपाख्यानादौ श्रीबलदेवार्जुन-नारदादीनां क्रोधाद्यावेशोऽपि तदाभासत्वलेशेनैव सङ्गमयितव्यः। तत्र श्रीबलदेवार्जुनादीनां श्रीभगवन्मताज्ञानेन श्रीनारदादीनान्तु तज् ज्ञानेनेति विवेकः, (भा० ३।३।२४) "कोपिता मुनयः

---

इस अभिप्राय से ही भा० ३।१६।२९ में श्रीवैकुण्ठ नाथने कहा है—"यातं मा भैष्टमस्तुशम्" तुम दोनों यहाँ से प्रस्थान करो, तुम दोनों को भय नहीं है। मङ्गल होगा।"

वैरभाव सहकृत स्मरण एवं तत् प्रभाव से उस भाव का विलय होना जिस प्रकार वाह्यिक है, उस प्रकार श्रीभगवान् का भी उनके प्रति वैरभाव प्रदर्शन भी वाह्यिक है। भा० ३।१८।९ के पद्य की टीका में स्वामि पाद ने उस प्रकार ही कहा है।

"परानुषक्तं तपनीयोपकल्पं महागदं काञ्चन चित्र दंशम्।
मर्म्माण्यभीक्ष्णं प्रतुदन्तं दुरुक्तैः प्रचण्डमन्युः प्रहंसस्तं बभाषे॥

टीका—परा पराक् पृष्ठतोऽनुषक्तं लग्नम्। तपनीयोयकल्पं सुवर्णाभरणम्। काञ्चनमयः चित्रः दंशः कवचं यस्य तं दैत्यम्। प्रचण्डमन्युत्वम् अधिक्षेपादिकञ्चानुकरणमात्रं दैत्यवाक्यभीतानां देवानां भय निवृत्तये। वस्तुतस्ते तथानुक्तत्वेन कोपादि हेतुत्वाभावात्।

अतिशय क्रोध प्रकाश एवं अवज्ञा सूचक उक्ति प्रभृति अनुकरण मात्र है। दैत्य वाक्य से भीत देव वृन्द की भीति विदूरित करने के निमित्त श्रीभगवान् समुचित उपाय किये थे। ३।.१९।७ में उक्त है।

"कराल द्रंष्ट्रश्चक्षुर्भ्यां सञ्चकाशो दहन्निव।
अभिद्रुत्य स्वगदया हतोऽसीत्यहनद्धरिम्॥

इस श्लोक की टीका स्वामिपादने लिखा है श्लोकस्थित (इव) शब्द द्वारा वास्तविक क्रोधाभाव सूचित हुआ है।

भगवत् परिकर वृन्द—अप्राकृत विग्रह के होते हैं। मायिक गुण सम्भूत क्रोधादि उन सब को स्पर्श करने में अक्षम है। तब जो स्यमन्तकोपाख्यान, महाकाल पुरोपाख्यान, मौषल्योपाख्यान प्रभृति में श्रीबलदेव, अर्जुन नारद प्रभृति में क्रोधावेश दृष्ट होता है, वह भी यथार्थ नहीं है, क्रोधादि का आभास मात्र है। इस प्रकार समाधान करना चाहिये।

श्रीबलदेव एवं अर्जुनादि जो क्रोधाद्याभास दृष्ट होता है, वह श्रीभगवदभिप्राय को न जानने के कारण ही है। और श्रीनारद प्रभृति में जो क्रोधाद्याभास देखने में आता है, वह श्रीभगवदभिप्राय को जान कर ही हुआ था। उसका वर्णन भा० ३।३।२४ के श्रीउद्धव वाक्य में है।

'पुर्य्यां कदाचित् क्रीड़द्भिर्यदुभोज कुमारकैः।
कोपिता मुनयः शेपुर्भगवन्मत कोविदाः॥

एकदा यदु एवं भोजवंशीय कुमार वृन्द द्वारका पुरी में क्रीड़ा करते करते मुनिवृन्द का क्रोधोत्पादन किये थे। मुनिगण—ब्रह्म शापच्छल से यादव गण को अन्तर्हित करना इस प्रकार श्रीकृष्ण का अभिप्राय

शेपुर्भगवन्मतकोविदाः" इति तृतीये श्रीमदुद्धव-वाक्यात्। तस्माद् येषां लिङ्गान्तरेण निष्णात एव साक्षात्कारो गम्यते, तेषामस्वच्छान्तःकरणत्वं प्रतीयमानमपि तदाभास एव, येषान्तु न गम्यते, विषयावेशादिकञ्च दृश्यते, तेषां साक्षात्काराभास एवेति निर्णीतम्। तदेवमस्वच्छ-चित्तेषु वहिर्मुखाः पश्यन्तोऽपि न पश्यन्तीत्युक्तम्। तद्विद्वेषिणश्च द्विविधाः,-एके सौन्दर्य्यादिकं गृह्णन्ति, तथापि तन्माधुर्य्याग्रहणात्तत्र वारुच्या द्विषन्ति, यथा–कालयवनादयः, अन्ये तु वैकृत्यमेव प्रतियन्ति, ततो द्विषन्ति च, यथा--मल्लादयः। तदेवं पूर्वोत्तरयोश्चतुर्ष्वपि भेदेषु सदोषजिह्वाः खण्डाशिनो दृष्टान्ताः, एके हि पित्तवातज-जिह्वादोषवन्तस्तदास्वादं न

---

जान कर शापप्रदान किये थे।

सुतरां नित्यमुक्त पार्षद वृन्द में लीला सौष्ठव हेतु क्रोधाद्याभास को अभिव्यक्ति निबन्धन वाह्यिक क्रोधादि देखकर चित्त की अस्वच्छता का अनुमान नहीं किया जा सकता है। कारण, अन्य लक्षण के द्वारा जिन का भगवत् साक्षात्कार निश्चित होता है, उन के चित्त की अस्वच्छता प्रतीयमान होने पर भी वह वास्तविक अस्वच्छता नहीं है। अस्वच्छता का आभासमात्र है। इस विषय में किसी प्रकार सन्देह नहीं है। और अन्य लक्षण द्वारा, जिस का भगवत् साक्षात्कार उपलब्ध नहीं होता है, किन्तु विषयावेशादि दृष्ट होते हैं, उस में साक्षात् काराभास ही निर्णीत होता है। तज्जन्य अस्वच्छ चित्त व्यक्ति गण के मध्य में वहिर्मुख व्यक्ति गण। पश्यन्तोऽपि न पश्यन्तीत्युक्तम्" देख कर भी नहीं देखते हैं। इस प्रकार कहा गया है।

पहले कहा गया है—अस्वच्छचित्त द्विविध हैं,—वहिर्म्मुख--एवं भगवद् विद्वेषी। वहिर्म्मुख का वर्णन हुआ है, अधुना भगवद् विद्वेषी का वर्णन करते हैं। भगवद् विद्वेषी भी द्विविध हैं। एक प्रकार के विद्वेषी--जो श्रीभगवान् के सौन्दर्य्यादि को ग्रहण करता है। किन्तु माधुर्य्य को ग्रहण नहीं करता है। अतः विद्वेष करता है—जिस प्रकार काल यवन प्रभृति। अन्य प्रकार विद्वेषी--सौन्दर्य्यादि ग्रहण करने में अक्षम हैं, किन्तु वैकृत्य को ग्रहण करते हैं, माधुर्य्य राहित्य को वैकृत्य कहते हैं, कंसरङ्ग स्थल में चानूरादि के द्वारा सर्व चित्ताकर्षक परमानन्द विग्रह श्रीकृष्ण वज्र कठोर महामल्ल रूप में दृष्ट होना। अतएव वे द्वेष करते हैं।

अस्वच्छ चित्त—भगवद्वहिर्मुख एवं भगवद्विद्वेषी भेद से द्विविध हैं, भगवद् वहिर्म्मुख--विषयाद्यभि निवेशवान् एवं भगवदवज्ञाता भेद से द्विविध हैं। उस प्रकार भगवद् विद्वेषी—अरुचिहेतु द्वेषपरायण एवं वैकृत्य प्रत्यय हेतु द्वेष परायण भेद से द्विविध हैं। अतएव अस्वच्छ चित्त चतुर्विध होते हैं। यह चतुर्विध व्यक्ति का भगवदनुभव,—जिह्वादोष विशिष्ट व्यक्ति का मिसरी आस्वादन के समान होता है।

एक प्रकार पित्तवातज जिह्वा दोष विशिष्ट व्यक्ति– मिसरी का आस्वादन ग्रहण नहीं करता, किन्तु सब को आस्वादन करते देखकर उस की अवज्ञा नहीं करता। द्वितीय प्रकार अस्वच्छचित्त भगवदवज्ञाता व्यक्ति—इन के समान होता है। श्रीकृष्ण को अवमानन कारी इन्द्र प्रभृति इस श्रेणी में अन्तर्भुक्त होते हैं। दूसरे प्रकार के जिह्वादोष विशिष्ट व्यक्ति, मिसरी को मधुर आस्वाद सामग्री मानकर ग्रहण करते हैं, किन्तु तिक्त, अम्ल प्रभृति रस में रुचिशील होने के कारण, मधुर रस मिसरी के प्रति विद्वेष करते हैं, तृतीय प्रकार के अस्वच्छ चित्त—अरुचि हेतु द्वेषपरायण इस के समान होते हैं। काल यवनादि इस के अन्तर्भुक्त हैं।

गृह्णन्ति, किन्तु सर्व्वादरमवधाय नावजानन्ति, अन्ये त्वभिमानिनोऽवजानन्त्यपि, अथापरे मधुररसमिदमिति गृह्णन्ति, किन्तु तिक्ताम्लादिरसप्रियास्तमेव रसं द्विषन्ति, अवरे च तिक्ततयैव तद्गृह्णन्ति, द्विषन्ति चेति। सर्व्वेषां चैषां निजदोष-सव्यवधानखण्ड-ग्रहण-वत्तदाभासत्वम्। तेषां भगवत्स्वभावाननुभवश्च युक्त एव, — ज्ञान-भक्ति-शुद्धप्रीत्यभावेन सच्चिदानन्दत्व-पारमैश्वर्य्य-परममाधुर्य्यलक्षणानां तत्स्वभावानां ग्रहीतुमशक्यत्वात्। तद्ग्रहणेऽपि कालान्तरे निस्तारः खण्डसेवनवदेव ज्ञेयः, यथोक्तं विष्णुपुराणे गद्येन--(४।१५।८) "ततस्तमेवोक्रोशेषूच्चारयन्" इत्यादिना, "अपगतद्वेषादिदोषो भगवन्तमद्राक्षीत्" इत्यन्तेन। तस्मात् स्वच्छचित्तानामेव साक्षात्कारः, स एव च मुक्तिसंज्ञ इति स्थितम्। तस्य ब्रह्मसाक्षात्कारादत्युत्कर्षस्तु (७८-८० अनु०) भगवत्सन्दर्भे सनकादिवैकुण्ठदर्शनप्रस्तावे

---

एक प्रकार के जिह्वादोष विशिष्ट व्यक्ति, मिसरी को तिक्त मानकर ग्रहण एवं विद्वेष करते हैं। चतुर्थ प्रकार के अस्वच्छ चित्त-वैकृत्य प्रत्यय हेतु द्वेष परायण व्यक्ति—इस के समान हैं, मल्लादि इस श्रेणी में अन्तर्भुक्त होते हैं।

उक्त चतुर्विध जिह्वा दोषी व्यक्ति—जिस प्रकार जिह्वा दोष व्यवधान से मिसरी को ग्रहण करते हैं, उस प्रकार चतुर्विध अस्वच्छ चित्त व्यक्ति भी भगवत् साक्षात् कार का आभास मात्र प्राप्त होते हैं, अर्थात् जिह्वा दोष विशिष्ट व्यक्ति जिस प्रकार मिसरी का आस्वाद प्राप्त नहीं करता है, अस्वच्छ चित्त व्यक्ति का भी उस प्रकार यथार्थ भगवत् साक्षात्कार लाभ नहीं होता है। उस की भगवत् स्वभाव अनुभूति का अभाव होना सङ्गत है, कारण, ज्ञान भक्ति द्वारा शुद्धा जो प्रीति, उस का अभाव होने पर सच्चिदानन्दत्व, पारमैश्वर्य्य एवं परम माधुर्य्य लक्षण-भगवत् स्वभाव समूह को ग्रहण करने की सामर्थ्य उस में नहीं होती है, मिसरी सेवन करते करते जिस प्रकार क्रमशः जिह्वादोष दूर होने पर मिष्टास्वाद होता है, उस प्रकार अस्वच्छ चित्त व्यक्ति, भगवत् साक्षात्कार प्राप्त होकर भगवत् स्वभाव ग्रहण करने में अक्षम होने पर भी कालान्तर में निस्तार लाभ करता है।

असाधारण स्वरूप, ऐश्वर्य्य एवं माधुर्य्य तत्त्व विशेष भगवान् हैं। स्वरूप— परमानन्द, ऐश्वर्य्य--असमोर्द्ध्व, अनन्त, स्वाभाविक प्रभुता। माधुर्य्य--असमोर्द्ध्व रूप में मनोहर स्वाभाविक रूप गुण लीलादि की चारुता।

"भगवांस्तावदसाधारण स्वरूपैश्वर्य्य माधुर्य्य तत्त्व विशेषः। तत्र स्वरूपं--परमानन्दम्, ऐश्वर्य्यमसमोर्द्ध्वानन्त स्वाभाविक प्रभुता, माधुर्य्यमसमोर्द्ध्वतया सर्वमनोहरं स्वाभाविकं रूपगुणलीलादि सौष्ठवम्" (वैष्णव तोषणी भा० १०।१२।१०) विष्णु पुराण का ४।१५।८ गद्य उस विषय का समर्थक है। "ततस्तमेवाक्रोशेषुच्चारयन्—अपगत द्वेषादि दोषो भगवन्तमद्राक्षीत्" शिशुपाल के द्वेषादि दोष अपगत होने पर भगवान् का दर्शन किया। सुतरां स्वच्छ चित्त व्यक्ति वृन्द का जो भगवत् साक्षात् कार होना है, उस का नाम ही मुक्ति है--यह स्थिर हुआ।

### भगवत् साक्षात् की श्रेष्ठता।

ब्रह्म साक्षात्कार से भगवत् साक्षात्कार का श्रेष्ठत्व का वर्णन— भगवत् सन्दर्भ के (७८--८०) अनुच्छेद में, सनकादि का वैकुण्ठ दर्शन प्रस्ताव में एवं श्रीनारद व्यास संवादादिमय ब्रह्म भगवत् तारतम्य

श्रीनारद-व्यास-संवादादिमय ब्रह्म-भगवत्तारतम्यप्रकरणे च दर्शित एव, यत्र (भा० ३।१५।४३) "तस्यारविन्द-नयनस्य" इत्यादिकम्, (भा० १।५।४) "जिज्ञासितमधीतं च" इत्यादिकञ्च

प्रकरण में हुआ है। भा० ३।१५।४३ में उक्त है—

"तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द किञ्जल्कमिश्र तुलसीमकरन्द वायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥"

टीका—तस्येति। स्वरूपानन्दादपि तेषां भजनानन्दाधिक्यमाह। तस्य पदारविन्द किञ्जकैः केशरैर्मिश्रा या तुलसी, तस्या मकरन्देन युक्तो यो वायुः, स्वविवरेण नासाच्छिद्रेण, अक्षर जुषां ब्रह्मानन्द सेविनामपि, संक्षोभं चित्तेऽतिहर्षं तनौ रोमाञ्चम् इत्येषा। अत्र पदारविन्द किञ्जल्कमिश्रा या तुलसीति व्याख्येयम्। अरविन्दतुलस्यौच तदानीं वनमालास्थिते एव ज्ञेये। अस्तु तावद् भगवदात्मभूतानां तेषामङ्गोपाङ्गानां तेषु क्षोभ कारित्वं तत् सम्बन्धि सम्बन्धिनो वायोरपीति भावः। भगवत् सन्दर्भः।

सनकादि मुनिगण—आत्माराम--एवं ब्रह्मानुभव में निमग्न थे। तथापि भगवत् साक्षात्कार से वे समधिक आनन्द लाभ किये थे। तज्जन्य ब्रह्मा देवगण को कहे थे—कमल नयन श्रीहरि के चरणस्थित कमल केशर मिश्रा तुलसी सुगन्धवायु, अक्षर सेवी सनकादि के नासारन्ध्र में प्रविष्ट होकर उनके चित्त तनु को क्षुब्ध किया था।

टीका का अभिप्राय—इस श्लोक में स्वरूपानन्द से भी उनका भजनानन्दाधिक्य वर्णित हुआ है। उनके चरण कमल किञ्जल्क—केशर समूह के सहित मिश्रित जो तुलसी, उसका सुगन्ध युक्त वायु, स्व विवर—नासाच्छिद्र द्वारा प्रवेश करके अक्षरसेवी—ब्रह्मानन्दसेविगण के चित्त में अति हर्ष, शरीर में रोमाञ्च रूप अति संक्षोभ उपस्थित किया था। यहाँ चरण युगल में स्थित पद्म केशर मिश्रित तुलसी इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिये। वह पद्म एवं तुलसी श्रीहरि की वन माला में स्थित है—इस प्रकार जानना होगा। श्रीहरि के स्वरूपभूत अङ्गोपाङ्ग जो ब्रह्मानन्द सेवी मुनिगण को संक्षुब्ध किये थे--इस में कहना ही क्या है?

उस अङ्ग उपाङ्ग के सङ्गस्थित जो तुलसी—उस का सम्पर्कित वायु ही सनकादि के चित्त तनु को संक्षुब्ध किया था। भा० १।५।४ में उक्त है—

"जिज्ञासितमधितञ्चब्रह्मयत्तत् सनातनम्।
अथापि शोचस्यात्मानमकृतार्थ इव प्रभो॥

श्रीनारद व्यास देव को कहे थे—हे प्रभो! सनातन परमब्रह्म तुम्हारे द्वारा विचारित हुआ है। तुमने उस को प्राप्त भी किया है। तथापि अपने को अकृतार्थ मानकर क्यों शोक कर रहे हो? उत्तर में श्रीव्यास देव कहे थे—आपने जो कुछ कहा—वह ठीक है, सभी हैं, तथापि आत्मा परितुष्ट नहीं हो रहा है। आप स्वच्छन्द रूप से सर्वत्र गमन शील हैं, सर्वज्ञ हैं, इस का कारण क्या है? मैं आप से जानना चाहता हूँ। उत्तर में श्रीनारद कहे थे—

ॐ नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवायधीमहि।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च।
इति मूर्त्यभिधानेन मन्त्र मूर्त्तिममूर्त्तिकम्।
भजते यज्ञपुरुषं स सम्यग् दर्शनः पुमान्॥

भगवान् वासुदेव! तुम को मनसा नमस्कार करता हूँ। प्रद्युम्न, अनिरुद्ध सङ्कर्षण को भी नमस्कार। इस प्रकार मन्त्रोक्त यज्ञ पुरुष की ही जो पूजा करता है, वह सम्यग् दर्शन कहलाता है। भगवत् सन्दर्भ।

वचनजातं प्रबलतमम्, तथैव श्रीध्रुवेणोक्तम् (भा० ४।९।१०) "या निर्वृ तिस्तनुभृताम्" इत्यादि। श्रीभागवतवक्तृतात्पर्य्यञ्च तत्रैव (भा० १२।१२।६९) "स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभाव:" इत्यादिना दर्शितम्, श्रीगीतोपनिषत्सु च—(१८।५४) "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा" इत्यादिना

---

तस्माद् भक्तिरेव सम्यग् दर्शन हेतु रित्युपसंहरति द्वाभ्याम्। नम इति।

मन्त्रमूर्त्तिं—मन्त्रोक्तमूर्त्तिं-मन्त्रोऽपि मूर्त्तिर्यस्येति वा। अमूर्त्तिकं मन्त्रोक्त व्यक्तिरिक्त मूर्त्तिशून्यं, प्राकृतमूर्त्ति रहितं वा। मूर्त्ति स्वरूपयोरैक्यत्वात् प्राकृतवन्नविद्यते पृथक्त्वेन मूर्त्तिर्यस्य तथाभूतं वा। स पुमान् सम्यग् दर्शनः। साक्षाच्छ्रीभगवतः साक्षात् कर्त्तृत्वादिति॥

वही पुरुष सम्यग् दर्शन--अर्थात् सम्यक् हुआ है—दर्शन जिस का। कारण, वह श्रीभगवान् का साक्षात् कार प्राप्त किया है।

यहाँ ब्रह्म साक्षात्कार प्राप्त वेदव्यास भगवत् साक्षात् कार के अभाव से अतृप्त थे। देवर्षि नारद, के वाक्य भङ्गी से ब्रह्म साक्षात्कार के असम्पूर्ण परतत्त्व साक्षात्कार को कह कर भगवत् साक्षात् कार को सम्यक् परतत्त्व साक्षात् कार निर्द्देश किये थे। इस से भगवत् साक्षात् कार का श्रेष्ठत्व स्पष्ट प्रतीत होता है। उसी प्रकार भा० ४।९।१० में श्रीध्रुवने भी कहा है—

"या निर्वृ ति स्तनुभृतां तव पादपद्म
　ध्यानाद् भवज्जनकथा श्रवणेन वा स्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ माभूत्।
　किम्वन्तकासि लुलितात् पततां विमानात्॥"

हे नाथ! आप के पाद पद्म ध्यान करके अथवा आप के भक्त जन कथा श्रवण करके मानवगण जो आनन्द लाभ करते हैं, वह आनन्द स्वरूप सुख पूर्ण ब्रह्मानुभवानन्द में भी नहीं है। सुतरां काल की असि द्वारा खण्डित स्वर्ग से पतित जनगण के पक्ष में उस प्रकार सुख लाभ की सम्भावना ही नहीं है।

अर्थात् ब्रह्मा का दिवावसान होने पर स्वर्ग ध्वंस होता है। सुतरां स्वर्गीय सुख अनित्य है। भगवद् ध्यान एवं भगवत् कथा श्रवण सुख नित्य एवं चिर वर्द्धन शील है।

श्रीमद् भागवत वक्ता श्रीशुकदेव का ब्रह्म साक्षात्कार से भी भगवत् साक्षात् कार में तात्पर्य्य प्रदर्शित हुआ है। भा० १२।१२।६९ में उक्त है—

"स्वसुख निभृतचेतास्तद् व्युदस्तान्यभावोऽ
　प्यजित रुचिर लीलाकृष्टसार स्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
　तमखिल वृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि॥"

श्रीसूत कहे थे—स्वरूप सुख से पूर्ण हृदय, अर्थात् आत्माराम, तज्जन्य, अन्य सर्वत्र विरक्त जो शुक देव हैं, श्रीकृष्ण की मनोहर लीला के द्वारा उनका आत्मारामता जनित स्थैर्य्य आकृष्ट होने पर उन्होंने तत्त्व प्रकाशक श्रीकृष्ण प्रिय पुराण श्रीमद् भागवत का प्रचार किया। इस प्रकार जो सर्वामङ्गल ध्वंसकारी व्यास पुत्र हैं, उनको मैं प्रणाम करता हूँ।

श्रीमद् भगवद् गीतोपनिषद् में भी ब्रह्म साक्षात् कार से भगवत् साक्षात् कार का श्रेष्ठत्व अङ्गीकृत हुआ है। गी० १८।५४

"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥"

तदेवाङ्गीकृतम् । अतएव श्रीप्रह्लादस्य भगवत्साक्षात्कारकृत-सर्व्वाघधूनन-पूर्व्वक-ब्रह्म-साक्षात्कारानन्तर-भगवत्साक्षात्कारविशेषात्मक-निर्वृति परमाभीष्टत्वेनाह (भा० ७।९।६) —

(७) "स तत्करस्पर्शधूताखिलाशुभः, सपद्यभिव्यक्तपरात्मदर्शनः ।
तत्पादपद्मं हृदि निर्वृतो दधौ, हृष्यत्तनुः क्लिन्नहृदश्रुलोचनः ।।"५३।।

स्पष्टम् ।। श्रीशुकः ।।

८ । ईदृशेऽपि भगवत् साक्षात्कारे वहिःसाक्षात्कारस्योत्कर्षमाह (भा० १२।९।५)—

---

ब्रह्म साक्षात्कार सम्पन्न प्रसन्नात्मा व्यक्ति, शोक वा आकाङ्क्षा नहीं करता है,— सर्वभूत में समज्ञान सम्पन्न होता है । इस प्रकार होकर मुझ में परमा भक्ति लाभ करता है । इस के परवर्त्ती श्लोक यह है—इस में फल वर्णित है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।१८।५५

श्रीभगवान् कहते हैं—स्वरूपतः गुणतः में जिस प्रकार हूँ, विभूति में जिस प्रकार हूँ, पराभक्ति के द्वारा तादृश मुझ को सर्वतोभावेन जान सकता है । यथार्थ रूप से मुझ को जानकर मदीय धाम में वह प्रवेश करता है । यहाँ पर, ब्रह्म साक्षात्कार के पश्चात् पराभक्ति लाभ, अनन्तर भगवत् साक्षात् कार को निर्देश करके भगवत् साक्षात् कार ही जो श्रेष्ठ है— उस को भगवान् कहे हैं ।

अतएव ब्रह्म साक्षात् कार से भगवत् साक्षात्कार का श्रेष्ठत्व हेतु श्रीप्रह्लाद का भगवत् साक्षात्कार द्वारा समस्त अशुभ निःशेष ध्वंस पूर्वक ब्रह्म साक्षात्कार के पश्चात् भगवत् साक्षात्कार विशेषात्मक आनन्द को ही परमानन्द रूप में उल्लेख किये हैं । भा० ७-९-६ में श्रीनारद कहे हैं—

(७) "स तत्करस्पर्शधूताखिलाशुभः, सपद्यभिव्यक्तपरात्मदर्शनः ।
तत् पादपद्मं हृदि निर्वृतो दधौ, हृष्यत्तनुः क्लिन्नहृदश्रुलोचनः ।।"५३।।

टीका—तस्य करस्पर्शेन धूतं—निरस्तमखिलमशुभं यस्य । सपदि--तत् क्षणमेवाभिव्यक्तम् । अपरोक्षीभूतं परात्म दर्शनं ब्रह्म ज्ञानं यस्य । निर्वृतः सन् हृदिदधौ । हृष्यन्ति रोमाञ्चिता तनुर्यस्य । क्लिन्नं प्रेमार्द्रं हृदयस्य । अश्रूणि लोचनयो र्यस्य । परम पुरुषार्थतया दधौ न साधनत्वेनेत्यर्थः ।

श्रीनृसिंह देव के कर स्पर्श से प्रह्लाद के निखिल अशुभ ध्वंस हो गये थे । प्रह्लाद तत् क्षणात् ब्रह्म साक्षात्कार (ब्रह्म ज्ञान, लाभ किये थे । परमानन्द प्राप्त होकर श्रीभगवान् के पाद पद्म को हृदय में धारण किये थे । उनका देह रोमाञ्चित हुआ था, एवं हृदय प्रेमार्द्र तथा नयन अश्रु प्लावित हुआ था । उक्त श्लोक की टीका में श्रीस्वामिपादने लिखा है—"परम पुरुषार्थत्वेन दधौ" परमपुरुषार्थ मानकर ही धारण किये थे । किन्तु साधन मान कर नहीं । इस से सुस्पष्ट बोध होता है कि—प्रह्लाद,—पहले ब्रह्मसाक्षात्कार लाभ करने पर भी उस को पुरुषार्थ नहीं माने थे । श्रीभगवच्चरण को ही हृदय में धारण करना ही परमपुरुषार्थ है- यह निश्चय किये थे । तज्जन्य तत प्राप्ति से कृतकृतार्थ होकर पुलकादि से विभूषित हुए थे । यदि भगवच्चरण को हृदय में धारण करना--साधन मानकर ब्रह्म ज्ञान को पुरुषार्थ मानते तो, ब्रह्म दर्शन को हृदय में धारण करते-भगवच्चरणों को हृदय में धारण करके पुलकादि से विभूषित होने का अवकाश ही नहीं रहता । प्रकरणार्थ—सुस्पष्ट है । श्रीशुक कहे थे ।।७।।

८ । वहिः साक्षात् कार की श्रेष्ठता ।

(८) "गृहीत्वाजादयो यस्य श्रीमत्पादाब्जदर्शनम् ।
मनसा योगपक्वेन स भवान् मेऽक्षिगोचरः ॥"५४॥

टीका च—"यस्य तव श्रीमत्पादाब्जदर्शनं मनसापि गृहीत्वा प्राप्य प्राकृता अप्यजादयो भवन्ति, स भवान् मेऽक्षिगोचरो जातोऽस्ति, किमतः परं वरेणेत्यर्थः" इत्येषा । अत्र (भा० १०।१२।१२) "यत् पादपांशुर्बहुजन्मकृच्छ्रतः" इत्यादिकमप्यनुसन्धेयम् । अतएव (भा० १।६।३४)—

"प्रगायतः स्ववीर्य्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः ।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि ॥"५५॥

इत्येवंभाववानपि, (भा० ११।२।१)—

"गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारवत्यां कुरुद्वह ।
अवात्सीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः ॥"५६॥

---

अन्तः साक्षात्कार एवं वहिः साक्षात्कार भेद से परतत्त्व साक्षात्कार द्विविध हैं, उभय विध भगवत् साक्षात्कार ब्रह्म साक्षात्कार से श्रेष्ठ होने पर भी वहिः साक्षात्कार का श्रेष्ठत्व समधिक है । भा० १२।६। ५ में उक्त है । (८) "गृहीत्वाजादयो यस्य श्रीमत्पादाब्जदर्शनम् ।
मनसा योगपक्वेन स भवान् मेऽक्षिगोचरः ॥"५४॥

टीका—यस्य तव श्रीमत् पादाब्ज दर्शनं मनसापि गृहीत्वा प्राप्य प्राकृता अपि अजादयो भवन्ति, स भवान् मेऽक्षि गोचरो जातोऽस्ति किमतः परं वरेणेत्यर्थः ।

मार्कण्डेय श्रीनारायण ऋषि को कहे थे– जिन के श्रीमच्चरण कमल को योग पक्वमन के द्वारा प्राप्त कर ब्रह्मादि हुये हैं । वह आप, मदीय नयन गोचर हुये हैं । अर्थात् आप के श्रीमच्चरण कमल का दर्शन ध्यान योग से प्राप्त कर मायिक जीव भी ब्रह्मा हुये हैं, वह भगवान् मेरा नयन गोचर हुये हैं । इस के बाद और वर से क्या प्रयोजन है ?

इस प्रसङ्ग में भा० १०।१२।१२ वर्णित श्लोक भी अनुसन्धेय है ।

"यत् पादपांशुभिर्बहुजन्मकृच्छ्रतो धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः ।
स एव यद्दृग् विषय स्वयं स्थितः किं वर्ण्यते दिष्टमहो व्रजौकसाम् ॥"

योगिगण, बहु जन्म पर्य्यन्त कृच्छ्रादि व्रताचरण द्वारा संयत चित्त होकर जिनकी चरण रेणु लाभ करने में असमर्थ हैं । वह भगवान् स्वयं जो सब व्रजवासियों के दृष्टि गोचर में अवस्थित हैं, उन के भाग्य का विचित्र उत्सव की कथा को कैसे कहूँ ? इस श्लोक में भी वहिः साक्षात्कार का श्रेष्ठत्व कीर्त्तित हुआ है । अतएव भा० १।६।३४ में उक्त है–

"प्रगायतः स्व वीर्य्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः ।
आहूत इव शीघ्र मे दर्शनं याति चेतसि ॥"५५॥

सन्दर्भ श्रीभगवतः प्रियश्रवस्त्वं नाम (मत्तः सर्वेषां सुखमेव भवतात्, नेतरत्' इति दयामात्रापेक्षया, नतु स्वप्रतिष्ठेच्छयेति विवेचनीयम् । अत्र यद्रूपेण वीणा ग्राहिता तद्रूपेणैव चेतसि दर्शनं स्वारस्यलब्धम् ।

श्रीनारद-- व्यासदेव को कहे थे-जिन के श्रीचरण का आविर्भावस्थान तीर्थ होता है, जो स्वीय यश

इत्युक्तम् ।। मार्कण्डेयः श्रीनारायणर्षिम् ।।

९। अथैतस्यां भगवत्साक्षात्कारलक्षणायां मुक्तौ जीवदवस्थामाह (भा० ११।१४।१३)—

(९) "अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः।
मया सन्तुष्टमनसः सर्व्वाः सुखमया दिशः ।।"५७।।

भगवन्तं विना किञ्चनान्यदुपादेयत्वेन नास्तीत्यकिञ्चनस्य, तत्र हेतुः—मयेति। अकिञ्चनत्वेनैव हेतुना विशेषणत्रयम्—दान्तस्येति। अन्यत्र हेयोपादेयता-राहित्यात् समचेतसः। सर्व्वत्र तस्यैव साक्षात्कारात् सर्व्वा इत्युक्तम् ।। श्रीभगवान् ।।

१०। तत्रोत्क्रान्तावस्था च श्रीप्रह्लादस्तुतौ—(भा० ७।९।१६) "उशत्तस् तेऽङ्घ्रिमूलं,

---

श्रवणेच्छु हैं, वह श्रीकृष्ण, उनका यशः कीर्त्तन के समय में ही आहुत के समान मदीय हृदय में आविर्भूत होते हैं।

इस श्लोक में देवर्षि नारद के पक्ष में श्रीकृष्ण का अन्तः साक्षात्कार की अतिशय सुलभता वर्णित है। ऐसा होने पर भी श्रीनारद वहिः साक्षात् कार के लोभ से द्वारका में निवास करते थे। इस से वहिः साक्षात्कार का उत्कर्ष प्रमाणित हुआ है। भा० ११।२।१ में उक्त है—

"गोविन्द भुजगुप्तायां द्वारवत्यां कुरूद्वह।
अवात्सीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः।।"५६।।

टीका—अभीक्ष्णं प्रस्थापितोऽपि पुनः पुनरवात्सीदित्यर्थः। ननु नारदस्य दक्षादि शापान्नैकत्र वासः सम्भवतीत्याशङ्क्याह-गोविन्द भुज गुप्तायामिति। न तस्यां शापादेः प्रभाव इत्यर्थः। कृष्णोपासने लालसा औत्कण्ठ्यं यस्य सः।।

श्रीनारद विशेष भाववान् होने पर भी हे कुरुवंश रक्षक ! गोविन्द के बाहु द्वारा परिरक्षित द्वारका में कृष्ण दर्शन लालस नारद वारम्बार निवास किये थे। इस प्रकार कथित है।

मार्कण्डेय श्रीनारायण ऋषि को कहे थे ।।८।।

९। भगवत् साक्षात् कार लक्षणामुक्ति—

अनन्तर भगवत् साक्षात्कार लक्षणा मुक्ति में जीवदवस्था का वर्णन भा० ११।१४।१३ में करते हैं।

(९) 'अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः।
मया सन्तुष्ट मनसः सर्वाः सुखमया दिशः ।।"५७।।

टीका—किञ्च अन्येषां तत्तल्लोकादि परिच्छिन्नं सुखं, भक्तस्य तु परिपूर्णमित्याह- अकिञ्चनस्येति।

श्रीभगवान् उद्धव को कहे थे—अकिञ्चन, दान्त, शान्त, समचित्त एवं सन्तुष्टमनाः व्यक्ति के पक्ष में समस्त दिक् मत् कर्त्तृक सुखमय होती हैं।

श्रीभगवान् व्यतीत अन्यत्र जिस की उपादेय बुद्धि—नहीं है—वह अकिञ्चन है, अकिञ्चनता हेतु-दान्त, शान्त एवं समचित्त--यह विशेषणत्रय प्रयुक्त हुये हैं। श्रीभगवान् भिन्न अन्य वस्तु में प्रीति नहीं है, तज्जन्य वहिरिन्द्रिय भोग्य वस्तु में विरक्ति है, अतः दान्त है, एवं बुद्धि,—भगवन्निष्ठ होने के कारण शान्त है। अन्यत्र हेय वा उपादेय बुद्धि न होने के कारण--समचित्त है। सर्वत्र भगवत् साक्षात्कार की उपलब्धि होने के कारण—समस्तदिक् सुखमय होती हैं। श्रीभगवान् कहे थे ।।९।।

प्रीतो-ऽपवर्गशरणं ह्वयसे कदा नु" इत्यादौ ज्ञेया, सैवान्तिमा। मुक्तिश्च पञ्चधा, सालोक्य-सार्ष्टि-सारूप्य-सामीप्य-सायुज्य-भेदेन। तत्र सालोक्यं समानलोकत्व श्रीवैकुण्ठवासः, सार्ष्टिस्तत्रैव समानैश्वर्य्यमपि भवतीति, सारूप्यं तत्रैव समानरूपतादि प्राप्यत इति, सामीप्यं समीपगमनाधिकारित्वम्, सायुज्यं केषाञ्चित्तु भगवच्छ्रीविग्रह एव प्रवेशो भवतीति। सालोक्यादि-शब्दानां मुक्त्यादि-शब्दसामानाधिकरण्यञ्च सालोक्यादित्वप्राधान्येन। तत्र सालोक्य-सार्ष्टि-सारूप्यमात्रे प्रायोऽन्तःकरणसाक्षात्कारः, सामीप्ये प्रायो वहिः, सायुज्ये चान्तर एव। तथापि प्रकटस्फुर्त्तिलक्षणं तत् सुषुप्तिवदनतिप्रकटस्फुर्त्तिलक्षणाद् ब्रह्म-

---

१०।                                    मुक्ति-पञ्चविध।

भगवत् साक्षात्कार लक्षणा मुक्ति में उत्क्रान्त अवस्था का---अर्थात् देहत्यागानन्तर अवस्था का विवरण भा० ७।९।१६ श्रीप्रह्लाद स्तुति से मिलता है।

"त्रस्तोऽस्म्यहं कृपण वत्सल दुःसहोग्र
संसारचक्रकदनात् ग्रसतां प्रणीतः।
बद्धः स्वकर्म्मभिरुशत्तम तेऽङ्घ्रिमूलं
प्रीतोऽपवर्ग शरणं ह्वयसे कदा नु।।"

हे कमनीयतम ! तुम प्रीत होकर मुक्ति स्वरूप आश्रय जो तुम्हारे चरण कमल है, उस चरण सान्निध्य में कब मुझ को आह्वान करोगे ?

वह अन्तिमा मुक्ति, सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य, एवं सायुज्य भेद से पञ्चविध हैं। उस के मध्य में सालोक्य,—समान लोक प्राप्ति, श्रीवैकुण्ठ वास है, श्रीवैकुण्ठ वास के सहित ही श्रीभगवान् के समानैश्वर्य्य लाभ को सार्ष्टि कहते हैं। सारूप्य—श्रीवैकुण्ठ वास के सहित ही श्रीभगवान् की समान रूपता--अर्थात् चतुर्भुज प्रभृति रूप धारण है। सामीप्य—श्रीभगवान् के समीप में गमनाधिकार। सायुज्य—किसी किसी को भगवच्छ्रीविग्रह में ही प्रवेश लाभ होता है।

सार्ष्टि में समानैश्वर्य्य लाभ—करने पर भी समग्र ऐश्वर्य्य को प्राप्त करने में कोई भी मुक्त पुरुष सक्षम नहीं हैं। सारूप्य में समान रूपता लाभ करने पर भी मुक्त पुरुष--समुदय भगवल्लक्षणाक्रान्त नहीं हो सकते हैं। श्रीवत्स,कौस्तुभ एवं श्रीकर चरण गत असाधारण-चिह्न समूह श्रीभगवान् में ही रहते हैं।

पहले ब्रह्मसायुज्यलक्षणा मुक्ति कही गई है, वह मुक्ति, ब्रह्म सायुज्य रूपा है। भगवत् साक्षात्कार लक्षणा मुक्ति में कतिपय व्यक्ति श्रीभगवद् विग्रह में प्रविष्ट होने की इच्छा करते हैं, वे भगवान् में सायुज्य प्राप्त करते हैं। सायुज्य शब्द का अर्थ है—मिलन।

सालोक्यादित्व प्राधान्य हेतु सालोक्यादि शब्द का मुक्ति शब्द सामानाधिकरण्य होता है। अर्थात् सालोक्य शब्द ऐवं मुक्ति शब्द–एकार्थ प्रकाशक है। मुक्ति में सालोक्यादि की किसी अवस्था आजाती है। एतज्जन्य सालोक्यादि शब्द से मुक्ति विशेष का बोध होता है।

सालोक्यादि पञ्चविध मुक्ति के मध्य में सालोक्य सार्ष्टि सारूप्य मात्र में प्रायकर अन्तः करण साक्षात्कार होता है। सामीप्य में प्रायशः वहिः साक्षात्कार होता है, एवं सायुज्य में अन्तः करण साक्षात्कार ही होता है। उत्क्रान्त मुक्ति दशा में भी जो विशेष स्फुर्त्ति होती है—उस का वर्णन छान्दोग्य ७।२५।२ में है। "स वा एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड़ आत्ममिथुन।

सायुज्याद्भिद्यते। उत्क्रान्तमुक्त्यवस्थायामपि विशेषस्फूर्त्तिः श्रुतावेव सम्मता, (छा० ७। २५।१) "स वा एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड़ आत्ममिथुन आत्मानन्दः, स स्वराड़् भवति सर्व्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इति। एषा च पञ्चविधापि गुणातीतैव। निर्गुणायां भूमविद्यायामेव, (छा० ७।२६।२) "स एकधा भवति, द्विधा भवति, त्रिधा भवति" इत्यादिना तद्विधस्य मुक्तस्य स्वेच्छया नानाविधरूप-प्राकट्यश्रवणात्, (भा० २।९।१०) "न यत्र माया" इत्यादौ वैकुण्ठस्य मायातीतत्वश्रवणात्। अनावृत्तिराहित्यं चाङ्गीकृतम्, (ब्र० सु० ४।४।२३) "अनावृत्तिः शब्दात्" इत्यनेन, (छा० ८।१५।१) "न स

---

आत्मानन्दः, स स्वराड़् भवति, सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इति।।

वह ब्रह्मविद् पुरुष,--इस प्रकार दर्शन, मनन एवं अनुभव करके आत्मा में रति युक्त, आत्मा में क्रीड़ाशील, आत्मा में मिथुन भावापन्न, एवं आत्मा में ही आनन्दित तथा स्व प्रकाश होता है। वह समस्त लोकों में स्वच्छन्द गमन शील होता है।

यह पञ्चविधा मुक्ति ही गुणातीता हैं,--इस में सन्देह नहीं है। कारण, छान्दोग्योपनिषद् के गुणातीताभूमविद्या में उस का वर्णन है। (छा० ७।२६।२)

"स एकधा भवति, द्विधा भवति, त्रिधाभवति"

आत्मदर्शी एकधा, द्विधा, त्रिधा होता है। इस से बोध होता है कि मुक्तपुरुष, विविध रूप प्रकट कर सकता है। भा० २।९।१० में उक्त है—

"प्रवर्त्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वञ्चमिश्रं न च काल विक्रमः।
न यत्र माया किमुतापरेहरेरनुव्रतायत्रसुरासुरार्चिताः।।"

जहाँ रजोगुण, तमोगुण, एवं रजस्तममिश्र सत्त्व नहीं है, किन्तु शुद्ध सत्त्व है। कामविक्रम नहीं है, अधिकन्तु जहाँ पर माया भी नहीं है, मायिक सत्त्व वस्तु की कथा ही क्या है? और जहाँ पर सुरासुरार्च्चित श्रीहरि के अनुचर वृन्द अवस्थान करते हैं। वह श्रीभगवान् का स्वरूप भूत धाम है।

गुणातीता भूम विद्या प्रकरण में मुक्ति प्रसङ्ग उत्थापित हुआ है। तज्जन्य मुक्ति जो मायिक सत्त्व, रजः तमः रूप त्रिगुणातीत है—इस से सुस्पष्ट बोध होता है। कारण, गुणातीत भूमविद्या प्रकरण में गुणमय वस्तु की महिमा कीर्त्तन असम्भव है। एवं एक व्यक्ति, अभिलाषी होने पर विभिन्न प्रकार मुक्त्यानन्द भोग कर सकता है, वह भी उक्त श्रुति का अभिप्रेत है।

वैकुण्ठ में माया नहीं है।—इस प्रमाण से मुक्ति, मायातीता कैसे हो सकती है? उत्तर में कहते हैं, जहाँ माया नहीं है, वहाँ मायिक वस्तु नहीं रह सकती है। मायातीत वैकुण्ठ मुक्ति स्थान है, अत मुक्ति मायातीता है।

### मुक्त पुरुष की अनावृत्ति।

ब्रह्मसूत्र ४।४।२३ में उक्त है—"अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्।

धौतात्मापुरुषः कृष्णापादमूलं न मुञ्चति।
मुक्तसर्वपरिक्लेशः पान्थः स्वशरणं यथा।।
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेऽभ्यो मनागपि।।

पुनरावर्त्तते" इति श्रुतेः, तथोक्तं हिरण्यकशिपूपद्रुतदेवैः (भा० ७।४।२२)—

"तस्यै नमोऽस्तु काष्ठायै यत्रास्ते हरिरीश्वरः।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते शान्ताः सन्न्यासिनोऽमलाः॥"५८॥ इति,

श्रीकपिलदेवेन च (भा० ३।२५।३८) "न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे, नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढ़ि हेतिः" इति, तथैव (गी० ८।१६)-

---

ये दारागार पुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥" भा० ९।४।६८--६५

अनन्तर मुक्त पुरुष का सार्वदिक् भगवत् सान्निध्य का वर्णन करते हैं। यहाँ संशय हो सकता है कि भगवत् प्राप्ति लक्षण मुक्ति– क्षयिष्णु है, अथवा अक्षयिष्णु है। ? लोक शब्द से ज्ञात होता है कि--वह अनित्य है, क्षयिष्णु है, उत्तर में कहते हैं—

अनावृत्ति" भगवदुपासना द्वारा भगवल्लोक प्राप्ति होने पर पुनरावृत्ति नहीं होता है। "मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥" ब्रह्म लोक प्राप्त होने के पश्चात् पुनरावृत्ति नहीं होती है। अर्थात् पुनर्जन्म नहीं होता है। अर्थात् कर्म्माधीन जन्म नहीं होता है। भगवदुपासना द्वारा तदीय साक्षात्कार लाभ करके जो उन के धाम में गमन करता है, उस की आवृत्ति अर्थात् पतन नहीं होता है, वह सर्वदा भगवत् सान्निध्य में अवस्थान करता है। सूत्रस्थ 'शब्दात्' शब्द से यह बोध होता है। छान्दोग्य में उक्त है।

"एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते। स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न स पुनरावर्त्तते॥" वह प्रत्यावर्त्तन नहीं करता है। भा० ७।४।२२ में उक्त है—

"तस्यै नमोऽस्तु काष्ठायै यत्रास्ते हरिरीश्वरः।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते शान्ताः सन्न्यासिनोऽमलाः॥"५८॥

हिरण्य कशिपु कर्त्तृक उपद्रुत देवगण कहे थे—जहाँ ईश्वर श्रीहरि विराजित हैं, जहाँ जाने से शान्त, अमल सन्यासि वृन्द प्रत्यावर्त्तन नहीं करते हैं, उस दिक् को नमस्कार। भा० ३।२५।३८ में उक्त है-

"न कर्हिचिन्मत्परा शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषोलेढ़िहेतिः।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखागुरुः सुहृदो दैवमिष्टम्॥

टीका—ननु तर्हि लोकत्वाविशेषात् स्वर्गादिवत् भोक्तृभोग्यानां कदाचित् विनाशः स्यात्? तत्राह, हे शान्तरूपे! यद्वा शान्तं शुद्धं सत्त्वं तद्रूपे वैकुण्ठे। मत्परा कदाचिदपि न नङ्क्ष्यन्ति--भोग्यहीना न भवन्ति। अनिमिषो मे हेति मदीयं कालचक्रञ्च नो लेढ़ि तान् न ग्रसति। तत्र हेतुः—येषामिति। सुत इव स्नेह विषय। सखेव--विश्वासास्पदम्। गुरुरिव उपदेष्टा, सुहृदिव हितकारी। इष्टं दैवमिव पूज्यः। एवं सर्व भावेन ये मां भजन्ति तान् मदीयं कालचक्रं न ग्रसतीत्यर्थः।

श्रीकपिल—देवहूति को कहे थे—हे शान्तरूपे! मत् परायण भक्त वृन्द कभी भी भोग्य हीना नहीं होते हैं। मदीय काल चक्र भी उनको ग्रास नहीं करता है। अथवा। शान्त शुद्ध सत्व, तद्रूप वैकुण्ठ में मत् परायण भक्त वृन्द कभी भी भोग हीन नहीं होते हैं। सुतरां भोग्याभाव से अथवा भोगक्षय से उनको स्थानान्तर को जाना नहीं पड़ता है। मेरा काल चक्र उन सब को ग्रास नहीं करता है। सुतरां काल परिणाम से नर लोकवासी को जिस प्रकार लोकान्तर गमन करना पड़ता है, उस प्रकार स्थानान्तर गमन नहीं करना पड़ता है। कारण, मैं—उनका प्रिय हूँ, आत्मा-जीवनाश्रय हूँ. सुत-पुत्र तुल्य स्नेहास्पद हूँ। सखा—सखा के समान विश्वास भाजन हूँ। गुरु—गुरु तुल्योहितोपदेष्टा हूँ। सुहृद्--बन्धु के समान

"आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन ।
मां प्राप्यैव तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।।"५९।। इति,

(गी० १५।६) "यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम" इति" (गी० १८।६२)"तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्" इति च श्रीगीतोपनिषदश्च दृश्याः । पाद्म-सृष्टिखण्डे च-

"आब्रह्मसदनादेव दोषाः सन्ति महीपते । अतएव हि नेच्छन्ति स्वर्गप्राप्तिं मनीषिणः ।।६०।।
आब्रह्मसदनादूद्ध्वं तद्विष्णोः परमं पदम् । शुभ्रं सनातनं ज्योतिः परब्रह्मेति तद्विदुः ।।६१।।
न तत्र मूढ़ा गच्छन्ति पुरुषा विषयात्मकाः । दम्भ–लोभ भय–द्रोह–क्रोध--मोहैरभिद्रुताः ।।६२।।
निर्म्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वाः संयतेन्द्रियाः । ध्यानयोगरताश्चैव तत्र गच्छन्ति साधवः ।।"६३।। इति ।

---

हितकारी हूँ, एवं अभीष्ट देवता हूँ । इस रीति से जो लोक मेरा भजन सर्वतोभावेन करते हैं, वे वैकुण्ठ परिकरवृन्द कभी भी काल कवलित नहीं होते हैं । उसी प्रकार गी० ७।४।२२ में उक्त है—

"आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन ।
मां प्राप्यैव तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।"५९।।

हे अर्जुन ! ब्रह्म लोक--अर्थात् सत्य लोक के सहित समस्त स्वर्गादि लोक अनित्य है, जो यह सब लोक को प्राप्त करते हैं, उनको पुनर्जन्म प्राप्त करना पड़ता है । किन्तु मुझ श्रीकृष्ण को प्राप्त करने से ही पुनर्जन्म नहीं होता है ।

(गी० १५।६) "न तद् भासयते सूर्य्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।
(गी० १८।६२) त्वमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत् प्रसादात् परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।।

जहाँ गमन करने से पुनरावृत्ति नहीं होती है, वही मेरा परम धाम है । ईश्वर के प्रसाद से परम शान्ति होती है, अर्थात् निखिल क्लेश का नाश भी होगा, एवं नित्य स्थान को प्राप्त कर सकोगे ।

पद्म पुराण के सृष्टि खण्ड में लिखित है—

"आब्रह्मसदनादेव दोषाः सन्ति महीपते ।
अतएव हि नेच्छन्ति स्वर्गप्राप्ति मनीषिणः ।।६०।।
आब्रह्म सदनादूद्ध्वं तद्विष्णोः परमं पदम् ।
शुभ्रं सनातनं ज्योतिः पर ब्रह्मेति तद्विदुः ।।६१।।
न तत्र मूढ़ा गच्छन्ति पुरुषाविषयात्मकाः ।
दम्भ लोभ भय द्रोह क्रोध मोहैरभिद्रुताः ।।६२।।
निर्म्ममा निरहङ्कारा निर्द्वन्द्वाः संयतेन्द्रियाः ।
ध्यान योगरताश्चैव तत्र गच्छन्ति साधवः ।।"६३।।

हे महीपते ! ब्रह्मलोक पर्य्यन्त ही दोष समूह हैं । तज्जन्य महानुभव व्यक्ति वृन्द स्वर्ग की वाञ्छा नहीं करते हैं । ब्रह्म लोक के ऊद्ध्र्व भाग में विष्णु का परम स्थान है । उस को शुभ्र, नित्य, ज्योतिर्म्मय एवं परम ब्रह्म स्वरूप होने के कारण, मनीषिगण जानते हैं । विषयाविष्ट मूढ़ व्यक्ति, जो दम्भ, लोभ, भय द्रोह, शत्रुता, क्रोध, एवं मोह द्वारा उपद्रुत हैं, वे वहाँ जा नहीं सकते हैं । निर्म्मम--देहदैहिक वस्तु में ममता

**तत्रैव सुबाहुनृपवाक्यम्—**

"ध्यानयोगेन देवेशं यजिष्ये कमलाप्रियम् । भवप्रलयनिर्मुक्तं विष्णुलोकं व्रजाम्यहम् ॥"६४॥ इति,

**सालोक्यादीनामविच्युतत्वं दर्शयिष्यते च** (भा० ९।४।६७)—

**"मत्सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादिचतुष्टयम् ।**
**नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविप्लुतम् ॥"६५॥**

**इत्यादिषु, तदितरत्रैव कालविप्लुतत्वाङ्गीकारात् । तस्मात् क्वचिदावृत्तिश्रवणन्तु प्रपञ्चान्तर्गत तद्धामत्वापेक्षया कादाचित्क-तल्लीला-कौतुकापेक्षया च मन्तव्यम् । पश्चात्तु नित्यसालोक्यमेव यथा भविष्योत्तरे—**

"एवं कौन्तेय कुरुते योऽरण्यद्वादशीं नरः । स देहान्ते विमानस्थो दिव्यकन्यासमावृतः ॥६६॥
याति ज्ञातिसमायुक्तः श्वेतद्वीपं हरेः पुरम् । यत्र लोका पीतवस्त्राः ॥"६७॥ इत्यादि,

---

रहित, निरभिमान, निर्द्वन्द्व--शीतोष्ण सुख दुःख प्रभृति परस्पर विरुद्ध अवस्थाद्वय से अविचलित--संयतेन्द्रिय ध्यान योगरत साधुवृन्द वहाँ गमन करते हैं ॥६०--६३॥

पद्म पुराण के सृष्टि खण्ड में सुबाहुनृप वाक्य–यह है—

"ध्यान योगेन देवेशं यजिष्ये कमलाप्रियम् ।
भव प्रलयनिर्म्मुक्तं विष्णु लोकं व्रजाम्यहम् ॥"॥६४॥

ध्यान योग द्वारा देवेश कमला प्रिय श्रीहरि की पूजा करूँगा । सृष्टि प्रलय रहित विष्णु लोक गमन करूँगा ॥६४॥

अनन्तर सालोक्यादि मुक्ति में जो पतन भय नहीं है—उस का वर्णन करते हैं—भा० ९।४।६७ में उक्त है—

"मत् सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादि चतुष्टयम् ।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् काल विप्लुतम् ॥"६५॥

टीका—प्रतीतं—प्राप्तमपि ।

श्रीवैकुण्ठदेव दुर्वासा को कहे थे—भक्त वृन्द मेरी सेवा द्वारा प्राप्त सालोक्यादि चतुर्विध मुक्ति को नहीं चाहते हैं। काल प्रभाव से विनाशी अन्य ब्रह्म पद प्रभृति में उनकी अभिरुचि कैसे हो सकती है ? इस से सालोक्यादि मुक्ति व्यतीत अन्यत्र काल विनाशित्व प्रतिपादित हुआ है ।

सुतरां स्थल विशेष में मुक्त पुरुष की जो पुनरावृत्ति सुनी जाती है, वह प्रपञ्च में भगवद्धाम समूह की स्थिति की अपेक्षा से एवं कदाचित् भगवल्लीला कौतुक की अपेक्षा से है। अर्थात् मथुरा, अयोध्या प्रभृति जो सब भगवद् धाम इस जगत् में विराजित हैं, उन सब धाम में विहार करने के निमित्त भगवत् परिकर गण समय समय परम व्योम स्थित भगवद् धाम से आगमन करते हैं। एवं जय विजय के समान कोई कोई परिकर भगवल्लीला कौतुक निर्वाह निबन्धन प्रपञ्च में अवतीर्ण होते हैं। ऐसा होने पर भी चिर काल वे सब प्रपञ्च में नहीं रहते हैं । अनन्तर नित्य सालोक्य प्राप्त करते हैं। भविष्योत्तर में उक्त है,

"एवं कौन्तेय कुरुते योऽरण्यद्वादशीं नरः ।
स देहान्ते विमानस्थो दिव्य कन्या समावृतः ॥"६६॥

हे कौन्तेय ! जो मानव, इस प्रकार अरण्य द्वादशी का अनुष्ठान करता है, वह देहान्ते में विमानस्थ दिव्य कन्या समावृत एवं ज्ञाति समायुक्त होकर श्रीहरिधाम श्वेतद्वीप में गमन करता है । जहाँ के समस्त

"तिष्ठन्ति विष्णुसान्निध्ये यावदाहूतसंप्लवम् ॥६८॥
तस्मादेत्य महावीर्य्याः पृथिव्यां नृप पूजिताः मर्त्यलोके कीर्त्तिमन्तः सम्भवन्ति नरोत्तमाः ॥६९॥
ततो यान्ति परं स्थानं मोक्षमार्गं शिव सुखम् । यत्र गत्वा न शोचन्ति न संसारे भ्रमन्ति च ॥"७०॥ इति ।

यथा च जयविजयवृत्ते तत्र सालोक्योदाहरणे । तत्साधकदशायामपि नैर्गुण्यावेश उक्तः (भा० ११।२५।२६)—"सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी" इत्यादौ "निर्गुणो मदपाश्रयः" इति । उत्क्रान्तमुक्तिदशायान्तु तेषां भगवत्तुल्यत्वमेवाह (भा० ३।१५।१४) —

(१०) "वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्व्वे वैकुण्ठमूर्त्तयः ।
येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्म्मेणाराधयन् हरिम् ॥"७१॥

---

लोक पीतवसन धारी होते हैं ॥

"याति ज्ञाति समायुक्तः श्वेतद्वीपं हरेः पुरम् ।
यत्र लोका पीतवस्त्राः ॥"६७॥
तिष्ठन्ति विष्णु सान्निध्ये यावदाहूत संप्लवम् ॥६८॥
तस्मादेत्य महावीर्य्याः पृथिव्यां नृप पूजिताः ।
मर्त्य लोके कीर्त्तिमन्तः सम्भवन्ति नरोत्तमाः ॥६९॥
ततो यान्ति परं स्थानं मोक्षमार्गं शिवं सुखम् ।
यत्र गत्वा न शोचन्ति न संसारे भ्रमन्ति च ॥"७०॥

वहाँ से पृथिवी में आगमन करके महावीर्य्य एवं नृप पूजित होते हैं, मर्त्य लोक में उक्त नरोत्तम वृन्द कीर्त्तिमान् होकर जन्म ग्रहण करते हैं, अनन्तर जहाँ गमन करने से शोकोभिभूत नहीं होना पड़ता है । संसार में भ्रमण करना नहीं पड़ता है, वह शिव, सुख, परमस्थान मोक्ष मार्ग में गमन करता है ।

जय विजय का वृत्तान्त उस का अन्य तम दृष्टान्त है । जय विजय भगवल्लीला कौतुककर रसोचित युद्धादि-निर्वाह के निमित्त प्रपञ्च में अवतीर्ण होकर कुछ समय अवस्थान करते हैं । तत्पश्चात् वैकुण्ठ गमन करते हैं । भा० ७।१।४६ में उक्त है—

"वैरानुबन्धेन तीव्रेण ध्यानेनाच्युतसात्मताम् ।
नीतौ पुनः हरेः पार्श्वं जग्मतुर्विष्णु पार्षदौ ॥"

भविष्योत्तर के सालोक्योदाहरण में लिखित है—प्रपञ्च में कियत् काल अवस्थान के पश्चात् मुक्त पुरुष को नित्य सालोक्य लाभ होता है ।

भगवत् साक्षात् कारार्थी को साधनावस्था में भी नैर्गुण्यवेश होता है । उस का वर्णन भा० ११।२५।२६ में है— "सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी – निर्गुणोमदपाश्रयः ॥"

आसक्ति रहित कर्त्ता सात्त्विक है, अनित्य विषय सुख में आविष्ट कर्त्ता राजस है, स्मृति विभ्रष्ट कर्त्ता तामस है, केवल मेरी शरणागत कर्त्ता निर्गुण है ।

## सालोक्य मुक्ति ।

उत्क्रान्ति मुक्ति दशा में उनको मुक्त तुल्य कहते हैं । भा० ३।१५।१४ में उक्त है—

(१०) "वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठ मूर्त्तयः ।
अनिमित्त निमित्तेन धर्मेणाराधयन् हरिम् ॥"७१॥

निमित्तं फलम्, न तन्निमित्तं प्रवर्त्तकं यस्मिंस्तेन निष्कामेनेत्यर्थः। धर्म्मेण भागवताख्येन। वैकुण्ठस्य भगवतो ज्योतिरंशभूता वैकुण्ठलोकशोभारूपा या अनन्ता मूर्त्तयस्तत्र वर्त्तन्ते,

---

जो लोक अनिमित्त निमित्त—निष्काम धर्म से श्रीहरि की आराधना करते हैं, यह सब वैकुण्ठ मूर्त्ति जहाँ पर निवास करते हैं—सनकादि ऋषिगण उस वैकुण्ठ गमन किये थे।

श्लोकार्थ—निमित्त फल,—वह निमित्त– प्रवर्त्तक जिस में नहीं है—वह अनिमित्त निमित्त–अर्थात् निष्काम है। धर्म–भागवत धर्म। वैकुण्ठ मूर्त्ति—वैकुण्ठ भगवान्, उनकी ज्योति की अंश स्वरूपा वैकुण्ठ लोक की शोभारूपा जो अनन्त मूर्त्ति,—वहाँपर विराजित हैं। उनकी एक मूर्त्ति के सहित श्रीभगवान् एक मुक्त पुरुष की मूर्त्ति प्रस्तुत करते हैं। अतएव स्वामिपाद ने उक्त श्लोक की टीका में कहा है। वैकुण्ठ मूर्त्ति के समान जिनकी मूर्त्ति है।

यहाँ मुक्त पुरुष को पार्षद देह प्राप्ति का वृत्तान्त प्रकाशित हुआ है। साधन भक्ति द्वारा पार्षद देह की सृष्टि नहीं होती है। कारण, जिस की उत्पत्ति है—उस का ध्वंस अवश्यम्भावी है। इस के पहले मुक्ति की नित्यता स्थापित हुई है। पार्षद गण मुक्त पुरुष हैं। पार्षद देह अनित्य होने से तद् द्वारा मुक्ति सुख उपभोग असम्भव है।

भगवद्धाम में श्रीभगवान् के सेवोपयोगी अनन्त मूर्त्ति सतत विद्यमान हैं। यह सब मूर्त्ति श्रीभगवान् की ज्योति के अंशभूत हैं। अर्थात् अनन्त मूर्त्ति के एक एक उनकी ज्योति के अंश है। सुतरां भगवद् विग्रह के समान यह सब अप्राकृत एवं चिन्मय हैं। यह अनन्त मूर्त्ति—वैकुण्ठ लोक की शोभारूप में विराजित हैं। यह सब मूर्त्ति ही पार्षद देह नाम से अभिहित है।

जिस समय कोई जीव उत्क्रान्त–अन्तिमा मुक्ति लाभ करता है। उस समय भगवदिच्छानुसार निज रुचि के अनुरूप उक्त मूर्त्ति समूह के मध्य में एक मूर्त्ति को वह प्राप्त करता है, इस को पार्षद देह प्राप्ति कहते हैं। यह सब पार्षद देह नित्य हैं। कारण, मुक्त जीव के सहित संयुक्त होने के पहले अनादिकाल से यह सब विद्यमान हैं। इस के बाद भी अनन्त काल यह सब रहेंगे। अनन्त जीव का प्रत्येक ही भगवद् दास है। प्रत्येक का ही श्रीभगवत् सेवोपयोगी देह श्रीभगवद्धाम में है। भक्ति के प्रसाद से भगवत् सेवा की योग्यता लाभ होने पर भगवत् कृपा से उक्त देह लाभ होता है।

उक्त श्लोक की टीका तं वर्णयति वसन्तीत्यादि द्वादशभिः। वैकुण्ठस्य हरेरिव मूर्त्तिर्येषां ते। निमित्तं फलं,न निमित्तं फलं प्रवर्त्तकं यस्मिन्—निष्कामेण धर्म्मेणेत्यर्थः। आराधयन् आराधितवन्तः।

श्रीचैतन्य सम्प्रदाय में श्रीगुरु चरणसान्निध्य से अमाया से श्रीगुरुसेवा द्वारा श्रीगुरुदेव प्रसन्न होने पर जो सिद्ध प्रणाली मिलती है, उस में उस पार्षद देह का परिचय विन्यस्त रहता है। वह कल्पित नहीं है। सत्य है। कारण, श्रीभगवल्लोकस्थित उक्त अनन्त मूर्त्ति के मध्य में श्रीभगवान् जिस को जिस मूर्त्ति में अङ्गीकार करेंगे, श्रीगुरुदेव के अन्तः करण में उस मूर्त्ति उद्भासित होने के कारण वह सिद्ध देह नाम से अभिहित होता है। उस देहाभिमान से श्रीभगवल्लीला स्मरण एवं श्रीगुरुकृपा निर्दिष्ट श्रीभगवान् की मानस सेवा सम्पादन के सहित मायिक देहावेश क्रमशः विदूरित होकर उस देह में आवेश होता है। अनन्तर जड़ देह पात होने से उक्त पार्षद देह लाभ होता है।

इस प्रकरण में पार्षद देह का नित्यत्व स्थापित हुआ है। यद्यपि संयोग का वियोग अवश्यम्भावी है, तथापि पार्षद देह योग के सम्बन्ध में उस प्रकार आशङ्का नहीं हो सकता है, मुक्त पुरुष की अनावृत्ति सुनिश्चित है। जय विजय का प्रवेश देहान्तर में होने पर भी उनका पार्षद देह विच्छिन्न नहीं हुआ। जय विजय उक्त देह के सहित ही स्वाभाविक अणिमादि सिद्धि बल से देहान्तर में प्रवेश किये थे।

तासामेकया सह मुक्तस्यैकस्य मूर्त्तिर्भगवता क्रियत इति वैकुण्ठस्य मूर्त्तिरिव मूर्त्तिर्येषामित्युक्तम् ॥ श्रीब्रह्मा देवान् ॥

११। यथैवाह (भा० १।६।२९) —

(११) "प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम् ।
आरब्धकर्म्मनिर्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिकः ॥"७२॥

(भा० १।६।२४) "हित्वावद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसि" इति या तनुः श्रीभगवता दातुं

---

मानव देह—अस्वरूप भूत है—एवं जड़ तथा कर्माधीन है, तज्जन्य देह का वियोग होता है। पार्षद देह स्वरूपभूत तो है ही, अपरन्तु भक्ति लभ्य भी है। जीव स्वरूप चिन्मय है, पार्षद देह भी चिन्मय है, चिदानन्दमयी भक्ति समुद्‌बुद्धा भगवत् कृपा द्वारा उभय का मिलन साधित होता है। यही पार्षद देह प्राप्ति है, इति पूर्व में भक्ति की नित्यता स्थापित हुई है। भक्ति से सञ्जाता भगवत् कृपा कभी भी अनित्या नहीं हो सकती है, वह नित्या है। जीव स्वरूप एवं पार्षद स्वरूप की नित्यता का प्रतिपादन इति पूर्व में हुआ है। पार्षद देहभङ्ग, जीव स्वरूप का ध्वंस, भगवत् कृपाकर्षण में भक्ति की असामार्थ्य एवं भगवत् कृपा का कदाचित् अभाव होना सम्भव नहीं है। एतज्जन्य पार्षद देह का विनाश कर्म्म से भी नहीं होता है। भक्ति फल से ही पार्षद देह प्राप्ति होती है। तज्जन्य इस का विनाश नहीं है।

ब्रह्म लोक पर्य्यन्त सर्वत्र काल का परिणाम है, अतएव कालग्रस्त सर्वत्र देह वियोग निश्चित है। समस्त स्थानों से अन्यत्र गति सुनिश्चिता है, किन्तु "यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम" इस श्रीकृष्ण वाक्य में श्रीभगवद्धाम का स्वभाव विशेष उक्त है। वहाँ एकबार गमन होने से पुनर्बार विच्युति नहीं होती है। सुतरां जिस जीव का पहले पार्षद देह नहीं था, मुक्तावस्था में वह प्राप्त होने पर भी कदा च पार्षदत्व से वञ्चित नहीं होना पड़ता है। धाम का प्रभाव विशेष से भी इस का बोध होता है।

यह वृत्तान्त साधन सिद्ध परिकर के सम्बन्ध में है। किन्तु नित्य सिद्ध भगवत् परिकर वृन्द के सम्बन्ध में नहीं है। जीव, किस रीति से पार्षद देह प्राप्त कर सकता है, इस का वर्णन ही यहाँ हुआ है। किन्तु भगवत् विग्रह के समान पार्षदवर्ग नित्य तदीय पार्षद विग्रह में विराजित हैं। जिस प्रकार—श्रीवृन्दावनीय लीला में श्रीव्रजराज एवं व्रजेश्वरी हैं। श्रीकृष्ण, जिस प्रकार नित्य श्रीवृन्दावन में विराजमान हैं. वे भी निज रूप में वहाँ नित्य विराजमान हैं। इस का विशेष वर्णन श्रीकृष्ण सन्दर्भ में है।

यहाँ ज्ञातव्य यह है कि—श्रीजीव गोस्वामि चरण के मत में मुक्त जीव की प्राप्तव्य मूर्त्ति समूह को 'वैकुण्ठ लोक को शोभा विशेष कहा गया है। उक्त मूर्त्ति समूह वैकुण्ठ की शोभा सम्पादन करती रहती हैं, किन्तु उस से भगवत् सेवा कार्य्य निष्पन्न नहीं होता है। मुक्त जीव के सहित संयुक्त होने से वह सेवाकार्य्य सम्पादन करने में सक्षम होता है। वह प्राय हीन मूर्त्ति के समान होने पर भी भगवज्ज्योति के अंशभूतता के कारण, उस में अवश्य वैशिष्ट्य है, अपि च उक्त मूर्त्ति समूह वैकुण्ठ लोक की शोभा स्वरूप न होने के कारण—भगवद्धाम में नियत वासकारी भगवत् परिकर के पक्ष में उक्त मूर्त्ति समूह का बोध अत्यन्त विसदृश रूप से नहीं होता है। श्रीब्रह्मा देववृन्द को कहे थे ॥१०॥

११। भा० १।६।२९ में श्रीनारद कहे हैं-कि—

(११) "प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम् ।
आरब्धकर्म्मनिर्वाणो न्यपतत् पाञ्चभौतिकः ॥"७२॥

टीका -प्रयुज्यमाने इत्यस्यायमर्थः। हित्वावद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसीति या भागवती

प्रतिज्ञाता, तां भागवतीं भगवदंशज्योतिरंशरूपां शुद्धां प्रकृतिस्पर्श-शून्यां तनुं प्रति श्रीभगवतैव मयि प्रयुज्यमाने नीयमाने आरब्धं यत् कर्म्म तन्निर्वाणं समाप्तं यस्य स पाञ्चभौतिको न्यपतदिति। प्राक्तनलिङ्गशरीरभङ्गोऽपि लक्षितः,–तादृशभगवन्निष्ठे प्रारब्धकर्म्मपर्य्यन्तमेव तत्स्थितेः। इत्थमेव टीका च–"अनेन पार्षदतनूनामकर्म्मारब्धत्वं शुद्धत्वं नित्यत्वमित्यादि सूचितं भवति" इत्येषा ॥ श्रीनारदः श्रीव्यासम् ॥

१२। एतां मूर्त्तिमुद्दिश्यैवाह (भा० ८।३।१९)—

(१२) "यं धर्म्म-कामार्थ-"इत्यादौ "रात्यपि देहमव्ययम्" इति।

टीका च–"देहमप्यव्ययं राति" इत्येषा ॥ श्रीगजेन्द्रः ॥

---

भगवत् पार्षद रूपा शुद्धा सत्त्वमयी तनुः, तां प्रतिश्रुतां तनूं प्रति भगवता मयि प्रयुज्यमाने नीयमाने। आरब्धं यत् कर्म्म तन्निर्वाणं समाप्तं यस्य, आरब्धकर्म्मणो निर्वाणमेव निर्वाणं यस्येति वा स पञ्चभूतात्मको देहो न्यपतत्। अनेन पार्षद तनूनामकर्म्मारब्धत्वं नित्यत्वं शुद्धत्वञ्चसूचितं भवति।

श्रीनारद वेद व्यास को कहे थे– शुद्धा भागवती तनु के प्रति मैं प्रयुज्यमान होने पर मेरा आरब्ध कर्म निर्वाण पाञ्च भौतिक देह निपतित हुआ।

टीका का अभिप्राय—भा० १।६।२४ में श्रीभगवान् नारद को कहे थे।

"सत् सेवया दीर्घयापि जाता मयि दृढ़ा मतिः।
हित्वावद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसि ॥"

तुमने जो स्वल्प काल साधु सेवा की है, उस से मुझ में तुम्हारी दृढ़ा मति हुई है। तुम यह अवद्य लोक को परित्याग करके मदीय पार्षदत्व को प्राप्त करोगे। इस श्लोक में श्रीभगवान् जिस तनु प्रदान करने की प्रतिज्ञा किये थे। वह भागवती तनु है, अर्थात् भगवदंश जो ज्योति, उस ज्योति की अंशभूता है। शुद्धा—प्रकृति स्पर्श शून्या है। उस तनु के प्रति श्रीभगवान् कर्त्तृक मैं (नारद) प्रयुज्यमान—नीयमान होने पर, आरब्ध जो कर्म्म, वह जिस का समाप्त हुआ है, वह पाञ्चभौतिक देह निपतित हुआ। इस से प्राचीन लिङ्ग शरीर भङ्ग भी हुआ। यह व्यञ्जित हुआ। कारण, तादृश भगवन्निष्ठ व्यक्ति का लिङ्ग शरीर की स्थिति-प्रारब्ध कर्म्म पर्य्यन्त ही है। इस श्लोक की स्वामिपाद कृत टीका में भी इस प्रकार दृष्ट होता है—इस के द्वारा-श्रीनारद वाक्य प्रमाण से—पार्षद तनु समूह का अकर्म्मारब्धत्व, शुद्धत्व, नित्यत्व इत्यादि सूचित हुये हैं। कारण, तादृश भगवन्निष्ठ व्यक्ति की लिङ्ग शरीर की स्थिति-प्रारब्ध कर्म्मपर्य्यन्त ही है।

श्रीनारद व्यास देव को कहे थे ॥११॥

१२। इस मूर्त्ति को लक्ष्य करके ही श्रीगजेन्द्र कहे थे-(भा० ८।३।१९)

(१२) "यं धर्म कामार्थ विमुक्तकामा भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति।
किञ्चाशिषोरात्यपिदेहमव्ययं करोतु मेऽदभ्रदयो विमोक्षणम् ॥

धर्मार्थ काम मोक्षाभिलाषी व्यक्ति जिनका भजन करके अभीष्ट गति को प्राप्त करता है, केवल यही नहीं—अन्य कल्याण एवं अव्यय देह भी प्राप्त होता है। वह परम दयालु मुझ को मुक्ति प्रदान करें। इस श्लोक की टीका में श्रीस्वामि पादने लिखा है-"देह मप्ययं राति" अव्यय देह दान करते हैं। यहाँ

१३। तदेतत्ताण्डिनां श्रुतावप्युक्तम् (छा० ८।१३।१)–"अश्व इव रोमाणि विधूयधूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवानि" इति। क्वचित् प्राकृत्यपि मूर्त्तिरचिन्त्यया भगवच्छक्त्या तादृशत्वमापद्यते, यथोक्तं श्रीध्रुवमुद्दिश्य, (भा० ४।१२।२९) "बिभ्रद्रूपं हिरण्मयम्" इति, "तदेव रूपं हिरण्मयं बिभ्रत्" इति टीका च। तथा सार्ष्टिश्च दर्शिता (३०९ अनु०) भक्तिसन्दर्भे–(भा० ११।२९।३५) "मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्म्मा" इत्यादौ "मयात्मभूयाय च कल्पते वै" इत्यनेन, श्रुतिश्चात्र (छा० ८।१२।३) "स तत्र पर्य्येति जक्षन्

---

स्वामि पादने 'अव्यय' प्रयोग करके पार्षद देह का नित्यत्व स्वीकार किया है।

श्रीगजेन्द्र कहे थे ॥१२॥

१३। पार्षद देह का नित्यत्व सुनिश्चित है। तज्जन्य ताण्डिनी श्रुति (छान्दोग्य ८।१३।१) में उक्त है—"अश्व इव रोमाणि विधूय धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभि सम्भवानि" रोमराजि को कम्पित करके अश्व जिस प्रकार श्रम एवं शरीर स्थित धूलि समूह को विदूरित करता है, उस प्रकार कर्म्मारब्ध शरीर को परित्याग पूर्वक अकर्म्मारब्ध शरीर सम्पन्न होकर ब्रह्म लोक में समवेत होऊँगा।"

स्थल विशेष में प्राकृत देह भी अचिन्त्य भगवच्छक्ति के प्रभाव से चिन्मय पार्षद देह में परिणत होता है। जैसे भा० ४।१२।२९ में श्रीध्रुव को उद्देश्य करके कहा गया है—

"परीत्याभ्यर्च्च धिष्ण्याग्र्यं पार्षदावभिवन्द्य च।
इयेष तदधिष्ठातुं बिभ्रद्रूपं हिरण्मयम् ॥"

"हिरण्मय रूप अर्थात् ज्योतिर्म्मय रूप धारण ध्रुव किये थे। अर्थात् श्रीध्रुव को विष्णु पद में ले जाने के निमित्त विष्णु पार्षदद्वय रथ लेकर उपस्थित करने पर ध्रुव उस रथ की प्रदक्षिणा एवं पूजा करके विष्णु पार्षदद्वय को प्रणाम किये थे। अनन्तर हिरण्मय रूप धारण करके रथारोहण करने के इच्छुक हुये थे। उक्त श्लोक की टीका में स्वामि पादने लिखा है—"तदेवं रूपं हिरण्मयं बिभ्रत्" उस रूप ही हिरण्मय प्रकाश बहुल हुआ। अर्थात् ध्रुव का जो प्राकृत नर देह था, विष्णुपद गमन समय में वही ज्योतिर्म्मय देह में परिणत हुआ था।

## सार्ष्टिमुक्ति।

यहाँ जिस प्रकार सालोक्य मुक्ति प्रदर्शित हुई है, उस प्रकार भक्ति सन्दर्भ के ३०९ अनुच्छेद में सार्ष्टि मुक्ति का कथन हुआ है। भा० ११।२९।३४ में उक्त है—

"मर्त्यो यदात्यक्त समस्तकर्म्मा निवेदितात्माविचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्य मानो मयात्मभूयाय च कल्पते वै ॥"

श्रीकृष्ण उद्धव को कहे थे—"मानव जिस समय समस्त काम्य कर्म को परित्याग करके मुझ को आत्मार्पण करता है, उस समय मेरा विशिष्ट अभिप्राय साधन करने में वह योग्य होता है। एवं उस समय अमृतत्व लाभ करके मेरा समान ऐश्वर्य्य (सार्ष्टि) प्राप्त करने का योग्य होता है।

सार्ष्टि मुक्ति के सम्बन्ध में छान्दोग्य श्रुति इस प्रकार है—

(छा० ८।१२।३) 'स तत्र पर्य्येति जक्षन् क्रीड़न् रममाणः ॥'

वह मुक्त पुरुष ब्रह्म लोक में गमन कर स्त्री पुरुष के संयोग से उत्पन्न इस शरीर का स्मरण न करके ही यथेच्छ भ्रमण, भक्षण, क्रीड़ा स्त्री वृन्द के सहित रमण, यान के द्वारा विहार, एवं ज्ञातिवृन्द के सहित अवस्थान करता है। इस में मुक्त पुरुष की सङ्कल्प मात्र से सर्वाभीष्ट सिद्धि का वर्णन हुआ है।

रममाणः" इत्यादिका, (तैं० ११६।२, १।५।३) "आप्नोति स्वाराज्यं, सर्व्वेऽस्मै देवा बलिमाहरन्ति", (छा० ७।२५।२) "तस्य सर्व्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इत्यादिका, (बृ० ४।४।२२) "सर्व्वेश्वरः" इत्यादिका च। किन्तु (ब्र० सू० ४।४।१७) "जगद्व्यापारवर्ज्जम्" इत्यादि-न्यायेन सृष्टि-स्थित्यादिसामर्थ्यं तस्य न भवति, कुतो वैकुण्ठैश्वर्य्यादिकम्, उक्तञ्च (भा० १०।३।४१)—"अदृष्ट्वान्यतमं लोके" इत्यादि। ततो भाक्तमेव समानैश्वर्य्यम्।

---

सङ्कल्प मात्र से जो अभीष्ट वस्तु उपस्थित होती है, उसका वर्णन छान्दोग्य ८।२ में विस्तृत रूप से है। तैत्तिरीयक १।६।३, १।५।३ में उक्त है—

"आप्नोति स्वाराज्यं, सर्वेऽस्मै देवा बलिमाहरन्ति ।।"

"मुक्त पुरुष अंशभूत ब्रह्मादि देवगण का आधिपत्य लाभ करता है।" "ब्रह्मादि देवगण मुक्त पुरुष के निमित्त पूजोपहार आहरण करते हैं।" छान्दोग्य ७।२५।२ में उक्त है।"

"तस्य सर्वेषुलोकेषु कामचारो भवति"

मुक्त पुरुष की समस्त लोकों में स्वच्छन्द गति होती है। अर्थात् वह व्यक्ति–समस्त लोकों में स्वच्छन्द रूपसे गमन कर सकता है। वृहदारण्यक श्रुति ४।४।१२ में मुक्त पुरुष का परमात्म भाव प्रतिपादित हुआ है। "सर्वेश्वरः" इत्यादि का। यह सर्वेश्वर है। उक्त श्रुति का शाङ्कर भाष्य।

"स एषकाम कर्म्माविद्यानामनात्मधर्मत्व प्रतिपादनद्वारेण मोक्षतः
परमात्मभावमापादितः पर एवायं नान्यः इत्येषः।

सर्वेश्वरता शक्ति के द्वारा कर्म्म के अपर असामान्य सामर्थ्य प्रकाश कर सकता है। तज्जन्य मुक्त पुरुष,–साधु वा असाधु कर्म द्वारा लिप्त नहीं होता है।

यद्यपि उक्त श्रुति समूह मुक्त पुरुष की परमेश्वर तुल्य ऐश्वर्य्य प्राप्ति का कीर्त्तन करती हैं, तथापि वेदान्त सूत्र ४।४।१७

"जगद्व्यापार वर्ज्जं प्रकरणादसन्निहितत्वात्"
जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदि कवये मुह्यन्ति यत् सूरयः।।
तेजो वारि मृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहकं सत्यं परं धीमहि ।। (भा० भाष्यम्)

निखिल चिदचित् सृष्टि स्थिति नियमन रूप जगद् व्यापार एकमात्र ब्रह्म का ही कार्य्य है, तद्व्यतीत समस्त कार्य्य में मुक्त जीव का कर्त्तृत्व सम्भव है। कारण, श्रुति में भूत समूह की सृष्टि का वर्णन प्रसङ्ग में जगद् व्यापार कर्त्तृत्व ब्रह्म के पक्ष में पठित है। मुक्त जीव का उस में सान्निध्य नहीं है, अर्थात् मुक्त जीव का उस में उल्लेख नहीं है, उक्त ब्रह्म सूत्रानुसार ज्ञात होता है कि मुक्त जीव में जगत् सृष्टि स्थिति संहार सामर्थ्य नहीं है, सुतरां उस में वैकुण्ठाधिपत्यादि की सम्भावना है ही कहाँ? भा० १०।३।४१ में श्रीभगवान् स्वयं ही श्रीदेवकी को कहे हैं—

"अदृष्ट्वान्यतमंलोके शीलौदार्य्यगुणैः समम्।
अहं सुतो वामभवं पृश्निगर्भ इति स्मृतः।।

तुम दोनों सुतपा एवं पृश्निरूप में जन्म ग्रहण करके तपस्या द्वारा मेरे समान पुत्रवर प्रार्थना किये थे। सुचरित्र, महत्त्व, कारुण्यादि गुणों से मेरे समान कोई नहीं हैं, यह देखकर मैं ही पृश्निगर्भ नाम से

अतएवाणिमादिप्राप्तिरप्यंशेनैव ज्ञेया । श्रीभगवत्--प्रसादलब्धसम्पत्तेश्चाविनश्वरत्वमाह द्वयेनैव (भा० ३।२३।७-८)—

(१३) "ये मे स्वधर्म्मनिरतस्य तपः समाधि,-विद्यात्मयोगविजिता भगवत् प्रसादाः ।
तानेव ते मदनुसेवनयावरुद्धान्, दृष्टिं प्रपश्य वितराम्यभयानशोकान् ।।७३।।
अन्ये पुनर्भगवतो भ्रुव उद्विजृम्भ-,विभ्रंशितार्थरचनाः किमुरुक्रमस्य ।
सिद्धासि भुङ्क्ष्व विभवान्निजधर्म्म-दोहान्, दिव्यान्नरैर्दुरधिगान्नृप विक्रियाभिः ।।"७४।।

तपश्च समाधिश्च विद्या च उपासना तासु य आत्मयोगश्चित्तैकाग्रचम्, अन्ये पुनर्भोगाः

---

प्रसिद्ध तुम्हारा पुत्र हुआ ।

उक्त ब्रह्म सूत्र एवं श्रीमद् भागवतीय प्रमानुसार प्रतीत होता है कि—श्रीभगवान् के समान ऐश्वर्य्य और किसी का नहीं है । सुतरां सार्ष्टि मुक्ति अर्थात् समान ऐश्वर्य्य प्राप्ति की कथा-जो कही गई है, वह गौण है । अतएव सार्ष्टि मुक्तिमें अणिमादि ऐश्वर्य्य की आंशिक प्राप्ति समझनी चाहिये । अणिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व ईशित्व एवं कामावसायिता-यह अष्टैश्वर्य्य हैं ।

शरीर को अणु करने की शक्ति को अणिमा कहते हैं । लघु करने की क्षमता को-लघिमा कहते हैं । बृहत् करने की सामर्थ्य—महिमा । दूरस्थवस्तु को निकट में आनयन करने की शक्ति--प्राकाम्य । वशित्व-भौतिक पदार्थ को वशीभूत करने की शक्ति । ईशित्व--भौतिक पदार्थ समूह में प्रभुत्व करने की शक्ति । कामावसायिता--भूत अथवा भौतिक पदार्थ में जिस प्रकार करने की इच्छा ही उसे करने की क्षमता ।

उक्त मुक्ति में जो सम्पत्ति लाभ होती है, उसका मूल भगवत् कृपा है । भगवत् कृपा से जो सम्पत्ति लाभ होती है वह नश्वर नहीं है । भा० ३।२३।७--८ में उसका वर्णन है—

(१३) "ये मे स्वधर्म्मनिरतस्य तपः समाधि,-विद्यात्मयोगविजिता भगवत् प्रसादाः ।
तानेव ते मदनुसेवनयावरुद्धान्, दृष्टिं प्रपश्य वितराम्यभयानशोकान् ।।७३।।
अन्ये पुनर्भगवतो भ्रुव उद्विजृम्भ-,विभ्रंशितार्थरचनाः किमुरुक्रमस्य ।
सिद्धासि भुङ्क्ष्व विभवान्निजधर्म्म-दोहान्, दिव्यान्नरैर्दुरधिगान्नृप विक्रियाभिः ।।७४।।

टीका—तपश्च समाधिश्च विद्या च उपासना च, तासु य आत्मा योग श्चित्तैकाग्रचं, तेन विजिताः प्राप्ताः भगवत् प्रसादा दिव्या भोगाः, तानेव ते अवरुद्धान् त्वयापि वशीकृतान् प्रपश्य । ते दिव्यां दृष्टिं वितरामि, मया दृष्टचा द्रक्ष्यसि । (७) अन्ये पुनर्भोगाः किं न किमपि, अति तुच्छा इत्यर्थः । अत्र हेतुः भगवतः उरु क्रमस्य या भ्रूः तस्या उद्विजृम्भो वक्रीभावः, तेन विभ्रंशिता अर्थ रचना मनोरथा येषु । निज धर्मेण पातिव्रतेन दुह्यन्त इति तथा तान् । दुरभिगमान् दुष्प्रापान् । नृणां वयमिति वा विक्रियास्तत्तद् भोग विकृतयः ताभिः ।

श्रीकर्दम ऋषि देवहूति को कहे थे—मैं स्वधर्म निरत होकर तपस्या, समाधि, विद्या एवं आत्म योग द्वारा भगवत् प्रसाद स्वरूप भयशोक रहित जो दिव्य भोग समूह को प्राप्त किया हूँ, तुमने निरन्तर मेरी सेवा करके वह सब भोग को आयत्त किया है । तुम को मैं दिव्य दृष्टि दान करता हूँ उस से उन सब को देखो । श्रीकर्द्दमऋषि—प्रथम स्वधर्म--धर्मानुष्ठान प्रधान पूजा, अनन्तर तपस्या, पश्चात् समाधि--एकाग्रता, तत् पश्चात् विद्या--अनुभव, अनन्तर आत्मयोग--भगवान् के सहित संयोग, इस से प्राप्त--भगवत् प्रसाद, इस से प्रतीत होता है कि—श्रीकर्दम, श्रीभगवत् प्रीत्यर्थ जो सब साधन किये थे । उस से ही स्वधर्मानुष्ठानादि के द्वारा श्रीभगवत् प्राप्ति हुई ।

किमुरुक्रमसम्बन्धिनः, अपि तु नेत्यर्थः। अतएव भगवतो भ्रुव इत्यादि ॥ श्रीकर्द्दमो देवहूतिम् ।

१४। तदेवं सारूप्यमपि ज्ञेयम्, यथा (भा० ८।४।६) —

(१४) "गजेन्द्रो भगवत् स्पर्शाद्विमुक्तोऽज्ञानबन्धनात् ।
प्राप्तो भगवतो रूपं पीतवासाश्चतुर्भुजः ॥"७५॥

स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

१५। सामीप्यमप्युदाहृतं (८२ अनु०) भगवत्सन्दर्भे कर्दमनिर्याणवर्णनया, (भा० ३।२४।४३)

---

अन्यान्य अनेक भोग हैं, किन्तु वह सब अतितुच्छ हैं, उरुक्रम भगवान् की भ्रूभङ्गि मात्र से वह सब विनष्ट होते हैं, तुम सिद्ध हो, निज पातिव्रत्य धर्म द्वारा जो दिव्य भोग तुमने अर्जन किया है, उस को भोग करो, वह सब भोग-मानवों के पक्ष में दुष्प्राप्य हैं। राजन्य वृन्द सामादि के द्वारा भी उक्त भोग समूह को प्राप्त करने में अक्षम हैं।

इस से प्रतीत होता है कि—भगवत् प्रसाद से जो दिव्य भोग उपस्थित होता है, वह सब भय शोक रहित होने के कारण अविनश्वर हैं।

एतद्भिन्न भोग समूह विनश्वर है, कारण, वह सब भगवत् सम्बन्धीय नहीं हैं, किन्तु मायिक हैं, तज्जन्य भगवान् की भ्रूभङ्गि से अर्थात् महा प्रलय में विनष्ट होते हैं। इस से देव वृन्द के स्वर्गीय सुख समूह का तुच्छत्व प्रति पादन हुआ है।

राजन्य वृन्द—साम, दान, दण्ड भेद रूप चतुर्विध राजनीति द्वादश पार्थिव सुख भोग समूह को संग्रह करते हैं, किन्तु यह सब भोग, भगवत् प्रसादलब्ध भोग के समीप में अतितुल्य हैं। नृपति का पार्थिव भोग-भय शोक सङ्कुल है-अतः विनश्वर है। भगवत् प्रसादलब्ध भोग—भय शोक रहित होने के कारण-अविनश्वर है। सन्दर्भ व्याख्या--तपस्या, समाधि, विद्या, उपासना द्वारा जो आत्मयोग, चित्त की एकाग्रता, उस से जो दिव्य भोग समूह उपस्थित होते हैं। तद्व्यतीत अन्य भोग समूह क्या भगवत् सम्बन्धीय हैं? नहीं, सम्भव नहीं है। अतएव भगवान् की भ्रूभङ्गि मात्र से विनष्ट होने के कारण वह सब पुरुषार्थ नहीं हो सकते हैं।

श्रीकर्दम देवहूति को कहे थे ॥१३॥

१४। सारूप्य मुक्ति को भी इसी प्रकार जाननी चाहिये। भा० ८।४।६ में उक्त है—

(१४) "गजेन्द्रो भगवत् स्पर्शाद्विमुक्तोऽज्ञानबन्धनात् ॥
प्राप्तो भगवतो रूपं पीतवासाश्चतुर्भुजः ॥"७५॥

क्रमसन्दर्भ—विमुक्त इति। तत् सारूप्यस्य मायातीतत्वमुक्तम्।

गजेन्द्र भगवत् स्पर्श प्राप्त कर अज्ञान बन्धन से मुक्त होकर पीतवसन एवं चतुर्भुज भगवान् के रूप को प्राप्त किया। सार्ष्टि मुक्ति में जिस प्रकार समान ऐश्वर्य्य प्राप्ति होने पर भी श्रीभगवान् से मुक्त जीव में न्यूनता स्वीकृत हुई है, सारूप्य मुक्ति में भी उस प्रकार न्यूनता स्वीकार करनी पड़ेगी। कारण, सारूप्य में समान रूपता लाभ होने पर भी कोई भी मुक्त पुरुष समुदय भगवल्लक्षणाक्रान्त नहीं हो सकते हैं। श्रीवत्स, कौस्तुभ, एवं श्रीकर चरण गत असाधारण चिह्न समूह श्रीभगवान् के ही निजस्व हैं।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥१४॥

"मनो ब्रह्मणि युञ्जानः" इत्यारभ्य मध्ये च (भा० ३।२४।५५) "लब्धात्मा मुक्तबन्धनः" इत्युक्त्वा सर्व्वान्ते (भा० ३।२४।४७) "भगवद्भक्तियोगेन प्राप्तो भागवतीं गतिम्" इत्येवमुक्तरीत्या।

अथ सायुज्यमघासुरादि-दृष्टान्तेन साधकानामपि गम्यम्। सालोक्यादिवत्-स्वाभिमतत्वाभावात् स्पष्टोदाहरणं श्रीमता भागवतेन न कृतमिति। अस्य भगवल्लक्षणानन्दनिमग्नतास्फूर्त्तिरेव प्रधानम्, क्वचिदिच्छया तदनुग्रहेण तदीयतच्छक्ति लेशप्राप्त्यैव यथायुक्तं वहिस्तद्दत्ताप्राकृत-तद्भोगोच्छिष्टलेशमेवानुभवतीत्येके। तत्र च न तु तमेव सर्व्वमेव चानुभवतीत्यभ्युपगम्यम्,—

---

१५। सामीप्य–मुक्ति।

भगवत् सन्दर्भ के चार अनुच्छेद में कर्दम निर्य्याण वर्णन प्रसङ्ग में सामीप्य मुक्ति का उदाहरण प्रस्तुत हुआ है। भा० ३।२४।४३–४३–४५–४७ में उक्त है—

"मनोब्रह्मणि युञ्जानो यत्तत् सदसतः परम्।
गुणावभासे विगुण एक भक्त्यानुभाषिते॥
निरहङ्कृति निर्म्ममश्च निर्द्वन्द्व- समदृक् सदृक्।
प्रत्यक् प्रशान्तधी धीरः प्रशान्तोर्म्मिरिवोदधिः॥
वासुदेवे भगवति सर्वज्ञे प्रत्यगात्मनि।
परेण भक्ति भावेन लब्धात्मा मुक्तबन्धनः॥
आत्मानं सर्व भूतेषु भगवन्तमवस्थितम्।
अपश्यत् सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि॥
इच्छा द्वेष विहीनेन सर्वत्र समचेतसा।
भागवद् भक्ति योगेन प्राप्ताभागवती गतिः॥"

उक्त प्रकरण में "ब्रह्म में मनः संयोग किया" इस प्रकार आरम्भ करके "आत्मलाभ पूर्वक बन्धन मुक्त होकर" कहने के बाद, अवशेष में "भगवद् भक्ति योग से भागवती गति' को प्राप्त किये थे—इस प्रकार रीति का अवलम्बन हुआ है।

श्रीकर्दम—जो ब्रह्म सदसत् कार्य्य कारण से भिन्न, गुण समूह का प्रकाशक अथच प्राकृत गुणातीत एवं अव्यभिचारिणी साधन भक्ति द्वारा निरन्तर जिस को प्रत्यक्ष किया जा सकता है, उस ब्रह्म में मनः संयोग किये थे।

अतएव कर्दम–देहादि में अहंबुद्धि एवं ममता शून्य हुये थे। इस से मनः प्रभृति का अभाव सुसिद्ध होता है। सुतरां शीतोत्तापादि से अनाकुल एवं भेद बुद्धि रहित होकर निज स्वरूप से अभिन्नरूप में ब्रह्म का दर्शन किये थे। उनका ज्ञान अन्तर्म्मुखी अर्थातु विक्षेपरहित था, तज्जन्य श्रीकर्दम–तरङ्ग हीन सागर के तुल्य अक्षुब्ध हो गये थे।

इस प्रकार ब्रह्म ज्ञान मिश्र भक्ति साधन प्रभाव से ब्रह्मानन्द उपस्थित होने पर भी कर्द्दम का जो भक्ति संस्कार था, उस के प्रभाव से प्राप्त प्रेमादि द्वारा ब्रह्मानुभव से भी श्रेष्ठ जो भगवदनुभव उपस्थित हुआ था—उस को कहते हैं—सर्वाश्रय सर्वज्ञ भगवान् वासुदेव में प्रेम भक्ति सम्पन्न होने के कारण, अप्राकृत अहङ्कारादि प्राप्त किये थे, एवं बन्धन मुक्त हो गये थे। अर्थात् पहले ब्रह्मज्ञान उपस्थित होने से

सर्वथा तत्प्राप्तेरनभ्युपगतत्वात् । जगद्व्यापारादिनिषेधेनेदमेवोक्तम्—"यदैनं मुक्तो नु प्रविशति मोदते च कामांश्चैवानुभवति" इति वृहच्छ्रुतौ, "ब्रह्माभिसम्पद्य ब्रह्मणा पश्यति, ब्रह्मणा शृणोति" इत्यादि-माध्यन्दिनायन-श्रुतौ, "आदत्ते हरिहरतेन" इत्यादिकमपि

---

प्राकृत अहङ्कादि बिलीन हो गये थे। अनन्तर प्रेम भक्ति का आविर्भाव होने से प्रेमानन्दात्मक शुद्ध सत्त्व मय अहङ्कारादि प्राप्त किये थे। अर्थात् पार्षद देह प्राप्त किये थे। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—प्राकृताहङ्कारादि क्या प्रत्यावृत्त हुये थे ? किंवा अप्राकृत अहङ्कारादि प्राकृत अहङ्कारादि के समान बन्धन हेतु हुए थे ? उत्तर में कहा—मुक्त बन्धन। प्राकृत अहङ्कारादि प्रत्यावृत्त नहीं हुए एवं जो अहङ्कारादि प्राप्त हुये थे। वह सब बन्धन हेतु नहीं थे, किन्तु मुक्ति सुख भोग हेतु भूत थे।

श्रीकर्दम—लब्धात्मा, मुक्तबन्धन होने के कारण, भगवत् साक्षात्कार लाभ किये थे। उस को कहते हैं—उन्होंने सर्वभूत में आत्मा परमात्मा सर्वान्तर्य्यामी तृतीय पुरुष क्षीरोदशायी को दर्शन किये थे। पुनर्वार उनके ही निजेष्टदेव भगवान् का शुक्लचतुर्भुज रूप में दर्शन किये थे। इस प्रकार प्रकृति अन्तर्य्यामी प्रथम पुरुष कारणार्णवशायी में अर्थात् एकस्थान में अवस्थित होकर ही योगज नेत्र द्वारा महाविष्णु के रोम कूपगत शत कोटि ब्रह्माण्डस्थित समस्त भूत को दर्शन किये थे।

अनन्तर साक्षात् रूप में भगवत् प्राप्ति का वर्णन करते हैं-श्रीभगवान् भिन्न समस्त वस्तु में तुच्छता बोध हेतु, जो इच्छाद्वेष रहित होने के कारण, एवं सर्वत्र समचित्त हेतु कर्दमऋषि भगवद् भक्ति योग के द्वारा भागवती गति—अर्थात् भगवत् पार्षदत्व लक्षणा गति को प्राप्त किये थे।

अथवा—मा—लक्ष्मी के सहित जो वर्त्तमान हैं, वह सम-नारायण। उन में चित्त है जिनका, वह समचित्त, अनुसन्धानात्मिका अन्तः करण वृत्ति—चित्त है, जो प्रेमोत्कण्ठासे सर्वत्र श्रीहरि का अनुसन्धान करते हैं- वह सर्वत्र समचित्त हैं, उस प्रकार कर्दम ऋषि--प्रेमभक्ति योग द्वारा भागवती गति को प्राप्त किये थे।

उक्त पाँच श्लोकों के द्वारा प्रथम कर्दम का ब्रह्मानुभव, उसके बाद-परमात्मानुभव, अनन्तर भगवत् प्राप्ति वर्णित है। प्राप्ति के क्रमानुसार भगवत् प्राप्ति की श्रेष्ठता सूचित हुए है। मनो ब्रह्मणि श्लोक में ब्रह्मानुभव, आत्मानं श्लोक में परमात्मानुभव, एवं इच्छाद्वेष विहीनेन श्लोकमें साक्षात् भगवत् प्राप्ति वर्णित है। प्रश्न हो सकता कि भगवत् प्राप्ति जो उनकी सामीप्य मुक्ति है--इस का बोध कैसे होता है ? उत्तर में कहते हैं। सालोक्यादि मुक्ति--अन्तः साक्षात्कारात्मक हैं। उनकी भागवती गति प्राप्ति वर्णना के पूर्व में पार्षदत्व स्फूर्त्ति एवं ब्रह्म परमात्मा भगवान् त्रिविध स्वरूप का अन्त साक्षात् कार वर्णित है। उस के बाद--भागवती गति प्राप्ति कहने से—वह जो वहिः साक्षात् कार मय सामीप्य मुक्ति है—इस का बोध अनायास से ही होता है।

## सायुज्य—मुक्ति—

अनन्तर सायुज्य मुक्ति का वर्णन करते हैं। अघासुरादि के दृष्टान्त के द्वारा साधक वृन्द की सायुज्य मुक्ति की रीति को समझनी होगी।

अघासुर श्रीकृष्ण के अनिष्ट-साधन हेतु कंस कर्त्तृक प्रेरित होकर वृहत् अजगर वपु- धारण करतः जहाँ सखा वृन्द के सहित श्रीकृष्ण क्रीड़ा कर रहे थे, उस के समीप में अवस्थान करने लगा। सखागण कौतूहलाक्रान्त होकर उस के मुख विवर में प्रविष्ट होने पर वत्स समूह भी उस के पश्चात् प्रविष्ट हुए थे। श्रीकृष्ण- उन सब को सर्प कवल से मुक्त करने के निमित्त स्वयं उस में प्रविष्ट हुये थे। अनन्तर श्रीकृष्ण

तच्छक्तिलेशप्राप्त्याद्यभिप्रायेणैवोक्तम् । क्वचिदिच्छयालीलार्थं बहिरपि निष्कासयति,

अङ्ग वृद्धि करने लगे थे। उस से अघासुर श्वासरुद्ध होकर प्राण त्याग किया। उस समय अघासुर की आत्मा शरीर से निर्गत होकर ज्योतिर्म्मय रूप में आकाश में अवस्थान करने लगी। श्रीकृष्ण, गोवत्स एवं सखावृन्द के सहित अघासुर के मुख विवर से निर्गत होने पर, उक्त ज्योति श्रीकृष्ण के चरणों में विलीन हो गई। इस प्रकार विलीन होने का नाम सायुज्य मुक्ति है।

सालोक्यादि के समान सायुज्य मुक्ति, श्रीमद् भागवत का अभिप्रेत नहीं है, श्रीमद् भागवत उसका सुस्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत नहीं करते हैं। भगवल्लक्षण आनन्द में निमग्न है—इस प्रकार स्फुर्त्ति ही सायुज्य मुक्ति प्राप्त व्यक्ति का प्रधान सुखानुभव है। कतिपय व्यक्ति के मत में कहींपर इच्छानुसार भगवदनुग्रह से उनके भोग शक्ति लेश को प्राप्त कर कोई कोई व्यक्ति बाहर योग्यतानुरूप भगवद् दत्त अप्राकृत तदीय भोगोच्छिष्ट लेश को अनुभव करते रहते हैं। उस में भी वे सर्वतोभावेन श्रीभगवान् को अनुभव कर नहीं सकते हैं। यह अवश्य ही मानना पड़ेगा। कारण, सर्वतोभावेन उन के पक्ष में भगवत् प्राप्ति स्वीकृत नहीं है। ब्रह्म सूत्रस्थ जगद्व्यापारादि में उन सब का कर्त्तृत्व निषिद्ध हुआ है। सायुज्य मुक्ति में भगवल्लक्षण आनन्द निमग्नतास्फूर्त्ति एवं भगवच्छक्ति लेश प्राप्ति द्वारा उक्त रूप भोग लेशानुभव की कथा श्रुति स्मृति में उक्त है। "यदैनं मुक्तो नु प्रविशति मोदते च कामांश्चैवानुभवति" इति बृहत् श्रुति।

मुक्त पुरुष भगवान् में प्रवेश करता है, आनन्द लाभ करता है, एवं काम समूह को अनुभव करता है। "ब्रह्माभिसम्पद्य ब्रह्मणा पश्यति, ब्रह्मणा शृणोति' इत्यादि माध्यन्दिनायन श्रुति। मुक्त पुरुष-ब्रह्म प्राप्त होकर ब्रह्म द्वारा दर्शन करता है, ब्रह्म द्वारा श्रवण करता है, ब्रह्म द्वारा समस्त अनुभव करता है। स्मृति में उक्त है—"आदत्तो हरिहस्तेन" मुक्त व्यक्ति, श्रीहरि के हस्त के द्वारा ग्रहण करता है, श्रीहरि के चक्षु द्वारा दर्शन करता है, श्रीहरि के चरण के द्वारा गमन करता है। मुक्त का अवस्थान इस प्रकार है। मुक्त व्यक्ति में भगवच्छक्ति लेश प्राप्त्यादि के अभिप्राय से ही शास्त्र में यह सब वर्णित हैं।

श्रीभगवत् सेवा तात् पर्य्यमयी भक्ति का उत्कर्ष ख्यापन करना ही श्रीमद् भागवत का अभिप्राय है। सालोक्यादि मुक्ति में भगवत् सेवा की सम्भावना है, तज्जन्य श्रीमद् भागवत में यह सब मुक्ति का सुस्पष्ट उदाहरण है। सायुज्य मुक्ति में भगवत् सेवा की सम्भावना नहीं है, अतः यह मुक्ति—श्रीमद् भागवत अभिप्रेत नहीं है। तज्जन्य इस का दृष्टान्त श्रीमद् भागवत में सुस्पष्ट रूप से नहीं है। अघासुर, शिशुपाल-श्रीकृष्ण में विलीन हुए थे, यही सायुज्य मुक्ति है। श्रीमद् भागवत में प्रसङ्गतः इस प्रकार सायुज्य मुक्ति का वर्णन है।

पहले कहा गया है कि—सायुज्य मुक्ति—-

अन्तः साक्षात् कारमय है, श्रीभगवान् की स्फूर्त्ति विशेष को ही अन्तः साक्षात् कार कहते हैं, सायुज्य मुक्ति की यह स्फूर्त्ति-भगवान् ही आनन्द स्वरूप हैं, अर्थात् जो आनन्द भगवत् स्वरूप में अभिव्यक्त हैं, उस आनन्द में निमग्न हूँ, इस प्रकार मानना है। उ. में स्वरूपगत ऐश्वर्य्य माधुर्य्य एवं स्वरूप वैभव-धाम, परिकर लीला की किसी प्रकार अनुभूति नहीं रहती है। सायुज्य मुक्ति में उक्त स्फूर्त्ति का ही प्राधान्य है। कहीं पर किञ्चित् भोग भी रहता है। वह भोग -श्रीभगवान् की इच्छा के अनुसार भगवत् कृपा से भगवान् जिस शक्ति के द्वारा स्वरूप शक्ति के विकारभूत चिदानन्द रसमय द्रव्य समूह भोग करते हैं, कोई कोई मुक्त पुरुष,-उस शक्ति का लेशमात्र प्राप्तकर तद् द्वारा श्रीभगवान् के भुक्तावशेष को किञ्चिन्मात्र आस्वादन कर सकता है। इस से प्रतीत होता है कि—पार्षद वृन्द के समान अप्राकृत रूप रसादि भोग करने के उपयोगी उस में अप्राकृत इन्द्रिय नहीं रहती है। यह सब चित्कण—निज स्वरूप

पार्षदत्वेन च संयोजयति, यथा शिशुपाल-दन्तवक्रौ लब्धसायुज्यावपि पुनः पार्षदतामेव प्राप्तौ, (भा० ७।१।४६)—

---

मात्र अवलम्बन करके सायुज्य लाभ करते हैं।

सायुज्य प्राप्त व्यक्ति का उस प्रकार किञ्चित् भोग लाभ का वर्णन भविष्य पुराण में है--

"मुक्ताः प्राप्य परं विष्णुं तद् भोगाल्लेशतः क्वचित्।
बहिष्ठान् भुञ्जते नित्यं नानन्दादीन् कथञ्चन ॥" (मध्वभाष्यधृत)

मुक्त व्यक्ति गण विष्णु को प्राप्तकर उनके भोगलेश से किसी स्थल में वहिःस्थित किञ्चिद् भोग का उपभोग करते हैं। किन्तु श्रीविष्णु के सम्पूर्ण आनन्दादि को भोग करने में सक्षम नहीं हैं।

यह वहिःस्थित भोग वहिरङ्गा माया का विकार नहीं है, भगवद्विग्रह के बाहर स्वरूप शक्ति की परिणति विशेष रूप अप्राकृत उपभोग्य द्रव्य समूह हैं। विशेष ज्ञातव्य यह है कि—सायुज्य प्राप्त व्यक्ति वृन्द की लीला विषय के अनुभूति नहीं रहती है। अतः श्रीभगवद् विग्रह में लीन होने पर भी प्रेयसी वर्ग के सहित तदीय विहारादि--मुक्त पुरुष वृन्द की अनुभूति के अतीत होते हैं।

प्रीति सन्दर्भ के पञ्चम अनुच्छेद में उक्त है—तदेवं तस्य रश्मि परमाणु स्थानीयांशत्वे सिद्धे तद्वत् सर्वस्यामपि दशायां कर्त्तृत्व भोक्तृत्वादि स्वरूपधर्मा अपि सिध्यन्ति ॥" अर्थात् समस्त अवस्था में जीव के कर्त्तृत्व भोक्तृत्वादि स्वरूप धर्म विद्यमान हैं। ऐसा होने पर प्रश्न हो सकता है कि--सायुज्य प्राप्त पुरुष में भी जब कर्त्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्म्म अव्याहत रहते हैं, तब श्रीभगवान् के कर्त्तृत्व भोक्तृत्वादि के समान तदीय विग्रह में प्रविष्ट व्यक्ति के सर्वांश में कर्त्तृत्व भोक्तृत्वादि क्यों नहीं सिद्ध होते हैं? उत्तर में कहते हैं, भगवद् विग्रह में प्रविष्ट होने पर भी उनके सहित मिलकर एक नहीं होते हैं, उस अवस्था में भी अणु चैतन्य जीव स्वरूप अविकृत ही रहता है। सुतरां उस समय में भी स्वरूप धर्म तदनुरूप अति स्वल्प ही रहता है। अर्थात् सायुज्य लाभ करने के पश्चात् जीव—भगवान् नहीं होता है, जीव--जीव ही रहता है, केवल माया सम्पर्क नहीं रहता है, यही विशेष है। जीव शक्ति, कभी भी भगवत् शक्तिवत् विपुलता को प्राप्त नहीं करती है, पूर्ववत् अविकल रहती है। वह शक्ति, भगवल्लक्षण आनन्द निमग्नता स्फूर्त्ति में ही पर्य्यवसित होती है। "निमग्न" शब्द प्रयोग होने के कारण—अपर कुछ अनुभव करने की सामर्थ्य उस में नहीं रहती है, यह ज्ञापित हुआ है। जीव स्वरूप गत शक्ति की विपुलता प्राप्ति को स्वीकार करने पर भी अनन्त शक्ति श्रीभगवान् के कर्त्तृत्वादि के समान कर्त्तृत्वादि अणुशक्ति जीव में पूर्णतः असम्भव हैं। पहले जो पुरुष में विपुल शक्ति मानी गई हैं, वह उनके स्वरूपगत नहीं हैं, किन्तु श्रीभगवत् प्रदत्त हैं। यहाँ पर तदीय शक्ति लेश प्राप्ति की कथा ही कही गई है। मुक्ति समूह के मध्य में सायुज्यमुक्ति,--सर्वापेक्षा निकृष्ट है। भक्तगण उसको नहीं चाहते हैं। कारण, इसमें भगवत् सेवा की सम्भावना है ही नहीं, तज्जन्य भगवत् शक्ति के यथेष्ट आनुकूल्य प्राप्त करने में सायुज्य प्राप्त व्यक्ति गण--असमर्थ होते हैं। भगवदिच्छा से कदाचित् शक्ति लेश प्राप्त कर सकते हैं।

"क्वचिदिच्छया लीलार्थं वहिरपि निष्कासयति, पार्षदत्वेन च संयोजयति ॥"

स्थल विशेष में श्रीभगवान् स्वेच्छाक्रम से सायुज्य प्राप्ति व्यक्ति वृन्द को लीलाहेतु निज श्रीअङ्ग से बाहर निष्कासित करते हैं, पुनर्वार, पार्षद रूप में संयोजित करते हैं। जिस प्रकार शिशुपाल दन्त वक्र के प्रसङ्ग में हुआ है। दोनों सायुज्य लाभ किये थे, एवं पुनर्वार पार्षद भी हुए थे। भा० ७।१।४६ में उक्त है--

"वैरानुबन्धतीव्रेण ध्यानेनाच्युतसात्मताम् ।
नीतौ पुनर्हरेः पार्श्वं जग्मतुर्विष्णुपार्षदौ ॥"७६॥

इति तावुद्दिश्य श्रीनारदवाक्यात् । तत्रैषां सालोक्यादीनामनवच्छिन्नभगवत्प्राप्तिरूपतया तत्साक्षात्कार-विशेषत्वेन ब्रह्मकैवल्यादाधिक्यं प्राचीनवचनैः सुतरामेव सिद्धम् । अतएव क्रममुक्तिवत् क्रमभगवत्-प्राप्तौ ब्रह्मप्राप्त्यनन्तरभावित्वमपि क्वचित् श्रूयते, यथा श्रीमतोऽजामिलस्य सिद्धिप्राप्तौ (भा० ६।२।४०-४४) —

(१५) "स तस्मिन् देवसदन आसीनो योगमास्थितः ।
प्रत्याहृतेन्द्रियग्रामो युयोज मम आत्मनि ॥७७॥
ततो गुणेभ्य आत्मानं वियुज्यात्मसमाधिना ।
युयुजे भगवद्धाम्नि ब्रह्मण्यनुभवात्मनि ॥७८॥

---

"वैरानुबन्धतीव्रेण ध्यानेनाच्युतसात्मताम् ।।
नीतौ पुनर्हरेः पार्श्वं जग्मतुर्विष्णुपार्षदौ ॥"७६॥

जय विजय वैरानुबन्धजनित तीव्रध्यान द्वारा श्रीकृष्ण सायुज्य को प्राप्त किये थे । पुनर्वार श्रीहरि के समीप में नीत होकर श्रीविष्णु पार्षदत्व को भी प्राप्त किये थे । उन दोनों को उद्देश्य करके श्रीनारद वाक्य उक्त विषय में प्रमाण है ॥७६॥

## मुक्ति की तरतमता ।

परतत्त्व साक्षात्कार के मध्य में सालोक्यादि की अनवच्छिन्न भगवत् प्राप्ति रूपता हेतु भगवत् साक्षात् कार रूप वैशिष्ट्य के द्वारा ब्रह्म कैवल्य से यह सब मुक्तिका श्रेष्ठत्व प्राचीन वचन समूह के द्वारा निःसन्दिग्ध रूप से सिद्ध होता है। भगवत् सन्दर्भ के ८० अनुच्छेद में स्थित एवं प्रीति सन्दर्भ के प्रथम परिच्छेद में स्थित वचन समूह के द्वारा भगवत् साक्षात् का उत्कर्ष ब्रह्म साक्षात्कार से जानलेना कर्त्तव्य है। "तच्च परमं तत्त्वं द्विधा आविर्भवति, अस्पष्ट विशेषत्वेन स्पष्ट स्वरूप भूत विशेषत्वेन च । तत्र ब्रह्माख्या स्पष्ट विशेष परतत्त्व साक्षात्कारतोऽपि भगवत् परमात्माद्याख्य स्पष्ट विशेष तत् साक्षात् कारस्योत्कर्षं,—भगवत् सन्दर्भे, जिज्ञासितमधीतञ्च ब्रह्म यत् तत् सनातनम् । तथापि शोचस्यात्मानम कृतार्थ इव प्रभो । इत्यादि प्रकरणकप्रघट्टकेन दर्शितवानस्मि ॥"

यहाँ विशेष शब्द से शक्ति एवं शक्ति कार्य्य को जानना चाहिये । ब्रह्म में शक्ति एवं शक्ति कार्य्य की अनभिव्यक्ति हेतु, ब्रह्म अस्पष्ट विशेष हैं, एवं श्रीभगवान् में शक्ति--शक्ति कार्य्य की अभिव्यक्ति हेतु, वह स्पष्ट विशेष तत्त्व हैं । अतएव क्रममुक्ति के समान क्रम भगवत् प्राप्ति, ब्रह्म प्राप्ति के पश्चात् होती है, इस प्रकार भी लिखित है । यदा श्रीमान् अजामिल की सिद्धि प्राप्ति का प्रसङ्ग है । भा० ६।२।४०--४४ में उक्त है—

(१५) "स तस्मिन् देवसदन आसीनो योगमास्थितः ।
प्रत्याहृतेन्द्रियग्रामो युयोज मन आत्मनि ॥७७॥
ततो गुणेभ्य आत्मानं वियुज्यात्मसमाधिना ।
युयुजे भगवद्धाम्नि ब्रह्मण्यनुभवात्मनि ॥७८॥

यह्य॒पारतधीस्तस्मिन्नद्राक्षीत् पुरुषान् पुरः ।
उपलभ्योपलब्धान् प्राग्ववन्दे शिरसा द्विजः ॥७९॥
हित्वा कलेवरं तीर्थे गङ्गायां दर्शनादनु ।
सद्यः स्वरूपं जगृहे भगवत्पार्श्ववर्त्तिनाम् ॥८०॥
साकं विहायसा विप्रो महापुरुषकिङ्करैः ।
हैमं विमानमारुह्य ययौ यत्र श्रियः पतिः ॥"८१॥

स्पष्टम् । एवं सद्यो भगवत्प्राप्तावप्याधिक्यमवगतम् ॥ श्रीशुकः ॥

१६ । सालोक्यादिषु च सामीप्यस्याधिक्यम्, वहिः साक्षात्कारमयत्वात्तस्यैव ह्याधिक्यं

---

यह्य॒पारतधीस्तस्मिन्नद्राक्षीत् पुरुषान् पुरः ।
उपलभ्योपलब्धान् प्राग्ववन्दे शिरसा द्विजः ॥७९॥
हित्वा कलेवरं तीर्थे गङ्गायां दर्शनादनु ।
सद्यः स्वरूपं जगृहे भगवत् पार्श्ववर्त्तिनाम् ॥८०॥
साकं विहायसा विप्रो महापुरुषकिङ्करैः ।
हैमं विमानमारुह्य ययौ यत्र श्रियः पतिः ॥"८१॥

विष्णु दूतगण के सङ्ग प्रभाव से अजामिल का निर्वेद उपस्थित होने से, पुत्रादि को परित्याग करके गङ्गातीर में गमन अजामिल किये थे । वहाँ एकदेवमन्दिर में आसन करके योग धारण भी किये थे। इन्द्रिय वर्ग को विषय से प्रत्याहृत करके आत्मा में मनः संयोग किये थे । अनन्तर, आत्मा को देहेन्द्रियादि की आसक्ति से मुक्त करके समाधि द्वारा अनुभवात्मक भगवत् स्वरूप— आनन्द सत्ता मात्र ब्रह्म में नियुक्त किये थे । जब ब्रह्म में बुद्धि स्थिर हुई, तब अजामिल पूर्वदृष्ट विष्णु दूतगण को दर्शन करके अवनत मस्तक से वन्दन किये थे । अनन्तर उस गङ्गातीर्थ में देहत्याग करके तत् क्षणात् भगवत् पार्षद वृन्द के स्वरूप धारण किये थे । महापुरुष श्रीहरि के किङ्कर गण के सहित सुवर्ण रथ में आरोहण करके जहाँ भगवान् श्रीपति विराजित हैं, वहाँ गमन किये थे । इस से प्रतीत हुआ कि ब्रह्म कैवल्य से भी सद्यो भगवत् प्राप्ति का आधिक्य सुस्पष्ट है ।

उक्त श्लोक समूह में अजामिल की क्रम भगवत् प्राप्ति वर्णित है । इस में ब्रह्म प्राप्ति के पश्चात् भगवत् प्राप्ति कथित होने पर ब्रह्म कैवल्य से क्रम भगवत् प्राप्ति का श्रेष्ठत्व बोध होता है ।

सद्यो भगवत् प्राप्ति का श्रेष्ठत्व इस रीति से है । अस्पष्ट विशेष परतत्त्व साक्षात् कार, स्पष्ट विशेष भगवत् साक्षात्कार भेद से द्विविध पर तत्त्व साक्षात् कार के मध्य में स्पष्ट विशेष परतत्त्व साक्षात्कार का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम परिच्छेद में हुआ है । भगवत् साक्षात् कार ही स्पष्ट विशेष पर तत्त्व साक्षात्कार है। सद्यो भगवत् प्राप्ति उसका ही अवान्तर भेद होने से वहाँ श्रेष्ठत्व प्रतीत होता है । सद्यो भगवत् प्राप्ति एवं क्रम भगवत् प्राप्ति एतदुभय प्राप्ति में प्राप्तव्य गत भेद न होने के कारण अजामिल के दृष्टान्त में क्रम भगवत् प्राप्ति का ब्रह्म साक्षात्कार से श्रेष्ठत्व प्रति पादित होने से सुतरां सद्यो भगवत् प्राप्ति का श्रेष्ठत्व प्रतीत होता है । प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥१५॥

१६ । प्रस्तुत ग्रन्थ के अष्टम अनुच्छेद में अन्तः साक्षात्कार से वहिः साक्षात् कार का श्रेष्ठत्व प्रति पादित हुआ है । सालोक्यादि पञ्चविध मुक्ति के मध्य में सामीप्य मुक्ति ही श्रेष्ठ है । कारण, वह वहिः

दर्शितम् । तदेवं मुक्तिर्दर्शिता । तत्र विष्णुधर्म्मोत्तरे श्रीवज्रप्रश्नः—

"कल्पानां जीवसाम्ये हि मुक्तिर्नैवोपपद्यते । कदाचिदपि धर्म्मज्ञ तत्र पृच्छामि कारणम् ॥८२॥

एकैकस्मिन्नरे मुक्ति कल्पे कल्पे गते द्विज । अभविष्यज्जगच्छून्यं कालस्यादेरभावतः ॥"८३॥

अथ श्रीमार्कण्डेयस्योत्तरम्—

"जीवस्यान्यस्य सर्गेण नरे मुक्तिमुपागते । अचिन्त्यशक्तिर्भगवान् जगत् पूरयते सदा ॥८४॥

ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते ब्रह्मलोकमुपागताः । सृज्यन्ते च महाकल्पे तद्विधाश्चापरे जनाः ॥"८५॥

अत्र क्वचिदपि कल्पे केषाञ्चिदपि जीवानामनुद्बुद्धकर्म्मत्वेन सुषुप्तवत् प्रकृतावपि

---

साक्षात्कार मय है । यहाँ उसी का आधिक्य प्रदर्शित हुआ । इस प्रकार मुक्ति का सुस्पष्ट विश्लेषण हुआ । अर्थात् साधारणतः मुक्ति लक्षण, मुक्ति समूह का अवान्तर भेद, विभिन्न प्रकार मुक्ति का लक्षण, विभिन्न प्रकार मुक्ति का तारतम्य, एवं सामीप्य मुक्तिका श्रेष्ठत्व प्रति पादित होने कारण, मुक्ति सम्बन्धीय यावतीय ज्ञातव्य विषय का विस्तृत विवचेन सुस्पष्ट रूप से हुआ ।

मुक्ति के सम्बन्ध में श्रीविष्णु धर्म्मोत्तर में श्रीवज्र का प्रश्न यह है—

"कल्पानां जीवसाम्ये हि मुक्तिर्नैवोपपद्यते ।
कदाचिदपि धर्म्मज्ञ तत्र पृच्छामि कारणम् ॥८२॥
एकैकस्मिन्नरे मुक्ति कल्पे कल्पे गते द्विज ।
अभविष्यज्जगच्छून्यं कालस्यादेरभावत ॥"८३॥

समस्त कल्प में ही यदि समसंख्यक जीव की स्थिति होती है तो, कभी मुक्ति प्रतिपन्न नहीं होगी । हे धर्मज्ञ ! उस का कारण मैं जानना चाहता हूँ । प्रति कल्प में यदि एक एक मानव मुक्त हो जाता तो अभीतक जगत् शून्य हो जाता । कारण, काल का आदि नहीं है, अर्थात् काल का आदि न होने के कारण, असंख्य कल्प अतिवाहित हुए हैं—इस प्रकार कहने पर भी किसी की आपत्ति नहीं हो सकती है । सुतरां प्रतिकल्प में एक एक मानव मुक्त होने से निश्चय ही अभीतक जगत् शून्य हो जाता । अनन्तर श्रीमार्कण्डेय का उत्तर यह है—

"जीवस्यान्यस्य सर्गेण नरे मुक्तिमुपागते ।
अचिन्त्यशक्तिर्भगवान् जगत् पूरयते सदा ॥८४॥
ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते ब्रह्मलोकमुपागताः ।
सृज्यन्ते च महाकल्पे तद्विधाश्चापरे जनाः ॥"८५॥ इति ।

मानव मुक्त होने पर अचिन्त्य शक्ति भगवान् अन्य जीव सृष्टि करके सर्वदा जगत् पूर्ण करते हैं । जो ब्रह्म लोक गमन करते हैं, वे ब्रह्मा के सहित मुक्त होते हैं । महा कल्प में उस प्रकार अन्य जन समूह की सृष्टि करते हैं ।

यदि किसी कल्प में अनन्त ब्रह्माण्ड गत जीवगण के मध्य में किसी का कर्म उद्बुद्ध नहीं होता है तो, यह सब सुषुप्त सदृश प्रकृति में लीन रहते हैं, तथापि उस के समान अनन्त व्यक्ति के मध्य में एक को उपाधि को सृजन करके ब्रह्माण्ड प्रवेश रूप सृष्टि कार्य्य होता है, इस प्रकार जानना ही चाहिये ।

जिस सृष्टि का आदि नहीं है, अर्थात् अनादि है, वह सृष्टि यदि आदि विशिष्ट होती है, तो जो किया गया है, उसकी हानि होगी, और जो नहीं किया गया है,—उस की उपस्थिति होगी ।

अर्थात् प्रलय काल में समस्त जीव,—स्वप्न विहीन गाढ़ निद्राभिभूत व्यक्ति के समान निज निज

लीनानामनन्त-ब्रह्माण्डगतानामिवानन्तानामेकस्योपाधिसृष्ट्या ब्रह्माण्डप्रवेशनं सर्ग इति ज्ञेयम् । अपूर्व्वसृष्टौ सादित्वे कृतहान्यकृताभ्यागमः स्यात् । अथ मुक्तिभ्यो भगवत्-प्रीतेराधिक्यं विव्रियते । तत्र यद्यपि तत्प्रीतिं विना ता अपि न सन्त्येव, तथापि केषाञ्चित्तेषां स्वस्य दुःखहानौ सामीप्यादिलक्षण-सम्पत्तावपि तात्पर्य्यम्, न तु श्रीभगवत्येवेति तेषु न्यूनता । तत्र (भा० १२।१३।१२) "कैवल्यैकप्रयोजनम्" इति यदुक्तम्, तस्य चार्थस्य तत्रैव विश्रान्तिः । तथैव "सर्ववेदान्त-" इत्यादिप्राक्तन–पादत्रयस्य विश्रान्तिस्तत्त्व-भगवत्सन्दर्भाभ्यां

---

कर्म्म के समान प्रकृति में लीन रहते हैं । जिस समय कर्म्म उद्‌बुद्ध होता है, अर्थात् क्रिया विशेष रूप से व्यक्त होने के योग्य होती है—उस समय सृष्टि का प्रारम्भ होता है ।

सृष्टि के आरम्भ में सर्व प्रथम ब्रह्मा की सृष्टि होती है । प्रचुर पुण्य सम्पन्न जीव, ब्रह्मा होकर सृष्टि कार्य्य निष्पन्न करता है । यदि किसी कल्प में अनन्त जीव गण के मध्य में ब्रह्मा होने के योग्य कर्म्म उद्‌बुद्ध किसी जीव का नहीं होता तो, कैसे सृष्टि कार्य्य निर्वाह होगा ? उत्तर में कहते हैं,—अनन्त जीव गण के मध्य में अनन्त ब्रह्मा की उपाधि--ब्रह्मा के शरीरादि प्रकृति में लीन हैं । उस के मध्य में एक व्यक्ति की उपाधि को सृष्टि करके श्रीभगवान् तद् द्वारा ब्रह्माण्ड में प्रवेश करते हैं । वही उस कल्प की सृष्टि है । किसी कल्प में सृष्टि योग्य जीव विद्यमान न होने से उस कल्प में सृष्टि कार्य्य बन्ध नहीं होता है । श्रीभगवान्--ब्रह्मा रूप में आविर्भूत होकर ब्रह्माण्ड में प्रवेश करते हैं । अन्य जीव सृष्टि न होने पर भी उस कल्प में उस को लेकर सृष्टि कार्य्य निष्पन्न होता है ।

ब्रह्म सूत्र में उक्त है—"जन्माद्यस्य यतः" जिस से जगत् के सृष्टि स्थिति लयादि कार्य्य होते हैं, वही परब्रह्म हैं । यहाँ सृष्ट्यादि कार्य्य--ब्रह्म का तटस्थ लक्षण रूप में निर्दिष्ट है । जब से भगवान् हैं, तब से सृष्ट्यादि कार्य्य भी प्रचलित हैं, श्रीभगवान् का आदि है ही नहीं, सुतरां जगत् सृष्टि की भी पूर्वावस्था नहीं है । प्रत्येक कल्प में ही सृष्टि होती रहती है । सृष्टि का आदि मानने पर—एक समय की कल्पना करनी पड़ेगी, जिस के पहले सृष्टि नहीं थी, ऐसा मानने पर उस समय सृष्टि कर्त्ता भगवान् का अभाव को अवश्य स्वीकार करना होगा, और जिस सृष्टि का आदि नहीं है, आदि की कल्पना करनी होगी । इस से कृत हानि अकृताभ्यागम दोषद्वय की प्रसक्ति होगी ।

## मुक्ति सेभगवत् प्रीति का श्रेष्ठत्व ।

अनन्तर मुक्ति से भगवत् प्रीति का श्रेष्ठत्व का वर्णन करते हैं । यद्यपि भगवत् प्रीति भिन्न मुक्ति है ही नहीं, तथापि मुमुक्षुगण के मध्य में किसी किसी का मुक्ति तात्पर्य्य--निज दुःख हानि एवं सामीप्यादि लक्षण सम्पत्ति में है । वह सब का तात्पर्य्य भगवान् नहीं रहता है । अतएव उन सब में प्रीति की न्यूनता जाननी होगी । भा० १२ १३।१२ में जो कथित है । "कैवल्यैक प्रयोजनम् " उस का अर्थ की विश्रान्ति भगवत् प्रीति में ही है । एवं "सर्व वेदान्तसारं" इत्यादि पूर्वतन पादत्रय की विश्रान्ति जो श्रीभगवान् में ही है, इसका प्रदर्शन तत्त्व एव भगवत् सन्दर्भ में हुआ है । पूर्णाविर्भावत्वेन अखण्ड तत्त्वरूपोऽसौ भगवान् । भगवत् सन्दर्भ ।३। पूर्णाविर्भाव हेतु भगवान् अखण्ड तत्त्व स्वरूप हैं, तत्त्व शब्द से परमसुख स्वरूप वस्तु का बोध होता है । "तत्त्वमिति परम पुरुषार्थता द्योतनया परमसुख स्वरूपत्वं तस्य बोध्यते ।।" (तत्त्व सन्दर्भ ५१ ) तत्त्व शब्द द्वारा अद्वय ज्ञान वस्तु की परम पुरुषार्थता को प्रकाश करके परम सुखरूपत्व को समझाते हैं । श्रीभगवान् का परम सुख रूपत्व का कथन इस सन्दर्भ में हुआ है ।

श्रीभगवत्येव दर्शिता,--तत्रैव तत्त्वपदार्थस्य पूर्णत्वस्थापनात् । तथैतत्पूर्वमपि (भा० १२।१३।११) "हरिलीलाकथाव्रातामृतानन्दितसत्सुरम्" इति पद्यार्द्धेन ग्रन्थस्वभाववर्णने तत्प्रीतेरेव मुख्यत्वं दर्शितम् । हरिलीलाकथाव्रात एवामृतम्, सन्त आत्मारामा एव सुरा इति, (भा० १०।१२।११) "इत्थं सतां, ब्रह्मसुखानुभूत्या" इति प्रसिद्धेः, (भा० २।१।९) "परिनिष्ठितोऽपि

---

यद्यपि भगवत् प्रीति भिन्न मुक्ति की सम्भावना ही नहीं है, तथापि कतिपय व्यक्ति भगवत् प्रीति के अभिलाषी न होकर मोक्ष चाहते हैं। उस का कारण, किसी किसी व्यक्ति में निज दुःख निवृत्ति की अभिलाषा रहती है, तज्जन्य वे सालोक्यादि मुक्ति को भी चाहते हैं, परम सुख स्वरूप भगवत् प्राप्ति में उन सब का कोई आग्रह नहीं रहता है।

जिस की आकाङ्क्षा भगवत् प्राप्ति की है, वे प्रीति के अभिलाषी होते हैं। कारण, प्रीति ही तत् प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। जो लोक, दुःख निवृत्ति हेतु मोक्षाभिलाषी हैं। वे भी प्रीति की अपेक्षा न करके रह नहीं सकते हैं, कारण, परतत्त्व वस्तु साक्षात्कार व्यतीत मुक्ति असम्भव हैं, परवस्तु किन्तु सुख स्वरूप हैं। सुख के प्रति सब की स्वाभाविक प्रीति है। केवल वस्तु स्वरूप के प्रति दृष्टि देकर मोक्षाभिलाषी व्यक्ति—उन को प्यार करते हैं, एतज्जन्य उन सब की प्रीति अल्प है अत्यल्प है। और जो लोक भगवत् प्राप्त्यभिलाषी हैं, वे केवल तदीय स्वरूप, स्वरूप का सौन्दर्य्य, माधुर्य्य एवं लीलामाधुर्य्य में आकृष्ट होकर उन को प्रीति करते हैं। स्वरूप सौन्दर्य्य माधुर्य्य असमोद्र्ध्व होकर भी चिरवर्द्धन शील हैं, लीला प्रवाह अनादि होने पर भी नित्य नवायमान है। तज्जन्य उनसब की प्रीति चिरवर्द्धन शील वास्तविक एवं अपरिमेय है।

मुक्ति से भगवत् प्रीति की श्रेष्ठता प्रतिपन्न होने पर भा० १२।१३। १२ में लिखित पद्य का समाधान आवश्यक है —

"सर्ववेदान्त सारं यद् ब्रह्मात्मैकत्व लक्षणम् ।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैक प्रयोजनम् ॥

इस में श्रीमद् भागवत ग्रन्थ का प्रयोजन लिखित है। यहाँ कैवल्य अर्थात् मुक्ति को ही श्रीमद् भागवत का प्रयोजन कहा गया है। अतएव पुरुषार्थ प्रतिपादक ग्रन्थ का जो प्रयोजन है, वही सर्वाधिक है। अतः मुक्ति से भगवत् प्रीति की आधिक्य सम्भावना कहाँ है। इस प्रकार जिज्ञासा निवृत्ति हेतु उक्त श्लोक का विश्लेषण करते हैं। श्लोकोक्त कैवल्य शब्दार्थ का पर्य्यवसान भगवत् प्रीति में ही है। श्लोकस्थ चरणचतुष्टय के मध्य में अन्तिम चरण 'कैवल्यैक प्रयोजनम्' की प्रयोजनीयता वर्णित हुई है। अवशिष्ट तीन पादों में वर्णित—सर्व वेदान्तसारं, ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्, वस्त्वद्वितीयं, का पर्य्यवसान--कैवल्य में नहीं है। श्रीभगवान् में ही उक्त पादत्रय का अर्थ पर्य्यवसान है। अर्थात् तत्तद्रूप में श्रीभगवान् की ही वर्णना की गई है। इस का प्रदर्शन तत्त्व एवं भगवत् सन्दर्भ में हुआ है। श्रीभगवान् में ही तत्त्व पदार्थ का पूर्णत्व प्रतिपादित हुआ है।

(भा० १२।१३।१२) सर्व वेदान्तसारं श्लोक के पूर्ववर्त्ती १२।१०।११ श्लोक में उक्त है—

"आदि मध्यावसानेसु वैराग्याख्यान संयुतम् ।
हरि लीला कथा व्रातामृतानन्दित सत् सुरम् ॥"

टीका—हरि लीला कथायां व्रातः समूहः, स एवामृतं तेनानन्दिताः सन्तः सुराश्च येन तत् ।
हरि लीला कथा समूह रूप अमृत द्वारा साधु रूप देवतावृन्द को श्रीमद् भागवत आनन्दित कर रहे हैं।

नैर्गुण्ये" इत्यादेश्च । अतः कैवल्य-शब्दश्च तत्तदनुसारेण व्याख्यातव्यः । तथाहि, यदि तत्र कैवल्य-शब्देन शुद्धत्वं वक्तव्यम्, तदा तत्प्रीत्येक-तात्पर्य्या एव परमशुद्धा इति तस्यामेव तात्पर्य्यम् । पूर्व्वं भक्तिसन्दर्भेऽपि शुद्ध-शब्देनैकान्तिभक्त एव प्रतिपादितः तदुक्तमन्यस्य सदोषत्व-कथनेन (भा० १।१।२) "धर्म्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमः" इत्यत्र, टीका च–प्र,शब्देन मोक्षाभिसन्धिरपि निरस्तः" इत्येषा। अत्र भागवद्धर्म्मे मोक्षाभिसन्धिरपि कैतवम्, तात्पर्य्यान्तरादित्यर्थः । यदि च तत्र कैवल्य-शब्देन भगवानेवोक्तस्तत्स्वभावो वा, तथापि प्रीतिमतामेव (भा० ३।१५।४९) "कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु न स्ता-, च्चेतोऽलिवद्यदि

---

इस श्रीमद् भागवत का स्वभाव वर्णन हुआ है।

हरि लीला कथा समूह द्वारा साधु समूह को आनन्दित कर रहे हैं, कथन से भगवत् प्रीति का मुख्यत्व प्रदर्शित हुआ है। अर्थात् मुक्ति देखर आनन्दित कर रहे हैं, इस प्रकार न कहकर उस प्रकार कहने से—बोध होता है कि भगवत् कथा कीर्त्तन ही श्रीमद् भागवत का अभिप्रेत है। उस का उद्देश्य भगवत् प्रीति है। तज्जन्य श्रीमद् भागवत में भगवत प्रीति का मुख्यत्व प्रदर्शित हुआ है।

उक्त श्लोक में हरि कथा को अमृत कहा गया है, एवं साधुगण को देवता कहा गया है। अतएव श्रीमद् भागवत का मोहिनी रूपत्व व्यञ्जित हुआ है। मोहिनी ने जिस प्रकार असुर वृन्द को वञ्चित करके देववृन्द को सुधापान कराई थी, उस प्रकार श्रीभागवत भी असुर बुद्धि सम्पन्न मानव गण को वञ्चित करके भक्त साधु वृन्द को हरिकथामृत पान कराते हैं।

यहाँ श्रीहरि लीला कथा ही अमृत है, सत् समूह—आत्माराम गण ही देवता है। सत् शब्द से जो आत्मा राम का बोध होता है, उस का वर्णन (भा० २।१।९) "परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये" गुणातीत ब्रह्म में परिनिष्ठित होने पर भी श्रीकृष्ण कथा में आकृष्ट होकर श्रीमद् भागवत का अध्ययन किये थे। इस में आत्मारामता' सत् का लक्षण रूप में अभिप्रेत हुआ है। अतएव "कैवल्य" शब्द का अर्थ, उक्त श्लोक समूह की सामञ्जस्य रक्षा करके करना चाहिये। यदि 'कैवल्य' शब्द का अर्थ 'शुद्धत्व' अभिप्रेत है तो--कहना होगा, भगवत् प्रीति में जिस का ऐकमात्र तात्पर्य्य है, वे ही परमशुद्ध है। एतज्जन्य प्रीति में ही कैवल्य शब्द का तात्पर्य्य है। भक्ति सन्दर्भ में भी शुद्ध शब्द से एकान्ति भक्त प्रतिपादित हुआ है। जिस का दोष है वह अशुद्ध है। एकान्ति भक्त भिन्न अन्य सब को श्रीमद् भागवत कपट कहते हैं। भा० १।१।२ में उक्त है—"धर्मः प्रोज्झित कैतवोऽत्र परमः" टीका प्रशब्देन "मोक्षाभिसन्धिरपि निरस्ता।" प्रशब्द द्वारा प्र+ उज्झित-प्रोज्झित। मोक्षाभिलाष भी निरस्त हुआ है॥ भगवद् धर्म में मोक्षाभिलाष भी कैतव है। कारण, मोक्ष बासना भी भगवत प्रीति वाञ्छा से भिन्न है। भगवत् प्रीति में ही भागवत धर्म का एकमात्र तात्पर्य्य है।

यद्यपि स्कन्द पुराण एवं दत्तात्रेय शिक्षा के श्लोक प्रमाण द्वारा कैवल्य शब्द से भगवान् वा तदीय स्वभाव का बोध होता है तथापि भगवत् प्रीति सम्पन्न व्यक्ति वृन्द के पक्ष में ही भगवान् हैं। एवं तदीय स्वभाव—कैवल्य है। सब के पक्ष में नहीं है। भा० ३।१५।४९ में उक्त—

"कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु न स्ता--,
च्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत॥"

यदि हमारे चित्त, भ्रमर के समान, तुम्हारे चरण कमलों में रमण करे, यदि हमारे वाक्य, तुलसी

नु ते पदयो रमेत" इति न्यायेन तदेकानुशीलनमात्रतात्पर्य्यात् प्रीतावेव विश्रान्तिः । अतएव कैवल्यात् मोक्षादप्येकः श्रेष्ठो यो भगवत्प्रीतिलक्षणोऽर्थस्तत्प्रयोजनमिति व्याख्यान्तरम् । वस्तुतस्तूक्तन्यायेन कैवल्यादि-शब्दाः शुद्धभक्तिवाचकताप्रधाना एव, तथैवाह गद्याभ्याम् (भा० ५।१९।१८-१९)—

(१६) "यथावर्णविधानमपवर्गश्च भवति" इति, "योऽसौ भगवति सर्व्वात्मन्यनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने परमात्मनि वासुदेवेऽनन्यनिमित्तभक्तियोगलक्षणो नानागतिनिमित्ताविद्याग्रन्थिरन्धनद्वारेण, यदा हि महापुरुष-पुरुषप्रसङ्गः" इति च ।

यस्य वर्णस्य यद्विधानं भगवदर्पित-स्वस्वधर्म्मानुष्ठानम्, तदनुक्रमेणापवर्गश्च भवति ।

---

के समान तुम्हारे चरण सम्पर्क में ही शोभित हो, यदि हमारे कर्ण तुम्हारे गुण समूह के द्वारा पूर्ण हो, तो निज अशुभ कर्म समूह द्वारा, हम सब को यथेष्ट नरक वास हो, उस में क्षति नहीं है । इस न्याय के अनुसार अर्थात् युक्ति मूलक दृष्टान्त के द्वारा केवल भगवदनुशीलन में ही कैवल्य शब्द का तात्पर्य्य हेतु,—कैवल्य शब्दार्थ की परि समाप्ति प्रीति में ही है । कारण, कैवल्य प्राप्त होकर भी उक्त श्लोक द्वारा सनकादि मुनि वृन्दने जो भगवदनुशीलन की प्रार्थना की है, वह केवल प्रीतिमान् व्यक्ति के पक्ष में ही सम्भव है ।

अतएव कैवल्य प्राप्ति में अतृप्ति को प्रकाश करके महानुभव सनकादि भगवत् प्रीति प्रार्थना किये थे, तज्जन्य उक्त "कैवल्यैक प्रयोजन" पद की अन्यरूप व्याख्या हो सकती है—वह यह है—कैवल्य--मोक्ष से एक—श्रेष्ठ, जो भगवत् प्रीति लक्षण अर्थ, वह प्रयोजन है जिस का वही कैवल्यैक प्रयोजन है ।

पूर्वोक्त द्वितीय अनुच्छेद में कैवल्य प्रयोजन पद का अर्थ किया गया है—केवल--शुद्ध-- उसका भाव-कैवल्य, वह एकमात्र प्रयोजन परम पुरुषार्थ रूप में प्रतिपाद्य है जिस का वहाँ, परतत्त्व ज्ञान का शुद्धत्व प्रतिपादन करके परतत्त्वानुभव में उक्त पद का तात्पर्य्य की परिसमाप्ति किये हैं ।

यहाँ अन्य प्रकार व्याख्याके द्वारा उस अनुभवका वैशिष्ट्य प्रियता लक्षण धर्म का अनुभव में स्थापन किये हैं । वस्तुतः कैवल्यादि शब्द समूह प्रधानतः भक्ति वाचक हैं । भा० ५।१९।१८।१९ के गद्यद्वय के द्वारा उसका वर्णन हुआ ।

(१६) "यथावर्णविधानमपवर्गश्च भवति" इति, "योऽसौ भगवति सर्व्वात्मन्यनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने परमात्मनि वासुदेवेऽनन्यनिमित्तभक्तियोगलक्षणो नानागतिनिमित्ताविद्याग्रन्थिरन्धनद्वारेण, यदा हि महापुरुष-पुरुषप्रसङ्गः"

जिस प्रकार वर्ण विधान है, तदनुरूप अपवर्ग मोक्षलाभ होता है । जिस समय नानागति निमित्त जो अविद्या ग्रन्थि है, उस का रन्धन द्वार में प्रविष्ट रूप में विष्णु भक्त वृन्द का सङ्ग लाभ होता है, उस समय, सर्वभूतात्मा, अनिरुक्त, अनिलयन, परमात्मा भगवान् वासुदेव में अनन्य निमित्त भक्ति योग लक्षण अपवर्ग होता है ।।

उद्धृत गद्य द्वय की सन्दर्भ स्थित व्याख्या इस प्रकार है । जिस वर्ण का जो विधान—भगवदर्पित स्वधर्मानुष्ठान है, उस का अनुरूप मोक्ष होता है । उस अपवर्ग का स्वरूप को कहते हैं—अनात्म्य--आत्मा में मन में जो उत्पन्न होता है । वह आत्म्य--रागादि—जो रागादि रहित हैं वह अनात्म्य (भगवान्) हैं । यहाँ जिज्ञासा हो सकती है कि—जो रागादि रहित है, भक्त विनोदन हेतु उस में चेष्टा क्यों होती है ?

तस्यापवर्गस्य स्वरूप-माह द्वितीयेन—योऽसाविति। आत्मनि भवमात्म्यं रागादि, तद्रहिते। स हि भक्तसुखार्थमेव प्रयतते, न तु पृथक् स्वसुखार्थम्, यथा हि भक्तस्तत्सुखार्थमेवेति। अनिरुक्ते स्वरूपतो गुणतश्च वाचामगोचरे, अनिलयने निलयनमन्तर्द्धानं तद्रहिते, सदैव प्रकाशमान इत्यर्थः, अनन्यनिमित्तो मोक्षाद्युपाधिरहितो यो भक्तियोगः, स एव लक्षणं स्वरूपं यस्य सः। तत्रापवर्ग-शब्दस्य प्रवृत्तिं घटयति—नानागतीनां निमित्तं योऽविद्याग्रन्थिस्तस्य रन्धनमपवर्ज्जनं छेदनमिति यावत्, तद्द्वारेण योऽसावपवर्ग उच्यत इत्यर्थः। अपवृज्यते येनेति निरुक्तेयति भावः, पाद्मोत्तरखण्डे च—"विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिणः" इति, तथा स्कान्दे रेवाखण्डे—

"निश्चला त्वयि भक्तिर्या सैव मुक्तिर्जनार्दन। मुक्ता एव हि भक्तास्ते तव विष्णो यतो हरेः॥"८६॥ इति,

श्रीरुक्मिणीसान्त्वने श्रीभगवताप्येवमभिप्रेतं तां प्रति (भा० १०।६०।५०)—"सन्ति ह्येकान्त-

---

उत्तर में कहते हैं—भगवान् रागादि रहित होने पर भी भक्त सुख हेतु प्रयत्न करते हैं, स्वतन्त्र रूप से निज सुख हेतु नहीं। जिस प्रकार भक्त गण, उनके सुख हेतु सर्व प्रकार चेष्टा करते हैं, उस प्रकार भगवान् भी भक्त सुख हेतु प्रयत्न करते हैं। अनिरुक्त—स्वरूपतः एवं गुणतः उभय प्रकार से जो वाक्यातीत हैं, अर्थात् जिन के स्वरूप एवं गुण का वर्णन करने में कोई भी सक्षम नहीं है, वह अनिरुक्त हैं। अनिलयन—निलयन—अन्तर्धान, तद्रहित—अर्थात् सर्वदा प्रकाश मान हैं। अनन्य निमित्त भक्ति योग लक्षण—अनन्य निमित्त—मोक्षादि रहित जो भक्ति योग, वही जिस का स्वरूप है वह अनन्य निमित्त लक्षण—भक्ति योग है। उस में अपवर्ग शब्द की प्रवृत्ति को घटा रहे हैं। नानागति निमित्त जो अविद्या ग्रन्थि,—उस का रन्धन,—अपवर्जन, छेदन, तद् द्वारेण, उस हेतु—जो भक्ति योग की बात कही गई है, वह अपवर्ग शब्द से कथित है। जिस के द्वारा अप-वर्जित होता है, इस अर्थ में अविद्याछेदन कारी भक्ति योग को अपवर्ग कहा गया है।

पद्म पुराण के उत्तर खण्ड में कथित है—"विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिणः" विष्णु के अनुचरत्व को अर्थात् विष्णु सेवा, हरि भक्ति को मनीषिगण मोक्ष कहते हैं। इस वाक्य में भक्ति ही मोक्ष शब्द से अभिहित है। उस प्रकार स्कन्द पुराण के रेवाखण्ड में भी उक्त है—"

"निश्चला त्वयिभक्तिर्या सैव मुक्ति र्जनार्द्दन।
मुक्ताएव हि भक्तास्ते तव विष्णो यतो हरेः॥"८६॥

हे जनार्दन! हे विष्णो! हे हरे! तुम्हारे प्रति जो निश्चला भक्ति है, वही मुक्ति है, कारण, मुक्तगण ही तुम्हारे भक्त हैं॥८६॥

श्रीकृष्ण के परिहास से श्रीरुक्मिणी देवी भावी श्रीकृष्ण विरह शङ्काकुला होने पर श्रीकृष्ण उन को सान्त्वना दान प्रसङ्ग भा० १०।६०।५० में कहे थे—

"यान् यान् कामयसे कामान् मय्यकामाय भामिनि!
सन्ति ह्येकान्त भक्तायास्तव कल्याणि नित्यदा॥"

टीका—मयि एकान्त भक्तायास्ते कामाः सन्त्येव। अकामाय। काम निवृत्तये। मोक्ष पर्य्यवसायिन इत्यर्थः।

भक्तायास्तव" इत्युक्त्वा, (भा० १०।६०।५३) "मां प्राप्य मानिन्यपवर्गसम्पदं, वाञ्छन्ति ये सम्पद एव तत्पतिम्" इति, अतएव (भा० २।३।१२) "कैवल्यसम्मतपथस्त्वथ भक्तियोगः" इत्यत्र टीककारैरप्युक्तम्—"कैवल्यमित्येव सम्मतः पन्था यो भक्तियोगः" इति। पन्था

---

हे कल्याणि मुझ में एकान्त भक्तिमती तुम्हारे में सब कुछ सर्वदा है। इस प्रकार कहने के बाद भा० १०।६०।५३ में कहे थे—

"मां प्राप्य मानिन्यपवर्गसम्पदं
वाञ्छन्ति ये सम्पद एव तत् पतिम्।।
ते मन्द भाग्या निरयेऽपि ये नृणां
मात्रात्मकत्वात् निरयः सुसङ्गमः।।"

टीका—मायामोहितत्वमेवोपपादयति। मां प्राप्येति। अपवर्गेण सह सम्पदो यस्मिंस्तं मां प्राप्य प्रसाद्य ये केवलं सम्पदः एव विषयान् वाञ्छन्ति, नतु माम्, तत् पति तासां सम्पदामपि योऽहमेव पतिस्तम्, यथा ये विषया, निरयेऽप्यतिनिकृष्ट योनावपि स्युस्तान्। किञ्च, तेषां पुंसां मात्रात्मकत्वाद्विषयात्मकत्वात् नित्यः सुसङ्गमः शोभनः सङ्गम एव स्यात् अतोमन्दभाग्या एव ते इत्यर्थः।।

अपवर्ग सम्पत्ति जिसमें है, इस प्रकार मुझ को प्रसन्न करके जो लोक सम्पत्ति चाहते हैं, सम्पत्ति पति मुझ को नहीं चाहते हैं, वे मन्द भाग्य हैं। कारण, शब्द स्पर्शादि रूप विषय सुख भोग नरक में भी विद्यमान है।

एकान्त भक्तमें सर्वदा समस्त विषय विद्यमान हैं यह कहकर श्रीकृष्ण, अपने में अपगर्ग युक्त सम्पत्ति की विद्यमानता का प्रकाश किये हैं, एवं वही भव का सम्पद् है, यह भी सूचित किये हैं। कारण, श्रीकृष्ण, भक्तवश हैं, अतएव जो अपवर्ग सम्पत्ति श्रीकृष्ण में है, उस का अधिकारी भक्त हैं। भक्त का सम्पद भी भक्ति है। यह चिर प्रसिद्ध है—भक्ति हीन मोक्ष में भक्त का आदर नहीं है। यदि यहाँपर अपवर्ग शब्द का मोक्ष अर्थ अभिप्रेत होता तो श्रीकृष्ण, मोक्ष हैं, ऐसा कह कर भक्त को उल्लसित नहीं कर सकते। इस से प्रतीत होता है कि—श्रीकृष्ण भक्ति अर्थ में ही यहाँ अपवर्ग शब्द का प्रयोग किये हैं। उन में अपवर्ग युक्त सम्पत्ति है—अर्थात् भक्ति युक्त सम्पत्ति है—इस से ही भक्त का उल्लास होता है।

केवल सम्पत्ति अर्थात् विषय भोग कभी भी भक्त की वाञ्छित वस्तु नहीं हो सकती है। कारण, नरक में भी विषय सुखप्राप्ति की सम्भावना है। यह कहे हैं। भक्ति युक्त सम्पत्ति-श्रीभगवान् के असमोर्द्ध्व रूप माधुर्य्य लीला माधुर्य्य है, वही भक्त का वाञ्छित है। इस से ही भक्त का उल्लास है।

अतएव भा० २।३।१२ "कैवल्यसम्मतपथस्त्वथ भक्तियोगः" श्लोक की टीका में स्वामिपादने लिखा है—"कैवल्यमित्येव सम्मतः पन्था यो भक्तियोगः।।" कैवल्य ही सम्मत पन्था जिस भक्ति योग में है। पन्था—भगवत् प्राप्ति का उपाय स्वरूप हैं। अर्थात् जिस कैवल्य की कथा कही गई है, वह सम्मत—अभिलषित एवं वह भगवत् प्राप्ति का भी उपाय है, वह कैवल्य क्या है? वह और कुछ नहीं है—भक्तियोग है।

कैवल्य शब्द की शुद्ध भक्ति वाचकता प्रदर्शन हेतु पञ्चम स्कन्ध का गद्य उद्धृत हुआ था। उस की व्याख्या में 'कैवल्य' शब्द से जो भक्ति योग का बोध होता है, उस को दर्शाने के निमित्त पाद्मोत्तर खण्ड, स्कन्द पुराणोक्त रेवाखण्ड एवं रुक्मिणी सान्त्वना प्रसङ्ग का श्लोक उद्धृत हुआ है। उस विषय में जो—श्रीधर स्वामिपाद की भी सम्मति है, उस को दर्शाने के निमित्त उनकी व्याख्या भी उद्धृत हुई है। इस

भगवत्प्राप्त्युपायभूतोऽपीत्यर्थः। स खलु कदा स्यात्? तत्राह—यदा हीति॥ श्रीशुकः॥

१७। तदेवम् (भा० २।१०।१) "अत्र सर्गो विसर्गश्च" इत्यादिषु दशस्वेतन्महापुराण-प्रतिपाद्येष्वर्थेषु मुक्ति-शब्दस्य तत्रैव विश्रान्तिः, पोषणेऽपि तदेव मुख्यं प्रयोजनम्। पोषण-शब्देन ह्यनुग्रह उच्यते। तस्य च पराकाष्ठाप्राप्तिः स्वप्रीतिदान एव, तदुक्तम् (भा० ५।६।१८) "मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्" इति, तथैवान्यत्रापि श्रीपृथुं प्रति (भा० ४।२०।१६) "वरञ्च मत् कञ्चन मानवेन्द्र, वृणीष्व" इत्युक्त्वा (भा० ४।२०।३१) "यथाचरेद्बालहितं पिता स्वयं, तथा त्वमेवार्हसि नः समीहितुम्" इति तद्वाक्यानन्तरम् (भा० ४।२० ३१) —

---

प्रकार सिद्धान्त स्थापन के अनन्तर उस की दृढ़ता स्थापन निबन्धन उद्धृत गद्य के अवशिष्टांश का अर्थ करते हैं। यह भक्तियोग लक्षण अपवर्ग क्या होता है? उत्तर,—जब प्रकृष्ट रूप में विष्णु भक्त का सङ्ग होता है, तब।

प्रवक्ता श्रीशुक देव हैं॥१५॥

१७। कैवल्य शब्द का अर्थ जब प्रेम भक्ति में पर्य्यवसित हुआ--तब-भा० (२।१०।१)

"अत्रसर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।"
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधोमुक्तिराश्रयः॥"

"सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशकथा, निरोध, मुक्ति एवं आश्रय" महा पुराण में प्रतिपाद्य इन दश अर्थ के मध्य में जिस 'मुक्ति' का उल्लेख है, उस का अर्थ भी प्रेम भक्ति में पर्य्यवसित होगा। अर्थात् श्रीमद् भागवत में जो मुक्ति का विषय वर्णित है— वह प्रेम भक्ति है। और उक्त महापुराण लक्षण में जो पोषण की बात कही गई है—उस में भी प्रेम भक्ति ही मुख्य प्रयोजन है। श्रीभगवान् का अनुग्रह ही पोषण शब्द से अभिहित है। निज प्रीति प्रदान ही उस अनुग्रह की पराकाष्ठा प्राप्ति है।

भा० ५।६।१८ में उक्त भी है 'मुक्ति ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्॥"

श्रीशुकदेव, महाराज परीक्षित् को कहे थे। "मुकुन्द, भजन शील व्यक्ति वृन्द को मुक्ति प्रदान करते हैं, किन्तु कभी प्रेम भक्ति प्रदान नहीं करते हैं। उस प्रकार ही श्रीमद् भागवत के अन्यत्र भी उक्त है— भा० ४।२०.१६ में श्रीपृथु को श्रीभगवान् कहे थे—

"वरञ्च मत् कञ्चन मानवेन्द्र, वृणीष्व तेऽहंगुणशीलयन्त्रितः।
नाहं मखैर्वै सुलभस्तपोभिर्योगेन वा यत् समचित्तवर्त्ती॥"

हे मानव श्रेष्ठ! मैं तुम्हारे गुरु पादाश्रय से प्राप्त पाण्डित्य प्रभृति गुण एवं उत्तम स्वभाव द्वारा वशीभूत हूँ। मेरे निकट वर प्रार्थना करो। मैं यज्ञ, तपः अथवा योग द्वारा सुलभ नहीं हूँ। भक्ति प्रभाव से से जो समचित्त हैं, मैं उन के मध्य में ही अवस्थान करता हूँ। अनन्तर श्रीपृथुमहाराज कहे थे—

"तन्मायायाद्धा जन ईशखण्डितो यदन्यदाशास्तु ऋतात्मनोऽबुधः।
यथाचरेद्बालहितं पितास्वयं तथा त्वमेवार्हसि नः समीहितम्॥"

हे ईश! अज्ञ जीवगण, आप की माया के द्वारा सत्य स्वरूप आप से पृथक्कृत हैं, कारण, वे अन्य वस्तु प्राथना करते हैं। पिता, जिस प्रकार स्वतः प्रवृत्त होकर बालक की हित चेष्टा करते हैं, आप भी स्वयं उस प्रकार हमारी हित चेष्टा करते हैं। श्रीपृथुमहाराज के कथन के अनन्तर श्रीभगवान् उन को कहे थे, भा० ४।२०।२२

(१७) "तमाह राजन्मयि भक्तिरस्तु ते" इति ।

भक्तिः प्रीतिलक्षणा ।। श्रीविष्णुः ।।

१८। एवमेव श्रीभागवतग्रन्थश्रवणफलत्वेनापि सैव परमपुरुषार्थतया निर्णीतास्ति तत्त्वसन्दर्भे संक्षेपतात्पर्य्ये। श्रीव्याससमाधिना श्रीशुकहृदयेन च तथैव निर्णयो विहितः,

---

(१७) "तमाह राजन्मयि भक्तिरस्तु ते ।।"

पूर्वोक्त माठर श्रुति प्रभृति के प्रमाणानुसार भक्ति ही श्रीभगवत् साक्षात्कार के हेतु है। पृथुमहाराज भगवत् साक्षात्कार के पहले ही भक्ति लाभ किये थे। सुतरां यहाँ पर प्रयुक्त 'भक्ति' शब्द से भक्ति की परिपाक रूपा प्रेमभक्ति का ही बोध होता है। श्रीभगवान् के वाक्य में सुस्पष्ट प्रकाश है कि—आप पृथु-महाराज के प्रति अतीव प्रसन्न हुये थे। और 'हे ईश' इत्यादि पृथु वाक्य में प्रकाश है कि—भगवान् स्वभावतः हो जीवों के हिताभिलाषी हैं। उस में भी आप जो भक्तानुग्रह व्यग्र हैं—यह बोध सहज से ही होता है। अतः आप पृथुमहाराज के प्रति जो परमानुग्रह प्रकाश किये थे—इस में सन्देह नहीं है। पृथु-महाराज को अनुग्रह करते हुए कहे थे—"मुझ में तुम्हारी भक्ति हो, वह भक्ति—भगवत् प्रीति है। सुतरां प्रीति प्रदान में ही श्रीभगवान् के अनुग्रह का पर्य्यवसान है।

श्रीविष्णु कहे थे ।।१७।।

## श्रीमद् भागवत का तात्पर्य्य ।

१८। सर्ग विसर्गादि क्रम से महापुराण के दशलक्षण के मध्य में मुक्ति नामक जो नवम लक्षण का उल्लेख है, उस का अर्थ भी भगवत् प्रीति है। उस का वर्णन यहाँ हुआ है। इस प्रकार तत्त्वसन्दर्भ के श्रीमद् भागवत का संक्षेप तात्पर्य्य में श्रीभागवत ग्रन्थ श्रवण के फल रूप में भी श्रीभगवत् प्रीति ही पुरुषार्थ रूप में निरूपित है। (तत्त्व सन्दर्भ २९ परिच्छेद)

"तथा प्रयोजनाख्यः पुरुषार्थश्च तादृश तदासक्तिजनकं प्रेमसुखम् ।"

निम्नोक्त श्लोक द्वय में श्रीव्यास समाधि द्वारा एवं श्रीशुक की हृदय निष्ठा द्वारा उस प्रकार भगवत् प्रीति को परम पुरुषार्थता विहित हुई है। व्यास समाधि—(भा० १।७।७)

"यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परम पुरुषे ।
भक्तिरुत्पद्यतेपुंसः शोकमोहभयापहा ।।"

अधोक्षज में भक्तियोग अनुष्ठित होने पर जीव की अनर्थ निवृत्ति होती है, समाधि में इस को जान कर व्यासदेव अज्ञानी जन हितार्थ श्रीमद् भागवत रूप सात्वत संहिता का प्रणयन किये थे। जिस को श्रवण करने से जीव में-परम पुरुष श्रीकृष्ण में शोक, मोह--भय नाशिनी भक्ति का उदय होता है।

श्रीवेदव्यास, समाधि योग से जिस परम पुरुष का वर्णन किये थे वह श्रीकृष्ण हैं। इस को सुव्यक्त करने के निमित्त ग्रन्थ फल निर्देश द्वारा पुरुष, जीव, माया एवं जीव की माया मोह छेदकारिणी भक्ति का वर्णन किये हैं। जिस भक्त्युदय की कथा कहे हैं, वह प्रेम भक्ति है। कारण, 'श्रूयमाणायां' पद के द्वारा श्रवण रूपा साधन भक्ति द्वारा साध्य—का निर्देश किये हैं। 'उत्पद्यते' यहाँ उत्पत्ति शब्द से आविर्भाव को समझना होगा। कारण, भक्ति—नित्य सिद्ध है। उत्पत्ति शब्द से जो वस्तु नहीं है, उसकी सृष्टि का बोध होता है। आविर्भाव शब्द से जो है, किन्तु अप्रकाशित है—उस का प्रकाश का बोध होता है।

प्रेमाविर्भाव के आनुषङ्गिक गुण को कहते हैं—शोक--मोह--भय नाश होता है। केवल जो शोक

मोह भय नाश ही होता है, यही नहीं, किन्तु उस का संस्कार भी विनष्ट होता है। इस के पहले पूर्ण पुरुष दर्शन का उल्लेख किये हैं, यहाँ श्रीकृष्ण को ही परम पुरुष शब्द से निर्देश किये थे, उनका आकार क्या है ? वह श्रीकृष्ण हैं, तमाल श्यामल कान्ति-यशोदानन्दन हैं।

श्रीशुक की हृदय निष्ठा भी यह है—भा० १२।१२।६९।

"स्वसुख निभृत चेतास्तद् व्युदस्तान्य भावोऽ
व्यजित रुचिर लीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया य स्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्यास सूनुं नतोऽस्मि॥"

श्रीसूत--कहे हैं—ब्रह्मानन्द में पूर्णचित्त, तज्जन्य अन्य वस्तु मात्र में मनोवृत्ति रहित हैं, श्रीकृष्ण की रुचिर लीला से आकृष्टान्तः करण ऋषि-कृपा करके भगवच्चरित्र प्रधान, अखिल वृजिनघ्न, परमार्थ प्रकाशक श्रीभागवत पुराण को व्यक्त किये हैं, उन व्यासनन्दन श्रीशुकदेव को प्रणाम करता हूँ।

उक्त श्लोक में श्रीसूत निज गुरुदेव श्रीशुक देव को प्रणाम करके उनकी निष्ठा को व्यक्त करतः समग्र भागवत ग्रन्थ का तात्पर्य्य निर्द्धारण किये हैं। श्रीशुक—ब्रह्मानन्द में निमग्न होने के कारण, अपर किसी विषय में मनः संयोग रहित थे। श्रीकृष्ण की मनोहर लीला ने बल पूर्वक उनकी रसानुभव सामर्थ्य को आकर्षण किया सुतरां यह लीला रस उनके पक्ष में समाधि भङ्ग कारी विघ्न स्वरूप नहीं हुआ। ऐसा होने पर श्रीशुक देव, पुनर्वार समाधिस्थ होने के निमित्त यत्न नहीं किये थे, किन्तु कृपा पूर्वक अन्य को लीलारस आस्वादन कराने के निमित्त श्रीमद् भागवत का कीर्त्तन किये थे।

श्रीमद् भागवत लीला का रस तत्त्व प्रकाशक एवं अखिल वृजिन नाश कारी है। अखिल वृजिन शब्द से—श्रीशुकदेव जिस प्रकार लीला सुख में निमग्न थे, उस प्रकार लीलासुख में मग्न होने के पक्ष में प्रतिकूल एवं उदासीन जो कुछ है, उस को जानना होगा। अर्थात् श्रीमद् भागवत – प्रेमाविर्भाव के अन्तराय रूप यावतीय अनर्थ नाश पूर्वक प्रेमाविर्भाव कराकर भक्त को श्रीकृष्ण लीला सुख समुद्र में निमज्जित करते हैं।

अर्थात् श्रीमद् भागवत श्रवण का फल है—चित्त में भगवत् प्रीति का आविर्भाव। व्यास देव इस को अनुभव किये थे, उस का सुस्पष्ट वर्णन—"यस्यां वै" प्रभृति श्लोक में है। श्रीशुकदेव भी भूमिष्ठ होकर ही वन गमन कर ब्रह्म समाधि मग्न हो गये थे। श्रीमद् भागवत के कतिपय श्लोक का श्रवण करके श्रीकृष्ण लीला का माधुर्य्य अनुभव किये थे। एवं समाधित्याग पूर्वक समग्र श्रीमत् भागवत अध्ययन करके जीव को उस लीला माधुर्य्य आस्वादन कराने के निमित्त श्रीमद् भागवत को प्रकाश किये थे।

भगवत् प्रीति ही लीला माधुर्य्यानुभव का एकमात्र कारण है, ब्रह्म समाधि को परित्याग पूर्वक लीला माधुर्य्य में निमज्जन नहीं, श्रीशुकदेव के मनोभाव का परिचायक है। श्रीशुकदेव-भगवत् प्रीति लाभ करके ही ब्रह्म समाधि परित्याग किये थे। उस प्रीति लाभ का मूल है— श्रीमद् भागवत के कतिपय श्लोक श्रवण-यह श्लोक श्रीकृष्ण के गुणातिशय प्रकाशक हैं-भा० ३।२।२३ अहोबकीयं इत्यादि, भा० १०।१४।१ नौमीड्यते। बर्हापिडम्—भा० १०।२१।५। भा० १०।३१।१। जयति तेऽधकं" श्रीवेदव्यास छल पूर्वक उक्त श्लोक चतुष्टय श्रवण कराकर श्रीशुक के चित्त को आक्षिप्त करके समग्र श्रीमद् भागवत अध्ययन कराये थे। ऐसा होने पर श्रीमद् भागवत श्रवण का फल जो चित्त में श्रीभगवत् प्रीति का आविर्भाव-इसका परिज्ञान

इत्यादौ च। प्रतिज्ञा चेदृश्येव, (भा० १।१।२) "धर्म्मः प्रोज्झितकैतवः" इत्यादौ "किंवा परैरीश्वरः, सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्" इति। अतएव चतुःश्लोक्यां रहस्य-शब्देन सैवोक्ता। सैव च तृतीय-श्लोकार्थत्वेन भगवत्सन्दर्भे विस्पष्टीकृतास्ति। तदेवं

---

श्रीशुकदेव के हृदयस्थभाव से होता है।

भा० १।१।२ में श्रीमद् भागवत की प्रतिज्ञा भी इस प्रकार है—"धर्म्मः प्रोज्झित कैतवः" कैतववर्जित धर्म का ही वर्णन श्रीमद् भागवत में है, 'किंवा परैरीश्वरः' अपर साध्य वस्तु समूह में प्रयोजन ही क्या है? "सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत् क्षणात्॥"

कृति व्यक्ति के द्वारा ईश्वर हृदय में सद्यः अवरुद्ध होते हैं, एवं शुश्रूषु के हृदय में उस समय से सर्वदा अवरुद्ध होते हैं।

क्रमसन्दर्भ—अपरै र्मोक्ष पर्य्यन्त कामना रहितेश्वराधना लक्षण धर्म ब्रह्म साक्षात् कारादिरुक्तै रनुक्तै र्वा साध्यैश्च किंवा, कियद्वा माहात्म्यमुपपन्नमित्यर्थः। यतो यत्र ईश्वरः कृतिभिः कथञ्चिद्‌तत् साधनानुक्रम लब्धया भक्त्या कृतार्थैः सद्यस्तत्क्षणादेव व्याप्य हृदि स्थिरीक्रियते। स एवात्र श्रोतुमिच्छद्भिरेव तत्क्षण मारभ्य सर्वदैवेति॥

अपर—मोक्ष पर्य्यन्त कामनारहित ईश्वराधन लक्षण धर्म, एवं ब्रह्म साक्षात्कार प्रभृति उक्त अनुक्त साधन समूह के द्वारा यहाँ क्या होगा? श्रीमद् भागवत फल के समीप में वह सब अति तुच्छ हैं, कारण, जो कृति व्यक्ति—साधनानुक्रम प्राप्त भक्ति द्वारा कृतार्थ जो व्यक्ति,—ईश्वर, तत् कर्त्तृक सद्य-- उस समय से ही निरवच्छिन्न रूप से स्थिरीकृत होते हैं, श्रीमद् भागवत का वैशिष्ट्य यह है कि—इस में श्रवणेच्छु व्यक्ति कर्त्तृक ही वह ईश्वर उस समय से ही सर्वदा हृदय में अवरुद्ध होकर रहते हैं। अर्थात् ईश्वराधना प्रभृति धर्म साधनोपलक्ष्य में कोई व्यक्ति जब भक्ति द्वारा कृतार्थ होते हैं, ईश्वर केवल उस समय उनके हृदय में स्थिर भाव से स्फूर्त्ति प्राप्त होते हैं, और जब किसी की श्रीमद् भागवत श्रवणेच्छा होती है, उस समय से सर्वकाल उस के हृदय में श्रीभगवान् स्थिर भाव से अवस्थान करते हैं।

अतएव प्रेम की परम पुरुषार्थता का निर्णय श्रीमद् भागवत का अभिप्रेत होने के कारण, भा० २।९। ३०–३५) चतुःश्लोकी में 'रहस्य' शब्द से प्रेम भक्ति का उल्लेख हुआ हैं। भगवत् सन्दर्भ में चतुःश्लोकीस्थित तृतीय श्लोक का प्रेम भक्ति पर अर्थ का स्पष्टी करण विशेष रूप से हुआ है।

चतुःश्लोकी, श्रीभगवानुवाच—

"ज्ञानं परम गुह्यं मे यद् विज्ञान समन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गञ्च गृहाण गदितं मया।
यावानहं यथाभावो यद्रूप गुण कर्म्मकः।
तथैव तत्त्व विज्ञान मस्तु ते मदनु ग्रहात्।
अहमेवास मेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्चयोऽवशिष्यतेसोऽस्म्यहम्। (१)
ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथातमः। (२)
यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्य प्रविष्टानि तथा तेषु नतेष्वहम्। (३)

श्रीमत्प्रीतेरेवापवर्गत्वं परमभगवदनुग्रहमयत्वं श्रीभागवतश्रवणफलत्वं पुरुषार्थेषु तस्याः परमत्वसाधनाय दर्शितम्। तथैव श्रीनारद आक्षेपद्वारा शिक्षिनवांश्च तत्संहितामाविर्भावयिष्यन्तं

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्व जिज्ञासुनात्मनः।
अन्वय व्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा। (४)

परम भागवत ब्रह्मा को श्रीमद् भागवत नामक निज शास्त्रोपदेश करने के निमित्त उस के प्रतिपाद्य, मुख्यतम वस्तु चतुष्टय का वर्णन श्रीकृष्ण षट् श्लोकों के द्वारा किये हैं। तन्मध्य में 'ज्ञानं' इत्यादि श्लोक में ज्ञान, विज्ञान, रहस्य एवं उसका अङ्ग यह वस्तु चतुष्टय का निर्द्धारण किये हैं। ज्ञान—भगवज् ज्ञान, विज्ञान—भगवदनुभव, रहस्य प्रेमभक्ति, उस का अङ्ग साधन भक्ति। तत् परवर्त्ती श्लोक में साध्यद्वय-विज्ञान एवं रहस्य का आविर्भाव हेतु ब्रह्मा को आशीर्वाद किये हैं। अनन्तर चार श्लोकों में ज्ञानादि का उपदेश प्रदान किये हैं। उस में श्रीमद् भागवत का मुख्यतात्पर्य्य निहित होने के कारण, यह श्लोक—चतुःश्लोकी भागवत नाम से प्रसिद्ध है। उस में यथा महान्ति भूतानि-श्लोक तृतीय हैं। भगवत सन्दर्भ में इस को व्याख्या इस प्रकार है।

'यथा महाभूतानि भूतेष्वप्रविष्टानि वहिः स्थितान्यपि अनुप्रविष्टानि--अन्तःस्थितानि भान्ति। तथा लोकातीत वैकुण्ठस्थितत्वेन--अप्रविष्टोऽपि अहं तेषु तत्तद्गुण विख्यातेषु नतेषु--प्रणत जनेषु प्रविष्टो हृदि स्थितोऽहं भामि। अत्र महाभूतानामंश भेदेन प्रवेशाप्रवेशौ, तस्य तु प्रकाश भेदेनेति भेदेऽपि प्रवेशाप्रवेश साम्येन दृष्टान्तः। तदेवं तेषां तादृगात्मवशकारिणी प्रेमभक्तिर्नाम रहस्यमिति सूचितम्।

यद्वा तेषु यथा तानि वहिः स्थितानि चान्तः स्थितानि च भान्ति, तद्वत् भक्तेषु अहमन्तर्मनो वृत्तिषु वहिरिन्द्रिय वृत्तिषु च स्फुरामीति च। भक्तेषु सर्वथा अनन्य वृत्तिता हेतुर्नाम किमपि स्व प्रकाशं प्रेमाख्य मानन्दात्मकं वस्तु मम रहस्यमिति व्यञ्जितम्॥

अपि च रहस्यं नाम ह्येतदेव, यत् परम दुर्ल्लभ वस्तु दुष्टोदासीन जन दृष्टि निवारणार्थं साधारण वस्त्वन्तरेणाच्छाद्यते। यथा चिन्तामणिः सम्पुटादिना। अतएव परोक्षवादा ऋषयः परोक्षञ्च मम प्रियमिति श्रीमद् भगवद् वाक्यम्, च। तदेव परोक्षं क्रियते यददेयं विरल प्रचारं महद्वस्तु भवति। अस्यैवादेयत्वं विरल प्रचारत्वं महत्त्वञ्च। मुक्ति ददाति कर्हिचित् स्म न भक्ति योगमित्यादिषु बहुत्र व्यक्तम्। स्वयञ्चैतदेव श्रीभगवता परम भक्ताभ्यामर्जुनोद्धवाभ्यां कण्ठोक्त्यैव कथितम्। सर्व गुह्यतमंभूयः शृणु मे परमं वचः, इत्यादिना सुगोप्यमपि वक्ष्यामीत्यादिना च। इदमेव रहस्यं श्रीनारदाय स्वयं ब्रह्मणैव प्रकटीकृतम्। इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितम्। संग्रहोऽयं विभूतीनां त्वमेतद्विपुलीकुरु यथा हरौ भगवति नृणां भक्ति र्भविष्यति। सर्वात्मन्यखिलाधार इति सङ्कल्प्य वर्णय इति।
तस्मात् साधु व्य ख्यातंस्वामिचरणैरपि रहस्यं भक्तिरिति।॥१०६॥

जिस प्रकार देव मनुष्यादि जीवगण में अप्रविष्ट आकाशादि पञ्चमहाभूत बाहर अवस्थित होने पर भी अनुप्रविष्ट-अन्तः स्थित होकर प्रकाशित होते हैं, उस प्रकार लोकातीत वैकुण्ठ में स्थिति हेतु अप्रविष्ट जो मैं हूँ, मायात्याग एवं मदनुभव लक्षण गुण में विख्यात प्रणत जन वही मैं प्रकृष्ट रूप में प्रकाशित होता हूँ। यहाँ महाभूत समूह के अंशभेद से प्रवेशाप्रवेश, और श्रीभगवान् का प्रकाश भेद से प्रवेशाप्रवेश है। दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक में यह पार्थक्य विद्यमान होने पर भी उभयत्र प्रवेशाप्रवेश साम्य हेतु दृष्टान्त उपस्थापित हुआ है। सुतरां प्रणत जन गण की तादृश भगवद्वशीकारिणी प्रेम भक्ति ही रहस्य है--यह सूचित हुआ है।

अथवा जिस प्रकार महाभूत समूह समस्त जीववृन्द के वहिः स्थित एवं अन्तःस्थित रूप में

श्रीव्यासम्, यथाह (भा० १।५।९) —

(१८) "यथा धर्म्मादयश्चार्था मुनिवर्य्यानुकीर्त्तिताः।
न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः ॥"८७॥

च-शब्दोऽप्यर्थे। महिमानुवर्णनं तत्प्रीत्युद्बोधनं भवेदित्याशयेनैवमुक्तम्। श्रीनारदः॥

---

प्रकाशित होते हैं। उस प्रकार में भक्त वृन्द के हृदय में मनोवृत्ति समूह में, बाहर--वहिरिन्द्रियसमूह में स्फुरित होता हूँ। भक्त वृन्द में सर्व प्रकार से अनन्य वृत्तिता के हेतु स्वरूप स्वप्रकाश प्रेमनामक आनन्दात्मक किसी अनिर्वचनीय वस्तु ही मेरा रहस्य है। यह समझना चाहिये।

वही रहस्य वस्तु है, जा परम दुर्लभ है, जिस को दुष्ट एवं उदासीन लोकों की दृष्टि से रक्षा करने के निमित्त साधारण वस्तु द्वारा आवृत किया जाता है। जिस प्रकार, चिन्तामणि मञ्जुषादि में सुरक्षित की जाती है। तज्जन्य ही श्रीभगवान् कहे हैं—

"ऋषिगण परोक्षवादी हैं, परोक्ष मेरा प्रिय है, श्रीमद् भागवत—११।२१।३५) उस को गोपन किया जाता है, जो अदेय, विरल प्रचार एवं महद्वस्तु है। मुक्ति प्रदान करते हैं, किन्तु कभी भक्ति प्रदान नहीं करते हैं. (भा० ५।६।१८) इत्यादि अनेक स्थानों में प्रेम का अदेयत्व, विरल प्रचारत्व एवं महत्व सूचित हुआ है।

श्रीकृष्ण, स्वयं ही सुस्पष्ट वाक्य से परम भक्त अर्जुन एवं उद्धव को 'सर्व गुह्यतम" उस में भी मेरा परम वाक्य श्रवण करो। (गीता १८) इत्यादि श्लोक में एवं 'सुगोप्य' होने पर भी कह रहा हूँ, इत्यादि श्लोकों में उस को कहे हैं, श्रीनारद को उक्त रहस्य समझाने के निमित्त स्वयं श्रीब्रह्मा द्वारा प्रकटित हुआ है, इस का नाम ही भागवत है, यह विभूति समूह का संग्रह स्वरूप है, तुम इस को विस्तार करो। जिस प्रकार वर्णन करने पर मानव वृन्द की सर्वात्मा अखिलाधार श्रीहरि में भक्ति हो, इस प्रकार सङ्कल्प करके वर्णन करो, (भा० २।८।५०--५१) सुतरां ज्ञानं इत्यादि श्लोक की टीका में स्वामिपादने रहस्य शब्द का जो भक्ति अर्थ किया है, वह अतीव सुन्दर है। (भगवत् सन्दर्भ ०६)

इस रीति से पुरुषार्थ समूह के मध्य में भगवत् प्रीति का सर्व श्रेष्ठत्व साधन करने के निमित्त उस का ही अपवर्गत्व, परम भगवनुग्रह महत्त्व, एवं श्रीभागवत श्रवण फलत्व--अर्थात् श्रीमद् भागवत श्रवण के फल से प्रीति का आविर्भाव होता है। यह प्रकाशित हुआ। पारमहंस्यसंहिता श्रीमद् भागवत का आविर्भाव कर्त्ता श्रीव्यासदेव को श्रीनारद आक्षेप के द्वारा उस प्रकार शिक्षा प्रदान किये थे।

(भा० १।५।९) (१८) "यथा धर्म्मादयश्चार्था मुनिवर्य्यानुकीर्त्तिताः।
न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः॥"८७॥

टीका भगवद् यशएव तत्रतत्रानुवर्णितं तत्राह यथेति। च शब्दाद् धर्मादि साधनानि च। तथा धर्मादिवत् प्राधान्येन वासुदेवस्य महिमा नह्यनुक्त इत्यर्थः।

श्रीनारद श्रीव्यास को कहे थे - हे मुनि श्रेष्ठ! तुमने धर्मादि पुरुषार्थ चतुष्टय का वर्णन जिस प्रकार किया है। उस प्रकार वासुदेव की महिमा का वर्णन नहीं किया है।

आक्षेप इस प्रकार है वासुदेव की महिमा के निकट धर्मादि पुरुषार्थ जो अति तुच्छ है, तुम ने उस का वर्णन किया है, अथच उन सर्वोत्तम वासुदेव की महिमा का कीर्त्तन नहीं किया है। यह अतीव आश्चर्य्य कर है. श्लोक में 'धर्म्मादयश्चार्थाः' यहाँ जो 'च' कार का प्रयोग है। उस का प्रयोग अपि अर्थ में हुआ है, उसका अर्थ है। वासुदेव की महिमा के निकट—धर्मादि पुरुषार्थ अतितुच्छ हैं, तज्जन्य सर्व प्रधान से उस

१९। तथान्येषामपवर्गाणामपि तया तिरस्कृतौ मुक्तकण्ठा एव शब्दा उदाहार्य्याः। सा च तिरस्कृतिः क्वचित्तत्स्वरूपेण क्रियते, क्वचित्तत्परिकरद्वारा च तत्र तत्स्वरूपेण तिरस्कृतिमाह गद्येन (भा० ५।६।१७)—

(१९) "यस्यामेव कवय आत्मानमविरतं विविधवृजिन-संसारपरितापोपतप्यमानमनुसवनं स्नापयन्त स्तयैव परया निर्वृत्या ह्यपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपिस्वयमासादितं नो एवाद्रियन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्व्वार्थाः" इति।

यस्यां पूर्व्वगद्योक्तलक्षणायां भक्तौ, मुक्त्यादिसम्पदां भक्तिसम्पदनुचरीत्वात् परिसमाप्त-सर्व्वार्थत्वम्, तथोक्तं श्रीनारदपञ्चरात्रे—

---

का ही वर्णन करना कर्त्तव्य है, किन्तु तुमने उस प्रकार नहीं किया है, किन्तु जिस प्रकार धर्मादि का वर्णन किया है, उस प्रकार वासुदेव की महिमा का वर्णन नहीं किया है।

देवर्षि की प्रेरणा से ही श्रीवेदव्यासने ही श्रीमद् भागवत का प्रकाश किया है। भगवत् प्रीति का उद्बोधन करना ही उस का उद्देश्य है,सुतरां श्रीमद् भगवत आविर्भाव का मूलीभूत उद्देश्य भगवत् प्रीति है। श्रीनारद कहे थे—॥१८॥

१९। भगवत् प्रीति के द्वारा मुक्ति तिरस्कृति।

परम पुरुषार्थ रूप में भगवत् प्रीति का निर्णय जिस प्रकार हुआ है, उस प्रकार भागवत् के द्वारा अन्यान्य अपवर्ग का भी तिरस्कार मुक्त कण्ठ से हुआ है, उस का उदाहरण उपस्थापित हो रहा है। उक्त तिरस्कार कहीं पर भगवत् प्रीति के स्वरूप द्वारा, कहीं पर श्रीभगवान् के परिकर के द्वारा किया गया है। भगवत् प्रीति के स्वरूप द्वारा तिरस्कृति का उदाहरण श्रीमद् भागवतीय गद्य में उक्त है। (भा० ५।६।१७)—

(१९) 'यस्यामेव कवय आत्मानमविरतं विविधवृजिन-संसारपरितागोपतप्यमानमनुसेवनं स्नापयन्त स्तयैव परया निर्वृत्या ह्यपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवाद्रियन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्व्वार्थाः" इति।

जिस भक्ति में पण्डितगण विविध पापरूप संसार ताप से सर्वतोभावेन सन्तप्त आत्मा को वारम्बार स्नान कराकर भक्ति द्वारा ही परमानन्द प्राप्त होते हैं, उस आनन्द से प्रार्थना के विना ही भगवदनुग्रह से समागत परमपुरुषार्थ मोक्ष को भी समादर नहीं करते हैं। 'कारण, वे सब भगवान् के निजजन हैं, तज्जन्य समस्त पुरुषार्थ प्राप्त किये हैं।

व्याख्या—जिस में पूर्वोक्त गद्य में जो लक्षण उक्त है, उस लक्षणाक्रान्त भक्ति में। मुक्ति प्रभृति सम्पत्ति भक्ति सम्पत्ति की अनुचरी हैं, अर्थात् जिस प्रकार अधीश्वरी का गमन होने पर अनुचरी दासी विना आह्वान से वहाँ अपस्थित होती है,उस प्रकार जिन्होंने भक्ति लाभ किया है,विना प्रार्थना से ही मुक्ति प्रभृति उनके निकट उपस्थित होते हैं, तज्जन्य भक्ति लाभ से सर्व मनोरथ परि समाप्त होते हैं, अपर किसी भी वस्तु के प्रति उनका अभिलाष नहीं रहता है। नारदपञ्चरात्र में भी उक्त है।

"हरिभक्तिमहादेव्याः सर्व्वा मुक्त्यादिसिद्धयः।
भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः॥"

हरि भक्ति महादेवी के मुक्ति प्रभृति सिद्धि समूह, एवं अतीव आश्चर्य्य स्वरूप भोग समूह दासी के

"हरिभक्तिमहादेव्याः सर्व्वा मुक्त्यादिसिद्धयः। भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः ॥"८८॥ इति

अतएवानादरोऽपि, यथोक्तं श्रीवृत्रं प्रति महेन्द्रेण (भा० ६।१२।२२) —

"यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे।
विक्रीड़तोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः ॥"८९॥ इति ॥

श्रीशुकः ॥

२०। अथ तत्परिकरेषु तदीयकार्य्यद्वारा, यथा तत्र तदीयगुणकथानुशीलनद्वारा तामाहुः (भा० १०।८७।२१)—

(२०) "दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो-
श्चरितमहामृताब्धि-परिवर्त्तपरिश्रमणाः।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥"९०॥

---

तुल्य अनुगामी होते हैं। अतएव मुक्ति प्रभृति के प्रति अनादर भी दृष्ट होता है। वृत्रके प्रति इन्द्र की उक्ति में (भा० ६।१२।१२) यथारीति उस का वर्णन है।

""यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे।
विक्रीड़तोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रै खातकोदकैः ॥८९॥

परम मङ्गल के अधीश्वर भगवान् श्रीहरि में जिस की भक्ति है, वह व्यक्ति, अमृत सागर में विहार कर रहा है, क्षुद्र गर्त्तस्थित जल के समान स्वर्गादि में उस का प्रयोजन ही क्या है?

प्रवक्ता – श्रीशुक हैं ॥१९॥

२०। अनन्तर भगवत् परिकर में तदीय कार्य्य द्वारा मोक्षतिरस्कृति का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं- भगवदीय लीलाकथा अनुशीलन के द्वारा मोक्ष तिरस्कृति का संवाद श्रुतिस्तुति भा० १०।८७।२१ में है।

(२०) "दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनोश्चरितमहामृताब्धि-परिवर्त्तपरिश्रमणाः।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥"९०॥

टीका—भक्तिरल्पसाधनमिति वचनमनुचितमिव मन्वानो भक्तिं गुरु करोति दुरवगमेति। भो ईश्वर। दुरवगमं दुर्बोधं यदात्मतत्त्वं तस्यनिगमाय ज्ञापनाय तवात्त तनोराविष्कृतमूर्त्तेश्चरितमहामृताब्धि परिवर्त्त परिश्रमणाः चरितमेव महामृताब्धि स्तस्मिन् परिवर्त्तो विगाहस्तेन परिश्रमणाः। परिलषन्ति, नेच्छन्ति, कुतोऽन्यदिन्द्रपदादि। केचिदिति। एवम्भूता भक्तिरसिका विरला इति दर्शयन्ति। न केवलमन्यन्नेच्छन्ति किन्तुतेनैव सुखेन पूर्णाः सन्तः पूर्वसिद्धं गृहादि सुखमप्यपेक्षन्त इत्याह ते चरणसरोज हंस कुल सङ्ग विसृष्ट गृहा इति। तवचरण सरोजे हंसा इव रममाणा ये भक्तास्तेषां कुलं तेन सङ्गस्तेन विसृष्टा गृहा यैस्ते यथा। अनेन श्रवण कीर्त्तने दर्श्यते। श्रुतिश्च मुक्तेरप्याधिक्यं भक्ते दर्शयति। यथाह, यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्म वादिनश्चेति। व्याख्यातञ्च सर्वज्ञैर्भाष्यकृद्भिः—मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते' इति।

त्वत् कथामृत पाथोधौ विहरन्तो महामुदः।
कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम् ॥२१॥

आत्मतत्त्वं तादृश-सच्चिदानन्दमूर्त्तित्वादिकं निज-याथात्म्यम्, निगमोऽनुभावना, आत्ततनोः प्रकटितस्वमूर्त्तेः, परिवर्जनार्थः, चरितमहामृताब्धेः परिवर्त्तनाभ्यासेन वर्जितश्रमाः, चरणसरोजहंसानां श्रीशुकदेवादीनां यानि कुलानि शिष्योपशिष्यपरम्परास्तेषां सङ्गेन विसृष्टमात्रगृहा अपि यद्यपवर्गं न परिलषन्ति, तदा चरणसरोजहंसादयस्तु किमुतेत्यर्थः ॥ श्रुतयः ॥

२१ । तदीयपादसेवा-तदीयगुणकथाद्वारा मुक्तिविशेषस्य तिरस्कृतिर्भक्तिसन्दर्भे दर्शितास्ति श्रीकपिल-देववाक्येन (भा० ३।२५।३४) "नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचित्" इत्यादिना, एकात्मतां ब्रह्मसायुज्यं भगवत्सायुज्यमपि । एवं सेवाद्वारा मुक्तिविशेषाणाञ्च श्रीविष्णुवाक्येन (भा० ९।४।६७) "मत्सेवया प्रतीतन्ते" इत्यादिना, श्रीकपिलदेववाक्येन च (भा० ३।२९।१३)

---

श्रुतिगण, श्रीभगवान् को कही थीं 'हे ईश्वर ! दुर्बोध आत्मतत्त्व निगम के निमित्त आत्ततनु के चरित रूप महासमुद्र में परिवर्त्तन करके जो लोक परिश्रमण हैं, आप के चरण कमल के हंस कुल के सङ्ग प्रभाव से कोई भी व्यक्ति, मुक्ति के अभिलाषी नहीं होते हैं ।

श्लोकार्थ—आत्मतत्त्व— तादृश सच्चिदानन्द मूर्त्तित्व प्रभृति निज स्वरूप धर्म जिस प्रकार ठीक उसी प्रकार निगम निमित्त–उस को अनुभव कराने के निमित्त, आत्ततनु—जिन्होंने निज मूर्त्ति को प्रकट किया है, उस प्रकार आप का चरित्र रूप महा अमृत सागर में परिवर्त्तन बारम्बार अवगाहन करके जो लोक परिश्रम—श्रम रहित हुये हैं । भवदीय चरण कमल के हंस–स्वरूप श्रीशुकदेवादि के कुल जो शिष्य परम्परा है, उन के सङ्ग प्रभाव से जिन्होंने गृहादि सुख को उपेक्षा की है, यदि वे भी सर्वतोभावेन मुक्ति अभिलाषी नहीं होते हैं, तब आप के चरण कमल के हंस गण जो उस के अभिलाषी होते ही नहीं यह कहना निष्प्रयोजन है । श्लोकस्थित परिश्रमण शब्द में स्थित परि—उपसर्ग का वर्जन अर्थ है ।

श्रुतिवृन्द बोली थीं– (२०)

२१ । श्रीभगवान् की पादसेवा एवं तदीय गुण कथा द्वारा मुक्ति विशेष की तिरस्कृति का उदाहरण भक्ति सन्दर्भ में श्रीकपिल देव के वाक्य के द्वारा उपस्थापित हुआ है । भा० ३।२५।३४ में उक्त है—

"नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः ।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥"

श्रीकपिल देव—श्रीदेवहूति को कहे थे—जो लोक–मेरी पादसेवा में अनुरक्त हैं, जो लोक मुझ को ही चाहते हैं, जो लोक--परस्पर अनुराग के सहित, मेरा प्रभाव का वर्णन करते हैं, इस प्रकार भक्त वृन्द मेरी एकात्मता को नहीं चाहते हैं ।

एकात्मता शब्द का अर्थ है—ब्रह्म सायुज्य–एवं भगवत् सायुज्य । ब्रह्मानुभव से भगवदनुभव में सुख अधिक है, अतएव एकात्मता शब्द का ब्रह्म सायुज्य अर्थ करने के बाद अतृप्त होकर कहते हैं—भगवत् सायुज्यमपि । अर्थात् ब्रह्म सायुज्य से भगवत् सायुज्य में आनन्दाधिक्य निबन्धन भगवत् सायुज्य में इच्छा हो सकती है, इस प्रकार आशङ्का परिहारार्थ कहते हैं—भगवत् सायुज्यमपि । सायुज्य मुक्ति से भक्ति सुख अत्यधिक है, जिन्होंने भगवन् पाद सेवा वा भगवत् कथा कीर्त्तन सुखानुभव किया है, उनके पक्ष में ब्रह्म सायुज्य तो अति तुच्छ है ही, भगवत् सायुज्य भी अनभिलषणीय है ।

इस प्रकार सेवा द्वारा मुक्ति विशेष की तिरस्कृति का वर्णन भा० ९।४।६७ में है–दुर्वासा के प्रति श्रीविष्णु कहे थे—

"सालोक्य-सार्ष्टि-"इत्यादिना ।

अथ पुरुषार्थान्तरवन्मुक्तिरपि हेयैवेति वक्तुं तैरपि साद्धं तस्यास्तिरस्कृतिर्निर्दिश्यते । तत्र भक्तेः स्वरूपेण मुक्तिसामान्यस्य तिरस्कृतिरुदाहृतैवास्ति भक्तिसन्दर्भादौ, (भा० ११।२०।३४ "न किञ्चित् साधवो धीराः" इत्यादिना, (भा० १२।१०।६) —

"नैवेच्छत्याशिषः क्वापि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत ।
भक्तिं परां भगवति लब्धवान् पुरुषेऽव्यये ।।"९०।। इति चान्यत्र ।

अथ कार्य्यद्वारेषु तत्रापतित-महासुखदुःखान्तरतिरस्कारि-तदासक्तिद्वारा तामाह (भा० ६।१७।१८) —

(२१) "नारायणपराः सर्व्वे न कुतश्चन बिभ्यति ।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ।।"९२।।

---

"मत् सेवया प्रतीतन्ते सालोक्यादि चतुष्टयम् ।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् काल विप्लुतम् ।।"

मेरी सेवा द्वारा सालोक्यादि चतुर्विध मुक्ति—उपस्थित होने पर भी भक्तगण उस को नहीं चाहते हैं, सुतरां काल विनाशी ब्रह्मपद प्रभृति में उनके अभिलाष होने की सम्भावना है ही कहाँ ? भा० ३।२९।३१ में श्रीकपिलदेवने कहा है—

"सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य सारूप्यैक्यत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विनामत् सेवनं जनाः ।।"

मेरे भक्त गण को, सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य एवं सायुज्य मुक्ति प्रदानेच्छु में होने पर भी वे मेरी सेवा को छोड़कर अपर कुछ भो ग्रहण नहीं करते हैं ।

अनन्तर अन्यान्य पुरुषार्थ के समान मुक्ति की तुच्छता प्रकाश करने के अभिप्राय से धर्मादि पुरुषार्थ द्वारा साध्य होने पर भी मुक्ति की तिरस्कृति को दर्शाते हैं । उस के मध्य में भक्ति स्वरूप द्वारा साधारण मुक्ति का तिरस्कार भक्ति सन्दर्भ प्रभृति में निम्नलिखित श्लोकों के द्वारा हुआ है । भा० ११।२०।३४ में उक्त हैं—श्रीकृष्ण उद्धव को कहे थे—

"न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वाञ्छन्त्यपि मयादत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ।।"

मैं कैवल्य मुक्ति प्रदान करने पर भी मेरा एकान्त भक्त, धीर साधुगण कुछ भी कामना नहीं करते हैं । भा० १२।१०।६ में भी उक्त है, मार्कण्डेय के सम्बन्ध में श्रीशिव कहे थे—

"नैवेच्छत्याशिषः क्वापि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत ।
भक्तिं परां भगवति लब्धवान् पुरुषेऽव्यये ।।"९१।।

यह ब्रह्मषि, अव्यय पुरुष श्रीभगवान् में पराभक्ति लाभ किये हैं, यह ऋषि-किसी प्रकार कल्याण-यहाँतक कि-मोक्ष को भी नहीं चाहते हैं ।

अनन्तर पूर्वकृत कर्म्म को द्वार करके भगवत् परिजन में समागत भक्ति कृत सुख दुःख भिन्न अन्य जो महासुख एवं महादुःख है, उस को परास्तकारिणी भगवदासक्ति द्वारा मोक्ष तिरस्क्रति का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—भा० ६।१७।२८ में श्रीरुद्र, पार्वती को कहे थे—

स्वर्गादीनां तुल्यहेयत्वात्तेषु तुल्यभगवदेकपुरुषार्थत्वाच्च तेष्वपि तुल्यदर्शिनः ॥ श्रीरुद्रो देवीम् ॥

२२। तदीयपादसेवापरमोत्कण्ठाद्वारा तामाह (भा० ३।४।१५)—

(२२) "को न्वीश ते पादसरोजभाजां, सुदुर्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह ।
तथापि नाहं प्रवृणोमि भूमन्, भवत्पदाम्भोजनिषेवणोत्सुकः ॥" ६३॥

हे ईश ॥ उद्धवः श्रीभगवन्तम् ॥

२३। सर्व्वात्मार्पणकारि-भजनीय-विषयकाभिलाषद्वारा तामाह (भा० ११।१४।१४)—

---

(२१) 'नारायणपराः सर्व्वे न कुतश्चन बिभ्यति ।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः ॥" ६०॥

नारायण परायण व्यक्तिगण कहीं पर भीत नहीं होते हैं, स्वर्ग, अपवर्ग एवं नरक में तुल्य अर्थ (प्रयोजन सार्थकता) को देखते हैं। स्वर्गादि का तुल्य हेयत्व होने के कारण उस में तुल्य--एकमात्र भगवान् में पुरुषार्थ बुद्धि हेतु सर्वत्र तुल्य दर्शन करते हैं।

अर्थात् भक्ति लाभ के पश्चात् भक्ति सम्पर्कित सुख दुःख भिन्न अन्य महा सुख दुःख भगवदासक्ति के द्वारा तुच्छ होते हैं। भक्ति द्वारा भगवदनुभवजनित सुख एवं तदीय विरह स्फूर्त्ति जनित दुःख भी भक्ति सम्पर्कित हैं। यह सुखं दुःख भक्त के पक्ष में परम पुरुषार्थ हैं। भक्त वृन्द, विच्छेद के समय में चित्त में इष्ट स्फूर्त्ति को प्राप्त करते हैं, अतः उस को भी पुरुषार्थ कहते हैं, कदाचित् भक्त की वाञ्छा, पूर्व संस्कार वा सकाम व्यक्ति के संसर्ग से स्वर्ग वा अपवर्ग विषय में होती है, उस से वह स्वर्ग वा अपवर्ग को प्राप्त करता है। एवं महदवज्ञा प्रभृति अपराध से नारकी गति को भी प्राप्त कर सकता है। किन्तु सर्वावस्था में श्रीभगवान् में आसक्त चित्त होने के कारण, उक्त सुखदुःख में भक्तका अभिनिवेश नहीं रहता है, मोक्ष सुख से भी उल्लसित नहीं होता है, नारकीय दुःख से भी व्यथित नहीं होता है। श्रीभगवान् में पुरुषार्थ बुद्धि होने के कारण केवल भगवान् में ही अभिनिवेश रहता है। एवं अन्यत्र तुच्छ बुद्धि होती है।

श्रीरुद्र, देवी को कहे थे (२१)

२२। श्रीभगवान् की पाद सेवा परमोत्कण्ठा के द्वारा भी मोक्ष तिरस्कृति का उदाहरण भा० ३।४।१५ में है—

(२२) "को न्वीश ते पादसरोजभाजां, सुदुर्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह ।
तथापि नाहं प्रवृणोमि भूमन्, भवत्पदाम्भोजनिषेवणोत्सुकः ॥" ६३॥

टीका—नहि स्वाज्ञान निवृत्तिमात्र कामोऽहं किन्तु तन्निषेवणोत्सुकः, त्वयि चाघटमानाचरणं दृष्ट्वा मे मोहो भवति। अतस्तं तत्त्व ज्ञानं देहीति प्रार्थयितुमाह को न्विति। चतुर्षु धर्म्मादिषु। तथापि तानहं न प्रवृणोमि। हे भूमन्। भवत् पदाम्भोज निषेवणोत्सुकोऽहम्।

श्रीउद्धव कहे थे—हे ईश ! जो आप के चरणारविन्द की सेवा करते हैं, उनके पक्ष में धर्म अर्थ, काम, मोक्ष—यह पुरुषार्थ चतुष्टय के मध्य में कोई भी पुरुषार्थ दुर्ल्लभ नहीं है, तथापि मैं उसकी प्रार्थना नहीं करता हूँ। मैं आप के चरणारविन्द की सेवा में समुत्सुक हूँ।

उद्धव श्रीभगवान् को कहे थे—२२॥

२३। सर्वात्मसमर्पण कारी व्यक्ति कर्त्तृक भजनीय श्रीहरि विषयक मोक्षतिरस्कृति का उदाहरण

(२३) "न पारमेष्ठंच न महेन्द्रधिष्ण्यं, न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा, मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ।।"६४।।

टीका च—"रसाधिपत्यं पातालादिस्वाम्यम्, अपुनर्भवं मोक्षमपि, मद्विना मां हित्वान्यन्नेच्छति, अहमेव तस्य प्रेष्ठ इत्यर्थः" इत्येषा। सार्व्वभौमं श्रीप्रियव्रतादीनामिव महाराज्यम् । पारमेष्ठ्यादि-चतुष्टयस्यानुक्रमश्चाधोऽधोविवक्षया न्यूनत्वविवक्षया च। ततश्चोत्तरोत्तरं कैमुत्यमपि। योगसिद्ध्यादिद्वयन्तु सार्व्वत्रिकमिति पश्चाद्विन्यस्तम्, अनयोस्तूत्तरश्रेष्ठयम् ।। श्रीभगवान् ।।

२४। तथैवाह (भा० ६।११।२५) —

(२४) "न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठंच, न सार्व्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा, समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ।।"६५।।

---

भा० ११।१४।१४ में है—

(२३) "न पारमेष्ठंच न महेन्द्रधिष्ण्यं, न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा, मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ।।"६४।।

टीका—परिपूर्णतामेवाह न पारमेष्ठ्यमिति। रसाधिपत्यं पातालादि स्वाम्यम्। अपुनर्भवं मोक्षमपि। मद्विना मां हित्वा अन्यन्नेच्छति। अहमेव तस्य प्रेष्ठ इत्यर्थः।

श्रीभगवान् कहे थे— मुझ को अर्पितात्मा पुरुष,-मुझ को छोड़ कर ब्रह्म लोक, इन्द्रलोक, सार्वभौम, र ाधिपत्य, योगसिद्धि, मोक्ष, अपुनर्भव--प्रभृति कुछ भी नहीं चाहते हैं।

टीका में उक्त है—रसाधिपत्य--पाताल प्रभृति का प्रभुत्व, दूसरे की बात तो दूर है, मुझ को छोड़ कर, अर्थात् भगवान् को छोड़कर मोक्ष का अभिलाषी भी वे नहीं होते हैं, मैं ही उनका प्रियतम हूँ।

सार्वभौम प्रियव्रत प्रभृति के समान महाराज्य ! ब्रह्म लोक, इन्द्र लोक, सार्वभौम,एवं रसाधिपत्य-इन चारों का क्रमशः उल्लेख करने का उद्देश्य है। यथाक्रम से उस की अधोभाग में स्थिति, एवं क्रमशः न्यूनता को प्रकाश करना है। उस में उत्तरोत्तर कैमुत्य भी अभिप्रेत है, अर्थात् जब ब्रह्म लोक की वाञ्छा नहीं, करते हैं, तब इन्द्र लोक की कथा ही क्या है ? योगसिद्धि एवं मुक्ति सर्वत्र ही अनभिप्रेत है। तज्जन्य श्लोक के शेष भाग में तदुभय विन्यस्त हुये हैं। इस के मध्य में योग सिद्धि से मोक्ष श्रेष्ठ है।

श्रीभगवान् कहे थे।।२३।।

२४। भा० ६।११।२५ में वृत्रासुरने भी श्रीभगवान् को उसी प्रकार कहा था—

(२४) "न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठंच, न सार्व्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा, समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ।।"६५।।

टीका—ननु किं दास्येन तुभ्यं महा फलानि दास्यामि तत्राह। नाक पृष्ठं--ध्रुव पदं--ब्रह्मलोकादिकञ्च। हे समञ्जस ! निखिल सौभाग्यनिधे ! त्वां विरहय्य-पृथक् कृत्य न काङ्क्षे नेच्छामि।

हे निखिल सौभाग्यनिधे ! तुम को छोड़कर स्वर्ग पृष्ठ,ब्रह्मपद, समस्त पृथिवी का कर्त्तृत्व, रसातल का प्रभुत्व, योगसिद्धि वा मोक्ष--इन सब की आकाङ्क्षा मेरी नहीं है।

नाक पृष्ठ शब्द का अर्थ है—ध्रुवपद । इस श्लोक में जो चार स्थानों का उल्लेख हुआ, उस का

नाकपृष्ठं ध्रुवपदम् । अत्र च चतुष्टये पूर्व्ववत् न्यूनत्वविवक्षया कैमुत्यम् । ध्रुवपदस्य श्रैष्ठंच विष्णुपदसन्निहितत्वात् ।। श्रीवृत्रः ।।

२५ । गाढ़तत्प्रपत्तिद्वाराहुः (भा० १०।१६।३७)—

(२५) "न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं, न पारमेष्ठंच न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा, वाञ्छन्ति यत् पादरजः प्रपन्नाः ।।"९६।।

तत्र नाकपृष्ठमपि न वाञ्छन्ति, किमुत, सार्वभौमम्, पारमेष्टचमपि न वाञ्छन्ति, किमुत रसाधिपत्यमिति पूर्व्वार्द्धे योज्यम्, उत्तरार्द्धे वा-शब्दोऽप्यर्थे । पादरजः-शब्देन भक्ति-विशेषज्ञापनया गाढ़प्रपत्ति-र्ज्ञाप्यते ।। नागपत्न्य श्रीभगवन्तम् ।।

२६ । गुणगानद्वाराह (भा० ७।६।२५)—

(२७) तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त आद्ये
किन्तैर्गुणव्यतिकरादिह ये स्वसिद्धाः ।
धर्म्मादयः किमगुणेन च काङ्क्षितेन
सारंजुषां चरणयोरुपगायतां नः ।।"९७।।

---

उद्देश्य है--उत्तरोत्तर स्थानों की न्यूनता प्रकाश करना । ध्रुव पद से ब्रह्मपद न्यून है, उस समस्त पृथिवी का आधिपत्य न्यून है, इत्यादि । विष्णु पद के सन्निहित होने के कारण--ध्रुवपद ब्रह्मपद से श्रेष्ठ है ।

श्रीवृत्र कहे थे--२४।।

२५ । गाढ़ भगवत् प्रपत्ति के द्वारा भी भा० १०।१६।३७ में नागपत्नी वृन्द ने भगवान् को कही थी ।

(२५) "न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं, न पारमेष्ठंच न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा, वाञ्छन्ति यत्पादरजः प्रपन्नाः ।।"९६।।

टीका—यत् तव पादरजः प्रपन्नाः प्राप्ताः, पारमेष्ठ्याद्यपि तुच्छं मन्यन्ते ।।

आप की चरणरेणु की शरणगत व्यक्तिवृन्द, स्वर्गपृष्ठ, समस्त पृथिवी का आधिपत्य, ब्रह्मपद, रसातलाधिपत्य, योगसिद्धि एवं मोक्ष की वाञ्छा नहीं करते हैं । सन्दर्भ । स्वर्ग पृष्ठ की वाञ्छा नहीं करते हैं, ऐसा होने पर तुच्छ समस्त पृथिवी का आधिपत्य की वाञ्छा का प्रसङ्ग उठना व्यर्थ है । ब्रह्म पद की जब वाञ्छा नहीं करते हैं, तब रसातलाधिपत्य की वाञ्छा की कथा उठ ही नहीं सकती, श्लोक के पूर्वार्द्ध की योजना इस रीति से करने से अर्थ सङ्गति होगी । श्लोक के शेषार्द्ध में 'अपुनर्भवं वा कहा गया है, इस में 'वा' शब्द का प्रयोग हुआ है । उस का अर्थ यहाँ 'आप' है । 'पादरजः' शब्द प्रयोग के द्वारा भक्ति विशेष प्रदर्शन पूर्वक प्रगाढ़ शरणापत्ति को ज्ञापन किया है । अर्थात् यहाँपर वक्तव्य है--श्रीभगवान् की शरणागति । इस प्रकार भक्ति विशेषके सहित शरणापत्ति की कथा उक्त होने भगवत् प्रपत्ति की गाढ़ता अनायास सिद्ध होती है ।

नागपत्नीगण श्रीभगवान् को बोली थीं ।।२५।।

२६ । श्रीभगवान् के गुणगाण के द्वारा मोक्षतिरस्कृति का दृष्टान्त भा० ७।६।२५ में है ।

(२६) "तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त आद्ये,
किन्तैर्गुणव्यतिकरादिह ये स्वसिद्धाः ।

अगुणेन मोक्षेण, सारंजुषां तन्माधुर्य्यास्वादिनां सताम् ॥ श्रीप्रह्लादो दैत्यबालकान् ।

२७। गुणश्रवणद्वाराह (भा० ४।२०।२३-२४)—

(२७) "वरान् विभो त्वद्वरदेश्वराद्बुधः, कथं वृणीते गुणविक्रियात्मनाम् ।
ये नारकानामपि सन्ति देहिनां, तानीश कैवल्यपते वृणे न च ॥६८॥
न कामये नाथ तदप्यहं क्वचि-,न्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः ।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो, विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः ॥"६९॥

---

धर्म्मादयः किमगुणेन च काङ्क्षितेन,
सारंजुषां चरणयोरुपगायतां नः ॥"६७॥

टीका—तत किमत आह, तुष्टे च तत्र तस्मिन् किमलभ्यं तथापि गुण परिणामात् दैवादेव स्वसिद्धा अयत्नतः सिद्धा ये धर्म्मादयस्तैः किम् अगुणेन च मोक्षेण काङ्क्षिते नकिम्, तमुपगायतां नोऽस्माकम् आकाङ्क्षितस्यापि तस्य सिद्धेः। यद्वा, माभून् मोक्षः, तस्य चरणयो सारं जुषां सुधां सेवमानानां तेनापि किमित्यर्थः ॥

श्रीप्रह्लाद-दैत्य बालक वृन्द को कहे थे—आद्य, अनन्त तुष्ट होने पर अलभ्य क्या रह जाता है ? गुण परिणाम हेतु दैववशतः विनायत्न से जो धर्म्मादि पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। उस से क्या प्रयोजन है ? एवं ज्ञानिवृन्द के वाञ्छित मोक्ष से भी क्या लाभ होगा ? कारण, हम सब उनके चरण कमलों का सार निषेवण करते हैं, एवं सर्वाधिक रूप से उनके नामादि कीर्त्तन करते हैं। श्लोकस्थित—अगुण शब्द का अर्थ है—मोक्ष, कारण वह मायिक गुणातीत है। 'सारं जुषां—' शब्द का अर्थ है-सारनिषेवी, अर्थात् श्रीचरण युगल के माधुर्य्यास्वादन कारी साधु वृन्द।

श्रीप्रह्लाद दैत्यबालक वृन्द को कहे थे ॥२६॥

२७। श्रीभगवान् के गुण श्रवण द्वारा मोक्ष तिरस्कृति का दृष्टान्त भा० ४।२०।२३-२४ में है—

(२७) "वरान् विभो त्वद्वरदेश्वराद्बुधः, कथं वृणीते गुणविक्रियात्मनाम् ।
ये नारकानामपि सन्ति देहिनां, तानीश कैवल्यपते वृणे न च ॥६८॥
न कामये नाथ तदप्यहं क्वचि-,न्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः ।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो, विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः ॥"६९॥

टीका—वरं वृणीष्वेति यदुक्तं, तदसहमान आह। हे विभो ! वरदानांब्रह्मादीनाम्--ईश्वरात् वर प्रदात् त्वत् त्वत्तः सकाशात् बुधः कथं वरान् वृणीते ? कीदृशान् ? गुणै विक्रियत इति, विक्रियोऽहङ्कारः, स एव आत्मा येषां, तेषां ब्रह्मादीनां सम्बन्धिनः। देहाभिमानिनां भोग्यानिति वा। तथा चेत्, बुध एव न भवतीत्यर्थः, जुगुप्सितत्वादपीत्याह--च इति। बुध एवाहमपि न वृणे—इति समुच्चयाय चकारः ॥२३॥ कैवल्यपते--इति सम्बोधनात् कैवल्यं वरिष्यतीति माशङ्कीरित्याह नेति। महत्तमानामन्तर्हृदयान् मुख द्वारा निर्गतो भवत् पदाम्भोज मकरन्दो यशः श्रवणादि सुखं यत्र नास्ति तादृशं चेत् कैवल्यं, तर्हि तत् क्वचित् कदाचिदपि न कामये। तर्हि किं कामयसे ? तदाह। यशः श्रवणाय कर्णानामयुतं विधत्स्व। ननु कोऽप्येवं न कृतवान्, किमप्यन्यच्चिन्तयेत्याह—ममत्वेष एव वर इति। (२४)

श्रीपृथुमहाराज ने श्रीभगवान् को कहा—हे विभो ! आपने मुझ को वर ग्रहण करने के निमित्त क्यों कहा ? ब्रह्मादि देवगण वर दाता हैं, आप तो उन सब के ईश्वर हैं, आप के निकट क्या विज्ञ व्यक्ति,

तदपि कैवल्यमपि ।। पृथुः श्रीविष्णुम् ।।

२८। तदीय-निजसेवकताप्राप्तिकामनाद्वाराह (भा० ५।१४।४४) —

(८२) "यो दुस्त्यजक्षितिसुतस्वजनार्थदारान्, प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम् ।
नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्,-सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः ।।"१००।।

य आर्षभेयो भरतः श्रीशुकः ।।

२९। लोकपालतामात्रलक्षणतत्सेवाभिमानद्वाराप्याह (भा० ७।८।४२)—

(२९) "प्रत्यानीताः परम भवता त्रायता न स्वभागा
दैत्याक्रान्तं हृदयकमलं त्वद्गृहं प्रत्यबोधि ।
कालग्रस्तं कियदिदमहो नाथ शुश्रूषतां ते
मुक्तिस्तेषां न हि बहुमता नारसिंहापरैः किम् ।।"१०१।।

---

देहाभिमानी के भोग्यवर प्रार्थना कर सकता है ? नारकी व्यक्ति भी वह सब भोग को कर सकता है । हे ईश ! हे कैवल्यपते ! मुझ को वह सब बर नहीं चाहिये । हे नाथ ! मैं मोक्ष को भी नहीं चाहता हूँ । कारण, उक्त वर समूह में साधु पुरुष वृन्द के हृदय मध्य से मुख द्वारा निःसृत आप के चरण कमल का मकरन्द रूप यशः श्रवण करने की सम्भावना नहीं है । जिस से मैं साधुमुख से निःसृत आप का यश श्रवण कर सकूँ, तज्जन्य मुझ को अयुत कर्णदान करें, यही मेरा प्रार्थनीय वर है । श्लोकस्थ तदपि--शब्द का अर्थ है–मोक्ष को भी ।                                                    पृथु श्रीविष्णु को कहे थे — ।।२७।।

२८। श्रीभगवान् की निज सेवकता प्राप्ति कामना के द्वारा भी जो मोक्ष तिरस्कृति है, उस का दृष्टान्त—भा० ५।१४।४४ में है—

(२८) "यो दुस्त्यजक्षितिसुतस्वजनार्थदारान्, प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम् ।
नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्,-सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गु ।।"१००।।

अत्र हेतुमाह च इति । सुहृद्राज्ययोर्द्वन्द्वैक्यम्, यो दुस्त्यजान् दायादीन् विष्ठामिव जहौ तस्यार्षभस्येति सम्बन्धः । दुस्त्यजत्वे हेतुः— हृदिस्पृशः मनोज्ञान् । त्यागे हेतुः उत्तम श्लोकेलालसा लम्पटत्वं यस्य ।

ऋषभ देव के पुत्र भरत—दुस्त्यज राज्य, पुत्र, पत्नी, धन जन, यहाँतक—कि देव श्रेष्ठ गण की प्रार्थनीयालक्ष्मी--जो भरत की दया, लाभ हेतु दीनभाव से अवलोकन कर रही थी, उन में भी अनिच्छा प्रकाश किये थे । यह आश्चर्य्य का विषय नहीं है, जो सब महापुरुष, मधुसूदन की सेवा में अनुरक्त चित्त हैं, उन के निकट मुक्ति भी अतितुच्छ है ।

श्लोकस्थ—"य आर्षभेयः" शब्द का अर्थ भरत है ।                     प्रवक्ता श्रीशुक हैं—२८।।

२९। साक्षात् सेवा की कथा तो दूर है, लोकपालता मात्र लक्षण--भगवत् सेवाभिमान के द्वारा भी मोक्षतिरस्कृति का दृष्टान्त भा० ७।८।४२ में है--

(२९) प्रत्यानीताः परम भवता त्रायता नः स्वभागा
दैत्याक्रान्तं हृदयकमलं त्वद्गृहं प्रत्यबोधिः ।
कालग्रस्तं कियदिदमहो नाथ शुश्रूषतां ते
मुक्तिस्तेषां न हि बहुमता नारसिंहापरैः किम् ।।"१०१।।

स्पष्टम् ।। महेन्द्रः श्रीनृसिंहम् ।।

३० । अथ कारणेषु महाभागवतसङ्गद्वाराह (भा० ४।२४।५७) —

(३०) "क्षणार्द्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ।।"१०२।।

टीका च—"तत्पादमूले प्रविष्टस्य कृतान्तभयाभावः कियानयं लाभः, यावता तद्भक्त-सङ्ग एव सकल-पुरुषार्थश्रेणिशिरसि नरीनर्ति" इत्यादि ।। श्रीरुद्रः प्रचेतसः ।।

---

टीका—इन्द्रस्तु नास्माकं हविर्भागलाभः पुरुषार्थः, किन्तु त्वत् परिचर्य्यैव भवता पुनरनेन संरम्भेण तत् कार्य्यमेव साधितं, तस्य च सिद्धत्वात् उपसंहरैनं क्रोधमित्याशयेनाह । हे परम ! नोऽस्मान् त्रायता रक्षता भवता स्वीया एव भागा दैत्यःहृताः प्रत्यानीताः । अन्तर्य्यामिणस्तवैव यज्ञेषु भोक्तृत्वात् । अस्मदीयञ्च हृदयकमलं त्वद् गृहमेव एतावत् पर्यन्तं भयहेतुत्वेन अस्मत् स्मृतिपथे नित्यं स्थितेन दैत्येनाक्रान्तंव्याप्तं सत् प्रत्यबोधि, भयापकरनेन विकाशं नीतम् । तव त्रैलोक्यश्वर्य्य साधनार्थ में अयमुद्यम इतिचेत् तत्राह-- कालग्रस्तमिति ते त्वां हे नारसिंह ! नरसिंहाकाराभ्यामाविर्भूत । अपरैः स्वर्गादिभिः किम् ?

इन्द्र नृसिंह देव को कहे थे —हे परम ! दैत्यगण हमारे यज्ञ समूह को अपहरण किआ था । हमारी रक्षा करके आपने पुनर्वार उन सब को ले आये हैं । वे सब यज्ञ भाग आप के ही हैं, कारण, सर्वान्तर्य्यामी आप ही हमारे अन्तर्य्यामी रूपमें यज्ञ भोक्ता हैं । अथवा आप के सेवक वर्ग हम सब को दैत्य से मुक्तकरके पुनर्वार आप के निकट में ले आये हैं । हे नाथ ! हमारे हृदय कमल आप के गृह स्वरूप हैं । वह एतावत् काल दैत्याक्रान्त था, भय हेतु सर्वदा दैत्यवृन्द स्मृति पथ में उदित होते थे । अधुना उस भय को विदूरित करके आप उस को विकसित किये हैं । आप के सेवक हम सब को निज निकट में स्थान प्रदान किये हैं, एवं हमारे हृदय से दैत्यभय विदूरित किये हैं, यह दोनों ही हमारे परमोपकार हैं ।

हे नरसिंह ! कालग्रस्त —काल कम से ध्वंस शील त्रैलोक्य ऐश्वर्य्य दान भी अकिञ्चित् कर है । जो लोक आप की सेवा करते हैं । वे मुक्ति को बहु मान नहीं देते हैं, अपर पदार्थ की कथा और क्या कहूँ ?

महेन्द्र श्रीनृसिंह देव को कहे थे—२९।।

३० । अनन्तर भक्ति के कारण समूह के मध्य में महाभागवत सङ्ग द्वारा भा० ४।२४।५१ में मोक्षतिरस्कृति का वर्णन है—

(३०) "क्षणार्द्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ।।"१०२।।

टीका—त्वत् पादमूले प्रविष्टस्य कृतान्तभयाभावः कियानयं लाभः ? यतस्तद् भक्त सङ्ग एव सकल पुरुषार्थ श्रेणि शिरसि नरीनर्त्तीत्याह, भगवतस्तवसङ्गिनां सङ्गस्य क्षणार्द्धेनापि स्वर्गं न तुतये समं न गणयामि । न च अपुनर्भवं मोक्षम् । मर्त्यानामाशिषो राज्याद्याः किमुतः ? ।।५७।।

श्रीरुद्र, प्रचेतागण को कहे थे —भगवत् सङ्गी का क्षणार्द्ध सङ्ग के सहित भी स्वर्ग का मोक्ष की तुलना नहीं की जा सकती है । मरण धर्म शील मानव गण की राज्यादि सम्पत्ति की कथा और क्या कहूँ ? अर्थात् वह सब अति तुच्छ हैं । स्वामि टीका का अभिप्राय —जब भगवद् भक्त सङ्ग ही समस्त पुरुषार्थ श्रेणी के मस्तकोपरि वारम्ब र नृत्य कर रहा है, तब भगवत् पादमूल में प्रविष्ट व्यक्ति के पक्ष में यम भयाभाव लाभ अधिक क्या है ?

श्रीरुद्र---प्रचेतागण को कहे थे—

३१ । तथैवाहुः (भा० ४।३०।३३) —

(३१) "यावत्ते मायया स्पृष्टा भ्रमाम इह कर्म्मभिः ।
तावद्भवत् प्रसङ्गानां सङ्गः स्यान्नो भवे भवे ।।१०३।।
तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत्सङ्गि-………………… ।।" १०४।। इत्यादि ।

तद्बहिर्मुखताप्राप्त्याशङ्कया तत्परिहारकारणं प्रार्थयन्ते,-यावदिति । नैतावदेवं तत्सङ्गस्य, किन्त्वपार-महिमत्वमेवेत्याहुः-तुलयामेति । अतो यावदित्यादिकं प्रेम्णैव भगवच्चरण-सामीप्यप्राप्त्याशयोक्तम्, न सामीप्यादिमुक्तिसम्पत्त्याशयेति ज्ञेयम् । प्रचेतसः श्रीमदष्टभुजं पुरुषम् ।।

३२ । अन्यत्रापीदृशोऽर्थो दृश्यते । तत्र तत्तच्छास्त्रस्य परमफलत्वे यथा माध्वभाष्यधृतं

---

३१ । भा० ४।३०।३३ में उसी प्रकार वर्णन है—

(३१) "यावत्ते मायया स्पृष्टा भ्रमाम इह कर्म्मभिः ।
तावद्भवत्प्रसङ्गानां सङ्गः स्यान्नो भवे भवे ।।१०३।।
तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
भगवत् सङ्गि सङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ।।१०४।।

टीका – अत एतावदेव प्रार्थयामहे इत्याहुः – यावदिति । स्पृष्टा–व्याप्ताः । भवति प्रकृष्टः सङ्गो येषां तेषां सङ्गोऽस्माकं स्यात् ।।३३

ननु राज्य भोगान् स्वर्गापवर्गौ च विहाय किमिदं प्रार्थ्यते । तत्राहु तुलयामेति । भगवत् सङ्गिनां सङ्गस्य लवेनापि ।।३४।।

प्रचेतागण श्रीमदष्टभुज भगवान् को कहे थे – यावत् हम सब तुम्हारी मायास्पृष्ट होकर कर्म्म समूह द्वारा संसार में भ्रमण करें, तावत् जैसे जन्म जन्म में तुम्हारे सङ्गिगण का सङ्गलाभ हम सब को हो, भगवत् सङ्गी का लव मात्र सङ्ग के सहित स्वर्ग एवं मोक्ष की तुलना नहीं हो सकती है, इस से मानवीय अन्यान्य सम्पद की कथा तो उठ ही नहीं सकती है, कारण, वे सब अति तुच्छ हैं ।

श्लोक की व्याख्या—भगवद् वहिर्म्मुखता प्राप्ति की आशङ्का से भगवद् वहिर्मुखता परिहार का जो उपाय है, उस की प्रार्थना हुई है । भगवद् वहिर्मुखता परिहार पर्य्यन्त ही भक्तसङ्ग का फल नहीं है, किन्तु इस की अनन्त महिमा है, द्वितीय श्लोक में उस महिमा का वर्णन है । अतएव प्रेम वशतः भगवच्चरण सामीप्य लाभ के अभिप्राय से ही 'यावत् इत्यादि का कथन हुआ है । किन्तु सामीप्य मुक्त्यभिल ष से उक्त कथन नहीं हुआ है । इस को जानना चाहिये । अर्थात् जन्म जन्म भक्त सङ्ग प्रार्थना से प्रतीत होता है कि—सामीप्य मुक्ति ही प्रचेतागण को अभिप्रेत थी, भक्त सङ्ग करते करते अवशेष में सामीप्य मुक्ति लाभ होगी–इस अभिप्राय से प्रचेता गण ने उस प्रकार प्रार्थना की थी, इस प्रकार संशय विदूरित करने के निमित्त उस प्रकार व्याख्या की गई है, प्रचेतागण की वाञ्छितता मुक्ति नहीं है, किन्तु प्रेमवशतः भगवत् चरण सान्निध्य प्राप्ति ही उनकी अभिलषणीया है ।

प्रचेतागण श्रीमदष्टभुज पुरुष को कहे थे ।।३१।।

वृहत्तन्त्रम्–

"यथा श्रीर्नित्यमुक्तापि प्राप्तकामापि सर्व्वदा। उपास्ते नित्यशो विष्णुमेवं भक्तो भवेदपि॥"१०५॥ इति।

ब्रह्मवैवर्त्ते च–

"न ह्रासो न च वृद्धिर्वा मुक्तानां विद्यते क्वचित्। विद्वत्प्रत्यक्षसिद्धत्वात् कारणाभावतोऽनुमा।१०६।
हरेरुपासना चात्र सदैव सुखरूपिणी। न च साधनभूता सा सिद्धिरेवात्र सा यतः॥"१०७॥ इति।

तदुत्थापिता सौपर्णश्रुतिश्च–"सर्वदैतमुपासीत, यावद्विमुक्तिर्मुक्ता ह्येतमुपासते" इति,

---

मुक्त पुरुषों के द्वारा भगवद् भजन।

३२। श्रीमद् भागवत व्यतीत अन्य ग्रन्थ में भी इस प्रकार अर्थ—अर्थात् प्रेम पूर्वक मुक्त पुरुष का भगवद् भजन--दृष्ट होता है। इस अर्थ में अन्य शास्त्र का परम फल रूप में भक्ति उत्कर्ष का दृष्टान्त—माध्व भाष्यधृत वृहत्तन्त्र नामक ग्रन्थ में है--

"यथा श्रीर्नित्य मुक्तापि प्राप्त कामापि सर्वदा।
उपास्ते नित्यशो विष्णुमेवं भक्तो भवेदपि॥"१०५॥

लक्ष्मी—नित्य मुक्ता हैं, निखिल अभिलाष पूर्णा भी हैं, तथापि-लक्ष्मी जिस प्रकार सतत श्रीविष्णु की उपासना करती हैं, श्रीहरि के अन्य भक्त गण भी उस प्रकार करते हैं। अर्थात् नित्य मुक्त पार्षद एवं परिपूर्ण मनोरथ होने पर भी वे केवल प्रेम पूर्वक श्रीहरि की सेवा करते हैं। माध्वभाष्यधृत-ब्रह्मवैवर्त्त पुराण वचन भी इस प्रकार है।

"न ह्रासो न च वृद्धिर्वा मुक्तानां विद्यते क्वचित्।
विद्वत्प्रत्यक्षसिद्धत्वात् कारणाभावतोऽनुमा॥१०६॥
हरेरुपासना चात्र सदैव सुखरूपिणी।
न च साधनभूता सा सिद्धिरेवात्र सा यतः"१०७॥

मुक्तवृन्द की कदाचित् ह्रास वृद्धि नहीं है, इस का प्रत्यक्ष, ज्ञानिगण करते हैं, एवं ह्रास वृद्धि का कारणाभाव से वह अनुमित होता है। परन्तु मुक्तावस्था में श्रीहरि की उपासना—सुख रूपिणी है। वह उपासना साधन भूता नहीं है, कारण वह सिद्धि रूपा है, उक्त विषयक ब्रह्मसूत्र--'आदरादलोपः" ३।३।४१

अवद्धत्वेऽपि भक्ति विशेषादेवोपासनाद्यलोपस्तस्या भवति। यथा श्रीर्नित्य मुक्तापि प्राप्त कामापि सर्वदा। उपास्ते नित्यशो विष्णुमेवं भक्तोभवेदिति वृहत्तन्त्रे। (माध्वभाष्य)

रमा का असंसारित्व होने पर भी उन में उपासना का अभाव नहीं है- कारण, ब्रह्मशिवादि देवगण देवी, स्त्री नित्य मुक्ता होने पर भी उनकी कामना प्राप्ति है एवं वह नित्य ही विष्णु की उपासना करती है। इस प्रकार उपासना करने से ही हरिभक्त हो सकता है। अतएव प्रकृति का भी उपासनाधिकार है।

"श्रीर्यत् पदाम्बुज रजश्चकमेतुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्य जुष्टम्
यस्याः स्ववीक्षण कृतेऽन्यसुरप्रयास
स्तद्वद्वयञ्च तव पादरजः प्रपन्नाः भा० १६।८६।३७। भागवत भाष्यम्।
"दर्शयतश्चैष प्रत्यक्षानुमाने" ब्रह्मसूत्र--४।४।२१

तदीयभारत तात्पर्य्ये च श्रुत्यन्तराभिधानम्-,'मुक्तानामपि भक्तिर्हि परमानन्दरूपिणी" इति। एष एवार्थः श्रीवृहद्गौतमीयेऽपि दृश्यते, यथा—

---

एतत्सामगायन्नास्ते इत्युच्यते। तत्र आनन्दादीनां वृद्धि ह्रासश्च न विद्यते। 'एकप्रकारैश्चैव सर्वदा स्थितिः स एष एतस्मिन् ब्रह्मणि सम्पन्नो न जायते न म्रियते न हीयते न वर्द्धते स्थित एव सदा भवति। दर्शयन्नेव ब्रह्म दर्शयन्नेवात्मानं तस्यैवं दर्शयतो न पत्ति र्न विपत्तिरित्याह जाबालिः श्रुतौ। यत्र गत्वा न म्रियते,यत्र गत्वा न जायते न हीयते यत्र गत्वा न वर्द्धते। न ह्रासो न च वृद्धिर्वा मुक्तानां विद्यते क्वचित्। विद्वत् प्रत्यक्षसिद्धत्वात् कारणाभावतोऽनुमा। हरेरुपासना चात्र सदैव सुख रूपिणी। नच साधन भूता सा सिद्धिरेवात्र साध्यते इति।

ब्रह्म प्राप्त मुक्त पुरुष की भोग द्वारा ह्रासवृद्धि नहीं होती है। इस को समर्थन करते हैं। मुक्त व्यक्तिकी ह्रास वृद्धि होने से संसारी के समान धर्मापत्ति होती है। मुक्त पुरुषकी ह्रासवृद्धि है,अथवा नहीं? इस प्रकार जिज्ञासा में है—कहा जाता है। कारण मुक्तगण, सामगानादि द्वारा उपासना करते हैं, अन्यथा उनकी उपासना व्यर्थ होती है। ऐसा होने पर मुक्त भी संसार समान धर्मी होता है। इस प्रकार दोष निवारणार्थ कहते हैं— सामगानादि द्वारा मुक्त की उपासना प्रसिद्ध होने पर भी मुक्त में आनन्द की ह्रास वृद्धि नहीं है, मुक्त एक प्रकार अवस्थित होता है। केवल ब्रह्म दशन एवं आत्मदर्शन करता है, इस प्रकार आत्मदर्शी का पतन वा विपत्ति नहीं है। मोक्ष धर्म में लिखित है, जहाँ जाने से जन्म मृत्यु नहीं होती है, मुक्त का गमन—वहाँ होता है। अतएव प्रत्यक्ष कारणाभाव हेतु मुक्त का आनन्द भोग की ह्रास वृद्धि नहीं होती है। ब्रह्मवैवर्त्त में उक्त है—मुक्त का कदाचित् आनन्द की ह्रास वृद्धि नहीं होती है। ज्ञानिगण इस को प्रत्यक्ष करते हैं। ज्ञानिगण जो श्रीहरि की उपासना करते हैं—वह उन का सुख स्वरूप है। वे संसार समान धर्मो नहीं है, सर्वदा आनन्द भोग भी उन सब का एक रूप होता है।

उक्त सूत्र का भागवत भाष्य

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृत द्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुविभावुकाः॥ भा० १।१।३
येऽन्येऽरविन्दाक्षविमुक्त मानिनस्त्वय्यस्त भावदविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥ भा० १०।२।३२

मध्व भाष्यधृत सौपर्ण श्रुति भी इस विषय में प्रमाण है।

"सर्वदैतमुपासीत, यावद्विमुक्तिर्मुक्ता ह्येतमुपासते॥"

सर्वदा इनकी उपासना करे, यावत् मुक्ति लाभ हो, तावत् उपासना करे, मुक्त पुरुष गण भी उपासना करते हैं। इस विषय में ब्रह्म सूत्र—

'आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्। ४।१।१२

मध्वभाष्य। यावन्मोक्षस्तावदुपासनादिकं कार्य्यं। स यो ह वै तद् भगवन् मनुष्येषु प्रापणं तमोङ्कारमभिध्यायीतेति श्रुतिः। सर्वदैतमुपासीत यावद् विमुक्तः। मुक्ता अपि ह्येनमुपासत इति सौपर्ण श्रुति। शृणुयाद् यावदज्ञानं मतिर्यावदयुक्तता। ध्यानञ्च यावदीक्षास्यान्नेक्षा क्वचन बाध्यते। दृष्ट तत्त्वस्य च ध्यानं यदा दृष्टिन विद्यते। भक्तिस्त्वानन्त कालीना परमे ब्रह्मणि स्फुटा। आपिमुक्ते र्विधिर्नित्यं स्वतएव ततः परमिति।

मोक्ष पर्य्यन्त भगवत् प्राप्ति 'साधन' उपासना करे। इस को समर्थन करते हैं। अधुना जिज्ञासा यह है कि—उपासना का कर्त्तव्य ज्ञान पर्य्यन्त अथवा मुक्ति पर्य्यन्त है? जिज्ञासा निरसन निबन्धन कहते हैं—

"एवं दीक्षाश्चरेद्यस्तु पुरुषो वीतकल्मषः । स लोके वर्त्तमानोऽपि जीवन्मुक्तः प्रमोदते ॥१०८॥
उदिताकृतिरानन्दः सर्व्वत्र समदर्शकः । पूर्णाहन्तामयी साक्षाद्भक्तिः स्यात प्रेमलक्षणा ।"१०९॥

अन्यत्र हानोपादान-वृद्धिरहितत्वात् समदर्शित्वं ज्ञेयम् । अत्र मुनय ऊचुः—

"कथं भक्तिर्भवेत् प्रेम्णा जीवन्मुक्तस्य नारद । जीवन्मुक्तशरीराणां चित्सत्तानिःस्पृहा यतः ।
विरक्तेः कारण भक्तिः सा तु मुक्तेस्तु साधनम् ॥"११०॥

श्रीनारद उवाच—

"भद्रमुक्तं भवद्भिश्च मुक्तिस्तुर्य्या परात्परा । निरहं यत्र चित्सत्ता तुर्य्या सा मुक्तिरुच्यते ॥१११॥
पूर्णाहन्तामयी भक्तिस्तुर्य्यातीता निगद्यते । कृष्णधाममयं ब्रह्म क्वचित् कुत्रापि भासते ॥११२॥

---

यावत् मोक्ष नहीं होता है, तावत् उपासना ध्यान प्रभृति कर्त्तव्य हैं, अपरोक्ष ज्ञान हेतु ध्यान की आवश्यकता है । सौपर्ण श्रुति में उक्त है—यावत् मुक्ति नहीं होती है, तावत् सर्वदा ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये, एवं मुक्त व्यक्ति के पक्ष में भी उपासना कर्त्तव्य है, ब्रह्माण्ड पुराण में लिखित है--यावत् अज्ञान है, तावत् श्रवण, यावत् योग नहीं होता है, तावत् मनन, एवं यावत् दर्शन नहीं होता है--तावत् ध्यान करे । ब्रह्म दर्शन कभी भी बाधित नहीं होता है । और जिस को तत्त्व ज्ञान हुआ है, वह भी ब्रह्म दर्शन पर्य्यन्त ध्यान करे । मुक्ति होने पर भी परम ब्रह्ममें अनन्त काल भक्ति रहती है । और जो अविमुक्त है, उस के पक्ष में सर्वदाध्यान करना कर्त्तव्य है ।

श्रीमन् मध्वाचार्य्य कृत भारत तात्पर्य्य में अन्य श्रुति की स्पष्टोक्ति लिखित है—"मुक्तानामपि भक्तिर्हि परमानन्द रूपिणी" भक्ति, मुक्तवृन्द की भी परमानन्दरूपिणी है ।

इस प्रकार अर्थ का उल्लेख श्रीवृहद् गौतमीय तन्त्र में भी दृष्ट होता है ।

"एवं दीक्षाश्चरेद् यस्तु पुरुषो वीतकल्मषः ।
स लोके वर्त्तमानोऽपि जीवन्मुक्तः प्रमोदते ॥१०८॥
उदिताकृतिरानन्दः सर्व्वत्र समदर्शकः ।
पूर्णाहन्तामयी साक्षाद्भक्तिः स्यात् प्रेमलक्षणा ॥"१०९॥

जो निष्पाप व्यक्ति, इस प्रकार दीक्षाचरण करता है, वह इस जगत् में वर्त्तमान होकर भी जीवन् मुक्त होकर आनन्द लाभ करता है, वह दिव्य रूप,सुखी एवं सर्वत्र समदर्शक होता है,उसमें पूर्ण अहन्तामयी प्रेम लक्षणा साक्षाद् भक्ति का उदय होता है । एवं अन्य वस्तु में हेय उपादेय बुद्धि न होने के कारण वह समदर्शक होता है । यहाँपर मुनियों ने कहा है—

"कथं भक्तिर्भवेत् प्रेम्णा जीवन्मुक्तस्य नारद !
जीवन्मुक्त शरीराणां चित्सत्तानिःस्पृहा यतः ।
विरक्तेः कारणं भक्तिः सातु मुक्तेस्तु साधनम् ।"११०॥

हे नारद ! मुक्त पुरुष की प्रेम भक्ति कैसे होती है ? यहाँ 'प्रेम्णा' पद में प्रकृत्यादित्वात् तृतीया विभक्ति है, अर्थ है, प्रेमाभिन्न भक्ति--अर्थात् प्रेम भक्ति ।

कारण, जीवन्मुक्त पुरुष की चित् सत्ता है, उस की कोई भी स्पृहा नहीं रहती है । भक्ति–विरक्ति का कारण है, किन्तु वह मुक्ति का साधन है, उत्तर में श्रीनारद ने कहा—

"भद्रमुक्तं भवद्भिश्च मुक्तिस्तुर्य्या परात परा ।
निरहं यत्र चित्सत्ता तुर्य्या सा मुक्तिरुच्यते ॥१११॥

निर्वीजेन्द्रियगं तत्तु आत्मस्थं केवलं सुखम । कृष्णस्तु परिपूर्णात्मा सर्व्वत्र सुखरूपक: ।
भक्तिवृत्तिकृताभ्यासात्तत्क्षणादगोचरीकृत: ॥"११३॥

इति, तादृगर्थत्वेनैवाद्वैतवादगुरुभिरपि सम्मता श्रीनृसिंहतापनी च (पृ० २१४)–"यं वै सर्व्वे

पूर्णाहन्तामयी भक्तिस्तुर्य्यातीता निगद्यते ।
कृष्णधाममयं ब्रह्म क्वचित् कुत्रापि भासते ॥११२॥
निर्वीजेन्द्रियगं तत्तु आत्मस्थं केवलं सुखम् ।
कृष्णस्तु परिपूर्णात्मा सर्वत्र सुख रूपक: ॥
भक्ति वृत्तिकृताभ्यासात् तत्क्षणाद् गोचरीकृत ॥"११३॥

आप सब ने उत्तम कहा है। पुरुषार्थ के मध्य में तुर्य्यामुक्ति, श्रेष्ठा से भी श्रेष्ठा है। जिससे चित्सत्ता अहं मायिक गुणमय अहङ्कार विदूरित होता है, उस को तूर्य्या मुक्ति कहते हैं, किन्तु पूर्ण अहन्ता मयी भक्ति तुर्य्यातीत शब्द से अभिहिता है। कृष्ण धाममय अर्थात् ज्योतिर्म्मय ब्रह्म का प्रकाश कदाचित किसी स्थान में होता है, निर्वीजेन्द्रिय गत आत्मस्थ केवल एवं सुख है, किन्तु श्रीकृष्ण परिपूर्णात्मा, सर्वत्र मूर्त्तिमान सुख रूप हैं। भक्ति का पुनः पुनः अनुष्ठान करने से तत् क्षणात् उनका दर्शन किया जा सकता है।

उक्त कथन का तात्पर्य्य यह है कि—जीवन्मुक्त पुरुषका अभिनिवेश शरीर में न रहकर चित्सत्ता आत्मा में रहता है, तज्जन्य चित्सत्ता कही गई है। जब तक वासनालेश रहता है, तब तक मुक्ति की सम्भावना नहीं है, तज्जन्य जीवन्मुक्त निस्पृह है। जिस की कोई आकाङ्क्षा नहीं है, इस प्रकार व्यक्ति में प्रेमभक्ति कैसे होती है? आकाङ्क्षा होने से ही वाञ्छित पदार्थ लाभ होता है। मुनियों का यह ऐक प्रश्न है। अभिप्राय यह है कि—भक्ति से विषय वैराग्य होता है। एवं विषय वैराग्य न होने से मुक्ति असम्भव है। यह भक्ति मुक्ति का साधन है। साध्य मुक्ति से साधन भक्ति कैसे हो सकती है? उत्तर प्रदान के प्रारम्भ में प्रश्न को अभिनन्दित श्रीनारद ने किया। पश्चात् कहा—जाग्रह, स्वप्न, सुषुप्ति में जीव का मायिक अभिमान रहता है। मुक्ति मायिक अभिमान रहिता है, उक्त अवस्थात्रय अतीता है, तज्जन्य इस को तुर्य्या—चतुर्थी कही गई है। मुक्ति, धर्म्मादि पुरुषार्थ से श्रेष्ठा होने के कारण, परात् परा है—अर्थात् श्रेष्ठा से भी श्रेष्ठा है। मायिकाभिमान न होने के कारण, शुद्ध जीवमें स्वरूप की अनुभूति रहती है, तज्जन्य मुक्ति में निरहं चित्सत्ता कही गई है। मुक्त जीव, शुद्ध चित् सत्ता मात्र में अवस्थान करता है, और प्रेम भक्ति सम्पन्न व्यक्ति—चिन्मय पार्षद देह में विराजित है। उस समय श्रीहरिदास अभिमान होता है। 'दासभूतोहरेरेव' श्रुति के अनुसार जीव निज स्वरूपाभिमान को प्राप्त करता है, अतः प्रेम भक्ति को पूर्ण अहन्तामयी कही गई है।

स्वरूप सम्प्राप्ति होती है, अर्थात् माया सम्बन्ध वर्जन के पश्चात् शुद्ध स्वरूप जीव को पार्षदत्व लाभ होता है, तज्जन्य मुक्ति के पश्चात् 'भक्तिलाभ' कथन सङ्गत हुआ।

यह भक्ति,—भगवत् सेवारूपा है, सांसारिक भोगवासना युक्त जीव, सेवारूपा भक्ति लाभ करने में अक्षम है। मुक्त जीव, पार्षद देह में उक्त सेवा लाभ कर सकता है। चित् सत्ता मात्रावलम्बन रूपा मुक्ति-ब्रह्म सायुज्य है। उस प्रकार मुक्तयधिकारी की कथा हो यहाँ कही गई है। कारण, श्रीनारद, ब्रह्म एवं श्रीकृष्ण का स्वरूप कीर्त्तन किये हैं, उस में ब्रह्म सम्बन्ध में मुक्ति एवं श्रीकृष्ण सम्बन्ध मे भक्ति होती है—इस प्रकार प्रार्थक्य अभिप्रेत है।

ब्रह्म—श्रीकृष्ण धाममय है, धाम-शब्द का अर्थ यहाँ ज्योति है। श्रीकृष्ण, सूर्य्य मण्डल स्थानीय हैं, ब्रह्म उनकी ज्योतिः स्वरूप हैं-ब्रह्मसंहिता ५।४० में उक्त है—

देवा आनमन्ति–मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च" इति: "यथा मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते" इति हि तद्भाष्यम्, ब्रह्मणा वदितुं स्थिरीभवितुं शीलमेषामिति ब्रह्मवादिनो मुक्ता इति,---(पाणिनिः ७।२।७) "वद स्थैर्य्ये" इति स्मरणात्, श्रीगीतोपनिषदश्च

---

"यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्ड कोटि कोटिष्वशेष वसुधादिविभूतिभिन्नम् ।
तद् ब्रह्म निष्कल मनन्त मशेष भूतं गोविन्दमा दपुरुषंतमहंभजामि ।।"

ब्रह्मसंहिता की टीका में उक्त है—द्वयोरेक रूपत्वेऽपि विशिष्ट तया आविर्भावात् गोविन्दस्य धर्म्मि रूपत्वम् । अविशिष्टतया आविर्भाचात् ब्रह्मणो धर्मरूपत्वं, ततः पूर्वस्य मण्डलस्थानीयत्वमिति भाव ।

गोविन्द एवं ब्रह्म, परमानन्द एक रूप होने पर भी विशिष्ट रूप में आविर्भूत होने के कारण, श्रीगोविन्द का धर्मिरूपत्व है, एवं निर्विशेष रूप में आविर्भाव हेतु ब्रह्म का धर्म रूपत्व है ।

ब्रह्म का प्रकाश सर्व्वत्र नहीं है, वैकुण्ठ के बाहर प्रकृति के परपार में ब्रह्म धाम विराजित है । वह ब्रह्म -निर्वीज--इन्द्रियग हैं । इन्द्रिय--ज्ञान स धन । उस का वीज--कारण, मायिक सत्त्व रजः गुण हैं । रजो गुण से दशेन्द्रिय एवं सत्त्व गुण से अन्तरिन्द्रिय मन उत्पन्न है । अतएव निर्वीज इन्द्रिय शब्द का अर्थ है–गुणातीत इन्द्रिय--ही ज्ञान प्राप्त करने का उपाय है । गुणातीत इन्द्रिय क्या है ? उत्तर, मुनिगण, मुक्त पुरुष में चिन्मात्र सत्ता को मानते हैं । सुतरां मुक्त पुरुष में सत्तातिरिक्त इन्द्रिय नहीं है, ऐसा होने पर--स्वरूप स्थित ज्ञानाश्रयता गुण ही ब्रह्म ज्ञान का साधन है । स्वरूप मात्रावशेष जीव, जिस के द्वारा निज स्वरूपानुभव करता है, उस स्वरूप सिद्ध ज्ञातृत्व शक्ति के द्वारा ही ब्रह्मानुभव लाभ भी करता है, यही निर्वीज इन्द्रिय है, अर्थात् ज्ञान लाभ का गुणातीत उपाय है । ब्रह्म, प्राकृत इन्द्रिय का अगोचर है, जीव का स्वरूप सिद्ध ज्ञातृत्व शक्ति के द्वारा ही मुक्त पुरुष गण तदीय अनुभव लाभ करते हैं ।

ब्रह्म—आत्मस्थं, अर्थात् निजस्वभाव में विद्यमान हैं, भगवान् जिस प्रकार भक्त वात्सल्यादि गुण के द्वारा विविध विरुद्ध धर्म का आश्रय हैं, एवं विविध लीला भी करते रहते हैं, ब्रह्म में तादृश किसी प्रकार वैशिष्ट्य वा वैचित्र्य नहीं है । सर्वदा स्वरूप मात्र में विराजित हैं । ब्रह्म--एवं श्रीकृष्ण में तारतम्य है, उस से उस का बोध सुस्पष्ट रूप से होता है, उस से ही मुक्त पुरुष किस रीति से भक्ति प्राप्त करते हैं--इस की धारणा भी होती है । ब्रह्म सायुज्य प्राप्त मुक्त पुरुष गण श्रीकृष्ण के गुणों से आकृष्ट होकर उनका भजन करते हैं, श्रीमद् भागवतीय में उस का सुस्पष्ट उल्लेख है—

"आत्मारामाश्च मुनयोनिर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतो गुणो हरि " (भा० १।७।१०)

अविद्या ग्रन्थिहीन, आत्माराम मुनिगण, उरुक्रम में अहैतुकी भक्ति करते रहते हैं । ऐसा ही श्रीहरि का गुण है ।

मुक्त पुरुष गण--भी भगवद् भजन करते हैं, अतः मुक्ति से भक्ति जो गरीयसी है, अद्वैत वाद का प्रवर्तक श्रीशङ्कराचार्य्य भी स्वकृत श्रीनृसिंह तापनी (५।२।४) "यं वै सर्वे देवा आनमन्ति, मुमुक्षवो ब्रह्म वादिनश्च" के भाष्य में उस प्रकार सम्मति प्रकाश किये हैं । श्रीनृसिंह तापनी की उक्ति है—जिनको समस्त देवता, मुमुक्षु एवं ब्रह्मवादिगण नमस्कार करते हैं । श्रीशङ्कर कृत भाष्य यह है "यथा मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते ।।" जिन्होंने ब्रह्म सायुज्य लाभ किया है, इस प्रकार मुक्त जीव भी भक्ति की अनुकम्पा से देह प्राप्त कर भगवान् का भजन करते हैं ।

उक्त श्रुति में लिखित ब्रह्मवादि पद का अर्थ आचार्य्य के मत में 'मुक्त कैसे हुआ, उस को दर्शाते हैं–

(गी० ७।१०)--"तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते" इति। अथ तस्याः परम-भगवदनुग्रहप्राप्यत्वे नारदपञ्चरात्रीय--जितन्ते--स्तोत्रं यथा—

"मोक्ष-सालोक्य–सारूप्यान् प्रार्थये न धराधर । इच्छामि हि महाभाग कारुण्यं तव सुव्रत ।।"११४।।

पुरुषार्थान्तर-तिरस्कारे हयशीर्षीय-श्रीनारायणव्यूहस्तवः—

"न धर्म्मं काममर्थं वा मोक्षं वा वरदेश्वर । प्रार्थये तव पादाब्जे दास्यमेवाभिकामये ।।११५।।

पुनः पुनर्वरान् दित्सुर्विष्णुर्मुक्तिं न याचितः । भक्तिरेव वृता येन प्रह्लादं तं नमाम्यहम् ।।११६।।

यदृच्छया लब्धमपि विष्णोर्दाशरथेस्तु यः । नैच्छन्मोक्षं विना दास्यं तस्मै हनुमते नमः ।।११७।। इति ।

---

यह सब ब्रह्म कर्त्तृक स्थिरी भाव प्राप्त हो सकते हैं, तज्जन्य यह ब्रह्मवादी 'मुक्त' हैं। कारण, (पानिनि ७।२।१७) "वद स्थैर्य्ये "कहे हैं। अतः वद धातु का स्थैर्य्य अर्थ है । ऋषि कृत शास्त्र को स्मृति कहते हैं। श्रीभगवद् गीता ७।१७ में उक्त है—"तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्ति र्विशिष्यते" श्रीकृष्ण, अर्जुन को कहे थे—"आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी एवं ज्ञानी, इन चतुर्विध भक्तों के मध्य में नित्ययुक्त एक निष्ठ ज्ञानी उत्कृष्ट है। इस से मुक्त पुरुष में भगवद् भक्ति श्री कथा सुस्पष्ट प्रकाशित हुई है। श्रीधर स्वामिकृत 'ज्ञानी' पद का अर्थ–आत्मवित् है, आचार्य्य श्रीशङ्करकृत अर्थ–'विष्णोस्तत्त्ववित्च' एतदुभय अर्थ से ही ज्ञानी' पद से जीवन्मुक्त का बोध होता है श्रीबलदेव विद्याभूषण के मत में ज्ञानि शब्द का अर्थ यहाँ शुकादि हैं।

सुतरां ज्ञानी--जीवन्मुक्त है। इस प्रकार अर्थ समीचीन है। श्रीधर स्वामिकृत व्याख्या में उक्त है--ज्ञानि वृन्द के देहाद्यभिमान के अभाव हेतु चित्त विक्षेपाभाव निबन्धन उन में नित्य युक्तत्व एवं एकान्त भक्तत्व होना सम्भव है। इस व्याख्या के अनुसार ज्ञानीपद से 'मुक्त जीव' अर्थ होना असङ्गत नहीं है। इस से मुक्ति से भी भक्ति की श्रेष्ठता सुनिश्चित हुई है।

विश्वनाथ चक्रवर्त्ती के मत में—"चतुर्णां भक्त्याधिकारिणां मध्ये कः श्रेष्ठः न इत्यपेक्षायामाह। तेषां मध्ये ज्ञानी विशिष्यते श्रेष्ठः। नित्य युक्तः, नित्यं मयि युज्यते इति सः। ज्ञानाभ्यास वशीकृत चित्तत्वात् मनस्येकाग्रचित्त इत्यर्थः। आर्त्ताद्यास्त्रयस्तु नैवंभूता इति भावः। ननु सर्वोऽपि ज्ञानी, ज्ञान वैयर्थ्यभयात् त्वां भजते, एव। तत्राह, एका मुख्या प्रधानीभूता भक्तिरेव, तत्रैवासक्तिमत्त्वात् यस्य सः, न म मात्रेणैव ज्ञानीति भावः। एवम्भूतस्य ज्ञानिनोऽहं श्यामसुन्दराकारोऽत्यर्थमति शयेन प्रियः। साधन साध्यवशयोः परिहातुमशक्यः। "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इति न्यायेन ममापि सः प्रियः।।१७।।

अनन्तर भक्ति जो श्रीभगवान् की अतिशय कृपा से मिलती है, उस का वर्णन नारद पञ्चरात्रीय जितन्त स्त्रोत्र के द्वारा करते हैं—"मोक्ष--सालोक्य--सारूप्यान् प्राथयेन धराधर। इच्छामिहि महाभाग कारुण्यं तव सुव्रत।।"११४।।

हे धराधर ! सालोक्य सारूप्य प्रभृति मुक्ति को नहीं चाहता हूँ। हे महाभाग ! हे सुव्रता आप का कारुण्य का अभिलाषी हूँ।

अन्य पुरुषार्थ तिरस्कार के विषय में हयशीर्षीय श्रीनारायण व्यूहस्तव में लिखित है—

"न धर्मं काममर्थं वा मोक्षं वा वरदेश्वर ।
प्रार्थये तव पादाब्जे दास्यमेवाभि कामये ।।११५।।

पुनः पुनर्वरान् दित्सु र्विष्णुर्मुक्ति न याचितः ।
भक्तिरेव वृता येन प्रह्लादं तं नमाम्यहम् ।।११६।।

पुनर्जितन्ते-स्तोत्रञ्च—

"धर्मार्थ-काम-मोक्षेषु नेच्छा मम कदाचन। त्वत्पादपङ्कजस्याधो जीवितं दीयतां मम॥"११८॥ इति

न च तादृश-भगवत्प्रीत्या तत्तत्पुरुषार्थतिरस्कारोऽद्भुत इव, (भा० ५।१८।१२) "यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना, सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः" इति भक्तिस्वाभाविकभूत-कारुण्य-गुणेनाप्यसौ श्रूयते, यथाह (भा० ९।२१।१२) —

(३२) "न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परा-,मष्टर्द्धि युक्तामपुनर्भवं वा।
आर्त्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा,-मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥"११९॥

स्पष्टम्। न चात्र यथा दयावीरस्यास्य दयामात्रेणाप्यपरित्यागः, न तु सारासारत्वज्ञानेन,

---

यदृच्छया लब्धमपि विष्णोर्दाशरथेस्तु यः।
नैच्छन्मोक्षं विना दास्यं तस्मैहनुमते नमः॥"११७॥

हे—वरदेश्वर! तुम्हारे चरण कमल में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्रार्थना नहीं करता हूँ। सर्वतोभावेन दास्य प्रार्थना ही कहता हूँ। विष्णु पुन पुनः वर प्रदानेच्छु होने परभी जिन्होंने मुक्ति प्रार्थना नहीं की है, भक्ति वर ही ग्रहण किये थे, उन प्रह्लाद को मैं प्रणाम करता हूँ। स्वतन्त्र रूप से प्राप्त होने पर भी जिन्होंने दशरथ नन्दन विष्णु से दास्य भिन्न मोक्ष प्रार्थना नहीं की है, उन हनुमान् को नमस्कार करता हूँ। जितन्त स्त्रोत्र में उक्त है—

"धर्मार्थ-काम-मोक्षेषु नेच्छा मम कदाचन।
त्वत्पादपङ्कजस्याधो जीवितं दीयतां मम॥११८॥

धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष विषय में कभी भी मेरी इच्छा नहीं है। तुम्हारे चरण कमल के तलदेश में मुझ को जीवातु प्रदान करो॥

तादृश भगवत् प्रीति के द्वारा धर्मार्थ काममोक्षरूप पुरुषार्थ का तिरस्कार, किसी अद्भुत व्यापार के समान नहीं है, कारण, भा० ५।१८।२२ में उक्त है—

"यस्यास्तिभक्ति र्भगवत्यकिञ्चना, सर्वैर्गुणैस्तत्रसमासते सुराः॥"

जिस की अकिञ्चना भक्ति भगवान् में है, समस्त गुण के सहित समस्त देव गण उस के समीप में वशीभूत होकर रहते हैं। सुतरां निखिल सद्गुणशाली भक्त के निकट धर्म, अर्थ प्रभृति पुरुषार्थ का अनादर असम्भव नहीं है। भक्त वृन्द--भगवद् दत्त गुण के द्वारा अत्यन्त उदार होते हैं, अतएव भक्ति का स्वभाव सम्भूत जीव के प्रति दया गुण है, उस के द्वारा भी मोक्ष तिरस्कृति की वात सुनने में आती है। भा० ९।२१।१२ में उक्त है—

(३२) "न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्त्ति प्रपद्येऽखिलदेह भाजामन्तः स्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥"११९॥

टीका—पर दुःखासहिष्णुतयासर्वेषां दुःखं स्वयं भोक्तुमाशास्ते नेति। अणिमाद्यष्ट समृद्धि युक्तां गतिमपि मोक्षमपि वा अहं न कामये। तर्हि किं कामयसे? तदाह—अखिल देहभाजामार्त्ति दुःखं तद् भोक्तृ रूपेणान्तः स्थितः सन् अहं प्रपद्ये—प्राप्नुयामित्येवं कामये। येन तद् दुःखभोक्त्रामया हेतु भूतेन ते सर्वेऽदुःखा भवन्ति॥

रन्तिदेव कहे थे—परमेश्वर के निकट, अष्ट सिद्धि समन्वित गति, किंवा मुक्ति को भी नहीं चाहता

तथा उपस्थित-महार्थपरित्यागित्वाद्दानवीराणां तेषामपि भगवत्प्रीतिजेनोत्साहमात्रेणेत्याशङ्क्यम्, सर्वतत्त्वानुभविनां परमार्थैकनिष्ठाग्रहाणां श्रीशुकदेवादीनामपि तत्रोदाहृतत्वात्। तस्मादस्त्येव श्रीभगवत्प्रीतेः सर्वस्मादप्यपवर्गादुपादेयत्वम् ।। श्रीरन्तिदेवः ।।

३३। अतएवान्येषामपि वैदिकानां साधनानां सैव मुख्यं फलमिति निर्दिशति (भा० ३।९।४१)

(३३) "पूर्त्तेन तपसा यज्ञैर्दानैर्योगैः समाधिना।
राद्धं निःश्रेयसं पुंसां मत्प्रीतिस्तत्त्वविन्मतम् ।।"१२०।।

टीका च—"न च मत्प्रीतेरप्यधिकं किञ्चिदस्तीत्याह–पूर्त्तादिभी राद्धं सिद्धं यन्निःश्रेयसं फलम्, तन्मत्प्रीतिरेवेति तत्त्वविदां मतम्" इत्येषा। अन्यत्तु फलमतत्त्वविदां मतमिति भावः। तत्र तेषां साधनत्वञ्च भक्तिद्वारेति ज्ञेयम्।

३४। तदेवं कथं तत्त्वविदां मतम् ? तत्राह (भा० ३।९।४२)—

---

हूँ, मेरी प्रार्थना यह है—मैं जैसे मायामुग्ध जीवगण के मध्यवर्त्ती होकर समस्त देही का दुःख को प्राप्तकर सकूँ, जिस से सब का दुःख विदूरित होगा।"

श्लोक का अभिप्राय यह है—इस श्लोक में जिस प्रकार दयावीर, रन्तिदेव, केवल दयालु होकर अन्य सब को परित्याग करने के इच्छुक हुये थे, सारासारत्व का विचार करके नहीं उस प्रकार उपस्थित पुरुषार्थ परित्याग हेतु दानवीर, भक्ति वृन्द के पक्ष में भी भगवत् प्रीति हेतु उत्साह मात्र ही से ही मोक्ष के प्रति उपेक्षा होती है, इस प्रकार आशङ्का नहीं की जा सकती है। कारण, सर्व तत्त्वानुभव निपुण पारमार्थिक निष्ठा सम्पन्न श्रीशुकदेव प्रभृतिको भी दृष्टान्त रूपमें उपस्थित किया गया है। सर्वतत्त्वानुभविनां परमार्थैक निष्ठा ग्रहाणां------श्रीशुकदेवादीनाम्—इस प्रकार विशेषणाक्रान्त रूप से उनसबों का उल्लेख हेतु उन सब के आचरण से सुसिद्ध होता है कि---सर्व प्रकार मुक्ति से भी भगवत् प्रीति उपादेय है।

श्रीरन्तिदेव कहे थे--३२।।

३३। अतएव अन्यान्य वैदिक साधनों का मुख्य फल भगवत् प्रीति ही है। उस का निर्देश भा० ३।९।४२ के द्वारा करते हैं—

(३३) "पूर्त्तेन तपसा यज्ञैर्दानैर्योगैः समाधिना।
राद्धं निःश्रेयसं पुंसां मत् प्रीतिस्तत्त्वविन्मतम् ।।"१२०।।

श्रीगर्भोदकशायी ब्रह्मा को कहे थे—पूर्त्त जलाशय (खननादि) तपस्या, यज्ञ, दान, योग एवं समाधि द्वारा जो निःश्रेयससिद्ध होता है, वह मुझ भगवान् प्रीति है। यही तत्त्व वेत्ताओं का मत है।

श्रीधर स्वामिकृत टीका। मेरी प्रीति व्यतीत, अधिक और कुछ भी नहीं है, इस अभिप्राय से कहते हैं, पूर्त्तादिका जो निःश्रेयस—फल है, वह-मद्विषयिणी प्रीति है। यही तत्त्व विद् गण का मत है। अन्य जो सब स्वर्गादि फल रूप सिद्धि की कथा कही गई है, वह सब अतत्त्वज्ञ व्यक्ति सम्मत हैं। उस में भी पूर्त्तादि का साधनत्व भक्ति के द्वारा ही होता है। अर्थात् साधन भक्ति के द्वारा ही प्रेम भक्ति का आविर्भाव होता है। किन्तु पूर्त्तादि कर्म एवं योगादि का फल भगवत् प्रीति नहीं है, काम्य कर्म्मादि भी भक्ति का साधन नहीं हैं, यदि भक्ति का साहचर्य्य लाभ उन सब को होता है तो—भगवत् प्रीति आविर्भाव साधन में वे समर्थ होते हैं, वह सब साधन की अवलम्बन रूपा भक्ति के द्वारा ही प्रेम साध्य होता है, अर्थात् प्रेम का

(३४) "अहमात्मात्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि ।
अतो मयि रतिं कुर्य्याद्देहादिर्यत्कृते प्रियः ।।"१२१।।

आत्मनां रश्मिस्थानीयानां शुद्धजीवानामपि आत्मा मण्डलस्थानीयः परमात्माहम्, (भा० १०।१४।५५) "कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्" इति च वक्ष्यते । अतः प्रेयसामात्मनामपि प्रेष्ठः सन् निरवद्यः, येषामात्मनां कृते देहादिरर्थोऽपि प्रियो भवति कुर्य्यात् सर्व्व एव कर्त्तुमर्हतीत्यर्थः। ततो मदज्ञानदोषेणैव न करोतीति भावः ।। श्रीगर्भोदशायी ब्रह्माणम् ।।

३५ । अतएव शुद्धप्रीतिमत एव सर्वतः श्रैष्ठ्यमाह (भा० ६।१४।३-५)—

(३५) "रजोभिः समसंख्याताः पार्थिवैरिह जन्तवः ।
तेषां ये केचनेहन्ते श्रेयो वै मनुजादयः ।।१२२।।
प्रायो मुमुक्षवस्तेषां केचनैव द्विजोत्तम ।

---

आविर्भाव होता है । इस प्रकार समझना चाहिये ।।३३।

३४ । तत्त्ववेत्ताओं का मत क्यों उस प्रकार है ? भा० ३।९।४२ के द्वारा उस को कहते हैं ।

(३४) "अहमात्मात्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि ।
अतो मयि रतिं कुर्य्याद् देहादिर्यत्कृते प्रियः ।।"१२१।।

टीका—अत्र हेतुमाह अहमिति । आत्मनाम् अहङ्कारोपाधीनां जीवानां आत्मा । अतः 'प्रेयसामति प्रियाणामपि मध्ये प्रेष्ठः प्रियतमः । सन् निरवद्यः । यत् कृते—यदर्थम् ।

हे विधातः! मैं आत्मा समूह का आत्मा हूँ—अतिप्रिय हूँ । जिस के सम्बन्ध से देहादि प्रिय होते हैं, उन सबो के मध्य में मैं प्रियतम हूँ । अतएव मुझ में प्रीति करना कर्त्तव्य है । सन्दर्भ की श्लोक व्याख्या—आत्मा समूह के सूर्य्यरश्मिवत् रश्मि स्थानीय शुद्ध जीव वृन्द का आत्मा--सूर्य मण्डलवत् मण्डलस्थानीय परमात्मा मैं हूँ । श्रीशुकदेव—महाराज परीक्षित् को कहे थे—'तुम श्रीकृष्ण को, अखिल देही का आत्मा रूप में जानो । भा० १०।१४।५५ 'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।।" इस वाक्य प्रमाण के द्वारा आत्म शब्द का 'परमात्मा' सुसङ्गत है । अतएव अतिप्रिय आत्मा 'जीवात्मा' समूह का प्रियतम होकर परमात्मा निरवद्य—निर्द्दोष है । उन आत्मा समूह के निमित्त ही देहादि प्रिय होते हैं, 'मुझ में प्रीति करनी चाहिये' इस प्रकार कहने का अभिप्राय यह है कि—मैं निरवद्य प्रिय होने के कारण, सब व्यक्ति मुझ को प्रीति कर सकते हैं । केवल मेरे सम्बन्ध में अज्ञता दोष निबन्धन उस प्रकार कर नहीं सकते हैं ।

श्रीगर्भोदशायी ब्रह्मा को कहे थे ।।३४।।

### प्रीतिमान व्यक्ति का श्रेष्ठत्व ।

३५ । अतएव अपवर्ग समूह के मध्य में प्रीति का परमोत्कर्ष हेतु, शुद्ध प्रीति मान् व्यक्ति का श्रेष्ठत्व है । भा० ६।१४।३–५ में उक्त है—

(३५) "रजोभिः समसंख्याताः पार्थिवैरिह जन्तवः ।
तेषां ये केचनेहन्ते श्रेयो वै मनुजादयः ।।"१२२।।
प्रायो मुमुक्षवस्तेषां केचनैव द्विजोत्तम ।

मुमुक्षूणां सहस्रेषु कश्चिन्मुच्येत सिध्यति ॥१२३॥
मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः ।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥"१२४॥

श्रेयः परलोकसुखसाधनं धर्म्मादि, मुच्येत जीवन्मुक्तो भवति । जीवन्मुक्तस्य च यस्य भगवदाद्यपराधो दैवान्न स्यात्, स एव सिद्धचति, तत्तल्लक्षणामन्तिमां मुक्तिं प्राप्नोति, (भा० १०।२।३२) "आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः, पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः"

"जीवन्मुक्ताः प्रपद्यन्ते पुनः संसारवासनाम् । यद्यचिन्त्यमहाशक्तौ भगवत्यपराधिनः ॥"१२५॥
"नानुव्रजति यो मोहाद्व्रजन्तं परमेश्वरम् । ज्ञानाग्निदग्धकर्म्मापि स भवेद्ब्रह्मराक्षसः ॥"१२६॥

---

मुमुक्षूणां सहस्रेषु कश्चिन्मुच्येत सिध्यति ॥१२३॥
मुक्तानामपि सिद्धानां नारायण परायणः ।
सुदुर्ल्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥"१२४॥

टीका—भक्तेर्दुर्ल्लभत्वं दर्शयति--त्रिभिः-पार्थिवै रजोभिः परमाणुभिः समाः संख्याता अनन्ताः इत्यर्थः । जन्तवो जीवाः । तेषांमध्ये केचन-कतिपये । श्रेयो धर्म मीहन्ते कुर्वन्ति । मुच्येत---गृहादि सङ्गान्मुच्यते । सिद्धचति,-तत्त्वं जानाति ।

महाराज परीक्षित को कहे थे—पृथिवी की रजः-अर्थात् परमाणु के समान जीव की संख्या असंख्य है । उस के मध्य में मनुष्यादि अल्प संख्यक हैं । उस में भी कतिपय मनुष्य श्रेयः अर्थात् धर्म सम्बन्ध में सचेष्ट होते हैं ।

हे द्विज श्रेष्ठ ! उस के मध्य में अल्प व्यक्ति मोक्षाभिलाषी होते हैं, । सहस्र सहस्र मोक्षाभिलाषी के मध्य में विरल मुक्त होता है, एवं सिद्ध होता है । हे महामुने ! कोटि कोटि मुक्त एवं सिद्ध के मध्य में भी नारायण परायण प्रशान्तात्मा अतिदुर्ल्लभ है । श्लोकों की व्याख्या । श्रेयः--पर लोक के सुख साधन धर्म प्रभृति । मुक्ति- जीवन्मुक्ति । जिस जीवन्मुक्त का श्रीभगवान् के निकट अपराध नहीं होता है—वह सिद्ध होता है । अर्थात् सालोक्यादि लक्षण विशिष्टा अन्तिमा मुक्ति को प्राप्त करता है । अपराध होने पर जीवन्मुक्त को भी अधोगतिलाभ होता है । भक्तिसन्दर्भ में इस का विस्तृत विवेचन है । भा० १०।२।३२ में उक्त है— आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥"

देवकी के गर्भस्थित श्रीकृष्ण को लक्ष करके देवगण एवं ऋषि गण कहे थे—अतिशय क्लेश से जीवन्मुक्तिरूप श्रेष्ठपद को प्राप्त करके भी यदि आप के चरणों को अनादर करता है तो अवश्य ही अधोगति होती है । भक्ति सन्दर्भ के ११० – १२० अनुच्छेद में उक्त है—

"जीवन्मुक्ताः प्रपद्यन्ते पुनः संसार वासनाम् ।
यद्यचिन्त्यमहाशक्तौ भगवत्यपराधिनः ॥"१२५॥

"नानुव्रजति यो मोहाद् व्रजन्तं परमेश्वरम् ।
ज्ञानाग्नि दग्ध कर्म्मापि स भवेद् ब्रह्म राक्षसः ॥"१२६॥

यदि अचिन्त्य महाशक्ति श्रीभगवान् में अपराधी होता है, तो जीवन्मुक्त होने पर भी संसार वासना को प्राप्त करता है । रथयात्राप्रसङ्ग में उक्त है—श्रीजगदीश्वर के गमन समय में जो व्यक्ति अनुगमन नहीं

इत्यादि (११० अनु०, १२० अनु०) भक्तिसन्दर्भदर्शितप्रमाणवचनेभ्यः। तत्र जीवन्मुक्तानां सिद्धमुक्तानाञ्च याः कोटयस्तास्वपि (भा० १०।९।२१) "नायं सुखापो भगवान्" इत्यादेः, (भा० ५।६।१८) "मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्" इत्यतश्च नारायणपरायणः सुदुर्लभ एव, यतः स एव प्रशान्तात्मा प्रकृष्टभगवत्तत्त्वनिष्ठावरिष्ठ इत्यर्थः, (भा० ११।१९।३६) "शमो मन्निष्ठता बुद्धेः" इति श्रीभगवता स्वयं व्याख्यातत्वात्॥ राजा श्रीशुकम्॥

३६। अतएव (भा० २।१।७) –

"प्रायेण मुनयो राजन्निवृत्ता विधिषेधतः।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः॥"१२७॥

---

करता है। उस के कर्म समूह ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध होने पर भी वह ब्रह्म राक्षस होगा।"

असंख्य जीवों के मध्य में कदाचित् कोई मुक्त होता है, उस में जीवन्मुक्त एवं सिद्ध मुक्त गण की जो कोटि संख्या हैं, उनकेमध्य में भी भा० १०।९।२१ में उक्त "नायं सुखापोभगवान्" यह गोपिका सुत भगवान् सुख लभ्य नहीं हैं, भा० ५।६।१८ में उक्त है—भगवान् मुकुन्द ---मुक्ति प्रदान करते हैं, किन्तु कभी भक्तिदान नहीं करते हैं। इस वाक्य द्वय के प्रमाण से प्रतिपन्न होता है कि—नारायण परायण व्यक्ति परम दुर्लभ ही है। कारण, वही प्रशान्तात्मा निरतिशय भगवत्तत्त्व निष्ठा द्वारा श्रेष्ठ है। प्रशान्तात्मा पद का—भगवत्तत्त्व निष्ठ--अर्थ करने का हेतु प्रदर्शन करते हैं। जिस में प्रकृष्ट शम है, वही प्रशान्तात्मा है। श्रीभगवान् भा० ११।१९।३६ में कहे हैं—"शमोमन्निष्ठताबुद्धेः। मुझ में जो बुद्धि की निष्ठा है वही शम है॥"

राजा परीक्षित् श्रीशुक को कहे थे॥३५॥

३६। अतएव भगवत् प्रीति का श्रेष्ठत्व निबन्धन भा० २।१।७ में उक्त है—

"प्रायेण मुनयोराजन् निवृत्ता विधिषेधतः।
नैगुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः॥१२७॥
इद भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्
अधीतवान् द्वापरादौ पितुर्द्वैपायनादहम्॥
परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तम श्लोक लीलया
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्।

टीका—तत्र सदाचारं प्रमाणयति, प्रायेणेति। विधिसेधतः, विधिनिषेधाभ्यां निवृत्ताः, नैर्गुण्ये ब्रह्मणि स्थिता अपि, हरेर्गुणानुकथने कीर्त्तने रमन्ते। स्म-प्रसिद्धम्॥७॥ किमिदमपूर्वं कथयसि ? सत्यम्। अतः पूर्वमेवेदमित्याह। इदं भगवत् प्रोक्तं तन्नामैक प्रधानम्-पुराणं, ब्रह्म सम्मितं सर्ववेदतुल्यम्, यद्वा ब्रह्म सम्यङ्मितं येन। कुतस्त्वया प्राप्तम् ? अत आह, अधीत वर्णित—द्वैपायनात् पितुः। कदा ? द्वापरादौ--द्वापर आदिर्यस्य कालस्य तस्मिन् द्वापरान्ते इत्यर्थः। शन्तनुसमकाले व्या- ावतार प्रसिद्धेः॥८॥ सिद्धस्य तव कुतोऽध्ययने प्रवृत्तिः ? तत्राह परिनिष्ठितोऽपीति। गृहीत चेता आकृष्ट चित्तः॥९॥

श्रीशुकदेव, परीक्षित् महाराज को कहे थे--हे राजन्! जो सब मुनि, विधि निषेध से निवृत्त होकर गुणातीत ब्रह्म में अवस्थित हैं, वे भी श्रीहरि के गुण कीर्त्तन में प्रीति करते हैं।

यह भागवत नामक पुराण, परम ब्रह्म तुल्य है, द्वापर युग के अन्तिम समय में पिता कृष्ण द्वैपायन के निकट से मैंने इस को अध्ययन किया है। मूल में 'द्वापरादौ' लिखित है, द्वापर आदि में है जिस का

इत्यादित्रयेणात्मारामश्रेष्ठानां भक्तिं प्रदर्श्य तदभाववतां निन्दा, (भा० २।३।२४) "तदश्मसारं हृदयं वतेदम्" इत्यादिना । अतएवाह (भा० ७।१३।२३) —

(३६) "अथापि ब्रूमहे प्रश्नांस्तव राजन् यथाश्रुतम् ।
सम्भाषणीयो हि भवानात्मनः शुद्धिमिच्छता ॥"१२८॥

---

इस अर्थ में ही 'द्वापरादौ' शब्द का प्रयोग होगा है । सुतरां उस से द्वापर का शेष--सन्ध्यांश का बोध होता है । प्रथम द्वापर का बोध नहीं होता है ।

हे राजर्षे ! मैं निर्गुण ब्रह्म में सर्वतोभावेन निष्ठाशील था । किन्तु उत्तम श्लोक श्रीभगवान् की लीला के द्वारा मेरा चित्त आकृष्ट हुआ, तज्जन्य मैंने इस आख्यान रूप श्रीमद् भागवत को अध्ययन किया । उक्त श्लोकत्रय के द्वारा आत्माराम श्रेष्ठों की भक्तिको दर्शाकर भक्तिहीन व्यक्ति की निन्दा भा० २।३।२४ ।

"तदश्मसारं हृदयं वतेदं, यद् गृह्यमानै र्हरिनामधेयैः,
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलंगात्ररुहेषु, हर्षः ॥"

श्रीशौनक श्रीसूत को कहे थे– श्रीहरिनाम कीर्त्तन करने से भी जिस हृदय में विक्रिया उपस्थित नहीं होती है, नयनों में जल एवं रोमाञ्च–हृदय विक्रिया का लक्षण है । अनेक बार श्रीहरिनाम ग्रहण करने पर भी चित्तद्रव न होना नामापराध का चिह्न है । किन्तु जानना होगा कि– अश्रु पुलक को देखकर चित्त द्रव का अनुमान सत्य नहीं होता है । कारण, श्रीरूप गोस्वामी के मत में पिच्छिल चित्त में एवं प्रतिष्ठा कामी अर्थ लिप्सु, नट में अस्वच्छ चित्त होने पर भी अभ्यास के कारण उक्त अश्रु पुलक दृष्ट होते हैं । उस प्रकार अति गम्भीर चित्त महानुभव भक्त में श्रीहरिनाम द्वारा चित्त द्रव होने पर भी बाहर अश्रु पुलक दृष्ट नहीं होते हैं । अतएव उक्त श्लोक की व्याख्या इस प्रकार करनी होगी । जब विकार होता है, तब हृदय में विक्रिया यदि नहीं होती है, तो वह हृदय लौहवत् कठिन है, वह विकार क्या है ? कहते हैं-- नयनों में जल इत्यादि । अतएव बाहर अश्रु पुलक वर्त्तमान होने पर हृदय में विक्रिया उपस्थित नहीं होती है, वह हृदय लौहवत् कठिन है । हृदय विक्रिया का साधारण लक्षण यह है– क्षान्ति, अव्यर्थ कालत्व, विरक्ति, मान शून्यता, आशाबद्ध, समुत्,कण्ठा, सर्वदा नाम गान में रुचि, भगवद् गुण कीर्त्तन में आसक्ति भगवद् वसति स्थान में अर्थात् श्रीवृन्दावनादि तीर्थ स्थान में प्रीति, जिन में प्रीति उत्पन्न होती है, उन में यह सब लक्षण दृष्ट होते हैं । अश्रु पुलक प्रभृति साधारण चिह्न हैं ।

तात्पर्य्य यह है कि—मात्सर्य्य दोष विहीन उत्तमाधिकारि व्यक्तिगण,—नाम ग्रहण के द्वारा ही माधुर्य्यानुभव कर सकते हैं । ऐसा होने पर हृदय में विक्रिया एवं विक्रिया व्यञ्जक क्षान्ति प्रभृति के सहित अश्रु पुलक दृष्ट होते हैं । कनिष्ठाधिकारी एवं समत्सर सापराध व्यक्तिगण– पुनः पुनः निरन्तर श्रीहरिनाम ग्रहण करके भी भगवन्माधुर्य्यानुभव के अभाव हेतु चित्त विक्रिया युक्त नहीं होते हैं । एवं विक्रिया व्यञ्जक क्षान्त्यादि भी उपस्थित नहीं होते हैं । अश्रु पुलकादि विद्यमान होने पर भी हृदय लौहवत् कठिन होने के कारण निन्दा की गई है । साधुसङ्ग द्वारा क्रमशः अनर्थ निवृत्ति एवं रुचि प्रभृति का उदय होने पर चित्त द्रव होने से चित्त काठिन्य विदूरित होता है । और जिस का चित्त द्रव होने पर भी चित्त कठिनता विदूरित नहीं होती है, अर्थात् क्षान्त्यादि का लक्षण प्रकाशित नहीं होता है । उस का वह काठिन्य दुश्चिकित्स्य व्याधि के समान है ।

अतएव प्रीतिमान् भक्त का श्रेष्ठत्व निबन्धन--भा० ७।१३।२३ में उक्त है—

शुद्धि शुद्धभक्तिवासनारूपाम् ।। श्रीदत्तात्रेयः श्रीप्रह्लादम् ।।

३७। अतएव (भा० ११।१४।२४)—

(३७) "वाग्गद्गरा द्रवते यस्य चित्तं, रोदित्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च, मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ।।"१२९।।

स्पष्टम् ।।

३८। तथा (भा० ११।१३।१६)—

(३८) "निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ।।"१३०।।

---

(३६) "अथापि ब्रूमहे प्रश्नांस्तव राजन् यथाश्रुतम् ।
सम्भाषणीयो हि भवानात्मनः शुद्धिमिच्छता ।।"१२८।।

टीका—यथा श्रुतमिति—औद्धत्य परिहारायोक्तम् ।

श्रीदत्तात्रेय श्रीप्रह्लाद को कहे थे—श्रीभगवान् हृदयस्थ होकर अज्ञान विदूरित करने पर भी हे राजन् ! तुमने जो प्रश्न किया है, उसके सम्बन्ध में मैंने जो कुछ सुना है, तुम्हारे निकट उस को कहता हूँ । जो व्यक्ति अपने को शुद्ध करने के इच्छुक है, उस के पक्ष में तुम्हारे सहित सम्भाषण करना परम कर्त्तव्य है । यहाँ 'शुद्धि' शब्द से शुद्ध भक्ति वासनारूप शुद्धि को जानना होगा ।

तात्पर्य्य यह है कि परमहंस श्रीदत्तात्रेय अजगर व्रत अवलम्बन करके सब प्रकार से लोकापेक्षा वर्जन किये थे । आपने श्रीप्रह्लाद के सहित सम्भाषण करके दिखाया कि शुद्ध भक्ति लाभ हेतु भक्त सम्भाषण करना जीवनमुक्त व्यक्ति का भी कर्त्तव्य है । इस से मुक्ति से भगवत् प्रीति का श्रेष्ठत्व व्यञ्जित हुआ है । कारण, शुद्धा भक्ति ही भगवत् प्रीति है ।

श्रीदत्तात्रेय श्रीप्रह्लाद को कहे थे ।।३६।।

३७। अतएव भा० ११।१४।२३ में लिखित है—

(३७) 'वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं, रोदित्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च, मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ।।"१२९।।

टीका—किञ्च भक्तिः स्वाश्रयं शोधयतीति किं वक्तव्यं यतो गद्गद वागादि लक्षणो मद्भक्ति युक्तो लोकं सर्वं पुनातीत्याह वागिति ।

भगवद् भक्त के सहित सम्भाषण से शुद्धभक्ति का आविर्भाव होता है, अतः श्रीकृष्ण कहे हैं— जिस की वाणी गदगद्, चित्त द्रवीभूत जो वारम्बार रोदन करता है, हास्य करता है, कभी लज्जा त्याग कर उच्चैःस्वर से गान करता है, इस प्रकार मद्भक्ति युक्त व्यक्ति भुवन को पवित्र करता है ।।२७।।

२८। उसी प्रकार भा० ११।१४।१६ में उक्त है—

(३८) "निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ।।"१३०।।

टीका—पूयेय—मदन्तर्वर्त्ति ब्रह्माण्डानि पवित्री कुर्य्यामितिभावेनेत्यर्थः ।

उस प्रकार श्रीकृष्ण ही कहे हैं—"निरपेक्ष, शान्त, निर्वैर, समदृष्टि सम्पन्न मुनि का अनुगमन करके उनके चरण धूलि समूह द्वारा अपने को पवित्र करता हूँ ।

निरपेक्षं निष्किञ्चनभक्तम्, अतएव शान्तं क्षोभरहितमतएवान्यत्र निर्वैरं समदर्शनञ्च हेयोपादेयभावनारहितं मुनिं श्रीनारदादिमनुव्रजामि । यतस्तस्य तादृशनिष्कपटभक्तिमयसाधुत्व दर्शनेन ममापि तत्र भक्ति-विशेषो जायते । कथं गोपनीय इत्याह-पूयेयेति । मद्भक्तयनिष्कृति-दोषात् पवित्रितः स्यामिति भावेनेति भावः ।। श्रीभगवान् ।।

३९ । अतएवाह (भा० ७।४।३६)—

(३९) "गुणैरलमसंख्येयैर्माहात्म्यं तस्य सूच्यते ।
वासुदेवे भगवति यस्य नैसर्गिको रतिः ।।"१३१।।

तस्य श्रीप्रह्लादस्य ।। श्रीशुकः ।।

४० । तस्मात् प्रीतेरेव पुरुषार्थश्रेष्ठत्वं सिद्धम्, यथाहुर्गद्येन (भा० ६।९।३८)—

(४०) "अथ ह वाव तव महिमामृत-रस-समुद्र-विप्रुषा सकृदपि लीढ़या स्वमनसि निस्यन्दमानानवरतसुखेन विस्मारित-दृष्ट-श्रुत-विषयसुखलेशाभासाः परमभागवता एकान्तिनो

---

निरपेक्ष शब्द का अर्थ है — निष्किञ्चन भक्त, अतएव शान्त-क्षोभ रहित, एतज्जन्य—अन्यत्र वैरभाव वर्जित, समदृष्टि—हेय उपादेय भावना रहित, मुनि—श्रीनारद प्रभृति, मैं इन सब के पश्चाद् गमन करता रहता हूँ । कारण, श्रीनारद प्रभृति की तादृश अकपट भक्तिमय साधुता को देखकर उन के प्रति मेरी भी भक्ति होती है, इस वृत्तान्त को गोपन कैसे करूँ ? इस अभिप्राय से ही श्रीकृष्ण कहे हैं— चरण रेणु समूह द्वारा 'पवित्र होता हूँ' इस का तात्पर्य्य यह है कि—मुझ को जो अहैतुकी भक्ति करते हैं, मैं उस का प्रतिदान करने में अक्षम हूँ, इस दोष से पवित्र होने की इच्छा से भक्त का पश्चाद् गमन पूर्वक चरण धूलि से भूषित होता हूँ ।
श्रीभगवान् कहे थे ।।३८।।

३९ । अतएव भा० ७।४।३४ में कथित है—

(३९) "गुणैरलमसंख्येयैर्माहात्म्यं तस्य सूच्यते ।
वासुदेवे भगवति यस्य नैसर्गिकी रतिः ।।"१३१।।

श्रीशुक, परीक्षित् को कहे थे — भगवान् वासुदेव में जिनकी स्वाभाविकी रति है, उन प्रह्लाद के असंख्य गुणों का वर्णन करने में कौन सक्षम होगा ? मैंने उन का माहात्म्य की सूचना मात्र की है ।

तस्य शब्द से श्रीप्रह्लाद का इस प्रकार अर्थ जानना होगा । प्रवक्ता श्रीशुक हैं ।।३९।।

४० । उक्त प्रमाण समूह के द्वारा शुद्ध प्रीतिमान् व्यक्ति का उत्कर्ष हेतु प्रीति का परम पुरुषार्थता सिद्ध हुआ । भा० ६।९।३८ में उस का वर्णन है ।

(४०) "अथ ह वाव तव महिमामृत-रस समुद्र-विप्रुषा सकृदपि लीढ़या स्वमनसि निस्यन्दमाना-नवरतसुखेन विस्मारित-दृष्ट-श्रुत-विषयसुखलेशाभासाः परमभागवता एकान्तिनो भगवति सर्व्व-भूतप्रिय-सुहृदि सर्व्वात्मनि नितरांनिर्वृतमनसः कथमु ह वा एते मधुमथन ! पुनः स्वार्थकुशला ह्यात्मप्रियसुहृदः साधवस्त्वच्चरणाम्बुजसेवां विसृजन्ति, न यत्र पुनरयं संसारपर्य्यावर्त्तः ।।"

टीका—"तदेवं विरोधं परिहृत्य निश्चित्य परमार्थमाहुः । स एव हि यो नाना रूपेण प्रतीतः वस्तु स्वरूपः सद्रूपः सर्वेषां गुणानां विषयाणामाभासैः प्रकाशरूपलक्षितः । ननु तर्हि जीव एव उपलक्ष्यते ? न सर्व प्रत्यगात्मत्वात्, सर्व जीवान्तर्यामित्वात् । जड़ तादात्म्याध्यासेन जीवस्यापि जड़ प्रायत्वात् न तेन विना

भगवति सर्व्वभूतप्रियसुहृदि सर्व्वात्मनि निरतनिर्वृतमनसः कथमु ह वा एते मधुमथन ! पुनः स्वार्थकुशला ह्यात्मप्रियसुहृदः साधवस्त्वच्चरणाम्बुजसेवां विसृजन्ति, न यत्र पुनरयं संसार-पर्य्यावर्त्तः" इति ।

सकृदपीति (भा० ७।१५।३५) "चित्तं ब्रह्मसुखस्पृष्टं नैवोत्तिष्ठेत कर्हिचित्" इतिवदत्रापि सूचितम् । आत्मा त्वमेव प्रियः सुहृच्च येषां ते ।। देवाः श्रीपुरुषोत्तमम् ।

४१ । अतएवाह (भा० १।५।१८-१९) —

(४१) "तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो, न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्य्यधः ।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं, कालेन सर्व्वत्र गभीररंहसा ।।१३२।।
न वै जनो जातु कथञ्चनाव्रजे-,न्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम् ।
स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुन-,र्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो जनः ।।"१३३।।

स्पष्टम् ।। श्रीनारदः ।।

---

प्रकाश इति भावः । पर्य्यवशेषितः नेतिनेतीत्यादिना ।।"

देवगण श्रीपुरुषोत्तम को कहे थे—हे मधु मथन ! आप सत्स्वरूप सर्वान्तर्य्यामी परमेश्वर हैं, अतः यह सब एकान्ती परम भागवत आप के पाद पद्म की निरन्तर सेवा को कैसे परित्याग कर सकते हैं ? कारण, यह सब परमार्थ विचार में निपुण हैं। एतज्जन्य आत्मा, निरुपाधि प्रियतम स्वरूप आप को यह सब प्रिय एवं सुहृत् मानते हैं, सुतरां यह सब साधु हैं, अर्थात् रागादि शून्य हैं। कारण, आप की महिमा--अमृत समूद्र है। उसका एक विन्दु आस्वादित होने पर मनोमध्य में जो निरन्तर प्रेमानन्द प्रवाहित होता है। उस से नयन कर्णादि इन्द्रिय द्वारा विषय भोग से यत् किञ्चित् जो सुखाभास मिलता है, वह विस्मृत हो जाता है । जिन्होंने उस आस्वाद को प्राप्त किया है,

सर्व भूतप्रिय सुहृद् सर्वान्तर्य्यामी आप में उन सब का चित्त अनुरक्त एवं आनन्दित होता है। निरन्तर आप की चरण कमल की सेवा करने से पुनर्वार संसार में प्रत्यावर्त्तन करना नहीं पड़ता है ।

मूल गद्य में 'सकृदपि' पद का प्रयोग है, उसका अर्थ है— एक वार मात्र । भा० ७।१५।३५ में लिखित- 'चित्तं ब्रह्मसुखस्पृष्टं नैवोत्तिष्ठेत कर्हिचित्' चित्त ब्रह्मसुख को स्पर्श करने पर कभी भी उस से उत्थित नहीं होता है। इस वाक्य के समान यहाँ पर भी श्रीभगवान् की महिमामृत सागर में चित्त का चिरकाल निमज्जन सूचित हुआ है। अर्थात् ब्रह्म सुख में जिस प्रकार चित्त डूब कर रहता है। श्रीभगवान् की किञ्चित् महिमा का किञ्चित् अनुभव एकवार मात्र होने परभी चित्त भगवान् में निमज्जित होकर रहता है। आत्मप्रिय सुहृद्— आत्मा श्रीभगवान्–आप ही प्रिय एवं सुहृद हैं जिन के, वे ही साधुगण ।

देववृन्द श्रीपुरुषोत्तम को कहे थे ।।४०।।

## शुद्ध भक्त का प्रार्थनीय क्या है ?

४१ । अतएव भा० १।५।१८-१९ में उक्त है—

(४१) "तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो, न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्य्यधः ।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं, कालेन सर्व्वत्र गभीररंहसा ।।१३२।।
न वै जनो जातु कथञ्चनाव्रजे,-न्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम् ।
स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुन-,र्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो जनः ।।",१३३।।

४२ । तथा (भा० ४।२०।२९) —

(४२) "भजन्त्यथ त्वामतएव साधवो, व्युदस्तमायागुणविभ्रमोदयम् ।
भवत्पदानुस्मरणादृते सतां, निमित्तमन्यद्भगवन्न विद्महे ।।"१३४।।

टीका च—"यतस्त्व दीनवत्सलः, अतएव साधवो निष्कामाः, अथ ज्ञानानन्तरमपि त्वां भजन्ति । कथम्भूतम् ? मायागुणानां विभ्रमो विलासस्तस्योदयः कार्य्यं स निरस्तो यस्मिंस्तम् । ते किमर्थं भजन्ति ? तत्राह—भवत्पदानुस्मरणाद्विना अन्यत्तेषां फलं न विद्महे" इत्येषा ।। पृथुः श्रीविष्णुम् ।।

४३ । तस्मात्तत्तद्भक्तानां तत्प्रीतिमनोरथ एवोपादेयः, तदन्यस्तु सर्वोऽपि हेय इत्याह

---

टीका—ननु स्वधर्म मात्रादपि कर्म्मणा पितृ लोक इति श्रुतेः पितृलोक प्राप्तिः फलमस्त्येव, तत्राह तस्येति । कोविदो विवेकी तस्यैव हेतो स्तदर्थं यत्नं कुर्य्यात् यत् उपरि ब्रह्म लोक पर्य्यन्तम्, अधः स्थावर पर्य्यन्त भ्रमद्भिर्जीवैर्नलभ्यते, षष्ठी तु पूर्ववत् । तत् तु विषयसुखमन्यत एव प्राचीन स्वकर्म्मणा सर्वत्र नरकादावपिलभ्यते । दुःखवत्, यथा दुःखं प्रयत्नं विनापि लभ्यते तद्वत् । तदुक्तम् अप्रार्थितानि दुःखानि यथैवायान्ति देहिनाम् । सुखान्यपि तथा मन्ये दैवमत्रातिरिच्यते इति ।१८।

यदुक्तं यत्र क्व वा अभद्रमभूदिति तदुपपादयति न वा इति । मुकुन्दसेवी जनः, जातु कदाचित् कथञ्चन कुयोनि गतोऽपि, संसृतिं ना व्रजेत्–नाविशेत् । अङ्ग अहो । अन्यवत् केवल कर्म्म निष्ठवत् इति वैधर्म्म्ये दृष्टान्तः । कुत इत्यत आह–मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं आलिङ्गनं पुनः स्मरन् विहातुं नेच्छेत्, यतो अय जनोरस ग्रही रसेन रसनीयेन गृह्यते वशीक्रियते । यद्वा, रसे रसनीये ग्रह आग्रहोयस्य । तदुक्तं भगवता यतते च ततोभूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन । पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि स इति । १९।

अतएव श्रीनारद कहे थे—उद्ध्र्व से अधः स्थित स्थावर वृक्षयोनि पर्य्यन्त भ्रमण करके भी जो उपलब्ध नहीं होता है, उस के हेतु प्रयत्न करना पण्डित व्यक्ति का कर्त्तव्य है । विषयसुख--प्राक्तन कर्म्म वशतः यथा समय विना चेष्टा से ही दुःखवत् सर्वत्र उपलब्ध होता है । मुकुन्द सेवी जन, किसी कारण से कुदेह प्राप्त होने पर भी काम्य कर्म परायण व्यक्ति के समान संसार में भ्रमण नहीं करता है, कारण, उस का आग्रह भगवद् भक्ति रस में होने के कारण, मुकुन्द चरणारविन्द का आलिङ्गन का स्मरण करके उस को परित्याग करने की इच्छा नहीं करता है । श्रीनारद कहे थे । ।४१।

४२ । उस प्रकार ही भा० ४।२०।२९ में उक्त है ।

(४२) 'भजन्त्यथ त्वामतएव साधवो, व्युदस्तमायागुणविभ्रमोदयम् ।
भवत्पदानुस्मरणादृते सतां, निमित्तमन्यद्भगवन्न विद्महे ।।"१३४।।

पृथु महाराज श्रीविष्णु को कहे थे—हे भगवन् ! आप दीनवत्सल हैं, मायिक गुणों का कार्य्य आप में नहीं है, अतएव साधु गण आप का भजन करते हैं । आप के चरण कमल का स्मरण को छोड़कर साधु वृन्द में अन्य कुछ भी अभिसन्धि दृष्ट नहीं होती है ।

स्वामि टीका । कारण, आप दीनवत्सल हैं, अतएव साधुगण निष्काम व्यक्ति गण, अनन्तर-ज्ञानोदय के पश्चात् भी आप का भजन करते हैं । आप किस प्रकार हैं ? मायागुण समूह का विभ्रम–विलास, उसका उदय--कार्य्य, मायागुण का कार्य्य जिस में नहीं हैं, इस प्रकार आप का भजन साधुवृन्द क्यों करते हैं ? कहते हैं— आप के चरण स्मरण भिन्न अपर किसी प्रकार फल लाभ उन सब को नहीं है, अर्थात् उनकी अपर कुछ भी फलाभिसन्धि नहीं है । पृथु श्रीविष्णु को कहे थे ।।४२।।

(भा० १०।३९।१-२) –

(४३) "सुखोपविष्टः पर्य्यङ्के रामकृष्णोरुमानितः ।
लेभे मनोरथान् सर्व्वान् पथि यान् स चकार ह ॥१३५॥
किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने ।
तथापि तत्परा राजन्न हि वाञ्छन्ति किञ्चन ॥१३६॥

सोऽक्रूरः, यान् (भा० १०।३८।३) –

"किं मयाचरितं भद्रं किं तप्तं परमं तपः ।
किंवाथाप्यर्हते दत्तं यद्द्रक्षाम्यद्य केशवम् ॥"१३७॥

इत्यादि-भक्तिवासनामयान् । ननु मुक्त्यादिकमपि कथं न प्रार्थितम् ? तत्राह--किमलभ्यमिति । श्रीशुकः ॥

४४ । यथैवाह (भा० ११।१९।१६) –

(४४) "पुनश्च भूयाद्भगवत्यनन्ते, रतिः प्रसङ्गश्च तदाश्रयेषु ।
महत्सु यां यामुपयामि सृष्टिं, मैत्र्यस्तु सर्व्वत्र नमो द्विजेभ्यः ॥"१३८॥

---

४३ । अतएव भगवद् भक्त वृन्द की प्रीति वाञ्छा ही आदरणीय है । तद्भिन्न अन्य समस्त ही तुच्छ हैं, भा० १०।३९।१--२ में इस का वर्णन है,

(४३) 'सुखोपविष्टः पर्य्यङ्के रामकृष्णोरुमानितः ।
लेभे मनोरथान् सर्व्वान् पथि यान् स चकार ह ॥१३५॥
किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने ।
तथापि तत्परा राजन्न हि वाञ्छन्ति किञ्चन ॥"१३६॥

टीका—भक्तानां मनोरथा सत्या भवन्तीति द्योतयन्नाह—सुखोपविष्ट इति । रामकृष्णाभ्यां उरु अधिकं मानितम् ।

श्रीशुक देव कहे थे—हे राजन् ! अक्रूर पथ में गमन करते करते जो जो मनोरथ किये थे, राम कृष्ण कर्त्तृक सम्मानित एवं पर्य्यङ्क में सुख से उपविष्ट होकर वह सब प्राप्त किये थे । भगवान् श्रीनिवास प्रसन्न होने से अलभ्य क्या रहता है ? अक्रूर जो जो वाञ्छा किये थे--उस का वर्णन भा० १०।३८।३ में है-

"किं मयाचरितं भद्रं किं तप्तं परमं तपः ।
किंवाथाप्यर्हते दत्तं यद्द्रक्षाम्यद्य केशवम् ॥"१३७॥

मैंने क्या सत् कर्म्मानुष्ठान किया है ? श्रेष्ठ तपस्या भी किया है ? अथवा योग्य पात्र में दान किया है ? जिस के फल से मैं आज केशव का दर्शन करूँगा । इस श्लोक से आरम्भकर कतिपय श्लोकों में अक्रूर का मनोरथ वर्णित है । उनके मनोरथ समूह--भक्ति वासनामय है, मुक्ति प्रभृतिमय नहीं है । किन्तु उन्होंने क्यों नहीं मुक्ति कामना की ? उत्तर में कहते हैं—"किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने" भगवान् श्रीनिवास, प्रसन्न होने से अलभ्य कुछ भी नहीं रहता है । 'अर्थात् श्रीकृष्ण प्रसन्न होने से जब सब कुछ लाभ होते हैं, तब उनकी प्रसन्नता व्यतीत अन्य कुछ प्रार्थना करना निरर्थक है ।

प्रवक्ता श्रीशुक है ॥४३॥

सृष्टि जन्म, अन्यत्र तु सर्व्वत्र मैत्री अविषमा दृष्टिरस्तु । ब्राह्मणेषु त्वादरविशेषोऽस्तित्याह-नम इति ॥ राजा ॥

४५ । अतएवाह (भा० ४।९।३६)—

(४५) "न वै मुकुन्दस्य पदारविन्दयो, रजोजुषस्तात भवादृशा जनाः ।

वाञ्छन्ति तद्दास्यमृतेऽर्थमात्मनो, यदृच्छया लब्धमनःसमृद्धयः ॥"१३९॥

यदृच्छया अनायासेनैव लब्धा मनःसमृद्धिर्येषां ते, स्वतो भक्तिमाहात्म्य-बलेन सर्व्वपुरुषार्थ-

---

४४। उसी प्रकार वर्णन भा० १।१९।१६ में है—

(४४) "पुनश्च भूयाद्भगवत्यनन्ते, रतिः प्रसङ्गश्च तदाश्रयेषु ।

महत्सु यां यामुपयामि सृष्टिं, मैत्र्यस्तु सर्व्वत्र नमो द्विजेभ्यः ॥"१३८॥

टीका—स आश्रयोयेषां तेषु प्रकृष्टः सङ्गो भूयात् । तस्यां तस्यां सृष्टौ जन्मनि ।

श्रीभगवत् प्रीति व्यतीत भक्त वृन्द के पक्ष में अपर कुछ आदरणीय नहीं हैं, महाराज परीक्षित् की उक्ति में इस सुस्पष्टीकरण हुआ है—परीक्षित् ब्रह्मशाप ग्रस्त होकर प्रायोपवेशनव्रत ग्रहण पूर्वक ब्राह्मणों के समीप में प्रार्थना किये थे—जन्म जन्म में जैसे मेरी भगवान् अनन्त में भक्ति हो, जो सब साधु भगवान् को आश्रय किये हैं, उनके सहित समागम हो, एवं सर्वत्र मैत्री हो ।

हे द्विज वृन्द ! आप सब को मैं प्रणाम करता हूँ, यही आशीर्वाद आप सब करें ।

श्रीपरीक्षित् महाराज, केवल साधु सङ्ग प्रार्थना किये थे, एवं तद्भिन्न व्यक्ति के प्रति उनका अनादर था, ऐसा नहीं, किन्तु अन्यसमस्त व्यक्ति के प्रति मैत्री— अविषमादृष्टि की प्रार्थना किये थे । एवं ब्राह्मण वृन्द के प्रति विशेष आदर हो, प्रार्थना करते हुये उन सब को प्रणाम निवेदन किये थे ।

राजा परीक्षित् कहे थे ॥४४॥

४५। अतएव श्रीभागवत के ४.९।३६ में कथित है—

(४५) "न वै मुकुन्दस्य पदारविन्दयो, रजोजुषस्तात भवादृशा जनाः ।

वाञ्छन्ति तद्दास्यमृतेऽर्थमात्मनो, यदृच्छया लब्धमनः समृद्धयः ॥"१३९॥

टीका—एवं निःस्पृहत्वं तस्य युक्तमित्याह नेति । तस्य दास्यं विना अन्यमर्थमात्मनो नैव वाञ्छन्ति यदृच्छयैव लब्धेन मनसः समृद्धिर्येषां ते ।

भगवत् प्रीति ही भक्त वृन्द के पक्ष में एकमात्र वाञ्छनीय है । तज्जन्य मैत्रेय ऋषि विदुर को कहे थे—हे वत्स ! जो लोक-तुम्हारे समान मुकुन्द चरणारविन्द की रजः की सेवा करते हैं, वे श्रीभगवान् के दास्य भिन्न अपर पुरुषार्थ की वाञ्छा नहीं करते हैं । यदृच्छा क्रम से जो कुछ उपलब्ध होता है । उस से ही उनकी मानसिक समृद्धि होती है, अर्थात् अनायास प्राप्त वस्तु से ही वे निरतिशय तृप्ति लाभ करते हैं । उनके मन में किसी वस्तु का अभाव बोध नहीं होता है । श्लोक की व्याख्या— यदृच्छा— अनायास से लब्धा--मन की समृद्धि जिनकी है, (समृद्धि शब्द से अणिमादि सिद्धि अथवा सार्ष्टि प्रभृति को जानना चाहिये । एवं भक्ति माहात्म्य से समस्त पुरुषार्थ, जिनकी कृपादृष्टि की अपेक्षा करता है, इसप्रकार व्यक्तिगण भगवत् प्रीति व्यतीत अपर पुरुषार्थ की वाञ्छा नहीं करते हैं । इस के अनुसार भा० ४।९।२९ में "नैच्छन्मुक्तिपते मुक्तिं तेन तामुपेयिवान् ॥ श्रीध्रुव को उद्देश्य करके श्रीमैत्रेय जो कहे हैं—"मुक्तिपति श्रीभगवान् के निकट मुक्ति लाभ करने की इच्छा ज्ञापन न करने के कारण, अनुतप्त हुये थे । यहाँ मुक्ति शब्द से दास्य का कथन ही हुआ है, सायुज्यादि नहीं, पद्मोत्तर खण्ड में लिखित है—"विष्णोरनुचरत्वं हि

प्रतीक्षितकृपादृष्टिलेशा अपीत्यर्थः। एतदनुसारेण (भा० ४।९।२९) "नैच्छन्मुक्तिपतेर्मुक्तिं तेन तापमुपेयिवान्" इत्यत्र श्रीध्रुवमुद्दिश्य पूर्व्वोक्तेऽपि पद्ये मुक्ति-शब्देन दास्यमेव वाच्यम्, तदुक्तम्-"विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिणः" इति ॥ श्रीमैत्रेयः ॥

४६। एतदेवान्यनिन्दा-शुद्धभक्तस्तवाभ्यां द्रढ़यति गद्य-पञ्चकेन (भा० ५।२४।२३-२३)—

(४६) "यत्तद्भगवतानधिगतान्योपायेन याच्ञाच्छलेनापहृत-स्वशरीरावशेषितलोकत्रयो वरुणपाशैश्च संप्रतिमुक्तो गिरिदर्य्यां चापविद्ध इति होवाच। नूनं बतायं भगवानर्थेषु न निष्णातो योऽसाविन्द्रो यस्य सचिवो मन्त्राय वृत एकान्ततो बृहस्पतिरतमतिहाय स्वयमुपेन्द्रेणात्मानमयाचत, आत्मनश्चाशिषो नो एव तद्दास्यम्। अतिगम्भीरवयसः कालस्य मन्वन्तर-परिमितं कियल्लोकत्रयमिदम्। यस्यानुदास्यमेवास्मत्पितामहः किल वव्रे, न तु स्वपित्र्यं यदुताकुतोभयं पदं दीयमानं भगवतः परमिति भगवतोपरते खलु स्वपितरि। तस्य महानु-

---

मोक्षमाहुर्मनीषिणः" मनीषिगण श्रीविष्णु के अनुचरत्व को ही मोक्ष कहते हैं।

यहाँ मैत्रेय ऋषि पहले कहे थे—भक्त गण प्रीति व्यतीत अपर पुरुषार्थ नहीं चाहते हैं, ध्रुव मुक्ति प्रार्थना न करके अनुतप्त हुए थे।' उभय वाक्य में विरोध देखने में आता है। अतएव सन्दर्भ कार उसका समाधान करते हैं- पूर्वोक्त मुक्ति शब्द द्वारा श्रीहरि दास्य को कहना ही श्रीमैत्रेय ऋषि का अभिप्राय है। यह जानना होगा। श्रीमैत्रेय कहे थे ॥४५॥

४६। श्रीमद् भागवत के ५।२४।२३--२६ पाँच पद्य के द्वारा अपर की निन्दा एव शुद्ध भक्त का स्तव करके उक्त विषय को सुदृढ़ किये हैं।

(४६) "यत्तद्भगवतानधिगतान्योपायेन याच्ञाच्छलेनापहृत--स्वशरीरावशेषितलोकत्रयो वरुण-पाशैश्च संप्रतिमुक्तो गिरिदर्य्यां चापविद्ध इति होवाच। नुनं बतायं भगवानर्थेषु न निष्णातो योऽसाविन्द्रो यस्य सचिवो मन्त्राय वृत एकान्ततो बृहस्पतिस्तमतिहाय स्वयमुपेन्द्रेणात्मानमयाचत, आत्मनश्चाशिषो नो एव तद्दास्यम्। अतिगम्भीरवयसः कालस्य मन्वन्तरपरिमितं कियल्लोकत्रयमिदम्। यस्यानुदास्यमेवास्मत् पितामहः किल वव्रे, न तु स्वपित्र्यं यदुताकुतोभयं पदं दीयमानं भगवतः परमिति भगवतोपरते खलु स्वपितरि। तस्य महानुभावस्यानुपथममृजितकषायः को वास्मद्विधः परिहीनभगवदनुग्रह उपजिगमिषतीति।

टीका—तस्यैकान्त भक्ति स प्रपञ्चमाह। यत्तदति प्रसिद्धम् इति। वक्ष्यमाणमुवाच ह इत्यन्वयः। कथम्भूतः? न अधिगतः अन्य उपाययोगेन तेन भगवता याच्ञाच्छलेन अपहृतं स्वशरीरमात्रावशेषितं लोकत्रयं यस्य। सम्यक् प्रतिमुक्तो बद्धः। अपविद्धः प्रतिक्षिप्तोऽपिसन्।२४। बतेति खेदे। भगवान् विद्वानपि योऽसाविन्द्रः, यस्यैकान्तेन बृहस्पतिः सचिव सहायः यतो मन्त्रार्थं वृतः, सोऽपिपुरुषार्थेषु नूनं न निष्णातः— न निपुणः। यतः उपेन्द्रेण द्वारभूतेन तमुपेन्द्रं विहाय आत्मानं मां लोकत्रयमयाचत। तं मन्त्रास्पदं बृहस्पतिमतिहायेति वा। तस्मिन् प्रलये स एव वरणीयः, न लोकत्रयं यतस्तत् अतितुच्छमित्याह। अति-गम्भोरमनन्तवयोयस्य तस्य कालस्य यन्मन्वन्तरं तेन परिवृतं विपर्य्यस्तं लोकत्रयमिदं कियत्?।२४। प्रह्लादस्तु एक एवार्थे निष्णात इत्याह,-यस्यानुदास्यमिति, स्व पितरि उपरते मृतेसति स्वं पित्र्यं पदं भगवता दीयमानमपि भगवतः खलु परमन्यदिति कृत्वा नतु जग्राहेत्यर्थः।२५। ननु त्वमति वीरः, कुतस्तमेव बहु मन्यसे? तत्राह। तस्यानुपथम्- अनुवर्त्म, अमृजिता अक्षीण्यः कषाया रागादयोयस्य, परिहीणो भगवदनुग्रहो यस्य स को वा उपगन्तुमिच्छतीति ॥२६॥

भावस्यानुपथममृजितकषायः को वास्मद्विधः परिहीनभगवदनुग्रह उपजिगमिषतीति ।।"

टीका च–"तस्यैकान्तभक्तिं सप्रपञ्चमाह" इत्यादिका । यत्तदतिप्रसिद्धम् । इति एतदुवाच श्रीबलिः तमुपेन्द्रम् (प्रति), अतिहाय पुरुषार्थत्वेनानभिलष्य, स्वयमुपेन्द्रेणैव द्वारभूतेन, आत्मानं मां परमक्षुद्रं प्रति परमक्षुद्रं लोकत्रयमयाचत । अनुदास्यं (भा० ७।९।२४) "नय मां निजभृत्यपार्श्वम्" इत्यनेन तद्दास-दास्यम्, स्वपित्र्यं त्रैलोक्यराज्यम् । यद्वत अकुतोभयं पदं मोक्षम्, तन्न तु वव्रे । कथम्? भगवतः परमन्यदिदमिति कृत्वा तदंशाभासं तदंशमात्रात्मकत्वात्तयोः । कदेवं व्यवहृतमित्याशङ्क्याह–भगवतेति ।। श्रीशुकः ।।

---

श्रीशुकदेव कहे थे–भगवान् अन्य उपाय को न देखकर याच्ञाच्छल से बलिराजा के द्वारा अधिकृत त्रिभुवन को अपहरण किये थे । बलि राज का शरीर मात्र अवशिष्ट था, उस से भी भगवान् निवृत्त नहीं हुये, वरुण पाश द्वारा सम्यक् रूप से बलि को बँधकर गिरि गह्वर में निक्षेप किये थे । बलिराजा कहे थे—कैसे दुःख की बात है !! विज्ञ इन्द्र है, बृहस्पति जिन का अत्यन्त सहायक है, जिन्होंने उन को ही मन्त्रणा कार्य्य में वरण किया था, उस प्रकार इन्द्र की परमार्थ विषय में अभिज्ञाता नहीं है, इन्द्र-उन उपेन्द्र को अर्थात् वामन देव को परित्याग करके अर्थात् वामन देव से प्रार्थना न करके स्वयं उपेन्द्र के द्वारा ही मेरे निकट से त्रिभुवन प्रार्थना किये थे, स्वयं उनका दास्य प्रार्थना नहीं किये ।

अति गम्भीर वेगशाली काल के निकट मन्वन्तर परिवृत अर्थात् मन्वन्तर परिमित कालस्थायी त्रिभुवन अति तुच्छ हैं ।

मदीय पितामह प्रह्लाद उन भवगान् के अनुदास्य की ही प्रार्थना किये थे । उनके पिता हिरण्य कशिपु की मृत्यु होने पर भगवान् उनको निज पित्र्य पद एवं अकुतोभय पद प्रदानेच्छु होने पर भी वह सब भगवान् से भिन्न हैं यह जानकर उन्होंने उन सब को ग्रहण नहीं किया ।

मेरे समान जिस के रागादि परिक्षीण नहीं हुये हैं, जो भगवत् कृपा से वञ्चित है, ऐसा कौन होगा, जो उन महानुभव के पन्थानुसरण करने का इच्छुक हो सकता है ?

टीका की व्याख्या—"सुतल निवासी बलि राजा की एकान्त भक्ति का वर्णन विस्तृत रूप से किया" इस प्रकार स्वामि टीका, भक्त के निकट भगवत् प्रीति की उपादेयता को सुदृढ़ बनाती है । वह भक्ति अति प्रसिद्ध है । उक्त भागवतीय गद्य के अन्तिम में उक्त 'इति होवाच' इस वाक्य का अर्थ है—श्रीबलि कहे थे--उपेन्द्र को पुरुषार्थ रूप में स्वीकार न करके अथवा पुरुषार्थ रूप में लाभ करने के निमित्त प्रार्थना न करके अर्थात् अतिहाय--पुरुषार्थ रूप में अभिलाष न करके उपेन्द्र के द्वारा ही अतिक्षुद्र मेरे निकट से लोकत्रय की प्रार्थना इन्द्र किये थे । मैं अतिक्षुद्र हूँ तथापि मेरे निकट से अतिक्षुद्र वस्तु माँगकर देने के निमित्त वामन देव को भेजे थे । अनुदास्यं – मुझ को आप के भृत्य के निकट ले चलो, भा० ७।९।२४ में उक्त है–"नय मां निजभृत्यपार्श्वम्" श्रीप्रह्लाद की इस प्रार्थना के अनुसार श्रीभगवद् दास का दासत्व को उन्होंने पुरुषार्थ रूप में वरण किया था । स्वपित्र्यं—निज पित्र्यपद– हिरण्य कशिपु के द्वारा अधिकृत त्रैलोक्य राज्य, अकुतो भय पद—मोक्ष, उस की प्रार्थना भी श्रीप्रह्लाद ने नहीं की, कारण, वह श्रीभगवान् से भिन्न है,–त्रैलोक्य राज्य एवं मोक्षपद—श्रीभगवान् के अंशाभास के समान अंश स्वरूप हैं, एतज्जन्य साक्षात् श्रीभगवान् को प्राप्तकर श्रीप्रह्लाद ने उन दोनों की प्रार्थना नहीं की । त्रैलोक्यराज्य--माया का विकार है-वह श्रीभगवान् का अंश है—कारण, गीता में उक्त है– "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितं जगत् ।।"

जगत् श्रीभगवान् का अंश होने पर भी माया विकार हेतु वह तदीय साक्षात् अंश नहीं है । भा०

४७। अतएवान्यसुखदुःखनैरपेक्ष्येणैव शुद्धत्वं भक्तानामिति सिद्धम् ,तदुक्तम्, (भा० ६।१७।२८) "नारायणपराः सर्व्वे" इत्यादि। श्रीभगवानपि तथाविधानुकम्प्यानां सर्व्वमन्यद्दूरीकरोति, यथोक्तं स्वयमेव, (भा० ८।२२।२४) "ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम्" इति, यथाह (भा० ६।११।२३) —

(४७) "त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत्,-पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र।
ततोऽनुमेयो भगवत् प्रसादो, यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः॥"१४०॥

---

८।२४।२३ में उक्त "मदीयं महिमानञ्च पर ब्रह्मेति संज्ञितम्" श्रीमत्स्य देव के कथनानुसार ब्रह्म श्रीभगवान् का साक्षात् अंश नहीं है, तदीय वैभवांश है। भगवान् की बहिरङ्गा शक्ति माया, एवं वैभवांश ब्रह्म में सुस्पष्ट व्यवधान विद्यमान होने पर भी उक्त कारण से त्रैलोक्य राज्य एवं ब्रह्मानुभव रूप मुक्ति,-- उभय को ही भगवान् के अंश की छाया के समान, भगवान् के अंशात्मक कहा गया है, "तदंशाभासं तदंशमात्रात्मकत्वात्तयोः।" श्रीमत्स्यादि भगवत् स्वरूप किन्तु श्रीभगवान् के साक्षात् अंश हैं।

"कदैवं व्यवहृतमित्याशङ्क्याह, भगवतेति। कब उन्होंने इस प्रकार किया? उत्तर में कहते हैं, जिस समय श्रीभगवान् उपयाचक होकर तदुभय प्रदान करने के निमित्त प्रस्तुत हुये थे, उस समय उन्होंने प्रत्याख्यान किया था। प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥५६॥

४७। अतएव अन्य सुख दुःख के प्रति भक्त वृन्द की निरपेक्षता के द्वारा ही भक्त वृन्द की शुद्धया सिद्ध होती है।

सुख में उत्फुल्लता, एवं दुःख में अवसाद दोनों ही चित्त को विचलित करते हैं, उभय के संस्पर्श से जीव अशुद्ध होता है,--श्रीभगवान् ही शुद्ध हैं, तदीयस्मृति ही जीव की शुद्धि है, एवं विस्मृति अशुद्धि है। सुख दुःख के संस्पर्श से भगवत् विस्मृति होती है, अतः जब तक तदुभय में अभिनिवेश रहता है, तब तक जीव अशुद्ध होता है। भक्त वृन्द का प्रगाढ़ अभिनिवेश, —भगवान् में होने के कारण, भक्त वृन्द शुद्ध होते हैं, श्रीभगवान् के संयोग वियोग स्फूर्त्ति से भक्त वृन्द में जो सुख दुःख उपस्थित होते हैं, उस में श्रीभगवदनुभव क्षण क्षण में नव नवायमान रूप में उपस्थित होने के कारण, वह सुख दुःख अशुद्धि के कारण नहीं होते हैं।

भा० ६।१७।१८ में पार्वती को श्रीरुद्र कहे हैं—

"नारायण पराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति स्वर्गापवर्गनरकेष्वपितुल्यार्थ दर्शिनः।"

नारायण परायण व्यक्तिगण कहीं पर भीत नहीं होते हैं, वे स्वर्ग, अपवर्ग एवं नरक को तुल्य प्रयोजन साधक रूप से देखते हैं।

श्रीभगवान् भी तादृश अनुग्रह भाजन व्यक्ति वृन्द के अन्य समस्त सुख दुःख को विदूरित करते हैं, स्वयं ही आपने भा० ८।२२।२४ में कहा है—

"ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम्।"
यन्मद पुरुषस्तब्धो लोकं माञ्चाव मन्यते।।"

हे ब्रह्मन्! जिस को मैं अनुग्रह करता हूँ, मैं उसका धनापहरण करता हूँ, कारण, धन से ममता होती है, धनवान् व्यक्ति, मानी होकर लोक समूह को एवं मुझ को अवज्ञा करता है।

टीका—तस्य विशोऽर्थान्। ननु अर्थापहारः कोऽयमनुग्रहस्तत्राह यन्मदं यै रर्थैर्मदो यस्य सः अत

पुरुषस्य स्वात्यन्तिक-भक्तस्य यदि कथञ्चित् त्रैवर्गिकायास आपतति, तदा स्वयमेव तद्विघातं विधत्त इत्यर्थः । अकिञ्चनस्तु गोचरो विषयो यस्येत्यनेन मोक्षायासस्यापि विधातविधानं व्यञ्जितम् । 'अकिञ्चन'-शब्दस्य शुद्धभक्तार्थत्वं हि भक्तिसन्दर्भे दर्शितम् ॥ श्रीमान् वृत्रः शक्रम् ॥

४८। तदेवं सति तादृशानामपि यदि कदाचिदन्यत् प्रार्थनं दृश्यते, तदा तत्प्रीति-सेवोपयोगितयैव, न तु स्वार्थत्वेन तदिति मन्तव्यम्, यथा (भा० १०।७०।४१)—

---

एवास्तब्धः, अनम्रः सन् । मदस्तम्भ हेतूनामर्थापहार एवानुग्रह इत्यर्थः ।

भा० ६।११।२३ में श्रीमान् वृत्र, इन्द्र को उस प्रकार ही कहे थे -

(४७) "त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत्, पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र ।
ततोऽनुमेयो भगवत् प्रसादो, यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः ॥" १४०॥

टीका—"तर्हि स्व भक्तस्य किं विधत्ते तदाह—त्रैवर्गिको धर्मार्थकाम विषयो यः आयासः तस्य विघातं विधत्ते । ततः आयासोपरमादेवानुमेयः, नत्वैश्वर्य्यादिना । अतः सम्यग् भगवत् प्रसादाभावात् तव सम्पदो भविष्यन्तीतिभावः ।"

हे इन्द्र ! हमारे प्रभु श्रीहरि, निज भक्त वृन्द के धर्म, अर्थ, काम--यह त्रिवर्ग विषयक आयास का उपशम करते हैं । आयास उपशम के द्वारा श्रीभगवत् प्रसन्नता का अनुमान होता है । अकिञ्चन गण, उस प्रसाद को प्राप्त कर सकते हैं—तद्भिन्न व्यक्तिके पक्ष में वह अतीव दुर्ल्लभ है ।

श्लोक व्याख्या—पुरुषस्य-- निज अत्यन्त भक्त का यदि किसी प्रकार धर्म अर्थ काम--त्रिवर्ग विषयक आयास उपस्थित होता है तो भगवान् स्वयं ही उसका उपशम विधान करते हैं । यही श्लोक का तात्पर्य्य है । वह भगवत् प्रसाद--अकिञ्चन गोचर है—अर्थात् अकिञ्चन गोचर विषय है जिसका' अर्थात् अकिञ्चन जन के निमित्त ही भगवत् प्रसाद आविर्भूत होता है । इस से मोक्ष विषयक आयास का उपशम विधान व्यञ्जित हुआ ।

अर्थात् जिस की मोक्षाकाङ्क्षा है, वह अकिञ्चन नहीं हो सकता है, अकिञ्चन न होने से भगवत् प्रसाद लाभ का अधिकारी नहीं होता है । सुतरां जिस के सम्बन्ध में भगवत् प्रसाद उपस्थित हुआ है । उस का मोक्षाभिलाष भी तिरोहित हुआ है । वृत्र ने यद्यपि त्रैवर्गिकायास की कथा कही है, तथापि व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा मोक्षाभिलाष भी जो दूरीभूत होता है—यह ज्ञात होता है । त्रैवर्गिकायास विदूरित करते हैं, इस प्रकार सुनकर मोक्षाभिलाष को विदूरित नहीं करता है, इस प्रकार धारणा हो सकती है । उस को निरसन करने के निमित्त इस प्रकार व्याख्या हुई है । अकिञ्चन शब्द से शुद्ध भक्त का जो बोध होता है, उसका प्रतिपादन भक्ति सन्दर्भ में हुआ है ।

श्रीमान् वृत्र– इन्द्र को कहे थे ॥४७॥

## शुद्ध भक्त का अन्याभिलाष का समाधान ।

४८। पूर्व अनुच्छेद में श्रीभगवान् शुद्ध भक्त वृन्द के चतुर्वर्गविषयक अभिलाष विदूरित करते हैं, यह स्थिर हुआ ।

ऐसा होने पर शुद्ध भक्त वृन्द की कभी यदि अन्य विषयक प्रार्थना देखी जाती है, तो वह श्रीभगवान् की प्रीति सेवा के उपयोग रूप में उपस्थित होती है । निज सुख सम्पादन हेतु नहीं है, इस प्रकार समझना

"यक्ष्यति त्वां मखेन्द्रेण राजसूयेन पाण्डवः ।
पारमेष्ठ्यकामो नृपतिस्तद्भवाननुमोदताम् ॥" १४१ । इति ।

परमेष्ठि-शब्देनात्र श्रीद्वारकापतिरुच्यते, यथा पृथुकोपाख्याने (भा० १०।८१।१०)—"तावच्छ्रीर्जगृहे हस्तं तत्परा परमेष्ठिनः" इति । ततः पारमेष्ठ्य-शब्देन द्वारकैश्वर्य्यमुच्यते । ततश्च पारमेष्ठ्य-काम इति तत्समानैश्वर्य्यं कामयमान इत्यर्थः । तत्कामना च द्वारकावदिन्द्रप्रस्थेऽपि श्रीकृष्ण निवासनयोग्यसम्पत्तिसिद्ध्यर्थ्यैव ज्ञेया, नान्यर्था । तानुद्दिश्यैव (भा० १।१०।६)—

"किन्ते कामा सुरस्पार्हा मुकुन्दमनसो द्विजाः ।
अधिजह्रुर्मुदं राज्ञः क्षुधितस्य यथेतरे ॥" १४२॥

---

होगा । अर्थात् कोई भक्त कदाचित् श्रीभगवान् से उनकी सेवा करने के निमित्त यदि सम्पदादि की प्रार्थना करते हैं, तो, वह स्वयं के भोग हेतु नहीं है । जिस प्रकार भा० १०।७०।४१ में श्रीकृष्ण को श्रीनारद कहे थे-

"यक्ष्यति त्वां मखेन्द्रेण राजसूयेन पाण्डवः ।
पारमेष्ठ्यकामो नृपतिस्तद्भवाननुमोदताम् ॥" १४१॥ इति ।

पारमेष्ठ्याभिलाषी पाण्डव नृपति युधिष्ठिर, राजसूय यज्ञ द्वारा आप की सेवा करने के इच्छुक हैं, आप उस विषय को अनुमोदन करें ।

पारमेष्ठ्य पद के द्वारा सत्य लोक का बोध होने पर भी यहाँ वह अर्थ नहीं है । यहाँ परमेष्ठि शब्द से द्वारकाधिपति श्रीकृष्ण अभिहित हुए हैं, जिस प्रकार पृथुकोपाख्यान में श्रीकृष्ण ही परमेष्ठि शब्द से अभिहित हैं । भा० १०।८१।१० में उक्त है— "तावच्छ्रीर्जगृहे हस्तं तत्परा परमेष्ठिनः"

उस समय कृष्णप्रेमवती श्रीरुक्मिणीने परमेष्ठी के हस्त धारण किया । अतएव पारमेष्ठ्य शब्द से द्वारका का ऐश्वर्य्य कथित हुआ है ।

सुतरां पारमेष्ठ्यकाम द्वारका के समान ऐश्वर्य्याभिलाषी है । उक्त अभिलाष के उद्देश्य में द्वारका के समान इन्द्र प्रस्थ में भी श्रीकृष्ण के अवस्थान योग्य सम्पत्ति सम्पादन करना, एतद्व्यतीत अन्य कुछ नहीं । अर्थात् द्वारका के विपुल वैभव द्वारा श्रीकृष्ण परिसेवित हैं, उस प्रकार वैभव लाभ न होने से ऐकान्तिक श्रीकृष्ण सेवा नहीं हो सकती है—श्रीयुधिष्ठिर इस प्रकार सोचकर श्रीकृष्ण सेवा हेतु सम्पत्ति की कामना किये थे । स्वयं भोग करने के निमित्त नहीं ।

श्रीयुधिष्ठिरादि शुद्ध भक्तवृन्द को उद्देश्य करके ही श्रीसूत भा० १।१२।६ में कहे हैं—

"किन्ते कामा सुरस्पार्हा मुकुन्दमनसो द्विजाः ।
अधिजह्रुर्मुदं राज्ञः क्षुधितस्य यथेतरे ॥" १४२॥

टीका—"सुरस्पार्हाः सुराणां स्पृहणीयाः । ते सम्पदादयः, कामा विषयाः राज्ञः किं मुदं प्रीतिमधिजह्रु-कृतवन्तः । इत्यर्थः । तत्र हेतुः, मुकुन्दे एव मनो यस्येति । क्षुधितस्य अन्नैक मनसः, यथा इतरे स्रक् चन्दनादयः प्रीतिं न कुर्वन्ति तद्वत् ।"

हे मुनिवृन्द ! देवगण वाञ्छित राज्यादि सम्पद् श्रीकृष्ण गतचित्त युधिष्ठिर महाराज की प्रीति सम्पादन कर न सकीं । क्षुधित व्यक्ति का चित्तप्रसन्न, जिस प्रकार अन्नभिन्न स्रक् चन्दनादि से नहीं होता है, उस प्रकार अवस्था युधिष्ठिर महाराज की हुई थी ।

श्रीकृष्ण की प्रसन्नता से इस लोक में ही श्रीकृष्ण सेवोपयोगि सम्पद् लाभ श्रीयुधिष्ठिर महाराज

इत्याद्युक्तेः। श्रीभगवत्प्रसादत इहैव च तथैव तत्प्राप्तिरपि तस्य दृश्यते (भा० १०।७५।३४)—

"सभायां मयक्लृप्तायां क्वापि धर्म्मसुतोऽधिराट्।
वृतोऽनुजैर्बन्धुभिश्च कृष्णेनापि स्वचक्षुषा ॥१४३॥
आसीनः काञ्चने साक्षादासने मघवानिव।
पारमेष्ठ्यश्रिया जुष्टः स्तूयमानश्च वन्दिभिः ॥"१४४॥

इत्यत्र। अत्र स्वचक्षुषेति विशेषणमपि तेषामनन्यकामत्वायोपजीव्यम्। यथा चक्षुष्मता जनेनान्धजनागोचरसम्पत्तिविशेषश्चक्षुरर्थमेव काम्यते, कदाचित्तन्मुद्रणादौ तु स सर्व्वोऽपि वृथैव, तथा कृष्णनाथैरपीति भावः, तथोक्तं श्रीमत्पाण्डवानुद्दिश्य श्रीपरीक्षितं प्रति मुनिभिः

---

को हुआ था। भ० १०।७५।३४--३५ में उक्त है—

"सभायां मयक्लृप्तायां क्वापि धर्मसुतोऽधिराट्।
वृतोऽनुजैर्बन्धुभिश्च कृष्णेनापि स्वचक्षुषा ॥१४३॥
आसीनः काञ्चने साक्षादासने मघवानिव।
पारमेष्ठ्यश्रिया जुष्टः स्तूयमानश्च वन्दिभिः ॥"१४४॥

टीका—क्वापि कदाचित्--स विरेजे--इति शेषः। स्वस्य चक्षुषा हिताहित ज्ञापकेन।

मयदानव कल्पित परमाद्भुत सभा में धर्मसुत सम्राट् युधिष्ठिर अनुज वृन्द एवं निज नेत्र स्वरूप श्रीकृष्ण द्वारा समावृत, वन्दिगण कर्त्तृक स्तूयमान, एवं पारमेष्ठ्य सम्पत्तिकर्त्तृक परिसेवित होकर महेन्द्र के तुल्य सुवर्णासन में उपविष्ट हैं।

यहाँ 'स्वचक्षुषा' पद का उल्लेख है। यह श्रीकृष्ण का विशेषण है। एवं श्रीयुधिष्ठिरादि शुद्ध भक्त गण जो अन्याभिलाष शून्य हैं, उस से प्रतिपन्न हुआ है।

जिस प्रकार चक्षुष्मान् जन चक्षु के निमित्त ही अन्धजन के अगोचर सम्पत्ति विशेष का अभिलाष करता है, कदाचित् नेत्र मुद्रित करने से वह वृथा होती है, उसी प्रकार कृष्णैकनाथ—अर्थात् श्रीकृष्ण ही एकमात्र आश्रय हैं, जिनका उस प्रकार शुद्ध भक्त वृन्द की अवस्था भी होती है। भक्त वृन्द श्रीकृष्ण की सेवा हेतु कदाचित् सम्पत् अभिलाषी होते हैं, श्रीकृष्ण सेवा में उक्त सम्पद् का विनियोग न होने पर वे सब उस को व्यर्थ मानते हैं। श्रीधर स्वामिपाद के मत में स्वचक्षु विशेषण का अर्थ यह है—

चक्षु जिस प्रकार दृष्टि द्वारा हिताहित ज्ञापन करता है, उस प्रकार श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर के हिताहित ज्ञापक थे। वैष्णव तोषणीकार के मत में श्रीयुधिष्ठिर के नयन युगल श्रीकृष्ण में अर्पित है, किंवा श्रीयुधिष्ठिर में श्रीकृष्ण के नेत्र युगल अर्पित हैं। अथवा जिस प्रकार चक्षु के बिना तादृशी सम्पद् सुखकरी नहीं होती है, उस प्रकार श्रीकृष्ण के बिना वह सम्पद सुखकरी नहीं है। भा० १।१९।२० में मुनि वृन्द, श्रीमत् पाण्डव को उद्देश्य करके श्रीपरीक्षित् को उस प्रकार ही कहे थे।

"नवा इदं राजर्षि वर्य्य चित्रं भवत्सु कृष्णं समनुव्रतेषु।
येऽध्यासनं राजकिरीटजुष्टं सद्यो जहुर्भगवत् पार्श्वकामाः"

टीका—भवत्सु पाण्डोर्वंश्येषु ये जहुरिति युधिष्ठिराद्यभिप्रायेण।

जिन्होंने श्रीकृष्ण के समीप में गमन हेतु राज किरीट सेवित सिंहासन पर्य्यन्त को सद्यः परित्याग किया है, आप उस वंश के हैं, अतएव आप के पक्ष में यह त्याग कुछ अद्भुत नहीं है। अतएव श्रीयुधिष्ठिर

(भा० ११९।२०) "न वा" इत्यादौ "येऽध्यासनं राजकिरीटजुष्टं, सद्यो जहुर्भगवत् पार्श्वकामाः" इति। अतएव तद्भवाननुमोदतामिति नारदवाक्यानुसारेण परमैकान्तिषु श्रीभगवानपि तदनुमोदते। अन्यत्र च तथैव स्वयमाह (भा० १०।६०।५०)—

(४८) "यान् यान् कामयसे देवि मय्यकामाय कामिनि।
सन्ति ह्येकान्तभक्तायास्तव कल्याणि नित्यदा॥" १४५॥

न विद्यते कामो यत्रेति विग्रहेण शुद्धप्रीतिमयभक्ति-लक्षणोऽर्थः खल्वत्राकाम इत्युच्यते, (भा० २।३।१०) "अकामः सर्व्वकामो वा" इत्यादौ भक्तिमात्रकाम इव, तथोक्तं भक्तलक्षणं वदता श्रीप्रह्लादेन (भा० ७।१०।३) "भृत्यलक्षणजिज्ञासुः" इत्यादौ। तस्मादकामाय प्रीतिसेवा-

---

के राजसूय यज्ञ की वार्त्ता श्रीकृष्ण को निवेदन करने पर, "तद् भवान् अनुमोदताम्। आप इस को अनुमोदन करें" श्रीनारद के इस वाक्य के अनुसार परम एकान्तिक भक्त वृन्द के सेवायोग्य विषय सङ्कल्प को अनुमोदन श्रीभगवान् भी करते हैं।

गरुड़ पुराण में एकान्ति भक्त का लक्षण वर्णित है—

"ऐकान्तेन सदा विष्णौ यस्माद्देव परायणाः।
तस्मादेकान्तिनः प्रोक्तास्ते भागवत चेतस॥"

एकान्त भाव से सर्वदा देव देव श्रीहरि की शरणापन्न होने के कारण भक्त वृन्द एकान्ती नाम से अभिहित होते हैं। वे ही भगवद् गत चित्त के होते हैं। अन्यत्र अर्थात् श्रीभा० १०।६०।५० में उस प्रकार कथन स्वयं ही किये हैं—

(४८) "यान् यान् कामयसे देवि मय्यकामाय कामिनि।
सन्ति ह्येकान्तभक्तायास्तव कल्याणि नित्यदा॥" १४५॥

टीका—मयि एकान्त भक्तायास्ते कामाः सन्त्येव। अकामाय—कामनिवृत्तये, मोक्षपर्य्यवसायिन इत्यर्थः।

श्रीभगवान् कृष्ण—श्रीरुक्मिणीदेवी को कहे थे—हे कामिनि! अकाम के निमित्त मेरे निकट जो जो काम्य वस्तु की कामना कर रही हो, हे कल्याणि! मुझ में एकान्त भक्तिमती तुम्हारे निकट वे सभी सतत हैं।

श्लोक व्याख्या—कामना नहीं है जिस में—इस प्रकार व्यास वाक्य के अनुसार यहाँ अकाम शब्द से शुद्ध प्रीतिमय भक्ति लक्षण पुरुषार्थ अभिहित हुआ है। भा० २।३।१० में उक्त "अकामः सर्वकामः" अकाम शब्द का अर्थ—एकान्त भक्त है, अर्थात् एकमात्र भक्ति अभिलाषी है। प्रस्तुत स्थल में भी उस प्रकार अर्थ उक्त शब्द का जानना चाहिये। भक्त लक्षण करने के उद्देश्य में भा० ७।१।३ में श्रीप्रह्लाद ने कहा है—

"भृत्य लक्षण जिज्ञासु र्भक्ति कामेष्वचोदयत्।
भवान् संसारबीजेषु हृदयग्रन्थिषु प्रभो॥

टीका—ननु किमहं भक्तं प्रलोभयामि नहि नहि किन्तु वरं वृणीष्वेति वदतस्तवाभिप्रायोऽस्य एष इत्याह भृत्यलक्षणेति। हृदयस्य ग्रन्थिवद् बन्धकेषु।

हे प्रभो! भृत्य लक्षण-भक्त का असाधारण धर्म को जगत् में विदित कराने के निमित्त भक्त गण को संसार के बीज हृदयग्रन्थिवत् काम समूह में प्रेरण करते हैं।

अर्थात् भक्त वृन्द, भगवद् भक्ति व्यतीत अपर कुछ के अभिलाषी नहीं होते हैं। यही भक्त का

सम्पत्त्यर्थं यान् यानर्थान् कामयसे, हे देवि ! ते तव नित्यलक्ष्मीदेवीरूप–प्रेयसीत्वान्नित्यं सन्त्येवेति व्याख्येयम् । तत्रैकान्तभक्तायाः इति स्वार्थकामनानिषेधः । कामिनीत्यर्थः । कल्याणीति तादृशसेवा-सम्पत्तेरविघ्नत्वं दर्शयतीति ज्ञेयम् ॥ श्रीभगवान् श्रीरुक्मिणीम् ॥

४९ । एवं "सद्यो जहुर्भगवत्पार्श्वकामाः" इत्यत्र तत्सामीप्यकामनापि व्याख्येया । तत्प्रीतिविशेषातिशयवतां हि तेषां तत्कृतार्त्तिभरेणैव तत्स्फुर्त्तावप्यतृप्तौ सत्यां तत्सामीप्य-

---

साधारण लक्षण है, जगत् वासी को यह संवाद अवगत कराने के निमित्त श्रीभगवान् भक्त वृन्द को वर के द्वारा प्रबुद्ध करते हैं, भक्त गण, उनके प्रलोभन से अन्यवर प्रार्थना न करके दिखाते हैं कि--वे अन्याभिलाषी नहीं होते हैं, केवल मात्र भक्ति के अभिलाषी होते हैं। सुतरां श्रीरुक्मिणी के प्रति भा० १०।६०।५०

"यान् यान् कामयसे देवि मय्यकामाय कामिनि ।
सन्ति ह्येकान्तभक्तायास्तव कल्याणि नित्यदा ॥"

श्रीकृष्ण वाक्य की व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिये । 'अकाम के निमित्त-प्रीति सेवा सम्पत्ति हेतु जो जो कामना करती है, हे देवि ! तुम नित्य लक्ष्मीरूप प्रेयसी होने के कारण नित्य ही वह सब तुम्हारे में हैं । उस में भी श्रीरुक्मिणी देवि को एकान्त भक्ति मती शब्द से अभिहित करने के कारण निज सुख साधन हेतु उनकी कामना को निषेध किये हैं । श्लोकोक्त कामिनि शब्द का अर्थ है---एक मात्र मुझ में अभिलाष विशिष्टा है, कल्याणी पद से उनकी तादृश श्रीकृष्ण सेवा सामग्री रूप सम्पत्ति की निर्विघ्नता प्रदर्शन किये हैं ।

श्रीभगवान् श्रीरुक्मिणी को कहे थे ॥४८॥

४९ । एवं भा० १।१९।२० में मुनिवृन्द ने जो कहा है—

"येऽध्यासनं राजकिरीट जुष्टं, सद्यो जहुर्भगवत् पार्श्वकामाः ।"

श्रीपाण्डव वृन्द, श्रीकृष्ण के समीप में गमन हेतु राज किरीट सेवित सिंहासन को सद्यः परित्याग किये थे ।' यहाँपर उन सब की श्रीकृष्ण सामीप्य कामना की भी व्याख्या करनी चाहिये, पाण्डवगण-- श्रीकृष्ण में विशेष प्रीति सम्पन्न थे । प्रीति जनित आर्त्ति के आतिशय्य से पाण्डवगण में सर्वदा श्रीकृष्ण स्फूर्त्ति विद्यमान होने पर भी उसमें अतृप्त होकर उनको सामीप्य प्राप्ति एवं सामीप्य प्राप्ति का विघ्नस्वरूप संसार च्छेदन की प्रार्थना किये थे । माता पिता के स्नेह से एकमात्र सुखी विदूर बद्ध बालक गण, जिस प्रकार उनके सान्निध्य लाभ हेतु अत्यन्त पाण्डव वृन्द की अवस्था भी तद्रूप हुई थी ।

भा० १।१२।६ के "यक्ष्यन्ति त्वां" श्लोक में शुद्ध भक्त गण में श्रीभगवत् सेवा हेतु पार्थिव सम्पद् अभिलाष की सम्भावना का वर्णन हुआ है । "सद्योजहुः" श्लोक में प्रीति पारवश्य हेतु उनसब में सामीप्य मुक्ति की इच्छा हो सकती है—इस अभिप्राय व्यक्त हुआ है ।

श्रीयुधिष्ठिरादि,—श्रीकृष्णपार्श्व गमनाभिलाषी हुए थे, इस श्लोक में सुस्पष्ट प्रकाश होने पर भी 'सामीप्य कामना को भी कहनी चाहिये ।।" यहाँ अपि अव्यय की सार्थकता— निरन्तर श्रीकृष्ण सन्निधान में रहता हो तो सामीप्य मुक्ति की प्रयोजनीयता अपरिहार्य्य है, अतः पाण्डवगण— जिस सामीप्य मुक्ति में तत् सान्निध्य में अवस्थान करना सम्भव है,उस सामीप्य की वाञ्छा किये थे । वे केवल श्रीकृष्ण के निकट उपस्थिति लाभ करके ही परितृप्त नहीं थे, किन्तु सामीप्य मुक्ति प्राप्त व्यक्ति जिस प्रकार सर्वदा भगवत् समीप में निवास करते हैं, वे भी उस प्रकार सर्वदा उन के निकट सामीप्य मुक्ति के भी अभिलाषी थे ।

प्राप्तेश्च तत्प्राप्तिविघातक-संसारबन्धनत्रोटनस्य च प्रार्थनं दृश्यते, पितृमातृप्रीत्येकसुखिनां विदूरबद्धानां बालकानामिव, यथाह (भा० ७।९।१६)—

(४९) "त्रस्तोऽस्म्यहं कृपणवत्सल दुःसहोग्र-,संसारचक्र-कदनाद्ग्रसतां प्रणीतः
बद्धः स्वकर्म्मभिरुशत्तम तेऽङ्घ्रिमूलं, प्रीतोऽपवर्गमरणं ह्वयसे कदा नु।"१४६।

त्वद्वहिर्मुखव्याकार मयत्वाद्दुःसहमनुशीलयितुमशक्यम्, त्वद्भक्तिविरोधि-व्याकार-मयत्वात्तुग्रं भयानकं यत् संसारचक्रं तस्माद्यत् कदनं लोकानां मनोदौःस्थ्यं तस्मादहं त्रस्तोऽस्मि, तदभिमुखीभवितुं न पारय इत्यर्थः। एवमेव वक्ष्यते (भा० ७।१०।१-२)—

"श्रीनारद उवाच,—

भक्तियोगस्य तत् सर्व्वमन्तरायतयार्भकः।
मन्यमानो हृषीकेशं स्मयमान उवाच ह ॥१४७॥

---

शुद्ध भक्त को मुक्ति वासना न होने पर भी यहाँपर जो उस वासना का उद्रेक होता है, उस से उन में शुद्ध भक्तत्व की हानि नहीं होती है। मुमुक्षु जीव, अपना दुःख नाश हेतु मुक्ति कामना करते हैं, एतज्जन्य यह भक्ति के अनुकूल नहीं है। किन्तु पाण्डव वृन्द की मुक्ति वासना भक्ति सम्भूता होने के कारण वह भक्ति के विलास विशेष है।

इस से अतः साक्षात्कारमयी स्फूर्त्ति से वहिः साक्षात् कार की असमोर्द्ध्वता सुव्यक्त हुई है। अतः सामीप्य कामना उन सब की शुद्ध भक्ति की गौरव घोषणा करती है।

भा० ७।९।१६ में वर्णित है—

(४९) "त्रस्तोऽस्म्यहं कृपणवत्सल दुःसहोग्र,-संसारचक्र-कदनाद्ग्रसतां प्रणीतः।
बद्धः स्वकर्म्मभिरुशत्तम तेऽङ्घ्रिमूलं, प्रीतोऽपवर्गमरणं ह्वयसे कदा नु।।"१४६॥

टीका—महद् भयं त्वन्यदस्तीत्याह त्रस्तोऽस्मि। दुःसहं यदुग्रं संसार चक्रं कदनं दुःखं तस्मादहं त्रस्तोऽस्मीति। तत्र च ग्रसतां हिंस्राणां मध्ये स्वकर्म्मभिर्बद्धः सन् प्रणीतः निक्षिप्तोऽस्मि। हे कृपण वत्सल! हे उशत्तम! कदानु त्वं प्रीतः सन् अपवर्ग भूतं शरणं तवाङ्घ्रि मूलं प्रति ह्वयसे, मामह्वयिष्यसि ॥"

भगवत् प्राप्ति हेतु व्याकुल होकर ही कदाचित् भक्तगण सामीप्य मुक्ति वाञ्छा करते हैं। श्रीप्रह्लाद की उक्ति यह सुव्यक्त हुआ है—श्रीप्रह्लाद श्रीनृसिंह देव को कहे थे— हे दीनवत्सल! दुःसह—भगवद्-वहिर्मुखचेष्टामय होने के कारण उग्र संसार चक्र कदन से मैं सन्त्रस्त हूँ। उस में भी मैं ग्रासकारि वृन्द के मध्य में निक्षिप्त हूँ। हे कमनीयतम! आप सन्तुष्ट होकर अपवर्गभूत आश्रय आप के चरण मूल में कब आह्वान करेंगे? श्लोकः व्याख्या—दुःसह-भगवद् वहिर्मुखव्य पार मय हेतु जिस का अनुशीलन असम्भव है, भगवद् भक्ति विरोधि व्यापारमय होने के कारण उग्र-भयानक जो संसार चक्र है, उस से जो कदन--लोक समूह का मनोदुःख है, उस से मैं व्याकुल हूँ। एतज्जन्य मैं आप के अभिमुखी हो नहीं सकता हूँ।

श्रीशुकदेव—प्रह्लाद चरित्र का वर्णन परीक्षित् समीप में श्रीनारद युधिष्ठिर संवाद रूप में किये हैं—भा० ७।१०।१--२ श्रीनारद बोले थे—

"भक्ति योगस्य तत् सर्वमन्तरायतयार्भकः।
मन्यमानो हृषीकेशं स्मयमान उवाच ह।।"१४७॥

श्रीप्रह्लाद उवाच,—

मा मां प्रलोभयोत्पत्त्यासक्तं कामेषु तैर्वरैः ।
तत्सङ्गभीतो निर्विण्णो मुमुक्षुस्त्वामुपाश्रितः ।।" १४८।।

इत्यनेन । यद्यप्येवं त्रस्तोऽस्मि, तथाप्यहो ग्रसतां भगवद्विरोधित्वेन मादृश—सर्व्वङ्गिलानामेषामसुराणां मध्ये स्वकर्म्मभिर्बद्धः सन् प्रणीतो निक्षिप्तोऽस्मि । ततस्तव विरहदूनतयेदं याचे—कदा नु प्रीतः सन्नपवर्गभूतमरणं शरणं तवाङ्घ्रिमूलं त्वत्समीपं प्रति मामाह्वास्यसीति ।। प्रह्लादः श्रीनृसिंहम् ।।

५० अतएव विष्णुपुराणे तस्य श्रीमत्प्रह्लादस्य केवलप्रीतिवर-याच्ञापि नानेन विरुद्धा, यथा ( वि० पु० १।२०।१८-१९,२६-२७)—

"नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम् । तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युतेऽस्तु सदा त्वयि ।।१४९।।
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी । त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु ।।१५०।।
कृतकृत्योऽस्मि भगवन् वरेणानेन यत्त्वयि । भवित्री त्वत्प्रसादेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।।१५१।।

---

श्रीनृसिंह देव, जो वर प्रदान करने के इच्छुक थे, बालक प्रह्लाद उस को भक्ति योग का अन्तराय जानकर "प्रभु अज्ञ मुझ को प्रलुब्ध करके मेरी बुद्धि परीक्षा कर रहे हैं, इस प्रकार विचार करके स्मित हास्य के सहित हृषीकेश को कहे थे—मैं स्वभावतः कामासक्त हूँ । अतः वरप्रदानेच्छु होकर काम के प्रति मुझ को प्रलुब्ध न करें ।

"मा मां प्रलोभयोत्पत्त्यासक्तं कामेषु तैर्वरैः ।
तत्सङ्गभीतो निर्विण्णो मुमुक्षुस्त्वामुपाश्रितः ।।१४८।।

मैं काम सङ्ग से भीत हूँ । उस में विरक्त एवं मोक्षाभिलाषी होकर मैं आप की शरणापन्न हूँ ।

यद्यपि में 'प्रह्लाद' इस प्रकार व्याकुल हूँ, तथापि कैसा दुःख है ? ग्रास कारी भगवद् विद्विष के द्वारा मेरे समान सब को जो ग्रास करते हैं---इस प्रकार असुर गण के मध्य में मैं निक्षिप्त हूँ । सुतरां आप के विरह से नितान्त कातर होकर यही प्रार्थना करता हूँ । कब--मुक्ति स्वरूप शरण--आश्रय आप के चरण मूल में, आप के समीप में बुलाओगे ?

प्रह्लाद श्रीनृसिंह को कहे थे ।।४९।।

श्रीभगवत् सेवा में ही मुक्ति की सार्थकता ।

५० । अतएव विष्णु पुराण में वर्णित के अनुसार श्रीप्रह्लाद के द्वारा केवल प्रीति वर प्रार्थना भी विरुद्ध नहीं होती है ।

'नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम् ।
तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युतेऽस्तु सदा त्वयि ।।१४९।।
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु ।।१५०।।
कृतकृत्योऽस्मि भगवन् वरेणानेन यत्त्वयि ।
भवित्री त्वत्प्रसादेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।।१५१।।
धर्म्मार्थकामैः किन्तस्य मुक्तिस्तस्य करे स्थिता ।

धर्म्मार्थकामैः किन्तस्य मुक्तिस्तस्य करे स्थिता। समस्तजगतां मूले यस्य भक्तिः स्थिरा त्वयि ॥''१५२॥

तत्र श्रीमत्परमेश्वरवाक्यमपि तथैव (वि० पु० १।२०।२८)—

"यथा ते निश्चलं चेतो मयि भक्तिसमन्वितम्। तथा त्वं मत्प्रसादेन निर्व्वाणं परमाप्स्यसि॥''१५३॥

यथा येन प्रकारेण, तथा तेन प्रकारेणैव परं मदीयचरणसेवोचितत्वेन महदित्यर्थः,— (भा० ५।१४।४४) ''सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः'' इत्युक्तत्वात्। तथा वक्ष्यमाणाभि- प्रायेणैवैतदाह (भा० ११।२।२८) —

---

समस्तजगतां मूले यस्य भक्तिः स्थिरा त्वयि ॥''१५२॥ इति,

हे प्रभो! सहस्र सहस्र जन्म ग्रहण हो, किन्तु हे अच्युत। तुम्हारे चरणों में जैसे अविचला भक्ति हो, अविवेकि वृन्द की विषयों में जिस प्रकार क्षय रहिता प्रीति होती है, उस प्रकार प्रीति, तुम्हारा स्मरणकारी मेरा हृदय से विदूरित न हो,

हे भगवन्! तुम्हारी कृपा से तुम्हारे चरणों में अव्यभिचारिणी भक्ति होगी: इस वर के द्वारा मैं सुतृप्त हूँ। उक्त प्रीति जैसे मेरे हृदय से अपसृत न हो, समस्त जगत् के मूल स्वरूप तुम्हारे में जिस की भक्ति स्थिर होती है, उस के पक्ष में धर्म, अर्थ, एवं काम से प्रयोजन ही क्या है? मुक्ति भी उस की करतल गता है।

वहाँपर श्रीभगवान् की उक्ति भी तदनुरूप है---उन्होंने कहा—

"यथा ते निश्चलं चेतो मयि भक्तिसमन्वितम्।
तथा त्वं मत्प्रसादेन निर्व्वाणं परमाप्स्यसि॥''१५३॥ इति।

तुम्हारा भक्ति समन्वित चित्त मुझ में जिस प्रकार स्थिर है, उस प्रकार मदीय अनुग्रह से तुम श्रेष्ठ मुक्ति को प्राप्त करोगे। अर्थात् श्रीप्रह्लाद को जिस प्रकार निश्चल रूप से चित्त की स्थिति है, उस को मुक्ति लाभ भी उस प्रकार सर्वोत्तम है। तज्जन्य उन्होंने कहा—श्रेष्ठ—मदीय चरण सेवा योग्या महती। कारण, जिस का मन, सेवा में अनुरक्त है, उसके समीप में मुक्ति भी अतितुच्छ है।

प्रह्लाद का चित्त श्रीभगवत् सेवा में अनुरक्त था। भगवत् सेवा व्यतीत उन में अपर वासना नहीं थी, उन को सेवा विहीन मुक्तिदान करने से उपहास होता है। तज्जन्य भगवान् बोले थे--"श्रेष्ठ मुक्ति को प्राप्त करोगे" सेवा रहिता मुक्ति भक्त के समीप में अति तुच्छ है, सेवा युक्त मुक्ति आदरणीया है। प्रह्लाद तुम जो सेवाभिलाषी हो, उस सेवा युक्ता मुक्ति को ही तुम प्राप्त करोगे। यही श्री भगवान् का वक्तव्य है। सेवा के सम्पर्क में भक्त गण, मुक्ति को आदर करते हैं। तज्जन्य यह महती है। भगवान् और भी कहे हैं। तुम्हारा चित्त जिस प्रकार भक्ति समन्वित है— जिस मुक्ति को प्राप्त करोगे वह भी भक्ति समन्विता होगी। भा० ५।१४ ४४ में उक्त है—

'जो दुस्त्यजान् क्षितिसुतस्वजनार्थ दारान्।
प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम्।
नैच्छ न्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्।
सेवानुरक्त मनसामभवोऽपि फल्गुः॥"

टीका—यतो मधुद्विषः सेवायामनुरक्तं मनो येषां तेषां महताम् अभवो मोक्षोऽपि फल्गु स्तुच्छ एव।'

जो भगवत् सेवानुरक्त हैं, उन के पक्ष में मुक्ति सार हीन है। निम्नोक्त अभि प्रायानुसार भा० ११।२ ८ में उक्त है—

(५०) "अहं किल पुरानन्तं प्रजार्थो भुवि मुक्तिदम्।
अपूजयं न मोक्षाय मोहितो देवमायया ।।"१५४

सुतपोनाम्ना निजांशेनाहमनन्तमन्यत्र मुक्तिदमपि तल्लक्षणप्रजाप्रयोजनक एवापूजयम्, न तु मोक्षाया-पूजयम्। यतो देवे तस्मिन् तद्दर्शनोत्थिता या माया कृपा पुत्रभावस्तेन मोहितः,-"माया दम्भे कृपायाञ्च" इति विश्वप्रकाशात्। किलेति सूतीगृहे श्रीकृष्णवाक्यमपि प्रमाणीकृतम्। अथ (भा० ११।२।९) "यथा विचित्रव्यसनात्" इत्यादि-तद्वाक्यान्तरेषु च, व्यसनं श्रीकृष्णविच्छेदहेतुः, भयं भावितद्विच्छेदशङ्केति व्याख्येयम्। तत्र (भा० ११।२।३३) "मन्ये-

---

(५०) "अहं किल पुरानन्तं प्रजार्थो भुवि मुक्तिदम्।
अपूजयं न मोक्षाय मोहितो देवमायया ।।" १५४।।

श्रीवसुदेव श्रीनारद को कहे थे—पूर्व काल में मैं पृथिवी में पुत्रार्थी होकर भक्ति दाता अनन्त का अर्च्चन किया था, देवमाया से मोहित होकर मुक्ति हेतु उन का अर्चन नहीं किया।

उक्त का अन्तर्निहित अभिप्राय यह है—सुतपा नामक निज अंश में मैं 'वसुदेव' अनन्त - जो मुक्ति प्रदान करते हैं—उनकी पूजा उनके समान पुत्र प्राप्त करने के अभिलाष से ही किया था। मोक्ष लाभ हेतु उनकी पूजा नहीं किया। कारण, देव श्रीकृष्ण में उनकी दर्शनोत्थिता जो माया--कृपा--पुत्रभाव--उस से मोहित होकर माया शब्द का कृपा अर्थ—विश्वप्रकाश में है—'माया दम्भे कृपायाञ्च" उक्त श्लोक में लिखित 'किंवा' अव्यय के द्वारा सूतिकागृह में श्रीभगवान् कृष्ण जो कहे थे, वह प्रमाणित हुआ।

अर्थात् तपस्यादि सम्बन्ध में भगवद्वाक्य जिस प्रकार प्रमाण है, उस प्रकार यह वाक्य भी भगवद् वाक्य का पोषक है। भगवत् सेवानुरक्त भक्त वृन्द मोक्ष को तुच्छ मानते हैं, किन्तु वसुदेव ने मुक्ति की आकाङ्क्षा नहीं की, इस वाक्य से भक्त के द्वारा मोक्ष का समादर करना स्थापित ही होता है, अतः समाधान हेतु श्रीवसुदेव की उक्ति को उठाते हैं—भा० ११।२।९ में लिखित है--

"यथा विचित्र व्यसनाद् भवद्भिर्विश्वतो भयात्।
मुच्ये मह्यञ्जसेवाद्धा तथा नः शाधि सुव्रत ।।"

हे सुव्रत! विविध दुःख एवं सर्वव्यापी भय से जैसे अनायास मुक्त हो जाऊँ,- इस प्रकार शिक्षा प्रदान करें। इस वाक्यस्थ विविध दुःख शब्द से कृष्ण विच्छेद हेतु दुःख, एवं भय शब्द से ब्रह्म शाप द्वारा यदुवंशध्वंस होने से भविष्य में कृष्ण विच्छेद होने की आशङ्का को जानना होगा। उस का उत्तर भा० ११। २।३३ के श्रीनारदोवाहृत वाक्य में है—

"मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम्।
उद्विग्नबुद्धे रसदात्मभावात् विश्वात्मना यत्र निवर्त्तते भीः ।।"

टीका----प्रथमात्यन्तिकं क्षेमं कथयति मन्य इति। न कुतश्चिद् भयं यस्मात् तत् अकुतश्चिद् भयम्। अत्र संसारे असदात्मभावात् असति देहादात्मभावनातो नित्य सर्वदा उद्विग्नबुद्धेः, विश्वात्मना सर्वथा, निःशेषं यत्र पादाम्बुजोपासने भी निवर्त्तते तत्।

हे सुव्रत! विविध दुःख एवं सर्वव्यापी भय से जैसे अनायास साक्षात् मुक्ति लाभ कर सकुँ, उसकी शिक्षा दान करें।

असत्--देह कुटुम्बादि में आत्मा--आत्मीय भावना हेतु उद्विग्नचित्त मनुष्य वृन्द में सर्वव्यापी भय

ऽकुतश्चित्" इत्यादि-श्रीनारदोदाहृत-वाक्यमुत्तरं गम्यम्। अत्र हि विश्व-शब्दादुक्तभय-निवर्त्तनमपि प्रतिपाद्यामहे। संवादान्ते (भा० ११।५।४५) "त्वमप्येतान्" इत्यादिद्वयं चातिदेशेन साक्षात् श्रीकृष्णप्राप्तिगमकमेव तयोरिति ।। श्रीमदानकदुन्दुभिः श्रीनारदम् ।।

५१। तदेवं तेषां तत्तत्प्रार्थनमपि तत्प्रीतिविलास एव। अत्रेदं तत्त्वम्,-एकान्तिनस्तावद्-द्विविधाः, अजात-जातप्रीतित्वभेदेन, जातप्रीतयश्च त्रिविधाः,-एके तदीयानुभवमात्रनिष्ठाः शान्तभक्तादयः, अन्ये तदीयदर्शनसेवनादिरसमयाः परिकरविशेषाभिमानिनः, स्वयं-परिकर विशेषाश्च। तत्र तेष्वजातप्रीतिभिः सर्व्वपुरुषार्थत्वेन तत्प्रीतिरेव प्रार्थनीया। अथ जातप्रीतिषु शान्तभक्तादयस्तु कदाचिद्दर्शनादिकं वा प्रार्थयन्ते, सेवादिकं विनैव,---तद्वासनाया अभावात्,

---

उपस्थित होता है। सतत अच्युत के चरण कमल की उपासना करने से इस संसार में किसी से भय उपस्थित नहीं होता है। यहाँपर 'भय' शब्द में सर्वव्यापी 'विश्वात्मना' जो विशेषण प्रयुक्त हुआ है, उस शब्द से उक्त भय--भावि श्रीकृष्ण विच्छेद शङ्का निवृत्ति को प्रतिपादन कर सकते हैं।

श्रीवसुदेव नारद संवाद के शेष अंश में उक्त है-(भा० ११।५।४५)

"त्वमप्येतान् महाभाग धर्म्मान् भागवतान् शुभान्
आस्थितः श्रद्धयायुक्तो निःसङ्गो यास्यसे परम् ।।
युवयोः खलु दम्पत्योर्यशसा पूरितं जगत्।
पुत्रतामगमद् यद्वां भगवानीश्वरोहरिः ।।"

हे महाभाग ! तुम, निष्ठा के सहित यह सब शुभ भागवद् धर्माचरण में निःसङ्ग होकर क्या साधक भक्तवत् परमेश्वर को प्राप्त करोगे ? यह कहना सम्भव नहीं है। कारण, भगवान् ईश्वर हरि तुम्हारे पुत्र होकर अवतीर्ण हुए हैं, तुम्हारे यश: से यह जगत् पूर्ण हो गया है। अतिदेश नियमक द्वारा यह श्लोक द्वय से वसुदेव देवकी की साक्षात् भगवत् प्राप्ति की प्रतीति होती है। अन्यधर्मस्यान्यत्रारोपणम्,- अतिदेशः, अर्थात् अन्य धर्म का अन्यत्र आरोपण का नाम अतिदेश है।

"प्राकृतात् कर्म्मणो यस्मात् तत् समानेषु कर्म्मसु।
धर्मोऽतिदिश्यते येन अतिदेशः स उच्यते ।।"

श्रीमदानकदुन्दुभि--श्रीनारद को कहे थे ।।५०।।

## अभीष्ट सेवा प्राप्ति की निश्चयता।

५१। अतएव श्रीयुधिष्ठिरादि, श्रीप्रह्लाद, श्रीवसुदेव प्रभृति के समान शुद्ध भक्त वृन्द की सम्पद् मुक्ति प्रभृति की प्रार्थना श्रीभगवत् प्रीति का विलास ही है। इस विषय में ज्ञातव्य यह है—एकान्ति भक्त अजात प्रीति एवं जात प्रीति भेद से जात प्रीति भक्त भी त्रिविध हैं। भगवदनुभव मात्र में निष्ठा सम्पन्न शान्त भक्त प्रभृति, भगवान् के दर्शन सेवनादि रसमय परिकर विशेषाभिमानी, एवं स्वयं परिकर विशेष। एकान्ति भक्त गण के मध्य में अजात् प्रीति भक्त वृन्द के पक्ष में सर्व पुरुषार्थ रूप में भगवत् प्रीति ही काम्य है। एवं जात प्रीति भक्त वृन्द के मध्य में शान्त भक्त प्रभृति कभी तो सेवादि व्यतीत केवल दर्शनादि प्रार्थना करते हैं,कारण, उन में सेवाभिलाष नहीं है। वे एकवार मात्र श्रीभगवान् की कृपा दृष्टि प्राप्त करके ही तृप्त होते हैं, भा० ३।२१।४६ में श्रीकर्द्दम को लक्ष्य करके उक्त है—

"नातिक्षामं भगवतः स्निग्धापाङ्ग विलोकनात्।
तद् व्याहृतामृतकला पीयूष श्रवणेन च ।।"

सकृदपि कृपादृष्ट्यादिलाभेन तृप्ताश्च भवन्ति (भा० ३।१२।४६) "नातिक्षामं भगवतः स्निग्धापाङ्गविलोकनात्" इति श्रीकर्दमवर्णनात्। अतएव तत्सामीप्यादिकेऽपि तेषामनाग्रहः। ये तु तत्परिकरविशेषाभिमानिनस्ते खलु तत्तत्प्रीतिविशेषोत्कण्ठिनो यदा भवन्ति, तदा तत्तत्सेवाविशेषेच्छया प्रार्थयन्त एव तत्सामीप्यादिकम्। तत्प्रार्थना च प्रीतिविलासरूपैव, पुष्णाति च तामिति गुण एव। यदा च तेषां दैन्येन तत्प्राप्त्यसम्भावना जायते, तदापि च तत्प्रीत्यविच्छेदमात्रं प्रार्थयन्ते, सोऽपि च गुण एव। यत्तु केवलसंसारमोक्ष-तत्सामीप्यानन्द-विशेष-प्रार्थनं प्रीतिविकारताशून्यम्, तत् पुनः सर्व्वथा केषाञ्चिदप्येकान्तिनां नाभिरुचितम्। अतएव (भा० ११।२०।३३) "सर्व्वं मद्भक्तियोगेन" इत्यादौ कथञ्चिद्भक्त्युपयोगित्वेनैवेति। एवं (भा० ३।२९।१३) "सालोक्य--सार्ष्टि--"इत्यादौ तेषां मध्ये सेवनं विना यत्तन्न गृह्णन्ति,

---

श्रीकर्दम मुनि—श्रीभगवान् की स्निग्ध दृष्टि को प्राप्त कर वाक्य रूप चन्द्र का अमृत पान किये थे। तज्जन्य तपस्या में अत्यन्त कृश होने पर भी उनको अतिशय क्षीण दिखाई नहीं पड़ता था।'

अर्थात् दर्शन दान करके श्रीकर्दम के निकट श्रीभगवान् अन्तर्हित होने पर विच्छेद जनित स ताप से उन को अतिशय क्षीण होना समीचीन था। किन्तु वैसा नहीं हुआ। किन्तु दर्शन लाभ के पूर्व में आपने अति कठोर तपस्या की, उस से कृश होने पर भी भगवद् दर्शन एवं वाक्य श्रवण जनित तृप्ति उन को पुष्ट करने में सक्षम रही। इस से बोध होता हैं कि—श्रीकर्दम, सर्वदा दर्शन एवं साक्षात् सेवाभिलाषी नहीं थे, एकवार दर्शन मात्र से ही आप कृतार्थ हो गये थे। किन्तु बाहर एकवार मात्र दर्शन होने पर भी सतत अन्तः साक्षात् कार, दर्शन कारी का वर्तमान रहता है।

अतएव जिन्होंने एक वार मात्र कृपा दृष्टि प्राप्त कर कृतार्थ हुआ है, भगवत् सामीप्य प्रभृति में उन का आग्रह नहीं होता है। श्रीभगवत् परिकर विशेषाभिमानी भक्त वृन्द, जिस समय दास सख्यादि प्रीति विशेष को प्राप्त करने के निमित्त उत्कण्ठित होते हैं, उस समय दास्यादि के योग्य सेवा विशेषाभिलाष हेतु वे श्रीभगवान् के सामीप्य प्रार्थना करते हैं। वह प्रार्थना प्रीति की ही विलास रूपा है—इस में कोई सन्देह नहीं है। किन्तु वह मुमुक्षु की प्रार्थना के समान निश्चय ही स्वसुख तात्पर्य्यमयी नहीं है।

वह प्रार्थना प्रीति को ही पुष्ट करती है, अतः वह गुण ही है। और जब दैन्य हेतु भक्त वृन्द भगवत् प्राप्ति की असम्भावना का अनुभव करते हैं, तभी वे भगवत प्रीति का विच्छेद जैसे न हो, यह प्रार्थना करते हैं, वह उनके पक्ष में गुण ही है। किन्तु केवल संसार मोक्ष एवं भगवत् सामीप्य नन्द लाभ हेतु जो प्रार्थना है, वह प्रीति विकारता शून्य है, उस प्रार्थना में भगवत् प्रीति का सम्पर्क नहीं है किन्तु सर्वतोभावेन किसी भी एकान्ति भक्त की वह प्रार्थना रुचिकर नहीं होती है। अतएव भा० ११।२०।३३ में उक्त "सर्वं मद्भक्ति योगेन मद्भक्तोलभतेऽञ्जसा।।" मेरी भक्ति के द्वारा मेरा भक्त, अनायास सब कुछ प्राप्त करता है। इस श्लोक में भक्ति योग के द्वारा स्वर्ग, अपवर्ग, धाम प्रभृति निखिल पुरुषार्थ प्राप्ति की जो वात कही गई है, उस को भी भगवत् सेवा के उपयोगि रूप में ही जानना होगा। इस प्रकार भा० ३।२९।१३ में श्रीकपिल देव की उक्ति में प्रकाश है—"सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्य एवं सायुज्य-इन पञ्चविध मुक्ति को देने पर भी मदीय भक्तवृन्द मेरी सेवा को छोड़कर अपर कुछ भी नहीं ग्रहण करते हैं। जो मुक्ति, सेवा रहिता है, भक्तगण उस को ग्रहण नहीं करते हैं, किन्तु सेवोपयोगिनी जो मुक्ति, उस को ग्रहण करते हैं। यही कहा गया है। उस के मध्य में जीवेश्वर की एकत्व लक्षण जो सायुज्य मुक्ति है।

किन्तु सेवनोपयोग्येव गृह्णन्तीति कथ्यते, तत्रैकत्वलक्षणं सायुज्यन्तु स्वरूपत एव तद्विनाभूतम्, अन्यत्तु वासनाभेदेन सारूप्यस्य च सेवोपकारित्वं शोभाविशेषेण। श्रीवैकुण्ठेऽपि तदीय-नित्य-सेवकानां तथैव तादृशत्वम्। लोकेऽपि किशोर-विदग्ध-क्षितिपतिपुत्रैः समानरूप-वयस्काः सेवकाः संगृहीता दृश्यन्ते, श्लाघ्यन्ते च लोकैः। तस्माद्यथा तथा श्रीमत्प्रीतेरेव पुरुषार्थत्व-मित्यायातम्। ते प्रीत्येकपुरुषार्थिनोऽपि भावविशेषेणान्यद्वाञ्छन्तु,न वाञ्छन्तु वा, स्वस्वभक्ति-जात्यनुरूपा भक्तिपरिकराः पदार्थाः संसारध्वंसपूर्व्वकमुदयन्त एव, न ते कदाचिद्व्यभिचरन्ति च, तदेतदुक्तम् (भा० ३।२५।३२-३८)—

"अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ॥१५५॥
जरयत्याशु या कोषं निगीर्णमनलो यथा ॥१५६॥
नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचि-,न्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य, सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥१५७॥
पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः, प्रसन्नहासारुणलोचनानि।

---

स्वरूपतः ही वह सेवा वर्जिता है। अर्थात् जहाँ सेव्य सेवक रूप से दोनों की उपस्थिति है, वहाँ सेवा की सम्भावना है, और जहाँ द्वित्व का अभाव है, वहाँ किसी प्रकार से सेवा की कल्पना नहीं की जा सकती है। जहाँ एक ही व्यक्ति है, वहाँ कौन किस की सेवा करेगा ?

भक्तवृन्द, निज वासना के अनुसार भगवत् सेवोपयोगिनी अन्य मुक्ति ग्रहण करते हैं। अर्थात् भगवद् धाम में रहकर भगवत् सेवा हेतु सालोक्य, समारोह के सहित उनकी सेवा करने के निमित्त सार्ष्टि एवं निरन्तर समीप में रहकर सेवा करने के निमित्त सामीप्य मुक्ति ग्रहण करते हैं।

सालोक्यादि त्रिविध मुक्ति की प्रयोजनीयता सेवा हेतु ही है, किन्तु सारूप्य मुक्ति की प्रयोजनीयता क्या है ? उत्तर में कहते हैं। शोभा विशेष के द्वारा ही सारूप्य की सेवोपकारिता है। श्रीवैकुण्ठ में भी श्रीभगवान् के नित्य सेवकवृन्द, शोभा विशेष के द्वारा ही श्रीकृष्ण के सदृश होते हैं। लोक व्यवहार में में देखने में आता है—किशोर विदग्ध राजकुमार, समान रूप वयस विशिष्ट सेवक संग्रह करता है, लोक में इस प्रकार सेवक की प्रशंसा भी होती है। सुतरां जहाँ जहाँ श्रीमत् प्रीति का ही पुरुषार्थत्व सिद्ध होता है। जिनका प्रीति ही एकमात्र पुरुषार्थ है, वे निज निज भाव विशेष के अनुसार अन्य पदार्थ वाञ्छा करें वा न करें भक्ति की जाति के अनुसार भक्ति परिकर पदार्थ समूह, संसार ध्वंस पूर्वक उपस्थित होते हैं, कभी भी इस का व्यभिचार नहीं होता है। अर्थात् साधारण के समान संसार क्षय भक्त वृन्द का लक्ष्य न होने पर भी अभीष्ट सेवा प्राप्ति के प्राक् काल में संसार क्षय होता है, जिन्होंने सेवा लाभ किया है, उनको कभी सेवा योग्य सामग्री का अभाव नहीं रहता है, प्रयोजन मात्र से ही अनायास समस्त सामग्री उपस्थित होती हैं। भा० ३।२५।३२-३८ में उक्त विषय का वर्णन है—

"अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ॥१५५॥
जरयत्याशु या कोषं निगीर्णमनलो यथा ॥१५६॥
नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचि,-न्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य, सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥१५७॥

रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि, साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ॥१५८॥
तैर्दर्शनीयावयवैरुदार,-विलास-हासेक्षित-वामसूक्तैः ।
हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्ति-,रनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते ॥१५९॥
अथो विभूतिं मम मायया।चिता,–मैश्वर्य्यमष्टाङ्गमनुप्रवृत्तम् ।
श्रियं भागवतीं वा स्पृहयन्ति भद्रां, परस्य मे तेऽश्नुवते नु लोके ॥१६०॥
न कर्हिचिन्मत् पराः शान्तरूपे, नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढ़ि हेतिः ।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च, सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥"१६१॥ इति,

अण्वीं दुर्ज्ञेयां पार्षदलक्षणामित्यर्थः । तदेवं तत्क्रतुन्यायेन च शुद्धभक्तानामन्या गतिर्नास्त्येव, श्रुतिश्च (छा० ३।१४।१)–"यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति, तथेतः प्रेत्य भवति" इति,

---

पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः, प्रसन्नहासारुणलोचनानि ।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि, साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्तिः ॥१५८॥
तैर्दर्शनीयावयवैरुदार,– विलास-हासेक्षित--वामसूक्तैः ।
हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्ति, रनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते ॥१५९॥
अथो विभूतिं मम मायया।चिता,–मैश्वर्य्यमष्टाङ्गमनुप्रवृत्तम् ।
श्रियं भागवतीं वा स्पृहयन्ति भद्रां, परस्य मे तेऽश्नुवते नु लोके ॥१६०॥
न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे, नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढ़ि हेतिः ।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च, सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥"१६१॥

श्रीकपिल देव–जननी देवहूति को कहे थे—निष्कामा भागवती भक्ति, मुक्ति से श्रेष्ठा है। जठराग्नि जिस प्रकार भुक्त अन्न को जीर्ण करता है, उस प्रकार भक्ति भी अशु लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर को दग्ध करदेती है।

कतिपय असाधारण भक्त, जो मेरी पाद सेवा में अनुरक्त हैं, जिनका अभिलाष एक मात्र मुझ में ही है, एवं जो आसक्ति युक्त चित्त से मदीय प्रभाव वर्णन में आदर भाव रखते हैं, वे मेरे सहित एकात्मता अर्थात् सायुज्य को भी नहीं चाहते हैं।

हे मातः! मदीय राम कृष्ण प्रभृति मूर्त्ति समूह के वदन प्रसन्न, नयन अरुण वर्ण, जो उन सब दिव्य वर प्रद मूर्त्ति समूह का दर्शन करते हैं, वे परस्पर मिलित होकर अभीष्ट (श्रीभगवान् के रूप गुणादि) का कीर्त्तन करते हैं।

मनोहर मुख नेत्रादि अवयव युक्त मदीय मूर्त्ति समूह का उदार विलास, हास्य समन्वित दृष्टि एवं वाक्य समूह के द्वारा जिन के-मन एवं इन्द्रिय आकृष्ट हुए हैं, वे मुक्ति को न चाहने पर भी मेरी भक्ति, स्वयं पार्षदत्व लक्षणागति 'अण्वीगति' को प्रदान करती है।

पार्षदत्व प्राप्त करने के पश्चात् भक्त के प्रति जो मेरी कृपा है, उस के प्रभाव से भोग सम्पत्ति, अणिमादि अष्टैश्वर्य्य एवं भगवत् सम्बन्धिनी सार्ष्टिनामक सम्पत्ति (श्रीभगवान् के तुल्य सार्ष्टि मुक्तिलभ्य ऐश्वर्य्य। स्वयं उपस्थित होने पर भी यद्यपि भक्त वृन्द, इन सब को भोग करने की इच्छा नहीं करते हैं। तथापि वैकुण्ठ लोक में वह सब भोग होते रहते हैं।

विकार रहित वैकुण्ठ लोक के अधिवासी जन गण कभी भी भोग हीन नहीं होते हैं, मेरा कालचक्र

"क्रतुरत्र सङ्कल्पः" इति भाष्यकाराः, श्रुत्यन्तरञ्च (वृ० ४।४।६)–"स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म्म कुरुते, यत् कर्म्म कुरुते तदभि सम्पद्यते" इति, अन्यञ्च-"यद्यथा यथोपासते, तदेव भवन्ति" इति, श्रीभगवत्प्रतिज्ञा च (गी० ४।११) — "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" इति, तथैव ब्रह्मवैवर्त्ते–"यदि मां प्राप्तुमिच्छन्ति प्राप्नुवन्त्येव नान्यथा" इति । तत्र श्रीव्रजदेवीनां सा गतिः श्रीकृष्णसन्दर्भे सङ्गमितैवास्ति, (भा० १०।८२।४४)—

"मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ॥"१६२॥

---

भी उन सब को ग्रास नहीं करता है । मैं ही जिस के आत्मीय के समान प्रिय हूँ, पुत्र के समान स्नेह भाजन हूँ, गुरु सदृश उपदेष्टा हूँ, बन्धु तुल्य हितकारी हूँ, इष्ट देवतावत् पूजनीय हूँ— यह सब प्रकारों के द्वारा सब प्रकार से जो लोक मेरा भजन करते हैं, मदीय काल चक्र से उन सब को भय की आशङ्का कहाँ है ?

"तैर्दर्शनीयावयवैः" श्लोक में जो 'अन्वीगति" का उल्लेख है—उस का अर्थ है— दुर्ज्ञेया पार्षदत्व लक्षणा गति ॥

अतएव तत्क्रतु न्याय से-'क्रतुनिश्चयोऽध्यवसायश्च' जिस प्रकार कर्म्म उस प्रकार फल--इस नियम के अनुसार शुद्ध भक्त वृन्द की अन्यगति नहीं है-यह निश्चित हुआ । अर्थात् शुद्ध भक्त गण केवल श्रीभगवत् सेवाभिलाषी होते हैं, अतः वे उक्त सेवा को प्राप्त करते हैं। इस में सन्देह नहीं है । छान्दोग्य ३।१४।१ में उक्त है—"यथा क्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति, तथेतः प्रेत्यभवति" इति" 'क्रतुरत्रसङ्कल्पः' इति भाष्य कारः । इस जगत् में मानव जिस प्रकार सङ्कल्प 'क्रतु' करता है, मृत्यु के पश्चात् उस प्रकार फल प्राप्त करता है । भाष्यकार आचार्य्य शङ्कर के मत में 'क्रतु' शब्द का अर्थ सङ्कल्प है । वृहदारण्यक श्रुति भी इस प्रकार है—४।४।५ "स यथा कामो भवति-तत् क्रतुर्भवति, यत्क्रतु र्भवति, तत् कर्म्म कुरुते, यत् कर्म्म कुरुते तदभि सम्पद्यते" अन्य श्रुति भी इस प्रकार है—वह जीव, जिस प्रकार कामना परायण होता है, उस प्रकार कर्म्म में प्रवृत्त होता है, जिस कर्म्म में प्रवृत्त होता है, उस कर्म्म को वह करता है, जो कर्म्म सम्पादन वह करता है, उसका फल प्राप्त वह करता है । अन्य प्रकार श्रुति यह है—"यद् यथोपासते, तदेव भवन्ति" जो जैसी उपासना करता है वह वैसा होता है । इस सम्बन्ध में श्रीभगवान् की प्रतिज्ञा गीता ४-११ में यह है— "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥

जो जिस भाव से मेरा भजन करते हैं, मैं उन सब को उस प्रकार भाव से ही अनुग्रह करता हूँ । ब्रह्मवैवर्त्त में भी उस प्रकार उल्लेख है—"यदि मां प्राप्तुमिच्छन्ति प्राप्नुवन्त्येव नान्यथा" यदि मुझ को प्राप्त करना चाहते हो, तो मुझ को निश्चय ही प्राप्त करोगे, इस बात की अन्यथा नहीं होगी ॥

भजनानुरूप कृष्ण प्राप्ति के सम्बन्ध में श्रीव्रजदेवी गणों की तादृशी गति हुई है । (भा० १०।८२।४४ कुरुक्षेत्र में गोपीगण के प्रति श्रीकृष्ण कहे थे—

"मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ॥"१३२॥

टीका—अपि च अतिभद्रमिदं यदुत भवतीनां मद्वियोगेन मत्प्रेमातिशयो जात इत्याह मयीति । मयि भक्ति मात्रमेव तावदमृतत्वाय कल्पत इति । यदुत भवतीनां मत्स्नेह आसीत् तद्दिष्ट्या अतिभद्रम् ।

इत्यादिबलेन वचनान्तराणामर्थान्तरस्थापनेन च, तथैव ताः प्रति स्वयमभ्युपगच्छति (भा० १०।२२।२५-२६) —

(५१) "सङ्कल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्च्चनम् ।
मयानुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति ।।१६३।।
न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।
भर्जिजताः क्वथिता धानाः प्रायो वीजाय नेशते ।।"१६४।।

मदर्च्चनं पतिभावमय-मदाराधनात्मको भवतीनां सङ्कल्पो विदितोऽनुमोदितश्च सन् सत्यः सर्व्वदा तादृश-मदर्च्चनाव्यभिचारी भवितुमर्हति युज्यत एव, स च परमप्रेमवतीनां नान्यवत् फलान्तरापेक्षः, किन्तु स्वयमेवास्वाद्यः, यतो न मय्यावेशितधियामिति, मय्यावेशितधियामे-

---

कुतः ? मदापनो मत् प्रापण इति ।"

मेरे प्रति जो भक्ति, उस से निखिल प्राणी अमृतत्व 'पार्षदत्व' प्राप्त कर सकते हैं। मेरे प्रति आप सब का जो स्नेह, (प्रेम) है वह एकान्त मङ्गल कर है। यह स्नेह मुझ को प्राप्त कराने में सक्षम है।

इस प्रकार से एवं अन्यान्य प्रमाण वचनों के अर्थान्तर स्थापन द्वारा श्रीकृष्ण सन्दर्भ में प्रतिपादित हुआ है। श्रीव्रजसुन्दरीगण के निकट श्रीकृष्ण स्वयं उस प्रकार अङ्गीकार किये हैं— भा० १०।२२।२५-२६

(५१) "सङ्कल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्च्चनम् ।
मयानुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति ।।१६३।।
न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।
भर्जिजताः क्वथिता धानाः प्रायो वीजाय नेशते ।।"१६४।।

टीका—भोः साध्व्यो ! भवतीनां मदर्च्चनमेव सङ्कल्पो मनोरथः स च लज्जया युष्माभिरकथितोऽपि मया विदितः समयानुमोदितः अतः सत्यो भवितु मर्हति । अर्हतीति सम्भावनोक्त्या आत्यन्तिको न भविष्यतीति सूचितम्। (२५) तत् कुत इत्यत आह न मयीति। कामाय पुनः काम भोगाय। विषयमहिम्ना कामस्यापि शान्ति हेतुत्वादिति भावः। कामाप्ररोहे दृष्टान्तः। भर्जिता दग्धा, क्वथिता पक्वा धाना यवादि, वीजाय अङ्कुरोद्गमाय, प्राय इति स्वेच्छया पुनः प्ररोहमपि सूचयति। ध्रुवादीनां तथा दर्शनात्।

श्लोक की व्याख्या। मेरा अर्चन पति भावमय मेरी आराधनात्मक आप सब का सङ्कल्प मेरे द्वारा विदित, एवं अनुमोदित होकर, सत्य--सर्वदा, तादृश मेरा अर्च्चन अव्यभिचारी होने का योग्य होता है। वह सङ्कल्प परमप्रेमवती आप सब का अन्य के समान फलान्तर की अपेक्षा प्रसूत नहीं है, किन्तु स्वयं ही आस्वाद्य होता है। कारण, जो लोक मुझ में आविष्ट चित्त हैं, उनकी कामना काम में पर्य्यवसित नहीं होता है। मुझ में आविष्ट चित्त एकान्त भक्त मात्र की कामना--मदर्च्चनात्मक सङ्कल्प--काम में फलान्तराभिलाष में पर्य्यवसित नहीं होता है। पद का प्रयोग होने के कारण अर्थान्तर न्यास हुआ है।

"यस्मिन् विशेषः सामान्यं समर्थ्यते परेण यत् ।
साधर्म्यादथ वैधर्म्यात् सन्यासोऽर्थान्तरस्य हि ।

साधर्म्य से अथवा विरुद्ध धर्म्म से हो, जहाँ सामान्य द्वारा विशेष अथवा विशेष द्वारा सामान्य समर्थित होता है-वहाँ अर्थान्तर न्यास नामक अलङ्कार होता है। प्रस्तुत स्थल में साधर्म्य सामान्य द्वारा

कान्तभक्तमात्राणां कामो मदर्चनात्मकः सङ्कल्पः कामाय फलान्तराभिलाषाय न कल्पते, किन्तु स्वयमेवास्वाद्यो भवतीत्यर्थः। तत्रार्थान्तरन्यासः—भर्ज्जिता इति। प्राय इति वितर्के। धाना भृष्टयवाः, ताः स्वरूपत एव भर्जिताः पुनः स्वादविशेषार्थं घृतेन वा भर्जिता गुड़ादिभिः क्वथिताश्च सत्यो वीजाय वीजत्वाय नेशते, न कल्पन्ते। यववत्ताभिरन्ययवफलनं नेष्यते, किन्तु ता एवास्वाद्यन्त इत्यर्थः। तस्मात्तादृशमदर्चनमेव भवतीनां परमफलमिति भावः। यच्च विषयमहिम्ना शान्तिरेवासां भविष्यतीति शान्तानामुत्प्रेक्षितम्, तच्च ताभिः स्वयमेव ।-

---

विशेष समर्थित हुआ है। फलान्तर अनुत्पादन] साधर्म्य है। सामान्य—भर्ज्जित यव, विशेष--श्रीव्रजदेवी गण का श्रीकृष्णार्च्चन है।

श्लोक में प्रयुक्त 'प्राय' शब्द वितर्क वाचक अव्यय है। उस से भर्ज्जित वा क्वथित यव से कभी क्या अङ्कुरोत्पन्न होता है ? इस प्रकार अर्थ निष्पन्न हुआ है, भृष्ट यव को धाना कहा गया है। भूना हुआ यव, अथवा स्वाद विशेष हेतु घृत में भून कर चाशानी में डालने के बाद]उस से अङ्कुरोदगम की सम्भावना नहीं रहती है, अर्थात् उस से सजातीय अन्य यवोत्पन्न नहीं होता है, किन्तु स्वयं अभिनव आस्वाद्य होता है—यही उक्त कथन का तात्पर्य्य है। सुतरां तादृश मेरी अर्च्चना ही आप सब का परम फल है। अर्थात् जिस प्रकार भृष्ट यव से अन्य यव उत्पन्न नहीं होता है। वही आस्वाद्य होता है, उस प्रकार श्रीव्रजसुन्दरी गण ने जो श्रीकृष्णार्च्चन किया था, उस से अन्य फलोत्पन्न नहीं होगा, वह अर्च्चना ही सर्वोत्तम फल है।

विषय महिमा से अर्थात् उपास्य श्रीकृष्ण की महिमा से उन सब को शान्ति मिलेगी—इस प्रकार शान्त भक्त गण की जो उत्प्रेक्षा की गई है, उस का स्थापन श्रीव्रजसुन्दरी वृन्द ने स्वयं अनुभव करके भा० १०।३१।१४ 'सुरतवर्द्धनम्' इत्यादि पद्य के द्वारा—श्रीकृष्ण के अधरामृत से इतर राग विस्मारण इत्यादि विशेषण द्वारा अन्य विषय रूप में किया है। श्रीकृष्ण, आस्वादन का विषय होने के कारण, 'सुरतवर्द्धन' इत्यादि श्लोक में आस्वादन में अशान्ति ही प्रदर्शित हुई है।

उत्प्रेक्षा लक्षण यह है—"सम्भावनोपमानेनोपमेयोत्कर्षहेतुका" 'उपमेय का उत्कर्ष निबन्धन उपमान के सहित जो सम्भावना है, उस को उत्प्रेक्षा कहते हैं। प्रकृत स्थल में उपमेय श्रीव्रजदेवी गण के श्रीकृष्णार्च्चन जनित आनन्द है, उपमान--शान्त भक्त का ध्यानानन्द है।

भा० १०।३१।१४ का सम्पूर्ण श्लोक यह है—

"सुरत वर्धनं शोकनाशनं स्वरित वेणुना सुष्ठुचुम्बितम्।
इतरराग विस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ॥

श्रीकृष्ण को उद्द्देश्य करके श्रीव्रजदेवगण ने कही थी--हे वीर ! तुम्हारे अधर ही अमृत है। वह सुरत—प्रेम विशेषमय सम्भोगेच्छा वर्द्धित करता है। शोक—तुम्हारे अप्राप्ति जनित दुःखानुभव को ध्वंस करता है, शब्दायमान वेणु के द्वारा सुन्दर रूप से चुम्बित, अर्थात् वेणु द्वारा सुन्दर गायक एवं मानव गण की सार्व भौमेच्छा को विस्मरण कराता है। हम सब को उस अधरामृत प्रदान करो।

शान्त भक्त वृन्द का ध्यान व फल--ध्यान ही है। किन्तु श्रीव्रजसुन्दरी गण की श्रीकृष्णार्चना का परम फल श्रीकृष्णार्चन ही है। यहाँ शान्त भक्त वृन्द की शान्ति के समान सम्भाविन होने पर भी वैशिष्ट्य प्रकाश हुआ है। व्रजसुन्दरी ने स्वयं आस्वादन करके शान्ति लाभ का विवरण न कहकर अशान्ति की कथा ही कही है। शान्त भक्त का इष्टानुभव का फल--शान्ति है। किन्तु यहाँ व्रजसुन्दरी गण की अनुराग मयी प्रीति का विषय एकमात्र श्रीकृष्ण होने के कारण, उन्होंने श्रीकृष्ण माधुर्य्य का अनुभव जितना किया

नुभूयान्यविषयत्वेनैव स्थापितम्, (भा० १०।३१।१४) "सुरतवर्द्धनम्" इत्यादि-पद्ये तदधरामृत-विशेषणेन इतरराग-विस्मारणमित्यनेन, श्रीकृष्णविषयत्वे तु तदशान्तिरेव दर्शिता, सुरत-वर्द्धनमित्यनेन ।। श्रीभगवान् व्रजकुमारीः ।।

५२। तथा श्रीपट्टमहिष्यादीनां श्रीयादवादीनाञ्च गतिस्तथैव सङ्गमितास्ति,—"एते हि यादवाः सर्वे मद्गणा एव भामिनि" इत्यादि, (भा० १०।५९।४३) "रेमे रमाभिर्निजकामसंप्लुतः"

---

है, उतनी ही आस्वादन करने की प्रबल आकाङ्क्षा जगती थी, शान्त भक्त वृन्द का जिस प्रकार अन्य विषयक आसक्ति तिरोहित होती है। श्रीकृष्णाधरामृत पान से उस अन्यत्र आसक्ति का त्याग होता है। भेद केवल-शान्ति एवं अशान्ति अंश में है। श्रीकृष्ण माधुर्य्यास्वादन में जिस की जितनी अशान्ति है, उस का प्रेम उतना ही गरीयान् है। श्रीव्रजदेवी वृन्द का प्रेमोत्कर्ष स्थापन हेतु यह प्रसङ्ग उत्थित हुआ है। श्रीभगवान् व्रजकुमारीवृन्द को कहे थे ।।५१।।

५२। शुद्ध भक्त वृन्द की एकमात्र गति श्रीभगवान् ही हैं वे श्रीभगवान् को प्राप्त करते हैं। श्रीव्रजसुन्दरीगण की श्रीकृष्ण प्राप्ति के समान श्रीपट्ट महिषी एवं श्रीयादवादि की श्रीकृष्ण प्राप्ति निम्नोल्लिखित वचन समूह के द्वारा प्रतिपादित हुई है। पद्म पुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में उक्त है—

"एते हि यादवाः सर्वे मद्गणा एव भामिनि।
सर्वदा मत्प्रिया देवि मत्तुल्य गुण शालिनः ।।"

श्रीकृष्ण श्रीसत्यभामा को कहे थे—हे भामिनि! यह सब यादववृन्द-मेरे निजजन हैं। हे देवि! यह सब सर्वदा मेरे प्रिय हैं, एवं मेरे तुल्य गुण शाली हैं। भा० १०।५९।४३ में उक्त है—

"गृहेषु तासामनपाय्यतर्क्यकृन्निरस्तसाम्यातिशयेष्ववस्थितः।
रेमे रमाभिर्निजकामसंप्लुतोयथेतरोगार्हमेधिकांश्चरन् ।।

जिस प्रकार सामान्य गृहस्थ व्यक्ति गृहस्थ धर्माचरण करता है, उस प्रकार निज काम में निमग्न होकर अचिन्त्य शक्तिमय श्रीकृष्ण, महिषी वृन्द के साम्यातिशय रहित गृह समूह में सर्वतोभावेन अवस्थान करके उन रमा 'लक्ष्मी' गण के सहित रमण करने लगे थे। इस में श्रीद्वारका महिषी गण की श्रीकृष्ण प्राप्ति एवं श्रीकृष्ण के सहित विहार वर्णित है—

महिषीगण के पृथक् पृथक् गृह में प्रकाश भेद से श्रीकृष्ण एक एक मूर्त्ति में अनपायी अर्थात् काय मनोवाक्य से सब प्रकार से अवस्थान करके रमागण के सहित अर्थात् स्वरूप शक्ति की विविध वृत्तिरूपा के सहित रमण करते हैं। तज्जन्य उन में आत्मारामता एवं पूर्ण कामता की हानि नहीं हुई है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—वे यदि स्वरूपभूता होती हैं, तो उन सब के सहित श्रीकृष्ण का आत्म भाव विद्यमान होता है। ऐसा होने पर रस निष्पत्ति कैसे हो सकती है? कारण, पृथक् स्वरूप नायक नायिका द्वय रस के आलम्बन होते हैं, श्रीकृष्ण के सहित जिन का आत्मभाव है, अभेद भावना हेतु रस निष्पत्ति हो ही नहीं सकती है। उत्तर—श्रीकृष्ण स्वयं—निज काम में निमग्न हैं, निज काम-प्राकृत काम नहीं है, स्वजन विशेष में जो प्रेम विशेष है, वही उनका निज काम है, वह सर्व जन प्रसिद्ध प्राकृत काम नहीं है। श्रीकृष्ण उस में ही निमग्न है। शक्ति शक्तिमान में अभेद विद्यमान होने पर भी लीला हेतु महिषी गण पृथक् रूप से आविर्भूता हुई हैं। वे भेद वृत्ति प्रधाना एवं ह्लादिनी नामक स्वरूप शक्ति की वृत्ति विशेष स्वरूपा प्रेममयी है। उनमें श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति विशेष मय प्रेमरस का चमत्कार वैशिष्ट्य उत्पन्न

इत्यादि-वचनबलेन, (भा० १०।९०।४८) "जयति जननिवासः" इत्यादि-स्फुटार्थदर्शनेन,

हो सकता है। वे सब प्रपञ्च में अवतीर्ण होने पर भी उन के गुहादि प्रापञ्चिक वस्तुवत् नहीं हैं किन्तु साम्यातिशय रहित वैकुण्ठ से भी श्रेष्ठ हैं। तज्जन्य श्रीभगवान् वैकुण्ठ में एक रमा के सहित, और द्वारका में अनेक रमाके सहित विहार करते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि—सर्वत्र सर्वतोभावेन अवस्थिति कैसे सम्भव होती है ? समाधानार्थ कहते हैं-श्रीकृष्ण, अचिन्त्य शक्तिमय हैं, अतएव निज शक्ति से ही श्रीकृष्ण उक्त कार्य्य करने में सक्षम हैं, सब प्रकार से अवस्थान करने पर भी-जिस समय प्रेयसी गण के सहित रहना उपयुक्त है। उस उस समय में हो अवस्थान करते हैं।

इस प्रकार समझना होगा। भा० १०।९०।४८ में उक्त श्लोक के द्वारा सुस्पष्ट रूप से यादव वर्ग एवं महिषीगण के सहित निरन्तर श्रीकृष्ण का अवस्थान विदित होता है।

'जयति जन निवासो देवकी जन्म वादो
यदुवर परिषत् स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्म्मम्।
स्थिरचर वृजिनघ्न सुस्मित श्रीमुखेन
व्रजपुर वनितानां वर्द्धयन् कामदेवम् ॥"

जो निखिल जीववृन्द के आश्रय हैं, देवकी में जन्म ग्रहण किये हैं—इस प्रकार जिन की ख्याति है। श्रेष्ठ यादव गण जिन के परिषत् हैं। निज बाहु युगल द्वारा जो अधर्म निरसन पूर्वक स्थावर जङ्गम का दुःख विदूरित करते हैं, जो सुस्मित श्रीमुख के द्वारा व्रजपुर वनिता का कामदेव को वर्द्धित करते हैं, वह श्रीकृष्ण जय युक्त होकर विराजित हैं। श्रीकृष्णसन्दर्भे उक्त श्लोक का विस्तृत विवेचन है। उस का सारार्थ यह है—

प्रकट लीला में श्रीकृष्ण—परिकर वृन्द के सहित विहार करते हैं, यह प्रसिद्ध है। किन्तु अप्रकट प्रकाश में भी आप परिकर वृन्द के सहित नित्य अवस्थान करते हैं, उस का वर्णन इस श्लोक में है। श्रीपरीक्षित् के समीप में श्रीमद् भागवत का कीर्त्तन जिस समय श्रीशुक किये थे—उस समय श्रीकृष्ण लीला की अप्रकट अवस्था थी। किन्तु उक्त श्लोक में 'जयति' वर्त्तमान कालीय क्रिया प्रयोग के द्वारा उस समय श्रीकृष्ण, कहाँ किस प्रकार अवस्थान करते हैं, उस का वर्णन करते हैं। श्लोक का अर्थ—

यदुवरगण--परिषत्--सभ्य हैं जिनके--वह यदुवर परिषत् हैं। देवकी जन्मवाद—देवकी से जन्मग्रहण किये हैं, इस प्रकार ख्याति लाभ जिन्होंने किया है। किं वा देवकी में जन्म, इस प्रकार तत्त्व जिज्ञासु गण जिन के सम्बन्ध में कहते हैं—वह देवकी जन्म वाद हैं। वह श्रीकृष्ण, परमोत्कर्ष के सहित विराजमान हैं। यहाँ "यदुवर परिषत्" विशेषण द्वारा यह बोध होता है कि-लोहित उष्णीषधारी व्यक्ति गण विचरण कर रहे हैं—इस प्रकार कहने से जिस प्रकार बोध होता है—उस प्रकार यदुवर परिषत् विशिष्ट श्रीकृष्ण की जय कीर्त्तित हुई है।

यदुवर परिषत् श्रीकृष्ण की जय घोषणा होने के कारण, श्रीकृष्ण के सहित यादव वृन्द का भी जय कीर्त्तन करना श्रीशुक देव का अभिप्रेत है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—यदि श्रीकृष्ण पूर्वोक्त रूप में नित्य विद्यमान रहते हैं तो 'देवकी में जन्म' इस प्रकार प्रसिद्धि सङ्गत कैसे होगी ? उत्तर में कहते हैं—'स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्म्मम्' निज बाहु समूह के द्वारा अर्थात् भुज युगल एवं भुज चतुष्टय के द्वारा अधर्म--अर्थात् अधर्म बहुल राजन्य वृन्द को विनष्ट करने के निमित्त मनुष्य जगत् में देवकी नन्दन रूप में आविर्भूत होते

लीलान्तरस्यैन्द्रजालिकत्वात्, कूर्म्म पुराण-गत-साक्षात्सीताहरण-प्रत्याख्यायि-मायिकसीता-हरणाख्यान-तुल्यत्वस्थापनाय च। तथैव तदीय-नित्यगण-विशेषाणां श्रीमत्पाण्डवानामपि

---

हैं। यहाँ भुज युगल एवं भुज चतुष्टय कहने का तात्पर्य्य यह है कि—श्रीकृष्ण, व्रज में केवल द्विभुज रूप में, द्वारका मथुरा में कभी द्विभुज, कभी चतुर्भुज रूप में असुर संहार किये थे। द्वारका एवं मथुरा में वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध—चतुर्व्यूह रूप में प्रकट थे, तज्जन्य चतुर्भुज कहा गया है। अथवा आप किस प्रकार जय युक्त हैं? उत्तर में कहते हैं—"स्वैर्दोर्भिः" कालत्रयगत भक्त वृन्द-उनके श्रीकृष्ण के बाहु स्वरूप हैं, उनके द्वारा अधर्म अर्थात् पाप राशि को विनष्ट करके जय युक्त हैं।

देवकी जन्म वाद—का अन्य अर्थ भी हो सकता है। किस हेतु देवकी जन्म वाद हुआ? उत्तर—"स्थिरचर वृजिनघ्न" श्रीकृष्ण निज अभिव्यक्ति के द्वारा स्थावर जङ्गम समूह का संसार दुःख दूरीभूत करते हैं। एतज्जन्य श्रीकृष्ण देवकी में आविर्भूत हुए थे।

अथवा श्रीकृष्ण कैसे जय युक्त होते हैं? उत्तर—यदुपुर एवं व्रज के स्थावर जङ्गम समूह के निज चरण विरह हन्ता होकर श्रीकृष्ण जययुक्त हैं। उन सब के सहित नित्य विहार व्यतीत उन सब के दुःख नाश करना सम्भव पर नहीं है। नित्य विहार प्रतिपादन हेतु कहते हैं—"जन निवासः" जन शब्द स्वजन वाचक है। श्रीकृष्ण-भक्त के हृदय में सपरिकर द्वारका मथुरा वृन्दावन विहारि रूप में प्रकाशमान हैं, विद्वदनुभव ही उस में प्रमाण है।

कार्य्य के द्वारा उनकी जय घोषित हुई है। श्रीकृष्ण, स्वयं किस प्रकार जययुक्त है? प्रकाश हेतु कहते हैं—व्रज वनिता एवं द्वारका मथुरा पुर वनिता वृन्द के काम लक्षण जो देव—श्रीकृष्ण, उस रूप में विराजमान हैं। अर्थात् अन्यत्र हृदय में काम देवता उदय होने से नायक नायिका की आसङ्ग लिप्सा होती है। व्रजपुर वनिता के हृदय में प्राकृत काम देव का प्रवेशाधिकार नहीं है। श्रीकृष्ण उन के हृदय के काम देव स्वरूप हैं, अन्यत्र काम देव जो कार्य्य करते हैं, काम रूपी श्रीकृष्ण ही व्रजपुर वनिता के हृदय में उस कार्य्य सम्पन्न करते हैं। कामरूपी श्रीकृष्ण, सर्वदा निज उद्दीपन करके जययुक्त हैं। यहाँ व्रजपुर वनिता वृन्द के हृदयस्थ काम (प्रेम) एवं उस काम का अधिष्ठातृ देवता का अभेद निर्देश हुआ है। श्रीकृष्ण के समान उनके काम भाव का भी अप्राकृतत्व एवं परमानन्द स्वरूपत्व के द्वारा परम पुरुषार्थ स्थापित हुआ है। वनिता शब्द से श्रीकृष्णानुरागवती द्वारका मथुरा एवं वृन्दावनस्थ सीमन्तिनी वृन्द का संग्रह हुआ है। अत्यन्त अनुरागवती रमणी को वनिता कहते हैं।

यादव वृन्द एवं श्रीद्वारका महिषीवृन्द के सहित श्रीकृष्ण का नित्य विहार कैसे सङ्गत हो सकता है? श्रीमद् भागवत में मौषल लीला में उन सब का ध्वंस वर्णित है। इस प्रकार संशय निरसन हेतु कहते हैं—"लीलान्तरस्यैन्द्र जालिकत्वात्" वह लीला यथार्थ नहीं है। इन्द्रजालवत् मायिक है। एवं कूर्म्मपुराण में जिस प्रकार साक्षात् सीता हरण वृत्तान्त का निषेध करके मायासीता हरण वृत्तान्त का वर्णन हुआ है, उस प्रकार श्रीमद् भागवत में भी माया कल्पित यादवों का ध्वंस वर्णित हुआ है। एतज्जन्य उन सब के सहित श्रीकृष्ण का नित्यविहार सङ्गत हो सकता है।

श्रीमद् भागवत में वर्जित मौषल लीला का विवरण इस प्रकार है—श्रीकृष्ण के आदेश से यादव गण पिण्डारक तीर्थ में यज्ञानुष्ठान किये थे, वहाँ विश्वामित्र असितकण्व प्रभृति समस्त मुनि वृन्दका आगमन हुआ था। यदुबालक गण साम्ब को स्त्री वेश से भूषित कर मुनियों के निकट प्रश्न किये थे—इस आपन्नसत्त्वा रमणी से सन्तान क्या होगी? पुत्र अथवा कन्या? उत्तर में मुनिओं ने कहा—कुल नाशन मुषल प्रसव होगा। यदु बालक गण साम्ब का उदरस्थ वस्त्रोन्मोचन कर देखे थे एक लौह मुषल है, वे

गतिर्व्याख्येया । तत्र श्रीमदर्जुनस्य यथा (भा० १।१५।२८–३१)—

(५२) "एवं चिन्तयतो जिष्णोः कृष्णपादसरोरुहम् ।
सौहार्द्देनातिगाढ़ेन शान्तासीद्विमला मतिः ।।१६५।।
वासुदेवाङ्‌घ्रचनुध्यान–परिवृंहित-रंहसा ।
भक्तचा निर्म्मथिताशेष-कषायधिषणोऽर्जुनः ।।१६६।।
गीतं भगवता ज्ञानं यत्तत् संग्राममूर्द्धनि ।
काल-कर्म्मतमोरुद्धं पुनरध्यगमद्विभुः ।।१६७।।
विशोको ब्रह्मसम्पत्त्या संछिन्नद्वैतसंशयः ।
लीनप्रकृतिनैर्गुण्यादलिङ्गत्वादसम्भवः ।।"१६८।।

---

भीत चित्त से उसे लेकर महाराज उग्रसेन के निकट उपस्थित हुए थे । उग्रसेन मुषल को चूर्ण करके जल में निक्षेप किये थे । एक मत्स्य ने अवशिष्ट लौहांश को भक्षण किया था, चूर्ण समूह तीर में संलग्न होने से उस से तृण का उद्‌भव हुआ था, एवं जाल निबद्ध मत्स्य के उदर से उक्त लौह खण्ड निष्कासित हुआ, उस से जरा नामक व्याध ने तीरका फलक निर्म्माण किया था। कुछ काल के पश्चात् प्रभास तीर्थ में श्रीकृष्ण, द्वारका परिकर वृन्द के सहित उपस्थित हुए थे । वहाँ यादव गण मधुपान करके मत्तता वशतः पारस्परिक कलह में प्रवृत्त होकर ध्वंस हो गये थे । यादव गण विनष्ट होने के पश्चात् श्रीबलदेव मनुष्य लोक त्याग किये थे । अनन्तर श्रीकृष्ण, चतुर्भुज रूप धारण कर एक वृक्ष मूल में उपवेशन करने पर दूर से उनके अरुण चरण युगल को मृग मानकर जरा व्याध ने शर निक्षेप किया था—उस से श्रीकृष्ण लीला का अवसान हुआ । यह लीला मायिक है ।

वृहदग्नि पुराण में उक्त है—रावण के द्वारा अपहृता सीता, माया कल्पित है—

"सीतयाराधितोवह्निः छायासीतामजीजनत् ।
तां जहार दशग्रीवः सीता वह्निपुरं गता ।।"

सीता कर्त्तृक आराधित अग्निदेव छाया सीता का आविर्भाव किये थे। रावण उनको अपहरण किया था । श्रीराम प्रेयसी सीता का गमन अग्नि पुर में हुआ था । लङ्का विजय के पश्चात् अग्नि परीक्षा के समय यथार्थ सीता का आगमन हुआ था ।

श्रीकृष्ण के नित्य परिकर पाण्डवगण की गति की व्याख्या भी उसी प्रकार करनी चाहिये । अर्थात् पाण्डवगण, अप्रकट समय में भी श्रीकृष्ण को प्राप्त किये थे । तन्मध्ये श्रीमद् अर्जुन की गति श्रीमद् भागवत में इस प्रकार वर्णित है । भा० १।१५।२८–३१–

(५२) "एवं चिन्तयतो जिष्णोः कृष्णपादसरोरुहम् ।
सौहार्द्देनातिगाढ़ेन शान्तासीद्विमला मतिः ।।१६५।।
वासुदेवाङ्‌घ्रचनुध्यान--परिवृंहित-रंहसा ।
भक्तचा निर्म्मथिताशेष-कषायधिषणोऽर्जुनः ।।१६६।।
गीतं भगवता ज्ञानं यत्तत् संग्राममूर्द्धनि ।
काल-कर्म्मतमोरुद्धं पुनरध्यगमद्विभुः ।।१६७।।
विशोको ब्रह्मसम्पत्त्या संछिन्नद्वैतसंशयः ।
लीनप्रकृतिनैर्गुण्यादलिङ्गत्वादसम्भवः ।।"१६८।।

शान्ता चेतसि चक्षुषीव भगवदाविर्भावेन दुःखरहिता, अतएव विमला तद्‌वृत्तिभूता ये कालुष्यविशेषास्तैरपि रहिता। वासुदेवेत्यादिनोत्तरपद्यद्वयेन तस्यैव विवरणम्। तत्रानुध्यानं पूर्व्वोक्ता चिन्तैव, कषायः पूर्व्वोक्तं मलमेव, गीतं (गी० १८।६५) "मामेवैष्यसि" इत्यन्तम्, कालो भगवल्लीलेच्छामयः कर्म्म तल्लीला, तमस्तल्लीलावेशेन तदननुसन्धानम्, अध्यगमत् तन्महाविच्छेदस्य तस्यान्तेऽपि तथा तत्प्राप्तेः, पुनः "मामेवैष्यसि" इत्येतद्वाक्यं यथार्थत्वेनानु-

---

इस प्रकार निविड़ स्नेह के सहित श्रीकृष्ण चरण कमल की चिन्ता करते करते अर्जुन की बुद्धि शान्ता एवं विमला हो गई थी। निरन्तर वासुदेव ध्यान निबन्धन भक्ति का प्रबल उच्छ्वास उपस्थित हुआ, तद्‌ द्वारा अर्जुन की बुद्धि के अशेष कषाय विदूरित हो गये थे।

कुरुक्षेत्र युद्धारम्भ में श्रीकृष्ण—अर्जुन के निकट जो ज्ञान का कीर्त्तन किये थे, काल कर्म तमो वशतः जो आवृत हो गया था, पुनर्वार उन्होंने उस को प्राप्त किया।

ब्रह्म सम्पत्ति द्वारा अर्जुन, शोक रहित एवं द्वैत संशय रहित हुये थे। प्रकृति लय होने के कारण नैर्गुण्य एवं अलिङ्ग हेतु अर्जुन असम्भव हो गये।

श्लोकों की व्याख्या इस प्रकार है—शान्ता--चाक्षुष दर्शन के समान चित्त में सुस्पष्ट भगवदाविर्भाव हेतु दुःख रहिता। अतएव विमला--दुःख की वृत्ति भूता जो मलिनता, वह मलिनता रहिता।

"वासुदेवाङ्घ्र्यनुध्यान" श्लोकद्वय में दुःख राहित्य की कथा वर्णित है। उस में अनुध्यान अर्थात् निरन्तर ध्यान--"एवं चिन्तयतो जिष्णोः कृष्णपादसरोरुहम्" श्लोकोक्ता श्रीकृष्ण चिन्ता। कषाय--कृष्ण विच्छेद दुःख की वृत्तिभूता--मानसिक मलिनता। कीर्त्तन--गीत-गीता के १८।६५ 'मामेवैष्यसि' पर्य्यन्त श्रीमद्‌ भगवद्‌ गीता काल—भगवल्लीलेच्छामय। कर्म्म--श्रीकृष्ण की लीला। तमः—श्रीकृष्णलीलाभिनिवेश हेतु श्रीगीता में उपदिष्ट ज्ञान का अननुसन्धान। पुनर्वार उस ज्ञान को प्राप्त किये थे। मौषल लीला के पश्चात् जो सुदारुण कृष्णविच्छेद उपस्थित हुआ था, उस के पश्चात् प्रकट लीला के समान श्रीकृष्ण प्राप्ति निबन्धन, श्रीमद्‌ भगवद्‌ गीता के 'मुझ को ही प्राप्त करोगे' इस श्रीकृष्ण वचन का अनुभव श्रीअर्जुन ने यथार्थ रूप में किया। अनन्तर अर्जुन-कृतार्थ हुये थे। इस का वर्णन—'विशोको ब्रह्म सम्पत्त्या' ब्रह्म सम्पत्ति के द्वारा अर्जुन शोक रहित हुये थे। इस श्लोक में है। ब्रह्म सम्पत्ति—नराकार परम ब्रह्म श्रीकृष्ण साक्षात्‌कार। द्वैत संशय—उक्त साक्षात्‌ कार के पश्चात् "यह मेरा चित्त में स्फूर्त्ति-मात्र है, साक्षात्‌ कार नहीं है,—साक्षात् कार--इस से भिन्न है। इस प्रकार द्विधा बुद्धि। ब्रह्म सम्पत्ति रूप साक्षात्‌ कार से उक्त द्विधा बुद्धि विदूरित हुई थी। उस समय अर्जुन की भगवत् प्राप्ति में अपर के समान जन्मान्तर प्राप्ति—काल सन्धि भी अन्तराय नहीं हुई। तज्जन्य कथित है—प्रकृति लय से नैर्गुण्य--लीना--पलायिता, प्रकृति-- सत्त्व, रज तमः त्रिगुण का कारण। इस प्रकार गुण कारण का विलय हेतु, त्रिगुण एवं गुण कारण प्रकृति से अतीत, अर्जुन हुए थे। उस प्रकार अलिङ्ग-प्राकृत शरीर रहित हुए थे। एतज्जन्य—असम्भव--अर्थात् जन्मान्तर रहित हुए थे। तत् पश्चात् चाक्षुष आविर्भाव होता है--यही विशेष है।

भावार्थ यह है—मौषल लीला के द्वारा यदुकुल ध्वंस होने के समय अर्जुन द्वारका में उपस्थित थे। शोचनीय घटना से शोक में मुह्यमान होकर अर्जुन हस्तिना पुर में उपस्थित होकर महाराज युधिष्ठिर के निकट यदुकुल ध्वंस 'एवं श्रीकृष्णान्तर्धान का वर्णन किये थे।

भुतवान् । ततश्च कृतार्थोऽभवदित्याह—विशोक इत्यादि । ब्रह्मसम्पदया श्रीमन्नराकारपरब्रह्म-साक्षात्कारेण । संछिन्न इयं मम चेतसि स्फूर्त्तिरेव, साक्षात्कारस्त्वन्य इति द्वैते संशयो येन सः । तदा भगवत्प्राप्तौ नान्यवज्जन्मान्तरप्राप्तिकालसन्धिरप्यन्तरायो-ऽभवदित्याह-लीने ति, लीना पलायिता प्रकृतिर्गुणकारणं यस्मादेवम्भूतं यन्नैर्गुण्यं तस्माद्धेतोः, गुणतत्-कारणातीतत्वादित्यर्थः, तथैवालिङ्गत्वात् प्राकृतशरीररहितत्वाच्च, असम्भवो जन्मान्तररहितः, तस्मादनन्तरं चक्षुष्याविर्भवतीत्येव विशेष इति भावः । अतः कलिं प्रति श्रीपरीक्षिद्वचनञ्चाग्रे

---

अनन्तर निविड़ प्रीति के सहित श्रीकृष्ण चरण की चिन्ता करने लगे थे । सत्व साक्षाद् दर्शन के समान हृदय में सुस्पष्ट श्रीकृष्ण स्फूर्त्ति हुई । उस से उनका श्रीकृष्ण विच्छेद जनित जो दारुण शोक वेग था । वह विदूरित हुआ ।

कुरुक्षेत्र समराङ्गण में श्रीकृष्ण, अर्जुन को कहे थे—गी० १८।६५

"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

तुम मद्गत चित्त हो, मेरा भक्त हो, मेरा अर्च्चन शील हो मुझ को नमस्कार करो, ऐसा होने पर मुझ को निश्चय ही प्राप्त करोगे ।

अर्जुन यह भूल ही गये थे । भूलने का कारण यह है—काल, कर्म एवं तमः । वह काल--जिस के द्वारा जगद् व्यापार निष्पन्न होता है नहीं है—किन्तु भगवल्लीलेच्छामय काल है । मायापरवश जीव के ऊपर काल प्रभाव करने में सक्षम है । भगवत् परिकर गण के ऊपर उसका कोई अधिकार नहीं है ॥

मायाबद्ध जीव दीर्घकाल के पश्चात् किसी वस्तु को भूल सकता है, उस का कारण--काल है । भगवत् परिकर वृन्द के ऊपर काल का प्रभाव न होने के कारण, उनकी भ्रान्ति होना असम्भव है । किन्तु श्रीभगवान् किसी लीला निर्वाह हेतु-परिकर वृन्द को किसी विषय में मुग्ध कर रखने की इच्छा करते हैं,

तज्जन्य उक्त लीला निर्वाह पर्य्यन्त उनकी पूर्व स्मृति नहीं होती है । यही भगवदिच्छामय काल है । इस काल प्रभाव से अर्थात् श्रीकृष्ण की इच्छा से अर्जुन श्रीकृष्ण प्राप्ति के निश्चयता सूचक अङ्गीकार को विस्मृत हो गये थे । उस कर्म, जड़ीय कर्म नहीं है, किन्तु श्रीकृष्ण लीला है । मायाविष्ट जीव कर्म्माधीन है, कर्म व्यस्तता निबन्धन विषय विस्मृति जीव को होना सम्भव है । भगवत् पार्षद गण कर्म बन्ध विमुक्त होने के कारण, उन में तादृश विस्मृति असम्भव है । किन्तु भगवल्लीला विशेष में प्रगाढ़ अभिनिवेश हेतु उन में विषय विशेष में विस्मृति भी सम्भव होती है । अर्जुन की विस्मृति इसी श्रेणी की है । उक्त तमः मायिक अज्ञान अर्थात् मोह जनित नहीं है । किन्तु लीलाभिनिवेश हेतु अननुसन्धान है । मायाबद्ध जीव की विस्मृति विषय विशेष में हो सकती है । भगवत् परिकर में उस प्रकार विस्मृति नहीं हो सकती है, किन्तु अननुसन्धान रहता है, उस को तमः शब्द से यहाँ कहा गया है ।

मौषल लीलावसान में सुतीव्र उत्कण्ठा---अर्थात् दारुण शोकोत्पन्न करके श्रीकृष्ण अर्जुन के सहित मिलित होने की इच्छा किये थे । इस प्रकार मिलनानन्द ही उपभोग्य है । प्राप्ति की निश्चयता नहीं है, अथच प्राप्त करने के निमित्त सुतीव्र उत्कण्ठा से हृदय विदीर्ण होता जा रहा है, इस अवस्था में मिलनानन्द की इयत्ता हो सकती है ।

प्रिय सखा अर्जुन को इस प्रकार आनन्द उपभोग कराने के निमित्त ( मुझ को निश्चय ही प्राप्त करोगे । श्रीकृष्ण जो प्रतिज्ञा किये थे, उस को विस्मृत करा दिये थे । एवं कुरुक्षेत्र युद्ध के पश्चाद्वर्त्ती

(भा० १।१७।६)—"यस्त्वं दूरं गते कृष्णे सह गाण्डीवधन्वना" इति। एवं (भा० १।१९।२०) "येऽध्यासनं राज-किरीटजुष्टं, सद्यो जहुर्भगवत्पार्श्वकामाः" इति श्रीमुनिवृन्दवाक्यञ्च। तस्मात् सर्वेषां पाण्डवानां तदीयानाञ्च सैव गतिर्व्याख्येया। श्रीविदुरादीनां यमलोकादिर्गतिश्च तत्तदंशेनैव स्वस्वाधिकारपालनार्थं लीलया कायव्यूहेनेति ज्ञेयम्। तदित्थमेव श्रीभागवत-

---

श्रीकृष्ण लीला समूह में आविष्ट होने के कारण गीतोक्त श्रीकृष्ण वचन का अनुसन्धान नहीं था। अनन्तर शोक में विह्वल होकर श्रीकृष्ण चरण चिन्ता करते करते उक्त रूप की स्फूर्त्ति हुई थी। उस से कृष्ण प्राप्ति की निश्चयता हुई थी। पश्चात् श्रीकृष्ण स्फूर्त्ति ही साक्षात्कार में परिणत हो गई।

जीव जगत् में लोकान्तरित प्रिय व्यक्ति के सहित मिलन हेतु जन्मान्तर की अपेक्षा है। इस जगत् को परित्याग कर जन्मान्तर लाभ इस सन्धिक्षण में प्रिय विच्छेद दुःख भोग करना पड़ता है।

अर्जुन में इस प्रकार नहीं हुआ। अर्थात् अर्जुन को जन्मान्तर ग्रहण नहीं करना पड़ा। अर्जुन का पार्षद देह नित्य है। उस देश में ही श्रीकृष्ण प्राप्ति हुई थी। अप्रकट लीला में प्रवेश के पश्चात् श्रीकृष्ण प्राप्ति--स्फूर्त्ति रूप नहीं है, किन्तु बहिः साक्षात्कार है। लोक जिस प्रकार बन्धु बान्धव को देखते हैं--उस प्रकार देखना ही होता है। यही विशेष है।

अर्जुन के इस प्रकार श्रीकृष्ण प्राप्ति निबन्धन भा० १।१७।६ में उस के बाद श्रीपरीक्षित् कलि को कहे थे—

"यस्त्वं दूरं गते कृष्णे सह गाण्डीव धन्वना।
शोच्योऽस्यशोच्यान् रहसि प्रहरन् बधमर्हसि॥"

टीका—अशोच्यान् निरपराधान् रहसि यस्त्वं प्रहरसि स शोच्यः सापराधोऽसि। अतो बधमर्हसि।

श्रीकृष्ण, गाण्डीवधन्वा अर्जुन के सहित दूर में दूर चले गये हैं, अर्थात् द्वारका की अप्रकट लीला में अवस्थित हैं—यह जानकर क्या तू निरपराधी को निर्जन में मार रहा है? तू अपराधी है, अतः बध योग्य है। भा० १।१९।२० में मुनि वृन्द पाण्डवों को लक्ष्य करके कहे हैं—

"न वा इदं राजर्षिवर्य्य चित्रं भवत्सु कृष्ण समनुव्रतेषु।
येऽध्यासनं राजकिरीट जुष्टं सद्यो जहुर्भगवत् पार्श्वकामाः॥"

टीका—भवत् सु पाण्डोर्वंश्येषु ये जहु रिति युधिष्ठिराद्यभिप्रायेण।

जिन्होंने भगवत् के समीप में गमन हेतु राज किरीट सेवित सिंहासन को सद्य परित्याग किया है। उनके कुलोत्पन्न व्यक्ति के पक्ष में यह आचरण आश्चर्य्य कर नहीं है। अतएव समस्त पाण्डवों की एवं उनके निज जन गण की श्रीकृष्ण प्राप्ति ही अन्तिमा गति है—इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिये।

श्रीविदुर प्रभृति की लीलावसान में जो यम लोकदर्शन गति हुई थी, वह यमादि निज निज अधिकार पालन हेतु लीला द्वारा काय व्यूह से निष्पन्न हुई थी—इस प्रकार समझना होगा। तज्जन्य श्रीमद्भागवत के सहित महाभारत का विरोध नहीं हो सकता है।

श्रीविदुर प्रभृति श्रीकृष्ण पार्षद हैं। प्रकट लीला का अवसान होने से उनको श्रीकृष्ण प्राप्ति हुई थी—यही श्रीमद् भागवत का अभिप्राय है। किन्तु महाभारत का वर्णन इस से भिन्न है—विदूर का यम लोक में गमन, एवं अभिमन्यु का चन्द्रलोक में गमन वर्णित है। यहाँ समाधान निम्नोक्त रूप है—श्रीकृष्ण की प्रकट लीला में अंशावतार समूह उनके मिलित होते हैं, अप्रकट लीला प्रवेश के समय वे निज निज धाम में गमन करते हैं। अप्रकट लीला में प्रवेश के समय विभिन्न देवांश समूह पार्षद गण से वियुक्त होकर विभिन्न देव लोक में गमन करते हैं। देवगण में विभिन्न कार्य्य भार न्यस्त होते हैं। निर्दिष्ट काल में

भारतयोरविरोधः स्यादिति ॥ श्रीसूतः ॥

५३। अथ श्रीपरीक्षितो गतिश्च, (भा० १।१८।१६) —

"स वै महाभागवतः परीक्षिद्-,येनापवर्गाख्यमदभ्रबुद्धिः ।
ज्ञानेन वैयासकि-शब्दितेन, भेजे खगेन्द्रध्वजपादमूलम् ।।"१६९।।

इत्यनेन दर्शिता, एवमेवाहुः (भा० १।१९।२१) —

(५३) "सर्वे वयं तावदिहास्महेऽथ, कलेवरं यावदसौ विहाय ।
लोकं परं विरजस्कं, विशोकं, यास्यत्ययं भागवतप्रधानः ।।" १७०।।

लोक-शब्देन चात्र नान्यल्लक्ष्यते । भगवत्पार्श्वकामा इति तेषामेवोक्ति-स्वारस्यात् ।

---

कार्य्य समूह सम्पन्न करना उन सब को पड़ता है। श्रीकृष्ण लीला के अप्रकट समय में वा पार्षद वृन्द के अप्रकट समय में उन सब का निर्दिष्ट कार्य्य अवशिष्ट था, अतः निज निज अधिकार पालन हेतु उन सब को जाना पड़ता है। एतज्जन्य विदुर--यम लोक में अभिमन्यु--चन्द्र लोक में गमन किये थे।

इस में भी विदुर प्रभृति स्वयं रूप में यम लोकादि को नहीं गये थे। लीला में कायव्यूह आविष्कार पूर्वक यम लोकादि में गमन किये थे। एवं स्वयं रूप में भगवद्धाम को गये थे।

कायव्यूह को स्वयं रूप से अभिन्न मान कर ही विदुर प्रभृति का यम लोकादि में गमन प्रकरण है। किन्तु स्वयं रूप, कायव्यूह से भिन्न होता है। अतएव अपर के अलक्षित भाव से ही विदुर प्रभृति भगवद् धाम में गमन किये थे। इस प्रकार होने के कारण श्रीमद् भागवत की वर्णना के सहित महाभारत में वर्णित उक्त प्रसङ्ग का किसी प्रकार विरोध नहीं है। प्रवक्ता श्रीसूत हैं ।।५२।।

५३। अनन्तर श्रीपरीक्षित् की गति के सम्बन्ध में भा० १।१८।१६ में श्रीशौनकादि ऋषि गण कहे हैं--

"सवै महाभागवतः परीक्षिद् येनापवर्गाख्यमदभ्रबुद्धिः।
ज्ञानेन वैयासकि शब्दितेन भेजे स्वगेन्द्र ध्वज पाद मूलम् ।।"१६९।।

टीका—तच्च शुक परीक्षित् संवादेन कथितेन येन इत्याह स वा इति द्वाभ्याम् वैयासकिना श्रीशुकेन शब्दितेन येन ज्ञानेन--ज्ञान साधनेन, अपवर्ग इत्याख्या यस्य तत् खगेन्द्रध्वजस्य हरेः पादमूलं भेजे ।।

महाभागवत परीक्षित् शुकदेव कथित ज्ञान–श्रीमद् भागवत श्रवण द्वारा अपवर्ग–मोक्ष नामसे प्रसिद्ध श्रीहरि के पाद मूलको प्राप्त किये थे। इस श्लोक में अन्तिम समयमें श्रीपरीक्षित् की श्रीकृष्ण प्राप्ति स्पष्टतः वर्णित है। श्रीपरीक्षित् महाराज के प्रायोपवेशन वृत्तान्त श्रवण से समागत मुनिगण उनके निश्चय को जान कर भा० १।१९ १६ में इस प्रकार कहे थे।

(५३) "सर्वे वयं तावदिहास्महेऽथ, कलेवरं यावदसौ विहाय।
लोकं परं विरजस्कं विशोकं, यास्यत्ययं भागवत प्रधानः।।"१७०।।

टीका—परस्परं मन्त्रयन्त स्ते सर्वे । इति परं श्रेष्ठं लोकम्। तत्र हेतुः विरजस्कं निर्म्मायं विशोकञ्च यास्यति इति कुत स्तत्राह अयमिति।

यावत् पर्य्यन्त यह परम भागवत परीक्षित् देह त्याग करके सत्य, शोक शून्य, परम लोक को प्राप्त नहीं करते हैं तावत् पर्य्यन्त हम सब यहाँपर अवस्थान करेंगे।

श्रीपरीक्षित् महाराज मृगया हेतु गमन के पश्चात् तृष्णार्त्त होकर शमीक मुनि के आश्रम में

श्रीभागवत-प्रधान इति च तस्मादन्ते चेद्ब्रह्मकैवल्यं मन्येत, तथापि क्रमभगवत्प्राप्तिरीत्या

उपस्थित हुए थे । मुनि उस समय ध्यान मग्न थे । एतज्जन्य उनकी अभ्यर्थना कर न सके, उस से क्रुद्ध होकर परीक्षित् महाराज मुनि के गल देश में मृत सर्प अर्पण किये थे । मुनि पुत्र शृङ्गी--वृत्तान्त को जान कर शाप प्रदान किये थे -'सप्तम दिवस में तक्षक दंशन से परीक्षित् की मृत्यु होगी' । शाप वृत्तान्त श्रवण के पश्चात् परीक्षित् राज सिंहासन परित्याग कर निरम्बु उपवास व्रत ग्रहण करके गङ्गातीर में अवस्थान कर रहे थे, उस समय वहाँपर मुनिवृन्द का आगमन हुआ था ।

सन्दर्भकार कृत श्लोकव्याख्या—यहाँपर लोक शब्द से अपर कुछ लक्ष्य नहीं हुआ है, श्रीकृष्ण ही लक्षित हुये हैं। मुनिवृन्द ने पहले ही कहा है कि—श्रीपरीक्षित् भगवत् पार्श्व गमनाभिलाषी हैं । इस उक्ति की सङ्गति उक्त प्रकार से ही होती है । एवं मुनिवृन्दने परीक्षित् को भागवत प्रधान कहे हैं, सुतरां उत्तम भागवत की अन्यगति सम्भव नहीं है । अतः परीक्षित् की श्रीकृष्ण प्राप्ति सुनिश्चित है । उक्त वाक्य से लोकान्तर प्राप्ति को न मानकर यदि ब्रह्म कैवल्य माना जाय तो भी क्रमशः भगवत् प्राप्ति की रीति के अनुसार ब्रह्म कैवल्य के पश्चात् अवश्य ही श्रीपरीक्षित् की भागवत् प्राप्ति को स्वीकार करना ही पड़ेगा' कारण, अजामिल की भगवत् प्राप्ति को जिस प्रकार ब्रह्म कैवल्य के पश्चात् दर्शाया गया है, यहाँपर भी वैसा जानना होगा ।

श्रीशुकदेव के द्वारा श्रीमद् भागवत कीर्त्तन समाप्त होने के पश्चात् श्रीपरीक्षित् भा० १२।६।५ में कहे हैं—

"भगवंस्तक्षकादिभ्यो मृत्युभ्यो न बिभेम्यहम् ।
प्रविष्टो ब्रह्मनिर्वाणं अभयं दर्शितं त्वया ॥"

हे भगवन् ! तक्षकादि मृत्यु से मुझ को भय नहीं है, आप के द्वारा प्रदर्शित ब्रह्म निर्वाण में मैं प्रविष्ट हो गया हूँ । इस श्लोक मे ब्रह्म निर्वाण प्राप्ति को परीक्षित् ने स्वयं ही कहा है । यह भी तक्षक दंशन के पहले की बात है । यदि उन की लोकान्तर प्राप्ति की सम्भावना होती तो इस जगत् में रह कर ही ब्रह्म निर्वाण सम्भव होता । ब्रह्म निर्वाण लाभ होने पर भी चिरकाल उस अवस्था में परीक्षित् नहीं थे । अनन्तर पार्षद रूप में द्वारका के अप्रकट प्रकाश में श्रीकृष्ण को प्राप्त किये थे ।

ब्रह्म निर्वाण प्राप्ति के पश्चात् भगवत् प्राप्ति की वार्त्ता अजामिल की भगवत् प्राप्ति के प्रसङ्ग में स्पष्ट रूप में वर्णित है—परीक्षित् की भगवत् प्राप्ति का क्रम को भी उस रीति से जानना होगा । अजामिल की भगवत् प्राप्ति का क्रम इस प्रकार है—

"ततो गुणेभ्य आत्मानं विसृज्यात्म समाधिना ।
युयुजे भगवद्धाम्नि ब्रह्मण्यनुभवात्मनि ।
यह्युपारतधीस्तस्मिन्नद्राक्षीत् पुरुषान् पुरः ।
उपलभ्योपलब्धान् प्राग् ववन्दे शिरसाद्विजः ॥
हित्वा कलेवरं तीर्थे गङ्गायां दर्शनादनु
सद्यः स्वरूपं जगृहे भगवत् पार्श्ववर्त्तिनाम् ।
साकं विहायसा विप्रो महापुरुष किङ्करैः ।
हैमं विमानमारुह्य ययौ यत्र श्रियः पतिः ॥ भा० ६।२।३६--३८

विष्णु दूतगण के सङ्ग प्रभाव से अजामिल का निर्वेद उपस्थित होनेपर पुत्रादि को परित्याग करके अजामिल गङ्गातीर में गमन किये थे। वहाँ एक आसन कल्पना करके योग धारण किये थे। अनन्तर आत्मा को देहादि सङ्ग से विमुक्त करके समाधि द्वारा अनुभवात्मक भगवद्रूप में अर्थात् सत्तामात्र ब्रह्म में योजित किये

तदनन्तरं भगवत्-प्राप्तिस्त्ववश्यं मन्येतैव, यथाजामिलस्य दर्शितम् ।। श्रीमुनयः ।।

५४ । अथ (भा० १।६।४४) "सम्पद्यमानमाज्ञाय भीष्मं ब्रह्मणि निष्कले" इत्यत्रापि पूर्व्ववदेव समाधानम् । किंवा निष्कलब्रह्म-शब्देन मायातीतो नराकृति-परब्रह्मभूतः श्रीकृष्ण एवोच्यते । तस्मिन् सम्पद्यमानता च तत्सङ्गतिरेव, तथाह (भा० ७।७।३७)—

(५४) "अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मनः, शरीरिणः संसृतिचक्रशातनम् ।
तद्ब्रह्मनिर्वाणसुखं विदुर्बुधा,--स्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम् ।।"१७१।।

हृदये वर्त्तमानं हृदि भजध्वम् ।। श्रीप्रह्लादोऽसुरबालकान् ।।

---

थे । इस श्लोक में अजामिल का ब्रह्म साक्षात्कार वर्णित है । अनन्तर जिस समय ब्रह्म में बुद्धि स्थिर हो गई, उस समय अजामिल पूर्व दृष्ट पुरुष-विष्णु दूत गण को दर्शन करके अवनत मस्तक से प्रणाम किये थे । तत् पश्चात् उनके दर्शन के बाद अजामिल—उस तीर्थ में गङ्गा में देह त्याग करके तत् क्षणात् भगवत् पार्षद स्वरूप लाभ किये थे । अनन्तर भगवत् प्राप्ति—महापुरुष श्रीहरि के किङ्कर गण के सहित सुवर्ण रथ में आरोहण करके जहाँ भगवान् श्रीपति विराजित हैं । वहाँ गमन किये थे ।

यहाँ ब्रह्म निर्वाण के पश्चात् श्रीभगवत् प्राप्ति का वर्णन सुस्पष्ट रूप से हुआ है ।

श्रीमुनिवृन्द कहे थे—५३।।

५४ । यदि विशुद्ध भक्तवृन्द के पक्षमें भगवत् प्राप्ति सुनिश्चित होती है तो-भा० १।६।४४ में वर्णित है-

"सम्पद्यमानमाज्ञाय भीष्मं ब्रह्मणि निष्कले ।
सर्वे बभूवुस्ते तूष्णीं वयांसीव दिनात्यये ।।"

टीका—निष्कले-निरुपाधौ सम्पद्यमानं--मिलितम्, आज्ञाय-आलक्ष्य । वयांसि पक्षिण इव ।

भीष्मदेव को निरुपाधि ब्रह्म में मिलित देखकर युधिष्ठिर प्रभृति समागत जन समूह दिवावसान में पक्षिवृन्द के समान नीरव हुए थे ।

यहाँ सुस्पष्ट ब्रह्म निर्वाण वर्णित है—इस का समाधान क्या होगा ? उत्तर में कहते हैं । यहाँपर भी पूर्व के समान समाधान करना होगा । अर्थात् ब्रह्म कैवल्य के पश्चात् क्रम भगवत् प्राप्ति की रीति के अनुसार भीष्म देव की भगवत् प्राप्ति हुई थी । अथवा, निरुपाधि ब्रह्म शब्द से मायातीत नराकृति परम ब्रह्म स्वरूप श्रीकृष्ण को ही कहा गया है । उन में लय—श्रीकृष्ण प्राप्ति है । श्रीप्रह्लाद--दैत्य बालक गण के निकट भगवत् प्राप्ति को ही ब्रह्म निर्वाण सुख कहे हैं । भा० ७।७।३७ में उक्त है—

(५४) " अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मना, शरीरिणः संसृतिचक्रशातनम् ।
तद्ब्रह्मनिर्वाणसुखं विदुर्बुधा-,स्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम् ।।"१७१।।

टीका—ततः किमत आह । अधोक्षजस्यालम्भं मनसा स्पर्शम् । अधोक्षजालम्भमिति पाठे तस्याश्रयणम् । अशुभः रागादि युक्त आत्मा मनो यस्य । संसृति चक्रशातनं तन्निवर्त्तकं बुधा विदुः, तदेव ब्रह्मणि निर्वाणं लयोमोक्षः तदात्मकं सुखं विदुः । हृदीश्वरमन्तर्यामिणम् ।

अधोक्षज—इन्द्रिय ज्ञानातीत—श्रीहरि का आश्रय ग्रहण ही रागादि भूषित व्यक्ति के पक्ष में संसार नाश का उपाय है, एवं पण्डित गण उसी को ही ब्रह्म निर्वाण सुख मानते हैं । अतएव तुम सब के हृदय में वर्त्तमान अन्तर्य्यामी का भजन करो । हृदय में स्मरण रूप भजन का उपदेश प्रह्लाद दिये थे ।

श्रीप्रह्लाद असुर बालक वृन्द को कहे थे ।।५४।।

५५। सा च कृष्णसङ्गतिस्तस्य प्राषञ्चिकागोचरतयापि कृष्णरूपेणैवानन्तधा-प्रकाशमानस्य श्रीकृष्णस्यैव प्रकाशान्तरे सम्भवेत्, अन्यथा (भा० १।९।३३) "विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या" इति सङ्कल्पानुरूपा फलप्राप्तिर्विरुध्येत। अथ श्रीपृथोर्गतिरपि श्रीपरीक्षिद्वदेव व्याख्येया। तस्यापि ब्रह्मधारणानन्तरं ब्रह्म-कैवल्मविलक्षणां श्रीभगवल्लोक प्राप्तिमेव तद्भार्य्याया अर्च्चिषो गतिदर्शनया सूचयन्ति (भा० ४।२३।२५-२६)—

---

५५। वह श्रीकृष्ण सङ्गति (प्राप्ति) प्रापञ्चिक लोक के अगोचर होने पर भी कृष्ण रूप में अनन्त धाम में प्रकाश मान उन श्रीकृण का ही प्रकाशान्तर में सम्भव है अन्यथा भा० १।९।३३ में वर्णित है–

"त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं रविकर गौरवराम्बरं दधाने।
वपुरलकाकुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या॥"

टीका—इदानीं श्रीकृष्ण मूर्त्ति वर्णयन् रतिं प्रार्थयते। त्रिभुवन कमनं--त्रिलोक्यामेकमेवयत् कमनीयं तद्वपुर्दधाने रतिर्मेऽस्तु। कथम्भूतं वपुः? तमालवन्नीलो वर्णो यस्य तत्। प्रातः कालीना रवेः करा इव स्वत एव गौरे पीते वरे निर्म्मले अम्बरे यस्मिन् तत्। अलक कुलैरुपर्य्यावृतमाननाब्जं यस्मिन् तत्। विजयसखे—पार्थ सारथौ। अनवद्या अहैतुकी फलाभिसन्धि रहिता, रतिरस्तु।

ऊर्द्ध्व मध्य अधोलोकों का अभिलाष जिस में है इस प्रकार वपु को प्रकट जिन्होंने किया है, जिन का अङ्ग वर्ण तमाल के सदृश है, जो प्रातः कालीन सूर्य्य किरण के समान पीत वसन परिधान किये हैं, जिनका मुख कमनीय अलका कुलावृत है,अर्जुन के सखा उन श्रीकृष्णमें मेरी फलाभिसन्धि रहिता रति हो।

अन्यथा अर्जुन के सखा श्रीकृष्ण में मेरी अहैतुकी रति हो—भीष्मदेव की इस प्रकार सङ्कल्पानुरूप फल प्राप्ति नहीं होती।

भीष्म की श्रीकृष्ण प्राप्ति के विषय में संशय हो सकता है, कारण, जब भीष्म शरीर त्याग किये थे, उस समय श्रीकृष्ण के अङ्ग में लीन होना अथवा श्रीकृष्ण के समीप में अवस्थान करना, इस प्रकार वृत्तान्त नहीं है। भीष्म के निर्य्याण समय में श्रीकृष्ण मर्त्यलोक में ही थे अतएव श्रीभीष्म की कृष्ण प्राप्ति कैसे हुई? इस प्रकार संशय निरसन हेतु कहते हैं—भीष्म की श्रीकृष्ण प्राप्ति- लोक नयन के अगोचरीभूत श्रीकृष्ण धाम में ही हुई थी। इस जगत् में प्रकट होने पर भी उस धाम में प्रकाश मान थे। एक ही समय में श्रीकृष्ण अनन्त धाम में प्रकाशित होते हैं। भीष्म, अप्रकट लीला में विराजमान कृष्ण को प्रकाशान्तर में प्राप्त किये थे।

अर्जुन सखा श्रीकृष्ण को प्राप्त करना ही भीष्म का सङ्कल्प था। श्रुति भी कहती है—

यथा— "क्रतुरस्मिल्लोके पुरुषोभवति तथेतः प्रेत्य भवति॥

इस जगत् में जो लोक जिस प्रकार सङ्कल्प करता है, पर लोक में वह उस प्रकार फल लाभ करता है। तदनुसार भीष्म की श्रीकृष्ण प्राप्ति अनिवार्य्य है। किन्तु भीष्म निर्य्याण प्रसङ्ग में ब्रह्म निर्वाण का जो प्रसङ्ग है—उस से ही संशय उपस्थित होता है, तज्जन्य क्रम भगवत् प्राप्ति रीति से ब्रह्म निर्वाण के अनन्तर भीष्म की भगवत् प्राप्ति की व्याख्या की गई है।

अनन्तर पृथुमहाराज की गति भी श्रीपरीक्षित् की गति के समान व्याख्या करनी चाहिये। महाराज पृथु की ब्रह्म धारणा के पश्चात् परम ब्रह्म से विलक्षण श्रीकृष्ण लोक प्राप्ति हुई थी, तदीय भार्य्या अर्च्चि की गति दर्शन के द्वारा यह सूचित होती है। भा० ४।२३।२५-२६ में उक्त है—

(५५) "अहो इयं बधूर्धन्या या चैवं भुभुजां पतिम् ।
सर्वात्मना पतिं भेजे यज्ञेशं श्रीबधूरिव ॥१७२॥
सैषा नूनं व्रजत्यूद्‌र्ध्वमनुवैण्यं पृथुं सती ।
पश्यतास्मानतीत्यार्च्चिदुर्विभाव्येन कर्म्मणा ॥"१७३॥

टीका च—

"त्रयोविंशे सभार्य्यस्य वने नित्यसमाधितः ।
विमानमधिरुह्याथ वैकुण्ठगतिरीर्य्यते ॥"१७४॥

इत्येषा ॥ देव्यः परस्परम् ॥

५६ । श्रीभरतस्यान्ते भक्तिनिष्ठाया एव सूचितत्वान्नान्या गतिश्चिन्त्या, यथा तमुद्दिश्य (भा० ५।६।३) "तत्रापि" इत्यादि-गद्ये "भगवतः कर्मबन्धन-विध्वंसन-श्रवण-स्मरण-गुण-

---

(५५) "अहो इयं बधूर्धन्या या चैवं भुभुजां पतिम् ।
सर्वात्मना पतिं भेजे यज्ञेशं श्रीबधूरिव ॥१७२॥
सैषा नूनं व्रजत्यूद्‌र्ध्वमनुवैण्यं पृथुं सती ।
पश्यतास्मानतीत्यार्च्चिदुर्विभाव्येन कर्म्मणा ॥"१७३॥

असतीनां दुर्विभाव्येन—कर्त्तुमशक्येन कर्म्मणा ।

देवीवृन्द, अर्च्चि की गति के सम्बन्ध में परस्पर बोली थीं, अहो ! यह बधू अर्च्चि अति धन्य है । इन्होंने यज्ञेश्वर श्रीहरि की पत्नी लक्ष्मी के समान सर्वान्तः करण से भूपति गण के पति निज पति पृथु का भजन किया है । वह दुर्विभाव्य निज कर्म्म द्वारा हम सब को अतिक्रम करके स्वामी के पश्चात् पश्चात् ऊद्‌र्ध्व लोक में गमन कर रही हैं ।

इस श्लोक में वर्णित ऊद्‌र्ध्व गति जो भगवद् धाम प्राप्ति है, उस का विवरण त्रयोविंशाध्याय के प्रारम्भ में लिखित स्वामिपाद कृत पद्य से ज्ञात होता है ।

"त्रयोविंशे सभार्य्यस्य वने नित्यसमाधितः ।
विमानमधिरुह्याथ वैकुण्ठगतिरीर्य्यते ॥"१७४॥

त्रयोविंशाध्याय में भार्य्या के सहित वन गमन पूर्वक नित्य समाधि द्वारा रथारोहण कर पृथु का वैकुण्ठ गमन वर्णित हैं । देवीगण परस्पर को कही थीं ॥५५॥

५६ । श्रीभरत के अन्तिम समय में भक्ति निष्ठा का वर्णन हुआ है । अतएव उन के सम्बन्ध में अन्य प्रकार गति की चिन्ता नहीं की जा सकती है, उनको उद्देश्य करके भा० ५।६।३ में 'तत्रापि' गद्य में कहा गया है—

"भगवतः कर्म बन्धन विध्वंसन श्रवण स्मरण गुण विवरण चरणारविन्द युगलं मनसा विदधत् ॥"

भगवान् के जिन चरण युगल के श्रवण, स्मरण, एवं गुणवर्णन से कर्म्म बन्ध विध्वस्त होता है, उनको मनोमध्य में धारण किये थे ।

श्रीभागवत के पञ्चम स्कन्ध में भरत चरित्र वर्णित है, भरत—ऋषभ देव के पुत्र थे, उन के नामानुसार इस देश का भारतवर्ष नाम हुआ है । भरत यौवन काल में ही संसार त्याग पूर्वक वन में तपस्या निरत

विवरण-चरणारविन्द-युगलं मनसा विदधत्'' इत्यादि । स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

५७ । रहूगणमहिमानमुद्दिश्य च (भा० ५।१३।२५) —''एवं हि नृप भगवदाश्रिताश्रितानुभावः'' इति । स्पष्टम् । श्रीशुकः ॥

५८ । (भा० ५।१४।४४) —''यो दुस्त्यज-''इत्यादौ ''मधुद्विड्-,सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः'' इति च । स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

---

हुये थे, दैव से एक मृग शिशु में आसक्त होकर देह त्याग किये थे । तज्जन्य उन को मृग होकर जन्म ग्रहण करना पड़ा इस जन्ममें सर्वत्र उदासीन होकर जड़वत् अवस्थान किये थे । एतज्जन्य आप जड़भरत नाम से प्रसिद्ध हुये । आप रहूगण को परमार्थ विषयक शिक्षा प्रदान किये थे उनके सम्बन्धमें श्रीमद् भागवत में जो कुछ वर्णित है उस से आपाततः प्रतीत होता है कि आप ज्ञानी थे । किन्तु चरित्र पर्य्यालोचन करने से निर्णय होता है कि आप वास्तविक भक्त थे एवं भक्तोचित गति को प्राप्त किये थे । उस का प्रदर्शन इस अनुच्छेद में हुआ है ।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं—५६॥

५७ । भा० ५।१३।२५ रहूगण की महिमा की उद्देश्य करके श्रीशुक देवने कहा है—

''एवं हि नृप भगवदाश्रिताश्रितानुभावः ।''

हे नृप ! भगवदाश्रित व्यक्ति का आश्रय ग्रहण करने की यही महिमा है ।

टीका-सुजनात् तस्मात् सम्यगवगतं परमात्म सतत्त्वं येन तथाभूतः सन् तदानीमेव देहे आत्ममतिश्च विससर्ज्ज । हे नृप ! भगवदाश्रितो भरतः तदाश्रितो रहूगणः यस्तस्यानुभावः सद्यो देहाहङ्कारत्यागः ।।'

भगवदाश्रित भरत, उनके आश्रित रहूगण हैं । महिमा—सद्यः देहाभिमान त्याग । अर्थात् जिन भरत के सङ्ग प्रभाव से रहूगण नृपति का देहाभिमान सद्य विदूरित हुआ था, उनकी भक्ति की महिमा वर्णनातीत है ।

श्रीशुक कहे थे ।।५७।।

५८ । भा० ५।१४।४४ में वर्णित है—

''यो दुस्त्यजान् क्षितिसुत स्वजनार्थ दारान्
प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम्
नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्
सेवानुरक्त मनसामभवोऽपि फल्गुः ॥

टीका—तस्यैवं विषय त्यागो न चित्रमित्याह । य एवम्भूतोऽसौ नृपः स क्षित्यादीन् नैच्छदिति यत् तदुचितम् । सदयावलोकाम्—भरतस्य दया यथा भवति एवमवलोको यस्या इति परिजनावलोकः श्रियामुपचर्य्यते । यतो मधुद्विट् सेवायामनुरक्तमनो येषां तेषां महताम् अभवो मोक्षोऽपि फल्गुस्तुच्छ एव ।

इस में कहा गया है—जो भगवान् मधु सूदन की सेवा में अनुरक्त हैं, उनके निकट मुक्ति भी तुच्छ है । सेवानुराग का वर्णन भा० ५।१४।४५ श्लोक में है—

''यज्ञाय यज्ञपतये विधि नैपुण्याय
योगाय सांख्य शिरसे प्रकृतीश्वराय ।
नारायणाय हरये नमः इत्युदारं
हास्यन् मृगत्वमपि यः समुदाजहार ॥''

टीका—तस्य सेवानुरागमेवाह—यज्ञायेति । यज्ञरूपाय धर्म्मपतये यज्ञादि फल दात्रे । विधौ नैपुण्यं

५९-६० । अतो विष्णुपुराणाद्युक्ता ज्ञानि-भरताद्याः कल्पभेदेनान्ये एव ज्ञेयाः । तदेवमन्येषामपि महाभक्तानां प्रीतेरुदासीना गतिर्न भवत्येव, किमुत विरुद्धा । तदनुकूला सम्पत्तिश्चाप्रार्थितैव भवतीति स्थितम् । प्रीतिमताञ्चायमतिशयः,---यदि भगवता सा न दीयते, तदा तेनादानेनापि प्रीतेरुल्लास एव भवति, यदि वा दीयते, तदा तेनापीति, यथा (भा० १०।८१।२०)—

(५९) "अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत् ।
इति कारुणिको नूनं धनं मे भूरि नाददत् ।।"१७५।।

---

यस्य तस्मै धर्मानुष्ठात्रे । योगोऽष्टाङ्ग स्तस्मै । सांख्यं ज्ञानं, तच्छिरः प्रधानं फलं यस्य तस्मै योगाय । प्रकृतीश्वराय माया नियन्त्रे, अतएव नारं जीव समूहः,अयनमाश्रयो यस्य तस्मै सर्व जीव नियन्त्रे एवं कर्म्म ज्ञान देवता काण्डैः प्रतिपादिताय हरये नम इति उदारम्, उच्चै यः सम्यगुच्चारितवान् । मृगत्वं मृगदेहमपि हास्यन् त्यक्षन् । य एवम्भूतः तस्य तदुचितमिति वा तस्य अनुवर्त्म नार्हतीति वा सम्बन्धः ।

उक्त वचन समूह के द्वारा भरत की भक्ति निष्ठा प्रतिपादित होती है । भगवत् सेवा प्राप्ति ही भक्त का परम पुरुषार्थ है । श्रीभगवान् सेवानुरागी भक्त को सेवा प्रदान ही करते हैं। सुतरां भरतकी भगवत् सेवा प्राप्ति विषय में सन्देहावकाश नहीं है । प्रवक्ता श्रीशुक हैं ।।५८।।

५९-६० । किन्तु विष्णुपुराणोक्तिके अनुसार भरत ज्ञानी थे । अतः श्रीमद् भागवतोक्त भरत के सहित विष्णु पुराणोक्त भरत का विरोध सुस्पष्ट है । उसका समाधान हेतु कहते हैं-श्रीभागवतोक्त भरत पृथक् है, एवं विष्णु पुराणोक्त भरत पृथक् है । श्रीमद् भागवतोक्त भरत भक्त हैं, एवं विष्णु पुराणादि में वर्णित भरत ज्ञानी हैं । जिस कल्प के भरत चरित्र श्रीमद् भागवत में वर्णित है, वह भरत भक्त हैं, एवं विष्णु पुराण में वर्णित भरत भिन्न कल्प के हैं, एवं ज्ञानी हैं । एक ही नाम से अभिहित भिन्न भिन्न कल्प के व्यक्ति का चरित्र भिन्न भिन्न रूप से शास्त्र में वर्णित है ।

श्रीपरीक्षित् भीष्म भरत प्रभृति की गति के सम्बन्ध में संशय भी विदूरित हुआ । कहींपर परम भक्त वृन्द का ब्रह्म निर्वाण वर्णित होने पर भी वह जो क्रम भगवत् प्राप्ति में पर्य्यवसित होता है, उस का वर्णन पहले हुआ है । कारण, भक्तगण, मुक्ति को चरम पुरुषार्थ नहीं मानते हैं । भगवत् प्रीति को ही चरम पुरुषार्थ मानते हैं । अतएव भक्तगण पार्षद गति को ही प्राप्त करते हैं ।

शरीर को परित्याग करने के समय अन्य प्रकार गति, भक्तवृन्द की दृष्ट होने पर भी परिणाम में वे भगवत् प्रीति लाभ करते हैं, कारण, जिन्होंने चिरकाल भगवत् प्रीति का साधन किया है, जो ब्रह्म निर्वाण प्रीति विरुद्ध है, अन्तिम में ब्रह्म निर्वाण प्राप्त करना उनके पक्ष में असमीचीन है । जिन की अन्य गति प्राप्ति की आशङ्का थी, उनकी भी चरम गति भगवत् प्राप्ति है—यहाँ पर उस को दर्शाया गया है ।

अन्य महा भक्त वृन्द की भी प्रीति की उदासीन गति नहीं हो सकती है, प्रीति विरुद्ध गति की कथा तो हो ही नहीं सकती है । महाभक्त वृन्द, न चाहने पर भी उन के समक्ष में प्रीति की अनुकूल सम्पत्ति उपस्थित होती रहती है, प्रीतिमान् भक्त का वैशिष्ट्य यही है कि—यदि भगवान् प्रीत्यनुकूलसम्पत्ति प्रदान नहीं करते हैं तो भी प्रीति का उल्लास होता ही है । यदि भगवान् तादृश सम्पत्ति दान करते हैं, तो प्रदान हेतु प्रीति का उल्लास भी होता है । भा० १०।८१।२० में वर्णित श्रीदाम विप्र का चरित्र इस विषय का समुज्ज्वल उदाहरण है ।

अभूर्य्यपि, यथा च (भा० १०।८१।३३)—

"नूनं वतैतन्मम दुर्भगस्य, शश्वद्दरिद्रस्य समृद्धिहेतुः।
महाविभूतेरवलोकतोऽन्य,-न्नैवोपपद्येत यदूत्तमस्य ॥"१७६॥

इत्यनन्तरं (भा० १०।८१।३४) "नन्वब्रुवाणो दिशते समक्षम्" इत्यादिकम्, (भा० १०।८१।३५)

---

(४९) "अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्नमां स्मरेत्।
इति कारुणिको नूनं धनं मे भूरिनाददत् ॥"१७५॥

टीका—स्वर्गादीनां यद्यपि तस्य चरणार्च्चनमेव कारणं तथापि कारुणिकत्वादभूर्य्यपि स्वल्पमपि धनं मह्यं नाददात्।

धनाभिलाषी श्रीदाम विप्र को श्रीकृष्ण धन दान नहीं किये थे—तज्जन्य मन ही मन श्रीदाम विप्र कहे थे—यह व्यक्ति निर्धन है, धन पाकर अतिशय मत्त हो जायेगा, एवं मेरा स्मरण नहीं करेगा, इस प्रकार सोचकर ही परम कारुणिक श्रीकृष्ण मुझ को अत्यल्प भी धन दान नहीं किये हैं। अनन्तर भा० १०।८१।३३ में उक्त है—

"नूनं वतैतन्मम दुर्भगस्य, शश्वद् दरिद्रस्य समृद्धि हेतुः।
महाविभूतेरवलोकतोऽन्यन्नैवोपपद्येत यदूत्तमस्य ॥"१७६॥

टीका—निश्चिनोति नूनमिति। एतन्ममेति। एष चासावहञ्च तस्यैतन्मम। महती विभूतिर्यस्य तस्यावलोकादन्यः।

जब श्रीदाम विप्र ने देखा कि श्रीकृष्ण ने अतुल सम्पत्ति दिया है, तो उन्होंने कहा—मैं दुर्भाग्यशाली हूँ, अति दरिद्र हूँ, मेरे पक्ष में यह सम्पत्ति प्राप्त करने के हेतु—महैश्वर्य्य शाली यदु श्रेष्ठ श्रीकृष्ण दर्शन भिन्न अपर कुछ भी नहीं है। इस के बाद भा० १०।८१।३४ में कहा है—

"नन्वब्रुवाणोदिशते समक्षं याचिष्णवे भूर्य्यपि भूरिभोजः।
पर्ज्जन्यवत् तत् स्वयमीक्षमाणो दाशार्हकाणामृषभः सखा मे ॥"

टीका—ननु सचेदवलोकन मात्रेण महदैश्वर्य्यं दत्तवांस्तर्हीदं तुभ्यं मया दत्तमिति किं नावोचत्, अतआह नन्विति। ननु मे सखा समक्षमब्रुवाण एव याचिष्णवे याचकाय भूरि बह्वपिदिशते ददाति। अत्र हेतु भूरिभोजः। स्वयं तद् देयंपर्ज्जन्यवदीक्षमाण इति। अयमर्थः। स्वयं तावद् भूरिभोजो बहुभोज आप्तकामत्वात् लक्ष्मी पतित्वाच्च। अतो यथा पारावार परिपूरकोऽति वदान्यः पर्ज्जन्यः कदाचिद् बह्वपि वर्षमल्पमेवच मन्यमानो लज्जयेव समक्षमवर्षन् रात्रौ शयाने कर्षके तत् क्षेत्रमाप्लावयति। एवं श्रीकृष्णोऽपि स्व भोगापेक्षया तद् देयमिन्द्रादिपदमप्यति तुच्छं मन्वानस्तस्य च भजनं बहुमन्यमानः समक्षमब्रुवाण एव ददातीति।

मेरा सखा श्रीकृष्ण, कुछ भी न कहकर ही मेघ के समान असाक्षात् में मागने वाले को प्रचुर दान करते हैं, कारण, श्रीकृष्ण इस जगत् में एवं पर जगत् में भक्त गण को बहु उपभोग्य सामग्री भोग कराते हैं, पश्चात् भा० १०।८१।३५ में कहा—

"किञ्चित् करोत्युर्वपि यत् स्वदत्तं सुहृत् कृतं फल्ग्वपि भूरिकारी।
मयोपनीतं पृथुकैक मुष्टिं प्रत्यग्रहीत् प्रीतियुतो महात्मा ॥

टीका—तदेवाह किञ्चिदिति। उरु बह्वपि स्वदत्तं यत् तत् किञ्चित् करोति—अल्पं मन्यते। सुहृत् कृतं फल्गु अतितुच्छमपि भूरिकारी बहु मन्यत इत्यर्थः। अतएव मयोपनीतं समीपं नीतम् प्रीतियुत स्वयमेव

"किञ्चित् करोत्युर्व्वपि यत् स्वदत्तम्" इत्यादिकं चोक्त्वा तद्गुणोद्दीपित-प्रीतिराह (भा० १०।८१।३६)—

(६०) "तस्यैव मे सौहृद-सख्य-मैत्री-,दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात् ।
महानुभावेन गुणालयेन, विषज्जतस्तत् पुरुषप्रसङ्गः ॥"१७७॥

निरुपाधिकोपकारमयं सौहृदम्, सहविहारितादिमयं तदेव सख्यम्, मैत्री स्निग्धत्वम्, दास्यं सेवकत्व-मात्रमपि स्यात्, द्वन्द्वैक्यम्, महानुभावेन तेनैव । अतएव सा सम्पत्तिरपि भगवत् सेवार्थमेव तेन नियुक्तेत्यायातम् ॥ श्रीदामविप्रः ॥

६१ । तदेवं भगवत्प्रीतेरेव परमपुरुषार्थता स्थापिता । अत तस्याः स्वरूपलक्षणं

---

प्रतिगृहीतवान् ।

निज दत्त वस्तु प्रचुर होने पर भी उस को स्वल्प मानते हैं । और सुहृद् दत्त वस्तु, अतितुच्छ होने होने पर भी बहोत मानते हैं । महानुभाव श्रीकृष्ण, मेरे द्वारा नीत एक मुष्टि चिपिटक (चिउड़ा) को प्रीति के सहित ग्रहण किये थे ।।

इस प्रकार कहते कहते श्रीकृष्ण के गुण से श्रीदाम विप्र की कृष्ण प्रीति उद्दीप्त हो उठी, उस समय उन्होंने कहा—भा० १०।८१।३६—

(६०) "तस्यैव मे सौहृद--सख्य--मैत्री-,दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात् ।
महानुभावेन गुणालयेन, विषज्जतस्तत् पुरुषप्रसङ्गः ॥"१७७॥

टीका—श्रीकृष्णस्य भक्त वात्सल्यं दृष्ट्वा तद्भक्तिं प्रार्थयते तस्येति । सौहृदं प्रेम च सख्यं हिताशंसनञ्च मैत्री उपकारकत्वञ्च, दास्यं सेवकत्वञ्च--तत् समाहारैक वचनम् । तस्य तत् सम्बन्धिनो मे ममस्यात् नतु विभूतिः । किञ्च महानुभावेन तेनैव विषज्जतो विशेषेण सङ्गं प्राप्नुवत स्तद्भक्तेषु प्रकृष्टः सङ्गः स्यादिति ।

जन्म जन्म में श्रीकृष्ण के सहित मेरा सौहृद्, सख्य, मैत्री एवं दास्य हो । महानुभव गुणालय श्रीकृष्ण का सङ्ग प्राप्त तदीय जनगण का प्रकृष्ट सङ्ग लाभ मुझ को हो ।

श्लोक की व्याख्या – सौहार्द्द – निरुपाधिक – अर्थात् प्रत्युपकार की आशा रहित उपकारमय । सख्य – जिस में एक साथ विहारादि होते हैं । वही सख्य है, मैत्री—स्निग्धता दास्य—सेवकता मात्र । सौहार्द्द के समान श्रीकृष्ण दास्य भी श्रीदाम विप्र का प्रार्थनीय है । उक्त श्लोक में सौहृद—सख्य--मैत्री--दास्य, पदचतुष्टय का द्वन्द्व समास में एक पदी भाव हुआ है, श्रीदाम विप्र को श्रीकृष्ण प्रीति व्यतीत अपर कुछ प्रार्थनीय नहीं था । आप महानुभाव थे । अतः श्रीकृष्ण के सहित सौहार्द्द ही प्रार्थना किये थे । एतज्जन्य उक्त सम्पत्ति को भी श्रीकृष्ण सेवा में नियुक्त किये थे—यह प्रतीत होता है ।

श्रीदाम विप्र कहे थे ॥६०॥

## भगवत् प्रीति का स्वरूप लक्षण ।

६१ । उक्त रीति से भगवत् प्रीति की परम पुरुषार्थता स्थापित हुई । उस प्रीति का स्वरूप लक्षण श्रीविष्णुपुराण में प्रह्लाद कर्त्तृक अतिदेश द्वारा प्रदर्शित हुआ है । अन्यधर्म का अन्यत्रारोपण अतिदेश है, यहाँ विषय प्रीति का धर्म भगवत् प्रीति में आरोपित हुआ है ।

श्रीविष्णुपुराणे प्रह्लादेनातिदेशद्वारा दर्शितम् (वि० पु० १।२०।१९)–

'या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी। त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥"१७८॥ इति।

या यल्लक्षणा, सा तल्लक्षणेत्यर्थः, न तु या सैवेति वक्ष्यमाणलक्षणैक्यात्, तथापि पूर्व्वस्या मायाशक्तिवृत्तिमयत्वेन, उत्तरस्याः स्वरूपशक्तिवृत्तिमयत्वेन भेदात् एतदुक्तं भवति-प्रीति-शब्देन खलु मुत्-प्रमोद-हर्षा-नन्दादिपर्य्यायं सुखमुच्यते, भाव-हार्दसौहृदादिपर्य्याया प्रियता चोच्यते। तत्रोल्लासात्मको ज्ञानविशेषः सुखम्, तथा विषयानुकूल्यात्मकस्तदानुकूल्यानुगत-तत्स्पृहातदनुभवहेतुकोल्लासमयज्ञानविशेषः प्रियता। अतएवास्यां सुखत्वेऽपि पूर्वतो

---

विष्णु पुराण १।२०।१९ में लिखित है—

"या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिणीत्वामनुस्मरतः सामेहृदयान्मापसर्पतु ॥"१७८॥

अविवेकिगण के अर्थात् विषयासक्त लोकों की प्रीति जिस प्रकार विषय भोग में अविचलित रहती है, निरन्तर तुम्हारा स्मरण परायण मेरा हृदय से वह प्रीति जैसे अन्तर्हित न हो।

अर्थात् अविवेकी जन की विषय प्रीति यद्रूप लक्षण विशिष्टा है, वही, अर्थात् भगवत् प्रीति का लक्षण है। अनन्तर उभय विध प्रीति का एक प्रकार लक्षण वर्णित होगा। किन्तु जो विषय प्रीति है, वह भगवत् प्रीति हो हो नहीं सकती है। कारण, यद्यपि उभय विध प्रीति के लक्षण में ऐक्य विद्यमान है, तथापि विषय प्रीति माया शक्ति वृत्तिमयी है, एवं भगवत् प्रीति स्वरूप शक्ति वृत्ति मयी है, एतज्जन्य उभय में भेद है।

"या यल्लक्षणा, सा तल्लक्षणेत्यर्थः, नतु या सैवेति ॥

इस प्रसङ्ग में यह वर्णित है—प्रीति शब्द से वस्तु द्वय अभिहित हैं। एक सुख,—जिस का पर्य्याय वाचक शब्द मुत्, प्रमद, हर्ष, आनन्द प्रभृति हैं। द्वितीय--प्रियता,—जिस का पर्य्याय शब्द है– भाव, हार्द्द सौहृद प्रभृति। उन्मध्ये तल्लासात्मक ज्ञान विशेष का नाम-सुख है, और विषयानुकूल्य ही जिस का जीवन है, जिस से विषय का आनुकूल्य होता है, एवं आनुकूल्य के अनुगत भाव से विषय को प्राप्त करने की जिस में स्पृहा होती है, एवं उस स्पृहा जन्य विषयानुभव हेतु जो उल्लासमय ज्ञान विशेष उदित होता है—उस को प्रियता कहते हैं।

अतएव प्रियता के अभ्यन्तर में सुख धर्म विद्यमान होने पर भी सुखसे प्रियता का वैशिष्ट्य समधिक है। सुख का प्रतियोगी अर्थात् विरुद्ध—दुःख है, एवं प्रियता का प्रतियोगी 'विरुद्ध' द्वेष है। सुख केवल उल्लासात्मक होने के कारण, उस का आश्रय है, किन्तु विषय नहीं है। इस प्रकार सुख प्रतियोगी दुःख का भी आश्रय है--विषय नहीं है। किन्तु प्रियता का आनुकूल्यात्मकत्व हेतु उस का आश्रय तो है ही विषय भी है। इस प्रकार प्रियता प्रतियोगी प्रातिकूल्यात्मक द्वेष का भी विषय है।

तात्पर्य्य यह है—विषयाश्रय भेद से प्रीति के द्विविध आलम्बन हैं, जिस को उद्देश्य करके प्रीति होती है, उस को विषय, और जो प्रीति कर्त्ता है, उस को प्रीति का आश्रय कहते हैं। श्रीकृष्ण प्रीति का श्रीकृष्ण विषय हैं, एवं भक्त गण आश्रय हैं।

मायिक वृत्तिमयी वैषयिक प्रीति का सुख से स्वरूप शक्ति की वृत्ति मयी भगवत् प्रीति वा प्रियता का उत्कर्ष प्रदर्शन हेतु उसका लक्षण वर्णित हुआ है। प्रियता के मध्य में सुख धर्म विद्यमान होने पर भी सुख को प्रियता शब्द से उल्लेख नहीं किया जा सकता है। कारण, पूर्वोक्त सुख का स्वरूप वा जीवन है—एकमात्र स्वयं का उल्लास। प्रियता के मध्य में भी उल्लास तो है, किन्तु वह स्वतन्त्ररूप से नहीं है। वह प्रीति का विषय वा प्रियजन का आनुकूल्य अर्थात् उल्लास के अनुगत भावसे ही प्रकाशित होता है। अतएव

वैशिष्ट्यम् । तयोः प्रतियोगिनौ च क्रमेण दुःख-द्वेषौ । अतः सुखस्य उल्लासमात्रात्मकत्वादाश्रय एव विद्यते, न तु विषयः । एवं तत्प्रतियोगिनो दुःखस्य च प्रियतायास्त्वानुकूल्य-स्पृहात्मकत्वाद्विषयश्च विद्यते, एवं प्रातिकूल्यात्मकस्य तत्प्रतियोगिनो द्वेषस्य च । तत्र सुख-दुःखयोराश्रयौ सुष्ठुदुष्ठुकर्म्माणौ जीवौ । प्रियता-द्वेषयोराश्रयौ प्रीयमाणद्विषन्तौ, विषयौ च तत्प्रियद्वेष्यौ । तत्र प्रीत्यर्थानां क्रियाणां विषयस्याधिकरणत्वमेव दीप्त्यर्थवत्, द्वेषार्थानान्तु विषयस्य कर्म्मत्वं हन्त्यर्थवत् । एतदुक्तं भवति—कर्त्तुरीप्सिततमं खलु कर्म्म, ईप्सिततमत्वञ्च या क्रियारभ्यते, साक्षात्तयैव साधयितुमिष्टतमत्वम्, साधनञ्चोत्पाद्यत्वेन विकार्य्यत्वेन संस्कार्य्यत्वेन प्राप्यत्वेन च सम्पादनमिति चतुर्विधम् । तस्मादन्तर्भूतण्यर्थो यो धातुः, स एव सकर्म्मकः स्यात्, नान्यः । यथा घटं करोतीत्युक्ते घट उत्पद्यते, तमुत्पादयतीति गम्यते, तण्डुलं

---

प्रियजन का आनुकूल्य ही प्रियता का जीवन है, निज उल्लास जीवन नहीं है ।

विशेषणत्रय के द्वारा प्रियता का वैशिष्ट्य सूचित हुआ है । उस के मध्यमें 'विषयानुकूल्यात्मकः" यह प्रियता का स्वरूप लक्षण है । "तदानुकूल्यानुगत—तत्स्पृहा" एवं "तदनुभव हेतुकोल्लासमय ज्ञान विशेषः' यह प्रियता का तटस्थलक्षण है । एकमात्र विषय का अर्थात् प्रियजन का आनुकूल्य वा सुख ही प्रियता का असाधारण धर्म्म का स्वरूप है । सुतरां प्रियजन का जिस से सुख होता है, तदनुरूप भाव से अथवा उस का अविरोध से प्रियजन को प्राप्त करने के निमित्त जो इच्छा होती वह प्रियता है । किन्तु प्रियजन के प्रतिकूल्य रूप में वा निज सुख हेतु प्रियजन को प्राप्त करने का अभिलाष प्रियता नहीं है । कारण, निज सुख विधान प्रियता का असाधारण धर्म वा प्रियता का कार्य्य नहीं है । एतज्जन्य प्रियजन को प्राप्त हेतु यदि उनके सुख में यदि बाधा उपस्थित होती है, तो उस अवस्था में प्रियजन का सङ्ग लाभ वा साक्षात्कार के निमित्त भी वाञ्छा नहीं होती है । इस अवस्था में अन्तर में प्रियजन का अनुभव वा अन्तः साक्षात्कार लाभ होता है । उस से बोध होता है कि--जैसे प्रियजन का सङ्ग लाभ ही हो गया है । उनको विविध प्रकार से सुखास्वादन कराया जा रहा है, इस हेतु, प्रियजन को सुखी करके अपना भी सुख वा उल्लास हो रहा है । इस प्रकार उल्लासमय ज्ञान वा बोध विशेष का नाम प्रियता है । इस से प्रतीत होता है कि--प्रियता में निज सुखाभिलाष न होने पर भी सुखलाभ होता ही है ।

सुख के मूल में किसी के भी आनुकुल्य करने की स्पृहा नहीं रहती है, प्रियता के मूल में प्रियजन के आनुकूल्य करने की स्पृहा ही रहती है, सुख एवं प्रियता में मौलिक पार्थक्य यही है । सुख में अपर का आनुकूल्य सम्बन्ध विद्यमान न होने से सुख का विषय नहीं है, और अपर के आनुकूल्य व्यतीत प्रियता का जन्म ही नहीं होता है—अतः प्रियता का विषय है ।

सुख का आश्रय सुकर्म्मान्वित जीव है, एवं दुःख का आश्रय दुष्कर्म्मान्वित जीव है । प्रियता का आश्रय - प्रियमाण--प्रीति कर्त्ता है, द्वेष का आश्रय द्वेष कारी व्यक्ति है । प्रियता का विषय—प्रिय है, जिस को प्रीति की जाती है । द्वेष का विषय—द्वेष्य,—शत्रु है, उस के मध्य में प्रीत्यर्थक क्रिया समूह का दीप्ति अर्थ के समान विषय का अधिकरणत्व है, अर्थात् किसी वस्तु की दीप्ति को समझाना हो तो जैसे कहा जाता है कि उस वस्तु में दीप्ति है, उसी प्रकार जिस जिस क्रिया के द्वारा प्रीति अर्थ को प्रकाश किया जाता है, उस क्रिया समूह प्रीति विषय का अधिकरण भाव को प्रकाश करती हैं। जैसे श्रीकृष्ण में भक्त की प्रीति है, यहाँ प्रीति का विषय श्रीकृष्ण हैं, उन में अधिकरण भाव दृष्ट होता है ।

पचतीति तण्डुलो विक्लिद्यति, तं विक्लेदयतीत्यादि। सत्ता-दीप्त्यादीनान्तु न तादृशत्वं गम्यत इत्यकर्म्मकत्वमेवेति। न च प्रीतेर्ज्ञानरूपत्वेन सकर्म्मकत्वमाशङ्क्यम्‌;—चेतति-प्रभृतीनां तद्विनाभावदर्शनात्। अतो ब्रह्मज्ञानवद्भूतरूपोऽयमर्थः, न च यज्ञादिज्ञानवद्भव्यरूपो विधि-सापेक्ष इति सिद्धम्। तदेवं प्रीति-शब्दस्य सुखपर्य्यायत्वे प्रियतापर्य्यायत्वे च स्थिते "या प्रीतिरविवेकानाम्" इत्यत्र तूत्तरत्वमेव स्पष्टम्, न पूर्व्वत्वम्, पूर्व्वत्वे सति विषयेष्वनुभूयमानेषु या प्रीतिः सुखमित्यर्थः, उत्तरत्वे तु विषयेषु या प्रीतिः प्रियतेत्यर्थः।

---

एवं द्वेषार्थक क्रिया समूह का 'हनन करना' अर्थ के समान विषय का कर्म्मत्व होता है। अर्थात् हन्ति—हनन करना--क्रिया का अर्थ बोध हेतु हनन योग्य वस्तु में कर्म्मत्व का विन्यास करना पड़ता है। 'अमुक को हनन करता है। इस प्रकार प्रयोग करना पड़ता है। उस प्रकार जिस क्रिया के द्वारा द्वेषार्थ का प्रकाश किया जाता है, वह क्रिया द्वेष का विषय का कर्मभाव को प्रकाश करती है, अर्थात् जिस के प्रति द्वेष होता है, उस में कर्म्म कारक का प्रयोग होना है। जैसे कंस--श्रीकृष्ण को द्वेष करता है। जो कर्त्ता का ईप्सिततम है वही कर्म्म होता है।

जो क्रिया आरम्भ होती है, साक्षात् उस क्रिया द्वारा साधन करने के निमित्त वाञ्छित वस्तु समूह ही ईप्सिततम है। वह क्रिया उत्पाद्य रूप में सम्पादन, विकार्य्य रूप में सम्पादन, संस्कार्य्य रूप में सम्पादन एवं प्राप्य रूप में सम्पादन भेद से चतुर्विध हैं। सुतरां जिस धातु में णिजन्त-प्रेरणा अर्थ अन्तर्भूत है वही धातु सकर्म्मक है, एतद्भिन्न धातु अकर्म्मक है। जिस प्रकार 'घट कर रहा है' कहने पर घट उत्पन्न हो रहा है, कुम्भकार घट निर्म्माण कर रहा है—इस प्रकार बोध होता है। 'तण्डुल पाक हो रहा है' कहने से तण्डुल गल रहा है, तण्डुल को गला रहा है, इस प्रकार बोध होता है। सत्ता दीप्त प्रभृति धातु का कर्मत्व ज्ञापक अर्थ बोध नहीं होता। तज्जन्य यह सब धातु अकर्म्मक हैं। एवं 'प्रीति' ज्ञान स्वरूप होने पर भी यह सकर्म्मक नहीं है, कारण, 'चिती' धातु चेतना अर्थ विशिष्ट होने पर भी अर्थात ज्ञानार्थक होने पर भी सकर्म्मक नहीं है। अतएव ब्रह्म ज्ञान जिस प्रकार पहले से ही स्वतः सिद्ध है, प्रियता पर्य्याय ज्ञान विशेष भी उस प्रकार आवहमान काल से स्वतः सिद्ध रूप में विराजमान है। यज्ञादि ज्ञान के समान उत्पाद्य रूप में निष्पन्न होगा, इस प्रकार विधिसापेक्ष अर्थ नहीं है—यह सिद्ध होता है। ऐसा होने पर प्रीति शब्द का सुख पर्य्यायत्व एवं प्रियता पर्य्यायत्व सिद्ध होने से "अविवेकिगण की विषय समूह में जो प्रीति है" यहाँ शेष अर्थ---प्रियता--पर्य्यायत्व ही सुस्पष्ट है। पूर्व पर्य्यायत्व नहीं है। अर्थात् विष्णु पुराणोक्त "या प्रीति अविवेकानां" श्लोक में लिखित 'प्रीति' शब्द 'प्रियता' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—सुख अर्थ में नहीं। शेष अर्थ—"विषय समूह में जो प्रीति—प्रियता' इस प्रकार अर्थ निष्पन्न होता है। सुतरां 'अनुभूयमान विषयों में जो प्रीति' इस प्रकार अध्याहार करने से कष्ट कल्पना का आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा। ऐसा होने पर पुत्रादि विषय समूह में जो प्रीति—उस का स्वरूप ही है—उस के आनुकूल्य प्रभृति। भगवत् प्रीति का स्वरूप भी उसी प्रकार है---श्रीभगवान् के आनुकूल्य प्रभृति। तात्पर्य्य यह है कि---

"या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सामे हृदयान्नापसर्पतु॥"

इस श्लोक में जो प्रीति शब्द विन्यस्त है, उसका अर्थ सुख भी हो सकता है, एवं प्रियता अर्थ भी हो सकता है। यहाँ कौन अर्थ अभिप्रेत है, उस का निर्णय करने के निमित्त प्रस्तुत विचार आरम्भ हुआ है।

प्रथम सुख एवं प्रियता का पार्थक्य प्रदर्शित हुआ है, अनन्तर उक्त श्लोक में प्रियता अर्थ में ही जो

ततश्चानुभुयमानेष्वित्यध्याहारकल्पनया कष्टा प्रतिपत्तिरिति । तदेवं पुत्रादिविषयकप्रीतेस्तदानुकूल्याद्यात्मकत्वेन भगवत्प्रीतेरपि तथाभुतत्वेन समानलक्षणत्वमेव । तत्र पूर्व्वस्या मायाशक्ति-

---

प्रीति शब्द का प्रयोग हुआ है, वह प्रतिपादित हुआ है। उस को दृढ़ करने के निमित्त प्रियता एवं सुख का विपरीत द्वेष एवं दुःख के मध्य में जो पार्थक्य विद्यमान है, उस को दर्शाया गया है।

प्रीति के विषय आश्रय उभय ही विद्यमान हैं, किन्तु सुख का केवल मात्र आश्रय ही है, विषय नहीं है।

प्रियजन का आनुकूल्य ही प्रीति का जीवन है। इस का प्रतिपादन प्रीत्यर्थक क्रिया के विषय का अधिकरत्व द्वारा हुआ है। आश्रय शब्द श्रुति गोचर होने से ही बोध होता है कि उस में अधिकरण भाव है, वस्तुतः वैसा नहीं है। प्रीत्यर्थक क्रिया समूह का विषयालम्बन में ही अधिकरण भाव है। ऐसा न होने पर आश्रयालम्बन का आधिकरणत्व सम्भव होता और सुख के समान विषयालम्बन की अपेक्षा व्यतीत ही प्रीति का उदय होना सम्भव होता। जैसे "श्रीकृष्ण में भक्त की प्रीति है" यहाँ विषय का अधिकरण निबन्धन श्रीकृष्ण को छोड़कर भक्त की प्रीति रह नहीं सकती है। यदि आश्रयालम्बन भक्त में अधि करण भाव होता तो श्रीकृष्ण को छोड़कर प्रीति का होना असम्भव नहीं होता। ऐसा होने पर सुख के समान प्रीति का विषयावलम्बन होना निरर्थक होता, किन्तु स्थिति वैसी नहीं है। सुतरां सुख से प्रीति का वैशिष्ट्य है।

प्रीति का नित्यत्व प्रतिपादन हेतु प्रीत्यर्थक क्रिया समूह के विषय का अधिकरण भाव प्रदर्शित हुआ है। उस को पुष्ट करने के निमित्त जो सब क्रिया का विषयालम्बन में कर्म्म भाव होता है, वह सब क्रिया के प्रतिपाद्य की निष्पत्ति उत्पाद्य रूप में होती है। अर्थात् अनित्य होती है। विष्णु पुराणोक्त विषय प्रीति के सादृश्य के द्वारा जिस भगवत् प्रीति का बोध कराया गया है—उसका वर्णन हुआ।

यहाँ विषय शब्द से सर्वानुभूत पुत्रादि का बोध होता है। पुत्रादि विषय में जो प्रीति है, उन को भी सभी व्यक्ति जानते हैं। किन्तु पुत्रादि प्रीति में—विषयानुकूल्यात्मक स्तदानुकूल्यानुगत तत् स्पृहा तदनुभवहेतुकोल्लासमय ज्ञान विशेषः प्रियता॥ लक्षण पर्य्यवसित होने की पद्धति इस प्रकार है।

देवदत्त नामक व्यक्ति दूरदेश में वेतन भोगी भृत्य है, उस का एकशिशु पुत्र है, जो प्राक्तन निजवास स्थान में है, उस के भरण पोषण निमित्त वह अधिकांश वेतन लब्ध अर्थ प्रेरण करता है, एवं अवशिष्ट स्वल्प अर्थ से निज शरीर यात्रा निर्वाह करता है। उस को प्रश्न करने से, उत्तर में कहता है कि उपार्ज्जित अधिकांश प्रेरण करने से ही बालक का भरण पोषण सुष्ठु रूप से होता है। एवं बालक हृष्टपुष्ट एवं सुखी है, यह संवाद आने से हृदय आनन्द से भर जाता है, एवं क्लेश पूर्वक विदेश में रहकर भी दुःखानुभव नहीं होता है। यह है उक्त लक्षणस्थ 'विषयानुकूल्यात्मकः' पद का अर्थ।

यदि मैं घर में ही रह जाता तो अर्थोपार्ज्जन करके शिशु का भरण पोषण कौन करता? यदि शिशु को यहाँ ले आते तो यहाँ उस को अतिशय क्लेश उठाना पड़ता, इस हेतु मैं उस को निज समीप में रखना नहीं चाहता हूँ। यह है 'आनुकूल्यानुगत तत्स्पृहा' रूप तटस्थ लक्षण का अर्थ।

मैं यहाँ रहकर पत्र से जब शिशु की प्रसन्नता का संवाद अवगत होता हूँ—उस समय मन में होता है कि मैं शिशु को अङ्क में स्थापन कर लालन पालन कर रहा हूँ। इस से शिशु आनन्दित है। यह सब स्मरण कर मेरा आनन्द सिन्धु उद्वेलित हो उठता है। यह है—

'तदनुभव हेतुकोल्लासमय ज्ञान विशेषः' पद का अर्थ।

भगवत् प्रीति में भी उस प्रकार एकमात्र तदीयसुखतात्पर्य्य है। उनके सुख के अनुकूल भाव से उन

वृत्तिमयत्वम्, (गी० १३।६) "इच्छा द्वेषः सुखं दुःखम्" इत्यादिना श्रीगीतोपनिषदादौ व्यक्तमस्ति, उत्तरस्यास्तु स्वरूपशक्तिवृत्तिमयत्वमग्निके दर्शयिष्यामः। तस्मात् साधु व्याख्यातम्—'या यल्लक्षणा, सा तल्लक्षणा' इति। इयमेव भगवत् प्रीतिर्भक्ति-शब्देनाप्युच्यते, परमेश्वरनिष्ठत्वात् पित्रादिगुरुविषयकप्रीतिवत्। अतएव तदव्यवहित-पूर्वपद्ये भक्ति-शब्देनैवोपादाय प्रार्थितासौ (वि० पु० १।२०।१८) "नाथ योनिसहस्रेषु" इत्यादौ। अत्र या प्रार्थिता, सेव हि स्वरूपनिर्देशपूर्वकमुत्तरश्लोकेन 'या प्रीतिः' इत्यादिना विविच्य प्रार्थिता। अतएव न पौन-रुक्त्यमपि। अतो द्वयोरैक्यादेव श्रीमत्परमेश्वरेणाप्यनुगृहणता

को चाहना एवं उनको सुखी अनुभव करके उल्लास वर्त्तमान है। 'तत्र पूर्वस्या माया शक्तिमयत्वम्"

विषय प्रीति एवं भगवत् प्रीति का समान लक्षण होने पर भी विषय प्रीति—माया शक्ति वृत्तिमयी है, भगवद् गीता १३।६ में उक्त है— "इच्छाद्वेष सुखं दुःखं संधातश्चेतना धृतिः।

एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (शरीर) चेतना, धैर्य—विकार युक्त यह सब पदार्थ क्षेत्र संज्ञा से अभिहित है।

श्रीगीता में मायिक देहादि पदार्थ क्षेत्र नाम से उक्त हैं, एवं आत्मा क्षेत्रज्ञ नाम से अभिहित है। सुख, उस क्षेत्र पदार्थ का अन्तर्भुक्त होने के कारण वह मायिक है। माया का सत्त्व गुण से सुख की उत्पत्ति होती है। पहले विषय प्रीति को जो सुख कहा गया है, वह माया शक्ति वृत्तिमयी है।

द्वितीय श्रीभगवत् प्रीति का स्वरूपशक्तिमयत्व का प्रदर्शन इस ग्रन्थ के अन्तिम भाग में होगा। अतएव विषय प्रीति का जो लक्षण है। "या यल्लक्षणा सा तल्लक्षणा" जो जिस स्वरूप का है, वह उसी स्वरूप का ही है। इस नियम से जो विषय प्रीति है, वह भगवत् प्रीति नहीं है। इस प्रकार जो व्याख्या की गई है-वह सुसङ्गत है।

इस प्रकार भगवत् प्रीति भक्ति शब्द से भी अभिहित होती है। तज्जन्य पित्रादि निष्ठ प्रियता भक्ति नाम से प्रसिद्ध है। पित्रादि गुरुजन में प्रियता" शब्द प्रयोग के समान भगवत् प्रीति में भी भक्ति शब्द का प्रयोग होता है। कारण, वह परमेश्वर निष्ठ है। अतएव

"या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु॥"

विष्णु पुराणोक्त इस श्लोक के अव्यवहित पूर्व में—

"नाथ योनि सहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युतास्तु सदात्वयि॥" (विष्णु पुराण १।२०।१८)

हे नाथ! हे अच्युत! सहस्र सहस्र जन्म में जहाँ जहाँ जन्म ग्रहण करना पड़े, उस उस जन्म में ही जैसे आप के चरणों में मेरी अविचला भक्ति हो।

यहाँ 'प्रीति' को भक्ति शब्द से ही उल्लेख किया गया है। अर्थात् श्रीप्रह्लाद ने इस श्लोक में जो भक्ति की प्रार्थना की है, परवर्त्ती श्लोक में स्वरूप निर्द्देश पूर्वक सुस्पष्ट रूप से 'या प्रीति' शब्द से उस की ही प्रार्थना की है। अतएव भक्ति प्रार्थना रूप एक वाक्य का उल्लेख के कारण जो पुनरुक्त दोष होता है, यहाँ वह दोष नहीं है।

तयोरेकप्रोक्तैव्यवानुभाषितम्(वि० पु० १।२०।२०)'भक्तिर्मयि तवास्त्येव भूयोऽप्येवं भविष्यति' इति। तयोर्भेदे तु तद्वत् प्रीतिरप्यनुभाष्येत। अतएव हे माप! लक्ष्मीपते! सा विषयप्रीतिर्मम हृदयात् सर्पतु पलायतामिति विरक्तिप्रार्थनामयोऽर्थोऽपि न सङ्गच्छते.–तस्या अप्यनुभाषणाभावात्, 'नापसर्पतु' इति प्रसिद्धपाठान्तरविरोधाच्च। ततस्तद्भक्तेरपि तत्प्रीतिपर्य्यायत्वे स्थितेऽपि प्रीणातिवन्न भजतिः सर्व्वप्रत्ययान्त एव प्रीतिं वदति, प्रयोगादर्शनात्। प्रयोगस्तु क्तिन्-क्त-प्रत्ययान्त एव दृश्यते। यदा च प्रीत्यर्थवृत्तिस्तदा प्रीणातिवदकर्मक एव भवतीति। तदेवं विषयप्रीतिदृष्टान्तेन श्रीभगवद्विषयानुकूल्यात्मकस्तदनुगतस्पृहादिमयो ज्ञानविशेषस्तत्-

---

श्रीप्रह्लाद की उक्ति में एक श्लोक में भक्ति शब्द का प्रयोग है, एवं अपर श्लोक में 'प्रीति' शब्द का उल्लेख है। किन्तु श्रीप्रह्लाद कृत प्रार्थना के उत्तर में श्रीभगवान् जो कहे थे—उस वाक्य में उक्त उभय शब्द का प्रयोग न करके एक भक्ति शब्द का ही प्रयोग हुआ है। विष्णु पुराणोक्त (१।२०।२०) श्रीभगवद् वाक्य में "भक्तिर्मयि तवास्त्येव भूयोऽप्येवं भविष्यति"। भक्ति एवं प्रीति का ऐक्य प्रमाणित हुआ है। श्रीभगवदुक्ति है—मेरे प्रति तुम्हारी भक्ति तो है ही, जन्म जन्म में भी इसी प्रकार भक्ति रहेगी" भक्ति एवं प्रीति में यदि पार्थक्य होता तो श्रीभगवान् भक्ति शब्द प्रयोग के समान प्रीति शब्द का भी प्रयोग करते।

अतएव 'नापसर्पतु' स्थल में "मापसर्पतु' पाठ करके हे मा—प-लक्ष्मीपते! उस समय प्रीति मदीय हृदय से अपसृत हो, इस प्रकार व्याख्या से 'वह प्रीति' शब्द से भगवत् प्रीति—अर्थ निष्पन्न होने के कारण इस प्रकार विरक्त प्रार्थनामय अर्थ की सङ्गति नहीं होती है। उक्त असङ्गति का अपर कारण भी है,—श्रीभगवान् विषय प्रीति का उल्लेख नहीं किये हैं। एवं उक्त व्याख्या-'नापसर्पतु' प्रसिद्ध पाठान्तर का विरुद्ध होगी। इस प्रकार भक्ति एवं भगवत् प्रीति-उभय शब्द एकार्थ वाचक होने पर भी प्रीति अर्थ में प्री साधु के समान भक्ति अर्थ में भज धातु सर्व प्रत्ययान्त नहीं होता है। कारण,—प्रीति को कहता है, इस प्रकार प्रयोग देखने में नहीं आता है। उक्त अर्थमें भज धातुके उत्तर 'क्ति'एवं'क्त'प्रत्यय ही दृष्ट होता है। जिस समय भज धातु से प्रीति अर्थ प्रकाशित होता है, उस समय वह 'प्रीति करना' अर्थ में प्रयुक्त 'प्री' धातु के समान अकर्म्मक ही होता है।

भगवत् प्रीति लक्षण निर्णय में प्रवृत्त होकर अत्यावश्यक विषयों का विचार के अनन्तर भगवत् प्रीति का अन्तिम लक्षण करते हैं। विषय प्रीति के दृष्टान्त के द्वारा श्रीभगवद् विषयक आनुकूल्यात्मक आनुकूल्यानुगत अभिलाषादिमय ज्ञान विशेष ही भगवत् प्रीति है। यह लक्षित हुआ है। विषय माधुर्य्यानुभव जिस प्रकार विषय प्रीति से भिन्न है, भगवत् प्रीति भी उस प्रकार भगवन्माधुर्य्यानुभव से भिन्न है। अर्थात् माधुर्य्यानुभव प्रीति नहीं है। तज्जन्य भा० ११।२।४३ में उक्त है—

"भक्तिः परेशानुभवोविरक्तिरन्यत्रचैषत्रिक एक कालः।
प्रपद्यमानस्य यथाऽश्नतःस्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥"

श्रीकवियोगीन्द्र महाराज निमि को कहे थे—जिस प्रकार भोजन समय में प्रति ग्रास से तुष्टि, पुष्टि, एवं क्षुधा की निवृत्ति होती है, उस प्रकार हरि भजन शील व्यक्ति का श्रीहरि में प्रेम परेशानुभव एवं तज्जन्य सांसारिक विषयों में विरक्ति होती है। एक काल में ही यह तीन सम्पन्न होते हैं।

भगवद् गीता के ११।५४ में श्रीभगवान् कहे हैं—

प्रीतिरिति लक्षितम् । विषयमाधुर्य्यानुभववद्भगवन्माधुर्य्यानुभवस्तु ततोऽन्यः । अतएव (भा० ११।२।४३) "भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः" इति भेदेनाम्नातम्, (गी० ११।५४)—

"भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्ज्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप ॥"१७९॥

इति च । अथैनां भगवत्प्रीतिं साक्षादेव लक्षयति सार्द्धेन (भा० ३।२५।३२) —

(६१) "देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविक-कर्मणाम् ।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ।
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ॥"१८०॥

पूर्व्वं (भा० ३।२५।२५) "श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति" इत्युक्तम् । अत्र यद्यपि रति-

---

"भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्ज्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तपः ॥"१७९॥

टीका—तर्हि केन साधनेन तत् प्राप्यते इत्यत आह भक्त्यात्विति । शक्य अहमिति यद्वयलोपावार्षौ । यदि निर्वाण मोक्षेच्छा भवेत् तदा तत्त्वेन ब्रह्म स्वरूपत्वेन प्रवेष्टुमपि अनन्यया भक्त्यैव शक्योनान्यथा । ज्ञानिनां गुणीभूतापि भक्तिरन्तिम समये ज्ञान संन्यासानन्तरमुर्वरिता अल्पीयस्यनन्यैव भवेत्तयैव तेषां सायुज्यं भवेदिति ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरमित्यत्र प्रतिपादयिष्यामः ॥

हे अर्जुन ! हे परन्तप ! शुद्धभक्ति के द्वारा इस प्रकार मुझ को जानने, देखने में एवं मुझ में प्रवेश करने में सक्षम होता है ।

"या प्रीतिरविवेकानां" श्लोक में विषय प्रीति का जो लक्षण है, भगवत् प्रीति का भी वही लक्षण है, परोक्ष रूप से इस प्रकार भगवत् प्रीति का लक्षण कथित हुआ है । भा० ३।२५।३२ में सार्द्ध श्लोक के द्वारा साक्षात् रूप से उक्त भगवत् प्रीति का लक्षण कहते हैं—

(६१) "देवानां गुणलिङ्गानामानु श्रविक कर्म्मणाम् ।
सत्त्व एवैक मनसो वृत्तिः स्वाभाविकीतु या ।
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ॥"१८०॥

टीका—काचित् त्वय्युचिता भक्तिरिति पृष्टामुत्तमां भक्तिं लक्षयति । गुणा विषया लिङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते यैस्तेषां देवानां द्योतनात्मकानाम् इन्द्रियाणाम्, तदधिष्ठातॄणां वा सत्त्वे सत्त्वमूर्त्तौ हरावेव या वृत्तिः, सा भक्तिः सिद्धमुक्तेरपि गरीयसीत्युत्तरेणान्वयः । कथम्भूता ? अनिमित्ता निष्कामा, स्वाभाविकी–अयत्न सिद्धा । तेषामेवं विधत्ते वृत्तौ हेतुमाह । गुरोरुच्चारणमनुश्रूयते इत्यनुश्रवो वेदः, तद्विहितमानुश्रविकं तदेव कर्म्म येषाम् । अतएव एकरूपम् अविकृतं मनो यस्य पुंसः, शुद्धसत्त्वस्येत्यर्थः ।

गुणलिङ्ग आनुश्रविक कर्म्मदेव वृन्द के मध्य में सत्त्व में ही जिसका एकाग्रचित्त है, इस प्रकार मानव की जो वृत्ति, वह अनिमित्ता स्वाभाविकी भागवतीभक्ति–सिद्धि से भी श्रेष्ठ है ।

श्रीकपिलदेव ने भा० ३।२५।१५ में कहा है "श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति" श्रद्धा, रति एवं भक्ति की उत्पत्ति क्रमशः होती है । इस श्लोक में यद्यपि केवल तारतम्य हेतु भेद विशिष्ट रति एवं भक्ति एतदुभय का ही प्रीतित्व वर्णित हुआ है, तथापि प्रीति का प्राचुर्य्य ही जिसका लक्षण है, इस प्रकार प्रेमाख्य भक्ति

भक्त्योर्द्वयोरपि तारतम्यमात्रभेदयोः प्रीतित्वमेव, तथापि प्रीत्यतिशयलक्षणायां प्रेमाख्यायां भक्तौ तदतिस्फुटंस्यादितिकृत्वा भक्ति-पदेन तामुपादाय लक्षयति । अर्थश्चायम्--गुणलिङ्गानां गुणत्रयोपाधीनाम्, आनुश्रविकं श्रुति-पुराणादिगम्यं कर्मचरितं येषां ते तथोक्ताः, तेषां देवानां श्रीविष्णु-ब्रह्म-शिवानां मध्ये सत्त्वे सान्निध्यमात्रेण सत्त्वगुणोपकारके स्वरूपशक्तिवृत्तिभूत-शुद्धसत्त्वात्मके वा श्रीविष्णौ, एतच्चोपलक्षणम्, श्रीभगवदाद्यनन्ताविर्भावे ष्वेकस्मिन्नपीत्यर्थः । एव-कारेण नेतरत्र, न च तत्रापि चेतरत्रापि च । एकमनसः पुरुषस्य या वृत्तिस्तदानु-कूल्याद्यात्मको ज्ञानविशेषः । अनिमित्ता फलाभिसन्धिशून्या, स्वाभाविकी स्वरसत एव विषय-सौन्दर्यादियत्नेनैव जायमाना, न च बलादापाद्यमाना, सा भागवती भक्तिः प्रीतिरित्यर्थः । प्रीतिसम्बन्धादेवान्यस्या भक्तेः स्वाभाविकत्वं स्यात् । तस्माद्वृत्ति-शब्देन प्रीतिरेवात्र मुख्यत्वेन ग्राह्येति, सा च सिद्धेर्मोक्षाद्गरीयसी, (भा० ३।२९।१३) "सालोक्य-सार्ष्टि-" इत्यादि श्रवणात् । अतएव ज्ञानसाध्यस्यापि तिरस्कारप्रसिद्धेज्ञानमात्रतिरस्कारार्थं सिद्धेर्ज्ञानमिति व्याख्यानमसदृशम् । अत्र मोक्षाद्गरीयस्त्वेन तस्या वृत्तेर्गुणातीतत्वं ततोऽपि घनपरमानन्दत्वं श्रीभगवत्-प्रसादविशेषेणैव मनस्युदित्वरत्वं तत्रापि तत्तादात्म्येनैव तद्वृत्ति-व्यपदेश्यत्वञ्च दर्शितम् ॥ श्रीकपिलदेवः ॥

---

में प्रीतित्व अतिशय स्फुट रूप से लक्षित हुआ है । इस प्रकार निश्चय करके भक्ति पद के द्वारा प्रेम भक्ति को ग्रहण करके इस श्लोक में भगवत् प्रीति वा प्रेम भक्ति का लक्षण कथित हुआ है । श्लोकार्थ इस प्रकार है—गुणलिङ्गानाम्-गुणलिङ्ग—सत्त्व, रजः, तमोगुण जिनकी उपाधि है, वे गुणलिङ्ग हैं, आनुश्रविक कर्म श्रुति पुराणादि द्वारा जिनका कर्म्म---चरित्र अवगत होता है, वे आनुश्रविक कर्म्म हैं । वे देव गण-श्रीविष्णु ब्रह्मा, शिव हैं, उनके मध्य में सत्त्व में—सान्निध्यमात्र द्वारा सत्त्व गुणोपकारक में अथवा स्वरूप शक्ति-शुद्ध सत्त्वात्मक श्रीविष्णु में, श्रीविष्णु—यहाँपर उपलक्षण हैं । श्रीभगवान् प्रभृति आविर्भाव समूह के मध्य में किसी एक स्वरूप में 'एव' ही अर्थ में प्रयुक्त अव्यय है अर्थात् सत्त्व में ही सात्त्विक मूत्ति में ही अन्य स्वरूप में नहीं, किंवा वह स्वरूप एवं अन्य स्वरूप--उभयत्र नहीं, एकमात्र श्रीविष्णु में एकाग्रचित्त पुरुष की जो वृत्ति—श्रीभगवान् के आनुकूल्यादि स्वरूप ज्ञान विशेष, अनिमित्ता—फलाभि सन्धि शून्या--निष्कामा, स्वाभाविकी—केवल विषय सौन्दर्य्य से स्वयं ही समुत्पन्ना, किन्तु बल पूर्वक निष्पन्ना नहीं है—जो भक्ति--वह भागवती भक्ति, अर्थात् प्रीति है । प्रीति के सम्बन्ध से ही अन्य भक्ति का स्वाभाविकत्व होता है । अतएव वृत्ति शब्द के द्वारा यहाँपर प्रीति ही मुख्य रूप से गृहीत हुई है । यह प्रेम भक्ति, सिद्धि-मोक्ष से भी श्रेष्ठा है । कारण, भक्त गण को सालोक्य, सार्ष्टि सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य--यह सब मुक्ति को प्रदानेच्छु होने पर भी मेरी सेवा व्यतीत वे सब कुछ भी ग्रहण नहीं करते हैं । "सा च सिद्धे र्मोक्षाद् गरीयसी" भा० ३।२९।१३ "सालोक्य सार्ष्टि" के अनुसार मुक्ति से भक्ति का उत्कर्ष प्रतिपादित हुआ है ।

अतएव ज्ञान द्वारा साध्य जो मोक्ष है, उस की तिरस्कृति की प्रसिद्धि होने पर केवल ज्ञान तिरस्कार हेतु श्लोकस्थित 'सिद्धि' शब्द का अर्थ 'ज्ञान'—से स्वतः ही असङ्गति होती है । मोक्ष से उस वृत्ति का श्रेष्ठत्व हेतु उसका गुणातीतत्व उस से भी घन परमानन्दत्व, श्रीभगवान् की विशेष कृपा से मन में उदय होने के कारण, उस में भी मन के सहित तादात्म्य प्राप्त होकर आविर्भाव हेतु उस की वृत्ति कही गई

६२। अथ तदेव गुणातीतत्वादिकं दर्शयितुं पुनः प्रक्रिया। तत्र तस्या भगवत्सम्बन्धि-ज्ञानरूपत्वेन तत्सम्बन्धि-सुखरूपत्वेन च गुणातीतत्वं श्रीभगवतैव दर्शितम् (भा० ११।२५।२४,२९

"कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकन्तु यत्।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्॥"१८१॥ इति,

"सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थन्तु राजसम्।
तामसं मोह-दैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रमम्॥"१८२॥

इति च। एवमेव च श्रीप्रह्लादस्य सर्वाघधूनन-ब्रह्मानुभवानन्तरं परमप्रेमोदयो दर्शितः।

---

है।

श्रीकपिल देव कहे थे—॥६१॥

६२। भगवत् प्रीति के गुणातीतत्वादि।

अनन्तर भगवत् प्रीति के गुणातीतत्वादि को दर्शाने के निमित्त पुनर्वार प्रस्तुत विचार परिपाटी को अवलम्बन करते हैं—उस से वह प्रीति भगवत् सम्बन्धि--ज्ञानरूपा एवं तत् सम्बन्धि सुख रूपा होने के कारण, प्रीति का गुणातीतत्व का प्रदर्शन श्रीभगवान् ने ही किया है। भा० ११।२५।२४,२९ में उक्त है—

"कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकन्तु यत्।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्॥"१८१॥
"सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थन्तु राजसम्।
तामसं मोह--दैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम्॥"१८२॥

श्रीकृष्ण, उद्धव को कहे हैं—कैवल्य सात्त्विक ज्ञान है। केवलस्य निर्विशेषस्य ब्रह्मणः शुद्ध जीव भेदेन ज्ञानं कैवल्यम्' शुद्ध जीव से भिन्नरूप में निर्विशेष ब्रह्म को अवगत होने का नाम कैवल्य है। वैकल्पिक अर्थात् देहादि विषयक ज्ञान राजस है। प्राकृत-अर्थात् बालक, मूक प्रभृति के ज्ञान तुल्य ज्ञान तामस है, परमेश्वर विषयक ज्ञान निर्गुण है।

आत्मोत्थ सुख सात्त्विक है, विषय भोग हेतु सुख राजस है, मोह दैन्य समुत्पन्न सुख तामस एवं भगवत् शरणापत्ति जनित सुख निर्गुण है। इस रीति से ही जिस से सर्व कर्म्मक्षय प्राप्त होता है उस ब्रह्मानुभव के पश्चात् प्रह्लाद का परम प्रेमोदय प्रदर्शित हुआ है। श्रीमद् भागवत के ७।९।६ में श्रीप्रह्लाद को ब्रह्मानुभव के पश्चात् परमोपादेय वर्णित हुआ है।

"स तत् करस्पर्श धूताखिलाशुभः सपद्यभिव्यक्तपरात्मदर्शनः।
तत् पादपद्मं हृदि निर्वृतो दधौ हास्यत्तनुः क्लिन्नहृदश्रुलोचनः॥"

श्रीनारद कहे थे—श्रीनृसिंह देव के करस्पर्श से प्रह्लाद के निखिल अशुभ विध्वस्त हो गये, प्रह्लाद तत् क्षणात् ब्रह्म साक्षात् कार ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त किये थे। परमानन्द प्राप्त होकर श्रीभगवान् के पादपद्म को हृदय में धारण किये थे। श्रीप्रह्लाद का देह रोमाञ्चित, हृदय प्रेमार्द्र, एवं नयन अश्रुप्लावित हुये थे।

प्रह्लाद का ब्रह्मानुभव के पश्चात् परम प्रेमोदय का वर्णन वृहन्नारदीय पुराण में है। प्रह्लाद श्रीनृसिंह को जिज्ञासा किये थे भगवन्! आप के प्रति मेरी इस प्रकार भक्ति कैसे हुई! और मैं आप का इतना प्रिय कैसे बना? उत्तर में श्रीनृसिंह कहे थे—वत्स! तुम पूर्व जन्म में अवन्तीनगर निवासी वसु शर्म्मानामक ब्राह्मण का कनिष्ठ पुत्र थे। माता पिता स्वधर्म निष्ठ होने पर भी तुम नितान्त पापपरायण

मद्यपानरत एवं वेश्यासक्त थे। एकदिन वेश्या के सहित बड़ी लड़ाई हो गई, उस से उस दिन उपवासी होकर रात्रिजागरण करना पड़ा, उस दिन नृसिंह चतुर्दशी थी। उस कारण से तुम्हारा व्रत पालन हो गया उस के फल से तुम मुझ में प्रविष्ट हो गये। अधुना कार्य्य साधनार्थ मेरा शरीर से पृथक् होकर अवतीर्ण हुये हो, कार्य्यान्त में पुनर्वार मेरे निकट आ जाओगे। उस व्रत के प्रभाव से ही तुम्हें उत्तमाभक्ति का उदय हुआ है।

यहाँ प्रथम जो प्रवेश की बात् कही गई है, वह ब्रह्मानुभव है, अनन्तर हिरण्य कशिपु के पुत्र रूप में अवतीर्ण होने पर उनका प्रेमोदय वर्णित हुआ है।

उस प्रकार स्वाभाविकी अहैतुकी भगवद् भक्ति रूपता हेतु श्रीकपिल देव वाक्य से भगवत् प्रीति का निर्गुणत्व सिद्ध हुआ है। भा० ३।२६।११ में उक्त है—

"मद् गुण श्रुतिमात्रेण मयि सर्व गुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ।।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्य व्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।।"

श्रीकपिल देव--जननी देवहूति को कहे थे—मदीय गुण श्रवण मात्र से सर्वान्तर्य्यामी मुझ में समुद्र गामि गङ्गा सलिल के समान मन की जो अविच्छिन्ना गति है, वही निर्गुण भक्ति योग का लक्षण है। जो भक्ति, पुरुषोत्तम में अहैतुकी एवं अप्रतिहता है।

श्रीकपिलदेव, प्रथम सगुण भक्ति का वर्णन करके पश्चात् निर्गुणा भक्ति का वर्णन किये हैं। यही भगवत् प्रीति है। उक्त श्लोकद्वय का तात्पर्य्य यह है—जिस भक्ति का उत्कर्ष ज्ञान हेतु भक्तिभेद निरूपित हुआ है, उस भक्ति में भक्ति करने की इच्छा को छोड़कर अपर इच्छा नहीं रहती है, अतः वह निष्कामा, निर्गुणा, केवला एवं स्वरूप सिद्धा है। यह भक्ति, अकिञ्चना प्रभृति नाम से प्रसिद्धा है, एवं यही सर्व श्रेष्ठा है। उक्त श्लोक द्वय में प्रेम भक्ति का वर्णन हुआ है।

सर्व गुहाशय—प्राकृत इन्द्रिय समूह की अनुभूति के अतीत जो स्थान है, उस में जो निश्चलरूप में अवस्थित हैं, वह सर्व गुहाशय हैं। मैं श्रीभगवान्—उस रूप में सर्वान्तर्यामी हूँ। अन्य उद्देश्य सिद्धि हेतु नहीं, केवल मेरा गुण श्रवण करके ही मुझ में जो मन की गति है, वह यदि अविच्छिन्ना होती है, अर्थात् अन्य विषय के द्वारा खण्डिता नहीं होती है, तो वह मनोगति निर्गुण भक्ति योग का स्वरूप लक्षण है। अविच्छिन्ना गति किस प्रकार है? समुद्रगामिगङ्गा सलिल के समान है। इस में जिस भक्ति का वर्णन हुआ है, उस में मायिक गुण रहने की कोई सम्भावना नहीं है। कारण, इस में अन्य उद्देश्य का अभाव एवं अन्यत्र मनोगति का अभाव होने के कारण दो प्रकार होना भी असम्भव है। अर्थात् सगुण प्रेम भक्ति एवं निर्गुण प्रेम भक्ति भेद से द्विविध प्रेम भक्ति, हो ही नहीं सकती है। प्रेम भक्ति सर्वत्र ही गुणातीता है,

गुणातीता प्रेम भक्ति को सूचित करने के निमित्त विशेषण द्वय का संयोजन किये हैं—अहैतुकी--फलानुसन्धान रहिता, एवं अव्यवहिता, स्वरूप सिद्धा होने के कारण साक्षाद्रूपा है। आरोपसिद्धा भक्ति जिस प्रकार व्यवधानात्मिका है, यह भक्ति—उस प्रकार नहीं है। भगवन्नाम, रूप, गुण, परिकर लीला श्रवणादि रूपा भक्ति स्वरूप सिद्धा है, एवं भगवदर्पित भक्ति आरोपसिद्धा है। आरोप सिद्धा भक्ति में अन्य अभिसन्धि रहती है। आरोपसिद्धा भक्ति में अन्य अभिसन्धि की विद्यमानता हेतु वह व्यवधानात्मिका

"मद्गुणश्रुतिमात्रेण" इत्यादि-श्रीकपिलदेव-वाक्येन । एतदनन्तरञ्च (भा० ३।२९।१३) "सालोक्य-" इत्यादि-पद्ये सर्वाभ्योऽपि मुक्तिभ्यः परमानन्दरूपत्वं दर्शितम्, अन्येषु च तस्याः परमपुरुषार्थतानिर्णय-वाक्येषु परितस्तदेव व्यक्तम् । तत्र (भा० ५।१९।१८) "यथावर्णविधानम्" इत्यादि-गद्ये तस्या अपवर्गत्वनिर्देशेन गुणातीतत्वं नित्यत्वञ्च दर्शितम्, (भा० ५।३।१८) "मुक्ति ददाति कर्हिचित्" इत्यादौ मुक्तिदानमतिक्रम्यापि भगवत्प्रसादविशेषमयत्वेन तद्द्रूपम्,

---

है। श्रवण कीर्त्तनादिमयी भक्ति में अन्य अभिसन्धि नहीं रहती है, किन्तु भगवत् सेवा रूपा होने के कारण यह साक्षाद्रूपा है। भगवदर्पित कर्म्मादि स्वरूपतः भक्ति नहीं हैं।

श्रवण कीर्त्तनादि स्वरूपतः भगवद् भक्ति होने के कारण वह भक्ति स्वरूप सिद्धा नाम से अभिहिता है। उक्त श्लोकद्वय के अनन्तर भा० ३।२९।१३ में उक्त—

"सालोक्यसार्ष्टि सामीप्य सारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत् सेवनं जनाः ॥

टीका—भक्तानां निष्कामतां कैमुत्यिकन्यायेनाह । सालोक्यं मया सह एकस्मिन् लोके वासं, सार्ष्टि समानैश्वर्य्यं, सामीप्यं—निकटवर्त्तित्वम्, सारूप्यं समान रूपताम्, एकत्वं सायुज्यम्, उत अपि दीयमानमपि न गृह्णन्ति, कुतस्तात् कामनेत्यर्थः।

श्लोक में समस्त मुक्तियों से भगवत् प्रीति की परमानन्द रूपता प्रदर्शित हुई है, भगवत् प्रीति की परम पुरुषार्थतानिर्णायक अपर वाक्य समूह में भगवत् प्रीति की परमानन्द रूपता सर्वतोभावेन व्यक्त हुई है। उस के मध्य में भा० ५।१९।१८ "यथा वर्ण विधानमपवर्गः" गद्य में अपवर्गत्व निर्द्देश करके भगवत् प्रीति का गुणातीतत्व एवं नित्यत्व प्रदर्शित हुआ है। अपवर्ग शब्द का अर्थ मोक्ष है, मुक्ति-गुणातीता एवं नित्या है। इस के पहले भगवत् प्रीति को मुक्ति विशेष प्रतिपन्न किया गया है, सुतरां उसका भी गुणातीतत्व एवं नित्यत्व प्रतिपन्न हुआ है। भा० ५।६।१८ में उक्त है—

"राजन्पति र्गुरुरलंभवतां यदूनां
दैवं प्रियः कुलपतिः क्वच किङ्करो वः ।
अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम् ॥"

श्रीपरीक्षित् को श्रीशुकदेव कहे थे "हे राजन्! भगवान् मुकुन्द आप सब के एवं यादव गण के पालक, उपदेष्टा उपास्य, सुहृत् कुलनियन्ता तो हैं ही-कदाचित् दौत्यादि कार्य्य करके भी पाण्डवों के अनुवर्त्ती हुये थे। यह मुकुन्द, भजन शीलजन गणको मुक्तिदान तो करते हैं, किन्तु कभी प्रेम भक्ति दान नहीं करते हैं।

कभी भक्ति योग नहीं देते हैं—इस का अर्थ ऐसा नहीं है कि—कभी भी नहीं देते हैं, किन्तु कभी देते हैं, कभी नहीं देते हैं। किन्तु सब समय मुक्ति दान करते हैं, एतज्जन्य उक्त है, मुक्ति दान करते हैं, इस से प्रतीत होता है कि भक्तियोग--मुक्ति से भी दुर्ल्लभ है, श्रीभगवान् के विशेष कृपा भाजन व्यक्ति भक्ति योग को प्राप्त करते हैं, साधारण कृपा भाजन व्यक्ति को मुक्ति दान करते हैं, आनन्दमयी मुक्ति से भगवत् प्रीति में अधिक आनन्द विद्यमान होने के कारण वह आनन्द स्वरूपा है। जब मुक्ति ही गुणातीता है, तब उत्तमा भक्ति---सुतरां गुणातीता एवं नित्या है—इस में सन्देहावकाश नहीं है। असमोर्द्धं आनन्द स्वरूपत्व, गुणातीतत्व एवं नित्यत्व भक्ति योग में ही विद्यमान हैं।

(भा० ४।२०।२३) "वरान् विभो" इत्यादि-द्वयेऽपि "कथं वृणीते गुणविक्रियात्मनाम्" इत्यत्रा-गुणविकारत्वं तत एव नित्यत्वम्, (भा० ४।२०।२४) "न कामये नाथ" इत्यादौ ततोऽप्यानन्दातिशयो दर्शितः, (भा० १।७।७) "यस्यां वै श्रूयमाणायाम्" इत्यादौ परमार्थवस्तुप्रतिपादक-श्रीभागवतस्य फलत्वेनापि तत्त्रयम्, तत्रैवात्मारामाणामपि तत्सुखश्रवणेन तद्दाढर्च्यम्। मायातीत-वैकुण्ठादि-वैभवगतानां तत्पार्षदानां तच्छ्रवणेन तु किमुत। तथैव (भा० ७।६।२५) "तुष्टे च तत्र" इत्यादौ "किन्तैर्गुणव्यतिकरादिह ये स्वसिद्धाः, धर्म्मादयः" इत्युक्त्वा

---

भा० ४।२०।२३ में उक्त है—

"वरान् विभोत्वद् वरदेश्वराद् बुधः कथं वृणीते गुणविक्रियात्मनाम्।
ये नारकाणामपिसन्ति देहिनां तानीश कैवल्यपते वृणे न च॥"

टीका—वरं वृणीष्वेति यदुक्तं---तदसहमानआह। हे विभो! वरदानां ब्रह्मादीनाम् ईश्वरात् वर प्रदात् त्वत् त्वत्तः सकाशात् बुधः कथं वरान् वृणीते। कीदृशान्? गुणैर्विक्रियत इति गुण विक्रियोऽहङ्कारः, स एव आत्मा येषां तेषां ब्रह्मादीनां सम्बन्धिनः। देहाभिमानिनां भोग्यानिति वा। तथा चेत्, बुध एव न भवतीत्यर्थः। जुगुप्सितत्वादपीत्याह य इति बुध एवाहमपि न वृणे इति समुच्चयाय चकारः।

एवं भा० ४।२०।२४ में उक्त है—

"न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः।
महत्तमान्त र्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेषमेवरः॥'

श्लोक द्वय में भी 'गुण विक्रियात्मनां" पद में भक्ति का गुण विकार राहित्य हेतु नित्यत्व एवं 'न कामयेनाथ' इत्यादि श्लोक में मुक्ति से भक्ति में आनन्दातिशयत्वप्रदर्शित हुआ है।

अर्थात् जीव वृन्द के गुण विकारमय भोग्य की प्रार्थना न करके भक्ति प्रार्थना करने के कारण—भक्ति का गुणातीतत्व बोध होता है। कैवल्य का अभिलाष नहीं करता हूँ—उक्त होने के कारण—एवं भक्ति प्रार्थना करने के कारण, मुक्ति से भक्ति में अर्थात् भगवत् प्रीति में प्रचुर आनन्द की प्रतीति होती है।

गुण विकार मय वस्तु समूह उत्पत्ति शाली हैं। अवस्थान्तर प्राप्ति को विकार कहते हैं। जिस की उत्पत्ति है, उस का ध्वंस अवश्यम्भावी है। गुणातीत भक्ति का अभाव हेतु विनाशाभाव है, तज्जन्य भक्ति योग—नित्य है। भा० १।७।७ में उक्त—

"यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परम पूरुषे।

टीका—संहिताया अनर्थोपशमकत्वं दर्शयति—यस्यां श्रूयमाणायां किं पुनः श्रुतायामित्यर्थः।

श्रीमद् भागवत रूप सात्वत संहिता का श्रवण करने से जीव वृन्द में शोक मोह भय नाशिनी परम पुरुष श्रीकृष्ण विषयिणी भक्ति उत्पन्न होती है। इस श्लोक में परम वस्तु प्रति पादक श्रीमद् भागवत का परम फल रूप में भी भक्ति का नित्यत्व प्रतिपादित हुआ है। अर्थात् इस श्लोक में भक्ति का सर्वाधिक आनन्दमयत्व, गुणातीतत्व नित्यत्व प्रतिपादित हुआ है। भा० ७।६।२५ में उक्त है—

"तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त आद्ये
किं तैर्गुणव्यतिकरादिह ये स्वसिद्धा।
धर्मादयः किमगुणेन च काङ्क्षितेन
सारं जुषां चरणयोरुपगायतां नः॥"

गुणातीतत्वम्, "किमगुणेन च काङ्क्षितेन" इत्युक्त्वा मोक्षादपि परमानन्दरूपत्वं दर्शितम्, (भा० ७।८।४२) "प्रत्यानीताः" इत्यत्रान्यस्य कालग्रस्तत्वमुक्त्वा मुक्तेस्तस्याश्चाकालग्रस्तत्वेन साम्येऽपि तस्या आनन्दाधिक्यमुक्तम्। एवं (भा० ३।१५।४८) "नात्यन्तिकं विगणयन्ति" इत्यादौ

---

टीका—ततः किमत आह तुष्टे च तत्र तस्मिन् किमलभ्यं तथापि गुण परिणामात् दैवादेव स्वसिद्धा अयत्नतः सिद्धा ये धर्मादय स्तैः किमगुणेन च मोक्षेण काङ्क्षितेन किम्? तमुपगायतां नोऽस्माकम्-आकाङ्क्षितस्यापि तस्य सिद्धेः। यद्वा, माभून्मोक्षः, तस्य चरणयोः सारं जुषां सुधां सेवमानानां तेनापि किमित्यर्थः।

श्रीमद् भागवत में ही आत्मारामवृन्द का भक्ति सुख वर्णित होने के कारण, भक्तिका ही परमानन्द-रूपता, गुणातीतता, एवं नित्यता सुदृढ़ होती है। ऐसा होने पर मायातीत वैकुण्ठादि वैभव प्राप्त भगवत् पार्षद वृन्द का भक्ति सुख श्रुत होने से भक्ति का परमानन्दरूपत्व सुदृढ़ होता है। उस प्रकार "तुष्टे च तत्र" श्लोक में प्रह्लाद ने कहा है—हे आद्य! अनन्त! आप तुष्ट होने से अलभ्य क्या रहता है। गुण-परिणाम हेतु दैववशतः विनायत्न से जो धर्म्मादि सिद्ध पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं, उस से भी क्या प्रयोजन है? एवं ज्ञानिगण के प्रार्थनीय अगुण—गुणातीत मोक्ष से भी क्या प्रयोजन है? कारण, हम सब प्रभु के चरण युगल के सार निषेवण करते हैं—एवं उन के नामादि कीर्त्तन करते हैं। यहाँ 'गुणपरिणामहेतु' इत्यादि वाक्य से भक्ति का गुणातीतत्व प्रदर्शित हुआ है। अर्थात् श्रीभगवान् के चरण युगल का माधुर्य्य आस्वादन कारी साधुगण—गुण परिणाम भूत वस्तु की वाञ्छा नहीं करते हैं। किन्तु भक्ति वाञ्छा करते हैं, अतः भक्ति का गुणातीत सुस्पष्ट स्थापित होता है। एवं 'अगुण' इत्यादि वाक्य के द्वारा मोक्ष से भक्ति की परमानन्द रूपता प्रदर्शित हुई है। अर्थात् आनन्दमय मोक्ष को परित्याग करके भक्ति प्रार्थना करने के कारण, मोक्ष से प्रेम भक्ति जो प्रचुर आनन्दमयी है, वह अनायास सिद्ध होता है। भा० ७।८।४२ में उक्त है—

"प्रत्यानीताः परम भवता त्रायता नः स्वभागा-
दैत्याक्रान्तं हृदय कमलं त्वद् गृहं प्रत्यबोधि।
काल ग्रस्तं कियदिदमहो नाथ शुश्रूषतां ते
मुक्तिस्तेषां नहि बहुमता नारसिंहा परैः किम्॥"

इन्द्र नृसिंह देव को कहे थे—हे परम! दैत्यगण हमारे यज्ञ समूह को हरण किये थे, हम सब की रक्षा करके आपने उस को प्रत्यावर्त्तन किया है। वे यज्ञ भाग समूह आप के ही हैं, कारण, आप अन्तर्य्यामी हैं, अतः यज्ञ भोक्ता आप ही हैं। हे नाथ! हमारे हृदय कमल आप के गृह स्वरूप है। अभी तक यह दैत्याक्रान्त था। भय हेतु सर्वदा स्मृति पथ में दैत्य वृन्द उदित होते थे। सम्प्रति आपने भय से हम सब को मुक्त करके उस को विकशित किया। हे नरसिंह! काल ग्रस्त—कालक्रम से ध्वसशील त्रैलोक्य ऐश्वर्य्यदान अकिञ्चित् कर है। जो लोक-आप की सेवा करते हैं—वे मुक्ति को भी महत्त्व प्रदान नहीं करते हैं, अपर पदार्थ की बात ही क्या है?

इस श्लोक में—इन्द्र—श्रीनृसिंह देव के निकट—त्रैलोक्य ऐश्वर्य्य समूह को कालग्रस्त' कहकर मुक्ति एवं भक्ति एतदुभय काल ग्रस्त न होने पर भी भक्ति का आनन्द प्राचुर्य्य का कीर्त्तन किये हैं। एवं भा० ३।१५।४८ में उक्त है—

"नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं
किम्वन्यदर्पित भयं भ्रुव उन्नयैस्ते।

(भा० ९।४।६७) "मत्सेवया प्रतीतं ते" इत्यादौ, (भा० ४।९।१०) "या निर्वृतिस्तनुभृताम्" इत्यादि-श्रीध्रुववाक्येऽपि योज्यम्। सर्वमेतत (भा० ५।६।१७) "यस्यामेव कवय:" इत्यादि-गद्ये व्यक्तमस्ति, तत्रैव "तया परया निर्वृत्या" इत्यनेन साक्षादेव तस्या मोक्षादपि परमत्व मानन्दैकरूपत्वञ्च निगदेनैवोक्तमस्ति। किं बहुना, परमानन्दैकरूपस्य सर्वानन्द-कदम्बावलम्बस्य श्रीभगवतोऽप्यानन्दचमत्कारिता तस्याः प्रीतेः श्रूयते, यथोक्तम्

---

येऽङ्ग त्वदङ्घ्रि शरणा भवत: कथाया:
कीर्त्तन्यतीर्थ यशस कुशला रसज्ञा: ।।"

हे प्रभो, आप का यश: परम रमणीय एवं निरतिशय पवित्र है, एतज्जन्य कीर्त्तन योग्य एवं तीर्थ स्वरूप है, आप के चरणाश्रित जो सब कुशल व्यक्ति आप के कथा रसज्ञ हैं, वे आप के अत्यन्त प्रसाद रूप जो मोक्ष है, उस को भी आदर नहीं करते हैं। तद्भिन्न इन्द्रादि पद का प्रसङ्ग ही क्या है? फलतः इन्द्रादि पद में आप की भ्रू भङ्गी मात्र से भय निहित है। भा० ९।४।३७ में उक्त—

"मत्सेवया प्रतीतन्ते सालोक्यादि चतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः किमन्यत् काल विप्लुतम् ।।

श्रीवैकुण्ठ देव दुर्वासा को कहे थे—भक्तवृन्द मेरी सेवा के द्वारा सालोक्यादि चतुर्विध मुक्ति को भी नहीं चाहते हैं। काल प्रभाव से विनाशी अन्य ब्रह्मपद प्रभृति में उन सब की अभिरुचि कैसे हो सकती है? भा० ४।९।१० में उक्त—

"या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पाद पद्म
ध्यानाद् भवज्जनकथा श्रवणेन वास्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ माभूत।
किम्वन्तकासिलुलितात् पततां विमानात् ।।"

हे नाथ! आप के पाद पद्म का ध्यान करके अथवा आपके भक्त जन की कथासुनकर मानवगण जो आनन्द को प्राप्त करते हैं, स्वरूप सुख पूर्ण ब्रह्मानुभव में भी उस प्रकार आनन्द नहीं है। सुतरां कलि की असि के द्वारा विलुलित स्वर्ग से निपतित जन गण में सुख की सम्भावना है ही नहीं। इत्यादि श्रीध्रुव वाक्य में भी इस प्रकार अर्थ योजना की जा सकती है। अर्थात् उक्त श्लोकत्रय में भी मोक्ष से भक्ति में आनन्द प्राचुर्य्य वर्णित हुआ है।

भक्ति का परमानन्द रूपत्व, गुणातीतत्व, नित्यत्व का वर्णन भा० ५।६।१७। के गद्य में है—

"यस्यामेव कवय, आत्मानमविरतं विविध वृजिन संसार परितापोपतप्यमानमनुसवनंस्नापयन्त-स्तयैव परया निर्वृत्या ह्यपवर्गमात्यन्तिकं परम पुरुषमपि स्वयमासादितं नैवाद्रियन्ते, भगवदीयत्वे नैव परि-समाप्ता सर्वार्थाः ।।"

विज्ञ व्यक्ति गण,विविध अनर्थ रूप संसार सन्ताप से सतत परितप्त आत्मा को जिस भक्ति रूप अमृत प्रवाह में अविरत स्नान कराकर परमानन्द हेतु चरम एवं परम मोक्ष स्वयं समागत होने पर भी आदर नहीं करते हैं। कारण, भक्तगण, भगवान् के निज जन होने के कारण सम्यक् रूपेण समस्त पुरुषार्थ को प्राप्त किये हैं।

उक्त गद्य में परमानन्द पदोल्लेख के द्वारा साक्षात् रूप से ही भक्ति की परमानन्द रूपता वर्णित है। अधिकन्तु जो स्वयं केवल आनन्द स्वरूप एवं निखिल आनन्द समूह का अवलम्बन स्वरूप है उन श्रीभगवान् की भी प्रेम भक्ति से आनन्द चमत् कारिता की कथा सुनने में आती है। भा० ५।१५।१३ में उक्त

(भा० ५।१५।१३) "प्रीतिः स्वयं प्रीतिमगाद्गयस्य" इति, यथा चाह (भा० ९।४-६३)—

(६२) "अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥" १८३॥

यथा ह्यस्वतन्त्रो जीवः पराधीनो भवति, तथैवाहं स्वतन्त्रोऽपि भक्तपराधीन इत्यर्थः। तत्र हेतुः—भक्ताख्यैः साधुभिर्मुमुक्षापर्य्यन्त-कैतवरहितैर्ग्रस्तं भक्त्या परमवशीकृतं हृदयं यस्य सः, तत्र हेतुः—भक्तजनेषु प्रियः, तत्प्रीतिलाभेनातिप्रीतिमान्॥

६३। भगवदानन्दः खलु द्विधा,—स्वरूपानन्दः स्वरूपशक्त्यानन्दश्च, अन्तिमश्च द्विधा,-

---

है— "यत् प्रीणनाद् बर्हिषि देव तिर्य्यङ् मनुष्य वीरुत्तृणमाविरिञ्चात्।
प्रीयेत सद्यः सह विश्वजीवः प्रीतिः स्वयं प्रीतिमगाद् गयस्य॥"

जो भगवान् प्रीत होने से देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी लता, तृण प्रभृति आब्रह्म ब्रह्माण्ड के सब व्यक्ति तत् क्षणात् प्रीति लाभ करते हैं,वह प्रीति स्वरूप भगवान् स्वयं गय नृपति के यज्ञ में प्रीति लाभ करते थे। भा० ९।४।६३ में श्रीभगवान् दुर्वासा को कहे थे—

(६२) "अहं भक्त पराधीन ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्त हृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥" १८३॥

हे द्विज! भक्त जन प्रिय मैं अस्वतन्त्रवत् भक्त पराधीन हूँ, साधु भक्त वृन्द कर्त्तृक मैं ग्रस्तहृदय हूँ। श्लोक की व्याख्या इस प्रकार है—

जिस प्रकार अस्वतन्त्र जीव—पराधीन होता है, उस प्रकार परम स्वतन्त्र अर्थात् स्वाधीन मैं भक्त पराधीन हूँ। कारण, भक्त नाम से प्रसिद्ध साधु—जो मुक्ति वासना पर्य्यन्त यावतीय कैतव (कपट) रहित हैं, उन के द्वारा मेरा हृदय ग्रस्त है, उनकी भक्ति के द्वारा मेरा हृदय अत्यन्त वशीभूत है, कारण, मैं भक्त जन गण के प्रिय हूँ, भक्त वृन्द की प्रीति को प्राप्त कर में अतिशय सुखी होता हूँ॥६२॥

६३। भगवदानन्द द्विविध हैं—स्वरूपानन्द एवं स्वरूप शक्ति का आनन्द। स्वरूपशक्त्यानन्द भी द्विविध हैं—मानसानन्द एवं ऐश्वर्य्यानन्द। मानसानन्द समूह के मध्य में भक्त्यानन्द का ही एकाधिपत्य प्रदर्शित हुआ है। तात्पर्य्य यह है—निरपेक्ष तत्त्व का नाम ईश्वर है, ईश्वर,—स्वतः पूर्ण, स्वप्रकाश एवं आश्रयतत्त्व हैं। किसी की अपेक्षा न होने से ही ईश्वर स्वाधीन हैं। जीव, सापेक्षतत्त्व है—स्वतः अपूर्ण तो है ही ईश्वर की शक्ति से ही प्रकाशमान एवं आश्रित भी है। एतज्जन्य सर्वदा जीव को ईश्वर की अपेक्षा करनी पड़ती है। तज्जन्य जीव अस्वतन्त्र है, अर्थात् पराधीन है। भगवान् स्वाधीन होने पर भी जीव के समान ही भक्त पराधीन होते हैं, किन्तु यह पराधीनता अन्य अपेक्षा हेतु नहीं हैं, भगवान् प्रीति के अभिलाषी हैं, अतः भक्त गण की प्रीति से अधीन होते हैं। उस में इस प्रकार वशीभूत होते हैं कि उनकी समस्त मनोवृत्ति भक्त के अधीन हो जाती हैं। किन्तु ईश्वर समस्त भक्त की प्रीति से वशीभूत नहीं होते हैं। जो सब भक्त-मुक्ति वासना पर्य्यन्त समस्त वासना को परित्याग करके केवल प्रेम वश होकर उनका भजन करते हैं, उन सब के प्रेम से ही वशीभूत होते हैं।

यह प्रेम भक्ति, श्रीभगवान् की स्वरूप शक्ति की वृत्तिभूता, ह्लादिनी सार समवेत सम्विद्रूपा है। प्रधानतः श्रीभगवान् की स्वरूप शक्ति त्रिविध हैं—ह्लादिनी, सन्धिनी एवं सम्वित्। ह्लादिनी---आनन्द शक्ति, सन्धिनी—सत्ता शक्ति, एवं सम्वित्--ज्ञान शक्ति। भक्ति--प्रगाढ़ आनन्द के सहित मिलित ज्ञान है।

मानसानन्द ऐश्वर्य्यानन्दश्च। तत्रानेन तदीयेषु मानसानन्देषु भक्तयानन्दस्य साम्राज्यं दर्शितम्। स्वरूपानन्देषु ऐश्वर्य्यानन्देषु चाह पद्याभ्याम (९।४।६४)—

(६३) "नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥" १८४॥

नाशासे, न स्पृहयामि॥ श्रीविष्णुर्दुर्वाससम्॥

---

किसी वस्तु को अवगत होना ही ज्ञान है, जिस को जाना जाता है। वह यदि ज्ञान का एकान्त अभीष्ट होता है तो वह अवगत होने के सहित आनन्द वर्त्तमान होता है। ऐसा होने पर श्रीभगवान् को एकान्त निज रूप में जानना एवं इस प्रकार अनुभव हेतुक जो आनन्द है वही भक्ति का स्वरूप है।

भगवत्तत्त्व स्वप्रकाश होने पर जीव की शक्ति से उन को उस प्रकार जानना एवं जान कर सुख प्राप्त करना सम्भव नहीं है। स्वरूप शक्ति के द्वारा ही तदीय ईदृश अनुभव एवं तज्जनित आनन्द प्राप्त करना सम्भव होता है। वह स्वरूप शक्ति--सम्वित् एवं ह्लादिनी है। तज्जन्य भक्ति—स्वरूप शक्ति की वृत्तिभूता है।

आनन्द स्वरूप एवं आनन्द मूर्त्ति भगवान् होने के कारण--भगवान् स्वरूप से एक प्रकार आनन्द प्राप्त करते हैं, यही उनका स्वरूपानन्द है। स्वरूप शक्ति से उन के धाम, परिकर, लीला समूह का आविर्भाव होता है। इस से श्रीभगवान् जिस जो आनन्दलाभ करते हैं—वह स्वरूप शक्त्यानन्द नाम से अभिहित है। धाम, परिकर, एवं लीला का आनन्त्य निबन्धन श्रीभगवान् की जो स्वच्छन्दता है, वह उन का ऐश्वर्य्यानन्द है। एवं कारुण्यादि गुण को प्रकटन करके भगवान् जो चित्त प्रसाद प्राप्त करते हैं, वह उन का मानसानन्द है। कारुण्यादि मनोवृत्ति--बहु विध होने के कारण—यह मानसानन्द भी बहुविध हैं। यह सब मनोवृत्ति—स्वरूप शक्ति की परिणति विशेष होने के कारण,—मानसानन्द को भी स्वरूप शक्त्यानन्द कहा गया है। भक्त वृन्द की भक्ति से भगवान् जिस प्रकार मनः प्रसाद लाभ करते हैं, अपर किसी से भी उस प्रकार आनन्द लाभ नहीं करते हैं। कारण, जिस ह्लादिनी शक्ति द्वारा भगवान् आनन्दित होते हैं, भक्ति उस की सारस्वरूप है। एतज्जन्य यावतीय मानसानन्द—भक्त्यानन्द के अधीन हैं। भक्त के हृदय में भक्ति का अधिष्ठान। भगवान् का हृदय---भक्ति का अधीन है। तज्जन्य भगवान् कहे हैं—साधुभक्तगण उनके हृदय को ग्रास किये हैं। हृदय को ग्रास किये हैं—कहने से प्रतीत होता है कि—भक्ति के समीप में भगवान् के मन का किसी प्रकार स्वातन्त्र्य नहीं है। इस से सुष्ठु बोध होता है कि श्रीभगवान् के मानसानन्द के ऊपर भक्त्यानन्द का साम्राज्य अर्थात् एकाधिपत्य है। अवशिष्ट स्वरूपानन्द एवं ऐश्वर्य्यानन्द के ऊपर भक्त्यानन्द का आधिपत्य का प्रदर्शन अग्रिम ग्रन्थ में होगा।

स्वरूपानन्द समूह में एवं ऐश्वर्य्यानन्द समूह में जो भक्त्यानन्द का एकाधिपत्य है—उस का कथन श्रीभगवान् दुर्वासा के प्रति एवं उद्धव के प्रति किये हैं—उक्त श्लोक द्वय क्रमशः इस प्रकार है--भा० ९।४।६४ में दुर्वासा के प्रति कहे हैं—

(६३) "नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥" १८४॥

टीका—न आशासे—नस्पृहयामि।

हे ब्रह्मन्! मैं जिन की परमागति हूँ, उन साधु भक्त वृन्द को छोड़कर अपने को एवं निज आत्यन्तिकी सम्पद् को भी नहीं चाहता हूँ। 'जिन को नहीं चाहता हूँ' कहने से स्वरूपानन्द के ऊपर भक्त्यानन्द का

६४। तथैव भक्तश्रेष्ठत्वेन श्रीमदुद्धवं लक्ष्यीकृत्याह (भा० ११।१४।१५)—

(६४) "न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥"१८५॥

यथा भक्तत्वातिशयद्वारा भवान् मे प्रियतमस्तथा आत्मयोनिर्ब्रह्मा पुत्रत्वद्वारा न प्रियतमः, न च शङ्करो गुणावतारत्वद्वारा, न च सङ्कर्षणो भ्रातृत्वद्वारा, न च श्रीर्जायात्व-व्यवहारद्वारा, न चात्मा परमानन्द-घनरूपताद्वारेत्यर्थः॥ श्रीभगवान्॥

६५। अथ श्रुतौ च—"भक्तिरेवैतं नयति, भक्तिरेवैतं दर्शयति, भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसी" इति श्रूयते। तस्मादेवं विविच्यते,—या चैवं भगवन्तं स्वानन्देन मदयति,

---

आधिपत्य कथित हुआ है। 'निज आत्यन्तिकी सम्पद् को अभिलाषा नहीं करता हूँ। कहने से ऐश्वर्य्यानन्द के ऊपर भक्त्यानन्द का एकाधिपत्य कथित हुआ है।

श्रीविष्णु दुर्वासा को कहे थे॥६३॥

६४। भक्त का श्रेष्ठत्व कीर्त्तन कर के भी श्रीकृष्ण उद्धव के निकट स्वरूपानन्द एवं ऐश्वर्य्यानन्द से भी भक्त्यानन्द का श्रेष्ठत्व कीर्त्तन किये हैं। भा० ११।१४।१५ में उक्त है—

(६४) 'न तथा में प्रियतम आत्मयोनि र्न शङ्करः।
न च सङ्कर्षणो न श्री नैवात्मा च यथा भवान्॥"१८५॥

आप जिस प्रकार मेरा प्रियतम हैं, आत्मयोनि ब्रह्मा, शिव, सङ्कर्षण, लक्ष्मी, यहाँतक कि निज स्वरूप भी उस प्रकार प्रियतम नहीं है।

श्लोक की व्याख्या—आप परम भक्त होने के कारण, जिस प्रकार प्रियतम हैं, आत्मयोनि—ब्रह्मा—पुत्रत्व द्वारा उस प्रकार प्रियतम नहीं हैं। शङ्कर गुणावतार होने पर भी उस प्रकार प्रियतम नहीं है। लक्ष्मी माया होने पर भी एवं सङ्कर्षण—श्रीबलराम—भ्राता होने पर भी उस प्रकार प्रियतम नहीं हैं। अधिक क्या कहूँ ? मेरी परमानन्द मूर्त्ति भी उस प्रकार प्रियतम नहीं है।

श्रीभगवान् कहे थे—॥६४॥

६५। माठर श्रुति में भी भक्त्यानन्द का अतिशयत्व वर्णित है, "भक्तिरेवैतं नयति, भक्तिरेवैतं दर्शयति, भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसी॥" भक्ति ही भक्त को भगवद् धाम प्राप्त कराती है, भगवद् दर्शन कराती है, भक्ति के वश भगवान् हैं। भक्ति ही भगवत् प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन है।

उक्त प्रमाण से भक्ति में विपुल आनन्द विद्यमान है, यह सुनिश्चित हुआ। ऐसा होने से जो भक्ति निजानन्द द्वारा भगवान् को विभोर करती है, वह भक्ति कीदृश लक्षण विशिष्टा है, इस विषय में विचार करना आवश्यक है—

वह सांख्यमतीय प्राकृत सत्वमय मायिक आनन्द नहीं है। कारण, श्रीभगवान् कभी भी मायावश नहीं हैं। श्रुति संवाद से यह परिज्ञात होता है। एवं भगवान् स्वतः तृप्त हैं अर्थात् भगवान् पूर्ण हैं, स्वयं ही तृप्त हैं।

सेश्वर--निरीश्वर भेद से सांख्यवादी द्विविध हैं, यहाँ निरीश्वर सांख्य वादी को लक्ष्य कर कहा गया है। निरीश्वर सांख्य के मत में प्रकृति ही पुरुष का आनन्द के हेतु है। सांख्य मत में मुक्त पुरुष की अवस्था निम्नोक्त रूप है—

सा किंलक्षणा स्यादिति, न तावत् सांख्यानामिव प्राकृतसत्त्वमय-मायिकानन्दरूपा,-भगवतो मायानभिभाव्यत्वश्रुतेः, स्वतस्तृप्तत्वाच्च, न च निर्विशेषवादिनामिव भगवत्स्वरूपानन्दरूपा, अतिशयानुपपत्तेः। अतो नतरां जीवस्य स्वरूपानन्दरूपा, अत्यन्तक्षुद्रत्वात्तस्य। ततो (वि० पु० १।१२।६९)–

"ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित्त्वय्येका सर्वसंश्रये। ह्लाद-तापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥"१८६॥

इति श्रीविष्णुपुराणानुसारेण ह्लादिन्याख्य-तदीयस्वरूपशक्त्यानन्दरूपैवेत्यवशिष्यते, यया

---

"रूपैः सप्तभिरेव बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येक रूपेण॥६३॥
तेन निवृत्त प्रसवामर्थवशात् सप्तरूप विनिवृत्ताम्।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थित सुस्थः॥६५॥ सांख्य कारिका

धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य्य वह सप्त रूप के द्वारा प्रकृति अपने आप को बद्ध करती है। किन्तु वह प्रकृति पुरुषार्थ के निमित्त एक रूप द्वारा अर्थात् ज्ञान के द्वारा अपने को विमुक्त करती।

पुरुष,-द्रष्टा के सदृश अवस्थित होकर सुस्थ भाव से उस ज्ञान के द्वारा प्रयोजन सिद्धि हेतु, सप्तरूप निवृत्त होता है। जिस निवृत्त प्रसवा प्रकृति को—वह देखता है।

यहाँ प्रकृति का एकरूप कह कर जिस ज्ञान का निर्द्देश किया गया है, उस का दर्शन करता है। यहाँ प्रकृति का एकरूप कहकर जिस ज्ञान का निर्द्देश किया गया है—वह सात्त्विक ज्ञान है। इस ज्ञान हेतु जो आनन्द है—वह सत्त्वमय। समस्त दार्शनिक के मत में मुक्ति में आनन्द की पराकाष्ठा स्वीकृत है, तज्जन्य यहाँ मुक्त्यानन्द की बात कही है, सांख्य मत में मायिक आनन्द के ऊपर अपर कोई आनन्द नहीं है।

भगवत् स्वरूपानन्द रूपा भक्ति,- निर्विशेषवादि वृन्द के ब्रह्मानुभवजनित आनन्द के समान भी नहीं है, ऐसा होने पर स्वरूपानन्द से उस का आधिक्य प्रतिपन्न नहीं होता है, निर्विशेषवादि वृन्द का ब्रह्मानन्द-स्वरूपानुभव जनित है। वे ब्रह्म में शक्ति स्वीकार नहीं करते हैं, अतएव उनके स्वीकृत आनन्द--शक्ति कार्य्य नहीं है। स्वरूपानन्द, सतत स्वरूप में पूर्ण रूप में विद्यमान है। सुतरां किसी भी अवस्था में उसका आधिक्य सम्भव नहीं है। अतएव वह जीव स्वरूपानन्द रूपा जो नहीं है, कहना निष्प्रयोजन है। कारण, जीव स्वरूपानन्द अतिशय क्षुद्र है। अतएव विष्णु पुराण के १।१२।६९ में उक्त है-

"ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित् त्वय्येका सर्वसंश्रये।
ह्लाद तापकरी मिश्रा त्वयिनो गुण वर्जिते॥"१८६॥

हे भगवन्! आप की स्वरूपभूता ह्लादिनी आह्लाद करी', सन्धिनी 'सत्ता' एवं सम्वित् 'विद्या' यह त्रिविध शक्ति, सर्वाधिष्ठान भूत आप में ही अवस्थित हैं। मनः प्रसाद कारिणी सात्त्विकी, विषय वियोग-दि में तापकरी तामसी एवं ताप, प्रसाद उभय मिश्रा राजसी--यह त्रिविध शक्ति, प्राकृत सत्त्वादि गुणातीत आप में नहीं हैं। विष्णु पुराण के उक्त वचनानुसार--जिस भक्ति के द्वारा भगवान् अभूत पूर्व स्वरूपानन्द विशिष्ट होते हैं, वह भक्ति, ह्लादिनी नाम्नी श्रीभगवान् की स्वरूपशक्त्यानन्द रूपा होती है। अवशेष में यही स्थिर हुआ, वह भक्ति--उस उस आनन्द का अनुभव अपर को भी कराती है।

खलु भगवान् स्वरूपानन्दमनुभवति, यदानन्देनानन्दविशेषीभवति, ययैव तं तमानन्दमन्यानप्यनुभावयतीति ।

अथ तस्या अपि भगवति सदैव वर्त्तमानतयातिशयानुपपत्तेस्त्वेवं विवेचनीयम्,--श्रुतार्थान्यथानुप-पत्त्यर्थापत्ति-प्रमाण-सिद्धत्वात्तस्या ह्लादिन्या एव कापि सर्वानन्दातिशायिनी वृत्तिर्नित्यं भक्तवृन्देष्वेव निक्षिप्यमाणा भगवत् प्रीत्याख्यया वर्त्तते। अत स्तदनुभवेन श्रीभगवानपि श्रीमद्भक्तेषु प्रीत्यतिशयं भजत: इति। अतएव तत्सुखेन भक्त-भगवतोः

---

अनन्तर उस ह्लादिनी शक्ति, सर्वदा भगवान् में विराजमान होने के कारण-- उन का आनन्दातिशय हो ही नहींसकता है । संशय निरसन हेतु इस प्रकार बिचार किया जा सकता है- श्रुत्यर्थ की अन्यथा अनुपपत्ति (असङ्गति) अर्थापत्ति प्रमाण सिद्ध होने के कारण, उस ह्लादिनी की ही किसी सर्वातिशायिनी वृत्ति,--नियत भक्त वृन्द में निक्षिप्त होकर भगवत् प्रीति नाम धारण पूर्वक विराजित है । अतएव वह प्रीति को अनुभव करके श्रीभगवान् भी भक्तगण में अतिशय प्रीत होते हैं ।

श्रुतार्थान्यथानुपपत्त्यर्थापत्ति प्रमाणसिद्धत्वात् तस्या ह्लादिन्या एव कापि सर्वातिशायिनी वृत्तिर्नित्यं भक्त वृन्देष्वेव निक्षिप्यमाणा भगवत् प्रीत्याख्यया वर्त्तते " इसका अर्थ इस प्रकार है—

अनुपपाद्यमान अर्थ दर्शन करके उपपादक अर्थान्तर कल्पना का नाम अर्थापत्ति है । जिस के द्वारा जो कार्य्य होता है, उस के अभाव से भी उस कार्य्य निष्पत्ति को देखकर उसका अन्य हेतु अनुमान ही अर्थापत्ति प्रमाण है ।

जिस प्रकार देवदत्त दिवस में भोजन नहीं करता है, अथच वह स्थूल है, इस में रात्रि भोजन कल्पित होता है । यह रात्रि भोजन कल्पना अर्थापत्ति प्रमाण है । स्थूलत्व कथा सुनी गई है, वह 'श्रुतार्थ" दिवस में भोजनाभाव से उसका अन्यथा होना सङ्गत है । किन्तु वैसा नहीं हुआ है, यह अन्यथा की अनुपपत्ति है । अन्यथा न होने से ही अर्थापत्ति प्रमाण से रात्रि भोजन स्वीकृत हुआ ।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में श्रीभगवान् की स्वरूपशक्ति ह्लादिनी द्वारा भगवान् में आनन्दातिशय्य की असम्भावना विद्यमान होने पर भी ह्लादिनी शक्ति व्यतीत अपर कोई भी उनको आनन्दित करने में सक्षम नहीं है, अथच ह्लादिनी द्वारा जो आनन्द प्राप्त करना असम्भव है, उस आनन्द को प्राप्त कर रहे हैं, इस आनन्द प्राप्ति का अन्य कारण अवश्य स्वीकार्य्य है । वह कारण, अन्य कुछ नहीं है, देवदत्त का रात्रि भोजन के समान ह्लादिनी शक्ति प्रकारान्तर के द्वारा भगवान् को प्रचुर आनन्द प्रदान करती है, अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा वह निष्पन्न हुआ । वह इस प्रकार है— ह्लादिनी की विशेष अभिव्यक्ति भक्त हृदय में उपस्थित होकर प्रीति नाम से अभिहित होती है । वेणु वादन दृष्टान्त से इस का बोध सुगम होता है । वेणु वादक वेणु वादन द्वारा स्वयं मुग्ध तो होता ही है—अपर को भी मुग्ध करता है । वेणु ध्वनि फुत्कार रूप वायु का कार्य्य है । फुत्कार वायु में किसी को मुग्ध करने की सामर्थ्य नहीं है । किन्तु वह जब वेणु रन्ध्र से प्रकाशित होता है तो अद्भुत शक्ति सम्पन्न होता है । इस प्रकार स्वरूप शक्ति ह्लादिनी जब स्वरूप शक्ति भक्त सहयोग से विशेष अभिव्यक्ति को प्राप्त करती है, तब वह जिन भगवान् की शक्ति है, उन को भी मुग्ध कर सकती है । भक्त के द्वारा ह्लादिनी की इस प्रकार अभिव्यक्ति में आनन्द की पराकाष्ठा विद्यमान होने के कारण—इस को सर्वातिशायिनी वृत्ति कही गई है । अतएव प्रीति सुख हेतुक भक्त एवं भगवान्—आप के पारस्परिक आवेश का कथन भा० ९।४।६८ में श्रीवैकुण्ठ नाथ दुर्वासा

परस्परमावेशमाह (भा० ९।४।६८)—

(६५) "साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ।।"१८७।।

मह्यं मम, हृदयेन स्वस्य सामानाधिकरण्ये वीजमाह,—मदन्यदिति । अत्यन्तावेशेनैकतापत्त्या ज्वलल्लोहादावग्निव्यपदेशवदत्राप्यभेदानिर्देश इत्यर्थः ।। श्रीविष्णुर्दुर्वाससम् ।।

६६ । तेनैव परस्परं वशवर्त्तित्वमाह (भा० ६।१६।३४) —

(६६) "अजित जितः सममतिभिः, साधुभिर्भवान् जितात्मभिर्भवता ।
विजितास्तेऽपि च भजता,—मकामात्मनां य आत्मदोऽतिकरुणः ।।"१८८।।

टीका च—"हे अजित ! अन्यैरजितोऽपि भवान् साधुभिर्भक्तैर्जितः, स्वाधीन एव कृतः,

---

को किये हैं ।

(६५) "साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ।।"१८७।।

साधुगण मेरे हृदय हैं, मैं साधु वृन्द का हृदय हूँ । साधु वृन्द मुझ को छोड़कर अपर किसी को नहीं जानते हैं । मैं भी साधु वृन्द को छोड़कर कुछ भी नहीं जानता हूँ ।

श्लोकार्थ—साधु हृदय के सहित भगवान् निज हृदय का सामानाधिकरण्य—एकत्र अवस्थान--का कारण कहे हैं—वे मुझ को छोड़कर अपर को नहीं जानते हैं, मैं भी साधुगण व्यतीत अन्य किसी को नहीं जानता हूँ । अत्यन्त आवेश के द्वारा एकता प्राप्ति हेतु ज्वलन्त लौह प्रभृति को अग्नि रूप में वर्णन करने के समान यहाँपर भी अभेद निर्देश किया गया है । अभेद निर्देश होने पर भी एकत्व प्राप्ति नहीं होती है । ज्वलन्त लौह अग्निमय होने पर भी लौह एवं अग्नि—एतदुभय की स्वरूपहानि नहीं होती है । अर्थात् स्वरूपतः पार्थक्य विद्यमान रहता है । यहाँपर भी उस प्रकार समझना होगा । किन्तु निरन्तर प्रीति पूर्वक चिन्तन हेतु उभय--उभय के हृदय में व्याप्त होकर अवस्थान करते हैं । अन्य वस्तु की स्मृति की कथा तो दूर है, स्मृति स्थान हृदय का भी अनुसन्धान नहीं रहता है, केवल भक्त भगवान् की पारस्परिक तन्मयता ही रहती है ।

स्वतन्त्र स्वतः पूर्ण श्रीभगवान् केवल प्रीति सुख से आकृष्ट होकर भक्त में एकान्त आविष्ट होते हैं, आत्म विस्मृत होते हैं, यही प्रेम भक्ति का आनन्दातिशय्य का परिचायक है ।

श्रीविष्णु दुर्वासा को कहे थे ।।६५।।

६६ । अत्यन्त आवेश वशतः ही भक्त-भगवान् उभय,-उभय में वशीभूत होते हैं, इस का विवरण भा० ६।१६।३४ में है—

(६६) "अजित जितः सममतिभिः, साधुभिर्भवान् जितात्मभिर्भवता ।
विजितास्तेऽपि च भजता,--मकामात्मनां य आत्मदोऽतिकरुणः ।।"१८८।।

श्रीसङ्कर्षण को चित्रकेतु कहे थे—हे अजित ! आप समबुद्धि, जितात्मा भक्तगण कर्त्तृक जित हैं । कारण, आप--अति करुण हैं, एवं आप के द्वारा वे भी पराजित हुए हैं । कारण, वे आप का भजन निष्काम भाव से करने पर भी आप उन सब को आत्म दान करते हैं ।

यतो भवानतिकरुणः, तेऽपि च निष्कामा अपि भवता विजिताः, यो भवानकामात्मनामात्मान-मेव ददाति" इत्येषा। हरिभक्तिसुधोदये च प्रह्लादं प्रति श्रीमुखवाक्यम् (१४।२७-३०)–

"सभयं सम्भ्रमं वत्स मद्गौरवकृतं त्यज। नैष प्रियो मे भक्तेषु स्वाधीनप्रणयी भव ॥१८९॥
अपि मे पूर्णकामस्य नवं नवमिदं प्रियम्। निःशङ्कप्रणयाद्भक्तो यन्मां पश्यति भाषते ॥१९०॥
सदा मुक्तोऽपि बद्धोऽस्मि भक्तेषु स्नेहरज्जुभिः। अजितोऽपि जितोऽहन्तैरवश्योऽपि वशीकृतः ॥१९१॥
त्यक्तबन्धुजनस्नेहो मयि यः कुरुते रतिम्। एकस्तस्यास्मि स च मे न चान्योऽस्त्यावयोः सुहृत् ॥"१९०'।

तस्मात् साधु व्याख्यातम्–भगवत्प्रीतिरूपा वृत्तिर्मायादिमयी न भवति। किन्तर्हि? स्वरूप-शक्त्यानन्दरूपा, यदानन्दपराधीनः श्रीभगवानपीति, यथा च श्रीमती गोपालोत्तरतापनी श्रुतिः(७९)–"विज्ञानघन आनन्दघनः सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठति" इति ॥ चित्रकेतुः

---

स्वामिकृत टीका का अभिप्राय—हे अजित! अपर के द्वारा आप अपराजित होने पर भी भक्तगण कर्त्तृक आप जित हैं। उन्होंने आप को अधीन, किया है। कारण, आप अति करुण हैं, वे भी निष्काम होने पर भी आप के द्वारा पराभूत हुए हैं—कारण, आप निष्काम भाव से भजन शील व्यक्ति वृन्द को आत्म दान करते हैं।

अर्थात् सर्वत्र प्रसिद्ध है कि—भक्तगण श्रीभगवान् को पराजित किये हैं, किन्तु इस श्लोक में वर्णित है—भगवान् भक्तगण को पराजित किये हैं, अर्थात् जो लोक कुछ भी नहीं चाहते हैं, वे भी आप को अर्थात् भगवान् को चाहते हैं। हरि भक्ति सुधोदय में प्रह्लाद के प्रति श्रीमुख वाक्य इस प्रकार है—

"सभयं सम्भ्रमं वत्स मद्गौरवकृतं त्यज।
नैष प्रियो मे भक्तेषु स्वाधीनप्रणयी भव ॥१८९॥
अपि मे पूर्णकामस्य नवं नवमिदं प्रियम्।
निःशङ्कप्रणयाद्भक्तो यन्मां पश्यति भाषते ॥१९०॥
सदा मुक्तोऽपि बद्धोऽस्मि भक्तेषु स्नेहरज्जुभिः।
अजितोऽपि जितोऽहन्तैरवश्योऽपि वशीकृतः ॥१९१॥
त्यक्तबन्धुजनस्नेहो मयि यः कुरुते रतिम्।
एकस्तस्यास्मि स च मे न चान्योऽस्त्यावयोः सुहृत् ॥"१९२॥

हे वत्स! मेरे प्रति गौरव प्रकाश करने से जो भय एवं सम्भ्रम उपस्थित हुआ है, उस को परित्याग कर। भक्तगण का इस प्रकार सगौरव व्यवहार मेरा प्रिय नहीं है। तुम स्वाधीन भाव से मेरे प्रति प्रणय प्रकाश करो। निःशङ्क प्रणय के सहित भक्त मेरा दर्शन करता है, एवं मेरे साथ वार्त्तालाप भी करता है। मैं पूर्ण मनोरथ होने पर भी वह मेरे निकट नूतन से नूतन प्रिय बोध होता है। नित्य मुक्त होने पर भी मैं भक्त के समीप में स्नेह रज्जु द्वारा बद्ध हूँ। अजित होने पर भी मैं भक्त के निकट पराजित होता हूँ। मैं अन्य के समीप में वशीभूत न होने पर भी भक्त वृन्द मुझ को वशीभूत करते हैं। जो व्यक्ति, बन्धु जन स्नेह त्याग पूर्वक मुझ में प्रीति करता है, ऐकमात्र मैं उसी का हूँ। वही मेरा है, हम दोनों के अन्य कोई बान्धव नहीं हैं। सुतरां भगवत् प्रीति रूपा वृत्ति मायादिमयी नहीं है। यह व्याख्या सुसङ्गत है। ऐसा होने पर वह क्या है? उत्तर वह स्वरूप शक्त्यानन्दारूपा है। जिस आनन्द के अधीन श्रीभगवान् स्वयं होते हैं। गोपाल तापनी श्रुति भी स्पष्ट रूप से कहती है—"विज्ञान घन आनन्द घनः

श्रीसङ्कर्षणम् ॥

६७। तदेवं तस्याः स्वरूपलक्षणमुक्तम्, तटस्थलक्षणमप्याह (भा० ११।३।३१) —

(६७) "स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् ।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ॥"१६३॥ इत्यादि ।

स्पष्टम् ॥ श्रीप्रबुद्धो निमिम् ॥

६८। तथा (भा० ११।१४।२३)—

(६८) "कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनानन्दाश्रुकलया शुध्येद्भक्त्या विनाशयः ॥"१६४॥

टीका च—"रोमहर्षादिकं विना कथं भक्तिर्गम्यते, भक्त्या च विना कथमाशयः शुध्येत्" इत्येषा ॥ श्रीभगवान् ॥

---

सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठति ॥" विज्ञान मूर्त्ति, आनन्द मूर्त्ति श्रीकृष्ण, सच्चिदानन्दैकरस स्वरूप भक्ति योग में अधिष्ठित हैं चित्त केतु श्रीसङ्कर्षण को कहे थे ॥६६॥

६७। भगवत् प्रीति का तटस्थ लक्षण।

उक्त रीति से भगवत् प्रीति का स्वरूप लक्षण वर्णित हुआ, अधुना भगवत् प्रीति का तटस्थ लक्षण का वर्णन करते हैं। भा० ११।३।३१ में उक्त है।

(६७) "स्मरन्तः स्मारयन्तश्चमिथोऽघोघहरं हरिम् ।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत् पुलकां तनुम् ॥"१६४॥

टीका—एवं वर्त्तमानानां परमानन्द प्राप्तिमाह--स्मरन्त इति द्वयेन। भक्त्या--साधन भक्त्या सञ्जातया--प्रेम लक्षणया भक्त्या।

श्रीप्रबुद्ध योगेश्वर निमिमहाराज को कहे थे—भक्त वृन्द—सर्व पाप नाशन श्रीहरि का स्मरण करके एवं परस्पर को स्मरण कराकर, साधन भक्ति सञ्जाता प्रीति भक्ति के द्वारा पुलकित तनु होते हैं। अर्थात् श्रीहरि कथा श्रवण समय में अकृत्रिम अश्रुपुलकादि का उद्गम--भगवत प्रीति का तटस्थ लक्षण है। अन्य तात्पर्य्य शून्य चित्त को स्वच्छ चित्त कहते हैं, उस में यदि श्रीहरि कथा श्रवण काल में अश्रुपुलकादि का उद्गम होता है—तभी भगवत् प्रीति का तटस्थ लक्षण होगा, अन्यथा नहीं।

श्रीप्रबुद्ध निमिमहाराज को कहे थे ॥६७॥

६८। उस प्रकार भा० ११।१४।२३ में लिखित है—

(६८) "कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनानन्दाश्रु कलया शुद्धचेद् भक्त्या विनाशयः ॥"१६४॥

टीका—रोमहर्ष विना कथं भक्ति र्गम्यते। भक्त्या विना च कथम् आशयः शुध्येदिति।

श्रीउद्धव को श्रीकृष्ण कहे थे—चित्त द्रवता व्यतीत रोमहर्ष होना कैसे सम्भव होगा ? रोम हर्ष के विना—आनन्दाश्रुकला का प्रकाश कैसे होगा ? और आनन्दाश्रु कलाभिन्न आशय शुद्धि भी कैसे होगी ? स्वामि टीका का अर्थ—रोमहर्ष, चित्त की आर्द्रता, एवं आनन्दाश्रु कला व्यतीत भक्ति का आविर्भाव

६९। तदेवं प्रीतेर्लक्षणं चित्तद्रवस्तस्य च रोमहर्षादिकम्। कथञ्चिज्जातेऽपि चित्तद्रवे रोमहर्षादिके वा न चेदाशयशुद्धिस्तदापि न भक्तेः सम्यगाविर्भाव इति ज्ञापितम्। आशय-शुद्धिर्नाम चान्यतात्पर्य्य-परित्यागः प्रीतितात्पर्य्यञ्च। अतएव (भा० ३।२५।२३) "अनिमित्ता स्वाभाविकी च" इति तद्विशेषणम्ः यथाहाक्रूरमुद्दिश्य (भा० १०।३८।२७)—

(६९) "देहंभृतामियानर्थो हित्वा दम्भं शुचं भियम्।
सन्देशाद्यो हरेर्लिङ्ग-दर्शन-श्रवणादिभिः॥"१९५॥

टीका च—"ननु किमर्थमेवं व्यलुठत् ? नास्ति प्रेमसंरम्भे फलोद्देश इत्याह--देहंभृतामिति।

---

हुआ, इस का परिज्ञान कैसे होगा ? एवं भक्तिभिन्न आशय (चित्त) शुद्ध कैसे होगा ?

श्रीभगवान् कहे थे—॥६८॥

६९। अतएव प्रीति का लक्षण है—चित्त द्रवता, उस का लक्षण है—रोमाञ्चादि। चित्त द्रवता वा रोमहर्षादि कियत् परिमाण में उपस्थित होने पर भी यदि आशय (चित्त) शुद्धि नहीं होती है तो भगवत् प्रीति रूपा भक्ति का सम्यक् आविर्भाव नहीं होगा, यह ज्ञापित हुआ। आशय (चित्त) शुद्धि शब्द से अन्याभिलाष परित्याग एवं भगवत् प्रीति तात्पर्य्य को जानना होगा। अतएव भा० ३।२५।३२ में श्रीकपिल देवने कहा है—

"सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या।
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धे र्गरीयसी"

गुण लिङ्ग, आनुश्रविक कर्म देव गण के मध्य में सत्त्व में ही एकाग्रचित्त पुरुष की जो वृत्ति, वह अनिमित्ता स्वाभाविकी भागवती भक्ति, सिद्धि अर्थात् मुक्ति से भी श्रेष्ठा है। यहाँ उन्होंने उक्त भक्ति लक्षण में अनिमित्ता एवं स्वाभाविकी—विशेषण द्वय प्रदान किया है। भगवत् प्रीति का आविर्भाव होने पर आशय शुद्धि होती है, तज्जन्य अन्य तात्पर्य्य का अभाव होता है एवं प्रीति तात्पर्य्य विद्यमान होता है। भा० १०।३८।२७ में अक्रूर को उद्देश्य करके श्रीशुकदेव कहे हैं—

(६९) "देहं भृतामियानर्थोहित्वादम्भं शुचं भियम्।
सन्देशाद् यो हरेर्लिङ्ग दर्शन श्रवणादिभिः।!"१९५॥

श्रीहरि मूर्त्ति के दर्शन एवं श्रवणादि द्वारा दम्भ, भय एवं शोक वर्ज्जन पूर्वक अक्रूर की जो अवस्था हुई थी, देहधारिगण के पक्ष में वही परमार्थ है।

स्वामि टीका का अर्थ—अक्रूर क्यों इस प्रकार भूतल में विलुठित हुये थे ? प्रेम व्यग्रता प्रदर्शन से कोई लाभ नहीं है, इस प्रकार आशङ्का कर कहे थे—देह धारिगण के पक्ष में यही पुरुषार्थ है। अर्थात् कंस के आदेश श्रवण से आरम्भ कर श्रीहरि मूर्त्ति दर्शन श्रवणादि हेतु अक्रूर के जो जो प्रेम वैयग्र्य वर्णित हुये हैं, देह धारि गण के पक्ष में वही पुरुषार्थ है। प्रश्न हो सकता है कि—अक्रूर व्रजभूमि में क्यों लोट लगाये थे ? उत्तर यह है कि—वह लोटना--अक्रूर की प्रेम विह्वलता का परिचायक है। प्रेम विह्वलता में किसी प्रकार फलाकाङ्क्षा नहीं रहती है, वही निखिल साध्य शिरोमणि है—अर्थात् परम पुरुषार्थ है।

देहधारि मात्र का एतावत् पर्य्यन्त ही पुरुषार्थ है। श्रीकृष्ण बलराम को मथुरा के धनुर्यज्ञ में ले आने के निमित्त कंस ने अक्रूर को जो आदेश किया था, उस समय से श्रीकृष्ण दर्शन एवं उनके श्रीमुख से कथा श्रवणादि पर्य्यन्त अक्रूर की जो जो प्रेम विह्वलता का वृत्तान्त श्रीभागवत में वर्णित है, वह सब

देहभाजामेतावानेव पुरुषार्थः। कंसस्य सन्देशमारभ्य हरेर्लिङ्ग-दर्शन-श्रवणादिभिर्योऽयमक्रूरस्य वर्णितः" इत्येषा। अत्र दम्भं शुचं भियं हित्वा योऽयं जात इति योजनिकया चैवं गम्यते,— यथाक्रूरस्य तत्र दम्भो नासीत्, (भा० १०।३८।१८) "न मय्युपैष्यत्यरिबुद्धिमच्युतः" इत्यादि-चिन्तनात्, तथान्तःसुखान्तर-तात्पर्य्यलक्षणो यदि दम्भो न स्यात्, यथा च कंसप्रतापितो यो बन्धुवर्गस्तत्प्रतापयितव्यश्च यस्तस्य तस्य हेतोर्निजकुलरक्षावतीर्ण-श्रीकृष्णपुरतो व्यञ्जितः

---

अवस्था लाभ ही जीव का परम पुरुषार्थ है।

अक्रूर की अवस्था में "अन्याभिलाषिताशून्य' लक्षण समन्वय पूर्वक उस को परम पुरुषार्थ प्रमाण करने के निमित्त विचार प्रस्तुत करते हैं—

"अत्र दम्भं शुचं भियं हित्वा योऽयं जातः, इति योजनिकया चैवं गम्यते।

यहाँ दम्भ शोक एवं भयशून्य होकर अक्रूर जो कुछ किये थे। इस प्रकार पद योजना के द्वारा निम्नोक्त अर्थ प्रतीत होता है कि—जिस प्रकार अक्रूर का उस में दम्भ नहीं था, कारण, अक्रूर पहले चिन्ता किये थे—"अच्युत मेरे प्रति शत्रु बुद्धि नहीं करेंगे"—वह यदि अन्य सुख तात्पर्य्य लक्षण दम्भ नहीं हो तो, एवं कंस कर्त्तृक श्रीवसुदेवादि बन्धुवर्ग उत्पीड़ित हैं, और जो लोक उत्पीड़ित होंगे—इस प्रकार आशङ्का है,—यह द्विविध बन्धु वर्ग के निमित्त निजकुल रक्षार्थ अवतीर्ण श्रीकृष्ण के समीप में व्यञ्जनीय भय शोक, उनका दर्शनानन्द इत्यादि, एवं "प्रेम में अधीर" इत्यादि उक्ति प्रमाण से जिस प्रकार वह उक्त आवेश के हेतु नहीं है, उसी प्रकार निज दुःख हानि यदि उस का तात्पर्य्य न हो तो, अक्रूर में जो प्रेमावेश उत्पन्न हुआ था, वही देह धारिगण के पक्ष में परम पुरुषार्थ रूप से निश्चित हो सकता है। सुतरां उस से अधिक जो प्रेमावेश है वह जो परम पुरुषार्थ होगा, इस विषय में कहना निष्प्रयोजन है।

श्रीकृष्ण साक्षात् कार में अथवा श्रवण कीर्त्तनादि में अश्रु पुलकादि का उद्गम प्रेम भक्ति का तटस्थ लक्षण है। दृष्टान्त के द्वारा उस को प्रतिपन्न करने के निमित्त अक्रूर का श्रीकृष्ण साक्षात् कार प्रसङ्ग यहाँ पर उपस्थापित हुआ है। अक्रूर की तत् कालीन चेष्टा अन्य तात् पर्य्य विहीना एवं प्रीति तात्पर्य्यमयी है— उक्त प्रसङ्ग का यही तात्पर्य्य है। अक्रूर श्रीवृन्दावन में आगमन पूर्वक श्रीकृष्ण दर्शन करके उन की पदाङ्कित भूमि में लोट लगाये थे। यह चेष्टा-दम्भ, शोक एवं भय वर्जिता थी। दम्भ—अर्थात् कपटता हीनता का उदाहरण—भा० १०।३८।१७ में इस प्रकार है—

"न मय्युपैष्यत्यरि बुद्धिमच्युतः कंसस्य दूतः प्रहितोऽपि विश्वदृक्।
योऽन्तर्बहिश्चेतस एतदीहितं क्षेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन चक्षुषा॥"

यद्यपि मैं कंस के द्वारा प्रेरित होकर जा रहा हूँ, अतएव उसका दूत हूँ, तथापि भगवान् अच्युत मेरे प्रति शत्रु बुद्धि नहीं करेंगे। कारण, आप सर्वज्ञ एवं अन्तर्य्यामी हैं। अतएव निर्म्मल चक्षु अर्थात् निर्म्मल ज्ञान योग के द्वारा मेरी अन्तर बाहर चेष्टा को आपो निरीक्षण कर रहे हैं।

अक्रूर की चेष्टा हृदय की अन्यतात्पर्य्य लक्षण कपटता नहीं है, उन का अन्य सुख—अक्रूर के बन्धु वर्ग के मध्य में कतिपय व्यक्ति कंस कर्त्तृक उत्पीड़ित हो रहे हैं, एवं कतिपय व्यक्ति को उत्पीड़ित होने की आशङ्का। इस स्थिति में यदुकूल की रक्षा हेतु श्रीकृष्ण अवतीर्ण हुये—एतज्जन्य अक्रूर के हृदय में उल्लास, और—उत्पीड़क कंस निधन हेतु श्रीकृष्ण को आशु प्रवर्त्तित करने के निमित्त बाहर शोक एवं भय प्रकाश, इस प्रकार कपटता भी उन का उक्त रूप आवेश का हेतु नहीं है। निम्नोक्त श्लोक के द्वारा वह प्रमाणित हुआ है।

शोका भीश्च तादृशावेशे हेतुर्नासीत् (भा० १०।३८।२६) "तद्दर्शनाह्लाद-" इत्याद्युक्तेः, (भा० ३।१।३२) "प्रेमविभिन्नधैर्य्यः" इत्याद्युक्तेश्च। तथा यदि निजदुःख-हानि-तात्पर्य्यं न स्यात्तदाक्रूरस्य योऽयं प्रेमावेशो जातः, स इयानेतावानपि देहिनामर्थः परम-पुरुषार्थः स्यात्, किमुत ततोऽपि भूयानिति ॥ श्रीशुकः

७०। लौकिक-शुद्धप्रीतिनिदर्शनेनापि स्वयं तथैव द्रढ़यति (भा० १०।३२।१७-१८)—

(७०) "मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते।
न तत्र सौहृदं धर्म्मः स्वात्मानं तद्धि नान्यथा ॥१९६॥
भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदञ्च सुमध्यमाः ॥" १९७॥

---

भा० १०।३८।२६ में अक्रूर की प्रेम चेष्टा का वर्णन श्रीशुकदेव किये हैं—

"तद् दर्शनाह्लाद विवृद्ध संभ्रमः प्रेमोद्ध्र्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः।
रथादवस्कन्दच स तेष्वचेष्टत प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो"॥ इति

श्रीकृष्ण के चरणकमल दर्शन से अक्रूर को जो आनन्द हुआ उस में अक्रूर का सम्भ्रम-(आनन्द हेतु व्यग्रता) वर्द्धित हुआ। प्रेम हेतु उनके देहस्थित रोमावली उत्थित हुई, अश्रुकला से नयन युगल आकुल हो गये। अतएव श्रीअक्रूर--रथ से सत्वर अवतीर्ण होकर कहे थे-'अहो! मेरा कैसा सौभाग्य है! आज मैंने परम दुर्ल्लभ पदार्थ को प्राप्त किया। ये सब मेरे प्रभु की श्रीचरण धुलि हैं।' इस प्रकार कहते कहते अक्रूर भूतल में लोट लगाने लग गये। भा० ३।१।३२ में विदूर भी उद्धव के निकट में अक्रूर के सम्बन्ध में कहे थे— "यः कृष्ण पादाङ्कितमार्ग पांशुष्वचेष्टत प्रेमविभिन्नधैर्य्यः॥"

"जो अक्रूर—नन्दग्राम में प्रवेश समय में प्रेमावेश से अधोर होकर श्रीकृष्ण के चरणाङ्कित पथ की धूलि में लोटने लगे थे।"

उक्त श्लोक द्वय में प्रेम विह्वल अक्रूर की तादृश चेष्टा वर्णित होने के कारण, अक्रूर जो निज दुःख निवारण हेतु श्रीकृष्ण के समीप में किसी प्रकार चेष्टा प्रकाश नहीं किये थे—उस से सुस्पष्ट बोध हुआ। सुतरां श्रीकृष्ण दर्शन से एवं श्रीकृष्ण कथा श्रवण कर अक्रूर की जो अवस्था उपस्थित हुई थी, वह प्रेम का कार्य्य था। अतएव ये सब प्रेम के तटस्थ लक्षण हैं। प्रीति का अन्य तात् पार्य्य राहित्य भी यहाँ प्रतिपन्न हुआ। अतएव जहाँ अधिकतर प्रेमावेश दृष्ट होता है—वह परम पुरुषार्थ तो होगा ही।

श्रीशुक कहे थे ॥६९॥

७०। लौकिक शुद्ध प्रीति के निदर्शन द्वारा भी श्रीकृष्ण, प्रीति में ही जो प्रेम चेष्टा का तात्पर्य्य है—उस का स्थापन किये हैं। भा० १०।३२।१७—१८ में श्रीकृष्ण, व्रजदेवी वृन्द को कहे थे—

(७०) "मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते।
न तत्र सौहृदं धर्म्मः स्वात्मानं तद्धि नान्यथा ॥१९६॥
भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरो यथा।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदञ्च सुमध्यमाः ॥" १९७॥

टीका—विदिताभिप्राय उत्तरमाह--मिथ इति। हे सख्यः! उपकार प्रत्युपकारतया ये मिथो भजन्ति

स्पष्टम् ॥

७१। ततोऽपि स्वप्रीतेर्वैशिष्ट्यमाह (भा० १०।३२।२०)—

(७१) "नाहन्तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्, भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।
यथाऽधनो लब्धधने विनष्टे, तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥" १८८॥

भजन्त्यभजत इत्यत्र न करुणादीनां दयनीयादि-कर्त्तृक-प्रीत्यास्वादापेक्षा, तथा दयनीयादीनां करुणादि-विषया या प्रीतिः, सा करुणादिभजनजीवना स्यादित्यायाति। अत्र तु श्रीकृष्णस्य स्वभक्तेषु स्वप्रेमातिशयोदये प्रयत्नः, तदुदये च सति तदास्वादाद्भक्तविषयक-प्रेमचमत्कारो-

---

ते अन्यं न भजन्ति, किन्तु आत्मानमेव। कुतः? हि यस्मात् स्वार्थ एवैकान्त उद्यमो येषां ते। तत्र तेच न सौहृदमतो न सुखं न च धर्म्मो दृष्टोद्देशाद् गो महिष्यादि भजनवदित्यर्थः। (१७)

येतु अभजतो भजन्ति ते द्विविधाः करुणा स्निग्धाश्च। तत्र तु यथाक्रम धर्म्मकामौ भवत इत्याह भजन्त्यभजत इति ॥१८॥

हे सखी गण! जो उपकार एवं प्रत्युपकार हेतु परस्पर का भजन करते हैं, वे अन्य का भजन नहीं करते हैं, किन्तु अपना ही भजन करते हैं। कारण, उन की वह चेष्टा केवल स्वार्थ सिद्धि हेतु ही है। उस में सौहृद्य नहीं है। इस की अन्यथा नहीं होती है।

हे सुन्दरी गण! जो भजन नहीं करते हैं, इस श्रेणी के लोकों का भजन--दो श्रेणी के व्यक्ति करते हैं---एक दयालु--अपर माता पिता के समान स्नेह शील व्यक्ति। उस कर्म्म के द्वारा दयालु व्यक्ति धर्मलाभ करते हैं, एवं स्नेह शील व्यक्ति--सौहार्द्द्य लाभ करते हैं। प्रकरणार्थ सुस्पष्ट है—७०॥

७१। लौकिक शुद्धा प्रीति से भी श्रीकृष्ण प्रीति का वैशिष्ट्य है, उस का वर्णन श्रीकृष्ण, व्रजदेवी वृन्द के समीप में किये हैं। भा० १०।३२।२०

(७१) "नाहन्तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्, भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।
यथाऽधनो लब्धधने विनष्टे, तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥" १८९॥

टीका—अत्र चरम कोटि गतमात्मानं मत्वा अक्षिसङ्कोचैः परस्परं गूढ़ स्मित मुखी स्ता दृष्ट्वा आह नाहं त्विति। हे सख्यः! अहं तेषां मध्ये न कोऽपि किन्तु परम कारुणिकःपरम सुहृच्च। कथम्? अमीषां भजतामनुवृत्तिवृत्तये निरन्तर ध्यान प्रवृत्यर्थं तान् न भजामि। एतत् सदृष्टान्तमाह--यथेति। तस्य धनस्यैव चिन्तया निभृतः पूर्णो व्याप्त इति यावत्। अन्यत् क्षुत् पिपासाद्यपि न वेद ॥

हे सखी गण! मैं उन सब के मध्य में नहीं हूँ, जो लोक--मेरा भजन करते हैं, मैं जो उन सब का भजन नहीं करता हूँ, उस का कारण है—भजन कारि व्यक्ति गण निरन्तर मेरा स्मरण करें। मेरा यही अभिप्राय है। जिस प्रकार धन हीन व्यक्ति—धन लाभ करने के पश्चात् धन अपहृत होने पर निरन्तर उस धन की चिन्ता करता है, अन्य कुछ अनुसन्धान उस को नहीं रहता है, मैं भी भजन कारि व्यक्ति गण को तादृश अवस्था में उपनीत करने के निमित्त उन सब का भजन नहीं करता हूँ। श्लोक व्याख्या--जो लोक भजन नहीं करते हैं, उन सब का भजन जो लोक करते हैं, यहाँ कृपालु प्रभृति को कृपा योग्यादि कर्त्तृक प्रीत्या स्वाद की अपेक्षा नहीं है। उस प्रकार कृपालु प्रभृति को अवलम्बन करके कृपा योग्यादि की जो प्रीति प्रकाशित होती है, कृपालु प्रभृति उन सब का जो भजन करते हैं,—वह भजन ही उक्त प्रीति का जीवन है। और यहाँ पर निज भक्त गण में निज विषयक प्रीति जिस से अधिक रूप से प्रकाशित हो, इस

ऽतिशयेन स्यादिति तद्भक्तानाञ्च तत्-कृतौदासीन्येऽपि प्रेम्णोरेव वृद्धिः स्यादिति वैशिष्ट्य-मागतम् ।। श्रीभगवान् व्रजदेवीः ।।

७२ । सा च शुद्धा प्रीतिः श्रीमतो वृत्रस्य दृश्यते, यथा (भा० ६।११।१४) —

"अहं हरे तव पादैकमूल,-दासानुदासो भवितास्मि भूयः ।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणानां, गृणीत वाक् कर्म्म करोतु कायः ।।" १६६।।

---

विषय में श्रीकृष्ण का आग्रह है। उस का उदय होने पर उस का आस्वादन द्वारा भक्त विषयक प्रेम का चमत्कारातिशय सम्पन्न होता है। एतज्जन्य भक्त गण के प्रति श्री भगवान् औदासीन्य प्रकाश करने पर भी प्रेम की वृद्धि ही होती है—इस प्रकार वैशिष्ट्य दृष्ट होता है।

अर्थात् दीन व्यक्ति के प्रति कृपालु व्यक्ति जब प्रीति प्रकाश करते हैं, तब कृपालु को यह अपेक्षा नहीं होती है कि कृपायोग्य व्यक्ति—मेरी प्रीति का आस्वादन करे। कृपालु व्यक्ति---कृपा प्रकाश करके ही सुखी होती है। एवं दीन व्यक्ति की कृपालु व्यक्ति के प्रति जो प्रीति होती है, उस का मूल कारण यह है कि—कृपालु का आनुकूल्य करना। वह जिस परिमाण--आनुकूल्य करेगा। दयायोग्यव्यक्ति भी उस को उस परिमाण में ही प्रीति करेगा। यदि वह आनुकूल्य न करे तो दीन व्यक्ति उस को प्रीति नहीं करेगा। यहाँ दयालु को प्रीति आस्वादन कराने की इच्छा नहीं रहती है। सुतरां निज विषयक प्रीति वृद्धि करने की इच्छा भी उनकी नहीं होती है। सुतरां निज विषयक प्रीति वर्द्धित करने की इच्छा भी नहीं होती है। एवं आनुकूल्य का अभाव होने पर दयायोग्य व्यक्ति की प्रीतिदयालु के प्रति नहीं होती है। किन्तु श्रीकृष्ण में यही चेष्टा रहती है-कि—भक्तगण जो उनको प्रीति करते हैं, जैसे वह प्रीति उत्तरोत्तर वर्द्धित हो, तज्जन्य भक्त वृन्द में प्रेमाविर्भाव होने से ही श्रीकृष्ण प्रेमास्वादन हेतु भक्त वृन्द के निकट उपस्थित नहीं होते हैं। जिस समय प्रेम पराकाष्ठा में उपनीत होता है, उस समय प्रेमास्वादन करके विपुल आनन्द अनुभव करते हैं। जिस प्रकार भक्त गण श्रीकृष्ण को प्रीति करते हैं, श्रीकृष्ण भी उस प्रकार भक्त गण को प्रीति करते हैं, श्रीकृष्ण के प्रति भक्त गण की जो प्रीति है, उस में भक्त गण आश्रयावलम्बन है, एवं श्रीकृष्ण विषयालम्बन हैं। भक्त के प्रति श्रीकृष्ण की जो प्रीति है, उस में, श्रीकृष्ण आश्रयालम्बन हैं, एवं भक्त विषयालम्बन है-जिस प्रेम का विषयालम्बन भक्त है, उस को भक्त विषयक प्रेम कहते हैं।

श्रीकृष्ण विषयक प्रेमाविर्भाव मात्र से ही श्रीकृष्ण यदि प्रेमास्वादन करते हैं तो भक्त विषय में श्रीकृष्ण की प्रीति कितनी चमत् कार कारिणी है, उस का बोध नहीं होता।

श्रीकृष्ण रसिक शेखर हैं, अतः भक्त के हृदयस्थित प्रेमरस आस्वादन हेतु श्रीकृष्ण विशेष धैर्य्य के सहित अपेक्षा करते हैं, जिस से वह प्रेम उत्तरोत्तर वर्द्धित हो, इस प्रकार चेष्टा भी करते हैं। कारण, श्रीकृष्ण, प्रेमरसास्वादन लोलुप तो हैं ही प्रेम आस्वादन हेतु अतिव्यग्र भी हैं। यहीं भक्त विषयक प्रेमकी चमत् कारिता है।

श्रीकृष्ण उदासीन होने से भक्त की प्रेम वृद्धि होती है। दरिद्र प्राप्त निधि अपहृत होने से जिस प्रकार उसकी चिन्ता में मग्न होता है, उस प्रकार भक्त के प्रति औदासीन्य में भक्त उनकी चिन्ता में विह्वल होता है। इस से औदासीन्य में भी भक्त की प्रेम वृद्धि होती है। कृपालु का औदासीन्य में दयनीय व्यक्ति की प्रीति ध्वस्त हो जाती है। एवं श्रीकृष्ण के औदासीन्य में भक्त की प्रेम वृद्धि होता है। यही श्रीकृष्ण विषयक प्रीति का वैशिष्ट्य है।                    श्रीकृष्ण व्रजदेवी वृन्द को कहे थे ।।७१।।

(भा० ६।११।२५) "न नाकपृष्ठम्" इत्यादि, (भा० ६।११।२६-२७)—

(७२) "अजातपक्षा इव मातरं खगाः, स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्त्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा, मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥"२००॥
"ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्म्मभिः।
त्वन्माययात्मात्मज-दार-गेहे,-ष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥"२०१॥

अजातेति, अत्राजातपक्षा इत्यनेनानन्याश्रयत्वं तदनुगमनासमर्थत्वञ्च, तथा तत्सहितेन मातरमित्यनेनानन्य-स्वाभाविक-दयालुत्वं तदीय-दयाधिक्यञ्च व्यञ्जितम्! तेन तेन च मातरि तेषामपि प्रीत्यतिशयो दर्शितः। ततस्तत्साम्येन तद्वदात्मनोऽपि भगवति प्रीत्याधिक्य-

---

७२। उस प्रकार शुद्धा प्रीति—श्रीमान् वृत्रासुर में दृष्ट होती है। भा० ६।११।२४॥ में उक्त है—

"अहं हरे तव पादैक मूलदासानुदासोभवितास्मिभूयः।
मनः स्मरेतासुपेतर्गुणानां गृणीतवाक् कर्म्म करोतु कायः॥"११९॥

टीका—एवमिन्द्राय स्वाभिप्रायं निवेद्य भगवन्तं प्रार्थयते। अहमिति। तव पादावेव एकं मूलमाश्रयो येषां तेषां दासानामनुदासः भूयो भवितास्मि—भविष्यामि भवेयम्। असुपतेः प्राणनाथस्य तव गुणान्, मम मनः स्मरतु, वागपि तानेव कीर्त्तयतु। कायस्तवैव कर्म्म करोतु।

श्रीभगवान् को लक्ष्य करके श्रीवृत्र कहे थे—हे हरे, आप के चरण युगल जिन के एकमात्र आश्रय हैं, मैं उन हरि दास गण का अनुदास हूँ, पश्चात् भी होऊँगा। मेरा मन प्राणनाथ आप के गुण स्मरण करे, वाक्य आपके गुण कीर्त्तन करे, एवं शरीर आप का ही कर्म्म करे। भा० ६।११।२५ में उन्होंने कहा है-

"न नाक पृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं नरसाधिपत्यम्।
न योग सिद्धीर पुनर्भवं वा समञ्जसत्वा विरहय्यकाङ्क्षे॥"

टीका—"ननु किं दास्येन? तुभ्यं महाफलानि दास्यानि, तत्राह—नाकपृष्ठं ध्रुव पदं, ब्रह्मादि लोकञ्च। हे समञ्जस! निखिल सौभाग्यनिधे! त्वा त्वां विरहय्य—पृथक् कृत्य न काङ्क्षे—नेच्छामि॥"

हे निखिल सौभाग्य निधे! आप को परित्याग कर ध्रुवपद, ब्रह्मपद, समस्त पृथिवी का कर्त्तृत्व, रसातल का प्रभुत्व, योगसिद्धि वा मोक्ष, इन सब की आकाङ्क्षा मेरी नहीं है।

(७२) "अजात पक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्य यथा वत्सतरा क्षुधार्त्ताः
प्रियं प्रियेव व्युषितं स विषण्णा,
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥"२००॥

"ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं, संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्म्मभिः।
त्वन्माययामात्मज-दार--गेहे,--ष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥"२०१॥

टीका—तर्हि किमिच्छसि तदाह—अजात पक्षाः खगाः, क्षुधादिभिः। पीड़िता यथा मातरम् यथा च दाम्ना बद्धा बालवत्साः स्तन्यम्। यथा च व्युषितं दूरदेशं गतं प्रियं कामेन विषण्णा प्रिया। तथा मे मनः तापत्रय पीड़ितं कर्म्मभिर्बद्धं कामादिभि विषण्णञ्च त्वां दिदृक्षते--द्रष्टुमिच्छतीत्यर्थः।

उत्तम श्लोकस्य तव जनेषु भक्तेष्वेव सख्यं भूयात्। त्वन्मायया देहादिष्वासक्तचित्तस्य भूयोऽपि तेष्वा

हेतुका दिदृक्षा व्यञ्जिता। तथापि तन्मात्रा यद्वस्त्वन्तरमुपक्रियते, तदेव तेषामुपजीव्यमास्वाद्यञ्चेति केवल-तन्निष्ठत्वाभावादपरितोषेण दृष्टान्तान्तरमाह--स्तन्यमिति । अत्र दिदृक्षायोजनार्थं मातरमित्येवानुवर्त्तयितव्ये स्तन्यमित्युक्तिस्तस्यास्तै-स्तदंशप्राचुर्य्यभावनया, वस्तुतस्तस्य तदीयशरीरांशतया च तदभेदविवक्षार्था। ततः स्तन्यं स्तन्यरूप-तदंशमयीं मातरमित्येव लब्धे तादृशी मातैव तैरुपजीव्यत आस्वाद्यते चेति पूर्व्वतः श्रैष्ठ्यं दर्शितम्, तथा वत्सतरा अत्यन्तबालवत्सास्तत एव स्वामिबद्धतया तदनुगतावसमर्था इति साधारण्येऽपि बहुसमयातिक्रमात् क्षुधार्त्ता इत्यनेन पूर्व्वतो वैशिष्ट्यम्, तथा गोजातेः स्नेहातिशयस्वाभाव्येन च तदनुसन्धेयम्। अथ तथाप्युत्तरदृष्टान्त स्तन्य-गवोः कार्य्य-कारणभावेन भेदं वितर्क्य दृष्टान्तद्वयेऽप्यजातपक्षत्वादिविशेषणै-रायत्यां तादृशप्रीतेरस्थिरतां चालोक्य

---

सक्ति र्न भूयात् ।।

हे कमल नयन ! अजात पक्ष पक्षिशावकगण जिस प्रकार माता का, क्षुधार्त्त गोवत्स जिस प्रकार स्तन्य का,विषण्णा प्रिया जिस प्रकार विदेशगत प्रिय की दर्शनाभिलाषिणी है,मेरा मन भी उस प्रकार आप का दर्शनाभिलाषी है।

मैं निज कर्म्म समूह के द्वारा संसार चक्र में भ्रमण कर रहा हूँ । आप के भक्त गण के सहित मेरा सख्य हो। आप की माया से आबद्ध मेरा चित्त--देह, पुत्र, पत्नी, एवं गृह में आसक्त है, पुनर्बार जैसे उस में आसक्त न हो।

श्लोक समूह की व्याख्या--अजातपक्ष पक्षि शावकगण कहने से प्रतीत होता है कि,—जिस का पक्षोद् गम नहीं हुआ है। माता व्यतीत जिस का आश्रयान्तर नहीं है, एवं मा के सहित जाने की सामर्थ्य भी नहीं है। उस प्रकार पक्षि शावक के सहित जननी शब्द का उल्लेख होने के कारण---अपर व्यक्ति में जो दया स्वभावतः रहना असम्भव है, उस में उस प्रकार दया की स्थिति व्यञ्जित हुई है, एवं पक्षिशावक होने के कारण, उस के प्रति दया का आधिक्य भी व्यञ्जित हुआ है ।

पक्षि शावक गण की एकमात्र निर्भरता एवं अक्षमता एवं उसकी माता में उस के प्रति अतिशय दयाधिक्य हेतु माता के प्रति उसकी निरतिशय प्रीति प्रकाशित हुई है। उस हेतु श्रीवृत्रासुर—अपनी अवस्था–पक्षि शावक के समान, श्रीभगवान् की दया पक्षिशावक की जननी की दया के समान होने के उस की मातृ दर्शनेच्छा के समान अपने में प्रीत्याधिक्य हेतु ही भगवद् दर्शनेच्छा हुई है, इस को प्रकाश किये हैं।

वृत्र की भगवद् दर्शन व्याकुलता--अजात पक्ष पक्षिशावक की मातृ दर्शन व्याकुलता के समान होने पर भी उस की माता उस से भिन्न जो वस्तु कीटादि, उस से उस को उपकृत करती हैं। वह वस्तु ही उस का उपजीव्य एवं आस्वाद्य है, एतज्जन्य उसकी मातृ दर्शनेच्छा--केवल मातृ निष्ठा नहीं है, अर्थात् वह केवल मातृ दर्शनाभिलाषी नहीं है, किन्तु मातृ भिन्न अपर भोज्य वस्तु का भी अभिलाष उस में है । तज्जन्य इस दृष्टान्त से अपरि तुष्ट होकर अन्य दृष्टान्त कहते हैं—"क्षुधार्त्त गोवत्स जिस प्रकार स्तन्यार्थी है" यहाँ श्रीवृत्रासुर की भगवद् दर्शनेच्छा कीदृशी है, उस की सूचित करने के निमित्त गोवत्स की मातृ दर्शनेच्छा का दृष्टान्त उपस्थित करना समीचीन होने पर भी "स्तन्य' का उल्लेख—वत्स केवल धेनु के स्तन्य अंश की ही भावना करता है, इस अभिप्राय से हुआ है।

वस्तुतः स्तन्य धेनु शरीर का अंश विशेष होने के कारण, स्तन्य के सहित धेनु को अभेद मानकर

दृष्टान्तान्तरमाह–प्रियमिति । सत्स्वपि वाचकान्तरेषु तयोः प्रिय-शब्देनैव निर्द्देशात् स्वाभाविकाव्यभिचारिप्रीतिमन्तावेव तौ गृहीतौ । यत्र वार्द्धक्ये बाल्येऽपि सहमरणादिकं दृश्यते, ततस्तादृशी कापि प्रिया यथा तादृशं प्रिय व्युषितं विदूरप्रोषित सन्तमनन्योपजीवित्वेन विषण्णा सती दिदृक्षते, लोचनद्वारा तदास्वादाय भृशमुत्कण्ठते, तथा मम मनोऽपि त्वामित्यर्थः । अत्र दार्ष्टान्तिकेऽपि स्वकर्त्तृकत्वमनुक्त्वा मनः कर्त्तृकत्वोल्लेखेनाबुद्धिपूर्व्वक-प्रवृत्तिप्राप्तौ प्रीतेः स्वाभाविकत्वेनाव्यभिचारित्वं व्यक्तम्, तथारविन्दाक्षेति मनसो भ्रमर-तुल्यतासूचनेन भगवतः परममधुरिमोल्लेखेन च तस्यैवोपजीव्यत्वमास्वाद्यत्वञ्च दर्शितम् ।

---

यहाँ उस का उल्लेख अभिप्रेत है । सुतरां स्तन्य शब्द से यहाँ स्तन्य रूप--उस अंश जिस में है, गोवत्स की वह माता इस प्रकार अर्थ बोध होने पर, वह माता ही उस का उपजीव्य एवं आस्वाद्य है—यह निश्चित हुआ ।

पूर्व दृष्टान्त से इस दृष्टान्त का वैशिष्ट्य प्रदर्शित हुआ है । उस में भी वत्सतर---अत्यन्त शिशुवत्स का उल्लेख है । गोपालक के द्वारा आबद्ध होने से शिशु वत्स माता के सहित जाने में अक्षम है । साधारणतः बहु समय अतीत होने से वह क्षुधा से कातर भी है । एतज्जन्य पक्षिशावक की मातृ दर्शनेच्छा से गोवत्स की मातृ दर्शनेच्छा में वैशिष्ट्य है । गो जाति स्वभावतः ही अन्य प्राणी से स्नेह शील है, वैशिष्ट्य के प्रति यही एक विशेषता है । यह सब कारणों से शेषोक्त दृष्टान्त में वैशिष्ट्य विद्यमान होने पर भी स्तन्य एवं धेनु का कार्य्य कारण भेद की विवेचना करके दृष्टान्त द्वय में अजात पक्ष एवं क्षुधार्त्त विशेषण विद्यमान हेतु उभयत्र प्रीति की अस्थिरता को अवलोकन करके अन्य दृष्टान्त को अवतारणा कर कहते हैं— विषण्णा प्रिया जिस प्रकार विदेशगत प्रिय दर्शनोत्कण्ठिता है । उस प्रकार आप के दर्शन हेतु उत्कण्ठित है ।

उक्त सम्बन्ध सूचक अनेक शब्द विद्यमान होने पर भी प्रियाप्रिय उभय का निर्द्देश प्रिय शब्द के द्वारा होने के कारण, स्वाभाविक अव्यभिचारी प्रीति सम्पन्न उभय का ग्रहण यहाँपर हुआ है । जिस से वार्द्धक्य में ही अथवा बाल्य में भी ही वह मरणादि दृष्ट होते है । सुतरां तादृश किसी प्रिया जिस प्रकार तादृश प्रिय--विदेशगत होने से एकमात्र वह प्रियगत जीवना होने के कारण, विषण्णा होकर उस की दर्शनेच्छा होती है, लोचन द्वारा उस को आस्वादन करने के निमित्त उत्कण्ठिता होती है । मेरा मन भी तुम को देखने के निमित्त उस प्रकार व्याकुल है है ।

दृष्टान्तस्थल अजात पक्ष पक्षिशावक, क्षुधार्त्त गोवत्स, एवं प्रिया कर्त्तृक दर्शन व्याकुलता का वृत्तान्त को कहकर दार्ष्टान्तिक में भी दर्शनेच्छा कर्त्तृत्व अपने में रखकर---मन का कर्त्तृत्व उल्लेख करने का कारण यह है कि—बुद्धि पूर्वक प्रवृत्ति प्राप्ति में प्रीति का स्वाभाविकत्व निबन्धन अव्यभिचारित्व व्यक्त हुआ है । उसी प्रकार "कमलनयन" सम्बोधन के द्वारा मन में भ्रमर तुल्यता सूचना करके श्रीभगवान् की परम मधुरिमा को उल्लेख करके मधुरिमा का ही उपजीव्यत्व एवं आस्वाद्यत्व प्रदर्शित हुआ है ।

अनन्तर श्रीभगवद् दर्शन होना अपने पक्ष में असम्भव मानकर "मेरा अन्ततः यह हो" सजल नयन से इस प्रकार कह कर पश्चात् कहे थे—

"ममोत्तम श्लोक जनेषुसख्यं संसार चक्रे भ्रमतः स्वकर्म्मभिः
त्वन्माययात्मजदारगेहेष्वासक्त चित्तस्य न नाथ भूयात् ।।"

"मैं निज कर्म्म समूह के द्वारा संसार चक्र में भ्रमण क्यों न करूँ । आप के भक्त वृन्द के सहित मेरा

अथ तद्दर्शनभाग्यं स्वस्यासम्भावयन्निदमपि मम स्यादिति सवाष्पमाह,---ममोत्तमेति । तदेतच्छुद्धप्रेमोद्गारमयत्वेनैव श्रीमद्वृत्रबधोऽसौ विलक्षणत्वाच्छ्रीभागवत--लक्षणेषु पुराणान्तरेषु गण्यते,—"वृत्रासुरबधोपेतं तद्भागवतमिष्यते" इति ।। श्रीवृत्रः ।।

७३ । तस्मात् केवल-तन्माधुर्य्यतात्पर्य्यत्वेनैव प्रीतित्वे सिद्धे तात्पर्य्यान्तरादौ सति प्रीतेरसम्यगाविर्भाव इति सिद्धम् । स च द्विविधः,—तदाभासस्यैवोदयः ईषदुद्गमश्च, अन्त्यश्च द्विविधः,–कदाचिदुद्भवत्तोच्छविमात्रत्वम्, तस्या एवोदयावस्था च । तत्र यत्रान्य-तात्पर्य्यं तत्र तदाभासत्वम्, यत्र प्रीतितात्पर्य्याभाव-स्तत्र कदाचिदुद्भवत्तच्छविमात्रत्वम् । यत्र तत्तात्पर्य्यमन्यासङ्गस्तु दैवात्तत्र तस्या उदयावस्था च । अन्यासङ्गस्य गौणत्वम्, तच्च द्विविधम्,---नष्टप्रायत्वमाभासमात्रत्वञ्च, तयोः पूर्व्वत्र तस्याः प्रथमोदयावस्था, उत्तरत्र

---

सङ्ग हो, आप की माया से वशीभूत होकर मेरा चित्त देह, गृह पुत्र पत्नी में आसक्त है—पुनर्वार जैसे उस में आसक्त न हो ।।"

श्रीमान् वृत्रासुर के उक्त वाक्य समूह के द्वारा विशुद्ध प्रेम उद्गीर्ण हुआ है, तज्जन्य ही श्रीमान् वृत्र का बध वृत्तान्त श्रीमद् भागवत का एक महत्व पूर्ण प्रसङ्ग है । एतज्जन्य अन्यान्य पुराणों के मध्य में श्रीमद् भागवत पुराण लक्षण में यह प्रसङ्ग ही विशेष रूप से परिगणित हुआ है ।

मत्स्य पुराण में उक्त है—वृत्रासुर बधोपेतं तद् भागवत मिष्यते" वृत्रासुर बध प्रसङ्ग युक्त श्रीमद् भागवत ही श्रीमद् भागवत ग्रन्थ नाम से प्रसिद्ध है । श्रीवृत्र कहे थे ।।७२।।

## प्रीति आविर्भाव का–क्रम ।

७३। केवल श्रीभगवान् का माधुर्य्यास्वादन में ही प्रीति का तात्पर्य्य सुनिष्पन्न होने के कारण, जहाँपर अन्य तात्पर्य्य प्रभृति विद्यमान है, वहाँ प्रीति का असम्पूर्ण आविर्भाव सिद्ध होता है । असम्पूर्ण आविर्भाव द्विविध हैं–प्रीत्याभास का उदय एवं ईषत् उद्गम । प्रीति का ईषदुद्गम भी द्विविध हैं, प्रीतिच्छवि मात्र सामयिक उद्भव एवं प्रीति की ही उदयावस्था, प्रीति का असम्पूर्ण आविर्भाव के मध्य में जहाँ अन्यतात्पर्य्य दृष्ट होता है, वहाँ प्रीति का आभास मात्र है, और जहाँ प्रीति तात् पर्य्य का अभाव है अन्य च अन्य तात्पर्य्य नहीं है, वहाँ प्रीतिच्छवि मात्र का सामयिक उद्भव है । एवं जहाँपर प्रीति में ही तात्पर्य्य है, दैवात् अन्यासक्ति उपस्थित होती है, वहाँ प्रीति की उदयावस्था है । यहाँ प्रीति का ही मुख्यत्व है, एवं अन्यासक्ति का गोणत्व जानना होगा उक्त अन्यासक्ति भी द्विविध हैं—नष्ट प्राय अन्यासक्ति एवं अन्यासक्ति का आभास मात्रत्व ।

इन दोनों अवस्था के मध्य में प्रथमोक्त स्थल में प्रीति की प्रथतोदयावस्था है एवं शेषोक्त स्थल में प्रीति की प्रकटोदयावस्था है । सुतरां प्रथमोदय पर्य्यन्त ही प्रीति का असम्पूर्ण आविर्भाव है । प्रकटोदया-वस्था में ही सम्पूर्णाविर्भाव है भगवत् प्रीति में जहाँपर अन्यासक्ति नहीं है, वहाँ दर्शित प्रभाव नामक आविर्भाव समूह को जानना चाहिये । अर्थात् वे सब आविर्भाव, दर्शित प्रभाव नाम से अभिहित होते हैं । उस के मध्य में भक्ति नामक अपवर्ग में" प्रीति की प्रकटोदयावस्था से आरम्भ कर तत् परवर्त्ती समस्त अवस्था में ही साधक भक्त वृन्द जीवन्मुक्त होते हैं । एवं जो पार्षदता को प्राप्त किये हैं वे परम मुक्त होते हैं । किन्तु पार्षद्गण—नित्यमुक्त हैं ।

प्रकटोदयावस्था। तस्मात् प्रथमोदयपर्य्यन्त एवासम्यगाविर्भावः,प्रकटोदयस्य तु सम्यक्त्वमेव। यत्र त्वन्यासङ्ग एव न विद्यते, तत्र दर्शितप्रभावनामान आविर्भावा ज्ञेयाः। तत्र प्रकटोदयमारभ्यैव भक्त्याख्येऽपवर्गे जीवन्मुक्ताः, प्राप्तायां भगवत्पार्षदतायां परममुक्ताः, नित्यपार्षदास्तु ज्ञेयाः। तत्राभासमाह (भा० ३।२८।३४) —

(७३) "एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो, भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात्।

औत्कण्ठयवाष्पकलया मुहुरर्द्द्यमान-,स्तच्चापि चित्तवड़िशं शनकैर्वियुङ्क्ते॥"२०२॥

एवं पूर्व्वोक्त-योगमिश्रभक्त्यनुष्ठानेन हरौ प्रतिलब्धभावो भवति। तत्र लिङ्गम्-भक्त्येत्यादि, भक्त्या स्मरणादिना, अपि एवमपि, लब्धध्येयमधुरत्वस्य भावेन तादृशतापन्नं च तस्य चित्तं शनकैर्वियुङ्क्ते विमुक्तमपि भवति, येन योगाङ्गतया भक्तिरनुष्ठिता, तस्मात् कैवल्येच्छाकैतव-

---

प्रीति के द्विविध असम्पूर्ण आविर्भाव के मध्य में प्रीत्याभास का विवरण भा० ३।२८।३४ में है—

(७३) "एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो,
भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात्।
औत्कण्ठयवाष्पकलया मुहुरर्द्द्यमान-,
स्तच्चापि चित्तवड़िशं शनकैर्वियुङ्क्ते॥"२०२॥

टीका—समाधिमाह एवमिति द्वाभ्याम्। निर्वीजः सवीजश्चेति द्विविधोयोगः। तत्र निर्वीजयोगे "यतोयतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेदिति" गीताद्युक्त मार्गेण क्रियमाणोऽपि दुष्करः समाधिः सवीजेतु सुकरः। तत्र हि परमानन्द मूर्त्तौ हरौ ध्यायमानेऽयत्नत एव चित्तोपरमोभवति। तदुक्तम्। "हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्ति रनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते—इति। अतः स एवोपक्षिप्तः योगस्य लक्षणं वक्ष्ये—स वीजस्येति। तदेवायत्नसिद्धत्वं दर्शयति। एवं ध्यान मार्गेण हरौ प्रतिलब्धोभावः प्रेमा येन, भक्त्या द्रवत् हृदयं यस्य, प्रेमोदादुद्गतानि पुलकानि यस्य, औत्कण्ठ्य प्रवृत्ताश्रुकलया च मुहुर र्द्द्यमानः आनन्द संप्लवे निमज्जमानः, दुर्ग्रहस्य भगवतो ग्रहणे वड़िशं मत्स्यवेधनमिव उपाय भूतं चित्तमपि ध्येयात् वियुङ्क्ते, तद् धारणे शिथिल प्रयत्नो भवतीत्यर्थः॥"

श्रीकपिल देव स्वीय जननी देवहूति को कहे थे—

योगी इस के द्वारा भगवान् हरि में प्रेम लाभ करता है। भक्ति के द्वारां उस का हृदय द्रवीभूत होता है, आनन्द से अङ्ग पुलकित होता है। एवं वह व्यक्ति औत्सुक्य जनित आनन्द संप्लव में निमज्जित होता है। उस का चित्तवड़िश भी वियुक्त अर्थात् भगवद् धारण में शिथिल प्रयत्न होता है।

श्लोक की व्याख्या—इस के द्वारा पूर्व्वोक्त योगनिष्ठ, भक्त्यङ्गानुष्ठान द्वारा हरि में प्रेमलाभ करता है। प्रेम प्राप्ति का लक्षण-भक्ति वशतः अर्थात् भक्त्येत्यादि हैं। भक्ति-स्मरणादि श्लोक में 'तच्चापि' 'अपि' अव्यय प्रयोग का उद्देश्य यह है—जो योगि व्यक्ति–ध्येय श्रीहरि की माधुर्य्योपलब्धि किया है, प्रेम में जिस का हृदय द्रवित हुआ है—अर्थात् हृदय द्रव, नेत्राश्रु प्रभृति अवस्था हुई हैं। उस का चित भी क्रमशः वियुक्त होता है। एवं विमुक्त भी होता है। कारण, वह व्यक्ति, योगाङ्ग रूप में ही भक्ति का अनुष्ठान किया है। सुतरां कैवल्येच्छारूप कपट, उस में विद्यमान था, तज्जन्य चित्त वियुक्त होता है। भा० १।१।२ "धर्मः प्रोज्झित कैतवोऽत्र परमः" श्लोक की टीका में श्रीधरस्वामि पादने लिखा है—'प्र' शब्द से मोक्षाभिसन्धि को भी कैतव कहा गया है। अतएव वड़िश शब्द से काठिन्य, कौटिल्य, अरसिकत्व,

दोषादेवेति भावः, यथोक्तम् (भा० १।१।२) —"धर्म्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमः" इत्यत्र प्र-शब्देन मोक्षाभि-सन्धिरपि कैतवमिति । अतएव वड़िश-शब्देन काठिन्यमरसत्विरवं कौटल्यं दाम्भिकत्वं स्वार्थमात्रसाधनत्वं च व्यञ्जितम् । शुद्धभक्तास्तु न कदाचित्तथा तं ध्येयं त्यजन्ति, यथोक्तं राज्ञा (भा० २।८।५) —

"धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति ।
मुक्तसर्व्वपरिक्लेशः पान्थः स्वशरणं यथा ॥"२०३॥ इति,

श्रीनारदेन च (भा० १।५।१९)—

" न वै जनो जातु कथञ्चनाव्रजे,--न्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम् ।
स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुन,--र्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो जनः ॥"२०४॥ इति,

यो रसग्रहः, स तु न त्यजतीत्यनेनान्येषां लौह-पाषाणादितुल्यत्वं सूचितम् । न तु भगवानपि

---

दाम्भिकत्व केवल स्वार्थ साधन तत् परत्व व्यञ्जित हुआ है । शुद्ध भक्त वृन्द--कभी भी ध्येय परम मधुर श्रीहरि को परित्याग नहीं करते हैं ।

शुद्ध भक्तगण जो ध्येय श्रीभगवान् को परित्याग नहीं करते हैं--उसका उल्लेख भा० २।८।६ में है—

"धौतात्मा पुरुषः कृष्णपाद मूलं न मुञ्चति ।
मुक्त सर्व परि क्लेशः पान्थः स्व शरणं यथा ॥"२०३॥

टीका—ततश्च कृतार्थो भवतीत्याह । धौतात्मा निष्पापः । मुक्ताः सर्वे रागद्वेषादयः परिक्लेशा येन पान्थः प्रवासादागतः स्वस्य शरणं गृहं यथा न मुञ्चति तद्वत् ।

श्रीपरीक्षित् महाराज कहे थे—प्रवास से समागत पथिक जिस प्रकार निजगृह को परित्याग नहीं करता है, राग द्वेषादि निखिल क्लेश मुक्त शुद्धान्तः करण व्यक्ति भी उस प्रकार श्रीकृष्ण पाद मूल को परित्याग नहीं करते हैं । भा० १।५।१९ में श्रीनारद भी कहे हैं—

"न वै जनो जातु कथञ्चनाव्रजे,---न्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम् ।
स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुन-, र्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो जनः ॥"२०४॥ इति,

टीका—यदुक्तं यत्र क्व वा अभद्रमभूदिति तदुपपादयति न वा इति । मुकुन्द सेवी जनः जातुकदाचित् कथञ्चन कुयोनिं गतोऽपि । संसृतिम् ना व्रजेत् नाविशेत् । अङ्ग अहो । अन्यवत् केवल कर्मनिष्ठवत् इति वैधर्म्ये दृष्टान्तः । कुत इत्यत आह—मुकुन्दाङ्घ्रे रूप गूहनमालिङ्गनं पुनः स्मरन् विहातुं नेच्छेत् यतोऽयं जनो रस ग्रहो रसेन रसनीयेन गृह्यते वशीक्रियते । यद्वा रसे रसनीये ग्रह आग्रहोयस्य तदुक्तं भगवता--यतते च ततोभूयः संसिद्धः कुरुनन्दन । पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि स इति ।

रसे रसनीये आग्रहो यस्य । रसनीय श्रीभगवान् में जिस का आग्रह है, वह रसग्रह है, जो रस ग्रह है, वह श्रीभगवान् को परित्याग नहीं करता है । इस से जो रसग्रह नहीं है वह पाषाणादि तुल्य है, यह सूचित हुआ है । अर्थात् जीव, उद्भिद प्रभृति रस ग्रहण करते हैं, केवल प्राण हीन लौह पाषाणादि रस ग्रहण नहीं करते हैं । योगी का चित्त लौहादि वत् कठिन है, उस का चित्त रसमय श्रीहरि को ग्रहण नहीं करता है, प्राप्त कर भी परित्याग करता है, अतः उस के चित्त को वड़िशवत् कहा गया है ।

ततोऽन्यथा कुर्य्यात्, यदुक्तं श्रीब्रह्मणा (भा० ३।९।५) –"भक्त्या गृहीतचरणः परया च तेषां, नापैषि नाथ हृदयाम्बुरुहात् स्वपुंसाम्" इति, आविर्होत्रेण च (भा० ११।२।५५) --"विसृजति हृदयं न यस्य साक्षात्" इत्यादि । अतएव पूर्व्वत्र स्वपुंसामित्यत्र स्वेति विशेषणम् । तदेवमाभासोदाहरणे श्रीकपिल-देवस्यैव वाक्यम्, (भा० ३।२५।२६) –"भक्त्या पुमान् जात-

---

किन्तु मुकुन्द सेवी व्यक्ति अपर के तुल्य किसी भी प्रकार संसृति को प्राप्त नहीं करता है, कारण, रसग्रह होने के कारण, मुकुन्द चरणालिङ्गन का स्मरण करके उस को परित्याग करना नहीं चाहता है।

तज्जन्य श्रीभगवान् भी उस की अन्यथा नहीं करते हैं। अर्थात् भगवान् भी रसग्रह जन भक्त को परित्याग नहीं करते हैं। श्रीचरण में आश्रय प्रदान करते हैं। कारण--भा० ३।९।५ में श्रीब्रह्माने कहा है—

"ये तु त्वदीय चरणाम्बुजकोष गन्धं
जिघ्रन्तिकर्ण विवरैः श्रुति वात नीतम् ।
भक्त्या गृहीतचरणः परया च तेषां
नापैषि नाथ हृदयाम्बुरुहात् स्वपुंसाम् ॥"

टीका—आदरेण तु त्वां भजन्तः कृतार्था इत्याह ये त्विति। श्रुति र्वेदः, स एव वात स्तेन नीतं प्रापितम् । नापैषि–नापयासि । ये त्वत् कथा श्रवणमत्यादरेण कुर्वन्ति तेषां हृदि नित्यं प्रकाशसे इत्यर्थः ।

"हे नाथ! जो परम भक्ति के सहित तुम्हारे चरण कमल को समस्त पुरुषार्थ सार मानकर ग्रहण करते हैं, वे तुम्हारे स्व पुरुष--निजजन हैं। तुम उन के हृदय पद्म से कभी भी अपसृत नहीं होते हो, अर्थात् उन सब के हृदय में सर्वदा प्रकाशमान रहते हो। भा० ११।२।५५ में आविर्होत्र योगीन्द्र ने भी कहा है—

"विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद् हरि रवशादभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणय रसनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवत प्रधान उक्तः ॥"

जिनका नाम अवशभाव में उच्चारित होने पर भी समस्त पाप विनष्ट होते हैं, वह श्रीहरि जिस हृदय को परित्याग नहीं करते हैं, प्रेमरज्जु के द्वारा बद्ध होकर सर्वदा अवस्थान करते हैं, वह उत्तम भागवत नाम से अभिहित है। शुद्ध भक्त वृन्द, ध्येय श्रीभगवच्चरण को परित्याग न करने के कारण, भगवान् उन को परित्याग नहीं करते हैं, अतः पूर्वोक्त श्लोक में स्व पुरुष शब्द में 'स्व' विशेषण प्रदत्त हुआ है। अर्थात् उत्तम भागवत वृन्द को भगवान् परित्याग नहीं करते हैं, एतज्जन्य वे श्रीभगवान् के निज जन शब्द से कथित होते हैं।

इस से बोध होता है कि—प्रेमवान् भक्त कभी भी भगवान् को परित्याग नहीं कर सकते हैं, योगि व्यक्ति इत्यादि श्लोक में वर्णित प्रेमादि चिह्न विद्यमान होने पर भी श्रीभगवान् को परित्याग करने का संवाद होने के कारण--वह प्रेम नहीं है, प्रीत्याभास है।

इस प्रकार प्रीत्याभास का उदाहरण श्रीकपिल देव के वाक्य में ही दृष्ट होता है—

"भक्त्या पुमान् जातविराग ऐन्द्रियात्
दृष्ट श्रुतान्मद्रचनानु चिन्तया ।
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो
यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः ॥"

भक्ति पूर्वक मानव मेरी सृष्ट्यादि लीला की चिन्ता करते करते दृष्ट श्रुत अर्थात् ऐहिक पारत्रिक

विरागः" इत्यादिकमपि ज्ञेयम् । तथाहि, अस्य पूर्व्वत्र (भा० ३।२५।२५) "श्रद्धा रतिर्भक्ति-रनुक्रमिष्यति" इति भक्तिमात्रं दर्शितम्, उत्तरत्र तस्या लक्षणे पृष्टे तल्लक्षणं वदतानेन (भा० ३।२५।३२) "भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी" इति, (भा० ३।२५।३४) "नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचित्" इति च मोक्षनिरपेक्षतयैव तस्या मुख्याभिधेयत्वमुक्तम्, (भा० ३।३५।३३) "जरयत्याशु या कोषम्"इति च मायाकोषध्वंसनस्य तु तदानुषङ्गिकगुणत्वमुक्तम् । अत्र भक्त्यापुमानित्यादौ तु तादृशा अपि तस्या भक्तेर्ज्ञानादि-साहाय्येनैव मोक्षमात्रसाधकत्वमुक्त्वा गौणाभि-धेयत्वमुक्तम् । तस्मादत्रापि तस्या भक्तेराभास एव प्रथमतो दर्शितः । एवम् (भा० ६।१६।२९)--

"दृष्ट्वा तमवनौ सर्व्वं ईक्षणाह्लाद-विक्लवाः ।
दण्डवत् पतिता राजन् शनैरुत्थाय तुष्टुवुः ॥"२०५॥

---

इन्द्रिय सम्पर्कित सुख से विरक्त होता है । अनन्तर भक्ति प्रधान योग मार्ग को अवलम्बन करके चित्तवशी करण में यत्नशील होता है । इस श्लोक के पूर्व श्लोक भा० ३ २५।३२ में "श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति" श्रद्धा, रति, एवं भक्ति का आविर्भाव होता है । कहागया है । इस में भक्ति मात्र का ही उल्लेख हुआ है । अर्थात् ज्ञान मिश्रा, योग मिश्रा, शुद्धा प्रभृति समस्त प्रकार भक्ति का वर्णन साधारण भाव से हुआ है । अनन्तर भक्ति लक्षण जिज्ञासित होने पर उस का लक्षण वर्णन में प्रवृत्त होकर भा० ३।२५।३२ में कहा है— "भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी" भागवती भक्ति मुक्ति से भी श्रेष्ठा है । एवं भा० ३।२५।३४ में कहा है- "नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचित्" कोई कोई भक्त मेरे सहित एकात्मता अर्थात् सायुज्य को नहीं चाहते हैं । उक्त श्लोक द्वय में श्रीकपिल देवने मोक्षनिरपेक्षता को ही भक्ति लक्षण का मुख्य अभिधेय अर्थात् प्रधान प्रतिपाद्य कहा है ।

तात्पर्य्य यह है—अन्यान्य साधन का उद्देश्य--मुक्ति है, भक्ति का उद्देश्य किन्तु भक्ति नहीं है । भक्ति स्वयं ही मुक्ति से श्रेष्ठा है, एवं भक्त कदापि मुक्ति नहीं चाहता है, कहने से प्रतिपन्न होता है कि— भक्ति को मुक्ति की अपेक्षा नहीं है, अन्यान्य साधनों को मुक्ति की अपेक्षा है । अतएव मुक्ति निरपेक्षता के द्वारा ही सुस्पष्ट रूप से भक्ति का परिचय लाभ होता है । तज्जन्य मुक्ति निरपेक्षता को भक्ति लक्षण का मुख्य अभिधेय कहा गया है ।

कहा जा सकता है कि—भा० ३।२५।३३ में उक्त है—

"जरयत्याशु या कोषम् निगीर्णमनलोयथा"

टीका—मुक्तिश्च प्रासङ्गिकी भवत्येवेत्याह---या भक्तिः कोशं लिङ्ग शरीरं जरयति क्षपयति । स्व प्रयत्न विनैव सिद्धौ दृष्टान्तः । निगीर्णं भुक्तमन्नम्, अनलो जाठरो यथा जरयतीति ।

भक्ति लिङ्ग शरीर को ध्वंस कर देती है । यहाँ भक्ति लक्षण कहने में प्रवृत्त होकर माया कोष ध्वंस की कथा क्यों कही गई ? माया कोश ध्वंस हो तो मुक्ति है । उत्तर में कहते हैं—माया कोष ध्वंस को भक्ति का आनुषङ्गिक गुण कहा गया है । जिस भक्ति को मोक्षनिरपेक्ष कहा गया है, उस को "भक्त्या पुमान् जातो बिराग ऐन्द्रियात्" श्लोक में ज्ञानादि सहायता से मोक्ष साधक कहा गया है, अतएव भक्ति लक्षण का गौण अभिधेयत्व कहा गया है । अर्थात् भक्ति शब्दसे मुख्यतः जिस का बोध होता है, यहाँ उस का कथन नहीं हुआ है । सुतरां "भक्त्या पुमान्" श्लोक में भी प्रथमतः भक्ति का आभास प्रदर्शित हुआ है । इस प्रकार भा० ५।६।२९ में उक्त है—

इत्यत्रापि वृत्राख्यशत्रुनाश-स्वाराज्यप्राप्तितात्पर्य्यवतां देवानां भक्त्याभासत्वमुदाहार्य्यम् ।। श्रीकपिलदेवः ।।

१४। अथ कदाचिदुद्भवत्तच्छविमात्रत्वमाह (भा० ६।१।१९) —

(७४) "सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयो-,र्निवेशितं तद्‌गुणरागि यैरिह ।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्‌भटान्, स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः ।।"२०६।।

रागो रञ्जनमात्रम्, न तु तद्‌गुणमाधुरीयाथार्थ्यज्ञानेन साक्षात् प्रीतिः । अतएव तत्र

---

"दृष्ट्वा तमवनौ सर्व्व ईक्षणाह्लाद--विक्लवाः :
दण्डवत् पतिता राजन् शनैरुत्थाय तुष्टुवुः ।।"२०५।।

हे राजन् ! श्रीभगवान् का दर्शन कर देवगण आनन्द विह्वल होकर भूतल में दण्डवत् निपतित हुये थे। अनन्तर धीरे धीरे उठकर स्तव करने लगे थे। यहाँ देवगण में भक्त्याभास का वर्णन हुआ है। वृत्र नामक शत्रु नाश के पश्चात् स्वर्ग राज्य प्राप्ति में ही देव वृन्द का तात्पर्य्य था, श्रीहरि के माधुर्य्यास्वादन में तत्पर होकर उन्होंने वैसा नहीं किया।

श्रीकपिल देव कहे थे ।।७३।।

७४। प्रीत्याभास एवं ईषदुद्‌गम भेद से द्विविध असम्पूर्ण प्रीत्याविर्भाव के मध्य में प्रीत्याभास का वर्णन हुआ। सम्प्रति ईषदुद्‌गम का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। पहले कहा गया है कि-ईषदुद्‌गम प्रीतिच्छविमात्र सामयिक उद्‌भव एवं प्रीति की उदयावस्था भेद से द्विविध हैं।

अनन्तर प्रीतिच्छविमात्र सामयिक उद्‌भव का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। भा० ६।१।१९ में उक्त है--

(७४) "सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयो र्निवेशितं तद्‌गुणरागि यैरिह।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान्, स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्ण निष्कृताः ।।"२०६।।

टीका—भक्तिः स्वल्पापि पुनात्येवेत्याह— सकृदिति। तस्य गुणेषु रागमात्रमस्ति न ज्ञानं यस्य तन्मनः तावतैव चीर्णं कृतं निष्कृतं प्रायश्चित्तं यैः।

श्रीशुकदेव बोले—श्रीकृष्णानुरागि मनः को श्रीकृष्ण चरण कमल युगल में जो एकवार मात्र निवेश करते हैं, वे यम अथवा यमपाशधारी यम किङ्कर गण को नहीं देखते हैं। कारण, उनसब के समस्त प्रायश्चित्त श्रीकृष्ण चरण कमल में मनोनिवेश निबन्धन—अनुष्ठित हो गये हैं।

श्लोक व्याख्या—उक्त श्लोकोक्त गुणरागि--में प्रयुक्त राग शब्द का अर्थ—रञ्जन मात्र है। श्रीकृष्ण गुण माधुरी का यथार्थ्य ज्ञान हेतु साक्षात् प्रीति नहीं हैं। अतएव प्रीति में तात्पर्य्य न होने के कारण ही श्लोक में "सकृदपि" शब्द विन्यास हुआ है। तथापि अजामिल प्रभृति से विशेष है—तज्जन्य कहा गया है, "न ते यमम्" वे यमपाशहस्त किङ्कर गण को नहीं देखते हैं।

गुणानुरागी पद में जो राग शब्द का प्रयोग हुआ है, उस का अर्थ रञ्जन किया गया है। राग शब्द प्रीति एवं रञ्जन वाचक होने पर भी यहाँ प्रीति अर्थ में व्यवहृत नहीं हुआ है, रञ्जन अर्थ में व्यवहृत हुआ है। रञ्जन रंगाना है। किसी वस्तु रं करने से रं उसके ऊपर में लगता है, भीतर में प्रवेश नहीं करता है।

उक्त श्लोक में जिस की कथा कही गई है, श्रीकृष्ण गुण उस के मन को सामान्य स्पर्श किया है, किन्तु गुणानुसन्धान कर गुणोपलब्धि करने में अक्षम है। तस्य गुणेषु रागमस्ति नतु ज्ञानमिति टीका। राग मात्रं—यत् किञ्चिद्रागः, ज्ञानं—याथार्थ्येनानुभव इति क्रमसन्दर्भः।।

मन के सहित एतादृश सम्पर्क को राग कहते हैं, श्रीकृष्ण गुण की उपलब्धि होने से सर्वस्व अर्पण

तात्पर्य्याभावात् सकृदपीत्युक्तम्, तथाप्यस्य अजामिलादिभ्यो विशेष इत्याह-न ते यममित्यादि ॥ श्रीशुकः ॥

७५ । अथ प्रथमोदयावस्थामाह (भा० ११।१८।२२) —

(७५) "यत्रानुरक्ताः सहसैव धीरा, व्यपोह्य देहादिषु सङ्गमूढ़म् ।
व्रजन्ति तत् पारमहंस्यमन्त्यं, यस्मिन्नहिंसोपशमः स्वधर्म्मः ॥"२०७॥

---

कर श्रीकृष्ण में प्रीति करता है, निमेषार्द्ध काल भी कृष्ण विस्मृत नहीं होता है । उक्त श्लोक में जिस का विवरण कहा गया है, वह स्मरण परायण नहीं है, अतएव उस के सम्बन्ध में स्मरण महिमा का वर्णन हुआ है । प्रेम स्वभावतःही अखण्ड श्रीकृष्ण स्मरण उत्पन्न करता है । उपरोक्त स्थलमें वैसा नहीं हुआ है । किन्तु प्रेम व्यतीत श्रीकृष्ण चरण में मनो निवेश नहीं हो सकता है, अतः मनो निवेश जब होता है, तब वहाँ प्रेम का किञ्चित् आविर्भाव होना निश्चित है । एतज्जन्य यह सामयिक प्रीति आविर्भाव का दृष्टान्त है ।

जो लोक प्रीतिच्छवि का सामयिक आविर्भाव सौभाग्य लाभ किये हैं वे अजामिल प्रभृति से श्रेष्ठ हैं । कारण, यम किङ्कर गण उस सब के दृष्टि गोचर नहीं होते हैं । अजामिल किन्तु यम किङ्कर गण के द्वारा बद्ध हुआ था । अजामिल प्रभृति शब्द उल्लेख से जानना होगा कि—तादृश पातक गण से श्रेष्ठत्व कहना अभिप्रेत नहीं है । श्रीमद् भागवत के अजामिल पातकी नहीं है । विष्णु दूत गण की उक्ति उस के सम्बन्ध में इस प्रकार है—

"अथैनं मापनयत कृताशेषाघनिष्कृतम् ।
यदसौ भगवन्नाम म्रियमाणः समग्रहीत् ॥" भा० ६।२।१३

इस को पाप मार्ग से ले न जाना । इस के समस्त पाप विनष्ट हो गये हैं । कारण, इस ने मृत्यु के समय नारायण नाम ग्रहण सम्पूर्ण रूप से किया है ।

वस्तुत पुत्रके नाम करण समयमें ही प्रथम नाम प्रभाव से ही अजामिल के समस्त पाप विनष्ट हो गये थे ' इस से बोध होता है कि अजामिल प्राक्तन--वा आधुनिक निखिल नामापराध से मुक्त था । कारण, पाप वा अपराध विद्यमान होने पर म्रियमाण की जिह्वा में श्रीहरिनामोच्चारण नहीं हो सकता है । अतएव ईदृश निरपराध अथच सङ्केतादि द्वारा श्रीभगवान् के नाम कीर्त्तन कारी व्यक्ति से उक्त प्रकार श्रीकृष्ण गुणानुरागी व्यक्ति श्रेष्ठ है, यह कथित हुआ है ।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—यदि अजामिल निष्पाप ही होता तो यमदुत के द्वारा वह बद्ध क्यों हुआ ? उत्तर—यमदूतों का कार्य्य अज्ञता प्रसूत एवं असङ्गत था । इस का विवरण श्रीमद् भागवत में ही है । किन्तु अजामिल के सदृश व्यक्ति के निकट यमादि का गमन हो सकता है । उक्त विध श्रीकृष्ण-गुणानुरागी व्यक्ति के समीप में भ्रम से भी यमादि जा नहीं सकते हैं । "भक्त्याभास सद् भावेन यमादीनां तद् दृष्टि पथेऽपि गन्तुमशक्यत्वान्महाप्रभाव रूपं दर्शिता ॥"

भक्त में भक्त्यनुष्ठान विद्यमान होने के कारण यमादि भक्त के दृष्टि पथ में उपस्थित हो नहीं सकते हैं, इस से भक्त का महाप्रभाव दर्शित हुआ । क्रमसन्दर्भ ।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥७४॥

७५ । अनन्तर प्रीति की प्रथमोदयावस्था का वर्णन करते हैं । भा० ११।१८।२२ में उक्त है—

(७५) "यत्रानुरक्ताः सहसैव धीरा, व्यपोह्य देहादिषु सङ्गमूढ़म् ।
व्रजन्ति तत् पारमहंस्यमन्त्यं, यस्मिन्नहिंसोपशमः स्वधर्म्मः ॥"२०७॥

अन्त्यं पारमहंस्यं भागवत–परमहंसत्वम् । तस्यानुषङ्गिको गुणः–यस्मिन्निति ।। श्रीसूतः ।।

७६ । प्रकटोदयावस्थां श्रीप्रियव्रतमधिकृत्याह (भा० ५।११) —

"प्रियव्रतो भागवत आत्मारामः कथं मुने ।
गृहेऽरमत यन्मूलः कर्म्मबन्धः पराभवः ।।"२०८।।

इत्यादेः, भा० (५।४।१) —

"संशयोऽयं महान् ब्रह्मन् दारागार--सुतादिषु ।
सक्तस्य यत् सिद्धिरभूत् कृष्णे च मतिरच्युता ।।"२०९।।

---

टीका– धीराः सन्तः । ऊढ़ं धृतम् । अन्त्यं परम काष्ठापन्नं, तदाह यस्मिन् अहिंसा उपशमश्च स्वाभाविको धर्मः ।।

श्रीसूत कहे थे—श्रीहरि में अनुरक्त धीर व्यक्ति गण सहसा देहादि वस्तुस्थित आसक्ति को परित्याग करके पारमहंस्य की पराकाष्ठा को प्राप्त करते हैं । जिस अवस्था में मात्सर्य्यादि का अभाव निबन्धन भगवन्निष्ठा स्वभावसिद्ध रूप में विद्यमान होती है ।

श्लोकार्थ—पारमहंस्य की पराकाष्ठा—भागवत् परमहंसत्व । उसका आनुषङ्गिक गुण—श्लोकोक्त यस्मिन्निति जिस अवस्था में अहिंसादि गुण सिद्ध रूप में अवस्थित हैं ।

श्लोकार्थ—पारमहंस्य की पराकाष्ठा--भागवत् परमहंसत्व । उस के आनुसङ्गिक गुण–श्लोकोक्त-- जिस अवस्था में मात् सर्य्यादि का अभाव निबन्धन भगवनिष्ठा स्वभाव सिद्ध रूप में अवस्थित है ।

इस श्लोक में जो देहाद्यासक्ति परिहार की कथा कही गई है,—वही प्रीति का प्रथमोदयावस्था का परिचायक है । साधक वृन्द के पक्ष में परमहंस्याश्रम की पराकाष्ठा अर्थात् सर्वोच्चावस्था प्राप्ति यही है । कारण, जीवन्मुक्ति विवेक ग्रन्थ में वर्णित है—अध्यात्मनिष्ठ सन्न्यासि विशेष ही परम हंस है । आत्म निष्ठा से भगवन्निष्ठा का श्रेष्ठत्व हेतु देहाद्यासक्ति रहित भगवनिष्ठ व्यक्ति--परम हंस गण के मध्य में श्रेष्ठ है ।

प्रवक्ता श्रीसूत हैं—७५।।

७६ । श्रीप्रियव्रत के प्रसङ्ग के भा० ५।१।१ में प्रीति की प्रकटोदयावस्था का वर्णन इस प्रकार है–

"प्रियव्रतोभागवत आत्मारामः कथं मुने ।
गृहेऽश्मत यन्मूलः कर्म्मबन्धः पराभवः ।।"२०८।।

टीका-वंशं प्रिय व्रतस्यापि निबोध नृप सत्तम । यो नारदादविद्यामधिगम्यपुनर्महीम् । भुक्त्वा विभज्य पुत्रेभ्य ऐश्वरं समगात् पदमिति पूर्वस्कन्धान्ते प्रियव्रतस्य प्रथममात्मविद्या, ततो गृहाश्रमः, ततः सर्वसङ्ग त्यागेन मोक्ष इत्युक्तम् । तत्र विस्मितः पृच्छति प्रियव्रत इति । भागवतः अतएव आत्मारामः गृहे कथम् अरमत ? ननुरमतां, को दोषः ?—इति चेत्, अत आह—कर्म्मणाबन्धः पराभवश्य स्वरूप तिरस्कारो यन्मूलो भवति । यद् गृहं मूलं कारणं यस्य ।।

श्रीपरीक्षित् श्रीशुकदेव को कहे थे—हे मुने ! प्रियव्रत जो केवल आत्माराम थे यही नहीं आप भागवत भी थे । कैसे आप गृह सुख में रत हो गये थे ? कारण, गृहस्थाश्रम ही कर्म्मबन्ध एवं आत्म ज्ञानावरण का मूल है । इस के बाद कहा गया है—(भा० ५।१।४]

"संशयोऽयं महान् ब्रह्मन् दारागार--सुतादिषु ।
सक्तस्य यत् सिद्धिरभूत् कृष्णे च मतिरच्युता ।।"२०९।।

इत्यन्तस्य राजप्रश्नस्यानन्तरेण गद्येन (भा० ५।१।५) —

(७६) "वाढ़मुक्तं भगवत उत्तमश्लोकस्य श्रीमच्चरणारविन्द-मकरन्दरस आवेशितचेतसो भागवतपरमहंस-दयितकथां किञ्चिदन्तरायविहतां स्वां शिवतमां पदवीं न प्रायेण हि हिण्वन्ति' इति ॥

टीका च–"अङ्गीकृत्य परिहरति–वाढ़मिति। वाढ़मभिनिवेशादिकं नास्तीति सत्यमेव, तथापि विघ्नवशेन तेषां प्रवृत्तिः पूर्व्वाभ्यास-बलेन पुनर्निवृत्तिश्च सङ्गच्छत इत्याह--भगवतः" इत्यादिका। अतएवोक्तं पृथुं प्रति श्रीविष्णुना–(भा० ४।२०।२१) "दृष्टासु सम्पत्सु विपत्सु

---

टीका—दाराद्यासक्तस्य तु मोक्षः, श्रीकृष्णे अस्खलिता मतिश्चाभूदितियत् अयञ्च महान् संशयः, इत्याह संशय इति।

हे ब्रह्मन्! प्रिय व्रत—स्त्री, पुत्र, गृहादि में आसक्त थे। आप सिद्धि लाभ किये थे, एवं श्रीकृष्ण में आप की अविचलामति भी हुई थी, यही आश्चर्य्य है अर्थात् गृहासक्त व्यक्ति का कैसे सिद्धि लाभ एवं श्रीकृष्ण में अविचला भक्ति हुई थी, उस का वर्णन आप करें।

श्रीपरीक्षित् महाराज के इस प्रकार प्रश्न के उत्तर में श्रीशुकदेव कहे थे।

(७६) "वाढ़मुक्तं भगवत उत्तमश्लोकस्य श्रीमच्चरणारविन्द--मकरन्दरस आवेशितचेतसो भागवत परमहंस–दयितकथां किञ्चिदन्तरायविहतां स्वां शिवतमां पदवीं न प्रायेण हि हिण्वन्ति"

टीका—अङ्गीकृत्य परिहरति वाढ़मिति। वाढ़म् अभिनिवेशादिकं नास्तीति सत्यमेव। तथापि विघ्नवशेन तेषां प्रवृत्तिः पूर्वाभ्यास बलेन पुनर्निवृत्तिश्च सङ्गच्छते–इत्याह। भगवतः श्रीमच्चरणारविन्द-मकरन्द रूपो यो रसः, तस्मिन्नावेशितं चेतो यैस्तेऽपि केनचिदन्तरायेण विघ्नेन विहतामपि स्वां शिवतमां पदवीं मार्गं न हिन्वन्ति न त्यजन्ति। काम्? भागवता एव परमहंसाः तेषां, दयितस्य प्रियस्य श्रीवासुदेवस्य कथाम्।

हे महाराज! आपने यथार्थ ही कहा है। पुण्य श्लोक श्रीभगवान् के श्रीमच्चरण कमल के मकरन्द आस्वादन जिन के चित्त आविष्ट है। वे भागवत परम हंस वृन्द के प्रियतम भीभगवान् की कथा को ही परम मङ्गल पदवी--अर्थात् भगवत् प्राप्ति का उपाय मानते हैं। वह पदवी कदाचित् किसी प्रकार विघ्न के द्वारा प्रतिहता होने से भी वे उसको परित्याग नहीं करते हैं।

श्लोक व्याख्या—श्रीपरीक्षित् महाराज जो कहे थे--उस को स्वीकार करके श्रीप्रियव्रत के सम्बन्ध में गृहासक्ति प्रभृति को परिहार करते हैं। उन में अभिनिवेशादि नहीं हैं, यह सत्य है। तथापि विघ्न के कारण, प्रवृत्ति होती है एवं पूर्वाभ्यास से उस की निवृत्ति होती है।

अतएव विघ्न उपस्थित होने पर भी भक्त वृन्द भक्तिमार्ग को परित्याग नहीं करते हैं, यह वृत्तान्त पृथु के प्रति श्रीविष्णु भा० ४।२०।१२ में कहे थे---

"भिन्नस्य लिङ्गस्य गुणप्रवाहो द्रव्यक्रियाकारक चेतनात्मनः।
दृष्टासु सम्पत् सुविपत्सुसूरयो न विक्रियन्ते मयि बद्ध सौहृदाः॥"

टीका—संसारिणः कथं कूटस्थत्वम्? अत आह। भिन्नस्य लिङ्गस्य देहस्य गुण प्रवाहः संसारः। भिन्नत्वे हेतुः, द्रव्याद्यात्मकस्य, तत्र चेतना चिदाभासः। अतो दृष्टासु प्राप्तासु हर्षशोकादिभि र्न विक्रियन्ते।

सम्पद उपस्थित हो, अथवा विपद उपस्थित हो, भक्तवृन्द विकार प्राप्त नहीं होते हैं, अर्थात् भगवद्

सूरयो, न विक्रियन्ते मयि बद्धसौहृदाः" इति । अगस्त्यस्य चेन्द्रद्युम्ने स्वावमाननया न कोपः किन्तु वैष्णवोचित-महदादरचर्य्यायाः परित्यागे शिक्षार्थमेव मन्तव्यः, (भा० १०।१०।७) "तयोरनुग्रहार्थाय शापं दास्यन्निदं जगौ" इतिवत् । अथ श्रीपरीक्षितो ब्राह्मणावमानना तु श्रीकृष्णस्य तद्व्याजेन स्वपार्श्वनयनेच्छात एव (भा० १।१९।१४) —

---

भजन से विचलित नहीं होते हैं, मुझ में बद्ध सौहृद होकर रहते हैं ।

यदि सम्पद् विपद् में भक्त वृन्द विचलित नहीं होते हैं तो, अगस्त्य मुनिने इन्द्र द्युम्न महाराज को शाप क्यों दिया ? यहाँ क्रोध से विचलित होना अगस्त्य को देखा गया है । विरोध समाधान हेतु कहते हैं-- निज अपमान बोध हेतु अगस्त्य ने इन्द्र द्युम्न को शाप नहीं दिया । किन्तु वैष्णवोचित महत् का आदर परिचर्य्या का अभाव देखकर शिक्षादान हेतु उस प्रकार आचरण किया । इस प्रकार समझना होगा ।

इन्द्र द्युम्न पाण्डच देशाधिपति थे । आप मलयाचल में आश्रम निर्म्माण पूर्वक जितेन्द्रिय मौनव्रत जटाधर तापस होकर श्रीहरि भजन करते थे। एकदिन वहाँ महायशा अगस्त्य उपस्थित हुए थे, किन्तु राजा भगवदाराधन में निविष्ट चित्त होने के कारण, अगस्त्य के अभ्यर्थनादि नहीं किये थे । इस से अगस्त्य क्रुद्ध होकर कहे थे,—इसने ब्राह्मण अनादर किया है, यह असाधु है, गज के समान स्तब्धमति है, अतएव यह हस्ती होकर जन्म ग्रहण करे । शास्त्रीय विधि यह है—

"वैष्णवो वैष्णवं दृष्ट्वा दण्डवत् प्रणमेत् भुवि ।
ततश्च वैष्णवः प्राप्तः सन्तर्प्य वचनामृतैः ।
सद्बन्धुरिव सम्मान्योऽन्यथा दोषो महान् स्मृतः ।।"

वैष्णव, वैष्णव को देखकर भूतल में दण्डवत् प्रणाम करे । वैष्णव समागत होने से मधुर वचन से उन को सन्तुष्ट करे । सद्बन्धु के समान सम्मान न करे-अन्यथा महान् दोष होता है ।

इन्द्र द्युम्न ने अगस्त्य की अभ्यर्थना न करके उक्त वैष्णवाचार लङ्घन किया था । उस को उपलक्ष्य करके जनता को वैष्णव समागम विधि शिक्षार्थ अगस्त्य ने अभिशाप दिया था । वह शाप कोप हेतु नहीं है । भा० १०।१०।७ में भी उक्त है— "तयोरनुग्रहार्थाय शापं दास्यन्निदं जगौ"

उन दोनों के प्रति अनुग्रह प्रकाश हेतु अभिशाप प्रदान के समय इस प्रकार गान किये थे । इस वाक्य में नल कुवर मणिग्रीव के प्रति कृपा प्रकाशार्थ नारद का यादृश अभिशाप वर्णित है, इन्द्र द्युम्न के प्रति अगस्त्य का अभिशाप भी तद्रूप है ।

महादेव के अनुचर एवं कुबेर के पुत्र नल कूवर मणिग्रीव थे । मद्यपान करके मन्दाकिनी के कमल वन में स्वर्वेश्यारत थे । देवर्षि को देखकर भी संयत न होने के कारण देवर्षि ने शाप दिया था । उस से गोकुल में अर्जुन वृक्ष होकर जन्म ग्रहण करना पड़ा था । अनन्तर श्रीकृष्ण स्पर्श से शापमुक्त हो गये थे । गोकुल में जन्म एवं श्रीकृष्ण स्पर्श परम भक्ति का फल है, जो दूसरे के पक्ष में दुर्ल्लभ है । जिस से इस प्रकार दुर्ल्लभ वस्तु प्राप्ति होती है, उस को निग्रह नहीं कहा जा सकता है । अगस्त्य के अभिशाप से इन्द्रद्युम्न गजेन्द्र रूपमें जन्म ग्रहण किया था, कुम्भीर कर्त्तृक ग्रस्त होने से श्रीहरि का साक्षात् कार हुआ । वह भगवद् भक्त के अनुग्रह व्यतीत निग्रह हो ही नहीं सकता है ।

श्रीपरीक्षित् की ब्राह्मण अवमानना भी उनका क्रोधावेश का परिचायक नहीं है, परीक्षित् को निज समीप में आनयन श्रीकृष्ण हेतु की जो इच्छा हुई थी उस को अभिव्यक्त भा० १।१९।१९ में परीक्षित् ने

"तस्यैव मेऽघस्य परावरेशो, व्यासक्तचित्तस्य गृहेष्वभीक्ष्णम् ।
निर्वेदमूलो द्विजशापरूपो, यत्र प्रसक्तो भयमाशु धत्ते ॥" २१०॥

इति तदुक्तेः । एवमन्यत्रापि योजनीयम् । तस्माच्छ्रीप्रियव्रतस्याप्यभिनिवेशाद्यासङ्गाभासत्व-मेवायातम् । तदपि दुःखदमेव तद्विधानामिति चाग्रे तन्निर्वेदेन दर्शयिष्यते—(भा० ५।१।३७) "अहो असाध्वनुष्ठितम्" इत्यादिना ॥ श्रीशुकः ॥

७७ । प्रकटोदयवस्थायाश्चिह्नान्तरमाह (भा० ७।४।४२)—

(७७) "स उत्तमश्लोकपदारविन्दयो-,र्निषेवयाकिञ्चनसङ्गलब्धया ।
तन्वन् परां निर्वृतिमात्मनो मुहु-,र्दुःसङ्गदीनस्य मनः शमं व्यधात् ॥" २११॥

टीका च—"आत्मनः परां निर्वृतिं तन्वन् दुःसङ्गदीनस्यापि मनः शमं शान्तं व्यधात्"

---

स्वयं ही किया है—

"तस्यैव मेऽघस्य परा वरेशो व्यासक्त चित्तस्य गृहेष्वभीक्ष्णम् ।
निर्वेदमूलो द्विजशाप रूपो यत्र प्रसक्तो भयमाशुधत्ते ॥" २१०॥

मैं अतीव कुकर्म्मकारी पापात्मा, सदा गृहासक्त चित्त के हूँ । तज्जन्य परावरेश-सर्वेश्वर--वैराग्य के हेतु भूत ब्रह्म शाप रूप में आविर्भूत हुये हैं, जिस ब्रह्म शाप से ग्रहासक्त का भय अर्थात् निर्वेद उपस्थित होता है ।

श्रीपरीक्षित् महाराज, मृगया हेतु वन गमन के पश्चात् पिपासार्त्त होकर शमीक मुनि के आश्रम में उपस्थित हुये थे । मुनि ध्यानस्थ होने के कारण, उनकी अभ्यर्थना करने में अक्षम थे । इस से कूपित होकर श्रीपरीक्षित् मुनि के गल देश में मृत सर्प अर्पण किये थे ।

अन्यान्य श्रीकृष्ण प्रीतिमान् व्यक्ति गण के सम्बन्ध में भी इस प्रकार जानना होगा । जिन के हृदय में श्रीभगवत् प्रीति प्रकटित है, अन्य विषय में उनका अभिनिवेश नहीं रहता है, कदाचित् किसी भक्त में दृष्ट होने पर भी वह वास्तव नहीं है, आभासमात्र है, उस में भक्त एवं श्रीभगवान का किसी प्रकार गूढ़ उद्देश्य निहित है—जानना होगा । अतएव प्रियव्रत के अभिनिवेशादि आसक्ति नहीं है । आसक्ति का आभास मात्र है—यह निश्चित है । वह भी तादृश भक्त वृन्द के पक्ष में दुःखकर होता है । अग्रिम वाक्य भा० ५।१।३७ में "अहो असाध्वनुष्ठितम्" अहो ! मैं असाधु अनुष्ठान किया है । निर्वेद का प्रदर्शन होगा । श्रीशुक कहे थे ॥७६॥

७७ । प्रीति की प्रकटोदयावस्था का लक्षण भा० ७।४।४२ में है—

(७७) "स उत्तम श्लोक पदारविन्दयोर्निषेवयाकिञ्चन सङ्ग लब्धया ।
तन्वन् परां निर्वृतिमात्मनो मुहु र्दुःसङ्गदीनस्यमनः शमं व्यधात् ॥" २११॥

टीका—आत्मनः परां निर्वृतिं तन्वन् दुःसङ्गेन दीनस्यान्यस्यापि मनः शमं शान्तं व्यधात् ।

प्रह्लाद, अकिञ्चन भगवद् भक्त के सङ्ग से उत्तम श्लोक भगवान् की सेवा को प्राप्त कर मुहुर्मुहुः परमानन्दित होकर दुःसङ्ग हेतु अन्य दीन जन के मन को भी शान्ति प्रदान करते थे । स्वामीटीका । निज परमानन्द विस्तार करके दुःसङ्ग वशतः जो लोक दीन हैं,--अर्थात् दुर्दशाग्रस्त हैं उनके मन को शम- शन्त करते थे । सम शब्द से निज मन के तुल्य करते थे—इस प्रकार व्याख्या भी की जा सकती है । अर्थात्

इत्येषा। शमं स्वमनसस्तुल्यमिति वा व्याख्येयम् ।। श्रीनारदो युधिष्ठिरं प्रति ।।

७८। अथ दर्शितप्रभावास्तत्पाविर्भावास्तु श्रीशुकदेवादिषु द्रष्टव्याः, यथा च श्रीनारायण-पञ्चरात्रे—

"भावोन्मत्तो हरेः किञ्चिन्न वेद सुखमात्मनः। दुःखञ्चेति महेशानि परमानन्द आप्लुतः ।।"२१२।।

इति। तदेवं सभेदा प्रीत्याख्या भक्तिर्दर्शिता। एषा श्रीगीतोपनिषत्सु च स्वरूपद्वारा गुणद्वारा च कथिता (गी० १०।८-१०)-

"अहं सर्व्वस्य प्रभवो मत्तः सर्व्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ।।२१३।।
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।।२१४।।
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।"२१५।। इति।

---

प्रह्लाद का मन जिस प्रकार आनन्द पूर्ण था, दुसरे के मन को भी उस प्रकार आनन्द पूर्ण कर देते थे।

प्रीति की प्रकटोदयावस्था का लक्षण उक्त श्लोक द्वय में उक्त है। एक में प्रिय व्रत महाराज का, दूसरे में प्रह्लाद का। प्रथमोक्त श्लोक में देखने में आता है कि--इष्ट में परम आवेश एवं ध्वंस का कारण उपस्थित होने पर भी आवेश भङ्ग का अभाव है। शेषोक्त श्लोक में--परमानन्द पूर्णता, एवं अन्य दुःखी व्यक्ति को भी सुखी करने की योग्यता दृष्ट होती है। अतएव प्रीति के प्रकटोदय का लक्षण यह आवेश का स्थायित्व, परमानन्द पूर्णता एवं संसर्गादि, द्वारा अन्य दुःखी व्यक्ति को भी परमानन्दित करने की सामर्थ्य। तात्पर्य्य यह है कि जिस में भगवत् प्रीति का सम्पूर्ण आविर्भाव होता है—उस में उक्त लक्षण चतुष्टय विद्यमान होते हैं। श्रीनारद युधिष्ठिर को कहे थे ।।७७।।

७८। अनन्तर प्रीति के दर्शित प्रभाव नामक आविर्भाव समूह का वर्णन करते हैं। वे सब आविर्भाव महाभागवत श्रीशुकदेवादि में दृष्ट होते हैं। श्रीनारायण पञ्चरात्र में वर्णित है

"भावोन्मत्तो हरेः किञ्चिन्न वेद सुखमात्मनः।
दु खञ्चेति महेशानि परमानन्द आप्लुतः ।।"२१२।।

हे महेशानि! श्रीहरि के भाव से उन्मत्त व्यक्ति--निज सुख दुःख का अनुसन्धान नहीं रहते हैं, परमानन्द से आप्लुत रहते हैं।

उक्त रीति से विभिन्न प्रकार आविर्भाव के सहित प्रीत्याख्य भक्ति का वर्णन हुआ। श्रीमद्भगवद् गीता में भी यह भक्ति स्वरूप द्वारा एवं गुण द्वारा वर्णित है। (गी० १०।८--१०)

"अहं सर्व्वस्य प्रभवो मत्तः सर्व्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ।।२१।।।
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।।२१४।।

अथ श्रीभगवत्प्रीतिलक्षणवाक्यानां निष्कर्षः,–निखिलपरमानन्द-चन्द्रिका-चन्द्रमसि सकलभुवन-सौभाग्य-सारसर्व्वस्व-सत्त्वगुणोपजीव्यानन्त-विलासमयामायिक-विशुद्धसत्त्वान-वरतोल्लासादसमोर्द्ध्वमधुरे श्रीभगवति कथमपि चित्तावतारादनपेक्षितविधिः स्वरसत एव समुल्लसन्ती विषयान्तरैरनवच्छेद्या तात्पर्य्यान्तरमसहमाना ह्लादिनीसारवृत्तिविशेषस्वरूपा

---

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥"२१५॥ इति ।

टीका—तत्र महैश्वर्य्य लक्षणां विभूतिमाह--अहं सर्वस्य प्राकृताप्राकृत वस्तुमात्रस्य प्रभवः---उत्पत्ति प्रादुर्भावयोः हेतुः । मत्त एवान्तर्य्यामि स्वरूपात्--जगत् प्रवर्त्तते चेष्टते, तथा मत्त एव नारदाद्यवतारात्मकात् सर्वं भक्ति ज्ञान तपः कर्म्मादिकं साधनं तत्तत्साध्यञ्च प्रवृत्ति भवति । ऐकान्तिक भक्ति लक्षणं योगमाह इति मत्वा आस्तिकयतो ज्ञानेन निश्चित्य इत्यर्थः । भावो दास्य सख्यादि स्तद्युक्ताः ॥८॥

एतादृशा अनन्य भक्ता एव मत् प्रसादाल्लब्ध बुद्धि योगाः---पूर्वोक्त लक्षणं दुर्बोधमपि मत्तत्त्व ज्ञानं प्राप्नुवन्तीत्याह--मच्चित्ता–मद्रूप नाम रूप गुण लीला माधुर्य्यास्वादेष्वेव लुब्ध मनसः । मद्गत प्राणाः, मां विना प्राणान् धर्त्तुमसर्थाः, अन्नगत प्राणा नरा इतिवत् । बोधयन्तः भक्ति स्वरूप प्रकारादिकं सौहार्द्देन ज्ञापयन्तः । मां महामधुर रूप गुण लीला महोदधि कथयन्तः मद्रूपादि व्याख्यानेनोत्कीर्त्तनादिकं कुर्वन्तः- इत्येवं सर्व भक्तिष्वति श्रेष्ठात् स्मरण श्रवण कीर्त्तनान्युक्तानि । तुष्यन्ति च रमन्तिचेति भक्त्यैव सन्तोषञ्च रमणञ्चेति रहस्यां यद्वासाधन दशायामपि भाग्यवशात् भजने निर्विघ्ने सम्पद्यमाने सति तुष्यन्ति तदैव भावि स्वीय साध्य दशामनुस्मृत्य रमन्ति च, मनसा स्व प्रभुणा सह रमन्तिचेति रागानुगा भक्तिर्द्योतिता ।६।

ननु तुष्यन्ति च रमन्ति चेति त्वदुक्त्या त्वद्भक्तानां भक्त्यैव परमानन्दो गुणातीत इत्यवगतं, किन्तु तेषां त्वत् साक्षात् प्राप्तौ कः प्रकारः, सच कुतः सकाशात्तैरवगन्तव्य इत्यपेक्षायामाह तेषां त्वत् साक्षात् प्राप्तौ कः प्रकारः, सच कुतः सकाशात्तैरवगन्तव्य इत्यपेक्षायामाह तेषामिति । सतत युक्तानां नित्यमेव मत्संयोगाकाङ्क्षिणां तं बुद्धियोगं ददामि, तेषां हृद्वृत्तिष्वहमेव उद्भावयामीति स बुद्धि योगः स्वतोऽन्यस्माच्च कुतश्चिदप्यधिगन्तुमशक्यः किन्तु मदेकदेयस्तदेक ग्राह्य इति भावः । मामुपयान्ति मामुपलभन्ते साक्षान्मन्निकटं प्राप्नुवन्ति ॥

अप्राकृत एवं प्राकृत समस्त वस्तुओं का उत्पत्तिस्थान मैं हूँ । इस प्रकार अवगत होकर भाव अर्थात् शुद्ध भक्ति से जो मेरा भजन करते हैं, वे ही पण्डित हैं ।

एतादृश अनन्य भक्त वृन्द का चरित्र इस प्रकार है—वे चित्त एवं प्राण को मुझ में सम्यक् अर्पण करके भाव विनिमय एवं हरि कथाकीर्त्तन परस्पर करते हैं । इस प्रकार श्रवण कीर्त्तन द्वारा साधनावस्था में भक्ति सुख एवं साध्यावस्था में अर्थात् लब्ध प्रेम अवस्था में रागमार्ग में व्रज रसान्तर्गत मधुर रसास्वादन करते रहते हैं ।

नित्य भक्ति योग के द्वारा जो प्रीति पूर्वक मेरा भजन करते हैं । में उनसब को शुद्ध ज्ञान जनित विमल प्रेमयोग प्रदान करता हूँ । उस के द्वारा वे मदीय परमानन्द धाम में गमन करते हैं । श्लोक चतुष्टय–गीता के सार स्वरूप हैं । परमैकान्तिभक्तवृन्द की भक्ति का वर्णन इस में है । उक्त श्लोकों का तात्पर्य्यार्थ इस प्रकार है । श्रीकृष्ण का कथन है-स्वयं भगवान् मैं हूँ । मैं ही ब्रह्मा शिव प्रमुख निखिल प्रपञ्च उत्पत्ति के हेतु हूँ । उत्पन्न वस्तु मात्र ही मुझ से प्रवर्त्तित हैं, सब की प्रवृत्ति मेरे अधीन है । मुझ को छोड़ कर अपर समस्त वस्तुओं का नियन्ता मैं हूँ । मेरा नियन्ता प्रेम भक्ति है । इस प्रकार मानकर सद्गुरु मुख

भगवदानुकूल्यात्मक-तदनुगत-तत्स्पृहादिमय-ज्ञानविशेषाकारा तादृशभक्त मनोवृत्तिविशेषदेहा पीयूषपूरतोऽपि सरसेन स्वेनैव स्वदेहं सरसयन्ती भक्तकृतात्मरहस्य-सङ्गोपन-गुणमयरसना-वाष्पमुक्तादि-व्यक्तपरिष्कारा सर्वगुणैकनिधान-स्वभावा दासीकृताशेष-पुरुषार्थ-सम्पत्तिका भगवत्पातिव्रत्य-व्रतचर्य्यापर्य्याकुला भगवन्मनोहरणैकोपायहारिरूपा भगवति भागवती

---

मुख से निश्चित रूप से जानकर प्रेम समन्वित होकर विज्ञ व्यक्ति गण मेरा भजन करते हैं।

भजन प्रकार का वर्णन करते हैं। वे मच्चित्त होते हैं, मदीय स्मृति परायण होते हैं, मद्गत प्राण हैं, मीन जिस प्रकार जल व्यतीत जीवन धारण में अक्षम है, वे भी उस प्रकार होते हैं। वे परस्पर मदीय गुण लावण्यादि का कथन करते हैं। भक्त वात्सल्य वारिधि प्रभृति विचित्र चरित्र युक्त मेरा स्मरण कीर्त्तन करके सुधापानवत् वे तृप्ति लाभ करते हैं। एवं रमण करते हैं, अर्थात् युवती का हास्य कटाक्ष से युवक को जिस प्रकार आनन्द होता है, मदीय स्मरणादि द्वारा वे उसी प्रकार आनन्द लाभ करते हैं।

स्वरूप गुण एवं ऐश्वर्य्य से अनन्त स्वरूप मेरा ज्ञान गुरूपदेश से कैसे हो सकते? उत्तर,—नियत मदीय संयोगाकाङ्क्षी होकर जो लोक स्वरूप ज्ञान जनित रुचि पूर्वक मेरा भजन करते हैं। स्वभक्ति सुख लोलुप मैं उन सब को उस बुद्धि योग अर्पण करता हूँ। जिस से वे मुझ को प्राप्त कर सकते हैं। अर्थात् उस बुद्धि को उस प्रकार उत्पन्न करता हूँ, जिस से अनन्त गुणैश्वर्य्य सम्पन्न मुझ को जानकर उपासना के द्वारा प्राप्त करते हैं।

### प्रीति लक्षण वाक्यों का निष्कर्ष।

अनन्तर श्रीभगवत् प्रीति लक्षण वाक्यों का निष्कर्ष को कहते हैं। निखिल परमानन्द चन्द्रिका का चन्द्रमा, सकल भुवन सौभाग्य सार सर्वस्व प्राकृत सत्त्वगुण का उपजीव्य अनन्त विलासमय मायातीत विशुद्ध सत्त्व का अनवरत उल्लास हेतु असमोर्द्ध्व मधुर श्रीभगवान् में किसी प्रकार चित्त की अवतारणा हेतु विधि की अपेक्षा को छोड़कर स्वभावतः ही सम्यक् रूप से उल्लास प्राप्त होती है, अन्य विषयों के द्वारा जो खण्डित नहीं होती है। जो अन्य तात्पर्य्य को सहन नहीं करती है, ह्लादिनी सार वृत्ति विशेष ही जिस का सार स्वरूप है, भगवदानुकूल्यात्मक आनुकूल्य के अनुगत भगवत् प्राप्त्यभिलाषादिमय ज्ञान विशेष ही जिस का आकार है, तादृश भक्त की मनोवृत्ति विशेष ही जिस का शरीर है, पीयूष पूर से भी जो स्वरस के द्वारा स्वयं स्वयं को रसयुक्त करती रहती है, भक्तकृत आत्म रहस्य सङ्गोपन गुणमय रसना (चन्द्रहार) एवं नेत्राश्रु रूप मुक्तादि जिस के भूषण रूप में परिव्यक्त हैं, समस्त गुण स्वयं में निहित रखना ही जिसका स्वभाव है, अशेष पुरुषार्थ को जिसने दासी किया है, भगवान् में पातिव्रत्य व्रत निष्ठा द्वारा जो विभोर है, भगवान् के मनोहरण ही जिस का एकमात्र उपाय है, इस प्रकार चित्त हारिणी रूपवती भागवती (भगवद् विषयिणी) प्रीति--भगवान् की अत्यधिक रूप से सेवा करके विराजित है।

अर्थात् श्रीभगवान् में चित्त का अभिनिवेश होने पर प्रीति का आविर्भाव होता है। श्रीभगवान् की सेवा ही इस का कार्य्य है, भगवान् किस प्रकार हैं? उस को समझाने के निमित्त निखिल परमानन्द चन्द्रिका चन्द्रमा, एवं सकल भुवन सौभाग्यसार सर्वस्व सत्त्वगुणोपजीव्यानन्त विलासमयामायिक विशुद्ध सत्त्वानवरतोल्लासादसमोर्द्ध्वमधुर–यह विशेषण द्वय योजित हुये हैं। चन्द्रिका- चन्द्र किरण है, चन्द्र--उस का आश्रय है, श्रीभगवान् परमानन्द का एकमात्र आश्रय हैं। एतज्जन्य भगवान् परमानन्द चन्द्रिका का चन्द्रमा हैं। चन्द्र जिस प्रकार निज किरण के द्वारा जगत् को आनन्दित करता है, श्रीभगवान् भी उस प्रकार

प्रीतिस्तमुपसेवमाना विराजत इति। सेयमखण्डापि निजालम्बनस्य भगवत आविर्भाव-तारतम्येन स्वयं तारतम्येनैवाविर्भवति । तदेवं सति श्रीकृष्णस्यैव स्वयंभगवत्त्वेन तत्सन्दर्भे दर्शितत्वात्तत्रैव तस्याः परा प्रतिष्ठा । अतएव बाहुल्येन तत्प्रीतिपरिपाटीमेवाधिकृत्य प्रक्रिया दर्शयितव्या । या च क्वचिदन्याधिकर्त्तव्या, सा खलु कैमुत्येत तस्या एव पोषणार्थं ज्ञेया ।

---

निज परमानन्द द्वारा सकल को आनन्दित करते हैं ।

यहाँपर जो आनन्द है, सब का मूल भगवान् के स्वरूपस्थित आनन्द है । भगवान् किस प्रकार हैं ? असमोर्द्ध्वमधुर हैं । जिस से अधिक मधुर है हो नहीं, जिस के समान मधुर भी नहीं है, वही असमोर्द्ध्व मधुर है । श्रीभगवान् ही उस प्रकार मधुर हैं । भगवान् कैसे उस प्रकार मधुर हैं ? उन में अनवरत विशुद्ध सत्त्व का उल्लास है, एतज्जन्य भगवान् तादृश मधुर हैं । वह विशुद्ध सत्त्व किस प्रकार है ? वह मायातीत है, अनन्त विलासमय है, प्राकृत सत्त्व गुण का उपजीव्य है, अर्थात् इस को अवलम्बन करके ही मायिक सत्त्व रहता है एवं सकल भुवन सौभाग्य सार सर्वस्व हैं ।

श्रीभगवान् में चित्त का अभिनिवेश होना दुर्घट है । तज्जन्य कहते हैं— कैसे होता है ? भगवद् भक्त की कृपा ही इस के प्रति मुख्य हेतु है । अभिनिवेश श्रीभगवान् में मनः संयोग होने से किस प्रकार प्रीति का आविर्भाव होता हैं ? कहते है—किसी प्रकार विधि की अपेक्षा न करके ही स्वतन्त्र रूप से स्वयं ही प्रीति का उदय होता है ।

वह प्रीति किस प्रकार है ? श्रीभगवान् ही जिस का एकमात्र विषय है, श्रीभगवान् की और ही जिस की अवाधगति है । अपर कोई भी विषय उपस्थित होकर उस को खण्डित करने में सक्षम नहीं है । कभी भी अन्य विषय के सहित उस का सम्बन्ध नहीं होता है । भगवत् सेवा व्यतीत अन्यतात्पर्य्य को वह सहन नहीं करती है । जहाँ अन्य तात्पर्य्य है, अन्य फलाकाङ्क्षा उपस्थित होती है वहाँ से भगवत् प्रीति चली जाती है । भगवत् प्रीति का स्वरूप यह हैं— ह्लादिनी सार वृत्ति विशेष प्रीति की आकृति— भगवदानुकूल्यात्मक, आनुकूल्य के अनुगत भगवत् प्राप्त्यभिलाषादिमय ज्ञान विशेष है । भगवत् प्रीति का शरीर— उक्त ज्ञान जिस का है— उस प्रकार भक्त की मनोवृत्ति है ।

भगवत् प्रीति का सविशेष परिचय दान हेतु भगवत् प्रीति का वर्णन— मूर्त्तिमत् वस्तु के समान किया गया है । उस का स्वरूप, आकार एवं शरीर तीनों का वर्णन पृथक् पृथक् रूप से किया गया है । वस्तु की मूल सत्ता, उसका स्वरूप है, उसको मूर्त्त अभिव्यक्ति देह है, देह के अवयव संयोग से जो वैशिष्ट्य है—जिस के द्वारा यह वस्तु वा व्यक्ति है—इस प्रकार बोध होता है,---वह उस का आकार है । प्रीति-- मौलिक वस्तु ह्लादिनीसार वृत्ति विशेष है, भक्त की मनोवृत्ति विशेष रूप में व्यक्त होती है । एवं उक्त प्रकार अभिलाषादिमय ज्ञान विशेष रूप से वह निज वैशिष्ट्य प्रकाश करती है । अर्थात् परिचित होती है।

प्रीति—लक्ष्मी लिङ्ग शब्द है, वह भाववस्तु होने पर भगवत् प्रेयसी रमणी रत्न रूप में ही भगवद् भक्त गण उस की वर्णना करते हैं, ग्रन्थकार भगवत् प्रीति की सौन्दर्य्य भूषण प्रभृति से विभूषित मूर्त्ति मती रूप में वर्णन किये हैं ।

प्रीति—पीयूष पूर से भी सरस स्वयं के द्वारा निज देह की रस युक्त करती है—पीयूष शब्द का अर्थ सुधा है, पूर--खाद्य विशेष है । पूरः खाद्य विशेषः" इति मेदिनी कोषः" रस--आस्वादना सुधा का पूर-भुवनत्रय में सुधा के समान उपादेय वस्तु द्वितीय नहीं है । उस के द्वारा निर्म्मित जो पूर---उस की उपादेयता भी अत्यधिक है । इस सुधा का पूर से सुस्वाद्य---उपादेय स्वयं के द्वारा प्रीति—निज देह को उपादेय करती

अथ श्रीकृष्णे स्वयंभगवत्येवाविर्भावपूर्णत्व-दर्शनेन तस्याः पूर्णत्वं दर्शयन्ति (भा० १०।८४।२१)—

है। अर्थात् देह शब्द से कर चरणादि अवयव समष्टि का बोध होता है, भक्त के मनोवृत्ति समूह ही प्रीति के यावतीय अव्यय हैं। प्रीति निज माधुर्य्य के द्वारा उन सब को मधुर करती रहती है। प्रीति की यह मधुर मूर्त्ति—भक्त की मनोवृत्ति है। वही श्रीभगवान् की उपभोग्या है। तज्जन्य वह सतत भक्त हृदयमें विराजित है। प्रीति की जो उपादेयता कही गई है—वह उसकी रस रूपता है।

रूप रसवती--अर्थात् प्रेमवती रमणीचित्ताकर्षण करने में स्वभावतः समर्था होती है। वह यदि अलङ्कृता होती है, तो अतीव चित्ताकर्षिणी होती है। प्रीति का भूषण है, भक्तकृत आत्मसङ्गोपन रूप चन्द्रहार, अश्रु विन्दु रूप मुक्ता। अर्थात् प्रीति का आविर्भाव होने पर भक्त, सर्वदा जो आत्मगोपन की चेष्टा करता है, एवं अश्रु विन्दु मोचन करता है, उस से प्रीति का माधुर्य्य वर्णित होता है।

केवल अङ्ग सौष्ठव एवं भूषण की चारुता, किसी रमणी का उत्कर्ष का परिचायक नहीं है। उसके सहित सद्गुणों का समावेश होना अत्यावश्यक है। एकमात्र प्रीति में ही निखिल सद्गुण स्वभावतः निहित होते हैं।

इन सबों के द्वारा जिस प्रकार प्रीति का उत्कर्ष स्थापित हुआ है--उस प्रकार अतुलनीय सम्पत्ति के द्वारा भी उस का श्रेष्ठत्व प्रकटित हुआ है। प्रीति—निखिल पुरुषार्थ सम्पत्ति मुक्ति पर्य्यन्त सब को निज दासी करके रखती है।

इस प्रकार स्वाभाविक सौन्दर्य्य, भूषण की चारुता, गुणों की महनीयता एवं ऐश्वर्य्य की परावधि द्वारा परिशोभिता प्रीति--श्रीभगवान् में पातिव्रत्य व्रतनिष्ठा का समाचरण करके विभोर रहती है। अर्थात् पतिव्रता रमणी की जिस प्रकार एकमात्र पति में निष्ठा रहती है, पति की परिचर्य्या, सुख सम्पादन, उस के जीवन का एकमात्र व्रत है, प्रीति का भी उस प्रकार एकमात्र श्रीभगवान् में निष्ठा, श्रीभगवान् का सुख सम्पादन ही एकमात्र व्रत है।

ईदृशी प्रीति की एकमात्र चेष्टा है--श्रीभगवान् के मनोहरण करना तादृशी रमणी जिस प्रकार विविध प्रेम चेष्टा द्वारा पति का मनोहरण पूर्वक उस की सेवा परायणा होकर तदीय सान्निध्य में अवस्थान करती है। प्रीति भी तद्रूप विविध अनुभाव द्वारा श्रीभगवान् के मनो हरण पूर्वक उनकी सेवा में रत होकर तदीय सान्निध्य में विराजती है।

## प्रीति का पूर्णाविर्भाव।

अनन्तर प्रीति का पूर्व आविर्भाव का वर्णन करते हैं, भगवत् प्रीति अखण्डा होने पर भी स्वीय विषयालम्बन श्रीभगवान् के आविर्भाव तारतम्यानु सार प्रीति का आविर्भाव तारतम्य भी होता है। अर्थात् जिस स्वरूप में भगवत्ता का पूर्ण विकाश है, उन के सम्बन्ध में प्रीति का पूर्णाविर्भाव होता है। एवं जिस स्वरूप में भगवत्ता का आंशिक विकाश है, उन के सम्बन्ध में प्रीति का भी आंशिक आविर्भाव होता है। स्वयं भगवत् स्वरूप भक्तगण उन को जितनी प्रीति करते हैं, अंश भगवत् स्वरूप के भक्तगण निजेष्ट देवको उतनी प्रीति नहीं करते हैं। अतएव श्रीकृष्णसन्दर्भ में श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता प्रदर्शित होने के कारण, उन में प्रीति की पराकाष्ठा है, अर्थात् श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में ही प्रीति का पूर्णतम आविर्भाव होता है। सुतरां श्रीकृष्ण प्रीति परिपाटी को अवलम्बन करके ही प्रीति का पूर्णाविर्भाव प्रक्रिया का प्रदर्शन होगा। कदाचित् अन्य विषयिणी प्रक्रिया उपस्थित होने पर भी उस को कैमुतियक न्याय से श्रीकृष्ण प्रीति पोषण हेतु जानना होगा।

भा० १०।८४।२१ में उक्त है—

(७८) "अद्य नो जन्मसाफल्यं विद्यायास्तपसो दृशः ।
त्वया सङ्गम्य सद्गत्या यदन्तः श्रेयसां पर, ॥"२१६॥

सतां त्वदेकनिष्ठानां तद्विशेषाणां गत्या त्वया श्रीकृष्णाख्येन सङ्गम्य नोऽस्माकं वशिष्ठ-चतुःसन-वामदेव-मार्कण्डेय-नारद-कृष्णद्वैपायनादीनां ब्रह्मानुभवतां भगवदीयनाना-भक्तिरसविदां दृष्टनानाभगवदाविर्भावानामप्यद्य ईदृशप्राकट्यावच्छिन्नेऽस्मिन्नेवावसरे जन्मनः साफल्यं जातम्, यदेव साफल्यं पूर्वलब्धानां तत्तदाविर्भावजात-तत्तत्साफल्यरूपाणां श्रेयसां परमपुरुषार्थानां परोऽन्तः परमोऽवधिरिति । महामुनयः श्रीभगवन्तम् ॥

७९ । एवमन्यत्रापि (भा० ११।६।१)—

"अथ ब्रह्मात्मजैर्देवैः प्रजेशैरावृतोऽभ्यगात् ।
भवश्च भूतभव्येशो ययौ भूतगणैर्वृतः ॥"२१७॥

इत्यादिकमुपक्रम्याह (भा० ११।६।५)—

---

(७८) " अद्य नो जन्म साफल्यं विद्यायास्तपसोयशः ।
त्वया सङ्गम्य सद्गत्या यदन्तः श्रेयसां परः ॥"२१६॥

टीका—तस्मादीश्वरस्य तवेदं जनसंग्रह मात्रं वयं तु तवसङ्गत्या कृतार्था इत्याहुः । अद्येति षड्भिः । सतां गत्या त्वया सङ्गम्य सङ्गं प्राप्य । यत् यस्मात् त्वं श्रेयसां परोऽवधिः ।

महामुनिवृन्द, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण में भगवत्ता आविर्भाव की पूर्णता को देखकर प्रीति की पूर्णता दर्शाये हैं । वे श्रीकृष्ण दर्शन कर कहे थे "सद्गति आप हैं, आप के सङ्गलाभ कर हम सब के जन्म विद्या, तपस्या एवं नयन सफल हो गये हैं । जो साफल्य श्रेयः समूह की परावधि है ।

श्लोक की व्याख्या—सद्गति--एकमात्र आप में निष्ठा शील, विशिष्ट सद्गुण की अर्थात् भक्त वृन्द की गति--आश्रय, श्रीकृष्ण नाम से विख्यात आप के सङ्गलाभ करके हम सब वशिष्ठ, चतुःसन, कामदेव, मार्कण्डेय, नारद, वेदव्यास प्रभृति मुनिगण, जो ब्रह्मानुभव सम्पन्न हैं, जो भगवद् विषयिणी विविध भक्ति रसज्ञ हैं, एवं विविध भगवदाविर्भाव को जो देखे भी हैं, उन सब के—अद्य—ईदृश प्राकट्यावच्छिन्न इस अवसर में अर्थात् जिस समय में आप हम सब के नयन गोचरी भूत हुये हैं, उस समय में जन्म का साफल्य उपस्थित हुआ है—जो साफल्य पूर्व प्राप्त उक्त आविर्भाव समूह का साक्षात् कार से उत्पन्न जन्म साफल्यादि रूप पुरुषार्थ समूह की परम अवधि है—अर्थात् शेष सीमा है ।

महामुनि गण—श्रीभगवान् को कहे थे ॥७८॥

७९ । इस प्रकार वर्णन भा० ११।६।१ में भी है—

"अथ ब्रह्मात्मजैर्देवैः प्रजेशैरावृतोऽभ्यगात् ।
भवश्च भूतभव्येशो ययौ भुतगणैर्वृतः ॥"२१७॥

श्रीशुकदेव कहे थे—अनन्तर एकदा सनकादि पुत्रगण, देववृन्द एवं प्रजापति गण के सहित ब्रह्मा, भूतगण के सहित भूतभविष्यत् के ईश्वर, महादेव, मरुद् गण के सहित भगवान् इन्द्र, आदित्य, अष्ट वसु, अश्विनीकुमार युगल-श्रीकृष्ण दर्शन करने के निमित्त द्वारका में उपस्थित हुये थे । इस प्रकार उपक्रम करके भा० ११।६।५ में उक्त है—

(७९) "व्यचक्षतावितृप्ताक्षाः कृष्णमद्भुत--दर्शनम्" इति ।
अत्राप्यद्भुतत्वं प्राकट्यान्तरापेक्षयैव ॥ श्रीशुकः ॥

८० । किञ्च, (भा० ३।२।१२)—

(८०) "यन्मर्त्त्यलीलौपयिकं स्वयोग,-मायाबलं दर्शयता गृहीतम् ।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः, परं पदं भूषणभूषणाङ्गम् ॥"२१८॥

स्वयोगमायाबलं स्वचिच्छक्तेर्वीर्य्यम्, एतादृशसौभाग्यस्यापि प्रकाशिकेयं भवती त्येवम्विधं दर्शयताविष्कृतम् । सकल-स्ववैभव-विद्वद्गणविस्मापनायेति भावः । न केवलमेतावत् स्वस्यैव रूपान्तरे तादृशत्वाननुभवात्, तत्रापि प्रतिक्षणमप्यपूर्वप्रकाशात् स्वस्यापि विस्मापनम्, यतः सौभगर्द्धेः परं पदं परा प्रतिष्ठा । ननु तस्य भूषणं त्वस्ति सौभगहेतुरित्यत्राह—भूषणेति ।

---

(७९) "व्यचक्षतावितृप्ताक्षाः कृष्णमद्भुतदर्शनम् ॥"
अद्भुत दर्शन श्रीकृष्ण को अतृप्त नयनों से दर्शन करने लगे थे ।

श्लोक की व्याख्या—यहाँ, अन्यान्य भगवदाविर्भाव की अपेक्षा श्रीकृष्ण में अद्भुतत्व है । अर्थात् महामुनिगण जिस प्रकार ब्रह्म एवं अन्यान्य भगवदाविर्भाव की अपेक्षा श्रीकृष्ण का अद्भुतत्व को अनुभव किये थे, ब्रह्मादि देव गण के सम्बन्ध में भी वही कथा है । श्रीशुक कहे थे ॥७९॥

८० । और भी भा० ३।२।१२ में उक्त है—

(८०) "यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग,-मायाबलं दर्शयता गृहीतम् ।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः, परं पदं भूषणभूषणाङ्गम् ॥"२१८॥

टीका—तदेवं बिम्बं वर्णयति त्रिभिः । यन्मर्त्य लीलासु औपयिकं योग्यम् स्वस्यापि विस्मयजनकम् । यतः सौभगर्द्धेः सौभाग्यातिशयस्य परं पदं पराकाष्ठा । भूषणानां भूषणानि अङ्गानि यस्मिन् ।

श्रीउद्धव विदुर को कहे थे—निज योग मायाबल प्रदर्शन कर्त्ता,—मर्त्य लीला के उपयोगी जो रूप ग्रहण किये हैं,वह स्वयं का भी विस्मय कर है, एवं सौभाग्यातिशय की पराकाष्ठा है । उस रूपके अङ्ग समूह भी भूषणों के भूषण स्वरूप है ।

श्लोक की व्याख्या—निज योगमायाबल--निज चिच्छक्ति का प्रभाव, यह शक्ति एतादृशी सौभाग्य की प्रकाशिका होती है कि--इस प्रकार प्रदर्शन जिन्होंने किया है, उन के द्वारा आविष्कृत है । जो सब व्यक्ति, उनके वैभव को जानते हैं—उन सब को विस्मित करना उनका उद्देश्य है । केवल यही नहीं ? निज अन्य रूप में भी उस प्रकार चमत् कारिता का अनुभव नहीं होता है, इस रूप में जिस प्रकार होता है । उस में भी प्रतिक्षण में अपूर्व प्रकाश निबन्धन, यह रूप अपना भी विस्मय कर है । कारण, यह सोभाग्य ( सौन्दर्य्य ) सम्पत्ति का परम पद है—अर्थात् परमाश्रय है । ऐसा होने पर उनके सौभाग्य हेतु क्या भूषण विद्यमान है ? उनका अङ्ग ही भूषण का भूषण है—अतः अन्य भूषण का प्रयोजन है ही नहीं । वह रूप किस प्रकार है ?—मर्त्य लीला का उपयोगी है ।

उक्त श्लोक का अनुवाद चैतन्य चरितामृत में इस प्रकार है—

कृष्णेर यतेक खेला, सर्वोत्तम नर लीला
नर वपु ताहार स्वरूप ।

कीदृशम् ? मर्त्यलीलौपयिकं नराकृतीत्यर्थः । तस्मात् सुतरामेव युक्तमुक्तं श्रीमहाकाल-

गोप वेश वेणुकर नव किशोर नटवर
नर लीलार हय अनुरूप ।।
कृष्णेर स्वरूप एवे शुन सनातन ।
ये रूपेर एक कण, डुबाय सर्व त्रिभुवन,
सर्व प्राणी करे आकर्षण ।
योगमाया चिच्छक्ति विशुद्ध सत्व परिणति,
तार शक्ति लोके देखाइते ।
एइ रूप रतन, भक्त गणेर गूढ़ धन,
प्रकाशिल नित्य लीला हैते ।
रूप देखि आपनार कृष्णेर हय चमत् कार
आस्वादिते मने उठे काम ।
सु सौभाग्य यार नाम, सौन्दर्य्यादि गुण ग्राम,
एइ रूप तार नित्य धाम ।
भूषणेर भूषण अङ्ग ताहे ललित त्रिभङ्ग
तार उपर भ्रू धनु नर्त्तन ।
तेरछ नेत्रान्त वाण- तार दृढ़ सन्धान,
विन्धे राधा गोपीगणेर मन ।
कोटि ब्रह्माण्ड परव्योम ताहाँ ये स्वरूपगण,
ता सवार बले हरे मन ।
पतिव्रता शिरोमणि, याँरे कहे वेद वाणी
आकर्षये सेह लक्ष्मी गण ।

श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति का नाम योगमाया वा चिच्छक्ति है । तज्जन्य स्वयोग माया शब्द का प्रयोग हुआ है । उस का बल—कार्य्य कारिता, क्षमता, सामर्थ्य, श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति की कार्य्य कारिता किस प्रकार है, उस को दर्शाने के निमित्त, निज रूप को जगत् में प्रकट किये हैं । मूलस्थ गृहीत का अर्थ—आविष्कृत--करने का हेतु यह है—श्रीकृष्ण का रूप-स्वरूप से अभिन्न है, उस रूप में श्रीकृष्ण नित्य विराजमान हैं, भिन्न वस्तु गृहीत हो सकती है, अतएव गृहीत शब्द का अर्थ आविष्कृत किया है । जो वस्तु है—लोक समक्ष में उस को व्यक्त करना ही आविष्कार है ।

श्रीकृष्ण वैभवज्ञ व्यक्ति गण तदीय विविध ऐश्वर्य्य के विविध विलास को जानते हैं, किन्तु इस प्रकार चमत् कार रूप कभी भी वे नहीं देखे हैं । तज्जन्य श्रीकृष्ण रूप भी उन सब के पक्ष में विस्मय कर है । अधिक तो क्या ? स्वयं श्रीकृष्ण भी इस रूप को देखकर विस्मित होते हैं । इस रूप में ही सौन्दर्य्यादि की पूर्ण प्रतिष्ठा है ।

सौन्दर्य्यादि का समावेश जहाँ है, वहाँ भूषणों का समावेश होना परमावश्यक है । ऐसा होने पर क्या भूषण संयोग से ही श्रीकृष्ण सौन्दर्य्य की चमत् कारिता है ? नहीं, उन का अङ्ग ही भूषणों का भूषण है । अन्यत्र भूषण अङ्ग को शोभित करता है, किन्तु श्रीकृष्ण अङ्ग में स्थान लाभ कर भूषण ही

पुराधिपेनापि, (भा० १०।८९।५८) "द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षुणा, मयोपनीताः" इत्यादि, श्रीहरिवंशे श्रीकृष्णवचनेन च-(विष्णु-प० ११४।८)"मद्दर्शनार्थं ते बाला हृतास्तेन महात्मना' इति ॥ श्रीमानुद्धवो विदुरम् ॥

८१। अतएव परीक्षिद्गुणवर्णने तद्गुणोपमात्वेनैकमेकं गुणं श्रीराम-रमेशयोर्दर्शयित्वा सर्व्व-साद्गुण्योपमात्वेन श्रीकृष्णं दर्शयितुमत्यन्तोत्कर्षदृष्ट्याशङ्कमानैर्ब्राह्मणैः (भा० १।१२।२४) "एष कृष्णमनुव्रतः" इत्येवोक्तम्, न तु स इवेति । अतएव परमप्रेमजनक-स्वभावत्वमपि तस्य तस्य दृश्यते, (भा० १।९।३९) "विजयरथकुटुम्बः" इत्यादौ "यमिह निरीक्ष्य हता गताः सरूपम्" इत्यनन्तरम् (भा० १।९।४०)—

(८१) "ललितगतिविलास-वल्गुहास-,प्रणय-निरीक्षणकल्पितोरुमानाः ।
कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः, प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः ॥"२१९॥

---

शोभित हुआ है ।

वह रूप किस प्रकार है ? नराकार—द्विभुज मनुष्यवत् है । श्रीकृष्ण—श्रीवृन्दावन में सतत द्विभुज रूप में विराजमान हैं । एतज्जन्य श्रीवृन्दावन चन्द्रमा के रूप की कथा ही यहाँ कही गई है । श्रीकृष्ण सन्दर्भ में द्विभुज रूप का ही सर्व श्रेष्ठत्व प्रतिपादित हुआ है ।

भा० १०।८९।५८ में "द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षुणामयोपनीताः ॥"

वाक्य के द्वारा श्रीकृष्ण रूप से विस्मित होकर दर्शनाभिलाषी भगवत् स्वरूप विशेष महाकाल पुराधिप श्रीकृष्ण को कहे थे—श्रीकृष्ण एवं अर्जुन दोनों को देखने के निमित्त मैंने ब्राह्मण तनय गण को ले आया हूँ । यह कथन युक्ति युक्त ही है । हरिवंश में श्रीकृष्ण की उक्ति भी इस प्रकार है—"मद् दर्शनार्थं ते बाला हृतास्तेन महात्मना ॥"मदीय दर्शन हेतु उन महात्मा ने ब्राह्मण बालक गणको अपहरण किया है ।
श्रीमान् उद्धव विदुर को कहे थे ॥८०॥

८१। श्रीकृष्ण में सौन्दर्य्य एवं सद्गुणों की परावधि होने के कारण परीक्षित् के गुण वर्णन के समय ब्राह्मण वृन्द ने श्रीराम एवं श्रीलक्ष्मी कान्त के एक एक गुण के सहित परीक्षित् के एक एक गुण की उपमा प्रदान कर सर्व सद् गुणकी उपमा रूप में श्रीकृष्ण को उल्लेख करने में प्रवृत्त होकर श्रीकृष्ण में समस्त सद् गुणों का अतिशय उत्कर्ष को देखकर शङ्कित हुये थे । एवं समस्त सद्गुणों में 'कृष्ण सम' इस प्रकार न कह कर श्रीकृष्ण के अनुव्रत कहे थे । अर्थात् परीक्षित् के सर्वसाद्गुण्य में श्रीकृष्ण के साद्गुण्य का आनुगत्य है, अर्थात् किञ्चित् सादृश्य है । साम्य नहीं है । भा० १।१२।२४ में "एष कृष्ण मनुव्रतः" कहा गया है ।

श्रीकृष्ण में अनुपम सर्वसाद्गुण्य विराजित होने के कारण, परम प्रेमोत्पादन करना ही उनका स्वभाव दृष्ट होता है । भा० १।९।३३ में भीष्मदेव कहे थे—"विजय रथ कुटुम्ब" समराङ्गण में निहत व्यक्ति गण जिन को देखकर सारूप्य प्राप्त होते हैं । "यमिह निरीक्ष्य हतागताः स्वरूपम् ॥ इस के बाद भा० १।९।४० में कहे थे—

(८१) "ललितगतिविलास—वल्गुहास,-प्रणय--निरीक्षणकल्पितोरुमानाः ।
कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः, प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः ॥"२१९॥

तत्स्वभावमहिम्नः सारूप्यप्रापणत्वं नाम कियानुत्कर्षः,यत एतावतोऽपि प्रेम्णो जनकत्वं दृश्यत इत्याह,—ललितेति । अत्र कृतानुकरणं नाम लीलाख्यो नायिकानुभावः, तदुक्तम्—(उ० नी० अनुभाव-प्र० २८) "प्रियानुकरणं लीला" इति, प्रकृतिं स्वभावम् । तादृशप्रेमावेशो जातः, येन तत्स्वभाव-निजस्वभावयो-रैक्यमेव तासु जातमित्यर्थः, यथा श्रीमदुज्ज्वलनीलमणौ महाभावोदाहरणम् (स्थायिभाव-प्र० १५५)—

---

टीका—क्षत्र धर्म्मेण युध्यमानास्तत् सरूपं प्रापुरिति न चित्रं, यतो मदान्धा अपि प्रापुरित्याह । ललित गतिश्च विलासश्च रासादि वल्गु हासादिश्च । मञ्जु गत्यादिभि रात्मीयैस्तदीयैर्वा कल्पितः ऊरुर्महान् मानः पूजा यासां ताः, अत उत्कटेन मदेन अन्धाः, अतएव तदेक चित्तत्वेन तस्य कृतं कर्म्म गोवर्द्धनोद्धारणादिकम् अनुकृतवत्यो गोपवध्वः यस्य प्रकृतिं स्वरूपमगमन् । मकार लोपस्त्वार्षः किल प्रसिद्धम् । तस्मिन्नेव रतिरस्तु इति पूर्वेणैवान्वयः ।

रास में श्रीकृष्ण की ललित गति, विलास, मनोहर हास्य, सप्रणयदृष्टि के द्वारा जो सब गोपवधू अतिशय पूजिता हुई थीं, वे महाप्रेम में विवश होकर उनके कार्य्य का अनुकरण करते करते तदीय प्रकृति को प्राप्त कर चुकी थीं ।

श्लोक की व्याख्या—सारूप्य प्राप्ति करा कर उन की स्वभाव महिमा का और कितना उत्कर्ष होगा ? कारण, उनमें प्रेम जनकत्व दृष्ट होता है । अर्थात् श्रीकृष्ण की स्वभाव महिमा से किस प्रकार प्रेमोत्पन्न होता है । उसका वर्णन श्रीभीष्मदेव ने 'ललित गति' श्लोक में किया है । उस में श्रीकृष्णकार्य्य के अनुकरण की जो कथा है—वह उज्ज्वल नीलमणि नामक ग्रन्थ के मत में लीला नामक नायिकानुभाव है । अनुभाव प्रकरण—(२८) तत्र लीला—प्रियानुकरणं लीलारम्यैर्वेषक्रियादिभिः ।।"

रमणीय वेश एवं क्रिया द्वारा प्रिय व्यक्ति का अनुकरण को लीला कहते हैं ।

दृष्टान्त—दुष्ट कालिय ! तिष्ठाद्य कृष्णोऽमितिचापरा ।
बाहुमास्फोट्य कृष्णस्य लीलासर्वस्वमाददे ।।"

मृगमदकृतचर्च्चा पीत कौषेय वासा रुचिर शिखिशिखण्डा बद्ध धम्मिल्लपाशा ।
अनृजुनिहितमंसे वंशमुत् क्वाणयन्ती कृतमधुरिपुवेषा मालिनीपातुराधा ।।"

भा० १०।३० में व्रज ललना वृन्द की तादृशी अवस्था प्राप्ति का वर्णन है, रासस्थल से श्रीकृष्ण अन्तर्हित होने पर वे अनुसन्धान करते करते

"इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषण कातराः ।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ।।"

उन्मत्तवत् प्रलाप के सहित श्रीकृष्णान्वेषण में अतिशय विह्वल होने के पश्चात् तदात्मिका होकर भगवान् की लीलाओं का अनुकरण करने लगी थीं । श्रीकृष्ण स्वभाव के सहित व्रजसुन्दरी वृन्द का स्वभाव एकीभूत हो गया था । अतः श्रीकृष्ण की स्वाभाविक समस्त चेष्टा उन सब के द्वारा प्रकटित हुई थीं । प्रस्तुत उदाहरण में भी उस प्रकार का वर्णन है । प्रकृति—स्वभाव, रास में गोपवधू वृन्द का एतादृश प्रेमावेश उत्पन्न हुआ था कि उन सब के मध्य में श्रीकृष्ण का स्वभाव एवं उन सबका निज स्वभाव एक हो गये थे । यह महाभाव का प्रभाव है । महाभावोदय व्यतीत ईदृश ऐक्य होना सम्भव नहीं है । सुतरां यह अवस्था केवल व्रजदेवीगण में ही प्रकटित हो सकती है । अपर किसी में नहीं । उज्ज्वल नील मणि—स्थायिभाव प्रकरणम् ७८ । अथ भाव,—"अनुरागः स्व संवेद्य दशां प्राप्य प्रकाशितः ।

"राधाया भवतश्च चित्तजतुनी स्वेदैर्विलाप्य क्रमाद्–,युञ्जन्नद्रिनिकुञ्जकुञ्जरपते निर्धूतभेदभ्रमम् ।
चित्राय स्वयमन्वरञ्जयदिह ब्रह्माण्डहर्म्योदरे, भूयोभिर्नवरागहिङ्गुलभरैः शृङ्गारकारुः कृती ॥"२२०॥ इति ।
भीष्मः श्रीभगवन्तम् ॥

८२ । तथा (भा० ६।२४।६५) —

(८२) "यस्याननं मकरकुण्डल-चारुकर्ण-
भ्राजत्कपोल-सुभगं सुविलासहासम् ।
नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभिः पिबन्त्यो
नार्य्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च ॥"२२१॥

टीका च—"तत्र प्रदर्शनार्थं मुखशोभामाह" इत्यादिका । तद्दर्शनेऽपि निमेषकर्त्तृत्वेन

---

यावदाश्रय वृत्तिश्चेद् भाव इत्यभिधीयते ॥"(१५४-१५५)

उदाहरण—"राधाया भवतश्च चित्तजतुनी स्वेदैर्विलाप्यक्रमाद्
युञ्जन्नद्रिनिकुञ्जकुञ्जरपते निर्धूतभेदभ्रमम् ।
चित्राय स्वयमन्वरञ्जयदिह ब्रह्माण्डहर्म्योदरे,
भूयोभिर्नवरागहिङ्गुलभरैः शृङ्गारकारुः कृती ॥"२२०॥

कुञ्ज में परस्पर माधुर्य्यास्वादन में निमग्न एवं उद्दीप्त सात्त्विक भाव से अलङ्कृत श्रीराधामाधव की महाभाव माधुरी को अनुमोदन करके वृन्दा बोली—हे कृष्ण ! गोवर्धन पर्वत के निकुञ्ज सम्बन्धीय कुञ्जराज अर्थात् गज राज के समान तुम निकुञ्ज के मध्य में स्वच्छन्द विहार करो । श्रृङ्गार रस रूप निपुण शिल्पी,—ब्रह्माण्ड रूप अट्टालिकाके मध्य भागको चित्रित करने के निमित्त अन्तर्वहि र्द्रवीभाव रूपा सात्त्विक विशेष वृत्ति के द्वारा श्रीराधा के एवं तुम्हारे चित्तरूप लाक्षा को द्रवीभूत करके अभिन्न रूपमें संयोजित करके नवराग हिङ्गुल द्वारा अनुरञ्जित किया है । भीष्म श्रीभगवान् को कहे थे ॥८१॥

८२ । उस प्रकार भा० ६।२४।६५ में उक्त है—

(८२) "यस्याननं मकरकुण्डल--चारुकर्ण--भ्राजत्कपोल-सुभगं सुविलासहासम् ।
नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभिः पिबन्त्यो नार्य्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च ॥"२२१॥

टीका—तत्र प्रदर्शनार्थं मुखशोभामाह । यस्माननं दृशिभिः नेत्रैः पिबन्त्यो नार्य्यो नराश्च न ततृपु-- न तृप्ताः । निमेषोन्मेषमात्रव्यवधानमप्यसहमानास्तत्कर्त्तु निमेः कुपिताश्च बभुवुः कथम्भूतम् आननम् ? मकरकुण्डलाभ्यां चारुकर्णौ भ्राजन्तौकपोलौ च तैः, सुनयनम् सविलासो हासो यस्मिन् । नित्यमुत्सवो यस्मिन् ।

जिनका बदन—मकर कुण्डल द्वारा दीप्तिमान कर्णयुगल के उज्ज्वल कपोल युगल से सुन्दर, हर्षौत्सुक्य चापल्यादि युक्त हास्य द्वारा जो शोभित है, जो नित्य उत्सव स्वरूप है । उस वदन सौन्दर्य्य को नयन द्वारा पान करके नरनारी आनन्दित हुये तो थे, किन्तु तृप्त नहीं हुये थे । व्रजबधु गण, निमेष कर्त्ता निमिके प्रति कुपित हुई थीं ।

विष्णु पुराण में निमि का प्रसङ्ग है । इक्षाकु पुत्र निमिनृपति सहस्रवत्सर व्यापी यज्ञारम्भ करके वशिष्ट को पुरोहित वरण किये थे । किन्तु वशिष्ट इन्द्र के यज्ञमें चले जाने पर गौतम के द्वारा यज्ञ सम्पादन किये थे । इस से वशिष्ट निमि को देह हीन होने को शाप प्रदान किये थे । इस से राजा ने भी वशिष्ट को

निमेर्नियमे कुपिता बभुवुः। इयं खलु महाभावस्य गतिः । सा च तत्स्वभावतः सिद्धेत्यभिधानाद्युक्तमत्रास्योदाहरणम् ॥ श्रीशुकः ॥

८३ । किञ्च, (भा० १०।२९।४०)—

---

शाप देकर देह त्याग किया । यज्ञ में समागत देववृन्द वर प्रदानेच्छु होने पर निमि नृपति ने कहा—शरीर आत्मा का परस्पर वियोग होता है, अतः में पुनर्वार शरीर ग्रहणेच्छु नहीं हूँ । किन्तु सब के नयनों में रहना चाहता हूँ । इस से जीवगण नयन के उन्मेष एवं निमेष करते हैं ।

यह महाभाव का एक अनुभाव है—निमेषासहिष्णुता । उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में महाभाव के अनुभाव समूह वर्णित हैं—

"निमेषासहतासन्न जनता हृद्विलोडनम् ।
कल्पक्षणत्वं खिन्नत्वं तत्सौख्येऽप्यार्त्ति शङ्कया ॥" (१६१)

भा० १०।८२।३९ में निमेषासहता का उदाहरण—

"गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं यत् प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति ।
दृग्भि र्हृ दिकृतमलं परिरभ्य सर्व्वा, स्तदभाव मापुरपि नित्ययुजां दुरापम् ॥१६३॥

श्रीकृष्ण की मुख माधुरी में, व्रजरमणी गण का चित्त इस प्रकार आकृष्ट हुआ था कि वे अनिमिष नयनों से माधुर्य्य पान करने की इच्छा कर रही थी, किन्तु नयनों में निमेषाच्छादन होने के कारण पुनः पुनः दर्शन में बाधा उपस्थित हो रही थी, वही कोप के हेतु है, महाभाव प्रेम की चरमावस्था है । निमेषासहता उस महाभाव की ही एक अवस्था है । श्रीकृष्ण दर्शन में इस प्रकार अवस्था उपस्थित होने के कारण ही श्रीकृष्ण निज स्वभाव के द्वारा ईदृश प्रेम जनक हैं, यह स्थिर हुआ ।

प्रश्न हो सकता है कि—श्रीकृष्ण के इस प्रकार स्वभाव का परिचय तो सर्वत्र उपलब्ध नहीं होता है—इस का कारण क्या है ? उत्तर--परम प्रेम जनकत्व श्रीकृष्ण का स्वभाव होने पर भी महा भावोदय में आश्रय को विशेष योग्यता की अपेक्षा है । जिस प्रकार चन्द्र का आह्लादकत्व स्वभाव होने पर भी केवल चन्द्र कान्त मणि ही चन्द्र किरण से द्रव होती है, तद्भिन्न अपर वस्तु नहीं, उस प्रकार श्रीकृष्ण का उस प्रकार विद्यमान होने पर भी व्रजदेवी गण व्यतीत अपर किसी की भी महाभाव का आश्रय होने की योग्यता नहीं है । श्रीकृष्ण का असमोर्द्ध्व माधुर्य्य का सम्यक् अनुभव होने से ही महाभाव का उदय होता है, उस रूप में माधुर्य्यानुभव करने के शक्ति केवल व्रजसुन्दरीगण में ही है, अपर किसी की नहीं है । एतज्जन्य अन्यत्र श्रीकृष्ण का तादृश स्वभाव का परिचय उपलब्ध नहीं होता है । जो जिस परिमाण माधुर्य्यानुभव करने में सक्षम हैं, उस में उस परिमाण प्रेम प्रकट होता है । जो माधुर्य्यानुभव में सम्पूर्ण वञ्चित है, श्रीकृष्ण दर्शन होने पर भी उस में प्रेमाविर्भाव नहीं होता है । इस ग्रन्थ के सप्तम अनुच्छेद में उक्त है--अस्वच्छचित्त में श्रीभगवान् प्रकट नहीं होते हैं । अन्य तात्पर्य्य परित्याग पूर्वक प्रीति तात्पर्य्य को ही स्वच्छचित्त कहते हैं । अपराध उस के चित्त में वज्र लेप का कार्य्य करता है । स्वच्छचित्त सम्पन्न व्यक्ति—श्रीकृष्ण दर्शन से निज निज योग्यतानुरूप प्रेमलाभ करते हैं । प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥८२॥

८३। असमोर्द्ध्व माधुर्य्य वारिधि श्रीकृष्ण दर्शन प्रदानकर केवल नरनारी को ही प्रेमाभिभूत करते हैं, ऐसा नहीं, किन्तु अन्यत्र भी उनका प्रेम जनकत्व स्वभाव का परिचय मिलता है । अन्य जीव--यहाँतक कि—वृक्षलता प्रभृति को भी प्रेम से पुलकित करते हैं। भा० १०।२९।४० में उस का वर्णन है—

(८३) "का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायत-" इत्यादौ "यद्गो-द्विज-द्रुम-मृगाः पुलकान्यविभ्रन्' इति, अन्यत्र च,—(भा० १०।२१।१९) "अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणाम्" इत्यादि । अतएवोक्तं (सं भा० १।३०३) श्रीविल्वमङ्गलेन—

"सन्त्ववतारा बहवः पुष्करनाभस्य सर्व्वतोभद्राः । कृष्णादन्यः को वा लतास्वपि प्रेमदो भवति ।।"२२२।।

श्रीव्रजदेव्यः श्रीभगवन्तम् ।।

८४ । तदेवं श्रीभगवदाविर्भाव-तारतम्येन तत्प्रीतेराविर्भाव-तारतम्यं दर्शितम् । अथ तस्या एव गुणान्तरोत्कर्ष-तारतम्येन तारतम्यान्तरं भेदाश्च दर्श्यन्ते । तत्र गुणा द्विविधाः—

---

"कास्त्र्यङ्ग ते कलपदायत मूर्च्छितेन
सम्मोहितार्य्य चरितान्न चलेत् त्रिलोक्याम् ।
त्रैलोक्य सौभगमिदञ्च निरीक्ष्य रूपं
यद् गो द्विज द्रुममृगाः पुलकान्य बिभ्रन् ।।"

टीका—ननु जुगुप्सितमौपपत्यमित्युक्तं तत्राहुः कास्त्रीति । अङ्ग हे कृष्ण ! कलानि पदानि यस्मिस्तदायतं दीर्घं मूर्च्छितं स्वरालापमेव स्तेन । कलपदामृतवेणुगीतेतिपाठे कलपदामृतमयं वेणुगीतं तेन सम्मोहिना का वा स्त्री आर्य्यचरितात् निज धर्म्मात् न चलेत् । यन्मोहिताः पुरुषा अपि चलिताः । किञ्च त्रैलोक्य सौभगमिति । यद् यतः । अबिभ्रन्—अबिभरुः । त्वद् द्योतक शब्द श्रवण मात्रेणापि तावन्निज धर्मत्यागो युक्तः किंः पुनस्तदनुभवेनेति भावः ।।

रासावसर में व्रजाङ्गना गण बोली थीं—हे कृष्ण ! तुम्हारी मूर्च्छना युक्त अव्यक्त मधुर वेणु ध्वनि के द्वारा मोहित होकर त्रिलोक के मध्य में कौन रमणी निज धर्म्म से विचलित नहीं होती है ? नारी की तो कथा ही क्या है । त्रैलोक्य सौन्दर्य्य का एकत्र समावेश जिस में है तुम्हारे उस प्रकार रूप को देखकर गो, हरिण, पक्षी एवं वृक्ष सकल पुलकित होते हैं । भा० १०।२१।१९ में इस प्रकार श्रीकृष्ण स्वभाव का वर्णन है ।

"गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदारवेणस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सुसख्यः ।
अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां निर्य्योग पाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् ।।"

टीका—हे सख्यः ! इदन्तु अति चित्रम् । गोपैः सह वने वने गाः सञ्चारयतो स्तयोरामकृष्णयोर्मधुर पदैर्महा वेणुनादैः । शरीरिषु ये गतिमन्तस्तेषामस्पन्दनं स्थावर धर्म्मः तरूणां पुलको जङ्गमधर्म्म इति निर्युज्यन्ते गाव आभिरिति निर्य्योगाः पादबन्धन रज्जवः । अधृष्य गवां कर्षणार्थाः पाशाश्च तैः कृतं लक्षणं चिह्नं ययोः । शिरसि निर्य्योग वेष्टनेन स्कन्धस्थापने च गोपपरिवृढ़ श्रिया विराजमानयोरित्यर्थः ।।

श्रीकृष्ण की वेणु ध्वनि को सुनकर जङ्गमवृन्द में अस्पन्दन—स्तम्भभाव एवं स्थावर वृक्ष समूह में पुलकोद्गम हुआ था । अतएव श्रीविल्वमङ्गल ने भी कहा है—

"सन्त्ववतारा बहवः पुष्करनाभस्य सर्व्वतोभद्राः ।
कृष्णादन्यः को वा लतास्वपि प्रेमदो भवति ।।"२२२।।

पद्मनाभ श्रीहरि के सर्वतो भावेन मङ्गलमय अनेक अवतार हैं—किन्तु श्रीकृष्ण भिन्न अपर कौन अवतार लता को भी प्रेमदान करने में समर्थ हैं ? श्रीव्रजदेवीवृन्द श्रीकृष्ण को बोली थीं ।।८३।।

भक्तचित्तसंस्क्रियाविशेषस्य हेतव एके, तदभिमानविशेषस्य हेतवश्चान्ये। तत्र पूर्व्वेषां गुणानां स्वरूपाणि, तैस्तस्यास्तारतम्यं भेदाश्च यथा,--प्रीतिः खलु भक्तचित्तमुल्लासयति, ममतया योजयति, विस्रम्भयति, प्रियत्वातिशयेनाभिमानयति, द्रावयति, स्वविषयं प्रत्यभिलाषातिशयेन

८४। प्रीति का तारतम्य एवं भेद।

पूर्व्व अनुच्छेद में श्रीभगवदाविर्भाव के तारतम्यानुसार भगवत् प्रीति का आविर्भाव तारतम्य भी प्रदर्शित हुआ। अनन्तर उस प्रीति का ही अन्यान्य गुण के तारतम्यानुसार अन्य प्रकार का तारतम्य एवं भेद का वर्णन करते हैं। अर्थात् इस के पहले प्रीति को परमानन्द रूप में कहा गया है। परमानन्दत्व को छोड़कर जो अन्यान्य गुण हैं—उस का वर्णन करते हैं। वे सब गुण द्विविध हैं।

भक्त चित्त संस्कार के हेतु होते हैं—एक अपर प्रकार के गुण समूह भक्तवृन्दके अभिमान विशेष के हेतु होते हैं।

उक्त द्विविध गुणों के मध्य में प्रथम प्रकार के गुण समूह का स्वरूप एवं तत्समूह के द्वारा प्रीति का तारतम्य तथा भेद इस प्रकार है—प्रीति--भक्त चित्त को उल्लसित करती है, (१) ममता द्वारा युक्त करती है,—(२) विश्वास युक्त करती है (३) प्रियतातिशय के द्वारा अभिमान विशिष्ट करती है (४) हृदय को विगलित करती है (५) निज विषय अर्थात् आलम्बन के प्रति अभिलाषातिशय द्वारा आसक्त करती है, (६) क्षण क्षण में निज विषय को नूतन से नूतन तर रूप में अनुभव कराती है-(७) एवं असमोद्र्ध्व चमत् कारिता द्वारा उन्मादित करती है।

जो प्रीति केवल उल्लासाधिक्य को व्यक्त करती है-उसको 'रति' कहते हैं। रति—उत्पन्न होने से श्रीभगवान् में ही तात्पर्य्य अर्थात् प्रयोजन बुद्धि होती है, तद्भिन्न अन्यवस्तु समूह में तुच्छ बुद्धि होती है। भक्ति रसामृतसिन्धु में उक्त है—मसृणतेवान्तर्लक्षते रतिलक्षणम् "

अन्तः करण की सम्यक् स्निग्धता ही रति का लक्षण है।

रति रनिशनिसर्गोष्ण प्रबलतरानन्दपूर रूपैव।
उष्मानमपि वमन्ती सुधांशुकोटेरपि साद्वी॥

रति निरन्तर उष्णस्वभावा होने पर भी एवं प्रबलतर आनन्द रूपिणी है, उष्णता प्रकाश करने पर भी कोटि चन्द्र से स्वादमयी-सुख सेव्या है

इष्ट विषय में उत्तरोत्तर अभिलाष वृद्धि करने के कारण अशान्तता हेतु रति में उष्णता है। उस में भी उल्लासात्मकता निबन्धन ही आनन्द रूपता है। सञ्चारिभाव समूह उष्म हैं। निर्वेद, विषाद, दैन्य प्रभृति तेतीस भाव को सञ्चारिभाव कहते हैं। रति का आविर्भाव होने पर यह सब भाव दुःख रूप में उपस्थित होने पर भी आनन्द रूपता निबन्धन परमानन्द प्रदान वह करती है। रति की सर्वावस्था में परमानन्द विद्यमान होने के कारण, उसमें उल्लासाधिक्य कहा गया है। रति का आविर्भाव में अन्तः करण में जो स्निग्धता होती है, वह श्रीभगवान् के अखिल अङ्ग को स्नेह युक्त करती है, प्रति अङ्ग मधुर से सुमधुर अनुभूत होता है। वह प्राण कोटि प्रतिमा वा घनीभूत प्रियता है, यह निश्चय नहीं होता है। उस को व्यक्त करने की भाषा नहीं है। इस अवस्था में पुनः पुनः उनकी माधुर्य्य स्फूर्त्ति होती है, उस में आनन्द कितना है !! आनन्द से हृदय परिपूर्ण होकर रहता है। तज्जन्य निर्वेदादि में भी दुःख लेश नहीं रहता है। यही रति की उल्लासमयता है।

योजयति, प्रतिक्षणमेव स्वविषयं नवनवत्वेनानुभावयति, असमोर्द्ध्व-चमत्कारेणोन्मादयति च। तत्रोल्लासमात्राधिक्यव्यञ्जिका प्रीतिः रतिः, यस्यां जातायां तदेक-तात्पर्य्यमन्यत्र तुच्छत्वबुद्धिश्च जायते। ममतातिशयाविर्भावेन समृद्धा प्रीतिः प्रेमा, यस्मिन् जाते तत्-प्रीतिभङ्गहेतवो यदीयमुद्यमं स्वरूपं वा न ग्लपयितुमीशते। ममतातिशयेन प्रीतिसमृद्धि-श्चान्यत्रापि दृश्यते, यथोक्तं मार्कण्डेये—

"मार्जारभक्षिते दुःखं यादृशं गृहकुक्कुटे। न तादृङ्ममताशून्ये कलविङ्केऽथ मूषिके॥"२२३॥ इति।

अतएव प्रेमलक्षणायां भक्तौ प्रचुरहेतुत्व-ज्ञापनार्थं ममताया एव भक्तित्वनिर्द्देशः पञ्चरात्रे—

"अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसयुता। भक्तिरित्युच्यते भीष्म-प्रह्लादोद्धव-नारदैः॥"२२४॥ इति।

---

ममतातिशय का आविर्भाव हेतु समृद्धा प्रीति ही प्रेम है। प्रेम आविर्भूत होने से प्रीति भङ्ग के हेतु निचय उसका उद्यम वा स्वरूप की क्षीणता उपस्थित करने में सक्षम नहीं होते हैं। भक्ति रसामृतसिन्धु में लिखित प्रेम भक्ति का लक्षण इस प्रकार है—

'सम्यङ् मसृणित स्वान्तो ममतातिशयाङ्कितः।
भावः सएव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमानिगद्यते॥"

जिस से चित्त सम्यक् मसृण होता है, जो अतिशय ममतासम्पन्न है, इस प्रकार गाढ़ता प्राप्त जो भाव है,—उस को पण्डित गण प्रेम कहते हैं। रति की ही भाव कहते हैं। रति गाढ़ होने से उस को प्रेम कहते हैं। हृदय में रति का आविर्भाव होने से श्रीभगवान् को परमानन्द निधान बोध होता है। तज्जन्य उन में ममता उत्पन्न होती है। भगवान् मेरा हैं, इस प्रकार दृढ़ बद्धमूल धारणा होती है। रति का आविर्भाव होने पर भगवत् प्राप्त्याभिलाष, उनका सौहृद्याभिलाष एवं आनुकूल्याभिलाष द्वारा चित्त आर्द्र होता है। प्रेम का आविर्भाव होने से चित्त सम्पूर्ण रूप से आर्द्र होता है। तज्जन्य श्रीभगवान् में अतिशय ममता का उद्रेक होता है। ममता का आधिक्य ही प्रेम भक्ति का वैशिष्ट्य है, ममता का प्राचुर्य्य हेतु प्रीति भङ्ग के विविध हेतु उपस्थित होने पर भी प्रीति को ध्वंस करने की बात तो दूर है, उस को क्षीण करने में भी वे सक्षम नहीं होते हैं। श्रीउज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में वर्णित प्रेम लक्षण इस प्रकार है—

'सर्वथा ध्वंस रहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद्भाव बन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्त्तितः॥"

ध्वंस का कारण विद्यमान होने पर भी जो सर्व प्रकार से ध्वंस रहित है, युवक युवती का इस प्रकार भाव बन्धन को प्रेम कहते हैं।

प्रेम का एवम्बिध ध्वंस राहित्य निबन्धन वह भक्त चित्त को भगवान् के सहित युक्त करता है। इस प्रकार योग हेतु भक्त एवं भगवान्-एक अपर को छोड़ने में सक्षम नहीं है।

ममतातिशय के द्वारा प्रीति की समृद्धि अन्यत्र भी दृष्ट होती है। मार्कण्डेय पुराण में उक्त है—

"मार्जारभक्षिते दुःखं यादृशं गृहकुक्कुटे।
न तादृङ्ममताशून्ये कलविङ्केऽथ मूषिके॥"२२३॥

गृह पालित कुक्कुट, मार्जार कर्त्तृक भक्षित होने पर जितना दुःख होता है—ममता शून्य मूषिक वा चटक पक्षी मार्जार द्वारा भक्षित होने पर उस प्रकार दुःख नहीं होता है। अतएव प्रेम लक्षणा भक्ति में ममता का आधिक्य हेतु ममता को ही भक्ति रूप में निर्देश किया है। नारद पञ्चरात्र में उक्त है—

अन्यममतावर्जिता ममतेत्यन्वयः। तदुक्तम्—(भा० ३।२५।३२) "सत्त्व एवैकमनसः" इत्येवकारेण। अथ विश्रम्भातिशयात्मकः प्रेमा प्रणयः, यस्मिन् जाते सम्भ्रमादियोग्यतायामपि तदभावः। प्रियत्वातिशयाभिमानेन कौटिल्याभासपूर्व्वक-भाववैचित्रीं दधत् प्रणयो मानः, यस्मिन् जाते श्रीभगवानपि तत्प्रणयकोपात् प्रेममयं भयं भजते। चेतोद्रवातिशयात्मकः प्रेमैव स्नेहः, यस्मिन् जाते तत्सम्बन्धाभासेनापि महावाष्पादिविकारः प्रियदर्शनाद्यतृप्तिस्तस्य परमसामर्थ्यादौ सत्यपि केषाञ्चिदनिष्टाशङ्का च जायते। स्नेह एवाभिलाषातिशयात्मको

---

"अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसंयुता
भक्तिरित्युच्यते भीष्म-प्रह्लादोद्धव-नारदैः॥"२२४॥

अन्य ममता वर्जिता, श्रीभगवान् में जो प्रेम संप्लुता ममता, उसको ही भीष्म, उद्धव, नारद, भक्ति अर्थात्–प्रेम भक्ति कहते हैं।

"विष्णौ भगवति प्रेमसंप्लुता प्रेमरसव्याप्तया ममता—ममाहमिति भावः, सा भक्तिः प्रेमलक्षणेति भीष्मादिभिस्तत्त्वविद्भि रुच्यते। कथम्भूता ममता ? न विद्यते अन्यस्मिन् देह गेहादौ ममता यस्यां सा प्रेम लक्षणैव सुसिद्धा॥

श्रीभगवान् में प्रेममयी जो ममता—यह मेरा है, इस प्रकार जो भाव–वही भक्ति प्रेम लक्षणा है। यह किस प्रकार है ? जिस ममता का आविर्भाव होने पर देह गेह अन्य किसी वस्तु में ममता नहीं रहती है, वह ममता इस प्रकार है। ईदृशी ममता ही प्रेम लक्षणा है–यह सुसिद्ध हुआ है। यह श्रीहरिभक्तिविलास की टीका में श्रीसनातन गोस्वामी पाद का कथन है। अतएव भा० ३।२५।३२ में उक्त—

"देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविक कर्म्मणाम्
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या।
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी॥"

गुणलिङ्ग, आनुश्रविक कर्म्म देवगण के मध्य से सत्त्व में एकाग्र चित्त मानव की जो वृत्ति है,--वह अनिमित्ता स्वाभाविकी भागवती भक्ति है, वह सिद्धि अर्थात् मोक्ष से भी श्रेष्ठा है। अर्थात् सत्त्व मूर्त्ति श्रीभगवान् में ही जो एकमात्र मनकी वृत्ति है, वह भक्ति है। इस वाक्य में 'एव' कार के द्वारा कहा गया है कि--श्रीभगवान् में अनन्य ममता ही प्रेम भक्ति है।

अनन्तर प्रणय का वर्णन करते हैं—विस्रम्भातिशयात्मक प्रेम का नाम ही प्रणय है। प्रणय आविर्भूत होने पर सम्भ्रमादि योग्यता विद्यमान होने पर भी उस में सम्भ्रमादि का अभाव होता है। बिस्रम्भ शब्द का अर्थ है—प्रियजन के सहित निज अभेद बुद्धि। विस्रम्भ-विश्वास, सम्भ्रम राहित्य, निज मन, प्राण, बुद्धि, देह, परिच्छदादि के सहित कान्त के उन सब के सहित अभेद बुद्धि।

प्रणय में प्रिय के सहित जो अभेद बुद्धि होती है—उस में स्वयं के प्रति जिस प्रकार गौरव बुद्धि का अभाव होता है, उस प्रकार प्रिय के प्रति भी गौरव बुद्धि का अभाव होता है। अर्थात् उभय में कुछ भी भेद भाव नहीं है, इस अंश में अभेद है। प्रणय का लक्षण भक्तिरसामृतसिन्धु में इस प्रकार है।

"प्राप्तायां सम्भ्रमादीनां योग्यतायामपिस्फुटम्।
तद्गन्धेनाप्यसंपृष्टा रतिः प्रणय उच्यते॥"

सुस्पष्ट रूपसे सम्भ्रमादि की योग्यता विद्यमान होने पर भी जिस रति में उसका लेश मात्र भी नहीं

रागः, यस्मिन् जाते क्षणिकस्यापि विरहस्यात्यन्तैवासहिष्णुता, तत्संयोगे परं दुःखमपि सुखत्वेन भाति, तद्वियोगे तद्विपरीतम् । स एव रागोऽनुक्षणं स्वविषयं नवनवत्वेनानुभावयन् स्वयं च नवनवीभवन्ननुरागः, यस्मिन् जाते परस्पर-वशीभावातिशयः, प्रेमवैचित्त्यम्, तत्-सम्बन्धिन्यप्राणिन्यपि जन्मलालसा, विप्रलम्भे विस्फूर्त्तिश्च जायते । अनुराग एवासमोर्द्ध्व-चमत्कारेणोन्मादको महाभावः, यस्मिन् जाते योगे निमेषासहता, कल्पक्षणत्वमित्यादिकम्,

---

रहता है, उस रति को प्रणय कहते हैं ।

प्रियत्वातिशय के अभिमान हेतु प्रणय यदि कौटिल्याभास पूर्वक भाव वैचित्र्यी को प्राप्त करता है तो उसको मान कहते हैं । अर्थात् प्रणय ही अवस्था विशेष में मान रूप में परिणत होता है-प्रियत्वातिशय का अभिमान--मैं उन को कितनाप्यार करतो हूँ उसकी अवधि नहीं है । प्रिय--मेरा प्रेमाधीन हैं। इस प्रकार मनोभाव है । तन्निमित्त कौटिल्याभास--अर्थात् बाहर कुटिलता को प्रकाश कर प्रणय जिस समय विचित्र अवस्था को प्राप्त करता है । उस समय उसको मान कहते हैं । उज्ज्वलनीलमणि में मान का लक्षण इस प्रकार है— "दम्पत्योर्भाव एकत्र सतोरप्यनुरक्तयोः

स्वाभीष्टाश्लेष वीक्षादि निरोधी मान उच्यते ।।"

"परस्पर अनुरक्त एवं एकत्र अवस्थित दम्पति के अभीप्सित आलिङ्गन दर्शनादि को रोधकारी रोषात्मक भावविशेष को मान कहते हैं ।

अनुराग का अभाव, एकत्र अवस्थान का अभाव, अथवा दम्पति के अनभिप्रेत आलिङ्गनादि होने पर उस का अभाव होना आश्चर्य कर नहीं है, किन्तु मान में पारस्परिक अनुराग, एकत्र अवस्थिति, एवं आलिङ्गन का अभिलाष होने पर भी वह संघटित नहीं होता है । यही भाव की विचित्रता है । इस में बाहर उपेक्षा तो रहती है, किन्तु प्रणय की विद्यमानता हेतु भीतर में अनुरक्ति की न्यूनता नहीं होती है ।

मान उपस्थित होने पर भक्त का प्रणय कोप निबन्धन निरपेक्ष परतत्त्व श्रीभगवान् भी प्रेममय भय से भीत होते हैं । अतिशय चित्तद्रवात्मक प्रेम ही स्नेह है । स्नेह का उदय होने से श्रीभगवान्के सम्बन्धाभास से ही महाबाष्पादि विकार प्रिय दर्शनादि में अतृप्ति एवं प्रियतम में अत्यन्त सामर्थ्य विद्यमान होने पर भी किसी से उनकी अनिष्टाशङ्का होती है, अत्यन्त अभिलाषात्मक स्नेह को राग कहते हैं । राग उत्पन्न होने से प्रियतम का क्षणिक विरह में अत्यन्त असहिष्णुता उपस्थित होती है, प्रियतम का संयोग से परम दुःख भी सुख रूप में प्रतीत होता है । एवं उनका विच्छेद होने पर परम सुख भी दुःख रूप में प्रतिभात होता है ।

वह राग ही निज विषयालम्बन को अनुक्षण नवीन नवीन रूप में अनुभव कराकर स्वयं नूतन से नूतनतर होने से अनुराग नाम से ख्यात होता है । उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में अनुराग का लक्षण लिखित है— "सदानुभूतमपि यः कुर्य्यान्नवं नवं प्रियम् ।

रागो भवन् नवनवः सोऽनुराग इतीर्य्यते ।।"

जो राग सर्वदा अनुभूत प्रिय को भी नवीन नवीन बोध कराता है, एवं स्वयं भी नवीन नवीन होता है, वह अनुराग है जिस में पारस्परिक वशीभूतता का अनुभव होता है । प्रेम वैचित्र्य, श्रीकृष्ण सम्बन्धी अप्राणी में भी जन्म लालसा, एवं विच्छेद में अतिशय स्फूर्त्ति उपस्थित होती है । उज्ज्वलस्थ प्रेम वैचित्र्य का उदाहरण— "प्रियस्य सन्निकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्ष स्वभावतः ।

या विश्लेषधियार्तिस्तत् प्रेमवैचित्र्य मुच्यते ।।"

वियोगे क्षणकल्पत्वमित्यादिकम्। उभयत्र महोद्दीप्ताशेषसात्त्विकविकारादिकं जायते, इति संस्कारहेतवो गुणा दर्शिताः।

अथ भक्ताभिमानविशेषहेतवो गुणास्तत्कृताः प्रीतेर्भक्तानाञ्च भेदास्तारतम्यञ्च यथा,- सैव खलु प्रीतिर्भगवत्स्वभावविशेषाविर्भावयोगमुपलभ्य कञ्चिदनुग्राह्यत्वेनाभिमानयति, कञ्चिदनुकम्पितत्वेन, कञ्चिन्मित्रत्वेन, कञ्चित् प्रियात्वेन च। भगवत्स्वभावविशेषाविर्भाव-

---

प्रिय व्यक्ति सन्निधान में अवस्थित होने पर भी प्रेमोत्कर्षता निबन्धन विच्छेद के भय से जो आर्त्ति उपस्थित होती है, उसका नाम प्रेम वैचित्त्य है।

असमोर्द्ध्व चमत्कारिता द्वारा उन्मादक अनुराग ही महाभाव नाम से अभिहित होता है।

उज्ज्वल में महाभाव का लक्षण—

"अनुरागः स्व संवेद्यदशां प्राप्य प्रकाशितः।
यावदाश्रय वृत्तिश्चेद्भाव इत्यभिधीयते॥"

यदि अनुराग, यावदाश्रयवृत्ति होकर स्वयं के द्वारा संवेदन योग्य दशा को प्राप्तकर प्रकाशित होता है तो उस को भाव कहते हैं। स्थल विशेष में यह भाव ही महाभाव नाम से ख्यात होता है।

महाभाव का उदय होने पर श्रीकृष्ण संयोग में निमेषासहिष्णुता कल्पपरिमित समय को क्षण काल बोध करना, क्षण काल वियोग होने पर क्षण काल को भी कल्प परिमित बोध करना प्रभृति अवस्था का उदय होता है। योग एवं वियोग उभय अवस्थामें ही महा उद्दीप्त अशेष सात्त्विक विहारादि उत्पन्न होते हैं। सात्त्विक का लक्षण यह है— "ते स्तम्भ स्वेद रोमाञ्चाः स्वरभेदोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः॥" (भक्तिरसामृत सिन्धु)

स्तम्भ, धर्म्म, रोमाञ्च, स्वरभेद, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु प्रलय---यह अष्टविध सात्त्विक भाव हैं।

"एकदा व्यक्ति मापन्नाः पञ्चषाः सर्वएव वा।
आरूढ़ाः परमोत्कर्षमुद्दीप्ता इति कीर्त्तिताः॥

एक समय में ही यदि पाँच छै अथवा समुदय भाव उदित होकर परमोत्कर्ष को प्राप्त होते हैं तो, उस भाव समूह को उद्दीप्त सात्त्विक कहते हैं।

"उद्दीप्त एव सूद्दीप्ता महाभावे भवन्त्यमी
सर्व एव परां कोटिं सात्त्विका यत्र बिभ्रन्ति।

समस्त सात्त्विक भाव, महाभाव में परमोकर्षता का प्राप्त करते हैं। तज्जन्य उद्दीप्त भाव समूह महाभाव में सुद्दीप्त होते हैं। सूद्दीप्त सात्त्विक को ही यहाँ महोद्दीप्त कहा गया है। इस प्रकार प्रीति के संस्कार हेतुभूत गुण समूह का प्रदर्शन यहाँ पर हुआ।

अनन्तर भक्त के अभिमान विशेष के हेतु भूत गुण निचय का वर्णन करते हैं—उक्त गुणों के द्वारा प्रीति एवं भक्त वृन्द का भेद तथा तारतम्य का वर्णन भी करते हैं।

प्रीति—श्रीभगवान् के स्वभाव विशेष आविर्भाव की सहायताको प्राप्त कर किसी स्थल में अनुग्राह्य रूप में किसी स्थान में अनुकम्पित रूप में, कहीं पर मित्ररूप में और स्थल विशेष में प्रिया रूप में अभिमान उपस्थित कराती है। श्रीभगवान् के स्वभाव विशेष आविर्भाव के हेतु यह है, जिस भगवत् प्रिय विशेष के सङ्गादि के द्वारा प्रीत्यनुभव हुआ है, उन के ही गुण विशेष को जानना होगा।

हेतुश्च यस्य भगवत्प्रियविशेषस्य सङ्गादिना लब्धा प्रीतिस्तस्य प्रीतेरेव गुणविशेषो बोद्धव्यः। नित्यपरिकराणां नित्यमेव तद्द्वयम्। तत्रानुग्राह्यताभिमानमयी प्रीतिर्भक्ति-शब्देन प्रसिद्धा। आराध्यत्वेन ज्ञानं भक्तिरिति हि तदनुगतम्, यथैवोक्तं मायावैभवे—

---

नित्यपरिकर वृन्दमें तदुभय— भक्त का अभिमान विशेष, एवं उनके सम्बन्ध में भगवान् का स्वभाव विशेष नित्य है।

यहाँपर भक्त का अभिमान् विशेष की जो कथा कही गई है, उस का मूल है—सम्बन्ध ज्ञान। सम्बन्धानुरूप ही अभिमान उपस्थित होता है। दाम्पत्य सम्बन्ध में पति पत्नी अभिमान, जन्यजनक सम्बन्ध में पिता पुत्र अभिमान होता है। उभय के सम्पर्क में अभिमान उपस्थित होने में उभय को यथा योग्य सम्बन्ध बोध होना आवश्यक है, एवं युगपत् योग्य अभिमान एवं योग्य चेष्टा भी होनी चाहिये। अन्यथा प्रीति पुष्ट नहीं होती है। दाम्पत्य सम्बन्ध में पति पत्नी सम्बन्ध बोध होना जिस प्रकार आवश्यक है, तदनुरूप उभय में अभिमान एवं चेष्टा होनी भी चाहिये। इस से ही प्रतीत होता है कि उभय में प्रीति है। भक्त भगवान् के सम्बन्ध में भी वही कथा है। उनके स्वस्वामित्व बोध से प्रभु भृत्य अभिमान उपस्थित हो सकता है। इस प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये।

श्रीभगवान् के स्वभाव में यदि प्रभुता गुण विद्यमान होती तो अपर में उनके सम्बन्ध में भृत्य अभिमान हो सकता है। जो प्रभुत्व करने में अक्षम है, किसी को भी भृत्य बुद्धि उस के सम्बन्ध में नहीं हो सकती है। अतः कहा गया है कि—भगवान् के स्वभावविशेष का आविर्भाव की सहायता को प्राप्त कर ही भक्त वृन्द में विभिन्न प्रकार अभिमान उपस्थित होता है। जिस के सम्बन्ध में श्रीभगवान् का प्रभुत्व है, उसका दास अभिमान, जिसके सम्बन्ध में मित्रता है—उस का मित्र अभिमान, जिस के सम्बन्ध में अनुकम्प्यत्व है—उसका वत्सल अभिमान, जिस के सम्बन्ध में कान्तभाव है—उस के सम्बन्ध में प्रिया अभिमान उपस्थित होता है। इस प्रकार प्रभुत्व प्रभृति को श्रीभगवान् का स्वभाव कहागया है।

श्रीभगवान् के स्वभाव विशेष का अविर्भाव हेतु है "भगवत् प्रिय विशेषस्य सङ्गादिना लब्धा प्रीतिः" प्रीतिमान् भगवद् भक्त के सङ्ग से ही प्रीति लाभ होती है। जिस प्रकार कृष्णदास नामक भक्त के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण का मित्रभाव है। हरिदास नामक व्यक्ति के सम्बन्ध में किसी प्रकार भाव नहीं है, दैवात् कृष्ण दास नामक भक्त के सङ्ग-से हरिदास नामक व्यक्ति को भगवत् प्रीति लाभ हुआ। अतएव कृष्ण दास नामक भक्त की भगवत् प्रीति से ही हरिदास नामक व्यक्ति के प्रति श्रीकृष्ण का मित्रभाव होगा। उससे हरिदास नामक व्यक्ति में श्रीकृष्ण सखा अभिमान उपस्थित होगा। इस से प्रतीत होता है कि—जिस जातीय भक्त सङ्ग से प्रीति का आविर्भाव होता है, उस जातीय अभिमान भी उपस्थित होता है। इस में सर्व प्रथम होती है श्रीभगवान् के स्वभाव विशेष की अभिव्यक्ति, उस के पश्चात् होता है भक्त का अभिमान। उसमें उभय में योग्य चेष्टा भी विद्यमान होती है। भगवान् प्रभुत्व का परिचय प्रदान करने से ही भक्त, दास का कार्य्य करते हैं।

यहाँपर साधक भक्त वृन्द का विवरण कहा गया है। उनके सम्बन्ध में ही यह रीति है। किन्तु नित्य परिकर वृन्द की कृष्ण प्रीति किसी के सङ्ग लब्धा नहीं है—स्वभाव सिद्धा है, अतएव नित्य परिकर वृन्द का अभिमान एवं तदनुरूप उनकी चेष्टा भी नित्य है। जिस प्रकार व्रजराज के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण का पुत्र भाव है, अतः श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में व्रजराज का जनकाभिमान भी नित्य है। इस प्रकार समस्त परिकरों के सम्बन्ध में जानना होगा। उक्त प्रकार के अभिमान समूह के मध्य में अनुग्राह्यता अभिमानमयी

स्नेहानुबन्धो यस्तस्मिन् बहुमानपुरःसरः । भक्तिरित्युच्यते सैव कारणं परमेशितुः ॥"२२५॥ इति,

स्नेहोऽत्र प्रीतिमात्रम्, एवं पाद्मे—"महित्वबुद्धिर्भक्तिस्तु स्नेहपूर्व्वाभिधीयते" इति । तथापि भक्तेर्भगवति प्रीतिसामान्यपर्य्यायता मुनिभिर्भक्त्या प्रयुज्यत इति पूर्व्वमुक्तम् । क्वचिद्विशेष-वाचका अपि सामान्ये प्रयुज्यन्ते, जीवसामान्ये नृ-प्रभृतिशब्दवत् । क्वचिद्भक्त्यतिशयलक्षण-प्रेमण्यपि भक्ति-शब्दप्रयोगो ब्राह्मण-गोष्ठीषु ब्राह्मण्यातिशयवति 'अयं ब्राह्मणः" इतिवत्, यथोक्तं पञ्चरात्रे—

"माहात्म्यज्ञानपूर्व्वस्तु सुदृढ़ः सर्व्वतोऽधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया साष्टर्चादि नान्यथा ॥"२२६॥

मनोगति-ममतादीनान्तु तत्सम्बन्धेनैव क्वचिद्भक्ति-शब्दवाच्यतोक्ता । तदनुग्राह्यता भिमानमयी प्रीतिरेव भक्ति-शब्दस्य मुख्योऽर्थः । ते चानुग्राह्याभिमानिनो द्विविधाः, पोषणमनु-कम्पा चेत्यनुग्रहस्य द्वैविध्यात् । पोषणमत्र भगवता स्वरूपद्वारा स्वगुणद्वारा चानन्दनम्,

---

प्रीति—भक्ति शब्द से प्रसिद्धा है । आराध्य ज्ञान में जो भक्ति है वह भी प्रीति का अनुगत है । मायावैभव में उक्त है--

"स्नेहानुबन्धो यस्तस्मिन् बहुमानपुरः सरः ।
भक्तिरित्युच्यते सैव कारणं परमेशितुः ॥"२२५॥

श्रीभगवान् में बहुमान पूर्वक जो स्नेहानुबन्ध है, वही भक्ति शब्द से अभिहित है । वह भक्ति परमेश्वर के निमित्त प्रकटिता है । यहाँपर स्नेह शब्द से केवल प्रीति को ही जाननी होगी । पद्म पुराण में भी लिखित है—"महित्व बुद्धि र्भक्तिस्तु स्नेह पूर्वाभिधीयते ॥" पूज्य बुद्धि भक्ति है । वह स्नेह पूर्व कथित है । अर्थात् स्नेह पूर्वा जो पूज्य बुद्धि है—वही भक्ति है । तथापि-भक्ति शब्द की प्रीति सामान्य पर्य्यायता मुनिगण कर्त्तृक भक्ति द्वारा प्रयुक्त होता है । इस का कथन पूर्व ग्रन्थ में हुआ है । किसी किसी स्थान में विशेष वाचक शब्द समूह का प्रयोग भी साधारण अर्थ में व्यवहृत होता है । जिस प्रकार जीवमात्र को बोध कराने के निमित्त 'नर' शब्द का प्रयोग होता है । प्रेम शब्द से अतिशय भक्ति का बोध होने पर भी स्थल विशेष में प्रेम में ही भक्ति शब्द का प्रयोग देखने में आता है । वह भी ब्राह्मण गोष्ठी के मध्य में अतिशय ब्राह्मणोचित गुण सम्पन्न व्यक्ति में ब्राह्मण शब्द प्रयोग के समान जानना होगा । पञ्चरात्र में उक्त है--

"माहात्म्यज्ञानपूर्व्वस्तु सुदृढ़ः सर्व्वतोऽधिकः ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया साष्टर्चादि नान्यथा ॥"२२६॥

जिस के पूर्व में माहात्म्य ज्ञान है, इस प्रकार सुदृढ़ सर्वाधिक स्नेह—भक्ति नामसे अभिहित होता है । उस भक्ति के द्वारा साष्टर्चादि की अन्यथा नहीं होती है, अर्थात् भक्ति लाभ होने से साष्टर्चादि मुक्ति लाभ सुनिश्चित है । मनो गति, ममता प्रभृति भी प्रीति के सम्बन्ध से किसी किसी स्थलमें भक्ति शब्द से अभिहित होते हैं । श्रीभगवान् की अनुग्राह्यताभिमानमयी प्रीति ही भक्ति शब्द का मुख्य अर्थ है । अर्थात् जिस प्रीति में श्रीभगवान् अनुग्राहक हैं, भक्ति का अभिमान है---मैं उनका अनुग्रह पात्र हूँ--उस प्रीति का नाम भक्ति है । साधारणतः भक्ति शब्द से आराध्य ज्ञान का बोध ही होता है । यहाँ उक्त रूप प्रीति को भक्ति क्यों कही गई है ? उत्तर में कहते हैं—उक्त ज्ञान भी प्रीति का ही अनुगत है । केवल आराध्य ज्ञान भक्ति नहीं है, किन्तु वह प्रीति का अनुगत होने से ही भक्ति रूप में परिणत होता है । इस को स्थापन करने के निमित्त

अनुकम्पा च पूर्णेऽपि स्वस्मिन् निजसेवाद्यभिलाषं सम्पाद्य सेवकादिषु सेवादिसौभाग्य-सम्पादिका भगवतश्चित्तार्द्रतामयी तदुपकारेच्छा। तेषु द्विविधेषु केचिद्भगवति निर्म्ममाः, केचित् सममाश्च। तत्र भगवति परमात्म-परब्रह्मभावेनानन्दनीयाभिमानिनो निर्म्ममा ज्ञानि-भक्ताः श्रीसनकादयः, तेषां तदभिमानित्वेऽपि तत्र निर्म्ममत्वम्,

"सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥"२२७॥

इतिवत्। तत्र चन्द्रदर्शनवन्ममतां विनापि तेषां भगवद्दर्शनं प्रीतिदं स्यात्। आनुकूल्यं चात्र तत्प्रवणत्व-तत्स्तुत्यादिना ज्ञेयम्। एषां प्रीतिश्च ज्ञानभक्तयाख्या,ज्ञानत्वं ब्रह्मघनत्वेनैवानु

---

शास्त्रीय वचन उद्धृत हुआ है।

भा० ३।२९।११ के "मद्गुण श्रुतिमात्रेण" श्लोक में वर्णित है—अविच्छिन्ना मनोगति ही भक्ति है। एवं नारद पञ्चरात्र में अनन्य ममता विष्णौ। ममता को भक्ति कही गई है। ऐसा होने पर अनुग्राह्यता अभिमानमयी प्रीति की भक्ति संज्ञा कैसे सम्भव होगी? उत्तर में कहते हैं। मनोगति--ममता प्रभृति भी प्रीति सम्बन्ध से ही स्थल विशेष में भक्ति शब्द से अभिहित होते हैं। प्रीति सम्बन्ध विहीन मनोगति का ममता भक्ति पद वाच्या नहीं है।

पोषण एवं अनुकम्पा भेद से अनुग्रह द्विविध होने के कारण, अनुग्राह्याभिमान गण भी द्विविध होते हैं। यहाँपर पोषण—श्रीभगवान् कर्त्तृक स्वरूप द्वारा एवं निज गुण के द्वारा आनन्द प्रदान है। अनुकम्पा—श्रीभगवान् पूर्ण होने पर भी स्वयं के प्रति निज सेवादि का अभिलाष सम्पादन करके सेवकादि में सेवादि सौभाग्य सम्पादिका भगवान् की चित्तार्द्रतामयी सेवकादि की उपकारेच्छा है।

अर्थात् सेवकादि की उपकारेच्छा अनुकम्पा है। श्रीभगवान् के चित्तद्रव होकर उस इच्छा का उदय होता है। उस इच्छा का उद्देश्य है—सेवकादि के सेवादि सौभाग्य सम्पादन करना। श्रीभगवान् को क्या किसी को सेवा की अपेक्षा है? ना, स्वरूपत उन को अपेक्षा नहीं है। श्रीभगवान् पूर्ण हैं। जिस को अभाव है वह अभाव पूर्त्ति हेतु सेवाभिलाष करता है। श्रीभगवान् को किसी प्रकार अभाव न होने के कारण आप साधारणतः किसी की अपेक्षा नहीं करते हैं, किन्तु भक्ति के वशवर्त्ती होकर भक्त सौभाग्य सम्पादन के निमित्त सेवाग्रहण करने में अभिलाषी होते हैं।

उक्त द्विविध अनुग्राह्याभिमानी के मध्य में कोई तो भगवान् में ममता हीन है, कोई ममता विशिष्ट है। उस के मध्य में भगवान् में परमात्मा में अथवा परमात्म बुद्धि करके जो लोक आनन्दित होते हैं—इस प्रकार ज्ञानि भक्त श्रीसनकादि निर्म्मम होते हैं। उन सब में उस प्रकार अभिमान विद्यमान होने पर भी श्रीभगवान् में निर्म्ममता रहती है।

"सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥"२२७॥

हे नाथ! तुम मायातीत हो, मैं मायावश संसारी जीव हूँ। माया निवृत्ति होने से यह भेद विदूरित होने पर भी मैं तुम्हारा हूँ। किन्तु तुम मेरा नहीं हो, समुद्र की ही तरङ्ग है, किन्तु कभी भी तरङ्ग का समुद्र नहीं है। इस के समान है।

उस निर्ममता में चन्द्र दर्शन से जिस प्रकार सर्व साधारण को आनन्द होता है, उस प्रकार ममता व्यतीत भी भगवद् दर्शन उन सब को आनन्दित करता है। इस प्रकार प्रीति में स्तुति प्रभृति के द्वारा

भवात्। एषैव शान्त्याख्ययोच्यते, शमप्रधानत्वात्, (भा० ११।१९।३६) "शमो मन्निष्ठता बुद्धेः" इति भगवद्वाक्यात्। अथानुकम्प्याः सममा भक्ताः, एषां हि 'अस्माकं प्रभुरयम्' इति भावेन ममतोद्भूता। एतदभिप्रेत्यैव 'अनन्यममता' इत्यादि-वक्तृत्वं केवलभक्तानां श्रीभीष्मोद्धव-प्रह्लाद-नारदादीनामेवोक्तम्, न तु सनकादीनामपि। अतो ममतोद्भवादेवानुकम्प्यास्तदभिमानिनश्च ते। अनुकम्प्यत्वं त्रिविधम्—पाल्यत्वं भृत्यत्वं लाल्यत्वञ्च। तत्त्रैविध्येन क्रमात्ते श्रीभगवति पालक इति-भावा द्वारकाप्रजादयः, सेव्य इति-भावाः श्रीदारुकादिसेवकाः, गुरुरिति-भावाः श्रीप्रद्युम्न-गदप्रभृति-पुत्रानुजादय इति। एषां त्रिविधानामपि प्रीतिर्भक्तिरेव। पूर्व्वापेक्षया चैषां प्रीतेरानुकूल्यात्मताधिक्यादावृतज्ञानांशत्वेनास्यामेव श्रीरसामृतसिन्धौ प्रीतिरित्येवाख्या कृता। स च भक्तिः क्रमेण पाल्यानामाश्रयात्मिका, भृत्यानां दास्यात्मिका, लाल्यानां प्रश्रयात्मिका ज्ञेया। या तु महद्बुद्धचा चित्तादरलक्षण-भक्तिर्नमस्कारादि-कार्य्य-

---

भगवत् प्रवणत्व ही आनुकूल्य है, इस प्रकार जानना होगा। अर्थात् प्रीति में भगवदानुकूल्य होना परम आवश्यक है। श्रीभगवान् में जिनकी ममता नहीं है, वे प्रीतिमान् होकर आनुकूल्याचरण क्या करते हैं? इस के उत्तर में---उन सब का आनुकूल्याचरण का विवरण कहा गया है। ये सब भक्तों की प्रीति का नाम ज्ञान भक्ति है। इस भक्ति को ज्ञान स्वरूप कहने का अभिप्राय यह है कि—इस में भगवान् ब्रह्मघन रूप में अनुभूत होते हैं। इस प्रकार ज्ञान भक्ति ही शान्त भक्ति नाम से अभिहित है। कारण--यह शमप्रधान है। भा० ११।१९।३६ में उक्त है—"शमोमन्निष्ठता बुद्धेः" श्रीकृष्ण उद्धव को कहे हैं—मुझ में बुद्धिनिष्ठा का नाम ही शम है। श्रीभगवान् के वाक्य से ज्ञात होता है कि उन सब की भक्ति--शान्त भक्ति है।

अनन्तर अनुकम्प्य भक्त वृन्द का वर्णन करते हैं—वे सब ममता विशिष्ट भक्त होते हैं। यह हमारे प्रभु हैं—इस भाव से ममता उत्पन्न होती है। इस अभिप्राय से ही--'अनन्य ममता विष्णौ ममता प्रेम संयुता भक्तिरित्युच्यते भीष्म प्रह्लादोद्धव नारदैः" इस भक्ति लक्षण की वक्ता रूप में शुद्ध भक्त श्रीभीष्म उद्धव प्रह्लाद नारदादि का उल्लेख किया गया है। किन्तु ज्ञान मिश्र भक्ति युक्त सनकादि का उल्लेख नहीं किया गया है। अतएव ममता उत्पत्ति के कारण शुद्ध भक्त गण-श्रीभगवान् के अनुकम्प्य हैं, एवं उस प्रकार अभिमान भी सब का है॥

अनुकम्प्यत्व तीन प्रकार हैं—पाल्यत्व, भृत्यत्व, लाल्यत्व, यह त्रिविध भक्त के मध्य में क्रमशः द्वारका के प्रजा प्रभृति का श्रीभगवान् में पालक भाव है। श्रीदारुकादि सेवक गण का सेव्य भाव है। एवं पुत्र अनुज प्रद्युम्न गद प्रभृति का गुरुभाव वर्त्तमान है। श्रीकृष्ण के सारथिदारुक है, पुत्र—रुक्मिणीनन्दन श्रीप्रद्युम्न हैं, कनिष्ठभ्राता श्रीवसुदेवनन्दन---श्रीगद हैं। उक्त त्रिविध भक्त वृन्द की प्रीति भी भक्ति है।

पूर्वोक्त श्रीसनकादि की अपेक्षा--इन सब की प्रीति में आनुकूल्यात्मता का आधिक्य है, एवं ज्ञानांश का आवरण हेतु श्रीभक्तिरसामृत सिन्धु ग्रन्थ में इस को प्रीति शब्द से उल्लेख किया गया है।

"स्वस्माद् भवन्ति ये न्यूनास्तेऽनुग्राह्याहरेर्मताः।
आराध्यत्वात्मिका तेषां रतिः प्रीतिरितीरिता॥"

जो श्रीहरि से अपने को न्यून अभिमान करते हैं, उन को श्रीहरि के अनुग्रह पात्र कहते हैं। उन सब की आराध्यात्मिका रति को प्रीति कहते हैं।

व्यङ्ग्या, सा खलु प्रीतिर्न भवतीति नात्र गण्यते । तत्तद्भावं विनैव केवलादरमयी प्रीतिश्चेद्भक्तिसामान्यत्वेन ज्ञेया ।

अथ पुत्रोऽयमित्यादिभावेनानुकम्पित्वाभिमानमयी प्रीतिर्वात्सल्यम् । वत्सं वक्षो लातीति निरुक्तिर्हि तत्रैव झटिति प्रतीतिं गमयति । प्रीतिमात्रे तु तदुपलक्षणत्वेनैव प्रयोगः । लौकिकरसज्ञाश्च केचिदत्रैव वत्सलाख्यं रसं मन्यन्ते । तथोदाहृतं श्रीदेवहूत्याः पुत्रवियोगे (भा० ३।३३।२१) "वत्से गौरिव वत्सला" इति । तस्माद्वात्सल्यं श्रीव्रजेश्वरादीनाम् ।

अथ मत्सम-मधुरशीलवानयं निरुपाधि-मत्प्रणयाश्रयविशेष इति भावेन मित्रत्वाभिमानमयी प्रीतिः मैत्राख्या द्विविधा,-परस्पर-निरुपाधिकोपकार-रसिकतामयी सौहृदाख्या सहविहार-

---

यह भक्ति क्रमशः पाल्य वृन्द की आश्रयात्मिका, भृत्य गण की मास्यात्मिका, एवं लाल्य वृन्द की प्रश्रयात्मिका है स्नेह पूर्ण आदर का नाम प्रश्रय है । मुझ में श्रीभगवान् का स्नेह पूर्ण आदर है—लाल्य भक्त वृन्द का मनोभाव इस प्रकार होता है ।

श्रीभगवान् को श्रेष्ठ मान कर चित्तादर लक्षण जो भक्ति नमस्कारादि कार्य्यके द्वारा व्यक्त होती है, यह निश्चय ही प्रीति नहीं है । तज्जन्य इस प्रसङ्ग में उसकी गणना नहीं की गई है । श्रीभगवान् में पालक, सेव्य, वा गुरु भाव व्यतीत केवल आदर मयी प्रीति को सामान्य भक्ति जाननी चाहिये ।

यह श्रीभगवान् पुत्र हैं, इत्यादि भाव में अनुकम्पित्व अर्थात् मैं कृपा प्रदर्शन कारी हूँ—इस प्रकार अभिमान मयी प्रीति का नाम वात्सल्य है । 'वत्संलातीति निरुक्तिर्हि तत्रैव झटिति प्रतीतिं गमयति ।।" 'वक्षोदान करता है' वत्सल शब्द का यह अर्थ पुत्र भाव में झटिति प्रतीति उपस्थित करता है । प्रीति मात्र में पुत्र भाव का उपलक्षण रूप में ही वात्सल्य शब्द का प्रयोग होता है । लौकिक रसज्ञ व्यक्ति वृन्द के मध्य में कतिपय व्यक्ति—इस में ही वात्सल्यरस होता है—इस प्रकार मानते हैं ।

श्रीकपिल देव गृह त्याग करने से श्रीदेवहूति का पुत्र वियोग में उस प्रकार उदाहरण प्रस्तुत किया गया है । भा ३।३३।२१ में उक्त है– 'वत्से गौरिववत्सला" वत्स के प्रति धेनु के समान श्रीदेवहूति–वत्सला-अर्थात् वात्सल्यवती थीं ।

वत्सल शब्द से स्तन्य दान की प्रथम प्रतीति होती है । स्तन्यपायी सन्तान के प्रति जननी का जो भाव है—वह वात्सल्य है । स्तन प्रदान कारिणी का भाव विशेष वात्सल्य होने से प्रीति मात्र में इस शब्द का प्रयोग कैसे हो सकता है ? उत्तर में कहते हैं---"प्रीति मात्रे तु तदुपलक्षणत्वेनैव प्रयोगः" "एक पदेन तदर्थान्यपदार्थकथनम्" उपलक्षण है । एक पद के द्वारा उस अर्थ युक्त अन्य पदार्थ का कथन इस में होता है । पुत्र के प्रति जननी का जो भाव--अर्थात् जो प्रीति है, वह तादृश भावमयी है । यहाँ पुत्र भाव के उपलक्षण से वह प्रीति गृहीता हुई है । एतज्जन्य पुत्रत्व की अपेक्षा न करके केवल प्रीति में ही वात्सल्य शब्द का प्रयोग हो सकता है । भगवत् प्रीति की संज्ञा वत्सलाख्या कैसे हो सकती ही, उसका समाधान हेतु इस प्रकार व्याख्या हुई है । भगवान् तो साधारण स्तन्य पाणी पुत्र रूप में भक्त के समीप में उपस्थित नहीं होते हैं, उन के सम्बन्ध में वात्सल्य होना कैसे सम्भव है ? उक्त संशय का निरसन प्रस्तुत विचार परिपाटी से हुआ है, श्रीभगवान् के सम्बन्ध में प्रीति मात्र में ही वात्सल्य शब्द का प्रयोग होता है । उस में पुत्रत्व की अपेक्षा नहीं है । अर्थात् भगवान् किसी भी भक्त के निकट पुत्र रूपमें जन्म ग्रहण न करने पर भी उनके

शालि-प्रणयमयी सख्याख्या चेति । ततो मित्राणि च द्विविधानि, सुहृदः सखायश्चेति । तत्र सौहृदं श्रीयुधिष्ठिर-भीष्म-द्रौपद्यादिष्वंशेन दृश्यते । सख्यं श्रीमदर्जुन-श्रीदामादिषु ।

अथ कान्तोऽयमिति प्रीतिः कान्तभावः । एष एव प्रियता-शब्देन (२।५।३६) श्रीरसामृत-सिन्धौ परिभाषितः, प्रियाया भावः प्रियतेति । लौकिक-रसिकैरत्रैव रतिसंज्ञा स्वीक्रियते । एष एव काम-तुल्यत्वात् श्रीगोपिकासु कामादि-शब्देनाप्यभिहितः । स्मराख्य-कामविशेष-स्त्वन्यः, वैलक्षण्यात् । काम-सामान्यं खलु स्पृहासामान्यात्मकम्, प्रीतिसामान्यन्तु विषयानु-कूल्यात्मकस्तदनुगत-विषयस्पृहादिमयो ज्ञानविशेष इति लक्षितम् । ततो द्वयोः समानप्राय-

---

सम्बन्ध में भक्तिकी वात्सल्य प्रीति हो सकती है । किन्तु इस प्रीतिमें पुत्र भावका उपलक्षण होना आवश्यक है । पुत्र भाव का जो तात्पर्य्य है, इस प्रीति का भी उस प्रकार तात्पर्य्य न होने से प्रीति हो ही नहीं सकती है । जन्म हेतु पुत्र न होने पर भी भगवान् में पुत्रके समान स्नेह युक्त आदर एवं अपने में अनुकम्पित्व अभिमान होना आवश्यक है ।

कतिपय लौकिक रसज्ञ व्यक्ति पुत्र भाव में ही वात्सल्य रस निष्पत्ति मानते हैं । किन्तु पारमार्थिक रसज्ञ गण---भगवत् प्रीति में ही वात्सल्य रस निष्पत्ति को मानते हैं । लौकिक रसज्ञ वृन्द की मान्यता के प्रति दृष्टि देकर ही श्रीकपिल देव के विच्छेद से श्रीदेवहूति का शोक वर्णन 'वत्सवियुक्त धेनु के तुल्य' यह दृष्टान्त उपस्थित किया गया है । अपत्य स्नेह की शेष सीमा धेनु में है । लौकिक रसज्ञ गण इस के आगे कल्पना करने में अक्षम है । भगवत् प्रीति का आवेश किन्तु उस से कोटि गुण अधिक है ।

पुत्र विरह से जो व्याकुलता उपस्थित श्रीदेवहूति में हुई थी वह भगवद् विरह हेतु अतुलनीय होने पर भी सामाजिक को अनुभव कराने के निमित्त वत्सविरहातुरा धेनु का दृष्टान्त उपन्यस्त हुआ है ।

अतएव वात्सल्य प्रीति का जो लक्षण प्रदर्शित हुआ है—श्रीव्रजेश्वरादि की प्रीति तादृशलक्षणा क्रान्ता है । उनका पुत्रभाव श्रीकृष्ण में है, आप सब उनका अनुग्राहक है, इस प्रकार अभिमान उन सब में है । सुतरां व्रजेश्वरादि की प्रीति---वात्सल्य प्रीति का दृष्टान्त है ।

यह मेरे समान मधुर स्वभाव का है, मद् विषयक प्रणय का आश्रय विशेष है । इस भाव से मित्रता अभिमान मयी प्रीति का नाम मैत्री है । अर्थात् मुझ को जो प्रीति करता है---उसमें मूलतः किसी प्रकार स्वार्थ नहीं है । केवल प्रीति हेतु प्रीति करता है । इस प्रकार भावना प्रीति में है । वह द्विविध हैं । परस्पर निरुपाधिकोपकार रसिकतामयी मैत्री का नाम सौहृद है । अर्थात् मित्रद्वय निःस्वार्थ भाव से परस्पर का उपकार करके आनन्द लाभ करने से उन दोनों को मित्रता का नाम सौहृद है । एवं सह विहार शालि प्रणय मयी मैत्री का नाम सख्य हैं । प्रणय—प्रीति हेतु प्रिय जन के सहित अपनी अभेद बुद्धि होती है । जिस मैत्री में उस प्रकार प्रणय रहता है एवं जिस में एकत्र विहार संघटित होता है—वह सख्य है । मैत्री दो प्रकार होने के कारण मित्र वृन्द भी द्विविध होते हैं— सुहृद् एवं सखा । सौहृद – श्रीयुधिष्ठिर, भीष्म, द्रौपदी प्रभृति में आंशिक रूप में दृष्ट होता है । सख्य—अर्ज्जुन श्रीदामादि में दृष्ट होता है ।

यह कान्त है—इस प्रकार प्रीति का नाम कान्त भाव है । इस कान्त भाव ही भक्तिरसामृतसिन्धु में प्रियता शब्द से अभिहित है ।

"मिथो हरे र्मृगाक्ष्याश्च सम्भोगादि कारणम्ः
मधुरापर पर्य्याया प्रियताख्योदिता रतिः ।।

चेष्टत्वेऽपि कामसामान्यस्य चेष्टा स्वीयानुकूल्यतात्पर्य्या। तत्र कुत्रचिद्विषयानुकूल्यञ्च स्वसुख-कार्य्यभूतमेवेति तत्र गौणवृत्तिरेव प्रीति-शब्दः। शुद्धप्रीतिमात्रस्य चेष्टा तु प्रियानुकूल्यतात्-पर्य्यैव। तत्र तदनुगतमेव चात्मसुखमिति मुख्यवृत्तिरेव प्रीति-शब्दः। अतएव यथापूर्व्वं सुख-प्रीतिसामान्ययोरुल्लासात्मकतया साम्येऽप्यानुकूल्यांशेन प्रीतिसामान्यस्य वैशिष्ट्यं दर्शितम्। तथा कामप्रीतिसामान्ययोरपि स्पृहात्मकतया साम्येऽपि तदंशेनैव तज्ज्ञेयम्। तदेवं स्मराख्य-काम-विशेष-कान्ताभावाख्य-प्रीति-विशेषयोः स्पृहाविशेषात्मकतया साम्येऽपि तेनैव वैशिष्ट्यं सिद्धम्। अत्र तु (भा० १०।३१।१९) "यत्ते सुजात चरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु" इत्यादिभिरतिक्रम्यापि स्वानुकूल्यं प्रियानुकूल्य-तात्पर्य्यस्यैव दर्शितत्वात् शुद्धप्रीति-

---

हरि एवं हरिण नयनी तदीय प्रेयसी वृन्दका सम्भोग के कारण का नाम प्रियता है। इसका ही अपर नाम मधुरा रति है। प्रिया का भाव का नाम प्रियता है। लौकिक रसज्ञ व्यक्ति गण इस में ही रति संज्ञा से अभिहित करते हैं।

काम तुल्य होने के कारण–यह कान्त भाव ही श्रीगोपिका गण में काम शब्द से भी अभिहित होता है। भक्ति रसामृतसिन्धु में तन्त्र वचन लिखित है—

"प्रेमैव गोप रामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।
इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत् प्रियाः॥"

जगत् में सुविख्यात स्मराख्य कामविशेष--जो स्त्री पुरुष की सम्भोगेच्छा रूप है—यह व्रजसुन्दरी गण के कान्त भाव से भिन्न हैं। कारण, उभय के मध्य में वैलक्षण्य दृष्ट होता है। साधारण सम्भोगेच्छा रूप कामका स्वरूप है---साधारण इच्छा। किन्तु समस्त प्रीति का ही लक्षण है--विषयानुकूल्यात्मक आनुकूल्यानुगत विषयाभिलाषादिमय ज्ञान विशेष। सुतरां काम एवं प्रीति---उभय को समता चेष्टा अंशमें होने पर भी साधारण काम चेष्टा का तात्पर्य्य है—निजानुकूल्य सम्पादन। स्थल विशेष में विषयाकूल्य लौकिक काम में विद्यमान होने पर भी उस आनुकूल्य का हेतु है---निज सुख वा उल्लास, अर्थात् निज सुख सम्पादन हेतु ही है—प्रियजन का आनुकूल्य करना। तज्जन्य काम में प्रीति शब्द की गौणी वृत्ति है। अर्थात् लाक्षणिक प्रवृत्ति है। किन्तु शुद्ध प्रीति मात्र की चेष्टा का पर्य्यवसान विषय का आनुकूल्य में ही होता है। उस में जो निज सुख होता है। वह विषयानुकूल्य के अनुगत रूप में ही होता है। तज्जन्य यहाँपर प्रीति शब्द मुख्यावृत्ति से व्यवहृत होता है। अतएव पूर्व प्रकरण में वर्णित सुख एवं प्रीति का उल्लसांश में साम्य होने पर भी आनुकूल्यांश में ही समस्त प्रकार प्रीति का वैशिष्ट्य प्रदर्शित हुआ है। यहाँपर भी उस प्रकार सर्व प्रकार काम एवं प्रीति में स्पृहात्मकता अंश में साम्य होने पर भी आनुकूल्यांश में ही प्रीतिका वैशिष्ट्य है। अतएव स्मराख्य काम विशेष एवं कान्ता भावाख्य प्रीति विशेष में स्पृहात्मकता रूप साम्य होने पर भी आनुकूल्यांश में ही वैशिष्ट्य सिद्ध है।

भा० १०।३१।१९ में उक्त— "यत्ते सुजात चरणाम्बुरुहंस्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु"

श्लोक में श्रीगोपीवृन्द का कान्तभाव में निजानुकूल्य को अतिक्रम करके भी प्रियानुकूल्य में तात्पर्य्य प्रदर्शित हुआ है। अतः गोपीवृन्द का कान्त भाव की शुद्ध प्रीति विशेष रूपता ही लब्ध है। सम्पूर्ण श्लोक इस प्रकार है—

विशेषरूपत्वमेव लभ्यते। अतस्तद्विशेषत्वञ्च स्पृहाविशेषात्मकत्वात् सिद्धम्। ततोऽत्र श्रीकृष्णविषयत्वेन कुब्जादिसम्बन्धि-कामवदप्राकृतकामत्वस्याप्यनभ्युपगमे सति प्राकृतकामत्वं तु सुतरामसिद्धम्। तथा दर्शितञ्च (भा० १०।३३।३९)—

"विक्रीड़ितं व्रजबधुभिरिदञ्च विष्णोः, श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं, हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥" २२८॥

---

"यत्ते सुजात चरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रियदधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवी मटसि तद्व्यथते न किंस्वित् कूर्पादिभि र्भ्रमतिधीर्भवदायुषां नः॥

रास मण्डल से अन्तर्हित होने पर उनको अनुसन्धान करते करते--गोपियों ने कही थीं तुम्हारे जो सुकोमल चरम कमलको संमर्दन की शङ्का से हमसब धीरे धीरे बक्षोज के ऊपर धारण करती हैं। तुम तो उसी चरण से वन वन में विचरण कर रहे हो, सूक्ष्म पाषाणादि के द्वारा क्या वह व्यथित नहीं होता है? निश्चय हो रहा है, यह शोचकर हमारी बुद्धि मुग्ध हो जाती है। कारण तुम्हीं हमारे जीवन हो श्रीकृष्ण विषयक काम होने के कारण, कुब्जादि सम्बन्धि काम भी अप्राकृत काम है। व्रजदेवी वृन्द का कान्तभाव शुद्ध प्रीति विशेष रूप में प्रतिपन्न होने पर भी वह कुब्जादि सम्बन्धि काम के समान अप्राकृत काम भी नहीं माना गया है। सुतरां श्रीव्रजदेवी वृन्द का कान्त भाव का प्राकृत कामत्व असिद्ध होता है।

प्राकृत एवं अप्राकृत—उभयत्र ही--आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा का नाम काम है। एवं प्रिय व्यक्ति को तृप्त करने की इच्छा का नाम प्रेम है। कुब्जा प्रभृति निजेन्द्रिय तृप्ति इच्छा से श्रीकृष्ण उपभोग होने से वह काम है। किन्तु प्राकृत काम के समान प्राकृत नायकावलम्बन से न होकर सच्चिदानन्द मूर्त्ति श्रीकृष्ण को आलम्बन करके हुआ है। अतः वह अप्राकत काम है। श्रीकृष्ण को अवलम्बन कर प्रकाशित होने के कारण कुब्जादि का उक्त काम प्रशंसनीय है। व्रज बधूवृन्द के कान्त भाव, किन्तु उस से अति उच्चस्थान में अधिष्ठित है, कारण, वह परतत्त्व वस्तु श्रीकृष्ण को अवलम्बन करके प्रकटित तो हुआ ही है, परन्तु उस में निजेन्द्रिय प्रीति इच्छा का लेश मात्र भी नहीं है, अथच प्रियतम श्रीकृष्ण की इन्द्रिय तृप्ति की इच्छा अत्यन्त बलवती है। अतएव व्रजदेवी वृन्द के कान्त भाव के निकट में कुब्जा प्रभृति की अप्राकृत काम का प्रसङ्ग उठ ही नहीं सकता है। व्रज देवी वृन्द के कान्त भाव में सुतरां प्राकृत काम गन्ध लेश नहीं है।

श्रीमद्भागवत के १०।३३।३९ में व्रज देवी वृन्द के कान्तभाव का अप्राकृतत्व का प्रदर्शन हुआ है--

"विक्रीड़ितं व्रजबधूभिरिदञ्च विष्णोः,
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं,
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥" २२८॥

टीका—भगवतः कामविजय रूप रास क्रीड़ा श्रवणादेः काम विजयमेव फलमाह विक्रीड़ितमिति। अचिरेण धीरः सन् हृद्रोगं काममाशु अपहिनोति परित्यजतीति॥

व्रजबधू वृन्द के सहित विष्णुकी यह क्रीड़ाका श्रवण कीर्त्तन वा स्मरण निरन्तर जो श्रद्धा पूर्वक करता है, वह भगवान् में परमा भक्ति लाभ करता है, एवं धीर होकर आशु हृद्रोग काम को परित्याग करता है।

इस श्लोक में गोपी वृन्द के सहित श्रीकृष्ण क्रीड़ा अप्राकृतत्व वर्णित हुआ है, जिस रास लीलारूप क्रीड़ा विशेष—के श्रवण द्वारा दूर देश कालवर्त्ती जन गण से सत्वर काम विदूरित होता है, एवं प्रेम

इत्यनेन । यद्विक्रीड़ितं खलु निजश्रवणद्वाराप्यन्येषां दूरदेश-काल-स्थितानामपि शीघ्रमेव यं काममपनयत् परमं प्रेमाणं वितनोति, तत् पुनस्तत् काममयं न स्यात्, अपि तु परमप्रेमविशेष-मयमेव । न हि पङ्केन पङ्कं क्षाल्यते, न तु वा स्वयमस्नेहः स्नेहयति । अतएव तस्य भावस्य शुद्धप्रेममयत्वं निगदेनैवोक्त्वा शुद्धत्वे हेतुतया पुनस्तेन भगवत्प्रसादश्च दर्शितः, (भा० १०।२२।१) "भगवानाहता वीक्ष्य शुद्ध-भावप्रसादितः" इति । तस्यात्मारामशिरोमणेस्तेन रमणञ्च दर्शितम्—(भा० १०।३३।१९) "कृत्वातावन्तमात्मानम्" इत्यादिभिः, वशीकृतत्वञ्च स्वयं दर्शितम्—(भा० १०।३२।२२) "न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजाम्" इत्यादिना । तत्र निरवद्येति प्रीतेः शुद्धत्वम्, स्वसाधुकृत्यमिति परमोत्कृष्टत्वम्, न पारय इति स्ववशीकारित्वमिति । अतः

---

विस्तार होता है, वह कभी भी काम नहीं हो सकता है । किन्तु वह सुनिश्चित ही परम प्रेम स्वरूप है । पङ्क के द्वारा पङ्क प्रक्षालित नहीं होता है । अथवा जो स्निग्ध नहीं है, वह अपर को स्निग्ध नहीं कर सकता है । अतएव गोपी वृन्द का कान्त भाव का शुद्ध प्रेममयत्व का वर्णन सुस्पष्ट रूप से करके, शुद्धत्व हेतु भगवत् प्रसाद होता है, शुद्धा प्रीति की स्थिति व्रजबधू वृन्द में होने के कारण ही उन सब के प्रति भगवत् प्रसाद प्रमाणित हुआ है । भगवत् प्रसाद व्यतीत शुद्धा प्रीति का आविर्भाव होना असम्भव है, इस का प्रदर्शन इस के पहले हुआ है । भगवत् प्रसाद हेतु उस भाव का प्रेममयत्व है, भा० १०।२२।१३ में

"भगवानाहता वीक्ष्य शुद्ध भाव प्रसादितः" शुद्ध भाव द्वारा प्रसादित भगवान् उनसब को समागता देखकर कहे थे । उक्त प्रसाद के कारण गोपी गण के सहित आत्माराम शिरोमणि श्रीकृष्ण--का रमण भा० १०।३३।१९ में वर्णित हुआ है—

"कृत्वा तावन्तमात्मानं यावती गोंपयोषितः ।
रराम भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ।।"

रासस्थली में जितनी गोपी थी, श्रीकृष्ण उतने संख्यक हुये थे, एवं भगवान् आत्माराम होकर भी उन सब के सहित लीला पूर्वक रमण किये थे । उस भाव के द्वारा आप जो वशीभूत हुये थे—उस का व्यक्त स्वयं ही भा० १०।३३।२२ किये हैं । "न पारयेऽहं निरवद्य संयुजां

स्व साधु कृत्यं विबुधायुषापि वः ।
यामाभजन् दुर्जर गेह शृङ्खलाः
संवृश्च तद्वः प्रतियातु साधुना ।।"

टीका—आस्तामिदं परमार्थन्तु श्रृणुतेत्याह नेति । निरवद्या संयुक् संयोगो यासां तासां से विबुधानामायुषापि चिरकालेनापि स्वीयं साधुकृत्यं प्रत्युपकारं कर्त्तुं न पारये । कथम्भूतानाम् या भवत्यो दुर्जरा अजरा या गेह शृङ्खलास्ताः संवृश्च्य निःशेषं छित्वा मा माम् अभजं स्तासाम् । मच्चित्तन्तु बहुषु प्रेमयुक्ततया नैक निष्ठम् । तस्माद्वो युष्माकमेव साधुना साधुकृत्येन तत् युष्मत् साधुकृत्यं प्रतियातु प्रतिकृतं भवतु । युस्मत् सौशील्येनैव ममानृण्यं नतु नतु मत् कृत प्रत्युपकारेणेत्यर्थः ।

श्रीकृष्ण गोपीवृन्द को कहे थे—दुर्ज्जर गृह शृङ्खल को सम्यक् रूप से छिन्न करके तुम सबने मेरा भजन किया है, मेरे साथ उस प्रकार अनिन्द्य संयोगवती तुम सब के असाधारण प्रशंसनीय कार्य्य के उपयुक्त प्रत्युपकार करने में देवता के परमायु परिमित काल के द्वारा सक्षम नहीं होऊँगा । सुतरां तुम

शुद्धप्रेमजातिषु तस्य परमत्वादेव श्रीमदुद्धवेनाप्येवमुक्तम्–(भा० १०।४७।५८) "वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयञ्च" इति। तस्मात् सर्व्वतः परमैव कान्तभावरूपा प्रीतिरिति स्थितम्। तदेवं ज्ञानभक्तिर्भक्तिर्वात्सल्यं मैत्री कान्तभाव इति तद्भावाभिमानयोर्भेदेन पञ्चविधा प्रीतिः। एताश्च ज्ञानभक्त्यादयः क्वचिन्मिश्रतयापि वर्त्तन्ते। तत्र श्रीभीष्मादौ ज्ञानभक्त्याश्रयभक्ती, श्रीयुधिष्ठिरे सौहृद्यान्तर्भूते आश्रयभक्ति-वात्सल्ये,श्रीभीमस्यसख्यमपि, श्रीकुन्त्यामाश्रयभक्त्यन्तर्भूतं वात्सल्यम्, श्रीवसुदेवदेवक्योर्भक्तिसामान्यवात्सल्ये, तथा

---

सब की सुशीलता के द्वारा ही मैं अऋणी हो सकता हूँ।

श्लोकोक्त निरवद्य शब्द का अर्थ है--शुद्ध--निर्दोष। काममय रूप में प्रतीयमान होने पर भी निर्म्मल प्रेमविशेषमयत्व हेतु निर्दोष है। श्लोकोक्त--संयोग--शब्द से श्रीकृष्णके सम्बन्ध में चित्तकी सम्यक् एकाग्रता को जाननी चाहिये। गोपीगण का संस्पर्श प्रातीतिक पत्यादि के सहित कभी भी नहीं हुआ है, अतः उनसब का कृष्ण संयोग–निर्दोष है।

गृहशृङ्खल—ऐहिक पारलौकिक सुखकर लोक मर्य्यादा एवं धर्म मर्य्यादा है, कुलबधू होने के कारण उक्त शृङ्खल समूह तुम सब के पक्ष में दुश्छेद्य है। किन्तु उस को सम्यक् रूप से छिन्न करके तुम सबने मेरा भजन किया है, एवं परमानुराग से मुझ को आत्मसमर्पण भी किया है। मैं तुम सब में केवल प्रेमयुक्त नहीं हूँ, किन्तु माता पिता प्रकृति में भी प्रेमयुक्त हूँ, अतएव तुम सब के भजनानुरूप भजन करने में मैं असमर्थ हूँ।

उक्त श्लोक के निरवद्य–अनिन्द्य पद से प्रीति का शुद्धत्व, स्व साधुकृत्य—तुम सब के असाधारण प्रशंसनीयकार्य्य सूचक पद से प्रीति का परमोत्कृष्टत्व, न पारये–सक्षम नहीं होऊँगा, पद से श्रीकृष्ण, निज निज वशीकारित्व दर्शाये हैं। अर्थात् उपकारी का प्रत्युपकार करने में असमर्थ हूँ कह कर कृतज्ञता प्रकाश हेतु श्रीकृष्ण वशीभूत हैं—इस प्रकार व्यक्त किये हैं।

अतएव शुद्ध प्रेम जाति में अर्थात् शुद्ध प्रेम समूह के मध्य में गोपीवृन्द का कान्त भाव का श्रेष्ठत्व हेतु श्रीउद्धव भा० १०।४७।५८ में कहे हैं—वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयोवयञ्च" भवभय से भीत मुनिगण एवं हम सब जिस की वाञ्छा करते हैं।

इन सब कारणों से कान्त भावरूपा प्रीति ही सर्व श्रेष्ठा है, यह स्थिर हुआ। अतएव ज्ञान भक्ति–(शान्तभक्ति) भक्ति--(दास्य) वात्सल्य, मैत्री (सख्य) एवं कान्त भाव--(मधुर) भक्त का भाव एवं अभिमान भेद से प्रीति पञ्चविध हैं। ज्ञान भक्ति प्रभृति–पञ्चविधा प्रीति किसी किसी स्थल में मिश्ररूप में भी वर्त्तमान होती हैं। उस का दृष्टान्त—भीष्मादि में है, भीष्मादि में ज्ञान भक्ति एवं आश्रय भक्ति है। आश्रय--अवलम्बन है, आश्रय के प्रति--जो भक्ति वह आश्रय भक्ति है, पितृ भक्ति, मातृ भक्ति, गुरु भक्ति प्रभृति पद के समान यह आश्रय भक्ति पद निष्पन्न हुआ है। श्रीकृष्ण ही एकमात्र आश्रय हैं, इस प्रकार ज्ञान से उनके प्रति जो भक्ति है---वह आश्रय भक्ति है। श्रीयुधिष्ठिर में सौहृद्य के अन्तर्भुक्त आश्रय भक्ति एवं वात्सल्य है। भीम में---आश्रय भक्ति, वात्सल्य एवं सख्य है। कुन्ति में आश्रय भक्ति के अन्तर्भूत वात्सल्य है। श्रीवसुदेव देवकी में साधारण भक्ति एवं वात्सल्य है—जिस में शान्तादि भाव व्यञ्जित नहीं होते हैं उस के साधारण भक्ति कहते हैं। कारण, श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में साधारण भक्त एवं वात्सल्य प्रीति विशिष्ट भक्त के समान उन सब का व्यवहार देखने में आता है। श्रीमदुद्धव में दास्यान्तर्भुक्त सख्य है, उस का विवरण श्रीभगवदुक्ति से ज्ञात होता है। उन्होंने कहा है—भा० ११।११।४८—"त्वं मे भृत्य सुहृत

तथा दर्शनात् । श्रीमदुद्धवस्य दास्यान्तर्भुतं सख्यम्,–(भा० ११।११।४८) "त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा" इति श्रीभगवदुक्तेः । श्रीबलदेवस्य सख्य-वात्सल्य-भक्तयः । तत्र वात्सल्य-सख्ये (भा० १०।१५।१४–१५) —

"क्वचित् क्रीड़ापरिश्रान्तं गोपोत्सङ्गोपवर्हणम् ।
स्वयं विश्रामयत्यार्य्यं पादसंवाहनादिभिः ॥"२२९॥
नृत्यतो गायतः क्वापि वल्गतो युध्यतो मिथः ।
गृहीतहस्तौ गोपालान् हसन्तौ प्रशशंसतुः ॥"२३०॥

इत्यादिषु, भक्तिश्च, (भा० १०।१३।३७) "प्रायो मायास्तु मे भर्त्तुः" इत्यादि-तदुक्तिषु । अत्र च तस्य व्रजे सख्यान्तर्भूते वात्सल्य-भक्ती ज्ञेये,--बाल्यमारभ्य सहविहारातिशयात् ।

---

सखा" तुम मेरा भृत्य, सुहृत् एवं सखा हो । श्रीबलदेव में सख्य, वात्सल्य, एवं भक्ति–दास्य है । वात्सल्य सख्य का उदाहरण–भा० १०।१५।१४---१५ में है—

"क्वचित् क्रीड़ापरिश्रान्तं गोपोत्सङ्गोपवर्हणम् ।
स्वयं विश्रामयत्यार्य्यं पादसंवाहनादिभिः ॥"२२९॥
नृत्यतो गायतः क्वापि वल्गतो युध्यतो मिथः ।
गृहीतहस्तौ गोपालान् हसन्तौ प्रशशंसतुः ॥"२३०॥

टीका—आर्य्यं--अग्रजं, विश्रमयति विगतश्रमं करोति ॥१४॥
मिथो नृत्यादीन् कुर्वतो गोपान् प्रशशंसतुः ॥१५॥

किसी स्थान में अग्रज श्री बलदेव क्रीड़ा परिश्रान्त होने पर किसी बालक के क्रोड़ को उपाधान करके उनको शयन कराकर श्रीकृष्ण स्वयं उनके पाद संवाहनादि करके उनका श्रमोपनोदन करते हैं । यह है वात्सल्य का दृष्टान्त । सख्य का दृष्टान्त यह है—कहीं पर भ्रातृ युगल परस्पर हाथ पकड़ कर हँसते हँसते नृत्य, गीत, उल्लम्फन एवं युद्ध क्रीड़ा करते करते क्रीड़ाशील गोप बालक वृन्द की प्रशंसा किये थे । दास्य भक्ति का दृष्टान्त--भा० १०।१३।३७ में है—"प्रायोमायास्तु मे भर्त्तुः" यह माया मेरा प्रभु श्रीकृष्ण की ही है । यहाँ श्रीकृष्ण को प्रभु मानना श्रीबलदेव की दास्य भक्ति का परिचायक है ।

व्रज में श्रीबलदेव की त्रिविध प्रीति के मध्य में सख्य के अन्तर्भुक्त वात्सल्य एवं भक्ति को जाननी होगी । कारण, राम कृष्ण—उभय ही बाल्य काल से एकत्र बहु विहार किये थे । यदुपुरी में--मथुरा एवं द्वारका में भक्ति के अनुभुक्त वात्सल्य एवं सख्य है । कारण, वहाँ श्रीकृष्ण—ऐश्वर्य्य प्रकाशमय लीला का आविष्कार किये थे ।

सह विहार शाली प्रीति को सख्य कहा गया है । बाल्य लीला में श्रीकृष्ण बलराम व्रज में एक साथ विहार किये थे । एतज्जन्य व्रज में श्रीबलदेव में सख्य का प्राधान्य था । एवं ज्येष्ठाग्रज अभिमान होने के कारण—उन में वात्सल्य विद्यमान है ।

भक्ति वा दास्य प्रीति में श्रीकृष्ण में प्रभु बुद्धि होती है । मथुरा एवं द्वारका में ऐश्वर्य्य की प्रचुर अभिव्यक्ति हेतु प्रभु बुद्धि का प्राबल्य था । तज्जन्य यदु पुरी में श्रीबलदेव में भक्ति प्राधान्य निर्देश हुआ है ।

व्रज में श्रीबलदेव में अग्रज बोध होना कैसे सम्भव है--उस का वर्णन करते हैं—श्रीबलदेव अग्रज

यदुपुर्य्याञ्च भक्तचन्तर्भूते वात्सल्य-सख्ये,–ऐश्वर्य्यप्रकाशमयलीलाविष्कारात् । व्रजे तस्या-ग्रजत्वञ्च श्रीवसुदेव-नन्दयोर्भ्रातृत्वप्रसिद्धेः, श्रीमन्नन्देन पुत्रतया पालनाच्च, यथोक्तम् (भा० १०।५।२७) —

"भ्रातर्मम सुतः कच्चिन्मात्रा सह भवद्व्रजे ।
तातं भवन्तं मन्वानो भवद्भ्यामुपलालितः ॥"२३१॥

इति, (भा० १०।८।३४) "वदन्ति तावका ह्येते कुमारास्तेऽग्रजोऽप्ययम्" इति च । एवं श्रीपट्ट-महिषीषु दास्यमिश्रः कान्तभावः । श्रीमद्व्रजदेवीषु सख्यमिश्र इत्यादिकं ज्ञेयम् ।

अथ तत्तद्भावाभिमानौ विना तु या प्रीतिः, सा सामान्या तादृशत्वायोग्यानां भवति, यथा मिथिला-प्रयाणे (भा० १०।८६।२०)—

"आनर्त्त-धन्व-कुरुजाङ्गल-कङ्क-मत्स्याः, पञ्चाल-कुन्ति-मधु-कैकय-कोशलार्णाः ।
अन्ये च तन्मुखसरोजमुदारहास-,स्निग्धेक्षणं नृप पपुर्दृशिभिर्नृनार्य्यः ॥"२३२॥

---

होने का हेतु है श्रीवसुदेव, नन्द में भ्रातृत्व प्रसिद्ध है, एवं श्रीनन्द ने बलराम को पुत्रवत् पालन किये थे । भा० १०।५।२७ में उक्त है—

"भ्रातर्मम सुतः कच्चिन्मात्रा सह भवद्व्रजे ।
तातं भवन्तं मन्वानो भवद्भ्यामुपलालितः ॥"२३१॥

श्रीवसुदेव व्रजराज नन्द को कहे थे—हे भ्रातः ! मेरा पुत्र, जननी के सहित तुम्हारे द्वारा उपलालित होकर एवं तुमको पिता मानकर तुम्हारे व्रज में अवस्थित है । उसका कुशल तो है ? भा० १०।८।३४ में उक्त है— "वदन्ति तावका ह्येते कुमारास्तेऽग्रजोऽप्ययम् ॥"

श्रीव्रजेश्वरी श्रीकृष्ण को कही थीं, तुमने जो मिट्टी खाई है, इस को तुम्हारे साथी बालक एवं अग्रज कुमार बलराम भी कह रहा है ।

इस प्रकार श्रीपट्टमहिषी वृन्द में दास्य मिश्र कान्त भाव है । श्रीमद् व्रजदेवीगण में सख्य मिश्र कान्त भाव हैं, इस प्रकार मिश्र भाव का दृष्टान्त और भी अनेक हैं ।

शान्तादि भाव एवं दासादि अभिमान रहिता जो प्रीति है, वही सामान्य प्रीति है । जिन में उक्त भाव एवं अभिमान सम्पन्न होने की योग्यता नहीं है, उन में सामान्य प्रीति का उदय होता है । भा० १०।८६।२० में श्रीकृष्ण के मिथिला प्रयाण समय में श्रीशुकदेव कहे हैं—

"आनर्त्त-धन्व-कुरुजाङ्गल-कङ्क-मत्स्याः, पञ्चाल–कुन्ति–मधु–कैकय-कोशलार्णाः ।
अन्ये च तन्मुखसरोजमुदारहास,--स्निग्धेक्षणं नृप पपुर्दृशिभिर्नृनार्य्यः ॥"२३२॥

हे राजन् ! आनर्त्त, धन्व, कुरु, जाङ्गल,कङ्क, मत्स्य, पञ्चाल, कुन्ति, मधु, केकय, कोशल, अर्णदेशीय एवं अन्यान्यदेशीय नर नारीवृन्द नयन भर कर श्रीकृष्ण के उदार हास्य एवं स्निग्ध दृष्टि समन्वित मुख कमल मधु पान किये थे ।

इस श्लोक में सामान्य प्रीति का वर्णन हुआ है । यह सब भक्त निर्म्मम हैं, अर्थात् श्रीकृष्ण में ममता शून्य हैं । और भी ज्ञातव्य यह है कि—उन सब भगवत् प्रिय व्यक्ति के मध्य में सामान्य एवं शान्त भक्त

इत्यत्र केषाञ्चित् । एते च निर्ममा ज्ञेयाः । किञ्च, तेष्वेतेषु भगवत्प्रियेषु सामान्य-शान्तौ तटस्थाख्यौ, अनयोः प्रीतिश्च तटस्थाख्या । ताभ्यामन्ये परिकराः । तेषां प्रीतिश्च ममता-प्राचुर्य्यान्ममताख्या । तेषु तु पाल्य-भृत्यौ अनुगतौ । तयोर्भक्तिश्च सम्भ्रमप्रीत्याख्या । लाल्यादयस्तु बान्धवाः । तेषां प्रीतिश्च बान्धवताख्या ज्ञेया । तैरेतैः प्रीतिभेदैः प्रियभेदान् प्रति स्वस्य भजनीयताभेदा उक्ताः (भा० ३।२५।३८) "येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च, सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम्" इति, प्रियः कान्तः, आत्मा परमात्मा, सुतः पुत्र-भ्रातृजादिरूपोऽनुज-रूपश्च, सखा प्रणयपूर्व्वकं सह खेलति यः, गुरुः पित्रादिरूपः, सुहृदो द्विविधाः,—सम्बन्धिनो निरुपधिहितकारिणश्च । तत्र पूर्व्वेषां प्रियत्वादौ प्रवेशादुत्तरे गृह्यन्ते । दैवमिष्टमाश्रयणीयः सेव्यश्चेत्यर्थः । एतान् भावांश्च विना सामान्यप्रीतिविषय इति भावः ।

अथ पूर्व्वोक्ता रत्यादिभावा उदाह्रियन्ते । तत्र रतिमाह (भा० १।५।२६-२७) —

(८४) "तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायता-,मनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः ।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः, प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रतिः ॥२३३॥

---

को तटस्थ कहते हैं, इन सब की प्रीति का नाम तटस्था है । इन सबों को छोड़कर और दास, सखा, वात्सल एवं कान्ता भाव सम्पन्न व्यक्ति गण परिकर हैं । उन सब की प्रीति—ममता प्राचुर्य्य हेतु ममता नाम से अभिहिता है । परिकर वृन्द के मध्य में पाल्य एवं भृत्य गण अनुगत हैं । इन सब की प्रीति का नाम सम्भ्रम प्राति है । लाल्य प्रभृति बान्धव हैं, उनकी प्रीति बान्धवता है ।

उन सब प्रीतिभेद के द्वारा प्रिय का भेद प्रतिपन्न करके भगवान् कपिल देव, निज भजनीयता का भेद कीर्त्तन भा० ३।२५।३८ में किये है "येषामह प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरु सुहृदो दैवमिष्टम्" में जिन के प्रिय, आत्मा, सुत, सखा, गुरु, दैव, एवं अभीष्ट हूँ ।

प्रिय कान्तः, आत्मा--परमात्मा, सुत--पुत्र, भ्रातुष्पुत्र एवं अनुज रूप है । सखा—जो प्रीति पूर्वक सह क्रीड़ाशील है । गुरु--पित्रादि । सुहृत--द्विविध हैं, सम्पर्कित एवं निरुपाधिहितकारी, तन्मध्य में पूर्ववर्त्ति सम्पर्कित व्यक्ति वृन्द का प्रियत्व प्रभृति में प्रवेश हेतु—यहाँपर सुहृत शब्द से परवर्त्ति निरुपाधिहितकारी व्यक्ति वृन्द का ग्रहण होगा । अर्थात कान्त, पुत्र, सखा ये सब सम्पर्कित व्यक्ति होते हैं । पहले इन सबों का उल्लेख होने के कारण—द्वितीय प्रकार के सुहृत निरुपाधि हितकारी व्यक्ति वृन्द का उल्लेख करना ही यहाँ अभिप्रेत है । दंव—इष्ट आश्रयणीय-सेव्य है । यह सब--जो मुझ को प्रियादि मानते हैं उन सब भावों को छोड़कर अन्य समस्त भक्त वृन्द का मैं सामान्य प्रीति का विषय होता हूँ । यही है श्रीकपिल देव के वाक्य का अर्थ ।

### पूर्वोक्त रति प्रभृति का दृष्टान्त ।

अनन्तर पहले जो रति प्रभृति का वर्णन हुआ है—उसका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । भा० १।५। २६-२७ से रति का वर्णन है—

(८४) "तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायता
मनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः ।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः,
प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रतिः ॥२३३॥

तस्मिंस्तदा लब्धरुचेर्महामते, प्रियश्रवस्यस्खलिता मतिर्मम ।
ययाहमेतत् सदसत् स्वमायया, पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परे ॥"२३४॥

मयि शुद्धजीवे व्यष्टिरूपं परे ब्रह्मणि च समष्टिरूपमध्यारोपितम् ॥ श्रीनारदः श्रीव्यासम् ।

८५ । प्रेमाणमाह (भा० १०।६०।५१)—

(८५) "उपलब्धं पतिप्रेम पातिव्रत्यञ्च तेऽनघे ।
यद्वाक्यैश्चाल्यमानाया न धीर्मय्यपकर्षिता ॥"२३५॥

यद्यस्माद्धीर्मदीय ज्ञानं मयि नापकर्षिता, ममौदासीन्यवाक्येनायं मय्युदासीन इत्याशङ्क्य

---

टीका—अशृणवं—श्रुतवानस्मि । मे श्रद्धया ममैव स्वतः सिद्धया नतु अनेन बलाज्जनितया, अतो ममेत्यस्यापौनरुक्त्यम् । अनुपदं— प्रतिपदम् । प्रियं श्रवोयशो यस्य तस्मिन् ।

श्रीनारद व्यास देव को कहे थे— ब्राह्मण गण, कृष्ण कथा कीर्त्तन करते थे, मैं मनोहर उस कथा को सुनता था । श्रद्धा पूर्वक प्रत्येक पद श्रवण करने से प्रिय श्रवा जिनका श्रव--कीर्त्ति-सब को प्रिय है--इस प्रकार श्रीकृष्ण में मेरीरति उत्पन्न हुई ।

"तस्मिंस्तदा लब्धरुचेर्महामते, प्रियश्रवस्यस्खलिता मतिर्मम ।
ययाहमेतत् सदसत् स्वमायया, पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परे ॥"२३४॥

टीका—प्रियं श्रवो यस्य तस्मिन् भगवति लब्धरुचे मम अस्खलिता अप्रतिहता मतिरभवमित्यनुसङ्गः । यया मत्या परेप्रपञ्चातीते ब्रह्मरूपेमयि, सदसत् स्थूल सूक्ष्मञ्च एतच्छरीरं स्वमायया, स्वाविद्यया कल्पितं नतु वस्तुतोऽस्तीति तत् क्षण मेव पश्ये पश्यामि ।

हे महामते । उन प्रियश्रवा भगवान् में मेरी रुचि होने पर उन में स्थिरा बुद्धि उत्पन्न हुई । उस से मेरा बोध हुआ—यह सदसत् जगत् निज माया द्वारा मुझ में एवं परम ब्रह्म में कल्पित है ॥

जीव देह व्यष्टि जगत् है, ब्रह्माण्ड समष्टि जगत है, श्रीनारद बोले— निज विषयक भगवत्माया द्वारा मुझ में व्यष्टि जगत् एवं परम ब्रह्म में समष्टि जगत् कल्पित हुआ है । यह जो रज्जुसर्पवत् भ्रान्ति है, इस को पहले मैं नहीं जानना था, श्रीभगवत् स्वरूपादि का चिन्तन के अभाव से ही वह भ्रान्ति हुई थी । भगवद् विषयक रतिका उदय होने से श्रीभगवान् के स्वरूपगुणादि चिन्तन में आवेश होता है । उससे ज्ञान हुआ कि—भगवन्माया के द्वारा शुद्ध जीव में व्यष्टि जगत्, परम ब्रह्ममें समष्टि जगत् कल्पित है । यह जो भ्रान्ति है, उस समय में इस को समझ गया ।

असर्पभूते रज्ज्वौ सर्पारोपवत् वस्तुन्यवस्त्वारोपः-अध्यारोपः ॥

जो सर्प नहीं है—इस प्रकार रज्जु में सर्प भ्रान्ति के समान वस्तु में अवस्तु की भ्रान्ति को अधारोप कहते हैं । श्रीनारद श्रीव्यास देव को कहे थे ॥८४॥

८५ । प्रेम का उदाहरण भा० १०।६०।१५ में है—

(८५) "उपलब्धं पतिप्रेम पातिव्रत्यञ्च तेऽनघे ।
यद्वाक्यैश्चाल्यमानाया न धीर्मय्यपकर्षिता ॥"२३५॥

टीका—अनुवादेन वरान् दत्वा तामभिनन्दति उपलब्धमिति । यद् यस्मात् मयि वर्त्तमानाधीर्नाप--कर्षिता नान्य विषया जाता ।

ततः किञ्चिदपि न्यूनत्वं त्वया न प्रापिता, किन्तु यथा सदा वर्त्तते, तथैवावर्त्ततेत्यर्थः ॥ श्रीभगवान् रुक्मिणीदेवीम् ॥

८६ । प्रणयमाह—(भा० १०।१८।२४) "उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः" इति । स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

८७ । मानमाह—(भा० १०।३२।६) —"एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला" इति । स्पष्टम् । श्रीशुकः ॥

८८ । स्नेहमाह (भा० १।१०।११-१४)—

(८८) "सत्सङ्गान्मुक्तदुःसङ्गो हातुं नोत्सहते बुधः ।
कीर्त्यमानं यशो यस्य सकृदाकर्ण्य रोचनम् ॥२३६॥
तस्मिन्नचस्तधियः पार्थाः सहेरन् विरहं कथम् ।
दर्शन-स्पर्शनालाप-शयनासन-भोजनैः ॥२३७॥
सर्व्वे तेऽनिमिषैरक्षैस्तमनुद्रुतचेतसः ।
वीक्षन्तः स्नेहसम्बद्धा विचेलुस्तत्र तत्र ह ॥२३८॥

---

प्रेम का वृत्तान्त श्रीकृष्ण रुक्मिणी को कहे थे । हे अनघे—निष्पापे । तुम्हारे पति प्रेम एवं पातिव्रत्य की उपलब्धि मैंने की है । कारण—वाक्य के द्वारा विचलिता होकर भी मुझ में अर्पित तुम्हारी बुद्धि का अपकर्ष नहीं हुआ है, मेरा औदासीन्य वाक्य से—'यह मेरे प्रति उदासीन है' इस प्रकार धारणा करके पहले जिस प्रकार बुद्धि थी उस से कुछ भी न्यून नहीं हुई । सर्वदा जिस प्रकार रहती है—उस प्रकार ही है । श्रीभगवान् रुक्मिणी देवी को कहे थे ॥८५॥

८६ । प्रणय का दृष्टान्त उपस्थित करते हैं—भा० १०।१८।२४ में उक्त है—

"उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः"

श्रीशुकदेव कहे हैं—पराजित भगवान् कृष्ण—श्रीदाम को वहन किये थे । श्रीकृष्ण के स्कन्धारोहन करने में श्रीदाम का जो असङ्कोच है वही प्रणय का परिचायक है ।

प्रवक्ता श्रीशुक है—८६॥

८७ । भा० १०।३२।६ में मान का दृष्टान्त है । "एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेम संरम्भ विह्वला" एक गोपी ने प्रणय कोपावेश से विवश होकर भ्रुयुगल को कुटिल किया । श्रीशुक कहे थे ॥८७॥

८८ । भा० १।१०।११---१४॥ में स्नेह का दृष्टान्त वर्णित है—

(८८) "सत्सङ्गान्मुक्तदुःसङ्गो हातुं नोत्सहते बुधः ।
कीर्त्यमानं यशो यस्य सकृदाकर्ण्य रोचनम् ॥३६॥
तस्मिन्नचस्तधियः पार्थाः सहेरन् विरहं कथम् ।
दर्शन-स्पर्शनालाप-शयनासन-भोजनैः ।२३७॥
सर्व्वे तेऽनिमिषैरक्षैस्तमनुद्रुतचेतसः ।
वीक्षन्तः स्नेहसम्बद्धा विचेलुस्तत्र तत्र ह ॥२३८॥

न्यरुन्धन्नुद्गलद्बाष्पमौत्कण्ठ्याद्देवकीसुते ।
निर्यात्यगारान्नोऽभद्रमिति स्याद्बान्धवस्त्रियः ॥"२३९॥

विचेलुरर्हणाद्यानयनार्थमितस्ततश्चलन्ति स्म । अभद्रं यात्रासमये दुःशकुनं मा स्यादिति न्यरुन्धन्नाच्छादितवत्यः ॥ श्रीसूतः ॥

८९ । रागमाह (भा० १।८।२५)—

(८९) "विपदः सन्तु ताः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो ।
भवतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥"२४०॥

भवतः कर्मभूतस्य दर्शनमवलोकनम्, यद् यासु, अपुनर्भवमन्यत्र कुत्रापि तादृशमाधुर्य्याभावात्

---

न्यरुन्धन्नुद्गलद्बाष्पमौत्कण्ठ्याद्देवकीसुते ।
निर्यात्यगारान्नोऽभद्रमिति स्याद्बान्धवस्त्रियः ॥"२३९॥

कुरुक्षेत्र युद्ध समाप्ति के अनन्तर हस्तिनापुरसे द्वारका प्रत्यावर्त्तन समय में पाण्डववृन्द की व्याकुलता के सम्बन्ध में श्रीसूत का कथन है—पाण्डवों के पक्ष में श्रीकृष्ण विरह दुःसह, है, यह कोई आश्चर्य्य की बात नहीं है । कारण, सत्सङ्ग के द्वारा जो पुत्रादि विषयक दुःसङ्ग से मुक्त होते हैं, वे साधुगण कर्त्तृक कीर्त्यमान श्रीकृष्ण यशः को एकवार मात्र सुनकर पुनर्वार सत्सङ्ग को परित्याग करने में सक्षम नहीं होते हैं । कुन्ती के पुत्रगण, दर्शन स्पर्शन, आलाप, शयन, उपवेशन एवं भोजन द्वारा श्रीकृष्ण को निज बुद्धि अर्पण किये थे । वे कैसे श्रीकृष्ण विरह सहन करने में समर्थ होंगे ?

वे स्नेह सम्बन्ध होकर अनिमिष नयनों से श्रीकृष्ण गमन को निरीक्षण करके इतस्वतः गमन किये थे । श्रीकृष्ण, हस्तिनापुर से निर्गत होने पर यद्यपि बान्धव स्त्रीगण के नयनों से उत्कण्ठा वशतः अश्रुनिगत हो रहा था, तथापि वे गमन समय में अश्रुमोचन को अमङ्गल मानकर निज नयन में ही उस को अवरुद्ध किये थे ।

मूलोक्त "विचेलुः" अर्थात् इतस्ततः गमन किये थे । पूजोपहार आनयन हेतु इतस्ततः गमन किये थे । अभद्रं अकुशल-गमन समय में अश्रुदर्शन अशुभ है । जिस से अमङ्गल दर्शन न हो तज्जन्य उस को रुद्ध-आच्छादित किये थे । प्रवक्ता श्रीसूत हैं—८८॥

८९ । भा० १।८।२५ में राग का लक्षण उक्त है—

(८९) "विपदः सन्तु ताः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो ।
भवतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥"२४०॥

राग का लक्षण उज्ज्वल में इस प्रकार है—

"दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते ।
यतस्तु प्रणयोत्कर्षात् स राग इति कीर्त्यते ॥"

जिस व्यक्ति के संयोग से परम दुःख को भी सुख बोध होता है । उक्त वाक्यसे यह सुस्पष्ट प्रतीत होता है । विपद समूह मानव को व्यथित करते हैं । किन्तु जिस विपद से श्रीकृष्ण दर्शन होता है, कुन्ती के द्वारा वह विपद प्रार्थना होने से परम दुःख में भी श्रीकृष्ण दर्शन से कुन्ती का आनन्द प्रतीत होता है यही राग का परिचायक है । श्रीकुन्ती देवी श्रीकृष्ण को बोली थीं—हे जगद् गुरो ! जहाँ आपका अपुनर्भव दर्शन

पुनर्न जातं दर्शनं साम्यप्रतीतिर्यस्य तदपूर्व्वमित्यर्थः ॥ श्रीकुन्ती श्रीभगवन्तम् ॥

९० । अनुरागमाह (भा० १।११।३४) —

(९०) "यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगत-,स्तथापि तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम् ।

पदे पदे का विरमेत तत्पदा-,च्चलापि यं श्रीर्न जहाति कर्हिचित् ॥२४१॥

असौ श्रीकृष्णः, तासां श्रीमहिषीणां पार्श्वगतः समीपस्थः, तत्रापि रहोगत एकान्ते वर्त्तते । पदे पदे प्रतिक्षणम्, तच्च तासां स्वाभाविकानुरागवतीनां नाश्चर्य्यम्, यतः का वान्यापि तत्पदाद्विरमेत, तत्पदास्वादेन तृप्ता भवेत् ? तत्र कैमुत्येनोदाहरणम्--चलापीति, जगति चञ्चलस्वभावत्वेन दृष्टापि । अत्रोदाहरणपोषार्थं प्राकृताप्राकृतश्रियोरभेदविवक्षा ॥ श्रीसूतः ॥

---

मिलता है, वहाँ निरन्तर ये सब बिपद हों ।

दर्शन—अवलोकन, देखना । जिस में—जो सब विपद समूह में । अपुनर्भव—अन्यत्र कहीं भी तादृश माधुर्य्य न होने के कारण, पुनर्दर्शन--साम्य प्रतीति नहीं होती है जिस की, वही अपुनर्भव दर्शन है—अपूर्व दर्शन है । अर्थात् श्रीकृष्ण में जिस प्रकार माधुर्य्य है उस प्रकार माधुर्य्य कहीं भी नहीं है । एतज्जन्य उनके समान कोई भी नहीं हैं, यही अपुनर्भव दर्शन करने का तात्पर्य्य है ।

९० । अनुराग का दृष्टान्त भा० १।११।३४ में है—

(९०) "यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगत-,स्तथापि तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम् ।
पदे पदे का विरमेत तत्पदा-,च्चलापि यं श्रीर्न जहाति कर्हिचित् ॥"२४१॥

यद्यपि श्रीकृष्ण, उस सब के पार्श्वगत रहोगत थे, तथापि उनके चरण युगल पद पद में नूतन नूतन बोध होते थे, परमानुरागवती उन सब के पक्ष में आश्चर्य्य कर नहीं है । कारण, अपर कौन व्यक्ति-उनके चरण से विरत हो सकते हैं, अर्थात् उन के चरण माधुर्य्यास्वाद से तृप्त हो सकते हैं ? उस विषय में कैमुत्यन्याय से उदाहरण यह है—लक्ष्मी भी जिस चरण को परित्याग नहीं कर सकती हैं । यहाँ उदाहरण पोषणार्थ प्राकृत अप्राकृत लक्ष्मी का अभेद वर्णन ही अभिप्रेत है । उज्ज्वल में रागका लक्षण यह है—

"सदानुभूतमपि यः कुर्य्यान्नवनवं प्रियम् ।
रागो भवन्नवनवः सोऽनुराग इतीर्य्यते ॥"

राग, प्रतिक्षण प्रियतम को नूतन से नूतनतर रूप में अनुभूत कराकर स्वयं भी नूतन नूतन रूप में प्रतीत होने से अनुराग नाम से ख्यात होता है ।

द्वारकास्थ महिषी वृन्द की प्रीति में अनुराग का लक्षण विद्यमान है । श्रीकृष्ण उन सब के समीप में रहते थे, उस में भी उन सब के सहित निर्जन स्थान में अवस्थान करते थे । तथापि उन सब के निकट श्रीकृष्ण नित्य नूतन अनुभूत होते थे । यह है—अनुराग का दृष्टान्त । अनन्तर श्रीकृष्ण माधुर्य्य का वर्णन करते हैं, प्राकृत लक्ष्मी--जगत् सम्पत्ति की अधिष्ठात्री रूपा हैं, अप्राकृत लक्ष्मी—श्रीनारायण प्रेयसी हैं, प्राकृत लक्ष्मी ही चञ्चला है, सर्वदा एक व्यक्ति को आश्रय कर नहीं रहती हैं, जिस का भाग्य प्रसन्न होता है, लक्ष्मी वहाँ जाती हैं, अप्राकृत लक्ष्मी वैसी नहीं हैं, वह परम पतिव्रता हैं, सर्वदा परम प्रिय श्रीभगवान्

९१। महाभावमाह (भा० १०।१९।१६)—

(९१) "गोपीनां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत् ॥"२४२॥

स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

९२। एषा प्रीतिजातो रतिमात्रात्मा,–ज्ञानिभक्तेषु परमानन्दघनमात्रतयानुभवसुखस्य ममत्वाभावेनातिशयकारणत्वायोगात्, एवं सामान्येष्वपि, (भा० ३।१५।४९) —"कामं भवः

---

को अवलम्बन कर स्थित हैं। यहाँ चाञ्चल्यांश में सम्पत्ति रूपा लक्ष्मी का चरित्र, एवं श्रीकृष्ण चरणाश्रयांश में भगवत् प्रेयसी का चरित्र लक्षित होने पर भी उभय की अभेद कल्पना करके एकलक्ष्मी में अर्थात् भगवत् प्रेयसी में उभय कार्य्य का वर्णन हुआ है। श्रीसूत कहे थे ॥९०॥

९१। भा० १०।१९।१६ में महाभाव का वर्णन है—

(९१) "गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्द दर्शने।
क्षणं युग शतमिव यासां येन विनाभवत् ॥"२४२॥

श्रीशुकदेव कहे हैं—गोविन्द व्यतीत जिन सब का क्षण काल शत युग के समान प्रतीत होता था, श्रीगोविन्द दर्शन से उन सब गोपियों को परमानन्द हुआ था।

उज्ज्वल में महाभाव का लक्षण यह है—

"अनुरागः स्व संवेद्यदशां प्राप्य प्रकाशितः।
यावदाश्रय वृत्तिश्चेद् भाव इत्यभिधीयते।"
मुकुन्द महिषीवृन्दैरप्यसावति दुर्ल्लभः
व्रजदेव्येक संवेद्यो महाभावाख्ययोच्यते।
वरामृत स्वरूप श्रीः स्वंस्वरूपं मनोनयेत्।
स रूढ़श्चाधिरूढ़ श्चेत्युच्यते द्विविधो बुधैः
उद्दीप्ता सात्त्विका यत्र स रूढ़ इति भण्यते ॥
निमेषा सहतासन्नजनता हृद् विलोड़नम्।
कल्पक्षणत्वं खिन्नत्वं तत् सौख्येऽप्यार्त्तिशङ्कया ॥"

प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥९१॥

९२। भक्त भेद से प्रीति की सीमा का निर्द्देश।

यह साधारण प्रीति ज्ञानिभक्त में केवल रति स्वरूप में अवस्थित है, कारण, केवल परमानन्द घन रूप में अनुभव सुख,—ममता का अभाव निबन्धन प्रबल तम कारण रूप में सम्मिलित नहीं हो सकता है। साधारण भक्त वृन्द की प्रीति की सीमा भी रति पर्य्यन्त है।

पहले कहा गया है,—ममता का आधिक्य से ही प्रीति का उत्कर्षाधिक्य है। शान्त भक्त गण, श्रीभगवान् को केवल परमानन्द घन रूप में अनुभव करते हैं, उनके प्रति 'यह मेरा हैं—इस प्रकार बुद्धि उन सब की नहीं होती है। तज्जन्य भगवदनुभव प्रीत्युत्कर्ष का यथेष्ट कारण नहीं होता है। अतएव प्रीति के प्रथम स्तर में ही उन सब की प्रीति–रति पर्य्यन्त सीमित होती है।

स्ववृजिनैर्निरयेषु नस्तात्'' इत्यादौ तु सनकादीनां तादृशरागप्रार्थनैव, न तु साक्षादेव राग इति समाधेयम् ।

अथ पाल्येषु प्रेमपर्य्यन्तैव,—ममतायाः स्पष्टत्वात्, न तु स्नेहादिपर्य्यन्ता,—विदूरसम्बन्धेन तस्या अनौर्जित्वात् । यत्तु (भा० १।११।६)—''यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान्'' इत्यादौ ''तत्राब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवेत्'' इति द्वारकाप्रजावाक्ये तदतिशयः प्रतीयते, तत् खलु तत्रैव केषाञ्चिन्नापित-मालाकारादीनां साक्षात्तत् सेवाभाग्यवतां भावविशेषधारिणामुक्तित्वेन सङ्गतम् ।

अथ श्रीमद्भृत्येषु रागपर्य्यन्तापि सम्भाव्यते,--तेषां ममताधिक्येन सन्तत-तत्सेवा-

---

भा० ३।१५।४९ में उक्त हैं— ''कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु न स्तात् ''

यदि हमारे चित्त आप के चरण कमलों में रत हों तो हम सब को यथेष्ट नरक वास स्वीकार है। चतुःसन की इस प्रकार प्रार्थना से राग का परिचय नहीं मिलता है। सनकादि की तादृश राग प्रार्थना व्यक्त हुई है। किन्तु साक्षात् राग नहीं है। इस प्रकार समाधान करना होगा।

पाल्य भक्त गण में स्पष्ट रूप से ममता विद्यमान होने के कारण उन सब की प्रीति की सीमा प्रेम पर्य्यन्त है। किन्तु स्नेहादि पर्य्यन्त प्रीति वृद्धि नहीं होती है। उन सब का सम्बन्ध दूरवर्त्ती होने के कारण-प्रीति को स्नेहादि रूप में परिणत होने की योग्यता नहीं है। किन्तु भा० १।११।६ में उक्त है—

''यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान् कुरून् मधून् वाथ सुहृद् विदृक्षया।
तत्राब्द कोटि प्रतिमः क्षणोभवेद्रवि विनाक्ष्णोरिव न स्तवाच्युत ।।''

हे कमल नयन ! जब आप सुहृद् वृन्द के दर्शन हेतु कुरु अथवा मधुपुरी गमन करते हैं, तब क्षण काल भी हमारे पक्ष में कोटि वत्सर के समान होता है। हे अच्युत ! सूर्य्य के बिना चक्षु की अवस्था जिस प्रकार होती है, आप के अदर्शन से आप के जन हम सब की दशा उसी प्रकार होती है। द्वारका प्रजावर्ग के इस वाक्य में पाल्य गण में प्रेम से भी अधिक प्रीति देखने में आती है, वह उक्ति—द्वारका के नापित, मालाकार प्रभृति की है,अर्थात् साक्षात् श्रीकृष्ण की सेवा सौभाग्य प्राप्त भाव विशेष धारी किसी की उक्ति है—श्रीभगवान् के भृत्य गण में राग पर्य्यन्त प्रीति की सम्भावना है। कारण, वे सब प्रचुर ममता के सहित सर्वदा सेवा में आसक्त होने के कारण तद् गत जीवन है। अर्थात् भगवान् को ही वे जीवन मानते हैं।

नापित, मालाकार प्रभृति को साक्षात् कृष्ण सेवा सौभाग्य प्राप्त है, उन सब की अथवा भाव विशेष प्राप्त प्रजाविशेष की उक्ति को मान लेने से ही यर्ह्यम्बुजाक्ष' कथन सङ्गत होगा।

श्रीभगवान् के भृत्य वर्ग में राग पर्य्यन्त प्रीति की सम्भावना है, कारण, वे सब प्रचुर ममता के सहित सर्वदा सेवा में आसक्त होते है, अतः वे ही तद्गत जीवन हैं, अर्थात् श्रीभगवान् को ही वे जीवन मानते हैं।

द्वारका के नापित एवं मालाकार पाल्य वर्ग में अन्तर्भुक्त होने पर भी साक्षात् सेवा लाभ किये हैं, अतएव वे सब भृत्य होते हैं। तज्जन्य उन में राग पर्य्यन्त प्रीति का आविर्भाव असम्भव नहीं है। श्रीकृष्ण का क्षणिक अदर्शन को कोटि वत्सर का अदर्शन के समान जो वे मानते थे, वह राग का लक्षण—विरहे में अत्यन्त अहिष्णुता है, किन्तु 'वियोग में क्षण कल्पत्व' जो महाभाव का लक्षण है—वह नहीं है। लाल्य में

लम्पटत्वेन तदेकजीवनत्वात् । लाल्येषु साक्षाच्छ्रीविग्रह-सम्बन्धेन ततोऽपि ममताविशेषोर्जितत्वात् रागातिशयो मन्तव्यः । तेभ्यः सखिभ्योऽपि ममताधिक्याद्वत्सलमुख्ययोः पित्रोः सर्व्वतस्तदतिशयः । अन्यत्रापि प्रायः (भा० १।८।२५) "विपदः सन्तु ताः शश्वत्" इत्यादि-श्रीकुन्तीवाक्यात् सखिषु प्रणयोत्कर्षांशेन तु तदाधिक्यमस्ति, सुहृत्सु नातिसन्निकर्षात् प्रेमातिशय एव, प्रणय-मानौ तु सखि-प्रेयस्योरेव सम्भवतः ।

अथ श्रीप्रेयसीषु श्रीमत्पट्टमहिषीणां महाभावतोन्मुखानुराग–पर्य्यन्तैव । यद्विवर्त्तविशेषः प्रेमवैचित्त्याख्यो विप्रलम्भशृङ्गारस्तासां (भा० १०।९०।१४) "ऊचुर्मुकुन्दैकधियः" इत्यादिना, "इतीदृशेन भावेन" इत्यन्तेन वर्णितः, ततोऽधिकं न च श्रूयते, ताभ्योऽन्यत्र त्वनुरागोऽपि न

---

साक्षात् श्रीविग्रह–अर्थात् श्रीअङ्ग के सम्बन्ध हेतु भृत्य गण से भी ममता विशेष का प्राबल्य निबन्धन राग का प्राचुर्य्य जानना होगा । कारण, सह विहार शाली प्रणय विशिष्ट सखावृन्द से भी उन सब में ममता का प्राचुर्य्य है ।

मुख्य वत्सल माता पिता का—अर्थात् पुत्र भावापन्न श्रीभगवान् में सकल भक्त से अधिक राग है । अन्यत्र भी प्रायशः वात्सल्य में सर्वाधिक राग देखने में आता है । भा० १।८।२५ में उक्त "विपदः सन्तुताः शश्वत्" 'निरन्तर वह सब विपद हों' इस प्रकार कुन्ती वाक्य से बोध होता है ।

सखा वृन्द में प्रणयोत्कर्षांश में राग का आधिक्य वर्त्तमान है । प्रचुर सन्निकर्ष का अभाव हेतु सुहृद वृन्द में प्रेमाधिक्य ही विद्यमान है, राग नहीं । प्रणय एवं मान उभय ही सखा एवं प्रेयसी में होना सम्भव है । प्रेयसी गण के मध्य में श्रीरुक्मिणी प्रभृति पट्टमहिषी गण में महाभावता उन्मुख अनुराग पर्य्यन्त प्रीति की सीमा है । जिस का विवर्त्त—अर्थात् नृत्य--प्रीति की तरङ्ग–विशेष प्रेम वैचित्त्यनाम से ख्यात विप्रलम्भ शृङ्गार है । भा० १०।९०।१४ "ऊचुर्मुकुन्दधियः' श्लोक से आरम्भकर '.इति दृशेन भावेन' पर्य्यन्त श्लोक समूह में उस का वर्णन है । महिषी वृन्द में प्रेम वैचित्त्य से अधिक प्रीत्याविर्भाव का वृत्तान्त सुनने में नहीं आता है । महिषी गण व्यतीत अन्यत्र अनुरागाविर्भाव का संवाद भी सुनने में नहीं आता है ।

श्रीशुकदेव महिषी वृन्द का प्रेम वैचित्र्य वर्णन किये हैं । श्रीकृष्ण, महिषी वृन्द के सहित जलविहार कर रहे थे । गति, आलाप, स्मित, दृष्टि नर्म्म, एवं आलिङ्गन द्वारा महिषी गण की बुद्धि को अपहरण किये थे । यहाँ तक वर्णन करने के पश्चात् श्रीशुक कहे थे—एकमात्र मुकुन्द में ही जिनकी बुद्धि निबद्ध थी, उस प्रकार महिषी गण श्रीकृष्ण चिन्ता करते करते उन्मत्तके समान विचार शून्य होकर जो कहीं थीं वह सुनो, महिषी गण बोलीं—हे सखि कुररि ! जगत् में तुम्हीं एकक निद्राहीना होकर शयनेच्छा नहीं करती हो, कारण, विलाप करती रहती हो, हमारे पति रात्रि में प्रच्छन्न होकर निद्रित है इस से प्रतीत होता है-- कमल नयन के हास्य एवं उदार लीला दृष्टि के द्वारा तुम्हारा चित्त गाढ़ रूप से विद्ध हो गया है ।

हे चक्रवाकि ! तुम रात्रि काल में निज बन्धु को न देखकर ही क्या नयन युगल को निमीलित नहीं करती हो ? केवल कातर होकर रोदन कर रही हो, किंवा दास्य प्राप्त हम सब के समान अच्युत पद सेवित मालाके द्वारा कवरी को सुशोभित करने के निर्मित्त रो रही हो । हे हंस ! तुम सुखसे आये हो न ? आओ आओ, यह दुग्धपान करो । हे प्रिय ! श्रीकृष्ण का संवाद कहो । तुम को हम सब दूत जानती हूँ, श्रीकृष्ण सुख से हैं न ? हमारी बात कुछ कहे हैं ? प्रेम अस्थिर है, आप क्या हमारी बात का स्मरण करने

श्रूयते । ननु (भा० १०।१३।२) "सतामयं सारभृतां निसर्गः" इत्यादावन्यत्राप्यनुरागो वर्ण्यते ? प्रतिक्षणं नव्यत्वस्फुरणात् ? नैवम्, अनुरागस्य न तादृशस्फुरणमात्रलक्षणत्वम्, किन्तूल्लासादि-दुःखसुखत्वभान पर्य्यन्तरत्यादिगुणलक्षणत्वमपि । अत्र तु सर्व्वत्र तत्तल्लक्षणोदयासम्भावनया नानुरागो निर्णीयत इति । तथा नव्यवदेवेत्युक्तम्, न च नव्यमिति । श्रीव्रजदेवीनान्तु महाभाव पर्य्यन्ता, (भा० ११।१२।११)—

"तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता, मयैव वृन्दावनगोचरेण ।
क्षणार्द्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां, हीना मया कल्पसमा बभुवुः ॥२४३॥

---

हैं ? उनकी केवल कथा में ही मिष्टता है, किन्तु आप अरतिप्रद हैं, लक्ष्मी व्यतीत हम सब उनका भजन क्यों करेंगे, लक्ष्मी वारंवार अनादृता होकर भी उनका भजन करती है, हम सब एकनिष्ठा हैं, हमारे समान मानिनी स्त्री वृन्द की निज सम्मान सिद्धिमें ही एकमात्र निष्ठा है ।

श्रीकृष्ण के सहित जल क्रीड़ा में रत होने के समय प्रवृद्ध अनुराग से महिषी वृन्द का यह वियोग स्फूर्त्ति रूप प्रेम वैचित्त्य उपस्थित हुआ था । यहाँतक उन सब की प्रीति की सीमा है । इस से अधिक प्रीति का वर्णन कहीं पर दृष्ट नहीं होता है ।

भा० १०।१३।२ में श्रीशुकदेव कहे थे—

"सतामयं सार भृतां निसर्गो यदर्थवाणी श्रुतिचेतसामपि ।
प्रतिक्षणं नव्यवदच्युस्य यत् स्त्रियाविटानामिवसाधुवार्त्ता ॥"

अच्युत वार्त्ता ही जिनके वाक्य, कर्ण एवं चित्त का विषय है, इस प्रकार सारग्राही साधु वृन्द का स्वभाव यह है कि—स्त्रैण पुरुष गण की कामिनी वार्ता के समान अच्युत की कथा प्रतिक्षणमें उनके निकट नूतन के समान अनुभूत होती है । इस श्लोक में एवं अन्यत्र भी अनुराग का वर्णन दृष्ट होता है । कारण, उक्त साधु वृन्द का नव्यत्व स्फुरण का संवाद है । समाधानार्थ कहते हैं– उस प्रकार स्फुरण मात्र ही अनुराग का लक्षण नहीं है, अनुराग में रतिलक्षण उल्लास से, अनुराग लक्षण महादुःख में भी सुख प्रतीति पर्य्यन्त समस्त वर्त्तमान होने चाहिये । यहाँपर उक्त अनुराग लक्षण की उदयावस्था की असम्भावना निबन्धन अनुराग का निर्णय उक्त श्लोक से नहीं होता है । उस में भी उक्त श्लोक में कथित है—'नव्यवत्' नूतन के समान किन्तु नूतन नहीं । सुतरां सतामयं श्लोक में साधु वृन्द का स्वभाव, अनुराग में पर्य्यवसित नहीं होता है ।

व्रजदेवी वृन्द की प्रीति की सीमा महाभाव पर्य्यन्त हैं । भा० ११।१२।११ में उक्त है—

"तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता, मयैव वृन्दावनगोचरेण ।
क्षणार्द्धवत्ता. पुनरङ्ग तासां, हीना मया कल्पसमा बभुवुः ॥"२४३॥

श्रीकृष्ण उद्धव को कहे थे – जब मैं वृन्दावन में था, तब व्रजदेवी गण ने मेरे साथ जो रजनी विहार किया था, वे सब रजनी उन सब के पक्ष में क्षणार्द्धकाल के समान अति वाहित हुई थीं, और मेरा विच्छेद होने से रजनी समूह उन सब के निकट कल्प तुल्य हो गई थीं ।

इस श्लोक में महाभाव का लक्षण "योगे कल्प क्षणत्व एवं वियोग में 'क्षण--कल्पत्व' की प्रसिद्धि हेतु श्रीव्रजदेवी गण में महाभावाविर्भाव का प्रमाण उपलब्ध होता है । उनके सम्बन्ध में ही महाभाद का

इत्यादि-प्रसिद्धेः । निमेषासहत्वं तासामेव,-(भा० १०।१३।१५) "कुटिलकुन्तलं श्रीमुखञ्च ते, जड़ उदीक्षतां पक्ष्मकृद्दृशाम्" इतिः (भा० ९।२४।६५) "यस्याननम्" इत्यादिकस्य "नार्य्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च" इत्यत्र सामान्यतो नरा नार्य्यश्च तावन्मुदिता बभुवुः, च-कारात्तत्रैव काश्चिच्छ्रीगोप्यो निमेर्नियमे निमेषकर्त्रे कुपिता बभुबुरित्यर्थः,-अन्यत्र तदश्रवणादेव-अन्यथा कुरुक्षेत्रयात्रायाम्, (भा० १०।८२।३९)—

"गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं, यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति ।
दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वा-, स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम् ॥"२४४॥

इत्यत्र यत्प्रेक्षण इत्यादौ वैशिष्ट्यानापत्तिश्च स्यात् । यद्यपि श्रीकृष्णस्य तादृशभावजनकत्वं स्वभाव एव, तथाप्याधारगुणमप्यपेक्षते,—स्वात्यम्बुनो मुक्तादि जनकत्वमिव । अत्र च तद्-

---

अपर लक्षण 'निमेषासहत्व' वर्णित है, भा० १०।३१।१५ में उक्त है—

"कुटिल कुन्तलं श्रीमुखञ्च ते, जड़ उदीक्षतां पक्ष्मकृद्दृशाम् ।"

श्रीकृष्ण को लक्ष्य करके वे कही थीं—कुटिल केशराशि जिसके उपरिभाग में शोभित हैं, इस प्रकार तुम्हारे श्रीमुख दर्शन समय में निमेष मात्र व्यवधान उपस्थित होने के कारण नेत्र में पक्ष्म सृष्टि कारी ब्रह्मा अरसज्ञ रूप में निन्दित होते हैं ।

गोपीगण के सम्बन्ध में ही निमेषासहत्व का उदाहरण कैसे सङ्गत होगा ? श्रीकृष्ण दर्शन कारी नर नारी के सम्बन्ध में भी उस प्रकार वर्णन उपलब्ध है--भा० ९।२४।६५ में उक्त है—

"यस्याननं-नार्य्योनराश्च मुदिताः, नरानार्य्यश्च तावन्मुदिताबभूवुः ।"

जिन का वदन—मकर कुण्डल द्वारा दीप्तिमान् है । नरनारी आनन्दित हुये थे, किन्तु तृप्त नहीं हुये; पक्षान्तर में निमेष कर्त्ता निमि के प्रति कुपित हुए थे । इस श्लोक में जो नरनारी का आनन्द एवं निमि के प्रति कोप का वृत्तान्त कहा गया है, उस में साधारणतः नरनारी गण के आनन्द को जानना होगा । उस के मध्य में अर्थात् नरनारी गण के मध्य में ही कतिपय व्यक्ति-गोपी गण निमिका नियम में अर्थात् निमेष सृष्टि हेतु कुपित हुये थे । श्लोकस्थित 'च' कार 'निमेश्च' से यह प्रतीत होता है । कारण, व्रजदेवी गण व्यतीत अपर नर नारी वृन्द की श्रीकृष्ण दर्शन से निमेषासहिष्णुता उपस्थित हुई थी—इस प्रकार विवरण सुनने में नहीं आता है ।

यदि कहा जाय कि—नरनारी सब के पक्ष में ही निमेषासहिष्णुता की कथा कही गई है। ऐसा होने पर भा० १०।८२।३९ में वर्णित कुरुक्षेत्र यात्रा में उक्त है—

"गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं, यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति ।
दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य सर्वा—,स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम् ।।"२४४।।

जिन के दर्शन में पक्ष्म निर्म्माता विधाता को दोष प्रदान करती हैं, गोपी गण--प्राण कोटि प्रियतम श्रीकृष्ण को दीर्घकाल के पश्चात् प्राप्त कर चक्षु द्वारा हृदयस्थ करके आलिङ्गन पूर्वक नित्ययुक्त व्यक्ति गण के पक्ष में जो दुर्ल्लभ है उस भाव को प्राप्त किये थे । इस से गोपीवृन्द का जो वैशिष्ट्य उक्त है, वह प्रतिपन्न नहीं होगा ।

यद्यपि श्रीकृष्ण का स्वभाव ही है दर्शन में निमेषासहता उपस्थित करना है, तथापि-आधार गति

भावमापुरिति श्रीकृष्णविषयक-महाभावविशेषाभिव्यक्ति दधुरित्यर्थः। अतएव, नित्ययुजां दुरापमित्युक्तम्, नित्ययुक्-शब्देनाप्यत्र तत्सलक्षणाः पट्टमहिष्य एव लभ्यन्ते, न तद्विलक्षणा अन्ये,-दूरप्रतीतत्वात्, ततश्च नित्ययुजाम्-एता विरहिण्यः, वयन्तु प्रियसंयोगं दिनन्दिनमेव प्राप्नुम इति प्रेष्ठम्मन्यानामपीत्यर्थः। अतएव (भा० १०।८४।१) —

---

गुण की अपेक्षा है। स्वातीनक्षत्र के वारि से मुक्ता का उद्भव में जिस प्रकार आधार गत गुण की अपेक्षा है, यहाँपर भी उस प्रकार जानना होगा। अर्थात् प्रवाद यह है कि—शुक्ति, गज, एवं सर्प के ऊपर स्वाति नक्षत्र का जल पतित होने पर मुक्ता, गज मुक्ता, सर्पमणि उत्पन्न होती है। अन्य नक्षत्र के जल से वैसा नहीं होता है। इस से बोध होता है कि—स्वाती नक्षत्र के जल में मुक्ता उत्पन्न करने की क्षमता है, किन्तु वह जल-यत्र तत्र गिरने से मुक्ता उत्पन्न नहीं होती है। केवल शुक्त्यादि में निपतित होने से ही होती है।

उस प्रकार महाभाव पर्य्यन्त प्रेमाविर्भाव करने का स्वभाव श्रीकृष्ण में होने पर भी श्रीकृष्ण दर्शन से सब में महाभाव पर्य्यन्त प्रेमाविर्भाव नहीं होता है, केवल व्रज देवी गण में ही होता है। तज्जन्य उक्त श्लोक में श्रीकृष्ण दर्शन से नरनारी की निमेषासहिष्णुता कथा कही गई है, वह केवल व्रजसुन्दरी गण के पक्ष में ही जाननी चाहिये। जिस प्रकार योग्यता होने पर भक्त में महाभाव आविर्भाव होता है, वह योग्यता श्रीकृष्ण प्रेयसी भिन्न अन्य कुत्रापि नहीं है।

भा० १०।८२।३९ श्लोक में "तद् भाव मापुः" तद्भाव प्राप्त हुये थे—इस प्रकार कहा गया है—इस का अर्थ इस प्रकार है—श्रीकृष्ण विषयक महाभाव विशेषाभिव्यक्ति को धारण किये थे। अतएव 'नित्य-युजां दुरापम्' नित्य युक्त व्यक्ति वृन्द के पक्ष में दुर्ल्लभ है—कहा गया है। नित्य युक्त शब्द से भी यहाँपर श्रीव्रजदेवी वृन्द के तुल्य लक्षण जिन में है, उन श्रीरुक्मिणी प्रभृति पट्टमहिषी गण को गृहीत होते हैं। कान्ता भाव का वैलक्षण्य जिन में है, इस प्रकार नित्ययुक्त योगि गण की कथा तो दूर है, परिकर-दास, सखा, माता पिता प्रभृति गृहीत नहीं होते है। कारण, उससे वाक्यार्थ में दूर प्रतीति रूप दोष उपस्थित होता है।

अभिप्राय यह है—पहले कहा गया है कि-श्रीपट्टमहिषी वृन्द की प्रीति की सीमा अनुराग पर्य्यन्त है। यहाँ महाभाव का अनुभाव वर्णित होने पर श्रीकृष्ण दर्शन से श्रीगोपी वृन्द में जो भाव उपस्थित हुआ था, वह महिषी गण के पक्ष में दुर्ल्लभ है।

महाभाव--रूढ़, अधिरूढ़ भेद से द्विविध हैं, निमेषासहता प्रभृति रूढ़ महाभाव के अनुभाव हैं। कुरुक्षेत्र यात्रा में निमेषासहता वर्णित होने से यहाँ रूढ़ महाभावाविर्भाव को समझना होगा। मूलोक्त-"अत्र च तद् भावमापुरिति—श्रीकृष्ण विषयक महाभाव विशेषाभिव्यक्ति" दधुरित्यर्थः" महाभाव विशेष पद के विशेष शब्द से रूढ़ महाभावाविर्भाव--ही अभिप्रेत है।

"ततश्च नित्ययुजाम्" नित्ययुक्ता गण किस प्रकार हैं? कहते हैं—जो सब नित्य युक्ता पट्टमहिषी व्रज देवी गण के देख कर सोच रही थीं, ये विरहिणी हैं, हम सब प्रतिदिन प्रिय श्रीकृष्ण सङ्गिनी हैं। सुतरां हम सब परम प्रेयसी हैं। इस प्रकार महिषी वृन्द के पक्ष में जो दुर्ल्लभ है, उस प्रकार भाव व्रजदेवी गण में उपस्थित हुआ था। अतएव उन सब को ही श्रीकृष्ण की परमान्तरङ्गा निर्देश करना ही श्रीशुकदेव का अभिप्राय है।

कहा जा सकता है कि—कुरुक्षेत्र यात्रा में श्रीमहिषी वृन्द का प्रेमानुबन्ध को सुनकर गोपीगण

"श्रुत्वा पृथा सुवलपुत्र्यथ याज्ञसेनी, माधव्यथ क्षितिपपत्न्य उत स्वगोप्यः ।
कृष्णेऽखिलात्मनि हरौ प्रणयानुबन्धं, सर्व्वा विसिस्म्युरलमश्रुकलाकुलाक्ष्यः ॥"२४५॥

इत्यत्र क्वचिदन्यत्राहृष्टचरेण (भा० १०।८३।४३) "व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति" इत्यादि-तदीय-पूर्व्वोक्त-रीत्या स्वीयभावतुल्यतास्पर्शिना प्रणयानुबन्धेन विस्मितानामपि श्रीगोपीनां

---

विस्मित हो गई थी। ऐसा होने पर महिषी गण से प्रेमोत्कर्ष निबन्धन उन सब की अन्तरङ्गता होने की सम्भावना कहाँ है ? इस प्रकार संशय निरसन हेतु कहते हैं—भा० १०।८४।१ में

"श्रुत्वा पृथा सुवलपुत्र्यथ याज्ञसेनी, माधव्यथ क्षितिपपत्न्य उत स्वगोप्यः ।
कृष्णेऽखिलात्मनि हरौ प्रणयानुबन्धं, सर्व्वा विसिस्म्युरलमश्रुकलाकुलाक्ष्यः ॥"२४५॥

कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा राजपत्नीगण एवं स्वगोपीगण अखिलात्मा सर्वमनोहर श्रीकृष्ण में महिषी वृन्द के प्रणयानुबन्ध को सुनकर धारा वाहिनी अश्रुकला से आकुलिता एवं विस्मिता हुई थीं।

प्रसङ्ग इस प्रकार है—श्रीकृष्ण के द्वारका में अवस्थान समय में सर्वग्रास सूर्य्य ग्रहण हुआ था। उस समय भारत वर्ष के राजन्य वृन्द प्रजागण एवं द्वारका परिकर गण के सहित श्रीकृष्ण महातीर्थ कुरुक्षेत्र में उपस्थित हुये थे। गोप गोपी गण के सहित नन्द महाराज भी वहाँ उपस्थित हुए थे।

वहाँ महिलावर्ग एकत्र होकर श्रीकृष्ण कथा आलोचना कर रही थीं, उस समय द्रौपदी महिषी गण को जिज्ञासा की थीं, श्रीकृष्ण कैसे तुम सब के सहित विवाह सम्पन्न किये हैं। पृथक् पृथक् रूप से उस विवरण को कहो।

श्रीरुक्मिण्यादि अष्ट महिषी निज निज विवाह वर्णन करने के पश्चात् षोड़श सहस्र महिषी बोली थीं "नरकासुर के दिग्विजय समय में जो सब राजन्यवृन्द पराजित हुये थे, हम सब उन सब की कन्या हैं, उसने हम सब को अवरुद्ध करके रखा था। श्रीकृष्ण उस को निहत करके हम सब को मुक्त किये थे। हम सब उनके संसार मोचन कारी पादपद्म का स्मरण करती थीं, तज्जन्य आप्त काम होकर भी हम सब को विवाह उन्होंने किया है।

हे साध्वि ! साम्राज्य, इन्द्रपद, भोग्य अणिमादिसिद्धि, ब्रह्मपद, मोक्ष, एवं सालोक्यादि--कुछ भी कामना हम सब की नहीं हैं, केवल लक्ष्मी के कुच कुङ्कुम गन्ध युक्त उन गदाधर की श्रीयुक्तपादरेणु को मस्तक में वहन करने की कामना हम सब की है। व्रजस्त्रीगण, पुलिन्दी, गण, तृणलता एवं गोचारण समय में गोप गण जिस की वाञ्छा करते हैं हम सब महात्मा श्रीकृष्ण के उन पादस्पर्श की कामना करती हैं। इस प्रकरण स्थित लक्ष्मी शब्द का अर्थ श्रीराधा है।

महिषी वृन्द की प्रणय वार्त्ता को सुनकर कुन्ती प्रभृति विस्मिता हो गई थीं। गोपी गण एवं कुन्ती प्रभृति ने वार्त्ता की परम्परा क्रम से सुनी थीं। कुन्ती एवं गान्धारी का विस्मय पातिव्रत्यांश में हैं। द्रौपदी का विस्मय–पाति व्रत्यांश में एवं भावांश में है। सुभद्रा का विस्मय–स्नेहांश में है, राज पत्नी गण का विस्मय यथा योग्य रूप में है, एवं गोपी गण का विस्मय स्वजातीय भावदर्शन से हुआ है।

प्रीति के आधिक्य से ही महिषीवृन्द का श्रेष्ठत्व तारतम्य है। भा० १०।८३।४३ में उक्तहै—

"व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति पुलिन्द्यस्तृणवीरुधः ।
गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्शं महात्मनः ॥"

टीका—ननु तर्हि अतिदुर्लभत्वात् किं तद्वाञ्छया अत आहुः व्रजस्त्रिय इति। यद् यथा गावो गाः

विशेषणत्वेन स्व-शब्दः पठितः,–परमान्तरङ्गताविबोधिषया, तथा (भा० १।१०।२६) "अहो अलं श्लाघ्यतमं यदोः कुलम्" इत्यादि–पद्यत्रयात्मके प्रथमस्कन्ध-सम्बन्धिनि पुरस्त्रीवाक्येऽपि, तेषु प्रथमद्वयं सर्व्वस्य मथुरा-व्रज-द्वारकावासिनो जनस्य भाग्यमहिमप्रतिपादकम्, तृतीयं खलु (भा० १।१०।२८) —

"नुनं व्रत-स्नान-हुतादिनेश्वरः, समर्च्चितो ह्यस्य गृहीतपाणिभिः ।
पिबन्ति याः सख्यधरामृतं मुहु-,र्व्रजस्त्रियः संमुमुहुर्यदाशयाः ॥"२४६॥

इत्येतत् । अत्र पट्टमहिषीणां भाग्यश्लाघायामपि श्रीव्रजदेवीनामेव हि परमोत्कृष्टत्व–

---

महात्मनोऽपि गाश्चारयतः पादस्पर्शञ्च गोपा यथा वाञ्छन्ति तद्वत् । तत् पराणां सुलभ इति भावः ॥

वृजस्त्री गण जो वाञ्छा करती हैं, इत्यादि श्लोक में महिषी वृन्द का जो प्रणयदार्ढ्य प्रकटित हुआ है, वह वृज गोपी वृन्द के भाव का तुल्यता स्पर्शी है । अर्थात् वृजदेवी वृन्द की प्रीति की प्रथम सीमा का आरम्भ जिस से हुआ है, महिषी गण की प्रीति की शेष सीमा वही है । इस प्रकार प्रणय दार्ढ्य अन्यत्र दृष्ट नहीं होता है, इस प्रकार मानकर गोपीगण विस्मिता होने पर भी गोपी गण ही जो परमान्तरङ्गा हैं- इस विषय में किसी प्रकार विरोध उपस्थित हो ही नहीं सकता है । तज्जन्य उनके विशेषण रूप में उक्त श्लोक में स्व शब्द को योग (स्व गोप्यः) किये हैं ।

वृजदेवी गण की प्रीत्युत्कर्ष का वृत्तान्त प्रथम स्कन्ध के पुरस्त्री वाक्य में वर्णित है । भा० १।१०।२६-२८

"अहो अलं श्लाघ्यतमं यदोः कुलम् ।
अहो अलं पुन्यतमंमधोर्बनम् ।
यदेष पुंसामृषभः श्रियःपतिः स्वजन्मना चंक्रमणेन चाञ्चति ।
अहोवत् स्वर्यशस्तिरस्करी कुशस्थली पुण्ययशस्करी भुवः ।
पश्यन्ति नित्यं यदनुग्रहेषितं स्मितावलोकं स्वपतिं स्म यत् प्रजाः ।
नूनं वृतस्नान हुतादिनेश्वर समर्चितोह्यस्य गृहीत पाणिभिः ।
पिबन्ति या सख्यधरामृतं मुहुर्वृजस्त्रियः संमुमुहुर्यदाशयाः ॥"२४६॥

अहो ! यदुकुल अतिशय प्रशंसनीय है, कारण, यह पुरुषोत्तम लक्ष्मीपति जन्म ग्रहण कर इस को गौरवान्वित किये हैं ।

मधुवन मथुरा भी पुण्यतम है, कारण, भगवान् इतस्ततः गमनोपलक्ष्य में वहाँ पद निक्षेप कर उस को गौरवान्वित किये हैं ।

जिस द्वारका के प्रजागण—अनुग्रह पूर्वक हास्यावलोकन विशिष्ट निज अधिपति श्रीकृष्ण को सर्वदा देखते हैं, उस द्वारका पुरी स्वर्ग के यशः को म्लान करके पृथिवी का यशः विस्तार कर रही है । हे सखि ! श्रीकृष्ण, जिन को विवाह किये हैं, वे जन्मान्तर में कितने वृतस्नान एवं होमादि के द्वारा ईश्वर की आराधना किये हैं । वृजस्त्रीगण जिस अधरामृत का स्मरण करके मुग्ध होती थीं, यह सब उन श्रीकृष्ण के अधरामृत को पान वारं वार कर रही हैं ।

उक्त श्लोकत्रय के प्रथम श्लोक द्वय में वृज, मथुरा एवं द्वारका वासी समस्त लोको की भाग्य महिमा वर्णित है । तृतीय श्लोक में पट्टमहिषी गण की भाग्य प्रशंसा द्वारा भी श्रीवृजदेवी वृन्द का ही परमोत्कर्ष

मास्वादाभिज्ञतरत्वञ्चायातम्, यस्यामृतस्य माधुर्य्यस्मरणे देवा अपि मुह्यन्ति, तन्मनुष्येणाप्यनेनास्वाद्यत इतिवत्, तस्मात्तासामेव सर्व्वोत्तमभावना अयमत्र सन्दर्भः—श्रीभगवतः स्वभावस्तावदुभयविधः,-ब्रह्मत्वलक्षणो भगवत्त्वलक्षणश्चेति। भक्ताश्च सामान्यतो द्विविधा उक्ताः,—तटस्थाः परिकराश्चेति। तत्रैके तटस्था ब्रह्मतापुरस्कारेण तत्स्वभावेन प्रीयमाणाः शान्ताख्याः, अन्ये च तटस्थाः परिकरवद्भगवत्ताविशेषेणापि प्रीयमाणाः परिकरत्वाभिमानमप्राप्ताः, ततः स्फुटमेवैते परिकरात् प्रीतिविहीनाः अथाद्या अपि प्रीति-कारणस्य प्रीतिकार्य्यस्य च निर्हीनत्वात् परिकरात् प्रीतिनिर्हीनाः। कारणं चात्र साहाय्यम्, सहायो द्विविधः,—ममतालक्षणोऽर्थं स्तदङ्गं ब्रह्मत्वानुभवादयस्तदुपाङ्गानीति । अत्र तेषां ममत्वं नास्तीति दर्शितमेव, तच्च युक्तम्,—सम्बन्धविशेषास्फुरणात्, ततोऽङ्गनिर्हीनत्वम् । उपाङ्गेषु च तेषां ब्रह्मत्वज्ञानमेव मुख्यम्,—तदनुशीलनस्वाभाव्यात् । भगवत्ताज्ञानन्तु तदनुगतम्,—तस्या एव तादृशभावेन तेषामाकर्षणात्, यदुक्तम् (भा० १।७।१०)-"आत्मारामाश्च"

---

एवं अधिक आस्वादाभिज्ञता का वर्णन है। जिस अमृत माधुर्य्य का स्मरण से देवगण भी मोह प्राप्त होते हैं, मनुष्यगण उस को पान करते हैं, इस प्रकार कथन से देवगण के उत्कर्षादि की प्रतीति जिस रीति से होती है, उक्त श्लोक में गोपी वृन्द के उत्कर्षादि भी उस रीति से ही प्रतिपन्न हुए हैं।

सारार्थ यह है—श्रीभगवान् के स्वभाव द्विविध हैं। ब्रह्मत्वलक्षण एवं भगवतत्वलक्षण। भक्त गण भी द्विविध हैं। तटस्थ एवं परिकर। उसके मध्य में कतिपय तटस्थ भक्त, ब्रह्मता सूचक तदीय स्वभाव में प्रीतिमान् हैं, उनको शान्त भक्त कहते हैं। अन्य तटस्थ गण परिकर गण के समान भगवत्ता विशेष के द्वारा भी प्रीत होते हैं। अर्थात् ब्रह्मता सूचक स्वभाव में तो प्रीतिमान् हैं ही, भगवत्ता सूचक स्वभाव में भी प्रीति प्राप्त करते हैं। यह सब परिकराभिमान् को प्राप्त नहीं होते हैं, तज्जन्य स्पष्ट रूप से ही यह सब परि-कर गण की अपेक्षा से प्रीति विहीन होते हैं। प्रथमोक्त शान्त भक्तगण प्रीति कारण एवं प्रीति कार्य्य की निकृष्टता हेतु परिकर गण की अपेक्षा से प्रीति विहीन हैं। यहाँपर—कारण--साहाय्य है। सहाय-द्विविध होते हैं—ममतालक्षण जो सहाय है, वह प्रीति कारण का अङ्ग है, और ब्रह्मतानुभवादि प्रीति कारण का उपाय है। श्रीभगवान् में शान्त भक्त वृन्द की ममता नहीं है। यहाँपर उसका वर्णन हुआ है। वह असङ्गत नहीं है। कारण, श्रीभगवान् के सहित उन सब का कोई सम्बन्ध नहीं होता है। सम्बन्ध स्फूर्ति होने से ही ममता होती है, सम्बन्ध स्फुरण के अभाव से प्रीति का अङ्ग स्थानीय जो कारण—ममता--उस की न्यूनता उपस्थित होती है। एवं उपाङ्ग समूह के मध्य में भी उनके पक्षमें ब्रह्म ज्ञान ही मुख्य है। कारण, वे सब स्वभावतः ही ब्रह्मानुशीलन में ही रत रहते हैं, उनका भगवत्ताज्ञान—ब्रह्म ज्ञान के अनुगत रहता है। कारण, भगवत्ता ही शान्त भक्त गण को तादृश रूप में अर्थात् ब्रह्मज्ञान रूप में आकर्षण करती है। जिसका वर्णन भा० १।७।१० में श्रीसूतने किया है—

"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्ति मित्थम्भूत गुणोहरि॥

विधिनिषेधातीत आत्माराम मुनिगण श्रीकृष्ण में फलाभिसन्धि रहित भक्ति करते रहते हैं। श्रीहरि-इस प्रकार गुण शाली हैं। अर्थात् श्रीहरि आत्मारामगणाकर्षि गुण सम्पन्न हैं। वस्तुतस्तु प्रीति की

इत्यादौ "इत्थम्भूतगुणो हरिः" इति। वस्तुतस्तु प्रीतिसाहाय्ये भगवत्ताया एव मुख्यत्वं तैरनुभुतम्,—(भा० ३।१५।४३) तस्यारविन्दनयनस्य" इत्यादौ "चकार तेषां, संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः" इति, तथापि तादृशस्वभावत्वापरित्यागादुपाङ्गनिर्हीनत्वम्। अथ प्रीतिकार्य्यमपि तेषां निर्हीनत्वम्, यतः प्रायशो भगवत्स्मरणमेव तत्कार्य्यम्, तद्दर्शनन्तु कादाचित्कमेव। परिकराणां पुनः साक्षात्तदङ्गसेवादिकमपि सन्ततमेव, अतएव तेषामेव सौभाग्यातिशय-

---

सहायता के पक्ष में भगवता का ही प्राधान्य है, इस का अनुभव सनकादि मुनिगण किये थे। भा० ३।१५।४३ में वर्णित है—

"तस्यारविन्द नयनस्य पदारविन्द किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्द वायुः।
अन्तगत स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभमक्षर जुषामपि चित्ततन्वोः ॥"

टीका—स्वरूपानन्दादपि तेषां भजनानन्दाधिक्यमाह--तस्य पदारविन्दयोः किञ्जल्कैः केशरैः मिश्रा या तुलसी तस्या मकरन्देन युक्तो वायुः स्वविवरेण नासाछिद्रेण अक्षर जुषां ब्रह्मानन्द सेविनामपि संक्षोभं चित्तेऽतिहर्षं तनौ रोमाञ्चम् ॥

इस श्लोक में कथित है कि—ब्रह्मानन्द सेविगण के चित्ततनु भी क्षुब्ध हुये थे। तथापि वे सब ब्रह्मानुशीलन स्वभाव त्य ग नहीं किये थे। अतः उनका प्रीति कारण का उपाङ्ग भी निकृष्ट है।

परिकर वृन्द से शान्त भक्त गण में प्रीति की न्यूनता है, प्रीति का कारण एवं कार्य्य की न्यूनता ही उसके प्रति हेतु है। यहाँ प्रीति कारण की न्यूनता प्रदर्शित हुई है, पश्चात् कार्य्य की निकृष्टता को कहेंगे। यहाँपर 'अन्यथासिद्धि शून्य नियत पूर्व वर्त्तिता कारणत्वं" जिसके अभावसे कार्य्य नहीं होता है, इस प्रकार नियत पूर्ववर्त्ती वस्तु को कारण कहते हैं। इस अर्थ में यहाँ कारण शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। सहाय अर्थ में प्रयोग हुआ है। प्रीति नित्य वस्तु होने के कारण उस के उत्पत्ति हेतुभूत कारण होना असम्भव है। किन्तु जो प्रीत्याविर्भाव का सहायक है, वही उसका कारण है, एवं प्रीति जो होता है, वही प्रीति का कार्य्य है।

प्रीति के सहाय द्विविध हैं। एक ममता अपर ब्रह्मत्वानुभवादि। आदिपद से परमात्मानुभव एवं भगवत् स्वरूपानुभव को जानना होगा। इस द्विविध कारण को मुख्य गौण भेद से अङ्ग उपाङ्ग कहा गया है। मुख्य कारण--ममता–अङ्ग है, गौण कारण--ब्रह्मानुभवादि--उपाङ्ग है। अङ्ग--कर चरणादि अवयव हैं, उपाङ्ग--भूषण है।

कारण के उत्कर्ष से कार्य्य का उत्कर्ष होता है, एवं कारण का अपकर्ष से कार्य्य का अपकर्ष होता है। यहाँ प्रीति कारण के अपकर्ष द्वारा शान्त भक्त गण की प्रीति का अपकर्ष प्रतिपादित हुआ है, सम्बन्ध ज्ञानाभाव ही अङ्ग के अपकर्ष हेतु है। जिस के सहित सम्बन्ध नहीं है, उस के प्रति ममत्व नहीं होता है। उपाङ्ग का अपकर्ष अनुभव का अपकर्ष होता है। शान्त भक्त गण में ब्रह्मानुभव प्रधान है, भगवत्तानुभव स्वल्प रहता है। भगवत्तानुभव जो ब्रह्मानुभव से श्रेष्ठ है—इसका अनुभव--शान्त भक्त वृन्द के आदर्श चतुःसन ने वैकुण्ट नाथ को देखकर ही किया है। इस से उन सब के अनुभव का अपकर्ष सिद्ध हुआ है। इस रीतिसे द्विविध सहाय की न्यूनता प्रति पादित हुई।

अनन्तर उनके प्रीति कार्य्य की निकृष्टता का वर्णन करते हैं। शान्त भक्त गण—प्रायशः भगवत् स्मरण ही करते हैं। कदाचित् भगवद् दर्शन उन सब को होता है। परिकर वृन्द तो निरन्तर साक्षात्

वर्णनम्। श्रीजयविजयशापप्रस्तावे (भा० ३।१५।३७) "तस्मिन् ययौ परमहंस-महामुनीना,--मन्वेषणीयचरणौ चलयन् सहश्रीः" इत्युक्त्वा (भा० ३।१५।३८) "त्वं त्वागतं प्रतिहृतौपयिकं स्वपुंभि,-स्तेऽचक्षताक्षविषयं स्वसमाधिभाग्यम्" इति, तथा (भा० ३।१५।४०) "विनतासुतांसे विन्यस्तहस्तम्" इति, तथा तदा जय-विजययोरेव भगवत आत्मीयत्वं स्पष्टमस्ति, मुनिषु तु गौरवम्, तत्र श्रीब्रह्मवाक्ये-(भा० ३।१५।३७) "एवं तदैव भगवानरविन्दनाभः स्वानां विबुध्य सदतिक्रममार्य्यहृद्यः" इति, श्रीवैकुण्ठनाथवाक्ये च (भा० ३।१६।४)—

"तद्वः प्रसादयाम्यद्य ब्रह्म दैवं परं हि मे।
तद्धि ह्यात्मकृतं मन्ये यत् स्वपुंभिरसत्कृताः ॥"२४७॥ इति।

---

श्रीप्रभु की अङ्ग सेवा ही करते रहते हैं। अतएव परिकर वृन्द में प्रीति कार्य्य का उत्कर्ष निबन्धन शान्त भक्त वृन्द से सौभाग्यातिशय है। भा० ३।१५।३७ के जय विजय शाप प्रस्ताव में उक्त है—

"तस्मिन् ययौ परमहंस महामुनीनामन्वेषणीयचरणौ चलयन् यह श्रीः"

जहाँपर मुनिगण दौवारिक कर्त्तृक बाधा प्राप्त हुये थे – यहाँपर श्रीहरि--निज चरण चालन पूर्वक श्रीलक्ष्मी के सहित उपस्थित हुये थे। उन के चरण युगल परमहंस महामुनि वृन्द के अन्वेषणोय हैं। इस प्रकार कहने के पश्चात् कहे थे—भा० ३।१५।३८

"तं त्वागतं प्रति हृतौपयिकं स्वपुंभिस्तेऽचक्षताक्ष विषयं स्व समाधिभाग्यम्"

सनकादि मुनिगण ब्रह्म समाधि रूप साधन का फल स्वरूप सुस्पष्ट अनुभूयमान श्रीभगवान् को दर्शन किये थे। परिकर गण सेवायोग्य विविध वस्तुके द्वारा उन की सेवा कर रहे थे।

मुनि गण दीर्घ कालीन समाधि के फल रूप में जिनका दर्शन एकबार मात्र किये के, परिकर गण, उनकी सेवा निरन्तर करते रहते हैं, यही उन सब की सौभाग्यातिशय का परिचायक है। उस प्रकार भा० ३।१५।४० में उक्त है—

"विनतासुतांसे विन्यस्त हस्तम्" विनतासुत—गरुड़ है, वैकुण्ठनाथ के अन्यतम परिकर हैं। उक्त कथन से उनका भी सौभ्यातिशय का परिचय प्राप्त होता है। जिस समय श्रीहरि--मुनिवृन्द के सम्मुख में उपस्थित हुये थे, उस समय चतुःसनोंने देखा-श्रीहरि विनतानन्दन के स्कन्ध देश में हस्तार्पण किये हैं। इस प्रकार अवस्थान परमानुग्रह का परिचायक है, यह गरुड़ के पक्ष में परम सौभाग्य का सूचक है।

जय विजय का भी उस समय परम सौभाग्य सूचित हुआ है। जिस समय मुनिगण के अशिष्ट व्यवहार करके जय विजय शापग्रस्त हुये थे, उस समय श्रीभगवान् जय विजय के प्रति आत्मीयता एवं मुनि वृन्द के प्रति गौरव प्रकाश किये थे। श्रीब्रह्मा के वाक्य भा० ३।१५।३७ में इस का विवरण है—

"एवं तदैव भगवानरविन्दनाभः स्वानां विबुध्य सदतिक्रममार्य्यहृद्यः।"

उक्त प्रीति से तत् क्षणात् आर्य्य वृन्द के मनोज्ञ भगवान् निज जनगण के द्वारा महत् की मर्यादा लङ्घन रूप अपराध को जानकर, भा० ३।१६।४ में श्रीवैकुण्ठनाथ वाक्य भी इस प्रकार है—

"तद्वः प्रसादयाम्यद्य ब्रह्म दैवं परं हि मे।
तद्धि ह्यात्मकृतं मन्ये यत् स्वपुंभिरसत्कृताः ॥"२४७॥

तच्च परिकराणां सौभाग्यं स्वयमपि दृष्ट्वा ते मुनयश्च तयोः स्वकृतशापादलज्जन्त, (भा० ३।१६।२५) —

"यं वानयोर्दममधीश भवान् विधत्ते, वृत्तिं तु वा तदनुमन्महि निर्व्यलीकम् ।
अस्मासु वा य उचितो ध्रियतां स दण्डो, येऽनागसौ वयमयुङ्क्ष्महि किल्विषेण ।।"२४८।।

तथा तयोस्तस्यात्मीयत्वेनैव सहकारुण्यमपि मुनिषु निर्गतेषु व्यक्तमस्ति, (भा० ३।१६।२९) —

"भगवाननुगावाह यातं मा भैष्टमस्तु शम् ।
ब्रह्मतेजः समर्थोऽपि हन्तुं नेच्छे मतं तु मे ।।"२४९।। इति ।

तस्मात् कार्य्यनिर्हीनत्वमपि । तेभ्यश्च सर्व्वनिर्हीनत्वेभ्यस्तटस्थानतिक्रम्य परिकराणां प्रीत्युत्कर्षो

---

कुपित मुनिगण को श्रीवैकुण्ठनाथ कहे थे—ब्राह्मण मेरा परम देवता हैं । सम्प्रति आप सब को प्रसन्न करूँगा । मदीय भृत्यगण जो कुछ किये हैं, उसको मैं मानता हूँ कि मेरे द्वारा ही वह कार्य्य हुआ है ।

श्रीब्रह्मा वाक्योक्त जय विजय को निज जन कहने से उन के प्रति आत्मीयता एवं मुनि गण के प्रति महत् शब्द प्रयोग हेतु उनके प्रति गौरव प्रकाश अभिप्रेत हो रहा है । श्लोकस्थित 'महत्' शब्द भगवान् का मनोभाव व्यञ्जक है । श्रीभगवद् वाक्य में कथित— जय विजय को निजभृत्य एवं उन के द्वारा कृत कर्मको निजकृत कर्म मानना--उनके प्रति आत्मीयता एवं मुनिवृन्द के प्रति परम देवता बुद्धि से प्रसन्न करने में प्रवृत्त होने के कारण--उनके प्रति गौरव प्रकाश हुआ है । श्रीभगवान् की आत्मीय बुद्धि जितनी कृपा परिचायिका है, गौरव बुद्धि उतनी कृपा परिचायिका नहीं है । परिकर जय विजय के प्रति श्रीभगवान् की आत्मीय बुद्धि न होने के कारण मुनिगण से भी जय विजय का परम सौभाग्य व्यञ्जित हुआ है ।

मुनिगण निज नयनों से जय विजय का सौभाग्य दर्शन किये थे, तज्जन्य उनको अभिशाप प्रदान हेतु लज्जित भी हुये थे । लज्जित होकर मुनिगण भा० ३।१६।२५ में कहे भी थे –

"यं वानयोर्दममधीश भवान् विधत्ते, वृत्तिं तु वा तदनुमन्महि निर्व्यलीकम् ।
अस्मासु वा य उचितो ध्रियतां स दण्डो, येऽनागसौ वयमयुङ्क्ष्महि किल्विषेण ।।"२४८।।

हे अधीश ! जय विजय के प्रति यदि अन्य दण्ड विधान करने की इच्छा हो, अथवा जीविका वर्द्धित करने की इच्छा हो, तो आप वैसा करें, हम सब निःसङ्कोच से उसका अनुमोदन करते हैं । और यदि निरपराधी को अभिशाप प्रदान हेतु हम सब को जो दण्ड देना उचित है—आप प्रदान करें ।

भा० ३।१६।२९ में जय विजय के प्रति श्रीभगवान् जिस प्रकार आत्मीयता प्रकाश किये थे, मुनिगण वैकुण्ठ से निर्गत होने से तदनु रूप कारण भी प्रकाशित हुआ था ।

"भगवाननुगावाह यातं मा भैष्टमस्तु शम् ।
ब्रह्मतेजः समर्थोऽपि हन्तुं नेच्छे मतं तु मे ।।"२४९।

भगवान् अनुगत व्यक्ति द्वय को कहे थे – तुम दोनों यहाँ से जाओ, भय नहीं है, मङ्गल होगा । ब्रह्म शाप निवारण में समर्थ होने पर भी मैं वैसा करना नहीं चाहता हूँ । मदीय अभिप्राय के अनुसार ही यह शाप उपस्थित हुआ है ।

यह सब प्रमाणों से शान्त भक्त गण में प्रीति कार्य्य को भी निकृष्टता प्रतिपन्न हुई है । इस प्रकार

दर्शितः । ननु निरुपाधिप्रेमास्पदस्य प्रीतौ परिकरत्वाभिमान उपाधिः स्यात् ? ततो ज्ञानात्मिकां सामान्याञ्च प्रीतिमपेक्ष्य तदभिमानिप्रीतयो गौण्य एव स्युः ? किञ्च, ममतायाः प्रीतिहेतुत्वे जाते च यस्यात्मनः सम्बन्धात् प्रीतिर्भवेत्, तस्मिन्नेव तदाधिक्यं स्यात् ? नैवम्, श्रीभगवतो येन स्वभावेनैवानुभूतेनाभिमानविशेषं विनापि तेषां प्रीतिरुदयते, तेनापि परिकराणामुदयते, तथा निजस्वभावसिद्धो वा तात्कालिको वा योऽभिमानविशेषस्तेनाप्युदयते ।

---

तटस्थ शान्त भक्त वृन्दकी प्रीति की कार्य्य कारण गत निकृष्टता प्रतिपन्न करके उन सब की अपेक्षा परिकर गण की प्रीति का उत्कर्ष प्रदर्शित हुआ है ।

यहाँपर प्रश्न हो सकता है कि—निरुपाधि प्रेमास्पद श्रीभगवान् के प्रति जो प्रीति है—उसमें परिकरत्वाभिमान उपाधि हो सकती है। तन्निबन्धन ज्ञानात्मिका एवं सामान्या प्रीति की अपेक्षा परिकरत्वाभिमानमयी प्रीति सम्यक् रूपसे गौणी होगी—इसमें आपत्ति क्या है ? और भी-ममता ही प्रीति का कारण है, यह ज्ञान होने पर जिस आत्मा के सम्बन्ध हेतु प्रीति होती है, उस आत्मा में ही अधिक प्रीति हो, इस में भी आपत्ति क्या हो सकती है ?

अर्थात् ज्ञानात्मिका एवं सामान्या प्रीति में श्रीभगवान् के सहित किसी प्रकार सम्बन्धाभिमान नहीं होता है, किन्तु दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं कान्त भावमयी प्रीति में मैं श्रीभगवान् के दासादि रूप कोई परिकर हूँ-इस प्रकार अभिमान होता है । यहाँ ज्ञानात्मिका एवं सामान्या प्रीति से परिकरताभिमानमयी प्रीति की श्रेष्ठता प्रदर्शित हुई है । यहाँ आपत्ति यह हो सकती है कि श्रीभगवान् किसी भी गुण विशेष की अपेक्षा से प्रेमास्पद नहीं हैं । स्वभावतः ही आप सब के प्रेमास्पद हैं । परिकराभिमान से जो उनको प्रीति करते हैं, उनके वह अभिमान प्रीति के हेतु है । उनकी प्रीति में श्रीभगवान् के प्रभुत्वादि गुण प्रकाश की अपेक्षा है । ज्ञानात्मिका एवं सामान्या प्रीति में किसी प्रकार अभिमान नहीं है, तादृश प्रीतिमान् व्यक्ति किसी प्रकार अपेक्षा न करके ही श्रीभगवान् के प्रीति करते हैं, एतज्जन्य उनकी प्रीति श्रेष्ठ है, और जो परिकराभिमान के द्वारा प्रीति करते हैं उनकी प्रीति निकृष्ट है । यह एक पूर्व पक्ष है । अपर पूर्व पक्ष यह है—ममता के हेतु श्रीभगवान् में सम्बन्ध बोध है । यह सम्बन्ध जीव की आत्मा एवं भगवान् के मध्य में है, यह सम्बन्ध यदि प्रीति के हेतु होता है तो, जिस आत्मा के सम्बन्ध में श्रीभगवान् प्रिय हैं, वह आत्मा ही सर्वापेक्षा प्रिय हो, इस प्रकार पूर्व पक्षद्वय के निरसन हेतु कहते हैं—

ना, इस प्रकार नहीं हो जकता है । श्रीभगवान् के जिस स्वभाव को अनुभव करके ही अभिमान विशेष व्यतीत ही शान्त एवं साधारण भक्त वृन्द में प्रीति का उदय होता है, उस स्वभाव को अनुभव करके ही परिकर वृन्द में प्रीति का उद्रेक होता है। उसी प्रकार परिकर वृन्द का स्वभावसिद्ध वा तात्कालिक जो अभिमान विशेष है,तद् द्वारा भी प्रीतिका आविर्भाव होता है । इस प्रकार समुच्चयमें किसी प्रकार विरोध नहीं है । वस्तुतः उस में प्रीति का उल्लास ही होता है ।

श्रीभगवान् की स्वभावानुभूति ही प्रीत्युदय का हेतु है, उस में भक्त वृन्द का अभिमान विशेष की अपेक्षा नहीं है । स्वभावानुभूति के द्वारा अभिमान विद्यमान होने पर भी प्रीति का उदय होता है, एवं अभिमान विद्यमान न होने पर भी प्रीति का उदय होता है । सुतरां परिकर वृन्दकी अभिमान विशेष प्रीति का उदय में बाधा न होने के कारण उन सब की प्रीति गौणी नहीं हो सकती है । उस में सी अभिमान विशेष से जो ममता उत्पन्न होती है, वह भी प्रकारान्तर से परिकर वृन्द के प्रीत्याविर्भाव के हेतु होती है।

समुच्चये को विरोधः ? प्रत्युतोल्लास एव । तत्र भगवत्स्वभावमयत्वं भक्त-तात्कालिकाभिमान विशेषमयत्वञ्चाह, (भा० १०।१३।२५)—

(९२) "गो गोपीनां मातृतास्मिन्नासीत् स्नेहर्द्धिकां विना, पुरोवत्" इति ।

स्पष्टम् ।। श्रीशुकः ।।

९३ । उभयस्वभावमयत्वमाह (भा० ७।५।१४)—

(९३) "यथा भ्राम्यत्ययो ब्रह्मन् स्वयमाकर्ष-सन्निधौ ।

---

इस प्रकार भगवान् का स्वभाव एवं परिकर का अभिमान से प्रीति का आविर्भाव होने के कारण परिकर वृन्द में प्रीति का आधिक्य सिद्ध होता है । यह है प्रथम पूर्व पक्ष का उत्तर ।

श्रीभगवान् की स्वभावानुभूति ही प्रीत्याविर्भाव के हेतु है, भक्त का आत्मानुभव नहीं है । श्रीभगवान् का स्वभाव अनुभूत होने से उनको ही आत्मा का निरतिशय बोध होता है । जिस प्रकार सम्बन्ध निमित्त व्यक्ति विशेष,—व्यक्ति विशेष का पुत्र रूप में प्रिय होता है । उस प्रकार श्रीभगवान्, सम्बन्ध विशेष हेतु आत्मा का प्रिय नहीं हैं, किन्तु आप स्वभावतः ही प्रिय हैं, एतज्जन्य भगवान् के प्रति प्रीति का आविर्भाव अत्यधिक होता है । आत्मा के प्रति उस प्रकार नहीं होता । यह है द्वितीय पूर्व पक्ष का उत्तर ।

परिकर गण में दास सखा प्रभृति रूप जो जो अभिमान सर्वदा हैं, वह सब उन के स्वभाव सिद्ध होते हैं । लीला विशेष के कारण--उस लीला के प्राकट्य समय में किसी किसी परिकर में जो अभिमान उपस्थित होता है, वह तात् कालिक है । उस में अवश्य ही श्रीभगवान् की स्वभावानुभूति के अनुसार ही अभिमान उपस्थित होता है । जिस प्रकार श्रीभगवान् के पुत्र स्वभाव अनुभव करने से उन में पितृत्वाभिमान उपस्थित होगा ।

स्थल विशेष में भगवत् स्वभाव विशेष एवं तदनुसार आविर्भूत परिकर वृन्द का अभिमान विशेष के योग से प्रीति आविर्भूत होती है । किसी स्थल में भक्त भगवान् उभय के स्वभाव विशेष के योग से आविर्भूत होता है । उस के मध्य में प्रीति का भगवत् स्वभाव विशेष मयत्व एवं भक्त गण के तात् कालिक अभिमान विशेषमयत्व की कथा भा० १०।१३।२२ में श्रीशुकदेव कहे हैं—

(९२) "गो-गोपीनां मातृतास्मिन्नासीत् स्नेहर्द्धिकां विना, पुरोवत् ।।"

वत्स एवं बालक रूपी श्रीकृष्ण में धेनु एवं गोपी वृन्द का मातृभाव पूर्ववत् हुआ था । किन्तु अधुना वत्सादि रूप विशिष्ट श्रीकृष्ण में पहले वत्सादि के प्रति जो स्नेह था, उस से अधिक स्नेह दिखाई देने लगा । अर्थात् श्रीकृष्ण की महिमा देखने के निमित्त ब्रह्मा माया विस्तार पूर्वक श्रीकृष्ण के सखा गोप-बालक वृन्द को एवं सखा गण के सहित गोवत्स गण को हरण किये थे । उस समय श्रीकृष्ण स्वयं ही बालक-एवं वत्स रूप धारण कर व्रज में प्रवेश करने पर गोपी एवं धेनु वृन्द का श्रीकृष्ण में पुत्र भाव उपस्थित हुआ था । इस के पूर्व में उनकी जो प्रीति श्रीकृष्ण में थी वह वात्सल्य भावमयी होने पर भी पुत्र भावमयी नहीं थी । ब्रह्म मोहन लीला के अवसान में यथार्थ गोप बालक एवं गोवत्स गण उपस्थित होने पर उनकी प्रीति में वह भाव नहीं था । एतज्जन्य यह तात् कालिक भाव विशेष का दृष्टान्त है । यहाँपर श्रीकृष्ण ही पुत्रस्वभाव को अङ्गीकार किये थे । तज्जन्य भगवत् स्वभावमयत्व निश्चित हुआ है ।

श्रीशुक—कहे थे ।।९२।।

९३ । भक्त एवं भगवान् में उभय स्वभावमयत्व का दृष्टान्त—भा० ७।५।१४ में है—

तथा मे भिद्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छया ।।"२५०।।

स्पष्टम् ।। श्रीप्रह्लादः ।।

९४। किञ्च, भक्ताभिमानविशेषमयश्च प्रेमा भगवत्स्वभावाविर्भूत एवेति ब्रूमः। भगवति हि स्वरूपसिद्धाः सर्व्वे प्रकाशा नित्यमेव वर्त्तन्त इति श्रीभगवत्सन्दर्भादौ दर्शितमस्ति। आगमादावपि नानोपासनाः श्रूयन्ते। तत्र यथा यत्र प्रकाशस्तथा तत्राभिमानविशेषमयी प्रीतिरुदयते, प्रकाशवैशिष्ट्यहेतुश्च भक्तविशेषसङ्ग एव। नित्यसिद्धेषु तु नित्यसिद्ध एव तथा-प्रकाशः प्रीतिरभिमानश्च। अथ प्रीत्यैव सहोदयात्तादृशोऽभिमानोऽपि प्रीतिवृत्तिविशेष

---

(९३) 'यथा भ्राम्यत्ययो ब्रह्मन् स्वयमाकर्ष-सन्निधौ।
तथा मे भिद्यते चेतश्चक्रपाणेर्यदृच्छया ।।"२५०।।

श्रीप्रह्लाद दैत्य गुरु को कहे थे—हे ब्रह्मन्! लौह जिस प्रकार अयस्कान्त मणि (चुम्बक) के सन्निधान में भ्रमण करता है, मेरा चित्त भी यदृच्छा क्रम से अर्थात् स्वभावत श्रीहरि के सन्निकर्ष हेतु भेद प्राप्त हुआ है।

अभिप्राय यह है— दैत्य गुरु प्रह्लाद को जिज्ञासा किये थे। बालकों का अनुराग, माता पिता प्रभृति आत्मीय गण में रहता है, तुम्हारे में उस का विपरीत देखने में आता है, तुम तो पितृशत्रु श्रीहरि में अनुरक्त हो, इस प्रकार बुद्धि भेद कैसे हुआ ?

श्रीप्रह्लाद का उत्तर उक्त श्लोक में है—उस में लौह एवं चुंबक का जो दृष्टान्त उपस्थापित हुआ है, उस के मध्य में लौह का स्वभाव है, चुम्मक के ओर आकृष्ट होना, लौह अपर किसी भी वस्तु के ओर आकृष्ट नहीं होता है। चुम्बक का भी स्वभाव है लौह को आकर्षण करना, वह अन्य किसी वस्तु को आकर्षण नहीं करता है। यहाँपर उभय का स्वभाव एक ही कार्य्य के हेतु है। दार्ष्टान्तिक में श्रीप्रह्लाद की प्रीति भी उस प्रकार है। श्रीप्रह्लाद का स्वभाव है— श्रीहरि के समान प्रभु का दासत्व करना एवं श्रीहरि का भी स्वभाव है श्रीप्रह्लाद के समान भक्त का प्रभुत्व करना। तज्जन्य श्रीप्रह्लाद की भक्ताख्य प्रीति-दास्यभाव उभय स्वभावमयी है।                                  श्रीप्रह्लाद कहे थे ।।९३।।

९४। अनुच्छेद में कहा गया है कि—भगवत् स्वभाव विशेष से भक्ताभिमान विशेष उपस्थित होता है। तदनुसार यद्यपि अनुमित होता है कि भक्ताभिमान विशेषमय प्रेम स्वतन्त्र नहीं है, तथापि यहाँ उभय स्वभावमयत्व कहने से संशय हो सकता है कि— इस प्रकार प्रीति में भक्त स्वभाव का स्वातन्त्र्य है। इस प्रकार संशय निरसन हेतु कहते हैं—किञ्च-अनन्तर कहता हूँ—भक्ताभिमान विशेषमय प्रेम भी भगवत् स्वभाव के द्वारा ही आविर्भूत होता है। श्रीभगवान् में स्वरूप सिद्ध समस्त प्रकाश नियत ही वर्त्तमान हैं। इस का वर्णन भगवत् सन्दर्भ प्रभृति में हुआ है। आगमादि में विविध उपासना दृष्ट होती है। उस के मध्य में जहाँ जिस प्रकार प्रकाश है, वहाँ उस प्रकार अभिमान विशेषमयी प्रीति का आविर्भाव होता है। भक्त विशेष के सङ्ग से ही प्रकाश विशेष होता है। किन्तु नित्य सिद्ध भक्त गण में तादृश भगवत् प्रकाश एवं दासादि अभिमान नित्य सिद्ध है। उस अभिमान प्रीति के सहित उदित होने के कारण वह भी प्रीति की ही वृत्ति विशेष है। इस का कथन पूर्व ग्रन्थ में हुआ है। उक्त हेतु भक्त का अभिमान विशेष के सम्मिलन से प्रीति की हानि नहीं होती है। पक्षान्तर में अत्यन्त घनिष्ठता व्यञ्जक दास, सखा, माता पिता अथवा

इत्युक्तम् । तस्मादपि न तत्समवायेन प्रीतिहानिः प्रत्युतात्यन्त-सन्निकर्ष-व्यञ्जकेन तत्तदभिमानेन तस्या उल्लास एव । किञ्च, लौकिकोऽपि ममताविशेष आत्मनोऽप्याधिक्येन स्वास्पदे प्रीतिं जनयति, पुत्राद्यर्थमात्मव्ययादिकं दृश्यते, तथैवोक्तं व्रजेश्वरं प्रति श्रीभगवतैव-(भा० १०।४५।२१) "पित्रोरप्यधिका प्रीतिरात्मजेष्वात्मनोऽपि हि" इति । भगवद्विषया ममता तु स्वात्मगत-तदीयाभिमान विशेषहेतुकैव । तदभिमानविशेषश्च तत्स्वभावविशेषहेतुक

---

प्रेयसी अभिमान द्वारा प्रीति का उल्लास ही होता है। लोक में दृष्ट होता है कि ममता विशेष निजास्पद में अर्थात् ममतास्पद में निजसे अधिक प्रीति उत्पन्न होती है । पुत्रादि के निमित्त लोक प्राय आत्म विसर्जन भी करते हैं ।

अभिप्राय यह है—भगवत् स्वभाव के द्वारा भक्त का अभिमान विशेषमय प्रेमाविर्भाव कैसे होता है-यहाँ उसका कथन हुआ है, भगवान् भिन्न भिन्न भावाक्रान्त भक्त के निकट विभिन्न रूप में आविर्भूत होते हैं, वत्सल भक्त के निकट जिस रूप से आविर्भूत होते हैं, कान्ताभावाश्रित भक्त के निकट उस रूप में आविर्भूत होना सङ्गत नहीं होता है । इस रीति को अपर भाव के सम्बन्ध में भी जानना होगा । तज्जन्य विभिन्न भक्त के निकट आविर्भाव हेतु विभिन्न प्रकाश की आवश्यकता होती है । विभिन्न भक्त को कृतार्थ करने के निमित्त श्रीभगवान् जो उनके निकट विभिन्न मूर्त्ति में आविर्भूत होते हैं, उन सब मूर्त्ति को प्रकाश कहते हैं, प्रकाश समूह मूल स्वरूप से किसी भी अंश में न्यून नहीं हैं। इस प्रकार प्रकाश के विवरण से संशय हो सकता है कि—योगिगण का कायव्यूह जिस प्रकार मूल स्वरूप का अधीन होकर कार्य्य करता है, उस प्रकार भगवान् के प्रकाश मूर्त्ति समूह मूलरूप के आनुगत्य से कार्य्य करते हैं, एवं प्रयोजनानुरूप ही उन सब को प्रकाश भगवान् करते हैं, इस प्रकार संशय निरसन हेतु कहते हैं–प्रकाश समूह श्रीभगवान् में स्वरूप सिद्ध हैं, भगवान् के स्वरूप में ही प्रकाश मूर्त्ति समूह सतत हैं । इस को सूचित करने के निमित्त कहे हैं, 'समस्त प्रकाश ही नियत विद्यमान हैं । इस का आविष्कार प्रकार श्रीकृष्णसन्दर्भ में वर्णित है ।

श्रीभगवान् की अनेक मूर्त्ति नियत स्वरूप सिद्ध होने के कारण आगमादि शास्त्र में श्रीकृष्णादि एक ही स्वरूप की विभिन्न स्वरूप की विभिन्न प्रकार से उपासना वर्णित है।

जहाँपर जिस प्रकार प्रकाश है इस प्रकार कथन का तात्पर्य्य है कि—श्रीभगवान् यदि किसी भक्त के निकट पुत्र भावसे प्रकाशित होते हैं, तो उस भक्त के पितृत्वाभिमान में प्रीति उदित होती है ।

जो व्यक्ति जिस प्रकार भक्त के सङ्गसे प्रीति लाभ करता है, उस व्यक्ति के निकट तादृश प्रीति के उपयुक्त श्रीभगवान् आविर्भूत होते हैं । जैसे कोई व्यक्ति दास भक्त के सङ्ग से प्रीति प्राप्त करता है, श्रीभगवान् उस के निकट प्रभुरूप में आविर्भूत होते हैं. यह है--साधक भक्त का विवरण । किन्तु नित्यसिद्ध भक्त गण के निकट श्रीभगवान् प्रभु, सखा, प्रभृति रूप में नित्य विराजमान हैं एवं उनके दासादि अभिमान भी नित्य हैं ।

इसके पहले "भक्त की अभिमान विशेष प्रीति उपाधि हो,इस प्रकार जो पूर्वपक्ष उपस्थित हुआ था-उस का निरसन यथायथ रूप से हुआ है । प्रसङ्ग क्रमसे उस पूर्वपक्ष का समाधान हेतु अपर एक उक्ति प्रदर्शन करते हैं । प्रीति एवं अभिमान युगपत् उपस्थित होने के कारण, जिस परिमाण प्रीति आविर्भूत होने की सम्भावना रहती है, अभिमान विशेष के सहित तत् परिमित प्रीति आविर्भूत होती है । यदि

इत्युक्तम्, स च प्रथममाविर्भवति, तदन्तरमेव ममता-विशेष आविर्भवतीति । तस्माद्यथा तथा तत्स्वभाव एव तत्प्रीतेर्मूलकारणम्, (भा० १०।१४।४९)—

"ब्रह्मन् परोद्भवे कृष्णे इयान् प्रेमा कथं भवेत् ।
योऽभूतपूर्वस्तोकेषु स्वोद्भवेष्वपि कथ्यताम् ॥"२५१॥

इति राजप्रश्नानन्तरं श्रीशुकदेवेन च श्रीकृष्णप्रीतौ तत्स्वभावसिद्धत्वमुक्तम् । तत्-स्वभावाविर्भावविशेषाविर्भूत-ममताविशेषेण तु केवलममताहेतुक-प्रीतिमतिक्रम्य वैशिष्ट्यं चाभिप्रेतम् । तस्मात् सर्वथा ममतासम्बन्धेन प्रीतेर्वैशिष्ट्यमेव भवतीति सिद्धम् । भगवत्-

---

अभिमान पहले उपस्थित होता तो प्रीति के आविर्भाव में वह विघ्न, उपस्थित कर सकता एवं पश्चात् उपस्थित होने से प्रीति में न्यूनता होने की आशङ्का होती । तदुभय एकसाथ आविर्भूत होने के कारण, भक्त का अभिमान विशेष, प्रीति ह्रास का हेतु नहीं होता है । किन्तु उक्त अभिमान प्रीति की अभिव्यक्ति विशेष है । तज्जन्य अभिमान के सहित प्रीति का आधिक्य अनुभूत होता है । अभिमान के सहित प्रीति का प्रकाशाधिक्य का दृष्टान्त जन समाज में भी देखने में आता है, किसी व्यक्ति को पिता अभिमान होने से वह पुत्ररूप व्यक्ति के निमित्त धन प्राण परित्याग भी कर सकता है ।

भा० १०।४५।२१ में श्रीभगवान् ने ही श्रीव्रजेश्वर को कहा है'पित्रोरप्यधिका प्रीतिरात्मजेत्मष्वात्मनोऽपिहि' निज देह से भी पुत्र के प्रति माता पिता की अधिक प्रीति होती है ।

पुत्रादि विषयिणी ममता जन्मादि संस्कार समुत्पन्ना है, भगवद् विषया ममता का हेतु किन्तु अन्य रूप है । श्रीभगवान् में अवस्थित प्रभु प्रभृति अभिमान ही उस ममता के हेतु हैं । अभिमान विशेष के हेतु है—श्रीभगवान् का स्वभाव विशेष । पहले इस का वर्णन हुआ है । प्रभु, मित्र प्रभृति अभिमान प्रथम आविर्भूत होते हैं, अनन्तर ममता विशेष आविर्भूत होती है । सुतरां सर्वत्र ही श्रीभगवान् का स्वभाव ही प्रीति का मूल कारण है । भा० १०।१४।४९ में उक्त है—

'ब्रह्मन् परोद्भवे कृष्णे इयान् प्रेमा कथं भवेत् ।
योऽभूतपूर्वस्तोकेषु स्वोद्भवेष्वपि कथ्यताम् ।।''२५१।।

हे ब्रह्मन् ! आपने कहा है, व्रजवासि वृन्द का निज पुत्र की अपेक्षा श्रीकृष्ण में अधिक प्रेम था । जो प्रेम निज पुत्र में कभी नहीं हुआ है, वह प्रेम पर पुत्र श्रीकृष्ण में कैसे उत्पन्न हुआ था । उस को आप कहें । महाराजा के प्रश्नोत्तर में श्रीशुक देव—भा० १०।१४।५०–५७ में कहे हैं—

"सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः ।
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि ।।
तद्राजेन्द्र यथा स्नेहः स्वस्वकात्मनि देहिनाम् ।
न तथा ममता लम्बि पुत्र वित्त गृहादिषु ।।
देहात्मवादिन पुंसामपि राजन्यसत्तम ।
यथा देहः प्रियतमस्तथा नह्यनु ये च तम् ।।
देहोऽपि ममताभाक् चेत्तर्ह्यसौ नात्मवत् प्रियः ।
यज्जीर्य्यत्यपि देहेऽस्मिन् जीवित्ताशा बलीयसी ।।

सम्बन्धेनात्मन्यपि तेषां प्रीतिर्जायते, तथैवाहुः (भा० १०।१७।२४)—

(९४) "सुदुस्तरान्नः स्वान् पाहि कालाग्नेः सुहृदः प्रभो।
न शक्नुमस्त्वच्चरणं संत्यक्तुमकुतोभयम् ॥"२५२॥

टीका च—"न मृत्योर्विभीमः, किन्तु त्वच्चरणवियोगादित्याहुः—न शक्नुम इति" इत्येषा। न च त्वच्चरणं निजवियोगभयं न दूरीकर्त्तुमर्हतीत्याहुः—अकुतोभयमिति, यद्वा, तव चरण-

---

तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम्।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम् ॥
कृष्णमेन मवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया।
वस्तुतो जानतामत्र कृष्णः स्थास्नुचरिष्णु च
भगवद्रूपमखिलं नान्यद् वस्त्विह किञ्चन।
सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमेतद् वस्तु रूप्यताम् ॥"

देहि वृन्द को आत्मा ही प्रियतम है। आत्मा के निमित्त ही चराचर जगत प्रिय है। तुम श्रीकृष्ण को अखिल देही की आत्मा जानना, जगद् हितार्थ श्रीकृष्ण योगमाया द्वारा देही के समान प्रकाशित हैं। 'कृष्णमेनं श्लोक में शुक देव ने श्रीकृष्ण को निखिल जीवों का स्वभावतः परम प्रीत्यास्पद कहा है, तज्जन्य जिस के हृदय में श्रीकृष्ण प्रीति का आविर्भाव होता है, उस में उनकी प्रचुर ममता उत्पन्न होती है। अर्थात् इस रीति से श्रीकृष्ण प्रीति में ममताधिक्य होना स्वभाव सिद्ध है। शुकदेव ने यही कहा।

श्रीकृष्णकी ममता विशेष के द्वारा केवल ममता हेतुक प्रीति के अतिरिक्त अन्य वैशिष्ट भी अभिप्रेत है। सुतरां सर्व प्रकार ममता के सम्बन्ध में प्रीति का वैशिष्ट्य होता है। यह निश्चित हुआ।

श्रीकृष्ण, स्वभावतः ही सब के प्रिय हैं, उस में भी जिसके निकट स्वयं पुत्रादि भाव को प्रकट करते हैं, उस से उसमें जो ममता होती है, वह ममता, साधारण ममता से उत्पन्न प्रीति से विशेष है। वह विशेष यह है—श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में निज में प्रीति उत्पन्न होती है। भा० १०।१७।२४ में इस का कथन है—

(९४) "सुदुस्तरान्नः स्वान् पाहि कालाग्नेः सुहृदः प्रभो।
न शक्नुमस्त्वच्चरणं संत्यक्तुमकुतोभयम् ॥"२५२॥

भगवत् सम्बन्ध हेतु अपने में भक्त की प्रीति उत्पन्न होती है। व्रजवासिगण श्रीकृष्ण को कहे थे—

हे प्रभो! सुदुस्तर कालाग्नि से आत्मीय हम सब की रक्षा करो, तुम्हारे चरण अकुतोभय है। उस को परित्याग क्षण काल के निमित्त भी हम सब परित्याग नहीं कर सकते हैं।

स्वामिकृत टीका का अभिप्राय—दावानल ग्रस्त व्रजवासि गण श्रीकृष्ण को कहे थे—हमारे सम्मुख में मृत्यु उपस्थित है, हम सब मृत्यु से भीत नहीं है। किन्तु तुम्हारे चरण विच्छेद भय से हम सब भीत हैं। तुम्हारे चरण को परित्याग, क्षण काल के निमित्त भी करने में हम सब असमर्थ हैं।

श्लोक व्याख्या—तुम्हारे चरण, निज वियोगभय विदूरित करने में अक्षम है, इस प्रकार कहना सम्भव नहीं है। अर्थात् तुम्हारे चरण प्रभाव से चरण विच्छेद भय अवश्य ही विदूरित होता है। तज्जन्य वह अकुतोभय है। किम्बा तुम्हारे चरण के सन्निधान में रहने से हमारे सब सुख होते हैं। अन्य समय में

सन्निधाने सत्यस्माकं सर्वमेव सुखाय कल्पते, अन्यदा तु दुःखायैवेत्याहुः--न विद्यते कुतश्चिद्भयं येनेति ॥ श्रीव्रजौकसः श्रीभगवन्तम् ॥

९५ । तथा तत्प्रीतेरेव तत्तदभिमानोल्लासित्वम्, ततः श्रीभगवतोऽपि तत्तदभिमानित्वमाह-- (भा० १।९।१८) "एष वै भगवान् साक्षात्" इत्यादौ, (भा० १।९।२०-२२) —

(९५) "यं मन्यसे मातुलेयं प्रियं मित्रं सुहृत्तमम् ।
अकरोः सचिवं दूतं सौहृदादथ सारथिम् ॥२५३॥
सर्वात्मनः समदृशो ह्यद्वयस्यानहङ्कृतेः ।
तत्कृतं मतिवैषम्यं निरवद्यस्य न क्वचित् ॥२५४॥
तथाप्येकान्तभक्तेषु पश्य भूपानुकम्पितम् ।
यन्मेऽसूंस्त्यजतः साक्षात् कृष्णो दर्शनमागतः ॥"२५५॥

सौहृदात्तादृशप्रेम्ण एव हेतोः, यं मातुलेयं मन्यसे, प्रियं प्रीतिविषयं मित्रं प्रीतिकर्त्तारं

---

अर्थात् तुम्हारे चरण सन्निधान में न रहने से सब कुछ दुःखद होते हैं । इस अर्थ में अकुतोभय हैं, जिस से किसी भी स्थान में भय नहीं होता है। अर्थात् तुम्हारे चरण से किसी स्थान में भय नहीं है, किन्तु किसी स्थान में वियोग दुःख हेतु भय है, तज्जन्य ही, अकुतो भय है ॥

अर्थात् व्रजवासि वृन्द के निकट श्रीकृष्ण,- -पुत्रादि स्वभाव प्रकट किये थे। उस में उन सब की ममता श्रीकृष्ण में जो ममता हुई थी, उस ममता से जिस प्रीति का उदय हुआ था। उसके वशमें होकर आत्म रक्षण हेतु व्यग्र हुये थे। मरणे से श्रीकृष्ण विच्छेद होगा। यह सोचकर आत्मारक्षा हेतु व्याकुल हुये थे। यह प्रगाढ़ आवेश का परिचायक है। उन सब के निकट श्रीकृष्ण विच्छेद मृत्यु भयसे भी गुरुतर है। यही प्रीति का विशेषत्व है। श्रीव्रजवासि वृन्द श्रीकृष्ण को कहे थे ॥९४॥

९५। भगवत् स्वभाव से ही जिस प्रकार भक्त का अभिमान विशेषमय प्रेम आविर्भूत होता है, उस प्रकार भगवत् प्रीति उस अभिमान युक्ता है। भा० १।९।१८ में भीष्म युधिष्ठिर को कहे थे—

'एष वै भगवान् साक्षादाद्यो नारायणः पुमान् ।
मोहयन् माययालोकं गूढ़श्चरति वृष्णिषु ॥"

टीका—-अनुविधेयः परमेश्वरश्च श्रीकृष्ण एवेत्याह। एष एव भगवान् सर्वेश्वरः। यत आद्यः पुमान्। तच्च कुतः? यतो नारायणः साक्षात्।

यह भगवान् श्रीकृष्ण, साक्षात् आदि पुरुष नारायण हैं, लोक समूह को माया द्वारा मुग्ध करके यादव गण के मध्य में गूढ़ रूप में विचरण करते रहते हैं। भा० १।९।२०-२२ में भी उन्होंने कहा है—

(९५) 'यं मन्यसे मातुलेयं प्रियं मित्रं सुहृत्तमम् ।
अकरोः सचिवं दूतं सौहृदादथ सारथिम् ॥२५३॥
सर्वात्मन समदृशो ह्यद्वयस्यानहङ्कृतेः ।
तत्कृतं मतिवैषम्यं निरवद्यस्य न क्वचित् ॥२५४॥
तथाप्येकान्तभक्तेषु पश्य भूपानुकम्पितम् ।
यन्मेऽसूंस्त्यजतः साक्षात् कृष्णो दर्शनमागतः ॥"२५५॥

सुहृत्तममुपकारानपेक्षोपकारकं च मन्यसे, अथ सारथिम्,—सारथिमपीत्यर्थः, स एष साक्षाद्-भगवानित्यादिकः पूर्व्वेणान्वयः । ननु भवतु प्रीतिविशेषेणास्माकं तस्मिंस्तथा मतिस्तस्य सर्वेषां परमात्मन-स्तस्मादेव समदृशः परमात्मत्वादेव सर्वेषां तच्छक्ति-वैभवरूपाणामात्मनां तदनन्यत्वादद्वयस्य, तस्मादेव मातुलेयोऽहमित्याद्यभिमान-शून्यस्य, तथा निर्दोषस्य च कथमहमस्य मातुलेयः, न त्वमुष्येत्यादिरूपं मातुलेयत्वादि कृतं मतिवैषम्यं स्यादित्यादि-पूर्व्वपक्षोट्टङ्कन-पूर्वकं सिद्धान्तयति--सर्वात्मन इत्यादि-द्वाभ्याम् । यद्यपि तादृशस्य तन्न सम्भवति, तथापि हे भूप ! एकान्तभक्तेषु युष्मास्वनुकम्पां पश्य, येषां भक्तिविशेषेण परवशः

---

जिनको तुम सब मातुलेय, प्रिय, मित्र एवं सुहृत्तम मानरहे हो, जिनको दूत, मन्त्री, सारथि किये हो, यह साक्षात् भगवान् है । यह सर्वात्मा, समदर्शी, अद्वय एवं निरहङ्कार हैं, निरवद्य हैं--नीचोच्च कर्मकृत मतिवैषम्य इन में नहीं है, तथापि हे राजन् ! देखो, एकान्त भक्त में इस की अनुकम्पा कैसी है ! कारण, मैं प्राणत्याग करूँगा। यह जानकर श्रीकृष्ण मेरे समीप में आकर दर्शन दिये हैं ।

श्लोक की व्याख्या—सौहृद अर्थात् तादृश प्रेम हेतु जिन को मातुलेय मानते हो, और जिन को प्रिय-प्रीति का विषय, मित्र–प्रीति कर्त्ता, सुहृत्तम–उपकार अपेक्षा रहित उपकारी मानते हो, अधिक क्या--जिन को सारथि मानते हो, वह साक्षात् भगवान् हैं, पूर्व श्लोक के सहित अन्वय है।

अभिप्राय यह है—प्रीति विशेष निबन्धन–हम सब की बुद्धि उनके प्रति उस प्रकार हो, किन्तु श्रीकृष्ण तो सब के परमात्मा हैं, सुतरां उनकी सर्वत्र समदृष्टि है, परमात्म स्वरूप आप निज शक्ति वैभव रूप आत्मा समूह के परमाश्रय हेतु अद्वय हैं, तज्जन्य मातुलेय प्रभृति अभिमान शून्य एवं निर्द्दोष हैं, अतएव मातुलेय व्यवहार कैसे सम्भव होगा ? उनमें इस प्रकार मातुलेयत्वादि कृतमति वैषम्य नहीं हो सकता है, इस प्रकार पूर्वपक्ष की कल्पना करके 'सर्वात्मा' इत्यादि श्लोक द्वय के द्वारा सिद्धान्त करते हैं।

यद्यपि सर्वात्मा इत्यादि रूप श्रीकृष्ण के पक्ष में मातुलेय रूप बुद्धि वैषम्य--अर्थात् ये सब आत्मीय हैं—इस प्रकार भेद बुद्धि असम्भव है, तथापि हे भूप ! युधिष्ठिर के प्रति भीष्म का सम्बोधन है, एकान्तभक्त तुम सब हो, तुम्हारे प्रति इनकी कृपा को देखो, भक्ति विशेष से वशीभूत होकर तदनुरूप श्रीकृष्ण भी-कुन्ती के भ्रातुष्पुत्र प्रभृति अभिमान पोषण भी करते हैं । जो अभिमान्,--शरीर एवं सम्बन्ध का हेतु है, वह अभिमान ही सम्बन्ध का मुख्य हेतु है, शरीर मुख्य हेतु नहीं है आविर्भावादि शरीर सम्बन्ध में भी उनके मातुलेयत्वादि सुतरां सिद्ध होते हैं। उसमें हेतु गर्भ दृष्टान्त यह है—'यन्मेऽसून्' कारण, तुम्हारे सम्बन्ध से ही प्राण त्याग समय में श्रीकृष्ण मुझको दर्शन दिये हैं। इस प्रकार परमोपादेय ज्ञान ही पाण्डव वृन्द के सम्बन्धात्मक श्रीभगवान् को ही अन्तिम समय में भी श्री भीष्मदेव बारम्बार अवलम्बन किये हैं।

अभिप्राय यह है कि—मैं यह हूँ, इस अभिमान के द्वारा शरीर के सम्बन्ध होता है, जिस का किसी प्रकार अभिमान नहीं है, उसका शरीर के सहित सम्बन्ध होना असम्भव है। अभिमान के द्वारा ही पारस्परिक सम्बन्ध होता है। मैं उसका पुत्र हूँ, इस प्रकार अभिमान होने से ही उसके सहित सम्बन्ध होता है। मेरा शरीर उस से उत्पन्न हुआ है- स्थिति इस प्रकार होने पर भी मैं उसका पुत्र हूँ, इस प्रकार अभिमान न होने से पिता पुत्र सम्बन्ध हो ही नहीं सकता है। अतएव अभिमान ही सम्बन्ध होने का हेतु है—यहाँ इस को दर्शाया गया है।

इस से यह प्रतिपन्न हुआ कि—भक्त एवं भगवान् का अभिमान ही उभय के पारस्परिक सम्बन्ध

सन्नसावपि तथा तथात्मानं बाढ़मेवाभिमन्यत इत्यर्थः। यः खलु शरीरस्यापि सम्बन्धहेतुः, सोऽभिमान एव हि सम्बन्धहेतुर्मुख्यः, न शरीरम्। एवं सति त्वाविर्भावादिना शरीरसम्बन्धेऽपि तस्य मातुलेयत्वाधिकं सुतरामेव सिध्यतीति तात्पर्य्यम्। तत्र हेतुगर्भं दृष्टान्तः- यन्मेऽसूनिति, यस्माद्-युष्मत्सम्बन्धादेव हेतोः। तदेव परमोपादेयत्व-ज्ञानादेव तत्सम्बन्धात्मक एव श्रीभगवानुत्क्रान्तावपि मुहुरेव निजालम्बनीकृतः (भा० १।९।३३) "विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या" इति (भा० १।९।३५) "पार्थसखे रतिर्ममास्तु" इति, (भा० १।९।३९) "विजयरथकुटुम्बे' इत्यारभ्य "भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षोः" इति च ॥ भीष्मः श्रीयुधिष्ठिरम् ॥

९६। तमेवाभिमान-ममताभ्यां प्रीतेरतिशयं दर्शयति, (भा० ५।६।१८)—

---

में प्रधान हेतु है। अर्थात् भक्त के मन में यदि यह होता है कि मैं भगवान् का दास हूँ एवं भगवान् भी मानते हैं--कि मैं प्रभु हूँ तो, उभय में प्रभु भृत्य सम्बन्ध होना सम्भव होता है। उभय में यथा योग्य अभिमान विद्यमान न होने से सम्बन्ध हो ही नहीं सकता है। सम्बन्धन होने से प्रीति नहीं हो सकती है, अतः भगवत् प्रीति में भी अभिमान विशेष की एकान्त प्रयोजनीयता दृष्ट होती है। सुतरां भक्त वृन्द के अभिमान विशेष से ही प्रीति वर्द्धित होती है, प्रीति की न्यूनता नहीं होती है।

सम्बन्ध का मुख्य हेतु योग्य अभिमान होने के कारण शरीर उसका गौण हेतु है। एतदुभय के द्वारा ही सम्बन्ध होता है। श्रीकृष्ण के सहित पाण्डवों का केवल अभिमान विशेष द्वारा सम्बन्ध ही नहीं था, श्रीकृष्ण वसुदेवनन्दन रूप में आविर्भूत हुये थे। मनुष्य जगत् में जन्म के द्वारा जो सम्बन्ध होता है, आविर्भाव के द्वारा श्रीकृष्ण का वह सम्बन्ध हुआ है। यह शरीर घटित सम्बन्ध है। पहले दर्शाया गया हैं—अभिमान विशेष 'उपाधि' होकर प्रीति को न्यून करने में असमर्थ है। किन्तु वर्द्धित करता है। यहाँ दर्शाया गया है कि—शरीर घटित सम्बन्ध भी उपाधि रूप में प्रीति ह्रास का कारण नहीं हो सकता है। प्रत्युत वह भी प्रीति उल्लास का हेतु होता है।

भीष्म—दृष्टान्त के द्वारा उस को प्रतिपादन किये हैं। आविर्भाव के द्वारा पाण्डव गण के मातुलेय होने के कारण, श्रीकृष्ण उनके पितामह भीष्म के निकट अन्तिम समय में उपस्थित हुये थे। यह शरीर घटित सम्बन्ध का गौरव है। जिनके सम्पर्क से अन्तिम समय में श्रीकृष्ण का दर्शन प्राप्त किये थे, उनके जो आत्मा है—अतिप्रिय हैं, उन श्रीकृष्ण को अपना आश्रय रूप में प्राप्त करने का अभिलाष वारंवार प्रकाश किये थे। भा० १।९।३३ में "विजय सखे रतिरस्तु मेऽनवद्या" भा० १।९।३५ में पार्थसखे रतिर्ममास्तु" उक्त विवरण वर्णित है। भा० १।९।२९ में भी कथित है विजयरथकुटुम्बे" आरम्भ कर "भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षोः।"

अर्ज्जुन का रथ ही जिनका कुटुम्ब है, अर्थात् अकार्य्य करके भी जिस प्रकार कुटुम्ब की रक्षा की जाती है, उस प्रकार जिन्होंने अर्ज्जुन के रथ की रक्षा की है। जिन्होंने तोत्र-अश्व चालन दण्ड एवं अश्वरज्जु धारण किया है। जो सारथ्य श्री से सुशोभित हैं। एवं कुरुक्षेत्र युद्ध में निहत योद्धागण जिनका दर्शन कर सारूप्य लाभ किये हैं, उन भगवान् में मुमूर्षु मेरी रति हो।

भीष्म श्रीयुधिष्ठिर को कहे थे ॥९५॥

९६। अनन्तर अभिमान एवं ममता के द्वारा प्रीति का आतिशय्य प्रदर्शन करते हैं। भा० ५।६।१८ में उक्त है—

(९६) "राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः।
अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम् ॥"२५६॥

(भा० ५।६।१७) "यस्यामेव कवयः" इत्यादि-प्राक्तन-गद्ये मुक्त्यधिकतया सामान्या प्रीतिलक्षण-भक्तिरुक्ता। अत्र तु हे राजन् भवतां यदूनामपि पत्यादिरूपो भगवान्। एवं नाम दूरेऽस्तु श्रीभगवतस्तादृशत्वप्रापकस्य प्रेमविशेषस्यास्य वार्त्ता, सर्वेषामपि दूरे स्थितेत्यर्थः, यतोऽन्येषां नित्यं भजतामपि मुकुन्दोऽसौ मुक्तिमेव ददाति, न तु भक्तियोगम्, पूर्वोक्तमहिमप्रीति-सामान्यमपीति पतित्वादिभावमय्यां परमवैशिष्ट्यमुक्तम्। अतस्तेष्वेव यत्किञ्चिद्रूपत्वमपि श्रीब्रह्मणा प्रार्थितम्,-(भा० १०।१४।३०) "तदस्तु मे नाथ स भूरिभागः" इत्यादिना ॥ श्रीशुकः।

९७। अथ परिकराणामपि भावेषु तारतम्यं विवेचनीयम्, येषां भगवत्तैवोपजीव्या।

---

(९६) "राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः।
अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो
मुक्तिं ददादि कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम् ॥"२५६॥

महाराज परीक्षित् को शुकदेव कहे थे—हे राजन्! भगवान् मुकुन्द आप के एवं यादव गणों के पालक, उपदेष्टा, उपास्य, सुहृत् कुलनियन्ता हैं, एवं कदाचित् दौत्यादि कार्य्य में भी पाण्डवगणों के अनुवर्त्ती हुये थे। इस प्रकार सौभाग्य अन्यत्र नहीं है। यह मुकुन्द भजन शील व्यक्ति गण को मुक्ति दान करते हैं, किन्तु कभी कभी प्रेम भक्ति प्रदान नहीं कहते हैं। भा० ५।६।१७ के गद्य "यस्यामेव कवयः" में साधारण प्रीति लक्षणा भक्ति को मुक्ति से श्रेष्ठ कहे हैं। यहाँपर किन्तु हे राजन्! भगवान् आप के पालकादि कार्य्य किये हैं, अन्यत्र उनको इस प्रकार करने में नहीं देखा गया है, जिस प्रेम विशेष द्वारा उस प्रकार आचरण रत श्रीभगवान् होते हैं। उस प्रकार प्रेम की वार्त्ता भी अन्यत्र नहीं है। कारण, अपर जो व्यक्ति नियत भजन करते हैं, उनको श्रीमुकुन्द-मुक्ति ही दान करते हैं, पूर्ववर्त्ति गद्य में जिस भक्ति योग की कथा कही गई है, उस प्रकार सामान्य प्रीति दान भी नहीं करते हैं, इस प्रकार पालकत्वादि भावमयी प्रीति का वैशिष्ट्य वर्णित हुआ है। अतएव भा० १०।१४।३० में श्रीब्रह्माने भी प्रार्थना की है—"तदस्तु मे नाथ स भूरिभागः" हे नाथ! वही मेरा परम भाग्य है, श्रीभगवान् के परिजन गणके मध्यमें जिस किस प्रकार जन्म लाभ हो। श्रीशुक कहे थे ॥९६॥

९७। परिकर वृन्दो का भावतारतम्य।

भगवत्ता ही जिन लोकों का जीवातु है, अनन्तर उन परिकर गणों के भावतारतम्य का विवेचन करते हैं—

इस के पहले तटस्थ एवं परिकर भेद से द्विविध भक्तों का वर्णन हुआ है। उसमें श्रीभगवान् के ब्रह्मत्व लक्षण एवं भगवत्ता लक्षण द्विविध स्वभाव का वृत्तान्त कहा गया है, उस के मध्य में तटस्थ भक्त

तत्र भगवत्ता तावत् सामान्यतो द्विविधैव,–परमैश्वर्य्यरूपा परममाधुर्य्यरूपा चेति । ऐश्वर्य्यं प्रभुता, माधुर्य्यं नाम च शील-गुण-रूप-वयोलीलानां सम्बन्धविशेषाणाञ्च मनोहरत्वम्, परमत्वं चासमोद्‌र्ध्वत्वम् ।

अथ भक्तादि-चतुर्विधाः परिकरा अपि द्विविधाः,-परमैश्वर्य्यानुभवप्रधानाः, परममाधुर्य्यानुभव-प्रधानाश्च । तत्रैश्वर्य्य-मात्रस्य साध्वस-सम्भ्रम-गौरवबुद्धिजनकत्वम्, माधुर्य्यमात्रस्य प्रीति-जनकत्वमिति सर्वानुभवसिद्धमेव । ततस्तत्रैश्वर्य्य--माधुर्य्ययोः परमत्वमिति ताभ्यां यथा-संख्यं साध्वसादीनां प्रीतेश्च परमत्वमेव स्यात् । अतएव (भा० १०।४४।५१)—

(८७) "देवकी वसुदेवश्च विज्ञाय जगदीश्वरौ ।
कृतसंवन्दनौ पुत्रौ सस्वजाते न शङ्कितौ ।।"२५७।।

---

गण के मध्य में कतिपय व्यक्ति ब्रह्मत्व लक्षण श्रीभगवत् स्वभाव में रुचि रखते हैं, एवं कतिपय व्यक्ति उस में रुचि तो रखते ही हैं किन्तु भगवत्ता लक्षण स्वभाव में भी प्रीति शील होते हैं। परिकर वृन्द-केवल भगवत्त्वलक्षण स्वभाव में ही प्रीति शील होते हैं । केवल यही नहीं, किन्तु जीवन रक्षा हेतु अवलम्बनभूत वस्तु जिस प्रकार परम आदरणीय है, उन सब के पक्ष में वह भी उस प्रकार ही है । भगवत्तानुभव के विना वे रह ही नहीं सकते हैं ।

भगवत्त्वलक्षण स्वभाव में भगवत्ता साधारणतः परमैश्वर्य्य रूपा एवं परम माधुर्य्य रूपा भेद से द्विविधा हैं । ऐश्वर्य्य शब्द का अर्थ—प्रभुता है एवं माधुर्य्य शब्द का अर्थ–स्वभाव, गुण, रूप वयस, लीला एवं सम्बन्ध विशेष का मनोहरत्व है । ऐश्वर्य्य एव माधुर्य्य में जो 'परम' विशेषण है—उस का अर्थ—असमोद्‌र्ध्व है—अर्थात् जिस का ऊद्‌र्ध्व--अधिक तो है ही नहीं समान भी नहीं है ।

भक्त—चतुर्विध परिकर भी द्विविध हैं-अर्थात् दास्य भावाश्रित, वत्सल भावाश्रित, सख्य भावाश्रित, मधुर भावाश्रित---दास्य, सख्य, वत्सल, मित्र, कान्ता भावाश्रित चतुर्विध परिकर भी द्विविध होते हैं। परमैश्वर्य्य प्रधान एवं परम माधुर्य्य प्रधान ।

तात्पर्य्य यह है कि—परिकर गण श्रीभगवान् के जिस असमोद्‌र्ध्व ऐश्वर्य्य माधुर्य्य को अनुभव करते हैं, उस के अनुसार उन सब को बिभक्त करने पर भी यहाँ ज्ञातव्य यह है कि--जो उक्त ऐश्वर्य्यानुभव करते हैं वे माधुर्य्यानुभव में वञ्चित रहते हैं—यह नहीं, किन्तु उनका माधुर्य्यानुभव अल्प है, एवं ऐश्वर्य्यानुभव अधिक है।

तज्जन्य उन सब को पारमैश्वर्य्यानुभव प्रधान कहा गया है । और जो माधुर्य्यानुभव करते हैं, वे माधुर्य्यानुभव अधिक रूप से करते हैं एवं ऐश्वर्य्यानुभव स्वल्प परिमाण में करते हैं । तज्जन्य उन सब को परममाधुर्य्यानुभव प्रधान कहा गया है । इस प्रकार आधिक्य सूचन हेतु प्रधान शब्द का प्रयोग हुआ है ।

समस्त प्रकार ऐश्वर्य्य से साध्वस (भय) सम्भ्रम् (मर्यादि से व्यग्रता ) एवं गौरव बुद्धि होती है। एवं सर्व प्रकार माधुर्य्य से प्रीति होती है, इस का अनुभव सब को है । परमैश्वर्य्य माधुर्य्य भेद से द्विविध भगवत्ता का जो उल्लेख किया गया है, उस में श्रीभगवान् में ऐश्वर्य्य माधुर्य्य का सर्वाधिक्य निबन्धन, तदु भय के द्वारा यथायथ रूप से साध्वसादि का एवं प्रीति का श्रेष्ठत्व सिद्ध होता है । अतएव भा० १०।४४।५१ उक्त है—

(भा० १०।४५।१-२) "पितरावुपलब्धार्थौ विदित्वा पुरुषोत्तमः ।
मा भूदिति निजां मायां ततान जनमोहिनीम् ।।२५८।।
उवाच पितरावेत्य साग्रजः सात्वतर्षभः ।
प्रश्रयावनतः प्रीणन्नम्ब तातेति सादरम् ।।"२५९।।

इत्याद्यनन्तरम्, (भा० १०।४५।१०-११) –

"इति मायामनुष्यस्य हरेर्विश्वात्मनो गिरा ।
मोहितावङ्कमारोप्य परिष्वज्यापतुर्मुदम् ।।२६०।।
सिञ्चन्तावश्रुधाराभिः स्नेहपाशेन चावृतौ ।
न किञ्चिदूचतू राजन् वाष्पकण्ठौ विमोहितौ ।।"२६१।।

उपलब्धो ज्ञातो जगदीश्वरत्वलक्षणोऽर्थो याभ्यां तथाभूतौ ज्ञात्वा, मा भूदिति समारूढ़-

---

(९७) "देवकी वसुदेवश्च विज्ञाय जगदीश्वरौ ।
कृतसंवन्दनौ पुत्रौ सस्वजाते न शङ्कितौ ।।"२५७।।

श्रीशुक कहे हैं—कंसबध के पश्चात् श्रीकृष्ण बलराम वसुदेव देवकी के निकट उपस्थित होकर प्रणाम करने पर वसुदेव देवकी उन दोनों को जगदीश्वर जान गये थे । तज्जन्य भीति वशतः आलिङ्गन नहीं किये । अनन्तर भा० १।४५।१-२ में उक्त है—

'पितरावुपलब्धार्थौ विदित्वा पुरुषोत्तमः ।
मा भुदिति निजां मायां ततान जनमोहिनीम् ।।२५८।।
उवाच पितरावेत्य साग्रजः सात्वतर्षभः ।
प्रश्रयावनतः प्रीणन्नम्ब तातेति सादरम् ।।"२५९।।

जगदीश्वर अनुभव माता पिता को होने पर पुरुषोत्तम श्री कृष्ण, उनको वह ज्ञान जैसे न हो--इस अभिप्राय से जन मोहिनी निजमाया विस्तार किये थे ।

अनन्तर यादव श्रेष्ठ श्रीकृष्ण अग्रज बलरामके सहित माता पिताके निकट विनयावनत होकर आदर पूर्वक हे मातः ! हे पितः ! कह कर सम्बोधन किये थे ।

अनन्तर भा० १०।४५।१० -११ में उक्त है—

"इति मायामनुष्यस्य हरेर्विश्वात्मनो गिरा ।
मोहितावङ्कमारोप्य परिष्वज्यापतुर्मुदम् ।।२६०।।
सिञ्चन्तावश्रुधाराभिः स्नेहपाशेन चावृतौ ।
न किञ्चिदूचतू राजन् वाष्पकण्ठौ विमोहितौ ।।"२६१।।

तत् पश्चात् श्रीकृष्ण कहे थे—हमारे निमित्त आप नित्य उत्कण्ठित होने पर भी पुत्रद्वय के बाल्य पौगण्ड कैशोर जनित सुखानुभव करनेमें अक्षम हैं । इसके बाद माया मनुष्य विश्वात्मा श्रीहरि के इस प्रकार वाक्य से वसुदेव देवकी मोहित हुये थे । श्रीकृष्ण को अङ्क में स्थापन कर आलिङ्गन द्वारा परमानन्द प्राप्त किये थे । हे राजन् ! वसुदेव देवकी उन दोनों को अश्रुधारा से अभिषिक्त करते करते स्नेह पाशसे आबद्ध

पितृत्व-पदवीकत्वेन ज्ञानिभक्तजन,-केवलभक्तजनादि-दुर्लभपरमप्रेमैकयोग्ययोस्तयोस्तदाच्छादकं तज्ज्ञानं न भवत्विति निजां मायामावरणभक्ति निज-जगदीश्वरत्वाच्छादनाय ततान विस्तारितवान्। तदनन्तरं निजतादृशप्रेमपोषकं माधुर्य्यमेव व्यञ्जितवानित्याह—उवाचेत्यादि- अथवा, "माया दम्भे कृपायाञ्च" इति विश्वप्रकाशान्निजां स्वविषयां मायां कृपां तदात्मिकां वात्सल्याख्यां प्रीतिं तयोस्तत्तानाविर्भावितवान्। कीदृशीम्? या निजमाधुर्य्येण सर्वमेव जनं मोहयति, ताम्, कथं ततानेत्याशङ्क्य निजैश्वर्य्याच्छादक-निज-माधुर्य्यप्रकाशनेनेत्याह— उवाचेति, अथवा, "माया वयूनं ज्ञानम्" इति निघण्टु-दृष्टया निजां तादृशप्रेम- जनकत्वेनान्तरङ्गां मायां निजमाधुर्य्य-ज्ञानं ततान। तत्प्रकारमाह—उवाचेति। माया- मनुष्यस्याशेषविद्याप्रचुरस्य नराकृतिपरब्रह्मण इति ।। श्रीशुकः ।।

६८। तदेवं पारमैश्वर्य्यस्य भक्तौ यत् क्वचिदुद्दीपनत्वम्, तत्तु सम्भ्रमगौरवादि

---

करके बिमुग्ध एवं बाष्प रुद्ध कण्ठ हुये थे। कुछ कहने में असमर्थ हो गये थे।

उक्त श्लोक समूह का अर्थ इस प्रकार है—जिन्होंने जगदीश्वर रूप से पुत्रद्वय को जाना, उन वसुदेव- देवकी को उस प्रकार जानकर अर्थात् श्रीकृष्ण जब जान गये थे कि—माता पिता उन दोनों को जगदीश्वर मानरहे हैं। उस समय जिन्होंने पितृपदवी में आरोहण किया है, शान्त, दास प्रभृति भक्त वृन्द के पक्ष में जो अतिशय दुर्लभ है, उस प्रकार वात्सल्य प्रेम के जो योग्य हैं, उस प्रकार मातापिता को उस प्रेमका आवरक जगदीश्वर ज्ञान जैसे न हो, तज्जन्य निजमाया आवरण शक्ति को निज जगदीश्वरत्व आच्छादन हेतु विस्तार किये थे। यह व्याख्या 'मातरौ' मातापिता इत्यादि श्लोक की है। अनन्तर निज तादृश वात्सल्य प्रेम पोषक माधुर्य्य को व्यक्त किये थे। परवर्ती श्लोक में उसका वर्णन है।

अथवा, विश्व प्रकाश कोष के अनुसार माया शब्द का अर्थ--दम्भ एवं कृपा है। सुतरां निजमाया-- निजा--स्वविषया- माया-कृपा,-तदात्मिका--वात्सल्याख्या प्रीति को वसुदेव देवकी के सम्बन्ध में प्रकाश किये थे। वह प्रीति कीदृशी है? कहते हैं-जो निजमाधुर्य्य के द्वारा समस्त जनगण को मोहित करती है। वह प्रीति कैसी है। कैसे माया का विस्तार किये थे? उत्तर में कहते हैं—

निजैश्वर्य्याच्छादक जो निज माधुर्य्य है, उस को प्रकाश करके उस माया को विस्तार किये थे। माधुर्य्य प्रकाश को कहते हैं—"उवाच" सत्वतर्षभ-यादवश्रेष्ठ-इत्यादि श्लोक में वर्णित है।

अन्य प्रकार अर्थ यह है—निघण्टु में माया का अर्थ--वयुन-ज्ञान है। तदनुसार निजमाया-निजा-तादृश- वात्सल्य प्रेम जनकत्व हेतु अन्तरङ्गा, माया— निज माधुर्य्य ज्ञान, उस का विस्तार किये थे। कैसे माधुर्य्य ज्ञान का विस्तार किये थे, उसका वर्णन--'अनन्तर यादव श्रेष्ठ' इत्यादि श्लोक समूह में वर्णित है। माया मनुष्य—अशेष विद्या–जिस में सर्वाधिक रूप में विद्यमान हैं, वह नराकृति परम ब्रह्म श्रीकृष्ण हैं।

श्रीशुक कहे थे—६७।

६८। स्थल विशेष में पारमैश्वर्य्य का उद्दीपनत्व भक्ति में जो दृष्ट होता है, उसको सम्भ्रम गौरवादि भक्ति अवयव के सम्बन्ध में ही जानना चाहिये। अवयवी प्रीत्यंश में माधुर्य्य का ही उद्दीपनत्व होता है। परमैश्वर्य्य माधुर्य्य-उभय का सम्मिलन परमेश्वर में प्रेमोत्पादक है, इस प्रकार समझना होगा।

अर्थात् अवयव- अङ्ग, अवयवी अङ्गी है, अवयवी से अवयव कर चरणादि निकृष्ट हैं, किसी अवयव

तदवयवस्यैव। तत्राप्यवयविनि प्रीत्यंशे तु माधुर्य्यस्यैवोद्दीपनत्वम्। उभयसमाहारस्य पुनः परमेश्वरभक्तिजनकत्वमिति विवेक्तव्यम्। तदेवं माधुर्य्यस्यैव प्रीतिजनकत्वे स्थिते तदनुभवश्च श्रीमद्गोकुलस्य स्वभावसिद्धः। आगन्तुकः खल्वैश्वर्य्यानुभवः, तथैव श्रीगोवर्द्धनोद्धारणानन्तरे, (भा० १०।२६।१) –

"एवम्विधानि कर्म्माणि गोपाः कृष्णस्य वीक्ष्य ते।
अतद्वीर्य्यविदः प्रोचुः समभ्येत्य सुविस्मिताः॥"२६२॥

इत्याद्यध्याये, (भा० १०।२६।१३)—

"दुस्त्यजश्चानुरागोऽस्मिन् सर्व्वेषां नो व्रजौकसाम्।
नन्द ते तनयेऽस्मासु तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम्॥"२६३॥

---

का अभाव होने पर अवयवी का अभाव नहीं होता है, किन्तु अवयवी का अभाव होने से अवयव की स्थिति असम्भव होती है। तज्जन्य अवयवी मुख्य है, एवं अवयव गौण है।

जिस प्रकार अवयव अवयवी भेद से व्यक्ति द्विधा विभक्त हो सकता है, उस प्रकार भक्ति भी द्विधा विभक्त हो सकती है। सम्भ्रम गौरवादि उस के अवयव स्थानीय हैं एवं प्रीति—अवयवी स्थानीया है। श्रीभगवान् का ऐश्वर्य्य दर्शन होने से उनके प्रति समादर एवं सम्मान प्रदान करने की प्रवृत्ति होती है। और माधुर्य्य दर्शन से उनके प्रति प्रीति का उद्रेक होता है। प्रीति ही मूल भक्ति है।

सम्भ्रव गौरवादि उसके अङ्ग हैं। जो अङ्गी का सहायक है, वह अङ्ग का सहायक श्रेष्ठ है। वस्तुतः अङ्गीसहायकी उपयोगिता अधिक है एवं अपरिहार्य्य भी है। तज्जन्य माधुर्य्यज्ञान ऐश्वर्य्य ज्ञान से श्रेष्ठ है। ऐसा होने पर भी ऐश्वर्य्य ज्ञान व्यतीत केवल माधुर्य्य ज्ञान से परमेश्वर में भक्ति हो ही नहीं सकती है। ६१ अनुच्छेद में उक्त है—परमेश्वर निष्ठ होने के कारण भगवत् प्रीति--भक्ति शब्द से अभिहिता होती है। केवल माधुर्य्य ज्ञानसे परमेश्वर बोध नहीं होता है, ऐश्वर्य्य ज्ञान से परमेश्वर बुद्धि उपस्थित होती है, उस से सेव्य भाव उत्पन्न होता है। सेवा ही भक्ति का स्वरूप है। "तस्मात् सेवा बुधैः प्रोक्ता सर्व साधन भूयसी" यह सेवा यदि आनुकूल्यात्मिका होती है, तभी--उसकी भक्ति संज्ञा हो सकती है। सेवा बुद्धि के निमित्त ऐश्वर्य्यानुभव एवं अ नुकूल्य प्रवृत्ति हेतु-माधुर्य्यानुभव प्रयोजन है। एतज्जन्य ऐश्वर्य्य--उभय का अनुभव से ही भक्ति का आविर्भाव होता है।

अतएव माधुर्य्य का ही प्रीति जनकत्व सिद्ध होने पर उस का अनुभव श्रीगोकुल निवासी जन गण का स्वभाव सिद्ध है। उन सब का ऐश्वर्य्यानुभव किन्तु आगन्तुक है। श्रीगोवर्द्धन धारण के पश्चात् उस प्रकार अनुभव का वृत्तान्त भा० १०।२६।१ में लिखित है—

"एवं बिधानि कर्म्माणि गोपाः कृष्णस्य बीक्ष्यते।
अतद्वीर्य्यबिदः प्रोचुः समभ्येत्य सुविस्मिताः॥"२६२॥

गोपगण—श्रीकृष्ण का गोवर्द्धन धारण एवं अन्यान्य अलौकिक कर्म्म समूह को देखकर--उनका प्रभाव अवगत न होने के कारण बिस्मित हुये थे, एवं व्रजराज के निकट समवेत होकर कहे थे। उस अध्याय के अर्थात् भा० १०।२६।१३ में उक्त है—

इति श्रीगोपगणप्रश्ने, श्रीव्रजेश्वरेण च तदैश्वर्य्यमाप्तवाक्यद्वारैव तेषां समाधानायोक्तम्, माधुर्य्यन्तु स्वानुभवसिद्धत्वेन व्यञ्जितम्, यथाह (भा० १०।२६।१५) —

(९८) "श्रूयतां मे वचो गोपा व्येतु शङ्का च वोऽर्भके।
एतं कुमारमुद्दिश्य गर्गो मे यदुवाच ह ॥"२६४॥

---

"दुस्त्यजश्चानुरागोऽस्मिन् सर्वेषां नो व्रजौकसाम्।
नन्द ते तनयेऽस्मासु तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम् ॥"२६३॥

हे नन्द ! तुम्हारे इस पुत्र में हम सब समस्त व्रजवासियों का दुस्त्यज–प्रगाढ़ अनुराग क्यों है, और इसका भी हम सब के प्रति स्वाभाविक अनुराग क्यों है ?

गोपवृन्द के प्रश्नोत्तर में श्रीनन्दमहाराज समाधान हेतु आप्त--विश्वस्त श्रीगर्गमुनि के वाक्य द्वारा ही श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य्य का विवरण कहे थे। और माधुर्य्य श्रीव्रजराज का निजानुभवरूप में व्यञ्जित हुआ है। भा० १०।२६।१५ में उक्त है—

(९८) "श्रूयतां मे वचो गोपा व्येतु शङ्का च वोऽर्भके।
एतं कुमारमुद्दिश्य गर्गो मे यदुवाच ह ॥"२६४॥

हे गोपगण ! मेरा वाक्य सुनो, बालक के सम्बन्ध में तुम सब को भय विदूरित हो, इस कुमार को उद्देश्य करके गर्गाचार्य्य मुझ को स्पष्ट भावसे जो कहे थे—उस को कहता हूँ—व्रजराज कर्त्तृक वर्णित गर्गोक्ति श्लोक समूह भा० १०।२६।१५--२२

"वर्णास्त्रयः किलास्यासन् गृह्णतोऽनुयुगं तनूः
शुक्लोरक्तस्तथापीत इदानीं कृष्णतां गतः।
प्रागयं वसु देवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः।
वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते।
बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते।
गुण कर्म्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः ॥"
एष वः श्रेय आधास्यद् गोपगोकुलनन्दनः
अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ ॥
पुरानेन व्रजपते साधवो दस्यु पीड़िताः।
अराजके रक्ष्यमाणा जिग्युर्दस्यून् समेधिताः।
य एतस्मिन् महाभागे प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः
नारयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णु पक्षानिवासुराः।
तस्मान्नन्द कुमारोऽयं नारायण समो गुणैः।
श्रियाकीर्त्यनुभावेन तत् कर्म्मसु न विस्मयः ॥"

श्रीनन्द बोले—गर्गमुनि कहे थे—यह बालक प्रति युग में शरीर ग्रहण करता है, इस के तीन रूप शुक्ल, रक्त, पीत अतीत हो गये हैं, सम्प्रति कृष्णत्व प्राप्त किया है। पूर्व काल में कभी वसुदेवके पुत्र रूप में उत्पन्न होने के कारण—अभिज्ञ गण इस को वासुदेव कहते हैं, तुम्हारे पुत्र के गुण कर्म के अनुरूप अनेक नाम एवं रूप हैं, उन सब को मैं जानता हूँ, अपर कोई नहीं जानते हैं। यह गोप गोकुल का आनन्द जनक

इत्यादि, (भा० १०।२६।२३)—

"इत्यद्धा मां समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते।
मन्ये नारायणस्यांशं कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ।।"२६५।।

इत्यन्तम् ।

अथ "गर्गो मां यदुवाच ह" इति शब्दद्वारा परोक्षं ज्ञानमुक्तम्, तत्रापि मन्य इति वितर्क एव । 'अर्भक-कुमार'-शब्द प्रयोगस्तु बालभावमय-माधुर्य्ये स्वस्वभावानुभवस्य सूचक इत्यवगम्यते ।। श्रीव्रजेश्वरः ।।

---

होकर सब को मङ्गल प्रदान करेगा । तुम सब इस के द्वारा समस्त विपदों से परित्राण प्राप्त करोगे । हे व्रजराज ! पूर्व काल में अराजकता उपस्थित होने से साधुगण--दस्यु कर्त्तृक पीड़ित हुये थे । यह बालक रक्षक होने से साधुगण प्रबल पराक्रम सम्पन्न होकर दस्यु गण को पराभूत किये थे । जो यह महाभाग्यवान् बालकको प्रीति करते हैं–विष्णु पक्षीय गणको जिस प्रकार असुर गण पराभूत करने में समर्थ नहीं होते हैं, उस प्रकार उन सब को भी शत्रुगण अभिभूत कर नहीं सकते हैं ।

हे नन्द ! तुम्हारे यह पुत्र—गुण, सम्पत्ति, कीर्त्ति, एवं कार्य्य द्वारा नारायण के समान है । इस प्रकार गर्गोक्ति को कहने के बाद व्रजराज कहे थे—सुतरां इस के कर्म्म समूह विस्मय कर नहीं हैं । भा० १०।२६।२३ में उक्ति का उपसंहार इस प्रकार हुआ है—

"इत्यद्धा मां समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते ।
मन्ये नारायणस्यांशं कृष्णमक्लिष्ट कारिणम् ।।"२६५।।

टीका—इति अद्धा—साक्षात् मां प्रति समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते सति तदानीं तथा मन्यमानोऽपि इदानीं कृष्णं नारायणस्यांशं मन्ये ।। अत्र हेतुः—अक्लिष्ट कारिणमिति ।।

इस प्रकार साक्षात् रूपसे गर्ग महाराज मुझे कह कर चले जाने पर मैंने बालक को उस प्रकार ही माना, किन्तु इस समय विस्मयावह कार्य्य समूह को करते देखकर बालक जो नारायण का अंश है--यह मानता हूँ ।

श्लोक व्याख्या—'गर्गो मां यदुवाच ह" गर्ग मुझ को स्पष्ट रूप से जो कहे थे । इस का प्रकाश मूलोक्त 'ह' शब्द से हुआ है । 'ह' व्यक्तमेव, न च सङ्केतादिना' स्पष्ट रूपसे ही कहे थे, किन्तु सङ्केतादि द्वारा नहीं । उस में भी 'मन्ये' मानता हूँ । यह पद वितर्क अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । एवं अर्भक–बालक--कुमार--शब्द प्रयोग के द्वारा बालभाव माधुर्य्य का अनुभव जो व्रजराज का स्वाभाविक है-- यह सूचित हुआ है ।

पूर्व की धारणा के अनुसार सङ्केत होता है, अतएव गर्गाचार्य्य सङ्केत द्वारा श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य्य वर्णन नहीं किये थे । सङ्केत से वर्णन करने से व्रज राज का श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य्य विषयक बोध ही नहीं होता । गर्ग वाक्य से ही व्रजराज का श्रीकृष्ण ऐश्वर्य्य बोध हुआ ।

वितर्क—इस प्रकार हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है— इस प्रकार संशय है । व्रजराज का वितर्क सूचक शब्द है—मैं मानता हूँ ।।" उनका मनोभाव यह है—श्रीकृष्ण--मेरा ही पुत्र है, तब जो गर्गाचार्य्य कहे हैं—गुण में नारायण के समान है, ऋषि वाक्य मिथ्या नहीं है, सुतरां पुत्र नारायण का अंश हो भी सकता है । मुनि वाक्य से ही उस प्रकार वितर्क, उपस्थित हुआ है । अन्यथा व्रजराज श्रीकृष्ण को निज पुत्र ही जानते थे । ऐश्वर्य्य देखने पर भी उस में अनुसन्धान नहीं रहता था । माधुर्य्यामृत वारिधि में

६६। तथा (भा० ११।१२।१३) "मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः" इति श्रीभगवता चोक्तम्, न चैवं तेषामज्ञानञ्च वक्तव्यम्,–माधुर्य्य-ज्ञानेनैव परमभगवत्ताज्ञानसद्भावात्, यत

---

सतत निमग्न रहते थे। कदाचित् अनुसन्धान होने पर भी नारायण की कृपा सञ्जात वा ब्राह्मण के आशीर्वाद सम्भूत है— इस प्रकार मानते थे। व्रजराज स्वयं स्वभावतः माधुर्य्यानुभव करते थे। तज्जन्य श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में बालक एवं कुमार शब्द का प्रयोग किया है। यदि श्रीकृष्ण के प्रति ईश्वर बुद्धि स्वल्प भी होती तो उस प्रकार शब्द प्रयोग नहीं करते ॥　　　　　　　　　　　श्रीव्रजेश्वर कहे थे ॥९८॥

९९। भा० ११।१२।१३ "अस्वरूपोविदोऽबला" भगवद्युक्ति के अनुसार व्रजवासि वृन्द का माधुर्य्यानुभव स्वभावसिद्ध होने के कारण, जिस प्रकार साक्षात् ऐश्वर्य्य ज्ञान का प्रसङ्ग नहीं आता है, उस प्रकार उस विषय उन में अज्ञान था— यह भी कहा नहीं जा सकता है। अर्थात् श्रीकृष्ण परमैश्वर्य्य माधुर्य्यनिधि होने पर भी अपर के द्वारा सूचित न होने से व्रजवासि गण श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य्य को नहीं जानते। यह उन सब के पक्ष में अज्ञान नहीं है। कारण, माधुर्य्य ज्ञान के द्वारा ही उन सब में परम भगवत्ता ज्ञान विद्यमान है। जिस से श्रीगोकुल वासियों का कृष्ण भिन्न अन्यत्र आवेश नहीं हैं, एवं जिस ज्ञान में आत्मारामवृन्द का हर्ष है।

अभिप्राय यह है कि— अज्ञात विषय का परिज्ञान--अपर के द्वारा सूचित न होने से निज विषय में ज्ञान नहीं होता है–वह अज्ञान है। श्रीकृष्ण को ईश्वर रूप में व्रजवासि गण नहीं जानते थे, गर्ग वाक्यसे उन सब को कथञ्चित् ज्ञान हुआ था। इस से संशय होता है कि— ईश्वर विषयक अज्ञान ही उन सब में है। संशय निरसन हेतु कहे हैं— उन सब के पक्ष में यह अज्ञान नहीं है। ऐश्वर्य्य ज्ञान एवं माधुर्य्य ज्ञान--यह द्विविध भगवत्ता ज्ञान के मध्य में माधुर्य्य ज्ञान का मुख्यत्व है, व्रजवासि गण में वह ज्ञान वर्त्तमान होने से उन सब का ईश्वर विषयक ज्ञान सर्वोत्तम है। इस में संशय नहीं है।

भा० ११।२।३७ में उक्त है—"भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्य्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥"

ईश विमुखता दोष से अर्थात् ईश्वर विषयक अज्ञान विद्यमान होने से ही जीव का आवेश देहादि में होता है। इससे प्रतीत होता है कि ईश्वर विषयक अज्ञान होने से ही अन्यत्र देहादि में आवेश होता है, श्रीकृष्ण भिन्न आवेश व्रजवासिवृन्द का अन्यत्र न होने से, ईश्वर विषयक अज्ञान उन सब को है— यह स्वीकृत नहीं है। कहा जा सकता है कि–उन सब का आवेश ब्रह्म भाव में नहीं था, माधुर्य्य भाव में ही आवेश था। समाधान हेतु कहा है—माधुर्य्यावेश ही सर्वोत्तम ज्ञान का निदर्शन है। कारण–विज्ञ शिरोमणि आत्माराम गण भी। माधुर्य्यानुभव में हृष्ट होते हैं। अर्थात् व्रजवासि वृन्द का श्रीकृष्ण विषय में जो ज्ञान था उस को विज्ञगण परम ज्ञान मानते हैं। कारण, ज्ञान का फल है—परतत्त्व वस्तु में आवेश। श्रीकृष्ण-- निरपेक्षपर तत्त्व अनावृत ब्रह्म हैं। उनमें व्रजवासियों का जिस प्रकार आवेश है–उस प्रकार आवेश किसी भी उपासक में देखने में नहीं आता है। तज्जन्य--उनका ज्ञान सर्वोत्तम है।

समस्त भगवत्ता को उपासना-सबव्यक्ति नहीं करते हैं। समस्त भगवत्ता का अनुभव करने में सब व्यक्ति सक्षम नहीं हैं। निज निज योग्यता के अनुसार ही भगवत्ता की उपासना करते हैं। कारण, भगवत्ता-अनन्त हैं, समस्त भगवत्ता की उपासना का अनुभव करने की योग्यता किसी को नहीं है। एतज्जन्य वेदान्त सूत्र कार श्रीवेदव्यास गुणोपासना वाक्य समूह में पृथक् पृथक् भाव से उपासना का वर्णन किये हैं।

'समाहारात्' ३।३।६५। कथित है—भूम्नः क्रतुवत् ज्यायस्त्वम् तथाहि दर्शयति ३।३।५६।

एव तेषामन्यत्रानावेशः, यदेव खल्वात्मारामाणामपि मोदनम्। न च सर्वापि भगवत्ता सर्वेणोपास्यतेऽनुभूयते वा, अपि तु स्व-स्वाधिकारप्राप्तैव,—अनन्तत्वादनुपयुक्तत्वाच्च। अतएव

---

'भूम्नः क्रतुवत् ज्यायस्त्वम् तथाहि दर्शयति"
"नाना शब्दादि भेदात्" ३।३।६०
स वाच्य वाचक तया भगवान् ब्रह्मरूपधृक्।
नाम रूप क्रिया धत्ते सकर्माकर्मकः परः ॥ भा० भा० २।१०।३६
कृतं त्रेता द्वापरञ्च कलिरित्येषु केशवः।
नाना वर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते" भा० भा० ११।५।२०
विकल्पोऽविशिष्ट फलत्वात्। ३।३।६१
ब्रह्माचार्य्य विभेदेन भगवत् समुपासते' भा० भा० १०।४०।७

भगवद् गुणोपासनास्मिन् पादे प्रदर्श्यते" भगवदुपासना का वर्णन इस पाद में हैं। श्रीभगवान् के जो सब गुण उपास्य हैं, वे सब गुण--श्रुति स्मृति के जिस जिस वाक्य में वर्णित हैं—उस वाक्य समूह को गुण विद्या कहते हैं। श्रीभगवान् के गुण समूह की समावेश व्यवस्था एकत्र न करके जिस स्वरूप में एवं जिस अङ्ग में जिस गुण का समाहार शास्त्र प्रसिद्ध है एवं सङ्गत भी है, श्रीवेदव्यास उस स्वरूप में उस अङ्गमें उस गुण का समाहार करने की व्यवस्था किये हैं। जैसे स्वरूपमें श्रीनृसिंह में केशरादि। श्रीरामचन्द्र में धनुर्वाण प्रभृति, श्रीमत्स्य में पुच्छादि। अङ्ग में श्रीमुख में मृदु हास्यादि।

समाहार शब्द का अर्थ है—अनेक विभिन्न वस्तु का बुद्धि द्वारा वा बाहर प्रयत्न द्वारा एकत्रीकरण।

'नाना शब्दादि भेदात्' सूत्र में श्रीनृसिंहादि विभिन्न स्वरूप की पृथक् उपासना वर्णन करने के पश्चात् "विकल्पोऽविशिष्ट फलत्वात्" सूत्र में यादृश सङ्गानुयायी भगवत् सङ्कल्प से जिस प्रकार उपासना प्राप्त होती है, तादृश उपासना की व्यवस्था की गई है।

इस रीति से जिस की जैसी उपासना है, श्रीभगवान् में अनन्त गुणकी प्रसिद्धि होने पर भी उपासक को चाहिये कि वह निज उपास्यमें निज उपासना के उपयोगी गुणसमूह का समाहार बुद्धि योग से समावेश करे। अर्थात् उपास्य के वे सब गुण की चिन्ता करे, यही गुणोपासना वाक्य समूह का तात्पर्य्य है।

"व्याप्तेश्च समञ्जसम्" ३।३।१०
"नौमिड्यतेऽभ्र वपुषे तड़िदम्बराय। गुञ्जावतंस परिपिच्छलसन्मुखाय॥
वन्यस्रजे कवल वेत्र विषाय वेणु।लक्ष्मश्रिये मृदुपदेपशुपाङ्गजाय॥ भा० भा० १०।१४।१

सूत्र का माध्वभाष्य—"युज्यते चोपसंहारोऽनुपसंहारश्च योग्यता विशेषात्।
गुणैः सर्वैरुपास्योऽसौ ब्रह्मणा परमेश्वरः।
अन्यैर्यथा क्रमैश्चैव मानुषैः कैश्चिदेवतु" इति भविष्य पर्वणि॥

साधक के योग्यतानुसार ब्रह्मके गुणोपसंहार--एवं अनुपसंहार की व्यवस्था है। भविष्यत् पर्व में लिखित है—ब्रह्मा समस्त गुणों के सहित परमेश्वर की उपासना करते हैं, अपर कतिपय मनुष्य निज शक्त्यनुसार ब्रह्म के गुणानुशीलन करके उपासना करते हैं। अर्थात् भगवान् की धारणा जिस प्रकार करने में जो सक्षम है, वह उस परिमाण गुणार्शीलन करके उपासना करे। अतएव कहा गया है—

"काम्यास्तु यथा कामं समुच्चीयेरन्नवा पूर्व हेत्वभावात्॥ ३।३।६२
'अकामः सर्व कामो वा मोक्षकाम उदारधीः।

वेदान्तेऽपि गुणोपासना-वाक्येषु तत्तद्विद्यायां गुणसमाहारः पृथक् पृथगेव सूत्रकारेण व्यवस्थापितः, तथैवोक्तम्—

"यस्य यस्य हि यः कामस्तस्य तस्य ह्युपासनम् । तादृशानां गुणानाञ्च समाहारं प्रकल्पयेत् ॥"२६६॥ इति तथा (भा० १०।४३।१७) "मल्लानामशनिः" इत्यादौ च टीका-चूर्णिका—"तत्र च शृङ्गारादि-रसकदम्बमूर्त्ति-र्भगवांस्तत्तदभिप्रायानुसारेण बभौ, न साकल्येन सर्वेषामित्याह" इत्येषा । अत्र परमतत्त्वतया जानतामपि न सम्यग् ज्ञानमित्यायातम्, युक्तञ्चेदम्,—तत्तन्माधुर्य्य-विशेषाननुभवात् । माधुर्य्यानुभविनां भक्तानान्तु (भा० ५।१८।१२) —"यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्य-किञ्चना, सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः" इत्यादि-न्यायेनानादृतमपि सर्व्वं ज्ञानं समय-प्रतीक्षकमेव स्यात् । पूर्वत्रैव पद्ये तेषां परम-विद्वत्तामभिप्रैति, यथा (भा० १०।४३।१७)—

---

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् " भा० भा०

काम शब्द का अर्थ है सङ्कल्प, जिस का जिस प्रकार अभिलाष है, वह उपास्य में ऐश्वर्य्य द्योतक गुण समूह की चिन्ता करे । और जिस का माधुर्य्यानुभव का अभिलाष है, वह उपास्य में माधुर्य्य द्योतक गुण समूह का समावेश की चिन्ता करे ।

"यस्य यस्य हि यः कामस्तस्य तस्य ह्युपासनम् ।
तादृशानां गुणानाञ्च समाहारं प्रकल्पयेत् ॥"२६६॥

योग्यतानुरूप उपासना की कथा जिस प्रकार कही गई है, उस प्रकार योग्यतानुरूप अनुभव की कथा भी कही गई हैं । भा० १०।४३।१७ में उक्त है—

"मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान् ।
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ।
मृत्युर्भोजपतेर्विराड़विदूषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः ॥"

इस की टीका में श्रीधर स्वामिपाद की उक्ति यह है—तत्र शृङ्गारादिसर्वरसकदम्बमूर्त्तिर्भगवान् तत्तदभि प्रायानुसारेण बभौ न साकल्येन सर्वेषामित्याह मल्लानामिति । शृङ्गारादि रस समूह की मूर्त्ति भगवान्—कंस रङ्ग भूमि में उपस्थित व्यक्ति वृन्द के अभिप्रायानुसार प्रकाशित हुये थे । सब के समीप में सम्पूर्ण रूप में प्रकाशित नहीं हुये थे । जो लोक श्रीकृष्ण को परम तत्त्व रूप में जानते हैं, वे उनको सम्यक् रूप से जानने में अक्षम हैं । यहाँ इस प्रकार विदित होता है । यह सङ्गत है । कारण, स्वभाव, गुण, रूप, वयस, लीला एवं सम्बन्ध विशेष की मनोहरता का नाम माधुर्य्य है, वे सब उक्त माधुर्य्यानुभव में वञ्चित होते हैं । किन्तु जो लोक, माधुर्य्यानुभवी होते हैं, उस प्रकार भक्तवृन्द के विषय में भा० ५।१८।१२ में उक्त है— "यस्यास्ति भक्ति र्भगवत्यकिञ्चना, सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः"

जिनकी अकिञ्चना भक्ति भगवान् में है, उनमें समस्त गुणों के सहित देवगण समागत होते हैं । इस प्रकार न्याय—अर्थात् युक्ति मूलक वाक्य के अनुसार अनादृत होने पर भी समस्त ज्ञान समय की प्रतीक्षा करके अवस्थित होते हैं ।

प्रसङ्गतः यहाँपर माधुर्य्यानुभवि व्यक्ति वृन्द का उत्कर्ष कीर्त्तन किया गया है । जो परम तत्त्व रूप

(६६) "मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ।
मृत्युर्भोजपतेर्विराड़विदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः ॥"२६७॥

अत्र पद्ये खलु त्रिविधा जना उक्ताः,—प्रतिकूलज्ञानाः, मूढ़ाः, विद्वांसश्च । तत्र निरुपाधि-परम-प्रेमास्पदता-स्वभावे तस्मिन् विरोधिलिङ्गेन मल्लानां कंसपक्षीयासत्क्षितिभुजां कंसस्य च प्रतिकूल-ज्ञानत्वं बोध्यते, विराड़विदुषामिति पृथगुपादानेन विराट्त्वज्ञानिनामेव मूढ़त्वम्, पारिशेष्य-प्रमाणेनान्येषान्तु विद्वत्त्वं । तत्र विराट्त्वं नाम विराड़ंशभौतिकदेहत्वं यत्-किञ्चिन्नरदारकत्वमित्यर्थः, अतस्तत्र मूढ़ता, ते च भगवद्‌याच्ञामश्रद्दधानैर्याज्ञिकविप्रैः सदृशाः,

---

में श्रीकृष्ण को अनुभव करते हैं, वे सम्यक् रूपसे श्रीकृष्ण को अनुभव करने में असमर्थ होते हैं । ये सब ऐश्वर्य्यानुभवी होते हैं । एवं जो लोक माधुर्य्यानुभवी होते हैं, वे माधुर्य्यानुभव तो करते ही हैं,ऐश्वर्य्य ज्ञान, उपेक्षित होने पर भी उन सब में स्फुरित होने के निमित्त उपयोगी समय की अपेक्षा करता है । अवसर उपस्थित होने से अनादृत होकर भी उपस्थित होता है । ऐश्वर्य्यानुभवी व्यक्ति के पक्ष में जो वस्तु पुरुषार्थ है, वही वस्तु माधुर्य्यानुभवी के समीप में अतीव तुच्छ है । इस माधुर्य्यानुभवि भक्त वृन्द का परमोत्कर्ष सूचित हुआ है । भा० १०।४३।१७ के

(६६) "मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ।
मृत्युर्भोजपतेर्विराड़विदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः ॥"२६७॥

श्लोक में माधुर्य्यानुभविव्यक्तिगण की परम विज्ञता प्रदर्शित हुई है, अर्थात् शुकदेव उन सब को परम विद्वान् कहते हैं । उन्होंने कहा है—भगवान् श्रीकृष्ण, अग्रज के सहित रङ्गस्थल मे उपस्थित होकर मल्लों के अशनि वज्रवत् कठोर, नरवृन्द के नरवर, युवतीगण के मूर्त्तिमान् कन्दर्प गोपवृन्द के स्वजन, असत् नृपति वृन्द के शासन कर्त्ता, निज पितामाता का शिशु, भोजपति कंस की साक्षात् मृत्यु, अविद्वज्जन के पक्ष में विराट् योगिगण के परमतत्त्व एवं वृष्णिगण के परम देवता रूप में प्रकाशित हुये थे-।

उक्त श्लोक की व्याख्या– उक्त पद्य में तीन प्रकार व्यक्ति का विवरण लिखित है—प्रतिकूल ज्ञान--शत्रु बुद्धि सम्पन्न, मूढ़, एवं विद्वान् यह त्रिविध जन हैं । उस के मध्य में निरुपाधि प्रेमास्पद श्रीकृष्णके प्रति विरोध प्रकाश होने के कारण--मल्लगण–कंस पक्षीय असत् राजगण, एवं स्वयं कंस प्रतिकूल ज्ञान सम्पन्न है । अविद्वान् के सम्बन्धमें विराट्–पृथक् उल्लेख करने के कारण--जो लोक श्रीकृष्णको सच्चिदानन्द विग्रह होने पर भी विराट बोध करते हैं--वे मूढ़ हैं । एवं पारिशेष्य प्रमाण से--अर्थात् यहाँ त्रिविध व्यक्ति का वृत्तान्त कहा गया है, उस के मध्य में दो प्रकार लोकों का विवरण कथित होने से अवशेष जो रह गये हैं, वे विद्वान् हैं यहाँ विराट् कहने से स्थूल पञ्चभूत का अंश भौतिक देह को जानना होगा, अर्थात् श्रीकृष्ण, साधारण नर बालक हैं, इस प्रकार बुद्धि ।

श्रीकृष्ण में अविद्वज्जनगण को मूढ़ता है, वह भगवद् प्रार्थना से श्रद्धा हीन याज्ञिक विप्रवृन्द के सदृश है । इस के मध्य में कतिपय व्यक्ति–भगवदवज्ञाता है । विद्वेषी भी नहीं है, प्रीतिमान भी नहीं है । मूढ़

केचित्तदवज्ञातारः, न द्वेष्टारो न च प्रीयमाणाः। अत्र तेषां भौतिकत्व-स्फूर्त्तौ भक्तानां जुगुप्सा जायत इति बीभत्सरसश्च भगवता पोष्यते, नरवरत्वे तु तन्माधुर्य्यप्रभावयोरंशेनैव नरेषु तस्य श्रेष्ठत्वमनुभूतमिति तदनुभवसद्भावात् साधारण-नृणामपि विद्वत्ता, अतएव च सामान्य-भक्ताः, यथैव तेषां प्रीतिर्वर्णिता (भा० १०।४३।२०)—"निरीक्ष्य तावुत्तमपुरुषौ जना, मञ्चस्थिता नागरराष्ट्रिका नृप। प्रहर्षवेगोत्कलितेक्षणानना" इत्यादिना। एतेषां प्रजात्वेऽपि प्रायस्तदानीमजातममत्वान्न पाल्यान्तःप्रवेशः। अथैवं तेषामपि विद्वत्तायामन्येषां सुतरामेव सा, तत्रापि किमुत श्रीगोपानाम्। तथा हि तत्र नृणां सामान्यभक्तानाम्, योगिनां तल्लीला-दिदृक्षागताकाशादिस्थित-चतुःसन-प्रभृति-ज्ञानिभक्तानाञ्च ममत्वसूचक-पदविन्यासो न कृतः,

---

व्यक्ति वृन्द की श्रीकृष्ण में भौतिकत्व अर्थात् पाञ्च भौतिक देहधारी साधारण मानव--स्फूर्त्ति में भक्तगण की घृणा होती है, तज्जन्य श्रीभगवान् बीभत्सरस को भी पोषण करते हैं ॥

घृण्य वस्तुको अवलम्बन करके ही बीभत्सरस निष्पन्न होता है। श्रीभगवान् की कभी भी उस प्रकार प्रतीति नहीं होती है, किन्तु जो कृष्णको पाञ्चभौतिक देह धारी मानते हैं, उस की स्फूर्त्ति के प्रति भक्तवृन्द की घृणा होती है। घृणा वृत्ति का उदय होने से बीभत्सरस निष्पन्न होता है। उक्त रीति से भगवत् सम्बन्ध में मूढ़गण की स्फूर्त्ति के प्रति भक्त गण की घृणा का उद्रेक होने से भगवान् बीभत्सरस को भी पोषण कर रहे हैं, इस प्रकार कहा गया है। उन के सम्बन्ध में बीभत्सरस निष्पन्न होना असम्भव है। इस रीति से उस असम्भावना को परिहार करके श्रीकृष्ण जो अखिल रसामृत मूर्त्ति हैं—यह प्रति पादित हुआ।

जो लोक श्रीकृष्ण को नरवर रूप में देखे थे, वे कृष्ण के माधुर्य्य एवं प्रभाव अंश में नर गण के मध्य में उनका श्रेष्ठत्व को अनुभव किये थे उस प्रकार अनुभव विद्यमान होने के कारण कंस रङ्ग स्थलके साधारण मनुष्य भी विद्वान् हैं। अतएव वे सामान्य भक्त हैं। उनकी सामान्य भक्तोचित प्रीति वर्णित है, श्रीशुकदेव श्रीपरीक्षित् को १०।४३।२० में कहे थे—

"निरीक्ष्य तावुत्तम पुरुषौ जना, मञ्चस्थिता नागर राष्ट्रिका नृप। प्रहर्ष वेगोत् कलिक्षतेणानना।

हे राजन्! उत्तम पुरुष श्रीकृष्ण बलराम रामको निरीक्षण करके मञ्चस्थित नगर वासि जनगण के नयन वदन परमानन्द से प्रफुल्ल हो गये थे, वे अतृप्त नयनों से उनके मुख माधुर्य्य पान किये थे।

पूर्व में श्रीकृष्ण के प्रजागण को पाल्य वृन्द के अन्तर्भुक्त किया गया था। यह सब साधारण नरगण-प्रजा होने पर भी कंस निधन के समय श्रीकृष्ण में उन सब की ममता उत्पन्न नहीं हुई। एतज्जन्य वे पाल्य गण के अन्तर्भुक्त नहीं हैं। इस प्रकार साधारण जनगण की विद्वत्ता प्रतिपन्न होने से अपर व्यक्तियों की विद्वत्ता सुतरां निष्पन्न होती है। उस में भी परम माधुर्य्यानुभवी गोपगण की विद्वत्ता का विवरण क्या कहूँ? उसकी प्रतीज्ञा स्वाभाविक होती है।

उक्त श्लोक में मल्लगण (१) नरगण (२) स्त्री गण (३) गोपगण (४) असत् राज गण (५) श्रीकृष्ण के माता पिता (६) कंस (७) योगी गण (८) वृष्णि गण (९) अज्ञगण (१०) दश प्रकार लोकों का उल्लेख हुआ है। यह सब कंस की रङ्ग भूमिमें श्रीकृष्ण का विभिन्न रूपसे दर्शन किये थे। उक्त दशविध लोकों को प्रति कूल ज्ञान--मूढ़ एवं विद्वान् भेद से तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है। मल्लगण--असत् राजगण, एवं कंस—यह तीन प्रकार व्यक्ति प्रतिकूल ज्ञान के हैं, अज्ञगण-मूढ़ हैं, अवशिष्ट छै प्रकार के व्यक्ति-विद्वान् हैं। श्रीकृष्ण में ममता शून्य एवं ममता युक्त भेद से विद्वान् जन गणको दो भाग में विभक्त किया गया है।

तथा (भा० १०।४४।६) –

"तद्बलाबलवद्युद्धं समेताः सर्वयोषितः।
ऊचुः परस्परं राजन् सानुकम्पा वरूथशः ॥"२६८॥

इत्यादौ, (भा० १०।४४।८) "क्व वज्रसारसर्वाङ्गौ" इत्यादि-तद्वाक्योदाहृतानुकम्पामय-परम-प्रीतिविकाराणां नानाभाव-स्त्रीणां मध्ये स्मरत्वेन विदितकृष्णानां (भा० १०।४४।१४) "गोप्यस्तपः किमचरन्" इत्यादिक-गिरां स्त्रीविशेषाणां कान्तभावाख्य-प्रीतेर्लोकप्रसिद्ध-स्मरेणापि मिश्रत्वेन श्रीव्रजदेवीवच्छुद्धत्वाभावः, तत्कालदृष्टत्वेन ममत्वाभावश्चागतश्च। वृष्णि-पितृ-गोपानां तु तत्तच्छब्दैर्ममताविशेषः सूचितः। तस्मादेतेष्वेव परममाधुर्य्यानुभवेषूत्तमत्वं मतम्। तत्र च गोपानां स्वजनो वृष्णीनां परदेवतेत्यनेन श्रीगोपानां बान्धवभावापादक-माधुर्य्यज्ञानं स्वाभाविकम्, वृष्णीनान्तु परदेवताभावोत्पादकैश्वर्य्यज्ञानं

---

उक्त श्लोकमें नर गण–सामान्य भक्तगण एवं योगिगण एवं श्रीकृष्ण दर्शनाभिलाषी व्यक्तिगण में स्थित चतुःसन प्रभृति में ममत्व सूचक पद का विन्यास नहीं हुआ है। यह सब ममता शून्य हैं। स्त्री गण भी ममता शून्य हैं। भा० १०।४४।६ उन सब का कथन लिखित है—

"तद्बलाबलवद्युद्धं समेताः सर्वयोषितः।
ऊचुः परस्परं राजन् सानुकम्पा वरूथशः।।"२६८॥

हे राजन्! चानूरमुष्टि के सहित श्रीकृष्ण बलराम का मल्लयुद्ध आरम्भ होने से रङ्ग भूमि में समागत नारीगण-एक ओर बल, दूसरे ओर अबलको देखकर कृपार्द्र चित्त से परस्पर कहने लगी थीं भा० ११।४४।८ "क्व वज्रसार सर्वाङ्गौ"

प्रकाण्ड पर्वत तुल्य मल्लद्वय कहाँ? उस के सर्वाङ्ग वज्रसारके समान कठिन हैं, और अति सुकुमाराङ्ग एवं अप्राप्त यौवन किशोरद्वय कहाँ? इस प्रकार नारीगण के वाक्यों में अनुकम्पामय परम प्रीति उदाहृत हुई है। विभिन्न भाववती रमणी वृन्द के मध्य में जिन्होंने श्रीकृष्ण को कन्दर्प रूप में देखा था। भा० १०। ४४।१४ में उक्त है—"गोप्यस्तपः किमचरन्"—गोपी गणों ने कौनसी तपस्या की थी? उस विशेष रमणी वृन्द की कान्ता भावाख्य प्रीति के सहित लोक प्रसिद्ध काम का अर्थात् प्राकृत काम का संमिश्रण हेतु उन सब की प्रीति व्रज देवी गण की प्रीति के समान शुद्धा प्रीति नहीं है। विशेषतः उन्होंने श्रीकृष्ण को उसी समय देखा था, अतः उन सब में ममता का अभाव भी प्रतिपन्न हो रहा है। स्त्री समूह के मध्य में इन सब की प्रीति अत्यधिक है। इन सब में ममता भाव प्रतिपन्न होने के कारण, असमयुद्ध को देखकर जिन्होंने कृपार्द्रचित्त से आक्षेप किया था, उन सब में भी ममता का अभाव विद्यमान था।

वृष्णि गण, माता पिता एवं गोपगण में ममता विशेष सूचित हुआ था। श्रीकृष्ण—वृष्णिवंश में आविर्भूत हुये थे। श्रीवृन्दावन में श्रीकृष्ण गोप अभिमानी हैं। तज्जन्य वृष्णि एवं गोप वृन्द का श्रीकृष्ण निज जन हैं। अतः श्रीकृष्ण में उन सब की ममता है। पुत्र के प्रति माता पिता की ममता तो सर्वत्र सुप्रसिद्ध है। सुतरां परमाधुर्य्यानुभविगण के मध्य में यह सब उत्तम है। उस में भी गोप गण के श्रीकृष्ण-- निज जन हैं। एवं वृष्णि गण के श्रीकृष्ण परम देवता हैं—इस प्रकार उल्लेख हेतु, गोप गणके बान्धवभाव स्थापक माधुर्य्य ज्ञान स्वाभाविक है, एवं वृष्णि गण के परम देवता, परमाराध्य भाव प्रति प्रतिपादक

स्वाभाविकमित्यङ्गीकृतम्, (भा० १।७।३०) "सम्बन्धाद्वृष्णयः" इति तु तथा गौणस्यापि बन्धु, भावस्य तदनुगतौ स्वतः प्राबल्यापेक्षयोक्तम् । किञ्च, तेषु यथा कंसादयः प्रतिकूलज्ञाना वृष्ण्यधमाः, तथैवा-विद्वांसः शतधन्व-प्रभृतयः सन्ति, तदपेक्षयैव (भा० १०।८४।२३) "न यं विदन्त्यमी भूपा एकारामाश्च सात्वताः" इत्यादिकं ज्ञेयम् । अत उत्तमवृष्णितया सामान्यतो लब्धमैश्वर्य्यज्ञानमुत्तममेव श्रीवसुदेवदेवक्योः सम्मतम् । ततस्तत्संसृष्टत्वेऽपि लीलाविशेष-

---

ऐश्वर्य्य भाव स्वाभाविक है । सम्बन्ध हेतु वृष्णि गण भगवान् को प्राप्त किये हैं । भा० ७।१।३० में उक्त है-

"गोप्यः कामाद् भयात् कंसोद्वेषाच्चैद्यादयोनृपाः ।
सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो ।।"

यहाँ ऐश्वर्य्यानुगति से तादृश गौण बन्धुभाव का उल्लेख स्वतः प्राबल्य की अपेक्षा से हुआ है । उस में भी वृष्णि गणके मध्य में प्रतिकूल ज्ञान सम्पन्न कंसादि जिस प्रकार थे । उस प्रकार मूढ़—शतधन्वा प्रभृति भी थे । उन सब की अपेक्षा से ही भा० १०।८४।२३ में उक्त है—

"न यं विदन्त्यमी भूपा एकारामाश्च वृष्णयः ।
माया यवनिकाच्छन्नमात्मानं कालमीश्वरम् ।।

यह सब नृपति गण एवं एक स्थान निवासी यादवगण जिन को जानने में सक्षम नहीं हैं ।

उक्त है, गोपगण रङ्ग भूमि में श्रीकृष्ण को निज जन रूप में देखे थे । इस से प्रतीत होता है कि—साधारण गोपगण एवं मातापिता व्यतीत अपर कोई भी व्यक्ति श्रीकृष्ण को निज जन रूप में देखने में समर्थ नहीं हुये थे । उस में भी वृष्णि गण उनको परमाराध्य रूप में देखे थे, कहने से बोध होता है कि—वे श्रीकृष्ण को निज जन बोध नहीं किये थे । किन्तु श्रीनारद—युधिष्ठिर को कहे थे कि—सम्बन्धात् वृष्णयः' वृष्णि गण सम्बन्ध वशतः श्रीकृष्ण को प्राप्त किये थे । यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—सम्बन्ध होने से ही निज जन बुद्धि होती है, तब क्यो उस प्रकार कहा गया है ? उत्तर में कहते हैं—श्रीकृष्ण में यादव वृन्द का बन्धुभाव विद्यमान होने पर भी वह भाव ऐश्वर्य्यानुभवाधीन है, श्रीकृष्ण का असमोर्द्ध्व ऐश्वर्य्य दर्शन कर के ही वे उन को बन्धु मानते हैं, तज्जन्य उन का बन्धुभाव--ऐश्वर्य्यानुगत है एवं गौण है । किन्तु श्रीकृष्ण के प्रति वह बन्धुभाव स्वभावतः ही प्रबल है, एतज्जन्य श्रीनारद सम्बन्ध का उल्लेख किये हैं । श्रीकृष्ण में जिस का जो भाव मुख्य है, कंस रङ्ग भूमि में उसका उस प्रकार दर्शन ही युक्ति युक्त है, ऐश्वर्य्यानुभाव प्रधान होने के कारण परमाराध्य रूप में यादवगण श्रीकृष्ण का दर्शन किये थे । एवं माधुर्य्यानुभव प्रधान निबन्धन गोपगण श्रीकृष्ण दर्शन निज जन रूप में किये थे ।

किन्तु प्रश्न यह है कि—कुरुक्षेत्र तीर्थ में समागत मुनिगण कहे थे—एकत्र रहकर भी वृष्णि गण श्रीकृष्ण को जानने में अक्षम हैं, यदि उन सब का ऐश्वर्य्य ज्ञान स्वाभाविक है तो उन सब के सम्बन्ध में उस प्रकार कथन क्यों हुआ ? उत्तर—प्रतिकूल ज्ञान सम्पन्न व्यक्ति गण एवं मूढ़ व्यक्ति गण श्रीकृष्ण को जान नहीं सकते हैं । यदुकुलोत्पन्न प्रतिकूल ज्ञान सम्पन्न कंस एवं मूढ़ शतधन्वा प्रभृति श्रीकृष्ण को जानने में समर्थ नहीं थे । इन के सम्बन्ध में मुनि वृन्द की उक्ति उक्तरूप है । भा० १०।८४।२३ में इस का स्पष्ट उल्लेख है— "न यं विदन्त्यमी भूपा एकारामाश्च सात्वताः ।।"

अतएव वृष्णि गणके मध्यमें वसुदेव देवकी श्रेष्ठ हैं । तज्जन्य उन्होंने जो ऐश्वर्य्य ज्ञान लाभ किया है, वही उत्तम है । यह 'मल्लानामशनिः' श्लोक सम्मत है, उनका पितृत्व---ऐश्वर्य्य ज्ञान संश्लिष्ट होने पर भी

वशादेव पित्रोः शिशुरित्यनेन तु माधुर्य्यज्ञानं व्यज्यते, अतो गौणत्वादेव (भा० १०।८४।३०)—

"नातिचित्रमिदं विप्रा वसुदेवो बुभुत्सया।
कृष्णं मत्वार्भकं यन्नः पृच्छति श्रेय आत्मनः ॥"२६९॥

इत्यादौ श्रीनारदेन तन्नानुमोदितम्, राज्ञा तु स्वाभाविकत्वात् श्रीव्रजेश्वरयोस्तदनुमोदितम् (भा० १०।८।४६) "नन्दः किमकरोद्ब्रह्मन्" इत्यादौ। तयोरैश्वर्य्यज्ञानस्य स्वाभाविकत्वञ्च जन्मक्षणमारभ्य तादृश-स्तुत्यादौ प्रसिद्धम्। अतएव (भा० १०।४५।१) "पितरावुपलब्धार्थौ विदित्वा" इत्यत्र टीकाकारैरपि तयोरैश्वर्य्यज्ञानं सिद्धमेव, पुत्रतया प्रेम तु दुर्लभमित्युक्तम्, तथा श्रीगोपानां स्वजनत्वं सामान्यतो निर्दिष्टम्, तच्च वृष्णि-कंसादिवन्न व्रजे क्वचिदपि जने व्यभिचरति, (भा० १०।१६।१५)—

"आबालवृद्धवनिताः सर्वेऽङ्ग पशुवृत्तयः।
निर्जग्मुर्गोकुलाद्दीनाः कृष्णदर्शनलालसाः ॥"२७०॥

---

लीला विशेष हेतु अर्थात् जन्म लीला की स्मृति हेतु—"माता पिता के निकट शिशु कह कर वसुदेव देवकी का माधुर्य्य ज्ञान प्रकाश किया गया है। उनका माधुर्य्य ज्ञान गौण होने के कारण भा० १०।८४।३० में उक्त है—

"नातिचित्रमिदं विप्रा वसुदेवो बुभुत्सया।
कृष्णं मत्वार्भकं यन्नः पृच्छति श्रेयः आत्मनः ॥"२६९॥

हे विप्रगण! वसुदेव श्रीकृष्ण को बालक मान कर निज श्रेयो ज्ञान हेतु हम सब को जो प्रश्न किये थे, वह आश्चर्य्य कर नहीं है। कारण, भा० १०।८४।२३ में "यं न विदन्त्यमी भूपाएकारामाश्च सात्वताः" श्लोक में श्रीनारद वसुदेव का माधुर्य्यानुभव को अनुमोदन नहीं किये हैं। एवं भा० १०।८।४६ में "नन्दः किमकरोद् ब्रह्मन्' श्लोक में-व्रजेश्वर व्रजेश्वरी का माधुर्य्यानुभव स्वाभाविक हेतु—हे ब्रह्मन्! नन्द ने श्रेयः अनुष्ठान क्या किया था? कह कर परीक्षित् महाराज ने उनका माधुर्य्यानुभव को अनुमोदन किया है।

वसुदेव देवकी का ऐश्वर्य्य ज्ञान का स्वाभाविकत्व की प्रसिद्धि ऐश्वर्य्य ज्ञानमय स्तुति प्रभृति में है। अतएव भा० १०।४५:१ में उक्त है--"पितरावुपलब्धार्थौ विदित्वा" अतएव माता पिता परम ज्ञान रूप अर्थ लाभ किये थे। उक्त श्लोक की टीका में श्रीधर स्वामिपादने कहा है—उनका ऐश्वर्य्य ज्ञान सिद्ध ही है, पुत्र भाव से प्रेम किन्तु दुर्ल्लभ है॥ टीका "मयि प्रसन्ने सति अनयोर्भजनं किं दुर्ल्लभं स्यात् दुर्ल्लभन्तु मयि पुत्रतया प्रेमसुखम्, श्रीकृष्ण का अभिमत यह है—मैं जब प्रसन्न हूँ तब वसुदेव देवकी के पक्ष में ज्ञान लाभ क्या दुर्ल्लभ है? कभी नहीं। किन्तु मुझ में पुत्र भाव में प्रेम सुख लाभ दुर्ल्लभ है।

श्रीवसुदेव देवकी का स्वतः सिद्ध ऐश्वर्य्य ज्ञान के समान श्रीगोपवृन्द का श्रीकृष्ण में स्वजनत्व भाव साधारण रूप से निर्दिष्ट हुआ है। अर्थात् गोपगण की स्वजन बुद्धि श्रीकृष्ण में स्वाभाविक रूपसे है। यादव गण के मध्य में कंस प्रभृति में ऐश्वर्य्य ज्ञानाभाव जिस प्रकार दृष्ट होता है, उस प्रकार व्रज में किसी का भी श्रीकृष्ण में स्वजन बुद्धि का अभाव देखने में नहीं आता है। भा० १०।१६।१५ में उक्त है—

"आबालवृद्धवनिताः सर्वेऽङ्ग पशुवृत्तयः।
निर्जग्मुर्गोकुलाद्दीनाः कृष्णदर्शनलालसाः ॥"२७०॥

इत्यादि-दर्शनात् । तदेवं सति स्वयमेव गोपराजे कदाप्यव्यभिचारि-वात्सल्ये वैशिष्ट्य-मायातमिति तस्यापि शिशुरिति किं वक्तव्यमिति भावः ॥ श्रीशुकः ॥

१०० । तदेवं परममाधुर्य्यातिशयानुभव-स्वभावत्वेन परमज्ञानित्वमेव श्रीगोपलाना मङ्गीकृतम् । अतएव दृष्टचतुर्भुजाद्यनन्त-तदाविर्भावेनापि ब्रह्मणा तेषामालम्बनं रूपमेव निजालम्बनीकृतम्-(भा० १०।१४।१) "नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे" इत्यादिना । तेषामपि यत्स्वभावत्वेन सकलप्रीतिजातिचूड़ामणिरूपा परा प्रीतिः स्वभावत एवोदयते, यत्स्वभावत्वेनैव चागन्तुकादन्यज्ञानान्नासौ प्रीतिर्व्यभिचरति, प्रत्युत तदेव तिरस्करोति, तेनान्तरायप्राये वर्द्धते

---

कारण, व्रजके आबाल वृद्ध वनिता प्रभृति की प्रीति श्रीकृष्ण में यथायोग्य प्रीति है । श्रीकृष्ण कालीय ह्रद में प्रविष्ट होने से श्रीकृष्ण दर्शन लालसा से गोकुल वासि आबाल वृद्ध वनिता कातर भाव से गोकुल से निर्गत हुये थे । इससे गोकुल वासि सब की स्वजन बुद्धि श्रीकृष्ण में दृष्ट होती है । ऐसा होने पर ऐश्वर्य्य दर्शन से भी जिन में वात्सल्य का अभाव कभी भी नहीं होता है । स्वयं उन गोपराज नन्दमें निज जन ज्ञान का वैशिष्ट्य--अर्थात् पुत्र बुद्धि अवश्य ही है । अतएव वसुदेव देवकी के समान नन्द महाराज भी श्रीकृष्ण को शिशु दर्शन किये थे -- इस विषय में कहना बाहुल्य है। प्रवक्ता श्रीशुक हैं--९९॥

१०० । गोपवृन्द में प्रीत्युत्कर्ष ।

उक्त विवरण से ज्ञात होता है कि—प्रचुर तम रूपसे परम माधुर्य्य का अनुभव करना ही श्रीगोपवृन्द का स्वभाव है । एतज्जन्य वे ही परम ज्ञानी हैं। यह स्वीकृत हुआ है । अतएव परम ज्ञानी गोप गणोंने जिस को अवलम्बन किया है, उस को अवलम्बन करना ही श्रेयस्कर होने के कारण— भा० १०।१४।१ में वर्णित "नौमीड्यतेऽभ्रवपुषे" श्लोक के द्वारा उक्त है कि—जो ब्रह्मा, श्रीकृष्ण के चतुर्भुजादि अनन्त आविर्भाव को दर्शन किये हैं, वही ब्रह्मा, गोप वृन्दके द्वारा आलम्बित श्रीकृष्ण रूप को ही आलम्बन किये हैं । सम्पूर्ण श्लोक यह है ।

"नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय गुञ्जावतंस परिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवल वेत्र विषाण वेणुलक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥"

ब्रह्मा श्रीकृष्ण को कहे थे— हे ईड्य-स्तवनीय ! आप को प्रसन्न करने के निमित्त आप का स्तव कर रहा हूँ । आप का अङ्ग--नवमेघ तुल्य श्याम वर्ण, वसन— विद्युत सदृश, गुञ्जा का कर्णभूषण एवं मयूर पुच्छ चूड़ा द्वारा आपका श्रीमुख शोभित है । वनमाला, कवल-(दधि मिश्रित ओदनग्रास) वेत्र, श्रृङ्ग वेणु इत्यादि द्वारा आप की शोभा अतिशय हुई है । आप के पद युगल—अतिशय मृदु हैं । आप गोपराज नन्द के पुत्र हैं । मैं प्रणाम करता हूँ ।

प्रचुर रूपसे परम माधुर्य्यानुभव करना ही गोप गण का स्वभाव है । इस हेतु, सकल प्रीति जाति की चूड़ामणि रूपा परमा प्रीति स्वभावतः ही उन सब में उदित होती है। उस प्रकार प्रीति स्वभाव होने के कारण आगन्तुक अन्य ज्ञानसे उनकी प्रीति की शिथिलता नहीं होती है । प्रत्युत उक्त स्वभाव अन्य ज्ञान को तिरस्कृत करता है । विषयिगण की विषय प्रीति के समान अन्तराय सदृश आगन्तुक अन्य ज्ञान के द्वारा भी वह प्रीति वर्द्धित होती है, कारण, विषयिगण, विषय समूह दोष युक्त हैं, यह सुनने से यहाँ तक कि स्वयं देखने पर भी अनुराग हेतु उस में गुण युक्त वस्तुरूप जो बुद्धि हुई थी-- वह बुद्धि प्रबल ही होती है । अतएव श्रीप्रह्लाद ने कहा है—

च, विषयिणां विषयप्रीतिरिव। यतो विषयिणां विषयेषु सदोषत्वे श्रुति दृष्टेऽपि रागप्राप्तगुणवत्त्व बुद्धिः प्रबला दृश्यते, तथैवोक्तम्–(वि० पु० १।२०।१९) "या प्रीतिरविवेकानाम्" इति। अत्र च श्रीसङ्कर्षणं प्रति श्रीमन्नन्द-यशोदा-वचनम्, (भा० १०।६५।३) —

"चिरं न पाहि दाशार्ह सानुजो जगदीश्वरः।
इत्यारोप्याङ्कमालिङ्ग्य नेत्रैः सिषिचतुर्जलैः॥"२७१॥ इत्यादि।

येन वसुदेव-पुत्रत्वे क्षत्रियत्वे परमेश्वरत्वे च व्यक्ते श्रीबलदेवस्यापि तत्पुत्रोचित-भावो नान्यथा जातः, यता तत्पूर्वमुक्तम्, (भा० १०।६५।१-२) —

"बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ भगवान् रथमास्थितः।

---

"या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु॥"

विषयासक्त जन गण की अविचला प्रीति जिस प्रकार विषय भोग में होती है। निरन्तर तुम्हारा स्मरण परायण मेरा हृदय से वह प्रीति जैसे अन्तर्हित न हो।

अभिप्राय यह है कि—जिस का जो स्वभाव है। प्रतिकूल अवस्था में भी वह परिवर्त्तन नहीं होता है, साधारणतः यही देखने में आता है। सर्वाधिक रूप में श्रीकृष्ण माधुर्य्यास्वादन करना ही गोप वृन्द का स्वभाव है, तज्जन्य महान् ऐश्वर्य्य अनुभव करने पर भी माधुर्य्यानुभव सञ्जात प्रीति का व्यतिक्रम किसी भी प्रकार से उनमें नहीं होता है। स्वरूपानुबन्धि धर्म का ही स्वभाव कहते हैं, इस का व्यभिचार होना असम्भव है।

जो ऐश्वर्य्य ज्ञान साध्वस सङ्कोच उपस्थित करके गौरव मिश्रा भक्ति का उद्रेक उत्पन्न करता है, गोपगण—उस को किसी प्रकार आदर नहीं करते हैं। तज्जन्य उनके द्वारा अन्य ज्ञान तिरस्कृत ही होता है। प्रबल अनुराग किसी वस्तु में होने से दैवात् विघ्न उपस्थित होकर उसको प्रतिहत नहीं कर सकता है। किन्तु प्रिय वस्तु के काल्पनिक अभाव-उत्कण्ठा उत्पादन कर अनुराग को वर्द्धित करता है। गोपगण का अनुराग माधुर्य्यानुभव में है। उसका विरोधी ऐश्वर्य्यज्ञान उपस्थित होने से "वह परम मधुर वस्तु खो गई" इस प्रकार व्यग्रता उपस्थित होकर उनकी माधुर्य्यानुभवस्पृहा को और भी निविड़ कर देती है।

आगन्तुक ऐश्वर्य्य ज्ञान द्वारा जो गोपगण की प्रीति वर्द्धित होती है, उस का दृष्टान्त भा० १०।६५।३ में इस प्रकार है—

"चिरं नः पाहि दाशार्ह सानुजो जगदीश्वरः।
इत्यारोप्याङ्कमालिङ्ग्य नेत्रैः सिषिचतुर्जलैः॥"२७१॥

श्रीबलदेव के प्रति नन्द यशोदा की उक्ति यह है—हे दाशार्ह! जगदीश्वर तुम अनुज श्रीकृष्ण के सहित चिरकाल हम सब को पालन करो, यह कह कर उनको अङ्क में स्थापन कर नयनवारि से अभिषिक्त करने लगे थे। व्रजराज दम्पति के स्वभाव का परिचय अन्यत्र भी प्राप्त होता है। कुरुक्षेत्र यात्रा में भी श्रीकृष्ण बलराम के प्रति उनका स्नेह पूर्ण व्यवहार दृष्ट होता है।

नन्द यशोदा के उक्त स्वभाव वशतः वसुदेव पुत्रत्व, क्षत्रियत्व, एवं परमेश्वरत्व व्यक्त होने पर भी बलदेव में उनके प्रति पुत्रोचित भाव का व्यतिक्रम नहीं हुआ। 'दाशार्ह' श्लोक के पूर्व में श्रीशुकदेवने कहा

सुहृद्दिदृक्षुरुत्कण्ठः प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥२७२॥
परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठैर्गोपैर्गोपीभिरेव च ।
रामोऽभिवाद्य पितरावाशीर्भिरभिनन्दितः ॥"२६३॥ इति ।

परमैश्वर्य्यादिज्ञान-स्वभावानामपि प्रीति प्राबल्य-समये तत्तिरस्कारो दृश्यते, यथा श्रीदेवहूत्याः (भा० ३।३३।२१) —

"वनं प्रव्रजिते पत्यावपत्य-विरहातुरा ।
ज्ञाततत्त्वाप्यभून्नष्टे वत्से गौरिव वत्सला ॥"२७४॥ इति ।

---

है । (भा० १०।६५।१-२) "बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ भगवान् रथमास्थितः ।
सुहृद्दिदृक्षुरुत्कण्ठः प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥२७२॥
परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठैर्गोपैर्गोपीभिरेव च ।
रामोऽभिवाद्य पितरावाशीर्भिरभिनन्दितः ॥"२७३॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! भगवान् बलभद्र, सुहृद् गण को देखने के निमित्त उत्कण्ठित चित्त से रथारोहण पूर्वक नन्द गोकुल गमन किये थे । वहाँ उपस्थित होने पर चिरोत्कण्ठित गोपगण एवं मातृ वयस्या वृद्धा गोपीगण उनको आलिङ्गन किये थे, बलभद्र माता पिता को प्रणाम करके उनके आशीर्वाद के द्वारा आनन्दित हुये थे ।

कंस उपद्रव से भीत होकर वसुदेव बलभद्र जननी रोहिणी देवी को गोकुलस्थ नन्द भवन में रखे थे । वहाँ बलदेव का जन्म हुआ था उस समय से निज को गोपकुमार एवं व्रजराज दम्पत्ति को माता पिता बलदेव मानते थे । मथुरा गमन के अनन्तर वसुदेव पुत्रत्व, क्षत्रियत्व, एवं परमेश्वरत्व प्रकाशित हुआ था । व्रजराज दम्पत्ति सब वृत्तान्त सुने थे, एवं बलदेव जो वसुदेव नन्दन है, यह भी पहले से ही जानते थे । इसके पहले नहीं जानते थे कि यह वसुदेवके पुत्र हैं,इस प्रकार विरोधी ज्ञान उनकी प्रीति को शिथिल करने में समर्थ नहीं था । नन्द यशोदा बलदेव को पर पुत्र वा ईश्वर नहीं मानते थे । दीर्घ कालके पश्चात् बलदेव को प्राप्त कर अङ्क में स्थापन पूर्वक नयन सलिल से उनको प्लावित किये थे ।

उक्त स्वभाव के अनुरूप श्रीभगवान् में भी स्वभाव प्रकटित होता है । बलदेव की बाल्यलीला अवसान होने पर वसुदेव के पुत्रत्वादि व्यक्त हुये थे, तथापि बलदेव व्रजराज व्रजेश्वरी की प्रीति के अधीन होकर पूर्ववत् स्वयं को उनका पुत्र मानते थे । एवं व्रजमें आकर मातापिता बुद्धिसे उन दोनों को प्रणाम किये थे । भगवदभिप्रायाभिज्ञ शुकदेव बलदेवके मनोभाव को व्यक्त किये हैं ।

यहाँपर प्रसङ्गतः व्रजराज दम्पति की प्रीति महिमा प्रकाशित हुई है, अखण्ड ज्ञान सम्पन्न बलदेव भी उनकी प्रीति के अधीन होकर वासुदेवत्व, क्षत्रियत्व एवं परमेश्वरत्व रूप निज प्रसिद्ध अभिमान भी विस्मृत हुये थे ।

पारमैश्वर्य्यादि का अनुभव करना ही जिनका स्वभाव है,वे भी प्रीति प्राबल्य के समय ऐश्वर्य्यानुभव को तुच्छ मानते हैं । इस प्रकार देखने में आता है । भा० ३।३३।२१ देवहूति प्रसङ्ग में वर्णित है—

"वनं प्रव्रजिते पत्यावपत्यविरहातुरा
ज्ञाततत्त्वाप्यभून्नष्टे वत्से गौरिव वत्सला ॥"२७४॥

पूर्व में पति— कर्द्दमऋषिः–सन्न्यास अवलम्बन पूर्वक वन गमन किये थे, तत् पश्चात् पुत्र कपिलदेव

श्रीदेवकीदेव्याः-(भा० १०।३।२९) "समुद्विजे भवद्धेतुः कंसादहमधीरधीः" इति, श्रीयुधिष्ठिरस्य (भा० १।१०।३२) —

अजातशत्रुः पृतनां गोपीथाय मधुद्विषः।
परेभ्यः शङ्कितः स्नेहात् प्रायुङ्क्त चतुरङ्गिणीम्।।"२७५।। इति,

इदञ्च तस्य प्रशंसार्थमेवोक्तम्, (भा० १।१०।३३) —

"अथ दूरागताञ्छौरि कौरवान् विरहातुरान्।
सन्निवर्त्त्य दृढ़स्निग्धान् प्रायात् स्वनगरीं प्रियैः।।"२७६।।

---

भी चले गये, उस समय देवहूति पुत्र विरह से अत्यन्त व्याकुल हो गई थीं। तत्त्व ज्ञान सम्पन्ना होने पर भी वत्स विनष्ट होनेपर वत्सलवती गौकी जैसी अवस्था होती है,उनकी अवस्था भी वैसी हुई थी। भा० १०।३।२९ में देवकी देवी की अवस्था वर्णित है— "समुद्विजे भवद् धेतु कंसादहमधीरधीः"

देवकी देवी श्रीकृष्ण को बोली थीं, मैं आप के निमित्त ही कंस से भीता हूँ। मेरा चित्त व्याकुल हो गया है। भा० १।१०।३२ में युधिष्ठिर की अवस्था वर्णित है—

"अजातशत्रुः पृतनां गोपीथाय मधुद्विषः।
परेभ्यः शङ्कितः स्नेहात् प्रायुङ्क्त चतुरङ्गिणीम्।।"२७५।।

हस्तिना पुर से द्वारका गमन समय में युधिष्ठिर स्नेह वशतः शत्रु से मधु सूदन की रक्षा हेतु हस्ती, अश्व, रथ एवं पदातिक युक्त चतुरङ्गिणी सेना नियुक्त किये थे। युधिष्टिर की प्रशंसा हेतु ही इस प्रकार कथन हुआ है। कारण, श्रीकृष्ण में स्नेह शील पाण्डव गण उनके सहित अनेक दूर पर्य्यन्त गमन करने पर श्रीकृष्ण स्निग्ध वाक्य से उन सब को प्रति निवृत्त करके प्रिय उद्धवादि के सहित निज पुरी द्वारका में प्रस्थान किये थे। भा० १।१०।३३ में इस का वर्णन है—

"अथ दूरागताञ्छौरिः कौरवान् विरहातुरान्।
सन्निवर्त्त्य दृढ़स्निग्धान् प्रायात् स्वनगरीं प्रियैः।।"२७६।।

इस वाक्य में भी युधिष्ठिरादि की प्रशंसा सूचित हुई है, अभिप्राय यह है—श्रीकपिल देव से तत्त्वज्ञान प्राप्त होने पर भी पुत्र वियोग से तत्त्व ज्ञान विलुप्त होकर माधुर्य्य ज्ञान का प्राबल्य हुआ था। वत्स विधुरा धेनु के समान देवहूति पुत्र के निमित्त व्याकुल हो गई थीं, उस समय कपिलदेव के प्रति पुत्र बुद्धि व्यतीत अपर कुछ भी ज्ञानोदय नहीं हुआ। इस से सुस्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रीति के प्राबल्य से ऐश्वर्य्य ज्ञान तिरस्कृत होता है। देवकी देवी ने भी श्रीकृष्ण के प्रचुर ऐश्वर्य्यावलोकन किया। उनके निकट श्रीकृष्ण चतुर्भुज, वैदुर्य्य कीरिटादि शोभित मूर्त्ति में अविर्भूत हुये थे, उस से उन्होंने श्रीकृष्ण को परमेश्वर जाना। तथापि माधुर्य्य से आत्माविस्मृत होकर ऐश्वर्य्यज्ञान को तिरस्कृत किया। देवकी देवी का स्तव से बोध होता है कि कंस भी श्रीकृष्ण का अनिष्ट करने में अक्षम है, तथापि माधुर्य्य मुग्ध होकर देवकी देवी बोली थीं कंस से तुम्हारी अनिष्टाशङ्का हेतु मैं उद्विग्न हूँ। यही माधुर्य्य ज्ञानके द्वारा ऐश्वर्य्य ज्ञान तिरस्कृत होने का एकमात्र प्रमाण है।

देवता, दानव, मानव कोई भी श्रीकृष्ण का अनिष्ट करने में समर्थ नहीं हैं, श्रीकृष्ण सर्वेश्वर हैं, युधिष्ठिर जानते थे,तथापि श्रीकृष्ण रक्षा हेतु चतुरङ्गिणी सेना नियुक्त करने के कारण, ऐश्वर्य्य ज्ञान अपेक्षित होकर माधुर्य्य ज्ञान का प्रभाव अत्यधिक परिलक्षित हुआ है।

इत्युक्त-वाक्ये ऽपि तादृगभिप्रायात्, तथा श्रीसङ्कर्षणस्य च (भा० १०।५३।२०-२१) –

"श्रुत्वैतद्भगवान् रामो विपक्षीय-नृपोद्यमम् ।
कृष्णं चैकं गतं हर्त्तुं कन्यां कलह-शङ्कितः ॥२७७॥
बलेन महता सार्द्धं भ्रातृस्नेह–परिप्लुतः ।
त्वरितः कुण्डिनं प्रायाद्गजाश्च-रथ–पत्तिभिः ॥"२७८॥

भगवान् सर्वज्ञोऽपीत्यर्थः, अतएव–(भा० १०।११।४९) "कृष्णं महावकग्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः" इत्यादिकमपि । तदेवं माधुर्य्य-ज्ञानस्यैव बलवत्सुखमयत्वे स्थिते तस्मिंश्च

---

ऐश्वर्य्य ज्ञान भगवान् का ईश्वरत्व प्रतीत कराता है, और माधुर्य्य ज्ञान भगवान् को निज जन रूप में प्रतीत कराता है, उनकी नर लीला की चारुता की उपलब्धि कराता है। भक्त गण भी तदनुरूप चेष्टा करते हैं। भगवान् जो ईश्वर हैं, यह भूल ही जाते हैं, उनको निज प्रियतम मानकर उनके सम्बन्ध जो कुछ करना कर्त्तव्य है, वही करते हैं।

माधुर्य्यानुभव निपुण भक्त गण सर्वदा, एवं ऐश्वर्य्यानुभव निपुण भक्तगण प्रीति के प्राबल्य समय में उक्त प्रकार व्यवहार करते हैं। इस से बोध होता है कि माधुर्य्य ज्ञान समय में ऐश्वर्य्य ज्ञान को आच्छादित कर सकता है, किन्तु ऐश्वर्य्य ज्ञान कभी भी माधुर्य्य ज्ञान को आच्छन्न वा अभिभूत करने में समर्थ नहीं है।

ऐश्वर्य्य ज्ञान से माधुर्य्य ज्ञान का श्रेष्ठत्व का यही निदर्शन है। भा० १०।५३।२०-२१ में श्रीसङ्कर्षण की भी उस प्रकार अवस्था वर्णित है।

"श्रुत्वैतद्भगवान् रामो विपक्षीय–नृपोद्यमम् ।
कृष्णं चैकं गतं हर्त्तुं कन्यां कलह–शङ्कितः ॥२७७॥
बलेन महता सार्द्धं भ्रातृस्नेह–परिप्लुतः ।
त्वरितः कुण्डिनं प्रायाद्गजाश्व-रथ-पत्तिभिः ॥"२७८॥

श्रीदेवहूति प्रभृति के समान श्रीबलदेव में भी प्रीति प्राबल्य समय में ऐश्वर्य्य ज्ञान का अनादर दृष्ट होता है। श्रीकृष्ण, जिस समय रुक्मिणी हरण निमित्त गये थे, उससमय भगवान् बलराम विपक्षीय सैन्यगण के उद्यम एवं कन्या हरणार्थ श्रीकृष्ण का एकाकी गमन को सुनकर युद्धाशङ्का से भ्रातृस्नेह वशवर्त्ती होकर अश्व, गज, रथ, पदातिक युक्त चतुरङ्गिणी सैन्यगण को साथ लेकर सत्वर कुण्डिन नगर की ओर प्रस्थान किये थे। यहाँ 'भगवान्' शब्द प्रयोग करने का उद्देश्य है कि सर्वज्ञ होकर भी प्रीति के अधीन होकर उन्होंने उस प्रकार किया था। यह ज्ञापित हुआ। भा० १०।११।४९ में उक्त है—

"कृष्णं महावक ग्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः" प्रीति प्राबल्य के समय सर्वज्ञ बलदेव भी ऐश्वर्य्य ज्ञान में अनवहित होकर माधुर्य्य ज्ञान में निमग्न होते हैं, अतः कृष्ण को महावक ग्रस्त देखकर रामादि बालक गण प्राण के विना इन्द्रिय गण जिस प्रकार विचेतन होती हैं, उस प्रकार विचेतन हुये थे।

इस रीति से माधुर्य्य ज्ञान का बलवत् सुखमयत्व स्थिर हुआ। उस में भी गोप गण, स्वभावतः ही ब्रह्मत्व, ईश्वरत्व को अतिक्रम करके परममाधुर्य्य की प्रचुर रूप में अनुभव करते हैं। अर्थात् ब्रह्मत्व एवं ईश्वरत्वानुभव–ऐश्वर्य्य ज्ञान है। ईश्वर—अन्तर्यामी परमात्मा हैं, ब्रह्म परमात्मा भगवान्–परतत्त्व की यह त्रिविध अभिव्यक्ति के मध्य में केवल भगवान् में ही माधुर्य्य है। अतः माधुर्य्य ज्ञान हेतु ब्रह्मत्व एवं

श्रीगोपानामेव स्वाभाविकतया लब्धे ब्रह्मत्वेश्वरत्वानुभवमतिक्रम्य तेषामेव भाग्येन श्रीशुकदेवोऽपि युक्तमेव चमत्कृतिमवाप, (भा० १०।१२।११) "इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या" इत्यादौ, (भा० १०।६।२०) "नेमं विरिञ्चो न भवः" इत्यादौ, (भा० १०।६।२१) "नायं सुखापः" इत्यादिकस्य "गोपिकासुतः" इत्यत्र, (भा० १०।४७।६०) "नायं श्रियोऽङ्ग" इत्यादौ च। क्वचिच्च तादृश-स्वभावेषु तेष्वैश्वर्य्यप्रकटनमपि विस्मयद्वारा माधुर्य्य-ज्ञानमेव पुष्णाति। अस्माकं

---

ईश्वरत्व का अतिक्रम होता है। गोपगण ही परमाधुर्य्य का अनुभव करते हैं, यह निश्चित होने के कारण, उनके भाग्य को देखकर शुकदेव भी आश्चर्य्यान्वित हुये थे। यह सङ्गत ही है। निम्नोद्धृत श्लोक समूह में उक्त विवरण उक्त है। भा० १०।१२।११ में।

"इत्थंसतां ब्रह्म सुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेन सार्द्धं विजह्रुः कृत पुण्य पुञ्जाः॥

श्रीशुकदेव कहे थे—जो श्रीकृष्ण, ज्ञानि गण के निकट ब्रह्म सुखानुभूति रूप में, भक्तगण के निकट परम देवता रूप में, मायाश्रित व्यक्ति गण के निकट नर बालक रूप में प्रतीयमान होते हैं, गोप बालकगण उनके सहित विहार किये थे। वे निश्चय ही तदीय प्रसाद हेतुभूत सुचारु कार्य्यानुष्ठान किये थे। भा० १०।६।१० में उक्त है—

"नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्ग संश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्॥

गोपी यशोदाने विमुक्ति दाता श्रीकृष्ण से जो कुछ प्राप्त किया है, ब्रह्मा भी उस को प्राप्त नहीं किये हैं, शिव भी नहीं प्राप्त किये हैं, यहाँतक कि—अङ्ग संश्रिता लक्ष्मी भी प्राप्त करने में असमर्थ हैं। भा० १०।६।२१ में उक्त है—

"नायं सुखापोभगवान् देहिनां गोपिका सुतः।
ज्ञानिनां चात्म भूतानां यथा भक्ति मतामिह॥"

यह गोपिकासुत भगवान् भक्तिमान् जन गण के पक्ष में जिस प्रकार सुखलभ्य हैं--देहाभिमानी तपस्वी, वा आत्मभूत--अद्वैत ज्ञान सम्पन्न—ज्ञानिगण के पक्ष में उस प्रकार सुख लभ्य नहीं हैं। इस श्लोक में लिखित "गोपिकासुत" पद श्रीशुकदेव का विस्मय व्यञ्जक है। भा० १०।४७।६० में उक्त है--

"नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्य्योषितं नलिन गन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत् सवेऽस्य भुजदण्ड गृहीत कण्ठ
लब्धाशिषां य उदगाद् व्रज वल्लवीनाम्॥"

टीका—अत्यन्तापूर्वश्चायं गोपीषु भगवतः प्रसाद इत्याह नायमिति। अङ्गे वक्षसि उ अहो नितान्तरते-रेकान्तरतिमत्याः श्रियोऽर्पिनायं प्रसादोऽनुग्रहोऽस्ति। नलिनस्येव गन्धोरुक् कान्तिश्च यासां तासां स्वर्गाङ्गनानामप्सरसामपि नास्ति अन्याः पुनर्दूरतो निरस्ताः। रासोत्सवे कृष्ण भुजदण्डाभ्यां गृहीत आलिङ्गितःकण्ठस्तेन लब्धा आशिषो याभिस्तासां गोपीनां चरणरेणुभाजां गुल्मादीनां मध्ये यत् किमपि अहं स्यामित्याशंसा। कथम्भूतानाम्। या इत्यादि आर्य्याणां मार्गं धर्मञ्च हित्वा।

उद्धव कहे थे रासोत्सव में श्रीकृष्ण के भुजदण्ड द्वारा कण्ठ में आलिङ्गित होकर जिन्होंने मनोरथ को प्राप्त किया है। उन सब व्रजसुन्दरी में श्रीकृष्णाङ्ग सङ्ग सुखोल्लासरूप जो प्रसाद उदित हुआ है, वह

पुत्रादिरूपोऽयं कथमीदृशक्रियावानिति, तथा (भा० १०।२८।१८)—

"नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्द-निर्वृताः।
कृष्णञ्च तत्र छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः॥"२७९॥ इत्यादि॥

तदेवं शुद्धत्वाच्छ्रीगोकुलवासिनामेव प्रीतिः प्रशस्ता, यथोक्तम्—(भा० १०।१४।३५) "एषां घोषनिवासिनामुत भवान्" इत्यादि, यत्रैव पशूनामपि परमः स्नेहो दृश्यते, यथा कालिय-ह्रदावगाहे (भा० १०।१६।११)—

---

प्रसाव, श्रीकृष्ण की मूर्त्ति विशेष--विलास मूर्त्ति परव्योम नाथ नारायण में संसक्ता लक्ष्मी के पक्ष में प्राप्त करना असम्भव है। नलिन गन्ध रुचिशालिनो स्वर्गस्थ योषिद् वृन्द के पक्ष में भी प्राप्त करना कल्पनातीत तो है ही, अन्य रमणी गण का प्रसङ्ग यहाँ उठ ही नहीं सकता है।

गोपगण की भाग्य महिमा को देखकर श्रीशुकदेव जो विस्मित हुये थे—उसका प्रमाण 'इत्थं सतां' श्लोक में प्रदर्शित हुआ है। प्रसङ्गत तत् परवर्ती कतिपय श्लोकों के द्वारा माधुर्य्यानुभव निपुण अन्यान्य व्रज परिकर वृन्द की भाग्य महिमा प्रदर्शित हुई है।

स्थल विशेष में स्वभावतः माधुर्य्यानुभव निरत व्यक्ति गण में ऐश्वर्य्य का प्रकटन भी 'हमारे पुत्रगण कैसे इस प्रकार कार्य्य कर सकते हैं। इस प्रकार विस्मय बोध माधुर्य्य ज्ञान को पुष्ट करता है। भा० १०।२८।१८ में उस का निदर्शन है—

"नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्द-निर्वृताः।
कृष्णञ्च तत्र छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः॥"२७९॥

नन्दादि गोपगण श्रीकृष्ण को मूर्त्तिमान वेद समूह कर्त्तृक स्तुत देखकर अतिशय विस्मित एवं परमानन्द निर्वृत हुये थे।

व्रजवासि वृन्द की प्रीति माधुर्य्य ज्ञानमयी है। कदाचित् ऐश्वर्य्य दर्शन से भी उनसब की प्रीति की न्यूनता नहीं होती है, अथवा रूपान्तरित भी नहीं होती है। अतएव श्रीगोकुल वासि वृन्द की प्रीति का शुद्धत्व निबन्धन वही प्रीति प्रशस्ता है। उस की प्रशस्तता के सम्बन्ध में भा० १०।१४।३५ में ब्रह्मा की उक्ति यह है। "एषां घोष निवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन्मुह्यति।
सद्वेशादिव पूतनापि सकुला तामेव देवापिता।
यद् धामार्थ सुहृत् प्रियात्मतनय प्राणाशयास्त्वत् कृते॥"

ब्रह्मा श्रीकृष्ण को कहे थे—हे देव! जिनके धाम, अर्थ, सुहृत्, प्रिया, आत्मा, प्राण, आशय आप के सुख के निमित्त समर्पित हैं, उन सब व्रजवासियों को दान किस वस्तु करेंगे इस प्रकार चिन्ता करके मेरा एवं वेदव्यास प्रभृति का चित्त मोहित हो रहा है। कारण, समस्त फलात्मक आप से श्रेष्ठतर और कुछ नहीं है, सद्वेश का अनुकरण करके पापिष्ठा पूतनाने भी निज बान्धव गण के सहित आप को प्राप्त किया है। व्रज वासि वृन्दको इस से अधिक कुछ देना उचित है—किन्तु वह तो है ही नहीं।

श्रीगोकुल के सम्बन्ध में ही प्रीति का प्राबल्य दृष्ट होता है, वहींपर पशु से आरम्भ कर सब की परम प्रीति श्रीकृष्ण में दृष्ट होती है, उदाहरण भा० १०।१६।११ में है—

"गावो वृषा वत्सतर्य्यः क्रन्दमानाः सुदुःखिताः ।
कृष्णे न्यस्तेक्षणा भीता रुदन्त इव तस्थिरे ।।"२८०।। इति,

तथा तत उत्थाने—(भा० १०।१७।१६) "नरा गावो वृषा वत्सा लेभिरे परमां मुदम्" इति, तथा स्थावराणामपि तत्रैव —(भा० १०।१७।१५) "कृष्णं समेत्य लब्धेहा आसन् शुष्का नगा अपि" इति, अतएव श्रीब्रह्मणापि प्रार्थितम्:—(भा० १०।१४।३४) "तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां, यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्" इति ।

तदेवं परममाधुर्य्यैक-ज्ञाननिधौ श्रीमति गोकुलेऽप्यनुगता बान्धवाश्चेति द्विविधानां तत् प्रियाणां मध्ये ममताविशेषधारित्वादन्त्यानां महानेवोत्कर्षः, यथोक्तम्—(भा० १०।१४।३२)

---

"गावो वृषा वत्सतर्य्यः क्रन्दमानाः सुदुःखिताः ।
कृष्णे न्यस्तेक्षणा भीता रुदन्त इव तस्थिरे ।।"२८०।।

श्रीकृष्ण,–कालीह्लद में अवगाहन करने से वृष, धेनु, वत्सतरी समूह अतिशय दुःखित होकर उच्चैःस्वर से आर्त्तनाद करते करते श्रीकृष्ण के प्रति दृष्टि अर्पण पूर्वक रोदन करते करते भीत चित्त से अवस्थान किये थे । उस के पश्चात् भा० १०।१७।१८ में उक्त है "नरा गावो वृषा वत्सा लेभिरे परमां मुदम्"

श्रीकृष्ण कालीय ह्लद से उत्थित होने पर वृष, गो, वत्सतरी समूह परमानन्दित हुये थे । कालीय ह्लद में श्रीकृष्ण निमज्जित होने से गवादि पुश गण जिस प्रकार महादुःखित हुये थे, वहाँ से उत्थित होने पर उसी प्रकार उनसब की परमानन्द भी हुआ था, केवल वही नहीं किन्तु भा० १०।१७।१५ में वर्णित के अनुसार "कृष्णं समेत्य लब्धेहा आसन् शुष्का नगा अपि" श्रीकृष्ण को देखकर शुष्क वृक्ष समूह भी जीवित हो गये थे । श्रीगोकुलमें वृक्ष समूह की भी प्रीति श्रीकृष्ण में वर्त्तमान है । अतएव भा० १०।१४।३४ में श्रीब्रह्मा ने भी प्रार्थना की है— "तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां,
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम् ।।

हे भगवन् ! मेरा यह परमेष्ठि जन्म में भी मैं अपने को अधन्य मानता हूँ । उसी दिन मैं निज जीवन कृतार्थ मानूँगा, जिस दिन तुम्हारे इस गोकुल के गभीर अरण्य के मध्य में किसी प्रकार तृण गुल्मादि जन्मलाभ कर जिस किसी व्रजवासी की चरण रज से अपने को अभिषिक्त कर सकूँगा ।

ऐसा होने पर एकमात्र माधुर्य्य ज्ञान निधि श्रीमद् गोकुल में भी अनुगत एवं बान्धव भेद से द्विविध भगवत् प्रियगण के मध्य में ममता विशेषधारी होने के कारण बान्धव वृन्दों का ही परमोत्कर्ष है । भा० १०।१४।३२ में ब्रह्मा भी कहे हैं—

"अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्द गोप व्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ।।"

टीका—अहो इति पुनरुक्त्या भाग्यस्य सर्वथा अपरिच्छिन्नत्वमुक्तम् ।

परमानन्द पूर्ण ब्रह्म जिनके सनातन मित्र हैं, उन नन्द गोप के व्रजवासि वृन्दका सौभाग्य अनिर्वचनीय है । इस से परम उत्कर्ष कथा व्यक्त हुई है । समस्त व्रजवासियों का मित्र कहने से उनके मध्य में जो कनिष्ठ जन हैं, उनकी भी कृष्ण मित्रता की स्वीकार करके ब्रह्मा जो कुछ कहे हैं,वह मित्रता की प्रशंसा सूचक है । अर्थात् इससे व्रजमय परस्पर निरुपाधिक मित्रता का प्रभाव घोषित हुआ है ।

"अहो भाग्यमहो भाग्यम्" इत्यादिना। अत्र व्रजौकसां कनिष्ठेष्वपि तेन मित्रतया स्वीकार इति यदुच्यते, तत् खलु मित्रतायाः प्रशंसामेवावहतीति।

अथ तेष्वपि सखीनां तावदुत्कर्षमाह, (भा० १०।१२।११)—

(१००) "इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या, दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण, सार्द्धं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥"२८१॥

सतां ज्ञानिनां ब्रह्मत्वेन स्फुरंस्तावद्विरलप्रचारः, दास्यं गतानाम् (भा० ६।१४।४)—

"मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥"२८२॥

इत्यनुसारेण परदैवतत्वेन स्फुरंस्ततोऽपि विरलप्रचारः मायाश्रितानान्तु ज्ञानभक्ति-मैत्री-हीनानां चिदेकरूपत्वेन न स्फुरति, न च परमेश्वरत्वेन, न च प्रेमास्पदत्वेन, ततस्तदीया-

---

### सखावृन्द का प्रीत्युत्कर्ष

समस्त वृजवासियों का श्रीकृष्ण में मित्रभाव विद्यमान होने पर भी सखावृन्द का ही उत्कर्ष श्रीमद् भागवत में वर्णित हुआ है। भा० १०।१२।११ में श्रीशुकदेव कहे हैं—

(१००) "इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या, दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण, सार्द्धं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जा॥"२८१॥

टीका—तानतिविस्मितः श्लोक द्वयेन अभिनन्दति इत्थमिति। सतां-विदुषां ब्रह्म च तत् सुखञ्चानुभूतिश्च तया स्व प्रकाश परम सुखेनेत्यर्थः भक्तानां परदैवतेनात्मप्रदेन नाथेन मायाश्रितानान्तु नरदारक तया प्रतीयमानेन सह विजह्रुः। कृतानां पुण्यानां पुञ्जा आशयो येषां ते ब्रह्मविदां तदनुभव एव भक्तानामति गौरवेनैव भजनम् एते तु तेन सह सख्येन विजह्रुः, अहो भाग्य मिति भावः॥

जो श्रीकृष्ण, ज्ञानि वृन्द के निकट ब्रह्म सुखानुभूति रूप में एवं मायाश्रित जनगण के निकट नर बालक रूप में प्रतीयमान होते हैं, गोप बालक गण उन श्रीकृष्ण के सहित विहार कर रहे हैं। वे निश्चय ही तदीय प्रसाद के हेतुभूत सुचारु कार्य्यानुष्ठान किये हैं।

श्लोक की व्याख्या— सद् गण— ज्ञानिगण, श्रीकृष्ण उनके निकट ब्रह्मस्वरूप में स्फूर्त्ति प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्फूर्त्ति अत्यल्प लोकों के पक्ष में सम्भव होती है। दास्यगतगण को 'दास्यं' शब्द से जानना होगा। भा० ६।१४।५ में उक्त है—

"मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥"२८२॥

हे महामुने! कोटि कोटि मुक्त एवं सिद्ध पुरुष गण के मध्य में भी नारायण परायण प्रशान्तात्मा व्यक्ति अति दुर्ल्लभ है। इस कथन के अनुसार दास्य प्राप्त भक्त वृन्दकी सुदुर्ल्लभता हेतु परदेवता रूप में स्फूर्त्ति— ब्रह्म रूप में स्फूर्त्ति से और भी अल्प है। मायाश्रित गण ज्ञान, भक्ति, एवं मैत्री हीन हैं, तज्जन्य उनके निकट एकमात्र चित् स्वरूप में एकमात्रचित् स्वरूप में स्फुरित नहीं होते हैं। परमेश्वर रूप में एवं परमप्रेमास्पद रूप में भी स्फुरित नहीं होते हैं। तज्जन्य श्रीकृष्ण की असाधारण स्फूर्त्ति की योग्यता उन

साधारणता-स्फूर्त्तौ योग्यताश्रयाभावात् (गी० ९।११) "अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितम्" इत्युक्तदिशा यत्किञ्चिन्नृबालत्वेन स्फुरन्, (गी० ७।२५) नाहं प्रकाशः सर्व्वस्य योगमाया-समावृतः" इति न्यायेन अलभ्य एवेति पादत्रयेन तस्योदयमात्र-दौर्लभ्यं विवक्षितम्। ततश्चैवम्भूतो योऽसुलभ-स्फूर्त्तिः श्रीकृष्णस्तेन समं साक्षादेव प्रेमभूमिकोत्कर्षमधिरूढ़ेन परम-सख्येनापि विजह्रुरिति श्रीशुकदेवस्य चमत्कारः अथवा, सोऽयमहो तदानीं विषूचीनया कृपया मायाश्रितानां साधारणजनानामपि दर्शित सर्वाकारातिक्रमिमाहात्म्येन साक्षान्नराकृति-परब्रह्मत्वेन स्फुरंस्ततोऽपि विरलप्रचारः। ततश्चैवं दुर्लभे दुर्लभतरे दुर्लभतमेऽपि तथा तथा लब्धे लाभे बन्धुभावस्तु तैर्न लब्धः। सखायस्तु तथाभूतेन तेन सार्द्धं बन्धु-भावोत्कर्षरूपेण सख्येन विजह्रुरित्यतस्त एव कृतपुण्यपुञ्जाः,–श्रीभगवत्पारितोषिकानेकसत्कर्म्मकारिवृन्देषु परमश्रेष्ठा इत्यर्थः। अतएव बान्धवान्तरेषु नेदृशं सख्यमस्तीति तेभ्योऽपि माहात्म्यमायातम्,

---

सब में है ही नहीं, अतः मनुष्य देहाश्रित मुझ को अवज्ञा वे करते हैं। गी० ९।११ में उक्त है—

"अवजानन्ति मां मूढ़ां मानुषीं तनुमाश्रितम्"

श्रीकृष्ण के इस वाक्य के अनुसार उन सब के निकट श्रीकृष्ण साधारण नर बालक रूप में स्फूर्त्ति प्राप्त होते हैं। गी० ७।२५ में उक्त है— "नाहं प्रकाशः सर्व्वस्य योगमाया-समावृतः"

योगमायासमावृत मैं सब के निकट प्रकाशित नहीं होता हैं। इस नियम के अनुसार मायाश्रित जन गण के पक्ष में श्रीकृष्ण, निश्चय ही अलाभ्य हैं। सद् गण, दास्य गत गण, एवं मायाश्रित गण-पदत्रय का प्रयोग—श्रीकृष्ण के प्रकाश की दुर्ल्लभता ज्ञापन हेतु हुआ है। इस रीतिसे जिन श्रीकृष्ण की स्फूर्त्ति सुलभ नहीं है, उन श्रीकृष्ण के सहित साक्षात् रूप से ही प्रेमभूमिका की उत्कृष्ट अवस्था जो परम सख्य है, उस भाव में ही गोप बालक गण विहार करते रहते हैं, यही श्रीशुक देव का विस्मय है।

अथवा– अर्थान्तर से कहते हैं– अहो वह श्रीकृष्ण, उस समय--प्रकट लीला समय में विशेष रूप से सूचित हुई थी जो कृपा, उसके द्वारा मायाश्रित जनगण के निकट भी साक्षात् नराकृति परम ब्रह्म रूप में प्रकाशित हुई थी। उनके इस रूपमें समस्त रूपोंसे अधिक माहात्म्य दृष्ट होता है। यह रूप केवल प्रकट काल में ही दृष्ट होने के कारण, इस का प्रकाश भी अत्यल्प है। अर्थात् ब्रह्म रूपमें ज्ञानि वृन्द के निकट, परदेवता रूप में भक्त गण के निकट स्फूर्त्ति समस्त समय में सम्भावित होती है। किन्तु साधारण जनगण के पक्ष में भी नराकृति परम ब्रह्म श्रीकृष्ण का दर्शन प्रकट लीलाभिन्न अन्य समय में असम्भव होने के कारण, यह दर्शन सर्वापेक्षा दुर्ल्लभ है।

इस प्रकार दुर्लभ ब्रह्म दर्शन, दुर्ल्लभतर परदेवता दर्शन एवं दुर्ल्लभतम नराकृति परम ब्रह्म दर्शन प्राप्त होने पर वे सब--ज्ञानिगण, दास्य प्राप्त होने पर भी ज्ञानिगण, दास्य प्राप्त भक्तगण एवं प्रकट लीलागत साधारण व्यक्ति गण—बन्धु भाव को प्राप्त-करने में असमर्थ हैं। पक्षान्तर में—सखागण उनके सहित बन्धु भाव में उत्कृष्ट अवस्था रूप जो सख्य है, उस रूप में विहार करते हैं। सुतरां—वे ही पुण्य राशि सञ्चय किये हैं। जिन्होंने श्रीभगवत् परितोष जनक अनेक सत् कर्म्मानुष्ठान किये हैं। उनके मध्य में श्रेष्ट हैं।

अतः वे ही उन सब के मध्य में श्रेष्ठ हैं। अतएव अन्य बान्धव गण में इस प्रकार सख्य नहीं है, सुतरां उससे भी श्रीकृष्णके सखा गोप बालक गणमें अधिक माहात्म्य दृष्ट होता है। एतज्जन्य—श्रीकृष्ण

अतएव किमेषां सखीनां साक्षात्तेन समं प्रणयलक्षण—हार्दविशेषेण विहरतां भाग्यं वर्णनीयम् ? ये साधारणा अपि व्रजवासिनस्तेषामप्यास्तां तत्तदन्यद्भाग्यम्, तद्दर्शनमात्रभाग्यमपि परेषां महामुनीनां परमदुर्लभमेवेत्यभिप्रायेण--(भा० १०।१२।१२) "यत्पादपांशुर्बहुजन्मकृच्छ्रतः" इत्यनन्तर-पद्यमपि व्याकृत्यैतदेव सखीनां महाभाग्यवर्णनं पोषणीयम्। अतएवाक्रूरेण— (भा० १०।३८।३५) "अथावरूढ़:" इत्यत्र "नमस्य आभ्याञ्च सखीन् वनौकसः" इति चोक्तम्। तदेतत्तावदस्तु—येषु सखिषु वत्सेष्वपि ब्रह्मणा हृतेष्वन्यात् सृज्यांस्तत्तुल्यानदृष्ट्वा स्वयमेवैतत्तया बभूव, तेष्वपि परितोषमप्राप्य तान् सखीनेवानिनायेत्यप्यनुसन्धेयम् ।।श्रीशुकः।

१०१। अथ तेभ्योऽपि श्रीपित्रोरुक्तम्, (भा० १०।८।५१) —

"ततो भक्तिर्भगवति पुत्रीभूते जनार्दने।
दम्पत्योर्नितरामासीद्गोप-गोपीषु भारत ।।"२८३।।

---

के सहित साक्षात् रूपमें प्रणय लक्षणभाव विशेष समन्वित होकर जो विहार करते हैं, उनसब गोप सखा गण की भाग्य महिमा अवर्णनीय है। जो साधारण व्रजवासी हैं उन सब की भाग्य की कथा तो दूर है, वे जो श्रीकृष्ण का सर्वदा दर्शन करते रहते है, इस प्रकार दर्शन सौभाग्य भी अपर मुनि वृन्दके पक्षमें दुर्लभ है, इस अभिप्राय से ही "इत्थं सतां" श्लोकके पश्चात् भा० १०।१२।१२ "यत्पाद पांशुर्बहुजन्म कृच्छ्रतः" श्लोक कथित हुआ है। इस में भी साधारण व्रजवासि वृन्द का भाग्य वर्णन करके सखा गण का महाभाग्य वर्णन पोषण किये हैं।

अतएव भा० १०।३८।१५ "अथावरूढ़:" इत्यादि श्लोक में अक्रूर कहे हैं—"नमस्य आभ्याञ्च सखीन वनौकसः श्रीकृष्ण बलराम के सहित इनके सखा गोपगण को नमस्कार करता हूँ।

यह सब बात तो हो, किन्तु ब्रह्मा के द्वारा जो सब सखा एवं गोवत्स अपहृत हुये थे, अन्य सखा एवं गोवत्स को सृजन करने से उनके समकक्ष भी नहीं होंगे, इस प्रकार विवेचना करके श्रीकृष्ण स्वयं सखा एवं गोवत्स रूप धारण किये थे। किन्तु उस से भी अपरितुष्ट होकर अपहृत सखा एवं वत्स गण को आनयन किये थे। सखागण के उत्कर्ष के सम्बन्ध में इस का भी अनुसन्धान किया जा सकता है।

अर्थात् सखावृन्द प्रेम महिमा में इस प्रकार गरीयान् हैं कि—श्रीकृष्ण के पक्ष में उन सब के सदृश सृष्टि करना असम्भव है, यहाँतक कि—स्वयं भी उस अभाव की पूर्ण करने अक्षम हुये थे। यह अभाव अवश्य रसास्वादन का ही है। सखागण—सख्य प्रेमके परमाश्रय हैं एवं श्रीकृष्ण उसका विषय हैं। श्रीकृष्ण सखावृन्द के आकृत्यादि को प्रकट करने पर भी आश्रय जातीय वैशिष्ट्य का अभाव को पूर्ण करने में असमर्थ थे। एतज्जन्य स्वयं सखादि रूप धारण करके भी अतृप्ति वशतः यथार्थ सखागण को आनयन किये थे। इस अनुसन्धान करना कर्त्तव्य है।                                   प्रवक्ता श्रीशुक हैं—१००।।

१०१। अनन्तर मातापिता का प्रीत्युत्कर्ष का प्रदर्शन करते हैं। भा० १०।८।५१ में उक्त है—

"ततो भक्तिर्भगवति पुत्रीभूते जनार्दने।
दम्पत्योर्नितरामासीद्गोप-गोपीषु भारत ।।"२८३।।

सखावृन्द से भी मातापिता का प्रीत्युत्कर्ष के सम्बन्ध में श्रीशुकदेव कहे हैं—हे भारत ! जनार्दन भगवान् पुत्रीभूत होने से व्रजमें गोपगोपी के मध्य में इस दम्पति की भक्ति उनमें निरतिशय हुई थी। यहाँ

इत्यनेन। भक्तिः प्रेम, नितराम्,—स्नेह-राग-पराकाष्ठाध्यारूढ़त्वात्, गोपाः सर्वे, गोप्यस्तत्-प्रेयसी-वर्गवर्णिताः,— वक्ष्यमाणानुरोधात्।

अथ सर्वेभ्योऽपि मुनिगणप्रशस्तया सर्वतोऽपि प्रेम—प्रणय-मान-रागवैशिष्ट्यपुष्टया वशेषतोऽनुराग-महाभावसम्पत्ति-धारिण्या स्वप्रीत्या वशीकृत-कृष्णानां श्रीव्रजदेवीनां त्वसमोदर्ध्वमेव तद्वैभवम्। एतत्क्रमेणैवोद्धवस्याप्यनुज्ञापनक्रमो दृश्यते, यथा (भा० १०।४७।६४)

(१०१) "अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च।
गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम् ॥"२८४॥

स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

१०२। अतएव सर्वमपि श्रीगोकुलमतिक्रम्य, (भा० १०।४७।५७-५८)—

(१०१) "दृष्ट्वैवमादि गोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम्।
उद्धवः परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ ॥"२८५॥

---

भक्ति शब्द का अर्थ है—प्रेम। निरतिशय शब्द से जानना होगा कि वह प्रेम--स्नेह--राग की शेष सीमा में उपनीत हुआ था। तज्जन्य ही नितरां--निरतिशय कहा गया है। गोप- शब्द से व्रजके समस्त गोप को जानना होगा, एवं 'गोपी' शब्द से श्रीकृष्ण प्रेयसी व्यतीत अपर गोपी का बोध होता है। अनन्तर जो कुछ कथित हो रहा है, उस के सहित विरोध उपस्थित होने के कारण, श्रीकृष्ण प्रेयसी व्यतीत अन्य किसी का प्रीत्युत्कर्ष स्वीकार किया नहीं जा सकता है। मुनिवृन्दने सर्वापेक्षा प्रेयसी वृन्द की प्रशंसा की है। सर्व प्रकार से ही प्रेम प्रणय मान वैशिष्ट्य द्वारा पुष्टा, विशेषतः अनुराग महाभाव सम्पत्तिधारिणी निज प्रीति द्वारा श्रीव्रज देवी वृन्द ने श्रीकृष्ण को वशीभूत किया है। एतज्जन्य उनका प्रेम वैभव असमोर्द्ध्व है—इस विषय में संशय नहीं है। प्रेम का क्रम अर्थात् तारतम्य के अनुसार श्रीउद्धव का भी अनुज्ञापन क्रम दृष्ट होता है। भा० १०।४७.६४ में उक्त है—

(१०१) "अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च।
गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम् ॥"२८४॥

अनन्तर गोपीगण के निकट से प्रत्यागमन हेतु अनुराग लेकर एवं यशोदानन्द तथा अन्यान्य गोप समूह के सहित यथायथ सम्भाषण करके उद्धव रथारोहण किये थे।

व्रजदेवी का प्रेम सर्वाधिक है, तज्जन्य प्रथम उनके सहित पश्चात् प्रेम की न्यूनता के अनुसार अन्यान्य व्रजवासियों के सहित विज्ञ शिरोमणि उद्धव सम्भाषण किये थे। एवं व्रज में आकर साक्षात् रूप में प्रेमका तारतम्यानुभव किये थे। श्रीशुकदेव कहे थे—१०१॥

१०२। गोपीवृन्दका प्रीत्युत्कर्ष।

अतएव श्रीव्रजदेवी वृन्दका प्रेमोत्कर्ष अनुभव निबन्धन समस्त गोकुल को अतिक्रम करके भी भा० १०।४७।५७-५८ में उक्त है—

(१०२) "दृष्ट्वैवमादि गोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम्।
उद्धवः परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ ॥"२८५॥

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपबध्वो, गोविन्द एवमखिलात्मनि रूढ़भावाः ।

वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयञ्च, किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥"२८६॥

परं केवलमेतास्तनुभृतः सफलजन्मानः, अतोऽखिलात्मनि परमात्मत्वेन सर्वेषामपि दुर्लभ-स्फूर्त्तिमात्रे स्व-सन्निधौ तु गोविन्दे साक्षात् श्रीगोकुलेन्द्रतया विराजमाने एवमीदृशभावविशेष-माधुर्य्येण रूढ़भावा उद्भूतमहाभावा जाताः यदेव महाभावपर्य्यन्त-गतिसमर्थं भावविशेष-

---

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपबध्वो, गोविन्द एवमखिलात्मनि रूढ़भावाः ।
वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयञ्च, किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ।।"२८६ ।

गोपीगण के कृष्णावेश हेतु इस प्रकार मनोव्याकुलता को देखकर परमप्रीत उद्धव उन सब को नमस्कार करने के निमित्त प्रेमावेश से एवं सुस्वर से इस प्रकार स्तव गान किये थे ।

इस भू मण्डल में केवल श्रीकृष्ण प्रेयसी गोपी वृन्दों का शरीर धारण सार्थक है । कारण, यह सब अखिलात्मा गोविन्द में इस प्रकार रूढ़ भाव हैं । मुमुक्षु, मुक्त एवं हम सब भी जिस को वाञ्छा ही करते रहते हैं, लाभ करने में असमर्थ हैं, उस महाभाव सम्पत्ति की अधिकारिणी एकमात्र ये व्रज बधू गण ही हैं। अनन्त श्रीकृष्ण की कथा समूह में जिनकी रुचि नहीं है, उन को ब्रह्म जन्म से क्या प्रयोजन हैं ?

श्लोक की व्याख्या—"एताः परं तनुभृतः" इस का अर्थ—"परं एताः तनुभृतः" इस प्रकार अन्वय करके अर्थ किये हैं । पर—केवल, यह सब तनु धारिणी हैं, अर्थात् सफल जन्मा हैं । कारण, अखिलात्मा परमात्मा होने के कारण, केवल जिन की स्फूर्त्ति ही सबके पक्ष में दुर्लभ है, वह व्रज देवी गणके सन्निधान में गोविन्द—साक्षात् श्रीगोकुलेश्वर रूप में विराजित हैं । उनके प्रति इस प्रकार--ईदृश भाव विशेष के माधुर्य्य से वे सब रूढ़ भावा—महाभावोद्गम सम्पन्ना हैं । अर्थात् श्रीउद्धव व्रजदेवी वृन्द की कृष्णावेश निबन्धन जिस व्याकुलता को देखे थे, उस का भाव माधुर्य्य से ही उन सब में महाभावाख्या प्रीति का उदय हुआ है । इस प्रकार निश्चय किये थे । उस भाव विशेष का माधुर्य्य किस प्रकार है ? कहते हैं । महाभाव तात्पर्य्य के अन्तर्भुक्त प्रबल जो भाव विशेष का माधुर्य्य,—यदि कभी कर्ण गोचर यथेच्छ भाव से वर्णन द्वारा भी होता है तो--निज स्वभाव को परित्याग करके भवभय से भीत मुमुक्षु गण, यहाँतक कि मुनि—मुक्त गण पर्य्यन्त जिस की–जिस भाव की—अनुभव महिमा के द्वारा—प्रेम की यही शेष सीमा है, इस वितर्क—ज्ञान करके वाञ्छा ही करते हैं, वे सब एवं हम सब—कोई भी उस भाव माधुर्य्य को प्राप्त करने में सक्षम नहीं हैं । श्रीव्रजदेवी गण के समान श्रीकृष्ण भाव माधुर्य्य विशेष आस्वादन की योग्यता का अभाव ही इस में हेतु है। श्रीउद्धव के वाक्य का यही तात्पर्य्य है ।

इस प्रसङ्ग में जो लोक उस भाव विशेष माधुर्य्य की वाञ्छा नहीं करते हैं, उन सब की निन्दा करते हैं । अनन्त की—अनन्त लीला विशिष्ट श्रीकृष्ण की कथा के सम्बन्ध में—कथा मात्र में,--श्रीव्रजदेवी वृन्द के द्वारा वर्णित कथा को और क्या कहें ? जिस में जिसका अरस है—रसका अभाव है, अर्थात् अरुचि है, लोभ नहीं है । उसको असंख्य विरिञ्चि जन्म द्वारा क्या प्रयोजन है ? अर्थात् उसकी सार्थकता कुछ भी नहीं है ।

अभिप्राय यह है कि—श्रीउद्धव-श्रीव्रजदेवी वृन्द की सर्वोत्तमताख्यापन हेतु कहे थे—केवल इन सब के जन्म सार्थक है । इससे अपर व्यक्ति गण के जन्म की व्यर्थता ध्वनित हुई है । अन्य व्यक्तिका कथन किये हैं—मुमुक्षु, मुक्त एवं भक्त हम सब श्रीउद्धवादि हैं । ऐसा होने पर साधारण जनगण की कथा तो हो ही नहीं सकती है । अत्युत्तम वस्तुमें जिसका लोभ होता हैं, उसको प्राप्त करने में जिसका लोभ नहीं होता है--

माधुर्य्यं यदि यदृच्छया वर्णन द्वारा कर्णगोचरं स्यात्तदा स्व-स्वभावं परित्यज्य यद्यं भावं प्रेम्ण: पराकाष्ठेयमित्यनुभावमहिमद्वारा वितर्क्य भवभियो मुमुक्षवो मुनयो मुक्ता अपि वाञ्छन्ति। वयं भक्तविशेषा अपि वाञ्छाम एव, न तु ते सर्वे वयं प्राप्नुमः। एतासामिवास्माकं तन्माधुर्य्यविशेषास्वादयोग्यत्वाभावादिति भावः। तत्र तदवाञ्छकं निन्दति—अनन्तस्यानन्त-

---

उसका जीवन व्यर्थ है, और उस में जिसका लोभ हुआ है, उसका जीवन ही सार्थक है। उक्त व्यर्थता बोध वास्तविक व्यर्थता का सूचक नहीं है, किन्तु वस्तु का उत्कर्ष सूचक है। यहाँपर वैसा ही हुआ है। श्रीउद्धव श्रीवृजसुन्दरी गण का असमोर्द्ध्व प्रेम माधुर्य्य को देखकर उस में लुब्ध हुये थे। किन्तु जब समझ गये थे कि---वृजदेवी गण व्यतीत अपर कोई भी उस प्रेम का आश्रय नहीं हो सकते हैं। तब उनकी प्रशंसा सार्थक जन्मा शब्द से किये थे। उद्धव, केवल वृजबधू गण के भावमाधुर्य्य में लुब्ध होकर ही इस प्रकार आवेशमय वाग् विन्यास नहीं कियेथे, किन्तु आप तटस्थ भावसे विचार पूर्वक समझे थे कि—मुमुक्षु, मुक्त एवं अन्यान्य भक्त वृन्दसे वृजदेवी वृन्द का स्थान अति उच्च में है। वृजदेवी वृन्द की तादृश प्रीति माधुरी के एक कण लाभ करना भी अन्य के पक्ष में सुदुर्ल्लभ है। अतः आवेश के साथ कहे थे—चित् एवं अचित् जगत् के मध्य में एकमात्र वृज बधू वृन्द का जन्म ही सार्थक है।

अनन्तर उनकी प्रेम सम्पत्ति का परिमाण वर्णन किये थे। परमात्मा अन्तर्य्यामी, सब के पक्ष में उनकी स्फूर्त्ति को प्राप्त करना दुर्ल्लभ है, उन परमात्मा श्रीकृष्ण व्रजदेवी गण के निकट अति सुलभ हैं। वे १ व जिस गोकुल की अधिवासिनी हैं, श्रीकृष्ण—उस के अधिपति हैं। सुरभी ने तो उनको गोकुलाधिपति रूप में अभिषिक्त करके गोविन्द नामसे अभिहित किया था। उद्धव उसका स्मरण करके ही गोविन्द शब्द प्रयोग किये थे। उन गोविन्द में व्रजदेवी गणका महाभावाख्य प्रेमाविर्भाव हुआ है। अनन्तर उस प्रेम की महिमा का कीर्त्तन किये हैं। व्रजदेवी गणका भाव माधुर्य्य इस प्रकार प्रबल है कि—महाभाव का तात्पर्य्य उसका ही अन्तर्गत है, अर्थात् महाभाव के जो जो कार्य्य हैं, उन सब के भाव विशेष माधुर्य्य में वे सब ही विद्यमान हैं। सुतरां ये सब सम्पूर्ण महाभाववती हैं। अन्यत्र कहीं भी इदृश भाव दृष्ट नहीं होती है, अतः व्रजदेवी गणके भाव को भाव विशेष कहे हैं। उस भाव विशेष की सामर्थ्य का वर्णन करते हैं, उस भाव विशेष का माधुर्य्य का वर्णन यदि यथाभावसे हो, अर्थात् परिपाटी शून्य होकर ही हो,तो भी उसको सुनकर प्रतीत होता है कि--यही प्रेमकी शेष सीमा है। उस अवस्था में मुमुक्षु, मुक्त, भक्त---सब की उस भाव प्राप्ति की वाञ्छा होती है। किन्तु कोई भी प्राप्त करने में सक्षम नहीं होते हैं। कारण, भावाविर्भाव का हेतु है--माधुर्य्यानुभव, जिस माधुर्य्य का अनुभव होने से तादृश प्रेमोद्गम होता है, उस माधुर्य्यानुभव की योग्यता व्रजदेवी गण व्यतीत अन्य किसी में नहीं है। तज्जन्य कोई भी उस को प्राप्त करने में सक्षम नहीं हैं।

उद्धव कहते हैं—हम सब में उस भाव को प्राप्त न करने पर भी उस में जो वाञ्छा हुई है यही परम सौभाग्य का विषय है। कारण, सर्वोत्तम पुरुषार्थ क्या है? हमने उसको समझा है। सुतरां उस से न्यून किसी वस्तु के प्रति हम सब की और लालसा नहीं होगी। श्रीव्रजदेवी गण की कृपासे किसी भी काल में उस भाव की प्राप्ति हो भी सकती है, किन्तु जिसने उस भाव की वाञ्छा नहीं की है, उसको वह भाव नहीं मिल सकता है, किन्तु जो लोक उसकी वाञ्छा नहीं करते हैं, वे मूर्ख हैं, उन सबका जन्म व्यर्थ है, कारण, उन सब ने सर्वोत्तम वस्तु का परिचय नहीं पाया है, भावोत्कर्ष ज्ञान का अभाव लोभोत्पत्ति न होने का हेतु है, उत्कर्ष ज्ञानाभाव कारण है,भाव माधुर्य्य श्रवण में अरुचि। सुनने से ही सर्वोत्तम है-यह बोध होता है। श्रीकृष्ण कथा सुनते सुनते व्रजदेवी गण का भावमाधुर्य्य श्रवण करने का अवकाश उपस्थित होता है। अतः

लीलस्य श्रीकृष्णस्य कथासु कथामात्रेषु, किमुत ईदृशीषु कथासु अरसो रसाभावो यस्य तस्यासंख्यैर्विरिञ्चिजन्मभिरपि किम् ? न किञ्चिदपीत्यर्थः ॥

१०३-१०४। ननु ते मुक्ता मुमुक्षवश्च तत्तद्भावेन शास्त्रप्रशस्ता एव ? भक्तास्त्वतितमाम्, तर्हि तद्विधानां कथमन्यत्र वाञ्छा ? तत्राह, (भा० १०।४७।५६) —

(१०३) "क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः, कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढ़भावः ।
नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षा-,च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः ॥"२८७॥

तत्र तासु श्रीमदुद्धवस्योपक्रमोपसंहारादिषु महाभक्तेरेव स्पष्टत्वात्तासां श्रीकृष्णभजने

---

उस विषय में उस की वाञ्छा नहीं होती है, जो लोक उक्त भाव विशेष को वाञ्छा नहीं करते हैं, उसकी निन्दा करने के अभिप्राय से श्रीकृष्ण कथा में रुचि हीन व्यक्ति की निन्दा उद्धव ने की है।

कृष्ण कथा में रुचि हीन व्यक्ति यदि असंख्य वार भी ब्रह्म जन्म लाभ करे तो भी उसका जन्म व्यर्थ ही है, ब्रह्मा--विज्ञ शिरोमणि हैं एवं चतुर्दश भुवन के प्रभु भी हैं, उनका आनन्द मनुष्यानन्द के परार्द्धगुण अधिक है, जिस जन्म में इस प्रकार विज्ञता एवं आनन्द लाभ है, उस प्रकार असंख्य जन्म लाभ भी जीवके पक्ष में अकृतार्थ ही होता है, यदि उस जीव की रुचि कृष्ण कथा में नहीं होती है। कारण, पूर्व में कथित है—श्रीकृष्ण कथा रुचि ही भक्त्याविर्भाव का लक्षण है। और भी भक्त्यानन्द के समीप में श्रीभगवान् का स्वरूपानन्द भी तुच्छ हो जाता है। वह ब्रह्मानन्द से कितना अधिक है, इस का निरूपण करने में श्रुति भी असमर्थ है। सुतरां भक्ति सुख के समीप में ब्रह्मा का आनन्द अतितुच्छ है। एवं भक्ति संवलित जो ज्ञान है, वह ब्रह्मानुभव को पराभव कारी भगवदनुभव—भगवदनुभव की पराकाष्ठा---श्रीभगवान् में मदीयता बुद्धि सम्पादक है। किन्तु ब्रह्मा की विज्ञता, ब्रह्मानुभव के उपयोगी भी नहीं है। सुतरां भक्त्युत्थ ज्ञान के निकट ब्रह्मा की विज्ञता भी अति तुच्छ है।

भगवद् भक्ति लाभ करने का अधिकार जिस जीव का है, वह जीव, यदि भगवत् कथा में रुचि प्राप्त न करके—अर्थात् भक्ति लाभ न करके असंख्य विरिञ्चि जन्म लाभ करता है तो उक्त कारणसे वह अत्यन्त अकृतार्थ होता है ॥१०२॥

१०३-१०४। यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि—जो सब मुमुक्षु मुक्त एवं भक्त श्रीव्रजदेवी गण के भाव माधुर्य्य विशेष में वाञ्छा करते हैं, वे मुक्त एवं मुमुक्षु गण—अखिल आत्मा में मुमुक्षु एवं मुक्तोचित भाव से निविष्ट होने के कारण, शास्त्र में प्रशंसित हैं, एवं भक्त गण भी निज निज उदार भाव हेतु अतिशय प्रशंसित होते हैं। ऐसा होने पर उस प्रकार व्यक्ति वर्ग की अन्यत्र वाञ्छा कैसे सभव है ? उत्तर में भा० १०।४७।५६ में उद्धव ने कहा है—

(१०३) "क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः, कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढ़भावः ।
नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षा-,च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः ॥"२८७॥

टीका—किञ्च ईश्वर प्रसादो महत्त्वे कारणं तस्य च न जाति राचारो ज्ञानंवा कारणं किन्तु केवलं भजनमेवेत्याह क्वेमा इति। साक्षाद् भजतः पुंसः। ननु अहो उपयुक्तः सेवितः। अगदराजोऽमृतं यथेति ॥

ये सब बनचरी कृष्ण प्रीति की किस भूमि का में अधिष्ठित हैं। और व्यभिचार दुष्ट मुमुक्षु प्रभृति हम सब भी किस भूमि का में हैं ? अहो ! परमात्मा में इन सब का इस प्रकार रूढ़ भाव है !-परिसेवित अमृत

व्यभिचारित्वस्य सुतरां तद्दोषस्य च रासान्ते (भा० १०।३३।३५)—

"गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषामपि देहिनाम् ।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्ष एष क्रीड़नदेहभाक् ।।"२८८।।

इत्यादिना निराकृतत्वात् स्वयमेवाधुनापि परमात्मनीति तस्यैव सूच्यमानत्वाद्दुर्धियां मते वा तासां व्यभिचारशीलत्वस्य तु (भा० १०।४७।६१) "आर्य्यपथं हित्वा" इति प्राप्तस्यैव परित्यागोपपत्तेः स्वयमेव निराक्रियमाणत्वादन्यथार्थस्याप्रस्ताव्यत्वमिति वक्ष्यमाण एवार्थः समञ्जसः । यथा इमा वनचर्य्यः श्रीवृन्दावनविहारिण्यः स्त्रियः कृष्णे तद्रूपे आश्रये क्व कां वा भूमिकामधिकृत्य वर्त्तन्ते ? तया व्यभिचारदुष्टा एतादृशभावोत्कर्षाभावेन यो व्यभिचारो गाढ़-तदासक्तचभावस्तेन दुष्टा अन्ये भवभीप्रभृतयो वयं वा तस्मिन् क्व कां भूमितामधिकृत्य वर्त्तामहे ? ततो महदेवान्तरमिति भावः । कथम् ? एष श्रीगोपबधूष्वेतासु दृश्यमानः परमात्मनि सर्वेषामेव भजनीयत्वेन स्पृहास्पदे परमेश्वरे रूढ़भाव उद्भूतमहाभावः समुज्जृम्भते, न त्वस्मास्विति । तर्हि ताभिरनुभूयमानस्य तादृशभावजनकस्य श्रीकृष्णगुणविशेषस्यानभिज्ञा

---

के समान भगवान्—भजनानुकारी अज्ञगण को भी निश्चय ही श्रेयः प्रदान करते हैं ।

श्लोक की व्याख्या—उक्त श्लोक का यथाश्रुत अर्थ यह है—यह सब व्यभिचार दुष्टा वनचरी स्त्री कहाँ ? और परमात्मा श्रीकृष्णमें रूढ़ भाव ही कहाँ ? परिसेवित अमृतके समान श्रीकृष्ण भजन फलद है । अर्थात् यह सब जार भाव से श्रीकृष्ण भजनानुकरण करने पर भी उनकी महिमा से उन सब में उस प्रकार भावाविर्भाव सम्भव हुआ है । इस प्रकार अर्थ में असङ्गति प्रदर्शन हेतु कहते हैं—उद्धववाक्य में—अर्थात् उपक्रमोपसंहरादि में व्रजदेवीगणके प्रति उद्धव की महाभक्ति सुस्पष्ट है । उन सब का श्रीकृष्ण भजन में व्यभिचारित्व है, सुतरां भा० १०।३३।३५ रासान्त में उस दोष का निराकरण हुआ है ।

"गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषामपि देहिनाम् ।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्ष एष क्रीड़नदेहभाक् ।।२८८।।

जो गोपीगण का, उनके पति समूह का तथा निखिल देह धारियों का अन्तश्चारी एवं अध्यक्ष है, वह लीलामय विग्रह क्रीड़ा देह को प्रकट किया है । उद्धव ने स्वयं ही 'परमात्मनि' परमात्मा में इस प्रकार पद प्रयोग करके व्यभिचारित्व का निराकरण किया है । दुर्बुद्धि गण के मत में किंवा भा० १०।३३।३५ में उक्त

"आर्य्यपथं हित्वा" आर्य्य पथ त्याग करके,—इस वाक्य के अनुसार उन सब की व्यभिचारशीलता का निराकरण करने के कारण, उसका भी परिहास प्रमाणित हुआ है, यह सब कारणों से यथा श्रुतार्थ गृहीत नहीं हो सकता है । निम्नोक्त अर्थ ही सुसङ्गत है—वह अर्थ यह है—यह सब वृन्दावन विहारिणी स्त्री, कृष्ण में—कृष्णरूप आश्रयमें किस भूमिका—(स्थान) को अधिकार कर विराजित हैं ? और व्यभिचार-एतादृश भावोत्कर्ष के अभाव से जो व्यभिचार—गाढ़ आसक्ति का अभाव है, तज्जन्य दुष्ट, अन्य भवभीत प्रभृति (मुमुक्षु, मुक्त, भक्त) हम सब किस भूमिका को अधिकार कर हैं ? इस हेतु व्रजदेवी गण एवं हमसब के मध्य में महाव्यवधान देखने में आता है । अर्थात् व्रजदेवी वृन्द का स्थान हम सब के बहुत ऊपर में है, यही तात्पर्य्य है । कारण—ये सब गोप बधूमें अधुना दृश्यमान परमात्मा में-सब के भजनीय रूपमें वाञ्छित

यूयं कथं तद्वाञ्छयापि तत् प्राप्स्यथ ? तत्राह— नन्विति । अविदुषोऽपि,—तत्र ममैवाकस्मात् स्वयमत्र प्रस्थापितस्य दृष्टान्तत्वमिति भावः, यथोक्तं स्वयमेव—(भा० १०।४७।२७) "विरहेण महभागा महान् मेऽनुग्रहः कृतः" इति, अथवा, पूर्व्वमेवार्थं तद्रसविमुखीनां महापतिव्रतानामपि निन्दया द्रढ़यति—क्वेमा इति, इमाः श्रीवृन्दावनविहारिण्यः श्रीकृष्णप्रेयस्यः स्त्रियः क्व ? अकारप्रश्लेषेण याश्चावनचर्य्य-स्तद्वनविहारिणीभ्यस्ताभ्यो भिन्नाः, अथच—(भा० ५।१८।१९) "स्त्रियो व्रतैस्त्वाम्" इत्यादि-केतुमालवर्षवर्णन-स्थित-लक्ष्मीवचन-रीत्या परमात्मनि स्वतः सर्वपतौ श्रीकृष्णे वैमुख्येन व्यभिचारदुष्टाः स्त्रियः क्व ?—महदेवान्तरमिति भावः ।

---

परमेश्वर में,—रूढ़भाव है, अर्थात् उद्भूत महाभाव अतिशय रूप में प्रकाशमान है, वह भाव हम सब में नहीं है । इस में कहा जा सकता है । कि— ऐसा होने पर श्रीव्रजदेवी गण कर्त्तृक अनुभूयमान तादृश भाव जनक श्रीकृष्णके गुण विशेषमें अनभिज्ञ तुम सब उस भावको मनोरथ के द्वारा भी कैसे प्राप्त करोगे ? कहते हैं—भगवान् भजन कारी अज्ञ जन गण को निश्चय ही श्रेयः विस्तार करते हैं । उस में मैं ही दृष्टान्त हूँ । श्रीकृष्ण-स्वयं ही अकस्मात् मुझ को यहाँ भेजे हैं । इस प्रकार व्याख्या कपोल कल्पित नहीं है, श्रीउद्धव के कथन के अनुगता है । भा० १०।४७।२७ में कथित है— "विरहेण महाभागा महान् मेऽनुग्रहः कृतः ।।" इस विरह की द्वारा मेरे प्रति महान् अनुग्रह प्रकाश किया गया है ।

---

अथवा—अर्थान्तर यह है—श्रीकृष्ण माधुर्य्यास्वादन विमुखी महापतिव्रतागण की निन्दा करके पूर्वोक्त अर्थ को दृढ़ करते हैं । यह सब वृन्दावन विहारिणी श्रीकृष्ण प्रेयसी स्त्री कहाँ ? और वनचरीशब्द के सहित अकार संयोग करके, जो अवनीचरी हैं, अर्थात् वृन्दावन विहारिणी गोपीगण से भिन्न हैं, अथच-भा० ५।१८।१९ में उक्त "स्त्रियो व्रतैस्त्वांहृषीकेश्वरं स्वतो

ह्याराध्य लोके पतिमाशासतेऽन्यम् ।

तासां न ते वै परिपान्त्यपत्यं प्रियंधनायुंसियतोऽस्वतन्त्रः ।।"

केतुमाल वर्ष में लक्ष्मीदेवी श्रीभगवान् का स्तव करके कही थीं आप स्वतः ही इन्द्रिय समूह के पति हैं । जगत् में जो सब स्त्री, विविध व्रत के द्वारा आप की आराधना करके अन्य पति की कामना करती हैं, उनके पतिगण प्रिय सन्तान सन्तति धन किम्बा आयु की रक्षा नहीं कर सकती हैं, कारण, वे सब स्वाधीन नहीं हैं ।

उद्धव का अभिप्राय यह था कि—यदि श्रीकृष्ण के सहित आप सब का विरह न होता तो, श्रीकृष्ण भी मुझ को यहाँ नहीं भेजते, यदि मैं व्रज में नहीं आता तो मेरे समान अज्ञ जनकी अज्ञता आप सब के महिमामय प्रीति माधुर्य्य विषय में चिरस्थायी होकर रहती, मैं मानता हूँ कि—श्रीकृष्ण, अज्ञ यह उद्धव के प्रति कृपा करने के निमित्त ही विरह लीला प्रकटन किये हैं, एवं इस लीला का संवाद वाहक रूप में मुझ को यहाँ भेजकर आप सब की प्रेम महिमा को अनुभव करने के निमित्त सुयोग प्रदान किये हैं, अतः कहता हूँ कि—विरह द्वारा मेरे प्रति प्रचुर अनुग्रह प्रकाश किया गया है ।

केतुमाल वर्ष वर्णन स्थित लक्ष्मी के वचनानुसार,—परमात्मा स्वभावतः सर्व पति श्रीकृष्ण में वैमुख्य दोष हेतु व्यभिचार दुष्टा उस स्त्री गण ही कहाँ है ? श्रीव्रजदेवी वृन्द—एवं श्रीकृष्ण विमुखी महापतिव्रता-रमणी वृन्द के मध्य में महाव्यवधान है । उक्त कथन का यही तात्पर्य्य है । कारण, श्रीव्रजदेवी गणमें सर्व पुरुषार्थ शिरोमणि रूप रूढ़भाव दृष्ट होता है,अन्य रमणीगण में जिस प्रकार उस भावका अभाव परिलक्षित

यतश्चैतास्वेव सर्वपुरुषार्थशिरोमणिरूपो रूढ़भावो दृश्यते, न तु तास्विव तल्लेशस्याप्यभाव

होता है, व्रज सुन्दरी गणमें उस प्रकार अभाव लेश भी नहीं है। इस प्रकार परम प्रेमवती व्रजदेवी गण में श्रीकृष्ण सौहार्द भी चरम सीमा में उपनीत हुआ है। कारण, श्रीकृष्ण, स्वभावतः ही भक्त मात्र के सुहृद हैं, इस अभिप्राय से उद्धव ने कहा है—भगवान् भजनानुकारी अज्ञ व्यक्ति गण को भी श्रेयः प्रदान करते हैं। अतएव व्रजदेवी गण सर्वापेक्षा अधिक भजन निरता होने के कारण उनके प्रति श्रीकृष्ण सौहृद भी तदनुरूप होना ही स्वाभाविक है।

सारार्थ यह है कि— "क्वेमाः स्त्रियो वनचरी र्व्यभिचार दुष्टाः"

ये वनचरी व्यभिचार दुष्टा स्त्रीगण कहाँ ? श्लोक श्रवण मात्र से ही उद्धव अवज्ञा के सहित उस प्रकार कहे हैं, इस प्रकार बोध होता है इस प्रकार अर्थ बोध होने का अवकाश भी है, वे सब वास्तविक ही कृष्ण प्रेमोन्मादिनी होकर वृन्दावन नामक वन में विचरण करती रहती थीं, एवं प्रकट लीलामें श्रीकृष्ण के सहित जार बुद्धि से अर्थात् उपपति भाव से कृष्ण के सहित मिलिता भी हुई थीं, इस प्रकार प्रसिद्धि है। एवं विध भ्रान्ति निरसन निबन्धन प्रथम श्रीमान् उद्धव जो उन सब के प्रति अवज्ञा प्रकाश नहीं कर सकते हैं, यही दर्शाया गया है।

शास्त्र तात्पर्य्य निर्णय हेतु उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद एवं उपपत्ति रूप षड़् विध लक्षण गृहीत होते हैं, उपक्रम–आरम्भ वाक्य, उपसंहार समाप्ति वाक्य--उभय में एक लक्षण है, अभ्यास--पुनः पुनः एक कथा की आवृत्ति, अपूर्वता---अन्य प्रमाण से अज्ञात विषय का उपदेश, फल--प्रतिपाद्य का प्रयोजन वर्णन, अर्थवाद--प्रतिपाद्य वस्तु की प्रशंसा, उपपत्ति—अनुकूल युक्ति। उक्त शास्त्र तात्पर्य्य निर्णायक षड़् विध लक्षणों के द्वारा गोपी सान्त्वना प्रकरण में उन सब के प्रति श्रीउद्धव की प्रगाढ़ भक्ति दृष्ट होती है, भा० १०।४७।२३ के उपक्रम वाक्य में उद्धवने कहा—

"अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो लोक पूजिताः।
वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः॥"

उपसंहार में-(भा० १०।४७।६३) "वन्दे नन्द व्रज स्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरि कथोद्गीतं पुनाति भुवन त्रयम्॥"

अभ्यास—भा० १०।४७। अध्याय के उद्धवोक्ति श्लोक समूह।

अपूर्वता—भा० १०।४७।६१ "आसामहो चरण रेणु जुषामहं स्याम्।
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यज स्वजनमार्य्यं पथञ्च हित्वा
भेजुर्मुकुन्द पदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्।

फल—"एताः परं तनुभृतोभुविगोपबध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढ़ भावाः।
वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयञ्च।
किं ब्रह्म जन्मभिरनन्तकथारसस्य॥ भा० १०।४७।५८

उपपत्ति—(भा० १०।४७।६२) "या वै श्रियार्चितमजादिभि राप्तकामै
र्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रास गोष्ठ्याम्
कृष्णस्य तद् भगवतश्चरणारविन्दं
न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्यतापम्॥

इति । एवं परमप्रेमवतीष्वासु तस्य सौहृदमपि परमकाष्ठापन्नं भवेत् । यतो भक्तमात्राणां स्वभावत एव सुहृदसावित्याह—नन्विति । किं बहुना ? (भा० १०।४७।६०)—

(१०४) "नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः, स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः ।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ,-लब्धाशिषां य उदगाद्व्रजसुन्दरीणाम् ॥"२८९॥

---

इस प्रकार में अवज्ञा सूचक अर्थ निहित नहीं है, किन्तु कहा जा सकता है कि यथाश्रुतार्थ ही सङ्गत है। कारण, रास लीला प्रकरण में व्यभिचार दोष की कथा सुस्पष्ट रूप से है । और यहाँ पर उद्धव ने भी कहा है—या दुस्त्यजं स्वजनमार्य्य पथञ्च हित्वा" उन्होंने स्वजन आर्य्य पथ परित्याग किया है। उत्तर—भा० १०।३३।३५ में श्रीशुकदेव ने उक्त व्यभिचार दोषका समाधान किया है।

"गोपीनां तत् पतीनाञ्च सर्वेषामेव देहिनाम् योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीड़नेनेदेहभाक् ।

पत्यादि को परित्याग कर वे किस की सेवा करने आई थीं, जो उनके पतिगण के यहाँ तक कि-समस्त जीवों के हृदय विहारी हैं, उनके निकट आई थीं, जो सतत सब के हृदय में विराजित हैं, उनको कोई भी कभी छोड़ नहीं सकते हैं। स्वभावतः सर्व हृदय विहारी को हृदय में रखने से व्यभिचार दोष स्पर्श नहीं होता है । किन्तु उनको छोड़कर जो अन्य को हृदय में रखता है, वे व्यभिचार दोष से लिप्त होते हैं । और जो उद्धव-उनके स्वजन आर्य्यपथ त्याग का विवरण कहे हैं, उनको परमात्मा अर्थात् सब के हृदय विहारी कहे हैं, तज्जन्य यहाँ भी व्रजदेवी गणको दोषार्पण करना अभिप्रेत नहीं है, किन्तु उसके द्वारा ही उन्होंने उन सब का उत्कर्ष स्थापन किया है ।

उक्त श्लोक का यथाश्रुत अर्थ में असङ्गति प्रदर्शन कर सङ्गत अर्थ किये हैं, उस अर्थ में व्रजदेवी गण ही पतिव्रता हैं, यह सिद्ध हुआ है। कारण, जो स्वभावसिद्ध पति हैं, उनको ही उन्होंने वरण कर भजन किया है, जो उनको छोड़कर पातिव्रत्य अङ्गीकार पूर्वक अन्य पतिका भजन करती हैं, वे यथार्थ पतिव्रता नहीं हैं, उन सबका पातिव्रत्य व्यवहारिक है । जिसका भजन वे सब करती हैं, वे पति हो ही नहीं सकते हैं। भा० ५।१८।२० में लक्ष्मी देवी ने कहा है।

"स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं समन्ततः पाति भयातुरं जनम् ।
स एकएवेतरथा मिथोभयं नैवात्मलाभादधिमन्यते परम् ॥"

जो स्वयं निर्भय एवं भयातुर की सर्वतोभावेन रक्षा करने में समर्थ है, वही पति है । साधारणतः नारीगण जिस पुरुष विशेष को पतिमानकर भजन करती है, वह भव भय से भीत है, सब प्रकार से आत्मरक्षा में असमर्थ है, अपर की रक्षा वह कैसे कर सकता है ? तज्जन्य वह पति हो ही नहीं सकता है । श्रीकृष्ण में उक्त गुण विद्यमान होने के कारण वही यथार्थ पति हैं। प्रथम अर्थ में मुमुक्षु, मुक्त एवं अन्य भक्त वृन्द की श्रीकृष्ण में गाढ़ आसक्ति की अपूर्णता, और व्रजदेवी गण में उसकी पूर्णता को दर्शाकर उन सब का परमोत्कर्ष स्थापन किये हैं । द्वितीय अर्थ में—श्रीकृष्ण विमुखी पतिव्रताभिमानिनी रमणीगण को व्यभिचार दुष्टा, और कृष्णैकवल्लभा गोपी गण को पतिव्रता शिरोमणि रूप में स्थापन किये हैं, द्वितीयतः—सर्व पति में व्रजदेवी गण का परम प्रेम, और अन्य पतिव्रता रमणी गण में उस के लेशाभाव को दर्शाकर श्रीगोपीगण का परमोत्कर्ष स्थापन किये हैं ॥१०२॥

इस सम्बन्ध में अधिक कहने का प्रयोजन ही क्या है ? भा० १०।४७।६० में उक्तहैं

(१०४) "नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः,
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः ।

अङ्गे तदाये श्रीवैकुण्ठनाथाख्य-श्रीविग्रहविशेषे परमप्रेयसीरूपायाः श्रियो या नितान्तरतिः प्रगाढ़ः कान्तभावस्तस्या अप्ययमेतावान् प्रसादः सौख्यप्रकाशो नास्ति । यदि श्रियोऽपि नास्तिः तदा नलिनस्य तत्रत्य-दिव्य-स्वर्णकमलस्येव गन्धो रुक् कान्तिश्च यासां तादृशीनामपि स्वर्योषितां वैकुण्ठपुराङ्गनानामन्यासां सुतरामेव नास्ति । ततः कुतोऽन्याः ? अन्याः पुनर्दूरतोऽपि निरस्ता इत्यर्थः । कासामिव कियान् प्रसादो नास्ति ? तत्राह—रासेति । अस्य श्रीव्रजेन्द्रनन्दनरूपस्य,–(भा० १०।१६।३६) "यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपः" इत्युक्तदिशा तस्या अपि स्पृहणीयस्येत्यर्थः । ततो न केवलं विप्रलम्भ एवासामीदृशो भावोत्कर्षः, परन्तु सम्भोगेऽपि लक्ष्म्या अपि स्पृहणीयः, तेन मद्विधानां का वार्त्तेति भावः । भुजदण्डगृहीतकण्ठ-लब्धाशिषां परमावेशेन गृहीतकण्ठतया प्राप्तपरममनोरथानां रासोत्सवे यो यावानुदगात्,– सततं निगूढ़मन्तः सन्नपि प्राकट्यं प्रापेति, (भा० १०।१५।८) "अपि यत्स्पृहा श्रीः" इत्यत्र लक्ष्मीस्पर्द्धामयवाक्ये व्रजसुन्दरीणामिति सुन्दरीपदविन्यासः सौन्दर्य्यादिकमपि तासां तद्वदधिकमिति सूचयति, तच्च युक्तम्,–(भा० ५।१८।१२) "यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना"

---

रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ--,
लब्धाशिषां च उदगाद्व्रजसुन्दरीणाम् ।।"२८९।।

रासोत्सब में श्रीकृष्ण के भुजदण्ड द्वारा कण्ठालिङ्गित होकर व्रजसुन्दरी गण का श्रीकृष्णाङ्ग सङ्ग सुखोल्लास स्वरूप जो प्रसाद उदित हुआ था, अङ्ग में जिस श्री की अत्यन्तरति हैं, उन लक्ष्मीके पक्षमें भी वह प्रसाद दुर्ल्लभ है, उस विषय में अन्य रमणी का प्रसङ्ग उठ ही नहीं सकता है।

श्लोक की व्याख्या—अङ्गे—श्रीकृष्ण के वैकुण्ठ नाथ नामक श्रीमूर्त्ति विशेष में परम प्रेयसी रूपा लक्ष्मी की जो नितान्तरति कान्त भाव है, उनको भी इस प्रकार--सुख नहीं मिला है । यदि लक्ष्मी को ही इस प्रकार प्रसाद नहीं मिला है तो नलिन के समान–अर्थात् वैकुण्ठस्थ दिव्य स्वर्ण कमल के समान गन्ध कान्ति है जिन का इस प्रकार स्वर्गस्थ रमणी वृन्द में एवं वैकुण्ठ के अन्य पुर महिलावृन्द में सुतरां उक्त प्रसाद प्रकाशित नहीं हुआ है । उस में इन्द्राणी प्रभृति की कथा तो उठ ही नहीं सकती है । अर्थात् व्रज-सुन्दरी के सहित अन्य रमणीओं की तुलना ही नहीं हो सकता है ।

श्रीव्रजेन्द्रनन्दन रूप श्रीकृष्ण की चरणरेणु की स्पर्श वाञ्छा करके सुकुमारी लक्ष्मीने तो व्रत पूर्वक दीर्घकाल तपस्या की थी । भा० १०।१६।३६ में उक्त है—यद्वाञ्छया श्रीर्ललना चरत्तपः" इस वचन के अनुसार प्रतीत होता है कि—लक्ष्मी का भी चिर वाञ्छित श्रीकृष्ण दास्य है । अतएव केवल विप्रलम्भ में ही व्रजसुन्दरी वृन्द का इस प्रकार भावोत्कर्ष है, ऐसा नहीं, किन्तु सम्भोग में भी लक्ष्मी का वाञ्छित भावोत्कर्ष व्रजललना में सतत विद्यमान है । ऐसा होने पर हम सब का प्रसङ्ग तो हो ही नहीं सकता उद्धव के वाक्य का यही सारार्थ है ।

"भुजदण्ड गृहीत कण्ठ लब्धाशिषां " भुजदण्ड गृहीत कण्ठ लब्धाशिषाम्' श्रीकृष्ण, कण्ठालिङ्गन करने के कारण जिनका परमाभीष्ट सिद्ध हुआ था, रासोत्सव में जिस प्रकार प्रसाद उन सब को मिला था, उदित-सतत निगूढ़रूप में अन्तर में निगूढ़ रूप में रहकर भी, प्राकट्य बाहर प्रकाश हुआ था, उन सब के समान, एवं उस परिमाण प्रसाद--लक्ष्मी भी प्राप्त करने में असमर्थ है । लक्ष्मी केवल उस विषय को प्राप्त

इति न्यायेन तदुत्कर्षत उत्कर्षप्राप्तेः। अत्र सर्वभावशिरोमणिना कान्तभावांशेनैवोभयत्र तारतम्यं दर्शितम्, न तु (भा० ११।१४।१५) "न च सङ्कर्षणो न श्रीः" इत्यादाविव भक्ति-

---

करने के निमित्त अभिलाषिणी थीं। लक्ष्मी स्पर्द्धानिय हैं, लक्ष्मी की स्पर्द्धा परिभवेच्छु है, जिस में इस प्रकार वाक्य में "वृजसुन्दरी" पद विन्यास हुआ है। उन सब का सौन्दर्य्य भी, पराकाष्ठा प्राप्त प्रेम के समान ही है। यह सूचित हुआ है। भा० ५।१८।१२ में उक्त है — "यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना"

भगवान् में जिस की अकिञ्चना भक्ति है, समस्त गुणों के सहित सुरगण वहाँ उपस्थित होते हैं। इस नियम के अनुसार श्रीवृजदेवी गण में श्रीकृष्ण प्रीति का चरमोत्कर्ष निबन्धन उनके सौन्दर्य्यादि की उत्कर्ष प्राप्ति हेतु उक्त रूप सूचित हुआ है। यहाँ सर्व भाव शिरोमणि कान्ताभावांश में ही उभयत्र (वृजदेवी गण एवं लक्ष्मी में) तारतम्य प्रदर्शित हुआ है। किन्तु भा० ११।१४।१५ में उक्त "न च सङ्कर्षणो न श्रीः" सङ्कर्षण, लक्ष्मी—उस प्रकार प्रिय नहीं हैं, इस श्लोक के समान भक्ति एवं जायात्व—उभय अंश के द्वारा तारतम्य प्रदर्शित नहीं हुआ है। अतएव अन्य व्यक्ति के सहित भी तुलना नहीं हो सकती है। श्रीकृष्ण लक्षण स्वयं भगवान् श्रीवृजसुन्दरी वृन्दका प्रेमका विषय होनेके कारण विशेष व्यवधान अवश्य ही है। यह भी जानना होगा।

सारार्थ यह है—इस श्लोक में सौन्दर्य्य एवं सौभाग्य की पराकाष्ठा जिस में है, उस प्रकार पतिव्रता लक्ष्मी से भी श्रीवृजदेवी गण का उत्कर्ष ख्यापन किये हैं। श्रीलक्ष्मी श्रीवैकुण्ठ नाथ नारायण की प्रेयसी--वक्षोविलासिनी हैं, और वृजसुन्दरी गण, वृजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की प्रेयसी—रासरस रङ्गिणी हैं।

वृजेन्द्रनन्दन स्वयं भगवान् हैं। श्रीनारायण उनका आविर्भाव विशेष--विलास मूर्त्ति हैं। भगवन्निष्ठ स्वरूप ऐश्वर्य्य माधुर्य्य का उत्कर्ष की परावधि श्रीवृजेन्द्रनन्दन में विद्यमान है। श्रीकृष्ण माधुर्य्य में मुग्धा होकर लक्ष्मी उनके सङ्ग लाभ हेतु लालसावती हुई थीं, केवल यही नहीं, श्रीनारायण रूप पति सङ्गमय भोग समूह को परित्याग पूर्वक श्रीकृष्ण सङ्गलाभ हेतु तपस्या-निज पति की आराधना लक्ष्मीने की थी। लक्ष्मी जानती थी—श्रीकृष्ण एवं श्रीनारायण अभिन्न स्वरूप हैं, तथापि श्रीकृष्ण में सौन्दर्य्यादि का वैशिष्ट्य को देखकर तदीय सङ्गाभिलाषिणी हुई थीं, गोपी गण के समान उनकी कृष्णैक निष्ठा नहीं थी, तज्जन्य लक्ष्मी कृष्ण सङ्ग लाभ में वञ्चित थीं।

वैकुण्ठ में श्री, भू, लीला प्रभृति श्रीनारायण की बहु प्रेयसी हैं, उनके अङ्गगन्ध एवं अङ्ग कान्ति वैकुण्ठ के स्वर्ण कमल की गन्ध एवं कान्ति के समान है। समस्त रमणीगण के मध्य में श्रीलक्ष्मी ही सर्व श्रेष्ठा हैं। लक्ष्मी, कृष्ण सङ्ग लाभ हेतु बहु तपस्या करके भी प्राप्त करने में अक्षम थीं, सुतरां उक्त श्रीकृष्ण सङ्ग लाभ-भू, लीला प्रभृति अन्य वैकुण्ठ विलासिनी गण प्राप्त करने में अक्षम थीं।

इन्द्राणी प्रभृति देवीगण—त्रिभुवन के मध्य में परम सौभाग्य वती होने पर भी वैकुण्ठ विलासिनी गण से अति निकृष्टा है। वैकुण्ठ विलासिनी गणके मध्य में जो श्रेष्ठा हैं, उन्होंने जिस को नहीं पाया है, उस कृष्ण सङ्ग प्राप्ति के सम्बन्ध में इन्द्राणी प्रभृति की कथा तो उठ ही नहीं सकती है, इस प्रसङ्ग में त्रिभुवन के रमणी गण की कथा का प्रसङ्ग तो हो ही नहीं सकती है।

अनन्त ब्रह्माण्ड के मध्य में जितनी रमणी हैं, सकल के लोभनीय जो है, वे सब उस को प्राप्त करने में असमर्थ हैं, उस कृष्ण सङ्ग को प्राप्त किये हैं, व्रजसुन्दरी गण। एतज्जन्य समस्त स्त्री जाति के मध्य में ये सब श्रेष्ठा हैं।

उस कृष्ण सङ्ग लाभ उन सब को कहाँ हुआ ? रासोत्सव में, आपत् कालमें अनादरणीय व्यक्ति को

जायात्वांशाभ्याम् । ततो नान्येन साधारण्यं मन्तव्यम् । श्रीकृष्णलक्षण-स्वयं-भगवद्विषयतया

आदर करने की पद्धति सुपरिचित है, किन्तु उत्सव में विशिष्ट व्यक्ति ही आप्यायित होते हैं । श्रीव्रजदेवीगण, उत्सव में श्रीकृष्ण के निवट समादृत हुये थे । वह उत्सव किस प्रकार ? श्रीकृष्ण की निखिल लीला की मुकुटमणि—रास है । बृहद्वामन पुराण में श्रीकृष्ण की उक्ति है—

"सन्ति यद्यपि प्राज्यालीलास्तास्ता मनोहराः।
नहि जाने स्मृते रासे मनो मे कीदृशोभवेत् ॥

मेरी उस प्रकार मनोहर लीला प्रचुर परिमाण में हैं, तथापि रासकी स्मृति मनमें उदित होने से मेरामन कैसा हो जाता है, इस को मैं कह नहीं सकता ।

रासोत्सव में वे किस प्रकार समादृता हुई थीं ? भुजदण्ड गृहीत कण्ठ लब्धाशिषा' जिनका सङ्गमात्र ही स्त्री, जाति के पक्ष में अलभ्य है, श्रीकृष्ण रासोत्सव में परमावेश से भुजदण्ड द्वय के द्वारा उन सब के कण्ठालिङ्गन किये थे । उस समय गोपीद्वय के मध्य में एक कृष्ण वर्त्तमान थे । उनके प्रति श्रीकृष्ण का आवेश इस प्रकार था कि-उन सब के स्वल्प मात्र विच्छेद भी उनके पक्ष में असह्य था । यह सब प्राण प्रतिमा हैं, इन के क्षणिक व्यवधान से जीवन नहीं रहेगा, इस भीति से प्राण प्राप्त हेतु अवलम्ब उनके भुजदण्ड था, उस से विश्लेषभीति को अपसारण करने में कृष्ण सक्षम हुये थे । बाहु द्वय के द्वारा उनके कण्ठालिङ्गन करके व्यवधान को अपसारित किये थे, भय चला गया, आनन्द प्रतिमावृन्द के स्पर्श से आनन्दमय के हृदय में आनन्द सिन्धु तरङ्गायित होने लगा, रास नृत्य भी आरम्भ हुआ ।

श्रीकृष्ण, रास में एकक नृत्य नहीं किये थे, उनके रास सङ्गिनीगण भी भुजदण्ड गृहीत कण्ठ होकर लब्धाशिषा--सफल मनोरथा हुई थीं । वह मनोरथ क्या है ? कृष्ण सङ्ग लाभ--मनोरथ नहीं है, किन्तु कृष्ण सेवा । सेवा का उपकरण आप सब हैं, श्रीकृष्ण भोग हेतु स्वयं को उत्सर्ग कर आकुल भावसे वे सब अपेक्षा कर रही थीं, श्रीकृष्ण कब भोग्य वस्तु ग्रहण करेंगे ?

अनन्त ब्रह्माण्ड एवं वैकुण्ठ में इस प्रकार सेवा का निदर्शन नहीं है । जगत् में कान्ता निज सुख हेतु कान्त को चाहती है । निजसुख एवं कान्तसुख हेतु अर्थात् उभय के सुख हेतु उभय को उभय चाहते हैं, किन्तु व्रजदेवीगण में निज सुखका लेशमात्र भी उद्देश्य नहीं है, वे केवल श्रीकृष्ण सुखाभिलाषिणी हैं, इस प्रकार त्याग, इस प्रकार अहन्ता-को व्यक्तित्व को ममत्व में आहूति प्रदान करने का दृष्टान्त व्रजदेवो गण व्यतीत अन्यत्र है ही नहीं, तज्जन्य ही वे प्रेम के सर्वोच्च सोपान में समारूढ़ा हैं ।

श्रीकृष्ण रासोत्सव उन सब को अङ्गीकार करके सुखी हुये थे । इससे उन सबका मनोरथ पूर्ण हुआ था । उन सब में निज सुख वाञ्छा न होने पर भी कोटि गुण सुख लाभ उन सबको हुआ । आनन्द हृदय पूर्ण हो गया, वे भी रास मण्डल में श्रीकृष्ण के सहित नृत्य करने लगीं । इस रीति से रास क्रीड़ा आनन्द की ही परिणति विशेष है । इस रासोत्सव में निखिल नायक शिरोमणि कर्त्तृक समादृता व्रजदेवीगण समस्त स्त्री जाति के मध्य में सर्वोत्तमा हैं ।

कृष्ण विच्छेद समय में उद्धव व्रजसुन्दरी गणकी प्रेम महिमा वर्णन करके पूर्व श्लोक में उनके परमोत्कर्ष का कीर्त्तन किये हैं । इस से बोध हो सकता कि-बिरहावस्था में ही उन सब का उत्कर्ष है, एवं मिलन में श्रीलक्ष्मी का उत्कर्ष है, कारण, आप निज कान्त-श्रीनारायण की वक्षोविलासिनी हैं । इस श्लोक में उस प्रकार भ्रान्ति का भी निरसन हुआ है, वह लक्ष्मी भी नियम पूर्वक व्रत करके जिन की चरणरेणु का स्पर्श लाभ कर न सकी, उन श्रीकृष्ण – परमावेश से उन सबके कण्ठालिङ्गन किये थे । सुतरां मिलन में

विशेषान्तरं त्वस्त्येवेति ज्ञेयम् ॥

१०५। तस्मादास्तां तावदासां भावच्छविलाभाभिलाषः, मम त्विदमेव प्रार्थनीयमित्याह, (भा० १०।४७।६१)—

(१०५) "आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां, वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्य्यपथञ्च हित्वा, भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥" २६०

---

भी वृजदेवी गण का परमोत्कर्ष दृष्ट होता है।

इस श्लोक में गोपीवृन्द के प्रेमोत्कर्ष के निकट लक्ष्मी का प्रेमोत्कर्ष का पराजय वर्णित हुआ है, लक्ष्मी के पक्ष में जिस को प्राप्त करना असम्भव है, गोपीगण उस को समधिक प्राप्त किये हैं। सुतरां यह श्लोक–लक्ष्मी का अपकर्ष सूचक है। अर्थात् स्वरूप शक्त्यानन्द नामक भक्त्यानन्द के निकट ऐश्वर्य्यानन्द का अपकर्ष सूचक है। उस में भी 'वृजसुन्दरी' पद से गोपीगण को सुन्दरी शब्द से निर्देश करने के कारण सौन्दर्य्यादि में लक्ष्मी से भी इन सब वृजसुन्दरी गण का श्रेष्ठत्व सूचित हुआ है। इस प्रकार होना सर्वथा समीचीन ही है। जिन में भगवद् भक्ति है, उनमें समस्त सद्गुणों का समावेश होता है। भागवतीय "यस्यास्ति भक्ति र्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः" पद्य उसका परिवेशक है। वृजदेवीगण में भक्ति का परमोत्कर्ष निबन्धन उनके मध्य में निखिल सद्गुण विराजित हैं।

श्रीकृष्ण, उद्धव को कहे थे -"भक्त आप जैसा मेरा प्रिय हैं, वैसा प्रिय–भ्राता–सङ्कर्षण, प्रेयसी लक्ष्मी, यहाँतक कि मेरी आत्मा भी प्रिय नहीं हैं, इस से प्रतीत होता है कि—श्रीकृष्ण--लक्ष्मी से भी उद्धव को श्रेष्ठ कहे हैं। ऐसा होने पर लक्ष्मी से गोपीगण का श्रेष्ठत्व कथन मे उन सब का उत्कर्ष क्या हुआ? उत्तर में कहे हैं– लक्ष्मी का पत्नीत्व एवं उद्धव की भक्ति के प्रति दृष्टि देकर उस प्रकार कहा गया है। अर्थात् भक्ति योग में भक्त जिस प्रकार श्रीभगवान् का प्रिय होता है, लक्ष्मी पत्नी होने पर भी केवल सम्बन्ध के द्वारा उस प्रकार प्रिया नहीं हो सकती है। तब भक्ति द्वारा आप जो प्रीति का विषय हैं,—उस में सन्देह नहीं है। यहाँ वृजसुन्दरी एवं लक्ष्मी की जो तुलना की गई है, वह भक्ति का परिपाक रूप जो कान्त भाव, उसका तारतम्य के प्रति दृष्टि रखकर ही। उभयत्र कान्तभाव वर्त्तमान होने पर भी वृजसुन्दरी गणमें उस भाव का चरमोत्कर्ष वृजसुन्दरी गणमें दृष्ट होता है। रासोत्सव में श्रीकृष्ण का परम प्रसाद ही उनसब का उत्कर्षाधायक है। अतएव साधारण जन भी उभय में कान्ताभाव के तारतम्य के कारण उभय में उपकर्ष एवं उत्कर्ष मानते हैं।

कान्त भाव का उत्कर्ष व्यतीत वृजदेवियों के उत्कर्ष हेतु अन्य भी हैं। प्रेम का विषयालम्बन लक्ष्मी का श्रीकृष्ण का विलास विग्रह श्रीनारायण हैं। वृजसुन्दरीगणके प्रेम का विषयालम्बन स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं। सुतरां विषय के श्रेष्ठत्व द्वारा वृजसुन्दरी गण का श्रेष्ठत्व भी सिद्ध होता है ॥१०४॥

१०५। श्रीलक्ष्मी पर्य्यन्त जिनके समान सौभाग्य प्राप्त करने में समर्थ नहीं हैं, प्रेममुग्ध होकर श्रीकृष्ण जिनके प्रति अत्यन्त आविष्ट हैं, उनके भाव, मूर्त्ति-विलाष–अभिलाष की कथा तो दूर है. अर्थात् वे सब अभिलाष तो मेरे पक्ष में बामन के पक्ष में चन्द्र ग्रहणादि अभिलाषवत् हास्यास्पद है। मेरा किन्तु यही प्रार्थनीय है—इस प्रकार मन में करके श्रीउद्धव कहे थे—भा० १०।४७।६१ में

(१०५) "आसामहो चरणरेणु जुषामहं स्यां,
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।

अयमर्थः-मध्यासां श्रीकृष्णप्रेमविशेषच्छवि-स्पर्शोऽपि न सम्भवत्येव,-विजातीयजन्मवासनत्वात् । ततश्च साक्षाच्चरणस्पर्शोऽपि नेति किं वक्तव्यम् ? यद्येवं तदासां चरणस्य यो रेणुस्तस्य स्पर्शभागधेयानां श्रीगुल्म-लतौषधीनां मध्ये किमपि यत्किञ्चिदनादृतरूपमपि स्यामिति । 'अहो' इत्यभिलाषकृत-हृदयार्त्तौ । कथम्भूतानामित्याह—या इति, याः खलु कुलवधूत्वादापात-विचारेण स्वयं दुस्त्यजं स्वजनमार्य्यपथञ्च हित्वा,—रागातिशयेन लोक-वेद-मर्य्यादामुल्लङ्घ्येत्यर्थः । वस्तुतस्तु श्रुतिभिर्विमृग्यां सर्वश्रुति-समन्वयेन परमपुरुषार्थ-

---

या दुस्त्यजं स्वजनमार्य्यपथञ्च हित्वा,
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥"२९०॥

अहो ! वृन्दावन में जो सब गुल्मलताओषधि व्रजसुन्दरी वृन्दकी चरणरेणु की सेवा करती हैं, अर्थात् रेणु को मस्तक में धारण करती हैं, मैं जैसे उन सब के मध्य कोई एक बन सकूँ । जो व्रजसुन्दरीगण, दुस्त्यज स्वजन एवं आर्य पथको परित्याग करके श्रुतिगण की अन्वेषणीय मुकुन्द पदवी का भजन करती हैं।

श्लोक का अर्थ—मुझ में (उद्धव में) व्रजसुन्दरीगण को श्रीकृष्ण प्रेम विशेष की महाभाव की छवि को स्पर्श करने की योग्यता भी नहीं है । कारण, मेरा जन्म एवं वासना भिन्न जातीय हैं । अर्थात् यह सब स्त्रीरूपमें जन्मग्रहण किये हैं । अतःइनके पक्षमें कान्तभाव सम्भव है,एवं कान्त भावसे श्रीकृष्ण सेवा वासना इन सब को है । मैं पुरुष रूप में जन्म ग्रहण किया हूँ, दास्य मिश्र सख्य भाव से श्रीकृष्ण सेवा करने की वासना मेरा हृदय में वर्त्तमान है । एतज्जन्य व्रजसुन्दरी गणमें जो प्रेम विशेष आविर्भूत है, मुझमें उस का लेशाभास भी उपस्थित हो ही नहीं सकता है । तज्जन्य मेरे पक्ष में इनके चरण स्पर्श जो सम्भव पर नहीं है, इस को मैं क्या कहूँ ? यदि इस प्रकार हो तो—इनके चरणों की एकरेणु--उस को स्पर्श योग्यता जिस में है, इस प्रकार गुल्म, लता ओषधि के मध्य में कोई एक अनादृत नगण्य जन्म मेरा हो, उन्होंने जो अभिलाष किया है—उस अभिलाष जनित आर्त्ति से "अहो' अव्यय का प्रयोग भी किया है ।

किस प्रकार व्रजसुन्दरी वृन्द के चरणरेणु स्पर्श हेतु गुल्मादि जन्म प्रार्थना उन्होंने की है—उस को कहते हैं । जिन्होंने कुलबधू होकर भी आपातः विचार से दुस्त्यज स्वजन एवं आर्य्य पथ को परित्याग किया हैं, परमानुरागसे लोक वेद मर्य्यादा लङ्घन किया है । वास्तविक पक्ष में श्रुति वृन्द की अन्वेषणीया एवं समस्त श्रुति सम्मिलित रूपसे परम पुरुषार्थ शिरोमणि रूप जिस को निर्णय करती हैं। इस प्रकार परम प्रेम लक्षणा - मुकुन्द की--यहाँ पर श्रीकृष्ण कथा प्रस्तुत होने के कारण--उन व्रजेन्द्रनन्दन स्वरूप की पदवी – उनकी संयोग पद्धति का भजन किया है ।

अतएव "आर्य्यपथ त्याग करती रहती हूँ" यह उन सब का भ्रम ही है ।

अभिप्राय यह है—मुकुन्द पदवी—श्रीकृष्ण प्राप्ति का एकमात्र उपाय है—पूर्वोक्त रूढ़ भाव है । श्रुतिगण इस का अनुसन्धान ही करती रहती हैं, अतः उन सब के पक्ष में यह पदवी दुर्ल्लभ ही है। किन्तु व्रजसु दरी गणके पक्ष में वह सहजायत्त है । श्रीउद्धव—उन सब की महिमा को देखकर उनसब के आनुगत्य वाञ्छा किये थे । किन्तु अपने को उनकी प्रेम छाया स्पर्श का भी अनधिकारी माने थे । एवं स्थिर किये थे कि--श्रीव्रजसुन्दरी वृन्दकी चरणरेणु ही उनके आनुगत्य प्राप्तिका एकमात्र साधन है। उद्धव द्वारका परिकर हैं । वहाँ रहकर इस को प्राप्त कर नहीं सकते हैं । अतः वृन्दावन में जो गोपीपदरेणु द्वारा अभिषिक्त होते रहते हैं, जन्मान्तर में उन गुल्म, लता, ओषधि के मध्य में कोई एक नगण्य जन्म लाभ करने का अभिलाष

शिरोमणितया निर्णयामीदृश-परमप्रेमविशेषलक्षणां मुकुन्दस्य प्रस्तुतत्वात् श्रीव्रजेन्द्रनन्दनरूपस्य पदवीं तदीयसंयोगानन्द-पद्धतिं भेजुरिति । तदेवमार्य्यपथं त्यजाम इति तु तासां भ्रम एवेति भावः ॥

१२६ । य एव तत्संयोगानन्दः श्रीप्रभृतीनां परमदुर्लभ एवेति स्वयमेव व्यनक्ति (भा० १०।४७।६२)—

(१०६) "या वै श्रियार्च्चितमजादिभिराप्तकामै,-र्योगेश्वरैरपि सदात्मनि रासगोष्ठ्याम् ।

कृष्णस्य तद्भगवतः प्रपदारविन्दं, न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् ॥"२६१॥

या रासगोष्ठ्यां विराजमानस्य श्रीकृष्णस्य भगवतः परममाधुर्य्यसारभगवत्ताप्रकाशिनस्तद-

---

प्रकाश किये थे, गुल्म से ओषधि पर्य्यन्त में क्रमशः न्यूनत्व प्रदर्शित हुआ है । परम दैन्य के सहित स्वयं को अति नीच मान कर उन सब के मध्य में तुच्छ जन्ममात्र की प्रार्थना किये थे ।

व्रजदेवीगण—मुकुन्द पदवी का भजन किस रीति से किये थे—उसको प्रकाश कर उत्कर्ष प्रतिपादन करते हैं । उन्होंने 'दुस्त्यज स्वजन एवं आर्य पथको परित्याग करके श्रीकृष्ण का भजन किया । और किसीने भी वैसा नहीं किया है, लक्ष्मी प्रभृति का भजन— लोक वेद सम्मत पुरुषार्थ का है, तज्जन्य उन सब में राग का उत्कर्ष नहीं है । व्रजदेवी गण व्रजेन्द्र नन्दन बुद्धि से भजन किये हैं, ईश्वर बुद्धि से नहीं । तज्जन्य उन सब को निज जन--एवं शास्त्र निर्दिष्ट पथ को परित्याग करना पड़ा है, श्रीकृष्ण को प्राप्त करने के निमित्त उन्होंने इह काल एवं पर काल दोनों काल की आशा को जलाञ्जलि दिया है । उन सब का इस प्रकार भजन का मूल उत्कर्ष ही है राग । प्रबल राग से सब कुछ को छोड़ कर एकमन होकर श्रीकृष्ण भजन ही श्रुति का अभीष्ट है । व्रजसुन्दरी गण स्वतः ही उस पथ में विचरण करते रहते हैं, अतः उन सब से आर्य्य पथ---शास्त्र निर्दिष्ट पथ का त्याग नहीं हुआ है । जन्मादि लीलावेशसे जिस प्रकार उन सब में आत्म विस्मृत हुई थी, उसी प्रकार आर्य्यपथ को परित्याग करती रहती हूँ, यह भी अभिमान मात्र है । वस्तुतः उन सब का गन्तव्य पथ ही आर्य्य पथ है । श्रुति गण—इस पथ का ही अनुसन्धान करती रहती हैं ।१०५।

१०६ । व्रजदेवीगण ने स्वजन आर्य्यपथ को परित्याग करके जिस संयोगानन्द पद्धति का भजन किया था, अर्थात् जिस मिलन के पथ में गमन किया था, वह संयोगानन्द लक्ष्मी प्रभृति के पक्ष में भी दुर्लभ है—इस का कथन श्रीउद्धव स्वयं ही किये हैं । भा० १०।४७।६२

(१०६) "य वै श्रियार्च्चितमजादिभिराप्तकामै,--
योगेश्वररपि सदात्मनि रासगोष्ठ्याम् ।
कृष्णस्य तद्भगवतः प्रपदारविन्दं,
न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् ॥"२६१॥

टीका—पुनस्ता एव विशिनष्टि या वा इति । योगेश्वरैरपि--आत्मन्येव अर्च्चितं स्तनेषु न्यस्तं परिरभ्य तापं जहुरिति ।

लक्ष्मी, ब्रह्मादि देवगण एवं आत्म काम--परिपूर्ण मनोरथ—योगीश्वर गण मनमन में जिनकी अर्च्चना करते हैं, रासोपक्रम की सभा में गोपीगण, निज वक्षोज समूह में अर्पित स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण

निर्वचनीयमाधुर्य्यंक-प्रकृष्टं पदारविन्दं न्यस्तम्, तेन स्वयमर्पितं परिरभ्य तापं साक्षात्तद-प्राप्तिहेतुकमाधिं जहुः, तत्तु योगेश्वरैर्भक्तियोगप्रवीणैः श्रीशुकादिभिरप्यात्मनि मनस्येवार्चितम्, (भा० १०।१६।३६) "यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपः" इत्युक्तदिशा श्रियापि यत् प्राप्तुं मनस्येवार्चितम्, तच्च सदैवानादित एव,न तु कदाचिदपि साक्षात्प्राप्तम्,-तदश्रवणादिति भावः।

१०७। एवं तासामेव साक्षान्नमस्कारे कृतचित्ततया तथाविधं गायन्नेवासौ पुनरपि

---

के प्रपदारविन्द को आलिङ्गन करके सन्ताप परित्याग किये थे।

श्लोक की व्याख्या—रास गोष्ठी में परम माधुर्य्यसार भगवत्ता का प्रकाशक भगवान् श्रीकृष्ण के अनिर्वचनीय माधुर्य्य मण्डित पदारविन्द न्यस्त होने से अर्थात् श्रीकृष्ण कर्त्तृक गोपीगण के वक्षोज समूह में अर्पित होने से, वृजदेवी गण उसको आलिङ्गन करके ताप विदूरित किये थे-अर्थात् साक्षात् सम्बन्ध में श्रीकृष्ण की अप्राप्ति हेतु जो मनः पीड़ा हुई थी--उस को दूर किये थे। उस चरण कमल की अर्च्चना योगेश्वर--भक्ति योगमें प्रवीण श्रीशुकदेव प्रभृति--आत्मा में--अर्थात् मनमें ही किये थे। यह अर्च्चना अनादि काल से सर्वदा ही करते आरहे हैं। किन्तु कभी भी साक्षात् सम्बन्ध में प्राप्त करने में सक्षम नहीं हुए हैं। कारण, उस चरण को लक्ष्मी भी कभी प्राप्त किये हैं, इस प्रकार संवाद कहीं नहीं है, भा० १०।१६।३६ में उक्त है "यद् वाञ्छया श्रीर्ललना चरत्तपः" श्रीलक्ष्मी ने भी उस चरण की अर्च्चना मन से ही की है।

उक्त श्लोक में वृज सुन्दरी वृन्द का कृष्ण सङ्गम सुख वर्णित हुआ है, रासोत्सव के उपक्रम में श्रीशुकादि परम भागवत शुकादि एवं लक्ष्मी का वाञ्छित अथच अलभ्य सुख को उन्होंने प्राप्त किया है। वह सुख है—भगवान् श्रीकृष्ण का प्रकृष्ट चरण कमल का स्पर्श। इस समय श्रीकृष्ण परम माधुर्य्य सार भगवत्ता को प्रकट किये थे। तज्जन्य उक्त श्लोक में कहा गया है—भगवान् कृष्ण। माधुर्य्य--है---स्वभाव, गुण, रूप, वयस, लीला, एवं सम्बन्ध विशेष की मनोहरता। उस समय उन सबों की मनोहरता की परावधि प्रकटित हुई थी। उस का वर्णन--भागवत के "तासामाविर्भूत्--त्रैलोक्य लक्ष्म्येक पदं वपुर्दधत्" श्लोक में हैं। जिस समय श्रीकृष्ण – वृज ललनावृन्द के स्तनमण्डल में चरणार्पण किये थे, उस समय उन्होंने इस माधुर्य्य का सम्यक् आस्वादन को प्राप्त किया। तज्जन्य ही सन्दर्भकारने कहा है—"तदनिर्वचनीयं माधुर्य्यं प्रकृष्टं पदारविन्दं" उस अनिर्वचनीय माधुर्य्य प्रकृष्ट पदारविन्द" इस रीति से माधुर्य्य को ही चरण कमल रूप में वर्णन किया है। चरण कमल का सर्वोत्तम आविर्भाव ज्ञापन हेतु श्रीउद्धव पदार विन्द पद में प्र उपसर्ग योग किये है। प्र—प्रकृष्ट-सर्वोत्तम आविर्भाव। श्रीचरण कमलमें उक्त माधुर्य्य की पूर्णाभिव्यक्ति है। यह है—भक्त की अनुभूति का विषय--भाषा के द्वारा व्यक्त करने का विषय नहीं है।

स्वयं श्रीकृष्ण ही वृज ललना वृन्दके स्तनमण्डल में चरणार्पण किये थे। किन्तु बल पूर्वक गोपिकाओंने स्थापन नहीं किया था। उस चरण कमल की अर्च्चना ब्रह्मादि देवगण, शुकादि महाभागवत गण गर्व वैकुण्ठस्थ रमा---सभी व्यक्ति मनमन में ही करते रहते हैं, इस रीति से प्राप्त करने की बात तो दूर है--साक्षात् सम्बन्ध में अर्च्चन करने का सौभाग्य भी उन सबोंने प्राप्त नहीं किया है। इस से व्रज सुन्दरीगण के प्रति जो श्रीकृष्ण का जो अनिर्वचनीय प्रसाद है—अनायास बोध होता है। रासोत्सव के उपक्रम में ही इस प्रकार अन्य सब का अलभ्य लाभ उन सब को हुआ था। उन सब को अन्यदुःख भी नहीं था, केवल—था साक्षात् सम्बन्ध में श्रीकृष्ण अप्राप्ति हेतु मनोदुःख। उस का भी अवसान हुआ। तदनन्तर हुआ--आनन्द का रास। वृजदेवी वृन्दके आनन्द से विश्वस्तम्भित हुआ था, तज्जन्य ही ब्रह्मरात्रमें रासस्थिति हुई।१०६।

१०७। व्रजदेवीगण का परमोत्कर्ष कीर्त्तन करके उन सब को साक्षात् रूपसे नमस्कार करना ही

महामहिम-स्फूर्त्तेरतिदैन्यभर-सङ्कुचिततया तत्राप्यात्मनोऽनधिकारितां मन्यमानस्तत्-पादरेणुमेव नमस्कुर्व्वंस्तत्रापि दैन्येन तदेकवर्गसम्बन्धात् साधारणव्रजस्त्रीणामेव नमस्करोति, (भा० १०।४७।६३)—

(१०७) "वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥"२६२॥

उत्तरार्द्धेन तादृशीनामप्यासां साक्षादेव पादरेणुं वन्दे, तदेतदप्यहो अस्माकं भाग्यमस्तीत्येतदपि

---

कर्त्तव्य है, उद्धव यह स्थिर किये थे। किन्तु उसी समय उन सब की महिमा स्फुरित हो गई। तज्जन्य अतिशय दैन्य के सहित अतीव सङ्कुचित होकर साक्षात् प्रणाम करने में अपने को अनधिकारी पाये थे। उस समय उन्होंने केवल व्रजाङ्गना गण की पादरेणु को ही नमस्कार करने की इच्छा की। उस में भी दैन्य वशतः व्रजाङ्गना गण के सजातीय सम्बन्ध हेतु साधारण व्रजस्त्रीगण को ही प्रणाम उन्होंने किया। (भा० १०।४७।६३)

(१०७) "वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥"२६२॥

टीका—एवं महत्त्वं प्रतिपाद्य नमस्करोति वन्द इति।

'नन्द व्रजस्थित स्त्रीगण की पादरेणु की वन्दना वारम्बार करता हूँ, जिनका हरिकथागान त्रिभुवन को पवित्र करता रहता है।

श्लोकार्थ—श्लोक के शेषार्द्ध में उक्त है—"यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्" जिनका हरि कथागान से त्रिभुवन पवित्र होते हैं, इस प्रकार व्रजरमणीवृन्द की चरणरेणु की साक्षात् भाव से ही वन्दना करता हूँ। अहो! हमारा इस प्रकार सौभाग्य ही है, यह भी अत्यन्त आश्चर्य कर है। यही उक्त श्लोक का तात्पर्य्य है।

अभिप्राय यह है—उद्धव—प्रथम श्रीकृष्ण प्रेयसी गण को प्रणाम करने की इच्छा किये थे। दैन्य वशतः उससे विरत होकर उनकी चरण धूलि को प्रणाम करने का सङ्कल्प किया था। चरण रेणु की महिमा का स्मरण करके सङ्कोच हेतु उससे भी निवृत्त होकर उनकी सजातीया अन्य व्रजरमणी वृन्द की चरणरेणु की वन्दना किये थे। उनका मनोभाव यह था—व्रजरमणी गण के मध्य में कृष्ण प्रेयसी गोपीगण आविर्भूत होकर उन सब को भी महामहिमान्वित किये हैं, ये सब उन व्रजदेवी गणकी सजातीया होने के कारण वन्दनीया हैं। इस प्रकार उद्धव साधारण रमणी गण की चरण धूलि की वन्दना करके उद्धव उनकी महिमा कीर्त्तन किये थे—"यासां हरि कथोद् गीतं पुनाति भुवनत्रयम्। जिनकी हरि कथा---त्रिभुवन को पवित्र करती है। श्लोक के शेषार्द्ध का तात्पर्य है—उद्धव व्रज की साधारण रमणीगण की चरण धूलि की वन्दना साक्षाद् भाव से करके अपने को कृत कृतार्थ माने थे, उस कृतार्थता बोध इस प्रकार है—जो व्रज देवी गण की सजातीया हैं, एवं जो हरि कथा कीर्त्तन करके ऊर्द्ध्व--मध्य--अधः त्रिलोक को पवित्र करते हैं, उनकी चरण रेणु की वन्दना कर सका, यही परम सौभाग्य है।

जो उद्धव,—व्रजसुन्दरीगण का उत्कर्ष वर्णन किये हैं—उनका वैशिष्ट्य प्रदर्शन पूर्वक उस उत्कर्षख्याति का गुरुत्व स्थापन करते हैं।

महदद्भुतमिति भावः । अत्रैतदुक्तं भवति—

"एते हि यादवाः सर्वे मद्गणा एव भाविनि । सर्वदा मत्प्रिया देवि मत्तुल्यगुणशालिनः ।।"२९२।।

इति पाद्म-कार्त्तिक-माहात्म्यदृष्ट-श्रीभगवद्वाक्यानुसारेण-(भा० १०।९०।४६) 'शय्यासनाटनालाप' इत्याद्यनुसारेण च यादवा एव तावत् स्वयंभगवतः श्रीकृष्णदेवस्य परमप्रेष्ठाः। अतः प्रादुर्भावान्तरभक्तास्तु स्वतो दूरत एव स्थिताः ।

अथ भक्तान्तरेषु यादवेष्वपि (भा० ११।१६।२९) "त्वन्तु भागवतेष्वहम्" (भा० ११।११।४९) "त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा" (भा० ३।४।३१) "नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनः" (भा० ११।१४।१५) "न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्" इत्यादिकासकृच्छ्रीकृष्णवाक्यानुसाराद्भक्त्यंशेन तु सर्वतोऽप्युद्धव एव श्रेयान्, तस्य तु श्रीव्रजदेवीष्वेवैवं दैन्यवचनम्, न जातु महिषीष्वपीति जातान्धस्यापि चाक्षुषमेवेदं तासां यशोराकाचन्द्रमःसौन्दर्य्यमिति ।। श्रीमदुद्धवः ।।

---

"एते हि यादवाः सर्वे मद्गणा एव भाविनि ।
सर्वदा मत्प्रिया देवि मत्तुल्यगुणशालिनः ।।"२९३।।

इस प्रकरण में कहा जा सकता कि—"हे भाविनि ! ये यादवगण मेरा निजजन हैं, हे देवि ! ये सब सर्वदा मेरा प्रिय हैं, एवं मेरे समान गुणशाली हैं। पद्म पुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में श्रीसत्यभामा के प्रति श्रीकृष्ण का यह वाक्य देखने में आता है, इस के अनुसार एवं भा० १०।९०।४६ में वर्णित है—

"शय्यासनाटनालाप क्रीड़ास्नानाशनादिषु न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयकृष्णचेतस"

शय्या, आसन, भ्रमण, आलाप स्नान एवं भोजनादि में नियत कृष्णगत चित्त होकर अपना अनुसन्धान यादवगण रख नहीं पाते हैं। भागवतीय पद्य के अनुसार यादवगण ही स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के परम श्रेष्ठ हैं। अतः श्रीभगवान् के श्रीराम- नृसिंह प्रभृति अन्य प्रादुर्भाव के भक्तगणका स्थान-इस प्रसङ्गमें विदुरवर्त्ती है । अन्य भक्त गणमें-यहाँतक कि—यादवगणों के मध्य में भी भा० ११।१६।२९ में श्रीकृष्ण कहे हैं—

"वासुदेवो भगवतां त्वन्तु भागवतेष्वहं किंपुरुषाणां हनुमान् विद्याध्राणांसुदर्शनः"

भगवान् वृन्द के मध्य में मैं वासुदेव हूँ । भागवत गणके मध्य में तुम हूँ, किंपुरुष गणके मध्य में हनुमान् एवं विद्याधर गणके मध्य में सुदर्शन हूँ । भा० ११।११।४९ मैं श्रीकृष्ण कहे हैं—त्वं मे भृत्य सुहृत सखा" तुम मेरा भृत्य, सुहृत् एवं सखा हो । भा० ३।४।३१ में उक्त है—

"नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद् गुणैर्नार्दितः प्रभुः ।
अतो मद् वयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु ।।"

उद्धव मेरी अपेक्षा किसी भी अंश में न्यून नहीं होता है । कारण— विषय के द्वारा इसको क्षोभ नहीं होता है। अतएव यह व्यक्ति लोकों को मद् विषयक ज्ञान ग्रहण कराने के निमित्त इस जगत् में अवस्थान करे । भा० ११।१४।१५ में उक्त है—

"न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्" आप जिस प्रकार प्रिय हैं, उस प्रकार प्रिय-- सङ्कर्षण, लक्ष्मी—यहाँतक आत्मा भी उस प्रकार प्रिय नहीं है। श्रीकृष्ण के विविध वाक्यानुसार भक्तंचश में श्रीउद्धव ही सर्वश्रेष्ठ हैं । उद्धव का व्रजदेवी गण के सम्बन्ध में ही इस प्रकार दैन्य वचन है, आप जिस द्वारका के प्रिय परिकर हैं,उस द्वारका के महिषी गणके सम्बन्धमें वैसा भी नहीं है । इसमें जन्मान्धको चाक्षुष

१०८। तत्र स्वेभ्यः षोड़शसहस्र-संख्याभ्यः श्रीयदुदेवस्य पत्नीभ्यस्तथाष्टभ्यः पट्टमहिषीभ्यश्च तासां माहात्म्यं वदन्त्यः परमकाष्ठापन्नतया श्रीराधादेव्या आहुः (भा० १०।८३।४१-४३)—

(१०८) "न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भोज्यमप्युत ।
वैराज्यं पारमेष्ठ्यंच वा आनन्त्यं वा हरेः पदम् ॥२६४॥
कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः ।
कुचकुङ्कुम-गन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढ़ुं गदाभृतः ॥२६५॥
व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति पुलिन्द्यस्तृण-वीरुधः ।
गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्शं महात्मनः ॥"२६६॥

हे साध्वि ! साम्राज्यादिकं न कामयामहे । तत्र साम्राज्यं सार्वभौमं पदम्, स्वाराज्यमैन्द्रं पदम्, भोज्यं तदुभयभोगभाक्त्वम्,—भुनक्तीति भुक् तस्य भाव इति, विविधं राजत इति विराट्, तस्य भावो वैराज्यम्,—अणिमादिसिद्धिभाक्त्वमित्यर्थः, पारमेष्ठ्यं ब्रह्मपदम्, आनन्त्यं (तै० २।८।२) "ये ते शतम्" इत्यादिश्रुति-रीत्या मनुष्यानन्दमारभ्य शतशत-गुणितत्वेन

---

प्रत्यक्ष के समान उन का यशः पूर्ण शशधर का सौन्दर्य्य सुस्पष्ट व्यक्त हुआ ॥ श्रीउद्धव कहे थे ॥१०७॥

१०८। श्रीव्रजदेवी गणके उत्कर्ष प्रसङ्ग में श्रीयदुदेव कृष्ण की षोड़श संख्यक पत्नी—अपने से एवं अष्ट पट्टमहिषी से श्रीव्रजसुन्दरी गण का माहात्म्य कहने में प्रवृत्त होकर श्रीराधा देवी का पराकाष्ठा प्राप्त माहात्म्य की कथा द्रौपदी के निकट कही थीं। (भा० १०।८३।४१--४३)

(१०८) "न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भोज्यमप्युत ।
वैराज्यं पारमेष्ठ्यंच वा आनन्त्यं वा हरेः पदम् ॥२६४॥
कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः ।
कुचकुङ्कुम--गन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढ़ुं गदाभृतः ॥२६५॥
व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति पुलिन्द्यस्तृण-वीरुध ।
गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्शं महात्मनः ॥"२६६॥

हे साध्वि ! हम सब साम्राज्य, स्वाराज्य, वैराग्य, पारमेष्ठ्य, आनन्त्य, किंवा हरि पद प्राप्ति की कामना नहीं करते हैं, श्रीलक्ष्मी के कुचकुङ्कुम गन्धाढ्य गदाधर की श्रीमत् पादरजः को मस्तकमें वहन करने की कामना करते हैं। व्रजस्त्री गण, पुलिन्दी गण, तृणलता एवं गोचारण समय में गोपगण महात्मा का उस पादस्पर्श की वाञ्छा करते हैं।

श्लोक की व्याख्या—हे साध्वि ! द्रौपदी के प्रति सम्बोधन है। हम सब—षोड़शसहस्र कृष्णमहिषी, साम्राज्य की कामना नहीं करते हैं, उस में--साम्राज्यादि में--साम्राज्य सार्वभौमादि समस्त पृथिवी का आधिपत्य, स्वाराज्य-इन्द्र पद। भोज्य---साम्राज्य एवं इन्द्रपद उभय भावत्व, अर्थात् साम्राज्य एवं इन्द्रपद का उपभोग्य रूप में संयोग। वैराज्य- विविध रूप में विराजित है—इस अर्थ में विराट्, उसका भाव-वैराज्य अणिमादि सिद्धि युक्त होना। पारमेष्ठ्यपद--ब्रह्मपद। आनन्त्य (तैत्तिरीयक उपनिषद्--२।८।२) "ये ते शतम्"

प्राजापत्यस्य गणनायाः परां काष्ठां दर्शयित्वा परब्रह्मणि तु (तै० २।४।१) "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इत्यनेन यदानन्दस्यानन्त्यं दर्शितम्, तदपीत्यर्थः। किं बहुना ? हरेः श्रीपतेः पदं सामीप्यादिकमपि यत्, तदेतदपि न कामयामहे,-नाधीनं कर्त्तुमिच्छाम इत्यर्थः। तर्हि किमधिकं लब्धुं कामयध्वे ? तत्राहुः,-एतस्यास्मत्पतित्वेन सर्व विज्ञातस्य गदाभृतः श्रीमत्-पादरज एव तावन्मूर्ध्ना वोढ़ुं कामयामहे, तत्रापि यत् श्रियः कुचकुङ्कुमगन्धेनाढ्यं तद्गन्धेन प्राप्तसम्पद्विशेषम्, तत् पुनराधिकं कामयामह इत्यर्थः। ननु श्रीपतेरेव पदं श्रीकुङ्कुमगन्धाढ्यम्, तत्सामीप्यादि-त्यागात्तत्तु भवतीभिस्त्यक्तवत्य एव ? यदि च श्रीरत्र रुक्मिण्यभिप्रेयते, तर्हि तत्तु भवतीनां प्राप्तमेव। तस्मात् तत्तद्विलक्षणाया एव श्रियः कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं तत् स्यादिति गम्यते, ततस्तदवबोधनाय पुनर्विशिष्यताम् ? तत्राहुः—व्रजस्त्रिय इति, (भा० १०।२१।१७) "पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगाय" इत्यादि-स्ववाक्याद्यनुसारेण व्रजस्त्र्यादयो

---

उस के शत गुण-इस श्रुति के अनुसार मनुष्यानन्द से दशवार शतगुणित रूप में प्राजापत्यानन्द में गणना की पराकाष्ठा को देखा कर (तै० २।४।१ "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" जिस से वाक्य निवृत होता है—इत्यादि द्वारा परम ब्रह्म में जो आनन्द का आनन्त्य प्रदर्शित हुआ है-वह अनन्त आनन्द है। इस सम्बन्ध में अधिक कहना निष्प्रयोजन है। श्रीहरि के— श्रीपति के, नारायण के पद--सामीप्यादि जो कुछ है— उसकी कामना भी नहीं करते हैं। उन सब को आपत्त में करना नहीं चाहते हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि--ऐसा होने पर इससे अधिक क्या है—जिस की कामना आप सब करते हैं ? उत्तर में करते हैं— यह गदाधर हैं, जिन को सभी व्यक्ति, हमारे पति हैं, इस प्रकार जानते हैं, केवल उनकी ही चरण रजः को मस्तक में धारण करने की कामना है। उस में भी जो चरण रजः श्रीलक्ष्मी के कुच कुङ्कुम गन्ध द्वारा आढ्य है— उस की गन्ध से सम्पद् विशेष को प्राप्त किया है, अधिक रूप से उसकी कामना ही हम सब करते हैं। कहा जा सकता है कि— श्रीपति--नारायण के पद ही श्रीकुच कुङ्कुम गन्धाढ्य है, तब क्या वही तुम सब के वाञ्छनीय है ? संशय होता है, अतः उत्तम रूप से सुस्पष्ट रूप से कहो। उस से उन्होंने कहा--व्रजस्त्रीगण-इत्यादि। भा० १०।२१।१७ में उक्त है---

"पूर्णाः पुलिन्दयः उरगाय पदाब्जराग श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन।
तद् दर्शन स्मररुजस्तृण रुषितेन लिम्पन्त्य आनन्दकुचेषु जहुस्तदाधिम्॥"

व्रजसुन्दरीयोंने कहीं---प्रेयसी के स्तनानुलिप्त जो श्रीकुङ्कुम श्रीकृष्ण के चरणों में संलग्न था, वृन्दावन में विचरण काल में वह तृण संलग्न हुआ था, उस को देखकर पुलिन्दीरमणी गण का कामोद्रेक हुआ था, उन्होंने मुख एवं कुच में उस कुङ्कुम को लेपन कर कामक्रीड़ा को विदूरित किया था।

व्रजदेवी गणकी निजोक्ति के अनुसार व्रजस्त्री प्रभृति जिसकी वाञ्छा करते हैं, अर्थात् वाञ्छा किये थे, हम सब की वाञ्छा भी वही है। वाञ्छन्ति--वाञ्छा करते हैं, क्रिया में वर्त्तमान काल प्रयोग के द्वारा उस वाञ्छा का अविच्छेद की उत्प्रेक्षा हुई हैं। यहाँ पर अपने में उस प्रकार पद रजः प्राप्ति की योग्यता है, इस को प्रकाश करने के निमित्त पुलिन्द व्याध कन्या प्रभृति का उल्लेख किया गया है। अर्थात् व्रजके पुलिन्द गण, तृणलतासमूह जब उस पद रजः की वाञ्छा करते हैं, तब इन सब के मध्य में कोई एक होकर हम सब उसको प्राप्त करे यही हम सब महिषी गण का अभिलाष है। तृणलता— दूर्वा प्रभृति।

यद्वाञ्छन्ति,—ववाञ्छुरित्यर्थः, वर्त्तमान-प्रयोगेण तत्तदविच्छेदउ त्प्रेक्ष्यते । अत्र पुलिन्द्यादि-निर्देशस्तु स्वेषामपि तत्प्राप्तियोग्यताविवक्षया । तृण-विरुधो दूर्वाद्याः, आसां तादृगनुभवश्च तत्कुचकुङ्कुमसौरभ-वासितत्वाविच्छिन्न-तत्पादप्रभावादेवेति भावः । गावो गाः, चारयतश्चारयन्तः, गोपा इत्यन्ते निर्देशस्तु केषाञ्चित् प्रियनर्म्मसखादीनां तदनुमोदकारित्वेऽपि पुरुषत्वात्तत्रायोग्यताविवक्षया । अयं भावः—श्रीत्वेन प्रसिद्धायाः श्रियस्तत्र कामनैव श्रूयते, न तु सङ्गतिः,—(भा० १०।१६।३६) "यद्वाञ्छया श्रीः" इति नागपत्नीनाम्, (भा० १०।४७।६२) "या वै श्रियार्चितम्" इत्युद्धवस्याप्युक्तेः, न च रुक्मिणीत्वेन प्रसिद्धायाः श्रियस्तत्र सङ्गतिः,-कालदेशयोरन्यतमत्वात्, न च व्रजस्त्रीणां श्री-सम्बन्ध-लालसा युक्ता,—(भा० १०।४७।६०) "नायं श्रियो"-इत्यादिना ततोऽपि परमाधिक्यश्रवणात् । तस्मात् "रुक्मिणी द्वारवत्यान्तु राधा वृन्दावने वने" इति मात्स्ये रुक्मिण्या सह पठिता, (ब्र० सू० १।१।३०) "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" इति न्याय-रीत्या महेन्द्रेण परमेश्वर इव दुर्गयाप्यहंग्रहोपासना- शास्त्र-

---

तृणलता—उस कुङ्कुम का उत्कर्ष अनुभव करके उसको वाञ्छा कर सकती है यह तो असम्भव है । उन सब का तादृश अनुभव—श्रीकेकुचकुङ्कुम की सौरभ के द्वारा जो अविरत सुगन्धित है, उस चरण के प्रभाव से ही हुआ है, ऐसा समझना चाहिये । श्लोक में 'गावः' एवं 'चारयतः' पदद्वय—आर्ष प्रयोग हैं । गावः--गाः, चारयतः—चारयन्तः । अर्थात् जो गोचराते हैं--वे गोपगण, श्रीकृष्ण के प्रियनर्म्म सखादि किसी किसी गोप का प्रेयसी सह विहार में अनुमोदन होने पर भी वे सब पुरुष होने के कारण, रमणी के समान उस रहो लीला के सम्बन्ध में लालसा का अयोग्यत्व हेतु अन्तिम में गोप गण का निर्द्देश किया गया है ।

तात्पर्य्य यह है कि—श्रीमान से जिनकी प्रसिद्धि है—उन श्रीकी श्रीव्रजेन्द्रनन्दन के चरण स्पर्श विषय में कामना ही सुनने में आती है । कभी भी उन्होंने पाया है—इस प्रकार सुनने में नहीं आता है ]। 'यद्वाञ्छया श्रीर्ललना चरत्तपः" जिस की वाञ्छा करके लक्ष्मीने तपस्या की । नागपत्नी वाक्य से एवं 'श्री जिस की अर्च्चना मन ही मन करती रहती है" इत्यादि उद्धव वाक्य से अप्राप्ति का संवाद ही उपलब्ध होता है । श्रीरुक्मिणी का प्रसङ्ग भी सङ्गति का कारण नहीं है, कारण, रुक्मिणी के सहित श्रीकृष्ण का विहार काल भिन्न है । अर्थात् देश-वृन्दावन, काल-प्रकट लीलामय काल । जिस समय श्रीकृष्ण वृन्दावनमें प्रकट विहार कर रहे थे, उस समय व्रजस्त्री प्रभृति की उस प्रकार वाञ्छा होना सम्भव है । वृन्दावनीय प्रकट लीला के परवर्त्ती समय में श्रीकृष्ण,—द्वारका में रुक्मिणी के सहित प्रकट विहार किये थे । उस समय उन सब की उस प्रकार वाञ्छा कैसे हो सकती है ? व्रजस्त्री गण की रुक्मिणी के सहित सम्बन्ध लालसा युक्ति युक्त नहीं है । कारण, "नायं श्रियोऽङ्ग" इत्यादि श्लोक में रुक्मिणी की अपेक्षा उन सब की परमाधिक्य वर्णित हुआ है । 'रुक्मिणी द्वारावत्यान्तु राधा वृन्दावने वने" द्वारावती में रुक्मिणी एवं वृन्दावन में राधा मत्स्य पुराण के वचनानुसार ब्रह्म सूत्र १।१।३० "शास्त्रदृष्टयातूपदेशो वामदेववत्"

"अंशांशास्ते देव मरीच्यादय एते ब्रह्मेन्द्राद्या देवगणारुद्रपुरोगाः ।
क्रीड़ाभाण्डं विश्वमिदं यस्य विभूमं स्तस्मै नित्यं नाथ नमस्ते करवाम । भा० ४।७।४३

इस वेदान्त सूत्र की रीति से इन्द्र के सहित परमेश्वर की अभेदोक्ति के समान अहंग्रह उपासना, शास्त्र दृष्टिसे मत्स्य पुराणमें रुक्मिणी के सहित पठिता श्रीराधा, दुर्गा कर्त्तृक निजाभेद से उपदिष्टा हुई है ।

दृष्टया स्वाभेदेनोपदिष्टा, श्रीराधा तु सर्व्वतः पूर्णा तल्लक्ष्मीः, तथा "देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका" इत्यादि-वृहद्गौतमीयानुसारेण, "राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका" इत्यादि-ऋक्परिशिष्टानुसारेण च तासु राधात्वेन प्रसिद्धा सर्व्वतो विलक्षणा या श्रीर्विराजते, तामुद्दिश्यैव तासां तदिदं वाक्यम्, यथा च,–(भा० १०।३०।२८) "अनयाराधितो नूनं भगवान्"

---

मत्स्य पुराण का श्लोक इस प्रकार है—

"वाराणस्यां विशालाक्षी विमला पुरुषोत्तमे ।
रुक्मिणी द्वारवत्याञ्च राधा वृन्दावने वने ।।

वाराणसी में विशालाक्षी, पुरुषोत्तम में विमला, द्वारका में रुक्मिणी एवं वृन्दावन में राधा हैं। विशालाक्षी एवं विमला दुर्गा हैं, इस श्लोक में धाम भेद से एक ही शक्ति, उक्त विभिन्न नाम से अभिहिता है। श्रीराधा एवं रुक्मिणी कृष्ण प्रेयसी हैं, उनकी ही स्वरूप शक्ति हैं। तज्जन्य तत्त्वतः उन में ऐक्य सम्भव है। किन्तु दुर्गा—माया शक्ति की अधिष्ठात्री देवी हैं एवं चित् स्वरूपा हैं। उनके सहित श्रीराधा की अभेदोक्ति कैसे सङ्गति होगी ? यहाँपर उसको दर्शाया गया है—"शास्त्र दृष्टया तूपदेशो वामदेववत्" इस सूत्र में मीमांसित हुआ है कि—श्रुति में इन्द्र कहे हैं, 'मुझ को जान, मेरी उपासना करो' इत्यादि। इस उपासना वास्तविक इन्द्र की नहीं है। परमात्मा की है। इन्द्रने अपने को ब्रह्मायत्त वृत्तिकता को अवगत होकर उस प्रकार उपदेश दिया है। इस प्रकार दृष्टान्त अन्यत्र भी है।

वृहदारण्यक श्रुति में लिखित है—महर्षि बामदेव ब्रह्मसाक्षात् कार के पश्चात् मान लिये थे कि मैं मनु हूँ। मैं पहले प्रतिष्ठित हूँ। यहाँ वामदेव—स्वकीय वृत्ति के हेतु भूत ब्रह्म निर्द्देश किये हैं। उस समय उनकी अभेद बुद्धि हुई थी, यही उनकी ब्रह्मायत्त वृत्तिकता, इस प्रकार मत्स्य पुराण में भी दुर्गा ने उस रीति से श्रीराधा के सहित निज अभेद उपदेश किया है। उपास्य के सहित उपासक का अभेद मनन ही अहंग्रहोपासना है। श्रीराधा--पराशक्ति हैं, एवं समस्त शक्तियों का परमाश्रय हैं, तज्जन्य दुर्गा उनकी उपासना करती है। उपासना की अवस्था विशेष में वामदेव जिस प्रकार अपने को ब्रह्माभिन्न माने थे, अहंग्रह उपासना में श्रीदुर्गा ने भी राधा के सहित अपना अभेद मनन किया। कारण–श्रीराधा--सर्वतोभावेन पूर्णा महालक्ष्मी है। उसी प्रकार वृहद् गौतमीय तन्त्र वचन के अनुसार "देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका पर देवता" राधिका कृष्णमयी कथित है। ऋक् परिशिष्ट वचन के अनुसार-'राधयामाधवो देवो माधवेनैव राधिका विभ्राजन्ते "राधाके द्वारा माधव माधवके सहित राधिका सर्वतोभावेन दीप्ति शील हैं। इस ऋक् परिशिष्ट वचन के अनुसार गोपी गण के मध्य में राधा नाम्नी सबसे विलक्षणा जो स्त्री विराजिता है, उन को उद्देश्य करके ही महिषी वृन्द का यह वाक्य है। भा० १०।३०।२८ में

"अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः ।।"

निखिल व्रजसुन्दरी गणके मध्य में श्रीराधा का उत्कर्ष वर्णन रास प्रकरण के श्लोकत्रय में है।

श्रीकृष्ण—रासमण्डली से राधा को लेकर अन्तर्हित होने से व्रजसुन्दरीगण श्रीकृष्ण को अन्वेषण करते करते उनके पद चिह्न के सहित श्रीराधा का पद चिह्न को देखकर कही थीं। इस रमणीने अवश्य ही ईश्वर, भगवान् हरि की आराधना करी होगी, कारण, गोविन्द, हम सब को परित्याग करके इस को निर्ज्जन स्थान में ले गये हैं।

इत्यादि, (भा० १०।३०।११) "अप्येणपत्न्युपगतः" इत्यादि द्वयञ्च । ततश्च तासां यथा तत्र स्पृहास्पदता, तथास्माकं चेति । तदेवं तादृशप्रेमस्फूर्त्तिमय-तद्गन्धाढ्यतायाः सम्प्रत्यप्यस्मासु प्रकाशः स्यादिति दर्शितम् । न केवलं तादृशं तद्रज एव वाञ्छन्ति, अपि तु तादृशपादस्पर्शञ्च । ततो वयमपि तं कामयामह इत्यर्थः, यद्वा, तद्रजस एव विशेषणं पादस्पर्शमिति,-तदव्यभिचार-फलत्वादभिन्नमेवेत्यर्थः, एतस्य, तत्र कीदृशस्य ? महान् सर्वत्रत्यादपि स्वभावादुत्तम आत्मा सौन्दर्य्यादिप्रकाशमयः स्वभावो यस्य तादृशस्य,-(भा० १०।३३।६) 'तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान्'

---

"अप्येण पत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रै,
स्तन्वन् दृशां सखिसुनिर्वृ तिमच्युतो वः ।
कान्ताङ्ग सङ्ग कुचकुङ्कुम रञ्जितायाः
कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः ।।"

बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीत पद्मो रामानुज स्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः ।
अन्वीयमान इह व स्तरवः प्रणामं किंवाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः ।।"

। वृजसुन्दरी गण श्रीकृष्ण को अन्वेषण करते करते हरिणी गण को देखकर कही थीं, हे सखि ! हरिणि ! अच्युत- सुन्दर मुख बाहु प्रभृति के द्वारा तुम्हारे आनन्द विस्तार कर प्रिया के संहित यहाँपर आये थे ? कारण, श्रीकृष्ण की कुन्द कुसुम माला, जो कान्ता के अङ्ग सङ्ग हेतु तदीय कुच कुङ्कुम रञ्जित हुई थी, यहाँ उसकी गन्ध मिल रही है । अनन्तर तरुगण को देखकर कही थीं—हे तरुगण ! रामानुज श्रीकृष्ण प्रियतमा के स्कन्ध देश में बाहु अर्पण कर, अपर हस्त में पद्म ग्रहण कर स प्रणयावलोकन से तुलसीस्थमदान्ध अलिकुल के सहित भ्रमण करते करते यहाँ आकर तुम्हारे प्रणाम को क्या अभिनन्दित किये थे ?

वृजदेवी गणके मध्य में सर्वोत्तमताहेतु, श्रीराधा के कुचकुङ्कुम युक्त श्रीकृष्ण पदरजः में उन सब का जिस प्रकार अभिलाष है, हम सब महिषीवृन्द का भी उस में उसी प्रकार अभिलाष है । ऐसा होने पर तादृश स्फूर्त्तिमयी कुचकुङ्कुम गन्धाढ्यता सम्प्रति हम सब के निकट प्रकाशित हो—इस प्रकार आग्रह प्रकाश भी महिषीगणने किया था। वृजदेवी गणने जो केवल तादृश चरण रजः की वाञ्छा ही की थी वैसा नहीं, तादृश-श्रीराधा के कुच कुङ्कुमयुक्त चरण स्पर्श की वाञ्छा भी की थी, तज्जन्य हम सब महिषी गण भी उसकी कामना करती हैं । अथवा उस रजःका विशेषण ही है—पाद स्पर्श । पाद स्पर्श का अव्यभिचारि फल है पादरजः, अर्थात् पाद स्पर्श से ही पादरजः लाभ सम्भव है—तज्जन्य उभय ही अभिन्न हैं ।

अनन्तर 'एतस्यमहात्मनः' 'इस महात्मा का' पद का अर्थ करते हैं, आप किस प्रकार हैं ? महान् हैं, अनन्त ब्रह्माण्ड वैकुण्ठ गोलोक वृन्दावन में जितने व्यक्ति हैं, स्वभावतः उन सब से उत्तम आत्मा है, उस प्रकार सौन्दर्य्यादि प्रकाशमय स्वभाव है जिनका उन महात्मा श्रीकृष्ण का वृजदेवी गण के सहित श्रीकृष्ण का सर्वातिशायी प्रकाश की कथा श्रीशुकदेव कहे हैं। भा० १०।३३।६

"तत्रातिशुशुभे ताभि र्भगवान् देवकीसुतः ।
मध्ये मणीनां हैमानां महामारकतो यथा ।।"

स्वर्ण वर्ण मणि समूह के मध्य में नीलमणि जिस प्रकार अतिशय शोभित है, स्वर्ण कान्ति गोपी

इति श्रीशुकोक्तेः ।। श्रीमहिष्यो द्रौपदीम् ।।

१०९ । अथ तत्रैव श्रीराधादेव्याः, आदिपुराणे—

"त्रैलोक्ये पृथिवी धन्या तत्र वृन्दावनं पुनः । तत्रापि गोपिकाः पार्थ तत्र राधाभिधा मम ।"२९७। इति, पाद्मे कार्त्तिक-माहात्म्ये—

"यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा । सर्व्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभा ।२९८। इति, अतएव तस्या एव प्रेमाधिक्यं वर्णितमाग्नेये वासनाभाष्योद्धृतं वचनम्—

"गोप्यः पप्रच्छुरुषसि कृष्णानुचरमुद्धवम् । हरिलीलाविहारांश्च तत्रैकां राधिकां विना ।।२९९ ।।
राधा तद्भावसंलीना वासनाया विरामिता ।।"३००।। इति,

नवमावस्थाप्राप्तत्वेन प्रश्नादि-वासनाया विरामिता,— तस्यामसमर्थेत्यर्थः । तस्मादनेन

---

मण्डली के मध्य में भी भगवान् देवकी सुत भी उस प्रकार अतिशय शोभित हुये थे।

श्रीमहिषी वृन्द द्रौपदी को कही थीं ।।१०८।।

१०९ । अनन्तर उनसब के मध्य में अर्थात् व्रजसुन्दरी गणके मध्य में ही श्रीराधा का परमोत्कर्ष प्रदर्शित हो रहा है । आदि पुराण में लिखित है—

"त्रैलोक्ये पृथिवी धन्य तत्र वृन्दावनं पुनः । तत्रापि गोपिकाः पार्थ तत्र राधाभिधा मम ।।"२९७।।

हे पार्थ ! तीनों लोकों के मध्य में पृथिवी धन्या है, उस में वृन्दावन धन्य है, वृन्दावन में भी गोपी गण धन्या है, गोपीगण के मध्य में मेरी राधा धन्या है । पद्म पुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में उक्त है—

"यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा ।
सर्व्वगोपीषु सैवैका विष्णोरत्यन्तवल्लभा ।।"२९८।।

राधा विष्णु की जिस प्रकार प्रिया हैं, उस का कुण्ड भी उस प्रकार प्रिय है । अतएव अग्नि पुराण में श्रीराधा का ही प्रेमाधिक्य वर्णित है । वासना भाष्योद्धृत अग्नि पुराण का वचन यह है—

"गोप्यः पप्रच्छुरुषसि कृष्णानुचरमुद्धवम् ।
हरिलीलाविहारांश्च तत्रैकां राधिकां विना ।।२९९
राधा तद्भावसंलीना वासनाया विरामिता ।।३००।।

यहाँपर एकमात्र श्रीराधाभिन्न समस्त गोपी ऊषा काल में कृष्णानुचर उद्धव को हरि की लीला विहार समूह की जिज्ञासा की थी । उस भाव में सम्यक् लय प्राप्त होने के कारण—राधा वासना से विरता रहीं । श्रीकृष्ण विरह में श्रीराधा नवमीदशा प्राप्त हुई थीं, अतः प्रश्नादि वासना से विरता थीं । श्रीराधा श्रीकृष्ण विषयक प्रश्नादि करने में असमर्था थीं । भावार्थ यह है कि—व्रजवासी को सान्त्वना प्रदान हेतु श्रीकृष्ण मथुरा से उद्धव को व्रज में प्रेरण करने पर-उद्धव जब विरह विधुरा व्रज सुन्दरी गणके निकट उपस्थित हुये थे—तब श्रीराधा व्यतीत अन्यान्य गोपी गण उन को श्रीकृष्ण के लीला विहार सम्बन्ध में प्रश्न किये थे । श्रीराधा से प्रश्न करने की बात तो दूर रही प्रश्न का सङ्कल्प करने की सामर्थ्य नहीं थी । कारण, उस समय श्रीराधा, श्रीकृष्ण विरह में मूर्च्छावस्था को प्राप्त कर चुकी थीं । मूर्च्छा वा मोह नवमी दशा है । विप्रलम्भ में अर्थात् विरह में चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनाङ्गता, प्रलाप व्याधि, उन्माद, मोह एवं मृत्यु ये जो दश दशा उपस्थित होती है, यह मोह उस के मध्य में नवम है । जिस समय

सर्व्वव्रजदेवीष्वपि श्रैष्ठ्यादिचिह्नेन श्रीरासविहारे ताभिरेव स्वयम् (भा० १०।३०।२७) "कस्याः पदानि" इत्यादिना वर्णितसौभाग्यातिशया श्रीराधिकैव भवेत्, अतस्तन्नाम्नैव ताः सूचयामासुः (भा० १०।३०।२८)—

(१९०) "अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः ॥" ३०१॥

अनया राधया भगवान् राधितः साधितो वशीकृत इत्यर्थः। नूनमिति वितर्के, यतश्च राधयतीति

---

उद्धव व्रजसुन्दरी गणके निकट उपस्थित हुये थे, उस समय श्रीराधा व्यतीत अपर किसी की मोहावस्था नहीं हुई थी। तज्जन्य वे सब प्रश्न करने में सक्षम थीं। मोह की परवर्त्तिनी मृत्यु दशा में भी प्रश्न करना असम्भव होता है। सुतरां अन्यान्य व्रजसुन्दरी की श्रीराधा से न्यून दशा थी, वह स्थिर होता है। इस से श्रीराधा का प्रेमका परमोत्कर्ष प्रतिपन्न होता है।

सुतरां समस्त वृजसुन्दरी के मध्य में श्रीराधा का श्रेष्ठत्वादि के चिह्न द्वारा श्रीराधा विहार में गोपिका गणोंने राधा की प्रशंसा की है। (भा० १०।३०।२७)

"कस्याः पदानि चैतानि यातायानन्दसूनुना।
असंन्यस्तप्रकोष्ठायाः करेणोः करिणायथा ॥"

टीका—तेनांसे न्यस्तः प्रकोष्ठो यस्याः। करेणोर्हस्तिन्याः॥

यह सब किस के पदचिह्न हैं? ये सब वाक्य के द्वारा जिन का परम सौभाग्य वर्णन किया गया है, वह श्रीराधा का भिन्न अपर कोई नहीं है। अतएव गोपी गणोंने श्रीराधा नाम के द्वारा ही उनका परम सौभाग्य को सूचित किया है।

(१०९) "अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः ॥" ३०१॥

टीका—रहः एकान्त स्थानम्।

इन के द्वारा ही क्या भगवान् ईश्वर हरि आराधित हुये हैं? कारण, हम सब को छोड़कर गोविन्द-इनको निर्जन स्थान में ले गये हैं।

श्लोक की व्याख्या—इनके द्वारा—श्रीराधा के द्वारा भगवान् आराधित-साधित-वशीकृत हैं। श्लोक में 'नूनं' पद वितर्क अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उस से यह अर्थ निष्पन्न होता है कि—तब क्या ईश्वर भगवान् हरि आराधित हुए हैं? उन्होंने निश्चय ही श्रीनारायण की आराधना करके वशीभूत किया है। इस प्रकार तात्पर्य्य प्रतीत होता है। कारण, आराधना करना अर्थ में—जिनको श्रीकृष्ण निर्जन स्थान में ले गये हैं। उन का राधा नाम है, इनसे श्रीकृष्ण वशीभूत हुये हैं, इस प्रकार कहने का हेतु है, हम सब को छोड़कर—इत्यादि वाक्य हैं, गोविन्द—गोकुल के अधीश्वर—वृजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण हैं।

तात्पर्य्य यह है—रासस्थल से श्रीकृष्ण अन्तर्हित होने से श्रीवृजसुन्दरी गण व्याकुलभाव से उनको अन्वेषण करते करते कुछ ही दूर जाकर देखे थे कि श्रीकृष्ण के पद चिह्न के सहित एक रमणी का पदचिह्न वर्त्तमान है, तब उनके सम्बन्ध में उन्होंने कहा। भगवान् नारायण, हरि—सर्व दुःख हरण कर्त्ता ईश्वर-परम स्वतन्त्र जो हैं, इस रमणीने उनको वशीभूत किया है। श्रीनारायण में वैषम्य नहीं है, आप, सब के आश्रय है। तज्जन्य किसी के प्रति पक्षपात नहीं करते हैं। सर्वदुःख हरण करना ही उनका स्वभाव है, अतः आप

निरुक्त्या तस्या राधेति संज्ञापि जातेति भावः। राधितत्वे हेतुः—यन्न इति। गोविन्दः श्रीगोकुलेन्द्रः ॥ श्रीव्रजदेव्यः ॥

११० । तदेवं तथाभूत–श्रीभगवत्प्रीति-माधुरीषु श्रीराधयास्तन्माधुरी-सर्व्वोद्ध्वमधिरूढ़ेत्येतावत्तत्-परावस्थास्थापनापर्य्यन्तेन सन्दर्भेण तत्प्रीतिजाति-तारतम्यं दर्शितम् । एषा च तत्प्रीति लौकिककाव्यविदां रत्यादिवत् कारण-कार्य्यसहार्यैर्मिलित्वा रसावस्थामाप्नुवती स्वयं स्थायी भाव उच्यते । कारणाद्याश्च क्रमेण विभावानुभाव-व्यभिचारिण उच्यन्ते, तत्र

---

एक को सुखी करने के निमित्त अपर को दुःख देख नहीं सकते हैं, और आप परम स्वतन्त्र होने के कारण किसी की अपेक्षा नहीं करते हैं, इस प्रकार श्रीकृष्ण हैं, किन्तु इस रमणी के समीप में अपना स्वभाव को विसर्ज्जन दिये हैं। कार्य्य को देखकर प्रतीत होता है कि उनका स्वातन्त्र्य उस रमणी के निकट है ही नहीं, आप रमणी से वशीभूत होकर हम सब को दुःख समुद्र में निमज्जित करके उस रमणी को निर्जन में ले जाकर विहार कर रहे हैं। हम सब को परित्याग करना—पक्षपात दोष—केवल उनको ले जाने से सर्व दुःख हरण का अभाव एवं परापेक्षा दोष भी सूचित हो रहा हैं। श्रीकृष्ण के पक्ष में स्वेच्छा से निज स्वभाव का विपर्य्यय करना असम्भव है, उस रमणी के गुण से वशीभूत होकर ही उन्होंने इस प्रकार किया हैं। उन रमणी को उन्होंने पहचान लिया है, वह श्रीराधा हैं। नाम के सहित कार्य्य का सामञ्जस्य विद्यमान है। तज्जन्य उन्होंने कहा इन के द्वारा श्रीकृष्ण आराधित हुये हैं, भङ्गी पूर्वक राधा नाम का भी उल्लेख उन्होंने कर दिया है ।

व्रजसुन्दरी वृन्द के मध्य में सभी परम प्रेमवती हैं, इसका कथन पूर्व ग्रन्थ में हुआ है। उन सब को परित्याग करके एकमात्र राधा को लेकर अन्तर्धान करने के कारण गोपीगण से उनका परमोत्कर्ष प्रतीत होता है। श्रीव्रजदेवी वृन्द बोली थीं ॥१०९॥

११० । तादृश श्रीभगवत् प्रीतिमाधुरी समूह में अर्थात् श्रीभगवान् के माधुर्य्यानुभव के तारतम्यानुसार परिकर गण में प्रीति माधुरी के अनेक तारतम्य के मध्य में—श्रीराधा की प्रीति माधुरी सर्वोपरि स्थान में अधिष्ठित है। अर्थात् श्रीराधा की प्रीति माधुरी सर्वापेक्षा अधिक है। इस अनुच्छेद पर्य्यन्त श्रीराधा प्रेम में ही प्रीति की परावस्था स्थापनावधि जो सन्दर्भ ग्रन्थ है, उस के द्वारा प्रीति जाति का तारतम्य प्रदर्शित हुआ है।

अर्थात् ९७ अनुच्छेद में लिखित है—"अथपरिकराणामपि भावेषु तारतम्यं विवेचनीयम् येषां भगवत्तैवोपजीव्या।" अनन्तर परिकर वृन्द की भाव तारतम्य की विवेचना की जा सकती है। इस प्रकार लिखन से आरम्भ कर १०९ अनुच्छेद में श्रीराधा की प्रीति माधुरी का परमोत्कर्ष स्थापन पर्य्यन्त जो सन्दर्भ—अर्थात् प्रबन्ध है, तद् द्वारा प्रीति जाति का अर्थात् जितनी प्रकार की प्रीति हो सकती है—सब का—तारतम्य प्रदर्शित हुआ।

## भगवत् प्रीति की रसावस्था।

यह प्रीति, लौकिक काव्यविद् वृन्दके रत्यादिके समान—कारण, कार्य्य एवं सहाय के सहित मिलित होकर जिस समय रसावस्था को प्राप्त करती है—उस समय यह स्वयं स्थायीभाव कहलाती है। विभाव को कारण, अनुभाव को कार्य्य एवं व्यभिचारी को सहाय कहते हैं। प्रीति रूपता हेतु ही भगवत्

तस्या भावत्वं प्रीतिरूपत्वादेव, स्थायित्वञ्च,—

"विरुद्धै रविरुद्धै र्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः - आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ।।"३०२।।

इति रसशास्त्रीय-लक्षणव्याप्तेः, अन्येषां विभावत्वादिकञ्च तद्विभावनादि-गुणेन दर्शयिष्यमाणत्वात् । ततः कारणादि-स्फूर्त्तिविशेष-व्यक्तस्फूर्त्तिविशेषा तन्मिलिता भगवत्-प्रीतिस्तदीयप्रीतिमयरस उच्यते, भक्तिमयो रसो भक्तिरसः इति च, यथाहुः—"भावा एवाभिसम्पन्नाः प्रयान्ति रसरूपताम्" इति । यत्तु प्राकृतरसिकै रससामग्रीविरहाद्भक्तौ रसत्वं नेष्टम्, तत् खलु प्राकृतदेवादिविषयमेव सम्भवेत् । सामग्री हि रसत्वापत्तौ त्रिविधा,-स्वरूपयोग्यता, परिकरयोग्यता, पुरुषयोग्यता च । तत्र लौकिकेऽपि रसे रत्यादेः स्थायिनः

---

प्रीति का भावत्व है । और स्थायी भाव है—

"विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ।।"३०२।।

विरुद्ध एवं अविरुद्ध भाव के द्वारा जो विच्छेद प्राप्त नहीं होता है । प्रत्युत जो अन्य विरुद्ध एवं अविरुद्ध भाव समूह को आत्मभाव प्राप्त कराता है—वह स्थायी है । जिस प्रकार लवणाकर है । लवणाकर में जो कुछ निपतित होता है, वह लवणमय हो जाता है । उस प्रकार विरुद्ध अविरुद्ध समस्त भाव ही स्थायि भाव में पर्य्य वसित होते हैं । रस शास्त्रोक्त यह स्थायि लक्षण भगवत् प्रीति में वर्त्तमान होने के कारण—उसका स्थायित्व सुनिश्चित है । भगवत् प्रीति के विभावनादि गुण के द्वारा अन्य-अर्थात् रसोपकरण समूह के विभावत्वादि सम्भव होते हैं । इस का वर्णन अग्रिम ग्रन्थ में होगा । इस कारण से भी उसकी स्थायिभाव रूपता सुनिश्चित हो सकती है ।

अर्थात् भगवत् प्रीति किस प्रकार रस रूपता को प्राप्त करती है—उस का वर्णन करते हैं । रस शास्त्र के मत में स्थायि भाव विभावादि के योग से रसरूप में परिणत होता है । तज्जन्य प्रथम भगवत् प्रीति जो स्थायि भाव हो सकती है—उसका प्रतिपादन करते हैं । स्थायिभाव में स्थायित्व एवं भावत्व—उभय की विद्यमानता अत्यावश्यक है । प्रीति मात्र ही भाव विशेष है । भगवत् प्रीति भी प्रीति विशेष होने के कारण, उसका भावत्व होना सम्भव है । और रस शास्त्रमें जो स्थायि का लक्षण कथित है, भगवत् प्रीति में वह विद्यमान होने के कारण—उस का स्थायित्व स्वीकार करना अत्यावश्यक है । एतद् व्यतीत भगवत् प्रीति जो स्थायिभाव है, इस को युक्ति के द्वारा प्रतिपन्न किया जा सकता है । रति प्रभृति की आस्वादन योग्यता आनयन का नाम विभावना है, वह विभाव कर्त्तृक सम्पन्न होने पर भी रति प्रभृति की सम्पत्ति है । भगवत् प्रीति का-विभावना द्वारा-आलम्बन एवं उद्दीपन वस्तु का विभावत्व होता है, अनुभावना द्वारा नृत्यादि का अनुभावत्व एवं उसका सञ्चारण द्वारा निर्वेदादिका व्यभिचारित्व होता है । प्रीति की विद्यमानता न होने से केवल विभावादि किसी भी रस के उपकरण नहीं हो सकते हैं, प्रीति को अवलम्बन करके ही अन्यान्य रसोपकरण की रसोपकरणता है, तज्जन्य भगवत् प्रीति को स्थायी भाव कहा जाता है, इस में सन्देह नहीं है । भगवत प्रीति के विभावनादि की आलोचना अग्रिम ग्रन्थ मेंहोगी ।

कारण—आलम्बन एवं उद्दीपन विभाव है, कार्य्य—अनुभाव है । सहकारी कारण—व्यभिचारि प्रभृति हैं । कारणादि की स्फूर्त्ति विशेष के द्वारा स्फूर्त्ति विशेष प्राप्ता—अर्थात् रसरूप में परिणत होने की

स्वरूपयोग्यता, स्थायिभावरूपत्वात् सुख-तादात्म्याङ्गीकारादेव च। भगवत्प्रीतौ तु स्थायिभावत्वं तद्विधाशेष-सुखतरङ्गार्णव-ब्रह्मसुखादधिकतमत्वञ्च प्रतिपादितमेव। तथा तत्र कारणादयस्तत्परिकराश्च लौकिकत्वाद्विभावनादिषु स्वतोऽक्षमाः, किन्तु सत्कवि-निबन्ध चातुर्य्यादेवालौकिकत्वमापन्नास्तत्र योग्या भवन्ति। तत्र तु ते स्वत एवालौकिकाद्भुतरूपत्वेन दर्शिता दर्शनीयाश्च। पुरुषयोग्यता च श्रीप्रह्लादादीनामिव तादृशवासना, तां विना च लौकिक-काव्येनापि तन्निष्पत्तिं न मन्यते, यथोक्तम्-(साहित्यदर्पणः ३।२) "पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रस-सन्ततिम्" इति, (साहित्यदर्पणः ३।८) "न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम्" इति च। लौकिक-रसस्योत्पत्तिः, स्वरूपमास्वादप्रकारश्चैवमेवोच्यते, यथा साहित्यदर्पणः ३।२) —

"सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः। वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद-सहोदरः ॥३०३॥

---

योग्यता प्राप्त भगवत् प्रीति उक्त कारणादि के सहित मिलित होकर तदीय प्रीतिमय रस अभिहित होता है। यही भक्तिमय रस है। भक्तिमय—रस ही भक्ति रस है, तज्जन्य इस को भक्तिरस भी करते हैं। रसशास्त्र में कथित है "भावा एवाभिसम्पन्नाः प्रयान्ति रसरूपताम्"

अभिसम्पन्न—रस रूपता प्राप्त होने की योग्यता प्राप्त भाव समूह रस रूपता को प्राप्त होते हैं। किन्तु प्राकृत रसिक गण जो रस सामग्री के अभाव निबन्धन भक्ति को रस नहीं मानते हैं, वह प्राकृत देवादि सम्बन्ध में ही सम्भव हो सकता है। अर्थात् प्राकृत देवादि विषयिणी भक्ति में रस सामग्री का अभाव निबन्धन रस निष्पत्ति सम्भव नहीं है, किन्तु भगवद् भक्ति में वैसा नहीं है। रसत्व प्राप्ति विषय में सामग्री तीन प्रकार की हैं। (१) स्वरूप योग्यता (२) परिकर योग्यता (३) पुरुष योग्यता।

लौकिक रस में भी स्थायि भाव रूपत्व एवं सुख तादात्म्य अङ्गीकार हेतु रत्यादि स्थायी की स्वरूप योग्यता प्रतिपन्न होती है। भगवत् प्रीति में स्थायिभावत्व एवं उक्त प्रकार—अर्थात् लौकिक प्रीतिज सुख के समान अशेष सुख तरङ्ग के समुद्ररूप ब्रह्मसुखसे अधिकतमत्व ही प्रतिपादित होता है। लौकिक प्रीति में कारणादि रस परिकर लौकिक होने के कारण, विभावनादि में स्वभावतः ही अक्षम होते हैं। किन्तु सत् कविका ग्रन्थन चातुर्य्य के द्वारा ही अलौकिकत्व प्राप्त होकर विभावनादि के योग्य होते हैं। भगवत् प्रीति में कारणादि परिकर समूह स्वभावतः ही अलौकिक अद्भुत रूप हैं—पूर्वग्रन्थ में इस का वर्णन हुआ है, एवं उत्तर ग्रन्थ में विशेष रूपसे इसका वर्णन होगा।

पुरुष योग्यता—श्रीप्रह्लादादि के समान प्रीति वासना है, तद् व्यतीत लौकिक काव्य भी रस निष्पत्ति को नहीं मानते हैं। साहित्यदर्पण के ३।२ में उक्त है "पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रस-सन्ततिम्"

योगिगण के समान पुण्यवान् व्यक्ति गण--रसास्वादन करते हैं। उक्त ग्रन्थ के ३।८। में लिखित है-- "न जायते तदास्वादोविना रत्यादिवासनाम्" रत्यादि वासना व्यतीत रसास्वादन नहीं होता है। साहित्य दर्पण ग्रन्थ के ३।२ में लौकिक रस की उत्पत्ति, स्वरूप एवं आस्वादन प्रकार के सम्बन्ध में कथित है—

"सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद-सहोदरः ॥३०३॥

लोकोत्तर-चमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः । साकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥"३०४॥ इति ।

**अत्र त्वप्राकृतविशुद्धसत्त्वहेतुत्वम्—(भा० ४।३।२३) "सत्त्वं विशुद्धं वसुदेव-शब्दितम्" इत्यादेः । दर्शितं चास्य सत्त्वस्याप्राकृतत्वं (७ अनु०) भगवत्सन्दर्भे, तथा ब्रह्मास्वादादप्यधिकत्वम्—(भा० ४।९।१०) "या निर्वृ ति-स्तनुभृताम्" इत्यादेः (भा० ३।१५।४८) "नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि**

---

लोकोत्तर-चमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः ।
साकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥"३०४॥

सत्त्वगुणोद्रेकहेतु कतिपय प्रमाता--सामाजिक, तन्मयताप्रयुक्त मूर्त्तिमान् वस्तु के समान रसास्वादन करते हैं । वह रस-, अखण्ड प्रकाशानन्द चिन्मय, वेद्यान्तर स्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वाद सहोदर है एवं लोकोत्तर चमत्कारिता ही उसका प्राण है । लौकिक रसमें प्राकृत सत्त्व ही हेतु है, किन्तु अलौकिक रस में अर्थात् भगवत् प्रीति रस में अप्राकृत विशुद्ध सत्त्व हेतु ही है । इसका वर्णन—भागवत के ४।३।२३ में है—

"सत्त्वं विशुद्धं वसुदेव शब्दितं यदीयते तत्र पुमानपावृतः ।
सत्त्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेवो ह्यधोक्षजो मे नमसा विधीयते ॥"

टीका—किञ्च न केवलमस्यागतेष्वेव वासुदेवदृष्टया नमनं कियते, किन्तु नित्यमेव मनसि वासुदेवश्चिन्त्यते—इत्याह । विशुद्धं—सत्त्वमन्तः करणं, सत्त्वगुणो वा वसुदेव शब्दितं--वसुदेवशब्देनोक्तम् । कुतः? यत् यस्मात्, तत्र तस्मिन् सत्त्वे पुमान् वासुदेव ईयते--प्रकाशते । अपगतमावरणं यस्मात् सः । अयमर्थः—वसुदेवे भवति प्रतीयते इति वासुदेवः--परमेश्वरः प्रसिद्धः स च विशुद्धे सत्त्वे प्रतीयते, अतः प्रत्ययार्थेन प्रसिद्धेन प्रकृत्यर्थो निर्द्धार्य्यते । ततश्च वासयति देवमिति व्युत्पत्त्या वसत्यस्मिन्निति वा, वसु, दीव्यति, द्योतते इति देवः । वसुभिः पूर्णर्दीव्यति प्रकाशते इति वा वसुदेव शब्द वाच्यं शुद्धं सत्त्वम् । ततः किम् ? अतः—आह सत्त्वे च तस्मिन् मे मया नमसा नमस्कारेणानुविधीयते सेव्यते इत्यर्थः । मनसेति पाठे मनसा विशेषेण धीयते धार्य्यते चिन्त्यत इत्यर्थः । यतः अधोभूतेषु प्रत्याहृतेषु अक्षेषु जायते प्रकाशते, इत्यर्थः ॥

विशुद्ध सत्त्व ही वसुदेव शब्द से अभिहित होता है । उक्त श्लोक में इस का वर्णन है । इस सत्त्व का अप्राकृतत्व स्थापन भगवत् सन्दर्भ के ७ अनुच्छेद में हुआ है ।

"सत्त्वं विशुद्धं वसुदेव शब्दितं यदीयते तत्र पुमानपावृतः ।
सत्त्वे च तस्मिन् भगवान् वासुदेवोह्यधोक्षजो मे मनसा विधीयते ॥"

अस्यार्थः—विशुद्धं--स्वरूपशक्ति वृत्तित्वाज्जाड्यांशेनापि रहितमिति विशेषेण शुद्धं, तदेव वसुदेव शब्देनोक्तम् । कुतस्तस्य सत्त्वता वसुदेवता वा तत्राह । यद्--यस्मात् तत्र तस्मिन् पुमान् वासुदेव ईयते प्रकाशते । इत्यादि भगवत् सन्दर्भ ।

अप्राकृत एवं विशुद्ध सत्त्व अलौकिक रसका कारण होने के कारण—ब्रह्मास्वाद से भी अप्राकृत रस का आधिक्य है, इसका वर्णन भा० ४।९।१० "या निर्वृतिस्तनुभृताम्" श्लोक में एवं भा० ३।१५।४८ "नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादम्" श्लोक में है । सुतरां ब्रह्मानुभव से भी इस में चमत्कार है । इस चमत्कारिता का वर्णन भा० ३।२ १२ में है

"यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम् ।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषण भूषणाङ्गम् ॥"

ते प्रसादम्" इत्यादेश्च । ततलौकिक-रसविदां प्राचीनानामपि मतानुसारेण सिध्यत्यसौ रसः, तत्र सामान्यतः श्रीभगवन्नामकौमुदी-कारैर्दर्शितः । तस्य विशेषतश्च शान्तादिषु पञ्चसु भेदेषु वक्तव्येषु श्रीस्वामिचरणैः (भा० १०।४३।१७) "मल्लानामशनिः" इत्यादौ ते पञ्चैव दर्शिताः,— स्त्रीणां शृङ्गारः सवयसां गोपानां हास्यशब्दसूचित-नर्ममयसख्यस्थायी सख्यमयः प्रेयान्, ततस्तन्मते गोपानां श्रीदामादीनामित्येवार्थः, पित्रोर्दयापर-पर्य्याय-वात्सल्यस्थायी वत्सलः, योगिनां ज्ञानभक्तिमयः शान्तः, वृष्णीनां भक्तिमय इति । तथा सामान्य-प्रीतिमयरसश्च नृणां

---

टीका—तदेवं विम्बं वर्णयति त्रिभिः । यन्मर्त्यलीलासु औपयिकं योग्यम् । स्वस्यापि विस्मय जनकम् । यतः सौभगर्द्धेः—सौभाग्यातिशयस्य परं पदं परा काष्ठा भूषणानां भूषणाङ्गानि यस्मिन् ।

प्राचीन अलौकिक लौकिक रसज्ञ गणके मत में भी यह रस सिद्ध होता है । तन्मध्य में अलौकिक रसज्ञ श्रीभगवन्नामकौमुदीकार सामान्य रूपसे रस वस्तु का प्रदर्शन किये हैं, श्रीधर स्वामिपादने भी विशेष रूपसे शान्तादि पञ्चविध भेद से रसका वर्णन करने में प्रवृत्त होकर भा० १०।४३।१७ 'मल्लानामशनिः" श्लोक में उक्त पञ्चविध प्रदर्शन किया है, स्त्रीणां श्रृङ्गारः स्त्री वृन्द का शृङ्गार, समवयस्क गोपगण के हास्य शब्द द्वारा, अर्थात् श्रीधरकृत टीका में लिखित हास्य शब्द द्वारा सूचित--परिहासमय सख्य जिस में स्थायी है, वह सख्यमय प्रेय–सख्य है, सुतरां श्रीधर स्वामि पाद के मत में उक्त श्लोक स्थित गोप शब्द से श्रीदामादि का बोध होता है। माता पिता की दया–जिसका अपर नाम वात्सल्य है, वह वात्सल्य जिस में स्थायी है, वह वत्सल रस है। योगि गण का ज्ञान भक्तिमय शान्त है । वृष्णि वृन्द का भक्तिमय दास्य रस है, उस प्रकार नर वृन्द का सामान्य प्रीतिमय रस का प्रदर्शन भी हुआ है । अद्भुतत्व ही समस्त रसका प्राण होने के कारण, नरगण में अनुभूत रस का वर्णन किया गया है । शान्तादि में वैशिष्ट का अभाव हेतु अद्भुत का ही निर्देश किया गया है ।

अभिप्राय यह है---यहाँ पर प्राचीन रस वेत्ता के मत में रस निष्पत्ति का वर्णन करते हैं । श्रीधर स्वामिपाद ने 'मल्लानामशनिः' श्लोक की टीका में भगवत् प्रीति रस का उल्लेख किया है । उक्त श्लोक में वर्णित है, कंस रङ्ग स्थल में श्रीकृष्ण---मल्लवृन्द के निकट वज्र, नरगण के निकट नरवर, स्त्रीगण के निकट मूर्त्तिमान् कन्दर्प, गोपगण का स्वजन, असत् नृपति गण के निकट शासन कर्त्ता, निज पितामाता का शिशु, कंस की मृत्यु, अज्ञजन का विराट, योगिगण का परम तत्त्व एवं वृष्णि गण के परमदेवता रूप में प्रतीत हुये थे । इस श्लोक की टीका में श्रीधर स्वामि पादने लिखा है----

"मल्लादिषु अभिव्यक्ता रसाः क्रमेण श्लोकेन निबध्यन्ते ।

"रौद्रोऽद्भुतश्च श्रृङ्गारो हासो वीरोदया तथा भयानकश्च बीभत्सः शान्तः सप्रेम भक्तिकः ।"

मल्लादि में अभिव्यक्त रस का प्रकाश श्लोक बन्ध से कर रहा हूँ । रौद्र, अद्भुत, श्रृङ्गार, हास, वीर, दया, भयानक, बीभत्स, शान्त एवं भक्ति--अर्थात् दास्य ।

इस के मध्य में श्रीजीव गोस्वामी पाद श्रृङ्गार, हास्य शब्द सूचित सख्य, दया शब्द सूचित वात्सल्य शान्त एवं भक्ति शब्द सूचित दास्य यह मुख्य पञ्चरस का प्रदर्शन किये हैं । गौण सप्त रस का वर्णन अग्रिम ग्रन्थ में करेंगे ।

मूल श्लोक में गोप वृन्द का उल्लेख है, उनके सम्बन्ध में हास्य शब्द का उल्लेख होने के कारण-- जिनके पक्षमें हास्य परिहास सुलभः हैं, गोप शब्द से उन सखा गण का बोध होता है । श्रीदामादि गोप बालक ही श्रीकृष्ण के सखा हैं । तज्जन्य श्रीधर स्वामिपाद के मत में श्लोकस्थित गोप शब्द से श्रीदामादि

दर्शितः। तत्राद्भुतत्वनिर्देशश्च सर्व्वस्यैव रसस्य तत्प्राणत्वात् शान्तत्वादिवैशिष्ट्याभावे तदेव निर्दिष्टमिति। यदाह धर्मदत्तः, (साहित्यदर्पणः ३।२)—

"रसे सारश्चमत्कारः सर्व्वत्राप्यनुभूयते। तच्चमत्कार सारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।।" ३०५।। इति।

ये तु मल्लादीनां रौद्रादिरसास्तत्रैव स्वामिभिरङ्गीकृतास्ते खलु प्रीतिविरोधित्वान्नात्रादृताः। तदेतदलौकिक-रसविन्मतम्, तथा कैश्चिल्लौकिक-रसविद्भिर्भोजराजादिभिः प्रेयान् वत्सलश्च रसः सम्मतोऽस्ति, तथा चोक्तम्—"स्नेहस्थायिभावः प्रेयान्, यथा,—

---

को ग्रहण करना कर्त्तव्य है।

उक्त श्लोक में नरगण का उल्लेख है--वे रङ्ग भूमि में साधारण दर्शक हैं। उन में श्रीकृष्ण सम्बन्ध विशेष किसी रसका उदय नहीं हुआ, किन्तु अखिल रसामृत मूर्त्ति श्रीकृष्ण का दर्शन करके वे सामान्य प्रीति रसका आस्वादन किये थे। उनसबके पक्षमें चमत्कृति ही रस है। इस को ही अद्भुत रस कहते हैं। यह चमत्कृति, समस्त रस में ही विद्यमान है, इसके अभाव से रस निष्पन्न नहीं हो सकता है। तज्जन्य इस को रस का प्राण कहा गया है। नरवृन्द में किसी विशेष रस का उदय नहीं हुआ है, किन्तु चमत् कारिता है। तज्जन्य इस चमत् कारिता को ही अद्भुत रस--अर्थात् सामान्य प्रीतिमय रस--कहे हैं। सुन्दर गुणवान् बालक को देख कर सब के मन में प्रीति का उद्रेक होता है। उस प्रीति में ममता का बोध नहीं रहता है। उसी प्रकार श्रीकृष्ण को देखकर कंस रङ्गस्थल के नरवृन्द में जो प्रीति का उद्रेक हुआ था, उनमें श्रीकृष्ण--मेरा सम्पर्कित व्यक्ति हैं---इस प्रकार बोध नहीं था, किन्तु वे विस्मित हुये थे---अतः अद्भुत रसका उदय हुआ था।

चमत् कारिता ही जो रसका प्राण है, एवं वही जो अद्भुत रस है, रसज्ञ धर्मदत्तने उसको कहा है--(साहित्यदर्पण--३।२) "रसेसारश्चमत् कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कार सारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतोरसः।
तस्मादभुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।।"३०५।।

रस का सारांश ही चमत् कृति है—इसका अनुभव सर्वत्र ही होता है। सर्वत्र ही वह चमत्कार सार वस्तु है। तज्जन्य समस्त रस ही अद्भुत हैं। एतज्जन्य कृती नारायण-रस को अद्भुत कहते हैं।

"मल्लानामशनिः" श्लोक की टीकामें श्रीधर स्वामिपादने रौद्रादि रस का उल्लेख किया है। किन्तु यह सब प्रीति विरोधी होने के कारण प्रीति रस प्रसङ्ग में आदृत नहीं हो सकते हैं। यहांतक अलौकिकरस वेत्तागण का मत प्रदर्शित हुआ।

अर्थात् मल्ल प्रभृति में प्रीति प्रणोदित होकर क्रोधादि प्रकाशित नहीं हुये हैं, वे जिघांसावृत्ति से क्रोध को प्रकाश किये थे। अतः उक्त क्रोधादि प्रीति विरोधी हैं, तज्जन्य मल्लादि के क्रोधादि रस भक्ति शास्त्रमें आदरणीय नहीं हैं। भक्ति रस विद् गण के मत में रौद्रादि रस स्वतन्त्र प्रकार के हैं, किन्तु श्रीधर स्वामिपादने 'मल्लानामशनिः" श्लोक की टीकामें मल्लादि में रौद्रादि रसका जो आस्वादन किया है--वह-लौकिक रस विद् वृन्द के मत में है।

अलौकिक रसविद् गणके समान भोजराज प्रभृति नेप्रेयान् (सख्य) एवं वत्सल रस को स्वीकार किया है। उस प्रकार कथित भी है—"स्नेहस्थायिभावः प्रेयान्" "स्नेह स्थायिभाव (वत्सल) प्रेयान् है।

यदेव रोचते मह्यं तदेव कुरुते प्रिया। इति वेत्ति न जानति तत् प्रियं यत् करोति सा ॥"३०६॥ इति।

अत्र दम्पत्योरनयोः सख्यविशेषविवक्षया तदिदमुदाहृतम्, एवम्—

"स्फुटं चमत्कारितया वत्सलञ्च रसं विदुः। स्थायी वत्सलतास्येह पुत्राद्यालम्बनं मतम् ॥"३०७॥इति

तथा सुदेवाद्यं र्भक्तिमयश्चेति। किञ्च, लौकिकस्य रत्यादेः सुखरूपत्वं यथाकथञ्चिदेव,— वस्तुविचारे दुःखपर्य्यवसायित्वात्, तदुक्तं स्वयंभगवता-(भा० ११।१९।४१) "सुखं दुःख-सुखात्ययः, दुःखं कामसुखापेक्षा" इति। तदीयः शमोऽपि—(भा० ११।१९।३६)"शमो मन्निष्ठता बुद्धेः" इति वदता तेनैवानादृतः जुगुप्सादीनान्तु सुखरूपता लौकिकैरपि द्वेष्या। तत्तन्निन्दा भागवतरसश्लाघा च श्रीनारदवाक्ये (भा० १।५।१०)—

"न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो, जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा, न यत्र हंसा निरमन्तुचशिक्क्षयाः ॥३०८॥

---

यथा—"यदेव रोचते मह्यं तदेव कुरुते प्रिया।
इति वेत्ति न जानाति तत् प्रियं यत् करोति सा ॥"३०६॥

मेरा जो रुचिकर है प्रिया वही करती है। वह वही जानती है, वह जो कुछ करती है, उसमें उसका प्रिय कुछ भी नहीं जानता है। यह उक्त दम्पत्ति में जो सख्य विशेष है,उसको दर्शाने के निमित्त यह वाक्य उदाहरण रूप में प्रस्तुत हुआ है। लौकिक रसविद् गणके मतमें सख्य रसका प्रमाण प्रदर्शित हुआ। वात्सल्य का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

"स्फुटं चमत्कारितया वत्सलञ्च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलतास्येह पुत्राद्यालम्बनं मतम् ॥"३०७॥

सुस्पष्ट चमत् कारिताके द्वारा रसज्ञ गण वत्सल को रस मानते हैं। इस में वत्सलता स्थायी है, एवं एवं पुत्रादि आलम्बन हैं।

भोजादि के वात्सल्य, सख्य रस स्वीकार के समान सुदेवादि लौकिक रस विद् गण भक्तिमय रसको भी स्वीकार करते हैं।

यहाँ ज्ञातव्य यह है कि—लौकिक रत्यादि की सुख रूपता यत् सामान्य है, कारण, वस्तु विचार में अर्थात् आलम्बनादि का विचार करने पर वे सब लौकिक रत्यादि दुःख में ही पर्य्यवसित होते हैं। भा० ११।१९।४१ में स्वयं भगवान् ने कहा भी है "सुखं दुःख सुखात्ययः, दुःखं काम सुखा पेक्षा" प्राकृत सुख दुःख ध्वंश का नाम सुख है, विषय भोग सुख नहीं है। विषय भोग एवं सुख की अपेक्षा ही दुःख है, केवल अग्नि दाहादि ही दुःख नहीं हैं। भा० ११।१९।३६ में शम की कथा भी उन्होंने कही है। "शमोमन्निष्ठताबुद्धेः" मुझ में बुद्धि की निष्ठता ही शम है, इस प्रकार जिन्होंने कहा है, उन श्रीकृष्ण ने ही लौकिक शम-शान्ति को अनादर किया है। लौकिक रसज्ञगण भी जुगुप्सादि भाव की सुखरूपता के प्रति विद्वेष करते हैं। लौकिक रसोपकरण समूह की निन्दा एवं भागवत रस की प्रशंसा भा० १।५।१० के श्रीनारद वाक्य में है।

"न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो, जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा, न यत्र हंसा निरमन्तुचशिक्क्षयाः ॥३०८॥

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो, यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि य-,च्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ।"३०९। इति,

श्रीरुक्मिणी-वाक्येऽपि (भा० १०।६०।४५)—

"त्वक्-श्मश्रु-रोम-नख-केश-पिनद्धमन्त-,र्मांसास्थि-रक्त-कृमि-विट्-कफ-पित्त-वातम् ।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढ़ा, या ते पदाब्ज-मकरन्दमजिघ्रती स्त्री ।"३१०। इति

तस्माल्लौकिकस्यैव विभावादेः रस-जनकत्वं न श्रद्धेयम् । तज्जनकत्वे च सर्वत्र बीभत्स-

---

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो, यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि य-,च्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥"३०९॥ इति,

जो ग्रन्थ—गुणालङ्कारादि युक्त विचित्र पदसे रचित होकर भी जगत् पवित्र कारी श्रीहरि का यशः को प्रकाश नहीं करता है, ज्ञानिगण उस ग्रन्थ को काक तीर्थ—काकतुल्य कामि व्यक्तिका रति स्थान मानते हैं । सत्त्व प्रधान चित्त परम हंस गण उसमें कभी भी मनो निवेश नहीं करते हैं । वही वाक्य प्रयोग सफल है—जिस से जन समूह का पाप विनष्ट होता है । उस में असम्पूर्ण अर्थ बोधक पद समूह विन्यस्त होने पर भी यदि अनन्त भगवान् का यशः प्रकाशक नाम योजित होता है, तो उसका श्रवण साधु गण करते हैं, ग्रहण भी करते हैं, एवं गान भी करते हैं । भा० १०।६०।४५ में श्रीरुक्मिणी वाक्य में भी उक्त है—

"त्वक्-श्मश्रु-रोम-नख-केश-पिनद्धमन्त ,र्मांसास्थि-रक्त-कृमि-विट्-कफ-पित्त-वातम् ।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढ़ा, या ते पदाब्ज-मकरन्दमजिघ्रती स्त्री ॥"३१०॥

श्रीरुक्मिणीदेवी श्रीकृष्ण को बोली थीं—जो स्त्री आप के पाद पद्म के मकरन्द का आघ्राण लेने में असमर्थ है । वही मूढ़मति स्त्री बाहर त्वक् श्मश्रु, रोम, नख एवं केश द्वारा आच्छादित एवं भीतर में मांस, अस्थि, रक्त, कृमि, विष्ठा, वात, पित्त, कफ पूरित जीवित शव देह का भजन कान्त ज्ञान से करती है । सुतरां लौकिक विभावादि में भी रस जनकत्व है—यह--विश्वसनीय नहीं है । यदि रस जनकत्व स्वीकार करना पड़े तो बीभत्स रस जनकत्व ही सिद्ध होता है ।

तात्पर्य्य यह है—विभावादि के संयोग से जो रस निष्पन्न होता है, अलौकिक लौकिक—उभय विध रसज्ञ के अभिमत द्वारा उसका प्रदर्शन हुआ । शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर--मुख्यरस ये पञ्चविध हैं । अलौकिक रसज्ञ श्रीधर स्वामिपाद के अभिमत के द्वारा उक्त पञ्चविध रसका प्रदर्शन हुआ है । कतिपय लौकिक रसज्ञ व्यक्ति गणके मत में सख्य एवं वात्सल्य द्विविध रसका विवरण भी कहा गया है । उन सबके मतमें मधुररस सुप्रसिद्ध ही है । वस्तुतः लौकिक रस जो निष्पन्न हो ही नहीं सकता है--उसका वर्णन करते हैं ।

रत्यादि स्थायी का सुखतादात्म्य अर्थात् सुखमयता को स्वरूपयोग्यता कहते हैं । स्वरूप योग्यता का अभाव होने पर रस निष्पत्ति होना असम्भव है । लौकिक रस का मुख्य उपकरण रत्यादि की सुखरूपता यत् किञ्चित् है । आलम्बन वस्तु के ओर विचार करने से देखने में आता है कि—लौकिक रति प्रभृति का परिणाम दुःखमय ही है । मानव युगल अथवा मानव मानवी को अवलम्बन करके लौकिक रत्यादि का आविर्भाव होता है, वे दोनों ही देहावेश निबन्धन अशेष दुःख से दुःखी हैं, तज्जन्य उनके रत्यादि में प्रथम किञ्चित् सुख वर्त्तमान होने पर भी परिणाम में वे सब दुःख में ही पर्य्यवसित होते हैं । विषय सम्पर्कित सुख दुःख का ध्वंस को ही श्रीभगवान् सुख कहे हैं । कारण, विषय सुखका अनुसन्धान से दुःख ही उपस्थित

जनकत्वमेव सिध्यति। श्रीभागवत-रसस्य तु विषयिणमारभ्य मुक्तपर्य्यन्ते जने तद्वदहो अनिन्द्रिये चैतन्यशून्येऽपि विकारहेतुत्वात् कथं तत्रासम्भावनापि स्यात् ? यथोक्तम्— (भा० १०।१।४) "निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात्" इत्यादि, (भा० १०।२१।१९) "अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणाम्" इति, (भा० १०।१७।१५) "कृष्णं समेत्य लब्धेहा आसन् शुष्का नगा अपि" इति। तदेतदभिप्रेत्य श्रीभगवत्प्रीत्येक-व्यञ्जकस्य श्रीभागवतपुराणस्य रसात्मकत्वं शब्देनैव निर्दिशति, (भा० १।१।३) —

---

होता है। सुख एवं दुःख में निर्लिप्त होकर श्रीभगवान् में चित्त स्थैर्य्य ही वास्तविक सुख है। एवं विषय सुख की अपेक्षा ही दुःख है। विषय सुख की अपेक्षा से ही जीव युग युगान्तर पर्य्यन्त जन्म मरण के प्रवाह में दौड़ता रहता है, किन्तु तृप्त न होकर केवल उत्तरोत्तर आशान्त ही होता रहता है। तज्जन्य विषय सुखापेक्षा ही दुःख है। लौकिक रत्यादि में विषय सुखापेक्षा विद्यमान होने से वह सुखमय नहीं हो सकता है। इस हेतु लौकिक प्रीति में रसोत्पत्ति असम्भव है।

केवल लौकिक रत्यादि की स्वरूप योग्यता का अभाव ही रस निष्पत्ति न होने का कारण नहीं है, आलम्बन विभाव को श्रीरुक्मिणी देवीने जीवच्छव कहा है। यद्यपि आपने केवल कान्त भाव के सम्बन्ध में ही कहा है। तथापि नरनारी सबके सम्बन्ध में ही वह कथन है, सभी विष्ठा, कृमि, क्लेद पूर्ण चर्म्मादि निर्म्मित देह विशिष्ट हैं। उस देह का स्मरण करने से जुगुप्सा को छोड़कर सामाजिक के मन में अपर वृत्ति का उदय होता ही नहीं है। और श्रीनारद वाक्य में दृष्ट होता है। उस की कथा—सत् सामाजिक को रुचिकर नहीं है, उस को वे घृणा ही करते हैं। इस हेतु--लौकिक प्रीति के विभावादि की रस योग्यता में विश्वास नहीं किया जा सकता है। तज्जन्य लौकिक रति में दास्यादि रसनिष्पत्ति असम्भव है।

शान्तरस में स्थायी शम है। श्रीभगवान् में बुद्धि निष्ठा ही शम है। केवल विषय से मनको प्रत्याहृत करना ही शम नहीं है। लौकिक रसज्ञगण द्वारा लौकिक शान्तरति प्रदर्शित होने पर भी लौकिक शान्तरस निन्दनीय है। विशेषतः उसकी निष्पत्ति भी असम्भव है।

आश्रय एवं विषयालम्बन स्वरूप नर युगल वा नरनारी की कथा स्मरण होने से उनके शरीर की कथा, मानस पटल में उदित होकर घृणा को उत्पन्न करती है, तज्जन्य लौकिक प्रीति केवल बीभत्सरस ही हो सकता है।

भागवत रस-विषयी से आरम्भकर मुक्त पर्य्यन्त समस्त मानवमें होता है। अहो ! केवल यही नहीं इन्द्रिय रहित चेतना शून्य में भी विकार का कारण होता है, इस हेतु भागवत रसमें रस निष्पत्ति की असम्भावना कैसे हो सकती है ? अर्थात् किसी भी प्रकार से भागवत रस में रस निष्पत्ति की असम्भावना नहीं है। श्रीभागवत रस में समस्त मानव का विकार का दृष्टान्त भा० १०।१।४ में है—

"निवृत्त तर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोक गुणानुवादात् पुमान् विरज्यते विनापशुघ्नात्॥"

उत्तम श्लोक श्रीहरि के गुणानुवाद में पशुघाती व्याध को छोड़कर मुक्त, मुमुक्षु विषयी कोई भी विरत नहीं हो सकते हैं। भा० १०।२१।१९ में उक्त है—"अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणाम्" श्रीकृष्ण की वेणु ध्वनि को सुनकर जङ्गम में अस्पन्दन-स्तम्भ भाव, और वृक्ष समूह में पुलकोद्गम हुआ था। अर्थात् कृष्ण को प्राप्तकर शुष्क वृक्ष समूह भी जीवित हो उठे थे। इसमें अचेतन वृक्षादि की विकार प्राप्ति की

(११०) "निगमकल्पतरोः" इत्यादि,

हे भावुकाः ! परममङ्गलायनाः ! ये रसिका भगवत्प्रीतिरसज्ञा इत्यर्थः, ते यूयं वैकुण्ठात् क्रमेण भुवि पृथिव्यामेव गलितमवतीर्णं निगमकल्पतरोः सर्वफलोत्पत्तिभुवः शाखोपशाखाभिर्वैकुण्ठ-मध्यारूढ़स्य वेदरूपतरोर्यत् खलु रसरूपं श्रीभागवताख्यं फलम्, तद्भुव्यपि स्थिताः पिबत, आस्वाद्यान्तर्गतं कुरुत । 'अहो' इत्यलभ्यलाभ-व्यञ्जना । भागवताख्यं यच्छास्त्रम्, तत् खलु रसवदपि रसैकमयता-विवक्षया रस-शब्देन निर्दिष्टम्, भागवत-शब्देनैव तस्य रसस्यान्यदीयत्वं व्यावृत्तम् । भागवतस्य तदीयत्वेन रसस्यापि तदीयत्वाक्षेपात् शब्दश्लेषेण च भगवत्सम्बन्धि रसमिति गम्यते । स च रसो भगवत्प्रीतिमय एव,–(भा० १।७।७) "यस्यां वै श्रूयमाणायाम्'

---

कथा सुस्पष्ट है । भा० १०।१७।१५ में उक्त है—

,'कृष्णं समेत्य लब्धेहा आसन् शुष्का नगा अपि"

भगवत् प्रीति में जो रस निष्पत्ति होती है–इस को प्रदर्शन करने के निमित्त एकमात्र श्रीभगवत् प्रीति व्यञ्जक श्रीमद् भागवत पुराण की रस रूपता का निर्द्देश श्रीवेदव्यास सुस्पष्ट रूपसे किये हैं । भा० १।१।३

(११०) "निगम कल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतं ।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहोरसिका भुविभावुकाः ।।"

हे भावुकगण ! हे रसिकगण ! वेदकल्प तरुसे गलित रसरूप श्रीमद् भागवताख्य फल है, जो शुक मुखसे अमृत द्रवसंयुक्त होकर पृथिवी में अवतीर्ण है, उसका पान—मोक्ष में भी करो । उक्त श्लोक की व्याख्या—हे भावुक गण ! जो परम मङ्गलाश्रित रसिक–भगवत् प्रीति रसज्ञ,--तुम सब—वैकुण्ठ से क्रमशः पृथिवी में गलित—अवतीर्ण, निगम कल्पतरु--सर्व फलोत्पत्ति का कारण स्वरूप जो वृक्ष--शाखा प्रशाखा समूह के द्वारा वैकुण्ठ मध्यारूढ़ होकर अर्थात् वैकुण्ठको व्याप्तकर अवस्थान कर रहा है । उसका जो श्रीमद् भागवताख्य फल है, उसका पान—पृथिवी में अवस्थित होकर भी करो, अर्थात् आस्वादन करके निज अन्तर्भुक्त करो, अहो ! तुम सब को अलभ्य लाभ हुआ । यहाँ यह भी व्यञ्जित हुआ है । भागवत शब्द के द्वारा है । सूचित हुआ है कि—यह रस जो भगवान् भिन्न अन्य सम्पर्कित नहीं है—यह सूचित हुआ है । भागवत नामक शास्त्र–रसयुक्त होने पर भी केवल रसमय है,—यह ज्ञापन करने के निमित्त रस शब्द के द्वारा उसका निर्द्देश किया गया है । भागवत शब्द संयोग द्वारा भगवत् सम्बन्धीय रस ही है—यह भी प्रतीत होता है । वह रस भगवत् प्रीतिमय ही है । कारण, भा० १।७।७ में उक्त है—

"यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परम पुरुषे । भक्तिरुत्पद्यते पुंसां शोकमोह भयापहा ।।

श्रीमद् भागवत रूप सात्वत संहिता का श्रवण करने से जीव को परम पुरुष श्रीकृष्ण में शोक मोह भयनाशिनी भक्ति उत्पन्न होती है । इस श्लोक में उक्त है—श्रीमद् भागवत श्रवण का फल—भगवत् प्रीति का आविर्भाव होता है । रसमय होने के कारण भगवान् में जो रस शब्द का प्रयोग श्रुति ने किया है । तैत्तिरीय श्रुति में भी उक्त है "रसो वै सः" 'वह रस है । श्रुति में वह रस ही प्रशंसित है, 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" जीव, इस रस को प्राप्त कर आनन्दित होता है । उक्त श्लोक में जो "रसिकाः' 'रसिक गण' पदका प्रयोग हुआ है—उसके द्वारा प्राचीन, नवीन, संस्कार जिन का है, वे ही रसविज्ञ हैं,यह प्रदर्शित हुआ है । 'गलित' शब्द प्रयोग के द्वारा फल की सुपक्वता निबन्धन अधिक आस्वादनीयता उल्लेख पूर्वक शास्त्र पक्ष में श्रीमद् भागवत का अर्थ सुनिष्पन्न है—यह कहा गया है । एवं अत्यधिक स्वादु है--यह भी

इत्यादि-फलश्रुतेः । रसमयत्वेनैव श्रीभगवति रस-शब्द श्रुतौ प्रयुज्यते-(तै० २।७।१) "रसो वै सः" इति, स एव च प्रशस्यते-(तै० २।७।१) "रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" इति । तत्र रसिका इत्यनेन प्राचीनार्वाचीन-संस्काराणामेव तद्विज्ञत्वं दर्शितम्, गलितमित्यनेन तस्य सुपाकिमत्वेनाधिकस्वादुत्तमत्वमुक्त्वा शास्त्रपक्षे सुनिष्पन्नार्थत्वेनाधिकस्वादुत्वं दर्शितम्, रसमित्यनेन फलपक्षे त्वगष्ट्याादि-राहित्यं व्यज्यात्र च पक्षे हेयांश-राहित्यं दर्शितम्, तथा भागवतमित्यनेन सत्स्वपि फलान्तरेषु निगमस्य परमफलत्वेनोक्त्वा तस्य परमपुरुषार्थत्वं दर्शितम् । एवं तस्य रसात्मकस्य फलस्य स्वरूपतोऽपि वैशिष्ट्ये सति परमोत्कर्ष-बोधनार्थं वैशिष्ट्यान्तरमाह-शुकेति । अत्र फलपक्षे कल्पतरुवासित्वादलौकिकत्वेन शुकोऽप्यमृतमुखो-ऽभिप्रेयते । । ततस्तन्मुखं प्राप्य यथा तत् फलं विशेषतः स्वादु भवति, तथा परमभागवतमुख-

---

कहा गया है । रस शब्द के द्वारा फलके पक्षमें त्वक् अष्ठ्यादि रहित को प्रकाश कर शास्त्र के पक्ष में हेयांश राहित्य का प्रदर्शन भी किये हैं । भागवत शब्द प्रयोग के द्वारा सूचित किया गया है कि— अन्य अनेक फल विद्यमान होने पर भी निगमका परम फल श्रीमद्भागवत ही है । इस परम पुरुषार्थता का निर्णय हुआ है । उस फल का स्वरूपतः वैशिष्ट्य विद्यमान होने पर भी परमोत्कर्ष सूचित करने के निमित्त शुक मुखसे अमृत द्रव संयुक्त कहा गया है । यहाँ फल के पक्ष में कल्पतरुनिवासी होने के कारण— अलौकिकत्व निबन्धन वह शुक— अमृत मुख है— यह कहा गया है । सुतरां उस प्रकार मुखस्पर्श से फल जिस प्रकार विशेष स्वाद युक्त होता है, उस प्रकार परम भागवत के मुख निःसृत भगवद्वर्णन भी परमस्वादु होता है । तादृश परम भागवत समूह के श्रेष्ठ श्रीशुकदेव के मुखके सम्बन्ध में भगवत् कथा की सुमिष्टता की कथा को कहना ही क्या है ? अतएव श्रीमद् भागवत में परमास्वाद की पराकाष्ठा हेतु अपने से अथवा अन्य से तृप्ति भी नहीं होगी । इस हेतु आलय—मोक्षानन्द पर्य्यन्त भी इसको पान करो–उन्होंने यही कहा है ।

सारार्थ यह है—उक्त श्लोक में वेद को कल्पतरु एवं श्रीमद् भागवत को फल कहा गया है । वृक्षकी उपादेय वस्तु जिस प्रकार फल है— उस प्रकार— वेद का सार श्रीमद् भागवत है । यह कल्पतरु अनेकानेक शाखा प्रशाखा विस्तार पूर्वक वैकुण्ठारोहण किया है । अर्थात् वृक्ष जिस प्रकार ऊर्द्ध्वदिक् में वर्द्धित होकर आकाश में शाखा प्रशाखा को विस्तार करता है, उसी प्रकार पृथिवी में जो वेदका प्रचार है, वह विविध शाखा प्रशाखा से विभक्त होकर वैकुण्ठ लोक पर्य्यन्त व्याप्त होकर है । शाखा के अग्रभाग में जिस प्रकार फल होता है, वेद कल्पतरु के अग्रभाग में भी अर्थात् वैकुण्ठमें श्रीमद् भागवत फल की स्थिति है । साधारण वृक्ष एक प्रकार फल धारण करता है, किन्तु कल्पतरु, सर्वाभीष्ट पूरक होने के कारण इस में समस्त प्रकार के फल हैं । वेद कल्पतरु होने के कारण कर्म्मी, ज्ञानी एवं भक्त—विभिन्न प्रकार के साधकके अभीष्ट विभिन्न फल इस में वर्त्तमान है । ऐसा होने पर भी श्रीमद् भागवत ही उसका श्रेष्ठ फल है । वृक्षाग्र में स्थित फल का आस्वादन मानव कर नहीं सकता है, किन्तु वह यदि भू पतित होता है तो मानव-आस्वादन करने में समक्ष होता है । वेद कल्पतरु का वैकुण्ठ स्थित फल का आस्वादन करना भूतलस्थित मानव के पक्ष में असम्भव था, अतः वह पृथिवी में अवतीर्ण हुआ है, वृक्ष से सुपक्वफल भू पतित होता है, वेद कल्पतरु का फल भी पृथिवी में अवतीर्ण हुआ है । अतः वह सुपक्व फल के समान ही सुनिष्पन्न अर्थ विशिष्ट है— अर्थात् जिस तत्त्व को कहने का अभिप्राय था, उसका कथन सम्यक् रूप से हुआ है, यह बोध होता है । फल—जिस प्रकार आस्वाद विशिष्ट होता है, श्रीमद् भागवत भी उस प्रकार रसयुक्त ग्रन्थ है । आस्वाद

सम्बन्धं भगवद्वर्णनमपि। ततस्तादृश-परमभागवतवृन्द-महेन्द्र-श्रीशुकदेव मुखसम्बन्धं किमुतेति भावः। अतएव परमस्वाद-परमकाष्ठाप्राप्तत्वात् स्वतोऽन्यतश्च तृप्तिरपि न भविष्यतीत्यालयं मोक्षानन्दमप्यभिव्याप्य पिबतेत्युक्तम्, तथा च वक्ष्यते,—(भा० २।१।९) "परिनिष्ठितोऽपि" इत्यादि। अनेनास्वाद्यान्तरवन्नेदं कालान्तरेऽप्यास्वादक बाहुल्येऽपि व्ययिष्यतीत्यपि दर्शितम्, यद्वा, तत्र तस्य रसस्य भगवत्प्रीतिमयत्वेऽपि द्वैविध्यम्,—तत्प्रीत्युपयुक्तत्वं तत्प्रीति-परिणामत्वञ्चेति, यथोक्तं द्वादशे (भा० १२।३।१४-१५)—

"कथा इमास्ते कथिता महीयसां, विताय लोकेषु यशः परेयुषाम्।
विज्ञान-वैराग्य-विवक्षया विभो, वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम्॥३११॥

---

विशिष्ट फल---सर्वांश में उपादेय नहीं है, उसमें वल्कल प्रभृति विस्वाद एवं हेय अंश भी है। भागवत में उस प्रकार कुछ भी नहीं है। सर्वांश में सुस्वादु है—तज्जन्य इसको रस युक्त फल न कहकर रस कहा गया है, अर्थात् सर्वांश में आस्वाद्य कहा गया है। श्रीमद् भागवत में रसिक भक्त के आस्वादन के अयोग्य किसी भी अंश नहीं है। भागवत शब्द से श्रीमद् भागवत ग्रन्थ एवं भगवत् सम्पर्कित वस्तु का बोध होता है, इस से रसमय ग्रन्थ का जिस प्रकार बोध होता है, उस प्रकार यह रस जो भगवत् सम्पर्कित है, इस का बोध भी होता है। यह रस क्या है ? इस के पहले जो अलौकिक रस की कथा कही गई है, वह यह भगवत् प्रीति मय रस है। उस रसास्वादन का अधिकारी कौन है ? रसज्ञ व्यक्ति गण हैं। अरसिक नहीं, रसिक शब्दसे सत् सामाजिक का बोध होता है। जिस का प्राचीन--पूर्व जन्म का संस्कार, नवीन—वर्त्तमान जन्म का संस्कार-अर्थात् रस वासना है। वह रसिक रसविज्ञ है—अन्य नहीं।

श्रीमद् भागवत रसात्मक होने के कारण वेद एवं वेदानुगत शास्त्र के मध्य में इसका विशेषत्व है। उस में भी यह ग्रन्थ शुक मुख से निःसृत एव अमृत द्रव संयुक्त होने के कारण सर्वोत्तम है। वेद कल्पतरु स्थित शुक, साधारण शुक नहीं है। कल्पतरु भी लोकोत्तर है, उसके अग्रभाग में स्थित शुक के मुख में अमृत है। शुकमुख संलग्न फल जिस प्रकार सुमिष्ट होता है, उस प्रकार महत् मुख निर्गलित भगवत् कथा भी सुस्वादु है। श्रीमद् भागवत परम भागवत श्रेष्ठ के मुख निर्गलित होने के कारण अनिर्वचनीय आस्वाद सम्पन्न है। यही आस्वादन की शेष सीमा है। श्रीमद् भागवत आस्वादन व्यतीत तृप्तिलाभ हो नहीं सकती है। स्वतः---निज स्वरूपानुभव से अन्य वस्तु का भोग किंवा अन्य की प्रीति से यहाँतक कि ब्रह्मानुभव से भी इस प्रकार परमास्वाद लाभ नहीं होता है, अतएव तृप्ति भी नहीं होती है, केवल रसमय भागवतास्वादन से ही रसज्ञ गण तृप्त हो सकते हैं। तज्जन्य मोक्षलाभ होने पर भी इस रसका आस्वादन करो। कहा गया है। मोक्ष में भी श्रीमद् भागवत आस्वादनीय वस्तु है-- उस का वर्णन भा० २।१।९ में है---

'परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तम श्लोक लीलया।
गृहीत चेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान्॥

श्रीशुकदेव—मोक्षसुख ब्रह्मानन्द में निमग्न थे, किन्तु उस में अतृप्त होकर श्रीमद् भागवत अध्ययन किये थे। हे राजर्षे! निर्गुण ब्रह्म में अवस्थित होकर भी उत्तम श्लोक भगवान् की लीला से आकृष्ट चित्त होकर श्रीमद् भागवत नामक ग्रन्थाध्ययन मैंने किया था। श्रीशुकदेव ने महाराज परीक्षित् के निकट कहे थे।

किंवा वह रस भगवत् प्रीतिमय होने पर भी निगमकल्पतरु इत्यादि श्लोक में उक्त रसका द्वैविध्य

यस्तूत्तमश्लोक-गुणानुवादः, संगीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः ।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं, कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः ॥"३१२॥ इति ।

ततः सामान्यतो रसत्वमुक्त्वा विशेषतोऽप्याह—अमृतेति, अमृतं तल्लीलारसः,—(भा० १२।१३।११) "हरिलीलाकथाव्रातामृतानन्दित-सत्सुरम्" इति द्वादशे श्रीभागवत-विशेषणात्, (भा० १२।४।४०) "लीलाकथारस-निषेवणम्" इति तस्यैव रसत्वनिर्देशाच्च, 'सत्-सुरम्' इति सन्तोऽत्रात्मारामाः, (भा० १०।१२।११) "इत्थं सताम्" इत्यादिवत्, त एव सुराः,—

---

वर्णित है। भगवत् प्रीति का उपयुक्तत्व—एवं भगवत् प्रीति का परिणामित्व, द्वादशस्कन्ध के भा० १२।३।१४-१५ में उक्त है— "कथा इमास्ते कथिता महीयसां, विताय लोकेषु यशः परेयुषाम् ।
विज्ञान-वैराग्य-विवक्षया विभो, वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम् ॥३११॥
यस्तूत्तमश्लोक-गुणानुवादः, संगीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः ।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं, कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः ॥"३१२॥

श्रीशुक कहे हैं—हे राजन् ! पर लोकगत त्रिलोक में विख्यात भगवदवतार एवं भागवतवृन्द व्यतीत महाराज वृन्द की जो कथा आप के निकट मैंने कहा है, वह विज्ञान अर्थात् विषय की असारताका ज्ञान एवं वैराग्य—इन दोनों का विशेष वर्णन वाग् विलास मात्र है, वह पारमार्थिक नहीं है।

उत्तम श्लोक—भगवदवतार एवं भागवत गण का सर्व दोष निवर्त्तक जो गुणानुवाद—सद्‌गण के द्वारा कीर्त्तित है,—श्रीकृष्ण में अमल भक्ति लाभ हेतु उसका नित्य वारंवार श्रवण करें। अर्थात् रसमय ग्रन्थ श्रीमद् भागवत में उक्त राजन्य वृन्दका चरित्र एवं भक्त भगवान् का चरित्र यह द्विविध चरित्र वर्णित हैं। तज्जन्य राजन्य वृन्द का चरित्र अपारमार्थिक होने से भी उस को रस कहते हैं। जो भगवत् प्रीति-रस रूपता को प्राप्त होती है--राजन्य वृन्द के चरित्रमय भागवतांशमें उस प्रीति का उपयुक्तत्व है। राजन्य वृन्द के चरित्र में जो विज्ञान एवं वैराग्य की वर्णना है, उस के द्वारा श्रोतृवृन्द का चित्त भगवत् प्रीत्याविर्भाव का योग्य होता है, तज्जन्य उस में भगवत् प्रीति का उपयुक्तत्व निर्दिष्ट हुआ है। और भक्त एवं भगवान् का चरित्र श्रवण से भगवत् प्रीति का आविर्भाव होता है, अतः श्रीमद् भागवत के उस चरित्रमय अंश में भगवत् प्रीति का परिणामित्व वर्त्तमान है। उद्धृत श्लोक द्वयमें रसद्वैविध्य का दृष्टान्त है।

रस की द्विविधता हेतु "रसं" शब्द से साधारण रूपसे रसका उल्लेख करके विशेष भाव से कहे हैं—"अमृत द्रवसंयुतं—अमृत—भगवल्लीला रस है। कारण, भा० १२।१३।११ में "हरिलीलाकथा व्राता मृतानन्दित सत्सुरम्" विशेषण की योजना की गई हैं। भा० १०।४।४० में "लीलाकथा-रस निषेवण" उक्त पद के द्वारा श्रीमद् भागवत का ही रसत्व निर्देश किये हैं। हरिलीलाकथा व्राता इत्यादि श्लोक में जो 'सत् सुरम्' शब्द का उल्लेख है—उस का अर्थ—आत्मारामगण हैं। भा० १०।१२।११ में उक्त "इत्थं सताम्" श्लोक में जिस प्रकार सत् शब्द से आत्माराम वृन्द का ग्रहण हुआ है, यहाँपर भी उनके समान आत्माराम गण को सत् शब्द से निर्देश किया गया है। केवल अमृत—भगवल्लीलारस आस्वादन करने के कारण—वे सद्‌गण ही देवता हैं। अर्थात् प्रसिद्ध देवगण के द्वारा अमृत आस्वादन के समान सद् गण केवल भगवत्-लीलामृत आस्वादन करते हैं, अतः उन सब को देवता कहा गया है। यहाँपर अमृत द्रव शब्द से-लीलारस का सार ही कथित हुआ है। तज्जन्य इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिये। यद्यपि प्रीतिमय रस ही श्रेष्ठ है, तथापि यहाँपर विवेक है—अर्थात् विचार है। रसानुभवी द्विविध हैं, "पान करो" इस प्रकार उपदेश जिन

अमृतमात्रस्वादित्वात् । अत्र त्वमृतद्रव-पदेन लीलारसस्य सार एवोच्यते । तस्मादेवं व्याख्येयम्—यद्यपि प्रीतिमयरस एव श्रेयान्, तथाप्यस्त्यत्र विवेकः। रसानुभविनो ह्यत्र द्विविधाः— पिबतेत्युपदेश्याः, स्वतस्तदनुभविनो लीलापरिकराश्च, तत्र लीलापरिकरा एव तस्य सारमनुभवन्ति,— अन्तरङ्गत्वात् परे तु यत्किञ्चिदेव,–बहिरङ्गत्वात् । यद्यप्येवम्, तथापि तदनुभवमयं रससारं स्वानुभवमयेन रसेनैकतया विभाव्य पिबत । यतस्तादृशतया तादृशशुकमुखाद्गलितम्-प्रवाहरूपेण वहन्तमित्यर्थः । तदेवं भगवत्प्रीतेः परमरसत्वाप्तिः शब्दोपात्तैव, अन्यत्र च (भा० १२।१३।१५) "सर्ववेदान्तसारं हि" इत्यादौ "तद्रसामृततृप्तस्य" इत्यादि । एवमेवाभिप्रेत्य भावुका इत्यत्र "रसविशेषभावनाचतुराः" इति टीका, तथा (भा० १।५।१९) "स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुन-,र्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो जनः" इत्यादि श्रीवेदव्यासः ॥

१११। एवं विभावादि-संयोगेन भगवत्प्रीतिमयो रसो व्यक्तीभवति । तत्र लौकिक

---

के प्रति प्रयुक्त हो सकता है वे,--और जो स्वयं ही लीला रसानुभव कर रहे हैं– उस प्रकार लीलापरिकर गण । उनके मध्यमें लीलापरिकर गण ही रस का सार अनुभव करते हैं, कारण, वे अन्तरङ्ग हैं । अन्य सब यत् किञ्चित् रससार का आस्वादन करते हैं । कारण, वे हैं बहिरङ्ग । यद्यपि स्थिति इस प्रकार ही है, तथापि—लीला परिकर वृन्द के अनुभवमय रस के सहित एकरूप भावनाकर पान करो । कारण, तादृश रूप में ही वह शुक मुखसे यह गलित---प्रवाहित हो रहा है। ऐसा होने पर इस प्रकार भगवत् प्रीति का परम रसत्व—शब्द अर्थात् शास्त्राक्षर के द्वारा ही प्रमाणित हुआ है । अन्यत्र--अर्थात् भा० १२।१३।१५ में उक्त है- -

"सर्व वेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्व लक्षणम् ।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैक प्रयोजनम् ॥

ब्रह्म, परमात्मा भगवान् त्रिधा आविर्भूत सर्व वेदान्तसार जो अद्वितीय वस्तु है, श्रीमद् भागवत नामक यह पुराण तन्निष्ठ है । कैवल्य इस का एकमात्र प्रयोजन है । केवल-शुद्ध, उसका भाव कैवल्य, यह कैवल्य ही जिस का प्रयोजन है---अर्थात् परम पुरुषार्थ रूप में जिसका प्रतिपाद्य है, वही श्रीमद् भागवत है । इस श्लोक में भागवत शब्द का उल्लेख न होने पर भी इसके पूर्व श्लोक में भागवत शब्द का उल्लेख है, उस के सहित इस का अन्वय है । उक्त श्लोकस्थित रसामृत तृप्त पदके द्वारा इसका परम रसत्व घोषित हुआ है । अर्थात् इस रस का आस्वादन करने के पश्चात् अन्यत्र कहीं पर प्रीति नहीं होती है, अतः भगवत् प्रीति रस का विशेषत्व सूचित हुआ है । भगवत् प्रीति का ही परम रसत्व है, इस अभिप्राय से ही श्रीधर स्वामिपादने मूल श्लोकस्थित 'भावुक' शब्द का अर्थ किया है— 'रसविशेष भावनाचतुराः" रस विशेष भावना चतुर । यहाँपर प्रदत्त विशेष पद से रसका श्रेष्ठत्व सूचित हुआ है । भा० १।५।१९ में उसी प्रकार उक्ति है—"स्मरन् मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुन विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो जनः' रसज्ञ जन,–मुकुन्द चरणालिङ्गन का स्मरन् करके उसको परित्याग करने की इच्छा नहीं करते हैं । यहाँ चरणालिङ्गन शब्दसे भगवत् प्रीति रसास्वादन कथित हुआ है, उसकी परमोपादेयता निबन्धन, उस रसास्वादनरत व्यक्ति-उस को परित्याग करने में असमर्थ है । श्रीवेदव्यास कहे थे ॥११०॥

१११ । दृश्य काव्य की रस भावना विधि ।

नाट्य-रसविदामपि पक्षचतुष्कम्, रसस्य मुख्यया वृत्त्यानुकार्य्ये प्राचीने नायक एव वृत्तिः, नटे तूपचारादित्येकः पक्षः, पूर्वत्र लौकिकत्वात् पारिमित्याद्भयादि-सान्तरायत्वाच्चानुकर्त्तरि नट एवेति द्वितीयः, तस्य च शिक्षामात्रेण शून्यचित्ततयैव तदनुकर्त्तृत्वात् सामाजिकेष्वेवेति तृतीयः, यदि च द्वितीये सचेतस्त्वम्, तदोभयत्रापि कथं न स्यादिति चतुर्थ इति।

---

विभावादि के संयोग से भगवत् प्रीतिमय रस निष्पन्न होता है। रसोदय में लौकिक नाट्य रसविद् गणके भी पक्ष चतुष्टय हैं। अर्थात् आश्रय हैं। अनुकार्य्य प्राचीन नायकमें मुख्या वृत्ति में रसकी प्रवृत्ति और नटमें उपचार-अर्थात् गौणी वृत्ति में प्रवृत्ति हेतु उसमें आरोपमात्र होता है, तज्जन्य यह अनुकार्य्य एक पक्ष है।

अनुकार्य्य में लौकिकत्व, पारिमित्य एवं भयादि सान्तरायत्व हेतु अनुकर्त्ता नट में ही रसोदय होता है। यह नट द्वितीय पक्ष है।

अनुकर्त्ता नट, शून्यचित्त होकर ही केवल शिक्षा प्रभावसे नायक का अनुकरण करता है, अतः समाजिक गणमें ही रसोदय होता है। यह तृतीय पक्ष है। अनुकर्त्ता नट यदि सहृदय हो तो नट एवं सामाजिक--उभय में रसोदय क्यों नहीं होगा? यह चतुर्थ पक्ष है।

सारार्थ यह है—किस किस व्यक्ति में रसोदय हो सकता है—यहाँ उस की आलोचना है। साधारण नायक नायिका अवलम्बन से जो नाट्य रचित होता है, उस नाट्य रस विचार में जो विज्ञ है वे ही लौकिक नाट्य रसविद् हैं। उनके मतमें चतुर्विध व्यक्ति के पक्षमें ही रसास्वादन सम्भव होता है। तज्जन्य उनके पक्ष चतुष्टय हैं। यथा (१) अनुकार्य्य, (२) अनुकर्त्ता, (३) सामाजिक, एवं (४) सामाजिक एवं सहृदय अनुकर्त्ता--नट।

अभिनेता जिस का चरित्र अभिनय--अनुकरण करता है, वह नायक अनुकार्य्य है, अभिनेता नट अनुकर्त्ता है। नाट्य काव्य—द्रष्टा श्रोता, स्वच्छ चित्त सभ्य एवं सामाजिक हैं। अभिनेता नट भी स्वच्छ चित्त होने से सहृदय होता है। सत्त्व गुण का आधिक्य ही स्वच्छता के प्रति हेतु है। सत्त्व ही प्रकाशात्मक है। सत्त्व गुण विशिष्ट व्यक्ति के चित्त में काव्य नाटक वर्णित विषय प्रति फलित होकर तन्मयता उपस्थित हो सकती है। ऐसा होने से रसास्वादन सम्भव होता है।

प्राचीन नायक—वह है, जिस का चरित्र अवलम्बन से काव्य-नाटक रचित हुआ है, आश्रयालम्बन, उद्दीपन विभाव, अनुभाव, सात्त्विक एवं सञ्चारिभाव समूह उसकी प्रीति के सहित सम्मिलित होते हैं, अतः प्राचीन नायक में अर्थात् अनुकार्य्य में मुख्यभाव से रस को प्रवृत्ति होती है। और जो नट उस का चरित्र अभिनय करता है,उसके चरित्रमें विभावादिका साक्षात् सम्पर्क नहीं रहता है। अभिनेत्रीका अभिनय कौशल से उसमें नायिका का आरोप होने से विषय अथवा आश्रयालम्बनादि भाव समूह व्यक्त होते हैं। तज्जन्य उसमें गौण भाव से रस की प्रवृत्ति सम्भव होती है। इस प्रकार प्राचीन नायक एवं एकपक्ष नहीं हो सकता है। यहाँ प्राचीन नायक में मुख्य एवं नट में गौण भाव से रसकी प्रवृत्ति होती है।

तदनन्तर—लौकिक रसविद्, गण, प्रथम पक्ष तादृश युक्ति सह न होने के कारण—द्वितीय पक्ष निर्णय करते हैं। प्रथम पक्ष युक्ति सह न होने के कारण यह है—प्राचीन नायक नायिका मर्त्त्य जगत् के व्यक्ति हैं, उस का जीवन अवधि पूर्ण है, एवं मृत्यु अवश्यम्भावी है। उस से लौकिक प्रीति का ध्वंस होना भी सुनिश्चित है। और जागतिक विघ्न समूह में उक्त प्राचीन नायकादि में मानसिक चाञ्चल्य रहना भी

श्रीभागवतानान्तु सर्वत्रैव तत्प्रीतिमयरस-स्वीकारः,-लौकिकत्वादिहेतोरभावात्। तत्रापि विशेषतोऽनुकार्य्येषु तत्परिकरेषु येषां नित्यमेव हृदय-मध्यारूढ़ः पूर्णो रसोऽनुकर्त्रादिषु सञ्चरति, तत्र भगवत्प्रीतेरलौकिकत्वमपरिमितत्वञ्च स्वत एव सिद्धम्, न तु लौकिक—

---

स्वाभाविक है। तादृशमनोयुक्त नायक में ब्रह्मानन्द सहोदर रसकी निष्पत्ति नहीं हो सकती है। अतएव प्राचीन नायकादि रस निष्पत्ति का आश्रय नहीं हो सकते हैं। नट प्राचीन नायक के भाव में विभावित होकर विश्व को भूल ही जाता है। अतएव उसमें रस निष्पत्ति हो सकती है।

लौकिक रसविद् गण द्वितीय पक्ष की सारवत्ता की उपलब्धि नहीं करते हैं। तज्जन्य तृतीय पक्ष उपस्थित करते हैं। द्वितीय पक्ष युक्ति सह न होने का कारण है—द्वितीय पक्ष के जो नट है—वह शिक्षाके द्वारा ही प्राचीन नायक के चरित्र का अभिनय करता है। उस में सहृदयता का, अर्थात् रसोपलब्धि करने की क्षमता का—प्रयोजन नहीं है। अतएव नट में भी रसोद्बोध नहीं हो सकता है। एकमात्र सामाजिक ही रसोद्बोध का आश्रय है, सामाजिक में सहृदयता है। श्रव्य एवं दृश्यकाव्य को सुनकर एवं देखकर सामाजिक जन जगद् विस्मृत होता है। काव्य शास्त्रानुभव करने की शक्ति भी सामाजिक में है। अतएव सामाजिक का रसोद्बोध होता है। वे उस में किसी प्रकार बाधा का अनुभव नहीं करते हैं।

अनन्तर अपर एक पक्ष का उद्भावन होता है। सामाजिक तो रसास्वादन करता है, किन्तु यदि नट भी सहृदय होता है तो, एवं काव्यास्वादन की क्षमता भी उस में हो, तो, वह क्यों रसास्वादन नहीं कर सकेगा? अवश्य ही रसास्वादन कर सकेगा। यहाँ रसोद्बोधक की बाधक युक्ति नहीं है।

वास्तविक—प्राकृत रस विचार में यह प्रतीत होता है कि—सामाजिक एवं सहृदय नट ही रसास्वादन में समर्थ है। अनुकर्त्ता में रसास्वादन होता है, यह बोध नहीं होता है।

लौकिक रस विद् गण के मत में जो पक्ष चतुष्टय उद्भावित हुये हैं, अलौकिक रस में उक्त पक्ष चतुष्टय के सब ही व्यक्ति रसास्वादन करते हैं। अनुकार्य्यादि कोई भी रसास्वादन में वञ्चित नहीं होते हैं। उक्त युक्ति समूह भगवत् रसास्वादनमें प्रयोज्य नहीं होते हैं। किन्तु अनुकर्त्ता के पक्षमें भावुक होना अत्यावश्यक है। यहाँ यही वैशिष्ट्य है।

इस का प्रदर्शन श्रीजीव गोस्वामी पाद करते हैं—लौकिक नाट्य रसविद् गणके मतमें ही पक्ष चतुष्टय के मध्य में सामाजिक एवं सहृदय अनुकर्त्ता में रस निष्पत्ति स्वीकृत हुई है। किन्तु भगवत् रसविद् गणके मतमें अनुकार्य्य, अनुकर्त्ता, एवं सामाजिक—सर्वत्र ही रस स्वीकृत हुआ है, कारण, उस में लौकिकत्वादि हेतु का अभाव है, अनुकार्य्य एवं उस के परिकर गणमें विशेष रूप से रसोदय स्वीकृत हुआ है। जिस के हृदयारूढ़ परिपूर्ण रस,—अनुकर्त्ता प्रभृति में भी सञ्चारित होता है। उसमें भगवत् प्रीति का अलौकिकत्व, अपरिमितत्व स्वतः सिद्ध है।

सारार्थ यह है—अलौकिक-अर्थात् भगवत् प्रीति रस में श्रीभगवान् एवं उनके परिकर गण अनुकार्य्य होते हैं। लौकिक अनुकार्य्य में लौकिकत्व, परिमितत्व एवं मयादि सान्तरायत्व दोष विद्यमान होने से रसोदय होना असम्भव होता है। श्रीभगवान् एवं भक्त-अलौकिक अनुकार्य्य होने के कारण उनमें उक्त त्रिविध दोष रह नहीं सकते हैं। तज्जन्य अलौकिक अनुकार्य्य में रसोदय हो सकता है। जिनके हृदयस्थित नित्य प्रवाहशील परिपूर्ण रस, अनुकर्त्ता प्रभृति में सञ्चारित होकर उनके हृदय को रसमय कर देता है, वह अनुकार्य्य एवं उनके परिकर गण में जो विशेष भाव से रसोदय होता है—इस विषय में अधिक कहना अनुचित है।

रत्यादिवत् काव्य-कल्पितम्, तच्च स्वरूपनिरूपणे स्थापितम्, भयाद्यनवच्छेद्यत्वं श्रीप्रह्लादादौ श्रीव्रजदेव्यादौ च व्यक्तम् । जन्मान्तराद्यनवच्छेद्यत्वञ्च श्रीवृत्र-गजेन्द्रादौ दृष्टम्, श्रीभरतादौ वा, किं बहुना ? ब्रह्मानन्दाद्यनवच्छेद्यत्वमपि श्रीशुकादौ प्रसिद्धम् । एवं तत्-

---

इस रीति से अलौकिक रसमें अनुकार्य्य गत रस स्वीकार करने पर अनुकर्त्ता में रसोदय स्वीकार करने के पक्ष में विशेष आपत्ति उपस्थित हो सकती है । यहाँ साधारण नट-अनुकर्त्ता नहीं हो सकता है । इसका कारण निर्देश अग्रिम ग्रन्थ में होगा ।

भक्त ही अनुकर्त्ता होता है । ऐसा होने पर भी उस में पूर्वोक्त लौकिकत्वादि दोष रह सकते हैं, एवं शिक्षा भी आनुकरणिक ही है ? उत्तर में कहते हैं—तत्रापि विशेषतोऽनुकार्य्येषु तत् परिकरेषु येषां नित्यमेव हृदयमध्यारूढः पूर्णोरसोऽनुकर्त्रादिषु सञ्चरति," इसका तात्पर्य्य यह है कि— अनुकर्त्ता का रस निजस्व नहीं है । जो सब महाभागवत गण के हृदय में श्रीभगवत् स्वरूप समूह में एवं उनके परिकर गण में रस परिपूर्ण रूप में विराजित हैं । उनकी कृपासे उनके हृदयस्थ रस अनुकर्त्ता में सञ्चारित होता है । स्वरूप शक्ति की वृत्तिभूता भक्ति–महाभागवत की कृपा से प्राकृत इन्द्रिय में जिस प्रकार सञ्चारित होती है, एवं उसमें अप्राकृतत्व का व्यतिक्रम नहीं होता है । यहाँपर भी उस प्रकार जानना होगा । सामाजिक गण में भी महाभागवतादि की कृपासे रस सञ्चारित होता है । अनुकर्त्ता प्रभृति में—यहाँ प्रभृति पद प्रयोग का यही उद्देश्य है ।

और भक्त गण ही अनुकर्त्ता हो सकते हैं—इस प्रकार कहने से— उनका अनुकर्त्तृत्व जो शिक्षालब्ध नहीं है, किन्तु भक्ति सम्भूत है, यह व्यञ्जित हुआ भक्ति प्रभाव से उनसब का अलौकिकत्वादि दोष तिरोहित होते हैं । भक्ति में जो इस प्रकार शक्ति है, इस का वर्णन पहले हुआ है–अनुकार्य्य में अलौकिक रसोदय प्रतिपन्न करने के निमित्त प्रवृत्त होकर प्रसङ्ग क्रमसे अनुकर्त्तृ गत रसोदयका स्थापन कियागया है ।

भगवत् प्रीति जो लौकिक रत्यादि के समान काव्य कल्पित नहीं है, प्रीतिका स्वरूप लक्षण निरूपण प्रकरण में उस का स्थापन हुआ है । भयादि के द्वारा अविच्छेद्यत्व--श्रीप्रह्लादादि में एवं श्रीव्रजदेवी प्रभृति में सुव्यक्त है । जन्मान्तरादि के द्वारा अच्छेद्य के दृष्टान्त- श्रीवृत्त एवं गजेन्द्र प्रभृति हैं । श्रीभरतादि भी उस के दृष्टान्त हैं । इस विषय में तो अधिक कहना ही क्या है—ब्रह्मानन्दादि के द्वारा अच्छेद्यत्व का उदाहरण श्रीशुकदेवादि में सुप्रसिद्ध है ।

अभिप्राय यह है । लौकिक अनुकार्य्य नायक नायिका में लौकिकत्व, परिमितत्व एवं सान्तरायत्व विद्यमान होने के कारण, लौकिकरसशास्त्रकार गण उस में रसोदय स्वीकार नहीं करते हैं। किन्तु उसके चरित्र जो रसावह होता है । उसका कारण है—काव्य,--वह है–कवि की लेखनी चालन का चातुर्य्य विशेष । उस कवि कृति रूप काव्य में कवि रति प्रभृति रसोपकरण समूह को अशेष सौन्दर्य्य प्रदान करते हैं । उस से ही सहृदय नट, एवं सामाजिक–रसास्वादन करते हैं । भगवत् प्रीति किन्तु केवल कवि प्रतिभा नहीं है, वह सत्य है' प्रीति का स्वरूप निर्णय प्रसङ्ग में इसका वर्णन हुआ है ।

अनुकार्य्य में रसोदय के पक्ष जो विघ्नगणका उल्लेख किया गया है, केवल अनुकार्य्य में ही नहीं किन्तु अनुकार्य्य के परिकर गण में भी उक्त विघ्नों के मध्य में एक की विद्यमानता में रसोदय नहीं हो सकता है । किन्तु अलौकिक रस के आधार में उक्त दोष की सम्भावना नहीं है । अलौकिक रस में अनुकार्य्य एवं उसके परिकर गण में परिमितत्व एवं लौकिकत्वादि दोष नहीं है । अनुकार्य्य के परिकर भक्त गण जो भयादि अन्तराय रहित हैं--उसका वर्णन करते हैं ।

कारणादेश्चालौकिकत्वं ज्ञेयम् । तत्रालम्बन-कारणस्य श्रीभगवतोऽसमोद्‌र्ध्वातिशयि--भगवत्त्वादेव सिद्धम्, तत्परिकरस्य च तत्तुल्यत्वादेव, तच्च श्रुति पुराणादि-दुन्दुभिघोषितम् । अथोद्दीपन-कारणानां तदीयानाञ्च तदीयत्वादेव, तच्च यथा दर्शितम्–(भा० ३।१५।४३) "तस्यारविन्द-नयनस्य" इत्यादौ "चकार तेषां, संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः" इति, (भा० १०।४४।१४) "गोप्यस्तपः किमचरन्" इत्यादि, (भा० १०।२९।४०) "का स्त्र्यङ्ग" इत्यादौ "यद्‌गो-द्विज-द्रुमा-मृगाः पुलकान्यबिभ्रन्" इति, (भा० १०।३५।१४) "विविधगोपचरणेषु विदग्धः" इत्यादि, वेणुवाद्य-वर्णने, (भा० १०।३५।१५)—

---

अन्तराय—शब्द का अर्थ है विघ्न । भयादि उपस्थित होने से लौकिक नायक नायिका की प्रीति भङ्ग हो सकती है, किन्तु महाभय, अन्य उपद्रव, महाव्यवधान किं वा सुखातिशय्य भी भक्त गण की प्रीति रोध करने में समर्थ नहीं हैं । निष्ठुर दैत्यपति हिरण्यकशिपु द्वारा उद्भासित अशेष भय एवं त्रैलोक्यराज्य का प्रलोभन-प्रह्लाद की प्रीति भङ्ग करने में सक्षम तो नहीं हुये-ह्रास भी नहीं कर पाये थे । लोकभय, धर्म भय, गुरु गञ्जन प्रभृति श्रीव्रजदेवी गण की प्रीति को कम करने में सक्षम नहीं हुये । जन्मान्तर में सब कुछ विस्मृत हो जाते हैं, किन्तु वृत्र एवं गजेन्द्र की प्रीति भङ्ग वह कर न सका । पूर्व जन्म में वृत्रासुर चित्र केतु राजा था, उस समय भगवत् प्रीति का उदय हुआ था, पार्वती के शाप से असुर जन्म होने पर भी प्रीति अक्षुण्ण रही । गजेन्द्र पूर्व जन्म में इन्द्रद्युम्न राजा था, अगस्त्य के शाप से गज होकर जन्म ग्रहण करने पर भी भगवत् प्रीति विनष्ट नहीं हुई । राजर्षि भरत जो भगवत् प्रीति लाभ किये थे, मृग देह ब्राह्मण देह प्राप्त होने पर भी वह प्रीति विनष्ट नहीं हुई । ब्रह्मानन्दको तो स्वयं ही बिलीन कर देती है,शुकदेव-उस ब्रह्मानन्द को प्राप्त करके भी भगवत् प्रीति से मुक्त नहीं हुये । आप प्राप्त ब्रह्मानन्द की उपेक्षा करके भगवत् प्रीति रस में निमग्न हो गये थे । ये सब परम भागवत वृन्द के चरित्रानुशीलन करने से ज्ञात होता है कि—भक्त गण की प्रीति भङ्ग करने में समर्थ--कोई भी विघ्न नहीं हैं । इससे सान्तराय राहित्यका वर्णन हुआ ।

"एवं तत् कारणादेश्चालौकिकत्वं ज्ञेयम्" इस प्रकार से ज्ञात होता है कि--अलौकिक रस के कारणादि--विभावादि--अलौकिक ही हैं । उसमें आलम्बन कारण, अर्थात् विषयालम्बन—श्रीभगवान् की अलौकिकत्व असमोद्‌र्ध्वातिशय भगवत्ता के द्वारा सिद्ध होता है । आश्रयालम्बन--उनके परिकर गण होते हैं, उनके ही सदृश होने के कारण उनका भी अलौकिकत्व सिद्ध होता है । भगवत् परिकर गण की भगवत्तुल्यता, श्रुति पुराणादि रूप दुन्दुभि घोष द्वारा सुसिद्ध है । अनन्तर भगवत् प्रीति रस के उद्दीपन विभाव समूह श्रीभगवत् सम्पर्कित होने के कारण वे सब भी अलौकिक हैं । उद्दीपन बिभाव समूह का अलौकिकत्व का प्रदर्शन निम्नोक्त श्लोक समूह के द्वारा हुआ है ।

भा० ३।१५।४३ में उक्त, "तस्यारविन्द नयनस्य" "चकार तेषां, संक्षोभमक्षरजषामपि चित्ततन्वोः"

कमल नयन श्रीहरि चरणस्थित कमल केशर मिश्रा तुलसी के सुगन्ध युक्त वायु-ब्रह्मानन्द सेवी सनकादि के नासारन्ध्र में प्रविष्ट होकर उनके चित्त तनु को क्षुब्धा किया था ।

भा० १०।४४।१४ में उक्त है "गोप्यस्तपः किमचरन्" मथुरानारी की उक्ति है--गोपीगणोंने कैसी अनिर्बचनीय तपस्या की है । उन्होंने श्रीकृष्ण के नित्य नूतन मनोहर रूप का दर्शन अपलक नयनों से किया है । वह रूप—लावण्य का सार है, इस के तुल्य वा अधिक लावण्यशाली अपर कोई भी नहीं हैं, यह रूप अनन्य सिद्ध यश ऐश्वर्य्य एवं लक्ष्मी का एकान्त आश्रय है, यह अतिशय दुर्ल्लभ है। भा० १०।३५।१४ में

"सवनशस्तदुपधार्य्य सुरेशाः, शक्र-शर्व-परमेष्ठि-पुरोगाः।
कवय आनतकन्धरचित्ताः, कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः ॥"३१३॥ इति ।

आगन्तुका अपि तच्छक्त्युपबृंहितत्वेन सादृश्यात्तत्स्फूर्त्तिमयत्वेन चालौकिकीं दशामानुवन्ति, यथोक्तम् (भा० १०।२०।३१)—

"प्रावृट्श्रियञ्च तां वीक्ष्य सर्वभूत-सुखावहाम्।
भगवान् पूजयाञ्चक्र आत्मशक्त्युपबृंहिताम् "३१४॥ इति ।

---

उक्त है— "का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायत वेणुगीत सम्मोहितार्य्य चरितान्नचलेत् त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्य सौभगमिदञ्च निरीक्ष्य रूपं यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥"

हे कृष्ण ! त्रैलोक्य सौन्दर्य्य का समावेश जिस रूप में है, तुम्हारे उस रूप को देखकर गो, हरिण, पक्षी एवं वृक्ष समूह--पुलकाचित होते हैं। भा० १०।३५।१४ में के "विविधगोपचरणेषु विदग्धः" विविध गोप क्रीड़ा में निपुण इत्यादि वेणु वाद्य वर्णन प्रसङ्ग में उक्त है—भा० १०।३५।१५—

"सवनशस्तदुपधार्य्य सुरेशाः, शक्रशर्व परमेष्ठि पुरोगाः।
कवय आनतकन्धरचित्ताः, कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः ॥"३१३॥

बारम्बार वेणु ध्वनि को सुनकर इन्द्र, शिव, ब्रह्मा प्रमुख देवेश्वर गण के कन्धर एवं चित्त आनत होते हैं, वे विज्ञ होने से भी उस स्वरालाप का भेद को निर्णय करने में अक्षम होकर मोह प्राप्त होते हैं।

आगन्तुक उद्दीपन समूह उनके स्वरूप भूत न होने पर भी तदीय शक्ति के द्वारा वृद्धि प्राप्त होते हैं, एवं स्वरूप भूत वस्तु के सादृश्य वशतः भगवत् स्फूर्त्तिमयता के द्वारा अलौकिकी दशा को प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार भा० १०।२०।३१ में श्रीशुकदेवने कहा है—

"प्रावृट्श्रियञ्च तां वीक्ष्य सर्वभूत सुखावहाम्।
भगवान् पूजयाञ्चक्र आत्मशक्त्युपबृंहिताम् ॥"३१४॥

सर्वभूतों के सुखावह वर्षा सौन्दर्य्य का दर्शन करके श्रीकृष्ण निज शक्ति द्वारा वृद्धि प्राप्त उस शोभा का समादर किये थे। जिस प्रकार--मेघ-प्रभृति । अर्थात् शक्ति से वृद्धि प्राप्त होकर मेघादि उद्दीपन विभाव होते हैं।

भावार्थ यह है—स्थायि भाव रूप भगवत् प्रीति, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक एवं व्यभिचारी भाव के संयोग से रसावस्था को प्राप्त होती है। उसके मध्य में प्रीति का विशेष परिचय प्रदान करके उस का अलौकिकत्व प्रतिपन्न किया गया है—तत् पश्चात् विभाव का अलौकिकत्व प्रदर्शन हुआ है।

रति के आस्वादन कारण को विभाव कहते हैं। वह विभाव, द्विविध हैं—आलम्बन एवं उद्दीपन। रतिका विषयालम्बन श्रीभगवान् हैं, एवं आश्रयालम्बन—भक्त गण हैं, असमोर्द्ध्वातिशायि भगवत्ता के द्वारा एवं भगवत् सादृश्य के द्वारा उन सब का अलौकिकत्व प्रतिपादन किया गया है। यह भगवत्ता लोक में असम्भव होने के कारण श्रीभगवान् में अलौकिकत्व है, एवं श्रुत्यादि शास्त्र की स्पष्ट उक्ति प्रमाण से भक्त गण उन भगवान् के सदृश होने के कारण--उनका अलौकिकत्व है। कारण, भगवत् सादृश्य-साधारण लोक में असम्भव है। इस रीति से आलम्बन विभाव का अलौकिकत्व निर्णीत हुआ।

उद्दीपन विभाव-श्रीकृष्ण के गुण, चेष्टा, प्रसाधन, हास्य, अङ्गगन्ध, वंशी, शृङ्ग, शङ्ख, पदचिह्न,

यथा मेघादयश्च, तथा कार्य्यरूपाः पुलकादयोऽप्यलौकिकाः, ये खलु (भा० १०।२१।१९) "अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणाम्" इत्यादौ तर्वादिष्वप्युद्भवन्तो मनुष्येषु स्वस्यात्यद्-

---

क्षेत्र-लीलाभूमि, तुलसी, भक्त, तद्वासर--एकादशी प्रभृति हैं ।

उद्दीपन विभाव समूह का अलौकिकत्व विचार प्रसङ्ग में विषयद्वय का अनुसन्धान करना कर्त्तव्य है। उनके सम्बन्ध में लौकिक वस्तु समूह का अलौकिकत्व एवं नरलीला में भी उनके गुण चेष्टादि का अलौकिकत्व । वंशी शृङ्गादि लौकिक वस्तु हैं, श्रीकृष्ण के यह सब अलौकिक होते हैं । चतुः सन के अनुभव के द्वारा उस का प्रति पादन किया गया है । (तस्यारविन्दनयनस्य ) कमल नयन श्रीहरि के इत्यादि श्लोक में दर्शाया गया है— तुलसी-श्रीहरि के चरणों में अर्पित होकर गन्ध के द्वारा ब्रह्मानन्द सेवी सनकादि के चित्र को क्षुब्ध करी थी । ब्रह्मानन्द सेवी मुनिगण--आत्माराम हैं, जागतिक वस्तु के द्वारा उनका चित्त क्षुब्ध हो ही नहीं सकता, श्रीचरण सम्पर्कित तुलसी गन्ध से चित्त क्षुब्ध होने के कारण, उसका अलौकिकत्व प्रतिपन्न हुआ ।

गोप्यस्तप इत्यादि प्रकरण के गोपीगणोंने कैसी अनिर्वचनीय तपस्या की है—इत्यादि श्लोक में श्रीकृष्ण की नर लीला में रूप की असमोर्द्ध्वता, यश, श्रीऐश्वर्य्य का एकान्त आश्रयत्व, एवं अनन्य सिद्धत्व का उल्लेख हेतु उसका अलौकिकत्व प्रतिपन्न हुआ ।

"का स्त्र्यङ्गते" इत्यादि श्लोक में—श्रीकृष्ण रूप को त्रैलोक्य सौन्दर्य्य का एकमात्र आश्रय एवं तद् द्वारा गवादि का पुलक वर्णन से उसका अलौकिकत्व प्रतिपन्न हुआ । कारण, इस जगत् के किसी के रूप में उस प्रकार सामर्थ्य सम्भव नहीं है ।

विविध गोप क्रीड़ा इत्यादि श्लोक में श्रीकृष्ण की वेणु ध्वनि से इन्द्रादि का मोह वर्णित होने के कारण—वेणु ध्वनि का अलौकिकत्व स्थापित हुआ । कारण, इस जगत् के किसी की वेणु ध्वनि से वैसा होना सम्भव नहीं है ।

यहाँतक भगवत् सम्पर्कित उद्दीपन विभाव समूह का अलौकिकत्व प्रदर्शित हुआ । यह सब सर्वदा ही प्रीति के उद्दीपन होते हैं । समय समय में जागतिक अन्यान्य द्रव्य भी उद्दीपक होते हैं । उसको आगन्तुक कहते हैं । साधारणावस्था में जो पदार्थ उद्दीपक होने में असमर्थ हैं, भगवत् शक्ति योग से वैशिष्ट्य प्राप्त कर वे सब भी उद्दीपक होते हैं। इस प्रकार के वैशिष्ट्य प्रमाण हेतु "सर्व प्राणी का सुखा वह" श्लोक उद्धृत हुआ है । श्रीकृष्ण शक्तिसे पुष्ट वर्षा सौन्दर्य्य उनका आदरणीय हुआ था, यह दर्शाया गया है । उस प्रकार भगवत् शक्ति पुष्ट उद्दीपक वस्तु का दृष्टान्त-मेघादि हैं । साधारणतः मेघादि उद्दीपक नहीं हैं। श्रीकृष्ण शक्ति योग से वैशिष्ट्य प्राप्त मेघादि उद्दीपक हैं । समय विशेष में प्रीतिमानको रसास्वादन कराने के निमित्त मेघादि में शक्ति सञ्चारित की जाती है । इस में आगन्तुक उद्दीपन विभाव समूह का भी अलौकिकत्व प्रतिपादन हुआ ।

कारण रूप विभाव समूह जिस प्रकार अलौकिक हैं, कार्य्य रूप अनुभाव पुलकादि भी उस प्रकार अलौकिक हैं । भा० १०।२१।१९ में उक्त है—"अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणाम्" श्रीकृष्ण की वेणु ध्वनि को सुनकर जङ्गम समूह में अस्पन्दन-स्तम्भभाव, एवं वृक्ष समूह में पुलकोद्गम हुआ था । इस वर्णन से वृक्षादि में पुलकादि जो सब अनुभाव उत्पन्न होते हैं, मनुष्य वृन्द के पक्ष में वे अद्भुत उदय के ही ज्ञापक हैं । अर्थाद्—नृत्य, विलुठन प्रभृति जो सब बाहर की क्रिया चित्तस्थ भाव समूह की प्रकाशिका होती हैं ।

भुतोदयमेव ज्ञापयन्ति । एवं निर्वेदाद्याः सहायाश्चालौकिका मन्तव्याः । यत्र लोकविलक्षण-वैचित्र्यविप्रलम्भादिहेतव उन्मादादय उदाहरिष्यन्ते । क्वचित्तु सर्वेषामपि स्वत एवालौकिकत्वम्, श्रीब्रह्मसंहितायामपि (५।६७-६८)—

---

उस सब को अनुभाव कहते हैं । अष्ट सात्त्विक भावको भी अनुभाव कहते हैं ।

"सात्त्विका अपि येऽन्येऽष्टौ तेऽपि यान्त्यनुभावताम्"

तज्जन्य--स्थायिभाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक एवं सञ्चारी ये पाँच रस के उपकरण होने पर भी इस के पूर्व में सात्त्विक भिन्न अपर चार का उल्लेख किया गया है । एवं स्तम्भ पुलक सात्त्विक भाव होने पर भी यहाँ अनुभाव के दृष्टान्त रूपमें उसका उल्लेख हुआ है ।

अनुभाव समूह का अलौकिकत्व प्रदर्शन निबन्धन उसका दृष्टान्त उपस्थित किया गया है । इन्द्रिय शून्य वृक्षादि भी जिस उद्दीपन से पुलक पूर्ण होते हैं,–इन्द्रिय शक्ति समन्वित मानव में जो वह अनुभाव किस प्रकार अद्भुत भाव से उपस्थित होता है—उसका वर्णन करना असम्भव है । अन्यान्य अनुभाव के पक्ष में भी इस प्रकार जानना होगा । जिस प्रकार श्रीकृष्ण की वंशी ध्वनि श्रवण से मयूर का नृत्य, यमुनाजल स्तम्भन, प्रस्तर का द्रवीभाव इत्यादि । जगत् में इस प्रकार देखने में नहीं आता है । एतज्जन्य भगवत् प्रीति के अनुभाव समूह भी अलौकिक होते हैं ।

वृक्षमें पुलक का जो दृष्टान्त उपस्थित किया गया है–उसका कारण है—श्रीकृष्ण की वंशी ध्वनि, वही उद्दीपन विभाव है । उससे उत्पन्न पुलक रूप कार्य्य—अनुभाव है । इस प्रकार अन्यान्य उद्दीपन विभाव से भी अनुभाव समूह प्रकाशित होते हैं । तज्जन्य अनुभाव को कार्य्य कहते हैं । श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में जितने अनुभाव प्रकाशित होते हैं, वे सब ही अलौकिक हैं ।

"एवं निर्वेदाद्याः सहायाश्चालौकिका मन्तव्याः ।"

इस प्रकार निर्वेदादि सहाय समूह को अलौकिक मानना चाहिये । जिस से जगत् में असाधारण वैचित्र्यसमन्वित विप्रलम्भादि हेतु उन्मादादि उदाहृत होंगे । अर्थात् निर्वेदादि तेतीस व्यभिचारिभाव--रस के सहाय होते हैं । भगवत् प्रीति रस में यह सब भी अलौकिक है । श्रीभगवान् की नर लीला में यह सब प्रकाशित होने पर भी लौकिक नहीं हैं । इस का सदृष्टान्त वर्णन इस सन्दर्भ के शेष भाग में होगा ।

मधुर रस–विप्रलम्भ--सम्भोग भेद से दो प्रकार हैं । कान्त एवं कान्ता का अमिलनका नाम विप्रलम्भ है, कान्त एवं कान्ता मिलित होकर जो भोगास्वादन करता है, उस को सम्भोग कहते हैं । विप्रलम्भ,-पूर्व राग, मान, प्रेम वैचित्य एवं प्रवास भेद से चतुर्विध हैं । नरलीला में भी श्रीकृष्ण प्रेयसी वृन्द के पूर्व रागादि लोक विलक्षण है । अर्थात् जगत् में अन्य नायिका में जो दृष्ट नहीं होते हैं, इस प्रकार विचित्रता--चमत् कारिता उनके पूर्व रागादि चतुर्विध विप्रलम्भ में हैं । उस विप्रलम्भ हेतु उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह--मृत्यु--रूप व्यभिचारी उदित होता है । उसका दृष्टान्त प्रदर्शन ३४५-:३४९ अनुच्छेद, में होगा । और मूल में विप्रलम्भादि पद में जो आदि शब्द का प्रयोग हुआ है—उस से सम्भोग का बोध होता है । सम्भोग हेतु आलस्यादि कतिपय व्यभिचारी का उदय होता है इन सबों का दृष्टान्त प्रदर्शन अग्रिम ग्रन्थ में होगा । यह सब दृष्टान्त व्यभिचारि भाव का अलौकिकत्व के परिचायक हैं । जगत् की अन्य नायिका में तादृश व्यभिचारी भाव असम्भव है । इस प्रकार स्थायिभाव-प्रीति,-विभाव,अनुभाव,एवं व्यभिचारि भाव समूह का अलौकिकत्व प्रदर्शित हुआ ।

प्रपञ्चान्तर्वत्ति लीला में श्रीभगवान् की असमोर्द्ध्वातिशय भगवत्ता, परिकर वृन्द में तत् सादृश्य,

"श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः कल्पतरवो, द्रुमा भूमिश्चिन्तामणिगणमयी तोयममृतम् ।
कथा गानं नाट्यं गमनमपि वंशी प्रियसखी, चिदानन्दं ज्योतिः परमपि तदास्वाद्यमपि च ॥३१५॥
स यत्र क्षीराब्धिः सरति सुरभिभ्यश्च सुमहान्, निमेषार्द्धाख्यो वा व्रजति न हि यत्रापि समयः ।
भजे श्वेतद्वीपं तमहमिह गोलोकमिति यं, विदन्तस्ते सन्तः क्षितिविरलचाराः कतिपये ॥"३१६॥ इति ।

गानं नाट्यमिति तद्वद्रसाधायकमित्यर्थः । तदेवमलौकिकत्वादिनानुकार्य्येऽपि रसे रसत्वापादन-शक्तौ सत्यां प्रीतिकारणादयस्ते तदापि विभावाद्याख्यां भजन्ते । तथैव हि तेषां तत्तदाख्या,

---

उद्दीपन समूह का तदीयत्व एवं अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव का अद्भुतोदय के द्वारा अलौकिकत्व सिद्ध होता है । स्थल विशेष में अर्थात् अप्राकृत लीला में विभावादि का अलौकिकत्व स्वतः सिद्ध है । ब्रह्मसंहिता में इस का वर्णन इस प्रकार है—

'श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुष कल्पतरवो,
द्रुमा भूमिश्चिन्तामणिगणमयी तोयममृतम् ।
कथा गानं नाट्यं गमनमपि वंशी प्रियसखी,
चिदानन्दं ज्योतिः परमपि तदास्वाद्यमपि च ॥३१५॥
स यत्र क्षीराब्धिः सरति सुरभिभ्यश्च सुमहान्,
निमेषार्द्धाख्यो वा व्रजति न हि यत्रापि समयः ।
भजे श्वेतद्वीपं तमहमिह गोलोकमिति यं,
विदन्तस्ते सन्तः क्षितिविरलचाराः कतिपये ॥" ३१६॥

जहाँपर लक्ष्मीगण--कान्ता, परम पुरुष-कान्त, वृक्ष समूह--कल्पतरु भूमि-चिन्तामणि गणमयी, जल अमृत, कथा-गान, गमन-नाट्य, गमन भी नाट्य, वंशी-प्रियसखी, ज्योति-एवं आस्वाद्य-अप्राकृत चिदानन्द है, जहाँ सुरभि से सुमहान् क्षीर समुद्र प्रवाहित होता है । निमेषार्द्ध समय भी-अतीत नहीं होता उस श्वेत द्वीप का मैं-ब्रह्मा-भजन करता हूँ । जिस को इस जगत् के कतिपय साधु पुरुष गोलोक नाम से जानते हैं । गान नाट्य, नाट्य के समान रस सम्पादक है ।

अलौकिकत्वादि हेतु, अनुकार्य्य में भी रस के मध्य में रसत्व प्राप्त कराने की शक्ति विद्यमान होने से प्रीति के उक्त कारणादि— विभावादि नाम से अभिहित होते हैं । उन सब की उन उन आख्या उस रूपमें ही होती है । रस शास्त्र में उक्त है—

"विभावनं रत्यादेर्विशेषेणास्वादाङ्कुरयोग्यतानयनम् । अनुभावनमेवम्भूतस्य रत्यादेः समनन्तरमेव रसादिरूपतया भावनम् सञ्चारणम्—तथाभूतस्य तस्यैव सम्यक् चारणम् ।"

रत्यादि को आस्वादाङ्कुर योग्यता का आनयन को विभावन कहते हैं । इस प्रकार रत्यादि के अव्यवहित पश्चात् रसादि रूप में रूपान्तरित करना--अनुभावन है, उस रत्यादि को सम्यक् रूप से चारण करना--सञ्चारण है ।

सारार्थ यह है—कवि कल्पित काव्य के मूल नायकादि में विभावादि संज्ञा प्रयोग करने की सार्थकता नहीं है । कारण, उसमें लौकिकत्वादि दोष विद्यमान होने से उक्त विभावादि सामग्री रत्यादि को आस्वादन योग्य कर नहीं सकती है । साधारणीकरण रीति से वह सामाजिक प्रभृति में आरोपित होकर योग्यता को प्राप्त कराती है । अलौकिक नायक नायिका में विभावादि संज्ञा प्रयोग व्यर्थ नहीं होता है । कारण,

यथोक्तम्–(साहित्यदर्पणः ३।१३ ) "विभावनं रत्यादेर्विशेषेणास्वादाङ्कुरयोग्यतानयनम् । अनुभावनमेवम्भूतस्य रत्यादेः समनन्तरमेव रसादिरूपतया भावनम्, सञ्चारणम्-तथाभूतस्य तस्यैव सम्यक् चारणम्" इति । किञ्च, स्वाभाविकालौकिकत्वे सति यथा लौकिक-रसविदां लौकिकेभ्योऽपि काव्यसंश्रयादलौकिक-शक्ति वधानेभ्यो विभावाद्याख्याप्राप्त-कारणादिभ्यः शोकादावपि सुखमेव जायत इति रसत्वापत्तिस्तथैवास्माभिर्वियोगादावपि मन्तव्यम् । तत्र बहिस्तदीयवियोगमयदुःखेऽपि परमानन्दघनस्य भगवतस्तद्भावस्य च हृदि स्फूर्त्तिर्विद्यत एव, परमानन्दघनत्वञ्च तयोस्त्यक्तुमशक्यत्वात् । ततः क्षुधातुराणामत्युष्णमधुरदुग्धवन्न तत्र रसत्व-व्याघातः । तदा तद्भावस्य परमानन्दरूपस्यापि वियोगदुःखनिमित्तत्वं चन्द्रादीनां तापनत्वमेव

---

अलौकिकत्वादि निबन्धन उनके मध्य में जो रसोद्बोध होता है-उसका वर्णन पूर्व ग्रन्थ में हुआ है। अतएव उनमें विभावादि शब्द प्रयोग युक्ति संगत है।

जिस समय विभावादि योग से प्रीति रस रूपमें परिणत होती है, उस समय भी विभावादि की उस आख्या रहती है, रसाविर्भाव में जिसका जो कार्य्य है, उसके अनुसार नाम करण भी हुआ है। तज्जन्य रसोदय के पश्चात् वे संज्ञा प्रयोज्य नहीं होती है।

पूर्व में कहा गया है कि—स्थायिभाव–विभावादि योग से रसरूप में परिणत होता है। रत्यादि पद से द्वादश प्रकार रस के द्वादशविध स्थायिभाव निर्दिष्ट हुये हैं। अर्थात् मधुर में रति, प्रियता, वात्सल्य में–वात्सल्य, सख्य में सख्य--दास्य--में-प्रीति, शान्त में—शान्ति, वीर में--उत्साह, करुण में–शोक, अद्भुत में विस्मय, हास्य में–हास्य, भयानक में--भय, बीभत्स में—जुगुप्सा, रौद्र में--क्रोध स्थायिभाव होता है।

जिस का कार्य्य-विभावन है—वह विभाव है। जिस का कार्य्य-अनुभावन है—वह अनुभाव है। जिस का कार्य्य--सञ्चारण है – वह सञ्चारी है, सञ्चारी का अपर नाम व्यभिचारिभाव भी है।

रत्यादि की आस्वादनावस्था का नाम रस है। विभाव रत्यादि में आस्वादन की अङ्कुर अर्थात् आरम्भावस्था का आनयन करता है, तदनन्तर अनुभाव--उस को रस रूपमें परिणत करता है। व्यभिचारि भाव रसावस्था में उन्मुख स्थायिभाव रूप अमृत समुद्र को चालित अर्थात् तरङ्गायित करता है। सञ्चारि भाव–रसोद्बोध का सहकारि कारण है, जिस की अविद्यमानता से रसोद्बोध होना सम्भव नहीं होता है। रसोद्बोध के पहले ही सञ्चारिभाव रत्यादि को चालन करता है, रसको नहीं। रस संञ्चालित हो ही नहीं सकता है। इस से रसावस्था में उन्मुख रत्यादि की चमत्कारिता सिद्ध होती है। अप्राकृत नायकादि में विभावनादि कार्य्य विद्यमान होने के कारण, तत्तत् नाम से ख्यात होते हैं। 'किञ्च'—और भी--काव्य संश्रय में अलौकिक शक्ति समन्वित विभावादि आख्या प्राप्त कारणादि--लौकिक रसोपकरण समूह से लौकिक रसविद् वृन्द को शोकादि में भी सुख होता है,—इस में जिस प्रकार रसता प्राप्ति सम्भव है, उस प्रकार भगवत् प्रीति रस में, रसोपकरण समूह स्वभावतः अलौकिक होने के कारण, वियोगादि में भी अनुकार्य्य एवं उसके परिकर गण के मध्य में रसोद्बोध होता है। इस को स्वीकार करना आवश्यक है।

उस में कभी बाहर श्रीभगवान् का विरह जनित दुःख वर्त्तमान होने पर भी हृदय में परमानन्द घन भगवान् एवं उनकी भाव स्फूर्त्ति निश्चित रहती है। श्रीभगवान् एवं उनकी प्रीति-भाव-उभय ही निज निज स्वरूप निष्ठ परमानन्द घनत्व करने में असमर्थ हैं। तज्जन्य भगवत् प्रीति में वियोगादि में भी परमानन्द होना सम्भव है। इस हेतु क्षुधातुर व्यक्ति में अत्युष्ण अथच मधुर दुग्धान्न के समान वियोग में रसत्व का

ज्ञेयम् । तथा तस्य दुःखस्य च भावानन्दजन्यत्वादायत्यां संयोगसुखपोषकत्वाच्च सुखान्तःपात एव । तथा तदीयस्य करुणस्यापि रसस्य सर्वज्ञवचनादि-रचितप्रात्याशामयत्वात् संयोगावशेषत्वात्तत्र तथैव गतिः सिद्धा । तदेवमनुकार्य्ये रसोदयः सिद्धः' स एव च मुख्यः,— श्रवणजानुरागाद्दर्शनजानुरागस्य श्रेष्ठत्वात् (भा० १०।९०।२६)—

"श्रुतमात्रोऽपि यः स्त्रीणां प्रसह्याकर्षते मनः ।
उरुगायोरुगीतो वा पश्यन्तीनां कुतः पुनः ॥"३१७॥

इति न्यायेन । अतः (भा० ११ ६।४४) "तव विक्रीड़ितं ब्रह्मन्" इत्यादिकोद्धव-वचनमयं

---

व्याघात नहीं होता है । जिस प्रकार चन्द्र किरण--स्वभावतः शीतल होने पर भी विरही जन उस से सन्तप्त होता है, उस प्रकार भगवत् प्रीति परमानन्द रूपा होने पर भी वियोग काल में तज्जनित दुःख हेतु वह होती है । उस प्रकार--वह दुःख भगवदानन्द जनित एवं भावि संयोग सुख का पोषक होने के कारण, वह सुख में अनुर्भुक्त है । भगवद् विषयक करुण रस भी सर्वज्ञ वचनादि रचित प्रत्याशामय होने के कारण एवं अवशेष में संयोग वर्त्तमान होने से उसमें उस प्रकार गति अर्थात् सुखान्त र्भुक्तता सिद्ध होती है । इस रीति से अनुकार्य्य में रसोदय सिद्ध होता है ।

अनुकार्य्य में रसोदय के सम्बन्ध में विपक्ष की आपत्ति यह है । वियोग दशा में रस निष्पन्न कैसे होगा ? अनुकार्य्य उस समय-बिरह दुःख में निमज्जित रहता है । एवं करुण रस भी अनुकार्य्य में कैसे निष्पन्न होगा ? उसका स्थायी शोक है, अनुकार्य्य तो शोकाकुल रहता है । उत्तर यह है—वियोग में भी परमानन्द घन भगवान् एवं भगवत् प्रीति की स्फूर्त्ति हेतु-बाहर उस समय दुःख विद्यमान होने पर भी भीतर में सुख का फल्गु नदीवत् प्रवाह वर्त्तमान रहता है । उस में भी वह दुःख, भावानन्द, जनित एवं भावि सुख पोषक है । तज्जन्य वियोग में भी अनुकार्य्य में रसोदय हो सकता है । पुत्रादि रूप प्रीत्यास्पद-अर्थात्, श्रीभगवान् का विच्छेद वा अनिष्टाशङ्का उपस्थित होने से करुण रस का उद्रेक होता है । उस समय लीला शक्ति की योजना का क्रम से मुनि प्रभृति सर्वज्ञ उपस्थित होकर सन्त्वना प्रदान करते हैं, एवं अवशेष में प्रीत्यास्पद के सहित मिलन होता है । इस से करुण रस का अनुकार्य्य में सुख का सद् भाव हेतु रसोदय हो सकता है ।

अनुकार्य्य में जो रसोदय होता है— वह मुख्य है । कारण, श्रवण जात, अनुराग से दर्शन जात अनुराग श्रेष्ठ है । अर्थात् अनुकार्य का अनुराग–प्रीति का विषय एवं आश्रय परस्पर को देखकर वा अथवा चरित्र सुनकर अनुकर्त्ता वा सामाजिक में अनुराग होता है । एतज्जन्य अनुकार्य्य का अनुराग प्रबल है । भा० १०।९०।२६ में उक्त है—

"श्रुतमात्रोऽपि यः स्त्रीणां प्रसह्याकर्षते मनः ।
उरुगायोरुगीतो वा पश्यन्तीनां कुतः पुनः ।।"३१७॥

ब्रह्मादि श्रेष्ठ व्यक्तिगण जिनका चरित्र गान करते हैं, वह श्रीकृष्ण श्रवण मात्र से ही केवल उनकी कथा श्रवण करने से ही बल पूर्वक नारी वृन्द का मन हरण करते हैं, जो महिषी गण उनका साक्षात् दर्शन करते हैं, उनका मन जो अपहृत हुआ है, उसके सम्बन्ध में और कहना ही क्या है ? इस नियम के अनुसार अनुकार्य्य में अनुराग का प्राबल्य है, तज्जन्य-उस में रसोदय मुख्य है, इस हेतु भा० ११ ६।४४में उक्त है—

"तव विक्रीड़ितं कृष्ण नृणां परम मङ्गलम् ।
कर्ण पियूषमास्वाद्य त्यजन्त्यन्यस्पृहां जनाः ।

पद्यद्वयं चाहार्य्यम् ।

अथानुकर्त्ताप्यत्र भक्त एव सम्मतः,— अन्येषां सम्यक् तदनुकरणासामर्थ्यात् । ततस्तत्रापि तद्रसोदयः स्यादेव, किन्तु भक्तेर्भक्तविषयको भगवद्रसः प्रायो नोदयते,—भक्तिविरोधादेव । ततो नानुक्रियते च । तदनुभवश्च भगवत् सम्बन्धित्वेनैव भवति, नात्मीयत्वेन, स च भक्त रसोद्दीपकत्वेनैव चरितार्थतामापद्यते । ततः क्वचिच्छुद्धभक्तानामपि यदि तदनुभावानुकरणं स्यात्तदा तदीयत्वेनैव तैस्तद्भाव्यते, न ते स्वीयत्वेनेति समाधेयम् । यत्र तु भक्त्यविरोधः,

---

शय्यासनाटन स्थान स्नान क्रीड़ाशनादिषु
कथं त्वां प्रियमात्मानं वयं भक्ता स्त्यजेमहि ॥"

हे कृष्ण ! तुम्हारे लीला समूह, मानव गण के पक्ष में परम मङ्गल जनक एवं कर्ण के पक्ष में अमृत स्वरूप हैं । उस को आस्वादन करके लोक अन्याभिलाष को परित्याग करते हैं । तुम हमारे प्रिय, आत्मा प्राण का प्राण, हम सब तुम्हारे भक्त हैं । शयन आसन, गमन, उपवेशन स्नान, क्रीड़ा एवं भोजन काल में तुम को हम सब परित्याग कैसे कर सकते हैं ।

उक्त श्लोक द्वयमें श्रवणानुराग से दर्शनात्याग का प्राबल्य है, एवं तज्जन्य अनुकार्य्य एवं तत् परिकर गण में परम रसोदय वर्णित हुआ है । तज्जन्य, उद्धव कहे थे—तुम को हम सब क्या विस्मृत हो सकते हैं ?

भगवद् विषयक दृष्ट काव्य में अनुकर्त्ता भी भक्त ही होते हैं । भक्त भिन्न अन्य व्यक्ति सम्पूर्ण रूप से अनुकार्य्य का अनुसरण करने में समर्थ नहीं होते हैं । इस हेतु अनुकर्त्ता भक्त होने के कारण उस में भी अर्थात् अनुकर्त्ता में भी भगवद् विषयक रसोदय होता है । भक्त एवं भगवान् उभय ही अनुकार्य्य हैं, जो अनुकर्त्ता--अनुकार्य्य भक्तका अनुकरण करते हैं, उनका यदि भगवद्विषयक रसोदय होता है तो जो अनुकर्त्ता-अनुकार्य्य भगवान् का अनुकरण करते हैं—अर्थात् भगवच्चरित्र का अभिनय करते हैं, उनका क्या भक्त विषयक रसोदय होता है ? उत्तर में कहते हैं– भगवद् भक्ति से भक्त विषयक भगवद्रस प्रायशः उदित नहीं होता है, कारण, वह भक्ति विरोधी है । तज्जन्य भगवद्रस का अनुकरण भी नहीं होता है । भगवद्रस का अनुभव--भगवत् सम्बन्धि रूप में ही होता है, निज सम्पर्कित रूप में नहीं होता है । यह अनुभव-भक्तगत रस का उद्दीपन रूप में चरितार्थ होता है । सुतरां किसी भी स्थल में शुद्ध भक्त गणके द्वारा भगवदनुभाव,-अर्थात् भगवल्लीला कार्य्य – अनुकरण उपस्थित होता है तो, भक्तगण—तदोय अर्थात् भगवत् सम्पर्कित रूप में ही उस अनुभाव को प्रकाश करते हैं । स्वीय रूप में नहीं । इस प्रकार समाधान करना होगा । जहाँ पर भक्ति का विरोध नहीं होता है, वहाँ उदय हो भी सकता है । जिस प्रकार गद प्रभृति के तुल्य जिनका भाव है, उनमें वसुदेवादि विषय में रसोदय हो सकता है । सामाजिक गणके पक्ष में भक्त होना वाञ्छनीय है । सामाजिक में भी रसोदय सिद्ध है । यह है दृश्य काव्य में रस भावना विधि ।

सारार्थ यह है—भगवल्लीला विषयक दृश्य काव्य में श्रीभगवान् एवं भक्त---उभय के चरित्र अभिनीत होते हैं । अनुकर्त्ता उभय को भूमिका ग्रहण करना पड़ता है । जिस प्रकार राम चन्द्र के लीला विषयक दृश्य काव्याभिनय में विभिन्न अभिनेता को श्रीराम एवं श्रीहनुमान की भूमि का ग्रहण करना होता है । जो भक्त – श्रीहनुमान की भूमिका ग्रहण करते हैं, उनमें श्रीरामचन्द्र विषयक दास्य रसोदय हो सकता है । किन्तु जो भक्त श्रीरामचन्द्र की भूमिका ग्रहण करते हैं, उनमें श्रीहनुमान् के विषय में वात्सल्य रसोदय प्रायशः ही नहीं होता है । इस हेतु जिन को श्रीराम चरित्र का अभिनय करना पड़ता, उनके द्वारा

यथा गदादितुल्यभावानां वसुदेवादौ तत्रोदयतेऽपि, अथ सामाजिका अपि भक्ता एवेष्टा इति, तत्रापि सिद्धिः,–इति दृश्यकाव्येषु रसभावनाविधिः, श्रव्यकाव्येष्वपि वर्णनीय-वर्णकश्रोतृ-भेदेन यथायथं बोद्धव्यः। किञ्चात्र प्रायस्तत्तदपेक्षा रत्यङ्कुरवतामेव, प्रेमादिमतान्तु यथा-कथञ्चित् स्मरणमपि तत्र हेतुः, येषां षड़्जादिमय-स्वरमात्रमपि तत्र हेतुर्भवति, यथोक्तं

---

उस रसोदय का अनुकरण नहीं होता है, उस रस का आश्रय श्रीभगवान् हैं। वह भगवद्रस है। जिस रसका आश्रय भक्त हैं। वही भक्ति रस है। भगवल्लीला विषयक अभिनय में भक्ति ही अनुकर्त्ता भक्त के हृदय में इस का आविर्भाव कराती है। निजाश्रय भक्त में सेवक भाव रक्षा करना ही भक्ति का स्वभाव है। उस भाव का व्यतिक्रम होने से विरोध होता है। भक्त का भगवद्विषयक रस,—निज स्वभाव के एवं भक्ति स्वभाव के अनुकूल होता है। तज्जन्य अनुकर्त्ता भक्त में भगवद्रस उदित होता है। इस रस का विषयालम्बन श्रीभगवान् हैं। अनुकर्त्ता भक्त में भगवद्रस उदित होने से मैं भगवान् हूँ, इस प्रकार तात् कालिक अभिमान होना आवश्यक है, यह अभिमान भक्ति विरोधी है, एवं यह भक्त स्वभाव का प्रतिकूल है। तज्जन्य-अनुकर्त्ता भक्तमें प्रायशः ही भगवद्रस उदित नहीं होता है। जो भक्त नट, भगवच्चरित्र का अभिनय करता है, वह 'भगवान्--अनुकार्य्य–भक्त प्रीति का आस्वादन कैसे करता है-- इसका अनुभव ही करता है। अपना आस्वाद्य है-इस प्रकार धारणा करके नहीं करता है। रस शास्त्र की रीति से कहा जा सकता है। कि--उक्त अनुकर्त्ता में साधारणो करण नहीं होता है। यदि कहीं पर उक्त प्रकार अनुकरण होता है तो वह भक्त रसोद्दीपक होकर सार्थक होता है, अर्थात् भक्त की प्रीति से भगवान् का उल्लास कितना है, यह चिन्ता कर अनुकर्त्ता भक्त का अनुराग वद्धित होता है। उस से भक्ति रस उद्दीपित होता है।

'भक्त विषयक भगवद्रस प्राय कर उदित नहीं होता है'—इस वाक्य में प्राय शब्द का प्रयोग हेतु प्रतीत होता है कि—स्थल विशेष में वह रस उदित होता है, उसका समाधान क्या है ?—उत्तर—स्थल विशेष में शुद्ध भक्त का रसानुभव भगवत् सम्बन्धिरूप में ही होता है। अर्थात् किसी स्थल में शुद्ध भक्त--अनुकर्त्ता में भगवद्रसोदय का कार्य्य—अनुभाव—दृष्ट होने पर भी मानना होगा कि—भक्तने उस को भगवदनुभाव—अर्थात् भगवच्चेष्टा रूप में आविष्कार किया है, अपना अनुभाव रूप में नहीं।

जहाँपर भक्ति विरोध नहीं होता है, वहाँ अनुकर्त्ता में भक्त विषयक रसोदय भी होता है। भगवद्रस भक्त विषयक होने पर भी यहाँ कुछ वैशिष्ट्य है। वहाँ भक्त विषय होने पर भी भगवान् आश्रय नहीं हैं। प्रीति विषय में भगवान् के समान अपर कोई आश्रय नहीं हैं। दृष्टान्त--श्रीवसुदेव का पुत्र भाव जिस प्रकार श्रीकृष्ण में है। श्रीगद नामक पुत्र में भी उनका वह भाव है। किसी अनुकर्त्ता यदि श्रीगद का अनुकरण करता है तो--उसमें वसुदेव विषयक रसोदय होने से वह भक्ति विरोधी नहीं होता है। कारण, तादृश अनुकर्त्ता का श्रीभगवान् के सहित साधारणीकरण नहीं होगा, होगा--श्रीगद के सहित। श्रीगद में है, भक्त भाव। सुतरां अनुकर्त्ता में भक्तभाव रहेगा। भक्तभाव का विरोध न होने से ही भक्ति के सहित विरोध नहीं होता है।

भक्ति अनुगृहीत व्यक्ति व्यतीत अपर के हृदय में भक्ति रस का उदय नहीं हो सकता है, इस हेतु अलौकिकरस वा भक्ति रसमें अनुकर्त्ता के समान सामाजिक को भी भक्त होना वाञ्छनीय है। अभक्त सामाजिक रसास्वादन का अधिकारी नहीं हो सकता है।

काव्य से रसास्वादन होता है। वह काव्य द्विविध हैं। दृश्य काव्य एवं श्रव्य काव्य। जो काव्य, रङ्ग भूमि में नट नटी द्वारा अभिनीत होता है, उस का नाम दृश्य काव्य है, जो काव्य, श्रवण किया जाता

श्रीनारदमुद्दिश्य षष्ठे (भा० ६।५।२२)—

"स्वरब्रह्मणि निर्भात-हृषीकेश-पदाम्बुजे।
अखण्डं चित्तमावेश्य लोकाननुचरन्मुनिः ॥"३१८॥ इति।

ततः प्रेमादिभाव एव तेषु सर्वां सामग्रीमुद्भावयति, यथोक्तं श्रीप्रह्लादमुद्दिश्य-(भा० ७।४।३९)
"क्वचिद्रुदति वैकुण्ठचिन्ताशबलचेतनः" इत्यादिना, (भा० ७।४।४१)—

"क्वचिदुत्पुलकस्तूष्णीमास्ते संस्पर्श-निर्वृतः।
अस्पन्दप्रणयानन्द-सलिलामीलितेक्षणः ॥"३१९॥

---

है—वह श्रव्य काव्य है। श्रव्य काव्य की रसास्वादन परिपाटी को कहते हैं

श्रव्य काव्य की रस भावना विधि।

'श्रव्य काव्येऽपि" श्रव्य काव्य में भी वर्णनीय विषय, वर्णक—(कथक) एवं श्रोता योग्य होने पर रसोदय हो सकता है। यहाँ श्रव्य काव्य वर्णन प्रभृति की अपेक्षा उन सब को है। किन्तु प्रेमादिमान् भक्त के पक्ष में वह अपेक्षा नहीं है। जिस किसी प्रकार से भगवत् स्मृति भी उन सब में रसोदय का कारण है। अधिक कहना ही क्या है—केवल षड़्जादि सप्तस्वर का आलाप भी प्रेमादिमान् भक्त गण में रसोदय का हेतु होता है। अर्थात् रति की उदयावस्था में श्रेष्ठ कथक से चमत्कार पूर्ण भगवत् प्रसङ्ग सुनने से रसोदय हो सकता है, किन्तु प्रेम, स्नेह, प्रणय, प्रभृति रति की उच्च अवस्था में उस की अपेक्षा नहीं है।

मानस पटल में भगवत् कथा उदित होने से ही रसोदय होता है, यहाँतक कि सा, ऋ, गा, मा, इत्यादि सप्तस्वर को अर्थ बोध को छोड़कर केवल सुनने से ही रसास्वादन होता है।

इस विषय का दृष्टान्त देवर्षि नारद हैं—भा० ६।५।२२ में उक्त है—

"स्वर ब्रह्मणि निर्भात हृषीकेश पदाम्बुजे।
अखण्डं चित्तमावेश्य लोकाननुचरन्मुनिः ॥"३१८॥

देवर्षि नारद षड़्जादि गान में अर्थात् स्वर ब्रह्म में साक्षात् कृत, सर्वेन्द्रिय चित्ताकर्षक श्रीकृष्ण चरण कमल में निज मन को सम्यक् आविष्ट करके यदृच्छा क्रम से भ्रमण करने लगे थे।

विभाव-अनुभाव, एवं व्यभिचारी भाव योग से ही प्रीति रसावस्था को प्राप्त करती है। भगवत् स्मृति मात्र से सप्तस्वर आलाप मात्र से रसोदय होने पर प्रीति की विद्यमानता में भी विभावादि का सम्वलन कहाँ से होगा ? उत्तर—प्रेमादि भाव ही उक्त, भक्तगण में समस्त सामग्री-अर्थात् विभावादि का उद्भावन करते हैं। उस का दृष्टान्त है-श्रीप्रह्लाद। उनमें उस प्रकार रसोदय वर्णित हुआ है। प्रेम द्वारा उनके निकट विभावादि उपस्थित हुये थे। भा० ७।४।३९ में उक्त है—

"क्वचिद्रुदति वैकुण्ठचिन्ताशबलचेतनः।
क्वचिद्धसति तच्चिन्ताह्लाद उद्गायति क्वचित्।
नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित्।
क्वचित्तद्भावनायुक्त स्तन्मयोऽनुचकार ह।
क्वचिदुत् पुलकस्तूष्णीमास्ते संस्पर्श--निर्वृतः।
अस्पन्द प्रणयानन्द सलिलामीलितेक्षणः ॥" (भा० ७।४।४१) ३१९॥

इत्यन्तेन । लौकिक-रसज्ञैरपि हीनाङ्गत्वेऽपि तत्तदङ्ग-समाक्षेपाद्रसनिष्पत्तिरभिमता । किञ्च, भगवत्-प्रीतिरसिका द्विविधाः,—तदीयलीलान्तःपातिनस्तदन्तःपातिताभिमानिनश्च । तत्र पूर्वेषां प्राक्तनयुक्त्या स्वत एव सिद्धो रसः, उत्तरेषान्तु द्विविधा गतिः,-तत्तल्लीलान्तःपातिसहित-भगवच्चरितश्रवणादिनैका, भगवन्माधुर्य्यादि-श्रवणादिना चान्या । तत्र पूर्वत्र यदि समानवासनस्तल्लीलान्तःपाती भवेत्, तदा स्वयं सदृशो भाव एव तस्य तल्लीलान्तःपाति-

---

श्रीकृष्ण चिन्ता से कभी कभी प्रह्लाद को चेतना क्षुभिता हो जाती थी, उससे आप रोदन करते थे। उनकी चिन्ता से आनन्द उत्पन्न होते थे, कभी हँसते थे, कभी गान करते थे। कभी उच्चैःस्वर से चीत्कार करते थे, कभी लज्जाशून्य होकर नृत्य करते थे। कभी प्रगाढ़ भगवच्चिन्ता में अभिनिविष्ट होकर उनके समान चेष्टा करते थे।

कभी भगवत् संस्पर्श से आनन्दित होकर पुलकायित देह में मौनावलम्बन करते थे, कभी स्थिर तर पुणयजनित आनन्द से उनका नयन सजल होकर ईषत् निमीलित हो जाता था।

भावार्थ यह है—मा, जिस प्रकार शिशु पुत्र को सर्वदा अङ्क में रखती है, प्रह्लाद भी इस प्रकार शयन, भोजन,गमन,उपवेशनादि समयमें श्रीगोविन्द कर्त्तृक आलिङ्गित रहते थे। इसप्रकार अनुभव प्रह्लादका था। कदाचित् गोविन्द स्फूर्त्ति तिरोहित होने से–मा क्रोड़देश से बालक को भूतल में रखकर कार्य्यान्तर में चले जाने से बालक जिस प्रकार रोदन करता है, प्रह्लाद भी मुझ को छोड़कर चले गये। यह सोचकर विह्वल होकर रोदन करते थे। क्षण काल में तु क्यों रो रहा है? ऐसाकह कर श्रीकृष्ण समीप में स्फुरित होने से स्फूर्त्ति लाभकर प्रह्लाद हँसते थे। प्रभुने मुझ को दर्शन दिया, यह जान कर आनन्दित होते थे, एवं आनन्द से हरिगुण गान करते थे।

स्फूर्त्ति प्राप्त हरि को दूर में देखकर उच्चैःस्वर से आह्वान करते थे। तुम को न देख कर मैं सुखी नहीं होता हूँ, तुम मेरा प्रिय हो, श्रीकृष्ण, इस प्रकार कहते हैं, इस स्फूर्त्ति से आनन्द प्राच्चुर्य्य वशतः लज्जाशून्य होकर नृत्य करते थे। अनन्तर स्फूर्तिभङ्ग होने से भगवद् विरह से खेदाधिक्य हेतु चिन्ता निमग्न होते थे। उस से उन्माद सञ्चारिभाव की प्रबलता से "मैं हरि हूँ" इस प्रकार तन्मयता प्राप्त कर श्रीराम कृष्ण की लीला का अनुकरण करते थे।

स्फूर्त्ति का अभाव होने से "कहाँ जाऊँ" "कहाँ कृष्ण पाऊँ" चिन्ता करते करते अकस्मात् निज हृदय में ही दर्शन करके सलालन हस्तस्पर्श प्राप्तकर आनन्द से पुलकित होकर मौनावलम्बन कर रहते थे।

विभावादि अङ्ग का अभाव होने से अर्थात् लौकिक रस भङ्ग होने से भी अङ्ग द्वारा आकृष्ट न्यून अङ्ग आस्वादक के हृदय में उपस्थित होकर रस निष्पन्न होता है। लौकिक रसज्ञ गण इस को मानते हैं।

ऐसा होने पर अलौकिक रस में विभावादि उपस्थित न होने पर भी प्रीति से ही समाकृष्ट विभावादि के योग से जो रस निष्पत्ति सुतरां होती है, प्रेमादि सम्पत्तिमान व्यक्ति में प्रेमादि के अचिन्त्य प्रभाव से आविष्कृत विभावादि के योग से जो रस निष्पन्न होता है। इसका समर्थन निमित्त लौकिक रसज्ञ वृन्दके अभिमत की कथा उपस्थित की गई है।

यहाँ ज्ञातव्य यह है कि,—भगवत् प्रीति रसिक द्विविध होते हैं, तत्तत् लीलान्तः पाती एवं लीलान्तः पातिताभिमानी। उसके मध्य में प्रथमोक्त रसिक वृन्द की पूर्व युक्ति से–प्रेमादि के द्वारा उद् भावित विभावादि के संयोग से स्वतः ही रस निष्पत्ति होती है। शेषोक्त रसिक वृन्द की गति द्विविध हैं। (१) निजाभीष्ट लीलान्त पाती परिकर गण के सहित भगवान् के चरित्र श्रवण द्वारा एक प्रकार रसिक का

विशेषस्य विभावादिकं तादृशत्वाभिमानिनि साधारणीकरोति, यथा (साहित्यदर्पणः ३।१२)-
"परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च। तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते॥"३२०॥ इति।
यदि तु विलक्षणवासनस्तदा विभावानां सञ्चारिणामनुभावानाञ्च प्रायश एव साधारण्यं भवति। तेन तद्भावविशेषस्योद्दीपनमात्रं स्यात्, न तु रसोद्बोधः। यदि तु विरुद्धवासनः स्यात्, यथा वत्सलेन प्रेयसी, तदापि तस्य प्रीति-सामान्यस्यैव वात्सल्यादि-दर्शनेनोद्दीपनं भवति, न भावविशेषस्य, न च रसोद्बोधो जायते। अथोत्तरत्र श्रीभगवन्माधुर्य्यादि-श्रवणादौ तल्लीलान्तःपातिवन् स्वतन्त्र एव रसोद्-बोध इति। तदेवं भगवत्प्रीते रसत्वापत्तौ

---

रसोदय होता है। (२) श्रीभगवान् के माधुर्य्य श्रवणादि द्वारा अन्य प्रकार रसिक का रसोदय होता है। उस के मध्य में पूर्वत्र—प्रथम संज्ञक रसिक गण में रसास्वादन परिपाटो, उस लीलान्तःपाती परिकर यदि समान वासना विशिष्ट होता है। तो सदृश भाव स्वयं ही उस लीलान्तःपाती परिकर—विशेष के विभावादि तादृशत्वाभिमानी रसिक में साधारणी करण होता है। अर्थात् परिकर एवं सामाजिक उभय के सम्बधिरूप में प्रकाशित होता है। विभावादि का साधारण्य में प्रीति प्रतीति के सम्बन्ध में साहित्य दर्पण में लिखित है—विभावादि अपर का अनुकार्य्य का नहीं, दूसरे का नहीं है, परका नहीं है। मेरा सामाजिक का नहीं, मेरा नहीं है, रसास्वाद में नायक प्रभृति का—विभावादि का परिच्छेद नहीं होता है। (साहित्यदर्पण ३।१२)

"परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते॥"३२०॥

अर्थात् लीला श्रवण से जिन में रसोदय होता है, वे त्रिविध परिकर के सहित लीला श्रवण कर सकते हैं, समान वासना विशिष्ट परिकर, विभिन्न वासना विशिष्ट परिकर एवं विरुद्ध वासना विशिष्ट परिकर। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर के मुख्य पञ्च विध स्थायिभाव के मध्य में लीला परकिर का जो स्थायिभाव है, श्रोता रसज्ञका भी यदि वही स्थायिभाव होता है, तो उभय समान भाव विशिष्ट होते हैं, उभय का स्थायिभाव, अविरुद्ध है, अथच विभिन्न प्रकार होने से उभय विभिन्न वासना विशिष्ट एवं रस शास्त्र में जो सब को परस्पर वैरी कहा गया है। उभय के भावादि यदि उस प्रकार होते हैं, तब उभय विरुद्ध वासना विशिष्ट हैं। भाव समूह की मित्रवैरिता का विवरण भक्ति रसामृत सिन्धु के उत्तर विभाग की अष्टमलहरी में है।

जिस लीला का श्रवण किया जाता है, उस लीला परिकर यदि समान वासना विशिष्ट है तो, रसज्ञ श्रोता का भी परिकर के विभावादि का साधारणी करण होता है। इस प्रकार साधारणी करण व्यतीत रसास्वादन असम्भव है। किन्तु जो श्रीभगवन्माधुर्य्य श्रवण में उनके प्रति प्रीतिमान् होते हैं, उनके पक्ष में साधारणी करण की आवश्यकता नहीं होती है। लीला परिकर के समान स्वतन्त्र रूप से वे रसास्वादन करते हैं। साधारणी करण में मूल नायक नायिका के विभावादि किस रीति से रसज्ञ के निकट होते हैं—साहित्यदर्पणोक्त श्लोक द्वारा उसका वर्णन करते हैं, रसज्ञ व्यक्ति, विभावादि को दूसरे के हैं, इस प्रकार मान नहीं सकते हैं, उस समय उनकी तन्मयता इस प्रकार होती है कि—वे मानते हैं, काव्योक्त व्यापार जैसे उनके सम्बन्ध में ही हो रहा है। उनमें आत्मस्मृति का भी विलोप न होने से वह व्यापार जो उनका नहीं है, इस प्रतीति भी होती है। इस प्रकार साधारणी करण व्यापार दृश्य काव्य के नट एवं सामाजिक का

सिद्धायामेवं विभाव्यते,–विभावादिभिः सम्वलिता तत्प्रीतिस्तत्प्रीतिमयो रस इति, तदुक्तम् (साहित्यदर्पण: ३।१५)–"यथा खण्डमरिचादीनां सम्मेलनादपूर्व इव कश्चिदास्वादः प्रपानकरसे सञ्जायते, विभावादिसम्मेलनादिहापि तथा" इति । स चायं रसो भगवद्-माधुर्य्यानुकूल्यानुभवलक्षणास्वादेनोद्दीपनविभावरूपेण स्वांशेनास्वादरूपः, भगवदादिलक्षणा-लम्बनविभावादिरूपेणास्वाद्य-रूपश्च । अत उभयथा व्यपदेशः । तत्र विभावा द्विविधा--आलम्बन उद्दीपनश्च । यथोक्तमग्निपुराणे—

विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र येन विभाव्यते । विभावो नाम स द्वेधालम्बनोद्दीपनात्मकः ।।"३२१।। इति ।

आलम्बनो द्विविधः,–प्रीतिविषयत्वेन स्वयंभगवान् श्रीकृष्णः, तत्प्रीत्याधारत्वेन तत्-

---

हो सकता है, एवं श्रव्य काव्य के श्रोता के सामाजिक के सम्बन्ध में हो सकता है । यहाँ एक साथ सबको ग्रहण करने के निमित्त रसज्ञ शब्द का प्रयोग किया गया है ।

जिस समय लीलान्तः पाती एवं तादृशत्वाभिमानी विभिन्न वासना विशिष्ट होता है, उस समय भाव एवं अनुभाव समूह का प्रायकर साधारणी करण होता है । उसके द्वारा श्रोता प्रभृति में जिस जातीय भाव है—उस भाव का उद्दीपन मात्र होता है, किन्तु रसोदय नहीं होता है । यदि उभय विरुद्ध वासना विशिष्ट हो तो--जैसे एकजन वत्सल--अपर जन-प्रेयसी' उस समय भी वात्सल्यादि को देखकर उस सामान्य प्रीति-जो प्रीति साधारण समस्त भक्त में है, उस का उद्दीपन होता है, भाव विशेष का उद्दीपन नहीं होता है, एवं रसोदय भी नहीं होता है ।

एवं प्रीति शील भक्त वृन्द में श्रीभगवान् के माधुर्य्यादि श्रवण द्वारा लीलान्तःपाती रसिक वृन्द के समान स्वतन्त्र रूप से ही रसोदय होता है । इस रीति से भगवत् प्रीति की रसत्व प्राप्ति सिद्ध होने से-बोध होता है कि—विभावादि सम्वलिता भगवत् प्रीति—भगवत् प्रीतिमय रस है ।

रसशास्त्र में रसोत्पत्ति का विवरण इस प्रकार लिखित है—(साहित्यदर्पण)

"यथा खण्डमरिचादीनां सम्मेलनादपूर्व इव कश्चिदास्वादः प्रपानकरसे सञ्जायते,
विभावादिसम्मेलनादिहापि तथा"

गुड़ मरिचादि सम्मिलन द्वारा प्रपानक रस से जिस प्रकार अपूर्व आस्वादन होता है, उस प्रकार विभावादि सम्मिलन से भी प्रीति से रसोत्पन्न होता है । यहाँ जिस रसका प्रसङ्ग कहा गया है । वह भगवन्माधुर्य्यानुकूल्यानुभव लक्षण आस्वादन द्वारा उद्दीपन विभाग निजांश में आस्वाद रूप है, और भगवदादि लक्षण आलम्बन विभावादि रूप में आस्वाद्य रूप है । तज्जन्य रसको आस्वादन एवं आस्वाद्य उभय रूप ही कहा जाता है ।

## आलम्बन विभाव ।

रसोपकरण स्वरूप जो विभावादि हैं,–उस में विभाव दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन एवं उद्दीपन । अग्नि पुराण में उक्त हैं— "विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र येन विभाव्यते ।
विभावो नाम स द्वेधालम्बनोद्दीपनात्मकः ।।"३२१।।

जिस में एवं जिस के द्वारा रति विभावित होती है, उसका नाम विभाव है । यह विभाव-आलम्बन एवं उद्दीपन भेद से द्विविध हैं । आलम्बन द्विविध हैं-विषय एवं आश्रय । विषय रूप में स्वयं भगवान्

प्रियवर्गश्च,--उभयत्रैव यत्रेति सप्तम्यर्थत्वव्याप्तेः । तत्र श्रीकृष्णो यथा पूर्व्वमुदाहृतः, (भा० ९।२४।६५) "यस्याननं मकरकुण्डल-" इत्यादिना, (भा० १०।४४।१४) "गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपम्" इत्यादिना च । तस्य तत्तन्माधुर्य्यानभिव्यक्तावपि स्वभावत एव प्रियतमत्वं स्वयं दर्शयति, (भा० १०।२३।२७)—

(१११) "प्राण-बुद्धि-मनःस्वात्म-दारापत्य-धनादयः ।
यत्सम्पर्कात् प्रिया आसंस्ततः को न्वपरः प्रियः ॥"३२२॥

स्वः शुद्धो जीवः, आत्मा देहः, यस्य मम सम्पर्कात् परम्परा सम्बन्धात् । अहं तावत्

---

श्रीकृष्ण हैं, श्रीकृष्ण प्रीति का आधार रूप में उन के प्रियवर्ग आलम्बन होते हैं, उभयत्र 'भग' जिस में इस सप्तमी का अर्थ व्याप्त होने से ही इस प्रकार कहा गया है। अर्थात् जिस में—जिस व्यक्ति के प्रति प्रीति है वह विषय है, प्रीति जिस में रहती है, अर्थात् जिस की प्रीति, वह आश्रय होता है, इस प्रकार अर्थ में उभय को आलम्बन कहा जाता है। उस में विषयालम्बन श्रीकृष्ण का उदाहरण भा० ९।२४।६५ में इस प्रकार है-

"यस्याननं मकर कुण्डल चारुकर्ण भ्राजत् कपोलसुभगं सविलासहासम् ।
नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभिः पिबन्त्यो नार्य्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च ॥"

जिन का वदन, मकर कुण्डल द्वारा दीप्तिमान्, कर्ण युगल के सहित उज्ज्वल कपोल युगल से सुन्दर, हर्षोत्सुक्य चापल्यादि युक्त हास्य द्वारा जो शोभित है, जो नित्य उत्सव स्वरूप है, उस वदन सौन्दर्य्य को नयन द्वारा पान करके नर नारी आनन्दित तो हुये थे, किन्तु तृप्त नहीं हुये। व्रज बधूओंने तो निमेष कर्त्ता निमि के प्रति भी रोष प्रकट किया।

भा० १०।४४।१४ में उक्त है—"गोप्यस्तपकिमचरन् यदमुष्यरूपम् ॥

गोपीगणने किस प्रकार अनिर्वचनीय तपस्या की है, इत्यादि श्लोक में श्रीकृष्ण की नरलीला में रूप की असमोर्द्ध्वता, यश, श्री, ऐश्वर्य्य का एकान्त आश्रयत्व एवं अनन्य सिद्धत्व का उल्लेख हेतु प्रीति का आलम्बन हैं। अर्थात् उक्त श्लोक द्वय में जिन का असमोर्द्ध्व रूप माधुर्य्य का विषय वर्णित हैं, तादृश परम सुन्दर श्रीकृष्ण विषयालम्बन है। रूप माधुर्य्य लीला माधुर्य्य प्रकाशित होने से ही जो श्रीकृष्ण-प्रीति का विषय हो सकते हैं, ऐसा नहीं, उस माधुर्य्य अनभिव्यक्त होने पर भी उन में प्रियतमत्व है। भा० १०।२३।२७ में उक्त है—

(१११) "प्राण-बुद्धि-मनःस्वात्म-दारापत्य-धनादयः ।
यत्सम्पर्कात् प्रिया आसंस्ततः कोन्वपरः प्रियः ॥"३२२॥

श्रीकृष्ण, यज्ञ पत्नीगण को कहे थे—"प्राण, बुद्धि, मन, स्वात्मा दारा, पुत्र, धनादि जिन के सम्पर्क से प्रिय होते हैं, उन से अधिक प्रिय कौन हो सकते हैं ?

श्लोक की व्याख्या—स्व-आत्मा, स्व-शुद्ध जीव, आत्मा-देह, जिनके सम्पर्क-जिनके परम्परा सम्पर्क में। परम्परा सम्पर्क किस प्रकार ? कहते हैं। मैं परमानन्द घन हूँ, अतः स्वतः ही प्रिय हूँ। जिनका मेरा अंश हेतु--अन्तर्य्यामी पुरुष भी प्रिय होता है। उनका--अन्तर्य्यामी पुरुष का जीव रूप अंश है। इस प्रकार मेरा सम्बन्ध परम्परा से शुद्ध जीव स्वरूप प्रिय होता है। जीव का अध्यास अर्थात् आरोप रूप सम्बन्ध परम्परा से प्राणादि प्रिय होते हैं। इस प्रकार रूपान्तर को व्यक्त करने पर भी श्रीकृष्ण--प्रियतम होते हैं, इस का अनुभव बलदेव किये थे—

परमानन्दघनरूप इति स्वतः प्रियः। स्वस्य ममांशत्वादन्तर्यामी पुरुषोऽपि प्रियः। तस्य च जीवरूपोऽंश इति मत्सम्बन्धपरम्परया प्रियः। तदध्यास-सम्बन्धपरम्परया च प्राणादयः प्रिया इत्यर्थः। एवं व्यक्तीकृतरूपान्तरेऽपि श्रीरामेणानुभूतम्, (भा० १०।१३।३६)—

"किमेतदद्भुतमिव वासुदेवेऽखिलात्मनि।
व्रजस्य सात्मनस्तोकेष्वपूर्वं प्रेम वर्द्धते॥"३२३॥ इति,

ततः (भा० १०।२३।२२)—

"श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्य-वर्ह-,धातु-प्रवाल-नटवेशमनुव्रतांसे।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं, कर्णोत्पलालक-कपोलमुखाब्जहासम्॥"३२४॥

इत्येतल्लक्षणेषु ममाविर्भाविषु युष्माकं प्रीत्युत्कर्षोदयो नापूर्व इति भावः॥ श्रीभगवान् यज्ञपत्नीः॥

११२। तथा तत्प्रियवर्गश्च पूर्व्वं दर्शितः, (भा० ११।८।१३) "तुलयाम लवेनापि"

---

ब्रह्मा के द्वारा श्रीकृष्ण के वयस्य गोप बालक गण एवं गोवत्सगण अपहृत होने से श्रीकृष्ण स्वयं ही उस प्रकार समस्त रूप को प्रकट किये थे। श्रीकृष्ण में व्रजवासि वृन्द की एवं गोवत्स समूह की धेनु समूह की जो प्रीति थी, निज निज सन्तान में उनकी उस प्रीति को देखकर विस्मित होकर बलदेव कहे थे—

भा० १०।१३।३६ "किमेतदद्भुतमिव वासुदेवेऽखिलात्मनि।
व्रजस्य सात्मनस्तोकेष्वपूर्वं प्रेम वर्द्धते॥३२३॥

अखिलात्मा वासुदेव में व्रजवासि वृन्द का एवं मेरा जो बृद्धिशील प्रेम था, अधुना बालक वृन्द में वह प्रेम अनुभव कर रहा हूँ। यह अतीव आश्चर्य्य कर है।

श्रीकृष्ण निज माधुर्य्य प्रकट न करने पर भी प्रियतम हैं, यहाँतक कि—रूपान्तर प्रकटन करने पर भी प्रियतम हैं—इस रीति से श्रीकृष्ण—स्वभावतः ही प्रियतम हैं, इस अभिप्राय को प्रकट कर यज्ञपत्नी गण कही थीं—भा० १०।२३।२२

"श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्य-वर्ह-धातु-प्रवाल- नटवेशमनुव्रतांसे।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं, कर्णोत्पलालक-कपोलमुखाब्जहासम्॥"३२४॥

श्याम वर्ण, पीत वसन परिधान, बनमाला, मयूरपुच्छ, स्वर्णादिधातु एवं प्रबाल द्वारा सज्जित नटवर वेश है। सखा के स्कन्ध देश में एक हस्त स्थापन पूर्वक अपर हस्त से लीला कमल भ्रमण कर रहा हूँ कर्णद्वय में उत्पल है, कपोल में अलका है, एवं वदन कमल में मनोहर हास्य है। उस प्रकार रूप-सब का चित्ताकर्षक। उस में भी सर्व प्रियतम मेरा रूप है। इस प्रकार लक्षण विशिष्ट मदीय रूप में तुम्हारी प्रीति होना--आश्चर्य्य कर नहीं है। मेरा इस प्रकार रूप को देखने से स्वभावतः ही प्रीति का उदय होता है। यही प्राण बुद्धि, इत्यादि श्लोक का भाव है। श्रीभगवान् यज्ञ पत्नी गणको कहे थे॥१११॥

११२। प्रीति का विषयालम्बन रूप में उक्त स्थल में श्रीकृष्ण को जिस प्रकार उल्लेख किया गया है, उस प्रकार उनके प्रियवर्ग का भी उल्लेख हुआ है। प्रिय वर्ग का भगवत् प्रीति का आलम्बन उस प्रकार सङ्गत है। प्रीति का विषय श्रीभगवान् स्मृत्यादि पथ में उदित होने से—भक्त आधार में भगवद्

इत्यादिना । अत्र भगवद्विषय-प्रीत्यालम्बनत्वमपि युक्तम् । स्मरणादिपथं गते ह्यस्मिंस्तदाधारा सा प्रीतिरनुभूयते । आलम्बन-शब्दश्च विषयाधारयोर्वर्त्तत इति, अतएवोक्तम् (भा० १।१६।६)—

"तत् कथ्यतां महाभाग यदि कृष्णकथाश्रयम् ।
अथवास्य पदाम्भोज-मकरन्दलिहां सताम् ॥"३२५॥ इति ।

तदेवमपि यमाश्रित्य श्रीभगवति स प्रीतिविशेषः प्रवर्त्तते, स एवालम्बनो ज्ञेयः । अन्ये

---

विषयक प्रीति का अनुभव होता है। आलम्बन शब्द भी प्रीति के विषय आश्रय--उभय में वर्त्तमान है।

भावार्थ यह है—माधुर्य्य ही भगवत्ता का सार है, उस माधुर्य्य की पराकाष्ठा जहाँ है, वह श्रीकृष्ण ही प्रीति का विषयालम्बन हैं, एवं श्रीकृष्ण में विषयालम्बन का परमोत्कर्ष है।

भक्त गण-आश्रयालम्बन हैं। इन के सम्बन्ध में कहा गया है—भक्त सङ्ग लेशमात्र के समीप में स्वर्ग मोक्षादि सब कुछ तुच्छ हैं, मोक्ष के सहित भी तुलना नहीं होती है—इस कथन से प्रतीत होता है कि स्वरूपानुभूति रूप मोक्ष से भक्त के हृदयस्थित आनन्द का ही उत्कर्ष है। इस से भक्त वृन्द का परमोत्कर्ष व्यञ्जित हुआ। एवं भगवत् प्रीति का आश्रय का परमोत्कर्ष प्रतिपन्न हुआ है। भक्त वृन्द में ईदृश महत्त्व विद्यमान होने के कारण, वे परम पुरुषार्थ भगवत् प्रीति का आलम्बन होने के उपयुक्त हैं। अर्थात् प्रीति योग्य पात्रमें विराजित है। भक्त गण प्रीति के आश्रय हैं—इसमें प्रमाण यह है—श्रीभगवान् स्मरणादि पथ गत होने से भक्तसे प्रीति अभिव्यक्त होती है। उस समय बोध होता है कि—भक्त ही प्रीति का आधार है। भक्त शब्द से भगवत् प्रिय को जानना होगा, अर्थात् जात रति भक्त को जानना होगा। भक्त में ही प्रीति रहती है-कहने से बोध होता है कि-भगवान् प्रीति का अवलम्बन नहीं हैं ? उत्तर,—विषय एवं आश्रय-उभयत्र ही आलम्बन शब्द वर्त्तमान है। प्रीति-प्रियवर्ग में अवस्थान करने पर भी श्रीभगवान् भी उसका आलम्बन हैं। भक्ति कल्पलता--भक्त के हृदय क्षेत्र से उत्पन्न होने के पश्चात् श्रीकृष्ण चरण कल्प वृक्ष को आश्रय कर अवस्थान करती है। परिकर वर्ग में इस प्रकार से भक्ति की अवस्थिति होती है। भूमि लता का आश्रय होने पर भी वृक्ष उस का आलम्बन है। इस प्रकार प्रिय, प्रीति का आश्रय होने पर उस का आलम्बन है। इस प्रकार प्रियवर्ग प्रीति का आश्रय हैं।

श्रीभगवान् एवं उनके प्रियवर्ग-उभय ही आलम्बन होने के कारण, श्रीशौनकादि ऋषि गण श्रीसूत को कहे हैं—भा० १।१६।६ में

"तत् कथ्यतां महाभाग यदि कृष्णकथाश्रयम् ।
अथवास्य पदाम्भोज--मकरन्दलिहां सताम् ॥"३२५॥

हे महाभाग ! यदि वह कृष्ण कथाश्रय हो,अथवा जो उनके चरण कमलका रसास्वादन करते हैं,उन साधु वृन्द की कथा ही तो कहें।

प्रीति उभय को अवलम्बन करके विद्यमान होने के कारण, भक्त भगवान् इन के मध्य में जिन की कथा श्रवण करने से श्रवण कारी के हृदय में भक्त भगवान्—उभय के सम्बन्ध में प्रीति का आविर्भाव हो सकता है, इस को मन में रखकर ही इस प्रकार प्रार्थना की गई है।

भगवत् प्रियवर्ग--प्रीति का आलम्बन होने पर भी जिन को आश्रय कर श्रीभगवान् में उस प्रीति विशेष प्रवृत्त होती है, उन को प्रीति का आलम्बन मानना होगा। अपर सब-उद्दीपन विभाव हैं। इस प्रकार समान वासना विशिष्ट एवं भिन्न वासना विशिष्ट भेद से द्विविध भगवत् प्रियवर्ग के विषय में जो

तूद्दीपनाः। अथैवं सवासन-भिन्नवासनक-द्विविध-तत्प्रियवर्गविषया च या प्रीतिः, सापि तत्प्रीत्याधारत्वेनैव, न तु स्वसम्बन्धादिना। अतएव तत्प्रियवर्गेऽपि स्व-सम्बन्धहेतुकां प्रीतिं निषिध्य श्रीभगवत्येव तामभ्यर्थ्य पुनस्तत् प्रियवर्गे तदाधारत्वेनैव प्रीतिमङ्गीकरोति। अथ तत्र निषेधः (भा०'१।८।४१)–

(११२) "अथ विश्वेश विश्वात्मन् विश्वमूर्त्ते स्वकेषु मे।
स्नेहपाशमिमं छिन्धि दृढ़ं पाण्डुषु वृष्णिषु ॥"३२६॥

---

प्रीति है, वे भगवत् प्रीति का आधार होने के कारण उस प्रीति का विषय होते हैं। निज सम्बन्धादि हेतु नहीं हैं। अतएव भगवत् प्रियवर्ग में भी सम्बन्धादि हेतुका प्रीति को निषेध करके श्रीभगवान् में ही प्रीति की अभ्यर्थना किये हैं--तदनन्तर भगवत् प्रीति का आधार होने के कारण उनके प्रिय वर्ग में प्रीति को अङ्गीकार किये हैं।

अभिप्राय यह है—भगवत् प्रियवर्ग प्रीति के आधार होने पर भी समस्त व्यक्ति सर्व प्रकार प्रीति का आधार नहीं हो सकते हैं। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर--यह विभिन्न प्रकार की प्रीति के मध्य में जिस किसी प्रकार की प्रीति को प्रीति विशेष मानकर उल्लेख किये हैं। प्रियवर्ग के मध्य में जिन को आश्रय करके किसी विशेष प्रीति आविर्भूता होती है, उन को ही उस प्रीति का आलम्बन मानना चाहिये। जैसे—वात्सल्य प्रीति—व्रजराज दम्पत्ति को आश्रय करके प्रवृत्त है, वे उस प्रीति के आश्रय हैं। वह प्रीति-उनको अवलम्बन करके विराजित है। अपर प्रियवर्ग—दास, सखा प्रभृति उद्दीपन मात्र है, व्रजकी वात्सल्य प्रीति--जिस साधक भक्त के मध्य में आविर्भूता होती है--उस साधक की प्रीति का आश्रय भी श्रीव्रजराज व्रजेश्वरी है—इस प्रकार समझना होगा। कारण, वह प्रीति उन दम्पत्ति को आश्रय कर आविर्भूत है।

परिकर वर्ग के मध्य में जिस की प्रीति भक्त को निज प्रीति के अनुरूप है, वह सवासन है, जिस की प्रीति अन्य रूप है, वह भिन्न वासन है, सवासन परिकर-आलम्बन है, एवं भिन्न वासन-परिकर उद्दीपन होता है। इस प्रकार प्रीति का आलम्बन एवं उद्दीपन भेद से प्रिय वर्ग द्विविध होते हैं। उभय विध प्रियवर्ग के प्रति भक्त की जो प्रीति है, वह उन परिकर के मध्य में जो श्रीकृष्ण प्रीति है, उसको मानकर ही है। अर्थात् वे श्रीकृष्ण को प्रीति करते हैं यह मानकर ही साधक भक्तगण उन के प्रति प्रीति करते हैं, किन्तु निज किसी प्रकार व्यवहारिक सम्पर्क के अनुरोध से उन सब को प्रीति नहीं करते हैं। यह रीति—केवल साधक भक्त के सम्बन्ध में ही नहीं है—परिकर वर्ग के सम्बन्ध में भी यही रीति है। उन के मध्य में पारस्परिक जो प्रीति है—वह भी श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में ही है--निज सम्पर्क में नहीं। जिस प्रकार-श्रीराधा के प्रति—श्रीललिता की जो प्रीति है—वह प्रीति—श्रीराधा के प्रति जो श्रीकृष्ण प्रीति है, उस को अपेक्षा करके ही है,—किन्तु निज सखी मान कर नहीं। इस से निष्कर्ष यह हुआ कि—केवल श्रीकृष्ण प्रीति का ही आदर है। यहाँ वक्तव्य विषय--त्रिविध हैं—निज सम्बन्धादि हेतुका प्रीति निषिद्धा है, भगवत् प्रीति का समादर है, एवं जो भगवत् प्रीति के आश्रय हैं, उनके प्रति प्रीति। क्रमशः दृष्टान्त उपस्थित करते हैं।

निज सम्बन्धादि हेतुका प्रीति निषेध का उदाहरण भा० १।८।४१ में इस प्रकार है—

(११२) "अथ विश्वेश विश्वात्मन् विश्वमूर्त्ते स्वकेषु मे।
स्नेहपाशमिमं छिन्धि दृढ़ं पाण्डुषु वृष्णिषु ॥"३२६॥

श्रीकृष्ण के निकट श्रीकुन्तीदेवी प्रार्थना करी थीं—हे विश्वेश्वर ! हे विश्वात्मन ! हे विश्वमूर्त्ते !

११३। अथाभ्यर्थना, (भा० १।८।४२)—

(११३) "त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत् ।
रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति ॥"३२७॥

११४। अथाङ्गीकारः (भा० १।८।४३)—

(११४) "श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्-,राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य्य ।
गोविन्द गोद्विज-सुरार्त्तिहरावतार, योगेश्वराखिलगुरो भगवन्नमस्ते ॥"३२८॥

अत्र श्रीकृष्णसखेत्यादि-सम्बोधनैस्तत्प्रीत्याधारत्वेनार्जुनादिष्वपि प्रीतिरङ्गीकृता ॥ श्रीकुन्ती श्रीभगवन्तम् ॥

११५। एवं 'वृक्णः' इत्यादिद्वयं श्रीमदुद्धव-वाक्यमपि सङ्गमनीयम्, यथा

---

मेरा निज जन पाण्डव एवं यादवगण में जो स्नेह बन्धन है, उसको छिन्न कर दो।

श्रीकुन्ती देवी के पाण्डव गण पुत्र हैं, यादव गण-पितृवंश सम्भूत हैं, अथच उभय ही भगवत् परिकर हैं। ऐसा होने पर भी निज सम्बन्ध हेतुका जो प्रीति है, उसको छेदन करने के निमित्त उन्होंने प्रार्थना की थी। इस से निष्कर्ष यह निकलता है कि-सम्पर्कित व्यक्ति यदि साधारण हो तो और उस के प्रति यदि प्रीति हो तो-उस प्रीति को छेदन करने के निमित्त सुतरां प्रार्थना होगी ॥११२॥

११३। श्रीकृष्ण प्रीति का समादर निबन्धन श्रीकुन्ती देवी भा० १।८।४२ में बोली थीं—

(११३) "त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत् ।
रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति ॥"३२७॥

हे मधुपते! मेरी मति—अन्य विषय को परित्याग करके निरन्तर निरवच्छिन्न प्रीति तुम्हारे प्रति करें। समुद्र में पतन के समय में गङ्गा जिस प्रकार तरी को विघ्न रूप में नहीं मानती है। मेरीमति,-उस प्रकार तुम्हारे प्रति प्रीति करते समय किसी भी प्रकार विघ्न को गण्य न करे ॥११३॥

११४। भगवत् प्रीति के आधार में निज प्रीति को अङ्गीकार का वर्णन—भा० १।८।४३ में उक्त है--

(११४) "श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्--,राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य्य ।
गोविन्द गोद्विज-सुरार्त्तिहरावतार, योगेश्वराखिलगुरो भगवन्नमस्ते ॥"३२८॥

अनन्तर कुन्तीदेवी बोली थीं—हे श्रीकृष्ण! हे अर्जुन सख! हे वृष्णि कुल श्रेष्ठ! तुम अवनीमण्डल में उपद्रव कारी क्षत्रिय वंश निहन्ता हो,हे गोविन्द, गो, द्विज, देवता गणका दुःख विनाश हेतु तुम अवतीर्ण हुये हो, हे योगेश्वर! हे अखिल गुरो! हे भगवन्! तुम को नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ यह है—इस श्लोक में अर्जुन के सखारूप में श्रीकृष्ण में आदर प्रकाश करके अर्जुन के प्रति भी प्रीति प्रकाश किये हैं, और वृष्णि वंश के सहित--उनका उल्लेख करने से वृष्णि वृन्द के प्रति भी श्रीकुन्ती देवी की प्रीति प्रकाशित हुई है। उनके प्रति निज सम्बन्धानुगामिनी जो प्रीति थी, उस को छेदन करने के निमित्त पहले प्राथना की थी, इस श्लोक में श्रीकृष्ण के सहित उन सब का उल्लेख होने के कारण श्रीकृष्ण प्रीतिमान् हैं अतः उन सब को प्रीति करते हैं ॥११४॥

११५। इसी रीति से भा० ११।२९।३९--४० के उद्धव वाक्य की सङ्गति करनी चाहिये।

(भा० ११।२९।३९-४०) –

(११५) "वृक्णश्च मे सुदृढ़ः स्नेहपाशो, दाशार्ह-वृष्ण्यन्धक-सात्वतेषु ।
प्रसारितः सृष्टिविवृद्धये त्वया, स्वमायया ह्यात्मसुबोधहेतिना ॥३२९॥
नमोऽस्तु ते महायोगिन् प्रपन्नमनुशाधि माम् ।
यथा त्वच्चरणाम्भोजे रतिः स्यादनपायिनी ॥"३३०॥

सृष्टिविवृद्धये त्वया स्वाधीनया मायया यो देहादिसम्बन्धजः स्नेहपाशः प्रसारितः, स वृक्णश्छिन्नः। केन? आत्मसुबोधहेतिना त्वदीय-प्रीत्युत्पादक-शोभनज्ञानलक्षणशस्त्रेण। अधुना त्वत्सम्बन्धेनैव स भातीत्यर्थः। अतएवोत्तरपद्यमपि तथैव। इयञ्चोक्तिः श्रीमदुद्धवस्य

---

(११५) "वृक्णश्च मे सुदृढ़ः स्नेहपाशो, दाशार्ह-वृष्ण्यन्धक-सात्वतेषु ।
प्रसारितः सृष्टिविवृद्धये त्वया, स्वमायया ह्यात्मसुबोधहेतिना ॥३२९॥
नमोऽस्तु ते महायोगिन् प्रपन्नमनुशाधि माम् ।
यथा त्वच्चरणाम्भोजे रतिः स्यादनपायिनी ॥"३३०॥

टीका-किञ्च दाशार्हादिषु त्वया यः स्वमायया स्नेहपाशः प्रसारितः स त्वयैव आत्मतत्व ज्ञानशस्त्रेण वृक्णश्छिन्नः एवं यद्यपि त्वया बहूपकृतं तथाप्येतावत् प्रार्थये नमोऽस्त्विति। अनुशाधि—अनुशिक्षय--अनुशासनीयमाह यथेति मुक्तावप्यनपायिनी।

उद्धव श्रीकृष्ण को कहे थे—सृष्टि वृद्धि हेतु तुमने दाशार्ह, वृष्णि, अन्धक एवं सात्वतमें मेरा जो स्नेह पाश विस्तार किया है— उस को तुम आत्म ज्ञानरूप शस्त्र (खड्ग) के द्वारा छिन्न करो,

हे महायोगिन्! तुम को नमस्कार करता हूँ। जिस से तुम्हारे चरण कमलों में अनपायिनी प्रीति हो, शरणागत मुझ को उस प्रकार शिक्षादान करो।

श्लोक की व्याख्या—सृष्टि वृद्धि हेतु तुमने निजाधीन माया द्वारा देहादि सम्बन्ध जात जो स्नेह पाश को प्रसारित किया है, उसको तुम छेदन करो। किस से छेदन करोगे? कहते हैं— आत्म ज्ञान शस्त्र द्वारा- जिस सुन्दर ज्ञान द्वारा तुम्हारे प्रति प्रीति उत्पन्न होती है, उस ज्ञान रूप शास्त्र द्वारा छिन्न करो, अधुना तुम्हारे सम्बन्ध में ही स्नेह प्रकाशित हो रहा है, यही उद्धव के वाक्य का अर्थ है। अतएव अन्तिम श्लोक में उस प्रकार ही उन्होंने कहा है। उद्धव का अभिप्राय यह है—हे श्रीकृष्ण, तुम्हारी माया से आत्मीय कुटुम्ब में जो प्रीति हुई है, वह केवल बन्धन कारण है। अतः दुःखकर है। तज्जन्य यह विनष्ट हो, अधुना तुम्हारे में जो प्रीति हुई है, वह सुखरूपा है, एतज्जन्य वह अक्षय हो, यहाँ सम्बन्धादि हेतु का प्रीति की उपेक्षा करके भगवत् प्रीति की अभ्यर्थना की गई है।

"इयञ्चोक्तिः श्रीमदुद्धवस्य सिद्धत्वान्न सम्भवतीति स्वव्याजेनान्यानुद्दिश्यैवेति ज्ञेयम्।

साधक भक्त वृन्द की प्रीति पहले आत्मीय कुटुम्ब में होती है, उसके पश्चात् श्रीभगवान् में प्रीति होती है। भगवत् प्रीति का आविर्भाव समय में सम्बन्ध हेतुका प्रीति के प्रति बन्धन बुद्धि होती है, एवं भगवत् प्रीति परम सुन्दरमयी बोध होती है। तज्जन्य पूर्वोक्त प्रीति को अपसारित करके शेषोक्त प्रीति अनवच्छिन्न—उत्तरोत्तर वर्द्धमाना करने की इच्छा होती है।

सिद्ध भक्त वृन्द की अवस्था उस प्रकार नहीं है। किसी भी समय में भगवान् भिन्न अन्य वस्तु में

सिद्धत्वान्न सम्भवतीति स्वव्याजेनान्यानुद्दिश्यैवेति ज्ञेयम् ।

अथ श्रीकुन्तीवाक्यस्यान्यावतारिका यथा—गमने पाण्डवानामकुशलम्, अगमने वृष्णीनामित्युभयतो व्याकुलचित्ता सती तेषु स्नेहनिवृत्तिं प्रार्थयते—अथेति । एवमप्युभयेषां तादृश-तदेकालम्बनता-दर्शनेन तेष्वधिक-भगवत्प्रीत्याधारत्वं स्वस्याधिकस्नेहहेतुरिति । तेषु स्नेहच्छेद-व्याजेनोभयेषामपि त्वदविच्छेद एव क्रियतामिति च व्यज्यते । ततश्चोत्तरत्र श्रीसूत-वाक्ये—(भा० १।८।४५) "तां वाढ़मित्युपामन्त्र्य" इत्यत्र भगवदभ्युपगमोऽपि सर्वत्रैव सङ्गच्छते । तथाप्यस्य वृक्णश्चेत्यादि-वाक्यस्य सङ्गमनार्थं तत्तथावतारितम् ॥ श्रीमदुद्धवः ॥

११६ । एवं श्रीदेवक्याः षड़् गर्भानयने तान् प्रति यः स्नेहो दृश्यते, स खलु स्वपीत-शेषस्तन्यप्रसादेन तदुद्धरणार्थं श्रीभगवतैव प्रपञ्चितः, यथोक्तम् (भा० १०।८५।५४-५५) —

---

उनकी प्रीति नहीं होती है । एवं उनकी भगवत् प्रीति-निज योग्यतानुसार चरम सीमा प्राप्त है । श्रीमद् उद्धव सिद्ध भक्त हैं, अर्थात् पार्षद हैं । तज्जन्य निज सम्बन्ध में इस प्रकार उक्ति असम्भव है । किन्तु आपने निज सम्बन्ध में उस प्रकार प्रार्थना करके अपर को शिक्षा प्रदान किया है । यह जानना होगा ।

कुन्ती देवी भी परिकर थीं, उन्होंने उस प्रकार प्रार्थना क्यों की ? उत्तर में कहते हैं—अनन्तर कुन्ती वाक्य की अन्य अवतारिका अर्थात् अभिप्राय है । श्रीकृष्ण का गमन, हस्तिनापुर से द्वारका में होने से पाण्डव गण का अकुशल होगा, गमन न करने से यादव वृन्दका अकुशल होगा, उभय पक्षकी अवस्था की चिन्ता करके कुन्ती व्याकुल चित्ता हो गई थीं । तज्जन्य उसके प्रति मेरा स्नेह छेदन करो" इस प्रकार कथन छल से "उभय पक्ष के सहित तुम्हारा विच्छेद जैसे न हो--इस प्रकार व्यवस्था करो" इस प्रकार प्रार्थना व्यञ्जित हुई है । अनन्तर कुन्ती के प्रार्थित विषय की सिद्धि हेतु वाक्य को अङ्गीकार कृष्ण रथस्थान से हस्तिना पुर में प्रवेश किये थे । श्रीसूत के वाक्य में श्रीभगवान् के द्वारा प्रार्थना अङ्गीकार भी सर्वत्र सङ्गत हुआ है । अर्थात् श्रीकृष्ण- कुन्ती देवी की प्रार्थना को अङ्गीकार जिस प्रकार किये हैं, उस प्रकार अङ्गीकार उद्धव की प्रार्थना को भी किये हैं । इस प्रकार अपर व्यक्ति यदि प्रार्थना करे कि मेरा देहादि हेतुका प्रीति विनष्ट हो, श्रीभगवान् में अनवच्छिन्न प्रीति हो, एवं प्रीति का आधार होने के कारण-- भगवत् परिकर गण में प्रीति उत्पन्न हो, श्रीउद्धव वाक्य की उस प्रकार अर्थ सङ्गति हेतु, वह अवतारित हुआ है ।

श्रीकृष्ण के प्रति श्रीकुन्ती एवं श्रीउद्धव को यह उक्ति—आक्षेप गत है । श्रीकृष्ण, उन सब के सहित प्रीति बन्धन सुदृढ़ करने में इच्छुक हैं, छिन्न करने में नहीं हैं । अतएव प्रार्थना का उद्देश्य है—पाण्डवादि के सहित श्रीकृष्ण का अविच्छेद्य सम्बन्ध सम्पादन करना । पाण्डव, दाशार्ह, वृष्णि, अन्धक एवं सात्वत भगवत् पार्षद हैं । एतज्जन्य उस प्रकार व्याख्या को छोड़ कर गत्यन्तर नहीं है ।

श्रीमदुद्धव कहे थे ॥११५॥

११६ । देह सम्बन्धादि हेतु का प्रीति विच्छेद ही यदि भगवत् प्रीति का स्वभाव है, तो मृत पुत्र छै के प्रति देवकी का स्नेह क्यों हुआ ? जिस स्नेह के वशवर्त्तिनी होकर उन्होंने मृत पुत्रानयन हेतु श्रीकृष्ण के समीप में प्रर्थना की थीं । समाधान हेतु कहते हैं—

देवकी देवी के षड़् गर्भानयन हेतु उनके प्रति जो स्नेह दृष्ट होता है—उसको पानावशिष्ट स्तन्य के

"अपाययत् स्तनं प्रीता सुतस्पर्शपरिप्लुतम् ।
मोहिता मायया विष्णोर्यया सृष्टिः प्रवर्त्तते ॥" ३३१॥

"पीत्वामृतं पयस्तस्याः पीतशेषं गदाभृतः" इत्यादि, (भा० १०।८५।५६) "ययुर्विहायसा धाम" इत्यन्तम् । तथापि तन्माया तत्सहोदरतास्फूर्त्ति मेवावलम्ब्य तां मोहितवतीति मन्तव्यम् । अथ श्रीरुक्मिण्या रुक्मिण्यपि स्नेहस्तद्दैन्यादि-कौतुकं दिदृक्षुणा श्रीभगवतैव वा तदर्थं तल्लीलाशक्त्यैव वा रक्षितोऽस्तीति लभ्यते । स च भक्तिस्फोरणांशमेवावलम्ब्य, तस्या ह्यैश्वर्य्यज्ञान-संवलितत्वादन्तःकरणमेवं जातम्,-अयं परमेश्वरः, अयं त्वतिनिकृष्टः, तस्मादस्मिन्नयं विप्रकुर्वन्नपि किञ्चित् कर्त्तु मशक्त एव, ततोऽतिदीनोऽयमिति तथा श्रीभगवत्-चरणाश्रितायाः मम देहसम्बन्धवानिति दीनदयालोर्भक्तसम्बन्धपरम्परामात्रेणाभयदा-दस्मात्तन्नार्हतीति । एवं ह्यैश्वर्य्यदृष्ट्यैव तत्प्रार्थनम्-(भा० १०।५४।३३) "योगेश्वराप्रमेयात्मन्"

---

प्रभाव से उन सबको उद्धार करने के निमित्त श्रीभगवान् ही विस्तार किये थे । भा० १०।८५।५४-५५ में उक्त है—

"अपाययत् स्तनं प्रीता सुतस्पर्शपरिप्लुतम् ।
मोहिता मायया विष्णोर्यया सृष्टिः प्रवर्त्तते ॥" ३३१॥
"पीत्वामृतं पयस्तस्याः पीतशेषं गदाभृतः"

जिस माया के द्वारा सृष्टि प्रवर्त्तित होती है, उस विष्णु माया से मोहित होकर प्रीति पूर्णा देवकी देवी पुत्र के स्पर्श जो स्तन दुग्ध से प्लावित हुआ था, उसको देवकी देवी पान कराने लगी थीं । देवकी के छः पुत्र गदाधर के पीत विशिष्ट देवकी के अमृत स्तन्य पान करके नारायण के अङ्ग स्पर्श से आत्म ज्ञान प्राप्त किये थे । अनन्तर गोविन्द, देवकी वसुदेव एवं बलराम को प्रणाम करके सर्वजन समक्ष में वे आकाश मार्ग से वैकुण्ठ गमन किये थे ।

षड़् गर्भ उद्धार हेतु श्रीकृष्ण की इच्छा क्रम से उपस्थित होने पर भी श्रीकृष्ण मायाने श्रीकृष्ण की सहोदरता स्फूर्त्ति अवलम्बन कराकर श्रीदेवकी को मुग्ध किया, इस प्रकार जानना होगा ।

अर्थात् षड़् गर्भ श्रीकृष्ण के सहोदर हैं, देवकी की इस प्रकार स्फूर्त्ति होने से उस स्फूर्ति के आश्रय में रहकर माया उनको मुग्ध करके बालकों के प्रति स्नेहाकर्षण में समर्था हो गई थी । ऐसा होने पर भी देह सम्बन्ध में—गर्भ जात सन्तान बुद्धि से उस सब के प्रति देवकी का स्नेह उत्पन्न नहीं हुआ था । किन्तु श्रीकृष्ण के सम्पर्क से ही हुआ था । यह स्थिर हुआ । इस से श्रीकृष्ण प्रीति का आधार होने में देवकी में जो बाधा थी वह विदूरित हुई ।

विवरण यह है—स्वायम्भुवमन्वन्तर में ऊर्णा के गर्भ में ब्रह्मा के पुत्र मरीचि के छः पुत्र हुये थे ब्रह्मा में कन्योप गमनाभिलाषी देखकर ये हँस पड़े थे । उस पाप से वे असुर योनि प्राप्त कर हिरण्य कशिपु के पुत्र हुए थे । अनन्तर योग माया द्वारा देवकी के गर्भ में आनीत होकर भूमिष्ठ हुये थे । अनन्तर कंस द्वारा निहत होकर पाताल में बलि महाराज के निकट अवस्थान कर रहे थे । देवकी देवी की प्रार्थना से श्रीकृष्ण उन सब को ले आये थे । अनन्तर वे पापमुक्त हो गये थे ।

अनन्तर रुक्मिणी देवी के सम्बन्ध में भी इस प्रकार संशयावकाश है, बन्धु गण की वञ्चना करके उन

इत्यादि । अथ श्रीबलदेवस्य स्वशिष्यीभुत-दुर्य्योधनपक्षपातोऽप्येवं मन्तव्यः । क्वचित्तत्र तत् क्षयकरः क्रोधोऽपि दृश्यते, यथा लक्ष्मणाहरणे । सर्वमेतत्तु वैचित्रीपोषार्थं श्रीभगवल्लीलाशक्त्यैव प्रपञ्च्यत इत्युक्तम् । अथोद्दीपनाः,–यद्विशिष्टतया श्रीकृष्ण आलम्बनस्त एव भावविभावन-

---

को विवाह करने के निमित्त श्रीकृष्ण के निकट उन्होंने प्रार्थना की थी एवं श्रीकृष्ण--उनके भ्राता रुक्मी को बध करने में उद्यत होने पर रुक्मिणी बोली थीं—भा० १०।५४।३३

"योगेश्वराप्रमेयात्मन् देवदेव जगत् पते !
हन्तुं नार्हसि कल्याण भ्रातरं मे महाभुज ! ',

हे योगेश्वर ! हे अप्रमेयात्मन ! हे देवदेव ! हे जगत् पते ! हे कल्याण ! हे महावाहो ! मेरा भ्राता, आप का बध योग्य नहीं है। यहाँपर श्रीरुक्मिणी देवी में देहादि सम्बन्ध हेतुका प्रीति की विद्यमानता दृष्ट होती है। समाधान हेतु कहते हैं—श्रीरुक्मिणी देवी का स्नेह—उनके दैन्यादि कौतुक को देखने के निमित्त श्रीभगवान् ही रक्षा किये थ। किंवा वह स्नेह भक्ति स्फोरणांश को अवलम्बन करके ही रक्षित हुआ था।

अर्थात् रुक्मिणी देवी देह सम्बन्ध स्फुरण से अर्थात् ज्येष्ठ भ्राता सम्बन्ध स्फूर्त्ति हेतु रुक्मिणी के प्रति स्नेह प्रदर्शन नहीं किया। भक्ति स्फुरणांश से किस प्रकार उन्होंने रुक्मिणी के प्रति स्नेह प्रकाश किया—उस का वर्णन अग्रिम ग्रन्थ में होगा। रुक्मी दीन है एवं श्रीकृष्ण--दीन दयालु है। श्रीकृष्ण-भक्त सम्बन्ध परम्परा में अभय दाता हैं। रुक्मी—श्रीरुक्मिणी देवी के भ्राता होने से भक्त सम्बन्ध कहा जाता है। अतएव कृपार्ह है, अतः कृपा योग्य के निमित्त कृपा प्रार्थना उन्होंने की।

श्रीरुक्मिणी देवी—ऐश्वर्य्य ज्ञान सम्बलित होने के कारण—उनके मनमें यह हुआ था कि--यह परमेश्वर हैं, और यह रुक्मी अति निकृष्ट है, इस हेतु केशश्मश्रु छेदन करके रुक्मी को विकृत करने से भी कुछ भी कर न सके, तज्जन्य यह अतिदीन है। उस में भी भगवच्चरणाश्रित मेरे सहित देह सम्बन्ध विशिष्ट ज्येष्ठ भ्राता है। भक्त सम्बन्ध परम्परा मात्र से दीन दयालु अभय दान करते हैं इस से उन के द्वारा इस का विनाश होना—सङ्गत नहीं है। इस प्रकार ऐश्वर्य्य दृष्टि से ही उन्होंने योगेश्वर--अप्रमेयात्मन् इत्यादि रूप प्रार्थना की थीं।

श्रीबलदेव का निज शिष्य दुर्य्योधन के प्रति पक्षपात पूर्ण व्यवहार को भी इस प्रकार जानना होगा। अर्थात् बलराम के क्रोधादि कौतुक सन्दर्शन हेतु श्रीकृष्ण वा उनकी लीला शक्ति के द्वारा वह सम्पादित हुआ था। कभी तो दुर्य्योधन को विनष्ट करने का क्रोध भी बलराम में देखने आता है। यह दृष्टान्त लक्षणा हरण प्रसङ्ग है। लक्षणा दुर्य्योधन की कन्या थी। स्वयम्बर सभा से कृष्ण पुत्र साम्बने उसको हरण किया था, इस से कौरव गण क्रुद्ध होकर साम्ब को बन्दी बनाये थे। नारद से संवाद प्राप्त कर यादव गण युद्धोद् योग करने से बलदेव उनसब को निवृत्त करके समाधान हेतु हस्तिनापुर में आये थे। एवं कौरव गण को यादव गणके सहित युद्ध करने में निषेध किये थे। बलदेव की कथा को अग्राह्य करने से बलदेव हस्तिनापुर को ध्वंस करने का उद्यम किये थे। तब कौरव गण भीत होकर उनकी शरणापन्न होकर लक्षणा के सहित साम्ब को मुक्त कर दिये थे। भा० १०।६८ में यह प्रसङ्ग है। लीला वैचित्र्य पोषण हेतु श्रीभगवल्लीला शक्ति विविध विरुद्ध व्यापार का समावेश करती है।

## उद्दीपन विभाव ।

अनन्तर उद्दीपन विभाव का वर्णन करते हैं। जो सब वैशिष्ट्य श्रीकृष्ण में विद्यमान होने के कारण

हेतुत्वेन पृथङ्निर्दिष्टा उद्दीपनाः कथ्यन्ते। ते च तस्य गुण–जाति-क्रिया-द्रव्य-कालरूपाः। गुणाश्च त्रिविधाः,–कायवाङ्मानसाश्रयाः। सर्व एवैते न प्राकृता इत्युक्तम्, (भा० ११।१३।४०)-

"मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्।
सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयो गुणाः॥"३३२॥

इत्यादिना। तानेव श्रीकृष्णमालम्बनीकृत्य समुद्दिशति, (भा० १।१६।२७–३०)–

(११६) "सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम्।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्॥३३३॥
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्य्यं शौर्य्यं तेजो बलं स्मृतिः।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्य्यं मार्दवमेव च॥३३४॥
प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः।
गाम्भीर्य्यं स्थैर्य्यमास्तिक्यं कीर्त्तिर्मानोऽनहङ्कृतिः॥३३५॥
इमे चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित्॥"३३६॥

---

श्रीकृष्ण आलम्बन होते हैं, वे सब ही भाव विभावन के हेतु रूप में पृथक् निर्दिष्ट होकर उद्दीपन होते हैं। श्रीकृष्ण के गुण, जाति, क्रिया, द्रव्य, एवं काल भेद से उद्दीपन अनेक प्रकार होते हैं।

शरीर, वाक्य एवं मानसाश्रित भेद से गुण त्रिविध होते हैं। श्रीकृष्ण के समस्त गुण अप्राकृत हैं, इसका कथन स्वयं श्रीकृष्ण ही भा० ११।१३।४० में किये हैं।

"मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्।
सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयो गुणाः॥"३३२॥

टीका—किञ्च मामिति—कथम्भूताः? अगुणाः—गुणपरिणाम रूपा न भवन्ति, किन्तु नित्या इत्यर्थः।

निर्गुण, निरपेक्षक, सुहृद, प्रिय, आत्मा रूप मेरा भजन—साम्य, असङ्ग—अनासक्ति प्रभृति समुदय गुण मेरा भजन करते हैं। धरित्री देवीने श्रीकृष्ण को आलम्बन करके उक्त गुण समूह का वर्णन किया है। भा० १।१६।२७--३०

(११६) "सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम्।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्॥३३३॥
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्य्यं शौर्य्यं तेजो बलं स्मृतिः।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्य्यं मार्दवमेव च॥३३४॥
प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः।
गाम्भीर्य्यं स्थैर्य्यमास्तिक्यं कीर्त्तिर्मानोऽनहङ्कृतिः॥३३५॥
इमे चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित्॥"३३६॥

धर्म्म के निकट उन्होंने कहा है—सत्य, शौच, दया, क्षान्ति, त्याग, सन्तोष, आर्जव, सम, दम, तप,

१ सत्यं यथार्थभाषणम्, २ शौचं शुद्धत्वम्, ३ दया परदुःखासहनम्, ४ अनेन शरणागतपालकत्वम्, ५ भक्तसुहृत्वञ्च, ६ क्षान्तिः क्रोधापत्तौ चित्तसंयमः, ७ त्यागो वदान्यता, ८ सन्तोषः स्वतस्तृप्तिः, ९ आर्जवमवक्रता, १० अनेन सर्वशुभङ्करत्वञ्च, ११ शमो मनोनैश्चल्यम्, १२ अनेन सुदृढ़व्रतत्वञ्च, १३ दमो बाह्येन्द्रियनैश्चल्यम्, १४ तपः क्षत्रियत्वादि-लीलावतारानुरूपः स्वधर्म्मः, १५ साम्यं शत्रुमित्रादिबुद्धयभावः, १६ तितिक्षा-स्वस्मिन् परापराधसहनम्, १७ उपरतिर्लाभप्राप्तावौदासीन्यम्, १८ श्रुतं शास्त्रविचारः, ज्ञानं पञ्चविधम्-१९ बुद्धिमत्त्वम्, २० कृतज्ञत्वम्, २१ देश-काल-पात्रज्ञत्वम्, २२ सर्वज्ञत्वम्, २३ आत्मज्ञत्वञ्च, २४ विरक्तिरसद्विषयवैतृष्ण्यम्, २५ ऐश्वर्य्यं नियन्तृत्वम्, २६ शौर्य्यं संग्रामोत्साहः, २७ तेजः प्रभावः, २८ अनेन प्रतापश्च, स च प्रभावविख्यातिः, २९ बलं दक्षत्वम्, तच्च दुष्करक्षिप्रकारित्वम्, धृतिरिति पाठे क्षोभकारणे प्राप्तेऽप्यव्याकुलत्वम्, ३० स्मृतिः कर्त्तव्यार्थानुसन्धानम्, ३१ स्वातन्त्र्यमपराधीनता, कौशलं त्रिविधम्—३२ क्रियानिपुणता, ३३ युगपद्भूरिसमाधानकारितालक्षणा चातुरी, ३४ कलाविलासविद्वत्तालक्षणा वैदग्धी च, ३५ कान्तिः कमनीयता, एषा चतुर्विधा ३६ अवयवस्य, हस्ताद्यङ्गादिलक्षणस्य, ३७ वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दानाम्, तत्र रसश्चाधरचरणस्पृष्टवस्तुनिष्ठो ज्ञेयः, ३८ वयसश्चेति, ३९ एतया नारीगणमनोहारित्वमपि, ४० धैर्य्यम-

---

साम्य, तितिक्षा, उपरति, श्रुति, ज्ञान, विरक्ति, ऐश्वर्य्य, शौर्य्य, तेज, बल, स्मृति, स्वातन्त्र्य, कौशल, कान्ति धैर्य्य, मार्दव, प्रागल्भ्य, प्रश्रय, शील, सह ओज- बल, भग, गाम्भीर्य्य, स्थैर्य्य, आस्तिक्य, कीर्त्ति, मान, अनहङ्कृति— हे भगवन् ! ये सब एवं अन्य जो सब गुण की प्रार्थना महत्त्वाभिलाषि गण करते हैं, वे नित्य महागुण समूह श्रीकृष्ण को कभी भी परित्याग नहीं करते हैं।

श्लोक की व्याख्या— (१) सत्यं-यथार्थ भाषण (२) शौच-शुद्धत्व (३) दया-परदुःखासहन (४) इससे शरणागत पालकत्व (५) भक्त सुहृत्व (६) क्षान्ति-क्रोध उपस्थित होने पर चित्त संयम (७)त्याग-वदान्यता (८) सन्तोष—स्वतः तृप्ति (९)आर्जव—अकुटिलता (१०) इस के द्वारा शुभ कारित्व (११) शम—मानसिक निश्चलता (१२) इस से सुदृढ़ व्रतत्व (१३) दम-बहिरिन्द्रिय की निश्चलता (१४) तपः—क्षत्रियत्वादि लीलावतारानुरूप स्वधर्म (१५)साम्य-शत्रु मित्रादि भेद बुद्धि का अभाव (१६)तितिक्षा-अपराध सहन करना (१७) उपरति-लाभ होने पर औदासीन्य (१७) श्रुत-शास्त्र विचार (१६) पाँच प्रकार ज्ञान (क) बुद्धिमत्ता (२०) (ख)कृतज्ञता (ग) (२१)देशकाल पात्रज्ञत्वा (२२) (घ)सर्वज्ञत्व (ङ)(२३) आत्मज्ञत्व (२४) विरक्ति-असद्विषय में वितृष्णा (२५) ऐश्वर्य्य- नियन्तृत्व (२६) शौर्य्य-युद्धोत्साह (२७) तेज-प्रभाव (२) इस से प्रताप का कथन हुआ है, प्रभाव की ख्याति ही प्रताप है (२८) बल-दक्षता, (२९) दुष्कर कार्य्य में क्षिप्रकारिता (३०) स्मृति वा धृति-क्षोभ हेतु प्राप्त होने पर भी अव्याकुलता, स्मृति कर्त्तव्यार्थ का अनुसन्धान (३१) स्वातन्त्र्य-स्वाधीनता (३२) कौशल—त्रिविध (क) क्रिया निपुणता, (ख) (३३) युगपत् बहु कार्य्य समाधान रूप चातुरी (ग) (३४) कला विलास विज्ञता रूप वैदग्धी (३५) कान्ति-कमनीयता (३६) हस्त प्रभृति अङ्ग समूह की कमनीयता (३७) वर्ण रस गन्ध स्पर्श शब्द की कमनीयता,—उस से अधर चरण स्पृष्ट वस्तु गण को जानना होगा। (३८) वयस की कमनीयता (३९) इस से नारीगण मनोहारित्व को जानना होगा। (४०) धैर्य्य-अव्याकुलता (४१) मार्दव (मृदुता) प्रेमार्द्रचित्तत्व (४२) इस से प्रेमवश्यत्व (४२) प्रागल्भ्य--

व्याकुलता, ४१ मार्दवं प्रेमार्द्रचित्तत्वम्, ४२ अनेन प्रेमवश्यत्वञ्च, ४३ प्रागल्भ्यं प्रतिभातिशयः, ४४ अनेन वावदूकत्वञ्च, ४५ प्रश्रयो विनयः, ४६ अनेन ह्रीमत्त्वम्, ४७ यथा युक्तसर्वमानदातृत्वम्, ४८ प्रियम्वदत्वञ्च, ४९ शीलं सुस्वभावः, ५० अनेन साधुसमाश्रयत्वञ्च ५१ सहो मनःपाटवम्, ५२ ओजो ज्ञानेन्द्रियपाटवम्, ५३ बलं कर्मेन्द्रियपाटवम्, भगस्त्रिविधः- ५४ भोगास्पदत्वम्, ५५ सुखित्वम्, ५६ सर्वसमृद्धिमत्वञ्च, ५७ गाम्भीर्य्यं दुर्विबोधाशयत्वम्, ५८ स्थैर्य्यमचञ्चलता, ५९ आस्तिक्यं शास्त्रचक्षुष्ट्वम्, ६० कीर्त्तिः साद्गुण्यख्यातिः, अनेन ६१ रक्तलोकत्वञ्च, ६२ मानः पूज्यत्वम्, ६३ अनहङ्कृतिस्तथापि गर्वरहितत्वम्, ६४ च-काराद्-ब्रह्मण्यत्वम्, ६५ सर्वसिद्धिनिषेवितत्व-, ६६ सच्चिदानन्दघनविग्रहत्वादयो ज्ञेयाः, महत्त्वमिच्छद्भिः प्रार्थ्या इति महागुणा इति च, ६७ वरीयस्त्वमपि गुणान्तरम्, एतेन तेषां गुणानामन्यत्र स्वल्पत्वं चञ्चलत्वञ्च, तत्रैव पूर्णत्वमविनश्वरत्वञ्चोक्तम्, अतएव श्रीसूतवाक्यम् (भा० १।११।२६) —

"नित्यं निरीक्षमाणानां यद्यपि द्वारकौकसाम् ।
न वितृप्यन्ति हि दृशः श्रियो धामाङ्गमच्युतम् ॥"३३७॥ इति,

तथा नित्या इति,न वियन्तीति, ६८ सदा स्वरूपसंप्राप्तत्वमपि गुणान्तरम्, अन्ये च जीवालभ्या यथा—६९ तत्राविर्भावमात्रत्वेऽपि सत्यसङ्कल्पत्वम्, ७० वशीकृताचिन्त्यमायत्वम्, ७१

---

प्रतिभा प्राचुर्य्य (४४) वावदूकत्व--वाक्पटुता (४५) प्रश्रय-विनय, (४६) लज्जावत्त्व (४७) यथायुक्त सर्वमान दातृत्व (४८) प्रियं वदत्व (४९) शील—सुस्वभाव (५०) साधु समाश्रयत्व (५१) सह-मानसिक पटुता (५२) ओजः-ज्ञानेन्द्रिय की पटुता (५३) बल-कर्म्मेन्द्रिय की पटुता (५४) भग त्रिविध–भोगास्पदत्व (५५) सुखित्व (५६) सर्व समृद्धिमत्त्व (५७) गाम्भीर्य्य अभिप्राय की दुरूहता (५८) स्थैर्य्य--अचञ्चलता (५९) आस्तिक्य-- शास्त्रनयनत्व (६०) कीर्त्ति-सद्गुण समूह की ख्याति (६१) रक्त लोकत्व–जन प्रियत्व (६२) मान पूज्यत्व, (६३) अनहङ्कृति-पूज्य होकर हो गर्वराहित्व (६४) श्लोक स्थित 'च कार' एवं शब्द द्वारा ब्रह्मण्यत्व (६५) सर्वसिद्धि निषेवितत्व (६६) सच्चिदानन्द घन विग्रहत्व (६७) महत्त्वाभिलाषी का प्रार्थनीय महागुण शब्द के द्वारा श्रेष्ठत्व भी एक गुण है।

एवं जो सब गुण का अन्यत्र अल्पत्व एवं चञ्चलत्व हैं, वे सब गुण का भी भगवान् में पूर्णत्व-अविनश्वरत्व है। अतएव भा० १।११।२६ में श्रीसूतने कहा है—

"नित्यं निरीक्षमाणानां यद्यपि द्वारकौकसाम् ।
न वितृप्यन्ति हि दृशः श्रियो धामाङ्गमच्युतम् ॥"३३७॥

जिनका अङ्ग--शोभा का आश्रय है—उन अच्युत का नित्य दर्शन करने पर भी द्वारका वासिगण के नयन विशेष, रूप से तृप्त होने में अक्षम थे।

धरित्री देवी के द्वारा उक्त श्लोक समूह में 'नित्य' शब्द का प्रयोग होने से सर्वदा गुण समूह का स्वरूप सम्प्राप्तत्व भी एक गुण है। (६८) श्लोकस्थ अन्य गुण समूह जीव के पक्ष में अलभ्य हैं। यथा (६९)

आविर्भावविशेषत्वेऽप्यखण्ड-सत्त्वगुणस्य केवलस्वयमवलम्बनत्वम्, ७२ जगत्पालकत्वम्, ७३ यथा तथा हतारिस्वर्गदातृत्वम्, ७४ आत्मारामगणाकर्षित्वम्, ७५ ब्रह्मरुद्रादिसेवितत्वम्, ७६ परमाचिन्त्यस्वरूपशक्तित्वम्, ७७ आनन्त्येन नित्यनूतन-सौन्दर्य्याद्याविर्भावत्वम्, ७८ पुरुषावतारत्वेऽपि मायानियन्तृत्वम्, ७९ जगत्सृष्ट्यादिकर्त्तृत्वम्, ८० गुणावतारादिवीजत्वम्, ८१ अनन्तब्रह्माण्डाश्रयरोमविवरत्वम्, ८२ वासुदेवत्व-नारायणत्वादिलक्षण-भगवत्त्वाविर्भावेऽपि स्वरूपभूतपरमाचिन्त्याखिलमहाशक्तिमत्त्वम्, ८३ स्वयंभगवल्लक्षणकृष्णत्वे तु हतारिमुक्ति-भक्तिदायकत्वम्, ८४ स्वस्यापि विस्मापक-रूपादि-माधुर्य्यवत्त्वम्, ८५ अनिन्द्रियाचेतन-पर्य्यन्ताशेष-सुखदातृस्वसान्निध्यत्वमित्यादयः ॥ श्रीपृथिवी धर्म्मम् ॥

११७ । तदेतद्दिङ्मात्रदर्शनम्, यत आह, (भा० १०।१४।७) —

(११७) ''गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं, हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य'' इत्यादि । स्पष्टम् ॥ ब्रह्मा श्रीभगवन्तम् ॥

---

आविर्भाव मात्रत्व में भी सत्य सङ्कल्पत्व पृथिवी में अवतीर्ण होने पर भी सङ्कल्प का व्यतिक्रम नहीं होता है । (७०) वशीकृताचिन्त्यमायत्व--अचिन्त्य शक्ति रूपा माया को वशीभूत करके रखना (७१) आविर्भाव विशेष होने पर भी अखण्ड सत्त्वगुण का एकमात्र अवलम्बनत्व (७२) जगत् पालकत्व (७३) निहत शत्रु को स्वर्ग दातृत्व (७४) आत्मारामगणाकर्षित्व (७५) ब्रह्म रुद्रादि सेवितत्व, (७६) परमाचिन्त्य शक्तित्व (७७) विविध प्रकार से नित्य नूतन सौन्दर्य्य का आविर्भावत्व (७८) पुरुषावतार रूप में भी मायानियन्तृत्व है (७९) जगत् सृष्ट्यादि कर्त्तृत्व (८०)गुणावतारादि वीजत्व,रोम कूप में अनन्त ब्रह्माण्ड को धारण करने की सामर्थ्य (८१) वासुदेवत्व नारायणादि रूप भगवत्ताविर्भाव होने पर भी स्वरूप भूत परमाचिन्त्याखिल महाशक्तित्व (८२) स्वयं भगवान् कृष्ण रूप में हतारि मुक्ति दायकत्व (८३) निज विस्मय कर रूपादि माधुर्य्यकत्व (८४) इन्द्रिय रहित अचेतन प्रभृति को भी अशेष सुख स्वसान्निध्यत्व (८५)

यहाँ जो ८५ प्रकार गुण का वर्णन हुआ है, वे पाँच भाग में विभक्त हैं । ६८ तक प्रथम ७७ पर्य्यन्त द्वितीय, ८१ पर्य्यन्त तृतीय, ८२ पर्य्यन्त चतुर्थ, एवं ८५ पर्य्यन्त पञ्चम भाग हैं । ६८ पर्य्यन्त जो सब गुण वर्णित हैं, वे सब सर्व प्रकार भगवत् स्वरूप में पूर्णमात्रा में वर्त्तमान हैं । भक्तवृन्द में भी यह सब गुण किञ्चित् परिमाण में विद्यमान होते हैं । यह सब गुण एवं ८२ पर्य्यन्त गुण समूह श्रीकृष्ण की प्रकाश मूर्त्ति वासुदेव में एवं विलास मूर्त्ति श्रीनारायण में हैं । यहाँ जो ८५ प्रकार गुण की कथा कही गई है । वे सब गुण एवं और भी अनन्त गुण स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण में ही विद्यमान हैं ।

श्रीपृथिवी धर्म को बोली थीं ॥११६॥

११७ । यहाँपर गुणों का दिग् दर्शन किया गया है, अर्थात् गुणों का यद् किञ्चित् वर्णन किया गया है । कारण-भा १०।१४।७ में श्रीब्रह्मा ने कहा है—

''गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं, हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य ।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पै र्भूपांशवः खेमिहिका द्युभासः ॥''

टीका-गुणात्मनो गुणानामात्मनो गुणाधिष्ठातु स्ते तव पुनर्गुणान् विमातुम्- एतावन्त इति गणयितुमपि के ईशिरे समर्था बभुवुः । दूरतरस्तद्विशेषवार्त्ता । कथम्भूतस्य तव ! अस्य विश्वस्य हिताय पालनाय बहुगुणा-

११८। ते च तस्य गुणाः केचिन्मिथो विरुद्धा अप्यचिन्त्यशक्तित्वेनैकाश्रयाः,–(ब्र० सू० २।१।२७) "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इति न्यायेन, (भा० १०।४३।१७) "मल्लानामशनिः" इत्यादि-दर्शनात्, (भा० १०।७।७) "शिशोरनोऽल्पक-प्रवालमृद्वङ्घ्रिहतं व्यवर्त्तत" इत्यादेश्च।

---

निष्कारेणावत्तीर्णस्य। ननु कालेन निपुणैः किमशक्यमत आह कालेनेति। वा शब्दो वितर्के। सुकल्पैरति निपुणैर्बहुजन्मना कालेन भू परमाणवो विमितः विशेषेण गणिता भवेयुः, तथा खेमिहिका हिमकणा अपि। तथा द्युभासो दिवि नक्षत्रादिकिरण परमाणवोऽपि।

गुणात्मा—जो गुण समूह के अधिष्ठाता का गुण समूह जिसके स्वरूप भूत हैं। इस प्रकार तुम जगत् के हितार्थ अवतीर्ण हुये हो, तुम्हारे गुण समूह का परिमाण करने में कौन सक्षम हैं? जो सब सुनिपुण व्यक्ति श्रीसङ्कर्षणादि-कालक्रम में पृथिवी की धूलिकणा, आकाश की हिमकणा, एवं सूर्य्यादि रश्मि परमाणु की गणना करने में समर्थ होते हैं, वे भी तुम्हारे गुण गणों की गणना करने में असमर्थ हैं।

ब्रह्मा भगवान् को कहे थे ॥११७॥

११८। श्रीभगवान् की अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से यह सब परस्पर विरुद्ध स्वभावाक्रान्त गुण भी एकमात्र भगवान् को आश्रय कर अवस्थित होते हैं, ब्रह्मसूत्र २।१।२७ "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्"

श्रुति का शब्द ही मूल है। इस ब्रह्मसूत्र प्रमाण के अनुसार उसको स्वीकार करना कर्त्तव्य है। सूत्र का भागवत भाष्य—

"शब्द ब्रह्मात्मनस्तस्य व्यक्ता व्यक्तात्मनः परः
ब्रह्मावभाति विततो नाना शक्त्यु पबृंहितः ॥ भा० ३।१२।४७
नारायणः परावेदाः ॥ भा० २।५।१५
स वाच्य वाचकतया भगवान् ब्रह्मरूपधृक्
नाम रूप क्रिया धत्ते सकर्माकर्मकः परः। भा० २।१०।३६
शब्द ब्रह्म परं ब्रह्म ममोभे शाश्वतीतनू ॥ भा० ६।१६।५१

भा० १०।४३।१७ में वर्णित है "मल्लानामशनिः" कंस रङ्ग स्थलगत श्रीकृष्ण मल्लादि विविध व्यक्तियों के निकट विविध रूपों में प्रतिभात हुये थे। इस का बर्णन उक्त श्लोक में हुआ है। श्रीकृष्ण में जो विरुद्ध धर्म का समावेश है—वही श्लोक इस का दृष्टान्त है।

अर्थात् श्रीभगवान् में जो परस्पर विरुद्ध गुणों का सन्निवेश है—उसका प्रमाण श्रुति है—अर्थात् शब्द मूल शास्त्र ही है। इस को विश्वास करना कर्त्तव्य है, तज्जन्य--श्रुति का मूल शब्द ही है--वेदान्त सूत्र का उल्लेख किया गया है। समस्त प्रमाणों में अभ्रान्त प्रमाण शब्द मूलक शास्त्र ही है। श्रुति एवं तदनुगत शास्त्र समूह- श्रीभगवान् में विरुद्ध धर्म समावेश का कीर्त्तन किये हैं, अचिन्त्यशक्ति प्रभाव से उस प्रकार होना सम्भव है।

कंस रङ्ग स्थलमें युगपत् विरुद्ध धर्मो का समावेश कृष्ण में दृष्ट हुआ है। मल्ल वृन्दके निकट श्रीकृष्ण वज्रकठोर दृढ़ाङ्ग माता पिता के निकट सुकुमार शिशु, योगि गणके निकट–परमतत्त्व, स्त्री गण के निकट मूर्त्तिमान् कन्दर्प इत्यादि।

भा० १०।७।७ में "शिशोरनोऽल्पक प्रवालमृद्वङ्घ्रिहतं व्यवर्त्तत" वर्णन है। विरुद्ध गुणों का समावेश का यह दृष्टान्त है, शकट भञ्जन लीला में शिशु का क्षुद्र एवं प्रवाल से भी कोमल एक चरण द्वारा आहत होकर शकट उलट गई थी।

तत्र केवलकौमल्यगुणाविष्कारे सति(भा० १०।१५।१६) "क्वचित् पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्षितः' इत्यादिकमपि यथार्थमेव । एवमेव श्रीदामविप्रानीत-कदन्नभोजननिवारणे लक्ष्म्या अपि प्रवृत्तिः, यथैव तच्चरितेन व्यक्तम्-(भा० १०।६०।७) "बालव्यजनमादाय रत्नदण्डं सखीकरात्" इत्यादौ, अतएव (भा० १०।८१।१०) "इति मुष्टिम्" इत्यादौ "सा तत्परा" इत्युक्तम् । अत्र च एतेनैव मदंशलेशरूपाया विभूतेरनुग्रहभाजनमयं जात इति कदन्नभोजनेनालमिति भावः ।

---

विरुद्ध धर्म का समावेश होने पर भी सब समय विरुद्ध गुण समूह व्यक्त नहीं होते हैं, केवल कोमल गुण का आविष्कार करने पर भा० १०।१५।१६ में उक्त है—

"क्वचित् पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्षितः
वृक्षमूलाश्रयशेते गोपोत्सङ्गोपबर्हणः ॥"

किसी स्थान में श्रीकृष्ण, बाहु युद्ध से परिश्रान्त होकर वृक्ष मूल में पल्लव शय्यामें गोप बालक के क्रोड़ में मस्तक स्थापन कर शयन करते हैं। यह भी यथार्थ होता है ।

केवल कोमलता गुण आविष्कार करने में–जिस समय श्रीदामविप्र द्वारा आनीत कदन्न (चिपिटक) (चिउड़ा) भोजन कर रहे थे, उस समय उनको निवारण करने के निमित्त रुक्मिणी देवी को भी प्रवृत्ति हुई थी। उस प्रकार कोमलता आविष्कार का विषय व्यक्त हुआ है— श्रीरुक्मिणी देवी के आचरण में—

भा० १०।६०।७ "बालव्यजनमादाय रत्नदण्डं सखीकरात् ।
तेनवीजयती देवी उपासाञ्चक्र ईश्वरम् ॥

श्रीरुक्मिणी देवी, सखीके हस्त से रत्नदण्ड विशिष्ट चामर ग्रहण करके उसके द्वारा व्यजन करते करते ईश्वर-श्रीकृष्ण की उपासना करने लगी थीं।

श्रीकृष्ण, रुक्मिणी के निकट निज कोमलता प्रकट किये थे, तज्जन्य--उन्होंने सोचा सखी का व्यजन इस समय पर्य्याप्त नहीं है, अतः स्वयं ही व्यजन करने में प्रवृत्त हुई थीं। अनन्तर जिस समय श्रीकृष्ण-श्रीदामविप्र द्वारा आनीत चिपिटक भक्षण करने में प्रवृत्त हुये थे। उस समय देवी सोचने लगीं, श्रीकृष्ण जिस प्रकार कोमल हैं, उनके पक्षमें इस प्रकार कदन्न भक्षण कष्ट कर कार्य्य है । इस हेतु निवारण किये थे। तज्जन्य भा० १०।८१।१० में उक्त है—"इति मुष्टिम् सकृज्जग्ध्वा द्वितीयांजग्धुमाददे ।
तावत् श्रीर्जगृहे हस्तं तत्परा परमेष्ठिनः ।।"

यहाँ श्रीरुक्मिणी देवी को 'तत् परा' श्रीकृष्ण--सुखाभिलाषिणी कही गई है । श्रीरुक्मिणी देवी का अभिप्राय यह था--जो एक मुष्टि चिपिटक भोजन किया गया है—उस से ही यह व्यक्ति--मेरी अंश रूपा सम्पल्लक्ष्मी का अनुग्रह भाजन हुआ है, पुनर्वार कदन्न भक्षण का प्रयोजन ही क्या है ?

तात्पर्य्य यह है—श्रीदाम विप्र को धन दान करने के अभिप्राय से श्रीकृष्ण उनका चिपिटक भक्षण किये थे। उद्देश्य यह था – मैं तृप्त होने से ऐश्वर्य्य शक्ति की परमांशिनी श्रीरुक्मिणी देवी की भी प्रसन्नता होगी। कारण, मेरी प्रसन्नता से ही वह प्रसन्न होती है। ऐसा होने पर ऐश्वर्य्य शक्ति प्रसन्न होकर विप्र को प्रचुर धन दान करेगी। मन में हँस कर श्रीकृष्ण इस प्रकार चिपिटक भक्षण कर रहे हैं--यह जान कर उन्होंने निषेध किया। श्रीकृष्ण की तृप्ति से उनको सन्तोष है। यह है रुक्मिणी की तत् परायणता का परिचायक। श्रीकृष्ण की कोमलता का परिचय प्राप्त कर ही उन्होंने तादृश रूक्ष वस्तु भोजन से उनको निवृत्त किये थे। दावानल पान कर सकते हैं—इस प्रकार गुण श्रीकृष्ण का है, यह गुण यदि श्रीकृष्ण उस

विरुद्धार्थसद्भावेऽपि न तु दोषास्तत्र सम्भाव्याः,–(छा० ८।१५) "अयमात्मापहतपाप्मा" इति श्रुतेः, यथा चोक्तं कौर्म्मे–

"ऐश्वर्य्ययोगाद्भगवान् विरुद्धार्थोऽभिधीयते तथापि दोषाः परमे नैवाहार्य्याः समन्ततः ॥"३३८॥ इति ।

ततस्तद्गुणानामन्यदीयानामिव दोषमिश्रत्वं निषेधति, (भा० ८।८।१८–१९) —

(११८) "ततस्ततो नुपुरवल्गुशिञ्जितै-,र्विसर्पती हेमलतेव सा बभौ ॥३३९॥

विलोकयन्ती निरवद्यमात्मनः, पदं ध्रुवं चाव्यभिचारिसद्गुणम् ।
गन्धर्व-सिद्धासुर-यक्ष-चारण--त्रैपिष्टपेयादिषु नान्वविन्दत ॥३४०॥

सा लक्ष्मीः, पदमाश्रयम्, ध्रुवं नित्यम्, अव्यभिचारिणो नित्याः सन्तश्च गुणा यस्मिन् ॥

११९। तदेव व्यनक्ति त्रिभिः, (भा० ८।८।२०–२२) —

---

समय प्रकाश करते तो निवारण करने का अवसर नहीं आता। केवल कोमलता का परिचय प्राप्त कर ही उन्होंने उस प्रकार किया था।

विरुद्ध कर्म का समावेश होने पर भी श्रीभगवान् में दोषकी सम्भावना नहीं है। कारण, छान्दोग्योपनिषत् ८।१५ में उक्त है, "अयमात्मापहतपाप्मा" यह आत्मापाप रहित है। श्रुति में दोष रहित का वर्णन तो है ही, कूर्म्म पुराण में भी विरुद्ध धर्म के समावेश से दोषाभाव का वर्णन है—

"ऐश्वर्य्ययोगाद्भगवान् विरुद्धार्थोऽभिधीयते ।
तथापि दोषाः परमे नैवाहार्य्याः समन्ततः ॥"३३८॥

ऐश्वर्य योग से भगवान् विरुद्ध धर्म–परस्पर विरुद्ध गुण विशिष्ट कथित होते हैं। तथापि परमेश्वर में समस्त दोषानुसन्धान को वर्ज्जन करना चाहिये।

अर्थात् श्रीभगवान्–निर्द्दोष गुण रत्नाकर हैं– तज्जन्य उनके गुण समूह में दूसरे के गुण समूह के समान दोष मिश्रण का उद्भावन करना निषिद्ध है। भा० ८।८।१८--१९ में उक्त है—

(११८) "ततस्ततो नुपुरवल्गुशिञ्जितै,-र्विसर्पती हेमलतेव सा बभौ ॥३३९॥

समुद्र मथनमें आविर्भूता लक्ष्मी अभिषेक के पश्चात् नुपुर की मनोहर ध्वनि के सहित गमन प्रारम्भ करने से गति शीला स्वर्णलता के समान शोभित हुई थीं। लक्ष्मी, निज अनिन्दय नित्य आश्रय योग्य व्यक्ति को चतुर्द्दिक में निरीक्षण करके अनुसन्धान करने लगी थीं, किन्तु जिस में नित्य सद्गुण समूह विराजित हैं, इस प्रकार आश्रय–गन्धर्व, सिद्ध, असुर, यक्ष, चारण यहाँतक कि--स्वर्गवासी देवगण, इन सब के मध्य में दृष्ट नहीं हुआ।

"विलोकयन्ती निरवद्यमात्मनः, पदं ध्रुवं चाव्यभिचारिसद्गुणम् ।
गन्धर्व-सिद्धासुर-यक्ष-चारण-,त्रैपिष्टपेयादिषु नान्वविन्दत ॥"३४०॥

श्लोक का अर्थ – वह लक्ष्मी, पद— आश्रया अव्यभिचारि सद्गुण--नित्य सद् गुण समूह जिस में हैं-- इस प्रकार व्यक्ति।

११९। अव्यभिचारि सद् गुण जो दूसरे में है ही नहीं, उसका विवरण परवर्त्ती श्लोकत्रय में है। भा० ८।८।२०--२२

(११९) "नूनं तपो यस्य न मन्युनिर्जयो, ज्ञानं क्वचित्तच्च न सङ्गवर्जितम् ।
कश्चिन्महांस्तस्य न कामनिर्जयः, स ईश्वरः किं परतो व्यपाश्रयः ॥३४१॥
धर्म्मः क्वचित्तत्र न भूतसौहृदं, त्यागः क्वचित्तत्र न मुक्तिकारणम् ।
वीर्य्यं न पुंसोऽस्त्यजवेगनिष्कृतं, न हि द्वितीयो गुणसङ्गवर्जितः ॥३४२॥
क्वचिच्चिरायुर्न हि शीलमङ्गलं, क्वचित्तदप्यस्ति न वेद्यमायुषः ।
यत्रोभयं कुत्र च सोऽप्यमङ्गलः, सुमङ्गलः कश्च न काङ्क्षते हि माम् ॥" ३४३॥

अत्र तपआदिभिरपि न साम्यं विवक्षितम्,—असाम्य-प्रसिद्धेः, यथोक्तम् (भा० १।१६।३०) "इमे च" इत्यादौ "प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिः" इति, किन्त्वन्यदीय-तपआदिलेशानां सतामपि दोषान्तरोप-रक्तत्वमित्येवमत्यन्तासाम्यमेव विवक्षितम् । यस्य दुर्वासआदेः, क्वचिद्गुरु-

---

"नूनं तपो यस्य न मन्युनिर्जयो, ज्ञानं क्वचित्तच्च न सङ्गवर्जितम् ।
कश्चिन्महांस्तस्य न कामनिर्जयः, स ईश्वरः किं परतो व्यपाश्रयः ॥३४१॥
धर्म्मः क्वचित्तत्र न भूतसौहृदं, त्यागः क्वचित्तत्र न मुक्तिकारणम् ।
वीर्य्यं न पुंसोऽस्त्यजवेगनिष्कृतं, न हि द्वितीयो गुणसङ्गवर्जितः ॥३४२॥
क्वचिच्चिरायुर्न हि शीलमङ्गलं, क्वचित्तदप्यस्ति न वेद्यमायुषः ।
यत्रोभयं कुत्र च सोऽप्यमङ्गलः, सुमङ्गलः कश्च न काङ्क्षते हि माम् ॥" ३४३॥

विचार पूर्वक लक्ष्मीने देखा—जिस की तपस्या है—उसको क्रोध जय नहीं है, कहीं पर ज्ञान है, किन्तु आसक्ति वर्जित नहीं हैं । महत् है--किन्तु काम जयी नहीं हैं, जिसको परापेक्षा है, वह तो ईश्वर हो ही नहीं सकता है, जहाँ धर्म है-अथच—जीवदया नहीं है, त्याग है--किन्तु वह मुक्ति हेतु नहीं है । किसी का वीर्य्य है—किन्तु कालवेग से निष्कृति नहीं है, गुण सङ्ग वर्जित द्वितीय कोई नहीं है, कोई तो दीर्घायु: है, किन्तु मङ्गल शील नहीं है । कोई मङ्गल शील है तो आयु: अनिश्चित है । जिस में उभय—अर्थात् शील मङ्गल आयु: स्थैर्य्य है—वह अमङ्गल है । कोई सुमङ्गल क्या मुझ को चाहते हैं ?

उक्त श्लोकत्रय की व्याख्या—यहाँ तपस्यादि द्वारा अपर में भगवत् समता को कहने का अभिप्राय नहीं है । कारण, असाम्य की प्रसिद्धि है, यह सब गुण एवं जो सब गुण की प्रार्थना महत्त्वाभिलाषि गण करते हैं । पृथिवी के इस वाक्य से कोई भी भगवान् के समान गुण सम्पन्न नहीं हो सकते हैं । अर्थात् जो सब गुण--श्रीकृष्ण में नित्य विराजित हैं, अन्य महद् व्यक्ति उस की प्रार्थना ही करते हैं, तज्जन्य वे सब भगवान् के समान नहीं हो सकते हैं ।

श्रीलक्ष्मी देवी कर्त्तृक गुण विचार का विश्लेषण हो रहा है—दुर्वासा में तपस्या है, किन्तु क्रोध जय नहीं है । दुर्वासा—अम्बरिषादि महाभागवत के प्रति अकारण क्रोध प्रकाश किये थे । गुरु वृहस्पति--शुक्राचार्य्य प्रभृति में ज्ञान है—किन्तु आसक्ति वर्जन नहीं है, वृहस्पति-देवगण में, शुक्राचार्य--असुरगण में आसक्त थे । ब्रह्मा चन्द्रादि महत् हैं--किन्तु कामजयी नहीं हैं । ब्रह्मा कन्या में, चन्द्र गुरुपत्नी में आसक्त थे । इन्द्रादि देवता को परापेक्षा है, अतः वे ईश्वर नहीं हो सकते हैं । इन्द्रादि देवता असुर जय हेतु ब्रह्मा विष्णु महेश्वर एवं मुचुकुन्दादि राजन्य वृन्द की अपेक्षा करते हैं । परशुराम प्रभृति में धर्म तो है-किन्तु जीव दया नहीं है । परशुराम एकविंशतिवार पृथिवी को निःक्षत्रिया किये थे । शिविराज प्रभृति में त्याग है--किन्तु वह मुक्ति हेतु नहीं है--वह त्याग-यशः वा स्वर्गाभिलाष हेतु है । कार्त्तवीर्य्यादि में वीर्य्य है—किन्तु

शुक्रादौ, कश्चिद्ब्रह्मसोमादिः, यः परतो व्यपाश्रयः परापेक्ष इन्द्रादिः, स किमीश्वरः क्वचित् परशुरामादितुल्ये तदानीन्तने न भूतसौहृदम्, शिविराजतुल्ये न मुक्तिकारणं त्यागः, पुंसः कार्त्तवीर्य्यादितुल्यस्य वीर्य्यमस्ति, किन्त्वजवेगनिष्कृतं कालवेगपरिहृतं न भवति, यतस्तेषां तत्तद्गुणत्वमपि मायागुणकृतमेव, न तु तदतीत-तत्तद्गुणत्वमिति परामृशति,–न हीति, हि यस्माद्द्वितीयः श्रीमुकुन्दादन्यः, अनेन सनकादय आत्मारामा अपि परिहृताः,–तेषां शम-दमादिगुणानां मायिकत्वात्, तथा शिवोऽपि परिहृतः,–(भा० १०।८८।३) "शिवः शक्तियुतः शश्वत्त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः" इति, (भा० १०।८८।५) "हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्" इत्याद्युक्तेः ।

अथ प्रकारान्तरेण शिवं परिहर्त्तुमुपक्रमते । क्वचिन्मार्कण्डेयादौ चिरायुश्चिर-जीविता, शीलमङ्गल-शब्देनात्र भोग उच्यते,–"इन्द्रियदमनशीलत्वात्" इति टीकायां हेतुविन्यासात्, अभोगिनो ह्यमङ्गल-स्वभावत्वेन लोके नामाग्रहणदर्शनाच्च, यद्वा, क्वचिन्मयदानवादौ चिरजीवितास्ति, शीले स्वभावे मङ्गलं माङ्गल्यं नास्तीत्यर्थः,-असुरस्वभावत्वादेव । बलि-प्रभृतिषु शीलमङ्गलमप्यस्ति, किन्त्वायुषो वेद्यं वेदनं नास्ति,-मरणानिश्चयात् । यत्र शिवे मङ्गलः स्वभावो नित्यत्वाच्चायुषो वेद्यत्वं चेत्युभयमप्यस्ति, सोऽप्यमङ्गलः, वहिःश्मशान-वासाद्यमङ्गलचेष्टितः । श्रीमुकुन्दं लक्ष्यीकृत्याह-यः कश्च कोऽपि तत्तद्गुणातिक्रम्यनन्त-गुणत्वात्तत्तद्दोषहीनत्वाच्च सुमङ्गलोऽतिशयेन सर्वेषां मङ्गलनिधानरूपः, स तु मां स्वरूपेण

---

काल वेग से अपराहति नहीं है, वे मरण धर्म शील है । उन सबों में जो गुण हैं, वे सब मायिक गुण हैं–मायातीत गुण नहीं हैं । इस हेतु विचार करते हैं– गुण सङ्ग व्यतीत द्वितीय श्रीमुकुन्द व्यतीत अपर कोई नहीं हैं । इस से सनकादि आत्मारामगण भी परित्यक्त हुये हैं । अर्थात् उन सब के गुण भी मायासम्पर्क वर्जित नहीं है उनके शमादि गुण भी मायिक हैं ।

उस प्रकार शिव भी परित्यक्त हुये हैं । शिव सर्वदा शक्ति युक्त, त्रिलिङ्ग एवं गुण संवृत हैं । भा० १०।८८।३ में है—"शिवः शक्तियुतः शश्वत्त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः" भा० १०।८८।५ में उक्त है–"हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्" हरि साक्षात् निर्गुण पुरुष हैं, एवं प्रकृत्यतीत हैं । उक्त श्लोक द्वय में शिव एवं हरि का वैषम्य वर्णित है । अनन्तर अन्य प्रकार से शिव के सहित श्रीमुकुन्द की साम्यप्रतीति का निरास करते हैं । मार्कण्डेयादि चिरायुः हैं, किन्तु शील मङ्गल नहीं हैं । शील शब्द से यहाँ भोग गृहीत हुआ है । श्रीधर स्वामि पादने टीका में लिखा है—'इन्द्रिय दमन शीलत्व' इन्द्रिय दमन शील व्यक्ति में भोग की सम्भावना नहीं है । शील मङ्गल शब्द से भोगका बोध होता है, जो अभोगी हैं, वे अमङ्गल स्वभाव के होते हैं, उनका नाम ग्रहण लोक नहीं करते हैं । शील मङ्गल शब्द का अर्थान्तर यह है—मयदानवादि में चिरजीविता है, किन्तु शील में अर्थात् स्वभाव में मङ्गल नहीं है । कारण, वे सब असुर स्वभाव के होते हैं । बलि प्रभृति में शील मङ्गल है-किन्तु आयुः का परिज्ञान नहीं है । कारण, उन सब की मृत्यु अनिश्चित है । जो शिव–मङ्गल स्वभाव एवं नित्य होने के कारण जिनकी आयुः का परिज्ञान है, उन में उभय ही हैं । किन्तु आप मङ्गल वर्जित हैं । श्मशानवासादि अमङ्गल चेष्टारत हैं, अनन्तर मुकुन्द की लक्ष्य करके कहती हैं । जो कोई —व्यक्ति उन उन गुणों से अधिक अनन्त गुणशाली एवं समस्त दोष वर्जित होने के कारण-सुमङ्गल हैं,

परमानन्दरूपां शक्त्या च सर्वसम्पत्ति दायिनीमपि न हि काङ्क्षति,--स एव स्वरूपगुण-सम्पत्तिभिः पूर्ण इत्यर्थः । अथच प्रेमवशोऽसौ प्रेमवतीं मां कथं नाकाङ्क्षेदितच्यभिप्रेत्य श्लेषेण कश्चन कोऽपि सुमङ्गलोऽसौ हि निश्चितं मां काङ्क्षतीत्यपि भावितम् ॥

१२० । इदमत्र तत्त्वम्,–परमानन्दमये तस्मिन् गुणादि-सम्पल्लक्षणानन्तशक्तिवृत्तिका स्वरूपशक्तिर्द्विधा विराजते । तदन्तरेऽनभिव्यक्त-निजमूर्त्तित्वेन तद्बहिरप्यभिव्यक्त-लक्ष्म्याख्य-मूर्त्तित्वेन । इयं च मूर्त्तिमती सती सर्वगुणसम्पदधिष्ठात्री भवति । ततः स्वस्मिन् परमानन्दत्वस्य सर्वगुणसम्पत्तेश्च स्वरूपसिद्ध-परमपूर्णत्वादुभयथापि न तां पृथग्भूय स्थितां मूर्त्तिमतीमपेक्षते यथा खल्वन्य, किन्तु भक्तवश्यता-स्वभावेन तां प्रेमवतीमपेक्षत एवेति प्रकरणं निगमयति, (भा० ८।८।२३)—

(१२०) "एवं विमृश्याव्यभिचारिसद्गुणै-,र्वरं निजैकाश्रयतागुणाश्रयम् ।
वव्रे वरं सर्वगुणैरपेक्षितं, रमा मुकुन्दं निरपेक्षमीप्सितम् ॥" ३४४॥

---

हैं । अर्थात् अतिशय रूप में सब के मङ्गल निधान स्वरूप हैं, स्वरूप में परमानन्द रूप । एवं शक्ति में सर्व सम्पत्ति दायिनी मुझ को अभिलाष नहीं करते हैं । इस से प्रतीति होती है– हरि ही स्वरूप में गुण में एवं सम्पत्ति में पूर्ण हैं । अथच प्रेमवश हैं, प्रेमवती मुझ को आप क्यों नहीं चाहेंगे ? इस अभिप्राय से कहा गया है । कोई व्यक्ति सुमङ्गल हैं, आप निश्चय ही मुझ को चाहते हैं, इस प्रकार विचार उन्होंने किया ॥११९॥

१२० । यहाँ यही तत्त्व है– जिस स्वरूप शक्ति की गुणादि सम्पद् रूपा अनन्त शक्ति वृत्ति हैं, वह शक्ति–परमानन्द रूप श्रीभगवान् में द्विधा विराजित हैं । उन के अन्तर में अनभिव्यक्त निज मूर्त्ति में अर्थात् निज मूर्त्ति को प्रकाशित करके केवल शक्ति रूप में हैं, एवं बाहर लक्ष्मी नाम्नी मूर्त्ति को प्रकट करके हैं । यह स्वरूप शक्ति मूर्त्तिमती होकर सर्व गुण एवं सम्पद की अधिष्ठात्री होती है, तज्जन्य श्रीभगवान् अपने में परमानन्द एवं सर्व गुण सम्पत्ति की स्वरूप सिद्ध परम पूर्णता हेतु, स्वरूप शक्ति के विविध संस्थान में पृथक् रूप में अवस्थिता मूर्त्तिमती लक्ष्मी श्रेष्ठा होने से भी उनकी अपेक्षा नहीं करती हैं, जैसे–अन्य जन हैं । अर्थात् साधारण जन जिस प्रकार निज पूर्णता की उपलब्धि करने से अभाव बोध न करने से अन्य कुछ नहीं चाहते हैं, श्रीभगवान् भी उस प्रकार परमानन्द पूर्ण एवं सर्व सम्पत्ति द्वारा स्वभावतः पूर्ण होने के कारण गुण सम्पत्ति की अधिष्ठात्री लक्ष्मी की अपेक्षा नहीं रखते हैं, किन्तु भक्तवश्यता स्वभाव वशतः प्रेमवती होने के कारण उनकी अपेक्षा करते हैं । अनन्तर लक्ष्मीस्वयंवर प्रकरण भा० ८।८।२३ में कहते हैं—

(१२०) "एवं विमृश्याव्यभिचारिसद्गुणै-,र्वरं निजैकाश्रयतागुणाश्रयम् ।
वव्रे वरं सर्वगुणैरपेक्षितं, रमा मुकुन्दं निरपेक्षमीप्सितम् ॥" ३४४॥

टीका—एवं विमृश्य रमा निरपेक्षमपि मुकुन्दमेव वरं वव्रे । तत् किम् ? अव्यभिचारिभिः सद्भिर्धर्म्मं ज्ञानादिभि र्गुणै निजैकाश्रयतया च नैरपेक्ष्येण वरं सर्वोत्तमम् । तत्र हेतुः अगुणाश्रयं प्रकृतिगुणातीतम् । आश्रयतेति पाठान्तरेऽप्ययमेवार्थः, अतएव स्वस्य ईप्सितम् । किञ्च सर्वैर्गुणैरणिमादिभि रपेक्षितं वृतम् । अयम्भावः, यद्यपि स्वयमात्मारामत्वेन अन्यनिरपेक्षः तथाप्याश्रिता अणिमादि सिद्धीर्यथा नोपेक्ष्यते तथा

मुकुन्दं वरं वव्र इत्यन्वयः । तं विशिनष्टि—अव्यभिचारिभिः सद्भिर्निर्दोषैश्च गुणैर्वरं सर्वोत्तमम् । निजैकाश्रयतयान्यनिरपेक्षत्वेनैव च गुणाश्रयं स्वरूपसिद्ध-तत्तद्गुणमित्यर्थः । अतएव तेषा गुणानां प्रकृतिसम्बन्धित्वमपि खण्डितम् । स्वतः परमानन्दघनरूपत्वात् सर्व-गुणैरपेक्षितं स्वयं निरपेक्षम्, अतएव निजाभीप्सितमिति ॥ श्रीशुकः ॥

१२१ । अथ पूर्व्वोक्त-गुणविरोधत्वाद्दोषमात्रं तस्मिन्नास्त्येव । तत्र सामान्यैश्वर्य्ये दयाविपरीतं परमसमर्थस्य तस्याभक्त-नरकादि-संसारदुःखानुद्धारित्वं प्राकृतदुःखास्पृष्टचित्तत्वेन परमात्मसन्दर्भादौ परिहृतमस्ति । पाण्डवादिवत् क्वचित् प्राकृतदुःखाभावात् तद्वियोगाद्वोत्थिते

---

मामपि नोपेक्षेत, तावतैव च तत् सेवयाऽहं कृतार्था स्याम्, किमन्यैः प्राकृतैरिति तमेवव्रतवतीति ।

इस प्रकार विचार कर अव्यभिचारि सद्गुण समूह द्वारा श्रेष्ठ—निजैकाश्रयता गुण का आश्रय, सर्व गुणों के अपेक्षणीय, निरपेक्ष, एवं निजाभीष्ट मुकुन्द को पति रूपमें लक्ष्मीने वरण किया ।

श्लोक व्याख्या—जिन मुकुन्द की पति रूपमें वरण किया-उनका परिचय प्रदान करते हैं—मुकुन्द अव्यभिचारि सद् गुण वर-अव्यभिचारि सत्—निर्दोष जो गुण समूह उन सब के द्वारा वर-श्रेष्ठ, निजैका श्रयता गुणाश्रय-अपनी एकमात्र आश्रयता एवं अन्य निरपेक्षता द्वारा गुणाश्रय, वे सब गुण--उनके स्वरूप सिद्ध हैं । अतएव ये सब गुणों के सहित माया का सम्पर्क भी निरस्त हुआ । स्वतः परमानन्द घन रूप हेतु मुकुन्द समस्त गुणों के अपेक्षणीय हैं, किन्तु स्वयं निरपेक्ष हैं । अतएव लक्ष्मी के अभीष्ट हैं ।

अर्थात् श्रीभगवान् में जो सब गुण हैं, वे सब उनको छोड़कर अन्य को आश्रय नहीं करते हैं, एतज्जन्य वे सब गुण अव्यभिचारी हैं । एकमात्र श्रीमुकुन्द ही सबके आश्रय हैं, यही उनकी निजैकाश्रयता है । एतज्जन्य गुण समूह उनको आश्रय न करके रह ही नहीं सकते हैं । अथच गुण समूह की अपेक्षा नहीं रखते हैं । उक्त गुण समूह का आहरण आपने अन्यत्र से नहीं किया है । एवं आप को छोड़कर अन्य कोई भी आश्रय न होने से सर्वदा गुण समूह उनमें ही हैं । इस हेतु वे सब उनके स्वरूप सिद्ध हैं ।

श्रीशुक कहे थे ॥१२०॥

१२१ । पूर्वोक्त गुण समूह का विरोधी होने के कारण किसी प्रकार दोष उन में नहीं है । अर्थात् श्रीभगवान् सर्वतोभावेन सर्व दोष वर्जित हैं । जिन में सामान्य ऐश्वर्य्य है—वे भी दुःखी के प्रति दया करते हैं । और परम समर्थ श्रीभगवान् अभक्तगण को नरकादि दुःख एवं संसार दुःख से उद्धार नहीं करते हैं, इस में उनकी दया का जो वैपरीत्य अनुमित होता है—उसका कारण है—प्राकृत दुःख उनके चित्त को स्पर्श नहीं कर सकता है । सुतरां यह उनका दोष नहीं है । इस प्रकार सिद्धान्त स्थापन पूर्वक परमात्म-सन्दर्भादि में उनमें दोष सम्भावना का परिहार किया गया है । और स्थल विशेष में पाण्डवादि के समान भगवद् विच्छेद से ही उपस्थित, भक्ति रस का सञ्चारि भाव रूप जो भक्त दैन्य दृष्ट होता है, वह प्राकृत नहीं है । तथापि समय विशेष में उनमें जो भगवत् प्रसादाभाव देखने में आता है, उस का उद्देश्य है—उस के द्वारा अर्थात् प्रसादाभाव द्वारा पुष्ट सञ्चारि भाव के सहित भक्ति रस का पोषण करना है ।

मूल के "तद्वियोगाद्वा" वाक्यांश में जो 'वा' शब्द का प्रयोग हुआ है—वह एवार्थ में प्रयुक्त हुआ है । एवार्थ में वा शब्द का प्रयोग विश्व प्रकाश सम्मत है ।

भावार्थ यह है—निखिल सद् गुण निधि श्रीभगवान् में दया नहीं है, इस प्रकार संशय हो सकता है, यहाँ उस प्रकार संशयका निरसन करते हैं । दया—परदुःखासहन है । दूसरे की दुःख निरसन चेष्टा से ही दया

भक्तिरस-सञ्चारिलक्षण-भक्तदैन्येऽपि कदाचित्तत्प्रसाद-दर्शनाभावश्च, तेन पुष्टेन सञ्चारिणा भक्तिरसपोषणार्थ एव,–(भा० १।८।२०) "भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः" इति तस्यैव मुख्यप्रयोजनत्वात्, (भा० ८।२२।२४) "ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम्" इति, (भा० १०।१७।२४) "सुदुस्तरान्नः स्वान् पाहि" इत्यादौ "न शक्नुमस्त्वच्चरणं संत्यक्तुम्" इति, (भा० १।८।२५) "विपदः सन्तु ताः शश्वत्" इति, (भा० १०।३२।२०) "नाहन्तु सख्यो

---

का परिचय होता है। भक्त-वा अभक्त-उभय विध व्यक्ति के मध्य में ही दुःखी है। उभयत्र भगवान् की अन्य दुःख मोचन चेष्टा का अभाव देखने में आता है। उस के मध्य में अभक्त वृन्द का दुःख-माया सम्भूत है। वह मायातीत श्रीभगवान् के चित्त को स्पर्श नहीं करता है, अतः उस प्रकार दुःख में भगवान् की सहानुभूति नहीं होती है। तज्जन्य-अभक्त-इस जगत् में जितना दुःख प्राप्त करता है, उस से-भगवान् में दया का उद्रेक नहीं होता है। इस प्रकार प्राकृत दुःख दर्शन हेतु दया का अनुद्रेक के कारण को कहकर–अप्राकृत दुःख से दया का अनुद्रेक के कारण को कहते हैं। यहाँ भक्त शब्द से उन को ही जानना होगा, जिन्होंने पाण्डवों के समान प्राकृत दुःख को ग्राह्य नहीं किया है। उनमें एक अप्राकृत दुःख है, वह है—भगवद् विच्छेद। इस प्रकार दुःख ही भगवान् के चित्त को स्पर्श करता है, उस दुःख को सूचित करने के निमित्त भक्त दैन्य प्रकाश करने पर भी भगवान् जो उस को विदूरित नहीं करते हैं उसका उद्देश्य है-भक्ति रस पोषण करना। "आत्म निकृष्टता मननेन चाटु" अपने को निकृष्ट मानकर काकु वाद करने का नाम दैन्य है। वह दैन्य-चतुर्विध हैं। दुःख हेतु, त्रासहेतु अपराध हेतु एवं लज्जा हेतु। यहाँ दुःख हेतु दैन्य की कथा ही कही गई है। यह दैन्य तेतीस व्यभिचारि भावके अन्तर्गत एक व्यभिचारि भाव है। इस से भक्ति रस पुष्ट होता है। भक्ति रस पोषण हेतु भगवान् यहाँपर दया प्रकाश करके विच्छेद दुःख दूर करने के निमित्त भक्त की आर्त्ति को सुनकर उपस्थित नहीं होते हैं। किन्तु, जब भक्ति रस पुष्ट होता है, उस समय विच्छेद दुःख दूर करते हैं। भगवान् में अनन्त दया वर्त्तमान हैं, विशेष कारण से ही भगवान् दया को प्रकट नहीं करते हैं।

भक्ति रस पोषण करना ही जो श्रीभगवान् का अभिप्रेत है, इसका विवरण भा० १।८।२० में श्रीकृष्ण के प्रति श्रीकुन्ती देवी की उक्ति में है। "भक्ति योग विधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः" भक्ति योग विधानार्थ तुम अवतीर्ण हुये हो। स्त्री जाति हम सब कैसे तुम्हारा दर्शन कर सकते हैं?

इस वाक्य में भक्ति रस पोषण ही मुख्य प्रयोजन कह गया है। दैन्य द्वारा भक्ति रस पोषण का दृष्टान्त निम्नोद्धृत वाक्य समूह में है—भा० ८।२२।८४ "ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम्"

श्रीबलि महाराज का सर्वस्व ग्रहण करने के पश्चात् श्रीभगवान् ब्रह्मा को कहे थे– हे ब्रह्मन्! मैं जिस के प्रति अनुग्रह करता हूँ उसका धन हरण करता हूँ" भा० १०।१७।२४ में उक्त है—

"सुदुस्तरान्नः स्वान् पाहि कालाग्नेः सुहृदः प्रभो।
न शक्नुमस्त्वच्चरणं सन्त्यक्तुमकुतोभयम्॥

हे प्रभो! हम सब तुम्हारे निजजन एवं सुहृद् हैं, घोरतम दावानल से हम सब की रक्षा करो। तुम्हारे चरणाश्रय करने से भय नहीं रहता है। हम सब उस चरण को परित्याग नहीं कर सकेंगे। इस श्लोक में 'तुम्हारे चरण' इत्यादि वाक्य है। भा० १।८।२५ में कुन्ती वाक्य है "विपदः सन्तु ताः शश्वत्"

निरन्तर वे सब विपद हों। भा० १०।३२।२० में व्रजदेवी के प्रति श्रीकृष्ण वाक्य है--"नाहन्तु सख्यो भजतोऽपि" हे सखी गण! किन्तु मैं भजन करने पर भी भजन नहीं करता हूँ। इन सब वाक्यों में दैन्य से

भजतोऽपि" इति च दैन्येन तत्पोषणश्रवणात् । एवमेव श्रीमद्व्रज-बालानां ब्रह्मद्वारा मोहनमपि व्याख्येयम्,–तस्मिन् वहिर्मोहेऽपि तेषां मनसि भोजनमण्डलावस्थितमात्मान-मनुसन्दधानानां वत्सान्वेषणार्थ-गत श्रीकृष्णप्रत्यागमनभावना सातत्येन प्रेमरसपोषणात्, यथोक्तम् (भा० १०।१४।४५)—

"ऊचुश्च सुहृदः कृष्णं स्वागतं तेऽतिरंहसा ।
नैकोऽप्यभोजि कवल एहीतः साधु भुज्यताम् ॥"३४५॥ इति ।

यज्ञपत्नीनामस्वीकारस्तासां ब्राह्मणीत्वात्तादृशलीलायां सर्वेषामनभिरुचेः, (भा० १०।३३।३६ "भजते तादृशीः क्रीड़ा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्" इति न्यायात् । (भा० ३।१२।३०-३०)–

"नैतत् पूर्वकृतं त्वद्ये न करिष्यन्ति चापरे ।

---

भक्ति रस पोषण दृष्ट होता है । सुतरां भगवद् वियोग दुःखोत्थित भक्त दैन्य में श्रीभगवान् का प्रसादाभाव दृष्ट होने पर भी वह दया भाव का परिचायक नहीं है ।

श्रीकृष्ण की मञ्जुमहिमा दर्शनाभिलाष से ब्रह्मा, जिस समय श्रीकृष्ण के सखा गणको मुग्ध करके अपसारित किये थे, उस समय उन सब को श्रीकृष्ण विच्छेद से निरतिशय दुःख हुआ था। इसमें संशय हो सकता है कि—श्रीकृष्ण ने क्यों उन सब को उद्धार नहीं किया । यह क्या दया हीनता का परिचय नही है ? समाधान हेतु कहते हैं– ब्रह्मा के द्वारा श्रीव्रज बालक गण का मोहन की व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिये । वाहर उन सब को मोह होने पर भी मनमें यह था कि—वे भोजन मण्डली में ही अवस्थित हैं । एवं वत्सान्वेषण में रत श्रीकृष्ण की प्रत्यागमन भावना भी उस के सहित थी । तज्जन्य उससे प्रेम हुआ था । व्रज बालकों की उस प्रकार ही उक्ति है--भा० १०।१४।४५

"ऊचुश्च सुहृदः कृष्णं स्वागतं तेऽतिरंहसा ।
नैकोऽप्यभोजि कवल एहीतः साधु भुज्यताम् ॥"३४५॥

सुहृद् गण समागत श्रीकृष्ण को हर्ष से कहे थे—तुम को छोड़कर हम सबने एक ग्रास भी भोजन नहीं किया है । आओ, अच्छीतरह भोजन करो ।

यहाँ समाधान तो हुआ है—किन्तु कहा जा सकता है कि—परमाणुरागवती यज्ञपत्नी गण को जो श्रीकृष्ण अङ्गीकार नहीं किये थे—उस से निश्चय ही उनकी दया हीनता का परिचय मिलता है । तज्जन्य कहते हैं--भा० १०।३३।३६ "भजते तादृशीः क्रीड़ा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् " इति न्यायात् ।

ब्राह्मणी होने के कारण कृष्णने उन सब को अङ्गीकार नहीं किया । कारण, उस प्रकार आचरण सब के पक्ष में अरुचिकर ही होता । श्रीकृष्ण–उसी प्रकार क्रीड़ा करते हैं, जिस को सुनकर लोक समूह उन के आचरण के अनुवर्त्ती बनें, इस नियम के अनुसार प्रतीत होता है कि गोप लीला में ब्राह्मणी गण को प्रेयसी रूप में अङ्गीकार करने से वह लीला रुचिकर नहीं होती ।

परम तेजीयान् कृष्ण के पक्ष में वह कार्य्य दोषावह नहीं होता । इस प्रकार कथन भी समीचीन नहीं है । कारण, ब्रह्मा, कामोन्मत्त होकर निज कन्या अभिलाषी होने पर मरीचि प्रभृति मुनिगण उनको कहे थे– भा० ३।१२।३०-३१ —

"नैतत् पूर्वकृतं त्वद्ये न करिष्यन्ति चापरे ।

यस्त्वं दुहितरं गच्छेरनिगृह्याङ्गजं प्रभुः ॥" ३४६॥

"तेजीयसामपि ह्येतन्न सुश्लोक्यं जगद्गुरो" इत्यत्र तेजीयसामपि तदनुचितता श्रूयत इति। एवमेवाह, (भा० १०।२३।३२)—

"न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणामिह।
तन्मनो मयि युञ्जाना अचिरान्मामवाप्स्यथ ॥" ३४७॥

इह ब्राह्मणजन्मनि भवतीनामङ्गसङ्गः साक्षान्मत्परिचर्य्यारूपोऽर्थो नृणामेतच्चरित-द्रष्टृ-श्रोतॄणां प्रीतये रुचिमात्राय न भविष्यति, किमुत नानुरागायेति। तत्तस्मादचिरादनन्तर-जन्मनीति ॥ श्रीभगवान् यज्ञपत्नीः ॥

१२२। अनेन क्वचिद्भक्तसुहृत्त्व-वैपरीत्याभासोऽपि व्याख्यातः। किञ्च, भक्ता द्विविधः-दूरस्थाः परिकराश्च। तत्र दूरस्थ-भक्तार्थं क्वचिद्भक्त-सुहृत्त्वलक्षणेन परमप्रबलेन गुणेन ब्रह्मण्यत्वाद्यावरणमपि प्रायो दृश्यते श्रीमदम्बरीष-चरितादौ, परिकरार्थन्तु न दृश्यते श्रीजय-

---

यस्त्वं दुहितरं गच्छेरनिगृह्याङ्गजं प्रभुः ॥" ३४६॥

तेजीयसामपि ह्येतन्न सुश्लोक्यं जगद् गुरो" आप सब के प्रभु हैं, आप काम वशवर्त्ती होकर कन्या गमन में उद्यत हुये हैं, इस प्रकार कार्य्य आप के पूर्ववर्त्ती किसीने नहीं किया है, एवं परवर्त्ती कोई भी नहीं करेगा। हे जगद् गुरो! तेजीयान् व्यक्ति गणके पक्ष में भी इस प्रकार कार्य्य करना यशस्कर नहीं है। यहाँ तेजीयान् व्यक्तिगण के पक्ष में भी तादृश कार्य्य अनुचित है—इस प्रकार सुनने में आता है।

भा० १०।२३।३२ में श्रीकृष्ण यज्ञ पत्नी गण को उस प्रकार ही कहे हैं—

(१२१) "न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणामिह।
तन्मनो मयि युञ्जाना अचिरान्मामवाप्स्यथ ॥" ३४७॥

अङ्ग सङ्ग--नर गण की प्रीति वा अनुराग का विषय नहीं हो सकता है, सुतरां मुझ में मनः संयोग द्वारा सत्वर मुझ को प्राप्त करोगी।

श्लोक व्याख्या - इस में-ब्राह्मण जन्म में, आप के अङ्ग सङ्ग--साक्षात् सम्बन्ध में मेरी परिचर्य्या रूप कार्य्य,--नरगण का-इस चरित्र द्रष्टा वा श्रोताओं का रुचिकर नहीं होगा। सुतरां यह चरित्र अनुराग का विषय नहीं होगा। मेरा अङ्ग सङ्ग अनुचित हेतु अचिर में अर्थात् इस के वाद के जन्म में मुझ को प्राप्त करोगी।

श्रीभगवान् यज्ञ पत्नी गणको कहे थे ॥१२१॥

१२२। यहाँपर भगवान् की दया का वैपरीत्य के सम्बन्ध में जो व्याख्या की गई है। इस के द्वारा किसी किसी स्थल में जो भक्त सुहृत्व का वैपरीत्याभास देखने में आता है—उस का वर्णन भी हुआ। अर्थात् भक्ति रस पोषण हेतु जिस प्रकार कभी कभी श्रीभगवान् में दया का वैपरीत्य देखा जाता है—तज्जन्य ही उस प्रकार कभी कभी उनमें भक्त सुहृत्व का अभाव भी है। इस प्रकार बोध होता है। भक्त भी द्विविध होते हैं—दूरस्थ-एवं परिकर। तन्मध्ये दूरस्थ भक्त के निमित्त स्थल विशेष में भक्त सुहृत्व रूप प्रबल गुण के द्वारा ब्रह्मण्यत्वादि गुण का आवरण भी प्राप्त दृष्ट होता है। अम्बरीष चरितादि में इस की प्रसिद्धि है। परिकर भक्त गण के निमित्त उस प्रकार देखने में नहीं आता है। जय विजय के शापादि में वह प्रसिद्ध है।

विजय-शापादौ, स्कान्द-द्वारका-माहात्म्यगतः-दुर्वाससो दुर्वृत्तविशेषे च उभयमपि तत्र तत्र सुहृत्त्वस्यैव चिह्नम्। तथैव हि पूर्वत्रात्मीयत्वमुत्तरत्र चात्मैकत्वं प्रसिध्यति, तथोक्तम्,—(भा० ९।४।६३) "अहं भक्तपराधीनः" इत्यादिना, (भा० ३।१६।४) "तद्धि ह्यात्मकृतं मन्ये यत् स्वपुंभिरसत्कृताः" इत्यादिना च। तदेवं भक्तसुहृत्त्वमात्रस्य तादृशत्वे स्थिते प्रेमार्द्रत्वं तद्वश्यत्वञ्च सुतरामेव सर्वाच्छादकम्, तच्च प्रेम्णः स्वरूपनिरूपणे दर्शितम्। अतएव सर्वोद्दीपन-गणमुख्यत्वेन तत्र तत्र सचमत्कारमनुस्मृतम्। तत्रोद्भास्वराख्येनानुभावेन व्यञ्जितं तस्य प्रेमार्द्रत्वं यथा, (भा० ४।२०।१९-२१)—

(१२२) "भगवानपि विश्वात्मा पृथुनोपहृतार्हणः।
समुज्जिहानया भक्त्या गृहीतचरणाम्बुजः ॥३४८॥

---

स्कन्द पुराण के द्वारका माहात्म्यगत दुर्वासा का दुर्वृत्त विशेष भी उस का दृष्टान्त है। दूरस्थ भक्त एवं परिकर गण के सम्बन्ध में उक्त रूप ब्रह्मण्यत्वादि गुण का आवरण एवं अनावरण उभय ही सुहृत्व के चिह्न हैं। उस प्रकार ही दूरस्थ भक्त में आत्मीयत्व एवं परिकर भक्त में आत्मैकत्व अर्थात् प्रीति हेतु निज अभेद बुद्धि प्रसिद्ध है। भा० ९।४।६३ में भगवान् कहे भी हैं--

"अहं भक्त पराधीन ह्यस्वतन्त्र इवद्विज।
साधुभिर्ग्रस्त हृदयो भक्तैर्भक्त जनप्रियः ॥"

हे द्विज! भक्त जन प्रिय मैं अस्वतन्त्र के समान भक्त पराधीन हूँ। साधु भक्त गण कर्त्तृक मैं ग्रस्त हृदय हूँ। भा० ३।१६।४ में कथित है—

"तद्वः प्रसादयाम्यद्य ब्रह्म दैवं परं हि मे।
तद्धि ह्यात्मकृतं मन्ये यत् स्वपुंभिरसत्कृताः ॥"

हमारे व्यक्तियों ने जो कुछ अन्याय आचरण किया है, वह आचरण हमारे द्वारा ही हुआ है, यह हम मानते हैं।

ऐसा होने पर भक्त सुहृत्व मात्र गुण से श्रीभगवान् में ब्रह्मण्यत्वादि आवृत होना निश्चित होने पर उनका प्रेमार्द्रत्व एवं प्रेम वश्यत्व समस्त गुण आच्छादित होते हैं— इस में सन्देह नहीं है। अर्थात् भक्त प्रेम से आर्द्र होने के पक्ष में अथवा भक्त प्रेम में वशीभूत होने के पक्ष में जो जो गुण विरोधी हैं, उस उस गुणको आवृत करके श्रीभगवान् में प्रेमार्द्रत्व एवं प्रेम वश्यत्व उभय गुण प्रकाशित होते हैं, एतज्जन्य यह दो गुण सर्वोत्तम हैं। उक्त गुण द्वय की सर्वोत्तमता का वर्णन प्रेम के स्वरूप निरुपण प्रकरण में हुआ है। अतएव समस्त उद्दीपन के मध्य में मुख्य रूप से उक्त गुण द्वय का चमत्कार स्मरण ही बारं बार होता है।

अर्थात् पूर्व में कहा गया है—श्रीभगवान् के गुण, चेष्टा प्रसादनादि प्रीति रसके उद्दीपन विभाव होते हैं। प्रेमार्द्रत्व एवं प्रेम वश्यत्व--यह दो श्रीकृष्ण के गुण रूप उद्दीपन हैं। समस्त गुणों के मध्य में ये दो गुण श्रेष्ठ उद्दीपन है। उस में भी दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर—रति चतुष्टय में इस की उद्दीपनता अत्याश्चर्य्य रूप में होती है। यह विस्मृत होने की बात नहीं है। शान्त रति का आलम्बन ब्रह्म घन हैं, उस में गुणादि की अभिव्यक्ति निष्प्रयोजन निबन्धन- उस का वर्णन नहीं हुआ है। उक्त द्विविध सर्वोत्तम विस्मय कर उद्दीपन के मध्य में उद्भास्वर नामक अनुभाव के द्वारा व्यञ्जित श्रीभगवान् के प्रेमार्द्रत्व का वर्णन

प्रस्थानाभिमुखोऽप्येनमनुग्रहविलम्बितः ।
पश्यन् पद्मपलाशाक्षो न प्रतस्थे सुहृत् सताम् ॥"३४९॥

"स आदिराजो रचिताञ्जलिर्हरिं, विलोकितुं नाशकदश्रुलोचनः" इत्यादि । स्पष्टम् । श्रीशुकः ।

१२३ । अथ सात्त्विकेनापि व्यञ्जितं यथा, तत्र भक्तयार्द्रत्वमाह, (भा० ३।२१।३८-३९)—

(१२३) "यस्मिन् भगवतो नेत्रान्न्यपतन्नश्रुबिन्दवः ।
कृपया संपरीतस्य प्रपन्नेऽर्पितया भृशम् ॥"३५०॥

---

भा० ४।२०।१९--२१ में हैं—

(१२२) "भगवानपि विश्वात्मा पृथुनोपहृतार्हणः ।
समुज्जिहानया भक्त्या गृहीतचरणाम्बुजः ॥३४८॥
प्रस्थानाभिमुखोऽप्येनमनुग्रहविलम्बितः ।
पश्यन् पद्मपलाशाक्षो न प्रतस्थे सुहृत् सताम् ॥"३४९॥

उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में उक्त है—"उद्भासन्ते स्वधाम्नीति प्रोक्ता उद्भास्वरा बुधैः ।"
उद्भास्वर एवं सात्त्विक भेद से उद्भास्वर द्विविध हैं । भाव विशिष्ट व्यक्ति के देह में जो जो प्रकाशित होते हैं, पण्डित गण उस को उद्भास्वर कहते हैं--यहाँ स्तम्भ नामक उद्भास्वर का दृष्टान्त उपस्थित करते हैं---पृथु महाराज कर्त्तृक पूजित विश्वात्मा भगवान् स्वस्थान में प्रस्थानोन्मुख होने पर भी उनके प्रति कृपा परतन्त्र होकर विलम्ब करने लगे थे । अतिशय वृद्धि प्राप्ता पृथु की भक्ति के द्वारा उनके चरण कमल धृत हुये थे । आप साधु वृन्द के सुहृत् हैं । पद्मपलाश लोचन से पृथु के प्रति दृष्टि दान किये थे, एवं प्रस्थान नहीं किये थे । आदि राजा पृथु कर बद्ध अवस्था में स्थित होकर श्रीहरि के दर्शन करने की इच्छा किये थे, किन्तु नयन अश्रु प्लावित होने के कारण दर्शन करने में असमर्थ हुये थे । इस के परवर्त्ती श्लोक में लिखित है—

"स आदिराजो रचिताञ्जलिर्हरिं विलोकितुं नाशकदश्रुलोचनः ।
न किञ्चनोवाच स वाष्प विक्लवो हृदोपगुह्यामुमधादवस्थितः ॥"

टीका—भगवत स्तत् कृपातिरेकमुक्त्वा तस्य भक्त्युद्रेकमाह स इति द्वाभ्याम् । वाष्पविक्लवत्वेन तूष्णीमवस्थितः सन् अमुं हरिं हृदा उपगुह्य अधात् धृतवान् ॥

वास्प द्वारा कण्ठरुद्ध होने से कुछ कहने में असमर्थ हुये थे.मन मनमें श्रीभगवान् को आलिङ्गन करके अवस्थान करने लगे थे । अनन्तर अश्रुमार्जन करके अतृप्त नयनों से पुरुषोत्तम को दर्शन करते करते निज प्रार्थना ज्ञापन किये थे । देवगण कभी भी भूमि को स्पर्श नहीं करते हैं, किन्तु कृपा परवश श्रीहरि उनकी भक्ति से आत्म हारा होकर गिरजाने की आशङ्का से भूमि में पद स्थापन पूर्वक गरुड़ के उन्नत स्कन्ध में हस्ताग्र अर्पण किये थे । यहाँ पर गमन में विलम्ब एवं प्रेमभर से गिरजाने की आशङ्का--प्रेमार्द्र का परिचायक है ।

श्रीशुक कहे थे—॥१२२॥

१२३ । अनन्तर सात्त्विकानुभाव के द्वारा श्रीभगवान् की प्रेमार्द्रता का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं । तन्मध्ये भक्ति दास्य प्रीति द्वारा प्रेमार्द्रत्व का वर्णन भा० ३।२१।३८-३९ में है—

(१२३) "यस्मिन् भगवतो नेत्रान्न्यपतन्नश्रुबिन्दवः ।
कृपया संपरीतस्य प्रपन्नेऽर्पितया भृशम् ॥"३५०॥

श्रीमैत्रेय कहे थे—शरणागत जन में अर्पित प्रचुर करुणा से व्याकुल भगवान् के नयन युगलसे कर्दम

"तद्वै विन्दुसरो नाम" इत्यादि । भगवतः श्रीशुक्लाख्यस्य, प्रपन्ने भक्ते श्रीकर्दमाख्ये ॥ श्रीमैत्रेयः ॥

१२४ । वात्सल्यार्द्रत्वमाह, (भा० १०।८२।३३)—

(१२४) "कृष्णरामौ परिष्वज्य पितरावभिवाद्य च ।
न किञ्चनोचतुः प्रेम्णा साश्रुकण्ठौ कुरूद्वह ॥" ३५१॥

पितरौ कुरुक्षेत्रमिलितौ श्रीयशोदा-नन्दाख्यौ मातापितरौ । श्रीशुकः ॥

१२५ । मैत्रार्द्रत्वमाह, (भा० १०।८०।१८-१९) —

(१२५) "तं विलोक्याच्युतो दूरात् प्रियापर्य्यङ्कमाश्रितः ।
सहसोत्थाय चाभ्येत्य दोर्भ्यां पर्य्यग्रहीन्मुदा ॥३५२॥
सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः ।
प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दुन्नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः ॥" ३५३॥

तं श्रीदामविप्रम् ॥ श्रीशुकः ॥

---

मुनि के आश्रम में अश्रुबिन्दु समूह निपतित हुये थे— वही बिन्दु सरोवर है ।

श्लोक की व्याख्या—भगवान् का-श्रीशुक्ल नामक भगवान् का शरणागत जन--श्रीकर्दम नामक भक्त श्रीकपिल देवके पिता । श्रीकर्द्दम की दास्य प्रीति थी । श्रीभगवान् का अश्रुनामक सात्त्विक है । यही यहाँ प्रेमार्द्रत्व का परिचायक है । श्रीमैत्रेय कहे थे ॥१२३॥

१२४ । वात्सल्य प्रीतिके द्वारा श्रीभगवान् का प्रेमार्द्रत्व का दृष्टान्त भा० १०।८२।३४ में इस प्रकार है—

(१२४) "कृष्णरामौ परिष्वज्य पितरावभिवाद्य च ।
न किञ्चनोचतुः प्रेम्णा साश्रुकण्ठौ कुरूद्वह ॥" ३५१॥

श्रीशुकदेव कहे थे—हे कुरुवंश रक्षक—परीक्षित् कृष्ण बलराम--माता पिता को आलिङ्गन एवं अभिवादन किये थे । किन्तु कुछ भी कह नहीं सके । कारण उनके कण्ठ वाष्प द्वारा रुद्ध हो गये थे ।

श्लोक का अर्थ—माता पिता— कुरुक्षेत्र में मिलित श्रीनन्द यशोदा, यहाँ नन्द यशोदा का वात्सल्य प्रेम है । श्रीकृष्ण का स्वरभङ्ग नामक सात्त्विक, है,— प्रेमार्द्रता का परिचायक है ।

प्रवक्ता श्रीशुकदेव हैं–१२४॥

१२५ । मैत्री के द्वारा श्रीभगवान् का प्रेमार्द्रत्व का वर्णन भा० १०।८०।१८--१९ में उक्त है--

(१२५) "तं विलोक्याच्युतो दूरात् प्रियापर्य्यङ्कमाश्रितः ।
सहसोत्थाय चाभ्येत्व दोर्भ्यां पर्य्यग्रहीन्मुदा ॥३५२॥
सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिर्वृतः ।
प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून्नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः ॥" २५३॥

प्रिया श्रीरुक्मिणी के पालङ्क में अवस्थित श्रीकृष्ण दूर से श्रीदाम विप्र को देखकर सत्वर उत्थित हुए थे, एवं उनके निकट में जाकर बाहुद्वय के द्वारा परमानन्द से उनको आलिङ्गन किये थे । प्रिय सखा

१२६ । कान्ताभावार्द्रत्वमाह, (भा० १०।३३।२०)—

(१२३) "तासां रतिविहारेण श्रान्तानां वदनानि सः ।
प्रामृजत् करुणः प्रेम्णा शन्तमेनाङ्ग पाणिना ॥"३५४॥

तासां श्रीगोपीनाम्, प्रेम्णा करुणः साश्रुनेत्र इत्यर्थः । सात्त्विकान्तरं चोक्तं वैष्णवे(५।१३।५४)

"गोपीकपोलसंश्लेषमभिपत्य हरेर्भुजौ । पुलकोद्गम-शस्याय स्वेदाम्बुघनतां गतौ ॥"३५५॥ इति ।

श्रीशुकः ॥

१२७ । अथ प्रेमवश्यत्वं यथा, तत्र भक्तिवश्यत्वमाह गद्येन (भा० ५।२४।२७) —

(१२७) "यस्य भगवान् स्वयमखिलजगद्गुरुर्नारायणो द्वारि गदापाणिरवतिष्ठते निजजनानुकम्पितहृदयः" इति । यस्य श्रीबलेः ॥ श्रीशुकः ॥

---

विप्रश्रेष्ठ श्रीदाम के अङ्ग सङ्ग से परमानन्दित कमल नयन श्रीकृष्ण, नयनाश्रु मोचन किये थे ।

श्रीदाम विप्र की मित्रता अर्थात् सख्य । श्रीकृष्ण के अश्रु नामक सात्त्विक भाव है ।

श्रीशुक कहे थे ॥१२५॥

१२६ । कान्त भाव द्वारा श्रीकृष्ण के प्रेमाद्रत्व का दृष्टान्त--भा० १०।३३।२० में है—

(१२६) "तासां रतिविहारेण श्रान्तानां वदनानि स ।
प्रामृजत् करुणः प्रेम्णा शन्तमेनाङ्ग पाणिना ॥"३५४॥

गोपीगण – रति विहार में परिश्रान्त होने से प्रेम से करुण श्रीकृष्ण—मङ्गलमय कर के द्वारा उनके वदन मार्ज्जन किये थे ।

श्लोक व्याख्या—वे गोपीगण, प्रेम से करुण—साश्रुनेत्र । गोपीगणों का कान्तभाव है, एवं श्रीकृष्ण का अश्रुनामक सात्त्विक भाव है । श्रीकृष्ण के अन्य प्रकार सात्त्विक की कथा विष्णु पुराण में कथित है ।

(वि० पु० ५।१३।५४) "गोपीकपोलसंश्लेषमभिपत्य हरेर्भुजौ ।
पुलकोद्गम--शस्याय स्वेदाम्बुघनतां गतौ ॥"३५५॥

रास में किसी गोपी के कपोल संसर्ग प्राप्त होकर श्रीकृष्ण के हस्त द्वयमें पुलकोद् गम रूप शस्योत्पत्ति का कारण-स्वेद रूप वृष्टि की मेघता को प्राप्त किया । अर्थात् श्रीकृष्ण के भुज युगल में स्वेदोद्गम हुआ, और गोपियों का पुलकोद्गम हुआ । यहाँ श्रीकृष्ण का स्वेद नामक सात्त्विक भाव है ।

श्रीशुक कहे थे—१२६॥

१२७ । अनन्तर श्रीभगवान् का प्रेमवश्यत्व गुण प्रदर्शित हो रहा है—भा० ५।२४।२७-

(१२७) "यस्य भगवान् स्वयमखिलजगद्गुरुर्नारायणो द्वारि
गदापाणिरवतिष्ठते निजजनानुकम्पितहृदयः ॥"

इस में भक्ति-दास्य-वश्यत्व । निज जन के प्रति जिनका हृदय अनुकम्पा पूर्ण हे, वह जगद्गुरु भगवान् नारायण स्वयं गदा धारण कर जिन के द्वारदेश में अवस्थित है । जिनका-श्रीबलि का बलि की दास्य प्रीति है । उनकी प्रीति के वशवर्त्ती होकर श्रीहरि सुतल में बलि के द्वार देश में गदाधारण पूर्वक द्वार पाल के समान अवस्थान कर रहे हैं । इस से दास्य प्रेमवश्यत्व प्रमाणित हुआ है ।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं—१२७॥

१२८ । वात्सल्य-वश्यत्वमाह, (भा० १०।११।७) —

(१२८) "गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यद्भगवान् बालवत् क्वचित् ।
उद्गायति क्वचिन्मुग्धस्तद्वशो दारुयन्त्रवत् ।।"३५६।। इत्यादि ।

स्पष्टम् ।। श्रीशुकः ।।

१२९ । मैत्रीवश्यत्वमाह, (भा० १।१६।१७) —

(१२९) "सारथ्य-पारषद-सेवन-सख्य-दौत्य-,वीरासनानुगमन-स्तवन-प्रणामान् ।
स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत्प्रणतिञ्च विष्णो,-र्भक्ति करोति नृपतिश्चरणारविन्दे ।।"३५७।।

स्निग्धेषु पाण्डुषु विष्णोर्यानि सारथ्यादीनि कर्म्माणि तानि शृण्वंस्तथा विष्णोर्जगत्कर्त्तृकां प्रणतिञ्च शृण्वन् नृपतिः परीक्षिद्विष्णोश्चरणारविन्दे भक्ति करोति । पारषदं पार्षदत्वं सभापतित्वम्, सेवनं चित्तानुवृत्तिः,वीरासनं रात्रौ खड्गहस्तस्य तिष्ठतो जागरणम् ।। श्रीसूतः ।

---

१२८ । वात्सल्य वश्य का उदाहरण भा० १०।११।७ में है-

(१२८) "गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यद्भगवान् बालवत् क्वचित् ।
उद्गायति क्वचिन्मुग्धस्तद्वशो दारुयन्त्रवत् ।।३४६।।

गोपीगणों के करतालि के द्वारा प्रोत्साहित होकर अन्य साधारण बालक के समान भगवान् नृत्य करते थे, कभी तो दारुयन्त्र के समान उनके वशवर्त्ती होकर मुग्ध भाव से गान करते थे । इन सब गोपियों की वात्सल्य प्रीति है ।                                                          श्रीशुकदेव कहे थे ।।१२८।।

१२९ । मैत्रीवश्यत्व का वर्णन भा० १।१६।१७ में है—

(१२९) "सारथ्य-पारषद-सेवन-सख्य दौत्य-,वीरासनानुगमन-स्तवन-प्रणामान् ।
स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत्प्रणतिञ्च विष्णो-,र्भक्ति करोति नृपतिश्चरणारविन्दे ।।"३५७।।

स्निग्ध पाण्डव गण में विष्णु के—सारथ्य, परिषद्, सेवन, सख्य, दौत्य, वीरासन, अनुगमन, स्तवन, प्रणाम, एवं जगत् प्रणति कार्य्य को सुनकर नृपति परीक्षित् उनके चरण कमलों में भक्ति किये थे ।

टीका—स्निग्धेषु पाण्डवेषु विष्णोर्यानि सारथ्यादीनि कर्म्माणि तानि शृण्वन्, तथा विष्णो र्जगत् कर्त्तृकां प्रणतिञ्च शृण्वन् । नृपतिः—परीक्षित् । विष्णोश्चरणारविन्दे भक्ति करोति स्म । पारषदांमतिरेफ चकारयोर्विश्लेषश्छान्दसः । तत्र पार्षदं--सभापतित्वम् । सेवनं—चित्तानुवृत्तिः । वीरासनं--रात्रौ खड्ग-हस्तस्य तिष्ठतो जागरणम् ।।

श्लोक व्याख्या—स्निग्ध--स्नेहयुक्त, पाण्डवगण के सम्बन्ध में विष्णु के श्रीकृष्ण के सारथ्यादि जो कर्म्म, उस को सुनकर एवं विष्णु से-जगत्—सर्वजन—कर्त्तृक उनसबों की जो प्रणति--को सुनकर--नृपति-परीक्षित्—विष्णु के चरण कमल में भक्ति किये थे ।

युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय श्रीकृष्ण के प्रभाव से जगत् के समस्त राजा उनको प्रणाम किये थे – इसका विस्तृत विवरण महाभारत में है । पारषद—पार्षदत्व, सभापतित्व, सेवन--चित्तानुवृत्ति-मनको समझकर कार्य्य करना । वीरासन-रात्रि के समय खड्ग धारण कर प्रहरी रूपमें अवस्थान कर जागरण, पाण्डव गण की श्रीकृष्ण में मैत्री अर्थात् सख्य प्रीति ।                                   श्रीसूत कहे थे—१२९।।

१३० । कान्तभाववश्यत्वमाह, (भा० १०।३२।२२)—

(१३०) " न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां, स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः, संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ।।" ३५८।।

निरवद्या परमशुद्धभावः विशेषमात्रेण प्रवृत्तत्वात् परमशुद्धा संयुक् संयोगो यासां तासां वः स्वसाधुकृत्यं तदनुरूप-मदीय-परमसुखदसेवां न पारये,-न प्रत्युपकारेणानुकर्त्तुं शक्नोमीत्यर्थः, केनापि न पारये, विगतो बुधो गणनाविज्ञो यस्मात्तेन स्वभावानित्येनाप्यायुषेत्यर्थः । तासामनुरागस्य साधिष्ठत्वं लोकधर्म्मातिक्रान्तत्वादाह—या इति । तस्माद्वः साधुना सौशील्येनैव तत् प्रतियातु, प्रत्युपकृतं भवतु,—अहन्तु भवतीनामृण्येवेति भावः ।। श्रीशुकः ।।

---

१३० । कान्तभाव वश्यत्व का उदाहरण--भा० १०।३२।२२ में है—

(१३०) "न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां, स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः, संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ।।" ३५८।।

श्रीकृष्ण—व्रजसुन्दरी गण को कहे थे—जिन्होंने दुर्ज्जर गृह शृङ्खल को सम्यक् रूप से छिन्न करके मेरा भजन किया है, मेरे सहित अनिन्दद्य संयोगवती तुम सब के असाधारण साधु कार्य्य के अनुरूप प्रत्युपकार करने में विबुध परमायु के द्वारा भी मैं असमर्थ हूँ । तुम सब की साधुता के द्वारा ही उसका प्रतीकार हो ।

श्लोक की व्याख्या—अनिन्दद्य-केवल शुद्धभाव विशेष के कारण प्रवृत्ति हेतु—काममय प्रतीत होने पर भी वस्तुतः प्रेम विशेष मय होने के कारण—परम शुद्ध संयोग—सम्यक् मद्विषयक--चित्तैकाग्रता जिन सब की इस प्रकार तुम सब के प्रति मेरा—निज-साधुकृत्य--तदनुरूप मेरी परम सुखद सेवा मैं कर नहीं सकता हूँ । अर्थात् तुम सब की जिस प्रकार सेवा कर सकने में मैं परम सुखी होता,--उस प्रकार सेवा करने में मैं असमर्थ हूँ ।

यहाँ निज पद का वाच्य—श्रीकृष्ण हैं । —उनका साधुकृत्य-प्रशंसनीय कार्य्य-जो कार्य्य करके आप मान सकते कि--मैंने उपयुक्त कार्य्य किया है--वह कार्य्य- । यहाँ श्रीकृष्ण का अभिप्राय यह है--तुम सबने मेरी सेवा जिस प्रकार की है—यदि में तुम सब की उस प्रकार सेवा कर सकता तो मैं सुखी होता--किन्तु उस प्रकार करने में असमर्थ हूँ । तुम सबने सब को छोड़कर मेरी सेवा की है । उस में भी निजसुख वासना रूप मालिन्य नहीं है । सुतरां परम शुद्ध भाव से मेरे सहित मिली हों । मेरे भक्त सब ही हैं, मैं भक्त को छोड़ने में अक्षम हूँ । सुतरां तुम सबके समान-मैं सब कुछ छोड़कर सेवा नहीं कर सकता हूँ । इस प्रकार कर सकने से योग्य प्रत्युपकारकरसका, यह जानकर मैं अतीव सुखी होता—किन्तु वैसा नहीं हुआ ।

जिस से मैं असमर्थ हूँ ? विगत बुध-गणना विज्ञ जिससे-उस प्रकार स्वभावतः नित्यपरमायु के द्वारा भी गणना विज्ञ व्यक्तिगण-जिस परमायु की गणना करके शेष करने में असमर्थ हैं, इस प्रकार अनादि अनन्त परमायु के द्वारा भी मैं तुम सब की उस प्रकार सेवा करने में अक्षम हूँ । यह परमायुः साधनालब्ध नहीं है, इस को सूचित करने के निमित्त कहा है—स्वभावतः--लोक धर्म अतिक्रम हेतु उन सब की अनुराग की निरतिशय दृढ़ता है,—इस को जिन्होंने "दुर्ज्जर गृह शृङ्खल वाक्य से कहा है । कूल बधु होने के कारण छेदन असम्भव होने पर भी-गृह शृङ्खल— गृह सम्बन्धीय-इह लोक एवं परलोक को सुखकर मर्य्यादा-एवं धर्म मर्य्यादा को छिन्न करके मेरा भजन तुम सबने किया है—परमानुराग से मुझ को आत्मसमर्पण किया

१३१। तदेवं तस्य प्रेमार्द्रत्वादिके स्थिते तदादिकस्य तस्मिन् परमसाधुगणे च परम-हृद्यसुखदत्वात्तद्धेतुकं कादाचित्कं सत्यादि-वैपरीत्यमपि परमगुणशिरोमणिशोभां भजते। तत्र सत्यविरोध्यपि गुणो यथा (भा० १।९।३७)—

(१३१) "स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञा-,मृतमधिकर्त्तुम्" इत्यादि।

स्पष्टम् ॥ श्रीभीष्मः ॥

१३२। शौचविरोधी यथा (भा० १०।४३।१५)—

(१३२) "अंसन्यस्तविषाणोऽसृङ्मदबिन्दुभिरङ्कितः" इत्यादि।

---

है—यही उक्त वाक्य का तात्पर्य्य है। तज्जन्य बाद में आपने कहा है-तुम सबने मेरे निमित्त जो कुछ किया है—में उस प्रकार कर नहीं सकूँगा। तुम सबकी साधुता के द्वारा-सुशीलता के द्वारा वह प्रत्युपकृत हो, मैं तुम सब के निकट ऋणी ही रहा।

उपकारी का योग्य उपकार करने में जो अक्षम है–सज्जन उसको क्षमा करते हैं, क्षमा का मूल है–उपकारी की सतता। श्रीव्रज सुन्दरी गण की सतता के द्वारा क्षमा की प्रत्याशा किया है।

श्रीशुकदेव कहे थे ॥१३०॥

१३१। उक्त रीति से श्रीभगवान् में प्रेमार्द्रत्वादि गुण निश्चित होने पर वे सब गुण उनके एवं परम साधुवृन्द के हृदय-अर्थात् रुचिकर होने के कारण-प्रेमार्द्रत्वादि वशतः कभी कभी सत्यादि का वैपरीत्य भी परम गुण शिरोमणि में शोभित होता है—अर्थात् सर्वोत्तम गुण रूप में सर्वचित्ताह्लादक होता है। उसके मध्यमें सत्य विरोधी गुण का उदाहरण भा० १।९।३७ में है—

(१३१) "स्व निगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्त्तुमवप्लुतो रथस्थः।
धृत रथ चरणोऽभ्ययाच्चलद्गु र्हरिरिव हन्तुमिमं गतोत्तरीयः॥

टीका—ममतु महान्तमनुग्रहं यः कृतवानित्याह द्वाभ्यां-स्वनिगमम्-अशस्त्र एवाहं साहाय्यमात्रं करिष्यामीत्येवम्भूतां स्व प्रतिज्ञां हित्वा। श्रीकृष्णं शस्त्रं ग्राहयिष्यामीति एवं रूपां मत् प्रतिज्ञाम्, ऋतं सत्यं यथा भवति तथा अधि अधिकां कर्त्तुं यो रथस्थः सन्नवप्लुतः सहसैवावतीर्णः सन् अभ्ययात्-अभिमुखमधावत् इभं हन्तुं हरिः सिंह इव। किम्भूतः? धृतोरथ चरण श्चक्रं येन सः। तदा च संरम्भेण मनुष्य नाट्य विस्मृतेरुदरस्थसर्वभूत भुवनभारेण प्रतिपदं चलद्गुः चलन्ती गौः पृथ्वी यस्मात् सः। तेनैव संरम्भेण पथिगतं पतितमुत्तरीयं वस्त्रं यस्य स मुकुन्दो मे गतिर्भवत्वित्युत्तरेणान्वयः॥

श्रीकृष्ण प्रतिज्ञा किये थे—कि इस युद्ध में अस्त्रधारण नहीं करूँगा। मैंने भी प्रतिज्ञा की थी-इस युद्ध में अस्त्रधारण कराऊँगा। श्रीकृष्ण निज प्रतिज्ञा को परित्याग करके मेरी प्रतिज्ञा को सधिक सत्य करने के निमित्त रथ से कूद कर रथचक्र धारण कर सिंह जिस प्रकार हस्ती को बध करने के निमित्त धावित होता है। उस प्रकार मेरे प्रति धावित हुये थे।　　　　प्रवक्ता श्रीभीष्म हैं।।१३१॥

१३२। शौच विरोधी गुण का दृष्टान्त भा० १०।४३।१५ में है--

(१३२) "मृतकं द्विपमुत्सृज्य दन्तपाणिः समाविशत्।
असंन्यस्त विषाणोऽसृङ्मदबिन्दुभिरङ्कितः।
विरूढ़स्वेदकणिका वदनाम्बुरुहो बभौ॥"

स्पष्टम् ।। श्रीशुकः ।।

१३३ । क्षान्तिविरोधी च यथा,—"यस्तान् द्वेष्टि स मां द्वेष्टि, यस्ताननु स मामनु" इत्यादि-महाभारतस्थ-श्रीभगवद्वाक्यात्, यथा, (भा० १०।४४।३२)—"धनं हरत गोपानाम्" इत्याद्यनन्तरम्, (भा० १०।४४।३४)–

(१३३) "एवं विकत्थमाने वै कंसे प्रकुपितोऽव्ययः"

स्पष्टम् ।। श्रीशुकः ।।

१३४ । सन्तोषविरोधी च (श्रीहरिभक्तिसुधोदये १४।२८) "अपि मे पूर्णकामस्य" इत्यादेर्भक्तिसुधोदयस्थ-भगवद्वाक्यात्, यथा (भा० १०।९।५,—

(१३४) "तमङ्कमारूढमपाययत् स्तनं, स्नेहस्नुतं सस्मितमीक्षती मुखम् । अतृप्तमुत्सृज्य"

---

टीका—रङ्गं समाविशत् तदा वीरश्रिया बभौ । कथम्भूतः ? अंसे न्यस्तं विषाणं गजदन्तो येन सः । असृजोरक्तस्य मदस्य च बिन्दुभिः परितोऽङ्कितः । विरूढ़ा उद्गताः स्वेदकणिका स्ताभिरूपलक्षितं वदनाम्बुरुहं यस्य सः ।।

कंस के धनुर्यज्ञ स्थल के द्वारदेशस्थित कुवलयापीड़ नामक हस्तिबध के पश्चात् श्रीकृष्ण की शोभा अतीव मनोहर हुई थी । उनके स्कन्ध देशमें गजदन्त स्थापित था, उनके अङ्ग-हस्ती के रक्त एवं मदबिन्दु द्वारा चित्रित था, और उनके वदन कमल में स्वेद बिन्दु का उद्गम भी हुआ था ।

गजदन्त, गजरक्त, एवं मद बिन्दु-अपवित्र वस्तु है, वे सब को अङ्ग में धारण शौच-पवित्रता विरोधी है, ये सब अपवित्र वस्तु धारण करने पर भी उस समय जो सब भक्त श्रीकृष्ण को दर्शन किये थे, उन में घृणा का उद्रेक नहीं हुआ । किन्तु परम सौन्दर्य्य दर्शन से वे विस्मित एवं आनन्दित हुये थे । एतज्जन्य यह भी गुण विशेष है, कारण— जो लोकानुराग के हेतु हैं--वही गुण हैं ।। श्रीशुक कहे थे ।।१३२।।

१३३ । क्षान्ति विरोधी का उदाहरण महाभारत में है--भगवद् वाक्य यह है--"यस्तान् द्वेष्टि स मां द्वेष्टि, यस्ताननु समामनु" क्षोभ का कारण उपस्थित होने पर भी अक्षुब्धता को क्षान्ति कहते हैं, उसका विरोधी गुण का वर्णन भारतस्थ भगवद्वाक्य जो भक्त गण को द्वेष करता है, वह मुझ को ही द्वेष करता है- जो उसके अनुगत है–वह मेरा अनुगत है । अपर उदाहरण भा० १०।४४।३२ में है–"धनं हरत गोपानाम्" इस प्रकार कथन के अनन्तर भा० १०।४४।३४ में उक्त है—

(१३३) "एवं विकत्थमाने वै कंसे प्रकुपितोऽव्ययः ।।"

श्रीकृष्ण,—चानूर मुष्टिकादि को बध करने के पश्चात् कंसने आदेश किया–"गोपगण का धन हरण करो, दुर्म्मति नन्द को बन्दी करो" कंस इस प्रकार कहने से अव्यय श्रीकृष्ण अत्यन्त कुपित हुये थे ।

प्रवक्ता श्रीशुकदेव हैं ।।१३३।।

१३४ । सन्तोष विरोधी गुण का वर्णन हरिभक्ति सुधोदय में है–

"अपि मे पूर्णकामस्य नवं नव मिदं प्रियम् ।
निःशङ्कं प्रणयाद् भक्तो यन्मां पश्यति भाषते ।।

प्रह्लाद को भगवान् कहे थे—प्रणय से भक्त जो मुझ को निःशङ्क दर्शन करता है, एवं मेरे साथ वार्त्तालाप करता है, पूर्ण काम मेरा भी यह नूतन नूतन प्रिय है । उस से तृप्ति-सन्तोष होता है ।

इत्यादि । एवं (भा० १०।९।६) "जघास हैयङ्गवमन्तरं गतः" इत्यादौ रहोऽपि तत्तल्लीलावेशः ॥ श्रीशुकः ॥

१३५ । एवं बालिप्रभृतावार्जवादि-गुणविरोधी च सुग्रीव-हनुमदादि-पक्षपातमयो ज्ञेयः । सर्व्व-शुभङ्करत्वञ्च—"क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः" इति न्यायेन सिद्धम् ।

अथ शमविरोधी कामश्च तस्य प्रेष्ठ-जनविशेषरूपासु तासु प्रेमविशेषरूप एव, तथाहि (भा। १।११।३६)—

(१३५) "स एष नरलोकेऽस्मिन्नवतीर्णः स्वमायया ।
रेमे स्त्रीरत्नकूटस्थो भगवान् प्राकृतो यथा ॥"३५९॥

---

नूतन नूतन प्रिय बोध-सन्तोष विरोधी है ।

अन्य दृष्टान्त भा० १०।९।५ में उक्त है--

(१३४) "तमङ्कमारूढ़मपाययत् स्तनं, स्नेहस्नुतं सस्मितमीक्षती मुखम् ।
अतृप्तमुत्सृज्य जवेन सा ययावुत्सृज्यमाने पयसि त्वधिश्रिते ॥

क्रोड़ में श्रीकृष्ण के ईषद् हास्य युक्त वदन को निरीक्षण करते करते यशोदा स्तन से क्षरित दुग्ध पान करा रही थीं, उस समय चुल्ली के ऊपरिस्थित दुग्ध अग्नि सन्ताप से उफान रहा था । यह देखकर अतृप्त कृष्ण को नीचे उतार कर यशोदा दुग्ध रक्षा हेतु चली गई थीं । इस प्रकार भा० १०।९।६ में उक्त है—"जघास हैयङ्गवमन्तरं गतः" घर के भीतर जाकर गोपन में नवनीत भक्षण किये थे । इस में भी सन्तोष विरोधी गुण का परिचय प्राप्त होता है । यहाँपर 'गोपन में' शब्दके द्वारा उस लीला में श्रीव्रजेश्वरी के स्तन्यपानादि में आवेश प्रतीत होता है ।

भक्त सान्निध्य में प्रेमवश में प्रसिद्ध सत्यादि विरोधि गुण श्रीभगवान् में आविर्भूत होते हैं । यहाँ गोपन में चोरी करके नवनीत भक्षण पूर्वक चौर्य्य एवं असन्तोष का परिचय क्यों दिया ? भक्त उन के निकट नहीं था । उनकी इस लीला का द्रष्टा भी उस समय कोई नहीं था । अतः कहा गया है—उस उस लीला में आवेश के कारण, श्रीकृष्ण गोपन में नवनीत भक्षण करके अपने में अतृप्ति का अस्तित्व प्रकाश किये हैं ।　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　प्रवक्ता श्रीशुक हैं--१३४॥

१३५ । इस प्रकार बालि प्रभृति में श्रीभगवान् के सरलतादि विरोधी गुण सुग्रीव हनुमान् प्रभृति में भक्त पक्षपातमय हैं । अर्थात् उक्त भक्त समूह के प्रति कौटिलादि प्रकाश करने पर भी उस में भक्त वात्सल्य का ही परिचय प्राप्त होता है । "क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः" देवगण का क्रोध भी वर के तुल्य है--इस नियम के अनुसार उनका सर्व शुभङ्करत्व सिद्ध होता है । अर्थात् भगवान् भक्त पक्षपाती होकर भी अपर का अनिष्ट करने पर भी प्रकारान्तर में उसका कल्याण साधन करते हैं ।

अनन्तर शम विरोधी काम, उनका परमप्रियजन विशेष रूपा प्रेयसी गण में जो प्रेम विशेष रूप है–इस में संशय नहीं है । उसी प्रकार श्रीसूतोक्ति भी है । भा० १।११।३६

(१३५) "स एष नरलोकेऽस्मिन्नवतीर्णः स्वमायया ।
रेमे स्त्रीरत्नकूटस्थो भगवान् प्राकृतो यथा ॥"३५९॥

निज माया के द्वारा नरलोक में अवतीर्ण भगवान् स्त्री जन समूह के मध्य में अवस्थित होकर प्राकृत

स्वेषु निजजनेषु या माया कृपा तत्सुखचिकीर्षामयप्रेमा तया, लोकेऽवतीर्ण इति तस्या एव सर्वावतारप्रयोजन-निमित्तत्वात् स्त्रीरत्नकूटस्थोऽपि तादृशरमणवश कारि-प्रेमविशेषरूपया तयैव रेमे, न तु प्रसिद्धकामेनेत्यर्थः। अत्र रत्न-पदेन तासामपि तद्योग्यत्वं बोधयित्वा तादृश प्रेमविशेषमयत्वं बोधितम्। एवं भाववैलक्षण्येऽपि क्रियया साम्यमित्याह—प्राकृतो यथेति। अत्र श्रीभगवतोऽप्यप्राकृतत्वं दर्शयित्वा तद्वत् कामविषयत्वं निराकृतम्।

१३६। अथ पुनरपि तादृशप्रेमवतीषु तास्वपि प्राकृतकामाधिकारो नास्तीति दर्शनेन तस्यापि कामुक-वैलक्षण्येन तदेव स्थापयति, (भा० १।११।३७) —

(१३६) "उद्दामभावपिशुनामलवल्गुहास-,व्रीड़ावलोकनिहतो मदनोऽपि यासाम्।
संमुह्य चापमजहात् प्रमदोत्तमास्ता, यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः॥"३६०

---

जन के समान व्यवहार कहते हैं।

श्लोक की व्याख्या—निज माया--निज जन में जो माया--कृपा, उनके सुख सम्पादनेच्छामय प्रेम, उस के द्वारा श्रीकृष्ण--इस जगत् में अवतीर्ण हुये हैं, इस हेतु उस प्रकार कृपा ही समस्त अवतार का प्रयोजन होने के कारण अर्थात् कार्य्य होने के कारण--स्त्रीरत्न—उत्तम स्त्रीगण के मध्य में रहकर भी रमण करते हैं, तादृश रमण में आवेशकारि प्रेम विशेष रूपा कृपा ही कारण है। लोक प्रसिद्ध—प्राकृत काम द्वारा रमण नहीं करते हैं। यही तात्पर्य्य है। यहाँ 'स्त्रीरत्न' शब्द से महिषी वृन्द की भी भगवत् प्रेयसी योग्यता को सूचित करके तादृश भगवत् वश्यता सम्पादक प्रेम विशेषमयत्व का बोध होता है। इस प्रकार भाव वैलक्षण्य में भी क्रिया साम्य हेतु कहा गया है 'प्राकृतो यथा' प्राकृत जनके समान। यहाँ श्रीभगवान् का अप्राकृतत्व स्थापन कर रमण का काम विषयत्व निराकृत हुआ है॥१३५॥

१३६। अनन्तर तादृश प्रेमवती महिषीगण में प्राकृत कामाधिकार नहीं है, उस को दर्शाकर श्रीकृष्ण में काल वैलक्षण्य प्रति पादन द्वारा काम शून्यता स्थापन करते हैं। भा० १।११।३७ में उक्त है--

(१३६) "उद्दामभावपिशुनामलवल्गुहास,--व्रीड़ावलोकनिहतो मदनोऽपि यासाम्॥
संमुह्य चापमजहात् प्रमदोत्तमास्ता, यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः॥"३६०॥

टीका नन्वेवं स्त्रीसङ्गादिभिः संसारित्व प्रतीतेः कथं भगवानवतीर्ण इत्युच्यते तत्राह-उद्दामेति द्वाभ्याम्। यासाम् उद्दामो गम्भीरो यो भावः-अभिप्रायः, तस्य पिशुनः सूचको योऽमलो वल्गुः सुन्दरो हासो व्रीड़ावलोकश्च ताभ्यां निरतः अमदनः श्रीमहादेवोऽपि सम्मुह्य लज्जया चापं पिनाकं जहात्। एवं प्रभावाः स्त्रियः इत्येतावद्विवक्षितम्। यद्वा भगवतो मोहिनी रूपेण महेशोऽपि मोहित एवमेताश्च तादृग् विलासा एवेति यथोक्तम्। ताः कुहकैः कपटैर्विभ्रमैर्यस्येन्द्रियं मनः विमथितुं क्षोभयितुं न शेकुः-न शक्ताः। अथवा--निहतस्ताड़ितः मदनोऽपि जगद् विजयी सम्मुह्य तत्तत् कर्त्तव्यता मूढ़ः सन्चापं धनुर्लज्जया जहात् जहौ, ताश्च प्रमदोत्तमाः काम विजयिन्योऽपीत्यादि पूर्ववत्॥

जिन महिषी वृन्द के उद्भट भाव सूचक निर्म्मल मनोहर हास्य एवं सलज्ज अवलोकन द्वारा निहत मदन विमोहित होकर धनुष को परित्याग किया है, उन प्रमदोत्तमावृन्द—कुहक समूह द्वारा जिनकी इन्द्रिय को क्षुब्ध करने में असमर्था हुई थीं, वह श्रीकृष्ण, उक्त रूप रमण किये थे।

श्लोक व्याख्या—मदन-प्राकृत काम। उद्भट भाव सूचक-निर्म्मल एवं मनोहर हास्य एवं सलज्ज

मदनः प्राकृतः कामः, उद्भटभावसूचक-निर्म्मलमनोहराभ्यां हास-व्रीड़ावलोकाभ्यां निहतस्तन्महिमदर्शनेन स्वयमेवोक्तार्थीकृत-स्वास्त्रादिबलोऽभूत्। अतएव संमुह्य चापमजहात्,— "भ्रूपल्लवं धनुरपाङ्गतरङ्गितानि, वाणाः" इत्यादिवत्,–तत्र निजास्त्रप्रयोगं न कुरुतः एवेत्यर्थः। तथाभूता अपि प्रमदोत्तमाः प्रमदेन प्रकृष्टप्रेमानन्द-विशेषेण परमोत्कृष्टास्ताः, स्ववृन्द एव याः स्वतोऽप्युत्कृष्टप्रेमवत्यस्तासां साम्येच्छया कुहकैस्तादृशप्रेमाभावेन कपटांशप्रयुक्तैः सद्भिः कटाक्षादिभि र्यस्येन्द्रियं विमथितुं तद्वद्विशेषेण मथितुं न शेकुः, किन्तु स्वप्रेमानुरूपमेव शेकुरिति। तस्मात् प्रेममात्रोत्थायि-विकारत्वात्तस्य कामुकवैलक्षण्यमिति भावः॥

१३७। तस्मादेतत्तत्त्वमविज्ञायैव, (भा० १।११।३८) —

(१३७) "तमयं मन्यते लोको ह्यसक्तमपि सङ्गिनम्।
आत्मौपम्येन मनुज व्यापृण्वानमतोऽबुधः॥"३६१॥

---

अवलोकन द्वारा निहत–हास्यादि की महिमा को दर्शन कर मदन स्वयं मृतवत् निज अस्त्रादि बल रहित हो गया था। अतएव विमोहित होकर धनुष को परित्याग किया था। वह "भ्रू पल्लव रोमराजि, धनु, अपाङ्ग-कटाक्ष दृष्टि-तरङ्ग समूह वाण" इत्यादिवत् है। अर्थात् जो सुन्दरी कामदेव के धनुवत् भ्रू युगल एवं वाणवत् कटाक्ष द्वारा सुशोभिता है, उस सुन्दरी के प्रति कन्दर्प वाण निक्षेप कर क्या करेगा? उनको देखकर काम निश्चेष्ट हो जाता है, वह निज अस्त्र प्रयोग नहीं करता है, यही निहत कामके द्वारा धनु त्याग कथा का तात्पर्य्य है। अर्थात् महिषी गण के सौन्दर्य्य एवं प्रेम प्रयत्न को देखकर प्राकृत काम इस प्रकार अभिभूत हो गया है कि— वह मृतवत् निश्चेष्ट हो पड़ा था। तज्जन्य उन सब के प्रति प्रभाव विस्तार करने में अक्षम वह रहा। इस प्रकार होकर भी वे प्रमदोत्तमा हैं— प्रमोद–प्रकृष्ट प्रेमानन्द विशेष-उस के द्वारा परमोत्कृष्टा–जो जो रमणी निजापेक्षा अत्युत्कृष्ट प्रेमवती हैं वे—उनके साम्याभिलाष से कुहक द्वारा तादृश प्रेमवती न होने पर भी कपटांश युक्त–उस प्रेमवती के समान उत्तम कटाक्षादि द्वारा जिनकी इन्द्रिय को विमथित करने में अक्षम थीं। तादृश प्रेम विशेष में–अत्युत्कृष्ट प्रेमवती के प्रेम विशेष से जिस प्रकार क्षुब्ध होता है–उस प्रकार क्षुब्ध करने में समर्था नहीं हुई। सुतरां केवल प्रेम के द्वारा ही श्रीकृष्ण में विकार उपस्थित होता है। अतः श्रीकृष्ण में कामुक वैलक्षण्य प्रतीत होता है॥१३६॥

१३७। अतएव श्रीकृष्ण को कामुक से विलक्षण हैं–इस प्रकार न जान कर ही प्राकृत लोक-कामुक कहते हैं—भा० १।११।३८ में उक्त है—

(१३७) 'तमयं मन्यते लोको ह्यसक्तमपि सङ्गिनम्।
आत्मौपम्येन मनुजं व्यापृण्वानमतोऽबुधः॥"३६१॥

टीका — तं श्रीकृष्णं-अयं प्राकृत लोक आत्मौपम्येन स्व सादृश्येन सङ्गिनं मनुजं मन्यते। अत्र हेतुः व्यापृण्वानं व्याप्रियमाणम्। यतोऽयमबुधः-अतत्त्वज्ञः।

श्रीकृष्ण—अनासक्त होने पर भी प्राकृत लोक उनको विषयासक्त अपने के समान मानते हैं। इस हेतु वे अज्ञ होते हैं।

श्लोक व्याख्या—ये सब-साधारण लोक, अनासक्त–प्राकृत गुण समूह में अनासक्त होने पर भी श्रीकृष्ण को आसक्त मानते हैं। कारण, वे निजवत् व्यापृत–कामादि व्यापार युक्त मानव मानते हैं, निज

अयं साधारणो लोकोऽसक्तमपि प्राकृतगुणेष्वनासक्तमपि, यत आत्मौपम्येन मनुजं व्यापृण्वानं कामादिव्यापारयुक्तं मन्यते,—यथात्मनः प्राकृतमनुष्यत्वादि, तथैव मन्यत इत्यर्थः। अतएवाबुधः एवासौ लोक इति ॥

१३८। प्राकृतगुणेष्वसक्तत्वे हेतुः, (भा० १।११।३९) —

(१३७) "एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः।

अवतारादौ प्रकृतिगुणमये प्रपञ्चे तिष्ठन्नपि सदैव तद्गुणैर्न युज्यत इति यदेतदीशस्येशनमैश्वर्य्यम्, तत्र व्यतिरेके दृष्टान्तः—यथेति, तदाश्रया प्रकृत्याश्रया बुद्धिर्जीवज्ञानं यथा युज्यते तथा नेति, अन्वये वा,—तदाश्रया श्रीभगवदाश्रया परमभागवतानां बुद्धिर्यथा प्रकृतिस्था कथञ्चित्तत्र पतितापि न युज्यते, तद्वत्, एवमेवोक्तं श्रीमदुद्धवेन तृतीये (भा० ३।३।१९) —

"भगवानपि विश्वात्मा लोक-वेदपथानुगः।
कामान् सिषेवे द्वार्वत्यामसक्तः सांख्यमाश्रितः॥"३६३॥ इति।

---

प्राकृत मनुष्यत्वादि जिस प्रकार श्रीकृष्ण के अप्राकृत मनुष्यत्वादि को भी उस प्रकार मानते हैं। अतएव यह सब साधारण लोक हैं॥१३७॥

१३८। प्राकृत गुण समूह में अनासक्त होने के हेतु का वर्णन भा० १।११।३९ में उक्त है।

(१३८) "एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः।
न युज्यते सदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया॥"३६२॥

टीका—कुत इत्यपेक्षायामैश्वर्य्यलक्षणमाह एतदिति। ईशस्येशनमैश्वर्य्यं नाम एतदेव, किं तत्? प्रकृतिस्थोऽपि तस्यागुणैः सुख दुःखादिभिः सदा न युज्यते इति यत्। यथा आत्मस्थैरानन्दादिभिरात्माश्रयापि बुद्धि र्न युज्यते तद्वत्। वैधर्म्म्ये दृष्टान्तो वा आत्मस्थैः सत्ताप्रकाशादिभि र्यथा बुद्धि र्युज्यते–इति। एवं वा असदात्मा देहः तत्रस्थै र्गुणै स्तदाश्रयः, बुद्धिस्तदुपाधि जीवोऽपि यथा युज्यते एवं प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैर्न युज्यते इति यत्। एतदीशनमीशस्येति।

प्रकृतिस्थ होकर भी आत्मस्थ–प्रकृति स्वरूपस्थ गुण के सहित जो सर्वदा युक्त नहीं होते हैं–यही ईश्वर का ईश्वरत्व है। उनकी आश्रिता बुद्धि जिस प्रकार युक्त नहीं होती है, यह भी उसी प्रकार है।

श्लोक की व्याख्या—अवतारादि में प्रकृतिक गुणमय प्रपञ्च में अवस्थित होकर भी सर्वदा ही जो उसके गुणके सहित अयुक्त रहते हैं। यही ईश्वर का ऐश्वर्य्य है। उस में व्यतिरेक मुख से—(निषेधमुख से) दृष्टान्त—उसकी आश्रिता--प्रकृति की आश्रिता बुद्धि। जीव ज्ञान जिस प्रकार युक्त होता है, उस प्रकार युक्त नहीं होते हैं।

अथवा-अन्वय से-विधिमुख से अर्थात् सादृश्य से दृष्टान्त,—उनकी आश्रिता–श्रीभगवदाश्रिता परम भागवत् गण की जो बुद्धि, वह प्रकृतिस्था--किसी प्रकार प्रकृति में पतित होने पर भी जिस प्रकार युक्त नहीं होती है। श्रीभगवान् भी उस प्रकार प्राकृतिक गुण के सहित युक्त नहीं होते हैं।

भा० ३।३।२९ में उद्धव उस प्रकार ही कहे हैं—

१३९। ननु तादृशमैश्वर्य्यं तस्य ताः किं जानन्ति ? यदि जानन्ति, तदा रहोलीलायां त्रुटयत्येव तादृशप्रेमेत्याशङ्क्याह (भा० १।११।४०) —

(१३९) "तं मेनिरेऽबला मौढ्यात् स्त्रैणं चानुव्रतं रहः ।
अप्रमाणविदो भर्त्तुरीश्वरं मतयो यथा ॥"३६४॥

ईश्वरमपि तं रह एकान्तलीलायां मौढ्यात्तादृशप्रेममोहाद्भर्त्तुरप्रमाणविदस्तादृशैश्वर्य्यज्ञान-रहिताः स्त्रैणमात्मवश्यमनुव्रतमनुसृतं च मेनिरे। तच्च नायुक्तमित्याह—यथा तासां मतयः प्रेमवासनास्तथैव स इति,—(गी० ४।११) "ये यथा माम्" इत्यादेः, (भा० १०।१४।२) "स्वेच्छामयस्य" इत्यादेश्च प्रामाण्यादिति भावः ॥ श्रीसूतः ॥

---

"भगवानपि विश्वात्मा लोक--वेदपथानुगः ।
कामान् सिषेवे द्वार्वत्यामसक्तः सांख्यमाश्रिता ॥"३६३॥

विश्वात्मा भगवान् भी द्वारका में लोक वेदपथानुगत भाव से ज्ञानाश्रय पूर्वक अनासक्त होकर विषय समूह को भोग किये थे ॥१३८॥

१३९। श्रीकृष्ण के तादृश ऐश्वर्य्य को क्या महिषी गण जानती थीं ? यदि जानती थीं। ऐसा होने पर रहो लीला में तादृश प्रेम की त्रुटि की सम्भावना थी। इस प्रकार संशय होने पर कहते हैं—
भा० १।११।४० में उक्त है —(१३९) "तं मेनिरेऽबला मौढ्यात् स्त्रैणं चानुव्रतं रहः ।
अप्रमाणविदो भर्त्तुरीश्वरं मतयो यथा ॥"३६४॥

टीका—तत् पत्न्योऽपि तस्य तत्त्वं न जानन्तीत्याह-तं स्त्रैणम् आत्मवश्यं रह एकान्ते अनुव्रतं अनुसृताश्च मेनिरे। भर्त्तुरप्रमाणविदः प्रमाणमियत्तां महिमानमजानत्य इत्यर्थः। ईश्वरं क्षेत्रज्ञं मतयोऽहं वृत्तयो यथा स्वाधीनं स्वधर्मं योगिनं मन्यन्ते तद्वत्। यद्वा यथा तासां मतयः कल्पनाः तथा तमीश्वरं स्त्रैणादिरूपं मेनिरे इत्यर्थः ॥

पति श्रीकृष्ण के विषय में प्रमाण को जानकर मोह के कारण महिषीगण निज बुद्धि के अनुसार रहो लीला में उन ईश्वर को स्त्रैण एवं अनुव्रत मानती थीं।

श्लोक व्याख्या-ईश्वर होने पर भी उनको रहः—एकान्त लीला में मोह वशतः-तादृश-महिषी गण के योग्य प्रेम मोह वशतः पति की प्रमाणाज्ञा-तादृश--पूर्व श्लोकमें वर्णित—ऐश्वर्य्य ज्ञान रहिता महिषीगण, स्त्रैण--निज वशीभूत एवं अनुव्रत—अनुसरणकारी मानती थीं यह असङ्गत नहीं है। इस अभिप्राय से कहे हैं—जिस प्रकार उनकी बुद्धि-प्रेम वासना है,--श्रीकृष्ण भी उस प्रकार होते हैं। गीता के ४।११ में वर्णित है— "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तां स्तथैव भजाम्यहम् ॥

जो मेरा भजन जिस भाव से करता है—मैं भी उसका भजन--उस भाव से ही करता हूँ। अर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण की यह उक्ति—एवं भा० १०।१४।२ में ब्रह्मा की उक्ति—

"अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य नतु भूतमयस्य कोऽपि ।
नेशे महि त्ववसितुं मनसान्तरेण साक्षात् तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः ॥"

भक्त वृन्द की जैसी इच्छा होती है। श्रीकृष्ण उस प्रकार ही होते हैं, यह उक्ति-श्रीकृष्ण जो प्रेम वासनानुरूप ही विहार करते हैं इसका प्रमाण है। श्रीसूत कहे थे—१३९॥

१४० । तथा चान्यत्र (भा० १०।६१।२) —

(१४०) "गृहादनपगं वीक्ष्य राजपुत्र्योऽच्युतं स्थितम् ।
प्रेष्ठं न्यमंसतात्मानमतत्त्वविदः स्त्रियः ॥"३६५॥

आत्मानं प्रत्येकमेव प्रेष्ठं सर्वतः प्रियतममंसतेत्यर्थः । अतएवातत्त्वविदः,–ऊर्द्ध्वोर्द्ध्व-प्रेयसीसद्भावात् ॥

१४१ । नन्वात्मारामस्य कथं पत्नीषु प्रेम ? उच्यते-तासु रमणत्वेनैव लोकवन्न तस्य

---

१४० । प्रेयसी गण के सहित श्रीकृष्ण का जो विहार प्रेम विशेष मय है—इसका वर्णन श्रीमद् भागवत के अन्यत्र भी है । अर्थात् भा० १०।६१।२ में है ।

(१४०) "गृहादनपगं वीक्ष्य राजपुत्र्योऽच्युतं स्थितम् ।
प्रेष्ठं न्यमंसतात्मानमतत्त्वविदः स्त्रियः ॥"३६५॥

टीका–प्रेष्ठं न्यमंसत, अच्युतस्य प्रियतमं प्रत्येकं स्वं स्वं मेनिरे । न तस्य तत्त्वम् आत्मारामत्वं विदन्ति ताः ।

श्रीशुक कहे थे—श्रीकृष्ण प्रेयसी राज पुत्री गण-अर्थात् महिषी गण-निज गृहस्थित श्रीकृष्ण को अन्य नायिका के गृह में गमन रहित देखकर स्वयं को प्रेष्ठा मानती थीं, वे श्रीकृष्ण तत्त्व को नहीं जानती थीं ।

महिषी गण-प्रत्येक ही अपने को प्रेष्ठा अर्थात् सर्वापेक्षा प्रियतमा मानती थीं । अतएव वे सब श्रीकृष्ण के तत्त्व को नहीं जानती थीं, कारण, अधिकाधिक प्रेयसी वृन्द विद्यमान थीं ।

भावार्थ यह है—द्वारका में जितनी महिषी थीं, श्रीकृष्ण भी उतनी सम्यक प्रकाश मूर्त्ति को अविष्कार करके पृथक् पृथक् भाव से प्रत्येक के गृह में अवस्थान करते थे । उस से महिषी गण मानती थीं, कि मैं ही सर्वापेक्षा प्रियतमा हूँ । अतः मुझ को छोड़कर अन्यत्र नहीं जाते हैं । इस प्रकार सर्व कनिष्ठा भी अपने को सर्व श्रेष्ठा मानती थीं । किन्तु श्रीकृष्ण, सब के गृह में नियत अवस्थान करने पर भी जिस में जिस परिमाण प्रेम है, वहाँ उतनी वश्यता को स्वीकार करते थे । उस से भी वे सब अपने को चरितार्थ मानती थीं । महिषी गणके प्रकाश मूर्त्ति से प्रत्येक के गृहमें अवस्थान श्रीकृष्ण करते हैं–इसको नहीं जानती थीं, एवं निज से अधिक कोई प्रेमवती हैं—इस वृत्तान्त को भी जानती थीं, तज्जन्य कहा गया है कि–वे श्रीकृष्ण तत्त्व को नहीं जानती थीं ॥१४०॥

१४१ । जिज्ञासा हो सकती है कि–श्रीकृष्ण तो आत्माराम हैं—उनके पक्षमें पत्नी गणमें प्रेम होना कैसे सम्भव है ? उत्तर में कहते हैं—साधारण लोक, जिस प्रकार पत्नी में प्रेम निज भोग्य मान कर करते हैं-अर्थात् लौकिक पति पत्नी भाव विशुद्ध सम्भोग मूलक जिस प्रकार है । श्रीकृष्णके सम्बन्ध में उस प्रकार पतित्व हेतु पत्नी गणमें प्रेम नहीं है, किन्तु प्रेम सम्बन्ध में ही पत्नी गण में श्रीकृष्ण का प्रेम है ।

तात्पर्य्य यह है—जो आत्माराम हैं—उनकी प्रीति–आत्माभिन्न अपर वस्तु में हो ही नहीं सकती है । आत्माराम श्रीकृष्ण की आत्मा से भिन्न रूपमें प्रतीयमान पत्नी गणमें प्रीति कैसे हुई ? समाधानार्थ कहते हैं—लोक जगत् में जिस रमणी के सहित आनुष्ठानिक दाम्पत्य सम्बन्ध होता है--उसके प्रति पत्नी बुद्धि से ही प्रीति होती है—यहाँ लौकिक आनुष्ठानिक पति पत्नी सम्बन्ध ही प्रीति का कारण है । श्रीकृष्ण की जो प्रीति पत्नी गण में है–उस का कारण उक्त दाम्पत्य सम्बन्ध नहीं है—किन्तु प्रेम सम्बन्ध है । दास सखा प्रभृति भक्त की प्रीति श्रीकृष्ण में होने के कारण, उनके प्रति जिस प्रकार श्रीकृष्ण की प्रीति वर्त्तमान

प्रेम, किन्तु शुद्धप्रेमसम्बन्धेनैव, तथा हि (भा० १०।६१।३) –

(१४१) "चार्वब्जकोषवदनायतबाहु-नेत्र-,
सप्रेमहास-रसवीक्षित-वल्गुजल्पैः ।
सम्मोहिता भगवतो न मनो विजेतुं,
स्वैर्विभ्रमैः समशकन् वनिता विभुम्नः ॥"३६६॥

अत्र सप्रेमेति तासु श्रीकृष्णप्रेम दर्शितम् । अतएव वनिता-शब्द प्रयोगः,–"वनिता जनितात्यर्थानुरागायाञ्च योषिति" इति नानार्थवर्गात् । तेन तस्मिस्तासाञ्च प्रेम दर्शितम् ।

---

है, पत्नी गण की भी श्रीकृष्ण में प्रीति होने के कारण—उनके प्रति भी श्रीकृष्ण की प्रीति है—यहाँपर एक मात्र प्रेम ही कारण है । प्रेम विद्यमान न होने से केवल पत्नीत्व के द्वारा कोई भी उनका प्रेम का विषय नहीं हो सकते हैं । प्रेम को छोड़कर कोई भी श्रीकृष्ण को पति रूप में प्राप्त करने में सक्षम नहीं हैं । कारण श्रीकृष्ण-प्रेमानुरूप आत्म प्रकाश करते हैं । एतज्जन्य--उनकी पत्नी होने के अनन्तर उनमें प्रेम करके उन के प्रेम का विषय नहीं हो सकता है । इस रीति से प्रेम सम्बन्ध के सहित लौकिक अनुष्ठान--इन्द्रिय तृप्ति शरीर यात्रा निर्वाह प्रभृति सम्बन्धान्तर का स्पर्श को निषेध करने के निमित्त 'विशुद्ध' शब्द का प्रयोग हुआ है । सारार्थ यह है कि—पत्नी वृन्द का जो प्रेम श्रीकृष्ण में था । श्रीकृष्ण—उस प्रेमानुरोध से ही उन सब को प्रेम करते थे । पत्नीत्व, रूप, गुण, वा शरीर सम्बन्धादि उस प्रेम का हेतु नहीं है । प्रेमाधीनता से आत्मारामता की हानि नहीं होती है । कारण, श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति की परिणति विशेष है । तज्जन्य आत्माराम श्रीकृष्ण के पक्षमें पत्नी गणमें प्रेम होना अयुक्त नहीं है । भा० १०।६१।३ में उक्त है–

(१४१) "चार्वब्जकोषवदनायतबाहु--नेत्र,-सप्रेमहास-रसवीक्षित-वल्गुजल्पैः ।
सम्मोहिता भगवतो न मनो विजेतुं, स्वैर्विभ्रमैः समशकन् वनिता विभुम्नः ॥"३६६॥

प्रेम सम्बन्ध से ही जो महिषी गणमें श्रीकृष्ण प्रेम है-उसका वर्णन इस श्लोक में है । परिपूर्ण स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण का मनोहर पद्म कोष सदृश वदन, आयत बाहुनेत्र, स प्रेम हास्य सरस दृष्टि एवं मनोहर कथा से सम्मोहित वनिता गण, निज निज विभ्रम द्वारा श्रीकृष्ण के मनोजय करने में असमर्थ थीं । श्लोक की व्याख्या—यहाँ 'सप्रेम' शब्द द्वारा महिषी गण में श्रीकृष्ण प्रेम प्रदर्शित हुआ है । अतएव वनिता शब्द प्रयुक्त हुआ है । अत्यन्त अनुरागवती रमणी में वनिता शब्द का प्रयोग होता है । अमरकोष के भावार्थ वर्ग से इस का बोध होता है । वनिता शब्द प्रयोग के द्वारा श्रीमहिषी गण का प्रेम श्रीकृष्ण में है, यह दर्शाया गया है, इस से—केवल शुद्ध प्रेम द्वारा जो श्रीभगवान् का मनोजय होता है--महिषी गण-उस मन को निज निज विभ्रम के द्वारा-अर्थात् केवल स्त्री जातीय जो विभ्रम उसके द्वारा जय करने में असमर्थ हैं । यह अर्थ निश्चित है ।

भावार्थ यह है—स्त्री जातिका विभ्रम- हाव भाव कटाक्ष प्रभृति कामुक का चित्त को जय करते हैं । महिषी गण, रमणी रत्न थीं । वे स्त्रीजन सुलभ जो सब हाव भावादि का प्रकाश किये थे, उससे श्रीकृष्ण का चित्त मोहित नहीं हुआ । किन्तु उनकी जो प्रेम चेष्टा थी, केवल उस से ही श्रीकृष्ण मुग्ध हुये थे । स्त्री जन सुलभ हाव भावादि द्वारा यदि श्रीकृष्ण का मन मुग्ध होता तो, श्रीमहिषी गणके प्रति उनका काम था, यह माना जा सकता । ऐसा नहीं हुआ । विशेषतः उन सब के सम्बन्ध में जो श्रीकृष्ण के हास्य प्रभृति

अतस्तत्प्रेममात्रविजितं यद्भगवतो मनस्तत्तु स्वैः केवलस्त्रीजातीयैर्विभ्रमैर्विजेतुं न शेकुरित्यर्थः ॥

१४२। स्त्रीजातीयविभ्रमानुवादपूर्व्वकं पूर्व्वार्थमेव विशदयति (भा० १०।६१।४) —

(१४२) स्मायावलोक-लवदर्शित-भावहारि-,भ्रूमण्डलप्रहित-सौरतमन्त्रशौण्डैः ।
पत्न्यस्तु षोड़शसहस्रमनङ्गवाणै-,र्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न शेकुः ॥"३६७॥

स्वयमेवानङ्गवाणरूपैः करणैर्भावहावादिभिर्न शेकुः । तानि विशिनष्टि—स्मायेति, स्मायः स्मितम्, भावोऽभिप्रायः, तादृश-भ्रूमण्डलैः प्रहिता विक्षिप्ताश्च ते सौरतमन्त्रैः सुरतरूपार्थ-साधकमन्त्रैः शौण्डाः प्रगल्भाश्च ते तादृशैः श्रीशुकः ॥

---

थे--वे सब भी प्रेम युक्त ही थे । एवं महिषी गण जो प्रेमवती थीं--वनिता शब्द के द्वारा वह व्यञ्जित हुआ है। सुतरां प्रेयसी गण के सहित श्रीकृष्ण की जो क्रीड़ा, वह काम क्रीड़ा नहीं है, प्रेम क्रीड़ा है--यह प्रतिपन्न हुआ। इस प्रकार–श्रीकृष्ण का आचरण- जो काम वैलक्षण्य है—इस को प्रतिपादन करने के पश्चात् उनमें शम गुण--विरोधी काम दोष का परिहार हुआ ।।१४१।।

१४२। अनन्तर स्त्री जातीय विभ्रम--अर्थात् जो सब चेष्टा के द्वारा नारीगण पुरुषों का मनोहरण करती हैं - का अनुवाद पूर्वक पूर्वार्थ को--अर्थात् स्त्री जाति की चेष्टा के द्वारा श्रीकृष्ण के मनोजय की असम्भावना को-- भा० १०।६१।४ में सुस्पष्ट किये हैं—

(१४२) "स्मायावलोक-लवदर्शित-भावहारि-,भ्रू मण्डलप्रहित-सौरतमन्त्रशौण्डैः ।
पत्न्यस्तु षोड़शसहस्रमनङ्गवाणै-,र्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न शेकुः ॥"३६७॥

टीका—तासां विभ्रमान् वर्णयन् एतद्विवृणोति स्मायेति । स्मायो गूढ़हसितं तद्युक्तोऽवलोकलवः कटाक्षस्तेन दर्शितः सूचितो भावो ऽभिप्रायस्तेन हारि मनोहरणशीलं यद् भ्रू मण्डलं तेन प्रहिताः प्रस्थापिता ये सौरता मन्त्राः तेषु शौण्डैः प्रगल्भैः अनङ्गस्य वाणैः शरैः अन्यैश्च करणैः कामशास्त्र प्रसिद्धैर्यस्य इन्द्रियं मनो विमथितुं क्षोभयितुं षोड़श सहस्रमपि पत्न्यो न शेकुरिति ॥

षोड़श सहस्र पत्नी— स्माययुक्त कटाक्ष दृष्टि द्वारा सूचित भाव एवं मनोहर भ्रू मण्डल प्रहित सुरत मन्त्ररूप प्रगल्भ कामवाण से कृष्ण के मन को क्षुब्ध करने में असमर्थ थीं।

श्लोक की व्याख्या—महिषी गण ने जिस हाव भाव को प्रकट किया था, वे सब स्वयं ही मनः क्षोभ उत्पन्न करने के पक्ष में काम वाण स्वरूप थे। अन्यत्र नारी के हाव भावादि दर्शन से जो पुरुष का चित्त काम वाण से पीड़ित होता है—उस में हाव भावादि एवं काम वाणादि भिन्न वस्तु हैं। किन्तु महिषी गण के हाव भावादि-काम वाण से भिन्न नहीं हैं। यह सब ही काम वाण स्वरूप हैं। इस के प्रयोग से ही मनः क्षुब्ध होता है। किन्तु उस से भी श्रीकृष्ण का मनः क्षोभ नहीं हुआ। उस हाव भावादि का स्पष्टी करण, करते हैं—स्माय–स्मित, गूढ़ हास्य, भाव-अभिप्राय, कामदेव के धनु के समान मनोहर भ्रू मण्डल के द्वारा जो सब काम वाण- प्रहित—विक्षिप्त हुये थे,–एवं सुरत मन्त्र– सुरत रूप प्रयोजन साधक जो सब मन्त्र, तद् द्वारा हाव भावादि प्रबल हुये थे।

भावार्थ यह है—धनुर्निक्षिप्त मन्त्रपूत वाण जिस प्रकार अव्यर्थ भाव से लक्ष्य को विद्ध करता है, उस प्रकार महिषी गण के हाव भावादि मनः क्षोभ उत्पन्न करने के पक्ष में अव्यर्थ होने पर भी श्रीकृष्ण

१४३। अथ श्रीरघुनाथचरिते (भा० ९।१०।११) "स्त्रीसङ्गिनां गतिमिति प्रथयंश्चचार" इत्यादिक-वाक्येष्वन्तस्तत्प्रेमवश एव स्त्रीसङ्गिनां कामिनां गतिं प्रथयन् क्रियासाम्येन वहिर्विख्यापयन्नित्येवाभिप्रायः, उक्तञ्च तदध्यायान्ते (भा० ९।१०।५५) –

"प्रेम्णानुवृत्त्या शीलेन प्रश्रयावनता सती ।
धिया ह्रिया च भावेन भर्त्तुः सीताहरन्मनः ॥"३६८॥ इति,

तदनन्तराध्यायेऽपि, (भा० ९।११।१६) –

"तां श्रुत्वा भगवान् रामो रुन्धन्नपि धिया शुचः ।
स्मरंस्तस्या गुणांस्तांस्तान्नाशक्नोद्रोद्धुमीश्वरः ॥"३६९॥

---

के मन को क्षुब्ध करने में सक्षम नहीं हुये। यहाँ 'भ्रू' को धनु, मण्डल शब्द से उस का आकर्षण का बोध होता है। उस के द्वारा निक्षिप्त काम बाण अर्थात् मनोहर भ्रू चालन से व्यक्त अभिप्राय,— रमणी रत्न वृन्द की काम क्रीड़ा रूप मन्त्रणा--मनः कथा है। प्रवक्ता श्रीशुक हैं।।१४२।।

१४३। भगवत् स्वरूप में शम गुण विरोधि काम यदि न हो तो भा० ९।१०।११ में वर्णित है—

"रक्षोधमेन वृकवद्विपिनेऽसमक्षं वैदेह राज दुहितर्य्यपयापितायाम् ॥
भ्रात्रा वने कृपणवत् प्रियया वियुक्तः स्त्री सङ्गिनांगतिमिति प्रथयञ्चचार ॥"

राक्षसाधम रावण--श्रीरामचन्द्र के अगोचर में सीता को हरण कर पलायन करने पर,-रामचन्द्र प्रियतमा रहित होकर-स्त्री सङ्गि गण की गति इस प्रकार है—दीन के समान भ्राता के सहित वन वन में विचरण पूर्वक-इसको प्रचार करने लगे थे। इस श्लोक में श्रीरामचन्द्र को जो स्त्री सङ्गी कामुक के समान कहा गया है—इस का समाधान क्या होगा ? कहते हैं—श्रीरघुनाथ चरित में उक्त-'स्त्री सङ्गि गण की गति" इस प्रकार इस को प्रचार करके वन वन में विचरण करने लगे थे— इत्यादि वाक्य समूह से व्यक्त हुआ है कि--श्रीरामचन्द्र के अन्तर सीता के प्रेम से वशीभूत था। और स्त्री सङ्गी कामी गण की गति प्रचार क्रिया साम्य से बाहर व्यक्त किये थे-यही अभिप्राय है। अर्थात् स्त्री सङ्गी कामुक-प्रिया विरह से जिस प्रकार व्याकुल होता है,-- आत्माराम प्रेमिक श्रीरामचन्द्र प्रेमवती सीता का विरह से उसी प्रकार व्याकुल हुये थे-यही क्रिया चेष्टा की समता है। अध्याय शेष के भा० ९।१०।५५

"प्रेमणानुवृत्ता शीलेन प्रश्रयावनता सती ।
धिया ह्रिया च भावेन भर्त्तुः सीताहरन्मनः ॥"३६८॥

प्रेम, आनुगत्य, शीलता, भय एवं लज्जा द्वारा भावज्ञा सीता पति का मनोहरण करने लगीं।

तत् परवर्त्ती अध्याय में भी वर्णित है—भा० ९।११।१७-

"तां श्रुत्वा भगवान् रामो रुन्धन्नपि धिया शचः ।
स्मरंस्तस्या गुणांस्तांस्तान्नाशक्नोद्रोद्धुमीश्वरः ॥"३६९॥

श्रीराम कर्त्तृक निर्वासिता सीता—वाल्मिकी मुनि को लव कुश नामक पुत्रद्वय को सर्पण करके स्वीय पति श्रीरामचन्द्र के चरण ध्यान करते करते भू विवर में प्रविष्ट हो गईं। भगवान् राम यह सुनकर यद्यपि आप ईश्वर हैं, एवं निज बुद्धि बल से शोक सम्बरण करने में सचेष्ट हुये, तथापि प्रेयसी के गुण समूह बारं बार स्मृति पटल में उदित होने पर शोक सम्बरण करने में समर्थ नहीं हुये।

इत्यनेनान्तस्तत्प्रेमवशतां भक्तिविशेषसौख्याय व्यज्य वहिः कामुकक्रियासाम्यदर्शनया साधारण जन-वैराग्यजननायोक्तम्, (भा० ९।११।१७) "स्त्रीपुंप्रसङ्ग एतादृक् सर्वत्र त्रासमावहेत्" इत्यादि । युक्तं चोभयविधत्वम्,-भगवच्चरितस्य चतुरस्रहितत्वात् । तस्मात्तत्कामस्य प्रेयसीविषयक-प्रीतिविशेषमात्रशरीरत्वम्, ततो न दोषश्च । तन्मात्रशरीरत्वेनैवं विशिष्योक्तम्- (भा० १०।५९।४३) "रेमे रमाभिर्निजकाम-संप्लुतः" इति, (भा० १०।३३।२५) "स सत्यकामोऽनुरताबलागणः" इति ।

अथ साम्यमपि भक्तादन्यत्रैव, (गी० ९।२९)—

"समोऽहं सर्व्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥" ३७०॥

इत्यादेः । अथ भक्तप्रेमविशेषमय-नरलीलावेशमये क्वचित्तत्प्रकाशविशेषे कदाचित् सर्व्वज्ञत्वादिविरोधि-मोहादिकोऽपि दृश्यते, सोऽपि गुण एव,—तादृशमोहादिकस्य तल्लीला

---

भक्ति विशेष के सुख हेतु,—अन्तर में सीताकी प्रेम वश्यता को व्यञ्जित-करके बाहर कामुक क्रिया साम्य प्रदर्शन पूर्वक साधारण जन में वैराग्य उत्पादन हेतु श्लोक में उस प्रकार कहा गया है । स्त्री पुरुषका सम्पर्क सर्वत्र ही इस प्रकार त्रास एवं भयावह है—जन साधारण में इस को व्यक्त किया गया है । अनन्त-रङ्ग भक्त एवं बहिरङ्ग साधारण जन—के सम्बन्ध में उक्त उभयविध भाव प्रकटन भगवच्चरित्र के पक्ष में सङ्गत भी होता है, कारण वह सर्वाङ्गीण हितकर है । अर्थात् भक्त वृन्द के निमित्त प्रेम वश्यता प्रकटन करके उनको प्रेम भक्ति की महिमा में सश्रद्ध किया गया है, और साधारण जन के निकट स्त्री पुरुष का सम्पर्क त्रासकरत्व को प्रकट करके-उस सम्पर्क परित्याग हेतु ईङ्गित किया गया है । इस प्रकार श्रीरामचन्द्र के चरित्र से भक्त एवं जन साधारण उभय को हित हुआ । सुतरां श्रीभगवान् का काम—स्वरूप में प्रेयसी विषयक प्रीति विशेष है, तज्जन्य वह काम दोषावह नहीं है । स्वरूप में प्रीति विशेष हेतु श्रीभगवान् के काम सम्बन्ध में विशेष रूप से कहा गया है । भा० १०।५९।४३ "रेमे रमाभिर्निज काम संप्लुतः"

निज काम—निजानन्द से परिपूर्ण श्रीकृष्ण रमागण के सहित रमण किये थे । इस प्रकार भा० १०।३३।२५ में उक्त है—"स सत्यकामोऽनुरताबलागणः" श्रीकृष्ण सत्य काम हैं । अबला श्रीव्रजसुन्दरी गण उनमें अनुरागवती हैं । श्रीभगवान् का कामजो प्राकृत काम नहीं है-उसको समझाने के निमित्त निज काम एवं सत्य काम पद में निज-एवं 'सत्य' शब्द का योग किया गया है ।

अनन्तर भगवान् के साम्य गुण का वृत्तान्त को कहते हैं—उनकी समता—भक्त भिन्न अन्यत्र प्रयुक्त है, भक्त के सम्बन्ध में तो पक्षपात रूप वैषम्य को प्रकट न करके आप रह ही नहीं सकते हैं । गीता के ९।२९ में उक्त है—

"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥" ३७०॥

मैं समस्त भूतों में सम हूँ, किन्तु भक्ति पूर्वक जो मेरा भजन करते हैं, वे मुझ में रहते हैं । मैं भी उन के मध्य में रहता हूँ ।

भक्त प्रेम विशेषमय नरलीलावेश पूर्वक किसी भगवत् प्रकाश विशेष में समय विशेष में सर्वज्ञत्वादि मोहादि भी देखने में आते हैं । वह भी गुण ही है । कारण, तादृश मोहादि,-भगवल्लीला माधुर्य्य को वहन

माधुर्य्यवाहित्वेन विदुषामपि प्रीतिसुखदत्वान्न तु दोषः,--स्वेच्छयाङ्गीकृतत्वात्, अतएवाह,- (भा० १०।१२।२५-२६) "रक्षो विदित्वाखिलभूतहृत्स्थितः, स्वानां निरोद्धुं भगवान् मनो दधे", "तावत् प्रविष्टास्त्वसुरोदरान्तरम्" इति, तथा, (भा० १०।१३।१६)--

(१४३) "ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य" इत्यादि ॥ श्रीशुकः ॥

१४४। यदा च तस्य स्वेच्छा न भवति, प्रतिकूलैर्मोहादिना योजयितुमिष्यते च सः, तदा सर्वथा तेन न युज्यत एव, यथा शाल्वमायया तस्य मोहाभावं स्थापयन्नाह, (भा० १०।७७।३०-३१) —

(१४४) "एवं वदन्ति राजर्षे ऋषयः केचनान्विताः" इत्यादौ,

"क्व शोक-मोहौ स्नेहो वा भयं वा येऽज्ञ-सम्भवाः।
क्व चाखण्डितविज्ञानज्ञानैश्वर्य्यः सुरेड़िनः ॥"३७१॥ इत्यादि ।

---

करने के कारण, वे विज्ञ गण को प्रीतिसुखद होते हैं एवं श्रीभगवान् भी स्वेच्छा से अङ्गीकार करते हैं, अतः वे कभी भी दोष नहीं हो सकते हैं। अतएव भा० १०।१२।२५--२६ में श्रीशुकने कहा–

"रक्षो विदित्वाखिलभूतहृत्स्थितः, स्वानां निरोद्धुं भगवान् मनो दधे"
तावत् प्रविष्टास्त्वसुरोदयान्तरम्"

अघासुर, विशाल अजगर वपुः प्रकटन पूर्वक वदन व्यादान करके अवस्थित होने पर श्रीकृष्ण के सखा गण–उसको वृन्दावन के शोभा विशेष मानकर उसमें प्रवेश करने में उद्यत होने पर सर्व प्राणी के हृदयस्थित भगवान् अघासुर को राक्षस जानकर निज जनगण को निषेध करने के निमित्त जब मनमें किये थे,—उसी समय गोवत्स के सहित गोप शिशुगण-अघासुर के उदर मध्य में प्रवेश किये थे।

यहाँ प्रथम—अघासुर को राक्षस रूप में न जानने से जिस प्रकार श्रीकृष्ण में मुग्धता ज्ञापित हुई है, उसी प्रकार ब्रह्मा गोप बालक एवं गोवत्स समूह को हरण करने पर भा० १०।१३।१६ में उक्त है–

(१४३) "ततो वत्सानदृष्ट्वा पुलिनेऽपि च वत्सपान्।
उभावपि वने कृष्ण विचिकाय समन्ततः ॥"

श्रीकृष्ण, वत्सानुसन्धान हेतु गमन करके उन सब को देख नहीं पाते थे। तज्जन्य वनके चतुर्दिक में उभय का अनुसन्धान करने लगे थे। श्रीशुक कहे थे–१४३॥

१४४। जिस समय भगवान् की इच्छा नहीं होती है, उस समय प्रतिकूल जनगण उनके प्रति मोह विस्तार करने में सचेष्ट होने पर भी श्रीकृष्ण-सर्वदा मोह मुक्त ही रहते हैं। जिस प्रकार शाल्व माया द्वारा श्रीकृष्ण में मोहाभाव को स्थापन कर भा० १०।७७।३०--३१ में श्रीशुक कहे हैं—

(१४४) "एवं वदन्ति राजर्षे ऋषयः केचनान्विताः"
"क्व शोक-मोहौ स्नेहो वा भयं वा येऽज्ञ-सम्भवाः।
क्व चाखण्डितविज्ञान--ज्ञानैश्वर्य्यः सुरेड़ितः ॥"३७१॥

हे राजर्षे! "पूर्वापर अनुसन्धान रहित कतिपय ऋषि गण–इस प्रकार वर्णन करते रहते हैं, इत्यादि वाक्य में–उक्त-अज्ञ सम्भव जो शोक, मोह, स्नेह, भय वे सब कहाँ? और अखण्ड ज्ञानैश्वर्य्य समन्वित देव-

पूर्व्वोक्तरीत्यैवोक्तं ये त्वज्ञसम्भवाः परमायादि-पारवश्यमात्रकृतः शोकादयस्ते क्वेति। श्रीशुकः।

१४५ । भक्तप्रेमपारवश्य-सम्बन्धेन तु शोकादयोऽपि वर्णिता एव, (भा० ९।११।१६) "श्रुत्वा तां भगवान् रामः" इत्यादौ श्रीरामचरिते, (भा० १०।८०।१९) "सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेः" इत्यादौ श्रीदाम-विप्रचरिते, तथाह, (भा० १।८।३१)—

(१४५) "गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्-,
या ते दशाश्रुकलिलाञ्जन-सम्भ्रमाक्षम् ।
वक्त्रं निलीय भयभावनया स्थितस्य,
सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति ॥"३७२॥

अत्र 'भीरपि यद्बिभेति' इत्युक्त्या तस्य ऐश्वर्य्यज्ञानं व्यक्तम् । ततो यदि सा भीः सत्या न भवति, तदा तस्या मोहोऽपि न सम्भवेदिति गम्यते । स्फुटमेव । चान्तर्भयमुक्तम्-भयभावनया स्थितस्येति ॥ श्रीकुन्ती श्रीभगवन्तम् ॥

---

गण के स्तवनीय श्रीकृष्ण कहाँ हैं ?

पहले कहा गया है कि—श्रीभगवान् लीलामाधुर्य्य पोषण हेतु स्वेच्छा से मोहादि को अङ्गीकार करते हैं, उस रीति से ही यहाँ कहा गया है कि—"अज्ञ सम्भव" केवल मायाधीन होकर अपर व्यक्तियों में जो शोकादि उपस्थित होते हैं, उस प्रकार शोकादि श्रीकृष्ण में असम्भव हैं ।

सारार्थ यह है—शाल्व–निजमाया के द्वारा वसुदेव मूर्त्ति सृजन कर श्रीकृष्ण के समीप में विनष्ट किया था, यह देखकर श्रीकृष्ण शोकातुर हुये थे । इस प्रसङ्ग का वर्णन करके श्रीशुकदेव श्रीपरीक्षित् को कहे थे–हे राजर्षे ! शोक मोहादि के अतीत श्रीकृष्ण में आसुरिक माया निर्मित शोकमोहादि की सम्भावना नहीं हो सकती है । श्रीशुक कहे थे ॥१४४॥

१४५ । पक्षान्तर में भक्त प्रेमाधीनता निबन्धन श्रीभगवान् में शोकादि भी वर्णित हुये हैं ।

भा० ९।११।१६ में उक्त है—"श्रुत्वा तां भगवान् रामः" श्रीबलराम चरित वर्णन प्रसङ्ग में लिखित है–भगवान् राम--विपक्षीय गण के बलोद्यम एवं रुक्मिणी हरणार्थ श्रीकृष्ण, एकक गमन करने से कलह शङ्का से ग्रस्त होकर बलराम अश्व, गज, रथ, पदातिक प्रभृति महादलबल के सहित सत्वर कुण्डिन नगर में आगमन किये थे । भा० १०।८०।१९ में कहा गया है—"सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेः" सखा, प्रिय, विप्रर्षि श्रीदाम के सङ्ग से परमानन्दित कमल नयन श्रीकृष्ण प्रीत होकर नयन युगल द्वारा अश्रु वर्णन करने लगे थे । उसी प्रकार भा० १।८।३१ में उक्त है—

(३४५) "गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्,-या ते दशाश्रुकलिलाञ्जन--सम्भ्रमाक्षम् ।
वक्त्रं निलीय भयभावनया स्थितस्य, सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति ।।"३७२॥

कुन्ती देवी श्रीकृष्ण को बोली थीं—दधि भाण्ड स्फोटनापराध से गोपी यशोदा जब तुम्हें रज्जु से बंधने चाही थीं । उस समय तुम्हारी जो दशा हुई थी, उस दशा का स्मरण कर मैं मुग्ध हो रही हूँ । तुम से स्वयं भय पर्य्यन्त भी भीत होता है, और तुम यशोदा के भयसे व्याकुल हो गये थे, तुम्हारे नयन युगल अश्रुसलिल से कज्जल विगलित हो गये थे । तुम भय भावना से अधोमुख में अवस्थित थे ।

१४६। अथ स्वातन्त्र्यं भक्तसम्बन्धं विनैव,– (भा० ९।४।६३ "अहं भक्तपराधीनः" इत्यादेः। अथ गोचारणादावपि सुखित्वगुणानुकूल्यमेव मन्यव्यम्। तद्वयाजेन नानाक्रीड़ा-सुखमेव ह्युपचीयते, यथाह, (भा० १०।१८।२-३) –

(१४६) "व्रजे विक्रीड़तोरेवं गोपालच्छद्ममायया।
ग्रीष्मो नामर्त्तुरभवन्नातिप्रेयान् शरीरिणाम्॥" ३७३॥

---

श्लोक व्याख्या—यहाँ "भय पर्य्यन्त जिस को भय करता है" इस उक्ति– के द्वारा कुन्ती का ऐश्वर्य्य ज्ञान व्यक्त हुआ है। श्रीकृष्ण का वह भय, यदि यथार्थ नहीं होता तो,--कुन्ती देवी को मोह सम्भव नहीं होता, यह प्रतीत होता है। अथच-भय भावना से अवस्थित-उक्ति के द्वारा श्रीकृष्ण का आन्तरिक भय सुस्पष्ट हुआ है।

भावार्थ यह है—बलदेव चरित में श्रीभगवान् बलदेव का मोह वर्णित हुआ है। आप सर्वज्ञ होने पर भी यादव गण के प्रेम से मुग्ध होकर स्वयं का एवं श्रीकृष्ण का असमोर्द्ध्व ऐश्वर्य्यानुसन्धान नहीं किये थे। यदि आप मुग्ध नहीं होते तो, श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में निःशङ्क ही रहते, अथवा एकक कुण्डिन नगर में गमन करते। महाबल के सहित गमन--उनके मोह को प्रतीत कराता है। और यहाँ श्रीकृष्ण की अनिष्ट शङ्का से उनको शोक भी हुआ था।

श्रीदाम चरित में—दरिद्र ब्राह्मण श्रीदाम को आलिङ्गन करके श्रीकृष्ण को परमानन्द लाभ हुआ था, एवं आनन्दाश्रु वर्षण भी उनके प्रति प्रगाढ़ स्नेह व्यक्त किया था। यह स्नेह भक्त श्रीदाम विप्र के प्रेम सम्बन्ध में उपस्थित हुआ था।

श्रीकुन्ती देवी के वाक्य में श्रीयशोदा के प्रेम सम्बन्ध में श्रीकृष्ण का आन्तरिक भय सुस्पष्ट चित्रित हुआ था, वह भय यदि कृत्रिम होता तो अनुकरणिक वा बनावट होता तो उसे देखकर कुन्ती मुग्धा नहीं होतीं। उक्त तीन दृष्टान्तों के द्वारा श्रीभगवान् में शोक, मोह, भय संयोग का वर्णन हुआ है। पूर्व में भक्त भिन्न अन्य व्यक्ति के माया सम्बन्धि जो भगवान् में शोकादि सम्भव नहीं हैं, इस को कहा गया है, प्रस्तुत स्थल में उक्त प्रेम सम्बन्ध में भगवान् में शोकादि का प्रदर्शन होने के कारण—भगवान् में दोषव्यापन न होकर प्रेम पारवश्य गुण का परमोत्कर्ष ज्ञापित हुआ है।

श्रीकुन्ती देवी श्रीभगवान् को बोली थीं॥१४५॥

१४६। भगवान् के सम्बन्ध में स्वातन्त्र्य की कथा कही गई है। वह भक्त सम्बन्ध व्यतीत अन्यत्र जानना होगा। भक्त के सम्बन्ध में उनका स्वातन्त्र्य है ही नहीं, आपने स्वयं ही भा० ९।४।६३ में कहा है– "अहं भक्त पराधीनः" मैं अस्वतन्त्र व्यक्ति के समान ही भक्त पराधीन हूँ।

कहा जा सकता है कि—वृन्दावन विहारी श्रीकृष्ण में विविध आलम्बन साद्गुण्य दृष्ट होने पर भी कष्ट साध्य गोचारण उनका आलम्बन वैगुण्य उपस्थित करता है। खरतर रविकर में कुशाङ्कुर कङ्कर, कण्टकाकीर्ण वनमें चञ्चल गोपाल होकर जो विचरण करते हैं, सब क्लिष्ट जनके सम्बन्धमेंरस का आलम्बन होना सम्भव कैसे होगा? उत्तर में कहते हैं—श्रीकृष्ण के गोचारण प्रभृति में भी उनका सुखित्व गुण का आनुकूल्य को स्वीकार करना आवश्यक है। गोचारण में विविध क्रीड़ा सुख वर्द्धित होते है। जिस प्रकार भा० १०।१८।२-३ में कथित है—

(१४६) "व्रजे विक्रीड़नोरेवं गोपालच्छद्ममायया।
ग्रीष्मो नामर्त्तुरभवन्नातिप्रेयान् शरीरिणाम्॥" ३७३॥

"स च वृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षितः" इति । क्रियाकृतस्य दुःखस्य निषेधः–व्रजे विक्रीड़तोरिति । छद्म व्याजः, माया वञ्चनम्, गोपालव्याजेन यद्वञ्चनं तेन विक्रीड़तोः, प्रातस्तद्व्याजेन नाना-जनान् वञ्चयित्वा व्रजाद्वनं गत्वा स्वच्छन्दं निजाभीष्टाः क्रीड़ाः कुर्वतोरित्यर्थः । सायं व्रजावासागमने चान्या इति । कालकृतस्य दुःखस्य निषेधः–स चेति । अनेन देशकृतस्य चेति ज्ञेयः ॥ श्रीशुकः ॥

१४७ । अथ पूर्व्ववत् स्थैर्य्यविरोधी बाल्यादि-चाञ्चल्यमपि गुणत्वेनैव स्फुटं दृश्यते, यथा (भा० १०।८।२९) "वत्सान मुञ्चन् क्वचिदसमये" इत्यादि । अथ रक्तलोकत्वं यथाह,

---

गोपाल छद्म माया से व्रज में विशेष क्रीड़ारत श्रीकृष्ण के निकट जीव वृन्द का नातिप्रिय ग्रीष्म काल उपस्थित हुआ । वह भी वृन्दावन के गुण से वसन्त ऋतु के समान अनुभूत होने लगा ।

श्लोक की व्याख्या—'व्रज में विशेष क्रीड़ारत' यह कह कर क्रीड़ा कृत दुःख का निरास किया गया है । छद्म–व्याज छल । माया–वञ्चना । गोपालन छल से जो वञ्चना है, उसके द्वारा-विशेष क्रीड़ारत हैं । प्रातः काल में गो पालन उपलक्ष्य में विविध व्यक्तियों को वञ्चना करके व्रज से वन गमन पूर्वक वहाँ स्वच्छन्द भाव से निजाभिमत क्रीड़ा करते हैं । काल कृत दुःख निषेध हेतु कहते हैं—ग्रीष्म ऋतु वृन्दावन के गुण से वसन्त ऋतु के समान अनुभूत होतो है । इससे देशकृत दुःख का निषेध को जानना होगा । अर्थात् जिस वृन्दावन के स्पर्श से दुःखद ग्रीष्म ऋतु भी सुखमय वसन्त ऋतु के समान सुखद होती है, उस वृन्दावन जो सुखमय है--इस में सन्देह क्या है ?

गोचारण लीला में श्रीकृष्ण जो क्लिष्ट नहीं है--यहाँ उस को दिखाया गया है । गोचारण उपलक्ष्य में आप विविध क्रीड़ा करते हैं । क्लिष्ट जन क्रीड़ारत नहीं हो सकते हैं । आनन्द चपल व्यक्ति ही क्रीड़ा करते हैं, वे सब क्रीड़ा श्रीकृष्ण के पक्ष में इस प्रकार प्रिय हैं कि—माता पिता को वञ्चना करके खेलने के उद्देश्य से गोचारण को अङ्गीकार करते हैं । जहाँ गोचारण करते हैं, वह स्थान सुखमय है । जिस समय गोचारण करते हैं, वह भी सुखमय है । सुतरां इस लीला में श्रीकृष्ण का सुखित्व गुण का उल्लास होता है--ह्रास नहीं ।

श्रीशुक कहे थे ॥१४६॥

१४७ । श्रीकृष्ण में सत्यादि का वैपरीत्य जिस प्रकार परम गुण शिरोमणि रूप में शोभित होता है, उस प्रकार स्थैर्य्य विरोधी बाल्य चापल्यादि भी उनमें गुण रूपमें दृष्ट होता है । जिस प्रकार भा० १०।८।२९

"वत्सान मुञ्चन् क्वचिदसमये क्रोश सञ्जात हासः
स्तेयं स्वद्वत्त्यथ दधिपयः कल्पितैः स्तेय योगैः ।
मर्कान् मोक्ष्यन् विभजति स चेन्नात्ति भाण्डं भिनत्ति
द्रव्यालाभे सगृह कुपितो यात्युपक्रोश्य तोकान् ॥

गोपीगण, व्रजेश्वरी के निकट श्रीकृष्ण के विरुद्ध में अभियोग उपस्थित करती थीं "कृष्ण– असमय में हमारे गोवत्स समूह को छोड़ देता है, इत्यादि ।

अभिप्राय यह है—जिससे लोकानुराग उत्पन्न होता है-वह गुण है । "जनानुराग हेतवो गुणाः" श्रीकृष्ण के बाल्य चापल्य स्थैर्य्य गुण विरोधी होने पर भी उस के द्वारा व्रजवासी का चित्त उन के प्रति आकृष्ट हुआ था । तज्जन्य व्रजजन के मर्मज्ञ श्रीशुकदेव कहे हैं—कृष्णस्य रुचिरं गोप्यो वीक्ष्य कौमार चापलं । कृष्ण का कौमार चापल्य--रुचिकर मनोहर है । गोपीगण व्रजेश्वर के निकट जो अभियोग उपस्थित

(भा० ३।३।२०-२१) —

(१५७) "स्निग्धस्मितावलोकेन वाचा पीयूषकल्पया।
चरित्रेणानवद्येन श्रीनिकेतेन चात्मना ॥३७४॥
इमं लोकममुञ्चैव रमयन् सुतरां यदून्।
रेमे क्षणदया दत्तक्षणस्त्रीक्षणसौहृदः ॥"३७५॥

रजन्या दत्तावसरः स्त्रीणां क्षण उत्सवरूपं सौहृदं यस्य ॥ श्रीमानुद्धवः ॥

१४८। अत्र (भा० १०।२३।३६) "एवं लीलानरवपुः" इत्यादिकमप्युदाहार्य्यम्। एवमपि यदसुराणामपरक्तत्वम्, तत्र कारणमाह, (भा० ४।३।२१)—

(१४८) "पापच्यमानेन हृदातुरेन्द्रियः, समृद्धिभिः पुरुषबुद्धिसाक्षिणाम्।
अकल्य एषामधिरोढ़ुमञ्जसा, परं पदं द्वेष्टि यथासुरा हरिम् ॥"३७६॥

---

किये थे, वह श्रीकृष्ण को शासन करने के निमित्त नह, वहीं उनके प्रेम कौतुक है। अनन्तर कृष्ण के रक्त लोकत्व गुण का दृष्टान्त उपस्थित करते हैं—जिस में लोक अनुरक्त होते हैं, श्रीकृष्ण, जिस के द्वारा लोकानुराग का विषय हुये हैं, वह रक्त लोकत्व है। "पात्रं लोकानुरागाणां रक्त लोक विदुर्बुधाः" भक्ति रसामृत सिन्धु में यह लक्षण है। भा० ३।३।२०--२१ में उक्त है—

(१४७) "स्निग्धस्मितावलोकेन वाचा पीयूषकल्पया।
चरित्रेणानवद्येन श्रीनिकेतेन चात्मना ॥३७४॥
इमं लोकममुञ्चैव रमयन् सुतरां यदून्।
रेमे क्षणदया दत्तक्षणस्त्रीक्षणसौहृदः ॥"३७५॥

श्रीकृष्ण, सुस्निग्ध हास्यावलोकन, अमृतायमान वचन, निर्म्मल चरित्र एवं शोभा का आश्रय भूत निज देह के द्वारा इस मर्त्य लोक, देव लोक तथा विशेष रूप से यदुगण को आमोदित किये हैं।

जो सब रमणी रजनी में श्रीकृष्ण के सहित मिलन का अवसर प्राप्त करती थीं,--उनका उत्सव जिन का सौहृद है, वह श्रीकृष्ण उन सब के सहित रमण करते थे।

अर्थात् रजनी जो सब रमणी को श्रीकृष्ण के सहित मिलन का अवसर प्रदान करती है, उन रमणी गण के अर्थात् महिषी गण-के क्षण-उत्सव रूप सौहृद है जिनका, अर्थात् जो उन रमणी वृन्द का आनन्द सम्पादन को उनके सम्बन्ध में बन्धुकृत्य मानते थे, वह श्रीकृष्ण उन सब के सहित रमण करते थे।

श्रीउद्धव कहे थे ॥१४७॥

१४८। भा० १०।२३।३६ में उक्त है--"एवं लीलानरवपुर्नृलोकमनुशीलयन्।
रेमे गो गोप गोपीनां रमयन् रूपवाक् कृतैः ॥

लीलामय नरवपु श्रीकृष्ण, लौकिक लीला विस्तार करके रूप, वाक्य एवं चरित्र द्वारा गो, गोप, गोपी गण को क्रीड़ा कराने के निमित्त स्वयं भी क्रीड़ा करने लगे थे। इस प्रकार श्रीकृष्ण में भी असुरगण की विरक्ति देखी जाती है। उसका कारण का वर्णन श्रीशिव किये हैं-- भा० ४।३।२१ में उक्त है—

(१४८) "पापच्यमानेन हृदातुरेन्द्रियः समृद्धिभिः पुरुषबुद्धिसाक्षिणाम्।
अकल्य एषामधिरोढ़ुमञ्जसा, परं पदं द्वेष्टि यथासुरा हरिम् ॥"३७६॥

स्पष्टम् ॥ श्रीशिवः ॥

१४९ । यद्यप्येषां गुणानां सर्वेषामपि भगवति नित्यत्वमेव, तथापि तत्तल्लीलासिद्धयर्थं तेषां क्वचित् कस्यचित् प्रकाशः, कस्यचिदप्रकाशश्च भवति । अतएवाह, (भा० १।१०।१९) —

(१४९) "अश्रूयन्ताशिषः सत्यास्तत्र तत्र द्विजेरिताः ।
नानुरूपानुरूपाश्च निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥"३७७॥

निर्गुणस्य— मध्यपदलोपेन निर्गता गुणेभ्यो गुणा यस्य तस्य, प्राकृतगुणातीतनित्यगुणस्य, नानुरूपाः,--नित्यतत्परिपूर्णत्वेन लाभान्तरायोगात् । गुणात्मनस्तदाशीर्वादाङ्गीकार-द्वारा

---

निरहङ्कारिगण की पुण्य कीर्त्ति प्रभृति को देखकर जो लोक-असहिष्णु होते हैं, जिन की इन्द्रिय व्यथित होती है--वे निरहङ्कारि वृन्द के स्थान को प्राप्त नहीं कर सकते हैं । सुतरां असुरगण-हरि के प्रति जिस प्रकार विद्वेष करते हैं, वह भी उनके प्रति उस प्रकार विद्वेष करते हैं ।

अर्थात् असुरगण स्वभाव सिद्ध मात्सर्य्य के वशवर्त्ती होकर श्रीहरि के प्रति विद्वेष प्रकाश करते हैं । पर श्रीकातर व्यक्ति जिस प्रकार अपर को सुखी देखकर असहिष्णु होता है—श्रीहरि के सौन्दर्य्य माधुर्य्य को देखकर भी असुर गण की वही अवस्था होती है, तज्जन्य वे श्रीहरि में अनुरक्त नहीं होते हैं ।

श्रीशिव कहे थे ॥१४८॥

१४९ । यद्यपि वे सब गुण श्रीभगवान् में नित्य वर्त्तमान हैं, तथापि उस लीला सिद्धि हेतु किसी गुण किसी समय में व्यक्त होता है । किसी का प्रकाश किसी समय में होता भी नहीं । अर्थात् सब गुण--एक समय में व्यक्त नहीं होते हैं, जो गुण जिस लीलाके उपयोगी है,वह व्यक्त होता है । अतएव भा० १।१०।१९ में कथित है—

(१४९) "अश्रूयन्ताशिषः सत्यास्तत्र तत्र द्विजेरिताः ।
नानुरूपानुरूपाश्च निर्गुणस्य गुणात्मन. ॥"३७७॥

श्रीकृष्ण, हस्तिनापुर से द्वारका प्रस्थान के समय जहाँ जहाँ उपस्थित होते थे--वहाँ वहाँ ब्राह्मण वृन्द के सत्य आशीर्वाद समूह उनके कर्ण गोचर हुये थे । निर्गुण, गुणात्मा श्रीकृष्ण के पक्ष में उक्त आशीर्वाद समूह अनुरूप एवं अननुरूप उभय प्रकार ही हुये थे ।

श्लोक व्याख्या—निर्गुण पद-मध्यपद लोपि समास बद्ध है । निर्गत गुण समूह से गुण जिनका, वह निर्गुण हैं—प्राकृत गुणातीत हैं-अतः नित्य गुणवान् हैं । इस रीति से उनके पक्षमें आशीर्वाद-अननु रूप है । आप गुणात्मा हैं, ब्राह्मण वृन्दके आशीर्वाद द्वारा उस उस गुण विशेष का प्रवर्त्तक एवं निवर्त्तक हैं । इस प्रकार आशीर्वाद उनके पक्ष में अनुरूप है । आशीर्वाद अङ्गीकार में हेतु है—वे सब सत्य हैं । इस प्रकार गुण प्रकाशन अ प्रकाशन हेतु श्रीभगवान् के परार्द्ध संख्यक चन्द्र से अधिक उज्ज्वलतादि होने पर भी उस उस लीला विस्तारक अन्धकारादि व्यवहार की भी सिद्धि होती है ।

तात्पर्य्य यह है—तुम सुखी बनो, तुम्हें समृद्धि लाभ हो तुम जय युक्त हो इत्यादि आशीर्वाद वचन हैं । निर्गुणावस्था में गुण समूह स्वरूपस्थ रहने के कारण, उनमें आशीर्वाद की सार्थकता नहीं है । आशीर्वाद का विषय सुखादि-उनमें परिपूर्ण रूप में विराजित हैं । जिस अवस्था में गुण समूह उनमें कभी व्यक्त होते हैं, कभी उपसंहार प्राप्त होते हैं, उस अवस्था में आशीर्वाद का अवकाश है, जिस प्रकार परिकर

तत्तद्गुण विशेषप्रवर्त्तक-निवर्त्तकस्यानुरूपाश्च। तदङ्गीकारे हेतुः-सत्या इति। तदेवं प्रकाशना-प्रकाशनहेतोरेव श्रीभगवतश्चन्द्रपरपरार्द्धोज्ज्वलतादिके सत्यपि तत्तल्लीलामाधुर्य्य--विस्तारकस्तमिस्रादि-व्यवहारः। सिध्यति ॥ श्रीसूतः ॥

१५०। अतएवावसरविशेषं प्राप्य तत्तद्गुणसमुदायविशेषाविर्भावादेक एवासौ तत्र तत्र पृथक् पृथगिव धीरोदात्तादि-व्यवहारचतुष्टयमपि प्रकाशयति । तत्र धीरोदात्तो यथा (भ० र० सि० २।१।२२६)-

"गम्भीरो विनयी क्षन्ता करुणः सुदृढव्रतः। अकत्थनो गूढ़गर्वो धीरोदात्तः सुसत्त्वभृत् ॥"३७८॥ इति,

-एते च गुणा गोवर्द्धनोद्धरणादि-शक्रसम्भाषान्तलीलायां व्यक्ताः सन्ति ।

अथ धीरललितः (भ० र० सि० २।१।२३०)-

"विदग्धो नवतारुण्यः परिहासविशारदः। निश्चिन्तो धीरललितः स्यात् प्रायः प्रेयसीवशः ॥"३७९॥

---

गण के सहित लीलायमान भगवान् उनके विच्छेद से दुःखी होते हैं--इस अवस्थामें आशीर्वाद की उपयोगिता है। कारण--उस समय आप प्रियवर्ग के सङ्ग सुखाभिलाषी हैं, उस सुख को आप प्राप्त करेंगे—ब्राह्मण वृन्द का आशीर्वाद उस को सूचित करता है। अतः उस आशीर्वाद को आप आदर पूर्वक अङ्गीकार करते हैं। ब्राह्मण वृन्द जिस जिस समय में आशीर्वाद किये हैं, वे सब श्रीकृष्ण के स्वरूप धर्म होने के कारण--कभी भी व्यभिचार नहीं होता है। तज्जन्य ये सब सत्य हैं। अथवा शम दमादि गुण सम्पन्न ब्राह्मण गण सत्य हैं, अतः उनका आशीर्वाद को सत्य जान कर नर लीलावेश में श्रीकृष्ण अङ्गीकार किये हैं।

युगपद् समस्त गुणों को प्रकाश करने की सामर्थ्य श्रीकृष्ण में है। तज्जन्य कहे हैं--चन्द्र जिस प्रकार उज्ज्वलता के द्वारा वस्तु प्रकाशक हैं, आप उसी प्रकार निज प्रभाव से सर्व गुण प्रकाशक हैं। ऐसा होने पर भी समस्त गुणों को प्रकाश न करके अन्धकार जिस प्रकार वस्तु समूह को आवृत करता है, आप भी उस प्रकार किसी किसी गुण को आवृत रखते हैं। इस प्रकार गुणावरण का उद्देश्य लीला माधुर्य्य का विस्तार करना है। श्रीसूत कहे थे—॥१४९॥

१५०। अतएव अवसर विशेष प्राप्त होकर उन उन गुण समूह का विशेष आविर्भाव हेतु एक भगवान् ही लीलावसर क्रमसे पृथक् पृथक् धीरोत्तादि व्यवहार चतुष्टय को प्रकट करते हैं। अर्थात् सत्य शौचादि प्रसिद्ध गुण एवं सत्य शौच शम विरोधी जो सब दोष--प्रेमवश्यत्वादि निबन्धन श्रीभगवद् विग्रह के सम्बन्ध में प्रकाशित होकर गुण शिरोमणि रूप में शोभित होते हैं, ये सब गुण हैं, अतः स्वतः सिद्ध एवं संसर्ग सिद्ध भेद से गुण द्विविध होते हैं ॥

उस उस व्यवहार के मध्य में धीरोदात्त का उदाहरण भक्ति रसामृत सिन्धु के २।१।२२६ में इस प्रकार है— "गम्भीरो विनयी क्षन्ता करुणः सुदृढ़व्रतः।
अकत्थनो गूढ़गर्वो धीरोदात्तः सुसत्त्वभृत् ॥"३७८॥

जो व्यक्ति--गम्भीर प्रकृति, विनय युक्त, क्षमाशील, करुण, दृढ़व्रत, आत्म श्लाघाशून्य एवं अत्यन्त बलवान् हैं, उनको धीरोदात्त कहते हैं। यह गुण समूह का प्रकाश, श्रीकृष्ण में-गोवर्द्धन धारण से आरम्भ कर इन्द्र सम्भाषण पर्य्यन्त लीला में हुआ है। धीरललित का उदाहरण, भक्ति रसामृतसिन्धु के २।१।३०

—एते च श्रीमद्व्रजदेवीसहित-लीलायां सुष्ठु व्यक्ताः।

अथ धीरशान्तः, (भ० र० सि० २।१।२३३)—

'शमप्रकृतिकः क्लेशसहनश्च विवेचकः। विनयादिगुणोपेतो धीरशान्त उदीर्य्यते ॥''३८०॥

—एते च तादृशानां युधिष्ठिरादीनां सन्निधौ तत्पालनलीलायामुज्जृम्भन्ते।

अथ धीरोद्धतः, (भ० र० सि० २।१।२३६)—

"मात्सर्य्यवानहङ्कारी मायावी रोषणश्चलः। विकत्थनश्च विद्वद्भिर्धीरोद्धत उदाहृत ॥''३८१॥

—एते च तादृशानसुरान् प्राप्य क्वचिदुदयन्ते। अतएव दुष्टदण्डनहेतुत्वादेषां गुणत्वञ्च। तदेवमुद्दीपनेषु गुणा व्याख्याताः।

अथ तेषु जातिर्द्विविधा--तस्य तत्सम्बन्धन्धिनाञ्चेति। तत्र तस्य जातिर्गोपत्व-क्षत्रियत्वादिका श्यामत्व-किशोरत्वादिकमन्यत्र तदुपमाबुद्धिजनकञ्च। तत्सम्बन्धिनां जातिस्तु गोत्वादिका

---

में है— "विदग्धो नवतारुण्यः परिहासविशारदः।
निश्चिन्तो धीरललितः स्यात् प्रायः प्रेयसीवश ॥''३७९॥

धीर ललित नायक--रसिक,नवयौवन सम्पन्न, परिहास पटु, निश्चिन्त प्रायशः प्रेयसी वश होते हैं। ये सब गुण, श्रीव्रजदेवी वृन्द के सहित लीला में सुन्दर रूप से व्यक्त हुये हैं। धीर शान्त का लक्षण भक्तिरसामृत सिन्धु २।१।२३३ में हैं—

"शमप्रकृतिकः क्लेशसहनश्च विवेचकः। विनयादिगुणोपेतो धीरशान्त उदीर्य्यते ॥''३८०॥

जो व्यक्ति, शान्त प्रकृति, क्लेश सहिष्णु, विवेचक, एवं विनयादि गुण युक्त होते हैं--उनको धीर शान्त कहते हैं।

ये सब गुण, श्रीकृष्ण में धीर शान्त स्वभाव--युधिष्ठिरादि के सन्निधान में उन सब का पालन लीला में सम्पूर्ण रूपसे प्रकटित हुये हैं। धीरोद्धत का लक्षण भक्ति रसामृत ग्रन्थ के २।१।२३६ में है—

"मात्सर्य्यवानहङ्कारी मायावी रोषणश्चलः विकत्थनश्च विद्वद्भिर्धीरोद्धत उदाहृतः ॥''३८१॥

जो व्यक्ति-मात्सर्य्यवान्, अहङ्कारी क्रोधी, चञ्चल एवं आत्म प्रशंसाकारी हैं, उनको धीरोद्धत कहते हैं। यह सब गुण--श्रीकृष्ण में तादृश स्वभाव सम्पन्न--असुर गण के सान्निध्य के कारण कभी कभी उदित होते हैं। अतएव दुष्ट दण्डन के हेतु होने के कारण यह सब गुण होते हैं। इस रीतिसे उद्दीपन समूह में गुण का वर्णन हुआ।

११६ अनुच्छेद में कहा गया है—गुण, जाति, क्रिया, द्रव्य, एवं काल भेद से उद्दीपन पञ्चविध होते हैं। यहाँतक गुण का कथन हुआ। अनन्तर उद्दीपन समूह के मध्य में जाति का वर्णन हो रहा है, जाति द्विविध हैं। श्रीकृष्ण की जाति एवं श्रीकृष्ण सम्पर्कित जन की जाति। उस में से श्रीकृष्ण की जाति गोपत्व, क्षत्रियत्व प्रभृति, एवं श्यामत्व किशोरत्व प्रभृति अन्यत्र उनकी उपमा बुद्धि जनक, उद्दीपन है। उनके सम्पर्कित जनगण की जाति उनके सम्पर्कित व्यक्ति गण-जाति में गो, गोप प्रभृति हैं।

उद्दीपन समूह के मध्य में क्रिया— उनकी लीला है। वह लीला द्विविधा हैं। उस के मध्य में भगवत् सान्निध्य मात्र से माया के द्वारा प्रदर्शिता सृष्टि स्थिति संहार क्रिया मायिकी लीला है। उनकी श्रीविग्रह चेष्टा--हास्य, विलास, क्रीड़ा, नृत्य, युद्धादि--स्वरूप शक्तिमयी लीला हैं। कारण— श्रीविग्रह एकमात्र

ज्ञेया। अथोद्दीपनेषु क्रिया लीला एव, ताश्च द्विविधाः-तत्र तत्साान्निध्येन मायया दर्शिताः, सृष्ट्यादयो मायिक्यः, तदीय-श्रीविग्रहचेष्टास्तु स्मित विलास-खेला-नृत्य-युद्धादयः स्वरूप-शक्तिमय्यः,–श्रीविग्रहस्य स्वरूपानन्दैक-रूपत्वात्, (भा० ३।६।२३) "रमयात्मशक्त्या, यद्यत् करिष्यति" इति तृतीयस्थ-ब्रह्मस्तवाच्च। ईश्वरस्यापि तस्य वर्त्तत एव स्वाभाविकं तदिच्छा-कौतुकम् (ब्र० सू० २।१।३३) "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" इति न्यायेन, यथाह, (भा० ८।६।१७)–

(१५०) "एक एवेश्वरस्तस्मिन् सुरकार्य्ये सुरेश्वरः।
विहर्त्तु कामस्तानाह समुद्रोन्मथनादिभिः॥" ३८२॥

"एक एवेश्वरः समर्थोऽपि" इति टीका च। अतएव तत्तज्जाति-लीलाभिनिवेशः श्रूयते, यथा विष्णुधर्म्मोत्तरे—

---

स्वरूपानन्द रूप है। और भा० ३ ६।२३ के ब्रह्मस्तव में उक्त है—

"एष प्रपन्नवरदो रमयात्मशक्त्या यद् यत् करिष्यति गृहीत गुणावतारः।
तस्मिन् स्व विक्रममिदं सृजतोऽपि चेतो युञ्जीत कर्म्मशमलञ्च यथा विजह्याम्॥

भगवान् जो कुछ करते हैं— सब ही आत्म शक्ति–अर्थात् रमानाम्नी स्वरूप शक्ति के द्वारा करते हैं।

सारार्थ यह है—सृष्ट्यादि जगद् व्यापार मायाशक्ति का कार्य होने पर भी माया स्वयं उसको करने में असमर्थ है, श्रीभगवान् के महाविष्णु नामक पुरुषावतार का सान्निध्य प्राप्त होकर तत्तत् कार्य्य सम्पन्न करती है। महाविष्णु इस में लिप्त नहीं है, केवल दृष्टि पात के द्वारा माया में सृष्ट्यादि शक्ति सञ्चार करते हैं। इस प्रकार भगवत् सान्निध्य वशतः जगद् व्यापार निष्पन्न होने के कारण वे सब भी उनकी मायिक लीला हैं। वे सब लीला, मायावलम्बन से व्यक्त होने के कारण-मायिकी हैं।

भगवान् निज मूर्त्ति में हास्यादि जो सब चेष्टा प्रकाश करते हैं--वे सब उन की स्वरूप शक्ति के द्वारा निष्पन्न होने के कारण वे सब चेष्टा स्वरूप शक्ति मयी लीला हैं।

आप ईश्वर होने पर भी स्वभावतः ही उनमें लीला वाञ्छारूप कौतुक वर्त्तमान है। ब्रह्म सूत्र २।१।३३ में उक्त है "लोकवत्तु लीला कैवल्यम्"

"ब्रह्मन् कथं भगवतश्चिन्मात्रस्याविकारिणः।
लीलया वापि युज्येरन् निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः।
क्रीड़ायामुद्यमोऽर्भस्य कामश्चिक्रीड़िषान्यतः।
स्वतस्तृप्तस्य कथं निवृत्तस्य सदान्यतः॥ भागवत भाष्यम् भा० ३।७।२-३

सुखोन्मत्त लोक जिस प्रकार सुखोद्रेक हेतु नृत्यादि करते रहते हैं–श्रीभगवान् भी उस प्रकार स्वरूपानन्द निबन्धन नाना लीला प्रकट करते हैं। इस प्रकार लीला करना ही उनका स्वभाव है। भा० ८।६।१७ में उक्त है—

(१५०) "एक एवेश्वरस्तस्मिन् सुरकार्य्ये सुरेश्वरः।
विहर्त्तु कामस्तानाह समुद्रोन्मथनादिभिः॥" ३८२॥

श्रीशुकदेव कहे हैं— यद्यपि भगवान् एकाकी देवकार्य्य सम्पादन में समर्थ थे, तथापि समुद्र मन्थनादि द्वारा विहार करने के अभिप्राय से देवगण को उन सब कार्य्य करने कहे थे।

अतएव तत्तत् जात्युचितलीला में जो अभिनिवेश होता है–उस का वर्णन विष्णु धर्मोत्तर में है–

"यग्यां यस्यां यदा योनौ प्रादुर्भवति कारणात् । तदयोनि-सदृशं वत्स तदा लोके विचेष्टते ॥३८३॥
संहर्त्तुं जगदीशानः समर्थोऽपि तदा नृप । तद्योनिसदृशोपायैर्बध्यान् हिंसति यादव ॥"३८४॥

इत्यादि ॥ श्रीशुकः ॥

१५१ । तत्र श्रीविग्रहचेष्टा द्विविधाः,—ऐश्वर्य्यमय्यो माधुर्य्यमय्यश्चेति । तत्र निजजन प्रेममयत्वान्माधुर्य्यमय्य एव रमणाधिक्ये हेतवः, यथैव परमविस्मय-हर्षाभ्यामाह, (भा० १०।१५।१९)—

(१५१) "एवं निगूढ़ात्मगतिः स्व-मायया, गोपात्मजत्वं चरितैर्विड़म्बयन् ।
रेमे रमालालित-पादपल्लवो, ग्राम्यैः समं ग्राम्यवदीशचेष्टितः ॥"३८५॥

श्रीनारायणादिरूपेषु स्वाविर्भावेषु रमालालितपादपल्लवोऽपि स्वेष्वलौकिकेष्वपि व्रजवासिषु (भा० १०।१८।२७) "निरीक्ष्य तद्वपुरलमम्बरे चरत्" इत्यादौ "हलधर ईषदत्रसत्" इति

---

"यस्यां यस्यां यदायोनौ प्रादुर्भवति कारणात् ।
तद् योनि सदृशं वत्स तदालोके विचेष्टते ॥३८३॥
संहर्त्तुं जगदीशानः समर्थोऽपि तदानृप ।
यद्योनि सदृशोपायैर्बध्यान् हिंसति यादव ॥"३८४॥

वज्रनाम को मार्कण्डेय कहे थे-हे वत्स ! कारण वशतः श्रीभगवान् जिस जिस समय मत्स्य कूर्म्म वराह प्रभृति जिस जिस योनि में आविर्भूत होते हैं, उस उस समय जगत् में उस उस योनि सदृश अर्थात् मत्स्यादि के समान चेष्टा कहते हैं । हे नृप ! हे यादव ! समग्र जगत् संहार करने में समर्थ होने पर भी योनि सदृश चेष्टा के द्वारा बध्य असुर गण को बध करते हैं । श्रीशुक कहे थे ॥१५०॥

१५१ । उक्त विविध अवतार में श्रीविग्रह चेष्टा-अर्थात् श्रीभगवान् जिस जिस रूप में आविर्भूत होते हैं उसके अनुरूप चेष्टा-द्विविध हैं । ऐश्वर्य्य मयी माधुर्य्य मयी । उस के मध्य में माधुर्य्यमयी चेष्टा प्रियजन में प्रेममयी है, तज्जन्य वही विहाराधिक्य का कारण है । शुक देव परम विस्मय एवं हर्ष के सहित कहे थे—भा० १०।१५।१९

(१५१) "एवं निगूढ़ात्मगतिः स्व-मायया, गोपात्मजत्वं चरितैर्विड़म्बयन् ।
रेमे रमालालित-पादपल्लवो, ग्राम्यैः समं ग्राम्यवदीशचेष्टितः ॥"३८५॥

इस प्रकार निगूढ़ात्मगति श्रीकृष्ण-जिनके पाद पल्लव का सम्बाहन स्वयं लक्ष्मी करती हैं, आप स्वमाया के प्रभाव से विविध चरित्र द्वारा गोपेन्द्रनन्दनत्व विड़म्बन-अनुकरण पूर्वक ग्राम्य गण के सहित ग्राम्य के समान विहार करते, हैं उनमें ईश्वर चेष्टा विद्यमान् है ।

श्लोक की व्याख्या—श्रीकृष्ण के नारायणादि रूप आविर्भाव समूह के पद पल्लव की सेवा स्वयं लक्ष्मी करती रहती हैं । तज्जन्य श्रीकृष्ण को रमा लालित पाद पल्लव कहा गया है । साक्षात् सम्बन्ध में किन्तु रमादेवी श्रीकृष्ण के चरण लालन करने का अधिकार प्राप्त नहीं करती हैं । स्वमाया-स्वगण में जो माया-कृपा, वह स्वमाया है, श्रीकृष्ण के स्वगण—व्रजवासी हैं, वे अलौकिक होने पर भी श्रीकृष्णकी लीला विशेष में आविष्ट होकर लौकिक के समान व्यवहार करते हैं ।

श्रीबलदेव के चरित्र में वह देखने में आताहे, भा० १०।१८।२७ में उक्त है—"निरीक्ष्य तद्वपुरलमम्बरे

न्यायलब्धेन तल्लीला-माधुर्य्यविशेषावेशेन लौकिकवद्व्यवहरतस्तु या माया कृपा (भा० ९।४।६८) "साधवो हृदयं मह्यम्" इत्यादि-न्यायेन तत्कृतैक्यव्यवहारः, तया निगूढ़ात्मगतिस्तिरोहित-पारमैश्वर्य्यस्थितिः सन् लौकिकं यद्गोपात्मजत्वं तदेवालौकिक-गोपात्मजमयैश्चरितै-र्विड़म्बयन्ननुकुर्वन् रेमे, स्वयमपि रतिमुवाह । अतस्तादृशरमणेषु यथा तदिच्छा, न तथा रमालालितपादपल्लवत्वेऽपीति दर्शितम् । रमणमेव दर्शयति—यथाधुनापि ग्राम्यैर्बालकैः समं कश्चिद्ग्रामाधिपबालको रमते, तद्वत् । तत्तल्लीलाप्रधान एव रमते, न त्वैश्वर्य्य-प्रधान इत्यर्थः । दृश्यते च तत्तल्लीलावेशः—(भा० १०।९।६) "स जातकोपस्फुरितारुणाधरः" इत्यादौ रहोऽपि जाततादृशभावात्, (भा० १०।१२।२७) "तान् वीक्ष्य कृष्णः" इत्यादौ बालानां स्वकरात्पच्युत-

---

चरत्" प्रलम्बासुर का गगनचारिकलेवर को देखकर बलदेव किञ्चित् भीत हुये थे । "हलधर ईषदत्रसत" इस न्याय के अनुसार व्रजजन की लौकिक चेष्टा प्रतीत होती है । अर्थात् यहाँ श्रीकृष्ण लीलामाधुर्य्याविष्ट बलदेव जिस पकार निज अलौकिकत्व को विस्मृत होकर साधारण लोक के समान भीत हुये थे । अन्यान्य व्रजवासी भी उस प्रकार लील वेश में अपने को जगत् के साधारण व्यक्ति मानते थे, एवं तदनुरूप चेष्टा भी करते थे । श्रीकृष्ण, उक्त रूप में रमालालित पाद पल्लव होने पर भी ईदृश व्रजजन के प्रति उनकी जो माया-अर्थात् कृपा,-भा० ९।४।६८ में उक्त है--'साधवो हृदयं मह्यम्" साधु गण मेरा हृदय हैं । इस न्याय के अनुसार श्रीकृष्ण कृत ऐक्य व्यवहार अर्थात् व्रजजन गण जिस प्रकार लीलाविष्ट होकर साधारण जन के समान व्यवहार करते हैं, श्रीकृष्ण भी उनके प्रेम में मुग्ध होकर तदनुरूप व्यवहार करते हैं । यही उनकी स्वमाया-स्वगण में कृपा । तज्जन्य आप निगूढ़ आत्मरति हैं, निज पारमैश्वर्य्य स्थिति का तिरोधान उपस्थित करके लौकिक जो गोप पुत्रत्व अलौकिक गोप पुत्रत्वमय चरित के द्वारा उसका विड़म्बन अर्थात् अनुकरण पूर्वक रमण करते हैं, एवं स्वयं भी प्रीति लाभ करते हैं । इस हेतु तादृश विहार में उनका जिस प्रकार अभिलाष है, जिस से लक्ष्मी पाद पल्लव की सेवा करें, उस प्रकार पारमैश्वर्य्य मय विहार में भी उस प्रकार इच्छा नहीं है । यह प्रदर्शित हुआ ।

श्रीकृष्ण का वह विहार किस प्रकार है--उस को कहते हैं । अधुनातन समय में भी जिस प्रकार ग्राम्य बालक गण के सहित किसी ग्रामाध्यक्ष के बालक खेलता है, श्रीकृष्ण भी उस प्रकार व्रज बालक गण के सहित विहार करते हैं। गोप कुमार, गोप सखा, प्रभृति में जो जो लीला सम्भव है, उस उस लीला जिन में प्रधानतः वर्त्तमान हैं, तादृश रूप में आप वे सब विहार करते हैं। जिस में उनका ऐश्वर्य्य का प्राचुर्य्य परि लक्षित हो सकता है । उस प्रकार क्रीड़ा आप नहीं करते हैं । उस उस लीला में उनका आवेश भी देखने में नहीं आता है । दाम बन्धन लीला के प्रारम्भमें श्रीव्रजेश्वरी श्रीकृष्ण को परित्याग करके दुग्ध रक्षा हेतु गमन करने से भा० १०।९।६ में उक्त है--"स जातकोपस्फुरितारुणाधरः" श्रीकृष्ण का अरुण अधर कम्पित होने लगा । १०।१२।२७ उक्त है, "तान् वीक्ष्य कृष्णः" निर्जन में भी तादृश भाव उपस्थित हुआ था, यह लौकिक लीला में आवेश का परिचायक है ।

यहाँ इस प्रकार अवस्था होती है, वहाँ द्वितीय व्यक्ति नहीं था । यदि कोई होता तो वह कपट व्यवहार है- इस प्रकार माना जा सकता है । किन्तु निर्जन में भी उस प्रकार आचरण करने से वह जो यथार्थ है, इस में सन्देह का अवकाश नहीं है ।

श्रीकृष्ण, व्रजेश्वरी के प्रेम में मुग्ध होकर केवल यशोदानन्दन अभिमान में अपने को जननी का

ताजातानुतापाद्दिष्टकृतत्वमननाच्च । अतएव तस्य तत्तल्लीलासु लोकानुसारि यद्यद्बुद्धि-कर्म्मसौष्ठवम्, तत्तत् सुष्ठु मुनिभिरपि सचमत्कारं वर्ण्यते, यथोक्तं श्रीशुकेन जरासन्धयुद्धान्ते (भा० १०।५०।२९)—

"स्थित्युद्भवान्तं भुवनत्रयस्य यः, समीहतेऽनन्तगुणः स्वलीलया ।
न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रह-,स्तथापि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते ॥" ३८६॥ इति ।

तेषु चरितेषु यदलौकिकमासीत्तदपि तत्तल्लीलारसमात्रासक्तस्य तस्य स्वभावसिद्धैश्वर्य्यत्वेन लीलाख्यया शक्तिरेव स्वयं सम्पादितवतीत्याह—ईशं तत्तल्लीलोचित-सुघट-दुर्घट-सर्वार्थसाधकं चेष्टितं लीलेव यस्य स इति, यथोक्तम् (भा० १०।६९।३७)—

---

उपेक्षित मानकर उस प्रकार क्षुब्ध हुये थे । अघासुर बध लीला में गोप बालक गण जब अघासुर के उदर में प्रवेश किये थे,

"तान् वीक्ष्य कृष्णः सकलाभयप्रदो ह्यनन्यनाथान् स्वकरापच्युतान् ।
दीनांश्च मृत्यो र्जठराग्नि घासान् घृणार्द्दितो दिष्ट कृतेन विस्मितः ॥"

समस्त लोकों को अभयदाता श्रीकृष्ण--अन्य नाथहीन दीन बालक गण को निज करच्युत एवं मृत्यु स्वरूप अघासुर के जठरानल में तृणीभूत होते देखकर करुणा से कातर हो गये थे । इस दैव कर्म्म को देख कर आप विस्मित हुये थे ।

यहाँ बालक वृन्द निज करच्युत होने से अनुताप एवं दैव के द्वारा यह संघटित हुआ है--इस प्रकार मानने से श्रीकृष्ण का इस लीलामें जो आवेश है । वह सुस्पष्ट प्रतीत होता है ।

श्रीकृष्ण, यदि लौकिक लीला में आविष्ट न होकर यदि ऐश्वर्य्य प्रधान अलौकिक लीला में रत होते तो अघासुर से सखावृन्द का अनिष्ट नहीं होगा । विनानुसन्धान से इसको जान जाते । सुतरां उनका अनुताप नहीं होता एवं वह दैव कृत है, इस प्रकार भी नहीं सोचते । कारण, वह उनकी लीला की परिपाटी विशेष है । अतएव श्रीकृष्ण की जिस लीला में लोकानुसारि अर्थात् मनुष्य के समान-बुद्धि एवं कर्म का जो जो सौन्दर्य्य परिलक्षित हुआ था, मुनिगण—विस्मय के सहित उत्तम रूप से उसका वर्णन किये हैं । जिस प्रकार भा० १७।६९।३७ में उक्त जरासन्ध युद्ध वर्णन के पश्चात् श्रीशुकोक्ति है—

"स्थित्युद्भवान्तं भुवनत्रयस्य यः, समीहतेऽनन्तगुणः स्वलीलया ।
न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रह,-स्तथापि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते ॥" ३८६॥

जिनके अनन्त गुण हैं, जो-निज लीलाक्रम से त्रिभुवन के सृष्टि स्थिति प्रलय कार्य्य करते रहते हैं । उनके पक्ष में विपक्ष विग्रह करना-आश्चर्य्य कर नहीं हैं । तथापि आप मर्त्य जन गण का अनुकरण किये थे । " अतः उसका वर्णन करता हूँ ।

श्रीकृष्ण के जिस चरित्र में जो कुछ अलौकिक कथा, वह भी उस उस लीलारस में आसक्त उनका स्वभाव सिद्ध ऐश्वर्य्य रूप में लीलाख्या शक्ति ही स्वयं सम्पादन करती । तज्जन्य इस श्लोक में व्याख्यास्य मान-'एवं निगूढ़ात्मगति" इत्यादि श्लोक में श्रीकृष्ण को ईश चेष्टित कहा गया है । ईश चेष्टित--उस उस लीला योग्य सुसाध्य दुःसाध्य सर्वार्थ साधक चेष्टित-लीला है जिनकी, वह हैं—ईश चेष्टित । इस प्रकार चेष्टा के सम्बन्ध में श्रीशुक देवने कहा है---भा० १०।६९।३७—

"अथोवाच हृषीकेशं नारदः प्रहसन्निव ।
योगमायोदयं वीक्ष्य मानुषीमीयुषो गतिम् ॥" ३८७॥ इति,

यथा च (भा० १०।८।३६) —

"यद्येवं तर्हि व्यादेहीत्युक्तः स भगवान् हरिः ।
व्यादत्ताव्याहतैश्वर्य्यः क्रीड़ामनुजबालकः ॥" ३८८॥

(भा० १०।८।३७) "सा तत्र ददृशे विश्वम्" इति । अत्र (भा० १०।८।३५) "यदि सत्यगिरस्तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम्" इत्यन्ता तदीयसरसकृतैव लीला पूर्वमुक्ता । अव्याहतैश्वर्य इत्यादिका तु तल्लीलाशक्तिकृतैव, सा चा श्रीव्रजेश्वर्य्या वात्सल्यपोषिके विस्मय-शङ्के पुष्णाति । (भा० १०।८।३५) "नाहं भक्षितवानम्ब" इति सम्भ्रमेण मिथ्यैव कृष्णवाक्यञ्च सत्यापयति ।

---

"अथोवाच हृषीकेशं नारदः प्रहसन्निव ।
योगमायोदयं वीक्ष्य मानुषीमीयुषो गतिम् ॥" ३८७॥

मनुष्य क्रीड़ा विशिष्ट श्रीकृष्ण के योगमाया प्रभाव को देखकर नारद मानो हँस हँस कर श्रीकृष्ण को कहे थे—

श्रीकृष्ण--स्वयं नरलीलारत थे । श्रीनारद उनकी द्वारका लीला में जो सब अलौकिक लीला दर्शन किये थे, वे सब उनकी लीलाशक्ति के द्वारा उद्भावित थीं, तज्जन्य योग माया का प्रभाव-कहा गया है । उनकी अघटन घटन पटियसी शक्ति योगमाया ही लीला सहाय कारिणी है ।

श्रीकृष्ण की वृन्दावनीय लीला में भी लीलाशक्ति के द्वारा अलौकिक सम्पादन दृष्ट होता है । भा० १०।८।३६ में उक्त है--- "यद्येवं तर्हि व्यादेहीत्युक्तः स भगवान् हरिः ।
व्यादत्ताव्याहतैश्वर्य्यः क्रीड़ामनुजबालकः ॥" ३८८॥

मृद् भक्षण लीलामें श्रीबलदेव प्रभृति बालकोंने श्रीव्रजेश्वरी के निकट अभियोग उपस्थित किया कि-कृष्णने मिट्टी खाई है । श्रीव्रजेश्वरी-तज्जन्य उनको तिरस्कार करने में उद्यत होने पर बालक कृष्णने बोला-मा, मैंने मिट्टी नहीं खाई है । ये सब मिथ्या वादी हैं । यदि तुम मानती हो कि ये सब सत्य वादी हैं, तो मेरा मुख को देखो, भा० १०।८।३५ "यदि सत्यगिरस्तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम्" सुनकर व्रजेश्वरी बलीं यदि ऐसा हो तो तुम मुँह खोलो, व्रजेश्वरी के कथनानुसार जिनका ऐश्वर्य्य कभी भी पराहत नहीं होता है, जो लीलामें नर बालक हैं, वह भगवान् हरि मुख व्यादान किये थे । यशोदाने उस में विश्व दर्शन किया ।

यहाँ यदि उन सब को सत्यवादी मानो तो मेरा मुख तुम्हारे सम्मुख में ही है, तुम देखो । यहाँतक श्रीकृष्ण की स्वाभाविकी लीला वर्णित हुई है । अनन्तर जिनका ऐश्वर्य्य कभी भी पराहत नहीं होता है-यह जो वर्णित है—वह उनकी लीला शक्ति के द्वारा उद्भावित लीला है । वह भी व्रजेश्वरी वात्सल्य पोषक है, एवं विस्मय तथा भय पोषण भी करती है । श्रीकृष्ण भय से व्याकुल होकर कहे थे ।

भा० १०।८।३५ 'नाहं भक्षितवानम्ब" 'मा, मैंने मिट्टी नहीं खाई ' इस प्रकार उन्होंने मिथ्या ही कह दिया है । किन्तु लीला शक्ति ने तो उस कथन को सत्य प्रतिपन्न कर दिया है । आश्चर्य्य यह है— बाहर की वस्तु को मुख के द्वारा उदराभ्यन्तर में लेना ही भोजन है । श्रीकृष्ण, मुख व्यादान करने पर यशोदाने उस

एवं श्रीदामोदर-लीलायां यावत्तस्य बन्धनेच्छा न जातासीत्तावद्रज्जुपरम्पराश्यस्तस्मिन् द्वयङ्गुलाधिकत्वप्रकाशः, तदुक्तम् (भा० १०।८।१५) "तद्दाम" इत्यादिना। यदा तु मातृश्रमेण तदिच्छा जाता, तदा न तत्प्रकाशः, तदुक्तम्—(भा० १०।१।१८) "स्वमातुः स्विन्नगात्रायाः" इत्यादिना। एवं श्रीकृष्णकृपादृष्टि-प्रभावेणैव विषमयमोहात् सखीनां समुद्धरणम्, तदावेशेनैव दावाग्निपाने चिकीर्षितमात्रे स्वयं तन्नाश इत्यादिकं ज्ञेयम्। क्रीड़ामनुजबालक इति क्रीड़या लीलया मनुजबालक-स्थितिं प्राप्तोऽपीत्यर्थः। अन्यत्र च (भा० १०।१६।६८) "क्रीड़ा-मानुषरूपिणः" इति। एवं (भा० १०।१६।६०) "कार्य्यमानुषः" इत्यत्रापि कार्य्यं क्रीड़ैव। तस्मात् साधु व्याख्यातम्—'एवं निगूढ़ात्मगतिः" इत्यादि ॥ श्रीशुकः ॥

---

में विश्व को देखा, इस से प्रतीत होता है कि-विश्व की कोई भी वस्तु उनके बाहर नहीं हैं। कृष्णने मृत्तिका भक्षण किया है--इस प्रकार अभियोग जो रामादि बालकों ने किया था, वह मृत्तिका उनके भीतर में थीं, सुतरां तत्वतः उन्होंने मृत्तिका भक्षण नहीं किया है। तज्जन्य उन्होंने सत्य ही कहा है 'मा, मैंने मिट्टी नहीं खाई' लीला शक्तिने श्रीकृष्ण के वदनमें विश्व दर्शन कराकर इस रीतिसे श्रीकृष्णके वाक्य को सत्य प्रतिपन्न किया है। श्रीमद् भागवत के १०।८।२३--२४ में यह मृद्भक्षण लीला वर्णित है।

श्रीकृष्ण, नरलीला में आविष्ट होने पर भी उनका स्वभाव सिद्ध ऐश्वर्य्य से लीला शक्ति के प्रभाव द्वारा दाम बन्धन लीला में जब तक श्रीकृष्ण की बन्धनेच्छा नहीं हुई, तब तक अनेक रज्जु ग्रन्थित होने पर भी उनके उदर देश में अङ्गुलीद्वय का आधिक्य प्रकाशित हुआ। भा० १०।९।१५ में उक्त है—

"तद् दामबध्य मानस्य स्वार्भकस्य कृतागसः।
द्वयङ्गुलोनमभूत् तेन सन्दधेऽन्यच्च गोपिका ॥"

टीका—द्वयङ्गुलोनं द्वाभ्यामङ्गुलाभ्याम् ऊनमपूर्णम्।

निज बालक को अपराधी मानकर यशोदा जब बन्धन में प्रवृत्त हुई, तब रज्जु दो अङ्गुलि न्यून हुई। अनन्तर उस में रज्जु समूह योग करने पर भी क्रमशः दो अङ्गुल न्यून होने लगी। इस प्रकार बंधने की चेष्टा से व्रजेश्वरी जिस समय परिश्रान्ता हो गईं—उस समय--भा० १०।९।१८ में उक्त है—

"स्वमातुः स्विन्नगात्रायाः विस्रस्तकवरस्रजः।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयासीत् स्वबन्धने ॥"

निज माता का देह धर्म्माक्त हुआ, केश पाशसे पुष्पमाला विगलित होनी लगी-इस प्रकार उनको परिश्रान्त देखकर कृष्ण, कृपापर वश होकर स्वयं बन्धन अङ्गीकार किये थे।

इस प्रकार श्रीकृष्ण की कृपा दृष्टि के प्रभाव से ही कालीय ह्रद के जलपान से मूर्च्छित सखागण का विषमय मोह से उद्धार एवं व्रज रक्षणावेश में श्रीकृष्ण में दावाग्नि भक्षणेच्छा उत्पन्न होने से ही वह विनष्ट हो गया था,--इस प्रकार समझना चाहिये। इस प्रकार भा० १०।१६।६० में उक्त है—

"इत्याकार्य्य वचः प्राह भगवान् कार्य्य मानुषः ॥
नात्रस्थेयं त्वयासर्पसमुद्रं याहि मा चिरम् ॥ भा० १०।१६।६७ में कहा गया है—
'तदैव सामृत जला यमुना निर्विषा भवत्।
अनुग्रहाद् भगवतः क्रीड़ा मानुषरूपिणः ॥"

१५२। अन्यत्र च पूर्वरीत्यैवाह, (भा० १०।३३।१९)—

'-कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्व्रजयोषितः।
रराम भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ॥'' ३८६॥

तादृशोऽपि ताभिः सह रेमे, (भा० ३।१५।४३) ''तस्यारविन्द-नयनस्य'' इत्यादौ ''चकार तेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः'' इतिवत्। तत्र सर्वाभिरेव युगपल्लीलेच्छा यदा जाता, तदैव तावत्प्रकाशा अपि तयैव लीलाशक्त्या घटिता इत्याह—कृत्वेति, लीलया लीलाशक्ति-द्वारैव, न तु स्वद्वारा, तावन्तमात्मानमात्मनः प्रकाशं कृत्वा प्रकटय्य॥ श्रीशुकः॥

१५३। तदेवं माधुर्य्यमय्या लीलाया उत्कर्षो दर्शितः। अस्यां माधुर्य्यमय्याञ्च

---

कृष्ण को क्रीड़ामनुज बालक-एवं कार्य्य मानुष कहा गया है। क्रीड़ा मनुज-क्रीड़ा- लीला, तद् द्वारा नर बालक स्थिति को प्राप्त होने पर भी—आप अव्याहतैश्वर्य्य हैं। अन्यत्र कृष्ण को क्रीड़ा मानुष रूपी कहा गया है। इस प्रकार श्रीकृष्ण को जो कार्य्य मानुष कहा गया है। उस में कार्य्य–क्रीड़ा है। सुतरां निगूढ़ात्म गति पद का जो अर्थ —'तिरोहित पारमैश्वर्य्य' किया गया है, क्रीड़ा मनुज बालक प्रभृति पद प्रयोग हेतु वह व्याख्या जो अत्युत्तम हुई है--इस में सन्देह नहीं है। अर्थात् पहले जो निगूढ़ात्मगति पद का पारमैश्वर्य्य स्थिति का तिरोधान अर्थ किया गया है, श्रीमद् भागवत के अपर श्लोकत्रय में श्रीकृष्ण लीला हेतु नरबालक कहने के कारण वह अर्थ असङ्गत नहीं हुआ। कारण, लीलानुरोध से मनुष्य चेष्टा प्रकाश निबन्धन उनको स्वभाव सिद्ध ऐश्वर्य्य को गोपन करना पड़ा था, तज्जन्य आप निगूढ़ात्म गति हैं।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं—१५१॥

१५२। श्रीमद् भागवत के १०।३३।१९ में वर्णित है—

''कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्व्रजयोषितः।
रराम भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया॥'' ३८६॥

श्रीकृष्ण की माधुर्य्यमयी नरलीला में लीलाशक्ति द्वारा अलौकिक व्यापार सम्पादन रीति से श्रीशुक देव कहे हैं—जितनी व्रजरमणी थीं, भगवान् श्रीकृष्ण, लीला द्वारा अपने को उतने संख्यक करके आत्मा राम होने पर भी उन सब के सहित रमण किये थे।

श्लोक की व्याख्या—तादृश--आत्माराम--होने पर भी व्रजसुन्दरी गण के सहित रमण किये थे। भा० ३।१५।४३ में उक्त है— ''तस्यारविन्द नयनस्य' चकार तेषां संक्षोभमक्षर जुषामपिचित्ततन्वोः''

तस्यारविन्द इत्यादि श्लोक में उक्त है—ब्रह्मानन्द सेविगण के भी चित्त तनु क्षुब्ध हुये थे। यहाँ जिस प्रकार ब्रह्मानन्द सेविगण में क्षोभ उपस्थित होना असम्भव होने पर भी श्रीहरि चरण सम्पर्कित तुलसी का गन्धवाही समीरण के प्रभाव से वह सम्भव हुआ था, उस प्रकार ही यहाँपर भी आत्माराम श्रीकृष्ण का रमण अन्य के सहित असम्भव होने पर भी श्रीव्रजदेवी वृन्द के प्रेम प्रभाव से वह सम्भव हुआ था। रास लीला में सब के सहित एकसाथ रमण करने की जिस समय इच्छा हुई, उस समय में ही जितनी संख्यक गोपी थीं उतने संख्यक श्रीकृष्ण प्रकाश भी लीला शक्ति के द्वारा प्रकटित हुए थे। तज्जन्य कहा गया है-- श्रीकृष्ण,—अपने उतने संख्यक किये थे। वह भी लीला के द्वारा–किन्तु स्वयं के द्वारा नहीं–अपने को उतने संख्यक करने का अर्थ है—निज प्रकाश मूर्त्ति को प्रकट करना।

श्रीशुक कहे थे—१५२।

युगपद्विचित्रलीला-विधानस्य तस्यापि रमणाधिक्यहेतुत्वेन पूर्व्वदर्शित-विलासमय्येव श्रीशुक-देवादीनामपि श्रीशिवब्रह्मादीनामपि परममधुरत्वेन भासते,–पूर्वत्र यथा (भा० १०।१२।११) "इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभुत्या" इत्यादिषु च तादृशत्वेन वर्णनात्, उत्तरत्र (भा० १०।३५।१५) "शक्र-शर्व-परमेष्ठिपुरोगाः" "कश्मलं ययुः" इत्यादिषु तत्रैव मोहश्रवणाच्च ।

अथ क्रीड़ामानुषरूपिणस्तस्यान्या लोकमर्य्यादामयी धर्म्मानुष्ठानलीला तु धर्म्मवीरादि-भक्तानामेव मधुरत्वेन भासते, न तादृशानाम्, यथाह, (भा० १०।६९।४०)—

(१५३) "ब्रह्मन् धर्म्मस्य वक्ताहं कर्त्ता तदनुमोदिता ।
तच्छिक्षयन् लोकमिममास्थितः पुत्र मा खिद ॥"३९०॥

तत्र हि श्रीनारदो नानाक्रीड़ान्तर-दर्शनेन सुखं लब्धवान्, धर्म्मानुष्ठान-दर्शनेन तु खेदम्,

---

१५३ । उक्त रीति से माधुर्य्यमयी लीला का उत्कर्ष प्रदर्शित हुआ । इस माधुर्य्यमयी लीला में जो युगपत् विचित्र लीला का अनुष्ठान करते हैं, उन श्रीकृष्ण में भी विहाराधिक्य का कारण विद्यमान होने से पूर्व दर्शित विल समयी लीला—श्रीशुक श्रीशिव ब्रह्मादि के पक्ष में परम मधुर प्रतीत होती है । रास लीला के पूर्व में अर्थात् भा० १०।१२।११ में उक्त है—

"इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन ।
मायाश्रितानां नरदारकेन साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः ॥

श्लोक समूह में श्रीशुक देव माधुर्य्यमयी लीला का वर्णन परमोपादेय रूप में किये हैं । रास लीला के अनन्तर भा० १०।३५।१५ में "उक्त है—"शक्रशर्व परमेष्ठि पुरोगाः" "कश्मलं ययुः" युगल गीत में "इन्द्र, ब्रह्मा प्रभृति देवगण श्रीकृष्ण की वेणु ध्वनि को सुनकर मोह प्राप्त होते हैं । वर्णित माधुर्य्यमयी लीला में देवेश्वर वृन्द का मोह होने के कारण, वह लीला उन सब को परममधुर बोध होता है, यह प्रतीत होता है ।

लीला मनुष्य रूप धारी श्रीकृष्ण की लोक मर्य्यादा मयी धर्मानुष्ठान लीला, धर्म वीरादि भक्त वृन्द के निकट मधुर प्रतीत होती है, किन्तु शुकदेवादि एकान्ति भक्त के निकट वैसा बोध नहीं होता है ।

भा० १०।६९।४० में उक्त है—

(१५३) "ब्रह्मन् धर्म्मस्य वक्ताहं कर्त्ता तदनुमोदिता ।
तच्छिक्षयन् लोकमिममास्थितः पुत्र मा खिद ॥"३९०॥

श्रीभगवान् नारद को कहे थे—हे ब्रह्मण ! मैं धर्म का वक्ता हूँ, कर्त्ता एवं अनुमोदिता हूँ । लोकों को शिक्षा प्रदान हेतु मैं धर्मानुष्ठान कर रहा हूँ । हे पुत्र' उस में तुम खेद मत करो ।

श्लोक व्याख्या—श्रीनारद, द्वारका में श्रीकृष्ण की अन्य लीला समूह को देखकर सुखी हुये थे । किन्तु धर्मानुष्ठान दर्शन कर खेद युक्त भी हुये थे । तज्जन्य श्रीकृष्ण, हे ब्रह्मन् इत्यादि वाक्य कहे थे ।

श्रीकृष्ण, द्वारका में गृहस्थाश्रम अवलम्बन कर आश्रमोचित समस्त धर्म पालन, समागत ब्राह्मण, तथा एकान्त भक्त नारदकी भी परिचर्य्या करते हैं, यह देखकर नारद क्षुब्ध हुये थे । यह जानकर श्रीकृष्ण उनको उस प्रकार कहे थे । श्रीनारद का क्षोभ होने के कारण उस लीला में एकान्ति भक्त वृन्द की जो रुचि नहीं है-यह बोध होता है । तथापि यह गुण विशेष है-अतएव उद्दीपन विभाव है । धर्म वीरगण को

तत्राह—ब्रह्मन्निति ।। श्रीभगवान्नारदम् ।।

१५४। अथ पूर्ब्बवदेव कनिष्ठज्ञानि-भक्तानामेव मधुरत्वेन भासमानां तदौदासीन्य-लीलामप्याह (भा० ३।३।२२)—

(१५४) "तस्यैवं रममाणस्य संवत्सरगणान् बहून् ।
गृहमेधेषु योगेषु विरागः समजायत ।।" ३८१।।

गृहमेधेषु गार्हस्थ्योचित-धर्म्मानुष्ठानेषु, वैराग्यमौदासीन्यम् ।। श्रीमानुद्धवो विदुरम् ।।

१५५। अथोद्दीपनेषु तदीयद्रव्याणि च परिष्कारास्त्र-वादित्र-स्थान-चिह्न-परिवार-भक्त-तुलसी-निर्म्माल्यादीनि । तत्र परिष्कारा वस्त्रालङ्कार-पुष्पादयः, ते च तदीयास्तत्-स्वरूपभूतत्वेनैव(६१ अनु० भगवत्सन्दर्भे दर्शिताः,) तथापि (भा० ३।२।११) "भूषणभूषणाङ्गम्' इति न्यायेन तत्सौन्दर्य्य-सौरभ्यादि-परिष्क्रियमाणतयैव तं परिष्कुर्वन्ति, न केवल-स्वगुणेन । स च तत्तद्रूपान् तान् स्वशक्तिविलासान् प्राप्य स्वीय-तत्तद्गुणान् विशेषतः प्रकाशयतीति तस्य तत्तदपेक्षापि सिध्यति । अतएव (भा० १०।३२।२२) "पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथ-

---

इस गुण का उद्दीपना से वीररस आस्वादन होता है ।            श्रीभगवान् नारद को कहे थे ।।१५३।।

१५४। धर्मवीरादि भक्त वृन्द के आस्वादनीय रूप में जिस प्रकार श्रीकृष्ण की धर्मानुष्ठान लीला वर्णित हुई है । उस प्रकार कनिष्ठ ज्ञानी भक्त वृन्द का ही उपादेय रूप में प्रकाशमाना गार्हस्थ्य धर्म्म में औदासीन्य लीला का वर्णन श्रीउद्धव किये हैं—

भा० ३।३।२२          (१५४) "तस्यैवं रममाणस्य संवत्सरगणान् बहून् ।
गृहमेधेषु योगेषु विरागः समजायत ।।" ३८१।।

श्रीकृष्ण, बहु वत्सर पर्य्यन्त गार्हस्थ्य सुख भोग करने लगे थे। अनन्तर गृहमेध योग में उनका वैराग्य उपस्थित हुआ ।

श्लोकार्थ—गृहमेधे—गार्हस्थ्योचित धर्मानुष्ठान समूह में वैराग्य-औदासीन्य।
श्रीमान् उद्धव विदुर को कहे थे ।।१५४।।

१५५। अनन्तर उद्दीपन समूह के मध्य में—तदीय द्रव्य—परिष्कार, अस्त्र, वादित्र, स्थान, चिह्न, परिकार, भक्त, तुलसी, निर्म्मालल्य तुलसी प्रभृति हैं। तन्मध्ये—परिष्कार—भूषण-वस्त्र, अलङ्कार, पुष्प प्रभृति हैं। वस्त्रालङ्करादि श्रीकृष्ण के स्वरूप भूत हैं प्राकृत वस्तु नहीं है। इस का प्रतिपादन भगवतसन्दर्भ के ७२ अनुच्छेद में हुआ है। तथापि भा० ३।२।१२ में उक्त "भूषण भूषणाङ्गम्" अङ्ग भूषण के भूषण है। इस रीति से श्रीकृष्ण के सौन्दर्य्य सौरभ्यादि द्वारा भूषित होकर ही वस्त्रालङ्कारादि उनको भूषित करते हैं। केवल निज गुण से नहीं। और श्रीकृष्ण, स्वरूप शक्ति के विलासभूत वस्त्रालङ्कार पुष्पादि रूप परिष्कार समूह को प्राप्त कर स्वीय सौन्दर्य्य सौरभ्यादि रूप गुण समूह को विशेष रूप से प्रकाश करते हैं। इस से उनको भी वस्त्रादि की अपेक्षा है, यह प्रति पादित होता है। अतएव भा० १०।३२।२ में "पीताम्बर धरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः" पीतवसन धारी वनमाला विभूषित साक्षान्मन्मथमन्मथ श्रीकृष्ण का जो असमोर्द्ध्व सौन्दर्य्य प्रदर्शित हुआ है। उनका एवं परिष्कार रूप में वर्णित पीतवसन एवं वनमाला का

मन्मथः" इत्यादावभिव्यक्तासमोर्द्ध्वसौन्दर्य्यस्यापि परिष्कारत्वेन वर्णितयोः स्रक्-पीताम्बरयोरपि तादृशत्वं गम्यते,—(भा० १०।४१।३५) "ईदृशान्येव वासांसि नित्यं गिरिवनेचराः" इति रजक-वाक्यं त्वासुरदृष्ट्या, श्रीविष्णुपुराणे लौकिकदृष्ट्यापि "सुवर्णाञ्जनचूर्णाभ्यां तौ तदा भूषिताम्बरौ" इत्युक्तत्वावगमात्, तथा मूले च-(भा० १०।२३।२२) "श्यामं हिरण्यपरिधिम्" इत्यादि। आस्तां तदपि, कालिय-वरुण-गोविन्दाभिषेककर्त्तृ-महेन्द्राद्युपहृतासंख्य-वस्त्रादीनां तद्दिने चावश्यं विचित्रपरिहितानां तेनान्यथा प्रतीयमानत्वमेव जायते। ततः कंसाहृत-वाससां स्वीकारश्च तदीयस्वरूपशक्त्यैकप्रादुर्भावरूपाणां नरकाहृत-कन्यानामिवेति ज्ञेयम्। अथास्त्राणि यष्टि-चक्रादीनि, वादित्राणि वेणु-शङ्खादीनि, स्थानानि वृन्दावन-मथुरादीनि, चिह्नानि पदाङ्कादीनि, परिवारा गोप-यादवाद्याः, निर्म्माल्यानि गोपीचन्दनादीनि यथायथं तत्र तत्र ज्ञेयानि। अथोद्दीपनेषु कालाश्च तदीय-जन्माष्टम्यादयः।

---

विशेष शोभाकरत्व सूचित हुआ है।

श्रीकृष्ण बलराम मथुरा में प्रवेश कर देखे थे–एक रजक उत्तम वस्त्र ले कर जा रहा है। उन्होंने उस को कहा—वस्त्र दो, इस से रजक क्रुद्ध होकर कहा भा० १०।४१।३५ "ईदृशान्येव वासांसि नित्यं गिरिवनेचराः" तुम सब पर्वत एवं वन में भ्रमण करते रहते हों। इस प्रकार वसन कभी भी क्या पहने हों' रजक की इस उक्ति से आपाततः बोध होता है कि— श्रीकृष्ण बलराम के परिधान में जो वस्त्र थें वे रजक के निकट जो वस्त्र थे उस से निकृष्ट थे वास्तविक वैसा नहीं, वह रजक असुर प्रकृति का था, उसकी दृष्टि से दिव्य वसन समूह भी निकृष्ट प्रतिभात हुये थे। विष्णु पुराण की वर्णना से ज्ञात होता है कि--लौकिक दृष्टि से भी— सुवर्णाञ्जनचूर्णाभ्यां तौ तदा भूषिताम्बरौ" श्रीकृष्ण बलराम उस समय सुवर्ण एवं अञ्जन चूर्ण द्वारा भूषित वस्त्र से शोभित थे—इससे उनके वसनादि का उत्तमत्व प्रतीत होता है। श्रीमद् भागवत १०।४१।३५ में उक्त है—"श्यामं हिरण्य परिधिम्" श्यामवर्ण कृष्ण स्वर्णवर्ण वसन परिधान किये थे। इत्यादि। इसमें श्रीकृष्णके वसनादि का उत्तमत्व वर्णित हुआ है। जो भी हो,कालीय वरुण एवं गोविन्द रूप में अभिषेक कर्त्ता इन्द्रादि श्रीकृष्ण को असंख्य वस्त्रादि उपहार प्रदान किये थे। रजक के निकट जिस दिन वसन माँगे थे–उस दिन राजधानी में गमन हेतु पूर्वोक्त विचित्र वसन भूषणों से सुसज्जित थे, तज्जन्य रजक के निकट वस्त्र माँगना निज उत्कृष्ट वस्त्र का अभाव निबन्धन नहीं। उसका अन्य उद्देश्य भी प्रतीत होता है। उस में भी श्रीमद् भागवत के वर्णनानुसार रजक के वस्त्र समूह कंस संगृहीत थे। अतएव नरकासुर जिस प्रकार श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति के द्वारा प्रादुर्भूत रूपा षोड़श सहस्र कन्या आहरण किया था, उस प्रकार कंस ने भी श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति की अभिव्यक्ति विशेष रूप वस्त्र समूह का आहरण किया था। इस प्रकार समझना चाहिये। अर्थात् वे सब वस्त्र श्रीकृष्ण के स्वरूप भूत होने के कारण रजक के निकट से श्रीकृष्ण ग्रहण किये थे। एतत् पर्य्यन्त उद्दीपन द्रव्य परिष्कार का विवरण प्रस्तुत हुआ। अनन्तर अस्त्र-यष्टि–वृन्दावनीय लीला में गोचारणार्थ, चक्र- द्वारका लीला में असुर संहारार्थ थे।

वादित्र--वाद्य यन्त्र, वृन्दावन में वेणु, द्वारका में शङ्ख प्रभृति। स्थान--वृन्दावन मथुरा प्रभृति। चिह्न–पदचिह्न प्रभृति। परिवार---गोप प्रभृति। निर्म्माल्य–गोपी चन्दन प्रभृति। यह सब यथा योग्य विभिन्न रसों क उद्दीपक हैं, यह जानना होगा। कालरूप उद्दीपन--श्रीकृष्ण के जन्माष्टमी प्रभृति हैं।

श्रीकृष्ण के रूप गुणादि जिस प्रकार रस को उद्दीप्त करते हैं, उस प्रकार भक्त की निज योग्यता भी

तथा भक्तस्य स्वयोग्यता च तदुद्दीपनत्वेन दृश्यते, यथा (भा० १०।४२।६) —

(१५५) "ततो रूप-गुणौदार्य्य-सम्पन्ना प्राह केशवम् ।
उत्तरीयान्तमाकृष्य सस्मयं जातहृच्छया ॥"३६२॥

स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

१५६ । तथा तद्रस विशेषेषु श्रीभगवदङ्गविशेषा अप्युद्दीपन-वैशिष्टंच भजन्ते, यथा (भा० ३।११।२७) —

(१५६) "श्रियो निवासो यस्योरः पानपात्रं मुखं दृशाम् ।
बाहवो लोकपालानां सारङ्गानां पदाम्बुजम् ॥"३६३॥

श्रियः प्रेयस्याः, याः सर्वेषामेव प्रिय वर्गाणां दृशश्चक्षूंषि, तासाम्, लोकपालानां पाल्यानाम्,

---

रस का उद्दीपन विभाव होती है । जिस प्रकार भा० १०।४२।६ में उक्त है—

(१५५) "ततो रूप-गुणौदार्य्य-सम्पन्ना प्राह केशवम् ।
उत्तरीयान्तमाकृष्य सस्मयं जातहृच्छया ॥"३६२॥

कुब्जा रूप, गुण, औदार्य्य सम्पन्न होने के कारण कामातुर हो गई । ईषद्धास्य के सहित श्रीकृष्ण के उत्तरीय आकर्षण कर उनको कही थी ।
प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥१५५॥

१५६ । श्रीभगवान् के गुणादि के समान विशेष विशेष रससें उनके अङ्ग विशेष भी उद्दीपन वैशिष्ट्य को प्राप्त करता है । भा० ३।११।२७ में उक्त है—

(१५६) "श्रियो निवासो यस्योरः पानपात्रं मुखं दृशाम् ।
बाहवो लोकपालानां सारङ्गाणां पदाम्बुजम् ॥"३६३॥

टीका—एतदेवाभिनयेनाह श्रियो लक्ष्म्याः यस्य उरः वक्षो निवासः । यस्य मुखं सर्वप्राणिनां दृशां सौन्दर्य्यामृत पानाय पात्रम् । यस्य बाहवो लोक पालानां निवासः । सारं गायन्तीति सारङ्गा भक्तास्तेषां यस्य पदाम्बुजं निवासः, तं निरीक्षमाणानां दृश इति पूर्वेणान्वयः ।

श्रीकृष्ण के वक्षः श्रीका, सौन्दर्य्यामृत पूर्णमुख नयन समूह का, बाहु समूह लोकपाल वृन्द का, पदाम्बुज सारङ्ग गण का निवास स्थल है ।

अर्थात् श्रीकृष्ण का वक्षः स्थल दर्शन करने से प्रेयसी वृन्द की मधुर रति उद्दीप्त होती है, तज्जन्य यह वक्षः उनका आश्रय है । उक्त श्लोक में उक्त है–श्रीकृष्ण का मुख नयन समूह का पान पात्र है । इस का अर्थ यह है—श्रीमुख, सौन्दर्य्यामृत पूर्ण पात्र विशेष के समान है । अर्थात् उस में समस्त सौन्दर्य्य निहित है, समस्त प्रियवर्ग के नयन उस से सौन्दर्य्यामृत पान करते हैं । उनका श्रीमुख दर्शन करने से तदीय प्रिय वर्ग के मध्य में जो जिस रति के आश्रय हैं, उनकी उस रति उद्दीप्त होती है । प्रिय वर्ग के नयन समूह श्रीमुख के सौन्दर्य्यामृत पान में विह्वल होने के कारण श्रीमुख नयन समूह का आश्रय है । श्रीकृष्ण का बाहु--आश्रित गण का रक्षण कार्य्य में परम समर्थ हैं, वे अनन्त बलपूर्ण हैं । पाल्यगण–उन बाहु समूह का दर्शन करने से उनकी पाल्य जनोचित दास्यरति उद्दीप्त होती है । एतज्जन्य बाहु समूह उनका आश्रय हैं ।

सारङ्ग शब्द से भ्रमर एवं भक्त-उभय का बोध होता है, श्रीकृष्ण के चरण को कमल कहने से--भ्रमर जिस प्रकार कमल मधुपान में मत्त रहता है, उसी प्रकार भक्त गण श्रीकृष्ण के चरण माधुर्य्य पान

सारङ्गाणां सर्वेषामेव भक्तानाम्, निवास आश्रयः,-यथास्वं भावोद्दीपनत्वात् ॥ श्रीसूतः ॥

१५७। क्वचिद्विरोधिनोऽपि प्रतियोगिमुखेन तदुद्दीपना भवन्ति,-सूर्य्यादितापा इव जलाभिलाषस्य, यथा (भा० १०।५३।२०-२१) —

(१५७) "श्रुत्वैतद्भगवान् रामो विपक्षीय-नृपोद्यमम्।
कृष्णञ्चैकं गतं हर्त्तुं कन्यां कलहशङ्कितः ॥३६४॥
बलेन महता सार्द्धं भ्रातृस्नेह-परिप्लुतः" इत्यादि।

एवं वात्सल्यादौ श्रीकृष्णस्य धूलि-पङ्क-क्रीड़ादिकृत-मालिन्यादयोऽपि ज्ञेयाः, कान्तभावादौ वृद्धादि-प्रातिकूल्यादयोऽपि यदा च ते भयानकादि गौणरससप्तकं जनयन्ति, तदापि पञ्चविध-मुख्यप्रीतिरस-पोषकतामेव प्रपद्यन्ते, यथोक्तं भक्तिरसामृतसिन्धौ (४।७।१४)-

"अमी पञ्चैव शान्ताद्या हरिर्भक्तिरसा मताः। एषु हासादयः प्रायो बिभ्रति व्यभिचारिताम्।"३६५। इति श्रीशुकः ॥

---

में विह्वल रहते हैं, यह व्यक्त हुआ है। श्रीचरण कमल-दास भक्त गण की रति का उद्दीपक होने के कारण वह उन दास वृन्द का आश्रय है। श्रीसूत कहे थे—१५६॥

१५७। सूर्य्यादि ताप जिस प्रकार जलाभिलाष का हेतु होता है-उस प्रकार स्थल विशेष में विरोधि गण भी प्रति कूलता द्वारा रस का उद्दीपन विभाव होते हैं। भा० १०।५३।२०-२१ में उक्त है—

(१५७) "श्रुत्वैतद्भगवान् रामो विपक्षीय-नृपोद्यमम्।
कृष्णञ्चैकं गतं हर्त्तुं कन्यां कलहशङ्कितः ॥३६४॥
बलेन महता सार्द्धं भ्रातृस्नेह--परिप्लुतः" इत्यादि।

भगवान् राम—विपक्षीय राजगणका यह उद्यम एवं कन्या हरणार्थ कृष्ण का एकाकी गमन को सुनकर भ्रातृ स्नेह परिप्लुत होकर महाबल के सहित सत्वर कुण्डिन नगर में उपस्थित हुये थे। यहाँ विपक्षीय राजगण की प्रति कूलता द्वारा बलदेव का वात्सल्य उद्दीप्त हुआ है।

इस प्रकार वात्सल्यादि रस में श्रीकृष्ण की धूलि कर्दमादि में क्रीड़ा हेतु मालिन्यादि भी उद्दीपन होते हैं। कान्त भावादि में वृद्धादि के प्रातिकूल्यादि उद्दीपन होते हैं। उस समय मालिन्य प्रातिकूल्य प्रभृति भयानकादि गौण सप्तरस को उत्पन्न करते हैं, उस समय में भी वे सब "पञ्चविध मुख्यरस की पोषकता ही करते हैं। भक्ति रसामृतसिन्धु के ४।७।१४ में उक्त है—

"अमी पञ्चैव शान्ताद्या हरेर्भक्तिरसा मताः।
एषु हासादयः प्रायो बिभ्रति व्यभिचारिताम् ॥"३६५॥

शान्तादि ये पाँच ही हरि भक्ति रस हैं, ये सब हास्यादि प्रायकर व्यभिचारिता को प्राप्त करते हैं।

अभिप्राय यह है— शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर ये पाँच मुख्य भक्ति रस हैं। और हास्य, वीर, अद्भुत, करुण, रौद्र, भयानक, एवं बीभत्स-यह सात गौण रस हैं।

पूर्व ग्रन्थ में उक्त है— स्थायिभावरस रूप में परिणत होता है। द्वादश रस के द्वादश स्थायिभाव होते हैं। जिस समय किसी गौण रस किसी मुख्यरस के सहित मिलित होता है, उस समय वह गौण रस,

१५८। तदेवमुद्दीपना उद्दिष्टाः, एषु च श्रीवृन्दावनसम्बन्धिनस्तु प्रकृष्टाः। अहो यत्र सर्वेषामेव परमप्रीत्येकास्पदस्य श्रीकृष्णस्यापि परमप्रीत्यास्पदत्वं श्रूयते,–(भा० १०।११।१६) "वृन्दावनं गोवर्द्धनम्" इत्यादौ, श्लाघितञ्च स्वयमेव,–(भा० १०।१५।५) "अहो अमी देववरामरार्च्चितम्" इत्यादिभिः, तथा तदीयपरमभक्तैश्च (भा० १०।१४।३४) "तद्भूरिभाग्यमिह जन्म" इत्यादिना, (भा० १०।४७।६१) "आसामहो चरणरेणुजुषाम्" इत्यादिना, (भा० १०।२१।१०) "वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्त्तिम्" इत्यादिना च। अतएव श्रीकृष्णस्यापि तत्रस्थाः

---

स्थायी भाव विशिष्ट होने पर भी वह मुख्यरस का व्यभिचारि भाव रूप में परिणत होता है। जिस प्रकार जिस समय कालीय नाग श्रीकृष्ण को वेष्टन किया था, उस समय श्रीकृष्ण-कालीय ह्रद में निश्चेष्ट प्राय हो गये थे, उस को देखकर व्रज राज दम्पति का करुणरस उद्रिक्त होने पर भी उस के द्वारा वात्सल्य रस पुष्ट हुआ था। यद्यपि कारुण्य, एक स्थायि भाव है, तथापि उक्त स्थल में वह सञ्चार भाव का कार्य्य करके स्थायि भाव वात्सल्य को वर्द्धित किया था। उस से वात्सल्य रस ही उच्छलित हुआ था। कारण व्यभिचार भाव का कार्य्य है—

"सञ्चारयन्ति भावस्यगतिं 'सञ्चारिणोऽपि ते।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति स्थायिन्यमृतवारिधौ॥
ऊर्म्मिवद् वर्द्धयन्त्येनं यान्ति तद्रूपताञ्चते॥" भक्तिरसामृतसिन्धु दक्षिण-३।२

व्यभिचारि भाव समूह स्थायिभाव की गति को सञ्चारित करते हैं। एवं स्थायिभाव रूप अमृत सागर में मग्न होकर तरङ्ग के समान स्थायिभाव को वर्द्धित करते हैं, एतज्जन्य व्यभिचारिभाव समूह स्थायिभावता को प्राप्त होते हैं। श्रीशुक कहे थे॥१५७॥

१५८। उद्दीपन विभाव समूह का विवरण लिखित हुआ। इन सब के मध्य में श्रीवृन्दावन सम्बन्धीय उद्दीपन समूह ही उत्तम हैं। जिस में सबके एकमात्र परम प्रीत्यास्पद श्रीकृष्ण की भी निरतिशय प्रीति है। भा० १०।११।१६ में उक्त है—" वृन्दावनं गोवर्द्धनं यमुना पुलिनानि च।
वीक्ष्यासीदुत्तमाप्रीतिः राममाधवयोर्नृप॥"

श्रीशुकदेव परीक्षित् महाराज को कहे हैं—हे राजन्! वृन्दावन, गोवर्द्धन एवं यमुना पुलिन समूह को देखकर कृष्ण राम को परम सन्तोष हुआ था। केवल वही नहीं, श्रीकृष्ण स्वयं ही प्रशंसा करते हुये भा० १०।१५।५ में कहे हैं— "अहो अमी देववरामरार्च्चितम् पादाम्बुजं ते सुमनः फलार्हणम्।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मन स्तमोऽपहत्यै तरु जन्म यत् कृतम्॥"

श्रीकृष्ण-बलदेव को कहे हैं—हे देववर! जिन्होंने तमोनाश हेतु तरुजन्म प्रकट किया है, उस वृन्दावनस्थ वृक्ष समूह फुल फल उपहार प्रदान कर शिखा समूह द्वारा अमरार्च्चित आप के चरण कमल को प्रणाम कर रहे हैं। उस प्रकार उनके परम भक्त गण भी प्रशंसा किये हैं—परम भक्त श्रीब्रह्मा भा० १०।१४।३४ में कहे हैं—

"तद्भूरिभाग्यमिहजन्म किमप्यटव्यां यद् गोकुलेऽपिकतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्॥"

हे भगवन्! मेरा इस परमेष्ठि जन्म में भी अपने को अधन्य मानता हूँ। वही दिन निज जीवन को कृतार्थ मानूँगा, जिस दिन तुम्हारे इस गोकुल के गभीर अरण्य में जिस किसी प्रकार तृण गुल्मादि जन्म लाभ करके जिस किसी व्रजवासी की चरण रज से अभिषिक्त हो सकूँगा। भा० १०।४७।६१ में उद्धवने भी

प्रकाशा लीलाश्च परमवरीयांसः, यथा त्रैलोक्यसम्मोहनतन्त्रे तदीय- श्रीमदष्टादशाक्षरप्रस्तावे-

"सन्ति तस्य महाभागा अवतारा: सहस्रशः। तेषां मध्येऽवताराणां बालत्वमतिदुर्लभम् ।।"३९६।। इति,

बाल्यञ्च षोड़शवर्षपर्य्यन्तमिति प्रसिद्धम्, तथा च हरिलीला टीकायामुदाहृता स्मृतिः—

"गर्भस्थसदृशो ज्ञेय आष्ठमाद्वत्सराच्छिशुः। बालश्चाषोड़शाद्वर्षात् पौगण्डश्चेति प्रोच्यते ।।"३९७।।

अन्यत्र च श्लाघितम् (भा० १०।८।४६-४७)—

"नन्दः किमकरोद्ब्रह्मन् श्रेय एवं महोदयम् ।
यशोदा वा महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः ।।३९८।।
पितरौ नान्वविन्देतां कृष्णोदारार्भकेहितम् ।
गायन्त्यद्यापि कवयो यल्लोक-शमलापहम् ।।"३९९।। इत्यादिना ।

---

कहा है— "आसामहो चरणरेणु जुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्य्यपथञ्च हित्वा भेजुर्मुकुन्द पदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ।।"

अहो ! वृन्दावन में जो सब गुल्मलता, ओषधि व्रजसुन्दरी वृन्दकी चरणरेणु की सेवा करती हैं-अर्थात् मस्तक में वहन करतीहैं, मैं जैसे उनस बों के मध्यमें कोई एक हो सकूँ, उस व्रजसुन्दरी गण दुस्त्यज स्वजन आर्य्य पथ अर्थात् शास्त्र एवं सदाचार का त्याग करके श्रुति वृन्दके अन्वेषणीय मुकुन्द पदवी का भजन करती हैं। भा० १०।११।१० श्रीव्रजसुन्दरी वृन्द ने 'वृन्दावनं सखिभुवो वितनोति कीर्त्तिम्" श्लोक में प्रशंसा की है। अतएव श्रीकृष्ण के श्रीवृन्दावनस्थ प्रकाश समूह एवं लीला समूह परम श्रेष्ठ हैं। त्रैलोक्य सम्मोहन तन्त्र में श्रीकृष्ण श्रीमदष्टादशाक्षर मन्त्र प्रस्ताव में कथित है--

"सन्ति तस्य महाभागा अवतारा: सहस्रशः।
तेषां मध्येऽवताराणां बालत्वमतिदुर्लभम् ।।"३९६।।

हे महाभागवत गण ! श्रीकृष्ण के सहस्र सहस्र अवतार हैं—उन अवतार समूह के मध्य में बालत्व अति दुर्लभ हैं। षोड़श वर्ष पर्य्यन्त बालत्व की प्रसिद्धि है। हरि लीला टीका में उदाहृत स्मृति वचन में भी उस प्रकार कथित है—

"गर्भस्थसदृशो ज्ञेय आष्टमाद्वत्सराच्छिशुः।
बालश्चाषोड़शाद्वर्षात् पौगण्डश्चेति प्रोच्यते ।।३९७।।

अष्टवर्ष पर्य्यन्त शिशु, उसको गर्भस्थ के समान जानना चाहिये। अर्थात् भक्ष्याभक्ष्य वाच्य अवाच्य प्रभृति विचार में ही शिशु को गर्भस्थ के समान जानना चाहिये । षोड़श वर्ष पर्य्यन्त बाल्य है, इस को पौगण्ड भी कहते हैं। अन्यत्र बाल्य भी प्रशंसित हुआ है— भा० १०।८।४६--४७ में उक्त है—

"नन्दः किमकरोद्ब्रह्मन् श्रेय एवं महोदयम् ।
यशोदा वा महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः ।।३९८।।
पितरौ नान्वविन्देतां कृष्णोदारार्भकेहितम् ।
गायन्त्यद्यापि कवयो यल्लोक--शमलापहम् ।।"३९९।।

परीक्षित् महाराज—श्रीशुकदेव को कहे थे— हे ब्रह्मन् ! नन्द परम शुभ जनक कौन कार्य्य किये थे ? और महाभाग्यवती यशोदाने भी कौन शुभानुष्ठान किया ? श्रीकृष्णने जिनका स्तनपान किया । श्रीकृष्ण के माता पिता देवकी वसुदेव जिस उदार बाल्य लीला का आस्वादन करने में असमर्थ हैं । जगत् पवित्र

अतएवैकादशे सर्व-श्रीकृष्णचरित-कथनान्ते सामान्यतः श्रीकृष्णचरितस्य भक्त्युद्दीपनत्वमुक्त्वा वैशिष्ट्यविवक्षया बाल्यचरितस्य पृथगुक्तिः, (भा० ११।३१।२८)

"इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार-
वीर्य्याणि बालचरितानि च शन्तमानि ।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन् मनुष्यो
भक्तिं जनः परमहंस-गतौ लभेत ॥"४०० इति ।

सोऽयं च तत्प्रकाशलीलानामुत्कर्षो बहुविधः, ऐश्वर्य्यगतस्तावत् सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैक-रसमूर्त्ति-ब्रह्माण्डकोटीश्वर-दर्शनादौ, कारुण्यगतश्च पूतनायां अपि साक्षान्मातृगतिदाने, माधुर्य्यगतस्तु (भा० १०।८।२२) "तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ" इत्यादौ, (भा० १०।८।२९) "वत्सान् मुञ्चन् क्वचिदसमये" इत्यादौ, (भा० १०।११।७) "गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यत्" इत्यादौ, (भा० १०।११।३९) "क्वचिद्वादयतो वेणुम्" इत्यादौ, (भा० १०।१२।१) "क्वचिद्वनाशाय मनो दधद्व्रजात्" इत्यादौ, (भा० १०।१५।१०) "क्वचिद्-गायति गायत्सु" इत्यादौ,

---

कारक जो बाल्य चरित्र का कीर्त्तन कविगण-महाविज्ञ ब्रह्मादि करते हैं। व्रजराज व्रजेश्वरीने उस लीलाका सम्यक् आस्वादन किया था ।

अतएव भागवत के एकादश स्कन्ध में समस्त कृष्ण चरित वर्णन के पश्चात् सामान्य रूप में श्रीकृष्ण चरित का भक्त्युद्दीपनत्व कीर्त्तन करके वैशिष्ट्य वर्णनाभिप्राय से बाल्य चरित्र का पृथक् उल्लेख किये हैं। भा० ११।३१।२८ में

"इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार-वीर्य्याणि बालचरितानि च शन्तमानि ।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन् मनुष्यो भक्तिं जनः परमहंस-गतौ लभेत ॥"४००॥

इस प्रकार भगवान् श्रीहरि के मनोहर अवतार, वीर्य्य समूह एवं परम मङ्गल बाल चरित्र--जिस का वर्णन श्रीमद् भागवत एवं अन्यान्य पुराणों में है, उस का कीर्त्तन करके मनुष्य परम हंसगति श्रीकृष्ण में उत्तमा भक्ति लाभ करता है।

उस वृन्दावनीय प्रकाश एवं लीला का उत्कर्ष अनेक प्रकार हैं। ऐश्वर्य्य गत प्रकाश एवं लीला का उत्कर्ष - सत्य ज्ञानानन्तानन्द मात्रैक रसमूर्त्ति ब्रह्माण्ड कोटिदर्शन प्रभृति में वर्णित है। अर्थात् ब्रह्मा ने-इस प्रकार दर्शन किया था, इस का वर्णन भा० १०।१३ अध्याय में है। कारुण्य गत प्रकाश एवं लीला का उत्कर्ष-सूचना को साक्षात् मातृ गति प्रदानमें सुव्यक्त हुआ है। माधुर्य्य गत प्रकाश एवं लीलाका उत्कर्ष का वर्णन भा० १०।८।२२ में है, "तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ" श्रीकृष्ण बलराम उभय ही निज निज चरण युगल को आकर्षण करके कुटिल गति से गमन करते थे—इत्यादि। भा० १०।८।२९ में "वत्सान् मुञ्चन् क्वचिदसमये" व्रजेश्वरी के प्रति गोपी गणों की उक्ति है—श्रीकृष्ण, असमय में वत्स समूह को मोचन कर देता है--इत्यादि भा० १०।११।७ में उक्त है "गोपिभिः स्तोभितोऽनृत्यत्" गोपीगण कर्त्तृक प्रलुब्ध भगवान् नृत्य किये थे। इत्यादि। भा० १०।११।३९ में उक्त है "क्वचिद्वादयतो वेणुम्" कभी तो वेणु वादन करते थे। इत्यादि भा० १०।१२।१ "क्वचिद्वनाशाय मनो दधद्व्रजात्" किसी समय श्रीकृष्ण वन भोजनाभिलाषी होकर व्रज से बहिर्गत हुये थे। इत्यादि। भा० १०।१५।१० में "क्वचित् गायति गायत्सु"

(भा० १०।१५।४२) "तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हम्" इत्यादौ, (भा० १०।१८।१०) "कृष्णस्य नृत्यतः केचित्" इत्यादौ, (भा० १०।२०।२६) "धेनवो मन्दगामिन्यः" इत्यादौ, (भा० १०।२१।७) "अक्षण्वतां फलम्" इत्यादौ, (भा० १०।२३।२२) "श्यामं हिरण्यपरिधिम्" इत्यादौ, (भा० १०।२९।१) "भगवानपि ता रात्रीः" इत्यादौ, (भा० १०।३५।२) "वामबाहुकृतवामकपोलः" इत्यादौ च। किं बहुना ? सर्वत्रैव सहृदयैः सर्व एवावगन्तव्यः।

अथानुभावाश्चित्तस्थ-भावानामवबोधकाः, ते द्विविधाः—उद्भास्वराख्याः सात्त्विकाख्याश्च। तत्र भावजा अपि बहिश्चेष्टाप्रायसाध्या उद्भास्वराः, ते चोक्ताः (भ०र०सि० २।२।२)

"नृत्यं विलुठितं गानं क्रोशनं तनुमोटनम्। हुङ्कारो जृम्भणं श्वासभूमा लोकानपेक्षिता।
लालास्रवोऽट्टहासश्च घूर्णा-हिक्कादयोऽपि च॥" ४०१। इति।

अथ सात्त्विका अन्तर्विकारैकजन्याः। यत्रान्तर्विकारोऽपि तदंश इति भावत्वमपि तेषां मन्यन्ते,

---

इत्यादि। कहीं मदमत्त भ्रमर समूह गान करने से श्रीकृष्ण भी गान करते थे। भा० १०।१५।४२ "तं गोरजश्छुरित कुन्तलबद्धबर्हम्" गोधूलि द्वारा शोभित केश पाश इत्यादि। भा० १०।१८।१० "कृष्णस्य नृत्यतः केचित्" कृष्ण के नृत्य में कोई गान करता था, इत्यादि। भा० १०।२०।२६ "धेनवो मन्दगामिन्यः" श्रीकृष्ण कर्त्तृक आहूत होकर धेनुगण मन्द गामिनी हुई थीं इत्यादि। भा० १०।२१।७ "अक्षण्वतां फलम्" नयन धारी व्यक्ति गण का यही फल है। भा० १०।२३।२२ "श्यामं हिरण्य परिधिम्" श्याम वर्ण कृष्ण पीत वसन परिधान किये थे। भा० १०।२९।१ "भगवानपि ता रात्रीः" इत्यादि। भगवान् वे सब रजनी को शरत् कालीन रजनी शरत् कालीन मल्लिका से प्रस्फुटित देखकर इत्यादि। भा० १०।२९।१ "भगवानपि ताः रात्रीः" भगवान् भी उन रात्री समूह को देखकर भा० १०।३५।२ "वाम बाहुकृतवामकपोलः" बाहुमूल में वाम कपोल रख कर। इत्यादि। अधिक कहने का प्रयोजन ही क्या है ? सहृदय व्यक्तिगण समस्त लीला में ही श्रीकृष्ण का प्रकाश एवं लीला समूह का उत्कर्ष को जान सकते हैं॥

## अनुभाव—

अनन्तर अनुभाव समूह का कथन हो रहा है। भक्ति रसामृतसिन्धु के २।१ में उक्त है—

"अनुभावस्तु चित्तस्थ भावानामवबोधकाः।
ते वहिर्विक्रिया प्रायाः प्रोक्ता उद्भास्वराख्यया॥"

अनुभाव भाव समूह को ज्ञापन करता है। वे द्विविध हैं। उद् भास्वर एवं सात्त्विक। उद्भास्वर नामक अनुभाव समूह भाव सम्भूत होने से भी वहिश्चेष्टा प्राय साध्य हैं, भक्ति रसामृत सिन्धु में २।२।२ में उसका वर्णन है—

"नृत्यं विलुठितं गानं क्रोशनं तनुमोटनम्। हुङ्कारो जृम्भणं श्वासभूमा लोकानपेक्षिता।
लालास्रवोऽट्टहासश्च घूर्णा-हिक्कादयोऽपि च॥" ४०१॥

नृत्य बिलुठन, गान, क्रोशन, (चीत्कार,) तनुमोटन, हुङ्कार, जृम्भण, दीर्घश्वास, लोकापेक्षा त्याग, लालास्राव, अट्टहास, घूर्णा, हिक्का प्रभृति।

सात्त्विक समूह केवल अन्तर्विकार से समुत्पन्न होते हैं, जिस सात्त्विक विकार समूह में अन्तर्विकार एवं अनुभाव के अंश विद्यमान है। इस से उन सब का भावत्व मानना आवश्यक है।

तत्र (भ० र० सि०)—

"ते स्तम्भ-स्वेद-रोमाञ्चाः स्वरभेदोऽथ वेपथुः । वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥"४०२॥

**एषु प्रलयो नष्टचेष्टता, भगवत्प्रीतिहेतुकप्रलये च बहिश्चेष्टानाशः, न त्वन्तर्भगवत्-स्फूर्त्यादेरपि, यथोक्तं श्रीमदुद्धवमुद्दिश्य (भा० ३।२।४)**

**"स मुहूर्त्तमभूत्तूष्णीं कृष्णाङ्घ्रिसुधया भृशम् ।**
**तीव्रेण भक्तियोगेन निमग्नः साधु निर्वृतः ॥"४०३॥**

**इत्यादिना,** (भा० २।३।६) **"शनकैर्भगवल्लोकान्नृलोकं पुनरागतः" इत्यन्तेन, यथा च गारुड़े—**

"जाग्रत् स्वप्नसुषुप्तेषु योगस्थस्य च योगिनः । या काचिन्मनसो वृत्तिः सा भवेदच्युताश्रया ॥४०४॥

---

साराथ यह है—जिस चिह्न के द्वारा रति का आविर्भाव ज्ञात होता है, उसको अनुभाव कहते हैं। कृष्ण सम्बन्धि वस्तु समूह में मन संयोग होने से अनुभाव समूह व्यक्त होते हैं। रति का आश्रय-भक्त में रति का आविर्भाव द्योतक जो नृत्यादि उद्भासित होते हैं—अर्थात् बलाकार से प्रकाशित होते हैं, उन सब को उद्भास्वर कहते हैं। एवं स्तम्भादि अनुभाव-सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण—उसको सात्त्विक कहते हैं। कृष्ण सम्बन्धि भाव समूह के द्वारा साक्षात् सम्बन्ध से अथवा किञ्चित् व्यवधान से आक्रान्त चित्त को सत्त्व कहते हैं। अनुभाव का जो लक्षण उक्त है— उस से बोध होता है कि—उभयविध अनुभाव ही सत्त्व से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार भेद में कारण यह है—नृत्यादि सत्त्वोत्पन्न होने पर भी उसका आविर्भाव बुद्धि पूर्वक है। एवं स्तम्भादि अनुभाव स्वतः ही आविर्भूत होते हैं।

अनुभाव समूह को बहिश्चेष्टा प्राय साध्य कहने का तात्पर्य्य यह है कि वे सब साधनज अर्थात् अभ्यासज नहीं हैं। अर्थात् नृत्यादि शिक्षा करके नृत्यादि करने से उसको अनुभाव नहीं कहा जा सकता है। भगवत् प्रीति का आविर्भाव से भक्त देह में जो नृत्यादि चेष्टा प्रकाशित होती हैं, केवल उस को ही अनुभाव कहते हैं। भक्तिरसामृतसिन्धु के २।३।१६ में उक्त है—

"ते स्तम्भ-स्वेद-रोमाञ्चाः स्वरभेदोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥"४०२॥

स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रुप्रलय—इन आठ को सात्त्विक भाव कहते हैं। इसके मध्य में प्रलय-चेष्टा लोप है, किन्तु अन्तर में भगवत् स्फूर्त्ति नहीं होती है। जिस प्रकार उद्धव को उद्देश्य करके भा० ३।२।४ में कहा गया है—

"स मुहूर्त्तमभूत्तूष्णीं कृष्णाङ्घ्रिसुधया भृशम् ।
तीव्रेण भक्तियोगेन निमग्नः साधु निर्वृतः ॥"४०३॥

जिस समय विदुर, श्रीकृष्ण एवं तदीय पार्षद वृन्द के कुशल जिज्ञासा किये थे—उस समय श्रीकृष्ण के चरण युगल का स्मरण करके उद्धव क्षण काल मौनावलम्बन करके थे। श्रीकृष्ण चरण कमल सुधापान से परमानन्दित हुये थे, एवं तीव्र भक्ति योग में सम्पूर्ण निमग्न हो गये थे। उनके सर्वाङ्ग में पुलकोद्गम हुआ, ईषन्निमीलित नयनों से शोकाश्रु निर्गलित होने लगा, आप भगवत् रससे प्रवाह में निमग्न हो गये थे। इससे उनका पूर्णमनोरथ दृष्ट हुआ। धीरे धीरे आप भगवल्लोक से नरलोक में पुनरागमन किये थे। भा० ३।२।६ में उक्त है—"शनकैर्भगवल्लोकान्नृलोकं पुनरागतः" भगवत् प्रीति हेतु प्रलय में अन्तर में भगवत् स्फूर्त्ति की कथा गरुड़ पुराण में वर्णित है—

अतएव तदानौ तत्तद्रसानामास्वादभेदस्फूर्त्तिरप्यवगन्तव्या।

अथ सञ्चारिणः, ये व्यभिचारिणश्च भण्यन्ते,–(भ० र० सि० २।४।२,१) "सञ्चारयन्ति भावस्य गतिम्" इति, "विशेषेणाभिमुख्येन चरन्ति स्थायिनं प्रति" इति च निरुक्तेः, ते च त्रयस्त्रिंशत्, (भ० र० सि०)–

"निर्व्वेदोऽथ विषादो, दैन्यं ग्लानि-श्रमौ च मद-गर्व्वौ।
शङ्कात्रासावेगा, उन्मादापस्मृती तथा व्याधिः ॥४०५॥
मोहो मृतिरालस्यं, जाड्यं व्रीड़ावहित्था च। स्मृतिरथ वितर्कचिन्ता-,मतिधृतयो हर्ष उत्सुकत्वञ्च ॥४०६॥
औग्र्यामर्षासूया-, श्चापल्यं चैव निद्रा च। सुप्तिर्बोध इतीमे, भावा व्यभिचारिणः समाख्याताः ॥"४०७॥

---

"जाग्रत् स्वप्नसुषुप्तेषु योगस्थस्य च योगिनः।
या काचिन्मनसो वृत्तिः सा भवेदच्युताश्रया ॥"४०४॥

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था में योग रूप योगी की समस्त मनोवृत्ति अच्युत को आश्रय करके रहती है। अतएव उस समय उस उस रसास्वादन एवं भेद स्फूर्त्ति को भी जानना आवश्यक है।

भावार्थ यह है—जिस समय उद्धव मौनावलम्बन करके थे—उस समय उनमें प्रलय नामक सात्त्विक भाव उपस्थित हुआ था। उस अवस्था में उनके अन्तर में जो भगवदनुभव विद्यमान था, उस का वर्णन सुस्पष्ट रूपसे हुआ है, उन्होंने द्वारका के अप्रकट प्रकाश स्थित सपरिकर श्रीकृष्ण का अन्तः साक्षात् कार प्राप्त किया था, एवं अपने को तत्रस्थ अनुभव भी किया था। श्रीकृष्ण कथा श्रवणेच्छु श्रीविदुर के प्रेमाकर्षण से उनकी प्रेम समाधि टूट गई थी, एवं बाह्य स्मृति उपस्थित हुई। उस में आप जो नरलोक में अवस्थान कर रहे हैं—यह समझ गये थे। यही उनका नर लोक में पुनरागमन है।

गरुड़ पुराण में प्रलय नामक सात्त्विक को सुषुप्ति नाम से कहा गया है। वास्तविक सुषुप्ति-स्वप्न हीन गाढ़ निद्रा-एवं प्रलय एक ही प्रकार की अवस्था है। साधारणतः सुषुप्ति दशा में मानव की वहिर्वृत्ति एवं अन्तर्वृत्ति उभय ही लुप्त होती हैं, किन्तु प्रलय नामक सात्त्विक में भक्त गण की मनोवृत्ति विलुप्त नहीं होती है। श्रीकृष्ण की अवलम्बन करके रहती है। उस समय अन्तः करण में तदीय स्फूर्त्ति रहती है। उस से भक्त शान्तादि रस आस्वादन करते हैं। ज्ञानिगण की ब्रह्म समाधि–प्रलय नामक सात्त्विक के अनुरूप ही है, किन्तु समाधि में उपास्य उपासक की भेद बुद्धि तिरोहित होती है। और प्रलय में भक्त की मनोवृत्ति विलुप्त न होने के कारण विषय एवं आश्रय रूप में भगवान् एवं भक्त उभय का भेद स्फूरित होता रहता है।

अनन्तर सञ्चारि भाव का वर्णन करते हैं। इस का अपर नाम व्यभिचारी है। भाव की गति को सञ्चारित करने कारण इस को सञ्चारी कहते हैं। एवं विशेष रूप में अर्थात् सर्व प्रधान रूप में स्थायिभाव में विचरण करते हैं— इस अर्थ में व्यभिचारी कहते हैं। व्यभिचारी भाव तैंतीस प्रकार हैं। भक्ति रसामृत सिन्धु के २।४।२, १ में उक्त है—

"सञ्चारयन्ति भावस्य गतिम्" "विशेषेणाभिमुख्येन चरन्ति स्थायिनं प्रति" इति च निरुक्तेः" ते च त्रयस्त्रिंशत्–भक्तिरसामृत सिन्धु २।४।४–६ में लिखित है—

"निर्व्वेदोऽथ विषादो, दैन्यं ग्लानि श्रमौ च मदगर्वौ।
शङ्कात्रासावेगा, उन्मादापस्मृती तथा व्याधिः ॥४०५॥
मोहो मृतिरालस्यं, जाड्यं व्रीड़ावहित्था च।
स्मृतिरथ वितर्कचिन्ता,–मतिधृतयो हर्ष उत्सुकत्वञ्च ॥४०६॥

एषां लक्षणमुज्ज्वले दर्शनीयम् । एषु त्रासः कृष्णवत्सलादिषु भयानकादिदर्शनात्तदर्थं तत्सङ्गति हानि-तर्कणात्मार्थश्च भवति, निद्रा तच्चिन्तया शून्यचित्तत्वेन तत्सङ्गत्यानन्दव्याप्त्या च भवति, श्रमः परमानन्दमय-तदर्थायास-तादात्म्यापत्तौ भवति, आलस्यं तादृशश्रमहेतुकं कृष्णेतर-सम्बन्धिक्रियाविषयकं भवति, बोधश्च तद्दर्शनादि-वासनायाः स्वयमुद्बोधेन भवतीत्यादिकं ज्ञेयम् । किञ्च, निर्व्वेदादीनाञ्चामीषां लौकिक-गुणमयभावायमानानामपि वस्तुतो गुणातीतत्वमेव,—तादृशभगवत्प्रीत्यधिष्ठानत्वात् । अथैतत्संवलनात्मको भगवत्प्रीतिमयो रसोऽपि व्यञ्जित एव, (भा० ११।३।३१-३२)—

"स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् ।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ॥४०८॥
क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-,द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं, भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥४०९॥

---

औग्र्यामर्षासूया,—श्चापल्यं चैव निद्रा च ।
सुप्तिर्बोध इतीमे, भावा व्यभिचारिणः समाख्याताः ॥"४०७॥

निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शङ्का, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मृत्यु, आलस्य, जाड्य, (जड़ता) व्रीड़ा, अवहित्था—(आकार गोपन) स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, औग्रता, अमर्ष, (क्रोध) असूया, चपलता, निद्रा सुप्ति एवं बोध--इन सब को व्यभिचारी कहते हैं । इन सब के सादाहरण लक्षण उज्ज्वल नील मणि ग्रन्थ में हैं ।

त्रयस्त्रिंशत् व्यभिचारी के मध्य में त्रास--वत्सलादि में भयानकादि दर्शन हेतु--श्रीभगवान् के निमित्त एवं उनके सङ्ग भङ्ग भयसे निजत्रास उत्पन्न होता है । निद्रा--भगवच्चिन्ता से शून्य चित्तता द्वारा एवं भगवत् सम्मिलनानन्द व्याप्ति द्वारा निद्रा उपस्थित होती है । श्रम—परमानन्द मय श्रीभगवान् के निमित्त अभ्यास-तादात्म्यापत्ति से श्रम उपस्थित होता है ।

आलस्य-उस प्रकार श्रम हेतु एवं श्रीकृष्ण भिन्न सम्पर्कित क्रिया विषय में आलस्य उत्पन्न होता है । बोध--भगवद् दर्शनादि वासना स्वयं उद्बुद्ध होने के कारण--बोध उत्पन्न होता है । कतिपय व्यभिचारी में सम्बन्ध में इस प्रकार जानना होगा । अपि च भगवत् प्रीति में अधिष्ठान हेतु निर्वेदादि व्यभिचार समूह लौकिक गुणमय भाव के समान होने पर भी वास्तविक पक्ष में वे सब गुणातीत होते हैं ।

श्रीमद् भागवत के ११।३।३१–३२ में स्थायिभाव, विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारि भाव संवलनात्मक भगवत् प्रीति मय रस भी व्यञ्जित है—

"स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् ।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ॥४०८॥
क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-- द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं, भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥"४०९॥

टीका—एवं वर्त्तमानानां परमानन्द प्राप्तिमाह स्मरन्त इति द्वयेन । भक्त्या-साधन भक्त्या, सञ्जातया प्रेमलक्षणया भक्त्या । (३१) अजं हरिम्, अनुशीलयन्ति-तल्लीलामनुमभिनयन्ति । एवं परम एत्य प्राप्य

इत्यनेन । अत्र हरिरालम्बनो विभावः, स्मरणमुद्दीपनः स्मारणादिक उद्भास्वराख्योऽनुभावः, पुलकः सात्त्विकः, चिन्तादयः सञ्चारिणः, सञ्जातया भक्त्येति स्थायी, 'भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः" इति तत्सम्बलनम्, परं परमरसात्मकं वस्त्वित्यर्थः । एष च भगवत्-प्रीतिमयरसः पञ्चधा प्रीतिर्भेदपञ्चकेन । ते च ज्ञानभक्तिमय-भक्तिमय-वत्सल-मैत्रीमयोज्ज्वलाख्याः क्रमेण ज्ञेयाः । एतेषाञ्च स्थायिनां भावान्तराश्रयत्वान्नियताधारत्वाच्च मुख्यत्वम् । ततस्तदीयरसानामपि मुख्यता । ये त्वन्येऽद्भुतादि-रसस्थायिनो विस्मयादयस्तेषां तत्प्रीतिसम्बन्धेनैव भागवतरसान्तःपातात् पञ्चविधेषु प्रियेषु कादाचित्कोद्भवत्वेना-नियताधारत्वाच्च गौणता । ततस्तदीयरसानामपि गौणता । तत्र मुख्याः" 'मधुरेण समापयेत्' इति-न्यायेन गौणरसानां रसाभासानामप्युपरि विवरणीयाः ।

गौणाः सम्प्रति विव्रियन्ते । येषु विस्मयादयो विभाववैशिष्ट्यवशेन स्वयं तत्प्रीत्युत्था अपि तत्प्रीतिमात्मसात्कृत्य वर्द्धमानाः स्थायितां प्रपद्यन्ते, ते च—

---

निर्वृताः सन्तस्तूष्णीं भवन्ति ।।

श्रीप्रबुद्ध नामक योगीन्द्र निमि महाराजा को कहे थे—भक्त गण, सर्वपाप नाशन श्रीहरि का स्मरण करके एवं कराकर साधन भक्ति सञ्जाता प्रेम भक्ति द्वारा पुलकित शरीर धारण करते हैं । वे कभी कृष्ण चिन्ता से रोदन करते हैं, कभी हास्य करते हैं, कभी आह्लादित होते हैं, कभी अलौकिक कथा कहते हैं, कभी नृत्य, कभी गान, कभी कृष्णानुशीलन करते हैं, इस प्रकार परम वस्तु को प्राप्त कर आनन्द से मौनावलम्बन कर रहते हैं

यहाँ श्रीहरि—आश्रय--आलम्बन विभाव हैं । स्मरण करना--उद्दीपन विभाव है, स्मरण करादेना उद्भास्वर नामक अनुभाव है । पुलक–सात्त्विक है । चिन्तादि--सञ्चारिभाव हैं । सञ्जाता--प्रेम भक्ति–स्थायिभाव है । परमवस्तु प्राप्त कर आनन्द से मौनावलम्बन करते हैं । इस में विभावादि का सम्मिलन वर्णित हुआ है । परमवस्तु--रसात्मक वस्तु है ।

भगवत् प्रीति रस पाँच प्रकार के होते हैं । एतज्जन्य भगवत् प्रीतिमय रस भी पञ्चविध हैं । ज्ञान--शान्तरस, भक्तिमय--दास्यरस, वत्सल–वात्सल्य रस, मैत्रीमय एवं उज्ज्वल---मधुर रस है । प्रीति के क्रमानुसार पञ्चविध रस का परिज्ञान होता है । उक्त पञ्चविध रस के स्थायिभाव समूह--अन्यभाव के आश्रय एवं नियत ही आधार रूप में अवस्थित होने के कारण--ये सब मुख्य हैं । तज्जन्य वे सब स्थायिभाव सञ्जात शान्तादि रस भी मुख्य हैं । किन्तु अद्भुतादि रस के विस्मयादि जो स्थायिभाव हैं, वे सब भगवत् प्रीति के सम्बन्ध से ही भागवत रस के अन्तर्भुक्त होते हैं, एवं कदाचित् उपस्थित होने के कारण, वे सब नियत आधार नहीं हैं, एतज्जन्य ये सब गौण हैं । तन्निबन्धन विस्मयादि स्थायि भावोत्पन्न अद्भुतादि रस का भी गौणत्व है । मधुरेण समापयेत्" "मधुर में ही समापन करे" इस नियम के अनुसार मधुर रस के प्रसङ्ग में मुख्य रस वर्णन का उपसंहार करेंगे । अतएव गौण रस समूह का वर्णन एवं रसाभास का वर्णन मध्ये मध्ये क्रमशः करेंगे । सम्प्रति गौणरस का वर्णन करते हैं ।

जो सब गौण रस में विस्मयादि, विभाव वैशिष्ट्य हेतु स्वयं भगवत् प्रीति सञ्जात होने पर भी वह प्रीति आत्मसात् करणानन्तर वर्द्धित होकर स्थायिता को प्राप्त करते हैं—वे सब गौण रस--अद्भुत, हास्य,

अद्भुतो हास्य-वीरौ च रौद्रो भीषण इत्यपि ।
बीभत्सः करुणश्चेति गौणाः सप्त रसाः स्मृताः ।।४१०।।

तत्र तत्प्रीतिमयोऽयमद्भुतो रसः। यत्रालम्बनो लोकोत्तराकस्मिक-क्रियादिमत्त्वेन विस्मय-विषयः श्रीकृष्णः, तदाधारस्तत्प्रियश्च, उद्दीपनास्तादृश-तच्चेष्टाः, अनुभावा नेत्रविस्ताराद्याः, व्यभिचारिणश्चावेग-हर्ष-जाड्याद्याः, स्थायी तत्प्रीतिमयो विस्मयः, तदुदाहरणञ्च, (भा० १०।६९।२) —

"चित्रं वतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक् ।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत् ।।"४११।।

इत्यादिकं ज्ञेयम् ।।

अथ तन्मयो हास्यो रसः। तत्रालम्बनश्चेष्टा-वाग्वेष-वैकृत्यविशेषवत्त्वेन तत्प्रीतिमय-

---

वीर, रौद्र, भयानक, बीभत्स, एवं करुण भेद से सप्तविध होते हैं।

अर्थात् अद्भुतादि गौण रस के स्थायी विस्मयादि में स्वरूपतः स्थायिता लाभकी योग्यता नहीं है। विभाव, श्रीकृष्ण,--कृष्ण भक्त एवं कृष्ण सम्बन्धि वस्तु निचय की चमत् कारिता के द्वारा वे स्थायित्व को प्राप्त करते हैं, वह भी स्वतन्त्र रूपसे नहीं, भगवत् प्रीति विस्मयादि के अन्तर्भुक्त होने से ही उन सब को स्थायिता लाभ सम्भव हैं। गौण रस गण इस प्रकार होते हैं—

"अद्भुतो हास्य--वीरौ च रौद्रो भीषण इत्यपि ।
बीभत्सः करुणश्चेति गौणाः सप्त रसाः स्मृताः ।।४१०।।

### अद्भुतरस ।

उक्त सप्तविध गौण रसके मध्यमें भगवत् प्रीतिमय अद्भुत रस का वर्णन करते हैं। जिस में आलम्बन-अलौकिक क्रियादि द्वारा विस्मय का विषय श्रीकृष्ण हैं, विस्मय का आधार--श्रीकृष्ण प्रिय जन गण हैं, उद्दीपन---श्रीकृष्ण की विस्मय कर चेष्टा, अनुभाव--नेत्र विस्तारादि, व्यभिचारी--आवेग, हर्ष, जाड्य प्रभृति, स्थायी--श्रीकृष्ण प्रीति मय विस्मय है। भा० १०।६९।२ में इसका उदाहरण है—

"चित्रं वतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक् ।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत् ।।"४११।।

यही अतीव आश्चर्य्य कर है कि—एक शरीर से ही एक समय में पृथक् पृथक् षोड़श सहस्र स्त्री को एक श्रीकृष्ण विवाह किये थे।

विवरण यह है—महिषी विवाह सम्पन्न होने से श्रीनारद सुने थे कि---कृष्ण एक शरीर एवं एक समय में युगपत् षोड़श सहस्र कन्या को विवाह किये हैं। योगमाया वैभव को देखने के निमित्त नारद द्वारका में आगये। यदि सौभरि प्रभृति के समान वह कृत्य काय व्यूह होता तो नारद विस्मित नहीं होते, काय व्यूह का परिचय नारद को है, स्वयं भी काय व्यूह करने में समर्थ हैं। अतएव श्रीकृष्ण काय व्यूह की रचना नहीं किये थे, किन्तु प्रकाश मूर्त्ति का आविष्कार किये हैं। काय व्यूह एवं प्रकाश मूर्त्ति का भेद इस प्रकार है—काय व्यूह--में शरीर अनेक होने पर भी समस्त शरीर में एक ही क्रिया होती है, अर्थात् एक मूर्त्ति में स्पन्दन होने से वह स्पन्दन सर्वत्र होता है। प्रकाश मूर्त्ति में—उस प्रकार नहीं होता है। प्रकाश देह एक

हासविषयः श्रीकृष्णः, तदाधारस्तत्प्रियश्च तथा यदि तद्विशेषवत्त्वेनैव तत्प्रियाप्रियौ च तत्-प्रीतिमयहासविषयौ भवतस्तदापि तत्कारणस्य प्रीतेर्विषयः श्रीकृष्ण इति स एव मूलमालम्बनम्। हास्यस्यापि तद्विशिष्टत्वेनैव प्रवृत्तेस्तु सुतरामेव। अतः केवलस्य हासांशस्य विषयत्वेन विकृत-तत्प्रियाप्रियौ वहिरङ्गावेवालम्बनाविति। एवं दान-युद्धवीररसादिष्वपि ज्ञेयम्। उद्दीपनास्तु तज्जनकस्य चेष्टावाग्वेषवैकृतादयः। अनुभावाश्च न सौष्ठ-गण्ड--विस्पन्दनादयः, व्यभिचारिणो हर्षालस्यावहित्थादयः, स्थायी च तत्प्रीतिमयो हासः, स च स्वविषयानुमोदनात्मकस्तदुत्प्रासात्मको वा चेतोविकाशः। ततस्तदात्मकत्वेन विषयो-ऽप्यस्यास्ति। तस्योदाहरणेऽनुमोदनात्मको यथा, (भा० १०।८।२९) —

(१५८) "वत्सान् मुञ्चन् क्वचिदसमये क्रोशसञ्जातहासः" इत्यादि, (भा० १०।८।३०)

---

है, एवं स्वतन्त्र क्रिया--अनेक हैं, यही बिस्मय का विषय है।

हास्यरस।

भगवत् प्रीति मय हास्यरस होता है। उस में आलम्बन--चेष्टा, वाक्य एवं वेष विकृति विशेष के द्वारा भगवत् प्रीतिमय हास्य का विषय श्रीकृष्ण हैं, हास्य का आधार--श्रीकृष्ण के प्रियजन हैं। यदि कभी चेष्टादि की विकृति विशेष के द्वारा श्रीकृष्ण के प्रिय एवं अप्रिय उभय विध व्यक्ति हास्य के विषय होने हैं तो उस समय भी हास्य के कारण का--प्रीति का विषय--श्रीकृष्ण ही मूलालम्बन हैं।

अर्थात्—श्रीकृष्ण के किसी प्रिय व्यक्ति का अप्रिय व्यक्ति की चेष्टा, वाक्य किंवा वेश की विकृति को देखकर यदि किसी का हास्योद्रेक होता है तो वहाँ श्रीकृष्ण—कैसे हास्य का विषय होते हैं। यहाँ उस की मीमांसा की गई है। हास्य का कारण शब्द वाच्य आश्रयालम्बन भक्त हैं, भक्त की प्रीति का विषय जो श्रीकृष्ण हैं, उनके प्रिय वा अप्रिय व्यक्ति की विकृत चेष्टादि को देखकर भक्त के मन में यदि यह हो, कि— श्रीकृष्ण के प्रिय व्यक्ति इस प्रकार चेष्टा कर रहे हैं,—श्रीकृष्ण के अप्रियव्यक्ति—इस प्रकार चेष्टा कर रहे हैं।

साधारण जनकी विकृत चेष्टा से उनसब का हास्योद्रेक नहीं होता है, वह उनके मनो योग आकर्षण करने में सक्षम नहीं है। उन के प्रति उपेक्षा ही होती है। केवल श्रीकृष्ण के प्रिय अप्रिय–सम्बन्धानुसरण करके ही अपर की चेष्टा भी हास्य रति का कारण होती हैं, इस हेतु यहाँ श्रीकृष्ण ही मूलावलम्बन हैं।

सुतरां हास्य भी श्रीकृष्ण को अवलम्बन करके ही उपस्थित होता है। इस हेतु केवल हास्यांश का विषय रूप में श्रीकृष्ण के विकृत प्रियाप्रिय विषयालम्बन हैं। दान वीर, युद्ध वीरादि में भी उस प्रकार ही जानना होगा। हास्य रस का उद्दीपन—हास्य जनक श्रीकृष्ण वा उनकी प्रिय अप्रिय जनकी चेष्टा वाक्य, वेषादि की विकृति प्रभृति हैं। अनुभाव--नासा, ओष्ठ, एवं गण्ड के विशेष रूप से स्पन्दनादि हैं। व्यभिचारी-हर्ष, आलस्य, अवहित्था प्रभृति हैं। स्थायी---श्रीकृष्ण प्रीतिमय हास है। वह हास्यरति--स्व विषयानु मोदनात्मक किंवा उत्प्रासात्मक चित्त विकाश अर्थात् मानसिक प्रफुल्लता है। इस हेतु चित्त विकाशात्मक रूप में हास्य का विषय भी है। हास्य रसका उदाहरण में मनः प्रफुल्लकर अनुमोदनात्मक विषय भा० १०। ८।२९ में इस प्रकार है—

(१५८) 'वत्सान् मुञ्चन् क्वचिदसमये क्रोशसञ्जात हासः॥"

"हस्ताग्राह्यो रचयति विधिम्" इति, (भा० १०।८।३१) "एवं धार्ष्ट्यान्युशति कुरुते" इत्यादि, "इत्थं स्त्रीभिः सभयनयन-श्रीमुखालोकिनीभि-,र्व्याख्यातार्था प्रहसितमुखी न ह्युपालब्धुमैच्छत्' इत्यन्तम् । व्याख्यातस्तदीयचापल्यलक्षणोऽर्थो यस्यै सा ॥ श्रीशुकः ॥

१५९ । उत्प्रासात्मको यथा (भा० १०।२२।९) —

(१५९) "तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरः ।
हसद्भिः प्रहसन् बालैः परिहासमुवाच ह ॥"४१२॥

स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

१६० । यथा च (भा० १०।६६।७) —

(१६०) "कत्थनं तदुपाकर्ण्य पौण्ड्रकस्याल्पमेधसः ।
उग्रसेनादयः सभ्या उच्चकैर्जहसुस्तदा ॥"४१३॥

---

गोपियों ने श्रीकृष्ण के विरुद्ध में यशोदा के निकट अभियोग उपस्थित किया "श्रीकृष्ण-कभी कभी असमय में वत्स को छोड़ देता है, हम सब क्रोध प्रकाश करने से हँसता रहता है, इत्यादि भा० १०।८।३० "हस्ताग्राह्यो रचयति विधिम्" हाथ न आने से-उस की व्यवस्था करता है। भा० १०।८।३१ "एवं धार्ष्ट्यान्युशति कुरुते" इस प्रकार मनोहर धृष्टता करता है" इत्यादि। "इत्थं स्त्रीभिः सभयनयन--श्रीमुखालोकिनीभि,--र्व्याख्यातार्था प्रहसितमुखी न ह्युपालब्धुमैच्छत्" जो सब गोप रमणी-श्रीकृष्ण के समय नयन विशिष्ट श्रीमुख को अवलोकन कर रही थीं वे जिनके निकट अर्थ व्याख्या कर रही थीं, वह हास्य मुखी श्रीव्रजेश्वरी ने श्रीकृष्ण को तिरस्कार करने का प्रयास नहीं किया। श्लोकोक्त 'अर्थ' शब्द से जिस का बोध होता है—उस को कहते हैं—"तदीय चापल्य लक्षणोऽर्थो यस्यै सा"

श्रीकृष्ण के चापल्य लक्षण 'अर्थ' की व्याख्या जिन के निकट किये थे—यह व्रजेश्वरी—श्रीकृष्ण को तिरस्कार न करके तदीय चापल्य का अनुमोदन किये थे-यह प्रतीत होता है। यही अनुमोदनात्मक हास्य रति का दृष्टान्त है।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं—१५८

१५९। भा० १०।२२।९ में उत्प्रासात्मको हास्य का उदाहरण है—

(१५९) "तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरः ।
हसद्भिः प्रहसन् बालैः परिहासमुवाच ह ॥"४१२॥

कात्यायनी व्रजपरायणा व्रज कुमारी गण तीर में परिधेय वसन रख कर यमुना में अवगाहन करने से श्रीकृष्ण--उन सब के वसन समूह को लेकर सत्वर कदम्ब वृक्ष में आरोहण किये थे। यह देखकर जो सब गोप बालक हँस रहे थे—उन सब के सहित उच्च हास्य के सहित परिहास पूर्वक श्रीकृष्ण कहे थे।

श्रीशुक कहे थे ॥१५९॥

१६०। अन्य उदाहरण भा० १०।६६।७ में है-

(१६०) "कत्थनं तदुपाकर्ण्य पौण्ड्रकस्याल्पमेधसः।
उग्रसेनादयः सभ्या उच्चकैर्जहसुस्तदा ॥"४१३॥

पौण्ड्रक का दूत आकर पौण्ड्रक को यथार्थ वासुदेव प्रति पादन करने से—अल्प बुद्धि पौण्ड्रक की

स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

१६१। अथ तत्प्रीतिमयो वीररसः। तत्र वीररसश्चतुर्द्धा,–धर्म्म-दया-दान-युद्धात्मकत्वेनोत्साहस्य स्थायिनश्चातुर्विध्यात्। तत्र धर्म्मवीररसः। तत्रालम्बनो धर्म्मचिकीर्षातिशयलक्षणस्य धर्म्मोत्साहस्य विषयाभावात् प्रीतिमयत्वेनैव लब्धो विषयः श्रीकृष्णः, तदाधारस्तद्भक्तश्च। उद्दीपनाः सच्छास्त्रश्रवणादयः, अनुभावा विनय-श्रद्धादयः, व्यभिचारिणो मति-स्मृत्यादयः, स्थायी तत्प्रीतिमयो धर्म्मोत्साहः, तदुदाहरणञ्च (भा० १०।७२।३) —

"क्रतुराजेन गोविन्द राजसूयेन पावनीः।
यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत् सम्पादय नः प्रभो ॥"४१४॥

इत्यादिकम्।

अथ तन्मयो दयावीररसः। अत्रालम्बनस्तत्प्रीतिजातया तदीयतावगत-सर्वभूतविषयक-दययात्मव्ययेनापि सन्तर्प्यमाण-दीनवेषाच्छन्ननिजरूपः श्रीकृष्णः, तादृशदयाधारो भक्तः।

---

कथा को सुनकर उग्रसेनादि सभ्यगण उस समय उच्च हास्य किये थे। यह ही श्रीकृष्ण के अप्रिय जन के वेष विकृत जनित हास्य। पौण्ड्रक निज को वासुदेव प्रतिपन्न करने के निमित्त कृत्रिम चतुर्भुजादि धारण किया था, यह सुनकर अग्रसेनादि हँसे थे। श्रीशुक कहे थे ॥४१३॥

१६१। **वीररस।**

अनन्तर भगवत् प्रीतिमय वीररसका वर्णन करते हैं। वीर रस—धर्म, दया, दान एवं युद्धात्मक रूपमें उत्साह रूप स्थायी–चतुर्विध होने के कारण–धर्म, दया, दान, एवं युद्धात्मक भेद से वीर रस चतुर्विध होते हैं। तन्मध्ये धर्म वीररस में विषयालम्बन श्रीकृष्ण के पक्ष में प्रचुर धर्मानुष्ठान वाञ्छा रूप धर्मोत्साह के किसी भी विषय विद्यमान न होने से श्रीकृष्ण, प्रीतिमय रूप में ही धर्म वीररस का आलम्बन होते हैं। धर्म वीररस का आश्रय–आधार भक्त गण हैं। उद्दीपन--सच्छास्त्र श्रवणादि हैं। अनुभाव—विनय श्रद्धा प्रभृति हैं। व्यभिचारी—मति स्मृति प्रभृति हैं। स्थायी भगवत् प्रीतिमय धर्मोत्साह है। उस का उदाहरण भा० १०।७२।३ में है—

"क्रतुराजेन गोविन्द राजसूयेन पावनीः।
यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत् सम्पादय नः प्रभो ॥"४१४॥

युधिष्ठिर श्रीकृष्ण के निकट निवेदन किये थे—"हे गोविन्द! यज्ञ श्रेष्ठ राजसूय के द्वारा तुम्हारे पवित्र विभूति समूह की अर्च्चना मैं करना चाहता हूँ। हे प्रभो! इस का सम्पादन तुम करो।

**दयावीर।**

अनन्तर भगवत् प्रीतिमय दया वीररस का वर्णन करते हैं। भगवत् प्रीति समुत्पन्ना सर्वभूत विषयिनी सब को तदीय माना जाता है, उस दया का वशवर्त्ती होकर आत्मोत्सर्ग करके भी जिन को सुतृप्त करने की इच्छा होती है, इस प्रकार दीन वेशाच्छन्न निज रूप श्रीकृष्ण,–दया वीररस के विषय हैं। एवं आश्रय भक्त होते हैं।

अभिप्राय यह है– दया वीररस में स्थायीभाव रूपा जो दया है– वह केवल मनोवृत्ति विशेष रूपा

पित्रादीनां तादृशी दया तु वत्सलादिकमेव पुष्णाति करुणं वा। उद्दीपनास्तदार्त्तिव्यञ्जनादयः, अनुभावा आश्वासनोक्त्यादयः, व्यभिचारिण औत्सुक्य-मति-हर्षादयः, स्थायी तत्प्रीतिमयो दयोत्साहः, तदुदाहरणञ्च, (भा० ९।२१।५) —

'कृच्छ्रप्राप्तकुटुम्बस्य क्षुत्तृड्भ्यां जातवेपथोः।
अतिथिर्ब्राह्मणः काले भोक्तुकामस्य चागमत्॥"४१५॥

(भा० ९।२१।६) "तस्मै संव्यभजत् सोऽन्नमादृत्य श्रद्धयान्वितः। हरिं सर्वत्र संपश्यन्" इत्यारभ्य,

---

नहीं है, किन्तु भगवत् प्रीति-समुत्पन्ना है, इस प्रकार दया उपस्थित होने से समस्त प्राणी भगवान् के ही हैं—इस प्रकार बोध होता है। प्रश्न हो सकता है कि—दीन जन ही तो-दया का विषय हो सकता है, श्रीकृष्ण कैसे दया का विषय हो सकते हैं, कहते हैं—श्रीकृष्ण जब दीन वेश द्वारा निज वेश को आच्छन्न करते हैं, उस समय आधार रूप भक्त, निज प्राण समर्पण करके भी उनको तृप्त करता है। इस अवस्था में श्रीकृष्ण, दया का विषय होते हैं।

जैमिनिभरत में इस का दृष्टान्त है—एकदा श्रीकृष्ण एवं अर्जुन ब्राह्मण वेश में मयूरध्वज नृपति के निकट उपस्थित हुये थे। श्रीकृष्ण, वृद्ध ब्राह्मण एवं अर्जुन युवक ब्राह्मण बने थे। वृद्ध ब्राह्मण रूपी कृष्णने कहा--महाराज! यहाँ आते समय पथ में सिंह ने मेरा पुत्र को आक्रमण किया है, अनेक प्रार्थना करने पर सिंह ने कहा है—कि--मयूर ध्वज राजा यदि निज स्त्री पुत्र को आरी से चीर कर निज अर्द्धाङ्ग प्रदान करे तो मैं पुत्र को छोड़ दूँगा सुनकर मयूर ध्वज ने उक्त रीति से देहार्द्ध दान करने में प्रवृत्त होने पर उस के वाम नेत्र से अश्रु निर्गत होते देखकर वृद्ध ब्राह्मण ने कहा -मैं क्लेश से प्रदत्त वस्तु को स्वीकार नहीं करूँगा, मयूर ध्वज ने कहा यह दुःख देह नाश हेतु नहीं है, किन्तु वामाङ्ग ही उपयोग में आया, दक्षिणाङ्ग वञ्चित रहा--यह सोचकर दुःख हुआ। इस भक्ति से परि तुष्ट होकर श्रीकृष्णार्जुन दर्शन दानकर मयूरध्वज को कृतार्थ किये थे।

पित्रादि की तादृशी दया—वात्सल्यादि का कारुण्य को पोषण करती है। उद्दीपन--दैन्यार्त्ति--व्यञ्जनादि हैं। अनुभाव आश्वास वाक्य प्रभृति हैं। व्यभिचारी—औत्सुक्य, मति, हर्ष प्रभृति हैं। स्थायि भाव-भगवत् प्रीतिमय दयोत्साह है। दया वीर का दृष्टान्त भा० ९।२१।५ में है—

"कृच्छ्रप्राप्तकुटुम्बस्य क्षुत्तृड्भ्यां जातवेपथोः।
अतिथिर्ब्राह्मणः काले भोक्तुकामस्य चागमत्॥"४१५॥

रन्ति देव कुटुम्ब वर्ग के सहित क्षुधा पिपासा से कातर होकर कम्पित कलेवर हो गये थे, इस समय उत्तम खाद्य पानीय उनके समीप में उपस्थित होने पर--जिस समय आप भोजन में प्रवृत्त हुये थे--उस समय भोजनाभिलाषी ब्राह्मण अतिथि उपस्थित हुये थे। श्रद्धालु होकर हरि को सर्वत्र निरीक्षण करके उनको उस प्रिय द्रव्य विभक्त कर प्रदान किये थे। भोजनान्त में ब्राह्मण प्रस्थान करने पर, अवशिष्ट अन्न परिवार वर्ग को देकर स्वयं भोजन करेंगे - इस समय एक शूद्र अतिथि उपस्थित हुआ। रन्तिदेव श्रीहरि स्मरण पूर्वक भोज्य भाग कर दिये थे। अतिथि चले जाने पर कुक्कुर के सहित एक अतिथि उपस्थित हुआ, और कहा, राजन्! कुकुर के सहित मैं क्षुधार्त्त हूँ, भोजन प्रदान करें। उस को कुकुर के सहित बहु सम्मान प्रदान कर अवशिष्ट भोज्य पदार्थ देकर उन्होंने नमस्कार किया। एक व्यक्ति की जीवन रक्षा के उपयोगी पानीय अवशेष था, उस को पान करने उद्यत होने पर एक पुक्कश उपस्थित होकर कातर भाव से कहा--

(भा० ९।२१।१४-१५)—

(१६१) "एवं प्रभाष्य पानीयं म्रियमाणः पिपासया ।
पुक्कशायाददाद्धीरो निसर्गकरुणो नृपः ।।४१६।।
तस्य त्रिभुवनाधीशाः फलदाः फलमिच्छताम् ।
आत्मानं दर्शयाञ्चक्रु र्माया विष्णुविनिर्मिताः ।।४१७।। इत्यन्तम् ।

स्पष्टम् श्रीशुकः ।।

१६२। अथ तन्मयो दानवीररसः । द्विधा चायं सम्पद्यते,-बहुप्रदत्वेन, समुपस्थित-दुरापार्थत्यागेन च । तत्र प्रथमस्यालम्बनम्,-अन्यसम्प्रदानके च दाने दानद्रव्येण तत्तृप्तेरेव मुख्योद्देशेन तदुद्देशे पर्य्यवसानात् । तत्सम्प्रदानके तु स्पष्ट-तदुद्देशाद्दित्सातिशयलक्षणस्य दानोत्साहस्य विषयः श्रीकृष्णस्तदाधारस्तत्प्रियश्च । अन्यः सम्प्रदानवीररसस्तु वहिरङ्गः ।

---

महाराज ! अशुभ व्यक्ति को पानीय प्रदान करें। रन्तिदेव, पिपासा एवं श्रम की कथा को सुनकर कृपा से गद् गद होकर कहे थे—मैं परमेश्वर से अष्ट सिद्धि समन्वित गति वा मुक्ति नहीं चाहता हूँ। मेरी प्रार्थना है, मैं जैसे भोक्ता रूप में सब प्राणी के शरीर में रहकर दुःख प्राप्त करूँ—और सब के दुःख अपसारित हो। जीवन धारण करने की वासना इस व्यक्ति की है, इस को जलदान करने से मेरी क्षुधा, तृष्णा, श्रान्ति, घूर्णता, क्लान्ति, खेद, विषाद, मोह, सब कुछ विदूरित ही जायेंगे, यह कह कर स्वभावतः दयालु रन्ति देव स्वयं मरणापन्न होकर भी पुक्वश को पानीय जल प्रदान किये थे। त्रिभुवनाधीश्वर ब्रह्मादि देवगण फलाभिलाषिगण को फल दान करते हैं। वे विष्णु मायावलम्बन करके ब्राह्मणादि रूप में रन्तिदेव के निकट उपस्थित हुये थे। अनन्तर उन्होंने उनको स्वरूप दर्शन पूर्वक कृतार्थ किये थे। भा० ९।२१।६ "तस्मै संव्यभजत् सोऽन्नमादृत्य श्रद्धयान्वितः । हरिं सर्वत्र संपश्यन्" इत्यारभ्य--भा० ९।२१।१४--१५ में उक्त है—

(१६१) 'एवं प्रभाष्य पानीयं म्रियमाणः पिपासया ।
पुक्कशायाददाद्धीरो निसर्गकरुणो नृपः ।।४१६।।
तस्य त्रिभुवनाधीशाः फलदाः फलमिच्छताम् ।
आत्मानं दर्शयाञ्चक्रु र्माया विष्णुविनिर्मिताः ।।"४१७।।

श्रीशुक देव कहे थे ।।१६१।।

१६२। अनन्तर भगवत् प्रीतिमय दान वीर रस को कहते हैं—यह रस दो प्रकार से सम्पन्न होता है-'बहु प्रद रूप से एवं समुपस्थित दुर्ल्लभ वस्तु त्याग के द्वारा। अर्थात् जो व्यक्ति श्रीकृष्ण सन्तोष हेतु हठात् सर्वस्व दान करने में सक्षम हैं उन को बहु प्रद कहते हैं। बहु प्रद द्विविध हैं। अन्य सम्प्रदानक--एवं तत् सम्प्रदानक। जो व्यक्ति श्रीकृष्ण--कल्याणार्थ भिक्षु ब्राह्मण प्रभृति को सर्वस्व दान करते हैं—उनको अन्य सम्प्रदानक कहते हैं, और जो व्यक्ति श्रीहरि का माहात्म्य अवगत होकर स्वीय अहन्तास्पद ममतास्पद--समूह को श्रीहरि को प्रदान करते हैं, उनको तत् सम्प्रदानक कहते हैं, भक्ति रसामृत सिन्धु उत्तर ३।१२--१३ में उक्त है—

'सहसादीयते येन स्वयं सर्वस्वमच्युत ।
दामोदरस्य सौख्याय प्रोच्यते स बहुप्रदः ।।

उद्दीपनाः सम्प्रदानवीक्षाद्याः, अनुभावा वाञ्छाधिकदान-स्मिताद्याः, व्यभिचारिणो वितर्कौत्सुक्य-हर्षाद्याः, स्थायी तत्प्रीतिमयो दानोत्साहः, उदाहरणञ्च, (भा० १०।५।१)—

(१६२) "नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः" इत्यादि ।

स्पष्टम्, श्री शुकः ॥

१६३ । तथा (भा० ८।२०।१६) —

---

कृष्णस्याभ्युदयार्थं तु येन सर्वस्वमर्प्यते ।
अर्थिभ्यो ब्राह्मणादिभ्यः स आभ्युदयिको भवेत् ।
ज्ञातये हरये स्वीयमहन्ता ममतास्पदम् ।
सर्वस्वं दीयते येन स स्यात्तत् सम्प्रदानकः ॥"

बहु प्रब रूप में जो दान,— उसका आलम्बन—अन्य सम्प्रदानक दान में, दान द्रव्य द्वारा श्रीकृष्ण को तृप्त करना प्रधान उद्देश्य होने के कारण वह दान श्रीकृष्ण उद्देश्य में ही पर्य्यवसित होता है। एवं तत् सम्प्रदानक दान का मुख्य उद्देश्य—सुस्पष्ट रूप से श्रीकृष्ण सम्बन्ध में होने से—उभयत्र अत्यन्त दानेच्छारूप दानोत्साह का विषय श्रीकृष्ण ही होते हैं। उस का आधार श्रीकृष्ण प्रियजन होते हैं।

यहाँपर अन्य सम्प्रदान—वहिरङ्ग है। अर्थात् अन्यसम्प्रदानक दान में भी श्रीकृष्ण तृप्ति में ही मुख्य-उद्देश्य होने के कारण वस्तुतः वह दान श्रीकृष्ण उद्देश्य में ही होता है। किन्तु ब्राह्मण प्रभृति को जो दान किया जाता है, वह बाहर की चेष्टा मात्र है।

उद्दीपन—सम्प्रदान दर्शनादि। अनुभाव—वाञ्छा के अतिरिक्त दान, स्मित प्रभृति। व्यभिचारी—वितर्क, औत्सुक्य, हर्ष प्रभृति, स्थायी—कृष्ण प्रीतिमयदानोत्साह है। भा० १०।५।१ में उदाहरण है—

(१६२) "नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः ।
आहूयविप्रान् वेदज्ञान् स्नातः शुचिरलङ्कृतान् ॥
धेनूनां नियुते प्रादाद् विप्रेभ्यः समलङ्कृते ।
तिलाद्रीन् सप्तरत्नौघ शात कुम्भाम्बरावृतान् ॥
नन्दो महामनास्तेभ्यो वासोऽलङ्कार गोधनम् ।
सूतमागध वन्दिभ्यो ये ऽन्ये विद्योपजीविनः ॥
तै स्तैः कामैरदीनात्मा यथोचितमपूजयत् ।
विष्णोराराधनार्थाय स्वपुत्रस्योदयाय च ॥"

पुत्र उत्पन्न होने से उदारचित्तनन्द, अत्यन्त आनन्दित होकर स्नानानन्तर पवित्र होकर वेदज्ञ ब्राह्मण वृन्द को अलङ्कृत किये थे।

अनन्तर ब्राह्मण वृन्द को दो नियुत धेनु एवं सात तिलपर्वत दान किये थे। उक्त पर्वत समूह सुवर्ण रसाक्त बस्त्रालङ्कृत थे।

महामना नन्द, सूत मागध, वन्दिगण को वस्त्र अलङ्कार, गोदान किये थे। अन्यान्य विद्योपजीविगण को यथाभिलषित तत्तत् द्रव्य द्वारा यथोचित पूजा किये थे। इस दान का उद्देश्य था—श्रीविष्णु की आराधना एवं पुत्र का अभ्युदय।
श्रीशुक कहे थे ॥१६२॥

१६३। भा० ८।२०।१६ में भी उक्त है—

(१६३) "एवं शप्तः स्वगुरुणा सत्यान्न चलितो महान् ।
वामनाय ददावेतामर्च्चित्वोदकपूर्वकम् ॥"४१८॥

एतां पृथ्वीम् ॥ श्रीशुकः ॥

१६४ । अथ द्वितीयस्यालम्बनः । उपस्थित-दुरापार्थत्यागेच्छातिशयलक्षणस्य तदुत्साहस्य धर्म्मोत्साहवदेव विषयः श्रीकृष्णस्तदाधारस्तद्भक्तश्च । उद्दीपनाः कृष्णालाप–स्मितादयः, अनुभावास्तदुत्कर्षवर्णनद्रढ़िमादयः, सञ्चारिणो धृतिप्रचुराः, स्थायी तत्प्रीतिमयस्त्यागोत्साहः, तदुदाहरणम्—(भा० ३।२९।१३) "सालोक्य सार्ष्टि--सारूप्य-" इत्यादिकमेव ।

अथ तन्मयो युद्धवीररसः । तत्र योद्धा तत्प्रियतमः,–तस्यैव तत्प्रीतिमययुद्धोत्साहात् । प्रतियोद्धा तु क्रीड़ायुद्धे श्रीकृष्णो वा तत्पुरस्तस्यैव मित्रविशेषो वा । साक्षाद्युद्धे पुनस्तत्-प्रतिपक्षः । तत्र श्रीकृष्णप्रतियोद्धृकत्वे तत्प्रीतिमय-युयुत्सातिशयलक्षण-तदुत्साहविषयतया तस्यैवालम्बनत्वं सर्व्वथा सिद्धम् । इतरप्रतियोद्धृकत्वेऽपि हास्यरसवत्तत्प्रीतिमयत्वेन मूलमालम्बनत्वं तस्यैव । तत्प्रतिपक्षस्तु युयुत्सांशमात्रस्य वहिरङ्ग आलम्बनः । तत्र योद्धृ-

---

(१६३) "एवं शप्तः स्व गुरुणा सत्यान्नचलितो महान् ।
वामनाय ददावेतामर्च्चित्वोदक पूर्वकम् ॥"४१८॥

बहु प्रदत्व का दृष्टान्त, महात्मा बलि—गुरु शुक्राचार्य द्वारा अभिशप्त होकर भी सत्य से विचलित नहीं हुये । जल द्वारा वामन देव की अर्च्चना करके त्रिपाद भूमि दान किये थे । एतां--शब्द का अर्थ है—पृथ्वीम् । श्रीशुक कहे थे—१६३॥

१६४ । समुपस्थित दुर्ल्लभवस्तु त्यागरूप (द्वितीय) दान वीररस का आलम्बन–धर्मोत्साह के समान उपस्थित दुर्ल्लभ वस्तु त्यागेच्छा रूप दानोत्साह का विषय श्रीकृष्ण हैं, आधार– उनके भक्त होते हैं। उद्दीपन—कृष्णालाप--स्मित प्रभृति हैं। अनुभाव—त्याग का उत्कर्ष वर्णन, दृढ़ता प्रभृति हैं। सञ्चारी प्रचुर धैर्य्य है। स्थायी—भगवत् प्रीतिमय त्यागोत्साह है। उस का उदाहरण—भा० ३।२९।१६ के 'सालोक्य सार्ष्टि सारूप्य में है। अर्थात् सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य रूप मुक्ति प्रदान करने के इच्छुक होने पर भक्त गण मदीय सेवा व्यतीत अपर कुछ भी ग्रहण नहीं करते हैं।

भगवत् प्रीतिमय युक्त वीर रस है। इस में योद्धा श्रीभगवान् का प्रियतम है। श्रीकृष्ण–प्रियतम का युद्धोत्साह से युद्ध प्रवृत्ति हेतु प्रतियोद्धा (विपक्ष) क्रीड़ा युद्ध में अथवा कृष्ण के सम्मुख में स्थित उनका ही मित्र विशेष होता है। वास्तव युद्ध में प्रतियोद्धा—श्रीकृष्ण के प्रतिपक्ष (वैरी) होता है। प्रतिपक्ष के सहित श्रीकृष्ण, जिस समय प्रति योद्धा होते हैं, उस समय भक्त का—श्रीकृष्ण प्रीतिमय प्रबल युद्धेच्छारूप उत्साह का विषय रूप में श्रीकृष्ण का ही आलम्बनत्व सर्वतोभावेन सिद्ध होता है।

श्रीकृष्ण प्रिय व्यक्ति भिन्न अपर व्यक्ति प्रति योद्धा होने पर भी हास्यरस के समान युद्ध वीररस–श्रीकृष्ण प्रीतिमय हेतु उस में मूलावलम्बन श्रीकृष्ण ही होते हैं, अर्थात् स्थित विशेष में हास्य का विषय-श्रीकृष्ण का अप्रिय व्यक्ति होने पर भक्त गण उस में श्रीकृष्ण की अप्रियता सम्बन्ध मनन पूर्वक जिस प्रकार यहाँपर श्रीकृष्ण के विपक्षीय योद्धा उनका वैरी होने पर भी रसज्ञ भक्त वृन्द, श्रीकृष्ण के सहित उसका जो वैर सम्बन्ध है, उस का स्मरण कर युद्ध वीर रस का आस्वादन करते हैं। "श्रीकृष्ण का वैरी है" इस

प्रतियोद्धारौ मित्रविशेषावाधारत्वविषयत्वाभ्यामालम्बनाविति। उद्दीपनाः प्रतियोद्धृक-स्मितादयः, अनुभावा योद्धृकत्थितादयः, व्यभिचारिणो गर्व्वावेगादयः, स्थायी तत्प्रीतिमयो युद्धोत्साहः, उदाहरणञ्च त्रिविधप्रतियोद्धृक्रमेण (भा० १०।१८।१२)—

(१६४) "भ्रामणैर्लङ्घनैः क्षेपैरास्फोटन-विकर्षणैः।
चिक्रीड़तुर्नियुद्धेन काकपक्षधरौ क्वचित्॥"४१९॥

काकपक्षश्चूड़ाकरणात् प्राक्तनाः केशाः, तद्धारिणौ रामकृष्णौ, नियुद्धेन बाहुयुद्धेन, तद्भेदैर्भ्रामणादिभिः, एवमेव हरिवंशे (विष्णु-प० १०२।१७)—

"तथा गाण्डीवधन्वानं विक्रीड़न् मधुसूदनः। जिगाय भरतश्रेष्ठं कुन्त्याः प्रमुखतो विभुः॥"४२०॥ इति श्रीशुकः॥

१६५। तथा, (भा० १०।१८।९)—

(१६५) "रामकृष्णादयो गोपा ननृतुर्युयुधुर्जगुः" इति।

अत्र तदग्रे परेऽपि गोपास्तं सन्तोषयन्तो युयुधुरित्यागतम्॥ श्रीशुकः॥

---

प्रतीति को अवलम्बन करके ही श्रीकृष्ण के विपक्षीय योद्धा युद्ध वीर रस का अवलम्बन होता है। अतः श्रीकृष्ण ही मूल विषयालम्बन हैं। और वह शत्रु व्यक्ति--केवल युद्धेच्छा का बहिरङ्ग आलम्बन है। कृष्ण प्रीतिमय युद्ध वीररस में अर्थात् क्रीड़ा युद्ध में योद्धा एवं प्रति योद्धारूप मित्रद्वय--आश्रयालम्बन एवं विषयालम्बन होते हैं। उद्दीपन प्रतियोद्धा के स्मित प्रभृति हैं। व्यभिचारी-गर्व,--आवेग-प्रभृति हैं। स्थायी—कृष्ण प्रीतिमय--युद्धोत्साह है। श्रीकृष्ण, कृष्णप्रियतम एवं कृष्ण प्रतिपक्ष भेद से त्रिविध प्रति योद्धा हैं। प्रतियोद्ध भेद से त्रिविध युद्ध वीर रस का उदाहरण क्रमशः प्रस्तुत करते हैं— भा० १०।१८।१२ में उक्त है—

(१६४) " भ्रामणैर्लङ्घनैः क्षेपैरास्फोटन--विकर्षणैः।
चिक्रीड़तुर्नियुद्धेन काकपक्षधरौ क्वचित्॥"४१९॥

जिस में श्रीकृष्ण--प्रति योद्धा हैं, उस युद्ध वीर रस का दृष्टान्त—काक पक्षधर श्रीकृष्ण बलराम परस्पर हाथ पकड़ कर भ्रामण घुमाना उल्लम्फन—कूदना, क्षेपन--धकलना, आस्फोटन—बाहुमूल में कर तलाघात करना—बाँह ठोंकना एवं आकर्षण करके किसी स्थान में नियुद्ध करते थे। श्लोक की व्याख्या—काकपक्ष--चूड़ा करण के पूर्ववर्त्ती केश, उस केश ग्रथित तीन वेणी युक्त--कृष्ण बलराम--काकपक्षधर हैं। नियुद्ध--बाहु युद्ध। बाहु युद्ध का भेद--भ्रामणादि हैं। इस प्रकार उदाहरण हरिवंश के—(१०२ १७) में है-

"तथा गाण्डीवधन्वानं विक्रीड़न् मधुसूदनः।
जिगाय भरतश्रेष्ठं कुन्त्याः प्रमुखतो विभुः॥"४२०॥

कुन्ती के सम्मुख में क्रीड़ायुद्ध करके विभु मधुसूदन भरत श्रेष्ठ अर्जुन को पराजित किये थे।

श्रीशुक कहे थे ॥१६४॥

१६५। श्रीकृष्ण प्रियतम जिस में प्रति योद्धा है, उस युद्धवीर रस का दृष्टान्त भा० १०।१८ ९ में है--

(१६५) रामकृष्णादयो गोपा ननृतुर्युयुधुर्जगुः" इति।

१६६ । तथा जरासन्धबधे (भा० १०।७२।४१-४२) —

(१६६) "सञ्चिन्त्यारिबधोपायं भीमस्यामोघदर्शनः ।
दर्शयामास विटपं पाटयन्निव संज्ञया ॥४२१॥
तद्विज्ञाय महासत्त्वो भीमः प्रहरतां वरः ।
गृहीत्वा पादयोः शत्रुं पातयामास भूतले ॥"४२२॥

स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

१६७ । अथ तत्प्रीतिमयो रौद्ररसः । तत्रालम्बनस्तत्प्रीतिमयक्रोधस्य विषयः श्रीकृष्णस्तदाधारस्तत, प्रियजनश्च । तस्य विषयश्चेत्तद्धितस्तदहितः स्वाहितो वा भवति, तदादि पूर्ववत्तत्प्रीतेर्विषयत्वेन तस्यैव मूलमालम्बनत्वम् । अन्ये तु क्रोधांशमात्रस्य वहिरङ्गालम्बनाः । तत्र प्रमादादिना श्रीकृष्णात् सख्या अत्याहिते सख्याः क्रोधविषयः

---

राम कृष्णादि गोपगण--नृत्य गीत एवं बाहु युद्ध करके क्रीड़ा किये थे । यहाँ पर श्रीकृष्ण के सम्मुख में अन्य गोपगण--उनके सन्तोष हेतु युद्ध किये थे--यह प्रतिपन्न होता है । प्रवक्ता श्रीशुक हैं ।।१६५।।

१६६ । श्रीकृष्ण वैरी जहाँपर प्रति योद्धा है—उस युद्ध वीर रस का उदाहरण--जरासन्ध वध प्रसङ्ग भा० १०।७२।४१-४२ में है—

(१६६) "सञ्चिन्त्यारिबधोपायं भीमस्यामोघदर्शनः ।
दर्शयामास विटपं पाटयन्निव संज्ञया ॥४२१॥
तद्विज्ञाय महासत्त्वो भीमः प्रहरतां वरः ।
गृहीत्वा पादयो शत्रुं पातयामास भूतले ॥"४२२॥

अमोघ दर्शन--श्रीकृष्ण--शत्रु जरासन्ध बध का उपाय चिन्तन पूर्वक वृक्षशाखा को चीर कर सङ्केत के द्वारा उपाय सूचित किये थे। महाबलशाली वीरवरभीम--शत्रु बध का उपाय को जानकर उस के पदद्वय को धारण पूर्वक उस को भूतल में गिराये थे । श्रीशुक कहे थे—१६६।।

१६७ । **रौद्ररस**

अनन्तर भगवत् प्रीतिमय रौद्र रस का वर्णन करते हैं—उस में आलम्बन श्रीकृष्ण है, अर्थात् प्रीतिमय क्रोध का विषय श्रीकृष्ण हूँ, आश्रय उनके प्रियजन होते हैं । क्रोध का विषय—यदि श्रीकृष्ण हित, श्रीकृष्ण हित, अथवा निजाहित होता है तो भी हास्य एवं युद्ध वीर रस के समान उस प्रीति का विषय रूप में श्रीकृष्ण ही मूलावलम्बन होते हैं । अपर व्यक्ति-केवल क्रोधांश का बहिरङ्गालम्बन है ।

रौद्र रस का विषयालम्बन पञ्चविध होते हैं—(१) प्रमादादि हेतु श्रीकृष्ण से सखी का अतिशय अनिष्ट होने से सखी का क्रोध का विषय श्रीकृष्ण होते हैं । (२) प्रमादादि हेतु बहवादि का कृष्ण सङ्गम अवगत होने से वृद्धादिका क्रोध का विषय श्रीकृष्ण होते हैं । (३) श्रीकृष्ण के हितकारी जन—प्रमाद हेतु रक्षणावेक्षण में असतर्क होने से क्रोध का विषय होते हैं । (४) श्रीकृष्ण के अहित अनिष्टकारी दैत्यादि--क्रोध के विषय होते हैं । (५) निज अहित अर्थात् भक्त का निज अनिष्ट कारी व्यक्ति,-अर्थात् अपने के सहित श्रीकृष्ण के सम्बन्ध का विघ्नकारी क्रोध का विषय होता है ।

रौद्र रस का उद्दीपन—क्रोध का विषय के अवज्ञादि हैं । अनुभाव--हस्त निष्पेषणादि व्यभिचारि

श्रीकृष्णः, तेन वध्वादीनामवगते सङ्गमे वृद्धादीनाञ्च स एव । अथ तद्धितश्च प्रमादेन तदनवेक्षणाद न्यस्य क्रोधविषयः स्यात् । तदहितो दैत्यादिः, स्वाहितस्तु स्वस्य तत्सम्बन्धबाधकः । अथोद्दीपनाः क्रोधविषयस्यावज्ञादयः, अनुभावा हस्तनिष्पेषादयः, व्यभिचारिण आवेगादयः, स्थायी तत्प्रीतिमयः क्रोधः, वृद्धायास्तत्प्रीतिमयः क्रोधः । वृद्धायास्तत्प्रीतिमयत्वं व्रजजनत्वात्तदापि स्वाभाविक्याः प्रीतेरन्तर्भावमात्रेणान्येषां तद्विकारत्वेन, तच्च तस्यैव

---

आवेशादि । स्थायि-कृष्ण प्रीतिमय क्रोध । जो वृद्धा--निज बधू के सहित श्रीकृष्ण सङ्गम अवगत होकर क्रुद्धा होती है । उसका क्रोध-श्रीकृष्ण प्रीतिमय है । समस्त व्रजवासियों की प्रीति, श्रीकृष्ण में स्वाभाविकी है । व्रजजन होने के कारण—वृद्धा भी कृष्ण प्रीतिमयी है । वृद्धा, जिस समय श्रीकृष्ण सङ्गम बधू के सहित हुआ है, यह जानकर वृद्धा में जो क्रोध होता है, उस क्रोध में भी व्रजवासी होने के कारण—स्वाभाविकी प्रीति विद्यमान हेतु उस वृद्धा का क्रोध भी प्रीतिमय है, "वृद्धादि" पद में जो आदि शब्द का विन्यास हुआ है—उस से जिस का बोध होता है, उस का क्रोध भी स्वाभाविक प्रीति का बिकार हेतु वह प्रीतिमय है । प्रधानतः श्रीकृष्ण का ही मङ्गल कामना से वृद्धावि क्रुद्ध होता हैं ।

अर्थात् परबधू गमन से श्रीकृष्ण का अधर्म होगा, अधर्म से श्रीकृष्ण का अमङ्गल होगा, इस आशङ्का से व्रज के वृद्धादि निज बधू के सहित श्रीकृष्ण सङ्गम अवगत होने से श्रीकृष्ण के प्रति वृद्धादि क्रुद्ध होते हैं । उसका उद्देश्य यह है—हमारे क्रोध को देखकर भय से श्रीकृष्ण—अधर्माचरण से निवृत्त होगा । उक्त पञ्चविध क्रोध के विषय के मध्यमें प्रथमोक्त त्रिविध क्रोधाविविषय का दृष्टान्त का अनुसन्धान अन्यत्र कर लेना चाहिये ।

(१) श्रीकृष्ण से सखी का अत्यन्त अहित सम्भावना करके श्रीकृष्णो के प्रति सखी का जो क्रोध है—उसका उदाहरण विदग्ध माधव--२।५३ में है—

"अन्तः क्लेश कलङ्किताः किलवयं यामोऽद्य याम्यां पुरं--
नायं वञ्चन सञ्चय प्रणयिनं हासं तथाप्युज्झति ।
अस्मिन् संपुटिते गभीर कपटै राभीरपल्लीकिटे
हे मेधाविनी राधिके तव प्रेमा कथं गरीयानभूत् ॥"

ललिता ने क्रोध प्रकाश कर बोली—हे राधे ! हम सब मनोदुःख से आज ही यमपुरी चले जायेंगे, इसने कपट प्रणय युक्त हास्य को तथापि परित्याग नहीं किया । हे बुद्धिमती राधिके ! जिस के भीतर गभीर कपटता विराजित है, उस गोप पल्लीकामुक में तुम्हारा प्रेम इतना गरीयान् कैसे हुआ ? (२) वृद्धादिका क्रोध-भक्तिरसामृत सिन्धु (उत्तर ५।४) में

"अरे युवति तस्कर प्रकटमेव बध्वाः पट
स्तवोरसि निरीक्ष्यते वतनेनति किं जल्पसि ।
अहो व्रज वासिनः शृणुतः किं न विक्रोशनं
व्रजेश्वर सुतेन मे सुत गृहेऽग्निरुत्थापितः ॥"

श्रीकृष्ण के प्रति क्रोध प्रकाश कर वृद्धा बोली—अरे युवतीतस्कर । सुस्पष्ट तेरा वक्ष में मेरी बहू का वस्त्र दिख रही हूँ । हा कष्ट ! अभी तु क्यों ना ना बोल रहा है ? अहे व्रजवासि गण ! तुम लोकों ने क्या चित्कार नहीं सुना है ? व्रजराज पुत्र ने मेरा घर में आँच लगा दिया है ।

मङ्गलकामनाप्रायतया । तत्र पूर्व्वेषां त्रयाणामुदाहरणमन्यत्रान्वेष्यम् । उत्तरयोर्द्वयोस्तु यथा (भा० १०।७४।४१)—

(१६७) "ततः पाण्डुसुताः क्रुद्धा मत्स्य-केकय-सृञ्जयाः ।
उदायुधाः समुत्तस्थुः शिशुपाल-जिघांसवः ॥"४२३॥

स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

१६८ । तथा (भा० १०।३९।२६)—

(१६८) "मैवम्बिधस्याकरुणस्य नाम भू-,दक्रूर इत्येवमतीवदारुणः ।
योऽसावनाश्वास्य सुदुःखितं जनं, प्रियात् प्रियं नेष्यति पारमध्वनः ॥"३२४॥

स्पष्टम् ॥ श्रीगोप्यः ॥

१६९ । अथ तत्प्रीतिमयो भयानकरसः, तत्रालम्बनश्चिकीर्षित–तत्पीड़नाद्दारुणाद्-

---

(३) श्रीकृष्ण के हितकारी जन उनके रक्षणाविक्षण में अनवहित होने से क्रोध के विषय होते हैं, भक्तिरसामृतसिन्धु के उत्तर उक्त ५।६ में है—

"उत्तिष्ठ मूढ़े कुरु मा विलम्बं वृथैव धिक् पण्डित मानिनीत्वम् ।
त्रुटयत् पलाशिद्वयमन्तरा ते बद्धः सुतोऽसौ सखि बभ्रमीति ॥"

दाम बन्धन लीला में यमलार्ज्जुन वृक्ष का प्रचण्ड पतन शब्द से श्रीयशोदा मूर्च्छिता होने पर श्रीरोहिणी देवी उनको बोली थीं–मूढ़े ! उठ ,उठ, देरी मतकर । तुम पुत्र शिक्षा विषय में अभिज्ञा मानकर वृथा अभिमान करती हो । हे सखि ! तेरा रज्जु बद्ध पुत्र भग्न वृक्षद्वय के मध्य में इधर उधर घुमरहा है ।

शेषोक्त द्विविध क्रोध विषय का उदाहरण उपस्थित करते हैं—भा० १०।७४।४१ में

(१६७) "ततः पाण्डुसुताः क्रुद्धा मत्स्य-केकय-सृञ्जयाः ।
उदायुधाः समुत्तस्थुः शिशुपाल-जिघांसवः ॥"४२७॥

उसके पश्चात् पाण्डु पुत्रगण एवं मत्स्य सृञ्जय केकय देशवासि गण अस्त्रोत्तोलन पूर्वक शिशुपाल के बध करने के निमित्त अवस्थान। करने लगे थे । प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥१६७॥

१६८ । निज अनिष्टकारिजन क्रोध का विषय होता है—उसका दृष्टान्त भा० १०।३९।२६ में है—

(१६८) "मैवम्विधस्याकरुणस्य नाम भु-'दक्रूर इत्येवमतीवदारुणः ।
योऽसावनाश्वास्य सुदुःखितं जनं, प्रियात् प्रियं नेष्यति पारमध्वनः ॥"४२४॥

अक्रूर श्रीकृष्ण को लेकर मथुरा प्रस्थान करने पर व्रजसुन्दरीवृन्द बोली थीं – 'जिस का व्यवहार इस प्रकार है, जिसका हृदय अकरुण है–उसका नाम अक्रूर होना समीचीन नहीं है, यह व्यक्ति अतिनिठुर है, अति दुःखित जन गण को आश्वस्त न करके प्राण से भी प्रिय कृष्ण को अतिदूर देश में ले जा रहा है ।
गोपी गण बोली थीं ।।१६७।।

१६९ । **भयानक रस**

अनन्तर भगवत् प्रीतिमय भयानक रस का वर्णन करते हैं । उस में आलम्बन आलम्बन--जो व्यक्ति श्रीकृष्ण के प्रति दारुण उत्पीड़न करने के इच्छुक है, उस से जो तदीय प्रीतिमय भय है—उसका विषय

यत्तदीयप्रीतिमयं भयं तस्य विषयः श्रीकृष्णः, तदाधारस्तत्प्रियजनश्च। किञ्च, स्वस्य तद्विच्छेदं कुर्व्वाणाद्यत्तादृशं कुर्व्वाणाद्यत्तादृशं भयम्, यच्च स्वापराधकदर्थितात् श्रीकृष्णादेव वा स्यात्तस्य तस्य स्वविषयकत्वेऽपि पूर्व्ववत् प्रीतेर्विषयत्वात् श्रीकृष्ण एव मूलालम्बनः। भयहेतुस्तूद्दीपन एव भवेत्,–(भ० र० सि० २।१।१५) "विभाव्यते हि रत्यादेर्यत्र" इति सप्तम्यर्थत्वस्य पूर्व्वत्रैव व्याप्तेः, "येन" इति तृतीयार्थस्य तूत्तरत्रैव व्याप्तेश्च। स्वविषयत्वे तु य एव विषयः, स एवाधार इति भयांशमात्रविषयत्वेन पूर्व्ववद्बहिरङ्ग एवालम्बनोऽसौ, तदाधारत्वेन त्वन्तरङ्गोऽपि।

अथोद्दीपना भीषणभ्रूकुटचाद्याः, अनुभावा मुखशोषाद्याः, व्यभिचारिणश्चापल्याद्याः, स्थायी तत्प्रीतिमयं भयम्, तदुदाहरणञ्च, (भा० १०।३।२९) —

(१६९) "जन्म ते मय्यसौ पापो मा विद्यान्मधुसूदन।
समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः ॥"४२५॥

अत्र विषयत्वेनैव हेतुत्वम्, न तु कारकान्तरत्वेन ॥ श्रीदेवकी श्रीभगवन्तम् ॥

१७०। तथा शङ्खचूड़-दौरात्म्ये (भा० १०।३४।२८)—

---

श्रीकृष्ण हैं। आश्रय—श्रीकृष्ण प्रियजन हैं। और जो व्यक्ति-भक्त का निज सम्बन्धमें कृष्ण विच्छेद उत्पन्न कराता है, उस से जो तादृश भय एवं निजापराध द्वारा लाञ्छित कृष्ण से जो भय है—अर्थात् स्वयं कृष्ण के प्रति दौरात्म्य प्रकाश करने से तज्जन्य श्रीकृष्ण से जो भय है—उस उस भय का विषय भक्त स्वयं होने पर भी हास्यादि रस के समान ही श्रीकृष्ण ही प्रीति का विषय होने के कारण कृष्ण ही मूलावम्बन हैं। तत्तत् स्थल में भय का जो कारण है—वह उद्दीपन विभाव होता है। कारण, जिस में रत्यादि विभावित होते हैं, विभाव शब्द की यह व्युत्पत्तिस्थ सप्तमी विभक्ति का अर्थ की व्याप्ति पूर्वत्र ही अर्थात् श्रीकृष्ण विषय में प्रतीत होती है। जिस से विभावित होते हैं—इस तृतीया विभक्ति का अर्थ की व्याप्ति उत्तरत्र--अर्थात् विच्छेद कारक में वा अपराधी भक्त में प्रतीत होती है। भय, निज विषय में होने पर भी जो विषय है वह भक्त ही आश्रय है। तज्जन्य भयांश मात्रका विषय होने के कारण--(प्रीति का नहीं) विच्छेद कारक भी अपराधी भक्त--पूर्ववत्--वीरादि रस के समान बहिरङ्गालम्बन है। किन्तु भय का आश्रय-अन्तरङ्गालम्बन भी है। उद्दीपन--भीषण भ्रूकुटी प्रभृति हैं। अनुभाव--मुख शोषादि हैं, व्यभिचारी--आलस्यादि हैं। स्थायी—कृष्ण प्रीतिमय भय है। त्रिविध भयानक रसका उदाहरण--क्रमशः प्रस्तुत करते हैं।

श्रीकृष्ण के प्रति दारुण उत्पीड़नाभिलाषी से भय का दृष्टान्त भा० १० ३।२९ में है—

(१६९) "जन्मते मय्यसौ पापो माविद्यान्मधुसूदन।
समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः ॥"४२५॥

हे मधु सूदन! मुझ से तुम्हारा जन्म हुआ है—इस वृत्तान्त को कंस जैसे जान न सके। मैं तुम्हारे निमित्त ही पाप कंस से भीत हूँ। मेरा चित्त अधीर हो रहा है।

यहाँ श्रीकृष्ण, विषयालम्बन होने के कारण ही उनको भय का निमित्त कहा गया है, अपर किसी प्रकार भयावहता हेतु नहीं।          श्रीदेवकी देवी श्रीभगवान् को बोली थीं ॥१६९॥

१७०। जो व्यक्ति श्रीकृष्णविच्छेद उपस्थित करता उस से जो भय होता है-उसका दृष्टान्त शङ्खचूड़

(१७०) "क्रोशन्तं कृष्ण रामेति विलोक्य स्वपरिग्रहम्" इति।

स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

१७१। तथा च, (भा० १०।१४।१४)—

(१७१) "अथ क्षमस्वाच्युत मे रजोभुवो, ह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिनः।
अजावलेपान्धतमोऽन्धचक्षुष, एषोऽनुकम्प्यो मयि नाथवानिति ॥"४२६॥

स्पष्टम् ॥ ब्रह्मा श्रीभगवन्तम् ॥

१७२। अथ तन्मयो बीभत्सपरमः। अत्राप्यन्यजुगुप्सायास्तत्प्रीतिमयत्वेन पूर्ववत्तत्प्रीतिविषयत्वाच्छ्रीकृष्ण एव मूलालम्बनः, तदाधारस्तत्प्रियजनश्च। जुगुप्सामात्रांशस्य विषयोऽन्यस्तु वहिरङ्गालम्बनः, उद्दीपना अन्यगतामेध्यतादयः, अनुभावा निष्ठीवनादयः, व्यभिचारिणो विषादादयः, स्थायी च तत्प्रीतिमयी जुगुप्सा, उदाहरणञ्च,—(भा० १०।६०।४५) "त्वक्-श्मश्रु-रोम-नख-केश-पिनद्धम्" इत्यादिकं श्रीरुक्मिणी—वाक्यमेव।

---

दौरात्म्य वर्णन प्रसङ्ग भा० १०।३४।२८ में है—

(१७०) "क्रोशन्तं कृष्ण रामेति विलोक्य स्वपरिग्रहम्"

वसन्तोत्सव में जिस समय व्रजदेवीगण श्रीकृष्ण बलराम के सहित विहार कर रही थीं, उस समय हठात् शङ्खचूड़ नामक यक्ष आकर उन सबको उठाकर ले जा रहा है। यह जान कर वे हे कृष्ण! हे राम! कह कर चीत्कार करने लगी थीं श्रीशुक कहे थे ॥१७०॥

१७१। निज अपराध द्वारा लाञ्छित कृष्ण से भय का दृष्टान्त भा० १०।१४।१० में है—

(१७१) "अथ क्षमस्वाच्युत मे रजोभुवो, ह्यजानतस्त्वत् पृथगीशमानिनः।
अजावलेपान्धतमोऽन्धचक्षुष, एषोऽनुकम्प्यो मयि नाथवानिति ॥"४२६॥

श्रीब्रह्मा श्रीकृष्ण के वयस्य एवं गोवत्स समूह को हरण करने के पश्चात् भीत होकर कहे थे। हे अच्युत! मैं रजोगुण से उत्पन्न हूँ, इस हेतु मैं अज्ञ हूँ। सुतरां मेरे नयन युगल अन्ध हो गये हैं। तज्जन्य में आप से पृथक् ईश्वर हूँ—इस प्रकार अभिमानी हो गया हूँ। मुझ को निज भृत्य बुद्धि से अनुग्रह पात्र मान कर क्षमा करें। ब्रह्मा श्रीभगवान् को कहे थे ॥१७१॥

१७२। **बीभत्स रस**

अनन्तर भगवत् प्रीतिमय बीभत्स रसका वर्णन करते हैं। इस में भी अपर के प्रति जुगुप्सा (घृणा) भगवत् प्रीतिमयी है। श्रीकृष्ण ही प्रीति के विषय हैं, इस हेतु जुगुप्सा रति का भी श्रीकृष्ण ही मूल आलम्बन हैं। श्रीकृष्ण प्रिय व्यक्ति उस में वहिरालम्बन हैं। उद्दीपन-अमेध्यतादि हैं। अनुभाव-निष्ठीवनादि (थुत्कारादि) हैं। व्यभिचारी—विषादादि हैं। स्थायी भगवत् प्रीतिमयी जुगुप्सा है। उदाहरण भा० १०।६०।४५ में इस प्रकार है।

"त्वक् श्मश्रु रोमनख केशपिनद्धमन्तर्मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम्।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढ़ा याते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री ॥"

टीका—तथाहि ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती सती या स्त्री विमूढ़ा सा कान्तोऽयमिति मतिर्यस्याः सा

अथ तत्प्रीतिमयः करुणरसः । तत्रालम्बनः केवलबन्धुभावमयप्रेम्णानिष्टाप्ति-पदतादेवत्वेन तत्प्रीतिमय-करुणाविषयः श्रीकृष्णः, तदाधारस्तत्प्रियश्च, उद्दीपनास्तत्कर्म्म-गुणरूपाद्याः, अनुभावा मुखशोष-विलापाद्याः, व्यभिचारिणो जाड्य-निर्व्वेदादयः, स्थायी तत्प्रीतिमयः शोकः, उदाहरणञ्च, (भा० १०।१६।१९)—

(१७२) "अन्तर्ह्रदे भुजग-भोगपरीतमारात् ।
कृष्णं निरीहमुपलभ्य जलाशयान्ते ।
गोपांश्च मूढ़धिषणान् परितः पशूंश्च
संक्रन्दतः परमकश्मलमापुरार्त्ताः ॥"४२७॥ इत्यादि ।

स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

१७३ । अत्र कृष्णप्रीतिमतो जनस्य च यद्यन्योऽपि तत्कृपाहीनो जनः शोचनीयो भवति, तदा तत्रापि तन्मय एव करुणः स्यात्, यथा (भा० ७।५।३१)—

---

कान्तमति जीवच्छवं भजति । त्वगादिभिर्बहिः पिनद्धं छन्नम्--अन्तर्मांसादिमयमित्त ।

श्रीरुक्मिणी देवी श्रीकृष्ण को बोली थीं— जो स्त्री आप के पद पद्म के मकरन्द का आघ्राण ग्रहण करने में अक्षम है, वह मूढ़मति स्त्री--बाहर त्वक्, श्मश्रु, रोम, नख, केश द्वारा आच्छादित एवं भीतर में मांस, अस्थि, रक्त, कृमि, विष्ठा, वात, पित्त,कफ पूरित जीवित शव देहका भजन कान्तमानकर करती हैं ।

### करुण रस

अनन्तर भगवत् प्रीतिमय करुण रस का वर्णन करते हैं-भगवत् प्रीतिमय जो प्रेम हैं, उस के द्वारा निष्ठा प्राप्ति का विषय रूप में प्रतीत होने के कारण उस प्रीतिमय करुणा का विषय श्रीकृष्ण हैं, आश्रय उन के प्रिय व्यक्ति गण हैं ।

अर्थात् ममतातिशय के आविर्भाव से समृद्धा प्रीति ही प्रेम शब्द वाच्य है । प्रेम द्वारा निष्ठा प्राप्ति का विषय--कहने का तात्पर्य्य यह है कि—प्रेमोद्रेक हेतु श्रीकृष्ण--मेरा है–इस प्रकार ज्ञान की जो दृढ़ता है, वह ज्ञान श्रीकृष्ण को अवलम्बन कर उपस्थित होने के कारण–श्रीकृष्ण उस का विषय हैं । श्रीकृष्ण में ममता निबन्धन ही उनकी विपदाशङ्का से शोक उपस्थित होता है– एतज्जन्य श्रीकृष्ण–करुणा का विषय होते हैं । करुण रसका उद्दीपन—श्रीकृष्ण के धर्म्म, गुण, रूपादि हैं । अनुभाव–मुख शोष, विलापादि, व्यभिचारी--जाड्य निर्वेदादि हैं, स्थायी–कृष्ण प्रीतिमय शोक है । उदाहरण- भा० १०।१६।१९ में है—

(१७२) "अन्तर्ह्रदे भुजग-भोगपरीतमारात् कृष्णं निरीहमुपलभ्य जलाशयान्ते ।
गोपांश्च मूढ़धिषणान् परितः पशूंश्च संक्रन्दतः परमकश्मलमापुरार्त्ताः ॥"४२७॥

टीका—ततश्च सर्प शरीर वेष्टितं कृष्णं दूरान्निरीक्ष्य गोपांश्च पशूंश्च तथा निरीक्ष्य आर्त्ताः परम कश्मलं परमोहं प्रापुः ।

कालिय ह्रद में सर्प शरीर द्वारा वेष्टित श्रीकृष्ण को दूर से देखकर एवं गोप गण के सहित पशुवृन्द को कातर देखकर समागत गोपगण अतिशय दुःखित हुये थे । श्रीशुक कहे थे ।।१७२।।

१७३ । यदि भगवत् कृपा हीन अन्यजन शोचनीय होता है तो, उस के सम्बन्ध में भी प्रीतिमान्

(१७३) "न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुं दुराशया ये वहिरर्थमानिनः।
अन्धा यथान्धैरुपनीयमाना,-स्तेऽपीशतन्त्र्यामुरुदाम्नि बद्धाः ॥"४२८॥

स्पष्टम् ॥ श्रीप्रह्लादो गुरुपुत्रम् ॥

१७४। किञ्च, त एव विस्मयादयो यदि श्रीकृष्णाधारा भवन्ति, त एव तत्प्रीतिमय-चित्तेषु सञ्चरन्ति, तदापि तत्प्रीतिमयाद्भुत-रसादयो भवन्ति, यथा— (भा० १।१५।५) "अहो अमी देववरामरार्चितम्" इत्यादिष्वजातप्रीतीनान्तु तत्सम्बन्धेन ये विस्मयादयो भावास्तदीय-रसाश्च दृश्यन्ते, तेऽत्र तदनुकारिण एव ज्ञेयाः।

---

जन में भगवत् प्रीतिमय करुण रस का उदय होता है। उदाहरण भा० ७।५।३१ में है—

(१७३) "न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुं, दुराशया ये वहिरर्थमानिनः।
अन्धा यथान्धैरुपनीयमाना,--स्तेऽपीशतन्त्र्यामुरुदाम्नि बद्धाः ॥"४२८॥

टीका--ननु श्रीकृष्णस्य परमानन्द स्वरूपत्वात् तेऽपि तन्निष्ठा एवं किं न स्युः तदज्ञानादित्याह नेति। ये दुराशया विषयवासितान्तः करणास्ते हि विष्णुं न विदुः-तत्र हेतुः स्वस्मिन्नेवार्थः पुरुषार्थो येषां तेषां गतिं गम्यम्। ननु तेऽपि गुरूपदेशात् विष्णुं ज्ञास्यन्ति तत्राह। वहि विषयेष्वर्थो येषां ते वहिरर्थास्तानेव-गुरुत्वेन मन्तुं शीलं येषां ते। अतोऽन्धै रुपनीयमाना अन्धा यथा पन्थानं न विदुः, किन्तु गर्त्ते पतन्ति, तथा तेऽपि ईशस्य तन्त्र्यां दीर्घरज्ज्वाः वेद लक्षणायाम्, उरूणि दामानि ब्राह्मणादि नामानि यस्यां तस्यां कामैः कर्म्मभिर्बद्धा एव भवन्तीत्यर्थः। तदुक्तम्, विषयाविष्ट चित्तानां विष्ण्वावेशः सुदूरतः वारुणीदिग् गतं वस्तु व्रजन्नैन्द्रीं किमाप्नुयादिति॥

श्रीप्रह्लाद-गुरुपुत्र को कहे थे—जो लोक-विषयक सुख को ही मानते हैं, वे दुराशय व्यक्तिगण, भगवान् ही एकमात्र पुरुषार्थ हैं, इस प्रकार बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति वृन्द का एकमात्र आश्रय स्वरूप भगवान् को जानने में असमर्थ हैं, अन्ध के द्वारा नीयमान अन्ध के समान ही वे व्यर्थ जन्म कर्म प्रभृति अभिमान ग्रस्त होकर कर्म्म पाश से बद्ध होते हैं।

श्रीप्रह्लाद-गुरु शुक्राचार्य्य के पुत्र को कहे थे॥१७३॥

१७४। श्रीकृष्ण, यदि विस्मयादि का आश्रय होते हैं तो, वे सब विस्मयादि श्रीकृष्ण प्रीतिमय चित्त में सञ्चारित होते हैं। उस समय भी भगवत् प्रीतिमय अद्भुत रस का उदय होता है। उसका दृष्टान्त भा० १०।१५।५ में है—

"अहो अमी देववरामरार्च्चितं पादाम्बुजं ते सुमनः फलार्हणम्।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मनस्तमोऽपहत्यै तरुजन्म यत् कृतम्॥"

टीका—तरुजन्म येन तमसा कृतं तस्य तमसः पापस्यापहत्यै नाशाय। अथवा, येन त्वयेश्वरेणसर्वोप-कारकं तरुजन्म कृतं तं त्वां नमन्ति। एवं श्लाघ्योऽपि जन्मनि यदज्ञान रूपं तमोऽस्ति तस्यापहत्यै।

श्रीकृष्ण—श्रीबलदेव को कहे थे—हे देववर! तमो नाश हेतु जिन्होंने तरुजन्म प्रकट किया है, वृन्दावन के उस प्रकार वृक्ष समूह फुल फल उपहार प्रदान कर निज शिखा समूह के द्वारा अमरार्च्चित आप के चरण कमलों में प्रणाम कर रहे हैं।

सारार्थ—इस के पहले दर्शाया गया है—विस्मयादि रति का बिषय—श्रीकृष्ण, एवं आश्रय-कृष्ण प्रियव्यक्ति होने से रसनिष्पन्न होता है। यहाँ उक्त है—श्रीकृष्ण, यदि विस्मय रति का आश्रय होते हैं तो

अथ रसानामाभासतापत्त्यादिज्ञानायाश्रयनियमः परस्परं व्यवहारोऽप्युद्दिश्यते । तत्राश्रयनियमः श्रीकृष्णसम्बन्धानुरूप एव । यथा पित्रादिषु प्राकृतस्य वात्सल्यस्याश्रयत्वं नियतम्, तथा मुख्यानां पञ्चानां मिथो व्यवहारस्तदाश्रयाणां जनानामिव स च कुलीनलोकत एवावगन्तव्यः । ततो येषां यैर्मिलित्वा नर्म्मविहारादौ यथा सङ्कोचार्हता, तदीयानां रसानां तदीयं रसैरपि मिलने तथा तदर्हता, यथा न, तथा न, यथोल्लासस्तथोल्लास इति । यथा तत्प्रेयस्यादीनां तद्वत्सलादिभिस्तदादिकम् ।

अथ गौणानां सप्तानामपि रसानां तेषु मुख्येषु पञ्चसु प्रतीपत्वमुदासीनत्वमनुगामित्वञ्च यथायुक्तमवगन्तव्यम् । यथा हास्यस्य वियोगात्मकेषु भक्तिमयादिषु चतुर्षु प्रतीपत्वम्, शान्त उदासीनत्वम्, अन्यत्रानुगामित्वमित्यादि ।

अथ गौणानां गौणैरपि वैर-माध्यस्थ्य-मैत्राणि ज्ञेयानि । यथा हास्यस्य करुण-भयानकौ वैरिणौ, वीरादयो मध्यस्थाः, अद्भुतो मित्रमित्यादि । एवं तेषु द्वादशस्वपि स्थायिनां सञ्चारिणामनुभावानां विभावानां विषयान्तरगत-भावादीनामपि प्रतीपत्वौदासीन्यानु-

---

भी अद्भुत रस निष्पन्न होता है । उक्त श्लोक में उक्त है—वृक्ष समूह–श्रीबलराम को प्रणाम कर रहे हैं, इस वर्णना द्वारा श्रीकृष्ण का विस्मय सूचित हो रहा है । यहाँ श्रीकृष्ण ही विस्मय रति का आश्रय हैं । अन्यत्र श्रीकृष्ण विषयालम्बन होने के कारण–भगवत् प्रीतिमय अद्भुत रस उदित होता है । यहाँ भगवत् प्रियजन–श्रीबलराम ही विषय हैं । ऐसा होने पर भी भगवत् प्रीति मय अद्भुत रस निष्पन्न हुआ है ।

अजात प्रीति व्यक्ति वृन्द में श्रीकृष्ण विषयक जो विस्मयादि भाव दृष्ट होते हैं, उस में वे सब भाव प्रकटन में एवं रसास्वादन में अनुकरण कारी मात्र ही होते हैं । अर्थात् वे सब अपर का भावोद्गम वा रसास्वादन को देखकर उसका अनुकरण मात्र ही करते हैं । वस्तुतः उन सब में भाव का रसोदय नहीं होता है । कारण, प्रीति ही भावोद्गम वा रसास्वादन का प्रधान कारण है, प्रीति का आविर्भाव व्यतीत भावोद्गम वा प्रीतिमय रसास्वादन होना असम्भव है ।

## रसाभासादि

अनन्तर रस समूह की आभासता को अवगत होने के निमित्त आश्रय नियम एवं परस्पर व्यवहार नियम का अनुसन्धान करते हैं । उस के मध्य में आश्रय नियम--श्रीकृष्ण के सम्बन्धानुरूप है । जिस प्रकार पिता प्रभृति में प्राकृत वात्सल्य का नियत आश्रयत्व के समान व्रजराजादि में अप्राकृत वात्सल्य का नियत आश्रयत्व है । अन्यान्य रस में भी उस प्रकार है । मुख्य पञ्चरस का परस्पर व्यवहार, उस उस रस के आश्रय जनगण के अनुरूप है । उस व्यवहार को अवश्य ही कुलीन लोक से ही जानना चाहिये । कुलीन लोक समूह की जिस के सहित जिस के मिलन में जिस प्रकार सङ्कोचार्हता है, भगवत् सम्बन्धीय रस में भी उस उस व्यक्ति के आश्रित रस के मिलन में उस प्रकार सङ्कोचार्हता होती है । कुलीन लोक समूह के मध्य में जिस जिस के मिलन में नर्म्मविहारादि में सङ्कोच नहीं रहता है, इस में भी उस उस सम्बन्ध विशिष्ट भक्त वृन्द का आश्रित रस के मिलन में सङ्कोच नहीं रहता है । जिस जिस व्यक्ति के मिलन से उन सब को उल्लास होता है, भगवत् प्रीति रस में भी तादृश सम्बन्ध विशिष्ट भक्त गणाश्रित रसके मिलन से उल्लास उपस्थित होता है । यथा—भगवत् प्रेयसी प्रभृति को भगवत् वत्सलादि के मिलन से सङ्कोचादि

गामित्वानि विवेचनीयानि। तदेवं स्थिते श्रीकृष्णसम्बन्धिषु जनेषु काव्येषु च रसस्यायोग्य-रसान्तरादि-सङ्गत्या बाध्यमानास्वाद्यत्वमाभासत्वम्। यत्र तु तत्सङ्गतिर्भङ्गिविशेषेण योग्यस्य स्थायिन उत्कर्षाय भवति, तत्र रसोल्लास एव केनाप्ययोग्यस्योत्कर्षे तु रसाभासस्यैवोल्लास इति। अथ तत्र मुख्यस्य मुख्यसङ्गत्याभासितत्वं यथा (भा० १।१०।२१,२८)—

(१७४) "स वै किलायं पुरुषः पुरातनो, य एक आसीदविशेष आत्मनि" इति,

"नूनं व्रत-स्नान-हुतादिनेश्वरः, समर्चितो ह्यस्य गृहीतपाणिभिः।

पिबन्ति याः सख्यधरामृतं मुहुः" इत्याद्यन्तम्।

ज्ञानविवेकादिप्रकाशेनात्र हि शान्त एवोपक्रान्तः, उपसंहृतश्चोज्ज्वलः। तेन चास्य वत्सलेनैव मिलने सङ्कोच एवेति परस्परमयोग्य सङ्गत्याभास्यते। अत्र समाधीयते चान्यैः,-

---

होते हैं।

गौण सप्तरस में एवं मुख्य पञ्चरस में यथा योग्य वैर, उदासीनता एवं अनुगामिता है। इस का अनुसन्धान करना कर्त्तव्य है। यथा – वियोगात्मक भक्तिमयादि रस चतुष्टय के स हत हास्य की वैरता है। शान्त में उदासीनता है, अन्यत्र -अनुगामिता है, इस प्रकार जानना चाहिये।

गौण रस के सहित गौण रस का वैर, माध्यस्थ, एवं मैत्र होगा यथा–हास्य रस का करुण, एवं भयानक रस-वैरी है,वीरादि मध्यस्थ,एवं अद्भुत रसमित्र है। इस प्रकार द्वादश रस में भी स्थायी,सञ्चारी, अनुभाव, विभाव एवं अन्य विषयगत भावादिका भी वैर, औदासीन्य, एवं अनुगामिता की विवेचना करनी चाहिये। रस समूह का सम्बन्ध निर्णय इस प्रकार सम्बन्ध स्थित होने से श्रीकृष्ण सम्बन्धीय काव्य समूह में प्रस्तुत रस के सहित अयोग्य अन्य के सम्मिलन से जो आस्वादन का व्याघात होता है, वही रसाभास है, और जहाँ अन्य रस की सङ्गति- भङ्ग विशेष के द्वारा योग्य स्थायी का अर्थात् जिस स्थायी भाव को अवलम्बन कर काव्य रचित हुआ है, उसका—उत्कर्ष हेतु वहाँ उस का उल्लास ही होता है। किसी कारण से अयोग्य स्थायी का उत्कर्ष होने पर रसाभास का ही उल्लास होता है। अनन्तर रसाभास का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं—भा० १।१०।२१–२८ में उक्त है—

(१७४) "स वै किलायं पुरुषः पुरातनो, य एक आसीदविशेष आत्मनि।

"नूनं व्रत-स्नान-हुतादिनेश्वरः, समर्चितो ह्यस्य गृहीतपाणिभिः।

पिबन्ति याः सख्यधरामृतं मुहुर्व्रजस्त्रियः संमुमुहुर्यदाशयाः॥"

टीका—तत्र तेजः सौन्दर्य्याद्यतिशयेन विस्मिताभ्यः सखीभ्योऽन्याः स्त्रियः कथयन्ति नात्र विस्मयः कार्य्यः, साक्षादीश्वरत्वादस्येति स वा इति चतुर्भिः, वै स्मरणे। किलेति प्रसिद्ध प्रमाणद्योतनम्। य एक एवाद्वितीयः पुरुष आसीत् स एवायं श्रीकृष्णः। कुत्रासीत्? अविशेष आत्मनि— निष्प्रपञ्चे निजरूपे। कदा अग्रे गुणेभ्यः–गुण क्षोभात् पूर्वं, तथा निशि प्रलये च। तस्य लक्षणं जगतामात्मनि जीवे। निमीलितात्मन्निति लुप्त सप्तम्यन्तं पदं जातावेक वचनम्। ईश्वरे लीन रूपेषु जीवेषु सत्स्वित्यर्थः। ननु जीवानां ब्रह्मत्वात् कथं लयः तत्राहुः--सुप्तासु शक्तिषु सतीषु। जीवोपाधिभूतसत्त्वादि शक्ति लय एव जीवलय इत्यर्थः ॥२१॥

हे सखि! अस्य गृहीत पाणिभिः पत्नीभिः, ईश्वरोऽयमेव नूनं जन्मान्तरेषु समर्चितः। यस्मिन्न धरामृते आशयश्चित्तं यासां ताः सम्मोहं प्राप्ता इति मनोहरत्वमुक्तम् ॥२८॥

'स वै किल' इत्यादिकमन्यासां वाक्यम्, 'नूनम्' इत्यादिकन्त्वन्यासाम्, (भा० १।१०।३१) "एवम्बिधा वदन्तीनाम्" इत्यादि श्रीसूतवाक्यञ्च सर्वानन्दनपरमेवेति । कौरवेन्द्रपुरस्त्रियः ॥

१७५ । तथा, (भा० ४।२०।२७-२८)—

(१७५) "अथाभजे त्वाखिलपूरुषोत्तमं, गुणालयं पद्मकरेव लालसः ।
अप्यावयोरेकपतिस्पृधोः कलि-,र्न स्यात् कृतत्वच्चरणैकतानयोः ॥"४२६॥
"जगज्जनन्यां जगदीश वैशसं, स्यादेव" इत्यादि ।

अत्र दासभावाख्य-भक्तिमयस्य प्रकृतत्वेन योग्यस्य तदयोग्योज्ज्वलसङ्गत्याभासितत्वम् । तत्र

---

इस में मुख्य रस के सहित-अपर मुख्य रस का सम्मिलन से रसाभासका दृष्टान्त इस प्रकार है। श्रीकृष्ण के हस्तिना पुर से द्वारका प्रस्थान समय में श्रीयुधिष्ठिर को पुरमहिलावृन्द बोली थीं—'यह श्रीकृष्ण, निश्चय ही पुराण पुरुष हैं । जो आत्मा में अविशेष रूप में अवस्थित थे ।

इन्होंने जिनका पाणि ग्रहण किया है, वे जन्मान्तर में निश्चय ही व्रत, स्नान, होमादि द्वारा ईश्वराधन किये हैं, कारण, व्रज सुन्दरी गण-श्रीकृष्ण को जिस अधरामृत का स्मरण करके मुग्ध हो जाती हैं। वे सब उस को मुहुर्मुहुः पान कर रही हैं ।

ज्ञान, विवेकादि प्रकाशन हेतु, यहाँ शान्त रस का उपक्रम किया गया है । किन्तु उपसंहार किया गया है—उज्ज्वल रस में। शान्त रस के सहित उज्ज्वल रस का मिलन से यहाँ शान्त रस का सङ्कोच हुआ है, अतः रसाभास प्रतीत होता है । इस हेतु अर्थात् शान्त रस में ज्ञान विवेकादि का प्रकाशन हेतु इस के सहित वात्सल रस का मिलन से सङ्कोच ही होता है । तज्जन्य परस्पर अयोग्य सङ्गति द्वारा रसाभास होता है ।

रस स्वरूप श्रीमद् भागवत होने के कारण—इस में रसाभास का प्रसङ्ग हो ही नहीं सकता है। अतएव कतिपय विज्ञगण-यहाँ इस प्रकार समाधान करते हैं--श्रीमद् भागवत में पुरस्त्री गण का वाक्य प्रसङ्ग जो उल्लेख है,—वह भिन्न भिन्न व्यक्तियों का उद्गार है । उक्त प्रकरण में वर्णित "सवै किलायं" श्लोक को वर्णन शान्त भावाक्रान्त व्यक्तियों का है। "नूनं व्रत" इत्यादि का वर्णन--उज्ज्वल रसाक्रान्त रमणी वृन्द का है। एवं भा० १।१०।३१

"एवं विधावदन्तीनां सगिरः पुरयोषितां निरीक्षणेनाभिनन्दन् सस्मितेन ययौहरिः ॥

यह श्रीसूतोक्ति है, एवं सर्वानन्द व्यञ्जक है ॥१७४॥

१७५ । उसी प्रकार अन्य दृष्टान्त भा० ४।२०।२७–२८ में है—

(१७५) "अथाभजे त्वाखिलपुरुषोत्तमं, गुणालयं पद्मकरेव लालसः ।
अप्यावयोरेकपतिस्पृधोः कलि–,र्न स्यात् कृतत्वच्चरणैकतानयोः ॥"४२६॥
"जगज्जनन्यां जगदीश वैशस, स्यादेव" इत्यादि ।

श्रीपृथु महाराज श्रीविष्णु को कहे थे-मैं लक्ष्मी के समान उत्सुक होकर अखिल पुरुष श्रेष्ठ गुणालय आप का ही भजन करूँगा । लक्ष्मी एवं मैं उभय ही आप के चरणों की सेवा में एकनिष्ठ अभिलाषी होने के कारण एक पति अभिलाषी हम दोनों में तो कलह नहीं होगा ?

श्लोक की व्याख्या—दास भाव नामक--भक्तिमय रस का आरम्भ हेतु स्थायी--दास्य रति के सहित

दासभावस्तत्-प्रकरणसिद्ध एव। उज्ज्वलसङ्गतिश्च 'पद्मकरेव लालसः' इत्यादिनावगम्यते। अत्र समाधानञ्च—न खल्वस्य तद्वत् कान्तभाववासना जाता, किन्तु भक्तिवासनैव। दृष्टान्तस्तत्र तस्या भक्त्यंश एव। तया स्पर्द्धा तु तत्परमकृपोद्धत्वेन वीराख्य-दासतां प्राप्तस्य नायोग्येति। अन्ये त्वेवं मन्यन्ते,—तत् खलु तदीय-दीनविषयक-कृपासूचक-स्वप्रेमवचनविनोद-मात्रम्, न तु लक्ष्मीस्पर्द्धावहम्,—(भा० ४।२०।२८) "करोषि फल्ग्वप्युरु दीनवत्सलः" इति,—स्वस्मिंस्तुच्छत्वमननात्। एवं श्रीत्रिविक्रमेण बलिशिरसि चरणेऽर्पिते (भा० ८।२३।६) "नेमं विरिञ्चो लभते प्रसादम्" इत्यादिकं श्रीप्रह्लाद-वाक्यमपि दृष्टम्। श्रीनरसिंहकृतायां स्वानुकम्पायामपि. (भा० ७।९।२६)—

"क्वाहं रजःप्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मिन्, जातः सुरेतरकुले क्व तवानुकम्पा।
न ब्रह्मणो न च भवस्य न वै रमाया, यन्मे कृतः शिरसि पद्मकरप्रसादः॥"४३०॥ इति।

अत्र ब्रह्मादेरधुना विद्यमानस्यापि ममैव शिरसीत्यर्थः। अत उभयत्रापि तत्तदवतारसमया-

---

अयोग्य उज्ज्वल के सम्मिलन से यहाँ रसाभास दृष्ट होता है। पृथु वाक्य में दासभाव-प्रकरण सिद्ध है। अर्थात् पृथु महाराज ने जो दास भावावलम्बन से स्तव किया था, उस का निदर्शन स्तव समूह में है। उक्त श्लोक—उस प्रकरण का अन्तर्भुक्त होने के कारण वह भी दास भाव व्यञ्जक है। उस में उज्ज्वल भाव का सम्मिलन होने का विवरण लक्ष्मी के समान समुत्सुक हूँ" इत्यादि वाक्य से बोध होता है। रस स्वरूप श्रीमद् भागवत में रसाभास दोष हो ही नहीं सकता है। इस हेतु उसका समाधान यहाँ होना आवश्यक है। लक्ष्मी के समान-पृथु महाराज में कान्त भाव की वासना नहीं जगी थी, किन्तु भक्ति वासना हुई थे। उनके वाक्य में लक्ष्मी के भक्तांश को दृष्टान्त रूप में उपस्थित किया गया है। श्रीविष्णु की परम कृपा से पुष्ट होने के कारण वीराख्य दास भाव प्राप्त पृथु के पक्ष में लक्ष्मी के सहित प्रतियोगिता अनुपयुक्ता नहीं है। अपर व्यक्ति किन्तु यहाँ इस प्रकार मानते हैं—

वह वाक्य श्रीविष्णु का दीन विषयक कृपासूचक प्रेममय वाङ्माधुर्य्य मात्र है, लक्ष्मी के सहित प्रति योगिता सूचक नहीं है। कारण, दीन वत्सल आप दीन के प्रति दया करके उस तुच्छ को भी बहुमान प्रदान करते हैं। भा० ४।२०।२८ में उक्त "करोषि फल्ग्वप्युरु दीनवत्सलः" इस वाक्य में पृथु महाराज स्वयं को अति तुच्छ माने हैं। इस प्रकार भक्तचंश का साहृश्य वा उत्कर्ष का दृष्टान्त भी अन्यत्र दृष्ट होता है।

भा० ८।२३।६ में उक्त है—"नेमं विरिञ्चो लभते प्रसादम्" बलि महाराज के मस्तक में चरण अर्पण करने पर प्रह्लाद कहे थे, इस प्रकार प्रसाद ब्रह्मा एवं लक्ष्मी भी प्राप्त करने में सक्षम नहीं हैं। श्रीनृसिंह देव जिस समय प्रह्लाद के प्रति कृपा प्रकाश किये थे—उस समय उन्होंने कहा है। भा० ७।९।२६

"क्वाहं रज प्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मिन्, जातः सुरेतरकूले क्व तवानुकम्पा।
न ब्रह्मणो न च भवस्य न वै रमाया, यन्मे कृतः शिरसि पद्मकरप्रसादः॥"४३०॥

हे ईश! रजोगुण से जिस की उत्पत्ति है एवं तमोगुण जिस में प्रचुर है, यहाँतक कि जो असुर कुल है, उस में उत्पन्न मैं कहाँ और आप की अनुकम्पा भी कहाँ? ब्रह्मा शिव एव लक्ष्मी के मस्तक में पद्मवत् समस्त सन्ताप हारी आप का प्रसादरूप जो हस्त अर्पित नहीं हुआ है, अनुकम्पा से मदीय मस्तक

पेक्षयैव तादृशप्रसादाभावो विवक्षित इति ज्ञेयम् ॥ पृथुः श्रीविष्णुम् ॥

१७६ । तथा श्रीवसुदेवादीनामपि पित्रादित्वेन योग्यस्य वात्सल्य तदयोग्यभक्तिमयसङ्गत्या-भासितत्वं तत्र तत्र दृश्यते । तत्र समाधानञ्चाग्रे--अथ बलदेवादावित्यादौ चिन्त्यम् । (भा० १०।४७।६६) "मनसो वृत्तयो नः स्युः" इत्यादिकानि श्रीव्रजेश्वरादि-वाक्यानि तु न तादृशानि,-अभिप्रायविशेषेण वत्सलरसस्यैव पुष्टतया स्थापयिष्यमाणत्वात्, तथा, (भा० १०।८०।४४)—

(१७६) "किमस्माभिरनिर्वृत्तं देवदेव जगद्गुरो ।
भवता सत्यकामेन येषां वासो गुरावभूत् ॥"४३१॥ इत्यादि ।

अथ सख्यमयस्यैश्वर्य्यज्ञानसम्बलित-भक्तिमयसङ्गमेनाभासीकृतिः । अस्य श्रीदामविप्रस्य सख्यं हि (भा० १०।८०।६) "कृष्णस्यासीत् सखा कश्चित्" इत्यादिना, (भा० १०।८०।२७)

---

वह अर्पित हुआ है ।

हिरण्य कशिपु के भवन में श्रीनृसिंह देव जिस समय श्रीप्रह्लाद के प्रति अनुकम्पा प्रकाश किये थे उस समय ब्रह्मादि देवगण उपस्थित होने पर भी मेरे शिर में ही आपने वरद हस्त अर्पण किये थे । प्रह्लाद की उक्ति का यहीं तात्पर्य्य है, श्रीबलि एवं प्रह्लाद के प्रति जो कृपा प्रदर्शन की कथा कही गई है, वह श्रीवामन एवं श्रीनृसिंह अवतार को लक्ष्य करके ही कही गई है । अर्थात् श्रीब्रह्मादि जो श्रीबलि एवं श्रीप्रह्लाद के समान भगवत् प्रसाद प्राप्त करने में असमर्थ हैं-यह नहीं किन्तु श्रीभगवान् जिस समय उक्त भक्त द्वय के प्रति कृपा प्रदर्शन हेतु श्रीवामन एवं श्रीनृसिंह रूप में अवतीर्ण होते हैं, उसी समय वे उस प्रकार कृपा लाभ से वञ्चित होते हैं । एतद्व्यतीत अन्य समय में ब्रह्मादि देवगण ततोऽधिक प्रसाद लाभ करते हैं ।

पृथु श्रीविष्णु को कहे थे ॥१७५॥

१७६ । श्रीवसुदेवादि में पितृत्वादि हेतु योग्यवत्सल रति के सहित उसकी अयोग्या भक्तिमय (दास्य) रति के सम्मिलन से जो रसाभास दृष्ट होता है, एवं तज्जन्य समय पर श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति प्रदर्शित हुई है, उसके द्वारा स्तवादि भी प्रसिद्ध हैं । समाधान हेतु कहते हैं—अनन्तर बलदेवादि के भक्ति सम्बन्ध में जो समाधान अग्रिम ग्रन्थ में होगा यहाँ भी उस के अनुसरण करना कर्त्तव्य है । भा० १०।४७।६६ में व्रजराज ने जो उद्धव के निकट कहा है कि—

"मनसोवृत्तयो नः स्युःकृष्णपादाम्बुजाश्रयाः ।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु ॥"

टीका—नोऽस्माकं मनसो वृत्तयः कृष्णपादाम्बुजा श्रयाः स्युः । अभिधायिनीरभिधायिन्यः ।

हमारे मन की समस्त वृत्ति कृष्णचरण कमलाश्रिता हो" इस का समाधान उक्त प्रकार नहीं है । कारण, अभिप्राय विशेष के द्वारा यह वाक्य वात्सल्य रस का भी पोषक है, अग्रिम ग्रन्थ में इस का स्थापन होगा । भा० १०।८१।४४ में श्रीदाम विप्र ने कृष्ण को कहा है—

(१७६) "किमस्माभिरनिर्वृत्तं देवदेव जगद्गुरो ।
भवतः सत्यकामेन येषां वासो गुरावभूत ॥"४३१॥

हे देव देव ! हे जगद् गुरो ! तुम सत्य काम हो, हम सब जब तुम्हारे साथ एकत्र होकर गुरुकुल में

"कथयाञ्चक्रतुः" इत्यादौ "करौ गृह्य परस्परम्" इत्यनेन च प्रकृतं दृश्यत इति। अत्र च समाधानं श्रीबलदेवादिवदेव चिन्त्यम् ॥ श्रीशुकः ॥

१७७। तथा, (भा० १०।६०।३९)—

(१७७) "त्वं न्यस्तदण्डमुनिभिर्गदितानुभाव, आत्मात्मदश्च जगतामिति मे वृतोऽसि" इति। आत्मा परमात्मा, आत्मदो मोक्षेषु तत्तदात्माविर्भाव-प्रकाशकः। अत्र कान्तात्वेन योग्य उज्ज्वल आत्मादि-शब्दव्यञ्जित-तदयोग्यशान्तसङ्गमेनाभास्यते। अत्र समाधीयते च, अस्याः स्वीयात्वेन कान्तभावे दासीत्वाभिमानमयी भक्तिरपि युज्यत एव,--पतिव्रताशिरोमणित्वात्, यथोक्तं तदाद्या एवोद्दिश्य (भा० १०।५९।४) "दासीशता अपि विभो विदधुः स्म दास्यम्" इति। श्रीरुक्मिण्यास्तु लक्ष्मीरूपत्वेनैश्वर्य्यस्वरूपज्ञानमिश्र-तादृशभक्तिमिश्र-कान्तभावत्वादत्र तादृश-

---

निवास किये हैं, तब हम सब को अलभ्य क्या रह गया है? इस श्लोक में सख्यमयस्थायिभाव के सहित ऐश्वर्य्य ज्ञान सम्बलित भक्तिमय भाव के सम्मिलन से अर्थात् दास्य रति के सम्मिलन से रसाभास का उदय हुआ है भा० १०।८०।६ में लिखित है—"कृष्णस्यासीत् सखा कश्चित्" श्रीदाम विप्र श्रीकृष्ण का एक सखा था। भा० १०।८०।२७ में लिखित है—"कथयाञ्चक्रतुः" "करौ गृह्य परस्परम्" परस्पर कर ग्रहण करके कहे थे। यहाँ का समाधान भी श्रीबलदेवादि के समाधान के समान ही समाधान करना होगा।

श्रीशुकदेव कहे थे ॥१७६॥

१७७। भा० १०।६०।३९ में रुक्मिणी देवी ने कही हैं—

(१७७) "त्वं न्यस्त दण्डमुनिभिर्गदितानुभाव,
आत्मात्मदश्च जगतामिति मे वृतोऽसि"

श्रीरुक्मिणी देवी का श्रीकृष्ण में कान्तभाव है, उनके वाक्य से शान्तरति सूचित होने के कारण—रसाभास सम्भावित होता है—"आत्मा राम मुनिगण आप का माहात्म्य कीर्त्तन करते हैं। आप जगत्त्रय के आत्मा एवं आत्मद हैं। श्लोक की व्याख्या आत्मा—परमात्मा, आत्मद—मोक्ष समूह में उस उस आत्मा विर्भाव प्रकाशक हैं। अर्थात् सालोक्यादि मुक्ति में जनगण जो आत्म स्वरूप साक्षात् कार प्राप्त करते हैं, श्रीकृष्ण—उन सब स्वरूपों का प्रकाशक हैं। श्रीरुक्मिणी श्रीकृष्ण कान्ता होने के कारण--मधुर रति उनकी योग्य स्थायी है। आत्मादि शब्द के द्वारा शान्त रति व्यञ्जित हुई है। यह मधुर रति के पक्ष में अयोग्य है। श्रीरुक्मिणी की मधुर रति में शान्त रति का सम्मिलन हेतु यहाँ रसाभास प्रतीत होता है। इस का समाधान यह है—

श्रीरुक्मिणी श्रीकृष्ण की स्वकीया प्रेयसी है, इस हेतु उनका कान्ताभाव में दासीत्वाभिमानमयी भक्ति का सम्मिलन होना भी समीचीन है—इस में सन्देह नहीं है, कारण—रुक्मिणी--पतिव्रता शिरोमणि हैं। पतिव्रता रमणी की पति भक्ति सर्वत्र सुप्रसिद्ध ही है। श्रीरुक्मिणी प्रभृति को उद्देश्य करके ही भा० १०।५९।४५ में श्रीशुकदेव कहे हैं—"दासी शता अपिविभोर्विदधुः स्म दास्यम्" शत शत दासी प्रभु का दासत्व करती थीं, अर्थात् ये सब श्रीकृष्ण प्रेयसी होने पर भी पतिव्रता सुलभ तदीय दास्याभिमान को हृदय में स्थापन कर ही उनकी सेवा करती थीं, विशेषतः श्रीरुक्मिणी लक्ष्मी स्वरूपा हैं, उनकी भक्ति ऐश्वर्य्य एवं स्वरूप ज्ञानमिश्रा है, उनका कान्ताभाव में उस भक्तिका मिश्रण है। तज्जन्य यहाँ तादृश भक्ति

भक्तिमात्रपोषाय तादृगप्युक्तं युक्तमिति ।। श्रीरुक्मिणी ।।

१७८ । अथ तन्माधुर्य्यमात्रानुभवमय-केवलकान्तभावानामपि श्रीव्रजदेवीनाम् (भा० १०।३१।४) "न खलु गोपिकानन्दनो भवान्" इत्यादिषु या शान्तादिसङ्गतिर्दृश्यते, सा तु पुरतः सोपालम्भादि-श्लेषवाग्भङ्गिमयत्वेन व्याख्यास्यमानत्वात्, प्रत्युत रसोल्लासायैव स्यात्, तथा, (भा० १०।३०।२३) "बद्धान्यया स्रजा काचित्" इत्यादौ वात्सल्यसङ्गतिः सङ्गत्यन्तरेण व्याख्यास्यते तथा प्रकृतोज्ज्वले रसे रासवर्णने (भा० १०।२९।१०) "दुःसहप्रेष्ठविरह" इत्यादिकं

---

का पोषण हेतु श्रीरुक्मिणी की वह उक्ति सङ्गत हो सकती है ।

श्रीरुक्मिणी बोली थीं ।।१७७।।

१७८ । अनन्तर माधुर्य्यानुभवमय शुद्ध कान्त भावाश्रित श्रीव्रजसुन्दरी वृन्द की उक्ति का रसाभासत्व का समाधान करते हैं । भा० १०।३१।४ में लिखित है—

"न खलु गोपिकानन्दनोभवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ।।"

टीका—अपि च विश्व पालनायावतीर्णस्य तव भक्तोपेक्षा अत्यन्तमनुचितेत्याशयेनाहुः न खल्विति । हे सखे ! भवान् खलुनिश्चितं यशोदासुतो न भवति, किन्तु सर्व प्राणिनां बुद्धिसाक्षी । ननु स किं बुद्धि दृश्यो भवति--तत्राहुः ।विखनसा ब्रह्मणा विश्वपालनाय प्रार्थितः सन् सात्वतां कुले उदेयिवान् उदित इति ।

श्रीव्रजदेवी वृन्द का केवल श्रीकृष्ण माधुर्य्यानुभवमय कान्तभाव है । उन्होंने श्रीकृष्ण को लक्ष्य कर कहा है । आप निश्चय ही गोपिका नन्दन नहीं हैं ।" इस जातीय उक्ति से शान्तादि रस की जो सङ्गति देखने में आती है, वह श्रीकृष्ण के उद्देश्य में तिरस्कारादि श्लेष पूर्ण वाक्य भङ्गि विशेष है । इस की व्याख्या अग्रिम ग्रन्थ में होगी । सुतरां उक्त वचन समूह में रसाभास दोष नहीं है । प्रत्युत रसोल्लास ही है श्लेष में विभिन्नार्थ का सन्निवेश होता है । उक्त वाक्य में श्रीकृष्ण को तिरस्कार किया गया है, किन्तु उस वाक्य के द्वारा स्तुति भी की गई है ।

रास प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण विरह विह्वला व्रजदेवीगण की चेष्टा का वर्णन प्रसङ्ग में श्रीशुक देवने कहा है । (भा० १०।३०।२३) "बद्धान्यया स्रजा काचित् तन्वी तत्र उलूखले ।
भीता सुदृक्पिधायास्यं भेजे भीतिविडम्बनम् ।।

टीका—सुदृक् सुनयनमास्यं पिधाय । सुदृक् वराक्षीति वा भीतिविडम्बनं भयानुकरणम् ।

एक गोपी अपर एक गोपी को पुष्पमाला के द्वारा बन्धन कर दाम बन्धन लीलानुकरण करने लगी थी । इस में मधुर रस के सहित वात्सल्य रस की सङ्गति देखने में आती है । व्याख्यान्तर द्वारा रस की सङ्गति की जायेगी ।

प्रधान उज्ज्वल रसात्मक रास वर्णन प्रसङ्ग भा० १०।२९।१० में श्रीशुकदेवने कहा है—

"दुःसह प्रेष्ठ विरह तीव्रतापधूताशुभाः ।
ध्यान प्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ।।"

दुःसह प्रिय विरह जनित ताप से उनके समस्त अशुभ विदूरित होने पर ध्यान योग से अच्युत के आलिङ्गन सुख द्वारा उनका मङ्गलमय पुण्य बन्धन भी क्षीण हुआ ।

टीका—किञ्च तदानीमेव तं परमात्मानं कृष्णं ध्यानतः प्राप्ताः सत्यो गुणमयं देहं जहुरित्याह श्लोक

श्रीमुनीन्द्रवचनम्, तथा तदनन्तरम् (भा० १०।२९।१२) "कृष्णं विदुः परं कान्तम्" इत्यादिके राजमुनीन्द्रप्रश्नोत्तरे च मोक्षप्रस्ताव-व्यञ्जित-शान्तरससङ्गत्या रसाभासत्वमकुर्वन्नित्यत्र समाधानञ्च श्रीकृष्णसन्दर्भे तथैवाग्रे च तात्कालिक-श्रीकृष्णप्राप्त्यन्तरायनिरास-मात्रमेव तत् प्रसङ्गे दर्शितम्, न त्वन्यो मोक्ष इत्यतश्चिन्त्यम्, तथा, (भा० १०।३२।८) "तं काचि-न्नेत्ररन्ध्रेण" इत्यादौ "योगीवानन्दसंप्लुता" इति चैवं व्याख्यायते,—योगीति क्लीवैकवचनम्, तच्च क्रियाविशेषणम्, लज्जया यद्यपि मनसि निधायैवोपगुह्यास्ते, तथाप्यत्यन्ताभिनिवेशेन योगि संयोगि यथा स्यात्तदिवोपगुह्यास्त इत्यर्थः। एवमन्यत्रान्यत्रापि यथायोगं समाधेयम्।

---

द्वयेन। दुःसहेति। ननु कथं जहुः ? परमात्मेति ज्ञानाभावादित्याशङ्क्याह जारबुद्ध्यपीति। नहि वस्तु शक्ति बुद्धिमपेक्षते, अन्यथा मत्वापि पीतामृतवदिति भावः। ननु तदपि प्रारब्ध कर्म बन्धने सति कथं जहुस्तत्राह सद्यः प्रक्षीण बन्धना इति। ननु कथं भोगमन्तरेण प्रारब्धं कर्म क्षीणं भोगेनैव सद्यः क्षीणमित्याह। दुःसहेति। दुःसहो यः प्रेष्ठ विरहस्तेन तीव्रताप स्तेन धूतानि गतानि अशुभानि यासाम् तदप्राप्ति परम दुःख भोगेन पापं क्षीणमित्यर्थः। तदा ध्यानेन प्राप्ता अच्युतस्य आश्लेषेण या निर्वृतिः परमसुखभोगस्तया क्षीणं मङ्गलं पुण्यबन्धनं यासां ताः। अतोध्यानेन परमात्मप्राप्त स्तत् काल सुख दुःखाभ्यां निःशेष कर्मक्षयात् गुणमयं देहं जहुरिति।

इस के पश्चात् महाराज परीक्षित् ने भा० १०।२९।१२ में कहा है—

"कृष्णं विदुः परं कान्तं नतु ब्रह्मतयामुने।
गुण प्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम् ॥"

टीका—ननु यथा पति पुत्रादीनां वस्तुतो ब्रह्मत्वेऽपि न तद् भजनान्मोक्ष स्तथा बुद्ध्यभावात् एवं कृष्णेऽपि ब्रह्म बुद्ध्यभावेन तत् सङ्गतिः कथं मोक्षहेतुरिति शङ्कते कृष्णं विदुरिति। परं केवलं कान्तं कमनीयम्।

गोपीगण श्रीकृष्ण को श्रेष्ठ कान्त मानती थीं, ब्रह्म हैं, यह नहीं जानती थीं। इत्यादि श्लोक समूह में जो मोक्ष का वर्णन हुआ है। उस से शान्तरस व्यञ्जित हुआ है। ये सब श्लोकों में उज्ज्वल रस के सहित शान्तरस का सम्मिलन होता है। श्रीकृष्ण सन्दर्भ में इस का समाधान किया गया है, इस में रसाभास नहीं है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अग्रिम भाग में भी उस का समाधान लिखित होगा। तात् कालिक श्रीकृष्ण प्राप्ति का विघ्न निरसनही उस प्रसङ्ग में प्रदर्शित हुआ, अन्य प्रकार मोक्ष प्रस्ताव वहाँपर उत्थापित नहीं हुआ है। इस प्रकार समझना होगा। भा० १०।३२।८ में श्रीकृष्ण सम्मिलन वर्णन प्रसङ्ग में श्रीशुकदेव कहे हैं—

"तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च।
पुलकाङ्ग्युपगुह्यास्ते योगीवानन्द संप्लुता ॥"

टीका—हृदि कृत्वा-हृदयं नीत्वेत्यर्थः।

एक गोपी स्वीय नेत्र रन्ध्र द्वारा श्रीकृष्ण को हृदय में स्थापन कर नयन युगल को निमीलन पूर्वक आलिङ्गन करके योगी के समान पुलकिताङ्गी एवं आनन्द युक्ता हुई थी।

'यहाँ योगी के समान' इत्यादि वाक्य की व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिये। श्लोक में विन्यस्त योगी शब्द ब्रह्मलिङ्ग की द्वितीया विभक्ति का एक वचन है, एवं क्रिया विशेषण है। लज्जा के कारण यद्यपि मनोमध्य में श्रीकृष्ण को आलिङ्गन गोपी ने किया था; तथापि अत्यन्त अभिनिवेश हेतु योगी—

अथ श्रीबलदेवादौ विरुद्धभावावस्थानं चैवं चिन्त्यम्,-यथैव श्रीकृष्णस्तत्तद्भक्तसुखव्यञ्जक-नानालीलार्थं निरुद्धानपि गुणान् धारयति, न च तैर्विरुध्यते,--अचिन्त्यशक्तित्वात् तथा तल्लीलाधिकारिणस्तेऽपि । अस्ति चैषां तद्योग्यता,-यथा श्रीबलदेवस्य ज्येष्ठत्वाद्वत्सलत्वम्, एकात्मत्वाद्बाल्यमारभ्य सहविहारित्वाच्च सख्यम्, पारमैश्वर्य्यज्ञानसद्भावाद्भक्तत्वमिति । ततः श्रीकृष्णस्य यादृशलीलासमयस्तादृश एव भावस्तद्विधस्याविर्भवति । ततो न विरोधोऽपि ततः शङ्खचूड़बधप्राक्तन-होरिका-लीलायां श्रीकृष्णेन समं युग्मीभूय गानादिकम्, तद्द्वारा द्वारकातः श्रीव्रजदेवीषु सन्देशश्च नासमञ्जसः । एवं श्रीमदुद्धवादीनामपि व्याख्येयम् ।

अथ मुख्यस्यायोग्यगौणसङ्गत्याभासत्वम्, (भा० १०।४४।५१)—

"देवको वसुदेवश्च विज्ञाय जगदीश्वरौ ।
कृतसंवन्दनौ पुत्रौ सस्वजाते न शङ्कितौ ॥"४३२॥

इत्यादिषु ज्ञेयम् । अत्र श्रीकृष्णविभावित-भयानक-सङ्गत्या तद्विषयो वत्सल आभास्यते । अत्र

---

संयोगी-जिस प्रकार होता है, उसी प्रकार आलिङ्गन किया था । इस प्रकार रसाभास अन्यत्र दृष्ट होने पर भी यथोचित समाधान करना चाहिये । कारण -- श्रीमद् भागवत में रसाभास का लेश भी नहीं है ।

श्रीबलदेव प्रभृति में जो विरुद्ध भाव का अवस्थान दृष्ट होता है, उस विषय में इस प्रकार जानना होगा । श्रीकृष्ण, जिस प्रकार भक्त सुखद विभिन्न लीलाहेतु परस्पर विरुद्ध गुण धारण करते हैं, आप अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न होने के कारण उस में विरोध नहीं होता है, उस प्रकार उनके लीलाधिकारी परिकर वृन्द भी अनेक विरुद्ध गुण धारण करते हैं। तादृश गुण धारण की योग्यता उन में है । जिस प्रकार श्रीबलदेव—श्रीकृष्ण से ज्येष्ठ होने के कारण वत्सल, उभय एकात्मा एवं आबाल्य एकत्र विहार परायण होने के कारण--सखा--श्रीकृष्ण में ऐश्वर्य्य ज्ञान वर्त्तमान भी है । अतः श्रीबलदेव भक्त दास भी हैं । तज्जन्य श्रीकृष्ण की लीला जिस प्रकार प्रकटित होती है, परिकर गणमें भी उस प्रकार भाव उपस्थित होता है । इस हेतु किसी प्रकार विरोध हो ही नहीं सकता है ।

विविध लीलापयोगी विविध गुणों का समावेश--बलदेव में होने के कारण ज्येष्ठ भ्राता होने पर भी शङ्खचूड़ बध के पूर्ववर्त्ती होरी लीला में अर्थात् जिस लीला में प्रेयसी गण के सहित श्रीकृष्ण विहार कर रहे थे, उस में, श्रीकृष्ण के सहित युगलित होकर श्रीबलदेव नृत्य गीतादि किये थे । एवं बलदेव के द्वारा द्वारका से व्रजदेवी गण के निकट संवाद प्रेरण भी असङ्गत नहीं होता है । श्रीउद्धवादि के सम्बन्ध में भी इस प्रकार ही समाधान करना होगा । अर्थात् वे सब लीला परिकर होने कारण—विविध लीलोपयोगी विविध गुण उन सब में हैं, इस हेतु निज स्वभाव की विरुद्ध लीला में उन सब की सहयोगिता सम्भवपर हो सकती है । उस से रसाभास दोष उपस्थित नहीं हो सकता है । यहाँ तक श्रीकृष्ण विषयक मुख्यरस के सहित अयोग्य मुख्यरस का सम्मिलन से सञ्जात रसाभास दोष का समाधान प्रदर्शित हुआ । अनन्तर मुख्य रस के सहित अयोग्य गौण रस के सम्मिलन से जो रसाभास होता है—उसका समाधान करते हैं । भा० १०।४४।५१ में उक्त है—

"देवकी वसुदेवश्च विज्ञाय जगदीश्वरौ ।
कृतसंवन्दनौ पुत्रौ सस्वजाते न शङ्कितौ ॥"४७२॥

समाधानञ्च प्राक्तनमेव ।

अथ गौणस्यायोग्यगौणसङ्गत्याभासत्वम्, यथा कालियह्रदप्रवेशलीलायाम् (भा० १०।१६।१६)

(१७८) "तांस्तथा कातरान् वीक्ष्य भगवान् माधवो बलः ।
प्रहस्य किञ्चिन्नोवाच प्रभावज्ञोऽनुजस्य सः ॥"४३३॥

अत्र श्रीबलदेवस्यैश्वर्य्यज्ञानवतोऽप्याधुनिक-सामाजिक-भक्तस्येव व्रजजनाधारक-करुणानुभवमयः करुणो योग्यः, स च हाससङ्गत्याभास्यते। समाधानञ्च पूर्व्ववज्ज्ञानाभावस्यापि तद्विधस्य तल्लीलाविशेषरक्षासमयानुरूपभावोदयात् । तद्विधा हि तस्य लीलाप्रवर्त्तकपरिकरा इति । हासस्य कारणं प्रभावज्ञानं ह्यत्र तेषां प्राणरक्षार्थमेव भावान्तराण्यतिक्रम्योदितम् । ततश्चैवं हि तेषां ज्ञानमभूत् । अयं चेत्तस्य परमप्रेष्ठो मर्म्मवेत्ता च हसति, तदा नास्त्येव काचिच्चिन्तेति । पुनरपि तदर्थैव तस्य चेष्टा दृष्टा, (भा० १०।१६।२२)—

---

पुत्र कृष्ण बलराम भक्ति पूर्वक प्रणाम करने पर भी देवकी वसुदेव-उन दोनों को जगदीश्वर ज्ञानसे शङ्कित होकर आलिङ्गन करने में असमर्थ थे। यहाँ श्रीकृष्ण विभावित भयानक रस के सम्मिलन से श्रीकृष्ण विषयक वात्सल्य रसाभास उपस्थित हुआ है। इस में समाधान पूर्ववत् है। अर्थात् श्रीवसुदेव देवकी लीला परिकर हैं। उन में विविध लीला निर्वाहोपयोगी विरुद्ध गुणों का समावेश हैं। इस हेतु लाल्य को देखकर वत्सल की भीति असम्भव होने पर भी यहाँ वह प्रकटित हुई है।

अनन्तर गौणरस के सहित अयोग्य गौणरस के सम्मिलन हेतु रसाभास का समाधान करते हैं। कालिय ह्रद प्रवेश लीला भा० १०।१६।१६ में उक्त है।

(१७८) "तांस्तथा कातरान् वीक्ष्य भगवान् माधवोबलः ।
प्रहस्य किञ्चिन्नोवाच प्रभावज्ञोऽनुजस्य सः ॥"४३३॥

कालिय ह्रद प्रवेश लीला में भगवान् बलराम अनुज श्रीकृष्ण का प्रभाव को जानते थे, अतः व्रजवासि वृन्द को कातर देखकर केवल हँसे थे, कुछ नहीं कहे थे। यहाँ ऐश्वर्य्य ज्ञानवान् श्रीबलदेव का भी आधुनिक सामाजिक भक्त के समान व्रज वासिवृन्द का करुणानुभवमय करुणरस योग्य है। अर्थात् सामाजिक प्रधानतः रतिका आश्रय के सहित साधारणी करण व्यापार युक्त होकर रसास्वादन करते हैं। श्रीकृष्ण को कालिय ह्रद में निमज्जित देखकर व्रजवासी में जो करुणा का उद्रेक हुआ था, आधुनिक सामाजिक जन, साधारणी करण व्यापार द्वारा उस करुणा का अनुभव करके करुण रस का आस्वादन करते हैं। उस समय श्रीबलदेव को भी व्रजजन गण की करुणा को अनुभव करके करुण होना उचित था, यहाँ वक्तव्य यही है। जिस करुणा की बात कही गई है, उसका आधार वा आश्रय वृजजन हैं, एवं विषय-कालिय ह्रद मग्न श्रीकृष्ण हैं तज्जन्य मूल में वृजजनाधारक करुणा कही गई है।

इस करुण रस बलदेव के हास्य संयोग से आभासता को प्राप्त किया है। विविध भावयुक्त श्रीबलदेव की भी लीला अर्थात् कालियदमन लीला का पोषण की रीति के अनुसार भावोदय हेतु इस रसाभास का समाधान पूर्ववत् है। श्रीकृष्ण, जिस प्रकार विविध भाव युक्त हैं, उनके लीला प्रवर्त्तक परिकर वर्ग भी उस प्रकार विविध भाव युक्त होते हैं। श्रीबलदेव का हास्य के कारण है- श्रीकृष्ण का प्रभाव ज्ञान यहाँ वृजवासि वृन्द की प्राणरक्षा हेतु अन्यान्य भाव को अतिक्रम करके

"कृष्णप्राणान्निर्विशतो नन्दादीन् वीक्ष्य तं ह्रदम् ।
प्रत्यषेधत् स भगवान् रामः कृष्णानुभाववित् ॥"४३४॥

इत्यत्र लीलान्ते पुनः श्रीकृष्णलाभे (भा० १०।१७।१६) "रामश्चाच्युतमालिङ्ग्य जहासास्यानुभाववित्" इत्यत्र तु हासः श्रीकृष्णं प्रत्युपालम्भव्यञ्जक एव । श्रीरुक्मिणीहरणलीलादौ तु भ्रातृस्नेहपरिप्लुतत्वं वर्णितम् । तस्मात्तविष्टलीलानुरूप्यान्न वैरूप्यमिति तत्र हास्योऽपि नायोग्यः ॥ श्रीशुकः ॥

१७९ । अथ स्थायिभावायोग्यत्वं प्रीतिलक्षणत एव प्रतिपन्नम् । ततः प्रीत्याभासेऽवगते रसाभासत्वमभ्यवगम्यम् ।

अथायोग्यसञ्चारिसङ्गत्याभासत्वं यथा (भा० १०।८६।३२)—

(१७९) "स्वचरत्पदतं कर्त्तुमस्मद्दृग्गोचरो भवान् ।
यदात्थैकान्तभक्तान्मे नानन्तः श्रीरजः प्रियः ॥"४३५॥

अत्र भक्तिरनन्तादिहेलनलक्षणगर्वसङ्गत्याभास्यते । तत्समाधानञ्च व्याख्यान्तरेण, तद्यथा,-

---

उस ज्ञान का उदय हुआ था । उनको हँसते देखकर व्रजवासियों का यह ज्ञान हुआ था कि—यह बलराम श्रीकृष्ण का प्रिय एवं मर्म्मज्ञ हैं, बलराम जब हँस रहे हैं, तब श्रीकृष्ण की अनिष्टाशङ्का नहीं है । अनन्तर व्रजवासि वृन्द की प्राणरक्षा हेतु श्रीबलदेव की चेष्टा देखी जाती है । भा० १०।१६।२२ में है—

"कृष्णप्राणान्निर्विशतो नन्दादीन् वीक्ष्य तं ह्रदम् ।
प्रत्यषेधत् स भगवान् रामः कृष्णानुभाववित् ॥"४३४॥

कृष्ण गत प्राण नन्दादि को कालिय ह्रद में प्रवेशोद्यत देखकर कृष्ण का प्रभावविज्ञ वह भगवान् बलराम उन सब को निषेध किये थे । तत् पश्चात् कालिय ह्रद से उत्थित श्रीकृष्ण को प्राप्तकर कृष्ण का प्रभावविद् बलराम अच्युत को आलिङ्गन करके हास्य किये थे । भा० १०।१७।१६ में उक्त है—

"रामश्चाच्युतमालिङ्ग्य जहासास्यानुभाववित्"

यहाँ श्रीबलदेव का हास्य-श्रीकृष्ण के प्रति तिरस्कार व्यञ्जक है । कतिपय व्यक्ति मानते हैं कि—श्रीकृष्ण के प्रति व्रज वासिवृन्द के समान बलराम का स्नेह नहीं था, इस प्रकार सन्देह निरसन हेतु कहते हैं—रुक्मिणी हरण लीला प्रभृति में श्रीबलराम को भ्रातृ स्नेह (कृष्ण स्नेह) परिप्लुत कहा गया है । सुतरां उक्त स्थल में उनका हास्य, श्रीकृष्ण की अभीष्ट लीला का अनुरूप होने के कारण विरूप नहीं हुआ अतः उस लीला में हास्य भी अयोग्य नहीं है । प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥१७८॥

१७९ । प्रीति लक्षण से भी स्थायिभाव की अयोग्यता प्रतिपन्न होती है । प्रीति लक्षण-स्थायिभाव, अनुभाव, विभाव-प्रीति के ये सब लक्षणों से प्रीत्याभास प्रतिपन्न होने पर भी रसाभास होता है । अयोग्य सञ्चारी के संयोग से रसाभास का दृष्टान्त भा० १०।८६।३२ में है—

(१७९) "स्वचरत्पदतं कर्त्तुमस्मद्दृग्गोचरो भवान् ।
यदात्थैकान्तभक्तान्मे नानन्तः श्रीरजः प्रियः ॥"४३५॥

विदेह राज श्रीकृष्ण को कहे थे—एकान्त भक्त से अनन्त, लक्ष्मी, ब्रह्मा मेरे प्रिय नहीं हैं--यह जो

एकान्तभक्तान्मे ममानन्तः स्वधामत्वेनापि, श्रीर्जायात्वेनापि, अजः पुत्रत्वेनापि न प्रियः, किन्तु तेऽप्येकान्तभक्त-श्रेष्ठत्वेनैव मम प्रेष्ठा इत्यर्थः। तदेतद्यदात्थ, तत् स्ववचश्च ऋतं सत्यं कर्त्तुं दर्शयितुं भवानस्मद्-दृग्गोचरोऽभूत्,— तदनुगामितांशेनैवास्मान् प्रत्यपि कृपां कृतवानित्यर्थः ॥ मैथिलः श्रीभगवन्तम् ॥

१८० । तथा (भा० १०।४६।२९) —

(१८०) "तयोरित्थं भगवति कृष्णे नन्द-यशोदयोः ।
वीक्ष्यानुरागं परमं नन्दमाहोद्धवो मुदा ॥"४३६।

इत्थं तद्वियोगज-महादुःखव्यञ्जनाप्रकारेण, अत्र श्रीव्रजेश्वरतोः श्रीकृष्णवियोगदुःखानुभवमयी श्रीमदुद्धवस्य भक्तिस्तदयोग्येन हर्षेणाभास्यते। समाधानञ्च श्रीबलदेवहासवदेव कार्य्यम् ।

---

आपने कहा है 'उस निज वाक्य को सत्य करने के निमित्त आप हमारे नयन गोचर हुये हैं। श्लोक की व्याख्या—यहाँ विदेह राज का गर्व नामक सञ्चारिभाव वर्णित हुआ है। आप जैसे अपने को अनन्त प्रभृति से भी श्रीकृष्ण का अधिक प्रिय मानते हैं, कारण उनके वाक्य को सुनने से आपाततः यही प्रतीत होता है कि—श्रीकृष्ण—अनन्तादि से अधिक प्रिय उनको मानकर दर्शन दान हेतु आये हैं। वास्तविक यह नहीं है। श्लोक का वास्तविक अभिप्राय को व्यक्त कर रहे हैं—यहाँ स्थायिभाव रूप भक्ति--अनन्तादि हेलन रूप सर्वसम्मिलन में आभासता को प्राप्त कर चुकी है—इस प्रकार बोध होता है। इसका समाधान यथा श्रुतार्थ को छोड़कर अन्यरीति से करते हैं—वह व्याख्या इस प्रकार हैं— अनन्त--निजधाम--वासस्थान, लक्ष्मी पत्नी एवं ब्रह्मा पुत्र होने के कारण--एकान्त भक्त से (श्रीकृष्ण के) प्रिय नहीं हैं किन्तु वे सब एकान्त भक्त श्रेष्ठ होने के कारण ही अतिशय प्रिय हैं—इस प्रकार जो कहा है, उस निज वाक्य को सत्य करने के निमित्त आप श्रीकृष्ण हमारे नयन गोचरीभूत हुये हैं। हम सब एकान्त भक्त श्रेष्ठ उन अनन्त प्रभृति के अनुगामी हैं, इस अंश में ही आप हमारे प्रति कृपा किये हैं। मैथिल श्रीभगवान् को कहे थे ॥१७९॥

१८०। भा० १०।४६।२९ में उसी प्रकार वर्णित है—

(१८०) "तयोरित्थं भगवति कृष्णे नन्द यशोदयोः ।
वीक्ष्यानुराग परमं नन्दमाहोद्धवो मुदा ॥"४३६॥

अयोग्य सञ्चारिभाव के सम्मिलन से रसाभास का अपर दृष्टान्त यह है--भगवान् कृष्ण में नन्द यशोदा का इस प्रकार परमानुराग को देखकर आनन्द से उद्धव नन्द को कहे थे।

श्लोक व्याख्या— इत्थं— इस प्रकार, जिस में श्रीकृष्ण विरह जनित दुःख व्यञ्जित हुआ है, उस प्रकार, यहाँ श्रीव्रजराज दम्पति की श्रीकृष्ण विच्छेद दुःखानुभवमयी श्रीउद्धव की भक्ति, उस भक्ति को अयोग्य हर्ष सम्मिलन से आभासता प्राप्त हुई है। समाधान यह है। कालिय दमन लीला में व्रजवासी की व्याकुलता को देखकर श्रीबलदेव हास्य के समान समाधान करना चाहिये। श्रीव्रजराज दम्पति को सान्त्वना दान हेतु उद्धव का आगमन व्रज में हुआ था। उनके सम्मुख में दुःख प्रकाश करना उद्धव को उचित नहीं था। कारण, उद्धव, दुःख प्रकाश करते रहने से- उनके दुःख समुद्र उद्वेलित हो उठता। इस हेतु— उनकी अनुराग महिमा को देखकर विस्मय जनित हर्ष प्रकाश करना ही उद्धव के पक्ष में उपयुक्त था। व्रजराज दम्पत्ति का अनुराग दर्शन करके ही श्रीउद्धव आनन्दित हुये थे। अनन्तर आप उन दोनों

तेषां सान्त्वनार्थमागतस्य तस्यापि दुःखाभिव्यक्तिर्न योग्या। ततस्तद्योग्यरतदीयानुराग-महिमचमत्कारजो हर्ष एव तदर्थ-मुदितः। अनन्तरं तथैव सान्त्विताश्च त इति ॥ श्रीशुकः ॥

१८१। तथा, (भा० १०।४२।१०)—

(१८१) "एहि वीर गृहं यामो न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे।
त्वयोन्मथितचित्तायाः प्रसीद पुरुषोत्तम ॥"४३७॥

अत्र नायिकायाः सर्वेषामग्रत एतादृशं चापल्यमत्ययोग्यम्। तत्सङ्गतिश्चोज्ज्वलमाभासयति। समाधानञ्चास्याः सामान्यत्वाददोष इति ॥ सैरिन्ध्री भगवन्तम् ॥

१८२। अत्र (भा० १०।३५।१४) "तव सुतः सति यदाधरबिम्बे" इत्यादिके तु न तथा चापल्यं मन्तव्यम्,—तेषां पद्यानां युगलेन युगलेन पृथक् पृथक् सभासम्वादसंग्रहरूपत्वात्।

---

को उसी प्रकार सान्त्वना प्रदान किये थे। यहाँ हर्ष सञ्चारी, उस के संयोग से रसाभास की आशङ्का थी। प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥१८०॥

१८१। भा० १०।४२।१० में भी उस प्रकार वर्णित है—

(१८१) "एहि वीर गृहं यामो न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे।
त्वयोन्मथितचित्तायाः प्रसीद पुरुषोत्तमः ॥"४३७॥

उस प्रकार अन्य दृष्टान्त यह है। श्रीकृष्ण, बलदेवादि के सहित जिस समय मथुरा के राजपथ में पर्य्यटन कर रहे थे, उस समय कुब्जा, उनके उत्तरीय प्रान्त को आकर्षण कर कही थीं—'हे वीर आओ! घर को चले, तुम को छोड़ने को मन उत्साहित नहीं हो रहा है, तुम्हें देखकर मेरा चित्त उन्मथित हुआ है। मेरे प्रति प्रसन्न हो जाओ। पुरुषोत्तम के स्थान में मधुसूदन पाठ भी है। यहाँ सर्व जन समक्ष में नायिका का इस प्रकार चापल्य करना नितान्त असङ्गत है। उस चापल्य के सम्मिलन से उज्ज्वल रस आभासता को प्राप्त करता है। उस का समाधान कुब्जा साधारणी नायिका होने के कारण, दोष नहीं हो सकता है। सैरिन्ध्री भगवान् को बोली थी ॥१८१॥

१८२। कुब्जा साधारणी नायिका होने के कारण उस का चापल्य दोषावह नहीं होगा, किन्तु व्रजदेवी गण–नायिका शिरोमणि हैं, भा० १०।४२।१० में उन सब का चापल्य दृष्ट होता है, वह तो उपेक्षणीय नहीं है। ऐसा होने पर व्रजदेवी गण का श्रीकृष्ण विषयक उज्ज्वल रस दोष शुन्य है, यह कैसे कहा जा सकता है? समाधान करते हैं—स्थायिभाव के सहित अयोग्य सञ्चारिभाव के सम्मिलन से सञ्जात रसाभास प्रसङ्ग में श्रीव्रजदेवी गण श्रीव्रजेश्वरी की सभा में उपस्थित होकर बोली थीं–भा० १०।३५।१४

"तवसुतः सति यदाधर बिम्बे दत्त वेणुरणयत् स्वर जातीः॥
सवनशस्तदुपधार्य्य सुरेशाः शक्रशर्व परमेष्ठि पुरोगाः।
कवय आनत कन्धर चित्ताः कश्मलं ययुरनिश्चित तत्त्वाः॥"

टीका—तत ताः स्वर जातीः सवनशो मन्द्रमध्यमतारभेदेन। यतो गीत ध्वनिरागतस्ततश्चानता कन्धरा चित्तञ्च येषां ते। उपधार्य्य स ... कवयः कोविदाः अपि न निश्चितं तत्त्वं तद्भेदो यैस्ते कश्मलं मोहं ययुरिति॥

हे सति! तुम्हारे पुत्र जिस समय अधरबिम्ब में वेणु संयोग कर स्वरालाप करता है, उस समय—

श्रीव्रजेश्वरीसभास्थितायाश्चास्याः सामान्यतस्तन्माधुर्य्यवर्णनमेव, तेन च चक्रादीनामेव मोह उक्तः, न तु (भा० १०।३५।१७) "व्रजति तेन वयम्" इत्यादिवत्, (भा० १०।३५।३) "व्योमयान-वनिताः" इत्यादिवच्च स्वभावस्य स्वजातीयभावस्य वा प्रकाशनमिति। एवं भा० (१०।३५।२०)

---

इन्द्र, रुद्र, ब्रह्मादि देवगण उस को सम्यक् रूप से श्रवण कर वे सङ्गीत विद्या विशारद होने पर भी मोह प्राप्त होते हैं। उस समय उनके कन्धर एवं चित्त आनत होते हैं। कारण, वे उस स्वरालाप तत्त्व को निश्चय करने में असमर्थ होते हैं। इस में कुब्जा के चापल्यवत् उनके चापल्य को अयोग्य मानना सङ्गत नहीं है, कारण, उक्त पद्य समूह में दो दो पृथक् पृथक् संवाद गृहीत हुए हैं। वृजेश्वरी की सभा में जिन्होंने कहा है, साधारण भाव से श्रीकृष्ण का वेणु माधुर्य्य वर्णन करना ही उनका अभिप्रेत है। वेणु माधुर्य्य वर्णन के द्वारा इन्द्रादि का मोह वर्णित हुआ है। किन्तु भा० १०।३५।१७ में उक्त 'वृजति तेन वयम्' इत्यादिवत् भा० १०।३५।३ में उक्त "व्योमयानवनिताः" इत्यादिवत् निज भाव का अथवा स्व जातीय भाव का प्रकाश उन्होंने नहीं किया है, इस प्रकार भा० १०।३५।२० में उक्त "कुन्ददाम" इत्यादि श्लोक के सम्बन्ध में भी जानना होगा।

अभिप्राय यह है—श्रीकृष्ण -गोचारण हेतु गमन करने से विरह विधुरा वृजाङ्गना गण जिस कृष्ण कथा के आलाप द्वारा कालातिपात करती थीं श्रीमद् भागवत के १०।३५ अध्याय में उसका वर्णन है, इसे युगल गीत कहते हैं। कारण, इस में दो दो श्लोकों में लीला एवं तत् पोष्य जनों की पूर्वापरीभाव से वर्णन विद्यमान होने के कारण यह युगल गीत नाम से प्रसिद्ध है।

उक्त अध्याय में वर्णित विषय समूह एक सभामें वर्णित विषय नहीं हैं। विभिन्न सभामें उक्त विषयों का सङ्कलन श्रीशुक देवने किया है। उस में देखने में आता है—"हे वृजदेवीगण" कहीं श्रीयशोदा के प्रति "हे सति" सम्बोधन करती हैं। इस से प्रतिपन्न होता है कि-युगल गीत विभिन्न सभाओं में आलोचित कृष्ण कथा है। तन्मध्ये श्रीवृजेश्वरी की सभा में 'तवसुत सति' इत्यादि कथा आलोचित हुई थी। एवं वृजदेवी गण की सभा में "व्रजति तेन वयम्" इत्यादि 'व्योमयान वनिता' इत्यादि कथा हुई थीं। और 'कुन्ददाम' इत्यादि कथा भी वृजेश्वरी की सभा में ही हुई थीं।

'तवसुतसति' इत्यादि श्लोक में वृजेश्वरी की सभा में श्रीकृष्ण के वेणु गान श्रवण से इन्द्रादि देवगण का मोह वर्णित होने से गुरुजन के समक्ष में वृजदेवी गण का चापल्य दोष प्रकाश नहीं हुआ है। यदि निज मोह का वर्णन होता तो दोष होता।

'वृजति तेन' इत्यादि श्लोक में श्रीकृष्ण के वेणुगान श्रवण से श्रीवृजदेवी वृन्दने कन्दर्प पीड़ा एवं कवरी और वसन शैथिल्य का वर्णन करके अत्यन्त मोह का कीर्त्तन किया है। अन्तरङ्ग गोष्ठी में इस प्रकार कीर्त्तन दोषावह नहीं है। इस श्लोक में वृजदेवी गणों का निजभाव वर्णित हुआ है। 'व्योमयान वनिता' इत्यादि श्लोक में वेणुगान श्रवण से देवी गण की काम पीड़ा कटिवसन स्खलन एवं मोह वर्णित है, यह वृजदेवी गण का सजातीत भाव है। अन्तरङ्ग गोष्ठी में ये सब वर्णित होने के कारण दोषावह नहीं हैं।

वस्तुतः—मधुर रसात्मक कथा समूह--जिस का वर्णन युगल गीत में है' वृजदेवी गण की अन्तरङ्ग सभा में वर्णित हुई हैं, गुरुजन की सभा में नहीं, एतज्जन्य युगल गीत श्रीवृजाङ्गना वृन्द का चापल्य का परिचायक नहीं है, परिचय हेतु उक्त श्लोकों का सानुवाद विवरण प्रदत्त हो रहा है।

"व्योमयान वनिता. सह सिद्धैर्विस्मितास्तदुपधार्य्य सलज्जाः।
काममार्गण समर्पित चित्ताः कश्मलंययुरपस्मृतनीव्यः॥

"कुन्ददाम-"इत्यादावपि ज्ञेयम्, तथा (भा० १०।२९।३१) "मैवं विभोऽर्हति भवान्" इत्यादिषु प्रकट-तत्सङ्गप्रार्थनदैन्यादिकमयोग्यत्वेन प्रतीतमपि पुरतः श्लेषेण निषेधार्थादितया व्याख्यास्यमानत्वात् परमरसावहत्वेनैव स्थापनीयम्।

अथायोग्यानुभावसङ्गत्याभासत्वं यथा (भा० ८।२०।१२) —

(१८२) "यद्यप्यसावधर्मेण मां बध्नीयादनागसम्।
तथाप्येनं न हिंसिष्ये भीतं ब्रह्मतनुं रिपुम्॥" ४३८॥

---

अन्तरीक्ष में देवी गण, निज निज पति के सहित अवस्थित होने पर भी श्रीकृष्ण के वेणुगीत श्रवण कर विस्मिता होती हैं कामवशचित्ता होकर लज्जिता एवं मोहिता होती हैं। वे निज नीविस्खलन को जानने में अक्षम हैं।

"वृजति तेन वयम् सविलास वीक्षण र्पित मनोभववेगाः।
वृजर्गति गमिता न विदामः कश्मलेन कवरं वसनं वा॥"

वेणु वादन पूर्वक गमन समय में श्रीकृष्ण के सविलासावलोकन के द्वारा हमारे मन में मनोभाव अर्पण करते हैं। उस से हम सब तरु की अवस्था को प्राप्त करती हैं। हमारे केश बन्धन एवं वसन तो स्खलित हो जाता है, मोह वशतः उस को जानने में हम सब असमर्थ हैं।

"कुन्ददामकृत कौतुक वेषो गोप गोधनवृतो यमुनायाम्।
नन्द सूनुरनघेतव वत्सो नर्म्मदः प्रणयिनां विजहार॥"

हे अनघे ! वृजेश्वरि ! तुम्हारा वत्स नन्दनन्दन, सुहृद् गण के सुखदाता है, यमुना में स्नान करके आनन्द से कुन्द कुसुम से सज्जित एवं गोप गोधन वृत होकर विहार करता है।

भा० १०।२९।३१ में उक्त है—रासरजनी में श्रीकृष्ण के वेणु गीत श्रवण से समागता वृजसुन्दरीवृन्द को श्रीकृष्ण—वाह्यिक उपेक्षामय वचन के द्वारा प्रत्याख्यान करने में प्रवृत्त होने पर उन्होंने कहा

"मैवंविभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तवपादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मात्यजास्मान् देवो यथादि पुरुषः भजते मुमुक्षून्॥"

हे विभो ! इस प्रकार निष्ठुर वाक्य प्रयोग करना आप को उचित नहीं है। हम सब समस्त विषयों को परित्याग करके आप के पाद मूल में उपस्थित हुये हैं, आदि पुरुष जिस प्रकार मुमुक्षु गण का भजन करते हैं, हे दुरवग्रह ! आप भी भक्तिमती हम सब को उस प्रकार अङ्गीकार करें। इस श्लोक में सुस्पष्ट रूप में श्रीकृष्ण सङ्ग रूप प्रार्थना रूप दैन्य—नायिका के पक्ष में अयोग्य होने पर भी श्लेष के द्वारा उक्त श्लोक के विभिन्नार्थ प्रदर्शन पूर्वक निषेधार्थ रूप व्याख्या द्वारा रसावहत्व का स्थापन अग्रिम ग्रन्थ में करेंगे।

अनन्तर अयोग्यानुभाव सम्मिलन से रसाभास दोष का समाधान करते हैं। भा० ८।२०।२१ में लिखित है—

(१८२) "यद्यप्यसावधर्मेण मां बध्नीयादनागसम्।
तथाप्येनं न हिंसिष्ये भीतं ब्रह्मतनुं रिपुम्॥" ४३८॥

महाराज बलि—शुक्राचार्य्य को कहे थे—मैं निरपराधी हूँ, यद्यपि यह वामन देव अधर्म्म से मुझको बन्धन करें, तथापि मैं ब्राह्मण रूप इस भीत रिपु की हिंसा नहीं करूँगा।

यहाँ शुक्राचार्य्य को वञ्चना करने के निमित्त उक्त वाक्य प्रयुक्त होने पर भी श्रीवामन देव के

इत्यादि-द्वयम् ॥

अत्र शुक्रवञ्चनार्थप्रयुक्तस्याप्यधर्म्मादिशब्द प्रयोगस्य तत्रायोग्यत्वादाभास्यत एव भक्तिमयः । समाधानञ्च,–तदानीं साक्षाद्भक्तेरजातत्वात् श्रीत्रिविक्रमपादस्पर्शानन्तरमेव च जातत्वान्न विरोध इति ॥ श्रीबलिः शुक्रम् ॥

१८३ । तथा, (भा० १०।७१।१०)—

(१८३) "जरासन्धवधः कृष्ण भूर्य्यर्थायोपकल्पते" इति ।

अत्रायोग्येन साक्षान्नाम्ना सम्बोधनेन दास्यमय आभास्यते । वस्तुतस्तु तदादि-नाम्नां तद्-परममहिममयत्वात् तन्मयनाम्नाञ्च दासादिभिरपि साक्षाद्ग्रहणदर्शनात्तददोष इति,–(श्वे० ४।१९) "यस्य नाम महद्यशः" इति श्रुतेः ॥ उद्धवः श्रीभगवन्तम् ॥

---

सम्बन्ध में अधर्मादि शब्द प्रयोग अयोग्य होने के कारण भक्तिमय दास्यरस आभासता को प्राप्त किया है । समाधान यह है । उस समय श्रीबलि महाराज में साक्षात् सम्बन्ध में भक्ति उत्पन्न नहीं हुई है । श्रीवामन देव के पाद स्पर्श लाभ के अनन्तर साक्षात् भक्ति उत्पन्न हुई थी एतज्जन्य यहाँ विरोध नहीं हो सकता है ।

सारार्थ यह है—अनुभाव प्रीतिका कार्य्य है । "हिंसा नहीं करूँगा" यह 'भीत रिपु" है' इस प्रकार कहना दानवीर बलि के पक्ष में उचित नहीं है । किन्तु इस प्रकार कथन से रसाभास अनुमित होता है । वास्तविक वैसा नहीं हुआ है । यदि आप शुद्ध भक्त होकर उस प्रकार कहते तो, दोषा वह होता । उस समय आप दान रूप कर्म्ममिश्रा भक्ति के अनुष्ठान में रत थे, इस हेतु आप उस समय शुद्ध भक्त नहीं थे, इस के पश्चात् शुद्ध भक्त हुये थे । जब भक्ति लाभ नहीं किये थे, भगवत् प्रीति लाभ भी नहीं किये थे, भगवद् दासाभिमान भी हृदय में नहीं आया था, तब उस प्रकार कहे थे, अतएव उक्त कथन दोषावह नहीं हुआ । विशेषतः उस प्रकार कथन---उनका हार्द्दिक नहीं था, आपने शुक्राचार्य्य को वञ्चना करने के निमित्त ही उस प्रकार कहा था, अतः यहाँ रसाभास दोष नहीं होता है ।

श्रीबलि—शुक्राचार्य्य को कहे थे ॥१८२॥

१८३ । अन्य दृष्टान्त भा० १०।३१।१० में उक्त है—

(१८३) "जरासन्ध वधः कृष्ण भूर्य्यर्थायोपकल्पते"

श्रीउद्धव – श्रीकृष्ण को जरासन्धवध हेतु परामर्श प्रदान कर कहे थे—हे कृष्ण ! जरासन्ध वध से अनेक प्रयोजन सिद्ध होंगे ।

यहाँ श्रीकृष्ण के सम्मुख में ही उनका नाम लेकर सम्बोधन करना अयोग्य है । इस से दास्यमय रसाभास हुआ है । वास्तविक पक्ष में कृष्णादि नाम उनके परम महिममय हैं, एवं उनके दासादि साक्षात् सम्बन्ध में उन सब नामों को उच्चारण करते हैं । सुतरां उक्त नाम ग्रहण दोषावह नहीं हुआ है । किसी का यशः कीर्त्तन से जिस प्रकार उसके प्रति अवज्ञा नहीं की जाती है, उस प्रकार श्रीकृष्ण का नाम कीर्त्तन से उनके प्रति अवज्ञा नहीं होती है, कारण श्वेताश्वतर उपनिषद ४।१९ में उक्त है, "यस्य नाम महद्यशः" उनका नाम ही परम यशः स्वरूप है । श्रुति कहती है । "जिनका नाम महद् यशः है" यहाँ श्रीकृष्ण नाम उच्चारण अनुभाव है । श्रीकृष्ण के सम्मुख में उनको प्रभो ! न कहकर नामोच्चारण से आह्वान करना रसाभास है । दास भक्तगण—उनका नामोच्चारण करते हैं अतः उस से रसाभास दोष नहीं हुआ है ।

उद्धव श्रीभगवान् को कहे थे ॥१८३॥

१८४। तथा, (भा० १०।७५।५) –

(१८४) "सतां शुश्रूषणे जिष्णुः कृष्णः पादावनेजने"

पादावनेजन इति णिजन्तम्। अत्र पाण्डवराजकृत-तादृश-श्रीकृष्णनियोगस्यायुक्तत्वात्तस्य भक्तिमयस्तेनाभास्यते, वस्तुतस्तु (भा० १०।७५।३) "बान्धवाः परिचर्य्यायां तस्यासन् प्रेमबन्धनाः" इत्युक्तत्वात्तेषु नियोज्येषु बान्धवाः स्वयमेवावर्त्तन्त, नेतरे इव, तन्नियुक्ता एव। ततः श्रीकृष्णस्य तु सुतरामेव स्वेच्छा प्रवृत्तिः, तेन च चिन्तितमिदमिति गम्यते। सर्वाणि कर्म्माण्यन्यैः सेत्स्यन्ते, पादावनेजनं तु नान्यैः,–साभिमानत्वात्। ततश्च मम बन्धूनामेषां कर्म्म विगीताङ्गं स्यादिति मयैवात्राग्रहीतव्यमिति। तदेवं तस्येच्छायास्तदाश्रितैर्दुर्लङ्घ्यत्वात्-तद्बलादेव तत्र तस्य प्रवृत्तिः। एवं स्वयमेव नारदादि-पादप्रक्षालनेऽपि दृष्टम्। तं प्रति च स्वेच्छयैव हि भगवान् ब्राह्मणत्वेन भक्तत्वेन च व्यवहरति। तत एव क्वचित् (भा० १०।६९।४०) "पुत्र मा खिदः" इत्यपि वदतीति॥ श्रीशुकः॥

१८५। तथा, (भा० १०।१५।२०)—

---

१८४। भा० १०।७५।५ में उक्त है—

(१८५) "सतां शुश्रूषणे जिष्णुः कृष्णः पादावनेजने"

श्रीशुकदेव कहे हैं—श्रीयुधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में साधु वृन्द की शुश्रूषा में अर्जुन एवं श्रीकृष्ण-पाद प्रक्षालन कार्य्य में नियुक्त थे। उक्त श्लोक में उक्त–'पादवनेजने" शब्द निजन्त सिद्ध है। उस से प्रतीति होती है कि श्रीकृष्ण अन्य के द्वारा उस कार्य्य में नियुक्त हुये थे। यहाँ पाण्डवराज श्रीकृष्ण कर्त्तृक तादृश कार्य्य में श्रीकृष्ण को नियोग अयुक्त होने के कारण- उनका भक्तिमय दास्यरसाभास हुआ है। वास्तविक पक्ष में भा० १०।७५।३ में "बान्धवाः परिचर्य्यायां तस्यासन् प्रेमबन्धनाः" कथन के अनुसार युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में उनके प्रेमबद्ध बान्धवगण परिचर्य्या कार्य्य किये थे। इस से प्रतीत होता है कि--जो सब व्यक्ति राजसूययज्ञ में विभिन्न कार्य्य में नियुक्त थे उनके मध्य में बान्धवगण स्वयं ही उक्त कार्य्य सम्पादन में नियुक्त होकर कार्य्य किये थे। अपर व्यक्ति जिस प्रकार नियुक्त होकर कार्य्य सम्पादन करते हैं, उस प्रकार नहीं, इस से बोध होता है कि-श्रीकृष्ण स्वयं ही उस कार्य्य में प्रवृत्त हुये थे। इस प्रकार बोध होता है कि—श्रीकृष्ण उस समय यह चिन्ता किये थे कि—समस्त कर्म्म अपर व्यक्ति गण करेंगे, किन्तु अभिमान वशतः पाद प्रक्षालन कार्य्य में अपर कोई व्यक्ति प्रवृत्त नहीं होंगे। उस से बान्धव वृन्द का राजसूय यज्ञ कर्म्म हीनाङ्ग होगा। अतः उक्त प्राद प्रक्षालन कार्य करना मेरा ही कर्त्तव्य है। इस प्रकार विचार कर श्रीकृष्ण, उस कार्य्य में प्रवृत्त होने पर, श्रीकृष्णाश्रित व्यक्ति वृन्द के पक्ष में उनकी इच्छा दुर्लङ्घ्य है, अतः स्वेच्छा से ही श्रीकृष्ण उस कार्य्य में प्रवृत्त हुये थे। यह स्थिर होता है। इस प्रकार व्यवहार श्रीकृष्ण अन्यत्र भी किये हैं—श्रीनारद के पाद प्रक्षालन आपने स्वयं ही किया है। श्रीनारद ब्राह्मण एवं भक्त होने के कारण-भगवान् स्वेच्छा से ही उस प्रकार व्यवहार करते रहते हैं। अतएव भा० १०।६९।४० में उक्त है, "पुत्र मा खिदः" हे पुत्र मुग्ध न हो' इस प्रकार भी आपने कहा है। प्रवक्ता श्रीशुक है।।१८४।।

१८५। भा० १०।१५।२० मैं उक्त है—

(१८५) "श्रीदामा नाम गोपालो रामकेशवयोः सखा ।
सुबल-स्तोककृष्णाद्या गोपाः प्रेम्णेदमब्रुवन् ॥४३९॥
राम राम महासत्त्व कृष्ण दुष्टनिवर्हण ।
इतोऽविदूरे सुमहद्वनं तालालिसङ्कुलम् ॥"४४०॥ इत्यादि ।

अत्रायोग्येन भयस्थान-गमननियोगेन सख्यमय आभास्यते । वस्तुतस्तु समानशीलत्वेन श्रीकृष्णस्य वीर्य्यज्ञानात्तैस्तन्नियोगोऽपि नायोग्यः, प्रत्युत तेषां तद्वद्वीरस्वभावानां तन्मय-प्रीतिपोषायैव भवति, (भा० १०।५८।१४)—

"साकं कृष्णेन सन्नद्धो विहर्त्तुं विपिनं महत् ।
बहुव्याल—मृगाकीर्णं प्राविशत् परवीरहा ॥"४४१॥

इत्यर्जुनचरितवत् । अतएव प्रेम्णेति, महासत्त्व दुष्टनिवर्हणेति चोक्तम्, अन्यत्र च,—(भा० १०।१२।२४) "अस्मान् किमत्र ग्रसिता निविष्टा,-नयं तथा चेद्वकवद्विनङ्क्ष्यति" इति ॥ श्रीशुकः ॥

---

(१८५) "श्रीदामा नाम गोपालो रामकेशवयोः सखा ।
सुबल--स्तोककृष्णाद्या गोपाः प्रेम्णेदमब्रुवन् ॥४३९॥
राम राम महासत्त्व कृष्ण दुष्टनिवर्हण ।
इतोऽविदूरे सुमहद्वनं तालालिसङ्कुलम् ॥"४४०॥

राम कृष्ण के सखा, श्रीदाम नामक गोप बालक एवं सुबल, स्तोक कृष्ण प्रभृति अन्यान्य गोप बालक गण प्रेम से कहे थे—हे राम ! हे महाबल ! हे दुष्टान्तकारी कृष्ण ! इस के अनतिदूर में ताल वृक्षसमाकीर्ण महद्वन है। प्रियतम श्रीकृष्ण को भय सङ्कुल स्थान में नियुक्त करना—अनुचित है, यहाँ इस प्रकार नियोग सख्यमय रसाभास हुआ है। वास्तविक पक्ष में समान शील होने के कारण—वे श्रीकृष्ण के प्रभाव को जानते थे। तज्जन्य उन सब के द्वारा यह नियोग अयोग्य नहीं है। प्रत्युत श्रीकृष्ण के समान वीर स्वभाव सम्पन्न उस गोप कुमार गण के पक्ष में वह सख्यमय प्रीति रस पोषक ही हुआ था। भा० १०।५८.१४ में वर्णन है—

"साकं कृष्णेन सन्नद्धो विहर्त्तुं विपिनं महत् ।
बहुव्याल---मृगाकीर्णं प्राविशत् परवीरहा ॥"४४१॥

अर्जुन—श्रीकृष्ण के सहित बहु सर्प एवं पशु कुल समाकीर्ण महावन में विहार हेतु प्रवेश किये थे। यहाँ जिस प्रकार श्रीकृष्ण का पराक्रम ज्ञात होने के कारण श्रीअर्जुन उनको लेकर हिंस्रजन्तु समाकुल महावन में प्रवेश किये थे। उस प्रकार श्रीकृष्ण का पराक्रम ज्ञात होने के कारण, गोप सखा गण उनको भय सङ्कुल स्थान में गमन हेतु कहे थे। अतएव उन्होंने प्रेम पूर्वक कहा था। "महासत्त्व निवर्हण" यहाँ महाबल- एवं दुष्ट निवर्हण शब्द से सम्बोधन किया गया है। गोपगण श्रीकृष्ण का पराक्रम को जानते थे। अतः भा० १०।१२।२४ में अघासुर को देख कर कहे थे "अस्मान् किमत्रग्रसिता निविष्टा, नयं तथा चेद् वक वद्विनङ्क्ष्यति" हम सब यहाँ प्रवेश करने से यह क्या हम सब को ग्रास करेगा ? यदि करे तो वकासुर के समान कृष्ण के द्वारा यह आशु विनष्ट होगा। श्रीशुक कहे थे ॥१८५॥

१८६। एवं द्वारकाजलविहारे (भा० १०।९०।२२)—

(१८६) "न चलसि" इत्यादौ "वसुदेवनन्दनाङ्घ्रिम्" इति।

अत्रायोग्येन श्वशुरनामग्रहणेन स्वीयानां कान्तभाव आभास्यते, वस्तुतस्तु देवस्य परमाराध्यस्य श्वशुरस्य यो नन्दनो मुख्यः पुत्रः, अस्मत्पतिरित्यर्थः, तस्याङ्घ्रिम्, वसु परमधनस्वरूपमित्येव तन्मनसि स्थितम्, तथापि दैवात्तन्नामानुकरणदोष-समाधानञ्चोन्मत्तचरत्वेनोपक्रान्तत्वात्॥ श्रीपट्टमहिष्यः॥

१८७। तथा, (भा० १।११।३३)—

(१८७) "तमात्मजैर्दृष्टिभिरन्तरात्मना, दुरन्तभावाः परिरेभिरे पतिम्।
निरुद्धमप्यास्रवदम्बु नेत्रयो-,र्विलज्जतीनां भृगुवर्य वैक्लवात्॥"४४२॥

दुरन्तभावा उद्भटभावाः, अतएव निरुद्धमप्यास्रवत्। अत्रात्मजद्वारालिङ्गनेन कान्तभाव आभास्यते; तद्द्वारा तत्सम्भोगायोग्यत्वात्। समाधानञ्च,—प्रीतिसामान्यपरिपोषायैव तथा-

---

१८६। अयोग्य अनुभाव सम्मिलन से रसाभास का अपर दृष्टान्त भा० १०।९०।२२ द्वारका जल विहार के समय है।

(१८६) "न चलसि इत्यादि" वसुदेवनन्दनाङ्घ्रिम्" महिषीगण कहीं थीं—"वसुदेव नन्दन चरण" श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव का नामोच्चारण निज मुख से करना तदीय महिषीगण के पक्ष में असङ्गत है। यहाँ श्वशुर का नाम ग्रहण रूप अयोग्य अनुभाव के सम्मिलन से स्वकीया प्रेयसी महिषी वृन्द के कान्तभाव में रसाभास दोष स्पर्श हुआ है। इस प्रकार प्रतीति होने पर भी वास्तविक पक्ष में—देव- परमाराध्य श्वशुर के जो मुख्य पुत्र, हमारे पति हैं, उन की चरण रेणु वसु-परमधन स्वरूप है, महिषीवृन्द के मनोभाव यही था। तथापि दैवात् श्वशुर का नाम ग्रहण रूप दोष का समाधान यह है—वह -प्रेम वैचित्र्य रूप उन्मत्तावस्था की उक्ति है, कारण, उनकी प्रेमोन्मत्त अवस्था का उक्ति है, उस का वर्णन प्रसङ्ग ही इस प्रकरण में है।

श्रीपट्ट महिषी वृन्द बोली थीं॥१८६॥

१८७। उस प्रकार भा० १।११।३३ में रसाभास का वर्णन है—

(१८७) "तमात्मजैर्दृष्टिभिरन्तरात्मना, दुरन्तभावाः परिरेभिरे पतिम्।
निरुद्धमप्यास्रवदम्बु नेत्रयो,--र्विलज्जतीनां भृगुवर्य वैक्लवात्॥"४४३॥

श्रीकृष्ण, हस्तिना पुर से द्वारका में प्रत्यागमन करने से श्रीमहिषीगण—समागत पति को देखकर पहले मन के द्वारा दृष्टि गोचर होने से दृष्टि द्वारा एवं निकट वर्त्ती होने पर पुत्र द्वारा आलिङ्गन किये थे। उन सब का उद्भट भाव था, उन लज्जावती रमणी वृन्द ने यद्यपि अश्रुरोध किया था, तथा विवशता के कारण उनके नयनों युगलों से स्वल्प अश्रु निर्गत हुआ था। उन सब का भाव दुरन्त—अर्थात् उद्भट था, इस हेतु अश्रुनिरोध करने पर भी वह क्षरित हुआ था। यहाँ पुत्र द्वारा आलिङ्गन हेतु कान्तभाव आभासता को प्राप्त किया है। कारण, पुत्र द्वारा पति सम्भोग अयोग्य है। उस का समाधान यह है—साधारण प्रीति पोषण हेतु उन्होंने उस प्रकार व्यवहार किया था, कान्त भाव पोषण हेतु नहीं। साधारण प्रीति का पोषण दृष्ट्यादि द्वारा ही हुआ था। सुतरां यहाँ दोष की सम्भावना नहीं है।

यहाँ पुत्र द्वारा आलिङ्गन—पुत्र द्वारा प्रथम श्रीकृष्ण को आलिङ्गन कराकर उस स्मृति में उसके

चरितम्, न तु कान्तभावपोषाय । तत्पोषस्तु दृष्ट्यादि-द्वारैव, तस्मान्न दोष इति । श्रीसूतः ।

१८८ । अथायोग्यविभावसङ्गत्याभासत्वमुदाह्रियते । तत्रायोग्योद्दीपनसङ्गत्या यथा (भा० १०।३८।८) —

(१८८) "यदर्चितम्" इत्यादौ "यद्गोपिकानां कुचकुङ्कुमाङ्कितम्" इति । अत्रानेन रहस्यलीलाचिह्नेन दासानुसन्धानायोग्येन दास्यभाव मय आभास्यते । समाधानञ्च,-अत्रास्य भक्तिमात्रसुलभत्वचिन्तनेऽभिनिवेशः, न तु तादृशलीलाविशेषानुसन्धाने, यथोक्तं टीकायाम्—"यद्गोपिकानामिति प्रेममात्रसुलभत्वम्" इत्येतत् । ततोऽननुसन्धायैव तद्विशेषं

---

बाद उस पुत्र की आलिङ्गन करना नहीं है । यदि वैसा होता तो दोष होता । किन्तु महिषी गण के पुत्रवृन्द उनके पति श्रीकृष्ण के आलिङ्गन को प्राप्त किये थे, यह देखकर उन सब को प्रीति पुष्ट हुई थी । इस से प्रिय व्यक्ति के आलिङ्गन से जो सुख लाभ होता है । वह सुखानुभव वे किये थे, किन्तु कान्त को आलिङ्गन करने से कान्ता को जो सुख होता है, उस प्रकार सुख लाभ नहीं हुआ था । श्रीसूत कहे थे ।।१८७।।

१८८। अनन्तर अयोग्य विभाव सम्मिलन से जो रसाभास होता है— उसका दृष्टान्त उपस्थित करते हैं । आलम्बन-उद्दीपन भेद से विभाव द्विविध हैं । उसके मध्य में अयोग्य उद्दीपन सम्मिलन से रसाभास का दृष्टान्त भा० १०।३८।८ में है—

(१८८) "यदर्चितं ब्रह्म भवादिभिः सुरैः श्रिया च देव्या मुनिभिः ससात्वतैः ।
गोचारणायानुचरैश्चरद्वने यद् गोपिकानां कुचकुङ्कुमाङ्कितम् ।।"

अक्रूर वृन्दावन में आते समय मन ही मन कहे थे—जिस का अर्च्चन ब्रह्मादि देवगण, लक्ष्मी देवी, भक्तगण सह मुनिगण करते रहते हैं—गोचारण समय में अनुचर गण के सहित जो वृन्दावन में विचरण करता है । एवं जो गोपिका वृन्द के कुचकुङ्कुमाङ्कित है,—मैं श्रीकृष्ण के उस चरण कमल का दर्शन करूँगा । इस श्लोक में वर्णित गोपिका वृन्द के "कुचकुङ्कुमाङ्कित" पद के द्वारा जो रहस्य लीला चिह्न वर्णित हुआ है । उस का अनुसन्धान करना दास भक्त गण के पक्ष में अनुचित है । अक्रूर की उक्ति में उस अयोग्य कथा का सन्निवेश होने से दास्य भावमय रसाभास हुआ है । यहाँ पर--श्रीकृष्ण के चरण कमल—केवल भक्ति द्वारा ही सुलभ है-इस प्रकार चिन्ता में ही अक्रूर का अभिनिवेश था । श्रीकृष्ण की तादृशी लीला विशेष के अनुसन्धान में अभिनिवेश उनका अभिनिवेश नहीं था । श्रीधर स्वामिपादने टीका में उस प्रकार व्याख्या ही की है । टीका—अङ्घ्रि पद्मं विभावयति यदिति । ब्रह्मादिभि रर्चितमिति--परमैश्वर्यमाह । श्रिया चेति--सौभाग्यातिशयम् । मुनिभिः--भक्तसहितैरिति—परमपुरुषार्थत्वम् । गोचारणायेति--कृपालुत्वम् । यद् गोपिकानामिति--प्रेममात्र सुलभत्वम् ।।

श्रीकृष्ण चरण कमल का प्रेममात्र सुलभत्व चिन्तन ही अभिप्रेत है । सुतरां अनुसन्धान न करके ही केवल भक्ति का उल्लासक रूप में "कुचकुङ्कुमाङ्कित" पद निर्दिष्ट होने के कारण यहाँ दोष नहीं हुआ है । इस प्रकार भा० १०।३८।१७ में उक्त—

"समर्हणं यत्र निधाय कौशिक स्तथा बलिश्चाप जगत्त्रयेन्द्रताम् ।
यद्वा विहारे व्रजयोषितां श्रमं स्पर्शेन सौगन्धिक गन्ध्यपानुदत् ।।"

श्लोक की भी उस प्रकार व्याख्या करनी चाहिये ।

टीका—बलिना तावत् पदत्रय परिमित भूदान समय में तस्य हस्ते उदकं निहितद् कौशिकः--इन्द्र

भक्तिमात्रोपोद्बलकत्वेन निर्दिष्टत्वान्न दोष इति। एवं (भा० १०।३८।१७) "समर्हणं यत्र" इत्यादिकं व्याख्येयम् ॥ अक्रूरः ॥

१८९। एवमुज्ज्वलेऽपि पुत्ररूपस्योद्दीपनत्वायोग्यता (भा० १०।५५।४०) "यं वै मुहुः" इत्यादौ गम्या। तच्चाग्रे समाधानं व्याख्येयम्।

अथालम्बनायोग्यतायां तादृशप्रीत्याधारायोग्यतया भासत्वे यज्ञपत्नीनां पुलिन्दी-हरिण्यादीनां तत्तज्जातिरूपमयोग्यमुदाहार्य्यम्।

अथ तादृशप्रीतिविषयायोग्यत्वं यथा, (भा० १२।८।१७) —

---

स्तेनादि कदाचित् किञ्चिन्निहितमिति ज्ञातव्यम्। मुमुक्षूणां संसारभय निवर्त्तकं, सकामानां—अभ्युदय प्रदं चेत्युक्तम्। अनुरक्तानां परमसुखदञ्चेत्याह।

श्रीवृन्दावन गमन समय में श्रीअक्रूर मन ही मन कहे थे—मैं चरण में निपतित होने पर श्रीकृष्ण मदीय मस्तक में कर कमल अर्पण करेंगे। श्रीकृष्ण के कर कमल— में इन्द्र पूजोपकरण अर्पण कर,- बलि, किञ्चित् जलार्पण कर त्रिजगत का आधिपत्य प्राप्त किये थे। स्वर्गीय पद्म विशेष की गन्ध उस की गन्ध केश के सदृश है, श्रीकृष्ण— उस कर कमल के द्वारा व्रजरमणी वृन्द का श्रमापनोदन किये हैं।

अक्रूर कहे थे ॥१८८॥

१८९। इस प्रकार उज्ज्वल रस में भी पुत्र रूप की उद्दीपन योग्यता भा० १०।५५।४० में दृष्ट होती है-

"यं वै मुहुः पितृसरूपनिजेशभावास्तन्मातरो यदभजन्रहरूढ़ भावाः।
चित्रं न तत् खलुरमासादबिम्बबिम्बे कामेस्मरेऽक्षविषयेकिमुतान्यनार्य्यः॥"

टीका—अतिसौन्दर्य्येण प्रद्युम्नं वर्णयति यमिति। पिता—श्रीकृष्ण स्तत् सरूपे तत् सदृशे प्रद्युम्ने निज आत्मीय ईशोभर्त्तेति भावो भावना यासां ताः तन्मातरः कृष्ण पत्न्योऽपि रहसि निजने निरूढ़ भावाः सत्यो यमभजन्निति यत् तन्न खलु चित्रम्। कथं सति ? स्मरे स्मर्य्यमाणत्वेनैव क्षोभ के कामे अक्ष विषये अक्षाणामिन्द्रियाणां विषये सति। किञ्च रमास्पदं श्रीकृष्णस्तस्य बिम्बं श्रीमूर्त्तिस्तस्य बिम्बं श्रीमूर्त्तिस्तस्य बिम्बे प्रतिबिम्बे पुत्रे। तदा किमुत वक्तव्यमन्या नार्य्यो भजेयुरिति ॥

उक्त श्लोक में वर्णित है—श्रीकृष्ण पुत्र, प्रद्युम्न को देखकर उनकी मातृ वृन्द को श्रीकृष्णोद्दीपन होता। इस प्रकार उद्दीपन उज्ज्वल रस के पक्ष में अयोग्य है। इस में रसाभास की सम्भावना है। इस का समाधान अग्रिम ग्रन्थ में होगा।

अनन्तर आलम्बन की अयोग्यता में रसाभास का दृष्टान्त—आश्रय एवं विषय भेद से आलम्बन द्विविध होने के कारण प्रीति के आश्रयालम्बन की अयोग्यता से रसाभास का दृष्टान्त रूप में यज्ञ पत्नी, पुलिन्दी, हरिणी प्रभृति की उस उस जाति रूप अयोग्यता उदाहृत हो सकती है।

अर्थात् श्रीकृष्ण का अभिमान—आप गोप कुमार है। उनकी मधुरा प्रीति का आश्रय--ब्राह्मणी, पुलिन्दी वा हरिणी होना अनुचित है। किन्तु श्रीमद् भागवत में उन सब को उस प्रीति का आश्रय कहा गया है। भा० १०।२३।१८

"श्रुत्वाच्युतमुपायातं नित्यं तद्दर्शनोत्सुकाः।
तत् कथाक्षिप्तमनसो बभूवुर्जात सम्भ्रमाः॥"

(१८९) "अक्षण्वताम्" इत्यादौ "वक्त्रं व्रजेशसुतयोः" इत्यादि।

अत्र यद्यपि श्रीरामोऽपि श्रीकृष्णव्यूहत्वात् स एव, तथापि श्रीकृष्णत्वाभावात्तत्प्रेयसीभाव-विशेषायोग्य एव। ततस्तेनात्रोज्ज्वलमाभास्यते। वस्तुतस्त्वग्रेऽवहित्थागर्भेण व्रजेशसुतयोर्मध्ये अनु पश्चाद् वेणुजुष्टं यन्मुखमित्यादिव्याख्यानेन रसोत्कर्ष एव साधयितव्यः। एवमेव टीकायामपि (भा० १०।६५।१७) "रामः क्षपासु भगवान् गोपीनां रतिमावहन्" इत्यत्र

---

श्लोक से आरम्भ कर कतिपय श्लोकों में यज्ञपत्नी गणों की प्रीति वर्णित है— भा० १०।२१।१७ श्लोक में पुलिन्द गण की प्रीति वर्णित है—

"पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगाय पदाब्जराग श्रीकुङ्कुमेन दयिता स्तनमण्डितेन।
तद् दर्शन स्मररुजस्तृणरूषितेन लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्॥"

एवं भा० १०।२१।११ श्लोक में हरिणी गण का भाव वर्णित है।

"धन्याः स्म मूढ़मतयोऽपि हरिण्यएता या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्र वेषम्।
आकर्ण्य वेणुरणितं सह कृष्णसाराः पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः॥"

यहाँ रसाभास समाधान हेतु सन्दर्भ कार ने कुछ नहीं कहा है। इस से बोध होता है कि-श्रीकृष्ण-कान्तारूप में यज्ञ पत्नी गण को अङ्गीकार नहीं किये हैं। उन्होंने भी मधुर रसाक्रान्त नायिका के समान भाव प्रकाश भी श्रीकृष्ण के निकट नहीं किया है। दास्य भाव प्रार्थना का वर्णन श्रीमद् भागवत में सुस्पष्ट है। इस हेतु मधुर रस प्रस्तुत यहाँ नहीं हुआ है। सुतरां यहाँ उज्ज्वल रसाभास नहीं हुआ है। और पुलिन्दच गण को लक्ष्य करके व्रजदेवी गण का निज भाव प्रकटमय जो श्लोक है— उस में निज रस वर्णित है। "अथ निज भावमय प्रकटनमयपद्येन निजरसवर्णनं। पूर्णाः पुलिन्द्य इत्यादि श्लोक की वैष्णव तोषणी टीका में उन्होंने कहा है।

हरिणी गण को उपलक्ष्य करके भी व्रजदेवियों ने निजानुभाव का वर्णन किया है। विशेष कर उस में वृन्दावनीय पशु जाति का माहात्म्य एवं श्रीकृष्ण का वेणु माधुर्य्य वर्णित हुआ है। उभयत्र पुलिन्दी-रमणी गण को एवं हरिणी गण को आलम्बन करके उज्ज्वल रस वर्णित नहीं हुआ है। इस हेतु रसाभास दोष नहीं हुआ है। प्रीत्याश्रय की अयोग्यता का वर्णन हुआ।

उज्ज्वल प्रीति विषय की अयोग्यता का उदाहरण भा० १०।२१।७ में है—

"अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः
सख्यः पशूननुविवेशयतो वयस्यैः
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं
यैर्वा निपीतमनुरक्त कटाक्ष मोक्षः॥"

व्रजदेवियों ने कहा—हे सखिगण! चक्षुष्मान् व्यक्तिगण का चक्षु का फल प्रियदर्शन ही है, तद् व्यतीत अन्यफल है, यह अज्ञात है, पशु एवं वयस्य गणके सहित वन में प्रवेश कारी व्रजपति तनय रामकृष्ण के मध्य में पश्चाद् भाग में जिस वदन कमल में वेणु संलग्न है, एवं जिस से स्निग्ध कटाक्ष निक्षिप्त हो रहा है, उस वदन कमल का मधुपान जो लोक करते हैं, वे उस फल को प्राप्त करते हैं।

यहाँ श्रीबलराम श्रीकृष्ण व्यूह होने पर भी उनसे अभिन्न होने पर भी श्रीकृष्णत्व का अभाव हेतु-बलराम श्रीकृष्ण प्रेयसी गण के कान्त भाव के अयोग्य हैं। यहाँ उस भावविशेष का वर्णन हेतु उक्त कारण

व्याख्यातम्-"गोपीनां रतिमिति श्रीकृष्णक्रीड़ासमयेऽनुत्पन्नानामतिबालानां चान्यासामित्यभियुक्तप्रसिद्धिः" इति ॥ श्रीव्रजदेव्यः ॥

१९० । अथायोग्यस्य विषयान्तरगत-भावादिकस्य सङ्गत्याभासत्वं यथा देवहूति-वर्णने, (भा० ३।२२।१६) —

(१९०) "कामः स भूयात्" इत्यादौ "क्षिपतीमिव श्रियम्" इति ।

अत्र देवहूतिगतेनेदृशवर्णनरूपेणानुभावेन श्रीकर्द्दमस्य भक्तिराभास्यते, वस्तुतस्तु तेन जगत्-सम्पत्तिरूपां प्राकृतीं श्रियमेवोद्दिश्य तथोक्तमिति न दोषः ॥ श्रीकर्द्दमः ॥

---

से उज्ज्वल रसाभास हुआ है । वस्तुतः ३७२ अनुच्छेद में उक्त अवहित्थागर्भ – अर्थात् श्रीकृष्णानुराग गोपन मय व्याख्या के द्वारा रसोत्कर्ष स्थापित होगा । वह व्याख्या इस प्रकार है—व्रजपति तनय युगल श्रीकृष्ण बलराम के मध्य में- अनु–पश्चात्, वेणु सेवित— जो मुख है--इत्यादि । श्रीव्रजदेवी गण, स्वीय श्रीकृष्णानुराग को गोपन करके कृष्ण बलराम के जिस मुखमाधुर्य्य का वर्णन समस्त व्रजवासी करते रहते हैं । उस माधुर्य्य का वर्णन छल से प्रियतम श्रीकृष्ण के मुखमाधुर्य्य का वर्णन किये हैं । कारण, श्रीकृष्ण ही बलराम के पीछे पीछे वेणु वादन पूर्वक गमन कर रहे थे, एवं स्निग्ध कटाक्ष निक्षेप कर रहे थे । सुतरां यहाँ श्रीव्रजदेवियों की उक्ति--श्रीकृष्ण मुख माधुर्य्य वर्णन में पर्य्यवसित होने से रसाभास दोष नहीं हुआ है ।

इस प्रकार रसाभास दोष का अवकाश अन्यत्र भी है । भा० १०।६५।१७ में उक्त है—"रामः क्षपासु भगवान् गोपीनां रतिमावहन् " श्रीबलराम द्वारका से श्रीवृन्दावनमें आकर चैत्र वैशाख दो मास अवस्थान किये थे । उस समय भगवान् राम—गोपी वृन्द की रति को पुष्ट किये थे ।

यहाँपर टीका में स्वामिपादने लिखा है—श्रीकृष्ण क्रीड़ा समय में जो सब गोपी उत्पन्न नहीं हुई, एवं जो सब अत्यन्त बालिका थीं, श्रीकृष्ण प्रेयसी व्यतीत--उन सब गोपियों की रति को साफल्य मण्डित किये थे । यह प्रसिद्ध है ।

तात्पर्य्य यह है कि—--जिस गोपियों के सहित--बलराम विहार किये थे—वे यदि श्रीकृष्ण प्रेयसी होती तो गुरुतर दोष होता । श्रीधर स्वामिपाद ने उस श्लोक की टीका में कहा है—वे सब गोपी श्रीकृष्ण प्रेयसी नहीं हैं । सुतरां यहाँ रसाभास दोष नहीं हुआ है । "श्रीकृष्ण क्रीड़ा समये अनुत्पन्नानां अतिबालानां चान्यासामित्यभियुक्त प्रसिद्धिः" इति टीका । श्रीव्रजदेवियों ने कही थी ॥१८९॥

१९० । अनन्तर अन्य विषयगत अयोग्य भावादि का सम्मिलन से रसाभास का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं । भा० ३।२२।१६ में उक्त है ।

(१९०) "कामः स भूयान्नरदेव तेऽस्याः पुत्र्याः समाम्नायविधौ प्रतीतः ।
क एव ते तनयां नाद्रियते स्वयैव कान्त्याक्षिपतीमिव श्रियम् ॥"

स्वायम्भुव मनु को कर्द्दम मुनि कहे थे—हे नरदेव ! आप की कन्या देवहूति का पति प्राप्ति रूप अभिप्राय वैदिक विधानानुसार निष्पन्न हो । जिन्होंने स्वीय अङ्ग कान्ति के द्वारा श्री की शोभा को तुच्छ किया है, आप की उस कन्या का आदर कौन नहीं करेगा ?

यहाँ देवहूति गत इस प्रकार अनुभाव के द्वारा श्रीकर्दम मुनि का भक्तिभाव आभासता को प्राप्त किया है । निज भावी पत्नी की शोभा के निकट श्रीहरि प्रेयसी लक्ष्मी की शोभा को तुच्छ करके वर्णन करने से भक्तिरस का विरुद्धाचरण हुआ है । वास्तविक पक्ष में श्रीकर्दममुनि जगत् सम्पत्ति रूपा प्रकृति को

१९१। तथा, (भा० १०।५७।२६)—

(१९१) "उवास तस्यां कतिचिन्मिथिलायां समा विभुः।
ततोऽशिक्षद्गदां काले धार्त्तराष्ट्रः सुयोधनः।
मानितः प्रीतियुक्तेन जनकेन महात्मना॥"४४३॥

विभुः श्रीसङ्कर्षणः, मानित इत्यादिकं च तस्यैव विशेषणमिति समाधानञ्च॥ श्रीशुकः॥

१९२। एवमग्रे च केचिदन्ये रसाभासः परिहरिष्यन्ते। अथ यदुक्तम्—"अयोग्यसङ्गतिरपि भङ्गीविशेषेण योग्यस्य स्थायिन उत्कर्षाय चेत्तदा रसोल्लासः" इति। तत्र मुख्यसङ्गत्या मुख्यस्योल्लासो यथा, (भा० १०।१४।३२) "अहो भाग्यमहो भाग्यम्" इत्यादौ। अत्र ब्रह्मणा व्रजवासिप्रसङ्गे ज्ञानभक्तिबन्धुभावौ भावितौ। योग्यश्चात्र बन्धुभाव एव भावयितुम्, तदीय-

---

लक्ष्य करके उस प्रकार कहे थे, इस हेतु उनकी उक्ति दोषा वह नहीं हुई है। श्रीकर्द्दम कहे थे--१९०॥

१९१। उसी प्रकार भा० १०।५७।२६ में उक्त है—

(१९१) "उवास तस्यां कतिचिन्मिथिलायां समा विभुः।
ततोऽशिक्षद्गदां काले धार्त्तराष्ट्रः सुयोधनः।
मानित प्रीतियुक्तेन जनकेन महात्मना॥"४४३॥

प्रीति युक्त महात्मा जनक के द्वारा सम्मानित होकर विभु बलदेव कतिपय वत्सर मिथिला में अवस्थान किये थे। उस समय धृतराष्ट्र पुत्र दुर्य्योधन उन से गदाशिक्षा किये थे। मूल श्लोक में लिखित 'मानितः' पद दुर्य्योधन का विशेषण है, इस प्रकार प्रतीत होता है। किन्तु वैसा नहीं है। विभु--सङ्कर्षण,--'मानित' इत्यादि उनके ही विशेषण हैं। यहाँपर यही समीचीन है।

अर्थात् बलदेव सम्मानित हुये थे, अथवा नहीं इस का प्रमाण नहीं है, अथच दुर्य्योधन सम्मानित हुये थे — इसका वर्णन प्रस्तुत श्लोकमें है। ऐसा होने से जनक में भगवद् भक्तिका अभाव परिलक्षित होता। कारण, भगवान् बलराम को सम्मान न करके दुर्य्योधन को सम्मान प्रदान उन्होंने किया था। वास्तविक पक्ष में श्रीबलदेव ही सम्मानित हुये थे। इस प्रकार सिद्धान्त होने से दोष की सम्भावना नहीं है। उक्त श्लोक द्वय में अयोग्य अन्य विषयगत भावादि सम्मिलन--इस प्रकार है—

देवहूति की शोभा के निकट लक्ष्मी की शोभा तुच्छ होने से एवं जहाँ श्रीबलदेव उपस्थित हैं, वहाँ केवल दुर्य्योधन को सम्मानित करना दोषावह है। अतएव यथा श्रुतार्थ को परित्याग करके उक्त दोष का समाधान किया गया है। प्रवक्ता श्रीशुक है॥१९१॥

१९२। अग्रिम ग्रन्थ में कतिपय रसाभासोंका समाधान करेंगे। कथित है कि—"अयोग्य सङ्गतिरपि भङ्गीविशेषेण योग्यस्य स्थायिन उत्कर्षाय चेत्तदा रसोल्लासः" इति। पहले जो कहा गया है-अयोग्य सम्मिलन भी यदि भङ्गि विशेष के द्वारा योग्य स्थायी का उत्कर्षाधायक होता है तो, वह रसोल्लासक होता है, दृष्टान्त के द्वारा उसको दिखाते हैं। उस में मुख्यरस के सम्मिलन से मुख्य रस का उल्लास इस प्रकार है। भा० १०।१४।३२ "अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्द गोप व्रजोकसाम्" श्रीब्रह्मा, श्रीकृष्ण को कहे थे--अहो! नन्द गोपावास के व्रजवासियों का एक अनिर्वचनीय सौभाग्य है, कारण, परमानन्द पूर्ण ब्रह्म उनके सनातन मित्र हैं। यहाँ ब्रह्मा व्रजवासि के प्रसङ्ग में ज्ञान भक्ति एवं बन्धुभाव की भावना किये हैं। यहाँ

स्वाभाविक-तद्भावास्वादे सत्यन्यस्य विरसत्व प्रतिभानात्। तथापि तत्र परमब्रह्मपद-व्यञ्जितायां ज्ञानभक्तेरयोग्याया भावना ज्ञानभक्तंचश-वासितसहृदयचमत्कारराय तदीयभाग्य-प्रशंसावैशिष्टचशंसन-भङ्गचा तमेवोत्कर्षयितुं प्रवर्त्तितेत्युल्लसत्येव रसः। एवम् (भा० १०।१२।११)-"इत्थं सतांब्रह्मसुखानुभूत्या" इत्यादिकमपि व्याख्येयम्, तथा (भा० १०।४९।९)-

(१९२) "भ्रात्रेयो भगवान् कृष्णः शरण्यो भक्तवत्सलः।
पैतृष्वस्रेयान् स्मरति रामश्चाम्बुरुहेक्षणः॥"४४४॥

अत्र पितृष्वसुस्तस्या ऐश्वर्य्यज्ञानमयी भक्तिरयोग्या, वात्सल्यन्तु योग्यम्, तथापि भगवदादि-पदव्यञ्जितताहृशसङ्गति र्यसीत्, तामतिक्रम्य भ्रात्रेय इति, पैतृष्वसेयानिति, अम्बुरुहेक्षण इति

---

बन्धुभाव की भावना ही समीचीन है, अर्थात् योग्य है। कारण, व्रजवासि वृन्द का स्वाभाविक बन्धुभाव आस्वादित होने से अन्यभाव अर्थात् ज्ञान भक्ति मय भाव-- विरस प्रतिपादित होता है। तथापि उस में परम ब्रह्म पद व्यञ्जित ज्ञान भक्ति की जो अयोग्य भावना है, वह भक्त्यंश वासित सहृदय वृन्द का चमत्कारार्थ,—व्रजवासी की भाग्य प्रशंसा का वैशिष्ट्य का वर्णन भङ्गी से बन्धुभाव का ही उत्कर्ष को प्रकाश करने में प्रवृत्त हैं। इस हेतु रसोल्लास हुआ है।

अभिप्राय यह है—बन्धुभाव के सहित शान्त भाव का सम्मिलन अर्थात् जो निज जन है—उस को ईश्वर मानने से रस की हानि होती है। उक्तस्थल में ब्रह्मा श्रीकृष्ण को व्रजवासियों का स्वाभाविक बान्धव कहने में प्रवृत्त हुये थे, उस प्रकार वर्णन से सहृदय के चित्त में श्रीकृष्ण—व्रजजन गण के स्वाभाविक बान्धव रूप में स्फुरित हुये थे। इसी समय श्रीकृष्ण को परम ब्रह्म कहने से शान्तभाव का आलम्बन परम ब्रह्म स्फुरण का अवकाश उपस्थित हुआ। इस रीति से बन्धु भाव के सहित अयोग्य शान्त भाव का सम्मिलन हेतु रसाभाव दोष उपस्थित हुआ। किन्तु परम ब्रह्म रूप में निर्देश व्रज वासियों का सौभाग्य सूचक होने से, अर्थात् जो परम ब्रह्म हैं—वही व्रज वासियों के—चिरन्तन मित्र हैं, उन सब का भाग्य कितना अद्भुत है—इस प्रकार अर्थ होने से ज्ञान भक्ति संस्कार सम्पन्न सहृदय के चित्त आस्वादन चमत्कारिता से पूर्ण हो जाता है। जो योगिध्येय परम ब्रह्म हैं, वही व्रज वासी के सनातन मित्र हैं। इस से बन्धु भाव समधिक आस्वादित हुआ है। एतज्जन्य यहाँ पर रस का उल्लास कहा गया है। इस रीति से भा० १०।१२।११ में वर्णित "इत्थं सतां ब्रह्म सुखानुभूत्या दैवं गतानां परदैवतेन" श्लोक की व्याख्या भी करनी चाहिये।

उक्त श्लोक में श्रीशुकदेव व्रज बालक गण के सहित श्रीकृष्ण का विहार प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण को ब्रह्म एवं परमेश्वर कहे हैं। उस से सख्य भाव के सहित शान्त एवं दास्य भाव के सम्मिलन से रसाभासोदय की सम्भावना थीं। किन्तु वर्णन भङ्गी से ज्ञान भक्ति वासित सहृदय के चित्त में जो ब्रह्म, परमेश्वर हैं, वही व्रज बालक गण के क्रीड़ा सहचर रूप में स्फुरित होकर सख्यरसास्वादन चमत्कारिता सम्पादन किये हैं। इस हेतु यहाँ रसोल्लास दृष्ट होता है। उस प्रकार श्रीकुन्ती देवी अक्रूर को कही थीं--भा० १०।४९।९

(१९२) "भ्रात्रेयो भगवान् कृष्णः शरण्यो भक्तवत्सलः।
पैतृष्वस्रेयान् स्मरति रामश्चाम्बुरुहेक्षणः॥"४४४॥

भगवान् भक्त वत्सल शरण्य मेरा भ्रातृष्पुत्र कृष्ण एवं कमल नयन राम उनके पैतृष्वसेय भ्रातृवृन्द का क्या स्मरण करते हैं।

चोक्ति-भङ्ग्यावात्सल्यस्योत्कर्षे सति रसोल्लासः ॥ श्रीकुन्ती ॥

१९३–१९४ । एवं श्रीराघवेन्द्रस्य केवलमाधुर्य्यमयलीलायां हनुमतः केवल-मयदास-भावेऽपि स्वरूपैश्वर्य्यादिज्ञानमय-तद्भावसङ्गतिर्नातियोग्यापि पश्चान्माधुर्य्यमय एव पर्य्यवसायिताभङ्ग्या तस्यैवोत्कर्षाय जातेति रसोल्लास एव योजनीयः । तत्रैश्वर्य्य-माधुर्य्ययोर्महिमज्ञानं तत्राह, (भा० ५।१९।३)—

(१९३) "ॐ नमो भगवते उत्तमश्लोकाय" इत्यादि ।

अत्र भगवत इत्यैश्वर्य्यम्, उत्तमश्लोकायेति माधुर्य्यं दर्शितम् । स्वरूपज्ञानमाह (भा० ५ १९।४)—

(१९४) "यत्तद्विशुद्धानुभवमात्रमेकम्" इत्यादि ।

यत्तत् प्रसिद्धं श्रीरामचन्द्रस्य दूर्वादलश्यामलरूपम् । अत्र प्रकाशैकलक्षणवस्तुनः सूर्य्यादि-

---

यहाँ कुन्ती की ऐश्वर्य्य ज्ञानमयी भक्ति अयोग्या है । वात्सल्य ही उनके पक्ष में योग्य है। तथापि यहाँ भगवान् प्रभृति पद से व्यञ्जित ऐश्वर्य्य ज्ञानमयी भक्ति का जो सम्मिलन हुआ था, 'भ्रातुष्पुत्र' पैतृष्वस्रेय' 'कमल नयन' पद से वचन भङ्गी के द्वारा उस सङ्गति को अतिक्रम करके वात्सल्योत्कर्ष प्रदर्शित हुआ है । उस से रसोल्लास हुआ है ।

अर्थात् कुन्ती देवी श्रीकृष्ण को भगवान् जानने पर भी उन को भ्रातुष्पुत्र मानती थीं, निज पुत्र वृन्द को भी उन भगवान् राम कृष्ण के भाई मानती थीं । इस से वात्सल्य के निकट ऐश्वर्य्य ज्ञान का पराभव दृष्ट होता है । उस से वात्सल्य की अति वृद्धि होती है, अर्थात् श्रीकुन्ती देवी श्रीराम कृष्ण को भगवान् जानने पर भी उनके प्रति उनका वात्सल्य अक्षुण्ण था । सामाजिक इस अनुभव से श्रीकुन्ती देवी की वात्सल्य चमत्कारिता का आस्वादन करते हैं । यह रसोल्लास का परिचायक है ।

श्रीकुन्ती देवी बोली थीं ॥१९२॥

१९३—१९४ । इस प्रकार श्रीराघवेन्द्र की केवल माधुर्य्यमयी लीला में हनुमान का माधुर्य्यमय दास्यभाव में स्वरूपैश्वर्य्यादि ज्ञानमय दास्यभाव का सम्मिलन अयोग्य होने पर भी अवशेष में माधुर्य्यमय भाव में पर्य्यवसान भङ्गी से माधुर्य्यमय भाव का उत्कर्ष ही साधित हुआ है ।

अर्थात् श्रीराम चन्द्र की लीला माधुर्य्यमयी है । हनुमान का भी माधुर्य्यमय दास्यभाव है । किन्तु श्रीमद् भागवत के गद्य पद्य में हनुमान् प्रभृति की जो उपासना वर्णित है, उस में श्रीराम चन्द्र का स्वरूप एवं ऐश्वर्य्य का वर्णन दृष्ट होता है । इस से माधुर्य्यमय दास्यभाव के सहित स्वरूप ऐश्वर्य्य ज्ञान सम्मिलन से रसाभास दोष की सम्भावना थी । किन्तु स्वरूपादि वर्णना की परि समाप्ति माधुर्य्यमय लीला एवं दास्य भाव में देखी जाती है । इस हेतु यहाँ माधुर्य्य ज्ञान का ही प्राधान्य है । परमानन्द पूर्ण ब्रह्म व्रजवासी के सनातन मित्र होने के कारण उनके बन्धु भाव का उत्कर्ष जिस प्रकार स्थापित हुआ है, उसी प्रकार स्वरूपैश्वर्य्य ज्ञान सम्पन्न श्रीहनुमान माधुर्य्य दास्य भाव से उपासना किये हैं, अतः माधुर्य्यमय दास्यभाव का ही यहाँ उत्कर्ष हुआ है । उस में हनुमान की ऐश्वर्य्य माधुर्य्य महिमा ज्ञान की वर्णना भा० ५।१९।३ में इस प्रकार है—

(१९३) ओँ नमो भगवते उत्तम श्लोकाय "

ओँ भगवान् उत्तम श्लोक को नमस्कार करता हूँ । यहाँ भगवान् शब्द से ऐश्वर्य्य ज्ञान, उत्तम

ज्योतिषः प्रकाशकत्वं शौक्ल्यादिमत्त्वमित्यादिधर्म्मवद्गुणरूपादिलक्षणतत्स्वरूपधर्म्मस्यापि तदात्मकत्वदृष्ट्या तन्मात्रत्वमुक्तम्, य एव धर्म्मः स्वरूपशक्तिरिति भगवत्सन्दर्भादौ स्थापितम्, अतएवैकमपि । तस्याश्च शक्तेर्मायाति-रिक्तत्वमाह-स्वतेजसा ध्वस्तगुणव्यवस्थमिति, स्वरूपशक्त्या दूरीभूता त्रैगुण्यात्मिका मायाशक्तिर्यस्मात्तत्, अतः प्रशान्तं सर्वोपद्रवरहितम्, अनुभावमात्रत्वे हेतुः-प्रत्यग् दृश्यादन्यत्,—(कठ० २।३।९) "न चक्षुषा पश्यति रूपमस्य", (कठ० १।२।२३) "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्" इति श्रुतेः। तत् कुतः ? अनामरूपम्,--(छा० ६।३।२) "एतास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य

---

श्लोक शब्द से माधुर्य्य प्रदर्शित हुआ है । स्वरूप ज्ञान की वर्णना भा० ५।१९।४ में है—

(१९४) "यत्तद् विशुद्धानुभवमात्रमेकं स्वतेजसा ध्वस्तगुण व्यवस्थम् ।
प्रत्यक् प्रशान्त सुधियोपलम्भनं ह्यनामरूपं निरहं प्रपद्ये ॥"

जो—वह, जो विशुद्धानुभाव मात्र, एक, जो निज तेज के द्वारा त्रिगुणमयी माया को दूरीभूत किये हैं, जो प्रत्यक् प्रशान्त, शुद्ध चित्त में प्रकाशमान, अनाम रूप एवं निरहङ्कार हैं, मैं उनकी शरणापन्न हूँ। जो, वह, श्रीराम चन्द्र के प्रसिद्ध दूर्वादल श्यामरूप है। यहाँ प्रकाशक लक्षण वस्तु सूर्य्यादि ज्योति का प्रकाशकत्व, शुक्लतादि मत्त्व प्रभृति धर्म के समान गुण रूपादि लक्षण उनका स्वरूप धर्म का एवं स्वरूपात्मकता को लक्ष्य करके स्वरूप मात्रत्व कथित हुआ है, जिस धर्म को स्वरूप शक्ति प्रतिपादन भगवत् सन्दर्भादि में किया गया है, वही यहाँ पर स्वरूप धर्म रूप में निर्दिष्ट हुआ है।

अर्थात् यहाँ श्रीराम चन्द्र के रूप को 'स्वरूप' शब्द से निर्देश किया गया है । मूलोक्त 'यत्तद्' 'जो वह' पद से जिस प्रकार वर्णित हुआ है, उस प्रकार विशुद्धानुभवमात्रादि वर्णित होने से रूप और स्वरूप का अभेद कीर्त्तन हुआ है। जिस प्रकार—प्रकाशकत्व एवं शुक्लतादि सूर्य्यादि ज्योति के धर्म होने पर भी वह सब उनके स्वरूप हैं, ये प्रतिभात हुए हैं । उस प्रकार दूर्वादल श्यामरूप—उनका स्वरूप धर्म होने पर भी उस रूप को स्वरूप कहा गया है। वह कथन कैसे सम्भव है ? उत्तर में कहे हैं—इस स्वरूप धर्म को ही भगवत सन्दर्भादि में स्वरूप धर्म कहा गया है। शक्ति एवं शक्तिमान् का ऐक्य निबन्धन यहाँ स्वरूप धर्म को स्वरूप कहा गया है।

स्वरूप धर्म की स्वरूपात्मकता हेतु श्रीरामचन्द्र का रूप धर्म एवं धर्म्मिरूप में प्रकाशित होने पर भी एक ही है। अनन्तर जिस से उस रूप अभिव्यक्त होता है—उस शक्ति को माया वहिर्भूत मानते हैं, निज तेज से—स्वरूप शक्ति द्वारा त्रिगुणात्मिका माया विदूरित हुई है, वह रूप उस प्रकार है। इस हेतु-प्रशान्त, सर्वोपद्रव रहित है, वह रूप अनुभव मात्र है, इस में हेतु--वह प्रत्यक् है, दृश्य वस्तु से अन्य है, अर्थात् यह दृश्य वस्तु नहीं है। इस का रूप चक्षु द्वारा दृष्ट नहीं होता है। (कठ०—२।३।९) "न चक्षुषा पश्यति रूपमस्य" कठ० १।२।२३—"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्" यह भगवान्—आत्मदर्शन दान हेतु जिस को वरण करते हैं, अर्थात् जिस के प्रति निज गुण से प्रसन्न होते हैं, वह उनको प्राप्त कर सकता है। आत्मा उस के सम्बन्ध में ही स्वकीयतनु प्रकाश करते हैं। 'न चक्षुषा पश्यति रूपमस्य' कठोक्त वह रूप चक्षु का अगोचर क्यों है? उत्तर में कहा है—अनामरूपम्—अनामरूप है—अर्थात् प्रसिद्ध प्राकृत नाम रूप रहित हैं। प्राकृत नामरूप के सम्बन्ध में छान्दोग्य (६।३।२) उपनिषद में उक्त है—"एतास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" तेज, जल एवं

नामरूपे व्याकरवाणि'' इति प्रसिद्धप्राकृत-नाम-रूपरहितम् । तत्र हेतुः--निरहमिति । आत्म-शब्देन हि श्रुतावस्यां परमात्मनो जीवाख्यशक्तिरूपोऽंश उच्यते,--अनेनेति पृथक्त्वनिर्देशात् । तद्रूपेण च प्रवेशो नाम देवता-शब्दवाच्य-तेजोवारिमृल्लक्षणोपाध्यभिनिवेशः, स च तस्य जीवस्य तत्राहन्ताध्यासादेव भवति । ततोऽन्तर्यामिरूपेण स्वयं तत्र स्थितस्यापि तदध्यासा-भावादुपाधिकृतनामरूपराहित्यं युक्तमेवेत्यर्थः । सर्वथाहङ्काररा‌हित्ये सति व्याकरवाणीति-प्रयोगस्यानर्हत्वादिति भावः । ननु श्रीरामरूपं न सर्वैरेवं प्रतीयते ? तत्राह—सुधियोपलम्भनम्, शुद्धचित्तेन स्वरूपतयैवोपलभ्यत इत्यर्थः, (भा० ३।९।३) ''नातः परं परम यद्भवतः स्वरूपम्'' इत्यादि-श्रीब्रह्मवाक्यात् ।

१८५ । नन्वेवम्भूतस्य मर्त्त्येषु प्राकट्ये च किं प्रयोजनम् ? उच्यते,—गौणे सत्यपि

---

मृत्तिका रूप तीन देवता जीवात्मा के द्वारा अनुप्रवेश करके--नाम रूप को प्रकाश करता हूँ । यहाँ भौतिक शरीर के सम्बन्ध में जो नाम रूप प्रकाश की कथा कही गई है, वह मायिक उपाधिमात्र है, इस हेतु प्राकृत है । श्रीराम चन्द्र--इस प्रकार प्राकृत नाम रूप रहित हैं । कारण, वह रूप निरहङ्कार है– अर्थात् अहङ्कार शून्य है । इस श्रुति में आत्म शब्द से परमात्मा का जीवाख्य शक्ति रूप अंश कहा गया है । कारण, 'यह' शब्द द्वारा उस का पृथक् निर्देश हुआ है ।

जीवाख्य शक्ति रूप अंश में प्रवेश,--देवता शब्द वाच्य--तेजोवारि मृत्तिका रूप उपाधि में अभिनिवेश है । उस से उस जीव की अहन्ता का अभिनिवेश से वह अध्यास होता है । सुतरां परमात्मा स्वयं अन्तर्यामि रूप में देह में अवस्थान करने पर भी अहङ्कार अध्यास का अभाव निबन्धन उसका नाम रूप राहित्य सङ्गत है । कारण--सर्वावस्था में अहङ्कार रहित होने से 'प्रकाश कर रहा हूँ । इस प्रकार प्रयोग अयोग्य है । यहाँ जिज्ञास्य है—श्रीराम चन्द्र का रूप जो उस प्रकार है, उस को विश्वास सब लोक नहीं करते हैं । समाधान हेतु कहते हैं, शुद्ध चित्त में प्रकाश मान हैं, शुद्ध चित्त में स्वरूप ही उपलब्धि का विषय होता है ।

अभिप्राय यह है– उपास्य दूर्वादल श्याम श्रीराम को श्रीहनुमान जो स्वरूप परमात्मा सच्चिदानन्द विग्रह जानते थे--इस श्लोक में उसका वर्णन है । यह रूप स्वरूपाभिन्न--है-अर्थात् स्वगत भेद वर्जित है, इस में देह देही भेद नहीं है । उस प्रकार प्रतिपन्न करने के निमित्त--एक इत्यादि अठ विशेषण योजित हुए हैं ।

दूर्वादल श्याम--श्रीराम चन्द्र के नाम रूप स्वरूपानुबन्धी है, इस को प्रतिपन्न करने के निमित्त छान्दोग्य श्रुति का उल्लेख हुआ है । उस में 'प्रकाश कर रहा हूँ । क्रिया का कर्त्ता परमात्मा हैं । उनका जीवात्मारूप अंश—पाञ्च भौतिक देह में अभिनिविष्ट होने पर देह सम्बन्ध में नाम रूप प्रकाशित होते हैं । जीवात्मा की अहन्ता—अर्थात् अभिमान—उस नाम रूप युक्त होता है । अर्थात् मेरा अमुक नाम, रूप ईदृश है—इस प्रकार प्रत्यय होता है । परमात्मा अन्तर्यामी रूप में देह में अवस्थान करने पर भी देह सम्पर्कित नामरूप के सहित अहन्ता संश्लिष्ट नहीं होती है । तज्जन्य परमात्मा प्राकृत नाम रूप रहित हैं । ''प्रकाश कर रहा हूँ'' क्रिया के द्वारा प्रकाश कर्त्ता का नाम रूप अनुमित हैं । कारण, नाम रूप वर्जित कोई भी उस प्रकार कहने में सक्षम नहीं हैं । इस हेतु परमात्मा के स्वरूपानुबन्धी श्रीरामादि नाम, दूर्वादल श्यामादि रूप हैं । यह प्रमाणित हुआ ।।१८४।।

प्रयोजनान्तरे मुख्यन्तु भक्तेषु लीलामाधुर्य्याभिव्यञ्जनमेवेत्याह, (भा० ५।१९।५)—

(१९५) "मर्त्यावतारस्त्विह" इत्यादि।

तु-शब्द आशङ्कानिवृत्त्यर्थः। मर्त्यलोके योऽवतार आविर्भावः, स तु साधुजनोद्वेजक-रक्षोवधायैव केवलं न भवति, किन्तु मर्त्यशिक्षणमपि, मर्त्येषु शिक्षणं तत्तदर्थ प्रकाशनं यत्तन्मयम प। तत्र वहिर्मुखेषु विषयासङ्गदुर्वारताप्रकाशनमानुषङ्गिकम्। उद्देश्यन्तु स्वभक्तिवासनेषु चित्तार्द्रताकरविरहसंयोगमयनिजलीलाविशेषमाधुर्य्यप्रकाशनम्, तदर्थमेवेत्यर्थः। अन्यथा यदि केवलं तद्वधायैव स्यात्तदात्मनः परमात्मत्वेन परिपूर्णस्येश्वरस्य सर्वान्तर्य्यामिणः स्वे स्वस्वरूपे तदेकरूपे वैकुण्ठे च रममाणस्य सीताकृत-व्यसनानीति कुतः स्यात्,—मनसैव तद्वधे शक्तत्वात्तद्व्यसनासम्भवाच्च। निजमाधुर्य्य प्रकाशनपक्षे तु तत्तत् सम्भवत्येवेति भावः॥

१९६। अत्र कृपारूपं तादृशलीलारूपञ्च माधुर्य्यमधिकं श्लाघितम्। तत्र श्रीसीतावियोग दुःखञ्च लीलामाधुर्य्यान्तर्गतमेवेति न दोष इत्यपि दर्शितम्। तादृशलीला च न प्राकृतवत् कामादिसक्ततया, किन्तु स्वजनविशेषविषयककृपाविशेषेणैवेत्याह, (भा० ५।१९।५)—

---

१९५। यदि श्रीराम चन्द्र उस प्रकार होते हैं, तो धराधाम में अवतीर्ण होने का प्रयोजन उनको क्या है? उत्तर में कहते हैं। गौण प्रयोजन अपर कुछ होने पर भी मुख्यो प्रयोजन किन्तु भक्त वृन्द में लीला माधुर्य्य को अभिव्यक्त करना है। भा० ५।१९।५ में लिखित है—

"मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः।
कुतोऽन्यथास्याद्रमतः स्व आत्मनः सीताकृतानि व्यसनानीश्वरस्य॥"

विभु का मर्त्यावतार किन्तु केवल राक्षस वध हेतु नहीं है' मर्त्य जगत् को शिक्षा प्रदान भी उस का उद्देश्य है। अन्यथा, आत्मा, ईश्वर, स्वरूप में रममाण उनके पक्ष में सीता विरह जनित दुःख कैसे सम्भव होगा? श्लोक की व्याख्या— उक्त श्लोक में तु 'किन्तु' शब्द—आशङ्का निरसन हेतु प्रयुक्त हुआ है। मर्त्य लोक में जो अवतार—आविर्भाव, वह केवल साधु जनोद्वेग कारी राक्षस वध हेतु नहीं है, किन्तु मर्त्य शिक्षा भी उसका उद्देश्य है। मर्त्य शिक्षा—उस उस अथ को प्रकाश करना है। वह अर्थ क्या है? कहते हैं—उस में—उस शिक्षण में, वहिर्मुख जन गण में विषयासक्ति की दुर्वारता प्रकाश करना आनुषङ्गिक है। किन्तु मूल उद्देश्य है—भगवद् भक्ति वासना विशिष्ट जन के निकट चित्त द्रवकर विरह संयोगमय निज लीला विशेष का माधुर्य्य प्रकाश करना है। उस अभिप्राय से ही मर्त्य लोक में अवतीर्ण हुए हैं। अन्यथा यदि केवल राक्षस वध करना ही अवतरण का उद्देश्य होता तो, जो आत्मा—परमात्मा नाम से परिपूर्ण हैं- वह ईश्वर; सर्वान्तर्य्यामी, स्वरूप में—केवल निज रूप में एवं वैकुण्ठ में जो रममाण हैं, उनको सीता विरह जनित दुःख होना कैसे सम्भव होगा? कारण, आप,—सङ्कल्प मात्र से ही राक्षस वध करने में सक्षम हैं। एवं उनको दुःख होना भी असम्भव है, निज माधुर्य्य प्रकाश हेतु वे सब लीला करना सम्भव होता है॥१९५॥

१९६। यहाँ उनकी कृपा एवं तादृश लीलारूप माधुर्य्य ही सर्वाधिक प्रशंसित है। इस हेतु इसमें दोष नहीं है। यह भी दर्शाया गया है। श्रीरामचन्द्र की तादृश लीला प्राकृत व्यक्ति के समान कामातुरता के कारण प्रकटित नहीं हुई है। किन्तु स्वजन विशेष 'विषयक कृपा विशेष से ही वह लीला प्रकट हुई है।

(१९६) "न वै स आत्मात्मवताम्" इत्यादि ।

स वै खलु त्रिलोक्यां न सक्तः । तत्र हेतुः—आत्मा परमात्मा भगवान् परिपूर्णैश्वर्य्यादिः, वासुदेवः सर्वाश्रयश्चेति, किन्त्वात्मवताम्—आत्मा स्वयमेव नाथत्वेन विद्यते येषां तेषां स्वविषयक-ममताधारिणां भक्तविशेषाणामित्यर्थः, तेषामेव सुहृत्तमः । तस्माद्यथान्यो स्त्रीत्वहेतुकं कश्मलमश्नुवते, तथा नासावश्नुवीत । अतस्तस्या आत्मवत्त्वेनैव तादृश-कश्मल-हेतु-तत्प्रीतिविषयताप्रीति भावः । तथा देवदूतसमयातिक्रमेणात्मवतोऽपि लक्ष्मणस्य परित्यागो यः, स खलु नात्यन्तिक इत्याह—न लक्ष्मणमिति, विहातुमपि नार्हति, न शक्नोति, अनन्तरं झटित्येव स्वर्गस्थतया स्वागमनं प्रतीक्ष-माणैस्तदादिभिः सह स्वधिष्ण्यारोहात्, अधुनापि तेन सीतादिभिश्च सहैवास्मिन् किंपुरुषवर्षेऽप्यस्माभिर्दृश्यमानत्वात् । ततो मर्य्यादा-रक्षार्थमेव किञ्चित्तत्तदनुकरणमिति भावः ॥

१९७ । पूर्वार्थमेव स्थापयितुं भक्तेरेककारणकारुण्यप्रमुख-परममाधुर्य्यं सर्वोद्ध्र्वमाह द्वाभ्याम् (भा० ५।१९।७)—

---

भा० ५।१९।६ में उसका कथन हुआ है ।

(१९६) "न वै स आत्मवतां सुहृत्तमः सक्तस्त्रिलोक्यांभगवान् वासुदेवः ।
न स्त्रीकृतं कश्मलमश्नुवीत न लक्ष्मणञ्चापि विहातुमर्हति ॥"

श्रीहनुमान् कहे थे—भगवान् वासुदेव श्रीराम चन्द्र—आत्मवान् व्यक्तिगण के पक्ष में परम सुहृद हैं, त्रिजगत् की किसी भी वस्तु में उनकी आसक्ति नहीं है । उनको स्त्री जनित दुःख हो ही नहीं सकता है, लक्ष्मण को वर्जन करना भी उनके पक्ष में सम्भव नहीं है ।

श्लोक की व्याख्या—राम चन्द्र जगत् की किसी वस्तु में आसक्त नहीं हैं, अनासक्ति में हेतु आप आत्मा-परमात्मा हैं, भगवान्—ऐश्वर्य्यादि परिपूर्ण रूप में आप में वर्त्तमान् हैं । आप वासुदेव सर्वाश्रय हैं । किन्तु आत्मवान् व्यक्ति वृन्द की आत्मा-हैं, अर्थात् स्वयं ही उन के नाथ रूप में वर्त्तमान हैं । निज विषयक ममताक्रान्त व्यक्ति गण के पक्ष में—आप—सुहृत्तम हैं । सुतरां अन्य व्यक्ति जिस प्रकार स्त्री जनित दुःख भोग करता है, उस प्रकार दुःख उनको नहीं हुआ । सीता को भी प्राकृत जनवत् दुःख नहीं हुआ, सीता—आत्मवती है, अर्थात् परमात्मा ही उनका नाथ स्वामी हैं, तथापि जो दुःख वृत्तान्त लिखित है, वह श्रीराम चन्द्र की प्रीति विषयता ही तादृश दुःख के प्रति हेतु हो सकता है । उस प्रकार देवदूत का नियमातिक्रम करने में समर्थ होने पर भी लक्ष्मण को जो परित्याग किया गया था, वह आत्यन्तिक त्याग नहीं है । अतः कहा गया है कि—लक्ष्मण को परित्याग करना उनके पक्ष में सम्भव नहीं है । कारण, स्वर्गस्थ रूप में निजागमन प्रतीक्षमान श्रीसीता प्रभृति के सहित श्रीराम चन्द्र निज धाम में आरोहण किये थे । इस हेतु अधुना भी किंपुरुषवर्ष में सीता प्रभृति के सहित राम चन्द्र का दर्शन हम सब करते रहते हैं । सुतरां मर्य्यादा रक्षण हेतु दुःखादि किञ्चित् अनुकरण मात्र हैं ॥१९६॥

१९७ । पूर्वार्थ को स्थापन करने के निमित्त भक्ति का एकमात्र कारण—कारुण्य प्रमुख परममाधुर्य्य सर्वोपरि विराजमान है । उस का वर्णन श्लोक द्वय के द्वारा करते हैं । भा० ५।१९।७ में उक्त है—

(१६७) "न जन्म नूनं महतो न सौभगं, न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतु, ।
तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकस,—श्चकार सख्ये वत लक्ष्मणाग्रजः ॥"४४५॥

महतः पुरुषाज्जन्म, सौभगं सौन्दर्य्यम्, आकृतिर्जातिः, यद् यस्मात्, तैर्जन्मादिभिर्विसृष्टांस्त्यक्ता-नस्मांस्तदीयपरमभक्त-श्रीसीतान्वेषणादि-भक्तितुष्टत्वेन वताहो लक्ष्मणस्य सर्व्वसद्गुण-लक्ष्मलक्षितस्य सुमित्रानन्दनस्याग्रजोऽपि सखित्वे कृतवान्,—दास्यायोग्यानपि सहविहारादिना सखीनिव कृतवानित्यर्थः, सुग्रीवमुपलक्ष्य वा तथोक्तम् ॥

१६८ । तस्मात्, (भा० ५।१९।८)—

(१६८) "सुरोऽसुरो वाप्यथ वानरो नरः, सर्व्वात्मना यः सुकृतज्ञमुत्तमम् ।
भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं, य उत्तराननयत् कोशलान्दिवम् ॥"४४६॥

पूर्वं स्वरूपज्ञानमयभक्त्या मनुजाकृतावेव परमस्वरूपत्वं दर्शितवान्, सम्प्रति माधुर्य्यज्ञानमय-भक्त्यापि विशिष्य तमेवाराधयति--मनुजाकृतिं हरिमिति । तत्रापि श्रीकपिलादिकं

---

(१६७) 'न जन्म नूनं महतो न सौभगं, न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः ।
तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकसश्चकार सख्ये वत लक्ष्मणाग्रजः ॥"४४५॥

श्रीहनुमान् कहे हैं—महत् से जन्म, सौभग, आकृति, बुद्धि, वाक् प्रयोग नैपुण्य, इन सब के द्वारा लक्ष्मणाग्रज का प्रिय होना सम्भव नहीं है, कारण, उन सब गुण विहीन वनचर वानर हम सब को आप सखा रूप में ग्रहण किये थे ।

श्लोक व्याख्या—महत्पुरुष से जन्म, सौभग-सौन्दर्य्य,— आकृति बुद्धि वाक् प्रयोग नैपुण्य-ये सब के द्वारा लक्ष्मणाग्रज का प्रिय होना सम्भव नहीं है, कारण, वे सब गुण विहीन वनचर बानर हम सब को उन्होंने सखा रूप में ग्रहण किया है । अर्थात् जन्मादि सौभाग्य विवर्जित हम सब को उन का परम भक्त श्रीसीता के अन्वेषणादि रूप भक्ति से परितुष्ट होकर सखा किये हैं । आप कीदृश हैं ? सर्व सद्गुण सम्पत्ति के द्वारा जो लक्षित होते हैं । उस प्रकार सुमित्रानन्दन लक्ष्मण का अग्रज होकर भी हम सब को सखा किये हैं । वस्तुतः हम सब उनके दासत्व के अयोग्य हैं, तथापि सह विहारादि द्वारा हम सब को सखावत् करके रखे थे । अथवा सुग्रीव को उपलक्ष्य करके सख्य किये हैं ॥१६७॥

१६८ । अतएव भा० ५।१९।८ में उक्त है—

(१६८) "सुरोऽसुरो वाप्यथ वानरो नरः, सर्व्वात्मना यः सुकृतज्ञमुत्तमम् ।
भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं, य उत्तराननयत् कोशलान्दिवम् ॥४४६॥

वनचर बानर को भी सख्य के द्वारा कृतार्थ किये हैं, अतः देवता, असुर, बानर नर किंवा अन्य जो कोई जीव क्यों न हो सब के पक्ष में सुकृतज्ञ, उत्तम, मानवाकृति हरि राम का भजन करना कर्त्तव्य है । जिन्होंने अयोध्यावासी समस्त जीव को वैकुण्ठ ले गये थे ।

श्लोक व्याख्या—पहले स्वरूप ज्ञानमय भक्ति के द्वारा नराकृति में ही परम स्वरूपत्व प्रदर्शन किये हैं । सम्प्रति माधुर्य्य ज्ञानमय भक्ति के द्वारा भी विशेष रूप से उन नराकृति हरि की आराधना करते हैं, श्रीकपिलादि भी नराकृति हरि हैं, किन्तु उन सब को व्यावृत्त करने के निमित्त कहते हैं- राम । वह श्रीराम

व्यावर्त्तयति-राममिति, उत्तममसमोद्‌र्ध्वगुणम्, सुकृतज्ञं स्वल्पयापि भक्त्या सन्तुष्यन्तमिति। श्रीहनूमान्॥

१९९। तथा (भा० १०।२३ ३१) "मैवं विभोऽर्हति" इत्यादौ (भा० १०।२९।३२) "प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा" इत्यत्रापि नर्म्मालापमयश्लेषभङ्ग्या स्वीयभावोत्कर्षेण रसोल्लासः पुरतो दर्शनीयः।

---

उत्तम --असमोद्‌र्ध्व गुण शाली हैं, सुकृतज्ञ--अत्यल्प भक्ति के द्वारा भी आप परितुष्ट होते हैं।

श्रीहनुमान् कहे थे —१९८॥

१९९। उस प्रकार भा० १०।२३।२९ में उक्त--श्रीयज्ञपत्न्य ऊचुः—

"मैव विभोऽर्हति भव नुगदितुं नृशंसं सत्यं कुरुष्वनिगमं तव पादमूलम्।
प्राप्तावयं तुलसिदाम पदावसृष्टं क्लेशैर्निवबोढ़ुमतिलङ्घ्यसमस्त बन्धून्।"

टीका—नृशंसं-परुषम्। निगमं--प्रतिज्ञां, नमेभक्तः प्रणश्यतीति वेदं वा, न स पुनरावर्त्तते--इति। पदावसृष्टम्-अवज्ञयापि दत्तम्। बहुम नेन केशैर्निवोढ़ुं-दासी भवितुम्॥

इस प्रकार भा० १०।२९।३१ में कथित है श्रीगोप्य ऊचुः—

"मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं सन्त्यज्य सर्व विषयां स्तवपादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान् देवो यथादि पुरुषो भजते मुमुक्षून्॥

टीका—नृशंसं क्रूरम्! हे दुरवग्रहस्वच्छन्द! तव पाद मूलम्--भक्ताः सेवितवतीरस्मान् भजस्व मात्यजेति" एवं भा० १०।२९।३१ में उक्त है

'यत् पत्यपत्य सुहृदामनु वृत्तिरङ्ग स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदात्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेश पदे त्वयीशे प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किलबन्धुरात्मा॥"

टीका-- अपि च यदुक्तं पत्यापत्येत्यादि त्वया धर्मविदेति सोपहासम् एवमेतदुपदेशानां पदे विषये त्वय्येवास्तु। उपदेश पदत्वे हेतुः ईश इति। विविदिषा वाक्येन सर्वोपदेशानामीश्वरपरत्वावगमादिति भावः इति। ईशत्वे हेतुः—आत्मा--किल-भवानिति। भोग्यस्य हि सर्वस्य भोक्ता, आत्मैवेश इत्यतः प्रेष्ठो बन्धुश्च भवानेवेति सर्व बन्धुषु करणीयं त्वय्येवास्त्वित्यर्थः। अथवा धर्म्मोपदेशानां पदे स्थाने धर्म्मोपदेष्टरि त्वयि सति अस्मासु च धर्म्मं जिज्ञासमानासु सतीषु त्वया धर्मविदा यदुक्तम्--एवमेतदस्तु नतु त्वं धर्मोपदेष्टा किन्तु भवानात्मेति। अथवा यदुक्तमेतदुपदेश पदे त्वद् गोचर पुरुषेऽस्तु नाम त्वयि तु ईशे स्वामिने सत्येवम्। काक्वा नैवमित्यर्थः। यतस्तनु भृतां त्वमात्मा फल रूप इति। यदुक्तं पत्यादि शुश्रूषणं धर्म इति एवमेतत् त्वय्येवास्तु। कुत उपदेशपदे शुश्रूषणीयत्वेन उपदिश्यमानानां पत्यादीनां पदे अधिष्ठाने। कुतः ईशे। न हीश्वरमधिष्ठानं विना कोऽपि पतिपुत्रादिर्नामेति। अन्यत् समानम्। अलमति विस्तरेण।

रास में श्रीकृष्ण के प्रत्याख्यानमय वचन के उत्तर में श्रीव्रजदेवीवृन्द के प्रतिवचन में मैवं विभोऽर्हति इत्यादि श्लोक समूह के मध्य में आप देह धारि गण के मध्य में प्रियतम, बन्धु-रात्मा हैं। इस वाक्य में भी परिहासमय द्व्यर्थ बोधक वचन भङ्गी द्वारा स्वीय भावोत्कर्ष हेतु जो रसोल्लास हुआ है-- अग्रिम ग्रन्थ में उसका प्रदर्शन होगा।

तात्पर्य्य यह है—यहाँ श्रीकृष्ण को समस्त जीवों का प्रियतम रूप में कहने से आपाततः बोध होता

अथायोग्यगौणसङ्गत्यापि मुख्यस्योल्लासो यथा,–(भा० १०।६०।४५) "त्वक्श्मश्रुरोमनख-केश-" इत्यादिकं श्रीरुक्मिणीवाक्यम् । अत्र प्रतीपत्वेनायोग्यस्यापि बीभत्सस्य सङ्गतिः प्रकृतकृष्णविषयक-कान्तभावप्रशंसाकारि-वचनभङ्ग्यैव कृतेति तदुत्कर्षायैव जाता । ततो रसोल्लास एवेति । तथान्यत्र (भा० १।१०।३०) —

(१६६) "एताः परं स्त्रीत्वमपास्तपेशलं, निरस्तशौचं वत साधु कुर्वते ।
यासां गृहात् पुष्करलोचनः पति-र्न जात्वपैत्याहृतिभिर्हृदि स्पृशन् ।।"४४७।।

स्त्रीत्वं स्त्रीजातिः, सा च श्रीरुक्मिण्याद्यवर-तज्जातिभेदत्वेनैवात्र गृहीता । अपास्त-पेशलत्वादिकं हि तज्जात्यन्तराश्रयम्, न तु श्रीरुक्मिण्याद्याश्रयम्--ताभिस्तासामपि साधुत्व-

---

है कि—श्रीकृष्ण परमात्मा हैं । उस में मधुर रसमयी रास लीला में शान्त रस का सम्मिलन निबन्धन रसाभास की आशङ्का हुई थी । किन्तु व्रज सुन्दरी वृन्द ने जो सब शब्द प्रयोग किया है," वह सब शब्द स्वरूप सूचक न होकर अर्थान्तिर के द्वारा मधुर रस ही पुष्ट होता है । उक्त शब्द समूह परिहास को सूचना करते हैं । नायिका की उपयुक्त परिहासोक्ति उक्त मधुर रस को उल्लसित करता है । अतएव उक्त कथन से मधुर रस का उल्लास साधित हुआ है । जिस अर्थ के द्वारा शब्द समूह परिहास हेतु प्रयुक्त हुये हैं, उसका प्रकाश अग्रिम ग्रन्थ में होगा । यहाँ अयोग्य शान्तरस के सम्मिलन से वचन भङ्गी के द्वारा मधुर रस का उल्लास साधित हुआ है । भा० १०।६०।४५ में भी उक्त है—अनन्तर अयोग्य गौण रसका सम्मिलन से वचन भङ्गी के द्वारा मुख्यरस का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं । त्वक्, श्मश्रु, रोम, नख, केश, द्वारा आवृत एवं भीतर में मांस, अस्थि, रक्त, कृमि, विष्ठा, वात, पित्त, कफ पूरित जीवित शब्द देह का भजन कान्त ज्ञान से जो स्त्री करती है, वह स्त्री आप के चरण कमल की सुगन्धि को प्राप्त न करने के कारण ही उस प्रकार करती हैं । 'त्वक् श्मश्रुरोमनखकेश" इत्यादि श्रीरुक्मिणी वाक्य हैं । यहाँ वैरी रूप में अयोग्य बीभत्स रस का सम्मिलन—जिनका उत्कर्ष ख्यापन करना उद्देश्य है, उन श्रीकृष्ण बिषयक कान्तभाव का प्रशसा सूचक होकर उस भावोत्कर्ष का कारण हुआ है । अर्थात् यहाँ श्रीकृष्ण का उत्कर्षख्यापन करना श्रीरुक्मिणी देवी का उद्देश्य है, उस से ही उनका कान्तभाव उल्लसित हुआ है । उन्होंने श्रीकृष्ण की प्रशंसा न करके अन्य पुरुष की धन्यता को कहकर जो निन्दा की है, उस से ही श्रीकृष्ण का उत्कर्ष प्रतिष्ठित होकर मधुर रस का उल्लास साधित हुआ है । उस प्रकार दृष्टान्त भा० १।१०।३० में है—

(१६६) "एताः परं स्त्रीत्वमपास्तपेशलं, निरस्तशौचं वत साधु कुर्वते ।
यासां गृहात् पुष्करलोचनः पति–,र्न जात्वपैत्याहृतिभिर्हृदि स्पृशन् ।।"४४७।।

टीका—एताः स्त्रीत्व मेव परं केवलं साधु शोभनं कुर्वते । अपास्तं गतं पेशलं भद्रं स्वातन्त्र्यं यस्मात् निरस्तं शौचं शुचित्वं यस्मात् तथा भूतमपि । जातु कदाचिदपि नापैति न निर्गच्छति । आहृतिभि र्व्याहारैः । यद्वा, पारिजातादि प्रियवस्त्वाहरणै हृदि स्पृशन् आनन्दयन् ।।"

द्वारकास्थ महिषी वृन्द को लक्ष्य करके हस्तिनापुरवासी महिला गण कही थीं "शौच एवं स्वातन्त्र्य रहित स्त्रीत्व को इन्होंने श्रीरुक्मिणी प्रभृतियों ने परम शोभित किया है, कारण, मधुर आलाप प्रभृति के द्वारा आसक्त होकर जिन के गृह सु पुष्कर लोचन पति श्रीकृष्ण–निर्गत नहीं होते हैं ।

श्लोक व्याख्या—स्त्रीत्व--स्त्री जाति, श्रीरुक्मिणी प्रभृति भिन्न अन्य के सम्बन्ध में ही उस प्रकार कहा गया है । शौचराहित्य दोष–अन्य स्त्री के सम्पर्क में है, श्रीरुक्मिणी प्रभृति के सम्बन्ध में नहीं ।

करणात्, ततश्चान्यां तत्तद्दोष-युक्तां स्त्रीजातिमपि या निजकीर्त्त्यादिना शुद्धां कुर्वन्तीत्यर्थः। तासां तत्तद्दोषरहित-सर्वगुणालङ्कृतत्वे तदपरासां साधुत्वविधाने च हेतुमाह— यासामिति। स्वयं तथाविधोऽपि आहृतिभिः प्रेयसीजनोचितगुणसमाहारैर्या एव हृदि स्पृशन् मनस्यारञ्जन् यासां गृहादपि न जात्वपैतीति। तस्मादत्रापि बीभत्स-सङ्गतिः पूर्ववद्व्याख्येया ॥ कौरवेन्द्रपुरस्त्रियः ॥

२००। अथ गौणेष्वयोग्यमुख्यानां सङ्गतावपि पूर्वरीत्या रसोल्लासो यथा (भा० १०।१६।२०)

(२००) "गोप्योऽनुरक्तमनसो भगवत्यनन्ते
तत्सौहृदस्मितविलोकगिरः स्मरन्त्यः।
ग्रस्तेऽहिना प्रियतमे भृशदुःखतप्ताः
शून्यं प्रियव्यतिकृतं ददृशुस्त्रिलोकम् ॥"४४८॥

अत्र गौणः करुणरस एव योग्यः। तत्र स्वप्रतीपे सम्भोगाख्य उज्ज्वलस्त्वयोग्यः, तथापि तत्र स्मितविलोकादिरूप-तत्सङ्गतिः स्मर्य्यमाणमात्रत्वेन तत्तद्भावाभिव्यञ्जनभङ्ग्या शोकमुत्कर्षयति। ततो रसोल्लास एवेति ॥ श्रीशुकः ॥

---

कारण, स्त्री जातीय अपर के सहित तुलना करके उन सब का साधुत्व प्रकाश किया गया है। सुतरां उक्त दोष समूह युक्त स्त्री जाति को भी निज कीर्त्यादि द्वारा उन्होंने शुद्ध किया है। इस हेतु वे शौचादि रहिता साधारणी रमणी वृन्द से भिन्न हैं। श्रीरुक्मिणी प्रभृति जो उक्त दोष समूह शून्या हैं, एवं सर्व गुण समलङ्कृता हैं, अन्य रमणी वृन्द का साधुत्व सम्पादन में समर्था हैं, उस में कारण निर्देश निबन्धन कहते हैं—यासामिति। आहृतिभिः-स्वयं उस प्रकार होने पर भी प्रेयसी जनोचित गुण समाचार के द्वारा इस प्रकार प्रियता अर्ज्जन उन्होंने किया है—जिस से श्रीकृष्ण-उनके प्रति आसक्त होकर गृह से निर्गत नहीं होते हैं। सर्वदा-उनके गृह में ही निवास करते हैं,। श्रीकृष्ण,— महिषी गण के गृह से निर्गत नहीं होते हैं -इस कथन से कामुक पुरुष के समान उनका आचरण वर्णित होने से यहाँ मधुर रस में बीभत्सरस का सम्मिलन हुआ है। इस की सङ्गति हेतु पूर्ववत् व्याख्या द्वारा समाधान करना कर्त्तव्य है।

अर्थात् श्रीकृष्ण,— स्त्रीजित पुरुष नहीं हैं, आप—महिषी वृन्द के प्रीत्युत्थ गुण समूह द्वारा वशीभूत होकर सतत उनके गृह में विराजित रहते हैं। इस प्रकार कथन से महिषी वृन्द का प्रेमोत्कर्षख्यापन पूर्वक श्रीकृष्ण का प्रेम पारवश्य प्रकटन करके मधुर रस का उल्लास स्थापित किया गया है।

प्रवक्ता—कौरवेन्द्र पुरस्त्री गण हैं —१९९॥

२००। अनन्तर गौण रस समूह में अयोग्य मुख्यरस का सम्मिलन होने से उस के द्वारा भङ्गी विशेष से यदि योग्यस्थायी का उत्कर्ष साधित होता है, तो जो रसोल्लास होता है—उस का वर्णन करते हैं भा० १०।१६।२० में उक्त है—

(२००) 'गोप्योऽनुरक्तमनसो भगवत्यनन्ते तत्सौहृदस्मितविलोकगिरः स्मरन्त्यः।
ग्रस्तेऽहिना प्रियतमे भृशदुःखतप्ताः शून्यं प्रियव्यतिकृतं ददृशुस्त्रिलोकम् ॥"४४८॥

टीका—प्रियेण —श्रीकृष्णेन, व्यतिहृतं-व्यतिकृतं--विरहितं त्रैलोक्यं शून्यं ददृशुः।

श्रीकृष्ण, कालिय ह्रद में निमज्जित होकर सर्प वेष्टित होने से--भगवान् अनन्त में अनुरक्त चित्त गोपी

२०१। अथ मुख्येष्वयोग्यसञ्चारिसङ्गतावपि यथा (भा० १० २९।८) —

(२०१) "ता वार्य्यमाणाः पतिभिः" इत्यादि।

अत्र च तेषामग्रे तादृशं चापल्यमयोग्यमपि तदानीं मोहातिरेकाभिव्यञ्जनाभङ्ग्या महाभावाख्यं सर्वानुसन्धानरहितं कान्तभावस्योत्कर्षमेव गमयामास। तत्र उल्लसत्येव रस इति॥ श्रीशुकः॥

२०२। एवमुदाहरणान्तराण्यप्युन्नेयानि। अथ यदुक्तमयोग्यस्योत्कर्षे तु रसाभासत्वस्यैवोल्लास इति, तत्रोदाहरणम् (भा० १०।८५।१८)—

---

गण-प्रियतम को सर्प ग्रस्त देखकर सौहृद्य, सहास दृष्टि एवं सस्मित वचनका स्मरण करके अतिशय दुःखित हुई थीं एवं प्रिय विरह से त्रिभुवन को शून्य अवलोकन करने लगी थीं।

यहाँ गौण करुण रस योग्य है, सम्भोग अर्थात् उज्ज्वल रस उसका विरुद्ध है। करुण रसमें उज्ज्वल रस का सम्मिलन अनुपयुक्त है। तथापि--यहाँ सहास्य दृष्टि प्रभृति रूप उज्ज्वल सङ्गति–,स्मरण मात्र से पर्य्यवसित होने के कारण, उस उस भावाभिव्यक्ति की भङ्गी से करुण रस का स्थायि भाव शोक उत्कर्ष मण्डित हुआ है। इस हेतु यहाँ रस का उल्लास हुआ है। प्रवक्ता श्रीशुक हैं---२००॥

२०१। मुख्य रस समूह में अयोग्य सञ्चारि सम्मिलन से भी उक्त रूप में रसोल्लास हो सकता है-- भा० १०।२९।८ में उक्त हैं—

(२०१) "ता वार्य्यमाणा पतिभिः पितृभि र्भ्रातृबन्धुभिः।
गोविन्दापहृतात्मनो न न्यवर्त्तन्त मोहिताः॥"

व्रजसुन्दरी गण रास रजनी में श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि श्रवण कर जिस समय यमुना पुलिन में उनके उद्देश्य में जाने लगी थीं–उस समय पति, पितृवर्ग, भ्रातृवर्ग, एवं उनके बन्धुवर्ग बारम्बार उन सब को निषेध करने लगे थे। तथापि गोविन्द कर्त्तृक उन सबके चित्त अपहृत होने से वे मोहित होकर चली गईं, किसी प्रकार से रुकीं नहीं।

यहाँ पत्यादि के सम्मुख में तादृश चाञ्चल्य अयोग्य होने पर भी उस समय उनका मोह प्राचुर्य्य वर्णन भङ्गी से कान्त भाव की सर्वानुसन्धान रहित महाभावाख्य प्रीति का उत्कर्ष प्रतीत होता है। इस हेतु यहाँ रसोल्लास हुआ है।

उक्त श्लोक में मुख्यरस उज्ज्वल का वर्णन है। उस का स्थायी भाव कान्तभाव है। यहाँ सञ्चारी चापल्य है। कान्त भाव में स्थल विशेष में चापल्य रसावह होने पर भी परकीया नायिका के पक्ष में पति प्रभृति के सम्मुख में चापल्य कभी भी रसावह नहीं होता है। किन्तु कान्त भाव का चरम परिपाक महाभाव है। श्रीव्रजसुन्दरी गण महाभाववती हैं। महाभाव का उद्गम होने पर नायिका का अन्यानुसन्धान नहीं रहता है। इस हेतु पत्यादि जो निषेध कर रहे थे–उसका अनुसन्धान उन सब को नहीं था। श्रीकृष्ण के वेणुगान से मुग्ध होकर अभिसार कर रहीं थीं, उन सब की इस प्रकार मोह वर्णना सामाजिक के चित्त को विस्मयाप्लुत करती है। महाभाव की अनुभूति से हृदय पूर्ण हो जाता है-इस हेतु यहाँ रसाभास न होकर रसोल्लास हुआ है। प्रवक्ता श्रीशुक हैं—२०१॥

२०२। अयोग्य स्थायी के उत्कर्ष से रसोल्लास का इस प्रकार और भी दृष्टान्त है। भा० १०।८५।१८ में उक्त है-- (२०२) "युवां न नः सुतौ साक्षात् प्रधान पुरुषेश्वरौ"

(२०२) "युवां न नः सूतौ साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरौ" इति ।

अत्र पितृभावेनाभिव्यक्तस्य श्रीवसुदेवस्यैव योग्यं वात्सल्यमतिक्रम्य सङ्गता भक्तिर्न रसत्वायोपपद्यत इति । समाधानञ्च पूर्वानुसारेण श्रीबलदेववदेव योजनीयम् । रसाभासप्रसङ्गे समाधानानि चैतानि तेष्वेव निर्दोषेषु क्रियन्ते, तदितरेषु तु न तदर्थमागृह्यते । तस्मात् सर्वथा परिहार्य्य-स्तत्प्रसङ्गः । योग्येन योग्यसङ्गत्या रसोल्लासस्योदाहरणानि तु स्वयमुह्यानि ॥

२०३ । अथ तत्प्रीतिविशेषमया रसाः प्रकर्त्तव्याः । तत्र शान्तापरनामा ज्ञानभक्तिमयो रसः । तत्रालम्बनः परब्रह्मत्वेन स्फुरन् ज्ञानभक्तिविषयश्चतुर्भुजादिरूपः श्रीभगवान् । तदाधारा

---

जहाँ जो रस वर्णनीय है, वहाँ वह रस योग्य है, और जो रस वर्णनीय नहीं है, वह अयोग्य है, अयोग्य रसादि के सम्मिलन से योग्य रस का स्थायिभाव यदि उत्कर्ष मण्डित होता है तो रसोल्लास होता है । और यदि उस प्रकार सम्मिलन से अयोग्य रस का स्थायी उत्कर्ष मण्डित होता है तो रसाभास का उल्लास होता है । इस का वर्णन १४४ अनुच्छेद में हुआ है ।

यहाँ तक योग्य स्थायी का उत्कर्ष से रसोल्लास का दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है, अनन्तर अयोग्य रस का सम्मिलन से अयोग्यस्थायी का उत्कर्ष हेतु रसाभास जो उल्लास होता है—उस का दृष्टान्त उपस्थित करते हैं—श्रीवसुदेव, कृष्ण बलराम को कहे थे—तुम दोनों हमारे पुत्र नहीं हों, साक्षात् प्रधान पुरुषेश्वर हों। यहाँ पितृ भाव में प्रकाश मान श्रीवसुदेव का वात्सल्य ही योग्य है । उस वात्सल्य को अतिक्रम करके उन में दास्य भक्ति संयोग रस का निर्वाह नहीं हो सकता है । पूर्व ग्रन्थ में श्रीबलदेव में विरुद्ध भाव संयोग का जो समाधान किया गया है,—यहाँ पर भी उस प्रकार समाधान करना होगा ।

अर्थात् श्रीकृष्ण, जिस प्रकार तदीय भक्त सुख व्यञ्जक विविध लीला निर्वाह निबन्धन विरुद्ध गुण समूह को धारण करते हैं, तदीय लीलाधिकारी परिकर वर्ग भी उस प्रकार विरुद्ध गुण धारण करते हैं । अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से श्रीभगवान् में जिस प्रकार उक्त गुण समूह का समन्वय सम्भव होता है । उनके परिकर वर्ग में भी उस प्रकार समन्वय सम्भव होता है । १७८ अनुच्छेद में इस का विस्तुत वर्णन है, रसाभास के प्रसङ्ग में इस का समाधान, भगवल्लीलाधिकारी निर्दोष परिकर वर्ग में ही होता है, तद्व्यतीत अन्यत्र रसाभास का तादृश समाधान हेतु आग्रह शील होना उचित नहीं हैं । सुतरां सब प्रकार से भगवत् परिकर भिन्न अन्यत्र रसाभास का प्रसङ्ग वर्जन करना कर्त्तव्य है । योग्यस्थायी के सहित योग्य रत्यादि का सम्मिलन से रसोल्लास के उदाहरण समूह का अन्वेषण श्रीमद् भागवत में करना आवश्यक है ।।२०२।।

२०३ । शान्त भक्ति रस ।

अनन्तर भगवत् प्रीतिमय रस समूह का वर्णन करना आवश्यक है । उक्त रस समूह के मध्य में जो शान्त रस है, उस का अपर नाम ज्ञान भक्तिमय रस है । उस में विषयालम्बन—परम ब्रह्मरूप में स्फूर्त्तिमान् है । ज्ञान भक्ति का विषय- चतुर्भुजादि रूप श्रीभगवान् हैं । उस का आधार-आश्रयालम्बन-भगवल्लीला गत महाज्ञानी भक्तगण हैं, शान्तरस के ये द्विविध आलम्बन के मध्य में विषय लम्बन भगवान् श्रीसनकादि का वैकुण्ठ गमन प्रसङ्ग में—"एवं तदैव भगवान् अरविन्दनाभः" इत्यादि श्लोक समूह में वर्णित है । एवं "आत्मारामाश्च मुनयः" इत्यादि श्लोकों में ज्ञानि भक्त वृन्द का वर्णन है । ज्ञानि भक्त गण के मध्य में श्रीचतुःसनादि—शान्त रसके आधार हैं । भा० १।७।१० में उक्त है. "आत्मारामाश्च मुनयः । श्रीशुक, प्रथम अवस्था में ब्रह्म ज्ञान निष्ठ थे, अनन्तर भगवल्लीलारस माधुर्य्य में आकृष्ट होकर श्री भगवान् में अभिनिविष्ट

भगवल्लीलागतमहाज्ञानि-भक्ताश्च । तत्र भगवान् (भा० ३।१५।२७) "एवं तदैव भगवानरविन्द-नाभः" इत्यादिभिः श्रीसनकादीनां वैकुण्ठगमने दर्शितः । ज्ञानिभक्ताश्च (भा० १।७।१०) "आत्मारामाश्च मुनयः" इत्यादिना वर्णिताः, तेषु च श्रीचतुःसनाद्या एव तादृशाः । श्रीशुकदेवस्य तु लीलारसमाधुर्य्याकृष्टतया श्रीभागवताभिनिवेशाद्यत्रैव श्रीमद्भागवतं सर्वोत्तमत्वमभिप्रैति, तत्रैव गृध्नुना भवेत् ।

अथ द्दीपनाश्च तस्य गुण-क्रिया-द्रव्यप्रायाः, तत्र गुणाः,-सच्चिदानन्दसान्द्राङ्गत्वम्, सदा स्वरूप-सम्प्राप्तत्वम्, भगवत्त्वम्, परमात्मत्वम्, विद्याशक्ति-प्रधानत्वम्, विभुत्वम्, हतारिमुक्तिदायकत्वम्, शान्तभक्तप्रियत्वम्, समत्वम्, दान्तत्वम्, शान्तत्वम् शुचित्वमद्भुत-रूपवत्त्वमित्यादयः । क्रियाश्च भक्तपालनाद्याः, द्रव्याणि च-महोपनिषज्-ज्ञानिभक्तपादरज-स्तुलसी-तदीयस्थानादीनि ।

अथानुभावाः,-तत्तद्गुणादि-प्रशंसा, परब्रह्म-परमात्मादि-नामोच्चारणम्, ब्रह्मसुखावधीरणा पूर्वकभगवदुन्मुखत्वमित्यादयः, नासाग्रन्यस्तदृष्टित्वावधूतचेष्टा-ज्ञानमुद्रादिपूर्वक जृम्भाङ्ग-

---

हुये थे। इस हेतु जिस अवस्था में आप श्रीमद् भागवत को सर्वोत्तम माने थे उस अवस्था में ही ज्ञान भक्ति मय रस का आधार रूप में गृहीत हो सकते हैं।

अभिप्राय यह है—भगवत् प्रीतिमान् न होने से परम ब्रह्म निष्ठ व्यक्ति शान्तरस का आश्रय नहीं हो सकते हैं। श्रीशुकदेव-आजन्म ज्ञान निष्ठ थे। एवं निर्गुण ब्रह्म समाधि मग्न थे। इस अवस्था में उनमें भगवत् प्राति की सम्भावना नहीं थी, अनन्तर यदृच्छा क्रम से भगवल्लीलाकृष्ट होकर श्रीमद् भागवत अध्ययन किये थे, एवं भगवत् प्रीतिमान् हुये थे। उस समय से आप शान्त रस का आलम्बन हुये है।

अनन्तर उद्दीपन का वर्णन करते हैं। शान्त रस का उद्दीपन-प्रधानतः श्रीभगवान् के गुण-क्रिया एवं द्रव्य हैं। गुण--सच्चिदानन्द--सान्द्राङ्गत्व, सदास्वरूप सं प्राप्तत्व, भगवत्त्व, परमात्मत्व, विद्याशक्ति प्रधानत्व, विभुत्व, हतारि भुक्ति दायकत्व, शान्त भक्त प्रियत्व, समत्व, दान्तत्व, शान्तत्व, शुचित्व, अद्भुत रूपत्व प्रभृति हैं। क्रिया—भक्त पालनादि हैं। द्रव्य-महोपनिषत, ज्ञानि भक्त पादरजः, तुलसी, भगवत् स्थान समूह प्रभृति हैं। अनुभाव-भगवद् गुणादि प्रशंसा, परम ब्रह्म परमात्मादि नामोच्चारण, ब्रह्म-सुखावधारण पूर्वक भगवदुन्मुख प्रभृति एवं नासाग्र दृष्टित्व, अवधूत चेष्टा, ज्ञान मुद्रादि पूर्वक जृम्भा, अङ्ग मौन, श्रीहरि स्तुति नति प्रभृति हैं। सात्त्विक—प्रायशः सात्त्विक भाव है। सञ्चारि--निर्वेद, धृति, हर्ष, मति, स्मृति, विषाद, औत्सुक्य, आवेश, वितर्क प्रभृति हैं। स्थायी--ज्ञान भक्ति है। इसका वर्णन भा० ३।१५।४६ में है—

'योऽन्तर्हितो हृदिगतोऽपि दुरात्मनां त्वं नाद्यैव नो नयन मूलमनन्तराद्धः ।
यर्ह्येव विवरेण गुहां गतो नः पित्रानु वर्णितरहा भगवदुद् भवेन ।।

श्रीचतुः सन्—श्रीवैकुण्ठ देव को कहे थे—'तुम हृदयस्थ होकर भी दुरात्मागण के निकट अन्तर्हित रहते हो, अर्थात् वे तुम को देख नहीं पाते किन्तु अद्य हमारे निकट से अन्तर्हित नहीं हो पाये। हमारे नयन गोचर हो गये। तुम से उत्पन्न हमारे जनक ब्रह्मा, जब रहस्य उपदेश किये थे, तब कर्ण पथ से तुम हमारे

मोटन-हरिनतिस्तु तत्प्रभृतयश्च सात्त्विकाश्च प्रायः प्राकृता एव। अथ सञ्चारिणः-निर्वेद-धृति-हर्ष-मति-स्मृति-विषादोत्सुकतावेगवितर्काद्याः।

अथ स्थायि-ज्ञानभक्तिः, सा च—(भा० ३।२५।४६) "योऽन्तर्हितो हृदिगतोऽपि दुरात्मनां त्वं, नाद्यैव नो नयनमूलमनन्त राद्धः" इत्यादिभिर्व्यञ्जिता। तन्मयरसव्यञ्जकश्च तत्रैव (भा० ३।१५।४३) —

"तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द,-किञ्जल्कमिश्र-तुलसी-मकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां, संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्त-तन्वोः॥" ४४८॥

इत्यादिकम्। अत्रारविन्दनयन आलम्बनः, वायुरुद्दीपनः, तनुसंक्षोभरूप उद्धास्वरविशेषः सात्त्विकविशेषश्चानुभावः, चित्तसंक्षोभरूपो हर्षः सञ्चारी। अक्षरजुषामपीति-निर्द्देश-विशिष्टेन तन्निर्द्देशेन लब्धा ज्ञानभक्तिः स्थायी, तत्समूहस्यैकत्रानुभवेन समर्थनाज्ज्ञानभक्तिमयो रस इति विवेचनीयम्।

---

हृदय में प्रवेश किये हो, सुतरां कैसे अन्तर्हृत होगे ? इत्यादि कतिपय श्लोकों में ज्ञान भक्ति रूपस्थायिभाव वर्णित है। ज्ञान भक्तिमय रसव्यञ्जक उदाहरण भी उस अध्याय में है। भा० ३।१५।४३-

"तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द किञ्जल्क मिश्र तुलसी मकरन्द वायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां, संक्षोभ मक्षर जुषामपिचित्त तन्वोः"४४६॥

कमल नयन श्रीहरि के चरणस्थित कमल केशर मिश्रा तुलसी सुगन्ध वायु-अक्षरानुभवी-ब्रह्मानुभव सम्पन्न--सनकादि के नासारन्ध्र में प्रविष्ट होकर उनके चित्त को तनु को क्षुब्ध किया था।

यहाँ—कमल नयन--आलम्बन है, वायु--उद्दीपन है, सात्त्विक विशेष-अनुभाव है। चित्त तनु का क्षोभ रूप हर्ष-सञ्चारी है। अक्षर सेविगण कामी--इस प्रकार निर्देश वैशिष्ट्य के द्वारा सनकादि की जो भक्ति निर्द्दिष्ट हुई है, वह ज्ञान भक्ति यहाँ स्थायी है। ज्ञान भक्ति के उपयोगी विभावादि का एकत्र अनुभाव के द्वारा समर्थित होने से यहाँ ज्ञान भक्ति मय शान्त रस निष्पन्न हुआ है, यह मानना होगा।

## आश्रय भक्तिरस।

अनन्तर भक्तिमय दास्यरस समूह के मध्य में आश्रय भक्तिमय रस का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उस में विषय आलम्बन--पालक रूप में स्फूर्त्तिमान् आश्रय भक्ति का आश्रय श्रीकृष्ण हैं। आधार अर्थात् आश्रयालम्बन लीलान्तः पाती परम पाल्य परिकर वर्ग हैं। श्रीकृष्ण लीलान्तः पाती परम पाल्य वृन्द के निकट श्रीकृष्ण ही आलम्बन हैं। अन्यत्र-श्रीवैकुण्ठ स्थित रम पाल्य गणके निकट श्रीमन्नराकार जिस प्रकार प्रधान है, इस प्रकार परमेश्वराकार आलम्बन है, अर्थात् श्रीवैकुण्ठ नाथ में नराकार का ही प्राधान्य है, उनके समस्त अवयव ही मनुष्योचित हैं। केवल ईश्वरत्व सूचक--चतुर्बाहु है। श्रीमदुद्धवादि एवं व्रजबासि आश्रित भक्त वृन्द का-परम मधुर प्रभाव श्रीमन्नराकार भी आलम्बन है।

पाल्य वृन्द—द्विविध होते हैं। प्रपञ्चकार्य्य-अर्थात् जगत् कार्य्य--अधिकारि गण वहिरङ्ग हैं, और श्रीकृष्ण चरण छाया जिनकी जीवातु हैं, वे अन्तरङ्ग हैं। उसके मध्यमें ब्रह्म शिवादि जगत् कार्य्याधिकारी होने पर भी भक्ति विशेष विद्यमान होने के कारण वे भी अन्तरङ्ग होते हैं, अन्तरङ्ग पाल्य गण त्रिविध

अथ भक्तिमयेषु रसेष्वाश्रयभक्तिमयो रस उदाह्रियते । तत्रालम्बनः पालकत्वेन स्फुरन्नाश्रयभक्तचाश्रयः श्रीकृष्णस्तदाधारास्तल्लीलागतपरमपात्याश्च । तत्र श्रीकृष्णोऽन्यत्रत्येषु श्रीमन्नराकारताप्रधानः परमेश्वराकारश्च । श्रीमद्व्रजवासिषु तु परममधुर-परमप्रभाव-श्रीमन्नराकार एव ।

अथ ते पाल्या द्विविधाः, प्रपञ्चकार्य्याधिकृता वहिरङ्गाः, तदीयचरणच्छायैकजीवनाश्चान्तरङ्गाः । तत्र पूर्वेषां ब्रह्मशिवादयस्तु भक्तिविशेषसद्भावात्तदन्तरङ्गा एव । अथोत्तरे त्रिविधाः—साधारणाः, श्रीयदुपुरवासिनः, श्रीमद्व्रजपुरवासिनश्च । तत्र प्रथमे जरासन्धबद्धराजादयो मुनिविशेषादयश्च । उत्तरवर्गद्वयं श्रेणीजनादिकम् ।

अथोद्दीपनेषु गुणाः, —तत्र परमेश्वराकारावलम्बनानां भगवत्त्वम्, अवतारावलीवीजत्वम्, आत्मारामाकर्षित्वम्, पूतनादीनामपि तद्वेशानुकरणेन महाभक्तभावदातृत्वम्, परमात्मत्वम्, अनन्तब्रह्माण्डाश्रयैकरोमविवरांशत्वमित्यादयो वक्ष्यमाणमिश्राः । श्रीमन्नराकारावलम्बनानां

---

होते हैं—साधारण जन, यदुपुरवासी एवं व्रजवासी जन गण हैं । साधारण पाल्य जन गण--जरासन्ध बद्ध राज गण एवं किसी किसी मुनिगण हैं । शेषोक्त पाल्य श्रीयदुपुर वासी एवं व्रजवासी अनुगत जनादि हैं ।

मूलोक्त श्रेणी जन का अथ दलस्थ जन है, अर्थात् जो सब लोक--श्रेणी--अर्थात् दल में रहते हैं; अर्थात् अनुगत हैं--वे ही श्रेणी जन कहलाते हैं ।

भक्तिमय रस के उद्दीपन समूह के मध्य में श्रीकृष्ण के गुण रूप का उद्दीपन का वर्णन करते हैं । भक्तिमय रस में श्रीकृष्ण--परमेश्वर आकार में एवं नराकार में उभय रूप में आलम्बन होते हैं । उस के मध्य में श्रीकृष्ण--परमेश्वर आकार में जिनकी प्रीति का आलम्बन हैं, उनके निकट भगवत्त्व, अवतारावलीवीजत्व, आत्मारामाकर्षित्व, भक्तावेशानुकरण हेतु पूतनादि को भी महाभक्त भाव दातृत्व, परमात्मत्व अंश रूप में ही केवल रोम कूप में अनन्त ब्रह्माण्डाश्रयप्रदत्व प्रभृति गुण समूह-निम्नोक्त गुण समूह के सहित मिलित होकर उद्दीपन होते हैं । महाविष्णु के लोम विवर में अनन्त ब्रह्माण्ड की स्थिति है, वह महाविष्णु भी श्रीकृष्ण की कला हैं ।

श्रीमन् नराकार जिन का आलम्बन है,—उन के निकट—कृपाम्बुधित्व, आश्रित पालकत्व, अविचिन्त्य महाशक्तित्व, परमाराध्यत्व, सर्वज्ञत्व, सुदृढ़ व्रतत्व, समृद्धिमत्त्व, क्षमाशीलत्व, दाक्षिण्य, सत्य दाक्ष्य, सर्वशुभङ्करत्व, प्रतापित्व, धार्मिकत्व, शास्त्रचक्षुष्ट्व, भक्तसुहृत्त्व, वदान्यत्व तेजः, कीर्त्ति ओजः बलसमूह प्रेमवश्यत्व प्रभृति हैं ।

अनन्तर जाति रूप उद्दीपन का वर्णन करते हैं, १५० अनुच्छेद में कहा गया है । श्रीकृष्ण के जाति रूप उद्दीपन द्विविध हैं—उनका गोपत्व, क्षत्रियत्वादि--,एवं श्याम किशोरत्वादि है । श्रीकृष्ण का परमेश्वराकार जिनका आलम्बन है, उनके निकट गोपत्वादि का अनुकरण कारि रूप में श्रीकृष्ण के गोपत्वादि एवं उनके स्मृति कारण श्यामत्वादि जाति रूप उद्दीपन होते हैं । और श्रीमन्नाराकार श्रीकृष्ण जिनका आलम्बन हैं—उनके निकट उनके गोपादि श्रेष्ठत्व एवं किशोर शेखरत्वादि जाति रूप उद्दीपन होते हैं ।

अर्थात् दास्य रस के भक्त गण के मध्य में कोई कोई श्रीकृष्ण को परमेश्वर रूप में कोई कोई अप्राकृत

कृपाम्बुधित्वम्, आश्रितपालकत्वम्, अविचिन्त्यमहाशक्तित्वम् परमाराध्यत्वम्, सर्वज्ञत्वम्, सुदृढ़व्रतत्वम्, समृद्धिमत्त्वम्, क्षमाशीलत्वम्, दाक्षिण्यम्, सत्यम्, दाक्ष्यम्, सर्वशुभङ्करत्वम् प्रतापित्वम्, धार्मिकत्वम्, शास्त्र चक्षुष्ट्वम्, भक्तसुहृत्त्वम्, वदान्यत्वम्, तेजः, कीर्त्तिः, ओजः, सहः, बलानि, प्रेमवश्यत्वादयश्च।

अथ जातयः,—पूर्वेषां तत्तदनुकारितया प्रतीता गोपत्वादयः, तत्स्मारकाः श्यामत्वादयश्च। उत्तरेषां तत्तच्छ्रेष्ठत्वेनैव प्रतीतास्ते उभये। अथ क्रियाः,–पूर्वेषां सृष्टि-स्थित्यादिकृतो विश्वरूपदर्शनाद्या वक्ष्यमाणमिश्राः। उत्तरेषा परपक्षनिबर्हण-स्वपक्षपालन-सानुग्रहावलोकनाद्याः। अथ द्रव्यानि, तदीयास्त्र-वादित्र-भूषणस्थानपदाङ्क-भक्तादीनि, तानि च पूर्वेषाम-लौकिकतयैव स्पष्टानि। उत्तरेषाञ्चैतान्येवालौकिकत्वेऽपि लौकिकायमानतयैव दर्शित-प्रभावाणि। अथ कालाश्चोभयत्र। तज्जन्म-तद्विजयादि-सम्बन्धिन इति।

अथानुभावाः,–तत्सम्बन्धेनैव वसतिस्तत्प्रभावादिमयगुणनाम,-कीर्त्तनमित्यादयः। तथा पूर्व्वोक्ता अपि।

अथ सञ्चारिणः,—तत्र योगे हर्ष-गर्व-धृतयः, अयोगे क्लम-व्याधी। उभयत्र निर्वेद-शङ्का-विषाद-दैन्य–चिन्ता–स्मृतिव्रीड़ा–मत्यादयो मृतिश्च। सा योगेऽपि यथा श्रीभीष्मान्तिम–चरिते (भा० १।९।३१)—

---

नर रूपमें उनको प्रीति करते हैं। जो उनको परमेश्वर रूप में प्रीति करते हैं, वे मानते हैं कि–श्रीकृष्ण-जाति गोप,–वृन्दावन में एवं मथुरा द्वारका में क्षत्रिय रूप में प्रतीत होने पर भी वह वास्तविक परमेश्वर हैं, गोपादि जाति का मात्र अनुकरण करते हैं। और उनका जो श्याम रूप है, वह उनका परमेश्वरत्व का स्मारक है। कारण, श्रीनारायणादि तादृश श्याम रूप होते हैं। जो उनको अप्राकृत मनुष्य रूप में प्रीति करते हैं, वे मानते हैं कि– श्रीकृष्ण गोप श्रेष्ठ किम्वा क्षत्रिय श्रेष्ठ हैं, एवं निखिल किशोर गण के मध्य में आप श्रेष्ठ हैं।

अनन्तर क्रिया रूप उद्दीपन का वर्णन करते हैं—परमेश्वर रूप में श्रीकृष्ण जिन का आलम्बन हैं, उनके निकट सृष्टि स्थित्यादि कर्त्ता के निम्नोक्त क्रिया समूह मिश्रित विश्वरूप दर्शनादि क्रिया रूप उद्दीपन हैं। जिन का श्रीमन् नराकार आलम्बन है, उसके पक्ष में श्रीकृष्ण का पर पक्ष दलन, स्वपक्ष पालन, सदयावलोकनादि क्रिया रूप उद्दीपन होते हैं।

अनन्तर द्रव्यरूप उद्दीपन का वर्णन करते हैं—श्रीकृष्ण के अस्त्र,-शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, एवं शार्ङ्ग-धनु, वादित्र—वंशी शृङ्ग, भूषण-स्थान, पदाङ्क, भक्त प्रभृति हैं। परमेश्वर रूप में श्रीकृष्ण,–जिनका आलम्बन हैं---उनके निकट ये सब लौकिक होने पर भी अलौकिक के समान ही प्रभाव विस्तार करते हैं, कालरूप उद्दीपन--उभय के पक्ष में ही श्रीकृष्ण का जन्म उन के विजयादि सम्बन्धीय काल उद्दीपन है।

अनुभाव—श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में निवास, श्रीकृष्ण के प्रभावमय गुण नाम कीर्त्तन प्रभृति हैं। पूर्व ग्रन्थ में शान्त रस के जो सब अनुभाव वर्णित हुये हैं। वे सब ही इस भक्तिरस के अनुभाव होते हैं।

सञ्चारी—योग में—हर्ष, गर्व, एवं धृति है, अयोग में अर्थात् विच्छेद काल में क्लम क्लान्ति-एवं व्याधि है। योग एवं अयोग--उभय अवस्था में ही निर्वेद, शङ्का, विषाद, दैन्य, चिन्ता, स्मृति, व्रीड़ा मति प्रभृति हैं। उभयावस्था में स्मृति भी सञ्चारी हो सकती है। वियोग में–स्मृति--रूप सञ्चारि आविर्भाव की

(२०३) "विशुद्धया धारणया" इत्यादि।

एव तत्र—(भा० १।९।३४) "युधि तुरगरजः" इत्यादौ "मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि" इत्यनेनैव स्वापराधद्योतक-वाक्ये दैन्यमुदाहार्य्यम्, (भा० १।९।३८) "शितविशिखहतः" इत्यादिकेऽपि ॥ श्रीसूतः ॥

२०४। अथ स्थायी चाश्रयभक्तयाख्यः, यथा (भा० १।११।७)—

(२०४) "भवाय नस्त्वं भव विश्वभावन, त्वमेव माताथ सुहृत् पतिः पिता।
त्वं सद्गुरुर्नः परमञ्च दैवतं, यस्यानुवृत्त्या कृतिनो बभूविम ॥"४५०॥

---

सम्भावना की जा सकती है, किन्तु योग में वह कैसे सम्भव है। उत्तर में कहते हैं—"योग में भी भीष्म के अन्तिम चरित में स्मृति सञ्चारी का आविर्भाव दृष्ट होता है। भा० १।९।३१—

(२०३) विशुद्धया धारणयाहताशुभस्तदीक्षयैवाशुगतायुध श्रमः।
निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्ति विभ्रमस्तुष्टावजन्यं विसृजन् जनार्दनम् ॥

विशुद्ध धारणा के द्वारा भीष्मदेव के समस्त अमङ्गल विनष्ट हो गये एवं श्रीकृष्ण को कृपा दृष्टि से उनकी अस्त्राघात जनित वेदना का उपशम भी हुआ। सुतरां उनका इन्द्रिय विभ्रम भी निवृत्त हुआ। अनन्तर देह त्याग के अभिलाष से आप श्रीकृष्ण का स्तव करने लगे थे। इस श्लोक में योग में—अर्थात् श्रीकृष्ण सम्मिलन से भीष्मदेव में मृति नामक सञ्चारी वर्णित है। कारण, आप देह त्याग हेतु स्तव किये थे। इस प्रकार उक्त स्तव प्रकरण के भा० १।९।३४ में उक्त है—

"युधि तुरग रजोविधूम्रविश्वक् कचलुलित श्रमवार्य्यलङ्कृतास्ये।
मम निशित शरैर्विभिद्यमान त्वचि विलसत् कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा ॥"

युद्ध क्षेत्र में अश्व खुरोत्थित धूलि द्वारा धूसर वर्ण कुन्तल से एवं श्रम जनित खेद विन्दु से जिनका मुख अलङ्कृत हुआ था। मेरा तीक्ष्ण शर से जिनका त्वक्,क्षत विक्षत हुआ था,एवं कवच--वर्म्म—युद्धक्षेत्र में व्यवहारोपयोगी अङ्गावरण विशेष—छिन्न भिन्न हो गये, उन श्रीकृष्ण में मेरी प्रीति हो" इस श्लोक में "ममनिशितशरैः" मेरा तीक्ष्ण वाण समूह के द्वारा" इत्यादि वाक्य में श्रीभीष्म देव का निजापराध सूचक-दैन्य सञ्चारी भाव दृष्ट होता है। अर्थाद् यहाँ भीष्म देव का अभिप्राय है—मेरा दौरात्म्य को देखो! मैं श्रीकृष्ण के अङ्ग को तीक्ष्ण वाणाघात से क्षत विक्षत किया हूँ। मेरे समान अपराधी और नहीं हैं। इस रीति से उनका दैन्य व्यञ्जित हुआ है। इसके वाद उन्होंने कहा है—भा० १।९।३८

"शितविशिख हतोविशीर्ण दंशः क्षतज परिप्लुत आततायिनी मे।
प्रसभमभिससार मद्बधार्थं स भवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्दः ॥"

जिन के अङ्ग में मैंने तीक्ष्ण वाणाघात किया था, उस से जिनका कवच छिन्न हुआ था, जिनका अङ्ग रक्त परिप्लुत हुआ था। अर्थात् युद्ध क्षेत्र में जो रक्त स्रोत प्रवाहित होता था, उस से उत्थित रक्त विन्दु मण्डित अङ्ग हुआ था। मुझ को बध करने के निमित्त आततायी मेरे प्रति बल पूर्वक अभिसार जो किये थे। वह भगवान् मुकुन्द मेरा आश्रय हों। इस श्लोक में भी पूर्वोक्त रीति से दैन्य सञ्चारी भावोद्गम वर्णित हुआ है। प्रवक्ता श्रीसूत हैं ॥२०३॥

अत्र विभावोद्भास्वरानुभाववैशिष्टयेनैव सात्त्विकादीनामपि लब्धत्वात्तत्सम्बलन-चमत्-कारात्मक-रसोदाहरणमपि ज्ञेयम्, यथोक्तम्—

"सद्भावश्चेद्विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत् । झटित्यन्यसमाक्षेपात्तदा दोषो न विद्यते" ४५१॥

अन्यसमाक्षेपश्च प्रकरणवशादिति ॥ द्वारकाप्रजाः श्रीभगवन्तम् ॥

२०५ । आश्रयभक्तिमयो रसो द्विविधः,—अयोगात्मको योगात्मकश्च । अयोगो द्विविधः-प्रथमाप्राप्तिर्वियोगश्च । योगश्च द्विविधः,—क्रमेण द्विविधयोगानन्तरजः, सिद्धिस्तुष्टिश्चेति । तत्र प्रथमाप्राप्त्यात्मकमयोगमाह, (भा० १०।७०।३१)—

(२०५) "इति मागधसंरुद्धा भवद्दर्शनकाङ्क्षिणः ।
प्रपन्नाः पादमूलं ते दीनानां शं विधीयताम् ॥"४५२॥

---

२०४ । अनन्तर आश्रय भक्ति रसमें स्थायी भाव--आश्रय भक्ति नामक भगवत् प्रीति का वर्णन करते हैं । भा० १।११।७ में उक्त है —

(२०४) "भवाय नस्त्वं भव विश्वभावन, त्वमेव माताथ सुहृत् पतिः पिता ॥
त्वं सद् गुरुर्नः परमञ्च दैवतं, यस्यानुवृत्त्या कृतिनो बभूविम ॥"४५०॥

टीका—अतो भवाय उद्भवाय नोऽस्माकं त्वं भव । हे विश्व भावन ! अनुवृत्त्या गमनेन कृतिनः कृतार्था बभूविम जाता वयम् ॥

द्वारका में प्रजागण श्रीकृष्ण को कहे थे -- हे विश्व भावन ! आप हमारे मङ्गल के हेतु हैं, आप ही माता, सुहृत्, पति, पिता, सद्गुरु एवं परम देवता हैं, आप के अनुगमन कर हम सब कृतार्थ हुये हैं । माता प्रभृति ही जीव के आश्रय हैं । श्रीकृष्ण के प्रति यहाँ उस उस रूप में भक्ति प्रकाश करने से इन सब की भक्ति—आश्रय भक्ति नाम से अभिहिता हुई है ।

यहाँपर विभाव एवं उद्भास्वरानु भाव के वैशिष्ट्य से ही सात्त्विक प्रभृति का ग्रहण होने पर उस के सम्बलन से चमत् कारात्मक रस का उदाहरण भी अनुसन्धेय है । साहित्यदर्पण में कथित है—

"सद्भावश्चेद्विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत् ।
झटित्यन्यसमाक्षेपात्तदा दोषो न विद्यते ॥"४५१॥

दो अथवा एक विभावादि सामग्री का विद्यमान होने पर आशु अन्य का समाक्षेप होकर रसोदय होता है, इस से दोष नहीं होता है । प्रकरण के द्वारा अन्य का समाक्षेप होता है ।

द्वारका के प्रजागण श्रीभगवान् को कहे थे ॥२०४॥

२०५ । अयोगात्मक एवं योगात्मक भेद से आश्रय भक्तिमय रस द्विविध होते हैं । अयोग भी द्विविध है, प्रथम अप्राप्ति एवं वियोग । योग भी द्विविध हैं । द्विविध अयोग के अनन्तर क्रमशः द्विविध योग उत्पन्न होते हैं । वे योगद्वय— सिद्धि एवं तुष्टि नाम से ख्यात हैं । प्रथम--अप्राप्ति के पश्चात् जो योग है, उसका नाम सिद्धि है, एवं वियोग के पश्चात् जो योग है, उसका नाम तुष्टि है ।

उस के मध्य में प्रथम अप्राप्त्यात्मक अयोग का वर्णन भा० १०।७०।३१ में है—

(२०५) "इति मागधसंरुद्धा भवद् दर्शन काङ्क्षिणः ।
प्रपन्नाः पादमूलं ते, दीनानां शं विधीयताम् ॥"४५२॥

अत्र भवद्दर्शनकाङ्क्षिण इत्यनेन तद्दर्शनार्थैव बन्ध-मुमुक्षापि विज्ञापिता। ततः स्थायी दर्शितः। पादमूलमालम्बनम्, संरोधो विरोधमुखेनोद्दीपनः, प्रपत्तिरुद्भास्वरः, औत्सुक्य दैन्यञ्च सञ्चारिणौ, ताभ्यां सात्त्विकादयश्च ज्ञेयाः॥ राजदूतः श्रीभगवन्तम्॥

२०६। एतदनन्तरं सिद्धयाख्यं योगं तेषामेवाह— (भा० १०।७३।२-३) "ददृशुस्ते घनश्यामं पीत कौशेयवाससम्। श्रीवत्साङ्कं चतुर्बाहुम्" इत्यारभ्य (भा० १०।७३।५-७) —

(२०६) "पिबन्त इव नेत्राभ्यां लिहन्त इव जिह्वया॥४५३॥
जिघ्रन्त इव नासाभ्यां रम्भन्त इव बाहुभिः।

---

जरासन्ध के द्वारा आबद्ध नृपति वृन्द, का दूत द्वारका में श्रीकृष्ण के निकट उपस्थित होकर कहा था-जरासन्ध संरुद्ध राजगण आप का दर्शनाभिलाष से आप के चरणारविन्द की शरणापन्न हुये हैं। आप उन शरणागत जन गण को कल्याण प्रदान करें।

यहाँ आप के दर्शनाभिलाष से भवदीय पादमूल की शरणापन्न" इस उक्ति के द्वारा श्रीकृष्ण दर्शन हेतु राजन्य वृन्द की बन्धन इच्छा विज्ञापित हुई थी। उस से नृपति वृन्द का श्रीकृष्ण में स्थायिभाव प्रदर्शित हुआ है।

श्रीकृष्ण का पादमूल आलम्बन है। जरासन्ध कर्त्तृक संरोध--यहाँ विरोध मुख से अर्थात प्रतिकूलता द्वारा उद्दीपन है। शरणागति— उद्भास्वर है। उत्सुक्य एवं दैन्य-सञ्चारी है। तदुभय के द्वारा सात्त्विकादि को भी जानना चाहिये।

अभिप्राय यह है—जरासन्ध कर्त्तृक अवरुद्ध नृपति गण यदि मुक्ति प्राप्त करने के निमित्त यदि श्रीकृष्ण की शरणापन्न होते तो यहाँ आश्रय भक्ति रस निष्पत्ति की सम्भावना नहीं होती। कारण, जो कृष्ण प्रीति रूप रस रूप में परिणत होता है, यहाँ उसका अभाव था। कारण, किसी समर्थ व्यक्ति के प्रति प्रीति न होने पर भी विपत्ति त्राण हेतु उसकी शरणापन्न होने की रीति देखने में आती है। किन्तु नृपति वृन्द श्रीकृष्ण दर्शनाभिलाष से ही मुक्ति अभिलाषी हुए थे। इस से श्रीकृष्ण में नृपति वृन्द की प्रीति सूचित हुई है। इस रीति से स्थायि भाव का सद्भाव प्रदर्शन करके उस की रसता निर्वाह हेतु श्रीकृष्ण के पाद मूलादि का आलम्बनादि रूप में प्रदर्शन किये हैं। राजदूत--श्रीभगवान् को कहे थे॥२०५॥

२०६। यहाँ प्रथम अप्राप्त्यात्मक अयोग का वर्णन हुआ है। उसके बाद जो सिद्धाख्य योग होता है-उस का वर्णन उक्त राजन्य वृन्द के सम्बन्ध में ही हुआ है। जरासन्ध के द्वारा पर्वत गह्वर में अवरुद्ध होकर जो अवस्थित थे, जरासन्ध वध के पश्चात् मुक्तिलाभ करके वे देखे थे—भा० १०।७३।२--३ "ददृशुस्ते घनश्यामं पीतकौशेय वाससम्" श्रीवत्साङ्कं चतुर्बाहुम् "

श्रीकृष्ण—घनश्याम हैं, उनके परिधान में पीत कौशेय वसन है। आप श्रीवत्सचिह्न युक्त चतुर्भुज, पद्म गर्भ के समान अरुण वर्ण नयन विशिष्ट हैं, प्रसन्न वदन, स्फूर्त्ति शील मकर कुण्डल से शोभित, शङ्ख, चक्र गदापद्म धारी, किरीट हारवलय मेखलादि विशिष्ट हैं, उनके ग्रीवा में दीप्तिमान् कौस्तुभ मणि एवं कण्ठ देश में वनमाला विराजित है। इस प्रकार आरम्भ कर भा० १०।७३।५--७ में उक्त है—

(२०६) 'पिबन्त इव नेत्राभ्यां लिहन्त इव जिह्वया॥४५३॥
जिघ्रन्त इव नासाभ्यां रम्भन्त इव बाहुभिः।

प्रणेमुर्हतपाप्मानो मूर्द्धभिः पादयोर्हरेः ।।४५४।।
कृष्णसन्दर्शनाह्लाद-ध्वस्तसंरोधनक्लमाः ।
प्रशशंसुर्हृषीकेशं गीर्भिः प्राञ्जलयो नृपाः ।।"४५५।।

पिबन्त इत्यादौ 'इव'-शब्द उत्प्रेक्षायाम् । तदद्भुतरूप-दर्शनेन चक्षुषोरत्यन्तविस्फारणात् पिबन्त इवेत्युक्तम् । एवं तदीयमधुरगन्धजात-चरणारविन्दलेहनलोभात् पुनः पुन र्या जृम्भा जाता, तल्लिङ्गेन तच्चरणारविन्दं लिहन्त इवेत्युक्तम् । अतएव जिघ्रन्त इव नासाभ्यामिति । नासापुटफुल्लतालिङ्गेन तस्य सर्वाङ्गमेव युगपज्जिघ्रन्त इवेत्युक्तम्,—तदर्थमिव तद्विस्तारणं कृतमित्यर्थः । तथापि भक्तत्वात्तच्चरणस्यैवावलेहेच्छा युक्तेति तथा व्याख्यातम् । एवमुत्तरत्रापि । परमावेशकृत-बाहुचालनलिङ्गेन तच्चरणारविन्दं श्लिष्यन्त इवापीति सर्वथा तदावेश एव तात्पर्य्यम् ।। श्रीशुकः ।।

२०७ । अथ वियोगः,—(भा० १।११।९) "यर्ह्यम्बुजाक्षापससार" इत्यादौ श्रीद्वारकाप्रजावाक्ये

---

प्रणेमुर्हतपाप्मानो मूर्द्धभिः पादयोर्हरेः ।।४५४।।
कृष्णसन्दर्शनाह्लाद--ध्वस्तसंरोधनक्लमाः ।
प्रशशंसुर्हृषीकेशं गीर्भिः प्राञ्जलयो नृपाः ।।"४५५।।

श्रीकृष्ण को अवलोकन कर वे जैसे नयनों के द्वारा पान करने लगे थे, जिह्वा द्वारा मानो लेहन करने लगे थे । नासाद्वय द्वारा आघ्राण लेने लगे थे एवं बाहु द्वय द्वारा जैसे आलिङ्गन करने लगे थे ।

श्रीकृष्ण सन्दर्शन से उनका कारावास जनित दुःख विदूरित हुआ । श्रीकृष्ण की शरणापत्ति से पाप विनष्ट हुआ । वे अवनत मस्तक से श्रीहरि के पाद पद्म में प्रणाम पूर्वक अञ्जलि बद्ध भाव से दण्डायमान होकर वाणी के द्वारा हृषीकेश की प्रशंसा करने लगे थे ।

"पिबन्त इव नेत्राभ्याम्" मानो नयनों से पान करने लगे । यहाँ 'इव" शब्द उत्प्रेक्षा में प्रयुक्त हुआ है । श्रीकृष्ण का अद्भुत रूप को देखकर नृपति वृन्द के नयन युगल अतिशय विस्फारित हुए थे, इस हेतु जैसे पान करने लगे थे—इस प्रकार कहा गया है । इस प्रकार उनकी मधुर गन्ध से चरण कमल लेहन करने का लोभ उपस्थित हुआ था । उस मधुर गन्ध से पुनः पुनः जृम्भा जिम्हाई उपस्थित हुई थी, उस से उनके चरण कमल जैसे लेहन करने लगे थे—इस प्रकार कहा गया है । अतएव नासाद्वय द्वारा जैसे आघ्राण ग्रहण करने लगे थे । नासा पुट की फुल्लाता को देखकर--बोध हुआ कि—श्रीकृष्ण के सर्वाङ्ग की युगपत् आघ्राण लेने लगे थे । इस प्रकार कहा गया है । उस का तात्पर्य्य यह है कि—तदीय सर्वाङ्ग की युगपत् आघ्राण ग्रहण हेतु ही जैसे नासापुट को विस्तृत किये थे । सर्वाङ्गास्वादन करने का लोभ उत्पन्न होने पर भी नृपति गण दास्य भाव सम्पन्न होने के कारण, उनके पक्ष में चरणावलेहन की इच्छा ही सङ्गत होती है । इस हेतु उस प्रकार व्याख्या की गई है । इस प्रकार आघ्राण के सम्बन्ध में भी जानना होगा ।

अतिशय आवेश से उन सबने जो बाहु चालन किया था । उस से जैसे श्रीकृष्ण को आलिङ्गन करने लगे थे, इस प्रकार कहा गया है । सर्वावस्था में उन सब का श्रीकृष्ण में जो परमावेश था—वह सूचित हुआ है । श्रीशुक कहे थे ।।२०६।।

२०७ । अनन्तर वियोग का वर्णन करते हैं । श्रीद्वारका के प्रजागण--भा० १।११।९ में कहे थे—

तासां प्रभावो व्यक्तः, श्रीव्रजप्रजानाञ्च (भा० १०।३५।२५) "यदुपतिर्द्विरदराजविहारः" इत्यादौ मोचयन् व्रजगवां दिनतापम्" इत्यनेन सूचितः। व्रज एव तिष्ठतां वृद्धबालगवामपि, किमुत मनुष्याणामित्यर्थः। अथ तदनन्तरजं तुष्ट्याख्यं योगं द्वारकाप्रजानामाह (भा० १।११।१,—

(२०७) "आनर्त्तान् स उपव्रज्य स्वृद्धान् जनपदान् स्वकान्।
दध्मौ दरवरं तेषां विषादं शमयन्निव॥"४५६॥ इत्यादि।

इवेति वाक्यालङ्कारे॥ श्रीसूतः॥

२०८। श्रीव्रजप्रजानामपि 'मोचयन्' इत्यादिनैव व्यक्तः, तथा व्रजवनस्थितानामपि

---

"यर्ह्यम्बुजाक्षापससार" हे कमल नयन! आप सुहृद् गण के दर्शन हेतु जब हस्तिनापुर अथवा मथुरा गमन किये थे— उस समय आप का अदर्शन से सूर्यादर्शन से नयन की जैसी अवस्था होती है, हम सब की भी वैसी अवस्था हुई थी। क्षण काल भी कोटिवत्सर के समान— अर्थात् सुदीर्घ दुःसह दुःखमय प्रतीत हुआ था। द्वारका के प्रजागण का प्रभाव सुव्यक्त हुआ है। भा० १०।३५।२५ में उक्त है—

"यदुपति द्विरदराज विहारो यामिनी पतिरिवैषदिनान्ते।
मुदित वक्त्र उपयाति दुरन्तं मोचयन् व्रजगवां दिनतापम्॥"

यह यदु पति श्रीकृष्ण–जिनकी गति गजराज के समान है, जिनका मुख— प्रफुल्ल है, आप व्रज गो समूह का दुरन्त दिनताप मोचन हेतु यामिनीपति चन्द्रके समान आ रहे हैं।

प्रभाव शब्द का यहाँ अर्थ है—वियोग दुःख की क्षमता जिस से क्षण काल कोटि वत्सर के समान प्रतीत होता था। इस के द्वारा-द्वारका के प्रजागण की कृष्ण प्रीति का परिचय उपलब्ध होता है।

"यदुपति द्विरदराजविहारः" श्लोक में प्रजागण का वियोग सूचित हुआ है। वृद्ध गो एवं शिशु वत्स गोचारण समय में वन गमन में अक्षम थे— उस समय वियोग दुःख उपस्थित होना उन सब में असम्भव है। उन सब को छोड़कर अपर गो वृन्द गोचारण समय में श्रीकृष्ण के निकट में अवस्थित होने के कारण उस समय उन सब को वियोग दुःख नहीं था। दिनान्त में व्रज गो समूह का दुःख मोचन हेतु श्रीकृष्ण आ रहे हैं— इस प्रका कथन से वन गमन में असमर्थ वृद्ध एवं शिशु गो समूह का दुःख मोचन प्रतीत होता है।

यदि गो समूह श्रीकृष्ण विच्छेद से दुःखानुभव करते हैं तो उस समय व्रजस्थित मनुष्य गण-जो गोचारण समय में वन गमन नहीं किये थे-उन सब को तो नितरां नितान्त दुःख हुआ था।

अनन्तर वियोग के पश्चात् सञ्जात तुष्टि नामक योग का दृष्टान्त उपस्थित करते हैं—भा० १।११।१ में उक्त है— (२०७) "आनर्त्तान् स उपव्रज्य स्वृद्धान् जनपदान् स्वकान्।
दध्मौ दरवरं तेषां विषादं शमयन्निव॥"४५६॥

श्रीकृष्ण, आनर्त्त नामक समृद्धि शाली स्वीयजन पद में उपस्थित होकर पाञ्चजन्य शङ्ख, ध्वनि किये थे। उस से उस देशवासी जनगण का विषाद जैसे विदूरित हुआ। उक्त श्लोक में लिखित 'इव' शब्द वाक्यालङ्कार में प्रयुक्त हुआ है। उपमा वाचक नहीं है। श्रीसूत कहे थे॥२०७॥

२०८। व्रज प्रजावर्ग का भी तुष्टि नामक योग का वर्णन २०७ अनुच्छेद के उक्त भा० १०।३५।२५ 'मोचयन् व्रजगवां दिनतापम्" में है—व्रज गो समूह का दुरन्त दिनताप मोचन करने के निमित्त यामिनी पति चन्द्र के समान श्रीकृष्ण आ रहे हैं। वृजस्थित वृजदेवी गण के भा० १०।२१।१० "वृन्दावनं सखिभुवो

श्रीव्रजदेवीवाक्यैः (भा० १०।१२।१०) "वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्त्तिम्" इत्यादिभिः, (भा० १३।३५।४) "हन्त चित्रमबलाः शृणुतेदम्" इत्यादिभिश्च ज्ञेयः।

अथ दास्यभक्तिमयो रसः। तत्रालम्बनः,–प्रभुत्वेन स्फुरन् दास्यभक्त्याश्रयः श्रीकृष्णः, तदाधाराः श्रीकृष्णलीलागत-स्वोत्कृष्ट-तदीयभृत्याश्च। श्रीकृष्ण इह परमेश्वराकारः श्रीमन्-नराकारश्चेति द्विविधः पूर्व्वोक्ताविर्भाव एव। तद्भृत्याश्च तत्तदनुशीलितत्वेन द्विविधाः। पुनस्ते च त्रिविधाः,–अङ्गसेवकाः, पार्षदाः, प्रेष्याश्च। तत्राङ्गसेवका अङ्गाभ्यञ्जक-ताम्बूल-वस्त्र-गन्ध-समर्पकादयः, पार्षदा मन्त्रि-सारथि-सेनाध्यक्ष-धर्म्माध्यक्ष-देशाध्यक्षादयः, विद्यादि-चातुर्य्येण सभारञ्जकाश्च, पुरोहितस्य प्राधान्याद्गुरुवर्गान्तःपात एव, पार्षदत्वमप्यंशेन, प्रेष्याः सादि-पदाति-शिल्पिप्रभृतयः। एते च यथापूर्वं प्रायः प्रियतराः। श्रीमदुद्धव-दारुकप्रभृती-

---

वितनोति कीर्त्तिम्" वाक्य में व्रजवनस्थित प्राणि वृन्द का भी उस प्रकार योग सुव्यक्त है। एवं भा० १०।३५।४ में उक्त है—'हन्त चित्रमबलाः शृणुतेदम्" उक्त श्लोक समूह इस प्रकार है।

"वृन्दावनं सखिभुवो वितनोति कीर्त्ति यद्देवकीसुत पदाम्बुजलब्धलक्ष्मि।
गोविन्द वेणु मनुमत्तमयूरनृत्यं प्रेक्ष्याद्रि सान्वपरतान्य समस्त सत्त्वम्। (१)
धन्याः स्म मूढ़मतयोऽपि हरिण्यएता या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेशम्।
आकर्ण्य वेणु रणितं सहकृष्णसाराः पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ॥(२)
प्रायोवताम्ब मुनयो विहगावनेऽस्मिन् कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम्।
आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान् शृण्वन्तिमीलितदृशोविगतान्यवाचः ॥ (३)
हन्तचित्रमबलाः शृणुतेदं हारहास उरसि स्थिरविद्युत्।
नन्द सूनुरयमार्त्तजनानां नर्म्मदो यर्हि कूजित वेणुः॥
वृन्दशो व्रजवृषामृगगावो वेणुवाद्यहृतचेतस आरात्।
दन्त दष्ट कवला धृतकर्णा निद्रिता लिखित चित्रमिवासन् ॥"(४)

एक गोपी ने कहा—हे सखि! वृन्दावन--पृथिवी की कीर्त्ति को विस्तार कर रहा है। कारण, देवकी नन्दन के चरण कमल द्वारा यह शोभित है। इस वृन्दावन में गोविन्द की वेणुध्वनि श्रवण कर आनन्द से मत्त मयूर वृन्द नृत्य करते हैं, एवं पर्वत के सानुदेशस्थित प्राणीवृन्द निष्क्रियावस्था में अवस्थित हैं। (१)

हरिणी गण तिर्य्यग् योनि में जन्म लाभ करने पर भी वे धन्य हैं। कारण, वे वंशी ध्वनि श्रवण करके पति कृष्ण सारके सहित विचित्र वेषधारी नन्दनन्दन की पूजासप्रणय दृष्टि से करती रहती हैं।(२) कैसा आश्चर्य्य है! इस वन में पक्षिगण हैं, वे मुनि होने के योग्य हैं। कारण, जिस से कृष्ण दर्शन लाभ हो, उस रीति से मनोहर प्रवाल शाली तरु शाखा में आरोहण कर श्रीकृष्ण वादित वेणु गीत श्रवणकर रहे हैं। अनिर्वचनीय सुखोदय होने के कारण उनके नयन निमीलित हैं, वे सब नीरव में अवस्थान कर रहे हैं। (३)

हे अबलागण! और भी आश्चर्य्य सुनो! यह नन्दनन्दन है, जिस का हास्य--हारवत् विशद है, जिस के वक्षः स्थल में स्थिर विद्युत तुल्य लक्ष्मी सर्वदा विराजित हैं, जो आर्त्तजन गण को नर्म्मद है, जब नन्द-नन्दन वेणु वादन करता है, उस समय व्रजस्थित धेनु वृष, एवं मृग समूह का चित्त उस से अपहृत होता है। वे सब पशु वृन्द-दन्त द्वारा तृण ग्रास धारण कर ऊर्द्ध्व कर्ण से निद्रित वा चित्राङ्कित के समान अवस्थान करते हैं।

नान्त्वङ्गसेवादिवैशिष्टयमप्यस्तीति सर्व्वतोऽप्याधिक्यम्, तत्रापि श्रीमदुद्धवस्य,—बहुशोऽपि (भा० ११।११।४९) "त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा" इत्याद्युक्तेः। अथोद्दीपनाः पूर्व्वोक्ता एव। तत्र विशेषतोऽङ्गसेवकेषु गुणाः सौन्दर्य्य-सौकुमार्य्यादयः, क्रियाः शयन-भोजनादिकाः, द्रव्याणि तत्सेवोपयोग्यानि तदुच्छिष्टानि च। पार्षदेषु गुणाः प्रभुत्वादयः, प्रेष्येषु प्रतापादय इत्यादि। अथानुभावाः प्रायः पूर्व्वोक्ता एव, तथा योगे स्व-स्वकर्म्मणि तात्पर्य्यम्। यत् खलु सेवा-समये कम्प-स्तम्भाद्युद्भवमपि विलापयति, तत्तत्कर्म्म-तात्पर्य्यं हि तस्यासाधारणो धर्म्मः, कम्पादिस्तु सर्व्वसाधारणस्ततः पूर्व्वस्यैव बलवत्त्वमिति। एवमन्यत्रापि रसे यथायथमुन्नेयम्। अथायोगेऽपि स्व-स्वकर्म्मानुसन्धानं तदच्चास्वपि तत्तत्कृतिरेव वा। अथ सञ्चारिणोऽपि प्रागुक्ता एव। अथ स्थायी च दास्यभक्त्याख्यः। स चाक्रूरादीनामैश्वर्य्यज्ञानप्रधानः श्रीमद्-

---

## दास्यभक्तिमय रस।

अनन्तर दास्य भक्तिमय रस का वर्णन करते हैं। इस में आलम्बन प्रभु रूप में स्फूर्तिमान् दास्य भक्ति का आश्रय श्रीकृष्ण हैं। इस में आधार श्रीकृष्ण लीलागत निज गुण में गरीयान् उनके भृत्यवर्ग हैं। यहाँ श्रीकृष्ण के--परमेश्वराकार एवं श्रीमन्नराकार भेद से पूर्व वर्णित द्विविध आविर्भाव आलम्बन हैं, अर्थात् पूर्व में परमेश्वराकार एवं नराकार भेद से जो श्रीकृष्ण के द्विविध आविर्भाव कहे गये हैं, दास्य भक्ति रस में तदुभय ही आलम्बन हैं, उनके भृत्य वर्ग परमेश्वराकार एवं नराकार--इन द्विविध रूप का ही अनुशीलन करते हैं। अतः वे परमेश्वराकार का सेवक एवं नराकार का सेवक होते हैं। इस रीति से भृत्यवर्ग दो भागों में विभक्त होते हैं। अनन्तर भृत्य वर्ग-अङ्ग सेवक पार्षद एवं प्रेष्य भेद से त्रिविध होते हैं। उस के मध्य में अङ्ग सेवक—अङ्गाभ्यञ्जक अर्थात् अङ्ग मर्द्दन कारी, ताम्बूलार्पण कारी, वस्त्र समर्पण कारी, गन्धार्पण कारी भेद से विविध होते हैं। पार्षद—मन्त्री, सारथी, सेनाध्यक्ष,--धर्माध्यक्ष, (विचारक) देशाध्यक्ष प्रभृति हैं। विद्या चातुर्य्य के द्वारा सभारञ्जक भाट प्रभृति भी पार्षद हैं।

श्रेष्ठत्व निबन्धन—पुरोहित गण—गुरुवर्ग में अन्तर्भुक्त हैं। उनके मध्य में आंशिक पार्षदत्व विद्यमान है। सादि, अर्थात् अश्वारोही सैन्य, पदाति, शिल्प प्रभृति प्रेष्य होते हैं। ये सब यथा पूर्व प्रियतर हैं, अर्थात् अङ्ग सेवक, पार्षद प्रेष्य इन तीन प्रकार भृत्य वृन्द के मध्य में प्रेष्य से पार्षद प्रियतर है, एवं सर्वापेक्षा अङ्ग सेवक श्रीकृष्ण के प्रियतम हैं। उद्धव-मन्त्री दारुक सारथी, प्रभृति पार्षद हैं। पार्षद होने पर भी इन में अङ्ग सेवादि का वैशिष्ट्य भी है, उस में भी श्रीउद्धव का ही सर्वाधिक्य है। कारण, श्रीकृष्ण, उनको भा० ११।११।४९ में कहे हैं---"त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा" तुम मेरा भृत्य, सुहृत सखा हो। पूर्वोक्त उद्दीपन समूह दास्य भक्ति मय रस का उद्दीपन होते हैं, अर्थात् पूर्व में आश्रय भक्ति रस में गुण, क्रिया, जाति, द्रव्य एवं काल रूप जो सब उद्दीपन कहे गये हैं, इस में वे सब ही उद्दीपन होते हैं। अङ्ग सेवक गण में विशेष रूप में गुण सौन्दर्य्य, सौकुमार्य्य प्रभृति, क्रिया--शयन भोजन प्रभृति, हैं। उनकी सेवा के योग्य वस्तु एवं उनकी उच्छिष्ट प्रभृति और पार्षद गण में प्रभुत्वादि गुण एवं प्रेष्य गण में प्रतापादि गुण उद्दीपन होते हैं।

अनुभाव-पूर्वोक्त अनुभाव समूह ही दास्य भक्तिमय रस के अनुभाव हैं। अर्थात् पहले आश्रय भक्ति रस में श्रीभगवत् सम्बन्ध में ही निवास, एवं तदीय प्रभावादिमय गुण नाम कीर्त्तन प्रभृति जो सब अनुभाव कहे गये हैं, यहाँ भी वे सब ही अनुभाव होते हैं। उस प्रकार योगावस्था में अर्थात् श्रीकृष्ण के

उद्धवादीनां तत्तत्सद्भावेऽपि माधुर्य्यज्ञान-प्रधानः, श्रीव्रजस्थानान्तु माधुर्य्यैकमय एव। अथाप्येषां प्रीतेर्भक्तित्वम्—श्रीगोपराजकुमारत्व परम-गुणप्रभाववत्त्वादिनैवादरसद्भावात्, तथाक्रूरस्य (भा० १०।३८।२८) "ददर्श रामं कृष्णञ्च व्रजे गोदोहनं गतौ" इत्यादि लीलाया-मनुभूत-तादृशमाधुर्य्यस्यापि यमुनाह्रदे दृष्टेन तदैश्वर्य्यविशेषेणैव चमत्कार-परिपोषात्तत् प्रधानत्वं व्यक्तम्। श्रीमदुद्धवस्य माधुर्य्यप्रधानत्वन्तु श्रीगोकुलवासिभाग्यश्लाघायां स्फुटमेव व्यक्तम्। अतएव तादृशस्यापि तस्यैवं स्वेच्छामय-नरलीलामाधुर्य्यविशः स्मर्य्यमाणो मम तद्वियोगखेदं वर्द्धयतीति भगवदन्तर्द्धानानन्तरमुद्धवः स्वयमाह, (भा० ३।२।१६)—

---

सहित मिलितावस्था में दास वृन्द की निज निज कर्म्म में तत्परता भी इस रस का अनुभाव है। उस प्रकार तत्परता भी इस प्रकार ही है कि सेवा समय में कम्प स्तम्भादि का उद्गम होने पर सेवा में विघ्न होगा, इस प्रकार चिन्ताकर भृत्य गण अनुशोचना प्रकाश करते हैं। अङ्ग सेवादि कर्म्म तत्परता, दास्य भक्ति मय रस का असाधारण धर्म है। और कम्पादि -सर्व साधारण धर्म हैं। अर्थात् समस्त रस के ही अनुभाव होते हैं। इस हेतु यहाँ कर्म्म तत्परता की ही बलवत्ता है। इस प्रकार अन्यान्य रस में भी जिस रस का जो असाधारण धर्म है, उस रस का अनुभाव रूप में उस की बलवत्ता देखी जाती है।

अयोग में भी निज निज कर्म्मानुसन्धान अथवा तदीय मूर्त्ति में भी उस उस परिचर्य्यादि कर्म्मानुष्ठान दास्य भक्ति मय रस का अनुभाव है।

आश्रय भक्ति रस के योग में हर्ष गर्व, धृति एवं अयोग में क्लम एवं व्याधि ये पञ्चविध सञ्चारि-भाव का नामोल्लेख हुआ है। दास्य भक्तिमय रस के वे सब अनुभाव होते हैं।

दास्य भक्ति नामक प्रीति—इस का स्वगत भाव है। वह अक्रूरादि में ऐश्वर्य्य प्रधान हैं, श्रीमदुद्धवादि में दास्य भक्ति एवं ऐश्वर्य्य ज्ञान विद्यमान होने पर भी उक्त स्थायिभाव माधुर्य्य प्रधान है। श्रीव्रजस्थ भृत्य वृन्द की दास्य भक्ति अर्थात् दास्य भक्ति नामक स्थायिभाव–केवल माधुर्य्यमय है।

ऐश्वर्य्य ज्ञान न होने से भक्ति अर्थात् दास्य भावोद्रेक असम्भव है। व्रजस्थ भृत्य वृन्द में ऐश्वर्य्य ज्ञान अर्थात् प्रभु बुद्धि नहीं रहती है, तो, उनकी प्रीति का भक्तित्व सिद्ध कैसे हो सकता है? उत्तर में कहते हैं—उन में माधुर्य्य ज्ञान विद्यमान होने पर भी श्रीकृष्ण के प्रति श्रीव्रजराज कुमार, परम गुणवान्, अत्यन्त प्रभाव शाली बुद्धि में आदर भाव रहता है, अतः व्रजस्थ भृत्य वृन्द की प्रीति का भक्तित्व सिद्ध होता है।

भा० १०।३८।२८ में उक्त है—"ददर्श रामं कृष्णञ्च व्रजे गोदोहनं गतौ" अक्रूर व्रज में गो दोहनरत राम कृष्ण को देखे थे। इत्यादि लीला में अक्रूर श्रीकृष्ण का परम माधुर्य्य अनुभव करने पर भी यमुना ह्रद में उनका ऐश्वर्य्य विशेष का दर्शन करके उस में ही चमत कारिता का पोषण किये थे। इस हेतु अक्रूर की दास्य भक्ति में ऐश्वर्य्य ज्ञान का प्राधान्य सुव्यक्त हुआ है। श्रीमदुद्धव का माधुर्य्य प्रधानत्व श्रीगोकुल की भाग्य प्रशंसा में व्यक्त हुआ है। अर्थात् श्रीउद्धव ऐश्वर्य्य ज्ञान सम्पन्न होने पर भी आप माधुर्य्य ज्ञान मय व्रज वासी की भाग्य प्रशंसा किये हैं। अतः उनका माधुर्य्य ज्ञान के प्रति आदर दृष्ट होता है। इस से उद्धव में माधुर्य्य ज्ञान का प्राधान्य प्रतिपन्न होता है। इस हेतु श्रीकृष्ण तादृश अनन्त ऐश्वर्य्य शाली होने पर भी उनकी उस प्रकार स्वेच्छामय नर लीला का माधुर्य्यविश–स्मृति पथ गत होकर तदीय विच्छेद दुःख वर्द्धित होता है। भा० ३।२।१६ में श्रीभगवान् के अन्तर्धान के पश्चात् उद्धव ने स्वयं ही कहा है–

(२०८) "मां खेदयत्येतदजस्य जन्म,-विड़म्बनं यद्वसुदेवगेहे ।

व्रजे च वासोऽरिभयादिव स्फुटं, पुराद्व्यवात्सीद्यदनन्तवीर्य्यः ।।"४५७।। इति

२०९। अतएव श्लाघितम्—(भा० ३।२।१२) "यन्मर्त्तचलीलौपयिकम्" इति । अग्रे परममधुरत्वेन तां लीलामपि वर्णयति, (भा० ३।२।२५-२८)—

(२०९) "वसुदेवस्य देवक्यां जातो भोजेन्द्रबन्धने।

चिकीर्षुर्भगवानस्याः शमजेनाभियाचितः ।।४५८।।

ततो नन्दव्रजमितः पित्रा कंसाद्विबिभ्यता ।

एकादशसमास्तत्र गूढ़ार्च्चिः सबलोऽवसत् ।।४५९।।

परीतो वत्सपैर्वत्सांश्चारयन् व्यहरद्विभुः ।

यमुनोपवने कूजद्द्विजसङ्कुलिताङ्घ्रिपे ।।४६०।।

कौमारीं दर्शयंश्चेष्टां प्रेक्षणीयां व्रजौकसाम् ।

रुदन्निव हसन् मुग्धबालसिंहावलोकनः ।।"४६१।। इत्यादि ।

---

(२०८) "मां खेदयत्येतदजस्य जन्म,- विड़म्बनं यद्वसुदेवगेहे ।

व्रजे च वासोऽरिभयादिव स्फुटं, पुराद्व्यवात्सीद्यदनन्तवीर्य्यः ।।"४५७।।

श्रीकृष्ण,— जन्म रहित होने पर भी वसुदेव के गृह में जो उनका जन्मानुकरण,--अनन्तवीर्य्य होकर भी कंस के भय से भीतवत् व्रजगमन पूर्वक गुप्त भाव में अवस्थान एवं कालयवनादि के भय से मथुरा से पलायन--इन सब की चिन्ता करके मेरामन अत्यन्तखिन्न होता है ।

श्रीउद्धव का माधुर्य्य ज्ञान प्रबल होने के कारण, आप श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य्य विशेष अवगत होने पर भी जिस समय श्रीकृष्ण अप्रकट हुये थे, उस समय उनका लीला माधुर्य्य का स्मरण कर खेद प्रकाश किये थे, यही अभिप्राय यहाँ का है ।।२०८।।

२०९। उद्धव में माधुर्य्य ज्ञान का प्राधान्य निबन्धन भा० ३।२।१२ में "यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग मायाबलं दर्शयता गृहीतम्" कहकर उन्होंने माधुर्य्य की प्रशंसा की है । माधुर्य्य की वर्णना करने के पश्चात् परम मधुरत्व हेतु भा० ३।२।२५-२८ में उन्होंने व्रज लीला की वर्णना भी की है—

(२०९) "वसुदेवस्य देवक्यां जातो भोजेन्द्रबन्धने ।

चिकीर्षुर्भगवानस्याः शमजेनाभियाचितः ।।४५८।।

ततो नन्दव्रजमितः पित्रा कंसाद्विबिभ्यता ।

एकादशसमास्तत्र गूढ़ार्च्चिः सबलोऽवसत् ।।४५९।।

परीतो वत्सपैर्वत्सांश्चारयन् व्यहरद्विभुः ।

यमुनोपवने कूजद्द्विजसङ्कुलिताङ्घ्रिपे ।।४६०।।

कौमारीं दर्शयंश्चेष्टां प्रेक्षणीयां व्रजौकसाम् ।

रुदन्निव हसन् मुग्धबालसिंहावलोकनः ।।"४६१ ।।

भगवान् श्रीकृष्ण, ब्रह्मा की प्रार्थना के अनुसार पृथिवी का सुख सम्पादन हेतु कंस कारागार में वसुदेव पत्नी देवकी से उत्पन्न हुये थे । अनन्तर कंस भय से भीत पिता को निमित्त करके नन्द व्रज को गये थे । वहाँ बलराम के सहित एकादश वत्सर गूढ़तेजाः होकर अर्थात् निज प्रभाव को गोपन करके अवस्थान

रुदन्निव हसन्निति जनन्याद्यग्रे कौमारचेष्टाविशेषः ।। श्रीमानुद्धवः ।

२१० । अथ श्रीव्रजस्थानां माधुर्य्यज्ञानैकमयत्वमाह, (भा० १०।१५।१७)—

(२१०) "पादसम्वाहनं चक्रुः केचित्तस्य महात्मनः ।
अपरे हतपाप्मानो व्यजनैः समवीजयन् ।।"४६२।।

महात्मनो महागुणगणगुणितस्य, हतपाप्मानः, न तु वयमिव तादृशभाग्यान्तरायलक्षण-पाप्नयुक्ता इति श्रीशुकदेवस्य दैन्योक्तिस्तत्स्पृहातिशयं व्यञ्जयति । श्रीशुकः ।।

२११ । तथा (भा० १०।२१।१८) "हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्य्यः" इत्यादि । स्पष्टम् ।। श्रीगोप्यः ।।

२१२ । तदेतद्विभावादि-स्थाय्यन्त-सम्बलनचमत्कारात्मको रसो ज्ञेयः । स च पूर्ववत् प्रथमा-प्राप्त्यात्मको यथा (भा० १०।३८।१०)—

---

किये थे ।

श्रीकृष्ण,—वत्सपाल एवं गोप बालक वृन्द के सहित वत्सचारण करते करते यमुनातीरस्थ उपवन में जहाँ वृक्ष समूह के उपरिभाग में पक्षिकुल कूजन करते थे—वहाँ क्रीड़ा करते थे । व्रजवासि वृन्द के दर्शनीय कौमार लीला प्रदर्शन करते करते कभी कभी जैसे रोदन करते थे । उस समय उनको मुग्ध बालसिंह के समान बोध होता था ।।४६१।।

श्लोकस्थ "रुदन्निव" शब्द से 'हसन्निति' अर्थ बोध होता है । जननी प्रभृति के सम्मुख में कौमार कालीन चेष्टा विशेष को प्रकट किये थे । श्रीमान् उद्धव कहे थे ।।२०९।।

२१० । अनन्तर व्रजस्थित माधुर्य्य ज्ञान मयत्व का वर्णन भा० १०।१५.१७ में शुक देव कहे हैं—

(२१०) "पादसम्बाहनं चक्रुः केचित्तस्य महात्मनः ।
अपरे हतपाप्मानो व्यजनैः समवीजयन् ।।"४६२।।

कतिपय व्यक्ति उन महात्मा का पाद सम्बाहन किये थे, एवं कतिपय निष्पाप व्यक्ति व्यजन समूह के द्वारा वीजन करने लगे थे ।।४६२।।

श्लोक की व्याख्या—महात्मा—महागुण समूह के द्वारा गुणवान् श्रीकृष्ण हैं । उस प्रकार श्रीकृष्ण की सेवा में रत जो लोक हैं, वे निष्पाप होते हैं । वे तादृश भाग्य लाभ के अन्तराय स्वरूप जो सब पाप हैं, उस से मुक्त हैं, किन्तु हम सब के समान पाप युक्त नहीं है । श्रीशुकदेव की यह दैन्योक्ति है । इस से अत्यन्त सेवाभिलाष व्यञ्जित हुआ है । प्रवक्ता श्रीशुक हैं—२१०।।

२११ । उसी प्रकार भा० १०।२१।१८ में वर्णित है—

"हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्य्यो यद्रामकृष्ण चरण स्पर्श प्रमोदः ।
मानं तनोति सह गो गणयोस्तयोर्यत् पानीय सुयवस कन्दरकन्द मूलैः ।।"

हे सखिगण ! यह अद्रि गोवर्द्धन–निश्चय ही हरिदास समूह के मध्य में श्रेष्ठ हैं । कारण, यह गिरि-राम कृष्ण के चरण स्पर्श से प्रमोदित होकर पानीय, सुन्दर तृण, कन्द मूल समूह के द्वारा गो एवं सखागण के सहित श्रीकृष्ण बलराम की सेवा कर रहा है । श्रीगोपीगण बोली थीं ।।२११।।

२१२ । विभाव से स्थायिभाव पर्य्यन्त रसोपकरण समूह के सम्मिलन से चमत्कारात्मक रसोदय

(२१२) "अद्यह्य विष्णोर्मनुजत्वमीयुषो, भारावताराय भुवो निजेच्छया ।
लावण्यधाम्नो भवितोपलम्भनं, मह्यं न न स्यात् फलमञ्जसा दृशः ।।"४६३।।
स्पष्टम् ।। अक्रूरः ।।

२१३ । तदनन्तरप्राप्तिलक्षणसिद्ध्यात्मको यथा (भा० १०।३८।३५)—

(२१३) "भगवद्दर्शनाह्लाद-वाष्पपर्य्याकुलेक्षणः ।
पुलकाचित औत्कण्ठ्यात् स्वाख्यानेऽपि हि नाशकत् ।।"४६४।।
स्वाख्याने 'अक्रूरोऽहं नमस्करोमि' इत्येतल्लक्षणे ।। श्रीशुकः ।।

२१४ । अथ भगवदन्तर्द्धानानन्तरं वियोगात्मको यथा (भा० ३।२।१-३) —

(२१४) "इति भागवतः पृष्टः क्षत्रा वार्त्तां प्रियाश्रयाम् ।
प्रतिवक्तुं न चोत्सेहे औत्कण्ठ्यात् स्मारितेश्वरः ।।४६५।।
यः पञ्चहायनो मात्रा प्रातराशाय याचितः ।
तन्नैच्छद्रचयन् यस्य सपर्य्यां बाललीलया ।।४६६।।

---

को जानना होगा। पहले आश्रय भक्ति दर्शन में जिस प्रकार अयोग एवं योग में — प्रथमा प्राप्ति, वियोग, सिद्धि, तुष्टि रूप चतुर्विध रस का जो दृष्टान्त दिया गया। है यहाँ पर उस प्रकार चतुर्विध रसका दृष्टान्त उपस्थित करते हैं—

उस के मध्य में प्रथमा प्राप्त्यात्मक अयोग का दृष्टान्त भा० १०।३८।१० में है—

(२१२) "अद्यह्य विष्णोर्मनुजत्वमीयुषो, भारावताराय भुवो निजेच्छया ।
लावण्यधाम्नो भवितोपलम्भनं, मह्यं न न स्यात् फलमञ्जसा दृशः ।।"४६३।।

श्रीअक्रूर— कंस कर्त्तृक वृन्दावन में प्रेरित होकर कहे थे— पृथिवी का भारावतरण हेतु जो स्वेच्छा से नरलीला अङ्गीकार किये हैं। मैं आज, उन लावण्य निकेतन विष्णु का दर्शन कर सकूँगा। इस से क्या मेरे नयन द्वय सार्थक नहीं होंगे ? निश्चय ही होंगे।

अक्रूर कहे थे।२१२।।

२१३। अनन्तर प्राप्ति लक्षण सिद्धि नामक रसका दृष्टान्त उपस्थित करते हैं— भा० १०।३८।३५ में उक्त है—

(२१३) "भगवद्दर्शनाह्लाद वाष्पपर्य्याकुलेक्षणः ।
पुलकाचित औत्कण्ठ्यात् स्वाख्यानेऽपि हि नाशकत् ।।"४६४।।

भगवद् दर्शनानन्द से अक्रूर के नयन युगल अश्रुप्लुत हुये थे, उनका अङ्ग— पुलकावृत हुआ था, आप इस प्रकार औत्सुक्याकुल हुये थे कि— कुछ कहने में भी असमर्थ थे।

स्वाख्याने— 'अक्रूरोऽहं नमस्करोमि' मैं अक्रूर प्रणाम कर रहा हूँ, यह कह कर निज परिचय प्रदान करने में भी अक्षम थे।

श्रीशुक कहे थे— २१३।।

२१४। अनन्तर भगवदन्तर्द्धानानन्तर वियोगात्मकरस का दृष्टान्त उपस्थित करते हैं— भा० ३।२।१-३

(२१४) "इति भागवतः पृष्टः क्षत्रा वार्त्तां प्रियाश्रयाम् ।
प्रतिवक्तुं न चोत्सेहे औत्कण्ठ्यात् स्मारितेश्वरः ।।४६५।।
यः पञ्चहायनो मात्रा प्रातराशाय याचितः ।
तन्नैच्छद्रचयन् यस्य सपर्य्यां बाललीलया ।।४६६।।

स कथं सेवया तस्य कालेन जरसं गतः ।
पृष्टो वार्त्तां प्रतिब्रूयाद्भर्त्तुः पादावनुस्मरन् ॥"४६७॥

भागवतः श्रीमानुद्धवः, क्षत्रा श्रीविदुरेण, जरसं वर्षाणां पञ्चविंशत्युत्तरशतस्य तादृशानां प्राकटचमर्य्यादाकालस्यान्तिमं भागमित्येव विवक्षितम्, न तु जीर्णत्वम्-श्रीकृष्णसवयसस्तस्यापि तद्वन्नित्यवयस्त्वेन (१७७ अनु० ) श्रीकृष्णसन्दर्भे स्थापितत्वात् (भा० ३।४।३१) "नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनः" इति श्रीभगवद्वाक्यवैशिष्टचात्, (भा० १०।४५।१९) "तत्र प्रवयसोऽप्यासन् युवानोऽतिमहौजसः" इत्यादिना कैमुत्याच्च ॥ श्रीशुकः ।

२१५ । अत्र (भा० ३।२।७) "कृष्णद्युमणिनिम्लोचे" इत्यादौ (भा० ३।२।८) "दुर्भगो वत लोकोऽयम्" इत्यादिषु चास्मात्मीय विगर्हादिलक्षणो विलापश्च ज्ञेयः । अथ वियोगानन्तर-

---

स कथं सेवया तस्य कालेन जरसं गतः ।
पृष्टो वार्त्तां प्रतिब्रूयाद्भर्त्तुः पादावनुस्मरन् ॥"४६७॥

क्षत्ता विदुर भागवत श्रीउद्धव को प्रिय विषयक यह वार्त्ता पुछने पर श्रीकृष्ण स्मृति उपस्थित होने के कारण उत्कण्ठावशतः उद्धव प्रत्युत्तर प्रदान करने में समर्थ नहीं हुये ।

पञ्च वर्ष आयुष्काल के समय यह उद्धव बाल्य क्रीड़ा करते करते पुत्तलिका को श्रीकृष्ण मानकर पूजा करते थे, उस समय उनकी मा प्रातर्भोजन हेतु आह्वाहन करने से उद्धव उस को नहीं चाहते थे ।

वह उद्धव – कालक्रम से श्रीकृष्ण सेवा करते करते परिपक्व हुये थे, उस समय उन प्रभु की वार्त्ता जिज्ञासित होने पर उनकी कथा स्मृति पथारूढ़ होने से कैसे आप उत्तर प्रदान करने में समर्थ होंगे ?

श्लोक की व्याख्या—भागवत—श्रीमान् उद्धव । क्षत्ता-श्रीविदुर, वृद्धत्व शब्द से यहाँ नरलीला श्रीकृष्ण परिकर का एकशत पचीस वत्सर पर्य्यन्त जो प्राकटच काल है— उस का शेष भाग अभिप्रेत है । जरा जीर्ण रूप वृद्धत्व अर्थ अभिप्रेत नहीं है । श्रीउद्धव—श्रीकृष्ण के वयस्क थे, उनका वयस भी श्रीकृष्ण के वयस के समान नित्य है । इस का प्रति पादन श्रीकृष्ण सन्दर्भ के १७७ अनुच्छेद में हुआ है । अतएव उद्धव जराजीर्ण वृद्ध नहीं हो सकते हैं । भा० ३।४।३१ में उक्त है—"नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यून." उद्धव मुझ से अणु परिमाण में भी न्यून नहीं है, श्रीभगवान् के इस वाक्य से श्रीउद्धव की श्रीकृष्ण तुल्यता प्रतीत होती है । श्रीकृष्ण को देखकर अतिवृद्ध भी महाबल शाली युवा हुये थे, भा० १०।४५।१९ "तत्र प्रवयसोऽप्यासन् युवानोऽतिमहौजसः" भगवान् के इस वाक्य के अनुसार कैमुत्यन्याय से श्रीउद्धव जो कभी जराजीर्ण वृद्ध नहीं हो सकते हैं, यह निश्चय होता है । कारण, मथुरास्थित वृद्ध यादव गण—श्रीकृष्ण को देखकर यदि नव यौवन सम्पन्न होते तो नियत श्रीकृष्ण सहचर उद्धव जो युवा थे इस में सन्देह क्या है ?

श्रीशुक कहे थे ॥२१४॥

२१५। श्रीमद् भागवत में विदुरोद्धव संवाद के वियोगात्मक रस प्रसङ्ग में (भा० ३।२।७)

"कृष्णद्युमणि निम्लोचे गीर्णेष्वजगरेणेह ।
किं नु नः कुशलं ब्रूयांगतश्रीषु गृहेष्वहम् ॥

टीका—श्रीकृष्ण विरहेण सन्तप्यमानः प्रत्याह । श्रीकृष्ण एव द्युमणिः सूर्य्यस्तस्य निम्लोचे अस्तमये सति अजगरेण कालमहासर्पेण गीर्णेषु गिलितेषु नो गृहेषु त्वत् पृष्टानां बन्धूनां किं नु कुशलं ब्रूयाम् ।

योगलक्षण तुष्टयात्मक उदाहार्य्यः। तत्र साक्षात्कारतुल्यस्फूर्य्यात्मको यथा तदनन्तरमेव श्रीमदुद्धवस्य (भा० ३।२।४) —

(२१५) "स मुहुर्त्तमभूत्तूष्णीं कृष्णाङ्घ्रिसुधया भृशम्।
तीव्रेण भक्तियोगेन निमग्नः साधु निर्वृ तः॥"४६८॥

स्पष्टम्॥ श्रीशुकः॥

२१६। एवमेव व्रजे तद्विरहदुःखमग्ने कृपया व्यवहाररक्षार्थं केषुचिदव्यवच्छेदेनैव स्फुरतीत्यत एव श्रीमदुद्धवप्रवेशे केषाञ्चित् सुखमपि वर्णितम्-(भा० १०।४६।९) "वासितार्थे

---

उद्धव के निकट विदुर यादव वृन्द का कुशल प्रश्न करने पर उन्होंने कहा— कृष्ण रूप सूर्य्य अस्तमित होने पर हमारे गृह समूह कालरूप अजगर के द्वारा गिलित हुए हैं, ये सब गृह वासी हम सब का कुशल संवाद क्या कहूँ? यह नरलोक नितान्त भाग्य हीन है, उस में भी यादव गण सर्वापेक्षा दुर्भागा हैं। क्षीरद समुद्र जात चन्द्र के सहित तत्रत्य मत्स्य गण एकत्र निवास करके भी उस को कमनीय जलचर मानते हैं, अमृत निधि रूप में नहीं जानते हैं। उस प्रकार यादवगण— श्रीकृष्ण के सहित एकत्र वास करके भी उनको स्वयं भगवान् रूप में नहीं जानते थे। कृष्णद्युमणि निम्लोचे इत्यादि उद्धवोक्ति के दुर्भगोवत लोकोऽयं इत्यादि कतिपय श्लोकों में आत्मीयनिन्दा रूप आक्षेपमय विलाप भी ज्ञात होता है।

'इति भगवतः' से आरम्भ कर पादानुस्मरण् पर्य्यन्त श्लोकत्रय में वियोग में बाह्य स्फूर्त्ति का अभाव ज्ञापित हुआ है। और 'दुर्भगोवत' इत्यादि श्लोक वियोग दशा में उच्चैःस्वर से रोदन वर्णित हुआ है। इस से बोध होता है कि— वियोग में कहने की असामर्थ्य एवं उच्चैःस्वर से रोदन उभय विध अनुभाव ही उपस्थित हो सकते हैं।

अनन्तर वियोग का विघ्न ज्ञापक तुष्ट्यात्मक रस का जो उदाहरण है— उस में साक्षात् कार सदृश स्फूर्त्यात्मक रस होता है। विच्छेद दुःख वैवश्य के पश्चात् श्रीउद्धव की श्रीकृष्ण स्फूर्त्ति हुई। (भा० ३।२।४

(२१५) "स मुहुर्त्तमभूत्तूष्णीं कृष्णाङ्घ्रिसुधया भृशम्।
तीव्रेण भक्तियोगेन निमग्नः साधु निर्वृ तः॥"४६८॥

श्रीकृष्ण के चरण कमल की सुधा का आस्वादन करके उद्धव मुहूर्त्तकाल मौनावलम्बन करके थे। तीव्र भक्ति योग के द्वारा उस सुधा में निमग्न होकर आप अतिशय आनन्दित हुये थे।

श्रीशुकदेव कहे थे॥२१५॥

२१६। विरह दुःख मग्न व्रज में इस रीतिसे ही व्यवहार रक्षार्थ किसी किसी के निकट कृपा वशतः श्रीकृष्ण-अविच्छेद से स्फूर्त्ति प्राप्त होते थे। इस हेतु श्रीमदुद्धव का व्रज में प्रवेश होने पर किसी किसी का सुख वर्णित हुआ है। भा० १०।४६।६ में वर्णित है—

"वासितार्थेऽभियुध्यद्भिर्नादितं शुष्मिभिर्वृ षैः।
धावन्तीभिश्च वास्राभिरुधोभरेण वत्सवान्॥"

सूर्य्यास्त गमन समय में उद्धव व्रज में प्रवेश करके देखे थे—रजःस्वला गोके निमित्त मत्त गोवृष समूह गर्जन एवं परस्पर युद्ध कर रहे हैं, धेनु वृन्द स्तन भर से कातर होकर निज निज वत्सवृन्द के प्रति धावित हो रही हैं।'

ऽभियुध्यद्भिः'' इत्यादिभिश्च, (भा० १०।४६।४५) ''ता दीपदीप्तैर्मणिभिर्विरेजुः'' इत्यादिना च। अतएव श्रीभगवतापि प्रायः पितरौ प्रेयसीश्चैवोद्दिश्य सन्दिष्टम्—(भा० १०।४६।३)

---

वृजराज के सहित कृष्ण कथा कह कर उद्धव रजनी अति वाहित करने पर प्रत्यूष में प्रातः कृत्य निर्वाहार्थ आप जब वृजराज भवन से निर्गत हुये थे, तब भा० १०।४६।४५ में उक्त है—

'गोप्यः समुत्थाय निरूप्य दीपान् वास्तून् समभ्यर्च्यदधीन्यमन्थन्।
ता दीपदीप्तैर्मणिभिर्विरेजु रज्जुर्विकर्षद् भुजकङ्कणस्रजः।
चलन्नितम्बस्तनभार कुण्डल त्विषत् कपोलारुण कुङ्कुमाननाः।

गोपी गण शय्यासे उठ कर प्रदीप प्रज्ज्वलित किये थे एवं देहली प्रभृत द्वाराप्रवर्त्ति स्थानादि मार्जन करके दधि मन्थन किये थे। वे दीपालोक में प्रदीप्त काञ्च्यादि स्थित मणि एवं मन्थन रज्जु का आकर्षण के हेतु चञ्चल कङ्कण श्रेणी द्वारा शोभिता हुई थीं।

अभिप्राय यह है– यहाँ गो समूह का जो आनन्द एवं भूषिता गोपी वृन्द का प्रत्यूष में जो दधि मन्थन वर्णित हुआ है, उस में उन सब को उस समय कृष्ण विरह दुःख नहीं था–यह सूचित हुआ है। श्रीकृष्ण में जिस की प्रीति नहीं है वह तदीय विरह में अविचलित रह सकता है, किन्तु वृज के धेनु समूह एवं गोपी वृन्द कृष्ण प्रीति हीन हैं– इस प्रकार कहना सङ्गत नहीं है. कारण, वृज के समस्त पदार्थ ही कृष्ण प्रीति शील हैं। इस स्थिति में--श्रीकृष्ण का मथुरा गमन होने पर वे कैसे सुख पूर्वक अवस्थान किये थे ? उत्तर, उस समय अनवरत वे श्रीकृष्ण स्फूर्त्ति को प्राप्त करते थे। वह स्फूर्त्ति उन सब के पक्ष में साक्षात् कार के समान ही होती, इस हेतु वे विच्छेद दुःखानुभव नहीं किये थे।

वृज के समस्त व्यक्ति– यदि विरह व्याकुल होते तो--वहाँ के समस्त व्यवहार रुद्ध हो जाते और पारस्परिक अनुसन्धान विरत होने पर वृज की लोकस्थिति विनष्ट हो जाती। इस हेतु श्रीकृष्ण-कृपा पूर्वक पशु, पक्षी, साधारण गोप गोपी प्रभृति के निकट सर्वदा स्फुरित होते थे।

वृज में त्रिविध प्रेम दृष्ट होते हैं, विवेक शून्य, विस्रम्भ प्रधान, एवं उत्कण्ठाप्रधान। प्रथमोक्त द्विविध प्रेम में स्फूर्त्ति को ही साक्षात् कार मानते हैं, और जो सब पशु पक्षी प्रभृ त का प्रेम का वृत्तान्त वर्णित है, वह प्रेम विवेक शून्य है। गोपी गण का प्रेम – विश्रम्भ प्रधान है, वृज के साधारण जन गण का प्रेम--कहीं विवेक शून्य है, और कहीं विश्रम्भ प्रधान है। सखा गण का प्रेम— विश्रम्भ प्रधान है, जिस का प्रेम--विवेक शून्य है, श्रीकृष्ण स्फूर्त्ति से वह मानता है कि—श्रीकृष्ण मेरे समीप में ही सर्वदा हैं। जिस का प्रेम विश्रम्भ प्रधान है, श्रीकृष्ण स्फूर्त्ति लाभ से वह मानता है कि—श्रीकृष्ण वृज में आयेंगे— यह जो कहे थे—वह आये हैं, एवं मेरे पास उपस्थित हैं। माता, पिता, एवं प्रेयसी गोपी गण का प्रेम उत्कण्ठाप्रधान है। श्रीकृष्ण स्फूर्त्ति से तृप्त होना तो उन सब के पक्ष में दूर है, जिस समय श्रीकृष्ण वृज में थे, उस समय श्रीकृष्ण सम्मुख में रहने पर भी अनेक समय वे सोचती थीं कि–यह क्या स्वप्न है। इस प्रकार साक्षात् कार को भी वे स्फूर्त्ति ही मानती थीं। सुतरां विच्छेद के समय श्रीकृष्ण स्फूर्त्ति, उन सब को सान्त्वना प्रदान करने में सक्षम नहीं है।

अतएव श्रीकृष्ण – माता पिता एवं प्रेयसी गोपी गण को उद्देश्य करके ही भा० १०।४६।३ में कहे हैं–

'गच्छोद्धव वृजंसौम्यपित्रोर्नः प्रीतिमावह।
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत् सन्देशैर्विमोचय॥''

हे सौम्य उद्धव ! वृज को जाओ, मेरे माता पिता यशोदानन्द का प्रीति विधान करो एवं मेरी कथा

"गच्छोद्धव व्रजं सौम्य" इत्यादिना। पित्रादीनान्तु सर्वत्र दुःखमात्रस्फुरणादन्येषां सुखमपि नानुभवपदवीमारोहति, (भा० १०।४६।१८)—

"अपि स्मरति नः कृष्णो मातरं सुहृदः सखीन्।
गोपान् व्रजश्चात्मनाथं गावो वृन्दावनं गिरिम्॥"४६९॥

इत्यादि-श्रीव्रजेश्वर-वचनात्। तत्र श्रीमदुद्धववासे तु प्रायः सर्वेषामपि तादृशीं स्फूर्त्तिं वर्णयति, (भा० १०।४७।५४-४६)—

(२१६) "उवास कतिचिन्मासान् गोपीनां विनुदन् शुचः।
कृष्णलीलाकथा गायन् रमयामास गोकुलम्॥४७०॥
यावन्त्यहानि नन्दस्य व्रजेऽवात्सीत् स उद्धवः।
व्रजौकसां क्षणप्रायाण्यासन् कृष्णस्य वार्त्तया॥४७१॥
सरिद्वन-गिरि-द्रोणीर्वीक्षन् कुसुमितान् द्रुमान्।
कृष्णं संस्मारयन् रेमे हरिदासो व्रजौकसाम्॥"४७२॥

संस्मारयन् स्फोरयन्नित्यर्थः, अतएव विनुदन् शुच इत्यादिकमुक्तम्॥ श्रीशुकः॥

---

को कह कर गोपी गणों की मदीय वियोग जनित मनः पीड़ा को दूर करो।

नियत श्रीकृष्ण स्फूर्त्ति हेतु विच्छेदावस्था में कोई कोई व्यक्ति, सुखी होते थे, पिता प्रभृति का किन्तु केवल दुःख ही स्फुरित होता, अतः अन्यका सुख उनकी अनुभूति का विषय नहीं होता है। भा० १०।४६।१८ में उक्त है— "अपि स्मरति नः कृष्णो मातर सुहृद सखीन्।
गोपान् व्रजश्चात्मनाथं गावो वृन्दावनं गिरिम्॥"४६९॥

व्रजराज कहे थे—कृष्ण-क्या-हम सब को, माता सुहृद वृन्द के एकमात्र ही जो अधिपति है, उस व्रज का, गो गण का, वृन्दावन एवं गोवर्द्धन गिरि का स्मरण करता है? व्रज राज की इस उक्ति से पित्रादि की केवल दुःख स्फूर्त्ति ही प्रमाणित होती है। उद्धव के व्रजवास के समय प्राय समस्त व्रजवासियों की श्रीकृष्ण स्फूर्त्ति वर्णित है। भा० १०।४७।५४-५६ में लिखित है—

(२१६) "उवास कतिचिन्मासान् गोपीनां विनुदन् शुचः।
कृष्णलीलाकथा गायन् रमयामास गोकुलम्॥४७०॥
यावन्त्यहानि नन्दस्य व्रजेऽवात्सीत् स उद्धवः।
व्रजौकसां क्षणप्रायाण्यासन् कृष्णस्य वार्त्तया॥४७१॥
सरिद्वन गिरि-द्रोणीर्वीक्षन् कुसुमितान् द्रुमान्।
कृष्णं संस्मारयन् रेमे हरिदासो व्रजौकसाम्॥"४७२॥

गोपी गणों का मनः सन्ताप विदूरित करने के निमित्त उद्धव,-कतिपय मास व्रज में निवास किये थे। एवं कृष्ण लीला कथा कीर्त्तन करके गोकुल वासी को आनन्दित किये थे।

जब तक उद्धव व्रज में निवास किये थे वे सब दिन व्रजवासियों के निकट क्षण काल के समान अनुभूत हुये थे।

२१७। अथ साक्षात्कारलक्षण-तुष्टयात्मकं श्रीमदुद्धवस्याह, (भा० ११।२९।४७)—

(२१७) "ततस्तमन्तर्हृदि संनिवेश्य, गतो महाभागवतो विशालाम्।
यथोपदिष्टां जगदेकबन्धुना, तपः समास्थाय हरेरगाद्गतिम्॥"४७३॥

गम्यत इति गतिः, यथोपदिष्टां गतिमित्यस्य तृतीयानुसारेणायमर्थः,-पूर्वं तत्र तं प्रति श्रीभगवता (भा० ३।४।११) "वेदाहमन्तर्मनसीप्सितं ते, ददामि यत्तद्दूरवापमन्यैः" इत्यनेन तदभीप्सितं दातुं प्रतिश्रुतम्,–त्वदीप्सित-पूर्त्यर्थं यदन्यैर्दुरवापं तद्ददामीत्यर्थः, तच्च देयं (भा० ३।४।१३) "पुरा मया प्रोक्तमजाय नाभ्ये" इत्यादिना सक्षेपभागवतरूपमित्युद्दिष्टम्। अथ तादृश-तत्पति-श्रुतश्रवणेन परमोत्सुकतया परमनिजाभीप्सितमसौ स्वयमेव निवेदितवान्, (भा० ३।४।१५)—

---

हरिदास उद्धव,– नदी, वत, पर्वत, गह्वर एवं कुसुमित वृक्ष समूह का दर्शन करके व्रजवासि वृन्द को कृष्ण स्मरण कराकर विहार किये थे। श्लोक में लिखित 'संस्मारयन्' शब्द का अर्थ है स्फोरयन्। 'अतएव विनुदन शुच" शोक अपनोदन किये थे। श्रीशुकदेव कहे थे—॥२१६॥

२१७। अनन्तर श्रीउद्धव का भगवत् साक्षात् कार लक्षण तुष्टिरूप योग का वर्णन करते हैं—भा० ११।२९।४७ में वर्णित है—

"ततस्तमन्तर्हृदि संनिवेश्य, गतो महाभागवतो विशालाम्।
यथोपदिष्टां जगदेकबन्धुना, तपः समास्थाय हरेरगाद्गतिम्॥"४७३॥

श्रीशुक देव कहे थे– द्वारका लीला अप्रकट करते समय श्रीकृष्ण--उद्धव को आदेश किये थे—'तुम वदरिकाश्रम को जाओ। अनन्तर महाभागवत उद्धव श्रीकृष्ण को अन्तर्हृदय में संनिवेशित करके तपः अनुष्ठान पूर्वक जगत् के एकमात्र बन्धु श्रीकृष्ण– जिन श्रीहरि की वात कहे थे। श्रीहरि की उस विशाल गति को प्राप्त किये थे।

श्लोक की व्याख्या—गति—जिस के द्वारा गमन किया जाता है। जिस की कथा कहे थे—उस विशाल गति को प्राप्त किये थे। तृतीय स्कन्ध के अनुसार यह अर्थ होता है। उस तृतीय स्कन्ध में—इस के पहले उद्धव को श्रीकृष्ण कहे थे—भा० ३।४।११ "वेदाहमन्तर्मनसीप्सितं ते, ददामि यत्तद्दूरवापमन्यैः" 'तुम्हारे मनोऽभीष्ट क्या है, उस को मैं जानता हूँ। जो अपर के पक्ष के दुष्प्राप्य है, वह तुम को देता हूँ।" इस वाक्य में श्रीकृष्ण उद्धव को अभीष्ट वस्तु दान करने के निमित्त प्रतिश्रुत हुए थे। तुम्हारा अभीष्ट पूर्ण करने के निमित्त जो अन्य के पक्ष में दुष्प्राप्य है, उस को देता हूँ। यही उस वाक्य का अर्थ है। देयवस्तु का वर्णन भा० ३।४।१३ में है—

"पुरा मया प्रोक्तमजाय नाभ्ये पद्मे निषण्णाय ममादिसर्गे।
ज्ञानं परं मन्महिमावभासं यत्सूरयो भागवतं वदन्ति॥"

प्रथम पाद्मकल्प की सृष्टि के उपक्रम में मैंने स्वीयनाभि पद्म में अवस्थित ब्रह्मा को आत्म महिमा प्रकाशक परम ज्ञान प्रदान किया था। ज्ञानि गण उसको भागवत कहते हैं। इस श्लोक में जो संक्षेप में भागवत की कथा कही गई है, वही देयवस्तु है। श्रीकृष्ण की उस प्रकार प्रति श्रुति को सुनकर अत्यन्त उत्सुकता के सहित निज परमाभीष्ट को उद्धव ने स्वयं निवेदन किया है। भा० ३।४।१५ में उसका उल्लेख है-

"को न्वीश ते पादसरोजभाजां, सुदुर्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह।

तथापि नाहं प्रवृणोमि भूमन्, भवत्पदाम्भोज-निषेवणोत्सुकः ॥"४७४॥

इत्यनेन। अथागन्तुकं निजमोहविशेषञ्च निवेदितवान्, (भा० ३।४।१६) "कर्म्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य" इत्यादिभ्याम्। तच्च साक्षात्तदुपदेश-बलेन प्रायः परप्रत्यायनार्थमेव ज्ञेयम्,-(भा० ३।४।३१) "नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनः" इत्यादेः।

---

"को न्वीश ते पादसरोजभाजां, सुदुर्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह।
तथापि नाहं प्रवृणोमि भूमन्, भवत्पदाम्भोज--निषेवणोत्सुकः ॥" ४७४॥

हे ईश! जो सब व्यक्ति तुम्हारे चरणारविन्द की सेवा करते हैं. उन सब के पक्ष में धर्म, अर्थ काम, मोक्ष-ये पुरुषार्थ चतुष्टय के मध्य में कुछ भी दुर्ल्लभ नहीं है। हे भूमन्! मैं किन्तु उस सब के मध्य में किसी की भी प्रार्थना मैं नहीं करता हूँ। आप के चरण कमल की सेवा करके निमित्त ही उत्सुक हूँ। अनन्तर आगन्तुक निज मोह विशेष को निवेदन किये थे—भा० ३।४।१६ मे उक्त है—

"कर्म्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते दुर्गाश्रयोऽथारिभयात् पलायनम्।
कालात्मनो यत् प्रमदायुताश्रमः स्वात्मन् रतेः खिद्यतिधीर्विद मिह।
मन्त्रेषु मां वा उपहूययत् त्वमकुण्ठिताखण्डसदात्मबोधः।
पृच्छेः प्रभो मुग्ध इवाप्रमत्तस्तन्नोमनो मोहयतीव देव ॥"

टीका अघटमान चरणं दर्शयति। कर्म्मण्यनीहस्य निस्पृहस्य निष्क्रियस्य वा, अभवस्य पलायनञ्च। स्वात्मनि रतिर्यस्य तस्य बह्वीभिः स्त्रीभिर्गृहाश्रम--इति यत् इह अस्मिन् विषये विदुषामपि धीः संशयेन खिद्यते ॥१६॥ किञ्च, मन्त्रेषु प्रस्तुतेषु सत्सु मामाहूय वै अहो पृच्छेः अपृच्छः। अकुण्ठितः कालादिना अखण्डः सन्ततः सदात्मा संशयादि रहितो बोधो विद्याशक्तिर्यस्य। मुग्धवत्— अज्ञवत् अप्रमत्तः अवहितः सन्।

हे प्रभो! तुम निष्क्रिय होकर भी जो कर्म्म करते रहते हो, अज--जन्म रहित होकर भी जो जन्म ग्रहण करते हो, स्वयं काल रूपी होकर भी जो शत्रुभय से पलायन करते हो एव दुर्गाश्रय करते हो, आत्म रति होकर भी जो अनेक स्त्री परिवृत होकर गृहाश्रम धर्माचरण करते हो, ये सब को देखकर पण्डित वृन्द की बुद्धि भी खिन्न होती है। जिनका सदात्म ज्ञान अकुण्ठित एवं अखण्ड हैं, वह स्वयं अप्रमत्त होकर भी मन्त्रणा हेतु मुझ को आह्वान करके मुग्ध जन के समान जिज्ञासा करते हैं, हे प्रभो! हे देव! यह चेष्टा मुझ को अतिशय मोहित करती रहती है। उद्धव का यह निवेदन—श्रीकृष्ण के साक्षात् उपदेश प्रभाव से प्राय पर प्रत्यायन हेतु ही जानना चाहिये। कारण, उद्धव के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण ही कहे हैं--भा० ३।४।३१—

"नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्द्दितो प्रभुः अतोमद्वयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु ॥"

टीका--मत्तः सकाशातीषदपि न्यूनो न भवति। यद् यस्माद् गुर्णैविषयैर्न क्षोभित मद्वयुनं मद्विषयं ज्ञानं लोकस्योपदिशन् इह भूतले तिष्ठतु।

उद्धव,-मुझ से अणु मात्र भी न्यून नहीं है।

सारार्थ यह है—श्रीकृष्णोक्ति प्रमाण से बोध होता है कि—उनके समान् ही गुणवान् सर्वज्ञ पार्षद श्रीउद्धव श्रीकृष्ण लीला का रहस्य-अर्थात् तत्त्व को जानते हैं, इस प्रकार महाभागवत व्यतीत अपर व्यक्ति लीला तत्त्व को जानने में समर्थ नहीं हैं। तथापि अन्य जनगण को उस लीला रहस्य को अवगत कराने के निमित्त श्रीकृष्ण, इस प्रकार लीला किये थे। उद्धव जो निज मोह प्रकाश किये थे—वह अपर व्यक्ति के

अथ तत्तदर्थोपयुक्ततया भगवदुद्दिष्टार्थमपि प्रार्थितवान्, (भा० ३।४।१८) "ज्ञानं परं स्वात्मरहः-प्रकाशं, प्रोवाच कस्मै" इत्यादिना। तत्र "यद्वृजिनं तरेम" इति वृजिनं तादृश-सेवाविरहदुःखं तादृशलोकमोहदुःखञ्च। तत्तरणस्य तद्रहस्यज्ञानाधीनत्वादिति भावः। ततश्च मदभीष्टं श्रीभगवानपि सम्पादितवानिति श्रीविदुरं प्रति कथितं श्रीमदुद्धवेन स्वयमेव, (भा० ३।४।१९)—

"इत्यावेदितहार्द्दाय मह्यं स भगवान् परः।
आदिदेशारविन्दाक्ष आत्मनः परमां स्थितिम् ॥"४७५॥ इति।

द्वितीये ब्रह्मणेऽपि परमवैकुण्ठं दर्शयता तेनात्मनः परमभगवत्तारूपा स्थितिर्दर्शिता, सा च

---

निमित्त है, उद्धव स्वयं निज मोह निवरण करने में समर्थ थे। तथापि आपने सोचा कि- मेरी बात् को लोक उतना विश्वास नहीं करेगा, किन्तु श्रीकृष्ण का आदेश को सुनकर ही विश्वास करेगा। इस प्रकार विचार करके ही उद्धव ने निज मोह प्रकट किया था। उद्देश्य है—श्रीकृष्ण—उन का मोह नाश हेतु जो उपदेश प्रदान करेंगे, उस उपदेश को अन्य को सुनाकर ही मैं अपर का मोह विदूरित करूँगा।

यद्यपि अपर को अवगत कराने के निमित्त ही लीला रहस्य सुनने की इच्छा को व्यक्त उन्होंने किया था, तथापि उस विषय अपनी भी आकाङ्क्षा नहीं थी, यह नहीं, उद्धव-ऐश्वर्य्य ज्ञान प्रभाव से लीलारहस्य अवगत होने पर भी श्रीकृष्ण के मुख से विशेष सुनने के निमित्त आप कौतुहली थी। अतः मूल में "प्रायः प्रत्यायनार्थ मेव ज्ञेयन्" प्राय शब्द का उपन्यास हुआ है।

अनन्तर उद्धव श्रीकृष्ण को कहे थे—भा० ३।४।१८

"ज्ञानं परं स्वात्मरह प्रकाशं प्रोवाच कस्मै भगवान् समग्रम्।
अपि क्षमं नो ग्रहणाय भर्त्तुर्वदञ्जसा यद् वृजिनं तरेम ॥"

टीका—स्वात्मन स्तव रहः रहस्यं तत्वं, तस्य प्रकाशकम्। कस्मै ब्रह्मणे। सर्वनामत्वमार्षम् नोऽस्माकं ग्रहणाय अपि क्षमं यदि योग्यं तर्हि वद। भर्त्तुः स्वामिनः। यत् यतः वृजिनं संसार दुःखम्-अञ्जसा अनायासेन तरिष्यामः।

हे भगवन्! आपने आत्म तत्त्व प्रकाशक जो भजन ब्रह्मा को कहा है, वह यदि ग्रहण योग्य हो तो आप कहें, जिस से अनायास दुःखोत्तीर्ण हो जाऊँगा। इस श्लोक में उस अर्थ के उपयोगि रूप में—अर्थात् श्रीउद्धव की अभीष्ट कृष्ण सेवा एवं अपर जनका मोह च्छेदन के उपयोगी रूप में—श्रीभगवान् संक्षेप में जिस भागवत का वर्णन किये हैं, उस को प्रार्थना भी उद्धव ने की है। श्लोक में जो दुःखोत्तीर्ण होने की बात कही गई है, वह प्रकट अवस्था में द्वारका में श्रीकृष्ण जो सेवा उसका विरह दुःख एवं तादृश लोक मोह दुःख है। इस प्रकार दुःखत्राण भगवद्रहस्य ज्ञानाधीन होने के कारण 'ज्ञानं परं" इत्यादि श्लोक में उस ज्ञान की प्रार्थना उन्होंने की है। उस के पश्चात् श्रीभगवान् स्वयं ही उनका अभीष्ट सम्पादन किये हैं, उद्धव स्वयं ही विदुर को कहे थे—भा० ३।४।१९

"इत्यावेदितहार्द्दाय मह्यं स भगवान् परः।
आदिदेशारविन्दाक्ष आत्मनः परमां स्थितिम् ॥"४७५॥

मैं उस प्रकार निज मनोभाव उनको निवेदन करने पर कमलनयन कृष्ण मुझ को निज परमस्थिति

श्रीद्वारकावैभवरूपेति (७ अनु०) श्रीभगवत्सन्दर्भे स्थापितमस्ति, संक्षेप-श्रीभागवतरूपया चतुःश्लोक्या च । तस्य तादृशत्वेऽपि विचित्रलीला भक्तपरवशत्वरूपासाविति तत्रैव बोधितम् । ततस्तदनुभवेनोभयत्रापि श्रीमदुद्धवस्य धैर्य्यं जातमिति तत्तदुपयोगः । ततश्च तामेव तदुपदिष्टां गतिं जगामेत्यर्थः । तथैवोद्दिष्टमन्ते तं प्रत्येकादशे (भा० ११।२९।३३)—

"ज्ञाने कर्म्मणि योगे च वार्त्तायां दण्डधारणे ।
यावानर्थो नृणां तात तावांस्तेऽहं चतुर्विधः ॥"४७६॥ इति ।

तस्य श्रीकृष्णरूपा गतिश्चेयं श्रीशुकद्वारा श्रीभागवतप्रचारात् पूर्व्वमेव ज्ञेया । स्वज्ञान-प्रचारार्थमेव हि सोऽयं पृथिव्यां रक्षितः । तदनन्तरं चरितार्थत्वान्न प्रयोजनमिति । किन्तु कायव्यूहेन श्रीमद्व्रजेऽप्यस्य तत्प्राप्तिर्ज्ञेया,—(भा० १०।४७।६१) "आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम्" इति दृढ़मनोरथावगमात् ॥ श्रीशुकः ॥

---

कहे थे । श्रीमद् भागवत के द्वितीय स्कन्ध में जिन्होंने ब्रह्मा को परम वैकुण्ठ दिखाया था । यह प्रसिद्ध है—वह श्रीकृष्ण—श्रीउद्धव को निज परम भगवत्ता रूप स्थिति प्रदर्शन किये थे । वह स्थिति द्वारका वैभव है, अपर कुछ नहीं है । इस का प्रतिपाद भगवत् सन्दर्भ १ म अनुच्छेद में हुआ है । सक्षेप भागवत् रूप चतुःश्लोकी के द्वारा श्रीउद्धव का अभीष्ट सम्पादन किये हैं । भगवान् असमोर्द्ध्व ऐश्वर्य्यशाली होने पर भी उनकी उक्तस्थिति विचित्र लीला एवं भक्त पर वशत्व रूपा है । उद्धव को चतुःश्लोकी उपदेश के द्वारा इस को कृष्ण व्यक्त किये हैं । अनन्तर द्वारका वैभव एवं चतुःश्लोकी भागवत-उभय स्थल में ही तादृशी स्थिति को अनुभव करके उद्धव का धैर्य्य हुआ था । इस प्रकार तदुभय ही उद्धव के पक्ष में इष्ट सिद्धिकर हैं। मूलोक्त उपयोग शब्द का अर्थ—इष्ट सिद्धिकर व्यापार है । अनन्तर उद्धव भगवदुपदिष्टा उस गति को प्राप्त किये थे । उद्धव जो उस गति को प्राप्त करेंगे—इस का कथन—श्रीकृष्ण-उक्त संवाद के शेष में किये हैं—(भा० ११।२९।३२)

"ज्ञाने कर्म्मणि योगे च वार्त्तायां दण्डधारणे ।
यावानर्थो नृणां तात तावांस्तेऽहं चतुर्विधः ॥"४७६॥ इति ।

ज्ञान, कर्म्म, योग, वार्त्ता—कृषिवाणिज्यादि एवं दण्डनीति इन सब के द्वारा जो पुरुषार्थ लाभ होता है—तुम्हारे पक्ष में वे सब मैं ही हूँ ।

उद्धव की श्रीकृष्ण रूपा गति अर्थात् सर्वतोभावेन श्रीकृष्ण प्राप्ति श्रीशुकदेव के द्वारा श्रीमद् भागवत प्रचार के पूर्व में ही हुई थी । श्रीकृष्ण—निज विषयक ज्ञान प्रचार हेतु उद्धव को पृथिवी में रखे थे । श्रीशुक देव के द्वारा श्रीमद् भागवत प्रचार के पश्चात् श्रीकृष्ण का उक्त अभीष्ट सिद्ध होने के कारण-उद्धव को पृथिवी में रखने की आवश्यकता नहीं थी ।

वियोग के पश्चात् श्रीउद्धव उक्त रीति से श्रीकृष्ण को प्राप्त करने पर भी काय व्यूह के द्वारा व्रज में भी श्रीकृष्ण को प्राप्त किये थे । कारण, (भा० १०।४७।६१) में उक्त है—

"आसामहो चरणरेणु जुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्य्यपथञ्च हित्वा भेजुर्मुकुन्द-पदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥"

टीका—किञ्च आस्तां तावद् गोपीनां भाग्यं ममत्वेतावत् प्रार्थ्यमित्याह आसामिति गोपीनां चरणरेणु

२१८–२१९। अथ प्रश्रयभक्तिमयो रसः। तत्रालम्बनो लालकत्वेन स्फुरन् प्रश्रयभक्ति-विषयः श्रीकृष्णस्तदाधारास्तदीयपुत्रादिरूपा लाल्याश्च, श्रीकृष्णश्च पूर्ववत् परमेश्वराकारः श्रीमन्नराकारश्चेति द्विविधाविर्भावः। तत्तदाश्रयत्वेनोभयाश्रयत्वेन च लाल्याश्च त्रिविधाः। तत्र परमेश्वराकाराश्रया ब्रह्मादयः, श्रीमन्नराकाराश्रयाः श्रीदशाक्षरध्यानदर्शित-श्रीगोकुल-पृथुकाः, उभयाश्रयाः श्रीद्वारकाजन्मानः, ते च सर्वे यथायथं पुत्रानुज-भ्रातुष्पुत्रादयः। तत्र पुत्राः, केचिद्गुणतः, केचिदाकारतः, केचिदुभयतश्च तदनुहारिप्रायाः। तत्र गुणानुहारित्व-माह, (भा० १०।६१।१) —

(२१८) "एकैकशस्ताः कृष्णस्य पुत्रान् दश दशाबलाः।
अजीजनन्ननवमान् पितुः सर्वात्मसम्पदा॥"४७७॥

तत्र साम्बादीनां श्रीकृष्णश्लाघितगुणत्वमाह, (भा० १०।६१।१२)—

(२१९) "जाम्बवत्याः सुता ह्येते साम्बाद्याः पितृसम्मताः" इति।

२२०। अतः श्रीसाम्बस्यैकादशादौ श्रुतमन्यथाचेष्टितं श्रीकृष्णस्य मर्य्यादादर्शक-

---

भाजां गुल्मादीनां मध्ये मध्ये यत् किमपि अहं स्यामित्याशंसा कथम्भूतानाम्। या इत्यादि। आर्य्याणां मार्गं धर्म्मञ्च हित्वा॥"

इत्यादि श्लोकों में व्रज में श्रीकृष्ण प्राप्ति विषय में श्रीउद्धव का दृढ़ सङ्कल्प व्यक्त हुआ है, वह सङ्कल्प कभी व्यर्थ नहीं हो सकता है। प्रवक्ता श्रीशुक हैं—२१७॥

### प्रश्रय भक्तिमय रस

२१८–२१९। अनन्तर प्रश्रय भक्तिमय रस का वर्णन करते हैं। इस में विषयालम्बन श्रीकृष्ण लालक रूप में स्फुरित होकर प्रश्रय भक्ति का विषय होते हैं। इस में पूर्ववत् आविर्भाव द्विविध हैं, परमेश्वराकार एवं श्रीमन्नाराकार। ये द्विविध आविर्भाव के आश्रय – आलम्बन रूप में लाल्य वर्ग द्विविध होते हैं। ब्रह्मादि का आश्रय परमेश्वराकार, श्रीमद् दशाक्षर ध्यान में जो सब गोप बालक दृष्ट होते हैं, उन का आश्रय श्रीमन् नराकार है। श्रीद्वारका जात लाल्य गण के आश्रय उभयविध हैं। यह लाल्य यथा योग्य पुत्र, अनुज, भ्रातुष्पुत्रादि हैं। उस के मध्य में कोई कोई गुण में आकार में एवं उभय प्रकार से ही श्रीकृष्ण के सदृश हैं। उस के मध्य में गुण से सादृश्य का वर्णन भा० १०।६१।१ में है—

(२१८) "एकैकशस्ताः कृष्णस्य पुत्रान् दश दशाबलाः।
अजीजनन्ननवमान् पितुः सर्वात्मसम्पदा॥"४७७॥

श्रीशुक देव कहे हैं—श्रीकृष्ण की महिमा वृन्द के प्रत्येक से दश दश पुत्र उत्पन्न हुये थे। वे निखिल आत्म सम्पद से अर्थात् गुण से पिता के तुल्य हुये थे।

उस के मध्य में भी श्रीकृष्ण भी साम्बादि के गुणों की प्रशंसा किये थे। भा० १०।६१।१२ में श्रीशुक देव कहे हैं— (२१९) "जाम्बवत्याः सुता ह्येते साम्बाद्याः पितृ सम्मताः॥"

जाम्बवती के ये साम्बादि पुत्र गण पितृ सम्मत हुये थे॥२१९॥

२२०। एकादश स्कन्ध के प्रथम अध्याय में उक्त है—यदु कुमार गण कर्तृक साम्ब स्त्रीवेश से

तत्तल्लीलेच्छयैव । तत्र श्रीरुक्मिणीपुत्रास्तु तेष्वपि श्रेष्ठा इत्याह, (भा० १०।६१।९) —

(२२०) "प्रद्युम्नप्रमुखा जाता रुक्मिण्यां नावमाः पितुः" इति ।

अत्र पुनरुक्तिरेव श्रेष्ठचबोधिका ॥ श्रीशुकः ॥

२२१ । तत्र श्रीप्रद्युम्नस्यातिशयमाह, (भा० १०।५५।३३)—

(२२१) "कथं त्वनेन संप्राप्तं सारूप्यं शार्ङ्गधन्वनः ।
आकृत्यावयवैर्गत्या स्वरहासावलोकनैः ॥"४७८॥

स्पष्टम् ॥ श्रीरुक्मिणी ॥

२२२ । किञ्च, (भा० १०।५५।४०)—

(२२२) "यं वै मुहुः पितृसरूपनिजशभावा-स्तन्मातरो यदभजन्रह रूढ़भावाः ।
चित्रं न तत् खलु रमास्पदविम्बविम्बे कामे स्मरेऽक्षविषये किमुतान्यनार्य्यः ॥"४६६॥

---

सज्जित होकर ब्राह्मण वृन्द के निकट उपस्थित हुये थे। यदि सम्ब उस प्रकार ही गुणवान् होते तो उस प्रकार धृष्टता प्रकाश क्यो किये थे ? उत्तर में कहते हैं-सद्गुणों में साम्ब, श्रीकृष्ण के प्रशंसा भाजन थे, किन्तु एकादश स्कन्धादि में जो अन्य रूप चेष्टा वर्णित है, श्रीकृष्ण की मर्य्यादादर्शक उस लीला प्रदर्शन करने के अभिप्राय से ही साम्बने उस प्रकार आचरण किया था। श्रीजाम्बवती के पुत्रगण के मध्य में श्रीरुक्मिणी के पुत्र गण श्रेष्ठ हैं। अतएव भा० १०।६१।९ में उक्त है—

(२२०) "प्रद्युम्न प्रमुखा जाता रुक्मिण्यां नावमाः पितुः॥"

प्रद्युम्न प्रभृति रुक्मिणी पुत्र गण पिता के तुल्य होकर जन्म ग्रहण किये थे।

पूर्व में श्रीकृष्ण की समस्त महिषी से उत्पन्न सन्तान गण को गुण में उन के तुल्य वर्णन किये हैं। यहाँ प्रद्युम्नादि की कृष्ण सादृश्य पुनरुक्ति जो हुई है—वह श्रेष्ठत्व ज्ञापिका है।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं—२२०॥

२२१। प्रद्युम्न के उत्कर्ष का और भी वर्णन भा० १०।५५।३३ में है।

(२२१) "कथं त्वनेन संप्राप्तं सारूप्यं शार्ङ्गधन्वनः।
आकृत्यावयवैर्गत्या स्वरहासावलोकनैः ॥"४७८॥

आकृति, अवयव, गति स्वर, अवलोकनादि विषयों में यह कैसे शार्ङ्गधन्वा श्रीकृष्ण के सादृश्य को प्राप्त किया है ? जन्म के समय ही शम्बरासुरने प्रद्युम्न को अपहरण कर ले गया था। अनन्तर वयः प्राप्त होने पर उन्होंने शम्बरासुर वध किया था। अनन्तर द्वारका में प्रत्यागमन किये थे। उस समय श्रीरुक्मिणी भी उन को पहचान में अक्षम थीं। उनके अवयवादि में कृष्ण सादृश्य को देखकर उन्होंने उस प्रकार कही थीं। श्रीरुक्मिणी के अन्य पुत्र गण गुण में कृष्ण तुल्य होने पर भी सर्वांश में तुल्य नहीं हैं। यदि वैसा होता तो प्रद्युम्न को देखकर विस्मय से उस प्रकार नहीं कहतीं सर्व विषयों में एकमात्र प्रद्युम्न ही श्रीकृष्ण सदृश है। इस हेतु श्रीरुक्मिणीनन्दन गण के मध्य में भी प्रद्युम्न श्रेष्ठ हैं।

श्रीरुक्मिणी बोली थीं ॥२२१॥

२२२। और भी भा० १०।५५।४० में उक्त है—

(२२२) "यं वै मुहुः पितृसरूपनिजेशभावा-स्तन्मातरो यदभजन्रह रूढ़भावाः।

यं प्रद्युम्नं तन्मातरो मुहुरभजन्, द्रष्टुमागताः, पुनर्लज्जया रह एकान्तदेशं चाभजन् निलिल्युरित्यर्थः। तदेवं यदभजन्, तत् खलु रमास्पदबिम्बस्य लक्ष्मीविलासभूमिमूर्त्तेर्बिम्बे प्रतिमूर्त्तौ तस्मिन्न चित्रम्,—बालकस्य पितृसादृश्ये मातॄणां वात्सल्योद्दीप्तिसम्भवात्। तत्र यच्च रहोऽभजन्, तदपि न चित्रमित्याह-पितृसरूपनिजेशभावाः, तदनन्तरं पितुः श्रीकृष्णस्य सरूपेण सारूप्यातिशयेन निजेशस्यात्मीयप्रभुमात्र बुद्धयावगतस्य, न तु रमणबुद्धयावगतस्य श्रीकृष्णस्य भावः स्फूर्त्तिर्यासु ताः, ततो लज्जाहेतुकं रहोभजनलक्षणं पलायनमप्युचितमेवेति भावः, तथोक्तमेतत् प्रागेव—(भा० १०।५५।२७) "तं दृष्ट्वा जलदश्यामम्" इत्यादौ (भा० १०।५५।२८) "कृष्णं मत्वा स्त्रियो ह्रीता निलिल्युस्तत्र तत्र ह" इति। तत्र प्रभुत्वमात्र-

---

चित्रं न तत् खलु रमास्पदबिम्बबिम्बे कामे स्मरेऽक्षविषये किमुतान्यनार्यः ॥"४७६॥

श्रीप्रद्युम्न का परमोत्कर्ष वर्णन और भी दृष्ट होता है—प्रद्युम्न में पितृ सरूप निजेशभाव जिनका है, है, उनकी मातृवृन्द-जो रूढ़ भावापन्न हैं, वे प्रद्युम्न को देखकर लज्जिता होकर एकान्त में चली जाती थीं, रमास्पद बिम्ब बिम्ब में यह आश्चर्य्य कर नहीं है। वह काम, स्मर-नयन गोचर होने से अन्य नारीगण जो उनका भजन करेंगी यह कहना तो निष्प्रयोजन है।

श्लोक व्याख्या—प्रद्युम्न का, उनकी मातृ वृन्द जो पुनः पुनः भजन करती थीं, वह भजन-उनको देखने के निमित्त ही है, अपर कुछ नहीं है। दर्शन करने आकर वे रहो भजन करती थीं--अर्थात् एकान्त देश में लुक्कायित हो जाती थीं,-- इस प्रकार जो भजन-वह रमास्पद बिम्ब बिम्ब में आश्चर्य्य का विषय नहीं है। रमास्पद बिम्ब लक्ष्मी की विलास भूमि जो मूर्त्ति, उस का बिम्ब प्रतिमूर्त्ति, जो है, अर्थात् जिन को देखने से श्रीकृष्ण की प्रतिमूर्त्ति-प्रतीत होती थी। उनका उस प्रकार भजन आश्चर्य्य का विषय नहीं है। कारण, बालक पितृ सादृश्य को प्राप्त होने पर जननी वृन्द में अधिक वात्सल्योद्रेक सम्भव होता है। पितृ सादृश्य प्राप्त बालक प्रद्युम्न को देखकर उनकी जननी वृन्द जो रहो भजन करती थीं, वह आश्चर्य्य कर न होने का कारण—प्रद्युम्न में पितृसरूप निजेशभाव उन सब का था। दर्शन हेतु आकर प्रद्युम्न में तदीय पिता श्रीकृष्ण का सरूप--सारूप्यातिशय अर्थात् रूप का प्रचुर सादृश्य को देखकर निजेश--आत्मीय प्रभुमात्र बुद्धि से जिन को अवगत हैं, उनका किन्तु पति बुद्धि में जिनको अवगत हैं उन श्रीकृष्ण का नहीं, भाव-स्फूर्त्ति-को जो प्राप्त करती हैं, वे सब प्रद्युम्न जननी वृन्द को उन प्रद्युम्न को देखकर लज्जा निबन्धन रहो भजन लक्षण पलायन भी उचित है। तदीय मातृ वृन्द जो उनको देखकर पलायन करती थीं यह विवरण-इस श्लोक के पूर्व में कथित है— (भा० १०।५५।२७)

"तंदृष्ट्वा जलदश्यामं पीत कौशेय वाससम्।
प्रलम्ब बाहुं ताम्राक्षं सुस्मितं रुचिराननम् ॥"

प्रद्युम्न की जलद श्याम कान्ति, पीत कौषेय वसन, प्रलम्ब बाहु, रक्तवर्ण चक्षु, ईषद्धास्य शोभित सुन्दर वदन, नीलवर्ण कुटिल कुण्डल के द्वारा अलङ्कृत मुख कमल को देखकर रमणी वृन्द, कृष्ण प्रतीत होने पर लज्जा से लुक्कायित होती थीं। (भा० १०।५५।२८)

"स्वलङ्कृतं मुखाम्भोजं नील वक्रालिकालिभिः।
कृष्णं मत्वा स्त्रियों ह्रीता निलिल्युस्तत्र तत्र ह ॥"

प्रद्युम्न को देखकर श्रीकृष्ण रूप सादृश्य उद्दीप्त होने पर उन में केवल प्रभुत्व स्फूर्त्ति के हेतु को

स्फूर्त्तौ हेतुः—रूढ़भावा रूढ़ः श्रीकृष्णे बद्धमूलो भावः कान्तभावो यासां ताः। कदाचिदन्यत्र चेतने तत्सादृश्यातिशयेनेश्वरभावः स्फुरतु नाम, रमणभावस्तु न सर्वथेत्यर्थः। श्रीरुक्मिण्या-स्तत्सदृशवत्सलाया अन्यस्याश्चेश्वरभावोऽपि नोदयते, किन्तु सर्व्वथा पुत्रभाव एव तत्-सारूप्येणोद्दीप्तः स्यात्, यथोक्तं श्रीरुक्मिणीदेव्यैव-- (भा० १०।५५।३३) 'कथं त्वनेन सम्प्राप्तम्" इत्याद्यनन्तरम् (भा० १०।५५।३४)—

"स एव वा भवेन्नूनं यो मे गर्भे धृतोऽर्भकः।
अमुष्मिन् प्रीतिरधिका वामः स्फुरति मे भुजः॥"४८०॥ इति।

तदेवं तासामपि यत्र रमास्पदबिम्बबिम्बत्वेन तादृशी भ्रान्तिस्तत्र परममोहने रमास्पद-

---

कहते हैं—"रह रूढ़ भावाः" रूढ़ भावा—रूढ़ कृष्ण में बद्ध मूल भाव--कान्तभाव है जिनका, वे सब महिषी वृन्द कदाचित् अन्य किसी चेतन वस्तु में श्रीकृष्ण के अत्यन्त सादृश्य को देखने पर भी उन सब को ईश्वर भाव की स्फूर्त्ति होती है। किन्तु रमण भाव की स्फूर्त्ति, लेशमात्र भी नहीं होती है। श्रीरुक्मिणी का एवं उन के समान वात्सल्यवती अन्यान्य महिषी वृन्द का श्रीकृष्ण सारूप्य को देखकर ईश्वर भाव भी उदित नहीं होता है। सर्वतोभावेन वात्सल्य भाव ही उद्दीप्त होता है। उस प्रकार भावोदय की कथा को ही स्वयं श्रीरुक्मिणी ने ही भा० १० ५५।३३ में कही है—

"कथन्त्वनेन सम्प्राप्तं सारूप्यं शार्ङ्गधन्वनः।
आकृत्यावयवैर्गत्या स्वरहासावलोकनैः॥"

इसने कैसे शार्ङ्गधन्वा का सारूप्य को प्राप्त किया है। इस के बाद भा० १०।५५।३४ में उक्त है—

"स एव वा भवेन्नूनं यो मे गर्भे धृतोऽर्भकः।
अमुष्मिन् प्रीतिरधिका वामः स्फुरति मे भुजः॥"४८०॥ इति।

जिस को मैंने गर्भ में धारण किया था, यह वही होगा, इस में मेरी प्रचुर प्रीति हुई है। इस को देखकर मेरा वाम बाहु स्पन्दित हो रहा है।

रमास्पद बिम्ब बिम्ब होने के कारण प्रद्युम्न में तदीय जननी वृन्द की उक्त रूप जो भ्रान्ति दृष्ट होती है, वह प्रद्युम्न स्वयं दृष्टि गोचर होने पर अन्य नारीवृन्द को मोह सुतरां होगा।

प्रद्युम्न किस प्रकार हैं—रमास्पद बिम्ब का ही-अप्राकृत कामरूप अंश प्रद्युम्न हैं, उनका जगत् गत अंश स्मर है। वह स्मृति गत होने से भी मन क्षुब्ध होता है। इस प्रकार प्रद्युम्न स्वयं दृष्टि गोचर होने से अपर नारी गण को जो मोह होगा--यह अधिक क्या है?

सारार्थ यह है—श्रीप्रद्युम्न की आकृति अविकल श्रीकृष्ण के समान थी, इस हेतु जननी गण उनको अत्यधिक स्नेह करती थीं, एवं बारम्बार दर्शन करती थीं, उनको देखकर आकृति के सादृश्य निबन्धन--यह क्या हमारे प्रभु हैं? यह विचार कर वे छिप जाती थीं। यद्यपि प्रद्युम्न को देखकर वे कृष्ण सन्देह से लुक्कायित हो जाती थीं, तथापि यह हमारे पति हैं, इस प्रकार भावना उन में नहीं होती थी, यह उन के भाव का प्रभाव है। श्रीकृष्ण स्वरूप व्यतीत अन्यत्र श्रीकृष्ण आकृति के सादृश्य विद्यमान होने पर भी उन सब में पति बुद्धि उपस्थित नहीं हो सकती। श्रीकृष्ण एवं प्रद्युम्न की आकृति में ऐक्य विद्यमान होने पर भी पार्थक्य है। यहाँ जिनकी कथा कही गई है, उन प्रद्युम्न जननी महिषी वृन्द का श्रीकृष्ण में प्रभुभाव एवं पतिभाव उभय भाव ही विद्यमान थे। प्रद्युम्न को देखकर प्रभुभाव उपस्थित होता, पतिभाव उपस्थित

बिम्बस्यैवाप्राकृतकामरूपांशे जगद्गतनिजांशेन स्मरे स्मरणपथं गत्वापि क्षोभके, सम्प्रति तु स्वयमेवाक्षविषयतां प्राप्ते सत्यन्यनार्य्यः किमुत सुष्ठ्वेव मोहं प्राप्तुमुचिता इत्यर्थः ।। श्रीशुकः ।।

२२३ । अथोद्दीपनाः, गुणाः स्वविषयक-श्रीकृष्णवात्सल्यस्मितप्रेक्षादयः, तथा तस्य कीर्त्ति-बुद्धि-बलादीनां परममहत्त्वञ्च, तथा जाति-क्रियादयोऽपि यथायोगमवगन्तव्याः ।

अथानुभावाः,— बाल्ये मुहुस्तं प्रति मृदुवाचा स्वैरप्रश्नप्रार्थनादिकम्, तदङ्गुलिबाह्वाद्या-लम्बनेन स्थितिः, तदुत्सङ्गोपवेशः, तत्ताम्बुलचर्वितादानमित्याद्याः । अन्यदा तदाज्ञाप्रति-पालन-तच्चेष्टानुसरण-स्वैरताविमोक्षादयः । उभयत्र तदनुगतिः । सात्त्विकाश्च सर्वे । अथ

---

नहीं होता, यहाँ यह ज्ञातव्य है, यदि पतिभाव उपस्थित होता तो दोष होता ।

चेतन वस्तु में कृष्ण सादृश्य दृष्ट होने पर प्रभुभाव उपस्थित होने की जो कथा कही गई है, उसका तात्पर्य्य है-- अचेतन में उस प्रकार सादृश्य देखने से श्रीकृष्ण प्रतिमा का बोध होने का अवकाश होता, सचेतन में वैसा नहीं हो सकता है, अतः प्रभु भाव उपस्थित होता । किन्तु सब के पक्ष में यह नहीं है । रुक्मिणी एवं रुक्मिणी के समान प्रद्युम्न में स्नेह कारिणी महिषी वृन्द को कृष्ण सादृश्य को देखकर पुत्र बुद्धि होती । कारण उन सब की दृढ़ धारणा थी, उनके पुत्र-प्रद्युम्न की आकृति का ऐक्य श्रीकृष्ण की आकृति के सहित है ।

प्रद्युम्न का रूप जो नारीगण मनोहारी था--उस का वर्णन श्लोक के शेष भाग में है । सौन्दर्य्यादि में आत्महारा होकर लक्ष्मी ने जिनको एकान्त भाव ग्रहण किया है यह प्रद्युम्न श्रीकृष्ण का अप्राकृत कामरूप अंश है, अर्थात् श्रीकृष्ण का जो गुण--नारी वृन्द का चित्त को उन्मथित करता है यह प्रद्युम्न उस का मूर्त्त प्रकाश है । जो प्राकृत काम— कन्दर्प--स्मृति पथ गत होने पर चित्त विक्षुब्ध होता है, वह काम--यह प्रद्युम्न का अंश है, श्रीकृष्ण का नहीं । जिनका अंश स्मृति पथ गत होने पर चित्त विक्षुब्ध होता है, वह स्वयं दृष्टि गोचर होने से कोई भी नारी क्या स्थिर रह सकती है ? मातृ वर्ग व्यतीत आप रमणी वृन्द के सम्बन्ध में ही इस प्रकार कथा है । मातृ वर्ग का वृत्तान्त इस के पहले कहा गया है । मातृ वर्ग के मध्य में जिन के वात्सल्य भाव प्रचुर है उन में प्रद्युम्न को देखकर पुत्रभाव प्रबल होता है, जिन में यह भाव नहीं है, उन में प्रभु बुद्धि उपस्थित होती थी । इस प्रकार व्याख्या के द्वारा रसाभास दोष विदूरित किया गया है । श्रीशुकदेव कहे थे— २२२।।

२२३ । अनन्तर प्रश्रय भक्ति रस का उद्दीपन का वर्णन करते हैं—पहले कहा गया है कि गुण, जाति क्रिया, द्रव्य-प्रधान उद्दीपन हैं ।

गुण— भक्त का निज विषय में श्रीकृष्ण का वात्सल्य, स्मित दृष्टि प्रभृति एवं उनकी कीर्त्ति, बुद्धि, बलादि का परम महत्व है । जाति क्रियादि को भी यथा योग्य रूप से जानना होगा । अनुभाव-बाल्य काल में मृदु वाक्य से श्रीकृष्ण को स्वेच्छानुरूप विविध प्रश्न करना । उनके निकट से क्रीड़नकादि प्रार्थना करना उनकी अङ्गुलि--बाहु प्रभृति को अवलम्बन कर अवस्थान, उनके क्रोड़ में उपवेशन एवं उन के चर्वित ताम्बूल ग्रहणादि । बाल्य भिन्न अन्य समय में अर्थात् कैशोर यौवन समय में श्रीकृष्ण की आज्ञा पालन, तदीय चेष्टा का अनुसरण, स्वातन्त्र्य त्याग प्रभृति उभयत्र बाल्य काल एवं अन्य समय में उनका आनुगत्य ।

सात्त्विक—स्तम्भादि समुदय ।

व्यभिचारिणः पूर्व्वोक्ता एव । अथ स्थायी च प्रश्रयभक्त्याख्यः । तत्र बाल्येऽपि लाल्यताभिमानमयत्वेन प्रश्रयबीजस्य दैन्यांशस्य सद्भावात्तदाख्यत्वम् । तत्र बाल्योदाहरणमवगन्तव्यम् । अन्यदीयं यथा–(भा० १।११।१७) "निशम्य प्रेष्ठमायान्तम्" इत्यादौ, (भा० १।११।१८) –

(२२३) "प्रद्युम्नश्चारुदेष्णश्च साम्बो जाम्बवतीसुतः ।
प्रहर्षवेगोच्छसित-शयनासनभोजनाः ।।४८१।।
वारणेन्द्रं पुरष्कृत्य ब्राह्मणैः ससुमङ्गलैः ।
शङ्खतूर्य्यनिनादेन ब्रह्मघोषेण चादृताः ।।"४८२।।

"प्रत्युज्जग्मू रथैर्हृष्टाः प्रणयागतसाध्वसाः", प्रणयोऽत्र भक्तिविशेषः ।। श्रीसूतः ।।

२२४ । एवमत्र विभावादि-संवलनात्मके प्रश्रयभक्तिमये रसे पूर्ववद्योगादयोऽपि भेदाः ज्ञेयाः,–इति भक्तिमयो रसः ।

---

व्यभिचारी—पूर्वोक्त हर्ष गर्व प्रभृति । २०३ अनुच्छेद में आश्रय भक्ति रस के सञ्चारि भाव समूह का वर्णन है । स्थायी-प्रश्रय भक्ति नामक दास्यरति ।

प्रश्रय भक्तिमान् व्यक्ति गण के बाल्यमें लाल्यताभिमानमयत्व निबन्धन उनके मध्य में प्रश्रय बीज दैन्यांश विद्यमान होने के कारण, उनका स्थायिभाव प्रश्रय भक्ति नाम से अभिहित है । उससे बाल्योदाहरण ज्ञात होता है । अर्थात् लाल्याभिमान में जो दैन्यांश वर्त्तमान है, उस से ही बाल्य का परिचय प्राप्त होता है । अन्यदीय- अर्थात् प्रश्रय भक्तिमान् का बाल्य व्यतीत कैशोरादि का उदाहरण (भा० १।११।१७)

"निशम्य प्रेष्ठमायान्तं वासुदेवो महामनाः ।
अक्रूरश्चोग्रसेनश्च रामश्चाद्भुत विक्रमः ।।"

टीका– प्रेष्ठमायान्तं निशम्य श्रुत्वा वसुदेवादयः प्रत्युज्जग्मुरिति चतुर्थेनान्वयः ।

प्रियतम श्रीकृष्ण का हस्तिनापुर से द्वारका गमन को सुनकर भा० १।११।१८ में उक्त है ।

(२२३) "प्रद्युम्नश्चारुदेष्णश्च साम्बो जाम्बवतीसुतः ।
प्रहर्षवेगोच्छसित–शयनासनभोजनाः ।।४८१।।
वारणेन्द्रं पुरष्कृत्य ब्राह्मणैः ससुमङ्गलैः ।
शङ्खतूर्य्यनिनादेन ब्रह्मघोषेन चादृताः ।।"४८२।।

प्रद्युम्न, चारुदेष्ण एवं जाम्बवतीनन्दन साम्ब आनन्द से शयन, उपवेशः।, भोजन परित्याग पूर्वक प्रधान हस्ती, माङ्गलिक द्रव्यधारी ब्राह्मण, शङ्खतूरिध्वनि, वेद ध्वनि एवं रथ समूह के सहित प्रत्युद्गमन हेतु आदर पूर्वक अग्रसर हुये थे । वे हर्ष एवं प्रणय हेतुक सम्भ्रम युक्त हुये थे। यहाँ–प्रणय शब्द से भक्ति विशेष को जानना होगा ।

प्रवक्ता श्रीसूत हैं । २२३।।

२२४ । इस प्रकार विभावादि सम्बलनात्मक प्रश्रय भक्तिमय रस में पूर्ववत् योगादि भेद भी हैं । यहाँ तक भक्तिमय रस का वर्णन हुआ ।

### वात्सल्य रस

अनन्तर वात्सल्यमय वत्सलाख्य रस वर्णित हो रहा है । उस में आलम्बन -लाल्य रूप में स्फूर्त्तिमान

अथ वात्सल्यमयो वत्सलाख्यो रसः । तत्रालम्बनः,—लाल्यत्वेन स्फुरन् वात्सल्यविषयः श्रीकृष्णस्तदाधारास्तत्पित्रादिरूपा गुरवश्च । तत्र श्रीकृष्णः श्रीमन्नराकार एव । अथ गुरवः,- तत्र भक्त्यादिमिश्राः श्रीवसुदेव-देवकी-कुन्तीप्रभृतयः । शुद्धास्तु श्रीयशोदा-नन्द-तत्-सवयोबल्लवी-वल्लवप्रभृतयः । स्वाभाविकं चैषां वात्सल्योपयोगि वैदग्ध्यम् (भा० १०।६।२१)

"गोप्यः संस्पृष्टसलिला अङ्गेषु करयोः पृथक् ।
न्यस्यात्मन्यथ बालस्य बीजन्यासमकुर्वत ॥"४८३॥

इत्यादिभिः स्पष्टम् । अथोद्दीपनेषु गुणाः, तत्र प्रथमतस्तस्य तदीयलाल्यभावमाह, (भा० १०।९।४)—

(२२४) "तां स्तन्यकाम आसाद्य मथ्नन्तीं जननीं हरिः ।
गृहीत्वा दधिमन्थानं न्यषेधत् प्रीतिमावहन् ॥"४८४॥

स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

२२५ । एवम् (भा० १०।४५।२) —

(२२५) "उवाच पितरावेत्य साग्रजः सात्वतर्षभः ।
प्रश्रयावनतः प्रीणन्नम्ब तातेति सादरम् ॥"४८५॥

---

वात्सल्य का विषय श्रीकृष्ण है, वात्सल्य का आधार पित्रादि रूप गुरुवर्ग हैं, उस में नराकार श्रीकृष्ण ही आलम्बन हैं। गुरुवर्ग—श्रीवसुदेव, देवकी, कुन्ती प्रभृति का भक्त्यादि मिश्र वत्सल भाव है, एवं श्रीनन्द यशोदा, एवं उनके समवयस्क गोप गोपी प्रभृति का शुद्ध वत्सल भाव है। इन सब की स्वाभाविक वात्सल्योपयोगी वैदग्धी—पूतना बध के पश्चात् उस के वक्षः से श्रीकृष्ण को लाकर गोपी गण सलिल स्पर्श आचमन पूर्वक निज अङ्ग में हस्तद्वय में बीज न्यास करके बालक श्रीकृष्ण के अङ्ग समूह में बीजन्यास किये थे। इत्यादि श्लोकों में सुस्पष्ट वर्णित है।

उद्दीपन समूह के मध्य में गुण—प्रथमतः श्रीकृष्ण के एवं तदीय लीलाभावोचित गुण के सम्बन्ध में भा० १०।६।२१ में उक्त है—

"गोप्यः संस्पृष्टसलिला अङ्गेषु करयोः पृथक् ।
न्यस्यात्मन्यथ बालस्य बीजन्यासमकुर्वत ॥"४८३॥

उद्दीपन समूह के प्रथम में मध्य में गुण का वर्णन भा० १०।९.४ में है—

(२२४) "तां स्तन्यकाम आसाद्य मथ्नन्तीं जननीं हरिः ।
गृहीत्वा दधिमन्थानं न्यषेधत् प्रीतिमावहन् ॥"४८४॥

स्तन्य काम हरि दधिमन्थन कारिणी जननी के निकट उपस्थित होकर मन्थनदण्ड धारण करके प्रीत्युत्पादन पूर्वक उनको निषेध किये थे। श्रीशुक कहे थे ॥२२४॥

२२५। इस प्रकार अग्रज श्रीबलराम के सहित सात्वत श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण माता पिता के निकट उपस्थित होकर कहे थे—हे मातः! हे पितः, माता पिता--देवकी वसुदेव। प्रीणन्--प्रीणयन् यह आर्ष प्रयोग है। उस का अर्थ है—प्रीति साधन पूर्वक।

(भा० १०।४५।१०) "इति मायामनुष्यस्य" इत्यन्तम्, पितरौ श्रीदेवकी-वसुदेवौ, प्रीणन् प्रीणयन् ॥ श्रीशुकः ॥

२२६-२२९। अथ शैशवचापल्यमाह, (भा० १०।८।२५) —

(२२६) "शृङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यसि-जल-द्विज-कण्टकेभ्यः
क्रीड़ापरावतिचलौ स्वसुतौ निषेद्धुम् ।
गृह्याणि कर्त्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ
शेकात आपतुरलं मनसोऽनवस्थाम् ॥"४८६॥

तथा (भा० १०।८।२८) —

(२२७) "कृष्णस्य गोप्यो रुचिरं वीक्ष्य कौमारचापलम् ।
शृण्वन्त्याः किल तन्मातुरिति होचुः समागताः ॥"४८७॥

(भा० १०।८।२९) "वत्सान्मुञ्चन् क्वचिदसमये" इत्यादि, गोप्यश्चेमाः श्रीव्रजेश्वर्याः

---

(२२५) (भा० १०।४५।२) "उवाच पितरावेत्य साग्रजः सात्वतर्षभः ।
प्रश्रयावनतः प्रीणन्नम्ब तातेति सादरम् ॥"४८१॥
श्रीशुक कहे थे— २२५॥

२२६-२२९। अनन्तर शैशव चापल्य का वर्णन करते हैं—भा० १०।८।२५ में उक्त है—

(२२६) "शृङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यसि-जल-द्विज-कण्टकेभ्यः
क्रीड़ापरावतिचलौ स्वसुतौ निषेद्धुम् ।
गृह्याणि कर्त्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ
शेकात आपतुरलं मनसोऽनवस्थाम् ॥"४८६॥

यशोदा रोहिणी के पुत्रद्वय श्रीकृष्ण बलराम--अतिशय चपल एवं क्रीड़ासक्त होने पर शृङ्गी वृषादि दंष्ट्री--कुकुर वानरादि, सर्प पक्षी, अग्नि, जल एवं कण्टक से निवारण कर रखने में किम्बा गृह कर्म करने में जननीद्वय असमर्थ हो गई थीं। सुतरां उनके अन्तःकरण अनवस्थित हो गया था।

उस प्रकार भा० १०।८।२८ में उक्त है—

(२२७) "कृष्णस्य गोप्यो रुचिरं वीक्ष्य कौमार चापलम् ।
शृण्वन्त्याः किल तन्मातुरिति होचुः समागताः ॥"४८७॥

गोपी गण-श्रीकृष्ण के मनोहर बाल्य चापल्य को अवलोकन कर उनकी मा के निकट सब आ गईं थीं। मा, कृष्ण के चापल्य की कथा को सुनने की अभिलाषिणी थीं, गोपी गण उनके निकट बोलीं–तुम्हारे कृष्ण-असमय में वत्स समूह को छोड़ देता है। इत्यादि।

यहाँ जिन गोपियों की कथा कही गई है, वे व्रजेश्वरी की समवयस्का, आत्मीया एवं श्रीकृष्ण की प्रौढ़ा भ्रातृबन्धू गण थीं, कौमार काल को छोड़कर अन्य समय में विनय, लज्जा, प्रियम्वदत्व, सारल्य, दातृत्व प्रभृति गुण श्रीकृष्ण में शोभित होते हैं। उस के मध्य में विनय का उदाहरण (भा० १०।८२।३४) कुरुक्षेत्र यात्रा प्रसङ्ग में उक्त है— "कृष्णरामौ परिष्वज्य पितरावभिवाद्य च ।
न किञ्चनोचतुः प्रेम्णा साश्रुकण्ठौ कुरूद्वह ॥"

सवयसः सम्बन्धिन्यः श्रीकृष्णस्यैव प्रौढ़भ्रातृजायाश्च। अन्यदा प्रश्रयो लज्जा, प्रियम्बदत्वम्, सारल्यम्, दातृत्वमित्यादयः। तत्राद्योदाहरणं कुरुक्षेत्रयात्रायाम्--(भा० १०।८२।३४) "कृष्णरामौ परिष्वज्य पितरावभिवाद्य च" इत्यादिकम्। अतो बालत्वेन मतत्वादिन्द्रमखप्रसङ्गे प्रागल्भ्यमपि तेषां सुखदम्। कान्त्यवयववयसां सौन्दर्यं सर्वसल्लक्षणत्वं पूर्णकैशोरपर्य्यन्तं वृद्धिरित्यादयस्तु सर्वदैव। तत्रान्त्या यथा (भा० १०।८।२१) —

(२२८) "कालेन व्रजता तात गोकुले रामकेशवौ।
जानुभ्यां सह पाणिभ्यां रिङ्गमाणौ विजह्रतुः॥"४८८॥ इत्यादि,

तथा (भा० १०।८।२६) —

(२२९) "कालेनाल्पेन राजर्षे रामः कृष्णश्च गोकुले।
अघृष्टजानुभिः पद्भिर्विचक्रमतुरोजसा॥"४८९॥

स्पष्टम्॥ सः॥

२३०। तथा (भा० १०।१५।१) "ततश्च पौगण्डवयःश्रितौ व्रजे, बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ" इत्यादि। स्पष्टम्॥ सः॥

२३१। जातिस्तु पूर्वोक्ता, क्रियाश्च जन्म-बाल्यक्रीड़ादयः, तत्र (भा० १०।५।१) "नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने" इत्यादिना जन्म दर्शितम्। बाल्यक्रीड़ामाह, (भा० १०।८।२२) —

---

हे कुरु श्रेष्ठ! श्रीकृष्ण बलराम--मातापिता व्रजराज दम्पति को आलिङ्गन एवं अभिवादन किये थे, उस समय प्रेम से उनके कण्ठ वास्परुद्ध होने के कारण कहने में असमर्थ थे। अतएव इन्द्रयाग प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण, व्रजराज प्रभृति के सम्मुख में प्रगल्भता प्रकाश करने पर भी वे उनको बालक माने थे, अतः उक्त प्रागल्भ्य उनको सुखद हुआ था।

कान्ति—अवयव समूह का सौन्दर्य, सर्वसल्लक्षणत्व, पूर्ण कैशोर पर्य्यन्त वृद्धि इत्यादि गुण सर्वदा वर्त्तमान हैं। उस के मध्य में कान्ति का वर्णन—भा० १०।८।२१ में है—

(२२८) "कालेन व्रजता तात गोकुले रामकेशवौ।
अघृष्ट जानुभिः पद्भिर्विचक्रमतुरोजसा।"४८८॥

काल क्रम से व्रजराज के गोकुल में रामकृष्ण भ्रातृ युगल हस्तद्वय एवं पदद्वय के द्वारा घुटरून चलकर विहार करने लगे थे। प्रवक्ता श्रीशुक है—२२६॥

भा० १०।८।२६ में उक्त है—

(२२९) "कालेनाल्पेन राजर्षे रामः कृष्णश्च गोकुले।
अघृष्टजानुभिः पद्भिर्विचक्रमतुरोजसा॥"४८९॥

२३०। उस प्रकार भा० १०।१५।१ में उक्त है---"ततश्च पौगण्डवयः श्रितौ व्रजे,
बभूवतुस्तौ पशुपाल सम्मतौ"

तदनन्तर रामकृष्ण, पौगण्ड वयः क्रम प्राप्त होने से श्रीव्रजराजादि कर्त्तृक पशु पालन कार्य्य में उपयुक्त

"तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ, घोषप्रघोषरुचिरं व्रजकर्दमेषु ।
तन्नादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकं, मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रोः ।।"४९०।।

इत्यादि, (भा० १०।८।२४) —

(२३१) "यर्ह्यङ्गना-दरशनीयकुमारलीला-,रन्तर्व्रजे तदबलाः प्रगृहीतपुच्छैः ।
वत्सैरितस्तत उभावनुकृष्यमाणौ, प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहा जहृषुर्हसन्त्यः ।।"४९१।।

स्पष्टम् ।। सः ।।

२३२। आदि-ग्रहणात् पौगण्डादौ मान्यमाननादयोऽपि ज्ञेयाः । अथ द्रव्याणि च तत्-क्रीड़ाभाण्डवसनादीनि, कालाश्च तज्जन्मदिनादयः, तत्र जन्मदिनं यथा (भा० १०।७।४)—

(२३२) "कदाचिदौत्थानिककौतुकाप्लवे, जन्मर्क्षयोगे समवेतयोषिताम् ।
वादित्र-गीत-द्विजमन्त्रवाचनै-,श्चकार सूनोरभिषेचनं सती ।।"४९२।। इत्यादि ।

स्पष्टम् ।। सः ।।

---

विवेचित हुये थे ।　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　वक्ता श्रीशुक हैं ।।२३०।।

२३१। जाति—पूर्वोक्त गोपत्वादि। क्रिया—जन्म, बाल्य क्रीड़ादि । उस में भा० १०।५।१ में जन्म का वर्णन है— "नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादोमहामनाः ।"

आत्मज उत्पन्न होने पर उदारचित्तनन्द अतिशय आनन्दित हुये थे। बाल्य क्रीड़ा का वर्णन भा० १०।८।२२ में है— "तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ, घोषप्रघोषरुचिरं व्रजकर्दमेषु ।
तन्नादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकं, मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रोः ।।"४९०।।

श्रीराम कृष्ण—निज निज चरण युगल को आकर्षण करते करते कुटिल गति से कटि एवं चरण भूषण के निनाद के सहित मनोहर रूपमें बारंबार गमन करते थे। उस ध्वनि से उनका मानस हृष्ट होता। कभी कभी इतस्ततः गमन कारी लोक के पश्चात् पश्चात् कुछ दूर गमन कर मुग्ध एवं प्रभीत के समान जननीद्वय के समीप में प्रत्यागमन करते थे। अनन्तर भा० १०।८।२४ में उक्त है—

(२३१) यर्ह्यङ्गना-दरशनीयकुमारलीला ,रन्तर्व्रजे तदबलाः प्रगृहीतपुच्छैः ।
वत्सैरितस्तत उभावनुकृष्यमाणौ, प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहा जहृषुर्हसन्त्यः ।।"४९१।।

जिस समय कुमारद्वय की लीला व्रजाङ्गनागण के दर्शन योग्य हुई, उस समय वत्स वृन्द के पुच्छ धारण करके क्रीड़ा करने लगे थे। उस से वत्सवृन्द इतस्तत धावित होने पर पुच्छ धारण कर वे आकृष्ट होते थे। उसे देखकर व्रजाङ्गना गण कौतुक वशतः—गृह कर्म्म विस्मृत होकर आनन्द से हास्य करती थीं।
प्रवक्ता श्रीशुक हैं—२३१।।

२३२। क्रिया रूप उद्दीपन निर्देश में—"बाल्यक्रीड़ादि" पद में जो आदि शब्द का प्रयोग हुआ है, उस से पौगण्डादि वयस में मान्यजन के सम्माननादि को भी जानना आवश्यक है। द्रव्य रूप उद्दीपन—उनके-क्रीड़ा भाण्ड, वसनादि हैं। काल-उनके जन्मदिनादि हैं। उस के मध्य में जन्मदिन का वर्णन भा० १०।७।४ में है। (२३२) 'कदाचिदौत्थानिककौतुकाप्लवे, जन्मर्क्षयोगे समवेतयोषिताम् ।
वादित्र-गीत-द्विजमन्त्रवाचनै,-श्चकार सुनोरभिषेचनं सती ।।"४९२।।

श्रीकृष्ण के अङ्ग परि वर्त्तन का उत्सवाभिषेक में एवं जन्म नक्षत्र योग में एक समय महोत्सव

२३३। अथानुभावेषूद्भास्वराः, तत्र लालनम् (भा० १०।१५।४४-४६) —

(२३३) "तयोर्यशोदारोहिण्यौ पुत्रयोः पुत्रवत्सले ।
यथाकालं यथाकामं व्यधत्तां परमाशिषः ॥"४६३॥
गताध्वानश्रमौ तत्र मज्जनोन्मर्दनादिभिः ।
नीवीं वसित्वा रुचिरां दिव्यस्रग्गन्धमण्डितौ ॥४६४॥
जनन्युपहृतं प्राश्य स्वाद्वन्नमुपलालितौ ।
संविश्य वरशय्यायां सुखं सुषुपतुर्व्रजे ॥"४६५॥

स्पष्टम् ॥ सः ॥

२३४। शिरोघ्राणम् (भा० १०।६।४३) —

(२३४) "नन्दः स्वपुत्रमादाय प्रोष्यागतमुदारधीः ।
मूर्द्ध्न्यवघ्राय परमां मुदं लेभे कुरुद्वह ॥"४६६॥

स्पष्टम् ॥ सः ॥

---

उपस्थित हुआ, उस समय समस्त व्रज पुरन्ध्री वृन्द उपस्थित हुई थीं। श्रीयशोदा उन सब को लेकर गीत, वाद्य एवं ब्राह्मण पण्डित मन्त्र के सहित शिशु का अभिषेक कार्य्यानुष्ठान सम्पन्न करी थीं।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥२३२॥

२३३। अनन्तर वात्सल्य रस के अनुभाव समूह के मध्य में उद्भास्वर का वर्णन करते हैं। लालन, शिरोघ्राण, आशीर्वाद, हितोपदेश दान, हित प्रवर्त्तनार्थ तर्जन, प्रस्तोभन जन्य वृथा हास्य, दुष्टजीवादि से अनिष्ट शङ्का, एवं तत् कार्य्य में प्रकारान्तर भावना को उद्भास्वर कहते हैं। लालन का उदाहरण भा० १०।१५।४४-४६ में है।

(२३३) 'तयोर्यशोदारोहिण्यौ पुत्रयोः पुत्रवत्सले ।
यथाकालं यथाकामं व्यधत्तां परमाशिषः ॥"४६३॥
गताध्वानश्रमौ तत्र मज्जनोन्मर्दनादिभिः ।
नीवीं वसित्वा रुचिरां दिव्यस्रग्गन्धमण्डितौ ॥४६४॥
जनन्युपहृतं प्राश्य स्वाद्वन्नमुपलालितौ ।
संविश्य वरशय्यायां सुखं सुषुपतुर्व्रजे ॥"४६५॥

पुत्रवत्सला यशोदा एवं रोहिणी देवी समय एवं इच्छानुरूप पुत्रद्वय के उत्कृष्ट उपभोग समूह का सम्पादन करती थीं। गोचारण से गृहागमन के पश्चात् स्नान-अङ्गमर्दनादि द्वारा राम कृष्ण का पथ श्रम विदूरित होने पर मनोरम वसन परिधान किये थे, एवं दिव्य माल्य गन्ध से भूषित हुये थे। उसके पश्चात् जननी सुस्वादु अन्न आनयन करने पर भोजन कर रमणीय शय्या में शयन पूर्वक सुख निद्रानुभव किये थे।

श्रीशुकदेव कहे थे—२३३॥

२३४। भा० १०।६।४३ में उक्त है—

(२३४) "नन्दः स्वपुत्रमादाय प्रोष्यागतमुदारधीः ।
मूर्द्ध्न्यवघ्राय परमां मुदं लेभे कुरुद्वह ॥"४६६॥

२३५। आशीर्वादः (भा० १०।५।१२) —

(२३५) "ता आशिषः प्रयुञ्जानाश्चिरं जीवेति बालके।
हरिद्राचूर्णतैलाद्भिः सिञ्चन्त्योऽजनमुज्जगुः ॥"४९७॥

स्पष्टम्। सः।

२३६। हितोपदेशदानम् (भा० १०।११।१५)—

(२३६) "कृष्ण कृष्णारविन्दाक्ष तात एहि स्तनं पिब।
अलं विहारैः क्षुत्क्षान्तस्तद्भवान् भोक्तुमर्हति ॥"४९८॥ इत्यादि।

स्पष्टम्। श्रीव्रजेश्वरी श्रीकृष्णम्।

२३७। इदमखिलं साधारणवत्सलानामपि स्यात्, पित्रोस्तु विशेषतः। तत्र हितप्रवर्त्तनार्थ-तर्जनादिकं यथा (भा० १०।८।३२।३४)—

(२३७) "एकदा क्रीड़मानास्ते राम द्या गोपदारकाः।
कृष्णो मृदं भक्षितवानिति मात्रे न्यवेदयन् ॥४९९॥
सा गृहीत्वा करे पुत्रमुपालभ्य हितैषिणी।
यशोदा भयसंभ्रान्तप्रेक्षणाक्षमभाषत ॥५००॥

---

हे कुरु श्रेष्ठ ! उदार बुद्धि नन्द प्रवास---मथुरा से आकर निज पुत्र को क्रोड़ में स्थापन किये थे। एवं मस्तकाघ्राण लेकर परमानन्दित हुये थे। प्रवक्ता श्रीशुक हैं--२३४॥

२३५। आशीर्वाद--भा० १०।५।१२ में उक्त है—

(२३५) "ता आशिषः प्रयुञ्जानाश्चिरं जीवेति बालके।
हरिद्राचूर्णतैलाद्भिः सिञ्चन्त्योऽजनमुज्जगुः ॥"४९७॥

गोपी गणोंने नन्द भवन में आगमन कर 'चिरजीवी हो, यह कह कर श्रीकृष्ण को आशीर्वाद किया। अनन्तर परस्पर हरिद्रा चूर्ण, तैल एवं जल सिञ्चन करके उच्चैः स्वर से भगवान् के गुण गान किया।
प्रवक्ता श्रीशुकदेव हैं—२३५॥

२३६। हितोपदेशदान—भा० १०।११।१५ में है---

(२३६) "कृष्ण कृष्णारविन्दाक्ष तात एहि स्तनं पिब।
अलं विहारैः क्षुत्क्षान्तस्तद्भवान् भोक्तुमर्हति ॥"४९८॥

जिस समय श्रीकृष्ण बलराम बालक गण के सहित यमुनातीर में क्रीड़ा कर रहे थे। उस समय यशोदा दूर से बुलाकर कहने लगीं. हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे कमल नयन ! तात बाप ! आओ, स्तन पिओ, खेलना बन्द करो, भूक से श्रान्त हो गये हो, अब भोजन करना चाहिये।
व्रजेश्वरी श्रीकृष्ण को कही थीं ॥२३६॥

२३७। लालनादि जो सब अनुभाव की कथा कही गई हैं। वे सब साधारण वत्सल गणमें भी रहते हैं। उस में हित साधन निबन्धन माता पिता के द्वारा तर्ज्जनादि भा० १०।८।३२-३४ में है।

(२३७) "एकदा क्रीड़मानास्ते रामाद्या गोपदारकाः।
कृष्णो मृदं भक्षितवानिति मात्रे न्यवेदयन् ॥४९९॥

कस्मान्मृदमदान्तात्मन् भवान् भक्षितवान् रहः ।
वदन्ति तावका ह्येते कुमारास्तेऽग्रजोऽप्ययम् ॥"५०१॥

स्पष्टम् । सः ।

२३८ । यथा च दधिमण्डभाजनभेदनादि-चापल्यानन्तरम् (भा० १०।९।११-१२)—

(२३८) "कृतागसं तं प्ररुदन्तमक्षिणी, कषन्तमञ्जन्मषिणी स्वपाणिना ।
उद्वीक्षमाणं भयविह्वलेक्षणं, हस्ते गृहीत्वा भिषयन्त्यवागुरत् ॥५०२॥
त्यक्त्वा यष्टिं सुतं भीतं विज्ञायार्भकवत्सला ।
इयेष किल तं बन्धुं दाम्नाऽतद्वीर्य्यकोविदा ॥"५०३॥

स्पष्टम् । सः ।

२३९-२४० । अथ तर्ज्जन-विस्वादौषधपायनादिवत्तद्वात्वभवं तत्सुखमप्यतिक्रम्यायति-

---

सा गृहीत्वा करे पुत्रमुपालभ्य हितैषिणी ।
यशोदा भयसंभ्रान्तप्रेक्षणाक्षमभाषत ॥५००॥
कस्मान्मृदमदान्तात्मन् भवान् भक्षितवान् रहः ।
वदन्ति तावका ह्येते कुमारास्तेऽग्रजोऽप्ययम् ॥"५०१॥

एकदिन बलराम प्रभृति बालकगण खेल रहे थे । उस के मध्य में कतिपय बालक श्रीयशोदा के निकट आकर कहे थे—कृष्णने मिट्टी खाई है ।

हितैषिणी यशोदा क्रीड़ास्थान में जाकर पुत्र का हाथ पकड़ लिये । जननी के भय से श्रीकृष्ण के नयन युगल व्याकुल हो गये थे । उस समय उस को यशोदा कहने लगीं ।

हे असंयतेन्द्रिय ! आपने एकान्त में छिपकर क्यो मिट्टी खाई ? तुम्हारे साथी ये बालक गण कह रहें हैं, एवं तेरा अग्रज राम भी यह बात कह रहा है । 'तु' 'वा' 'तुम' शब्द प्रयोग के स्थान में 'भवत्' शब्द प्रयोग करने से तिरस्कार होता है । प्रवक्ता श्रीशुकदेव हैं ।।२३७।।

२३८ । अनन्तर दधिमण्ड भाजन भञ्जन रूप चापल्यादि का वर्णन भा० १०।९।११--१२ में है—

(२३८) "कृतागसं तं प्ररुदन्तमक्षिणी, कषन्तमञ्जन्मषिणी स्वपाणिना ।
उद्वीक्षमाणं भयविह्वलेक्षणं, हस्ते गृहीत्वा भिषयन्त्यवागुरत् ॥५०२॥
त्यक्त्वा यष्टिं सुतं भीतं विज्ञायार्भकवत्सला ।
इयेष किल तं बन्धुं दाम्नाऽतद्वीर्य्यकोविदा ॥"५०३॥

दधिमण्ड भाण्ड भञ्जन रूप चापल्य के पश्चात् दधि भाण्ड भञ्जन कर श्रीकृष्ण जननी के निकट अपराधी हुये थे, अतः जननी के भय से भीत होकर रोदन करने लगे थे । अश्रु सलिल से नयन का कज्जल विगलित हो गया । कृष्ण वामहस्त के पृष्ठ देश के द्वारा नयन मार्ज्जन करने लगे । उनके नयन भय विह्वल हो गये थे । एवं कातर भाव से ऊद्ध्र्वदिक् को देख रहे थे । यशोदा उनको भय दिखाने के निमित्त हस्त धारण पूर्वक भर्त्सन करने लगी थीं । अनन्तर पुत्र को भीत देखकर सन्तान वत्सला श्रीयशोदा प्रहार करने निमित्त ग्रहीत यष्टि को परित्याग कर दिये एवं प्रभावानुसन्धान रहिता जननी ने पुत्र को बँधने की इच्छा की । वक्ता श्रीशुकदेव हैं ।।२३८।।

भद्रायैतत् समृद्धये चेष्टा यथा (भा० १०।९।५)—

(२३९) "तमङ्कमारूढमपाययत् स्तनं, स्नेहस्नुतं सस्मितमीक्षती मुखम् ।
अतृप्तमुत्सृज्य जवेन सा ययाऽ-,वुत्सिच्यमाने पयसि त्वधिश्रिते ॥"५०४॥

(भा० १०।१४।३५) "यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्म तनय-प्राणाशयास्त्वत्कृते" इत्यनेन कैमुत्य-प्राप्तेस्तद्गृह-सम्पत्तिसम्पादनप्रयत्नस्तु सुतरामेव तदायति-समृद्ध्यर्थ एव । तत्र गोपजातीनां सत्यपि महासम्पत्त्यन्तरे तत्कारणे च दुग्धहेतुक-सम्पत्त्यर्थमेव महानाग्रहः स्वाभाविकः । तस्मादायतीय-तत्सम्पत्तिवर्द्धनार्थं दुग्ध-रक्षायामौत्सुक्यमिदं वात्सल्यविलसितमेव सत्वात्-सल्यं पुष्णाति,—समुद्रमिव तरङ्गसङ्घः । अत्र तस्या हृदयमीदृशम्,—अयं स्वसम्पत्तिरक्षां न जानाति, ततः सम्प्रति मदेककर्त्तव्यासाविति । अत्र च स्नेहस्नुतमिति स्वाभाविक-गाढ़स्नेह दर्शयित्वा तथैव सूचितम् । एवं तत्कृते दधिमण्डभाण्डभङ्गेऽपि तस्या वहिरेव कोपाभासो

---

२३९-२४०। सन्तान के हित हेतु तर्ज्जन एवं विस्वाद औषध पान कराने के समान आत्मोत्थ श्रीकृष्ण सुख को अतिक्रम करके भी उनकी जीवन रक्षक सामग्री रक्षाहेतु एवं समृद्धि हेतु वत्सल की चेष्टा भी अनुभाव है । भा० १० ९।५ में उदाहरण—(२३९)

"तमङ्कमारूढमपाययत् स्तनं, स्नेहस्नुतं सस्मितमीक्षती मुखम् ।
अतृप्तमुत्सृज्य जवेन सा ययाऽ-वुत्सिच्यमाने पयसि त्वधिश्रिते ।"५०४॥

क्रोड़ में आरूढ़ श्रीकृष्ण के सस्मित वदन को निरीक्षण करते करते यशोदा उनको जिस स्तन से स्नेह हेतु दुग्ध क्षरित हो रहा था । उस को पान करा रही थी । उस समय प्रज्ज्वलित चुल्ली के ऊपर जो दुग्ध भाण्ड था अग्नि ताप से उस से दुग्ध उछल कर गिर रहा था, यह देखकर अतृप्त अवस्था में श्रीकृष्ण को परित्याग करके अति वेग से मा यशोदा चुल्ली के समीप में चली गई भा० १०।१४।३५ में ब्रह्मा-व्रज जन के प्रीत्युत्कर्ष वर्णन प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण को कहे थे— "यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्म तनय-प्राणाशयास्त्वत्कृते" जिन के गृह, अर्थ सुहृद, प्रिय, आत्मा, तनय, प्राण, आशय सब कुछ आप के निमित्त ही हैं । इस से प्रमाणित होता है कि श्रीव्रजेश्वरी का गृह सम्पत्ति सम्पादन प्रयत्न--अवश्य ही श्रीकृष्ण को आयोन्नति हेतु है— इस में संशय नहीं है । उस में भी गोप जाति--श्रीकृष्ण हेतु अन्य महा सम्पत्ति विद्यमान होने पर भी दुग्ध से जो सम्पत्ति होती है— उस सम्पत्ति हेतु उनका महान् आग्रह स्वाभाविक है । सुतरां उपस्थित सम्पत्ति वृद्धि हेतु दुग्ध रक्षा हेतु यह आग्रह वत्सलय की चेष्टा विशेष है । तरङ्ग समूह जिस प्रकार समुद्र की वृद्धि को प्रतीति कराती हैं । उक्त चेष्टा भी उस प्रकार वात्सल्य को पुष्ट करती है । इस सम्बन्ध में श्रीव्रजेश्वरी का मनोभाव इस प्रकार है—यह शिशु सम्प्रति निज सम्पत्ति रक्षा करना नहीं जानता है । सुतरां उस की सम्पत्ति रक्षा हेतु यत्न करना मेरा कर्त्तव्य है ।

व्रजेश्वरी प्रीति हीना हेतु श्रीकृष्ण को अनादर करके दुग्ध रक्षा हेतु यत्नवती हुई थीं— यह नहीं है, श्रीव्रजेश्वरी में ही वात्सल्य प्रीति की परावधि है । वात्सल्य का अनुभाव विशेष ही है— श्रीकृष्ण संयोग से स्तन से दुग्ध क्षरण । श्रीकृष्ण, स्तन पान में प्रवृत्त होने से ही श्रीव्रजेश्वरी के स्तनसे दुग्ध क्षरित हुआ था । तज्जन्य उस श्लोक में कहा गया है—'स्नेह स्नुतं स्तनं अपाययत्" स्नेह से क्षरित स्तन पान करायी थीं । इस से स्वाभाविक गाढ़ स्नेह प्रदर्शन कर श्रीकृष्ण को सम्पत्ति रक्षा हेतु ही है— श्रीयशोदा की यह चेष्टा

दर्शितः, मनसि तु प्रबल चापल्यदर्शनेन हर्ष एव, यथाह (भा० १०।९।७)—

(२४०) "उत्तार्य्य गोपी सुशृतं पयः पुनः, प्रविश्य संदृश्य च दध्यमत्रकम् ।
भिन्नं विलोक्य स्वसुतस्य कर्म्म त-, ज्जहास तं चापि न तत्र पश्यती ॥"५०५॥

स्पष्टम् । सः ।

२४१ । अथ दुःखेऽपि तत्प्रस्तोभनार्थं मृषाहास्यादिकमपि यथा (भा० १०।११।६) —

(२४१) "उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं स्वमात्मजम् ।
विलोक्य नन्दः प्रहसद्वदनो विमुमोच ह ॥"५०६॥

प्रहसद्वदनमिति तु पाठः क्वचित् । सः ।

२४२ अथ दुष्टजीवादिभ्योऽनिष्टशङ्कामाह, (भा० १०।३।२९) —

(२४२) "जन्म ते मय्यसौ पापो मा विद्यान्मधुसूदन ।
समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः ॥५०७॥

---

उस को सूचित करती है । इसी प्रकार श्रीकृष्ण कर्त्तृक दधि भाण्ड भङ्ग में भी उन्होंने बाहर कोपाभास दिखाया, श्रीकृष्ण चापल्य को देखकर किन्तु उनको आनन्द ही हुआ था । भा० १०।९।७ में उक्त है—

(२४०) "उत्तार्य्य गोपी सुशृतं पयः पुनः, प्रविश्य संदृश्य च दध्यमत्रकम् ।
भिन्नं विलोक्य स्वसुतस्य कर्म्म त,-ज्जहास तं चापि न तत्र पश्यती ॥५०५॥

यशोदा चुल्ली से सुतप्त दुग्ध अवतारण पूर्वक पुनर्वार दधि मन्थन स्थान में आकर देखी थीं, दधि मण्ड भाण्ड भग्न हुआ है । यह कर्म निज पुत्र का ही है, यह उनको निश्चित हुआ । किन्तु पुत्र को वहाँ देख नहीं पाईं । इस से हँसकर कहने लगी थीं । प्रवक्ता श्रीशुकदेव हैं ॥२४०॥

२४१ । अनन्तर दुःख में भी श्रीकृष्ण को भूलाने के निमित्त मिथ्या हास्यादि भी वात्सल्य का जो अनुभाव है—उस का उदाहरण भा० १०।११।६ के पद्य के द्वारा प्रस्तुत करते हैं ।

(२४१) 'उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं स्वमात्मजम् ।
विलोक्य नन्दः प्रहसद्वदनो विमुमोच ह ॥"५०६॥

यमलार्ज्जुन भञ्जन के पश्चात् उस वृक्ष के पतन शब्द से श्रीकृष्ण की अनिष्ट शङ्का से अधीर होकर व्रजराज आकर देखे थे, श्रीकृष्ण-उदूखल में बद्ध हैं, एवं उदूखल को आकर्षण कर विचरण कर रहे हैं, यह देखकर नन्द दुःखी होने पर भी श्रीकृष्ण उनको देखकर जननी के द्वारा भर्त्सन, ताड़न, बन्धन हेतु अधीर होकर रोदन करेंगे यह सोचकर नन्द श्रीकृष्ण को उस सब को, भूलाने के निमित्त हँसे थे । "रज्जुबद्ध निज पुत्र उदूखल आकर्षण कर रहा है, देखकर हास्य मुख नन्द उसको बन्धन मुक्त किये थे । किसी किसी ग्रन्थ में "प्रहसद् वदनः" के स्थान में "प्रहसद् वदनं" पाठ है । उस से यह पद श्रीकृष्ण का विशेषण होता है । इस प्रकार पाठान्तर में अर्थ होता है कि उदूखलाकर्षण से जो खड़त् खड़त् शब्द होता था, वही श्रीकृष्ण के हास्य का कारण है । प्रवक्ता श्रीशुक हैं—२४१॥

४४२ । दुष्ट जीवादि से अनिष्ट शङ्का भी वात्सल्य का अनुभाव है—उसका उदाहरण-भा० १०।३।२९ में है— (४४२) 'जन्म ते मय्यसौ पापो मा विद्यान्मधुसूदन ।
समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः ॥"५०७॥

स्पष्टम् । श्रीदेवकी ।

२४३ । एवं (भा० १०।८।२५) "शृङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यहिजलद्विज-" इत्यादिकं दर्शितम् । अथ तच्छ्रेयो-निबन्धना देवादिपूजा (भा० १०।५।१५) —

(४२३) "तैस्तैः कामैरदीनात्मा यथोचितमपूजयत् ।
विष्णोराराधनार्थाय स्वपुत्रस्योदयाय च ॥" ५०८॥

अनेन विष्णुः प्रीणातु, तेन च मत्पुत्रस्योदयो भवत्विति सङ्कल्प्य सर्वान् यथोचितमपूजयदित्यर्थः । सः ।

२४४ । तथान्येषां सम्यङ्निर्णीत एव प्रभावे तत्कार्य्यस्य प्रकारान्तरकारणताभावना सम्भवति, यथा (भा० १०।७।३१) —

"अहो बतात्यद्भुतमेव रक्षसा, बालो निवृत्तिं गमितोऽभ्यगात् पुनः ।
हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः, साधुः समत्वेन भयात् प्रमुच्यते ॥" ५०९॥ इति ।

---

देवकी देवी बोली थीं हे मधुसूदन ! मुझ से तुम्हारा जन्म हुआ है— यह विवरण जैसे कंस न जान सके, मैं तुम्हारे निमित्त कंस से भीत हूँ । मेरा चित्त अधीर हो रहा है।

श्रीदेवकी देवी बोली थीं ॥२४२॥

२४३ । इस प्रकार भा० १०।८।२५ "शृङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यहिजलद्विज"

इत्यादि श्लोकों के द्वारा २२६ अनुच्छेद में अनिष्टाशङ्का रूप वात्सल्य का अनुभाव प्रदर्शित हुआ है ।

श्रीकृष्ण के मङ्गलार्थ देवादि पूजा भी वात्सल्य का अनुभाव है, भा० १०।५।१६ में दृष्टान्त इस प्रकार है— (२४३) 'तैस्तैः कामैरदीनात्मा यथोचितमपूजयत् ।
विष्णोराराधनार्थाय स्वपुत्रस्योदयाय च ॥" ५०८ ।

उस उस सङ्कल्प के सहित उदार चित्त नन्द विष्णु की आराधना एवं पुत्र की श्रीवृद्धि हेतु सूतमागधादि की यथोचित पूजा किये थे ।

इस के द्वारा श्रीविष्णु प्रसन्न हों, उस से मेरे पुत्र की श्रीवृद्धि हो—इस प्रकार सङ्कल्प करके सब की पूजा यथोचित किये थे ।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं--२२३॥

२४४। श्रीकृष्ण के द्वारा अनुष्ठित अलौकिक कार्य्य को देखकर उनका प्रभाव निर्णय में असमर्थ होने पर माता पिता भिन्न अन्य वत्सल वृन्द के पक्ष में उस कार्य्य के अन्य रूप कारण भावना उपस्थित हो सकती है । यह वात्सल्य का ही अनुभव विशेष है जिस प्रकार भा० १०।७।३१ में व्रजवासि गण कहे थे—

"अहो बतात्यद्भुतमेव रक्षसा बालो निवृत्तिं गमितोऽभ्यगात् पुनः ।
हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः, साधुः समत्वेन भयात् प्रमुच्यते ॥" ५०९॥

अहो, यह अति आश्चर्य्य है ! यह बालक-राक्षस के द्वारा मृत्यु कवल में निक्षिप्त हुआ था, पुनर्वार यह लौट आया है । हिंस्र व्यक्ति निज पाप से ही विनष्ट हुआ है, साधु-श्रीकृष्ण समदर्शी होने के कारण भय से मुक्त हो गया है ।

कार्य्य विशेष में श्रीकृष्ण का प्रभाव सम्पूर्ण रूप से निर्णीत होने पर भी उनके माता पिता उस

श्रीमत्पित्रोस्तु सम्यङ्निर्णीतेऽपि सम्भवति, यथा श्रीमती माता (भा० १०।८।४०) "किं स्वप्नः इत्यादिना श्रीकृष्णस्य विश्वोदरादित्वं स्वभावं मत्वापि पुनस्तदसम्भवं मन्वाना (भा० १०।८।१४) "अथो यथावन्न वितर्कगोचरम्" इत्यादिना, तच्च परमेश्वरनिर्मितमित्यङ्गी-कृतवती, उत्पातवत्तन्निवृत्त्यर्थं तच्चरणारविन्दमेव शरणत्वेनाश्रितवती च। पुनश्च (भा० १०।८।४१) "अहं ममासौ" इत्यादिना निजभावमेव दृढ़ीकृत्य तच्छरणत्वमेवावधारितवती, "अहं ममासौ पतिरेष मे सुतः" इत्यादिकमिदन्तानिर्दिष्टत्वेन प्रत्यक्ष-सिद्धमेव, तथापि "यन्माययेत्थम्"–एतन्नानाप्रकारेण विश्वरूपदर्शनाकारा कुमतिः, स एवेश्वरो मम गतिरित्यर्थः। यच्च (भा० १०।८।४०) "इत्थं विदिततत्त्वायाम्" इत्यादिकं तदन्ते श्रीशुकवाक्यम्, तत्रापि तत्त्वं पुत्रत्वम्, (भा० १०।८।४३) "स ईश्वरः" इति श्रीकृष्णस्यैवेश्वररूपो य आविर्भावविशेषः, यत्रैव (भा० १०।८।४१) "प्रणतास्मि तत्पदम्" इति तद्वाक्यानुसन्धानजमपि पर्य्यवसितम्, स

---

कार्य्य का जो अन्यरूप कारण निर्णय करते हैं— उस का दृष्टान्त भा० १०।८ ४० में है—

"किं स्वप्न एतदुत देव माया किं वा मदीयो बत बुद्धिमोहः।
अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः॥

मृद् भक्षण लीला में व्रजेश्वरी श्रीकृष्ण के उदर में विश्वदर्शन करके यह क्या स्वप्न किम्वा देवमाया अथवा बुद्धि मोह है–इत्यादि रूप से तदीय स्वाभाविक प्रभाव मान कर भी वह असम्भव है–इस प्रकार असम्भव की कल्पना करके भा० १०।८।४० में है।

'अथो यथावन्न वितर्क गोचरं चेतो मनः कर्म्मवयोभि रञ्जसा।
यदाश्रयं येन यतः प्रतीयते सुदुर्विभाव्यंप्रणतास्मि तत् पदम्॥"

वह परमेश्वर सृष्ट ही है— इस प्रकार उन्होंने निश्चय किया है। अनन्तर उत्पात की आशङ्का से उस की निवृत्ति हेतु शरण्य रूप में उनके चरण कमल को ही आश्रय किया है।

"अहं ममासौ पतिरेष मे सुतः" श्लोक में निज भाव को दृढ़ करके श्रीभगवान् की शरणापत्ति का श्रेयस्करत्व उन्होंने निश्चय किया है। "अहं ममासौ" श्लोक में 'यह मेरा पुत्र है' इस वाक्य के द्वारा श्रीकृष्ण को पुत्र रूप में साक्षान्निर्देश किया है। तथापि—"यन्माययेत्थम्" जिन की माया से मेरी इस प्रकार कुमति है, विविध प्रकार से विश्वरूप दर्शन रूप कुमति हुई है, वह ईश्वर ही मेरी गति है। व्रजेश्वरी ने इस प्रकार अभिप्राय को प्रकट किया है॥

इस के पश्चात् (भा० १०।८।४० ) "इत्थं विदिततत्त्वायाम्" इत्यादि शुक वाक्य में जो 'तत्त्व' शब्द का उल्लेख है, उस तत्त्व का अर्थ पुत्रत्व है। भा० १०।८।४३ में उक्त "स ईश्वरः" श्रीकृष्ण का ही जो ईश्वर रूप में आविर्भाव हैं, भा० १०।८।४१ "प्रणतास्मि तत्पदम्" उन भगवान् के अत्यन्त अचिन्त्य चरण कमल में प्रणता हूँ। इस व्रजेश्वरी वाक्योक्त अननुसन्धान भी जिस में पर्य्यवसित हुआ है, वह ईश्वर रूप ही उक्त श्लोक के 'स ईश्वर' पद द्वय से व्यञ्जित हुआ है। "व्यतनोत् वैष्णवी मायाम्" वैष्णवी माया का विस्तार किया' यह जो कहा गया है। उस में माया शब्द में वैष्णवीशब्द विशेषण प्रयुक्त हुआ है। उससे साधारण शक्ति का बोध होने पर भी उस का स्वरूप शक्तित्व प्रतिपन्न हो रहा है। अथवा दया अर्थ में भी माया शब्द का प्रयोग होता है। अतः 'वैष्णवी माया' शब्द से विष्णु सम्बन्धिनी दया का बोध होता है। अतएव

एव व्यज्यते। वैष्णवीमिति विशेषणेन माया-शब्दस्य शक्तिमात्रवाचकत्वेन तस्यास्तत्स्वरूप-शक्तित्वं बोध्यते, दयामात्रवाचकत्वेन वा, अतएव (भा० १०।८।४५) "त्रय्या चोपनिषद्भिश्च" इत्यादिना, (भा० १०।९।२१) "नायं सुखापो भगवान्" इत्याद्यन्तेन ग्रन्थेन तत्प्रशंसापि कृता।

(भा० १०।८।४५) 'त्रय्या चोप नषद्भिश्च" (भा० १०।९।२१) "नायं सुख पो भगवान्" श्लोक समूह के द्वारा व्रजेश्वरी की प्रशंसा की गई है।

वात्सल्य प्रीति की शेष सीमा व्रजेश्वर व्रजेश्वरी में ही है। श्रीकृष्ण के द्वारा निष्पन्न अलौकिक कार्य्य को देखकर श्रीकृष्ण के प्रभाव से वह निष्पन्न हुआ, सम्पूर्ण ज्ञान होने पर भी वे मानते हैं कि यह कार्य्य किसी अन्य कारण से निष्पन्न हुआ है, यही है, उनकी प्रीति का विशेषत्व।

व्रजराज व्रजेश्वरी व्यतीत अपर वत्सल गण, तादृश कार्य्य में यदि श्रीकृष्ण के प्रभाव को निर्णय करने में अक्षम होते हैं तो—उस कार्य्य का अपर कारण अनुसन्धान करते हैं।

तृणावर्त्त बध लीला में श्रीकृष्ण प्रभाव से वह निहत हुआ है—व्रजवासि गण सम्पूर्ण रूप से नहीं जान पाये हैं। किन्तु श्रीकृष्ण के उस कार्य्य का जो घनिष्ठ सम्पर्क है,यह समझे थे। अतएव उन्होंने कहा है- 'हिंस्र:स्वपापेन विहिंसित: खल:" पापी तृणावर्त्त निज पाप से ही मर गया है, और साधु कृष्ण धर्म प्रभाव से रक्षित हुआ है। यही उन सब का अभिमत है।

यहाँ तृणावर्त्त की मृत्यु का अपर कारण, एवं श्रीकृष्ण रक्षा का अन्य कारण दृष्टि गोचर न होने से ही श्रीकृष्ण प्रभाव से ही जो वह कार्य्य हूआ है, इस को मानने का यथेष्ट कारण है। किन्तु व्रजवासि के वात्सल्य प्रेम के प्रभाव से उस प्रकार ज्ञानोदय होना सम्भव नहीं है।

मृद् भक्षण लीला में श्रीकृष्ण के मुख विवर में विश्वदर्शन करके यह क्या स्वप्न है ? देवमाया है, किम्वा मदीय बुद्धि मोह है, अथवा मेरे पुत्र का किसी प्रकार स्वाभाविक निजैश्वर्य्य है ? इस में यशोदा ने श्रीकृष्ण प्रभाव से जो विश्वरूप दर्शन हुआ है, यह निश्चय किया, किन्तु उस के वाद ही यह हो नहीं सकता यह मान भी लिया। जो कृष्ण मेरे भय से रोता रहता है, उस का ऐसा प्रभाव हो ही नहीं सकता है। यह प्रभाव परमेश्वर का ही है। परवर्त्ती श्लोक में उस का प्रकाश हुआ है—

"अथो यथावन्न वितर्क गोचरं चेतोमन: कर्म्मवचोभिरञ्जसा।
यदाश्रयं येन यत: प्रतीयते सुदुर्विभाव्यं प्रणतास्मि तत्पदम्॥"

जो चित्त, मन, वाक्य एवं कर्म्म के द्वारा यथार्थ रूप से ज्ञात नहीं होते हैं, जिनको आश्रय करके जिन से यह विस्मयकर व्यापार अर्थात् श्रीकृष्ण के उदर में विश्वदर्शन उपस्थित हुआ है, जो इस प्रतीति के हेतु हैं, उन भगवान् ने अत्यन्त अचिन्त्य चरण कमल में प्रणता हूँ।

श्रीकृष्ण के विश्वरूप को देखकर योगिगण अपने को कृतार्थ मानते है, किन्तु व्रजेश्वरी पुत्र दर्शन से जो आनन्द लाभ करती हैं, उस के समीप में वह अति तुच्छ है, अत: उन्होंने विश्व रूप दर्शन को उत्पात मानकर उस की निवृत्ति हेतु परमेश्वर के चरणों में शरणा गति प्रकाश पूर्वक प्रणाम किया। प्रणतास्मि तत् पदम्' पद द्वय का यही तात्पर्य्य है।

श्रीकृष्ण के उदर के मध्य में ब्रह्माण्ड दर्शन करने पर भी उस से श्रीकृष्ण में ईश्वर बुद्धि उनकी नहीं हुई। इस से ही उनका वात्सल्य प्रेम का प्रभाव सूचित हुआ है। श्रीकृष्ण के प्रति पुत्र भाव का शैथिल्य बिन्दु मात्र भी नहीं हुआ। उस प्रकाश निम्नोक्त श्लोक समूह में हुआ है—

एवम् (भा० १०।४६।१८) "अपि स्मरति नः कृष्णः" इत्यादिकस्य, (भा० १०.४६।१९) "अप्यायास्यति गोविन्दः" इत्यादिकस्य च स्वभावोचित-श्रीव्रजेश्वर-वाक्यस्यान्ते लोकरीत्या

"अहं ममासौ पतिरेष मे सुतो व्रजेश्वरस्याखिल वित्तपासती ।
गोप्यश्च गोपाः सह गो धनाश्च मे यन्मायेत्थं कुमति स मेगतिः ॥"

मैं यशोदानाम्नी गोपी, यह व्रजेश्वर मेरे पति, मैं व्रजेश्वर की अखिल सम्पत्ति रक्षा कारिणी सती पत्नी हूँ । यह श्रीकृष्ण मेरा पुत्र है, ये सब गोप गोपी, गोधन मेरे हैं, इस प्रकार कुमति जिस की माया से मेरी हो रही है, वही भगवान् मेरा गति है ।

जिस कृष्ण को यशोदा पुत्र मानती हैं, उस को अङ्गुलि सङ्केत से दिखा रही हैं । यह कृष्ण मेरा पुत्र है, अर्थात् जिस के उदर के मध्य में विश्व दर्शन कर रही थीं उस को ही कहती हैं, यह मेरा पुत्र है । विश्वरूप प्रदर्शन कारी कृष्ण, सम्मुख में अवस्थित होने पर भी वह कार्य्य उसका है, इस प्रकार विश्वास नहीं करती हैं, परमेश्वर का ही कार्य्य है, यह मानती हैं, वह भी उनकी माया के द्वारा हुआ है, इस प्रकार मानकर तादृशी प्रतीति के प्रति अवज्ञा प्रकाश कर कहती हैं, यह जो विश्व दर्शन कर रही हूँ, यह मेरी कुमति है । किसी प्रकार से व्रजेश्वरी का वात्सल्य अपनीत न होने के कारण विश्वरूप भी तिरोहित हुआ ।

"इत्थं विदित तत्त्वायां गोपिकायां स ईश्वरः ।
वैष्णवीं व्यतनोन्मायां पुत्र स्नेहमयी विभुः ॥"

इस रूप में गोपी यशोदा तत्त्व अवगत होने पर वह विभु ईश्वर उनके निकट पुत्र स्नेहमयी वैष्णवी माया—को विस्तार किये थे ।

यहाँ तत्त्व शब्द का अर्थ पुत्रत्व है । श्रीकृष्ण स्वरूप, ऐश्वर्य्य माधुर्य्य पूर्ण तत्त्व विशेष स्वयं भगवान् होने पर भी वह यशोदानन्दन है । जिस समय असमोर्द्ध्व ऐश्वर्य्य प्रकटन करते हैं, उस समय भी यशोदा-नन्दन की रहते हैं । यही श्रीकृष्ण तत्त्व है । श्रीयशोदा उस तत्त्व को ही जान गई थीं, जिस समय श्रीकृष्ण के उदर के मध्य में विश्वरूप दर्शन आप कर रही थीं, उस समय आप पुत्र रूप में श्रीकृष्ण को देख रही थीं वा जानती थीं । सुतरां यशोदा के निकट ऐश्वर्य्य प्रकटन का गौरव कुछ भी नहीं है, तज्जन्य "विभु ईश्वर" उनके सम्बन्ध में वैष्णवी माया का विस्तार किये थे । इस प्रकार कहा गया है ।

यह ईश्वर कौन है ? वह श्रीकृष्ण से स्वतन्त्र ईश्वर नहीं है, किन्तु श्रीकृष्ण का ही आविर्भाव विशेष है । उस से ही यशोदा ने विश्वरूप दर्शन किया है । परमेश्वर ज्ञान से उस को ही प्रणाम भी किया है । अवश्य ही यशोदा नहीं जानती थीं कि—यह परमेश्वर श्रीकृष्ण का आविर्भाव विशेष है । एक आविर्भाव में यशोदा नन्दन रूप में रह कर अपर आविर्भाव में परमेश्वर रूप में जननी को विश्वरूप दर्शन कराना अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न श्रीकृष्ण के पक्ष में आश्चर्य कर नहीं है । उस विश्वरूप दर्शन प्रसङ्ग में ही आविर्भाव भेद दृष्ट होता है, जिस कृष्ण के उदर में यशोदा विश्वरूप को देख रही थीं, उस में ही अपने को श्रीकृष्ण को भी देख रही थीं ।

वैष्णवी माया विस्तार प्रसङ्ग में जिस माया का उल्लेख हुआ है, वह त्रिगुणमयी कापटयरूपा माया नहीं है । यहाँ माया शब्द का अर्थ है—भगवच्छक्ति । ऐसा होने पर भी यह वहिरङ्गा शक्ति माया नहीं है, इस प्रकार बोध कराने के निमित्त 'वैष्णवी शब्द विशेषण प्रदत्त हुआ है । भगवान् की अन्तरङ्गा स्वरूप शक्ति को वैष्णवी माया कहते हैं । माया शब्द का दया' अर्थ भी अभिधान में प्रसिद्ध है । इस प्रकार अर्थ भी सङ्गत हो सकता है । वैष्णवी माया-परमेश्वर श्रीहरि--श्रीकृष्ण का आविर्भाव विशेष है । जिन्होंने विश्वरूप दर्शन कराया है, वह उनकी दया है । पुत्र स्नेहमयी वैष्णवी माया—वात्सल्य प्रीति है । यह

तद्दुःख-शान्त्यर्थं श्रीमदुद्धवेन (भा० १०।४६।३०) "युवां श्लाघ्यतमौ नूनम्" इत्यादिना तत्-स्तुतिगर्भतत्त्वोपदेशे कृतेऽपि तद्भावनैश्चल्यं दर्शितम्,–(भा० १०।४६।४४) "एवं निशा सा ब्रुवतोर्व्यतीता, नन्दस्य कृष्णानुचरस्य राजन्" इति । एवं श्रीव्रजेश्वरस्य वियोगदुःखव्यञ्जना-प्रकारेण श्रीमदुद्धवस्य तत्सान्त्वनाप्रकारेणेत्यर्थः, अतस्तद्भावनैश्चल्यम् । तत्त्वोपदेशस्य

---

श्रीश्रयवान् स्वरूपशक्ति ह्लादिनी का परिपाक विशेष होने के कारण उस प्रकार निर्देश किया गया है ।

यशोदा – वात्सल्य प्रीति की अधिष्ठात्री देवी होने पर भी श्रीकृष्ण का परमेश्वर रूप आविर्भाव-असमोर्द्ध्व ऐश्वर्य्य प्रकटन कर उस प्रीति समुद्र में विक्षोभ उपस्थित किया था, किन्तु– जब देखा गया किन्तु वह प्रीति विकृत होने की नहीं है, तब वह विक्षोभ अपसारित हुआ । यही पुत्र स्नेह मयी माया विस्तार का असमोर्द्ध्व प्रभुत्व पराजित हुआ । "त्रय्या चोपनिषद्भिश्च इ य.दि श्लो क से आरम्भ कर दाम बन्धन लीलाध्याय के समान "नायं सुखाप' श्लोक पर्य्यन्त श्लोक समूह मे उस प्रीति का उत्कर्ष वर्णित हुआ है ।

मृद् भक्षण लीला में श्रीकृष्ण का विस्मयकर पारमैश्वर्य्य दर्शन से भी व्रजेश्वरी में पुत्र भाव की निश्चलता जिस प्रकार देखी गई है, उस प्रकार–(भा० १०।४६।१८ "अपि स्मरति नः कृष्णः" (भा० १०।४६।१९)' अप्यायास्यति गोविन्दः"इत्यादि श्रीव्रजराज के निज भावोचित वाक्य के पश्चात् लोक रीति से व्रजेश्वरी व्रजराज की दुःख शान्ति हेतु भा० १०.४६।३० "युवां श्लाघ्यतमौ नूनम्" उद्धव—उक्त श्लोक के द्वारा उनको स्तुति गर्भ तत्त्वोपदेश प्रदान करने पर भी व्रजराज में पुत्र भाव का नैश्चल्य दृष्ट होता है । भा० १०।४६।४४ में श्रीशुकने कहा है, 'एवं निशा सा ब्रुवतोर्व्यतीता, नन्दस्य कृष्णानुचरस्य राजन्"हे राजन् ! इस प्रकार कृष्ण कथा कहते कहते नन्द एवं कृष्णानुचर उद्धवकी वह रात्रि अतीत हुई थी ।

इस प्रकार से श्रीव्रजराज के द्वारा कृष्ण विच्छेद दुःख व्यक्त करते करते एवं उद्धव के द्वारा उनको सान्त्वना प्रदान करते करते रजनी अति वाहित हुई थी । अतएव श्रीकृष्ण सन्दर्भ मे व्रजराज में पुत्रभाव का नैश्चल्य एवं तत्त्वोपदेश का वास्तवार्थ प्रदर्शित हुआ है ।

अभिप्राय यह है—श्रीकृष्ण, तदीय विरह दुःख कातर व्रजजन को सान्त्वना दान हेतु श्रीउद्धव को व्रज में प्रेरण किये थे, उद्धव व्रजराज भवन में उपस्थित होने पर श्रीव्रजराज कहे थे—

"अपिस्मरति नः कृष्णोमातरं सुहृदः सखीन् ।
गोपान् व्रजञ्चात्मनाथं गावो वृन्दावनं गिरिम् ।
अप्यायास्यति गोविन्दः स्वजनान् सकृदीक्षितुं
कर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रं सुनस सस्मितेक्षणम् ॥

उद्धव ! कृष्ण, क्या हम सब का एवं मा का स्मरण करता है ? और सुहृद् सखा, गोपगण, जो व्रज की वही एक मात्र गति है, उस व्रज, गो समूह, वृन्दावन एवं गोवर्द्धन की कथा क्या उस के मन में है ?

स्वजन गण को देखने के निमित्त क्या गोविन्द एकवार आयेगा ? आ–हा ! उस का वदन, सुन्दर नासिका एवं सस्मित नयनो को कब देखूँगा ?

श्रीकृष्ण में व्रजराज का जो स्वाभाविक पुत्र भाव है— उसके अनुसार उन्होंने श्लोक द्वय के द्वारा उद्धव को कृष्ण वृत्तान्त पुछे थे। अनन्तर उद्धव व्रजराज व्रजेश्वरी की प्रशंसा के च्छल से श्रीकृष्ण तत्त्व कहे थे ।

वास्तवमर्थान्तरन्तु श्रीकृष्णसन्दर्भे दर्शितमस्ति । एवं कुरुक्षेत्रयात्रायां परितः स्तुवत्स्वपि तादृशमहामुनिगोष्ठीप्रभृतिषु विख्यायमानेऽपि श्रीवसुदेवपुत्रत्वे श्रीव्रजेश्वरयोस्तद्भावनैश्चल्यं यथा (भा० १०।८२।३५)—

"तावात्मासनमारोप्य बाहुभ्यां परिरभ्य च ।
यशोदा च महाभागा सुतौ विजहतुः शुचः ॥" ५१०॥ इति ।

अतएव (भा० १०।४७।६६) "मनसो वृत्तयो नः स्युः" इत्यादि-द्वये श्रीमदुद्धवं प्रति श्रीकृष्णैश्वर्य-प्रतिपादक-तदुपदेशाभ्युपगमवादेनापि तथोक्तम् । तादृशेऽपि तस्मिन् प्रतिजन्मैव स्वीयां

---

"युवां श्लाघ्यतमौ लोके देहिनामिह मानद !
नारायणेऽखिल गुरौ यत्कृतमतिरीदृशी ॥"

हे मानद ! आप दोनों देह धारिगण के मध्य में परम प्रशंसनीय हैं, कारण, अखिल गुरु नारायण में आप की मति इस प्रकार हुई है ।

इस श्लोक में उद्धव ने साक्षात् भाव से श्रीकृष्ण को नारायण शब्द से कहा है । यह सुनकर भी व्रजराज का पुत्र भाव विचलित नहीं हुआ, पूर्ववत् ही था । समस्त रात्रि उन्होंने उद्धव के निकट कृष्ण के प्रति पुत्रभाव पोषण करके तदीय विच्छेद दुःख वर्णन किया था, एवं उद्धव भी उनको सान्त्वना दान किये थे । इस से ही बोध होता है कि-श्रीकृष्ण के प्रति ईश्वर बुद्धि उनकी नहीं हुई, पुत्र भाव ही अविचलित था ।

श्रीकृष्ण जो ईश्वर हैं, व्रजमें उद्धव के मुख से व्रजराज इस विवरण को सुने थे । और कुरुक्षेत्र यात्रा में तत्त्ववित् महामुनि वृन्द ने कृष्ण का चारों ओर से स्तव किया था । वहाँ वसुदेव नन्दन रूप में आप प्रसिद्ध भी थे । तथापि व्रजराज दम्पति का पुत्र भाव श्रीकृष्ण में अविचलित था । भा० १०।८२।३५ में उक्त है—

"तावात्मासनमारोप्य बाहुभ्यां परिरभ्य च ।
यशोदा च महाभागा सुतौ विजहतुः शुचः ॥" ५१०॥ इति ।

कुरुक्षेत्र में उपस्थित व्रजराज दम्पत्ति को कृष्ण बलराम आलिङ्गन एवं अभिवादन पूर्वक प्रेम में वास्प रुद्ध कण्ठ होकर मौन भाव से अवस्थित थे । उस समय नन्द एवं महाभाग्यवती यशोदा ने पुत्र द्वयको स्वीय आसन में उपवेशन कराकर पृथक् पृथक् रूप से उभय को बाहु द्वारा आलिङ्गन पूर्वक विशेष रूप से शोक त्याग किया ।

कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य्य को स्वयं देखकर एवं मुनि वृन्द से सुनकर भी जब श्रीकृष्ण के प्रति जब ईश्वर बुद्धि नहीं हुई तब उद्धव श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य्य प्रति पादक जो सब उपदेश प्रदान किये थे उस का समर्थन करके (भा० १०।४७।६६) "मनसो वृत्तयो नः स्युः" इत्यादि श्लोकद्वय के द्वारा उद्धव को जो कुछ कहे थे—वह अभ्युपगम रीति से ही कहे थे-अर्थात् सामयिक रूप से स्वीकार करके ही कहे थे । श्रीकृष्ण, उस प्रकार परमेश्वर होने पर भी जन्म जन्म में उनके प्रति प्रीति प्रार्थना उन्होंने की है । यही उस वाक्य का अर्थ है । तात्पर्य्य यह है—उद्धव व्रजवासी को सान्त्वनादान हेतु व्रज में कुछ काल निवास पूर्वक कृष्ण कथा कीर्त्तन करके उन सब के चित्त विनोदन किये थे । श्रीकृष्ण-जो परमेश्वर हैं—इस प्रकार अनेक विवरण भी कहे थे । अनन्तर उद्धव, मथुरा प्रस्थानोद्यत होने पर व्रजराज कहे थे—

"मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपदाम्बुजाश्रयाः ।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत् प्रह्वणादिषु ।

रतिमेव प्रार्थयामह इत्यर्थः । एषा तेषां रतिप्रार्थना चानुरागमय्येव, न तु तदभावमयी, (भा० १०।४७।६५)—

"तं निर्गतं समासाद्य नानोपायनपाणयः ।
नन्दादयोऽनुरागेण प्रावोचन्नश्रुलोचनाः ॥"५११॥

इत्युक्तत्वात् । तस्मात्तदीयानुरागयोग्यमेव व्याख्येयम्, न त्वैश्वर्य्यज्ञानकृत-भक्तियोग्यम् । यथा यद्यपि तत्प्राप्तिभाग्यमस्माकं दूरे वर्त्तते, तथापि तदीया रतिरस्तु, मापयात्विति काकुः ।

---

कर्म्मभि र्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया ।
मङ्गला चरितं दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे ।"

हमारी मनोवृत्ति समूह कृष्ण पादाम्बुजाश्रया हो, वाक्य उनके नाम कीर्त्तन में एवं शरीर उनके प्रणामादि कर्म्म में रत हो। स्वकर्म्माचरण हेतु ईश्वरेच्छा से जिस किसी योनि में भ्रमण क्यों न करें, जो सब पुण्य कर्म्म एवं दान कर्म्मानुष्ठान भी हुये है, उस के द्वारा जैसे परमेश्वर कृष्ण में हमारी रति हो।

श्लोकद्वयोक्त व्रजराज का अभिप्राय यह है– हे उद्धव ! कृष्ण को मैं पुत्र ही मानता हूँ। तथापि तुम जब 'ईश्वर' कहते रहते हो, तो मैं तुम्हारी बात को मान लिया। कृष्ण ईश्वर होने से भी हमारे पुत्र रूप में अवतीर्ण है।

रामचन्द्र ईश्वर होकर भी दशरथ के पुत्र होकर अवतीर्ण हुये थे। उनके प्रति दशरथ का प्रबल अनुराग भी था, श्रीरामचन्द्र की विच्छेदाशङ्का से उन्होंने प्राण त्याग किया था। किन्तु मेरा प्राण अति कठोर है, पुत्र विच्छेद से भी प्राण धारण करके अवस्थित हूँ।

अभिप्राय यह है—व्रज प्रेम का वैशिष्ट्य यहाँपर ही है। दशरथ के द्वारा प्राण त्याग की अपेक्षा व्रजराज के द्वारा प्राण रक्षा करना अतीव क्लेश कर था। कृष्ण वियोग से हृदय विदीर्ण होने पर भी कृष्ण को सुखी करने के निमित्त प्राण धारण किये थे, मृत्यु होने से कृष्ण पितृ हीन होगा। व्रज में आने से माता पिता को न देख कर अतिशय दुःखित होगा। सुतरां हम सब जीवित रहना ही होगा, कृष्ण सुख के निमित्त एवं कृष्ण को सान्त्वना प्रदान के निमित्त, इस प्रकार सोचकर ही व्रजराज दम्पति कृष्ण विच्छेद विधुर जीवन धारण किये थे। उस प्रकार प्रार्थना से अनुरागाभाव सूचित नहीं होता है। उक्त प्रार्थना ही महानुराग का ही महान् आवर्त्त है। इस के द्वारा दैन्य सञ्चारी का प्राबल्य ज्ञापित हुआ है। सख्य, वात्सल्य, मधुर तीन रस के भक्त में ही वियोगावस्था में अतिशय दैन्य उपस्थित होता है।

व्रजराज श्रीकृष्ण में निज एवं यशोदा की जो रति प्रार्थना किये है, वह प्रार्थना अनुराग मयी है– अनुरागाभाव मयी नहीं है। कारण, उक्त श्लोक द्वय के पूर्व वर्त्ती श्लोक श्रीशुक कहे हैं—(भा० १०।४७।६५)

"तं निर्गतं समासाद्य नानोपायनपाणयः ।
नन्दादयोऽनुरागेण प्रावोचन्नश्रुलोचनाः ॥"५११॥

उद्धव,—व्रज वासि वृन्द के निकट से विदा होकर मथुरा गमन हेतु उद्यत होने से नन्दादि गोपगण विविध उपहार हस्तमें लेकर उद्धवके निकट उपस्थित हुई थे। एवं अनुराग वशतः रोदन करते हुये कहे थे।

सुतरां मनसो वृत्तयो नः स्युः" इत्यादि श्लोक की व्याख्या कृष्णानुराग के उपयुक्त रूप में ही करनी चाहिये। ऐश्वर्य्य ज्ञान मिश्रा भक्ति के आनुकूल्य रूप में व्याख्या समीचीन नहीं होगी। वह व्याख्या इस प्रकार है—यद्यपि कृष्ण प्रीति सौभाग्य दूर है, तथापि कृष्ण रति जैसे हम सब से अन्तर्हित न हो,

तादृशरागानुरूपमेव जीवान्तरसाधारण्येनोक्तम्–(भा० १०।४७।६७) "कर्म्मभिर्भ्राम्यमाणानाम्" इति। तदेवं केवल-वात्सल्यानुरूपमर्थान्तरञ्च सिध्यति, यतः पाद-शब्दप्रयोगो वात्सल्येऽपि सम्प्रति प्राप्त्यसम्भावनामयाद्दूरदेश-वियोगाद्दैन्येन युक्तः। तथैव हि चित्रकेतोः करुणरसे दृष्टमस्ति। तत्प्रह्वणञ्च तत्कर्त्तृकं प्रह्वणं नमस्कार इत्यर्थः। पूर्ववदीश्वरशब्दश्च लालनयैव प्रयुक्तः,–लोकेऽपि तादृगुक्तिदर्शनादिति। इत्यादय उद्भास्वराः। अथ सात्त्विकाश्च पूर्ववदष्टौ, मातुस्तु नव,–स्तन्यस्रवसहितत्वात्। अथ सञ्चारिणोऽप्यत्र प्रसिद्धा एव, ते च

---

काकु वाद के द्वारा कहा गया है। शोक भयादि द्वारा कण्ठ स्वर विकृत होने से उस को काकु कहते है।

विविध उपहार प्रदान का विवरण इस प्रकार है—पुत्र के निमित्त, बलदेव, रोहिणी, देवकी के निमित्त पृथक् पृथक् भाव से निज चिह्नाङ्कित नवनीत, क्षीर लड्डुकादि प्रदान व्रजेश्वरी द्वारा हुआ था, व्रज देवी गण के द्वारा प्रिय कृष्ण के निमित्त निज शिल्प चिह्नित गुञ्जाहारादि प्रदत्त हुये थे। श्रीदामादि सखागण दिये थे—प्रिय सखा के निमित्त उनके परिचित वन्य पुष्प फलादि श्रीव्रजराज दिये थे-पुत्र के निमित्त कस्तुरी, गज मुक्ता हारादि, वसुदेव के निमित्त--घृत पक्वान्नादि, उग्रसेन के निमित्त गोदुग्धादि। और उद्धव को सब ही व्यक्ति वस्त्र अलङ्कार प्रभृति प्रदान किये थे।

भा० १०।४७।६७ में कहा गया है—"कर्म्मभिर्भ्राम्यमाणानाम्" साधारण मानव जिस प्रकार कहता है—उस प्रकार व्रजेश्वर ने कहा है। हम सब स्वकर्म्म से, एवं परमेश्वर की इच्छा जिस किसी योनि में भ्रमण क्यो न करें—जैसे परमेश्वर कृष्ण में रति हो।।" ऐसा होने पर श्लोक द्वय का वात्सल्य योग्य अन्य अर्थ प्रतिपन्न होता है। उस प्रकार व्याख्या होने पर श्लोक में जो पाद शब्द का प्रयोग हुआ है—उस की सङ्गति क्या होगी? माता पिता कभी भी पुत्र के चरणों में चित्तावेश की प्रार्थना नहीं करते हैं। समाधान हेतु कहते हैं—उक्त कथन से यहाँ दोष नहीं हुआ है। कारण, उस समय अप्राप्ति की असम्भावना हेतु शङ्का से एवं दूर प्रवास गमन जनित विच्छेद व्याकुलता हेतु वात्सल्य में भी दैन्य वशतः पाद शब्द प्रयुक्त हो सकता है। तादृश व्यवहार चित्र केतु के करुण रस में दृष्ट होता है। पुत्र की मृत्यु होने पर शोक से उन्मत्त होकर जिस प्रकार पुत्र के पद तल में "पपात बालस्य पादमूले" पतित हुये थे।

अर्थात् चित्र केतु शोकोन्मत्त होकर जिस प्रकार पुत्र के पद तल में निपतित हुये, उस प्रकार व्रज राज भी निज पुत्र श्रीकृष्णके दीर्घ विच्छेद से, उसमें भी पुनर्मिलन की अनिश्चयता बोध से शोक से उन्मत्त प्राय होकर निज पुत्र के चरणों में चित्त वृत्ति की प्रगाढ़ आवेश प्रार्थना किये थे। "मनसो वृत्तयो नः स्युः' इत्यादि श्लोक में 'तत् प्रह्वण' शब्द का प्रयोग हुआ है, उस का अर्थ है—तत् कर्त्तृक प्रह्वण–नमस्कार। अर्थात् व्रजराज जो कहे थे—कायस्तत् प्रह्वणादिषु--शरीर उस के प्रणामादि में रह हो, इस उक्ति से कृष्ण के प्रति गौरव व्यक्त हुआ है। वत्सल के पक्ष में इस प्रकार उक्ति—शुद्ध वात्सल्य का परिचायक नहीं हो सकता है। वास्तविक पक्ष में व्रजराज का अभिप्राय उस प्रकार नहीं हो सकता है। उनका अभिप्राय यह है—श्रीकृष्ण, पितृ बुद्धि से मेरे प्रति प्रणामादि रूप जो गौरव प्रकाश किया है, उस से मैं जैसे वञ्चित न हों। श्रीकृष्ण के विषय में शरीर, मन, एवं वाक्य की यथा योग्य चेष्टा की प्रार्थना उन्होंने की है।

और तत् परवर्त्ती श्लोक में "कर्म्मभिर्भ्राम्यमाणानां" के द्वारा कृष्ण को ईश्वर कहा गया है, वह ईश्वर शब्द पूर्ववत् लालनार्थ में प्रयुक्त हुआ है। जन साधारण में भी उस प्रकार उक्ति प्रसिद्ध है। ये सब वात्सल्य के उद्भास्वर है।

अभिप्राय यह है—इस श्लोक के पूर्ववर्त्ती "मनसो वृत्तयो नः स्युः" इत्यादि श्लोक में व्रजराज ने

साक्षाच्छ्रीकृष्णकृत-लीलाजातास्तल्लीलाशक्तिकृतैश्वर्य्यमयलीलाजाताश्च ज्ञेयाः । क्रमेण यथा (भा० १०।८।३४) "कस्मान्मृदमदान्तात्मन्" इत्यादावमर्षः, (भा० १०।८।३७) "सा तत्र ददृशे विश्वम्" इत्यादौ विस्मयः शङ्का चेत्यादि । अथ वात्सल्याख्यः, स्थायी, स यथा (भा० १०।८।०३) —

(२४४) "तन्मातरौ निजसुतौ घृणया स्नुवन्त्यौ
पङ्काङ्गरागरुचिरावुपगुह्य दोर्भ्याम् ।
दत्त्वा स्तनं प्रपिबतोः स्म मुखं निरीक्ष्य
मुग्धस्मिताल्पदशनं ययतुः प्रमोदम् ।।"५१२।।

तयोः श्रीकृष्णरामयो र्मातरौ, घृणया कृपया ।। श्रीशुकः ।।

२४५ । तदेवं विभावादिसम्वलनचमत्कारात्मको वत्सलरसः. तस्य च प्रथमाप्राप्तिमयौ

---

जिस प्रकार श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य्य को स्वीकार किया है, इस श्लोक में भी उस रीति से अर्थात् अभ्युपगम वाद से श्रीकृष्ण को ईश्वर कहा है। उनका मनोभाव यह है—वत्स उद्धव ! लोक शुभ कर्म्मादि द्वारा ईश्वर में प्रीति प्रार्थना करते हैं। मैंने भी शुभ कर्म्म किया है उस के द्वारा ईश्वर में रति प्रार्थना करनी चाहिये। किन्तु मैं अन्य ईश्वर में रति प्रार्थना कर न सकूँगा। कृष्ण व्यतीत अन्यत्र मेरा मन का आवेश नहीं होगा। तुम तो कह रहे हो, मेरा पुत्र कृष्ण ईश्वर है। ऐसा होने से कृष्ण रूप ईश्वर में ही जन्म जन्म रति प्रार्थना करता हूँ। यह लालन अर्थात् श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम पूर्ण आदर सूचक है। साधारण लोक में भी व्यवहार है कि—जिस को अत्यन्त प्यार करता है--उस के सम्बन्ध कहा जाता है कि— मेरा धर्म कर्म जो कुछ भी है, उससे मैं जैसे जन्म जन्म में उसको प्राप्त कर सकूँ--श्रीव्रजराज की उक्ति भी इस प्रकार है।

अनन्तर सात्त्विक का वर्णन करते हैं— सात्त्विक--स्तम्भादि अष्ट सात्त्विक ही वात्सल्य में प्रकाशित होते हैं। जननी में सात्त्विक नवविध होते हैं। अष्टविध सात्त्विक व्यतीत स्तन से दुग्ध क्षरण रूप अपर एक प्रकार सात्त्विक उदित होता है। वात्सल्य के सञ्चारि भाव समूह का वर्णन श्रीमद् भागवत में प्रसिद्ध है। वे सब साक्षात् श्रीकृष्ण कृत, लीलाजात, लीलाशक्ति कृत एवं ऐश्वर्य्यमय लीला जाति हैं। क्रमशः सञ्चारि भाव का उदाहरण प्रस्तुप करते हैं। (भा० १०।८।३४) "कस्मान् मृदमदान्तात्मन्" इस श्लोक में अमर्ष है। (भा० १०।८।३७) "सा तत्र ददृशे विश्वम्" इस श्लोक में विस्मय एवं शङ्का है। वत्सल रस में वात्सल्य स्थायिभाव है। इस का वर्णन भा० १०।८।-३ में है—

(२४४ "तन्मातरौ निजसुतौ घृणया स्नुवन्त्यौ पङ्काङ्गरागरुचिरावुपगुह्य दोर्भ्याम् ।
दत्त्वा स्तनं प्रपिबतोः स्म मुखं निरीक्ष्य मुग्धस्मिताल्पदशनं ययतुः प्रमोदम् ।।"५१२।।

कृपातिशय्य से मातृ युगल के स्तन से दुग्ध धारा क्षरित होती थी। पङ्क एवं अङ्गराग से सुन्दराङ्ग बालक द्वय को कृष्ण बलराम को दोनों हाथों से पकड़ कर गोदी में उठा लेती थीं एवं स्तनदान करती थीं, शिशु युगल जब स्तन पान करते थे, तब वे हास्य एवं अल्प दन्त शोभित मुख शोभा का दर्शन करते करते परमानन्दित होती थीं।

उन दोनों की—श्रीकृष्ण बलराम को माता यशोदा रोहिणी। घृणया--कृपया, श्लोकस्थित घृणा। शब्द का अर्थ कृपा है। प्रवक्ता श्रीशुक हैं—२४४ ।।

भेदो यथा (भा० १०।५।६)—

(२४५) "गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता यशोदायाः सुतोद्भवम् ।
आत्मानं भूषयाञ्चक्रुर्वस्त्राकल्पाञ्जनादिभिः ॥"५१३॥ इत्यादि ।

स्पष्टम् । सः ।

२४६ । अथ तदनन्तरप्राप्तिलक्षणसिद्धात्मको यथा (भा० १०।५।१२) "ता आशिषः" इत्यादौ । अथ वियोगात्मको यथा (भा० १०।४६।२७-२८) —

(२४६) "इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः ।
अश्रुकण्ठोऽभवत्तूष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः ॥५१४॥
यशोदावर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च ।
शृण्वत्यश्रूण्यवास्राक्षीत् स्नेहस्नुतपयोधरा ॥"५१५॥

स्पष्टम् । सः ।

---

२४५ । विभावादि के सम्मिलन से वत्सल रस विस्मयकर होता है । प्रथम अप्राप्तिमय भेद का उदाहरण भा० १०।५।६ में है—

(२४५) "गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता यशोदायाः सुतोद्भवम् ।
आत्मानं भुषयाञ्चक्रुर्वस्त्राकल्पाञ्जनादिभिः ॥"५१३॥

गोपीगण यशोदा की पुत्रोत्पत्ति की वार्त्ता को सुनकर आनन्दित हो गईं । एवं वे वस्त्र अलङ्कार, अञ्जनादि द्वारा अपने को भूषित करने लगीं । श्रीशुक कहे थे ॥२४५॥

२४६ । अयोग के अनन्तर प्राप्ति लक्षण सिद्धि रूप योग भा० १०।५।१२ में वर्णित है—

"ता आशिषः प्रयुञ्जानाश्चिरं जीवेति बालके ।
हरिद्रा चूर्ण तैलाद्भिः सिञ्चन्त्योऽजनमुज्जगुः ॥"

गोपी गणों ने नन्द भवन में उपस्थित होकर 'चीरजीवी हो' कहकर बालक श्रीकृष्ण को आशीर्वाद किया । अनन्तर परस्पर हरिद्रा चूर्ण तैल एवं जल सिञ्चन करके उच्चैःस्वर से भगवान् के गुण गान किया ।

अनन्तर वियोगात्मक का वर्णन करते हैं—(भा० १०।४६।२७-२८) में उक्त है—

(२४६) "इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः ।
अश्रुकण्ठोऽभवत्तूष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः ॥५१४॥
यशोदावर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च ।
शृण्वत्यश्रूण्यवास्राक्षीत् स्नेहस्नुतपयोधरा ॥"५५१॥

व्रजवासियों को सान्त्वना प्रदान हेतु उद्धव व्रज में उपस्थित होने पर, पुत्र शोकातुर व्रजराज रो रो कर उनके निकट कृष्ण चरित्र वर्णन किये थे । उस का कथन शुकदेव किये हैं—नन्द का चित्त श्रीकृष्ण में अनुरक्त था । पुत्र के चरित्र स्मरण करके आप प्रेम विह्वल हो गये । वाष्प से कण्ठ रुद्ध हुआ । एवं मौनावलम्बन कर रहे गये । । श्रीनन्द उद्धव के निकट जो सब कृष्ण चरित्र वर्णन किये थे, उस को सुनकर यशोदा अश्रु विसर्जन करने लगीं, स्नेह वशतः उनके स्तन युगल दुग्ध प्लावित हुये थे ।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥२४६॥

२४७–२४८। अथ तदनन्तरतुष्ट्यात्मको यथा—(भा० १०।८२।३५) "तावात्मासनमारोप्य" इत्यादौ, यथा च तत्रैव (भा० १० ८४।६६)—

(२४७) "नन्दस्तु सख्युः प्रियकृत् प्रेम्णा गोविन्द-रामयोः।
अद्य श्व इति मासांस्त्रीन् यदुभिर्मानितोऽवसत् ॥"५१६॥

गोविन्दरामयोः प्रेम्णा हेतुना मासांस्त्रीनवसत्, तच्च मासत्रयम्, अद्य श्व इति कृत्वावसदित्यर्थः। अत्यन्तपरमानन्देन तत्र दिनद्वयमिवावसदित्यर्थः। कथम्भूतः सन्नवसत्? सख्युः श्रीवसुदेवस्य प्रियकृदेव सन्,–तदग्रे श्रीकृष्णं प्रति स्वपुत्रभावाप्रकटनेन व्यवहरंस्तस्य व्रजनयनाग्रहं साक्षान्न कुर्वन्नित्यर्थः। तथा यदुभिर्मानितश्चावसदिति तदनन्तरम पुनर्वियोगात्मको यथा (भा० १० ८४।६७–६९) —

(२४८) "ततः कामैः पूर्य्यमाणः सव्रजः सहबान्धवः।
परार्द्ध्याभरणक्षौम-नानानर्घ्यपरिच्छदैः ॥५१७॥

---

२४७-२४८। अनन्तर तुष्टि नामक योग का वर्णन करते हैं— भा० १०।८२।३५ में उक्त है—

"तावात्मासनमारोप्य बाहुभ्यां परिरभ्य च।
यशोदा च महाभागा सुतौ विजहतुः शुचः ॥" भा० १०।८४।६६ में उक्त है—

(२४७) "नन्दस्तु सख्युः प्रियकृत् प्रेम्णा गोविन्द-रामयोः।
अद्य श्व इति मासांस्त्रीन् यदुभिर्मानितोऽसत् ॥"५१६॥

कुरुक्षेत्र यात्रा प्रसङ्ग में उक्त है– कृष्ण बलराम में प्रीति निबन्धन एवं सखा का प्रियकार्य्य सम्पादन हेतु यदुगण कर्त्तृक सम्मानित होकर नन्द तीन मास कुरुक्षेत्र में अवस्थान किये थे। आज कल करके तीन मास अतीत हुये थे।

श्लोक की व्याख्या – कृष्ण बलराम में प्रीति हेतु मासत्रय अवस्थान किये थे। तीन मास काल आज कल इस प्रकार करके निवास किये थे। अर्थात् अत्यन्त परमानन्द से तीन मास काल दो दिन के समान अतिवाहित हुये थे। किस प्रकार वास किये थे?—सखा वसुदेव के प्रियकारी होकर वास किये थे। वसुदेव के निकट कृष्ण के प्रति जैसे निज पुत्र भाव प्रकट न हो, इस प्रकार व्यवहार कर एवं श्रीकृष्ण को व्रज में आनयन करने के निमित्त साक्षाद् भाव से आग्रह न करके व्रजराज सखा का प्रिय कार्य्य किये थे।

श्रीनन्द निज जन गण के सहित श्रीकृष्ण बलराम के प्रीति बद्ध होकर दीर्घकाल वास करने पर भी किसी के निकट अनादृत नहीं हुये थे। परन्तु परम समादर लाभ किये थे। अन्ययादवगण भी उनके सद्गुणों से मुग्ध होकर उनको सम्मान प्रदान किये थे। तज्जन्य कहा गया है— यदुगण कर्त्तृक सम्मानित होकर आप तीन मास वास किये थे।

योग के अनन्तर पुनर्वार वियोगात्मक रस का वर्णन भा० १०।८४।६७--६९ में है—

(२४८) "ततः कामैः पूर्य्यमाणः सव्रजः सहबान्धवः।
परार्द्ध्याभरणक्षौम--नानानर्घ्यपरिच्छदैः ॥५१७॥

कामना पूर्ण होने पर व्रज के गो, गोप गोपी एवं बान्धव वृन्द के सहित नन्द, उत्तम आचरण,

वसुदेवोग्रसेनाभ्यां कृष्णोद्धव-बलादिभिः ।
दत्तमादाय पारिबर्हं यदुभिर्यापितो ययौ ॥५१८॥
नन्दो गोप्यश्च गोपाश्च गोविन्दचरणाम्बुजे ।
मनः क्षिप्तं पुनर्हर्त्तुमनीशा माथुरान् ययुः ॥"५१९॥

कामैः श्रीकृष्णव्रजागमनादिरूपैरभिलाषैर्निभृतं श्रीकृष्णेन पूर्य्यमाणस्तदङ्गीकारेण सन्तोष्यमाण इत्यर्थः,—श्रीरामव्रजगमने तानुद्दिश्य (भा० १०।६५।६) "कृष्णे कमलपत्राक्षे संन्यस्ताखिलराधसः" इति श्रीशुकोक्तेः, तत्रैव "कृष्णे कृष्णप्राप्त्यर्थं संन्यस्ताखिलराधसस्त्यक्त-सर्वविषयाः" इति टीकोक्तेः। ततः श्रीवसुदेवादिभिः कर्त्तृभिः परार्द्ध्याभरणादिभिः कृत्वा

---

पट्टवस्त्र, विविध अमूल्य परिच्छद के समान वसुदेव, उग्रसेन एवं कृष्ण कर्त्तृक प्रदत्त राज योग्य द्रव्य समूह ग्रहण करके यादव गण कर्त्तृक प्रस्थापित हुये थे। नन्द, गोपी गण, एवं गोप गण— गोविन्द चरण कमल में अर्पित मन को पुनर्ग्रहण में असमर्थ होकर उस रूप में ही मथुरा प्रस्थान किये थे।

'वसुदेवोग्रसेनाभ्यां कृष्णोद्धव-बलादिभिः।
दत्तमादाय पारिबर्हं यदुभिर्यापितो ययौ ॥५१८॥
नन्दो गोप्यश्च गोपाश्च गोविन्दचरणाम्बुजे।
मनः क्षिप्तं पुनर्हर्त्तुमनीशा माथुरान् ययुः ॥"५१९॥

श्लोक की व्याख्या—कामना श्रीकृष्ण के व्रजागमनादि रूप अभिलाष। श्रीकृष्ण—निभृत में समस्त अभिलाष पूर्ण किये थे। श्रीकृष्ण व्रज में पुनरागमन को अङ्गीकार करके नन्द प्रभृति को सन्तुष्ट किये थे। यही उन सब की कामना पूर्त्ति है।

श्रीबलराम के व्रजागमन वर्णन प्रसङ्ग भा० १०।६५।६ में श्रीशुक देवने कहा है—कृष्णे कमल पत्राक्षे संन्यस्ताखिलराधसः ॥" कमल नयन कृष्ण में उनके समस्त विषय अर्पित हुये थे। इस श्लोक की टीका में स्वामिपादने कहा है—कृष्णे—कृष्ण प्राप्ति हेतु—वे समस्त विषयों को परित्याग किये थे। इस से बोध होता है कि—व्रजवासि वृन्द की कामना श्रीकृष्ण का व्रजागमन को छोड़कर अपर कुछ नहीं थी। सुतरां वसुदेवादि उत्तम आभरणादि के द्वारा जो राज योग्य उपहार प्रदान किये थे। प्रीतिमय होने के कारण तत् समुदय व्रजवासि वृन्द के द्वारा गृहीत हुये थे। "यापित—महतासैनेन प्रस्थापितः" विपुल सैन्यबल को साथ देकर वसुदेव श्रीव्रजराज को प्रस्थापित किये थे। अनन्तर व्रजवासि वृन्द का श्रीकृष्ण में अत्यन्त आवेश की वर्णना—'नन्दो गोपश्च' श्लोक में है—नन्द, गोपी गण, एवं गोपगण, गोविन्द चरण कमल में अर्पित मन को पुनर्ग्रहण करने में असमर्थ हुये थे।

उनका मथुरा गमन की जो कथा है—उस का तात्पर्य्य—मथुरा गये थे। अर्थात् उन सब का मन निबद्ध था श्रीकृष्ण में, आप सब किसी प्रकार मथुरा में उपस्थित हुये थे। "माथुरान् ययुः" इस के द्वारा व्रज भूमि में व्रजोचित रूप में एवं केवल स्वीय सम्बन्धोचित भाव से ही श्रीकृष्ण प्राप्ति विषय में उन सब का आग्रह दर्शित हुआ है। अभिप्राय यह है। श्रीवृन्दावन—श्रीकृष्ण का एवं व्रजवासी का आनन्द निकेतन है। श्रीकृष्णके पुनरागमन आशासे वे सब कुरुक्षेत्र यात्राके पहले वृन्दावनमें थे। कुरुक्षेत्र गमन समयमें सोचे थे, कृष्ण को लेकर वे आयेंगे। किन्तु यह नहीं हुआ। अतः कुरुक्षेत्र से आकर वे वृन्दावन नहीं गये थे। सोचे थे—जब कृष्ण आयेंगे तब उनको लेकर ही आयेंगे। इस प्रकार विचार कर आप सब मथुरा में ही

दत्तं यत् पारिवर्हं तत्तेषां प्रीतिमयत्वेनैवादायेत्यर्थः । यापितो महता सैन्येन प्रस्थापितः । तदनन्तरं तेषां पुनरत्यन्तप्रेमावेशं वर्णयति–नन्द इत्यादि, माथुरानिति, तत्रैव तेन रूपेणैव केवल-स्वसम्बन्धितयैव तेषां श्रीकृष्णप्राप्त्याग्रहो दर्शितः ॥ सः ॥

२४९। एतदनन्तरम् (भा० ११११९) "यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान्, कुरून्मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षया" इति श्रीद्वारकाप्रजावाक्यानुसारेण (१७४ अनु०) श्रीकृष्णसन्दर्भोत्थापित-पाद्मगद्यानुसारेण च नित्यैव तुष्टिरवगन्तव्या । इति वत्सलाख्यो रसः ।

अथ मैत्रीमयः । तत्रालम्बनः–मित्रत्वेन स्फुरन् मैत्रीविषयः श्रीकृष्णस्तदाश्रयरूपाणि तल्लीलागतानि स्वोत्कृष्ट-स्वजातीयभावानि तदीयमित्राणि च । तत्र श्रीकृष्णः क्वचिच्चतुर्भुज-अपि श्रीमन्नराकारत्वेनैव प्रतीतः, यथा श्रीगीतासु श्रीमदर्जुनेन— (गी० ११।४६) "तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन, सहस्रवाहो भव विश्वमूर्त्ते" इति स्वप्रार्थनानन्तरं तद्रूपे प्रादुर्भूते

---

रह गये थे । मथुरा में रहने पर भी मन उनका श्रीकृष्ण के निकट था । यहाँ मथुरा शब्द से गोपाल चम्पू के वर्णनानुसार मथुरा मण्डलस्थित 'गोरई' ग्राम को जानना होगा । प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥२४८॥

२४९। इस के वाद भा० ११११९ में वर्णित 'यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान् कुरून् मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षया " श्लोक के अनुसार द्वारका के प्रजागण कृष्ण को कहे थे—आप जब सुहृद् गण के दर्शनार्थ मथुरा गमन करते हैं—इस के अनुसार एवं कृष्ण सन्दर्भ १७४ अनुच्छेद में उद्धृत पद्म पुराण के गद्य पद्य के अनुसार व्रजवासि वृन्द की नित्य तुष्टि जाननी चाहिये ।

श्रीमद् भागवत में द्वारका से श्रीकृष्ण का प्रत्यागमन सुस्पष्ट वर्णित न होने के कारण व्रजवासी की विच्छेदान्त में मिलन जनित तुष्टि का अभाव दृष्ट होता है । अतएव कहा गया है-श्रीमद् भागवत के ११११९ में वर्णित "यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान्, कुरून् मधून् वाथ सुहृद् दिदृक्षया" श्लोक के अनुसार श्रीकृष्ण का मथुरा आगमन सुस्पष्ट प्रतीत होता है । कुरुक्षेत्र से प्रत्यागमन के अनुसार व्रजवासि गण मथुरा में निवास करते थे । इस का वर्णन पहले हुआ है । उस से बोध होता है कि –श्रीकृष्ण का मथुरा गमन होने पर व्रज वासी के सहित मिलन संघटित हुआ था ।

पद्म पुराण में तो सुस्पष्ट ही वर्णित है—कि–दन्तवक्र बध के पश्चात् श्रीकृष्ण का व्रजगमन हुआ था । श्रीकृष्ण सन्दर्भ के १७४ अनुच्छेद में इस का वर्णन है । व्रज में पुनरागमन के वाद व्रजवासी के सहित श्रीकृष्ण का विच्छेद नहीं हुआ था । श्रीवृन्दावन के अप्रकट प्रकाश में उन सबों के सहित नित्य अवस्थित हैं । अतएव नित्य तुष्टि कही गई है । यहाँ तक वात्सल्य रस का वर्णन हुआ ।

### मैत्री मय रस

अनन्तर मैत्री मय रस का वर्णन करते हैं । मैत्रीमय रस में अर्थात् सख्यरस में आलम्बन–विषय–श्रीकृष्ण मित्र रूप में स्फूर्त्ति प्राप्त होकर मैत्री का विषय होते हैं । श्रीकृष्ण लीला के अन्तः पाती मित्र वृन्द इस के आश्रय हैं ।

सखा गण--श्रीकृष्ण के सजातीय भाव विशिष्ट होते हैं, एवं उस भाव--निज प्रभाव से ही उत्कृष्ट सख्य भाव से स्थल विशेष में श्रीकृष्ण, चतुर्भुज रूप में आविर्भूत होने पर भी नराकार ही प्रतीत होते हैं । जिस प्रकार गीता के ११।४६ में विश्वरूप दर्शन के पश्चात् अर्जुन कहे थे— 'तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन, सहस्र

(गी० ११।५१) —

"दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्द्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥"५२० ॥

इत्युक्तम् । अतएव विश्वरूपादीनां तद्दर्शनजातसाध्वसादिभावानां च न कथमपि तदभीष्टत्वम् ।

अथ तन्मित्राणि, सुहृदः सखायश्च । तत्र पूर्व्वोक्तलक्षणाः सुहृदः श्रीभीमसेन-द्रौपदी-प्रभृतय, सखायः श्रीमदर्जुन-श्रीदामविप्रादयः, श्रीमति गोकुले श्रीदामादयश्च, ते च श्रीभागवतादौ प्रसिद्धाः, तथागमे वसुदाम-किङ्किण्यादयः, भविष्योत्तरे मल्ललीलायाम्—"सुभद्र-मण्डलीभद्र-भद्रवर्द्धन-गोभटाः । यक्षेन्द्र-भटः" इत्याद्या गणिताः । गणना तु (भा० १०।१२।२) "तेनैव साकं पृथुकाः सहस्रशः" इत्युक्त्या एषामपि श्रीकृष्णसाम्यमेव "गोपैः समानगुण-शील-वयोविलासवेषैश्च" इत्यादौ दर्शितम्, (भा० १०।१८।११) 'गोपजातिप्रतिच्छन्नाः'

---

बाहो भव विश्वमूर्त्ते" हे विश्वमूर्त्ते ! हे सहस्र बाहो ! तुम उस चतुर्भुज रूप हो जाओ । इस प्रकार प्रार्थना करने के पश्चात् श्रीकृष्ण उस रूप में प्रादुर्भूत होने पर गीता ० ११।५१ अर्जुन ने कहा है—

"दृष्ट्वेद मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५२०॥

हे जनार्दन ! अधुना तुम्हारे सुन्दर मानुष रूप को देखकर मेराचित्त प्रसन्न हुआ, मैं सुस्थ हुआ ।" अतएव विश्वरूपादि एवं तद् दर्शन जनित भयादि भाव श्रीअर्जुन के पक्ष में किञ्चिन्मात्र भी अभीष्ट नहीं है ।

सुहृद् एवं सखा भेद से मित्र द्विविध होते हैं । परस्पर निरूपाधि उपकारमयी प्रीति जिन में है-- वे सुहृद् होते हैं । और सह विहार शाली प्रणयमयी प्रीति जिन में है, वे सखा होते हैं । ८४ अनुच्छेद में इस का लक्षण उक्त है । उक्त लक्षणाक्रान्त सुहृद्—श्रीभीमसेन द्रौपदी प्रभृति हैं । सखा—श्रीअर्जुन, श्रीदाम विप्र प्रभृति हैं । श्रीगोकुल में श्रीदामादि गोप बालक गण श्रीकृष्ण के सखा हैं । इनका विवरण श्रीमद्भागवतादि में प्रसिद्ध है । आगम में वसुदाम किङ्किणी प्रभृति सखा का उल्लेख भी है । भविष्य पुराण के उत्तर खण्ड में मल्ललीला में सुभद्र, मण्डली भद्र, भद्र वर्धन गोभट, यक्षेन्द्र भट प्रभृति सखाओं का नाम उल्लेख है ।

प्रश्न हो सकता है कि—जिनका नामोल्लेख श्रीमद् भागवत में नहीं है, अन्यत्र उनका नामोल्लेख होने पर भी कैसे उन सब को श्रीकृष्ण सखा कहा जा सकता है ? उत्तर में कहते हैं—भा० १०।१२।२ में इस का वर्णन है—"तेनैव साकं पृथुका सहस्रशः" श्रीकृष्ण के सहित सहस्र सहस्र बालक थे । अतएव आगमादि में कतिपय सखाओं का नामोल्लेख प्राप्त होता है । श्रीकृष्ण के सखा गण--श्रीकृष्ण के ही समान गुण, स्वभाव, वयस, विलास, वेश विशिष्ट हैं । "गोपैः समान गुण शील वयोविलास वेषैश्च" इत्यादि आगम वाक्य में सख्य वृन्द का श्रीकृष्ण साम्य प्रदर्शित हुआ है । भा० १०।१८।११ में उक्त है—

"गोप जाति प्रतिच्छन्न देवा गोपाल रुपिणम् ।
ईड़िरे कृष्ण रामञ्च नटा इव नटं नृप ॥"

श्रीशुकदेव परीक्षित् को कहे थे—हे नृप ! नट जिस प्रकार नट का स्तव करता है, गोप जाति में अभिव्यक्त देव गण भी उस प्रकार गोपाल रूपी श्रीराम कृष्ण का स्तव किये थे । कृष्ण सन्दर्भ ११७ अनुच्छेद में उस प्रकार व्याख्या की गई हैं । यहाँ देवता शब्द से श्रीकृष्ण सखा गण कथित हुये हैं । श्लोक

इत्यादिपद्ये(११७ अनु०)श्रीकृष्णसन्दर्भे तथैव व्याख्यातम् । एषां स्वाभाविकवैदग्ध्यलक्षणमपि (भा० १०।२३।८) "दीक्षायाः पशुसंस्थायाः" इत्यादि-पद्यमस्ति । वैदग्ध्यमपि (भा० १०।१८।१३) 'क्वचिन्नृत्यत्सु बालेषु' इत्यादौ श्रीभगवतापि श्लाघितगुणत्वेन व्यञ्जयिष्यते । ते च त्रिविधाः,—सखायः, प्रियसखाः, प्रियनर्मसखाश्च,--तत्तद्भाववैशिष्ट्यात् । तत्र श्रीदामादयः परममाधुर्य्यैकमय-प्रणयातिशयि-विहारलालित्येनाधिकाः,-(भा० १०।१२।११) 'इत्थं सताम्' इत्यादिनोक्तेः । तत्र श्रीकृष्णस्यालम्बनत्वञ्च (भा० १०।२१।५) 'वर्हापीड़ं नटवरवपुः' इत्यादिना वर्णितम् ।

अथोद्दीपनेषु गुणाः—अभिव्यक्तमित्रभावता, आर्जवम्, कृतज्ञत्वम्, बुद्धिः, पाण्डित्यम्,

---

में देवपद के द्वारा श्रीकृष्ण के सहित गोप गण का माहात्म्य साम्य, गोप ल रूपी पद के द्वारा प्रकृति वेश लीलासाम्य, एवं नट दृष्टान्त के द्वारा गुणसाम्य प्रदर्शित हुआ है ।

श्रीकृष्ण के सखावृन्द की स्वाभाविक विद्यावत्ता का परिचय भा० १० २३।८ में है—

"दीक्षायाः पशु संस्थायाः सौत्रामण्याश्च सत्तमाः ।
अन्यत्र दीक्षितस्यापि नान्नमश्नन् हि दूष्यति ।।"

श्रीकृष्ण के सखा गोप कुमार गण याज्ञिक ब्राह्मण गण के अन्न प्रार्थी होकर कहे थे—हे सत्तम गण ! दीक्षा ग्रहण करके अग्निष्टोमीय पशुमारण पूर्व में दीक्षितान्न ग्रहण से दोष नहीं होना है । तद्भिन्न स्थल में एवं सौदामणी भिन्न अन्न याग में दीक्षित व्यक्ति का अन्न भोजन से दोष नहीं होता है । इस वाक्य में गोप कुमार वृन्द की शास्त्रज्ञता का परिचय प्राप्त होता है । भा० १०।१८।१३ में ' क्वचिन्नृत्यत्सु बालेषु" इत्यादि श्लोकों में श्रीकृष्ण एवं सखा वृन्द के गुणों की प्रशंसा की गई है । इस से उन सब की विदग्धता व्यञ्जित हुई है ।

उक्त सखा गण तीन प्रकार के होते हैं । सखा, प्रियसखा, एवं प्रियनर्म सखा । उस उस भाव वैशिष्ट्य के द्वारा इन सब का भेद निरूपित हुआ है । उस के मध्य में श्रीदामादि शुद्ध परम माधुर्य्यमय प्रचुर प्रणय पूर्ण विहार लालित्य के द्वारा सर्वश्रेष्ठ हैं । भा० १० १२।११ में वर्णित "इत्थं सतां" इत्यादि श्लोक के द्वारा ज्ञात होता है ।

उस में श्रीकृष्ण का आलम्बनत्व का वर्णन भा० १०।१२।५ में है ।

"वर्हापीड़ं नटवर वपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनक कपिशं वैजयन्तीञ्च मालाम् ।
रन्ध्रान् वेणुरधर सुधया पूरयन् गोपवृन्दै
र्वृन्दारण्यं स्वपद रमणं प्राविशद् गीति कीर्त्तिः ।।"

श्रीशुकदेव, महाराज परीक्षित् को कहे थे—श्रीकृष्ण नटवर वपुः धारण कर स्वीय पद चिह्न द्वारा अङ्कित वृन्दावन में प्रवेश किये थे । उनके मस्तक में मयूर पुच्छ का मुकुट, कर्णद्वय में कर्णिकार, परिधान में सुवर्णवत् कपिश वर्ण वसन, गले में वैजयन्ती माला है । आप अधर सुधा से वेणु के रन्ध्र को पूर्ण कर रहे हैं । गोपगण चतुर्द्दिक में उनकी कीर्त्ति का कीर्त्तन करते रहते हैं ।

उद्दीपन समूह के मध्य में श्रीकृष्ण के गुण--अभिव्यक्त मित्रभावता, सरलता, कृतज्ञता, बुद्धि,

प्रतिभा, दाक्ष्यम्, शौर्य्यम्, वलम्, क्षमा, कारुण्यम्, रक्तलोकत्वमित्यादयः, अवयववयः-सौन्दर्य्यम्, सर्वसल्लक्षणत्व-मित्यादयश्च । तत्र सौहृद्यमये आर्जवादीनां प्राधान्यम्, सख्यमये तु वैदग्ध्य-सौन्दर्य्यादिमिश्राणां तेषाम्, तदुभयांशमिश्रायां मैत्र्यां तु यथास्वमंशद्वयस्य । तत्राभिव्यक्त-तत्तद्भावता श्रीमदर्जुनानुतापे यथा, (भा० १।१५।४) 'सख्यं मैत्रीं सौहृदञ्च" इत्यग्रे वक्ष्यते । श्रीगोपेषु च तां व्यनक्ति, (भा० १०।१३।१३)—

"तान् दृष्ट्वा भयसंत्रस्तानूचे कृष्णोऽस्य भीभयम् ।
मित्राण्याशान्मा विरमतेहानेष्ये वत्सकानहम् ।।'५२१। इत्यादि ।

(भा० १०।१३।१६)—

(२४६) 'ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य पुलिनेऽपि च वत्सपान् ।
उभावपि वने कृष्णो विचिकाय समन्ततः ।।'५२२।। इत्यन्तम् ।

स्पष्टम् ।। श्रीशुकः ।।

---

पाण्डित्य, प्रतिभा, दक्षता, शौर्य्य, बल, क्षमा, कारुण्य, रक्तलोकत्व प्रभृति हैं, एवं अवयव तथा वयस का सौन्दर्य्य, सर्वसल्लक्षणत्व प्रभृति हैं ।

सौहृद्यमय मैत्री में--सरलता प्रभृति का प्राधान्य है । एवं सख्य मय मैत्री में वैदग्ध, सौन्दर्य्यादिमिश्र सरलतादि का प्राधान्य है । उभयांश मिश्रित मैत्री में गुणांशद्वय का अर्थात् सरलता प्रभृति एवं वैदग्ध्यादि मिश्र सरलतादि का यथायोग्य मिश्रण को जानना होगा ।

श्रीकृष्ण में ये सब गुणों की अभिव्यक्ति की कथा अर्ज्जुन के अनुताप वर्णन में देखी जाती है । उसके मध्य में भा० १।१५।४ में उक्त है—"सख्यं मैत्रीं सौहृदञ्च" सख्य, मैत्री सौहृद्य-गुण त्रय का वर्णन (२७१ अनु) उक्त प्रसङ्ग में होगा । गोपगणों के सम्बन्ध में उक्त गुण समूह की अभिव्यक्ति का विषय (भा० १०।१३।१३) वन भोजन लीला के कतिपय श्लोकों में वर्णित है ।

"तान् दृष्ट्वा भयसंत्रस्तानूचे कृष्णोऽस्य भीभयम् ।
मित्राण्याशान्मा विरमतेहानेष्ये वत्सकानहम् ।।५२१।।

श्रीकृष्ण, सखा गोप बालक वृन्द के सहित वन भोजन में प्रवृत्त होने पर ब्रह्माने उन के वत्स समूह को अपहरण कर लिया । गोप बालक गण वत्स गण को न देख कर अत्यन्त भीत हुये थे । अनन्तर कृष्ण सखा गण को भय संत्रस्त देखकर कहे थे-हे मित्र गणः, तुम सब भोजन से विरत नहीं। निश्चिन्त होकर भोजन करो, मैं वत्स गण को ले आऊँगा । भा० १०।१३।१६ में उक्त है —

(२४६) "ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य पुलिनेऽपि च वत्सपान् ।
उभावपि वने कृष्णो विचिकाय समन्ततः ।।"५२२।।

यह कहकर खाद्य सामग्री का ग्रास को हाथ में लेकर ही पर्वत, पर्वत गह्वर एवं लताच्छादित गह्वर में भगवान् कृष्ण निज वत्सवृन्द का अनुसन्धान करने लगे ।

पहले ब्रह्मा आकाश में अवस्थित होकर श्रीकृष्णके द्वारा अघासुर मोक्षण लीला दर्शन कर विस्मित हुये थे । अन्य मनोहर लीला दर्शन हेतु प्रथम गोवत्सापहरण एवं पश्चात्--अर्थात् जिस समय कृष्ण

२५० । तथा (भा० १०।१५।५२)–'अन्वमंसत तद्राजन् गोविन्दानुग्रहेक्षितम्" इत्यादि ।
स्पष्टम् ॥ सः ॥

२५१ । तथा (भा० १०।१३।५) 'अहोऽतिरम्यं पुलिनं वयस्याः" इत्यादि ।
स्पष्टम् ॥ श्रीभगवान् ॥

२५२ । तथा (भा० १०।१५।१६)—

(२५२) 'क्वचित् पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्षितः ।
वृक्षमूलाश्रयः शेते गोपोत्सङ्गोपवर्हणः ॥'५२३॥

स्पष्टम् । श्रीशुकः ।

---

वत्सानुसन्धान में प्रवृत्त हुये थे । उस समय श्रीकृष्णके वयस्य गोप बालक गण को भी अपहरण किये थे ।

कृष्ण, उक्त स्थान समूह में वत्स वृन्द का अनुसन्धान करके प्राप्त न होने से भोजन स्थल पुलिन में लौट आये थे । वहाँ पर आकर देखे थे सखा गण भी नहीं हैं । तब श्रीकृष्ण वत्स एवं वयस्य उभय को चतुर्दिक में वन में अनुसन्धान करने लगे थे । प्रवक्ता श्रीशुक हैं—२४६॥

२५० । अन्यत्र भी गुणाभिव्यक्ति का विवरण वर्णित है—कालिय ह्रद के जल पान से मृत गोप बालक गण श्रीकृष्ण की कृपा से पुन जीवित हुये थे । इस में मैत्री का उद्दीपक कारुण्य अभिव्यक्त हुआ था । भा० १०।१५।५२ में उक्त है—

"अन्वमंसत तद्राजन्गोविन्दानुग्रहेक्षितम् ।
पीत्वा विष परेतस्य पुनरुत्थानमात्मनः ॥"

गोप बालक वृन्द--काल कूटपान से मृत जीवन लाभ में श्रीकृष्ण की कृपा दृष्टि को ही कारण माने थे । —श्रीशुकदेव कहे थे ॥२५०॥

२५१ । उस प्रकार दृष्टान्त भा० १०।१३।५ में है—

"अहोऽतिरम्यं पुलिनं वयस्याः स्वकेलि सम्पन्मृदुलाच्छ बालुकं ।
स्फुटत् सरोगन्ध हृतालि पत्रिकध्वनि प्रति ध्वान लसद्द्रुमाकुलम् ॥"

वन भोजन लीला में जिस सरोवर के पुलिन में बैठकर भोजन किये थे—वहाँ भोजन के पूर्व में उपस्थित होकर श्रीकृष्ण,सखा वृन्द को कहे थे—हे वयस्य गण ! यह पुलिन अति रमनीय है । यहाँ हमारी केलि सम्पद् समूह विद्यमान हैं । यहाँ के कोमल अलच्छ निर्म्मल हैं, एवं सरोवर में प्रचुर परिमाण में कमल प्रस्फुटित होने पर उस की गन्ध से भ्रमर एवं पक्षिकुल आकृष्ट हुये हैं, उस की ध्वनि एवं प्रति ध्वनि के सहित जो सब तरु विराजित हैं, वे सब तरु के द्वारा यह पुलिन व्याप्त है । श्रीभगवान् बोले थे ।२५१।

२५२ । भा० १०।१५।१६ में उक्त है—

(२५२) "क्वचित् पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्षितः ।
वृक्षमूलाश्रयः शेते गोपोत्सङ्गोपवर्हणः ॥"५२३॥

सखावृन्द के सहित क्रीड़ा प्रसङ्ग में वर्णित है—किसी किसी स्थान में श्रीकृष्ण, सखागण के सहित बाहु युद्ध से परिश्रान्त होकर वृक्ष मूल में पल्लव शय्या में गोप बालक के क्रोड़ में मस्तक स्थापन कर शयन किये थे । श्रीशुकदेव कहे थे--२५२॥

२५३। तथा (भा० १०।३५।२०) 'कुन्ददाम' इत्यादौ 'नर्म्मदः प्रणयिनां विजहार' इति।

२५४। तथा (भा० १०।३५।१८)—'मणिधरः' इत्यादौ 'प्रणयिनोऽनुचरस्य कदांसे, प्रक्षिपन् भुजमगायत यत्र" इति। स्पष्टम्। श्रीगोप्यः।

२५५। अथ जातिश्च क्षत्रियत्वम्, यत्र सौहृदमयस्य प्राचुर्य्यम्, तथा गोपत्वम्, यत्र सख्यमयस्य प्राचुर्य्यम्। अथ क्रियाश्च सौहृदमये विक्रान्त्यादि-प्रधानाः, सख्यमये तु नर्म्मगान-नानाभाषाशंसनगवाह्वान-वेणुवाद्यादि-कला-बाल्याद्युचितक्रीड़ादयः, तत्र नर्म्म यथा (भा० १०।१३।११)—

(२५५) 'बिभ्रद्वेणुं जठरपटयोः' इत्यादौ 'तिष्ठन्मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन् नर्मभिः स्वैः" इत्यादि। स्पष्टम्। सः।

---

२५३। उस प्रकार भा० १०।३५।२० में उक्त है—

"कुन्ददामकृतकौतुक वेषो गोप गोधन वृतो यमुनायान्।
नन्द सूनुरनघे तव वत्सो नर्म्मदः प्रणयिनां विजहार॥"

टीका-तदेवं वृन्दावन प्रदेशेषु क्रीड़ित्वा सायाह्ने में गोधनादि परावर्त्य यमुनाया क्रीड़ितस्तस्य सौभाग्य मनुवर्णयन्ति, कुन्ददामकृतकौतुक वेष इति। गोपीनानुमुत्सवाय कुन्ददामभि कृतः कौतुकेनोत्सवेन वेषोऽलङ्कारो येन सः। हे अनघे यशोदे! तव वत्सः पुत्रो-नन्दसूनुः कृष्णः। यद्वा, स हैव बह्व्यः कथयन्तः-काश्चित् तववत्स इति काश्चित् नन्दसूनुरिति चाहुः। नर्म्मदो हर्षदः सन् यदा विजहार-क्रीड़ति स्म॥"

सखा गण के सुख दाता कृष्ण गोप गोधन वृत होकर विहार करते हैं। यह वाक्य मैत्री उद्दीपक गुणों का परिचायक है॥२५३॥

२५४। भा० १०।३५।१८ में उक्त है—

"मणिधरः क्वचिदागणयन् गा मालया दयित गन्धतुलस्याः।
प्रणयिनोऽनुचरस्य कदांसे प्रक्षिपन् भुजमगायत यत्र॥"

टीका—किञ्च मणिधरो मणीन् ग्रथितान् गो गणनार्थं धरतीति मणिधरः क्वचिद् देशे एतैर्म्मालाभि र्गा आसमन्ताद् गणयन्। तथा दयित गन्धा या तुलसी तस्या मालया सह वर्त्तमानः प्रणयिनः प्रियस्त अनुचरस्य अंसे भुजं प्रक्षिपन्। यत्र यदा कदाचित् अगायत।

किसी समय प्रणयी अनुचर वृन्द के स्कन्ध देश में बाहु स्थापन कर गान किये थे! यह वाक्य भी गुण का परिचायक है। श्रीगोपीगण बोली थीं॥२५४॥

२५५। श्रीकृष्ण के जाति रूप उद्दीपन द्विविध हैं। क्षत्रियत्व एवं गोपत्व। क्षत्रियत्व में सौहृद्यमय मित्र भाव का प्राचुर्य्य है। एवं गोपत्व में सख्यमय मित्र भाव का प्राचुर्य्य है।

क्रियारूप उद्दीपन—सौहृद्यमय प्रीति रस में जो सब क्रिया में अर्थात् कार्य्य में विक्रमादि का प्राधान्य है---वे सब क्रिया, एवं सख्यमय प्रीति रस में नर्म्म, अर्थात् परिहास, गान, विविध भाषा विज्ञता गवाह्वान्, वेणु वाद्यादि कलानैपुण्य, बाल्यादि योग्य क्रीड़ा प्रभृति हैं। उस के मध्य में नर्म्म का उदाहरण भा० १०।१३।११ में है—

(२५५) "बिभ्रद्वेणुं जठर पटयोः शृङ्ग वेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृण कवलं तत् फलान्यङ्गुलीषु।

२५६ । अन्याश्च यथा (भा० १०।१५।८-१०)—

(२५६) "एवं वृन्दावनं श्रीमत् प्रीतः प्रीतमनाः पशून् ।
रेमे सञ्चारयन्नद्रेः सरिद्रोधःसु सानुषु ।।५२४।।
क्वचिद्गायति गायत्सु मदान्धालिष्वनुव्रतैः ।
उपगीयमानचरितः पथि सङ्कर्षणान्वितः ।
अनुजल्पति जल्पन्तं कलवाक्यैः शुकं क्वचित् ।"५२५। इत्यादि ।

२५७ । तथा (भा० १०।१५।१२)—

(२५७) 'मेघगम्भीरया वाचा नामभिर्दूरगान् पशून् ।
क्वचिदाह्वयति प्रीत्या गो-गोपालमनोज्ञया ।।"५२६।।

(भा० १०।१५।१३) 'चकोरक्रौञ्च-' इत्यादि । स्पष्टम् । सः ।

---

तिष्ठन् मध्ये स्वपरि सुहृदो हासयन्नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बभुजे यज्ञभुग बालकेलिः ।।"

श्रीकृष्ण, निज चतुर्दिक् में उपविष्ट सखा गण के मध्य में उपवेशन कर स्वीय परिहास वाक्य से सब को हँसा रहे थे । श्रीशुक कहे थे ।।२५५।।

२५६ । सख्यमय प्रीतिरस का नर्म्म व्यतीत अन्यान्य क्रियारूप उद्दीपन का उदाहरण भा० १०।१५।८-१० में है— (२५६) "एवं वृन्दावनं श्रीमत् प्रीतः प्रीतमनाः पशून् ।
रेमे सञ्चारयन्नद्रेः सरिद्रोध. सु सानुषु ।।५२४।।
क्वचिद्गायति गायत् सु मदान्धालिष्वनुव्रतैः ।
उपगीयमानचरितः पथि सङ्कर्षणान्वितः ।
अनुजल्पति जल्पन्तं कलवाक्यैः शुकं क्वचित् ।।"५२५।।

श्रीकृष्ण बलराम के सहित परिहास करते करते शोभामय वृन्दावन के प्रति प्रीत होकर अनुगत वयस्यादि के सहित सन्तुष्ट चित्त से गोवर्द्धन सन्निहित मानस गङ्गादि नदीतट में गोचारण कर क्रीड़ा करने लगे थे ।

अनुचर गण श्रीकृष्ण चरित्र गान करने लगे थे । पथ में मदान्ध अलिकुल को गान करते देखकर बलराम के सहित मिलित होकर आप भी गान करने लगे थे । किसी स्थानमें शुक से भी सुमधुर कलवाक्य द्वारा शब्दायमान शुक पक्षी का अनुकरण करने लगे थे ।।२५६।।

२५७ । किसी स्थान में गो एवं गोप बालक गण को- मनोहर मेघ गम्भीर स्वर से दूरगामि पशुगण को स्नेह पूर्वक आह्वान करने लगे थे । कहीं पर चकोर, वक, चक्रवाक् भारद्वाज, मयूर प्रभृति पक्षीवृन्द की ध्वनि का अनुकरण करके शब्द करने लगे थे । किसी समय प्राणी वृन्द के मध्य में जाकर सिंह व्याघ्र से भीत प्राणी के समान शब्द करने लगे थे । भा० १०।१५।१२

(२५७) "मेघगम्भीरया वाचा नामभिर्दूरगान् पशून् ।
क्वचिदाह्वयति प्रीत्या गो-गोपालमनोज्ञया ।।"५२६।।

२५८। तथा (भा० १०।१८।१९)—

(२५८) 'तत्रोपाहूय गोपालान् कृष्णः प्राह विहारवित् ।
हे गोपा विहरिष्यामो द्वन्द्वीभूय यथायथम् ।।'५२७। इत्यादि ।

स्पष्टम् । सः ।

२५९। तथा (भा० १०।१४।४७)—'वर्हप्रसूनवनधातु विचित्रिताङ्गः, प्रोद्दामवेणुदलशृङ्गरवोत्सवाढ्यः' इत्यादि । स्पष्टम् । सः ।

२६०। अनेन गोपवेषश्च दर्शितः, (भा० १०।२१।१९) 'गा गोपकैरनुवनं नयतोः' इत्यादौ 'निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम्' इत्यनेन च, विचित्रत्वं चात्र पट्टसूत्र-मुक्तादिमयत्वेनावगन्तव्यम्, तथा (भा० १०।३५।६) "वर्हिणस्तवकधातुपलाशै-,र्बद्धमल्लपरिवर्ह विड़म्बः"

---

(भा० १०।१५।१३) "चकार क्रौञ्च चक्राह्वभारद्वाजांश्चबर्हिणः ।
अनुरौति स्म सत्त्वानां भीतवद् व्याघ्रसिंहयोः ।।" प्रवक्ता श्रीशुक हैं--२५७।।

२५८। भा० १०।१५।१९ में उक्त है—

(२५८) "तत्रोपाहूय गोपालान् कृष्णः प्राह विहारवित् ।
हे गोपा विहरिष्यामो द्वन्द्वीभूय यथायथम् ।।"५२७।।

विहारवित् कृष्ण, गोप बालक गण को आह्वान कर कहे थे- हे गोप गण ! हम वयस एवं बल के अनुरूप द॰ दलों में विभक्त होकर खेलेंगे । प्रवक्ता श्रीशुक हैं ।।२५८।।

२५९। उस प्रकार भा० १०।१४।४७ में उक्त है—

"वर्हं प्रसून नव धातु विचित्रिताङ्गः प्रोद्दामवेणुदलशृङ्गरवोत्सवाढ्यः" ।
वत्सान् गृणन्ननुगगीत पवित्रकीर्त्तिर्गोपीदृगुत्सवदृशिः प्रविवेशः गोष्ठम् ।।"

शिखि पुच्छ, पुष्प, गैरिकादि, द्वारा विचित्र शरीर श्रीकृष्ण, वंशी पत्र रचित वंशी एवं शृङ्गादि का अत्युच्च शब्द एवं नृत्य गीत क्रीड़ा द्वारा समृद्ध होकर व्रज में प्रवेश किये थे । उस समय अनुचर गोप बालक गण उनकी पवित्र कीर्त्ति गान कर रहे थे । श्रीकृष्ण--अत्यन्त स्नेह पूर्ण स्वर से वत्स वृन्द को नाम लेकर आह्वान करते थे, उनका दर्शन श्रीयशोदा प्रभृति के नयनोत्सव स्वरूप है । वक्ता श्रीशुक हैं ।।२५९।।

२६०। इस श्लोक में गोप वेश प्रदर्शित हुआ है । भा० १०।२१।१९ में उक्त है—

"गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदार वेणुस्वनैः कलपदै स्तनुभृत्सुसख्यः ।
अस्पन्दनं गतिमतां पुलक स्तरूणां निर्योग पाशकृत् लक्षणयोर्विचित्रम् ।।"

श्रीकृष्ण प्रेयसी एक गोपी बोली थी—हे सखी गण ! गोप गण के सहित वन वन में गोचारण कारी एवं निर्य्योग पाश द्वारा (लोमना द्वारा) शोभित राम कृष्ण सुमधुर पद सम्बलित श्रवणानन्द दायक वेणुरव के द्वारा जो गतिमानों की जड़ता एवं वृक्ष वृन्द का पुलकोद्गम करा रहे हैं । यह अतीव विचित्र है ।

पट्ट रेशम सूत्र एवं मुक्तादि मय होने के कारण ही यहाँ विचित्रत्व जाना जाता है ।

यहाँ जिस प्रकार श्रीकृष्ण का गोपवेश वर्णित हुआ है, उस प्रकार भा० १०।३५।६ में मल्लवेष भी वर्णित हुआ है— "वर्हिणस्तवकधातुपलाशै-र्बद्धमल्लपरिवर्हविड़म्बः ।
कर्हिचित् सबल आलिसगोपैर्गाः समाह्वयति यत्र मुकुन्दः ।।"

इत्यादिषु मल्लवेषः, (भा० १०।२३।२२) 'श्यामं हिरण्यपरिधिम्' इत्यादौ 'नटवेषम्' इत्यनेन नटवेषः, (भा० १०।५।८) 'महार्हवस्त्राभरण-कञ्चुकोष्णीषभूषिताः। गोपाः समाययू राजन्' इत्यनुसारेण राजवेषश्च। एष तु द्वारकादौ प्रचुरः, तथा तत्र गोकुले च परिधानीयोत्तरीयाभ्यां धार्मिकगृहस्थवेषश्चावगन्तव्यः, एष एव (भा० १०।१५।४५) "नीविं वसित्वा रुचिराम्" इत्यनेन दर्शितः। तैस्तैरेव हि तत्तल्लीलाः शोभन्त इति। अथ द्रव्याणि च वसन-भूषण-शङ्ख-चक्र-शृङ्ग-वेणु-यष्टि-प्रेष्ठजन-प्रभृतीनि, कालाश्च तत्तत्क्रीड़ोचिताः, ते तु यथा (भा० १०।२०।२५),—

(२६०) 'एवं वनं तद्वर्षिष्ठं पक्वखर्ज्जूरजम्बुमत्।
गोगोपालैर्वृतो रन्तुं सबलः प्राविशद्धरिः।।"५२८।।

---

श्रीकृष्ण, गोचारण हेतु वन गमन करने पर विरह व्याकुला व्रजदेवी गण उनका चरित्र गान करते करते कह रही थीं—हे सखि! मयूर पुच्छ, गैरिक राग एवं तरुपल्लव द्वारा मुकुन्द-मल्ल के समान बद्ध परिकर होकर बलदेव एवं गोप गण के सहित धेनु वृन्द को आह्वान कर रहे हैं। भा० १०।२३।२२ में उक्त है—

"श्यामं हिरण्य परिधिं वन माल्य बर्ह धातु प्रवाल नट वेषमनुव्रतां से।
विन्यस्त हस्तमितरेण धुनानमब्जं कर्णोत्पलालक कपोलमुखाब्जहासम्।।"

इस में कृष्ण को नट वेष से विभूषित कहा गया है। भा० १०।५।१८ में उक्त है—

"महार्हवस्त्राभरण-कञ्चुकोष्णीषभूषिताः।
गोपा समाययुराजन् नानोपायन पाणयः।।"

हे राजन्! विविध वसन भूषण कञ्चुक उष्णीष से भूषित गोपगण विविध उपहार लेकर श्रीकृष्ण जन्मोत्सव में व्रजराज भवन में समागत हुये थे।

इस वर्णन के अनुसार श्रीकृष्ण के राज वेष का वर्णन भी प्राप्त होता है। द्वारकादि में उक्त वेष का प्राचुर्य्य है। गोकुल में परिधानीय एवं उत्तरीय वस्त्र द्वय--धारण कर धार्मिक गृहस्थ के वेष में अवस्थान करते हैं। भा० १०।१५।४५ में उक्त है—

"गताध्वानश्रमौ तत्र मज्जनोन्मर्द्दनादिभिः।
नीवीं वसित्वा रुचिरां दिव्यस्रग् गन्ध मण्डितौ।।"

इस में उक्त वेष का वर्णन है। ये सब वेश के द्वारा उस लीला शोभित होती है।

अभिप्राय यह है—गोप गण श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव में राजवेश से सज्जित होकर ब्रजराज भवन में समागत हुये थे। इस से प्रतीत होता कि-महोत्सव में साधारण गोप गण भी राज वेश धारण करते थे। अतएव व्रजेन्द्र नन्दन भी उस राज वेश से सुसज्जित होते थे। बहु मूल्य वस्त्र, अलङ्कार, जामा, पागड़ी ये सब राजवेश हैं।

व्रज में गोप वेष, मल्लवेष, नट वेष, एवं राज वेष, ये पञ्चविध वेष देखने में आते हैं। पञ्चविध वेष के द्वारा ही गोपादि के अनुरूप लीला शोभित होती है।

द्वारकादि में ही राजवेष का प्राचुर्य्य है। गोकुल में परिधानीय एवं उत्तरीय के सहित धार्म्मिक सद् गृहस्थ वेष है। इस का वर्णन ही भा० १०।१५।४५ में "नीविं वसित्वा रुचिराम्" अनन्तर द्रव्य रूप उद्दीपन का वर्णन है—वसन-भूषण शङ्ख-चक्र-शृङ्ग, वेणु-यष्टि प्रेष्ठजन प्रभृति हैं। केलि रूप उद्दीपन-उस उस क्रीड़ा के अर्थात् गोचारण, वन भोजन, मल्लक्रीड़ा प्रभृति का उपयुक्त समय है। उक्त कालों का वर्णन भा०

(भा० १०।२०।२६) 'धेनवो मन्दगामिन्यः' इत्यादि, (भा० १०।२०।०६) 'वनौकसः प्रमुदिताः' इत्यादि, (भा० १०।२०।२८) "क्वचिद्वनस्पतिक्रोड़े" इत्यादि, (भा० १०।२०।२९) "दध्योदनमुपानीतम्" इत्यादि, (भा० १०।२०।३०) 'शाद्वलोपरि संविश्य' इत्यादि, (भा० १०।२०।३१) 'प्रावृट्श्रियश्च तां वीक्ष्य' इत्याद्यन्तम् ।। स्पष्टम् ।। सः।

२६१। एवमन्येऽपि स्मर्त्तव्याः अथानुभावेषूद्भास्वराः, तत्र सौहृदमये निरुपाधि-तदीय-हितानु-सन्धानयुक्तायुक्तादिकथन-सस्मितगोष्ठी-प्रभृतयः, सख्यमये असङ्कुचित प्रीतिमयचेष्टाः, ताश्च सह-नानाक्रीड़ासङ्गीतादि-कलाभ्यास-भोजनोपवेश-शयनादयः, नर्म्मरहोलील कर्ण-कथादयश्च ज्ञेयाः, (भा० १०।२१।११) 'इत्थम्' इत्यादिना या एव प्रशस्ताः, तथोदाह्रियन्ते (भा० १०।१८।९-१४)—

---

१०।२०।२५ में इस प्रकार है —

(२६०) "एवं वनं तद्वर्षिष्ठं पक्व खर्जू र जम्बुमत् ।
गो गोपालै र्वृ तो रन्तु सबलः प्राविशद्धरिः ।।"५२८।।

इस रीति से वर्षा के समय क्रीड़ा करने के निमित्त गो एवं गोपाल वृन्द से परिवृत होकर श्रीबलदेव के सहित श्रीकृष्ण, पक्व खजुर एवं जम्बु विशिष्ट एक वन में प्रवेश किये थे। भा० १०।२०।२६ में उक्त है-"धेनवो मन्दगामिन्यः" स्तन भर से मन्द गामिनी धेनुवृन्द श्रीकृष्ण कर्त्तृक आहूत होकर द्रुत गति से साथ साथ चल रही थीं। प्रीति से उनके स्तन से दुग्ध क्षरित होने लगा। भा० १०।२०।२७ में उक्त है-उन वन में प्रवेश कर उन्होंने देखा---पुलिन्दयादि वनवासि जन गण प्रफुल्ल हैं, वनराजी--मधु क्षरण शील हैं, पर्वत से जल धारा निर्गलित हो रही है। जल पतन शब्द से गुहा समूह शब्दायमान हो रहे हैं। भा० १०।२०।२८ में लिखित है—"क्वचिद्वनस्पतिक्रोड़े' (भा० १०।२०।२९) "दध्योदनमुपानीतम्" भा० १०।२०।३०' शाद्वलोपरि संविश्य" भा० १०।२०।३१"प्रावृट श्रियश्च तां वीक्ष्य"

जिस समय वन में वर्षा हो रही था, उस समय श्रीकृष्ण, कभी वृक्ष कोटर में कभी गुहा मध्य में प्रवेश कर कन्द, मूल, फल भोजन कर विहार किये थे।

निज गृहस्थित व्यक्ति के द्वारा अथवा बान्धवजन आनीत दधि, अन्न, व्यञ्जन-भोजन-जल सन्निहित शिला में उपवेशन कर बलराम एवं गोप गण के सहित किये थे।

उस समय तृण समूह के ऊपर शयन कर नयन निमीलन पूर्वक परितृप्त वत्स तर एवं स्तन भाराक्रान्त धेनु वृन्द रोमन्थन (उगार) कर रही थीं।

उस वर्षा सौन्दर्य्य को सर्वकाल सुखावह निज शक्ति द्वारा परितुष्ट देखकर श्रीकृष्ण उसका समादर किये थे। प्रवक्ता श्रीशुकदेव हैं—२६०।।

२६१। कालरूप उद्दीपन का अनेक उदाहरण अनुसन्धेय हैं। अनन्तर मैत्रीमय प्रीति रसका अनुभाव को कहते हैं—उसके मध्य में उद्भास्वर समूह उस प्रकार हैं—सौहृदमयी मैत्री में निःस्वार्थ भाव से श्रीकृष्ण का हितानुसन्धान। सङ्गत एवं असङ्गत विषय का कथन सहास्य आलाप प्रभृति हैं। एवं सख्य-मयी मैत्री में असङ्कुचित प्रीतिमय चेष्टा वह चेष्टा इस प्रकार है—

श्रीकृष्ण के सहित विविध क्रीड़ा, सङ्गीतादि कलाभ्यास, भोजन, उपवेशन, शयन प्रभृति एवं परिहास, रहो लीला श्रवण कथनादि होते हैं। भा० १०।१२।११ में "इत्थंसतां ब्रह्मसुखानुभूत्या" श्लोक के

(२६१) 'प्रवाल-वर्हस्तवक-स्रग् धातुकृतभूषणाः।
रामकृष्णादयो गोपा ननृतुर्युयुधुर्जगुः ॥५२९॥
कृष्णस्य नृत्यतः केचिज्जगुः केचिदवादयन्।
वेणुपाणिदलैः शृङ्गैः प्रशशंसुरथापरे ॥५३०॥
गोपजातिप्रतिच्छन्ना देवा गोपालरूपिणः।
ईडिरे कृष्णं रामञ्च नटा इव नटं नृप ॥५३१॥
भ्रामणैर्लङ्घनैः क्षेपैरास्फोटन-विकर्षणैः।
चिक्रीड़तुर्नियुद्धेन काकपक्षधरौ क्वचित् ॥५३२॥
क्वचिन्नृत्यत्सु चान्येषु गायकौ वादकौ स्वयम्।
शशंसतुर्महाराज साधु साध्विति-वादिनौ। ५३३॥
क्वचिद्बिल्वैः क्वचित् कुम्भैः' इत्यादि।

स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

---

द्वारा क्रीड़ा की प्रशंसा की गई है। जो सब लीला सख्यमयी मैत्री के उद्भास्वर हैं उस का दृष्टान्त भा० १०।१८।९-१४ में है

(२६१) "प्रवाल बर्हस्तवक-स्रग्धातुकृतभूषणाः।
रामकृष्णादयो गोपा ननृतुर्युयुधुर्जगुः ॥५२९॥
कृष्णस्य नृत्यतः केचिज्जगुः केचिदवादयन्।
वेणुपाणिदलैः शृङ्गैः प्रशशंसुरथापरे ॥५३०॥
गोपजाति प्रतिच्छन्ना देवा गोपालरूपिणः।
ईड़िरे कृष्णं रामञ्च नटा इव नटं नृप ॥५३१।
भ्रामणैर्लङ्घनैः क्षेपैरास्फोटन-विकर्षणैः।
चिक्रीड़तुर्नियुद्धेन काकपक्षधरौ क्वचित ॥५३२।
क्वचिन्नृत्यत्सु चान्येषु गायकौ वादकौ स्वयम्।
शशंसतुर्महाराज साधु साध्विति-वादिनौ ॥५३३॥
क्वचिद्बिल्वैः क्वचित् कुम्भैः" इत्यादि।

वृन्दावन में कृष्ण बलराम प्रभृति गोपगण—नव पल्लव, मयूर पुच्छ, स्तवक (पुष्प गुच्छ) माल्य, गैरिक धातु–ये सब के द्वारा भूषित होकर नृत्य, गीत एवं बाहु युद्ध करने लगे थे।

श्रीकृष्ण के नृत्य के समय कतिपय गोप बालक गान करते थे, कोई कोई करतल--वादन, शृङ्ग वादन करते थे, एवं प्रशंसा भी करते थे। हे नृप! नट जिस प्रकार नट का स्तव करता है, गोप जाति प्रतिच्छन्न देवगण गोपाल रूपी राम कृष्ण का स्तव किये थे।

काक पक्षधर श्रीकृष्ण बलराम परस्पर हस्त धारण कर भ्रमण, उल्लम्फन, क्षेपण, आस्फोटन एवं आकर्षण करके बाहु युद्ध करते थे। जब गोप बालक नृत्य करते थे, तब स्वयं कृष्ण बलराम गायक एवं वादक होते थे। एवं साधु साधु शब्द से नृत्य की प्रशंसा करते थे कभी बिल्वफल द्वारा, कभी कुम्भवृक्ष फल के द्वारा खेलते थे।

प्रवक्ता श्रीशुकदेव हैं– २६१॥

२६२। तथा (भा० १०।१३।८) —

(२६२) "कृष्णस्य विष्वक्पुरुराजिमण्डलै-,रभ्याननाः फुल्लदृशो व्रजार्भकाः।
सहोपविष्टा विपिने विरेजु-,श्छदा यथाम्भोरुहकर्णिकायाः ॥'५३४॥

(भा० १०।१३।६) "केचित् पुष्पैर्दलैः केचित्' इत्यादि, (भा० १०।१३।१०)—
'सर्व्वे मिथो दर्शयन्तः स्वस्वभोज्यरुचिं पृथक्।
हसन्तो हासयन्तश्चाभ्यवजह्रुः सहेश्वराः ॥'५३५॥

स्पष्टम् ॥ सः ॥

२६३। एवमन्या अपि। तथा सौहृद-सख्ययोः सात्त्विकाश्चोन्नेयाः। तत्र सौहृदेऽश्रु यथा (भा० १०।७१।२७) —

(२६३) "तं मातुलेयं परिरभ्य निर्वृतो, भीमः स्मयन् प्रेमजवाकुलेन्द्रियः।
यमौ किरीटी च सुहृत्तमं मुदा, प्रवृद्धबाष्पाः परिरेभिरेऽच्युतम् ॥"५३६॥

अत्र सत्यप्यग्रजानुजत्वव्यवहारे सुहृत्तममित्यनेन तदंशस्यैवोल्लासोऽभ्युपगतः। सः।

---

२६२। उस प्रकार अन्य दृष्टान्त भा० १०।१३।८ में है—

(२६२) "कृष्णस्य विष्वक्पुरुराजिमण्डलै, -रभ्याननाः फुल्लदृशो व्रजार्भकाः।
सहोपविष्टा विपिने विरेजु--,श्छदा यथाम्भोरुहकर्णिकायाः ॥"५३४॥

वन भोजन लीला में व्रज बालक वृन्द श्रीकृष्ण को सम्मुख में सबदिक् में पङ्क्ति रचना कर भोजन हेतु उपवेशन किये थे। सब के प्रीति विस्फारित नयन ही श्रीकृष्ण के ओर थे। वन में सब एक साथ उपवेशन करने पर वह पद्मवत् प्रतीत होता था। श्रीकृष्ण उसके कर्णिकार स्वरूप थे, एवं गोप बालक गण दल स्वरूप हुये थे। भा० १०।१३।६ में उक्त है— "केचिद् पुष्पदलैः केचित्" कतिपय बालक पुष्प द्वारा, कोई पत्र द्वारा, कोई अङ्कुर द्वारा कोई फल द्वारा, कोई वृक्षत्वक् के द्वारा, कोई छिका के द्वारा कतिपय बालक प्रस्तर द्वारा पात्र कल्पना कर भोजनमें प्रवृत्त हुये थे। भा० १०।१३ १० में उक्त है—

"सर्व्वे मिथो दर्शयन्तः स्वस्वभोज्यरुचिं पृथक्।
हसन्तो हासयन्तश्चाभ्यवजह्रुः सहेश्वराः ॥"५३५॥

भोजन के समय बालक गण निज निज भोज्य पदार्थ का विशेष विशेष आस्वाद पृथक् पृथक् रूप से दिखा कर हास्य परिहास पूर्वक श्रीकृष्ण के सहित भोजन करने लगे थे। प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥२६२।

२६३। उद्भास्वर के अनेक दृष्टान्त श्रीमद् भागवत में हैं। उस प्रकार सौहृद एवं सख्यके सात्त्विक अनुभाव समूह का अनुसन्धान करना आवश्यक है। उस के मध्य में सौहृद में अश्रु नामक सात्त्विक का उदाहरण भा० १०।७१।२७ में है—

(२६३) "तं मातुलेयं परिरभ्य निर्वृतो, भीमः स्मयन् प्रेमजवाकुलेन्द्रियः ॥
यमौ किरीटी च सुहृत्तमं मुदा, प्रवृद्धबाष्पाः परिरेभिरेऽच्युतम् ॥"५३६॥

श्रीकृष्ण—इन्द्र प्रस्थ में उपस्थित होने पर भीम मातुलेय को आलिङ्गन करके प्रेमाश्रु धारा से आकुल हुये थे। अनन्तर 'अर्जुन, नकुल, सहदेव हृष्ट चित्त से सुहृत्तम अच्युत को आलिङ्गन करके प्रचुर

२६४। सख्ये प्रलयोऽपि यथा (भा० १०।१६।१०)—

(२६४) 'तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्ट,-मालोक्य तत्प्रियसखाः पशुपा भृशार्त्ताः।
कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थ-कलत्रकामा, दुःखानुशोक-भयमूढ़धियो निपेतुः ॥'५३७॥

स्पष्टम् ॥ सः ॥

२६५। एवं तत्र तत्र सञ्चारिणश्चोन्नेयाः, यथा सौहृदे (भा० १०।७१।२७) 'तं मातुलेयम्' इत्यादौ हर्षः, यथा च सख्ये (भा० १०।१७।१३) 'कृष्णं ह्रदाद्विनिष्क्रान्तम्' इत्याद्यनन्तरम् (भा० १०।१७।१४)—

(२६५) "उपलभ्योत्थिताः सर्व्वे लब्धप्राणा इवासवः।
प्रमोदनिभृतात्मानो गोपाः प्रीत्याभिरेभिरे ॥'५३८॥

स्पष्टम् ॥ सः ॥

२६६। अथ स्थायी मैत्र्याख्यः, स चैश्वर्य्यज्ञान-सङ्कुचितः श्रीदामविप्रादीनाम्, सङ्कोचितैश्वर्य्य-ज्ञानः श्रीमदर्ज्जुनादीनाम्, शुद्धः श्रीगोपबालानाम्। अतएव कदाचिदपि न

---

अश्रु वर्षण करने लगे थे। यहाँ ज्येष्ठ, कनिष्ठ व्यवहार विद्यमान होने पर भी 'सुहृत्तम' शब्द प्रयोग हेतु सौहृद्यांश का उल्लास स्वीकृत हुआ है। श्रीशुक कहे थे ॥२६३॥

२६४। सख्य में प्रलय नामक सात्त्विक का दृष्टान्त भा० १०।१६।१० में है—

(२६४) 'तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्ट-, मालोक्य तत् प्रयसखाः पशुपा भृशार्त्ताः।
कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थ-कलत्रकामा, दुःखानुशोक-भयमूढ़धियो निपेतुः॥''५३७॥

कालिय नाग के शरीर के द्वारा वेष्टित होकर कृष्ण निश्चेष्ट हो गये हैं, यह देखकर गोप सखागण अत्यन्त दुःखित हुये थे। वे दुःख शोक भय से हत बुद्धि होकर भूतल में निपतित हुये थे। उनके पक्ष में इस प्रकार होना विचित्र नहीं है। कारण, वे निज आत्मा, सुहृद्, अर्थ कलत्र, काम--समस्त को अर्पण श्रीकृष्ण को किये थे। वक्ता श्रीशुक है ॥२६४॥

२६५। उस लीला में सञ्चारिभाव का अनुसन्धान करना कर्त्तव्य है, भा० १०।१७।२७ से सौहृद में सञ्चारिभाव का उदाहरण है।

'तं मातुलेयं परिरभ्य निर्वृतो भीमः स्मयन् प्रेमजवाकुलेन्द्रियः॥'

भीम, मातुलेय श्रीकृष्ण को आलिङ्गन करके इत्यादि श्लोक में हर्ष नामक सञ्चारी भाव का वर्णन हुआ है। सख्य में हर्ष नामक सञ्चारि भाव का उदाहरण भा० १०।१७।१३ में है—'कृष्णं ह्रदाद्विनिष्क्रान्तम्' श्रीकृष्ण जब कालिय ह्रद से निष्क्रान्त हुये थे, तब विगत प्राण समागत होने पर जिस प्रकार इन्द्रिय गण होती है, गोप गण भी श्रीकृष्ण को प्राप्त कर उस प्रकार उत्थित हुये थे। आनन्द पूर्ण होकर प्रीति पूर्वक उनको आलिङ्गन किये थे। (भा० १०।१७।१४)

(२६५) उपलभ्योत्थिताः सर्व्वे लब्धप्राणा इवासवः।
प्रमोदनिभृतात्मानो गोपाः प्रीत्याभिरेभिरे ॥'५३८॥ प्रवक्ता श्रीशुक हैं-२६५॥

२६६। मैत्रीमय प्रीति रस का स्थायिभाव मैत्री है। श्रीदाम विप्रादिका वह भाव ऐश्वर्य्य ज्ञान

न विकरोति । तथैव श्रीराम-व्रजागमने (भा० १०।६५।५) 'समुपेत्याथ गोपालान् हास्यहस्त-ग्रहादिभिः' इत्यादिक-व्यवहारः । तत्र सौहृदाख्यो भेदः (भा० १०।७१।२७) 'तं मातुलेयं परिरभ्य निर्वृ तः'' इत्यादौ ज्ञेयः । सख्यं यथा (भा० १०।५८।१३,—

(२६६) 'एकदा रथमारुह्य विजयो वानरध्वजम् ।
गाण्डीवं धनुरादाय तूणौ चाक्षयसायकौ ।।५३९।।
साकं कृष्णेन संनद्धो विहर्त्तुं विपिनं महत् ।
बहुव्यालमृगाकीर्णं प्राविशत् परवीरहा ।।'५४०।।

'कृष्णेन साकं विहर्त्तु मित्यन्वयः ।। सः ।।

---

द्वारा सङ्कोचित है । और अर्जुन प्रभृति का ऐश्वर्य्य ज्ञान उक्त भाव के द्वारा सङ्कोचित होता है । उभय विध मित्र भाव में ऐश्वर्य्य ज्ञान का मिश्रण है । गोप बालक वृन्द का मैत्री रूप स्थायिभाव शुद्ध है, तज्जन्य वह कभी भी विकृत नहीं होता है । गोप बालक वृन्द की अविकृत मैत्री का सुस्पष्ट वर्णन भा० १०।६५।५ में है—

' समुपेत्याथ गोपालान् हास्य हस्त ग्रहादिभिः ।
विश्रान्तं सुखमासीनं पप्रच्छुः पर्य्युपागतः ।।''

श्रीकृष्ण बलराम मथुरा में थे, वहाँ महाराजोचित व्यवहार भी था, दीर्घ काल अदर्शन से ऐश्वर्य्य की कथा ज्ञात होने पर भी श्रीगोप बालक वृन्द की मैत्री सङ्कुचित नहीं हुई । ऐश्वर्य्य दर्शन से श्रीदाम विप्र एवं अर्जुन की मैत्री जिस प्रकार सङ्कुचित हुई थी, उस प्रकार मित्रता सङ्कुचित गोप बालक गण की नहीं हुई । श्रीबलराम-द्वारका से व्रज में आने पर गोप बालक गण उनके सहित असङ्कोच व्यवहार किये थे । उक्त श्लोक में लिखित है—श्रीबलराम का व्रजागमन होने पर गोप बालक गण समीप गत होकर हास्य, हस्त ग्रहणादि द्वारा उनका समादर किये थे । यह व्यवहार असङ्कोचित मैत्री का परिचायक है ।

उस स्थायिभाव रूपा मैत्री का सौहृदाख्य भेद का दृष्टान्त भा० १०।७१।२७ में इस प्रकार है—

''तं मातुलेयं परिरभ्य निर्वृ तो भीम स्मयन् प्रेमजवाकुलेन्द्रियः ।
यमौ किरीटी च सुहृत्तमं मुदा, प्रवृद्धबाष्पाः परिरेभिरेऽच्युतम् ।।'

भीम उन मातुलेय को आलिङ्गन करके परम नन्दित हुये थे । एवं सख्य नामक भेद का दृष्टान्त भा० १०।५८।१३—में है— (२६६) 'एकदा रथमारुह्य विजयो वानरध्वजम् ।
गाण्डीवं धनुरादाय तूणौ चाक्षयसायकौ ।।५३९।।
साकं कृष्णेन संनद्धो विहर्त्तुं विपिनं महत् ।
बहुव्यालमृगाकीर्णं प्राविशत् परवीरहा ।।'५४०।।

एकदा शत्रु हन्ता अर्जुन श्रीकृष्ण के सहित कपिध्वज रथ में आरोहण कर गाण्डीव धनु एवं अक्षय-वाण विशिष्ट तूणद्वय लेकर एक साथ विहार करने के निमित्त बहु सर्प मृग समाकीर्ण महावन में प्रवेश किये थे । श्रीकृष्ण के सहित विहार करने के निमित्त इस प्रकार अर्थ बोध जिस से हो, श्लोक का अन्वय उस प्रकार करना आवश्यक है, 'कृष्णेन साकं विहर्त्तु मित्यर्थः ।।' एक साथ विहार करना सख्य का धर्म्म है । यहाँ उस का परिचय उपलब्ध होने के कारण उक्त श्लोक में मैत्री का सख्य नामक भेद वर्णित हुआ है ।

वक्ता श्रीशुक हैं ।।२६६।।

२६७। यथा च (भा० १०।१२।२) —

(२६७) 'तेनैव साकं पृथुकाः सहस्रशः, स्निग्धाः सुशिग्वेत्रविषाणवेणवः।
स्वान् स्वान् सहस्रोपरिसंख्ययान्वितान्, वत्सान् पुरस्कृत्य विनिर्ययुर्मुदा ॥' ५४१।

एव-कारेण तदासक्तिरूपोऽनुभावो दर्शितः ॥

२६८। यथा (भा० १०।१२।६) —

(२६८) 'यदि दूरं गतः कृष्णो वनशोभेक्षणाय तम्।
अहं पूर्वमहं पूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे ॥'५४२॥

स्पष्टम् ॥ सः ॥

२६९। यथा च (भा० १०।१४।४५)—

(२६९) 'ऊचुश्च सुहृदः कृष्णं स्वागतं तेऽतिरंहसा।
नैकोऽप्यभोजि कवल एहीतः साधु भुज्यताम् ॥'५४३।

स्पष्टम् ॥ सः ॥

२७०। श्रीकृष्ण एव तेषां जीवनमित्याह, (भा० १०।११।४९-५३) —

---

२६७। सख्य का अपर दृष्टान्त भा० १०।१२।२ में हैं—

(२६७) "तेनैव साकं पृथुकाः सहस्रशः, स्निग्धाः सुशिग्वेत्रविषाणवेणवः।
स्वान् स्वान् सहस्रोपरिसंख्ययान्वितान्, वत्सान् पुरस्कृत्य विनिर्ययुर्मुदा ॥"५४१॥

श्रीकृष्ण के ही सहित सहस्र सहस्र स्निग्ध गोप बालक गण निज निज सहस्राधिक गोवत्स को सम्मुख में लेकर परमानन्द से निर्गत हुये थे। उन सब के सहित सुन्दर छिका, वेत्र, वेणु एवं शृङ्ग थे।

उक्त श्लोक में 'एव' का प्रयोग है। श्रीकृष्ण के ही सहित—उस से अर्थ बोध होता है, उस से श्रीकृष्ण में आसक्ति रूप भाव प्रदर्शित हुआ है ।।२६७।

२६८। उस प्रकार सख्य का दृष्टान्त भा० १०।१२।६ में है—

(२६८) "यदि दूरं गतः कृष्णो वनशोभेक्षणाय तम्।
अहं पूर्वमहं पूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे ॥"५४२॥

कृष्ण, वन शोभा दर्शन हेतु गमन करने से— में अग्रे जाऊँगा, मैं अग्रे जाऊँगा, इस प्रकार कहते कहते गोप बालक गण, उनको स्पर्श कर परमानन्द लाभ किये थे। प्रवक्ता श्रीशुक हैं ।।२६८।।

२६९। भा० १०।१४।४५ में उक्त है—

(२६९) "ऊचुश्च सुहृदः कृष्णं स्वागतं तेऽतिरंहसा।
नैकोऽप्यभोजि कवल एहीतः साधु भुज्यताम् ॥"५४३॥

सखागण के सहित कृष्ण भोजन में प्रवृत्त होने पर ब्रह्मा सखा वृन्द को अपहरण कर एकवत्सर यावत् मायाच्छन्न किये थे। अनन्तर ब्रह्म मोहन लीलावसान में श्रीकृष्ण जिस समय उन सब को पुलिन में ले आये थे, उस समय श्रीकृष्ण को सखागण कहे थे—तुम तो आशु आ गये। हमने एक ग्रास भी भोजन नहीं किया। आओ! निश्चित मन से भोजन करो। श्रीशुक कहे थे ।।२६९।।

(२७०) "कृष्णं महावकग्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः।
बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राणं विचेतसः ॥५४४॥
मुक्तं वकास्यादुपलभ्य दारका, रामादयः प्राणमिवेन्द्रियो गणः।
स्थानागतं तं परिरभ्य निर्वृताः, प्राणीय वत्सान् व्रजमेत्य तज्जगुः।" ५४५।

स्पष्टम् ॥ सः ॥

२७१। तदेवं विभावादिसम्बलनात्मको मैत्रीमयो रसः। अस्य च सौहृदमयः सख्यमय इति भेदद्वयं तत्र तत्रावगन्तव्यम्। तस्य प्रथमाप्राप्त्यात्मक-सिद्धात्मकौ भेदौ पूर्ववदूह्यौ। वियोगात्मको भेदो यथा (भा० १।१५।१-४)—

(२७१) "एवं कृष्णसखः कृष्णो भ्रात्रा राज्ञाविकल्पितः।
नानाशङ्कास्पदं रूपं कृष्णविश्लेषकर्शितः ॥५४६॥
शोकेन शुष्यद्वदन-हृत्सरोजो हतप्रभः।
विभुं तमेवानुध्यायन्नाशक्नोत् प्रतिभाषितुम्। ५४७॥

---

२७०। श्रीकृष्ण ही सखा गण के प्राण थे। वकासुर बध प्रसङ्ग भा० १०।११।४९--५३ में लिखित है— (२७०) "कृष्णं महावकग्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः।
बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राणं विचेतसः ॥५४४॥
मुक्तं वकास्यादुपलभ्य दारका, रामादयः प्राणमिवेन्द्रियो गणः।
स्थानागतं तं परिरभ्य निर्वृताः, प्राणीय वत्सान् व्रजमेत्य तज्जगुः ॥" ५४५॥

श्रीकृष्ण को महावक ग्रस्त देखकर बलरामादि बालक गण प्राण हीन इन्द्रिय के समान ही अचेतन हो गये थे। श्रीकृष्ण—वकासुर के मुख से स्वस्थान में आगमन करने पर प्राण सञ्चार से इन्द्रिय वृन्द की जिस प्रकार अवस्थिति होती है, रामादि गोप बालक वृन्द की वैसी अवस्थिति हुई थी। वे श्रीकृष्ण को आलिङ्गन करके परमानन्दित हुये थे। अनन्तर वत्स गण को एकत्र करके व्रज में आगमन पूर्वक सबके निकट वकासुर बध वृत्तान्त का कीर्त्तन किये थे। प्रवक्ता श्रीशुक हैं—२७०॥

२७१। विभावादि सम्मिलनात्मक मैत्रीमयरस वर्णित हुआ। इसको सौहृदमय एवं सख्यमय जो भेद हैं—उसका वर्णन, विभावादि में उल्लिखित दृष्टान्त समूह में हुआ है।

विभाव, अनुभाव, सात्त्विक, व्यभिचारी एवं स्थायिभाव से सौहृद एवं सख्य नामक भेद द्वय को दर्शन कर इस के सम्मिलन से उत्पन्न रस में भी भेद द्वय हैं—वे भी सदृष्टान्त ज्ञापित हुये हैं।

मैत्रीमय रस का प्रथम अप्राप्त्यात्मक अयोग एवं तदनन्तर सङ्घटित सिद्धि नामक योग का दृष्टान्त को वत्सलरस के द्विविध दृष्टान्त के समान जानना होगा। अर्थात् अन्यत्र भी इस रस का दृष्टान्त अनुसन्धान किया जा सकता है। अनन्तर मैत्रीमय रस का वियोगात्मक भेद का वर्णन करते हैं भा० १।१५।१-४ में उक्त है— (२७१) "एवं कृष्णसखः कृष्णो भ्रात्रा राज्ञाविकल्पितः।
नानाशङ्कास्पदं रूपं कृष्णविश्लेषकर्शितः ॥५४६॥
शोकेन शुष्यद्वदन-हृत्सरोजो हतप्रभः।
विभुं तमेवानुध्यायन्नाशक्नोत् प्रतिभाषितुम् ॥५४७॥

कृच्छ्रेण संस्तभ्य शुचः पाणिनामृज्य नेत्रयोः ।
परोक्षेण समुन्नद्ध--प्रणयौत्कण्ठचकातरः ।।५४८।।
सख्यं मैत्रीं सौहृदञ्च सारथ्यादिषु संस्मरन् ।
नृपमग्रजमित्याह वाष्पगद्गदया गिरा ।।"५४६।। इत्यादि ।

कृष्णोऽर्जुनः, अविकल्पित इति च्छेदः,— नानाशङ्कास्पदं रूपमालक्ष्य विकल्पित इत्यर्थः । शुचः शोकाश्रूण्यामृज्य च, परोक्षेण दर्शनागोचरेण श्रीकृष्णेन हेतुना, अतएवानिष्टाशङ्काया अभावान्नात्र करुणरसावकाशः । तदभावश्चैषामैश्वर्य्यज्ञानसद्भाविनं भवत्येवेति (भा४ १।१५।५)

---

कृच्छ्रेण संस्तभ्य शुचः पाणिनामृज्य नेत्रयोः ।
परोक्षेण समुन्नद्ध--प्रणयौत्कण्ठचकातरः ।।५४८।।
सख्यं मैत्रीं सौहृदञ्च सारथ्यादिषु सस्मरन् ।
नृपमग्रजमित्याह वाष्पगद्गदया गिरा ।।"५४६।।

श्रीकृष्ण के अन्तर्द्धान के पश्चात् अर्जुन विषण्ण एवं शोकातुर होकर इन्द्रप्रस्थ में श्रीयुधिष्ठिर के उपस्थित होने पर आपने तादृश अवस्था का कारण जानने के निमित्त विविध प्रश्न किया । उससे श्रीकृष्ण सखा अर्जुन उक्त प्रश्नों के द्वारा युधिष्ठिर के हृदय की विविध शङ्का का अनुमान करके-कृष्ण विरह से कृश, शोक से शुष्क वदन, एवं हतप्रभ हुये थे । मन ही मन उन विभु श्रीकृष्ण के चरणों का ध्यान करके प्रत्युत्तर प्रदान में अक्षम हुये थे ।

नयनों में जो शोकाश्रु उद्गत हुआ था, उस का सम्बरण एवं जो निर्गलित हो रहा था । उस का सम्मार्जन हस्त के द्वारा करने पर भी दृष्टि के अगोचरीभूत कृष्ण के निमित्त अत्यधिक प्रेमोत्कण्ठा से अर्जुन विह्वल हुये थे ।

अनन्तर सारथ्यादि कार्य्य में श्रीकृष्ण का सारथ्य, मैत्री सौहृद का स्मरणकर वाष्प गद्गद कण्ठ से अग्रज राजा युधिष्ठिर को कहने लगे थे ।

श्लोकोक्त "कृष्ण सखः कृष्ण"-कृष्ण शब्द का अर्थ—अर्जुन है । श्लोकोक्त--राज्ञाविकल्पित—शब्द का राज्ञा । अविकल्पिता इस प्रकार सन्धि विश्लेषण कर अर्थ करना होगा । श्लोक में शोक मार्जन की जो कथा है—उस का अर्थ है—शोकाश्रु मार्जन । परोक्ष निमित्त- दृष्टि के अगोचरभूत जो श्रीकृष्ण हैं— उनके निमित्त । अतएव अनिष्टाशङ्का का अभाव निबन्धन यहाँ करुण रस का अवकाश नहीं है । ऐश्वर्य्य ज्ञान सम्पन्न अर्जुन प्रभृति के पक्ष में श्रीकृष्ण की अनिष्टा शङ्का का अभाव ही है । अतः इस के बाद--'अतः परं वञ्चितोऽहं' भा० १।१५।५ का अर्जुन का 'वलाप भी सम्भव पर है । आशय यह है— श्रीकृष्ण के अन्तर्द्धान के पश्चात् ऐश्वर्य्य ज्ञान सम्पन्न पाण्डव वृन्द का विश्वास था कि—श्रीकृष्ण--भगवान् हैं, आप लीला अप्रकट किये हैं । उस में उनका अनिष्ट नहीं हुआ है । आप द्वारका के अप्रकट प्रकाश में निज जन गण के सहित क्रीड़ा करते रहते हैं ।

अन्तर्द्धान को अर्जुन यदि श्रीकृष्ण का अनिष्ट के हेतु मानते तो यहाँ शोक स्थायि भाव होकर करुण रस निष्पन्न होता । प्रियजन का अनिष्टाशङ्का युक्त शोक ही करुण रस का स्थायिभाव हो सकता है । यहाँ अर्जुन का शोक--परम सुहृत श्रीकृष्ण का विच्छेद समुद्भूत है । अतः यहाँ वियोगात्मक मैत्री रस निष्पन्न हुआ है । श्रीकृष्ण की अनिष्टाशङ्का यदि अर्जुन के शोक का कारण होता तो, अर्जुन उस को कह कर विलाप करते । किन्तु वैसा नहीं किये हैं । विलाप इस शब्द से किये हैं—

'वञ्चितोऽहम्' इत्यादिकं वक्ष्यमाणं विलापम् ।।

२७२-२७३। अथ तदनन्तरं तुष्ट्यात्मकयोगो यथा (भा० १।१५।(४६-४८)—

(२७२) 'ते साधु कृतसर्वार्था ज्ञात्वात्यन्तिकमात्मनः ।
मनसा धारयामासुर्वैकुण्ठचरणाम्बुजम् ।।५५०।।
तद्ध्यानोद्रिक्तया भक्त्या विशुद्धधिषणाः परे ।
तस्मिन्नारायणपदे एकान्तमतयो गतिम् ।।५५१।।
अवापुर्दुरवापां तेऽसद्भिर्विषयात्मभिः ।
विधूतकल्मषास्थानं विरजेनात्मनैव हि ।।'५५२।।

ते पाण्डवाः साधु यथा स्यात्तथा कृतसर्वार्था वशीकृतधर्मार्थ-काम-मोक्षा अपि वैकुण्ठस्य श्रीकृष्णस्य चरणाम्बुजमेवात्यन्तिकं परमपुरुषार्थं ज्ञात्वा तदेव मनसा धारयामासुः ।

---

"वञ्चितोऽयं महाराज हरिणाबन्धुरूपिणा।
येन मेऽपहृतं तेजो देव विस्मापनं महत् ।।"

अर्जुन—विलाप करते करते युधिष्ठिर को कहे थे-हे महाराज ! बन्धुरूपी श्रीकृष्ण मुझ को वञ्चना किये हैं। मेरा जो देवताओं का विस्मय जनक तेजः था, उनकी वञ्चना से वह भी अपहृत हुआ। इस प्रकार विलाप करने से अर्जुन का शोक वियोग दुःखमय है, किन्तु अनिष्टा शङ्कामय नहीं है--इसका सुस्पष्ट बोध होता है ।।२७१।।

२७२-२७३। वियोग के पश्चात् तुष्ट्यात्मक योग का उदाहरण भा० १।१५।४६--४८ में है—

(२७२) ते साधु कृतसर्वार्था ज्ञात्वात्यन्तिकमात्मनः।
मनसा धारयामासुर्वैकुण्ठचरणाम्बुजम् ।।५५०।।
तद्ध्यानोद्रिक्तया भक्त्या विशुद्धधिषणाः परे।
तस्मिन्नारायणपदे एकान्तमतयो गतिम् ।।५५१।।
अवापुर्दुरवापां तेऽसद्भिर्विषयात्मभिः।
विधूतकल्मषास्थानं विरजेनात्मनैव हि ।।"५५२।।

पाण्डव गण उत्तम रूप से सर्वार्थ वशीभूत किये थे। वैकुण्ठ के चरण कमल को आत्यन्तिक जान कर मन के द्वारा उसका धारण किये थे। ध्यान के प्रभाव से जो भक्ति का उद्रेक हुआ था, उस के द्वारा विशुद्ध बुद्धि एकान्त मति पाण्डव गण उस परतत्त्व नारायण में गति को प्राप्त किये थे। जो विषयासक्त असद् व्यक्ति गण के पक्ष में अत व दुर्ल्लभ है। वह बिधूत कल्मषास्थान, विरज है, आत्मा के द्वारा ही उस स्थान को प्राप्त किये थे।

उक्त श्लोक समूह का अर्थ इस प्रकार है—वे--पाण्डव गण, साधु--उत्तम रूप से सर्वार्थ–धर्म अर्थ--काम मोक्षरूप पुरुषार्थ, को वशीभूत करके भी, वैकुण्ठ के चरण कमल को ही आत्यन्तिक--परम पुरुषार्थ जानकर, मन के द्वारा उस को धारण किये थे। नारायण---श्रीकृष्ण पद से उनकी गति को कहकर पुनर्वार विशेष रूप से गति को कहते हैं। विशुद्ध कल्मष विशुद्ध जो आस्थान—नित्य श्रीकृष्ण--श्रीकृष्ण का प्रकाशास्पद--उन की सभा को आत्मा द्वारा स्व शरीर में प्राप्त हुये थे। निज शरीर में उन सभा को

नारायणः श्रीकृष्णः । पुनर्गतिमेव विशिनष्टि,–विधूतकल्मषं यदास्थानं नित्यश्रीकृष्ण-प्रकाशास्पदम्, तदीया सभा, आत्मना स्वशरीरेणैव । तत्र हेतुः–विरजेनाप्राकृतेन, हि शब्दोऽसम्भावनानिवृत्त्यर्थः ॥

तथा (भा० १।१५।५०) —

(२७३) 'द्रौपदी च तदाज्ञाय पतीनामनपेक्षताम् ।
वासुदेवे भगवति ह्येकान्तमतिराप तम् ॥'५५३॥

आत्मानं प्रत्यनपेक्षमाणानाम्, तत् श्रीकृष्णसङ्गमनमाज्ञाय सम्यग् ज्ञात्वा, वासुदेव श्रीवसुदेवनन्दने, हि प्रसिद्धौ, तस्मिन्नेकान्तमति स्तमेव प्राप्तवती ॥ श्रीसूतः ॥

२७४ । श्रीव्रजकुमाराणां देशान्तरवियोगात्मोदाहरणं तदनन्तर-तुष्टयात्मोदाहरणञ्च वत्सलानुसारेणैव ज्ञेयम् । इति मैत्रीमयो रसः ।

अथोज्ज्वलः । अत्रालम्बनः कान्तत्वेन स्फुरन् कान्तभावविषयः श्रीकृष्णः, तदाधाराः सजातीय-भावास्तदीयपरमवल्लभाश्च । तत्र श्रीकृष्णो यथा (भा० १०।५२।३७)—

(२७४) 'श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते, निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम् ।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं, त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे ॥'५५४॥

---

आत्म द्वारा प्राप्त किये थे । निज शरीर में प्राप्त होने का हेतु उन के शरीर विरज अप्राकृत है । विरजात्म शब्द के पश्चात् जो निश्चयात्मक अव्यय पद है, उस के द्वारा तदृश प्राप्ति की असम्भावना भी निषिद्ध हुई है ॥२७२॥

२७३ । उस प्रकार भा० १।१५।५० में उक्त है—

(२७३) ''द्रौपदी च तदाज्ञाय पतीनामनपेक्षताम् ।
वासुदेवे भगवति ह्येकान्तमतिराप तम् ॥''५५३

द्रौपदी उसकी एवं पति गण की अनपेक्षता को जानकर वासुदेव भगवान् में एकान्त मति हुई थीं, एवं उनको प्राप्त कर चुकी थीं ।

श्लोक की व्याख्या—निज के प्रति अनपेक्ष के समान व्यवहार जो किये थे—उन पति वृन्द का कृष्ण सम्मिलन को जानकर,—सम्यक् रूप से जान कर वासुदेव में--श्रीवसुदेव नन्दन रूप में जो प्रसिद्ध हैं, उन श्रीकृष्ण में एकान्त गति होकर उनको प्राप्त कर चुकी थीं वक्ता श्रीसूत हैं ॥२७३॥

२७४ । श्रीव्रजराज कुमार अर्थात् श्रीकृष्ण के सखा गोप बालक गण— उनका देशान्तर गमन हेतु वियोगात्मक मैत्रीमय रस का उदाहरण हैं । एवं उस के ,पश्चात् सङ्घटित तुष्ट्यात्मक मैत्रीमय रस का उदाहरण—वात्सल्य रस के अनुसार ही ज्ञान होता है । इति मैत्रीमय रस ।

### उज्ज्वल रस

अनन्तर उज्ज्वल रस का वर्णन करते हैं । इस में आलम्बन कान्त रूप में स्फूर्त्तिमान् श्रीकृष्ण विषयालम्बन हैं, एवं सजातीय भावा तदीय परम वल्लभागण आश्रयालम्बन होते हैं ।

श्रीकृष्ण,–किस प्रकार विषयालम्बन होते हैं, उसका वर्णन भा० १०।५२।३७ में हैं--

स्पष्टम् । श्रीरुक्मिणी ।

२७५ । यथा च (भा० १०।३२।२) —

(२७५) 'तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ।।'५५५।।

मन्मथस्य मदनस्यापि मन्मथो मदनः ।। श्रीशुकः ।।

२७६ । अथ तद्वल्लभासु सामान्या सैरिन्ध्री, कूर्मपुराणोक्ताः कैलासवासिन्यश्च, तत्र पूर्वोक्ता यथा (भा० १०।४८।८) —

"सैवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम् ।
अङ्गरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत ।"५३६।

---

(२७४) "श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते, निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम् ।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं, त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे ।।"५५४।।

हे भुवनसुन्दर ! हे अच्युत ! तुम्हारे वे सब गुण जो श्रवण कारी के कर्ण विवर द्वारा अन्तर में प्रवेश कर अङ्ग ताप को हरण करते हैं-वे सब गुण की कथा—एवं तुम्हारे जो रूप चक्षुष्मान प्राणिमात्र के नयनों के अखिल अर्थ लाभ स्वरूप हैं, उस रूप की कथा को सुनकर मेरा चित्त लज्जा रहित होकर तुम्हारे में आविष्ट हो गया है । श्रीरुक्मिणीदेवी बोली थीं ।।२७४।।

२७५ । भा० १०।३२।२ में उक्त है

(२७५) "तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ।।"५५५।।

रास रजनी में श्रीकृष्ण के अन्तर्द्धान से श्रीव्रजसुन्दरी गण अत्यन्त व्यथिता होकर रोदन कर रही थीं । उस समय पीत बसन धारी, बनमाला विभूषित, साक्षान्मन्मथमन्मथ श्रीकृष्ण–सस्मित वदन होकर आविर्भूत हुये थे ।

साक्षान्मन्मथमन्मथ— मन्मथ का भी मन्मथ-वदन । अर्थात् वासुदेवादि चतुर्व्यूह के मध्य में जो साक्षान्मन्मथ स्वयं कामदेव हैं, उनका मन्मथ--अर्थात् सौन्दर्य्य द्वारा चित्तोन्माद कारी उस प्रकार रास रसिक श्रीकृष्ण हैं । स्वर्गस्थ देवता विशेष जो प्राकृत कामदेव है, वह स्वरूपमें जीवतत्त्व है एवं चतुर्व्यूहान्तर्गत साक्षात् कामदेव के शक्त्यंशावेश है । यह कामदेव–सौन्दर्य से त्रिजगत् के स्त्री पुरुष सब के चित्त क्षोभ कारी है । यह प्राकृत मदन जिस साक्षाद् मन्मथ का शक्त्यंशावेश है, श्रीकृष्ण, उस साक्षात् मन्मथ समूह का भी क्षोभ कारक हैं । इस से श्रीकृष्णमें सौन्दर्य्योत्कर्ष का परमावधित्व का प्रदर्शित हुआ ।

उक्त श्लोक द्वय के द्वारा श्रीकृष्ण के रूप गुण का वैशिष्ट्य प्रतिपादन कर सर्वांश में उज्ज्वल रसकी योग्यता प्रतिपन्न हुई है । प्रवक्ता श्रीशुक है—२७५।।

२७६ । अनन्तर उज्ज्वल रस के आश्रयालम्बन श्रीकृष्ण प्रेयसी गण का वर्णन करते हैं । उनके मध्य में साधारणी नायिका सैरिन्ध्री है । सैरिन्ध्री— परवेश्मस्था स्ववशाशिल्प कारिणी है । अर्थात पर गृहस्थिता स्वाधीना शिल्प कारिणी रमणी को सैरिन्ध्री कहते हैं । कूर्म्म पुराण में लिखित कैलास वासिनी रमणी गण सैरिन्ध्री नाम से अभिहिता हैं— पूर्वोक्त सैरिन्ध्री का उल्लेख भा० १०।४८।८ में उक्त है—

इति दर्शिता। पूर्वं तादृशदुर्भगाप्यङ्गरागार्पण-मात्रलक्षणेन भजनेन तं प्राप्य, अहो आश्चर्य्यं, तेन हेतुनेदं (भा० १०।४८।६) "सहोष्यताम्" इत्यादिलक्षणमप्ययाचत, याचितुं योग्याभूत्। तं कथम्भूतमपि ? केवलः शुद्धप्रेमवांस्तस्य भावः कैवल्यं तत्रैव नाथं वल्लभमपि। ततोऽस्या आत्मतर्पणैकतात्पर्य्यायाः सम्प्रत्यपि श्रीव्रजदेव्यादिवच्छुद्धप्रेमाभावो दर्शितः। स्वीयाः श्रीरुक्मिण्यादयो या एवोद्दिश्य स्तौति, (भा० १०।९०।२७)—

(२७६) "याः संपर्य्यचरन् प्रेम्णा पादसंवाहनादिभिः।
जगद्गुरुं भर्त्तृबुद्धया तासां किं वर्ण्यते तपः ॥"५५७॥

स्पष्टम् ॥ श्री शुकः ॥

२७७। तथा (भा० १०।६१।५-६) —

(२७७) "इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता, ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम्।
भेजुर्मुदाविरतमेधितयानुराग-,हासावलोक-नवसङ्गम-लालसाद्यम्। ५५८॥
प्रत्युद्गमासन-वरार्हण--पादशौच-,ताम्बूल-विश्रमण-वीजन-गन्धमाल्यैः।
केशप्रसार-शयन-स्नपनोपहार्य्यैः-,दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम् ॥"५५९॥

---

"सैवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम्।
अङ्गरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत ॥"५५६॥

अहो ! दुर्भगा कुब्जाने, अङ्ग रागार्पण के फल से कैवल्य नाथ ईश्वर को प्राप्त कर प्रार्थना की।

पूर्व में कुब्जात्व दासीत्व लक्षण दुर्भाग्य जिस का था, वह सैरिन्ध्री केवल अङ्ग राग अर्पण रूप भजन के द्वारा श्रीकृष्ण को प्राप्त किया। यह अतीव आश्चर्य का विषय है। इस प्रकार विस्मय को सूचित करने के निमित्त-'अहो' अव्यय का प्रयोग हुआ है। उस प्रकार भजन प्रभाव से उसने मेरे सहित निवास करो (भा० १०।४८।६) 'सहोष्यताम्' इस प्रकार प्रार्थना करने की योग्यता पाई है। उसने जिसको पाया-- वह किस प्रकार हैं, वह कैवल्य नाथ हैं, केवल-शुद्ध प्रेमवान् हैं, उस का भाव-कैवल्य है, कैवल्य में ही वह नाथ वल्लभ है। उसको प्राप्त कर भी सैरिन्ध्रीने उस रूपकी प्रार्थना की। सुतरां जिस समय उसने श्रीकृष्ण को प्राप्त किया, उस समय भी निज सुख में उसका तात्पर्य्य था। सुतरां सैरिन्ध्री व्रज देवी गण के समान शुद्ध प्रेमवती नहीं है, यह प्रदर्शित हुआ।

श्रीकृष्ण वल्लभावृन्द के मध्य में रुक्मिणी प्रभृति स्वीया हैं। जिनको लक्ष्य कर श्रीशुक कहे हैं— भा० १०।९०।२७

(२७६) "याः संपर्य्यचरन् प्रेम्णा पादसंवाहनादिभिः।
जगद्गुरुं भर्त्तृबुद्धया तासां किं वर्ण्यते तपः ॥"५५७॥

जिन्होंने पति बुद्धि से पाद सेवादि करके प्रेम के सहित जगद् गुरु की सम्यक् परिचर्य्या की है--उन तपस्या की कथा क्या कहूँ ? प्रवक्ता श्रीशुकदेव है ॥"२७६॥

२७७। भा० १०।६१।५-६ में उक्त है—

(२७७) "इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता, ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम्।
भेजुर्मुदाविरतमेधितयानुराग--,हासावलोक--नवसङ्गम--लालसाद्यम् ॥५५८॥

अतएव (भा० १०।६०।५२) 'ये मां भजन्ति दाम्पत्ये' इत्यादि निन्दा त्वन्यपरत्वेनैव निर्दिष्टा,—(भा० १०।६०।५४) "दिष्टया गृहेश्वरी" इत्याद्युत्तरवाक्यात् । यथैव केतुमालवर्षे श्रीकामदेवाख्य भगवद्‌-व्यूहस्तुतौ लक्ष्मीवाक्यम्--(भा० ५।१८।१९) "स्त्रियो व्रतैस्त्वां हृषीकेश्वरं स्वतो, ह्याराध्य लोके पतिमाशासतेऽन्यम्" इत्यादिकम् ।। श्रीशुकः ।।

२७८ । अथ वस्तुतः परमस्वीया अपि प्रकटलीलायां परकीयायमाणाः श्रीव्रजदेव्यः, या एवासमोर्द्ध्वं स्तुताः, (भा० १०।४७।६०)—

"नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः ।

---

प्रत्युद्गमासन--वरार्हण--पादशौच-,ताम्बूल-विश्रमण-वीजन--गन्धमाल्यैः ।
केशप्रसार--शयन--स्नपनोपहार्य्यै -,र्दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम् ।।"५५९।।

ब्रह्मादि देवगण जिन की महिमा को नहीं जानते हैं— उन रमापति को पति रूप में प्राप्तकर षोड़श सहस्र महिषी गण निरन्तर वर्द्धनशील अनुराग, हास्य, नव सङ्ग लालसा प्रभृति विविध विभ्रम का भजन करने लगी थीं ।

शत शत दासी विद्यमान होने पर भी महिषी वृन्द— प्रत्युद् गमन, आसन प्रदान, पुष्पाञ्जलि, एवं रत्नाञ्जलि निक्षेप, पाद प्रक्षालन, ताम्बूल प्रदान, विश्रामार्थ व्यजन, गन्ध, एवं माल्य प्रदान, केश संस्कार, शय्या, स्थान उपहारादि द्वारा विभु श्रीकृष्ण का दास्य करती थीं । अतएव भा० १०।६०।५४ में श्रीकृष्ण का भजन पति रूप में जिन्होंने किया है--उनकी प्रशंसा यह है—

"ये मां भजन्ति दाम्पत्ये तपसा व्रतचर्य्यया ।
कामात्मनो ऽपवर्गेशं मोहिता मायया हि मे ।।

श्रीकृष्ण— रुक्मिणी को कहे थे—जो दाम्पत्य सुखोपभोग हेतु तपस्या एवं व्रतचर्य्या द्वारा मुक्तिका अधीश्वर मेरा भजन करते हैं, वे निश्चय ही मेरी माया से मुग्ध हैं । इस वाक्य में दाम्पत्य सुख भोग हेतु जो श्रीकृष्ण भजन करते हैं, उस की निन्दा की गई है । किन्तु वह श्रीकृष्ण भिन्न अन्य पुरुष को पतिरूप में भजन करने के सम्बन्ध में निर्दिष्ट है । कारण, उस के अनन्तर भा० १०।६०।५४ में उक्त है "दिष्ट्या गृहेश्वरी' हे गृहेश्वरि ! तुम ने निष्काम होकर जो निरन्तर मेरी सेवा की है, वह अतिशय मङ्गल कर है । वह कपट व्यक्ति के पक्ष में अति दुष्कर है । दुरभिप्राय विशिष्टा, स्वीय प्राण के प्रति स्नेह शीला एवं प्रवञ्चना परा स्त्री वृन्द के पक्ष में भी अति दुष्कर है ।

भा० ५।१८।१९ में उक्त है—"स्त्रियो व्रतैस्त्वां हृषीकेश्वरं स्वतो,
ह्याराध्य लोके पतिमाशासतेऽन्यम् ।।"

केतुमालवर्ष में श्रीकामदेवाख्य भगवद् व्यूह स्तुति में लक्ष्मी देवी के वाक्य में लिखित है—आप स्वतः ही इन्द्रिय समूह के पति हैं । जगत् में जो सब स्त्री विविध व्रत के द्वारा आप की आराधना करके अन्य पति की कामना करती हैं, उनके पति गण, प्रिय सन्तान सन्तति, धन अथवा परमायु रक्षा करने में सक्षम नहीं हैं, कारण, वे पराधीन हैं । प्रवक्ता श्रीशुक हैं—२७७।।

२७८ । उज्ज्वल रस की आश्रय रूपा व्रजदेवी वृन्द परम स्वीया होने पर भी प्रकट लीला में परकीया के समान प्रतीयमाना होती हैं । व्रज देवी गण ही असमोर्द्ध्व प्रशंसित हुई हैं । भा० १०।४७।६०

रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद्व्रजसुन्दरीणाम् ॥"५६०॥

इत्यादिषु, (भा० १०।४४।१४) "गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपम्" इत्यादौ या एवासमोर्द्ध्वं रूपं पश्यन्तीत्यत्र। यथा चाहुः (भा० १०।४४।१५) —

(२७८) "या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-"इत्यादौ "धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः" उरुक्रमचित्तमेव यानं यासां ताः, यास्तच्चित्तं यत्र यत्र गच्छति, तत्र तत्रैव तदारूढ़ास्तिष्ठन्तीत्यर्थः, 'चित्तायानाः' इति पाठे चित्तश्चिन्ता भावनेति पूर्ववदेवार्थः ॥ श्रीमाथुरपुरस्त्रियः ॥

---

में उक्त है— "नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ
लब्धाशिषां य उदगाद्व्रजसुन्दरीणाम् ॥" ५६०॥

रासोत्सव में श्रीकृष्ण के भुजदण्ड के द्वारा कण्ठ में आलिङ्गित होने पर व्रजसुन्दरी गण को श्रीकृष्णाङ्ग सङ्ग सुखोल्लास रूप जो प्रसाद हुआ था, नलिन गन्ध रुचिशालिनी–स्वर्गस्थ योषिद् गण के मध्य में श्रीवैकुण्ठ नाथ में लक्ष्मी की जो नितान्त रति है, उनको भी इस प्रकार प्रसाद लाभ नहीं हुआ है। अन्य रमणी गण का प्रसङ्ग इस विषय में आ ही नहीं सकता है। भा० १०।४४।१४ में उक्त है—

"गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपम् लावण्य सारमसमोर्द्ध्वं मनन्यसिद्धम्।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुरापमेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य॥"

मथुरा नारीवृन्द वृन्द की उक्ति है – गोपी गण ने कैसी अनिर्वचनीय तपस्या की थी, वे कृष्ण के रूप लावण्य का सार, जो असमोर्द्ध्व एवं अनन्य सिद्ध है, जो यशः श्री एवं ऐश्वर्य का एकान्त आश्रय है, जो लक्ष्मी प्रभृति के पक्ष में दुर्लभ है, एवं जो नूतन नूतन है, उस रूप को नयनों के द्वारा निरन्तर पान करती रहती हैं। इस श्लोक में व्रजदेवी गण असमोर्द्ध्व रूप में प्रशंसित हुई हैं।

"नायं श्रियोऽङ्ग" इत्यादि श्लोक में लक्ष्म्यादि के पक्ष में भी दुर्लभ प्रसाद लाभ का वृत्तान्त होने के कारण एवं भा० १०।४४ १४ में 'गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपम्' इत्यादि श्लोक में श्रीकृष्ण के असमोर्द्ध्व रूप दर्शन का विवरण होने के कारण श्रीव्रजदेवी गण—की स्तुति असमोर्द्ध्व रूप में हुई है। अर्थात् इन्होंने रासोत्सव में जो कुछ लाभ किया है,–अपर के पक्ष में वह दुर्लभ होने के कारण, एवं इन्होंने श्रीकृष्ण का रूप माधुर्य्य का दर्शन अपलक नयनों से जो किया है, उस प्रकार रूप माधुर्य्य का आस्वादन करना अपर के पक्ष में असम्भव होने के कारण श्रीव्रजदेवी गण के समान अपर कोई भी नहीं हैं। अधिक रहना तो दूर है। इस प्रकार प्रशंसा वाक्य के द्वारा श्रीशुकदेव उनकी स्तुति किये हैं।

उसी प्रकार भा० १०।४४।१५ में मथुरा नागरी वृन्दने भी श्रीव्रजदेवी वृन्द का परमोत्कर्ष कीर्त्तन किये हैं।

(२७८) 'या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठयो धन्याव्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥'

टीका – किञ्च या दोहनादिष्वेनं गायन्ति ता व्रजस्त्रियो धन्याः। प्रेङ्खे ङ्खनं दोलान्दोलनम्। उक्षणं-सेचनम्। कथम्भूताः-उरुक्रमे चित्तं उरुक्रमचित्तं, तेनैवयानं सर्व विषय प्राप्तिर्यासां ताः। उरुक्रम चित्तयाना

२७८। अतएवासामेव तत्र तत्र दर्शित उत्कर्षः,परकीयायमाणत्वेन निवारणादिमात्रांशे लौकिकरसविदामपि मतेन सेवितः, यथाह भरतः—

---

इति पाठे उरुक्रमं चिन्तयन्त्य इत्यर्थः " कुतः अनुरक्तधियः। तत्र लिङ्गम्–अश्रु कण्ठ्यः"

उन्होंने कहा है – व्रजस्त्रीगण उरुक्रम चित्तयाना हैं। उरुक्रम का चित्त ही यान है—जिनका, वे उरुक्रम चित्तयाना हैं। श्रीकृष्ण का चित्त जहाँ जहाँ जाता है, वहाँ वहाँ व्रजस्त्री गण उनके चित्त में आरोहण कर रहती हैं। 'चित्त याना' के स्थान में 'चिन्तयाना' पाठ भी दृष्ट होता है। उससे चिति–चिन्ता भावना, इस प्रकार व्युत्पत्ति से पूर्ववत् अर्थ निष्पन्न होता है। अर्थात् जिस किसी विषयक चिन्ता कृष्ण की क्यों न हो, सर्वत्र उस चिन्ता में अधिष्ठित व्रजदेवी गण रहती हैं। सब समय उन सब की चिन्ता श्रीकृष्ण के हृदय को अधिकार कर रहती है। माथुर स्त्री गण कही थीं ॥२७८॥

२७९। अतएव श्रीउद्धव की उक्ति के द्वारा एवं मथुरा नागरी प्रभृति की उक्ति के द्वारा परकीया रूप में प्रतीति निबन्धन व्रजदेवी गणों का जो उत्कर्ष प्रदर्शित हुआ है। केवल निवारणादि अंश को लेकर लौकिक रसविद् गण कर्त्तृक भी अत्यन्त प्रशंसित हुआ है। अभिप्राय यह है–साहित्य दर्पण ग्रन्थ में लिखित है— "परोढ़ां वर्जयित्वात्र वेश्याञ्चानुरागिणीम्।
आलम्बनं नायिकाः स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः॥"

इस श्लोक में परोढ़ा नायिका अवलम्बन से उज्ज्वल रस निष्पन्न नहीं होता है, यह कहा गया है। श्रीराधादि व्रजदेवी गण–परोढ़ा परकीया हैं। उनके अवलम्बन से उज्ज्वल रस निष्पन्न होना सम्भव कैसा है? इस प्रकार प्रश्न को उठाकर उनके आलम्बन का साद्गुण्य प्रदर्शन करेंगे।

व्रजदेवी गण के सम्बन्ध में कहा गया है, वे वास्तविक परम स्वीया हैं, प्रकट लीला में परकीया रूप में प्रतीयमाना हैं। श्रीरुक्मिण्यादि महिषी गण को स्वीया कहा गया है, एवं व्रजदेवी वृन्द को परमस्वीया कहा गया है, अतएव इनके स्वीयात्व का वैशिष्ट्य--एवं श्रेष्ठत्व सूचित हुआ है। प्रकट लीला में परकीया रूप में प्रतीत होने की कथा कहने से अप्रकट लीला में स्वरूपतः ही परम स्वीयात्व अवश्य स्वीकार्य्य है। अधुना परम स्वीयात्व का स्पष्टी करण करते हैं।

उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में स्वीया का लक्षण इस प्रकार उक्त है।

"कर ग्रह विधि प्राप्ताः पत्युरादेश तत् पराः।
पातिव्रत्यादविचलाः स्वकीया कथिता इह॥"

जो कर ग्रह विधि–अर्थात् विवाह विधि प्राप्ता हैं, पति की आज्ञानुवर्त्तिनी हैं, एवं पातिव्रत्य से अविचला हैं उनको स्वकीया कहते हैं। स्वीया एवं स्वकीया शब्द एकार्थ वाचक है।

इस से सुस्पष्ट बोध होता है कि—रुक्मिणी प्रभृति महिषी वृन्द में जो प्रेयसीत्व है, उस में विधि सिद्ध दाम्पत्य की अपेक्षा है, एवं लोक समाजके समर्थन की भी अपेक्षा है। अप्रकट लीला में विवाह विधि प्रवर्त्तन का अवकाश है ही नहीं, तथापि महिषी गण का नित्य अभिमान है कि—हम श्रीकृष्ण की पत्नी हैं। व्रजदेवी गण का दाम्पत्य किन्तु केवल अनुराग सिद्ध है। आनुष्ठानिक नहीं है। महिषी गण में प्रगाढ़ अनुराग विद्यमान होने पर भी उनके श्रीकृष्ण सङ्गम में विवाह विधि की अपेक्षा है, विवाह विधि प्रयुक्त न होने से अर्थात् लोक समर्थन न होने से वे कृष्ण सङ्ग कर नहीं सकती हैं, इस प्रकार स्वभाव निबन्धन प्रकट लीला में वे विवाहिता हैं। एवं लीला शक्ति की अचिन्त्य प्रभाव से अप्रकट लीला में उन सब के हृदय में 'हम सब विवाहिता प्रेयसी' हैं इस प्रकार अभिमान जाग्रत रहता है।

किन्तु श्रीव्रजदेवी गण के परावधि प्राप्त अनुराग के निमित्त विवाह विधि की अपेक्षा उपस्थित हो ही नहीं सकती है। विवाह विधि प्रयुक्त न होने से हम सब कृष्ण सङ्ग कर न सकेंगे' इस प्रकार कथा उन सब के मन में होती ही नहीं। उन सब की प्राण भरा आकाङ्क्षा—श्रीकृष्ण को पाना है, केवल उनको ही पाना है, उस चाह में किसी विशेषण का योग नहीं है, किसी उपाधिका-संयोग नहीं है। वह विशुद्ध चाहना है। तज्जन्य प्रकट अप्रकट उभय लीला में ही किसी भी विधि की अपेक्षा न करके वे कृष्णके सहित सङ्गता हुई हैं।

प्रकट लीला में श्रीकृष्ण के इच्छाक्रम से अघटन घटन पटीयसी शक्ति योग माया के प्रभाव से श्रीव्रजदेवी वृन्द के ऊपर परकीया भाव की कुहेलिका आस्तृत होने पर भी उन सब का प्रचण्ड अनुराग भास्कर किरण उस कुहेलिका को भेद करके उन सब को कृष्ण सङ्गता कर दिया है। श्रीकृष्ण, उन के पति हैं -अथवा उपपति है, इस प्रकार किसी वैध अथवा अवैध सम्बन्ध की कथा उन सब के हृदय में स्थान लाभ नहीं किया हैं। उन सब की भावना है—श्रीकृष्ण – प्रियतम हैं, प्राण कोटि प्रियतम हैं, प्राण वल्लभ हैं। उन्होंने प्राण वल्लभ कृष्ण को पाया है, सर्वस्व देकर रास लीला में प्राण वल्लभ की सेवा की है, यही उन सब का कृष्ण सङ्गम का तात्पर्य्य है। योग माया का जो आवरण है,--उस से अपर की दृष्टि आवृत हुई थी, अतएव व्रजदेवी गण को वे परकीया नायिका रूप में देखे हैं, इस में निवारणादि का अवसर है।

श्रीमद् भागवत में व्रजदेवी वृन्द को जो पर वधूत्व सूचक उक्ति है, वह उक्ति अपर से जैसे सुनी गई है, उस के अनुसार है, उनके मन की बात नहीं है। कृष्ण सन्दर्भ के १७७ अनुच्छेद में लिखित है— "क्वाचित्ताभिरेव तेषु यत् पति शब्दः प्रयुक्त स्तद् बहिर्लोक व्यवहारत एव नान्तर्दृष्टितः॥"

(भा० १०।३३।३७) "नासूयन् खलु कृष्णाय' श्लोक की वैष्णव तोषणी में लिखित है—योगमाया कल्पितानां अन्यासामेव तैर्विवहनं संप्रवृत्त, नतु स्वगर्वाक्रान्तय प्रेयसीनामिति। तथा तासां तदानीं मायया गोपितानां मोहितानाञ्च न तद्वृत्तं ज्ञानमासीदन्यतः श्रुतमपि तदनर्भ ष्ट मेवासीदिति तासु तेषां दारत्वस्य मनन मात्रत्वं, नतु वास्तवत्वं॥

अप्रकट लीला में योगमाया का आवरण न होने पर भी व्रजदेवी गण के कृष्ण सङ्गम में विवाह विधि की अपेक्षा विद्यमान न होने पर भी 'हम सब श्रीकृष्ण की विवाहित पत्नी हैं। इस प्रकार अभिमान उपस्थिति को अपरिहार्य्यता की सम्भावना नहीं की जा सकती है। किन्तु श्रीकृष्ण हमारे प्राण पति हैं, हम सब उनकी प्रेयसी हैं, यह स्वभाव सिद्ध अभिमान उन सब के हृदय में सतत जागरुक है।

(भा० ११।१२।१३) "मत् कामा रमणं जारं" श्लोक की टीका में श्रीजीव गोस्वामि पादने लिखा है 'पतित्वं तूद्वाहेन कन्यायाः स्वीकारित्वं लोक एव। भगवति तु स्वभावेनापि दृश्यते। परव्योमाधिपत्य महालक्ष्मी पतित्वं ह्यनादि सिद्धमिति। मनुष्य समाज में ही विवाह द्वारा कन्या का पतित्व स्वीकृत होता है। भगवान् में वह स्वभावतः ही देखने में आता है। परव्योमाधि पति नारायण का महालक्ष्मी पतित्व अनादि सिद्ध है, आनुष्ठानिक नहीं है, आनुष्ठानिक सम्बन्ध अनित्य एवं सावधिक होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार विवाहिता किंवा विवाहिता पत्न्यभिमान न होने परभी श्रीकृष्णका गोपी पतित्व एवं गोपीगण का स्वीयात्व सिद्ध होता है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—लक्ष्मी नारायण में ईश्वर लीला हेतु विवाह के अभाव से दाम्पत्य सम्बन्ध स्फुरण हो सकता है। किन्तु श्रीकृष्ण की प्रकट अप्रकट उभय लीला में नर लीला की अभिव्यक्ति निबन्धन, अप्रकट लीला में विवाहाभाव से व्रजदेवी गण का उनमें प्राण पतित्व स्फुरण कैसे सम्भव होगा?

उत्तर यह है—अप्रकट लीला में दास, सखा, माता पिता प्रेयसी--,सर्वविध परिकरों के सहित श्रीकृष्ण विहार परायण हैं, उस लीला में कृष्ण--नित्य किशोर है। उस में जन्म लीला की अभिव्यक्ति नहीं

है, जन्म व्यतीत कोई किसी के माता पिता नहीं हो सकते हैं। गोकुल के अप्रकट प्रकाश में जन्म लीला को न देखने पर भी श्रीकृष्ण में पुत्र बुद्धि नन्द यशोदा की है। श्रीकृष्ण भी उन के प्रति पुत्रोचित व्यवहार भी निरन्तर करते रहते हैं। वृजदेवी गण के सम्बन्ध में भी इस प्रकार जानना होगा। अप्रकट लीला में आनुष्ठानिक विवाह सङ्घटित होने की सम्भावना है ही नहीं। अनादि काल से उज्ज्वल रसमय लीला का प्रवाह चल रहा है। विवाह स्वीकार करने से उस लीला प्रवाह का आदि वा आरम्भ काल निर्द्देश करना होगा—जो असम्भव है। तज्जन्य व्रजदेवी गण का श्रीकृष्ण के सहित अनुराग सिद्ध दाम्पत्य सम्बन्ध नित्य है। वे सर्वदा जानती है—श्रीकृष्ण उनके प्राण पति हैं। वे उनकी प्रेयसी हैं। कब कैसे यह सम्बन्ध प्रतिष्ठित हुआ--यह अनुसन्धान उनमें उपस्थित होता ही नहीं। लीला शक्ति के प्रभाव से समस्त समाधान होते रहते हैं। सुतरां बृजदेवी वृन्द का अप्रकट लीला में विवाहापेक्षा विद्यमान न होने पर भी परम स्वीयात्व सिद्ध होता है।

वस्तुतः प्रेयसी वृन्द श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति हैं। शक्तिमान का अव्यभिचारित्व निबन्धन प्रेयसी रूपा महिषी गण वा व्रजदेवी गण सब ही स्वीया है। किन्तु महिषी वृन्द का श्रीकृष्ण सङ्गम अनुरागमय होने पर भी उस में विवाह विधि की अपेक्षा है, अतः वे स्वीया हैं, वृजदेवी वृन्द का श्रीकृष्ण सङ्गम शुद्ध अनुरागमय–अन्यापेक्षा रहित--अनाविल है, अतः उन सब को परमस्वीया कहे हैं।

वृजदेवी गण परम स्वीय होने पर भी रसिक शेखर श्रीकृष्ण-उज्ज्वल रस वैचित्री आस्वादन करने के निमित्त प्रकट लीला में परकीया रूप में उन सब को अवतीर्ण कराये थे। उन सब के कृष्ण सङ्गम में वेद धर्म्म, लोक धर्म, एवं लोक लज्जा रूप बन्धन नहीं थी, किन्तु उन सब का परावधि प्राप्त अनुराग का उद्दाम प्रवाह से वे सब प्रवाहित हो गये हैं, धैर्य्य, लज्जा, धर्म्म, स्वजन बान्धव प्रभृति की उपेक्षा करके वे कृष्ण सङ्गता हुई थीं। धैर्य्य लज्जादि त्याग ही उनका उत्कर्ष नहीं है। किन्तु उन्होंने कृष्ण सुख सम्पादन हेतु उस का त्याग किया था। अतः उन सब का गौरव है।

व्यभिचारिणी रमणी भी अभीष्ट पर पुरुष सङ्गाभिलाषिणी होकर सब कुछ परित्याग करती है, उस त्याग का उद्देश्य है—निज सुख सम्पादन। वृजदेवी गण निज सुख सम्पादन हेतु प्रयत्न न करके कृष्ण सुख हेतु सर्व त्यागिनी हुई थीं, निज सुख वासना का लेशमात्र न रखकर अपर के सुख हेतु इस प्रकार आत्मोत्सर्ग करने का दृष्टान्त वृज देवी गण व्यतीत अन्यत्र कुत्रापि नहीं है। यही उनकी असमोर्द्ध्व प्रेम महिमा का जाज्वल्यमान दृष्टान्त। उनकी अनुराग महिमा को देखकर उद्धवादि महाभागवत गण उनका स्तव किये हैं।

वृजदेवी गण श्रीकृष्ण की नित्य प्रेयसी होने के कारण--उनका परकीया भाव परम स्वकीया भाव के ऊपर प्रतिष्ठित है। एतज्जन्य वृज का परकीया भाव--परम विशुद्ध है, भागवत परमहंस चूड़ामणि वृन्द के वाञ्छनीय प्रेमोत्कर्ष इस भाव के द्वारा ही अभिव्यक्त हुआ है। इस हेतु अलौकिक रसज्ञ, उद्धवादि उस भाववती वृजदेवी वृन्द का स्तव किये हैं। अन्यत्र ईदृश भावशुद्धि वा प्रेमाभिव्यक्ति की सम्भावना भी नहीं है। इस हेतु परकीया भाव में केवल उन सबका उत्कर्ष प्रदर्शित हुई है।

लौकिक रसज्ञ व्यक्ति गण परोढ़ा नायिका में रस निष्पत्ति अस्वीकार करने पर भी भगवल्लीला के प्रति श्रद्धालु होकर वृज देवी गण में उस की स्वीकार किये हैं। उन्होंने परकीया भाव के कारणादि अंश में दृष्टि प्रदान करके अत्यन्त प्रशंसा की है। भाव शुद्धि रागोत्कर्ष के प्रति दृष्टि देकर नहीं। अलौकिक लौकिक उभयविध रसज्ञ का वृज परकीया भाव के प्रति आदर प्रदर्शन पूर्वक उस का उत्कर्ष ख्यापन सन्दर्भकार किये हैं। अनन्तर लौकिक रसज्ञ वृन्द का अभिमत को उद्धृत कर कहते हैं—यथाह भरतः।-

"बहु वार्य्यते यत: खलु, यत्र प्रच्छन्नकामुकत्वञ्च ।
या च मिथो दुर्लभता, सा परमा मन्मथस्य रतिः ॥"५६१॥ इति,

रुद्रः—

"वामता दुर्लभत्वञ्च स्त्रीणां या च निवारणा । तदेव पञ्चबाणस्य मन्ये परममायुधम् ॥"५६२॥ इति,

विष्णुगुप्तः—

"यत्र निषेध विशेषः सुदुर्लभत्वञ्च यन्मृगाक्षीणाम् ।
तत्रैव नागराणां निर्भरमासज्जते हृदयम् ॥"५६३॥ इति ।

अतएव कासाञ्चिद्गोपकुमारीणां कात्यायनीजपानुसारेण पतिभावेऽप्याधिक्यमनुवर्त्तत इति । केचित्तु वारणादित एवासां प्रेमाधिक्यं मन्यन्ते, तन्न,—जातितोऽप्याधिक्यात्, तच्च---

---

"बहु वार्य्यते यतः खलु, यत्र प्रच्छन्नकामुकत्वञ्च ।
या च मिथो दुर्लभता, सा परमा मन्मथस्य रतिः ॥५६१॥

जिस रति के कारण नायिक नायिका को लोक एवं धर्म- बहु निवारण करते हैं, जिस रति में नायक नायिका का कामुकत्व प्रच्छन्न रहता है, एवं जो रति नायक नायिका की दुर्ल्लभतामयी है वही कन्दर्प के सम्बन्ध में उत्तमा रति है।

रुद्र कहे हैं— "वामता दुर्लभत्वञ्च स्त्रीणां या च निवारणा ।
तदेव पञ्चबाणस्य मन्ये परममायुधम् ॥"५६२॥

नारी वृन्द की वामता, दुर्ल्लभता एवं मिलन की जो बाधा, मैं मानता हूँ, वही कामदेव का परम अस्त्र है। विष्णु गुप्त कहे हैं—

"यत्र निषेध विशेषः सुदुर्ल्लभत्वञ्च यन्मृगाक्षीणाम् ।
तत्रैव नागराणां निर्भरमासज्जते हृदयम् ॥"५६३॥

जिस में हरिण नयनीवृन्द का विशेष निषेध एवं सुदुर्ल्लभता वर्त्तमान है,, नागर वृन्द का हृदय उस में अत्यन्त आसक्त होता।

लौकिक रस विद् भरतादि के मत में नारीगण के मिलन वध्नादि ही उत्कर्ष के हेतु हैं। परकीया नायिका में वे सब विद्यमान होने के कारण व्रज के परकीया भाव में उज्ज्वल रस का उत्कर्ष वे भी स्वीकार करते हैं। यह निश्चित हुआ।

व्रज में धन्यादि कतिपय गोप कुमारी ने श्रीकृष्ण को पति भाव में प्राप्त करने के निमित्त कात्यायनी व्रतानुष्ठान किया श्रीकृष्ण में उनका पतिभाव विद्यमान है, अत वस्त्र हरण लीला में श्रीकृष्ण उन सबको अङ्गीकार करने के कारण उन सब का स्वीयात्व सिद्ध होता है। उज्ज्वल नीलमणि कार के मत में

"गान्धर्व रीत्या स्वीकारात् स्वीयात्वमिह वस्तुतः"

वैसा होने पर भी असङ्कोच से श्रीकृष्ण मिलन का सुयोग उन सब को व्रज में नहीं मिला। गान्धर्व रीति से विवाह की कथा व्रज में अव्यक्त थी, इस हेतु कृष्ण सङ्गम में निवारणादि भी वर्त्तमान थे। 'अव्यक्तत्वाद्विवाहस्य सुष्ठु प्रच्छन्न कामता' (उज्ज्वल नीलमणि) भा० १०।२२।४ में उक्त है—

"कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि ।
नन्द गोपसुतं देवि पतिं मे कुरुते नमः
इति मन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिकाः"

(भा० १०।८३।४३) "व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति" इति, (भा० १०।४७।५८) 'वाञ्छन्ति यद्भवभियः' इत्यादिना व्यक्तम् । न हि वारणाद्यंशमङ्गीकृत्य तेषां लोभो जातः,—अनभीष्टत्वात् । ततो जात्यंशमेवेति गम्यते । अतः प्रबलजातित्वान्निवारणादिकमप्ययमतिक्रामतीत्येवमेव श्लाघ्यते,- (भा० १०।४७।६१) 'या दुस्त्यजम्' इत्यादिना । मत्तहस्तिनां बलस्य दुर्गातिक्रमवन्निवारणाद्यतिक्रमो हि तासां प्रेमबलस्य व्यञ्जक एव, न तूत्पादकः । जात्यंशेनैव प्राबल्ये सति निवारणादि

---

इस प्रकार कात्यायनी मन्त्र जप के अनुसार कतिपय गोप कुमारी का उत्कर्ष विद्यमान है ।

यहाँ लौकिक रसविद् गण के मत में स्वीया नायिका महिषी गण से श्रीकृष्ण में पति भाववती कात्यायनी व्रत परा गोप कुमारीवृन्द का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन हुआ । किन्तु अलौकिक रसज्ञ गण प्रेमाधिक्य निबन्धन यावतीय व्रज सुन्दरी वृन्द का श्रेष्ठत्व कीर्त्तन किये हैं ।

कतिपय व्यक्ति वारणादि हेतु ही व्रजदेवी वृन्द का प्रेमाधिक्य को मानते हैं । ऐसा नहीं है । प्रेमजाति से ही उन सब का प्रेम गरीयान् है । उनके प्रेमका श्रेष्ठत्व भा० १०।८३।४३ के उक्ति से प्रतिपादित हुआ है ।

"न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भौज्यमप्युत ।
वैराज्यं पारमेष्ठ्यञ्च आनन्त्यं वा हरेः पदम् ।
कामयामह एतस्य श्रीमत् पादरजः श्रियः ।
कुचकुङ्कुम गन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः ॥"
व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति पुलिन्द्यस्तृणवीरुधः ।
गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्शं महात्मनः ॥"

भा० १०।४७।५८ में उक्त है—

उद्धवः परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ ।
एताः परं तनु भृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढ़ भावाः
वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयञ्च
किं ब्रह्म जन्मभिरनन्त कथा रसस्य ॥"

कतिपय व्यक्ति वारणादि विद्यमान होने से ही व्रजाङ्गना वृन्दका प्रेम वैशिष्ट्य है—मानते हैं । किन्तु वस्तुतः वैसा नहीं है । जातिगत रूप से ही उनका प्रेम गरीयान है, उनका प्रेम वैशिष्ट्य- "व्रजस्त्रियो यद्वाच्छन्ति" इत्यादि महिषी वृन्द की उक्ति से एवं 'वाञ्छन्ति यद् भवभियः" उद्धव की उक्ति से सुव्यक्त हुआ है । वारणादि अंश को अवलम्बन कर श्रीउद्धवादि का गोपी प्रेम में लोभोत्पन्न नहीं हुआ, वारणादि उनके अभीष्ट नहीं हैं ।

सुतरां जात्यंश में ही गोपीप्रेम सर्वश्रेष्ठ है । यह ज्ञात होता है । जाति में प्रबल होने के कारण ही गोपीप्रेम निवारणादि को अतिक्रम करने में समर्थ है । इस हेतु–भा० १०।४७।६१ "या दुस्त्यजं स्वजनमार्य्य पथञ्च हित्वा" इत्यादि वाक्य के द्वारा श्रीशुक देवने उन सब की प्रशंसा की है । दुर्गाति क्रमण से जिस प्रकार मत्त हस्तिका बल व्यक्त होता है, उत्पन्न नहीं होता है, उस प्रकार निवारणादि अतिक्रमसे व्रजाङ्गना वृन्द का प्रेम बल व्यक्त हुआ है, किन्तु उत्पन्न नहीं हुआ है । समस्त व्रजाङ्गना गण के पक्ष में ही निवारणादि समान रूप में थे । उस से यदि उनका प्रेम प्रबल होता तो उसके मध्य में प्रेम तारतम्य होना सम्भव है, प्रेम तारतम्य की कथा उन्होंने स्वयं कही है । श्रीराधिका का प्रेम वैशिष्ट्य एवं श्रीकृष्ण

साम्येऽपि तासां स्वेषु प्रेमतारतम्यं सम्भवति, यथा ताभिरपि श्रीराधायाः प्रेमवैशिष्टेयचन श्रीकृष्णवशीकारित्ववैशिष्टयं वर्णितम्,—(भा० १०।३०।२८) "अनयाराधितो नूनम्" इत्यादिना। या च तासां क्षोभे सति प्रेम्णः प्रफुल्लता, सा खलु कृष्णसर्पस्येव स्वत एव सिद्धतया, न त्वपरत आहार्य्यतया। केवलौपपत्यस्य प्रेमवर्द्धनत्वं तु ताभिरेव स्वयं (भा० १०।४७।७) 'निःस्वं त्यजन्ति गणिकाः', (भा० १०।४७।८) 'जारा भुक्त्वा रतां स्त्रियम्' इति निन्दितम्। यत्तु कश्चित् परकीयासु लघुत्वं वक्ति, तत् खलु प्राकृतनायकमवलम्बमानासु युक्तम्,—तत्रैव

---

वशिकारित्व वैशिष्ट्य का वर्णन उन्होंने ही भा० १०।३०।२८में "अनयाराधितो नूनम्" श्लोकके द्वारा किया है। उन सब के क्षोभ से प्रेम की जो प्रफुल्लता दृष्ट हुई है, वह कृष्ण सर्प के क्षोभ से उनका विषोद् गीरण के तुल्य स्वतः सिद्ध रूप से प्रकाशित हुई है, अपर किसी कारण से प्रफुल्लता नहीं आयी है।

औपपत्य भी प्रेम वैशिष्ट्य के प्रति कारण नहीं हो सकता है। भा० १०।४७।७ "निःस्वं त्यजन्ति गणिकाः। भा० १०।४७।८ "जारा भुक्त्वा रतां स्त्रियम्" वेश्या निर्धन पुरुष को परित्याग करती है, एवं उपपति गण सम्भोग के पश्चात् अतृप्ता स्त्री को परित्याग करते हैं। इस वाक्य के द्वारा व्रजदेवी गणों ने ही प्रेम वर्द्धन के हेतु रूप में औपपत्य की निन्दा की है।

भावार्थ यह है—इस अनुच्छेद में भाव के द्वारा ही व्रजाङ्गना वृन्द का उत्कर्ष साधित हुआ है। प्रकट लीला में उनका परकीया भाव है। अर्थात् सम्बन्ध है। किन्तु परकीया भाव ही उत्कर्ष का हेतु नहीं है, उत्कर्ष का हेतु दूसरा है। वही विचारणीय है।

परकीया भाव स्वरूपतः नायिका का उत्कर्ष हेतु नहीं हो सकता है। यदि वैसा होता तो रसज्ञ गण परकीया भाववती नायिका का उत्कर्ष कीर्त्तन करते। वैसा देखने में नहीं आता है, वस्तुतः परकीया सम्बन्ध को रसोपकरण नहीं माना गया है। "परोढ़ां वर्जयित्वात्र" श्लोक के द्वारा प्रदर्शित हुआ है।

परकीया भाव श्रीकृष्ण प्रेयसी निष्ठ होने पर भी वह उत्कर्षाधायक नहीं हो सकता है। सैरिन्ध्री कुब्जा कृष्ण प्रेयसी है, उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में उस को परकीया नायिका कही गई है। 'भाव योगात्तु सैरिन्ध्री परकीयैव सम्मता'(नायिका भेद ७)

परकीया भाव हेतु कोई भी व्यक्ति उसकी प्रशंसा नहीं करते हैं। इससे प्रतिपन्न हुआ कि—परकीया भाव स्वतन्त्र रूप से किसी भी नायिका का उत्कर्ष साधन कर ही नहीं सकता है।

परकीया भाव ही यदि नायिका का श्रेष्ठत्व का हेतु होता तो, व्रजदेवी गण को परम स्वीया नहीं कहते। परकीया भाव जो उनका उत्कर्ष का हेतु नहीं है, उस को दर्शाने के निमित्त उस भाव का कार्य्य निवारण, दुर्लभता एवं प्रच्छन्न कामुकता जो व्रजाङ्गना वृन्द का उत्कर्षाधायक नहीं है, उस का वर्णन करते हैं।

प्रेमाधिक्य ही नायिका का श्रेष्ठत्व का परिज्ञापक है। निवारणादि द्वारा व्रजाङ्गना गण का प्रेमाधिक्य प्रकट नहीं हुआ है। अर्थात् स्रोत का जल प्रथम अवरुद्ध होकर वृद्धि प्राप्त होता है, अनन्तर अवरोध को अतिक्रम करके प्रबल वेग से प्रवाहित होता है, उस प्रकार अप्रकट लीला में व्रजाङ्गना गण का जो प्रेम था, प्रकट लीला में परकीया भाव के निवारणादि के द्वारा अवरुद्ध होकर वह बर्द्धित होने के पश्चात् अवरोध को अतिक्रम करके प्रबल भाव से व्यक्त नहीं हुआ है। उन सब का स्वभाव सिद्ध प्रवृद्ध प्रबल प्रेम प्रवाह, सुरतरङ्गिणी के तुल्य अवलीला क्रमसे स्वीय स्वच्छन्द गति के विरोधी यावतीय विघ्न

को अतिक्रम किया है। सार कथा यह है कि--गोपी प्रेम स्वभावतः ही असमोर्द्ध्व है। अतः कहा गया है कि गोपाङ्गना गण का प्रेम जाति से ही श्रेष्ठ है।

पहले सैरिन्ध्री को परकीयैव कहा गया है। यहाँ एव अव्यय सादृश्यार्थ में प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् सैरिन्ध्री परकीया सदृशी है। परकीया नायिका का सम्पूर्ण लक्षण उस में नहीं है। साधारणी, स्वीया एवं परकीया भेद से नायिका त्रिविधा हैं। साधारणी नायिका वेश्या है। नायक में उस को प्रीति नहीं रहती है, वह केवल अर्थाभिलाषिणी होती है। तज्जन्य साधारणी नायिका अवलम्बन से रस नहीं हो सकता है। सैरिन्ध्री साधारणी होने पर भी उस का अन्य पुरुष सङ्ग नहीं है। उसकी प्रीति श्रीकृष्ण में थी, यह प्रीति रस रूप में परिणत हुई है। एतज्जन्य उस को उज्ज्वल रस का आलम्बन स्वीकार किया गया है। उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में कृष्ण वल्लभा गण के स्वीया परकीया भेद से द्विविध किये गये हैं। सैरिन्ध्री में स्वकीया लक्षण का अभाव हेतु परकीयात्व स्वीकार किया गया है। किन्तु परकीया का यावतीय लक्षण उस में विद्यमान न होने के कारण वह परकीया सदृशी है।

यहाँ प्रेम जाति शब्द से मधुरा रति के भेद को जानना होगा। साधारणी, समञ्जसा, समर्था भेद से मधुरा रति त्रिविध हैं। सैरिन्ध्री में साधारणी रति, महिषी वृन्द में समञ्जसा एवं व्रजाङ्गना गण में समर्था रति है। ये त्रिविध रति के मध्य में समर्था रति सर्व श्रेष्ठ है। साधारणी रति प्रेम पर्य्यन्त समञ्जसा रति-अनुराग पर्य्यन्त एवं समर्थारति महाभाव पर्य्यन्त परिणति को प्राप्त करती है। निवारणादि योग से भी साधारणी--वा समञ्जसा रति महाभाव पर्य्यन्त परिणति को प्राप्त नहीं कर सकती है। एवं समर्थारति स्वीय स्वाभाविक वैशिष्ट्य के द्वारा ही महाभाव में पर्य्यवसित होती है। प्राणि भेद से जिस प्रकार जठरा नल का तारतम्य होता है, एवं वह भेद जिस प्रकार स्वाभाविक है- कृष्ण प्रेयसी को रति का तारतम्य भी तादृश है। जिस प्रकार उपवास के पश्चात् शशक का जठरानल हस्ति के जठरा नल के समान नहीं होता है, उस प्रकार निवारणादि के द्वारा भी साधारणी वा समञ्जसा रति समर्था रति की समता को प्राप्त नहीं करत सकती है। समर्था का इस प्रकार वैशिष्ट्य को जानकर महाभागवत उद्धव ने उन सब को प्रशंसा की है "यद्वाञ्छन्ति भवभियो मुनयोवयञ्च" उक्ति से उन्होंने उस रति को मुक्त, मुमुक्षु एवं भक्त वृन्द की वाञ्छनीय कहा है। एवं "व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति" श्लोक के द्वारा महिषी गण ने उस रति की प्रार्थना भी की है।

उद्धव प्रभृतियों ने निवारणादि अंश को अवलम्बन कर व्रजाङ्गना वृन्द को समर्था रति की प्रशंसा नहीं की है, एकदिन के बाद भोजन करने से यदि किसी की क्षुधा का उद्रेक होता है, तो उस क्षुधा की प्रशंसा लोक नहीं करते हैं। पक्षान्तर में लङ्घन के द्वारा क्षुधा का प्राबल्य मन्दाग्नि का ही परिचायक है। उस प्रकार निवारणादि के द्वारा यदि व्रजाङ्गना गण की समर्था रति का उत्कर्ष होता तो विज्ञ शिरोमणि गण उस की प्रशंसा नहीं करते, किन्तु रसज्ञ जण उस में रति की दुर्बलता का ही अनुभव करते हैं। सुतरां व्रजदेवी वृन्द की स्वाभाविकी रति का उत्कर्ष को देखकर ही उद्धवादि ने उस की प्रशंसा की है।

प्रीतिमान् व्यक्ति मात्र ही प्रियतम का निरुपद्रव सङ्ग वाञ्छा करते हैं, सुतरां श्रीकृष्ण दर्शनादि सर्वदा विघ्न सङ्कुल हो, उत्कण्ठा के सहित दर्शन करेंगे, इस प्रकार वाञ्छा किसी भी भक्त की हो ही नहीं सकती है। एतज्जन्य निवारणादि उद्धवादि के अनभीष्ट हैं। यह कहा गया है।

समर्थारति स्वीय स्वाभाविक शक्ति के द्वारा निवारणादि अतिक्रम करने में समर्था है, अतः उस प्रकार रतिमती व्रजाङ्गना गण को श्रीकृष्ण परकीया नायिका रूप में अवतीर्ण कराये हैं। उन्होंने स्वाभाविक प्रेमबल से कृष्ण सङ्गम के यावतीय विघ्न को अतिक्रम किया है। भा० १०।४७।६१ में उक्त है- "या दुस्त्यजं स्वजनमार्य्य पथञ्चहित्वा" इस से उक्त प्रेमबल की प्रशंसा की गई है। किन्तु परकीया भाव

जुगुप्सितत्वात्, अत्र तु (भा० १०।३३।३५) 'गोपीनां तत्पतीनाञ्च' इत्यादिना तत्प्रत्याख्यानात्। अत्र च तत्पतीनामिति तद्व्यवहारदृष्टिमात्रेणोक्तम्, न तु परमार्थदृष्ट्या। तद्दृष्ट्या तु श्रीकृष्णसन्दर्भे तासां स्वरूपशक्तित्वमेवात्र परत्र च स्थापितम्। तथास्य श्रीकृष्णलक्षणस्य

---

की प्रशंसा नहीं की है। अधिक कहना तो क्या है—यदि महिषी गण में उक्त परकीया भाव कतिपय होता तो भी वे उस प्रकार प्रेमबल का परिचय प्रदान करने में सक्षम नहीं होते।

मत्त हस्ती का दुर्गातिक्रमण एवं कालसर्प का विषोद्गीरण का दृष्टान्त द्वारा निवारणादि---केवल प्रेमबल प्रकाश का सहायक हैं, उत्पादक नहीं हैं। यह प्रतिपन्न हुआ है।

निवारणादि जो व्रजाङ्गना गणका प्रेमोत्कर्ष के हेतु नहीं हैं, उनका प्रेम तारतम्य से ही वह प्रमाणित हुआ है। सब के पक्ष में ही निवारणा समान हैं। स्वभाव सिद्ध प्रेम वैशिष्ट्य के द्वारा ही उन सब के मध्य में प्रेम का तारतम्य हुआ है।

"उपपति—भोगान्त में अतृप्ता स्त्री को परित्याग करता है। गोपिका के इस वाक्य से नायक की स्वार्थ सिद्धि ही उस मिलन का उद्देश्य है। अतः जिस में केवल स्वार्थ सिद्धि की ही चेष्टा रहती है, वह कभी भी स्वार्थ त्याग मय प्रेम का परिवर्द्धक नहीं हो सकता है।

व्रजललना गण के परकीया भाव की प्रशंसा लौकिक अलौकिक समस्त रसज्ञ गण ही किये हैं, वह केवल परकीया भाव नहीं है, किन्तु परमस्वीया एवं समर्थारति के सहित वह मिलित हुआ था। एवं उस परकीया भाव का आलम्बन थे, श्रीकृष्ण, एतज्जन्य परकीया भाव का ईदृश गौरव है।

व्रजपरकीया भाव में रसोत्कर्ष स्थापन हेतु प्रतिपक्ष खण्डनार्थ कहते हैं—कतिपय व्यक्ति कहते हैं, परकीया नायिका में रतिकी लाघवता होती है। किन्तु जो सब नायिका की प्रीतिका आलम्बन प्राकृत पुरुष है उस के सम्बन्ध में ही उक्त कथन सार्थक हो सकता है।—उस में भी परकीया भाव से घृणा का उद्रेक होता है। व्रजाङ्गना गण के सम्बन्ध में परकीया भाव वा जुगुप्सामयत्व का परिहार करने के निमित्त श्रीशुकदेव भा० १०।३३।३५ में कहे हैं—

"गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषामपि देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्ष क्रीड़नेनेह देहभाक्॥

टीका—परदारत्वं गोपीनामङ्गी कृत्य परिहृतम्, इदानीं भगवतः सर्वान्तर्यामिणः परदारसेवा नाम न काचिदित्याह गोपीनामिति योऽन्तश्चरति अध्यक्षो बुद्ध्यादिसाक्षी स एव क्रीड़नेन देहभाक् नत्वस्मदादितुल्यो येन दोषः स्यादिति॥

जो गोपी गणके एवं उनके पति समूह के तथानिखिल देही के अन्तश्चारी एवं अध्यक्ष हैं, वही यह लीलामय विग्रह श्रीकृष्ण हैं।

अभिप्राय यह है—पर पुरुष विषयिणी रति अधर्म्ममय होने के कारण घृणा का विषय होता है। श्रीकृष्ण, किसी भी अवस्था में पर पुरुष नहीं हैं, वह सतत ही सब के हृदय विहारी हैं। प्रकट लीला में उपपति रूप में प्रतीयमान होने पर भी वास्तविक उन सब के पक्ष में भी श्रीकृष्ण पर पुरुष नहीं हैं। अतएव व्रज परकीया भाव घृणा का विषय नहीं है।

उक्त श्लोक में गोप गण को जो व्रजाङ्गना गण के पति कहा गया है। वह व्यवहारिक दृष्टि से है, पारमार्थिक दृष्टि से नहीं है। प्रकट अप्रकट उभय लीला में ही वे श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति हैं। इसका प्रतिपादन श्रीकृष्ण सन्दर्भ में हुआ है।

नायकस्य तादृश-भावेनैव प्राप्तौ (भा० १०।४७।५८) "एताः परं तनुभृतः" इत्यादिषु सर्वोद्‌र्ध्वं श्लाघाश्रवणात् परमगरीयस्त्वमेव, अतएवोक्तम्—

"नेष्टा यदङ्गिनि रसे कविभिः परोढ़ा, तद्‌गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेण।
आशंसया रसविधेरवतारितानां, कंसारिणा रसिकमण्डलशेखरेण॥"५६४॥ इति।

अथ तासां स्वपत्याभाससम्बन्धमपि वारयितुं योजयति, (भा० १०।३३।३७)—

(२७६) "नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥"५६५॥

एवं श्रीभगवन्नित्यप्रियाणां तासां सर्वदैव बोद्धव्यमिति भावः। ततश्च तस्य मायया

---

जब श्रीकृष्ण नामक नायक ही उस उपपति भाव का नायक होते हैं, तब तो उस भावका स्वतः हीं उत्कर्ष स्थापित होता है। अतएव भा० १०।४७।५८ में कहा गया है, "एताः परं तनुभृतः" उक्त श्लोक समूह के द्वारा व्रजाङ्गना गण की सर्वोद्‌र्ध्व प्रशंसा की गई है। उस से परकीया व्रजदेवी गण की रति का परमोत्कर्ष प्रतिपन्न होता है। इस हेतु उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में उक्त है—

"नेष्टा यदङ्गिनि रसे कविभिः परोढ़ा, तद्‌गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेण।
आशंसया रसविधेरवतारितानां कंसारिणा रसिकमण्डलशेखरेण॥"५६४॥

प्राचीन पण्डितगण, मुख्य रस में जो परकीया रमणी का उल्लेख नहीं करते हैं, वह केवल गोकुल कमल नयनी व्यतीत अपर रमणी वृन्द के सम्बन्ध में ही है। कारण, रसिक शेखर शिरोमणि श्रीकृष्ण—रस विशेष की परिपाटी प्रदर्शन हेतु उन सब को अवतीर्ण कराये हैं।

कहा जा सकता है कि—श्रीकृष्ण-परमरवीया निज प्रेयसी गोपी गण को परकीया नायिका रूप में आविर्भूत कराये थे, अतः यहाँ दोष नहीं हुआ है, किन्तु ये सब जो अन्य गोप की पत्नी हो गई थीं, इससे व्यभिचार दोष स्पर्श से जुगुप्सारति का उद्रेक की सम्भावना है? उत्तर में कहते हैं—(भा० १०।३३।३७)

(२७६) "नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥"५६५॥

गोप गण श्रीकृष्ण के प्रति असूया प्रकाश नहीं किये थे। कारण, वे उनकी माया से मोहित होकर निज निज पत्नी को स्वपार्श्वस्थिता माने थे।

श्लोकार्थ यह है—रास रजनी में श्रीव्रजदेवी गण यमुना पुलिन में उपस्थित होने पर भी उनके पतिम्मन्य गण उन सब निज पार्श्व में अवस्थिता माने थे। श्रीभगवन्नित्य प्रेयसी गण के सम्बन्ध में सर्वदा ही इस प्रकार हुआ था, ऐसा मानना चाहिये, तज्जन्य गोप गण श्रीकृष्ण माया से मोहित होकर माया प्रभाव से कल्पिता जो निज निज पत्नी है, उन सब को निज पार्श्व में अवस्थिता मानते थे। अर्थात् जानते थे। एतज्जन्य वे श्रीकृष्ण के प्रति असूया प्रकाश नहीं किये थे।

गुण में दोषारोप को असूया कहते हैं। यहाँ श्रीकृष्ण की धार्म्मिकता गुण में अधार्म्मिकता दोषारोपण करना हैं, गोप गण यदि समझ जाते कि—कृष्ण उनकी पत्नी गण को घर से बाहर लेजाकर उस के सहित क्रीड़ा कर रहा है, तो कृष्ण के प्रति असूया प्रकाश करने का अवकाश होता, गोप गण वैसा जान नहीं पाये थे। जिस समय गोपी गण को लेकर यमुना पुलिनादि में क्रीड़ा करते थे-- उस समय अनुसन्धान मात्र से ही पत्नि गण समीप में उपस्थित हो जाती थीं, अतः वे जानते थे कि पत्नी गण समीप में ही हैं,

मोहिताः सन्तो माययैव ये स्वे स्वे दारास्तान् स्वस्वपार्श्वस्थान् मन्यमाना जानन्तो नासूयन्-
नित्यर्थः ॥ श्रीशुकः ॥

२८० । तदेवं भावत उत्कर्षो दर्शितः । दैहिकं तमाह,—(भा० १०।२९।४३) 'ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः' इत्यादौ 'व्यरोचतैणाङ्क इवोड़ुभिर्वृतः' इति । स्पष्टम् ॥ सः ॥

२८१ । किञ्च, (भा० १०।३३।६) —

(२८१) "तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः ।
मध्ये मणीनां हैमानां महामारकतो यथा ॥"५६६॥

स्पष्टम् ॥ सः ॥

२८२ । गुणवैभवकृतमप्याह, (भा० १०।३२।१०)—

(२८२) "ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः ।
व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा ॥"५६७॥

स्पष्टम् ॥ सः ॥

---

कृष्ण के प्रति असूया करने का अवसर ही नहीं आता था । गोपगण का इस प्रकार मनन स्वाभाविक नहीं है । अयथार्थ है, श्रीकृष्ण की माया का प्रभाव से वे उस प्रकार समझते थे ।

प्रवक्ता श्रीशुकदेव हैं ॥२७९॥

२८० । उक्त भाव की रीति से वृजदेव गणों का उत्कर्ष स्थापित हुआ । दैहिक वैशिष्ट्य का कथन भा० १०।२९।४३ में है—

"ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः ।
उदारहास द्विजकुन्द दीधितिर्व्यरोचतैणाङ्क इवोड़ुभिर्वृतः ॥

टीका—प्रियस्येक्षणेन उत्फुल्लानि मुखानि यासां ताभिः । उदार हासश्च द्विजाश्च तेषु कुन्द कुसुमवद् दीधितिर्यस्य सः । एणाङ्कः—चन्द्रः ।

गोपी गणों के सहित श्रीकृष्ण नक्षत्र वेष्टित चन्द्र के समान शोभित हुये थे ।

प्रवक्ता श्रीशुकदेव हैं ॥२८१॥

१८१ । और भी भा० १०।३३।३६ में उक्त है—

(२८१) "तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः ।
मध्ये मणीनां हैमानां महामारकतो यथा ॥"५६६॥

एवं "स्वर्ण वर्ण मणि समूह के मध्य में नीलमणि जिस प्रकार अतिशय शोभित होती है, स्वर्णकान्ति युक्त गोपी मण्डली मध्य में देवकी सुत उस प्रकार शोभित हुये थे । इस श्लोक में व्रजदेवी वृन्द का दैहिक वैशिष्ट्य वर्णित हुआ है ।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥२८१॥

२८२ । गुण वैभव कृत वैशिष्ट्य का वर्णन भा० १०।३२।१० में है—

(२८२) "ताभिर्विधूतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः ।
व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा ॥"५६७॥

२८३। कलावैदग्धीकृतमाह, (भा० १०।३३।७) 'पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः' इत्यादि, (भा० १०।३३।८) —

(२८३) "उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः।
कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम् ॥"५६८॥

इदं जगत्, अद्यापि यासां गीतांशा एव जगति प्रचरन्तीत्यर्थः, यदुक्तं सङ्गीतसारे—

"तावन्त एव रागाः स्युर्यावत्यो जीवजातयः। तेषु षोड़शसाहस्री पुरा गोपीकृता वरा ॥"५६९॥ इति।

अन्ते च तेषामेव विभागश्च तत्र स्वर्गादिषु दर्शित इति ॥

२८४। किञ्च, (भा० १०।३३।९) —

(२८४) "काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः।
उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु साध्विति।
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानञ्च बह्वदात् ॥"५७०॥

---

भगवान् ऐश्वर्य्यादिमय स्वरूप शक्ति समूह से परिवृत होकर जिस प्रकार शोभित होते हैं, श्रीकृष्ण-विधूत शोका गोपी मण्डली द्वारा परिवृत होकर उस प्रकार अतिशय शोभित हुये थे। श्रीशुक कहे थे ॥२८२॥

२८३। कला वैदग्धि कृत वैशिष्ट्य का वर्णन भा० १०।३३।७ में है—

"पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासै।
र्भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः ॥
स्विद्यन्मुख्यः कवर रशना ग्रन्थयः कृष्ण बध्वो
गायन्त्यस्तं तड़ित इव ता मेघचक्रे विरेजुः ॥"

पादन्यास, करचालन, सहास्य भ्रूविलास प्रभृति द्वारा कृष्ण बधूवृन्द अतिशय शोभित हुई थीं। भा० १०।३३।८ में उक्त है—

"उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः।
कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम् ॥"५६८॥

नृत्य में जिन्होंने श्रीकृष्ण के निकट से सम्मान लाभ किया, प्रेम से जिनका कण्ठ स्निग्ध था, श्रीकृष्ण की प्रीति विधान ही जिनका प्रियकार्य्य है, जो श्रीकृष्ण के संस्पर्श से आनन्दित हुई थी वे गोपीवृन्द उच्चैःस्वर से गाने लगी थीं। इसी गान से ही इस जगत् आवृत हुआ है।

इस गान से इस जगत् आवृत हुआ है—इस कथन का अर्थ हैं—अद्यापि ब्रजदेवी वृन्द का गीतांश जगत् में प्रचारित हो रहा है। कारण—सङ्गीत सार में लिखित है—

"तावन्त एव रागाः स्युर्यावत्यो जीवजातयः।
तेषु षोड़शसाहस्री पुरा गोपीकृता वरा ॥"५६९॥

जितनी जीव जाति हैं, उतने संख्यक राग भी हैं। उसके मध्य में षोड़श सहस्र राग की रचना पहले गोपियों ने की है। इस ग्रन्थ के शेष भाग में स्वर्गादि लोक में उक्त राग समूह का विभाग प्रदर्शित हुआ है ॥२८३॥

स्वराः षड्जादयः सप्त, जातयस्तेषु रागोत्पत्तिहेतवः। ता उभयोरपि परमप्रवीणत्वात् स्वरान्तरेण जात्यन्तरेण चामिश्रिताः शुद्धा एव उन्निन्ये, उत्कर्षेण जगौ। अत्र शक्र-शर्वपरमेष्ठि-पुरोगानिश्चिततत्त्वगानस्य श्रीमुकुन्दस्यापि सहार्थत्वेनाप्राधान्य विवक्षितम्, तत्राप्युत्कर्षेण, अतएव तेन पूजिता। तदेव तालान्तरेण निबद्धं गीतं ध्रुवाख्यं तालविशेषं कृत्वा या ततोऽप्युत्कर्षेण जगौ, तस्यै पूर्वस्या अप्यधिकं मानमदात्॥ सः॥

२८५--२८६। अथ तासु सामान्यासु सैरिन्ध्री मुख्या,--सर्वत्र ख्यातत्वात्। स्वकीयासु पट्टमहिषीषु श्रीरुक्मिणी-सत्यभामे मुख्ये, यथा श्रीहरिवंशे—

"कुटुम्बस्येश्वरी चासीद्रुक्मिणी भीष्मकात्मजा।
सत्यभामोत्तमा स्त्रीणां सौभाग्ये चाधिकाभवत्॥"५७१॥ इति।

अथ श्रीव्रजदेवीषु मुख्या भविष्योत्तरोक्ताः,—

गोपाली पालिका धन्या विशाखा ध्याननिष्ठिका।
राधानुराधा सोमाभा तारका दशमी तथा॥"५७२॥ इति।

---

२८४। और भा० १०।३३।९ में उक्त है—

(२८४) "काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः॥
उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु साध्विति।
तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानञ्च बह्वदात्॥"५७०॥

किसी गोपी–,मुकुन्द के सहित अमिश्रिता स्वर जाति का आलाप उत्तम रूप से करने लगी थी, उस से प्रीत होकर श्रीकृष्ण, उस को साधु वाद से सम्मानिता किये थे। किसी गोपी—उस स्वर जाति को ही ध्रुवताल से उत्तम रूप से गाने लगी थीं, मुकुन्द—उसको भी अनेक सम्मान प्रदान किये थे। स्वर-षड्जादि सप्तस्वर। जाति—सप्तस्वर से रागोत्पत्ति के हेतु समूह हैं। सार्द्धश्लोक में जिस गोपीद्वय के सङ्गीतालाप का वर्णन है, वे सङ्गीत विद्या में अतिशय निपुणा होने के कारण, अन्य स्वर एवं अन्य जाति के सहित अमिश्रिता—शुद्धा स्वर जाति का गान उत्तम रूप से किये थे। यहाँ जिनके गान का यथार्थ स्वरूप इन्द्र, शिव, ब्रह्मा प्रभृति निश्चय करने में असमर्थ हैं—उस प्रकार मुकुन्द का गान के सहित अप्राधान्य सूचित करने के निमित्त 'मुकुन्द के सहित' शब्द का प्रयोग किया गया है। उसमें भी उत्तम रूप से गान किया है। इस हेतु श्रीकृष्ण--सम्मान प्रदान किये थे। उसी समय में ही जिस गोपीने अन्य ताल निबद्ध गान का आलाप ध्रुवताल में पहले से भी उत्तम रूपसे किया, उस को भी श्रीकृष्ण---उससे भी अधिक सम्मान दान किये थे। प्रवक्ता श्रीशुक हैं–२८४॥

२८५-२८६। साधारणी नायिका के मध्य में सैरिन्ध्री मुख्या है, स्वकीया पट्ट महिषी वृन्द के मध्य में श्रीरुक्मिणी सत्यभामा श्रेष्ठा हैं। श्रीहरिवंश में लिखित है—

"कुटुम्बस्येश्वरी चासीद्रुक्मिणी भीष्मकात्मजः।
सत्यभामोत्तमा स्त्रीणां सौभाग्ये चाधिकाभवत्॥"५७१॥

भीष्मक नन्दिनी रुक्मिणी कुटुम्बों की अधीश्वरी हैं। सत्य भामा स्त्री वृन्द के मध्य में उत्तमा एवं अतिशय सौभाग्य शालिनी हैं।

व्रजदेवी गण के मध्य में जो मुख्य हैं— उनका नाम भविष्य पुराण के उत्तर खण्ड के मल्ल द्वादशी

दशम्यपि तारका--नाम्नीत्यर्थः । स्कन्दप्रह्लादसंहितायान्तु ललिता शैव्या पद्मा भद्रेति चतस्रोऽन्याः । अन्यत्र चन्द्रावली च श्रूयते, सा चात्रार्थसाम्यात् सोमाभैवानुमेया । कार्त्स्न्येन तु "प्रमदाशतकोटिभिराकुलिते" इत्यागमोपदेशः । एतास्वपि श्रीराधिकैव मुख्या, सैव रासोत्सवे श्रीकृष्णेन परम-प्रेम्णान्तर्धापितेति (१८९ अनु०) श्रीकृष्णसन्दर्भे दर्शितमस्ति । प्रसिद्धा च तथा सैव सर्वत्रेति । अतः श्रैष्ठ्यचिह्नेन गोपालतापन्युक्ता गान्धर्विकैव सेत्यनुमेया ।

अथ ताः श्रीकृष्णवल्लभास्त्रिविधा दृश्यन्ते,—मुग्धा, मध्या, प्रगल्भाश्चेति । तादृश्यश्च नव-यौवन-स्पष्ट-यौवन-सम्यग् यौवनैर्वयोभेदैस्तत्तच्चेष्टाभिश्च । सम्यग् यौवनञ्च प्राप्तषोड़शवर्षत्वमेव नाधिकम्,—"कन्याभिर्द्वचष्टवर्षाभिः" इति गौतमीयतन्त्रात् । तथा स्वभावभेदेन धीरा

---

प्रसङ्ग में लिखित है—

"गोपाली पालिका धन्या विशाखा ध्याननिष्ठिका ।
राधानुराधा सोमाभा तारका दशमी तथा ।"५७२॥

गोपाली-पालिका, धन्या, विशाखा, ध्यान निष्ठिका, राधा, अनुराधा, सोमाभा तारका, एवं तन्नाम्नी दशम संख्यक गोपी हैं । अर्थात् दशम संख्यक गोपीका नाम भी तारका है । स्कन्द पुराण की प्रह्लाद संहिता में "ललिता, शैव्या, पद्मा, भद्रा,--चार का नामोल्लेख हैं । अन्यत्र चन्द्रावली नाम्नी गोपिका नामोल्लेख भी है । यहाँ सोमाभा शब्द से चन्द्र वली का नाम अनुमित होता है । सोमाभा-सोम--चन्द्र, उस के समान आभा कान्ति है जिस की इन अर्थ के सहित चन्द्रावली--चन्द्र आवली श्रेणी—अर्थात् जो चन्द्र श्रेणी स्वरूपा है—इस प्रकार अर्थ सादृश्य है । सब मिल कर "प्रमदा शत कोटिभिः" 'बहुशत कोटि वनिता' इस आगम वाक्य में बहु संख्यक गोपिका का नामोल्लेख है । इन सबों के मध्य में श्रीराधिका मुख्या हैं । रासोत्सव में श्रीकृष्ण-परम प्रीति पूर्वक उनको साथ लेकर अन्तर्द्धान हुए थे । श्रीकृष्ण सन्दर्भ में उसको दर्शाया गया है । सर्व श्रेष्ठा रूप में वही प्रसिद्धा है । गोपाल तापनी में जिस गान्धर्विका का उल्लेख है, इस प्रकार श्रेष्ठत्व चिह्न के द्वारा वह श्रीराधा नाम से अनुमिता हैं ।

वे सब कृष्ण वल्लभा— मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा भेद से त्रिविधा हैं । नव यौवन, स्पष्ट यौवन, एवं सम्यक् यौवन— ये त्रिविध वयस भेद से एवं उस उस विभिन्न प्रकार की नायिका योग्य चेष्टा के द्वारा उक्त भेद ज्ञात होता है । सम्यक् यौवन-षोड़श वर्ष वयः क्रम प्राप्ति । इससे अधिक नहीं है । कारण, गौतमीय तन्त्र में द्व्यष्ट षोड़श वर्ष वयस्का कन्या वृन्द के सहित श्रीकृष्ण का विहार वर्णित हुआ है । उसी प्रकार स्वभाव भेद से धीरा अधीरा एवं धीरा अधीर — ये त्रिविध भेद से एवं प्रेमतारतम्य से भी श्रेष्ठा, समा, कनिष्ठा—ये त्रिविध भेद दृष्ट होते हैं ।

ये सब नायिका प्रत्येक ही लीलावस्था भेद से अभिसारिका, वासकसज्जा, उत्कण्ठिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता, प्रोषित भर्त्तृका एवं स्वाधीन भर्त्तृका अवस्था को प्राप्त करती है । अर्थात् ये अष्टविध आख्या को प्राप्त करती है ।

उस प्रकार परस्पर भाव समूह के सादृश्य, किञ्चित सादृश्य, अस्पष्ट सादृश्य एवं विरोधिता ये चतुर्विध भेद के अनुसार नायिका गण— सखी, सुहृत तटस्था, एवं प्रातिपक्षिकी अर्थात् विपक्षा- ये चतुर्विधा होती हैं । इन के भाव भेद का वर्णन स्थायिभाव प्रकरण में होगा । उस के मध्य में ३७९ अनुच्छेद में भा०

अधीरामिश्रगुणाश्चेति पुनस्त्रिधावगन्तव्याः, प्रेमतारतम्येन श्रेष्ठाः समाः, लघव इति च ।
अथ ता लीलावस्थाभेदेनैकैका अभिसारिका, वासकसज्जोत्कण्ठिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता, प्रोषितप्रेयसी, स्वाधीनभर्तृकेत्यष्टौ नामानि भजन्ति, तथा परस्परं भावानां सादृश्य-किञ्चित्-सादृश्यास्पृष्टसादृश्यानि, विरोधित्वं चैतद्भेदचतुष्टयात् पुनश्चत्वारि–सखी, सुहृत्, तटस्था, प्रातिपक्षिकी चेति । भावभेदाश्च स्थायिनिरूपणे ज्ञेयाः । तत्र सखी यथा-- (भा० १०।३०।११) "अप्येणपत्नी" इत्यादि-द्वये पुरतो दर्शनीया,–अत्र हि "तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृ तिम्' इति स्वीय-तद्दिदृक्षाद्योतनात्, सखीति तद्दर्शनसुखोपभोगसौभाग्यभागिता-सात्त्वेन तस्यां सख्यारोपणात् कान्तेति श्रीकृष्णसङ्गिन्याः सौभाग्यातिशयस्य, कुलपतेरिति श्रीकृष्णस्य, कान्ताङ्गसङ्गेत्यादिना तयोर्मिथोऽङ्गसङ्गस्य, तदीयपरिमलस्य चानुमोदनात् सख्यमेव स्पष्टम् । अतएव तल्लीलानुमोदनमपि (भा० १०।३०।१२) 'बाहुं प्रियांसे' इत्यादिना । सुहृद्यथा (भा० १०।३०।२८)—

---

१०।३०।११ में वर्णित 'अप्येणपत्नी" इत्यादि श्लोक के द्वारा सखी का वर्णन होगा ।

रास में श्रीकृष्णान्तर्द्धान के पश्चात् व्रजाङ्गना गण उनका अनुसन्धान करते करते हरिणी गण की प्रसन्न दृष्टि को देखकर उन्होंने कृष्ण दर्शन किया है—यह मान कर कही थीं— हे सखि ! हरिणि ! प्रिया के सहित अच्युत अङ्ग समूह के द्वारा तुम्हारे नयनों का परमानन्द विस्तार करते करते क्या यहाँ आये थे ? कारण, कान्ता के अङ्ग सङ्ग निबन्धन, उनके कुच कुङ्कुम रञ्जित कुलपति की कुन्द कुसुम माला की गन्ध यहाँ मिल रही है ।

उक्त श्लोक में "तुम्हारे नयनों का परमानन्द विस्तार' यह कथा जिस गोपी ने कही है, वह गोपी–जिस अवस्था में श्रीकृष्ण---हरिणी गण के दृष्टि गोचर हुए थे, उस अवस्था में उनकी दर्शनाभिलाषिणी है । यह व्यक्त होने के कारण---'सखि' शब्द से तादृश कृष्ण दर्शन सुखोपभोग रूप सौभाग्य शालिता के द्वारा हरिणी गणों में सख्य भाव का आरोप करने के कारण, एवं 'कान्ता' शब्द से कृष्ण सङ्गिनी का सौभाग्य-अतिशय का, "कुलपति" शब्द के द्वारा श्रीकृष्ण का, 'कान्ता का अङ्ग सङ्ग' इत्यादि के द्वारा--उस कान्ता एवं कृष्ण-परस्पर का अङ्ग-सङ्ग--एव अङ्ग सङ्ग सम्भूत परिमल का अनुमोदन करने के कारण यहाँ सख्य ही सुस्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ है। अतएव 'बाहुं प्रियांसे' इत्यादि श्लोक में उस लीला का अनुमोदन भी उन्होंने किया है ।

तात्पर्य्यार्थ यह है--नायिका गण के मध्य में जिस का भाव सादृश्य है, वह नायिका परस्पर की सखी होती है । सखीत्व बोध कराने के निमित्त "रास प्रकरण का 'अप्येण पत्नी" श्लोक उद्धृत किया गया है । यह उक्ति जिस की है, वह श्रीराधा की सखी है । राधा का भाव सादृश्य के द्वारा उस का सखीत्व सिद्ध हुआ है ।

श्रीराधा का भाव—श्रीकृष्ण जैसे उसको लेकर विहार करें । उक्त गोपीका भी भाव है—श्रीकृष्ण जैसे श्रीराधा को लेकर विहार करें । श्रीराधा के सखीगणको छोड़कर अपर गोपी गणको अपने साथ किंवा निज यूथेश्वरी के साथ श्रीकृष्ण सङ्गम की वाञ्छा थी । श्रीराधा के सहित श्रीकृष्ण सङ्गम वाञ्छा तो श्रीराधा को सखी वृन्द की ही थी यही सखी भाव का स्वभाव है । राधा के सहित श्रीकृष्ण विहार जो

(२८५) "अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः ॥"५७३॥

अस्याश्च तद्भाग्यमात्रप्रशंसनाद्व्यक्तं सौहृद्यम्। तटस्था यथा (भा० १०।३०।११) "अन्येण-पत्नो" इति सखीवाक्यानन्तरम् (भा० १०।३०।१३)—

(२८६) "पृच्छतेमा लता बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः।
नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो ॥"५७४॥

अत्र सखीवचनं श्रुत्वापि तत्रौदासीन्यात्ताटस्थ्यमेव व्यक्तम्। एवम् 'अनयाराधितो नूनम्' इति सुहृद्वाक्यानन्तरमपि (भा० १०।३०।२९) :'धन्या अहो अमी आल्यः" इत्यादिवाक्ये च।

२८७। अथ प्रातिपक्षिकी यथा (भा० १०।३०।३०)—

(२८७) "अस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चचैः पदानि यत्।
यैकापहृत्य गोपीनां धनं भुङ्क्तेऽच्युताधरम् ॥"५७५॥

---

सखी वृन्द का अभिप्रेत है, उसको प्रतिपन्न करने के निमित्त श्लोक का विश्लेषण किया गया है। श्रीकृष्ण के सहित श्रीराधा की विहार दर्शनेच्छा का प्रकाश, जिसने उसको देखा है, उस में सखीत्वारोपण एवं उस विहार का अनुमोदन करना है।

सुहृद् का उदाहरण भा० १०।३०।२८ में वर्णित है—

(२८५) 'अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः ॥"५७३॥

जिस प्रिय -(राधा को) को लेकर रासस्थल से अन्तर्हित हुये थे। उनके सम्बन्ध में एक गोपी बोली—इनके द्वारा भगवान् हरि ईश्वर–निश्चय ही आराधित हुये हैं। कारण, प्रीत होकर गोविन्द हम सब को छोड़कर इनको लेकर निभृत स्थान में चले गये हैं।

जिस गोपीने इस प्रकार बोली है—उसने केवल श्रीराधा की भाग्य प्रशंसा की है, अतः उनके कथन से सौहृद व्यक्त हुआ है। तज्जन्य यह गोपी सुहृद् हैं, सखी नहीं है ॥२८५॥

२८६। तटस्था का उदाहरण–भा० १०।३०।११ में 'अप्येण पत्नी' इति सखी वाक्य के अनन्तर किसी सखीने कही—भा० १०।३०।१३ में उक्त है—

(२८६) "पृच्छतेमा लता बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः।
नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो ॥"५७४॥

हे सखिगण! इस लता समूह को कृष्ण का विवरण पूछो, ये वनस्पति के स्कन्ध रूप बाहु आलिङ्गन करके भी श्रीकृष्ण के नख द्वारा स्पृष्टा होकर निश्चय ही पुलकायित हुई हैं।

"अप्येण पत्नी" इत्यादि सखी वाक्य में—यह गोपी, प्रिया राधा के सहित श्रीकृष्णान्तर्द्धान का विवरण सुनी थी। तथापि उसके सम्बन्ध में कुछ भी उल्लेख न होने के कारण श्रीराधा के प्रति इस का औदासीन्य प्रकटन हेतु ताटस्थ्य व्यक्त हुआ है। यह तटस्था है। इस प्रकार "अनयाराधितो नूनम्" सुहृद् वाक्य के अनन्तर भी भा० १०।३०।२९ "धन्या अहो अमी आल्यः" इत्यादि वाक्य में भी तटस्था का

अत्र प्रकट एव मत्सर इति ताभ्यो विलक्षणत्वम्, तथैव श्रीहरिवंशादौ पारिजातहरणे श्रीरुक्मिणीं प्रति सत्यभामायाः । स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

२८८ । अत्र विचार्य्यते,— ननु भगवद्भक्तेषु परस्परं प्रतिपक्षित्वमसम्भवमहृद्यञ्च, तथा (भा० १०।२९।४८) "तासां तत्सौभगमदम्" इत्यादौ तदीर्षामद-मानादि-दूरीचिकीर्षा श्रीभगवतोऽपि दृश्यते, तथा श्रीमता मुनिना स्वयमपि तास्वित्र दौरात्म्य-शब्दः प्रयुक्तोऽस्तीति ? तत्रोच्यते-सर्वैव हि श्रीभगवतः क्रीड़ा प्रीतिपोषायैव प्रवर्त्तते,-(भा० १०।३३।३६) "भजते तादृशी क्रीड़ा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्" इत्यादि,-श्रुत्वापीत्यर्थः । तत्र शृङ्गार-क्रीड़ायाश्चास्याः स्वभावोऽयं यत् खल्वीर्ष्यामद-मानादिलक्षण-तत्तद्भाववैचित्रीपरिकरतयैव रसं पुष्णाति । यत एव तादृशतयैव कविभिर्वर्ण्यते, श्रीभगवता च स्वलीलायामङ्गीक्रियते,

---

उदाहरण सुस्पष्ट है ॥२८६॥

२८७। अनन्तर प्रतिपक्ष का वर्णन करते हैं— भा० १०।३०।३० में उक्त है—

(२८७) "अस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत् ।
यैकापहृत्य गोपीनां धनं भुङ्क्तेऽच्युताधरम् ॥"५७५॥

श्रीकृष्ण के पद चिह्न के सहित राधा के पद चिह्न समूह को देखकर एक गोपी बोली— इस के पद चिह्न समूह हमे दुःखी करते हैं । कारण, समस्त गोपिका का उपभोग्य श्रीकृष्ण अधरामृत को हरण कर यह एकक भोग कर रही है ।

इस गोपी ने राधा के प्रति मात्सर्य्य प्रकट किया है । अपर जिस की उक्ति है, उस में इस प्रकार मात्सर्य्य प्रकट नहीं हुआ है । तज्जन्य उन सब से इस में वैलक्षण्य व्यक्त हुआ है । उस प्रकार श्रीहरि वंशादि में पारिजात हरण प्रसङ्ग में श्रीरुक्मणी के प्रति सत्यभामा की प्रतिपक्षता सुस्पष्ट वर्णित है ।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥२८७॥

२८८ । यहाँ विचार करते हैं— भगवद् भक्त गण में परस्पर विरोध असम्भव है । वह हृद्य एवं रुचिकर भी नहीं है । इस प्रकार भा० १०।२९।४८ में उक्त "तासां तत्सौभगमदम्" श्लोक में भगवान् की भी व्रजाङ्गनागण के ईर्षा, मद, मानादि विदूरित करने को इच्छा देखी जाती जाती है । श्रीमान् मुनीन्द्र शुकदेव ने भी व्रजाङ्गना गण के ईदृश मद मानादि में "दौरात्म्य" शब्द का प्रयोग किया है ।

इस विषय में वक्तव्य यह है कि— भगवान् की निखिल क्रीड़ा ही प्रीति पोषण हेतु प्रवृत्त होती हैं । इस हेतु शुकदेव कहे हैं-- श्रीकृष्ण, तादृश क्रीड़ा प्रकट करते हैं— जिस को सुनकर श्रद्धान्वित भक्त गण तत् पर होते हैं-अर्थात् श्रीकृष्ण आसक्त होते हैं । (भा० १०।३३।३६) "भजते तादृशः क्रीड़ा याः श्रुत्वा तत् परो भवेत्" श्रुत्वापीत्यर्थः । सुनकर भी श्रीकृष्ण में आसक्त होते हैं ।

भगवत् क्रीड़ा समूह के मध्य में शृङ्गार क्रीड़ा का स्वभाव यह है कि--वह विभिन्न प्रकृति की प्रिया वृन्द की ईर्षा, मद मानादि रूप भाव वैचित्री को परिकर करके रस पोषण करती है । कारण, पण्डितगण तादृश रूप में हो रस परिपाटी का—वर्णन करते हैं । श्रीभगवान् भी निज लीला में उक्त भाव समूह को अङ्गीकार करते हैं । अपने में भी दक्षिण, अनुकूल, शठ, एवं धृष्ट—ये चतुर्विध नायकत्व यथास्थान में व्यक्त करते हैं । सुतरां लीला शक्ति ही भगवत् प्रेयसी वृन्द में ईर्षा, मद, मानादि भाव रक्षा करती है । भाव के

स्वस्मिन्नपि दक्षिणानुकूल-शठ-धृष्टतेति चतुर्भेद-नायकत्वं यथास्थानं व्यज्यते, तस्मात्तत्तल्लीला-शक्तिरेव तासु तत्तद्भावं दधाति। तच्च भावानुरूपेणैवेति दर्शितम्। अतएव यदा सर्वासामेव तद्विरहो भवति, तदा दैन्येनैकजातीयभावत्वापत्त्या सर्वत्र सख्यमेवाभिव्यज्यते, यथा (भा० १०।३०।४१)—

"अन्विच्छन्त्यौ भगवतो मार्गं गोप्योऽविदूरतः।
ददृशुः प्रियविश्लेषान्मोहितां दुःखितां सखीम्।।"५७६।।

इत्यत्र तस्यां पूर्वासामेव सखीत्व-व्यञ्जना। विरहलीला च तासां झटिति श्रीकृष्णविषयक-तृष्णातिशय-वर्द्धनार्थैव। नागरचूड़ामणीन्द्राय श्रीकृष्णाय च तासां तद्वृद्धिरत्यर्थं रोचते, यथोक्तम् (भा० १०।३२।२०)—"नाहन्तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्" इत्यादिना। तस्मान्मध्ये मध्ये विरहोऽपि भवति। तदा श्रीकृष्णस्य मद-मानादिविनोदमतिक्रम्यापि तदध्यवसायः

---

अनुरूप ही मानादि अवस्थान करते हैं। इस का वर्णन (८४) अनुच्छेद में हुआ है।

अतएव प्रेयसी वृन्द के सब में जब श्रीकृष्ण विरह उपस्थित होता है, उस समय दैन्य वशतः एक जातीय भाव उपस्थित होने से सब में ही सख्य उपस्थित होता है। भा० १०।३०।४१ में उक्त है—

'अन्विच्छन्त्यो भगवतो मार्गं गोप्योऽविदूरतः।
ददृशुः प्रियविश्लेषान्मोहितां दुःखितां सखीम्।।"५७६।।

रास नृत्य में राधा को लेकर अन्तर्हित होने के पश्चात् श्रीकृष्ण कुछ समय राधा को लेकर विहार किये थे। अनन्तर उस को छोड़कर छिप गये थे। अन्य गोपी गण उनको अन्वेषण करते करते विरह व्यथिता राधा को अवलोकन किये थे। उस समय परस्पर सखी भाव उपस्थित हुआ था। कारण, पूर्व में कहा गया है—भाव साम्य ही सखीत्व का निदान है। उस प्रकार सखी भावकी कथा ही शुकदेवने कही है।

भगवान् के पथ अनुसन्धान करते करते गोपी गण निकट में प्रिय विरह से मोहिता एवं दुःखिता सखी को देखी थीं। इस श्लोक में समस्त गोपी का सखी भाव सुव्यक्त हुआ है।

जिस विरह लीला की कथा कही गई है, श्रीकृष्ण उस को प्रकट क्यों करते हैं? उत्तर में कहते हैं—श्रीकृष्ण विषय में व्रजाङ्गना गण की प्रबल तृष्णा आशु वर्द्धित हो इस उद्देश्य से ही विरह लीला प्रकटन करते हैं। व्रजाङ्गना गण की वह तृष्णा वृद्धि--नागरेन्द्र चूड़ामणि श्रीकृष्ण के पक्ष में अति रुचिकर होती है। "भा० १०।३२।२० में आपने स्वयं ही कहा है—

"नाहन्तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद।।"

हे सखीगण! मैं आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ, गुरुद्रुह के वर्ग में नहीं हूँ। जो मेरा भजन करता है, मैं उसका भजन नहीं करता हूँ, कारण है—भजन कारी व्यक्ति जैसे मेरी चिन्ता निरन्तर करे। मेरा यही अभिप्राय है। जिस प्रकार धन हीन जन धन लाभ कर उस को खो जाने पर निरन्तर उस की चिन्ता करता रहता है, अपर कुछ अनुसन्धान नहीं करता है, मैं भी भजन कारी को उस प्रकार करने के निमित्त उस का भजन नहीं करता हूँ। इस हेतु मध्ये मध्ये विच्छेद भी होता रहता है। उस समय मद मानादि विनोद को अतिक्रम करके भी श्रीकृष्ण का उस विरह संघटन का अध्यवसाय होता है।

स्यात्। ततो मद-मानयोः प्रशमाय स्वविषयक--तृष्णातिशय-रूपप्रसादाय चेति तासां तत सौभगेत्यत्रार्थः। सर्वसमुदित-रासलीलार्थं मदस्य प्रशमाय मानस्य च प्रसादाय प्रसादनादेरर्थो वा। ततस्तद्वर्द्धनेच्छाप्यानुषङ्गिकीति समानम्। अथ जाते च विरहे दैन्येनैव तासां तत्र दौरात्म्यबुद्धिः, न तु वस्तुत एव तद्दौरात्म्यम्,—प्रेमैकविलासरूपत्वात्। श्रीमुनीन्द्रोऽपि तद्भावानुसारित्वेनैव तद्वाक्यमनुवदति—(भा० १०।३०।४२) "तया कथितमाकर्ण्य" इत्यादि। स्वयन्तु पूर्वं तस्मिंस्तदीये मदे दोषं प्रत्याख्यातवानस्ति, यथा (भा० १०।३०।३५)—

(२८८) "रेमे तया स्वात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः।
कामिनां दर्शयन् दैन्य स्त्रीणाञ्चैव दुरात्मताम्॥"५७७॥

स्वात्मरतः स्वतस्तुष्टोऽपि, आत्मारामः स्वक्रीडोऽप्यखण्डितस्तस्यां सततासक्तः सन् रेमे।

---

तन्निबन्धन "तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानञ्च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत॥"

व्रजाङ्गना गणके सौभाग्य मद् एवं मानको दर्शन कर प्रशमन एवं प्रसादन हेतु केशव अन्तर्द्धान किये थे।' इस श्लोक में प्रशमन एवं प्रसादन की जो कथा कही गई है— उसका अर्थ— मद एवं मान प्रशमन हेतु एवं निज विषयक तृष्णातिशय रूप प्रसाद के निमित्त श्रीकृष्ण अन्तर्द्धान किये थे।

अथवा यावतीय उपकरण के सहित जो रास लीला उपस्थित हुई थी— उसको सम्पन्न करने के निमित्त व्रजाङ्गनागण का सौभाग्यमद् प्रशमन एवं मान प्रसादन--मान भञ्जन--प्रयोजन हुआ था। इस हेतु श्रीकृष्ण--अन्तर्हित हुये थे। आनुषङ्गिक तृष्णा वर्द्धन की इच्छा भी थी। सुतरां श्रीकृष्ण विषयक प्रबल तृष्णा बर्द्धनेच्छा ही जो रास से अन्तर्द्धान के हेतु है— उभय विध व्याख्या के द्वारा वह प्रतिपन्न हुआ। विरह उपस्थित होने के कारण- दैन्य वशतः मान गर्व से व्रजाङ्गना गण की दौरात्म्य बुद्धि उपस्थित हुई थी। मानादि प्रेम विलास स्वरूप होने के कारण वह वास्तविक दौरात्म्य नहीं है। भा० १०।३०।४२ में उक्त है—

"तया कथित माकर्ण्य मान प्राप्तिञ्च माधवात्।
अवमानञ्च दौरात्म्यात् विस्मयं परमं ययुः॥"

श्रीराधा के निकट से श्रीकृष्ण से मान प्राप्ति एवं दौरात्म्य से अवमान को सुनकर गोपी गण अत्यन्त विस्मित हो गई थीं" इस श्लोक में शुकदेव ने "दौरात्म्य शब्द का प्रयोग किया है, वह उनका निजाभिमत नहीं है, श्रीराधा का भावानुसरण कर उनके वाक्य की पुनरुक्ति उन्होंने की है। शुकदेव ने रास प्रसङ्ग में श्रीराधा का गर्व को दोष शून्यता का कीर्त्तन किया है। भा० १०।३०।३५ में उक्त है—

(२८८) "रेमे तयास्वात्मरत आत्मारामोऽप्यखण्डितः।
कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणाञ्चैव दुरात्मताम्॥"५७७॥

कामिवृन्द का दैन्य—स्त्रीगण का दौरात्म्य प्रदर्शन हेतु स्वात्मरत, आत्माराम श्रीकृष्ण— अखण्डित होकर ही उनके सहित रमण किये थे।

श्लोक की व्याख्या—स्वात्मरतः--स्वतः सन्तुष्ट, आत्माराम---निज में ही क्रीड़ाशील होकर भी अखण्डित--उन श्रीराधिका में सतत आसक्त होकर क्रीड़ा किये थे।

यदि कृष्ण, स्वात्मरत एवं आत्माराम होते हैं, तो राधा में आसक्त हुए थे, एवं उनके सहित क्रीड़ा

तादृशश्चेत् किमिति तदासक्तो बभूव, तया रेमे च ? अत आह--तया, (भा० १०।१०)
"इत्थम्भूतगुणो हरिः" इतिवत्तथाभूतगुणतया तदीयप्रेमसर्वस्वसाररूपयेत्यर्थः। अतस्तस्यान्येन तादृशत्वासम्भवात् प्रेमविशेष एवासौ स्फुरति, न तु कामः। स च प्रेमविशेष ईदृशप्रबलः, यत् कामिवदेव दैन्यादिकं तयोः प्रकटीभवतीत्याह—कामिनामिति । मद-मान द्यात्मके कामिनीनां प्रेमणि कामिनां यद्दैन्यं लोकप्रसिद्धम्, तदेव स्वद्वारा तत्प्रेमविशेषपारवश्येन दर्शयन् प्रकटयन् स्त्रीणाञ्च तत्र तत्र या मदमानाद्यात्मिका दुरात्मता, दुर्धर्षचित्तता, स्वतन्त्रता, स्वाधीनभर्त्तृकात्वमिति यावत्तां च स्वप्रेयसीद्वारा स्वप्रणयलालित्येन प्रकटयन् रेमे, यद्वा, ययैव लीलया स्वयमेव तुच्छीभूताः सर्वेऽप्यन्ये नागरम्मन्या इत्याह—कामिनामिति । स्वलीलामहिम्ना कामिनां प्राकृतानां दैन्यं रससम्पत्तिहीनत्वम्, स्त्रीणां च प्राकृतीनां तं विनान्यस्य भजनेन दुरात्मतां दुष्टभावतां दर्शयन्निति "दर्शयद्विधुपराजयं रमा,-वक्त्रमुल्लसति धूतलाञ्छनम्" इतिवत् ।। श्रीशुकः ।।

---

किये थे— यह कैसे सम्भव होगा ? उत्तर में कहे थे—उनके सहित---श्रीहरि जिस प्रकार निज गुण में आत्माराम मुनिवृन्द का उपास्य हुए हैं, उस प्रकार जो कृष्ण वशीकारक निज गुण में--आत्माराम श्रीकृष्ण की भी क्रीड़ा सङ्गिनी हो सकती हैं जो उन की प्रेमसार सर्वस्व स्वरूपा हैं, उन श्रीराधा के सहित श्रीकृष्ण क्रीड़ा किये थे।

अर्थात् आत्माराम मुनिवृन्द का स्वभाव यह है—स्वरूपातिरिक्त किसी वस्तु में उन सबकी प्रीति नहीं होती है—किन्तु श्रीहरि के गुण में उनके उस स्वभाव का विपर्य्यय होता है। जिस प्रकार मुनिगण—श्रीहरि का भजन करने में बाध्य होते हैं। उस प्रकार स्वात्मरत आत्माराम होने के कारण--स्वरूपातिरिक्त किसी वस्तु में रति क्रीड़ा न करना ही उनका स्वभाव होने पर भी राधा में इस प्रकार चमत्कार गुण है कि—उस गुण के वश होकर श्रीकृष्ण राधा के सहित क्रीड़ा करने में बाध्य होते हैं। इस से श्रीकृष्ण का अन्य के सहित उस प्रकार विहार असम्भव होने के कारण, इस विहार में प्रेम विशेष स्फुरित होता है, काम नहीं है। वह प्रेम है, एवं ईदृश प्रबल है कि—उस के द्वारा कामि व्यक्ति के समान श्रीराधा कृष्ण में भी दैन्यादि पर्य्यन्त प्रकटित होते हैं। इस अभिप्राय से ही श्रीशुकदेव कहे हैं—कामिगण का दैन्य-इत्यादि। कामिनी गण के गर्वमानादि मय प्रेम में कामि वृन्द की जो कथा लोक में प्रसिद्ध है—श्रीराधा का प्रेम विशेष पारवश्य निबन्धन उस दैन्य को प्रकट करने के निमित्त श्रीकृष्ण क्रीड़ा किये थे।

किंवा, जिस लीला के द्वारा नागराभिमानी अन्य सब व्यक्ति तुच्छता को प्राप्त करते हैं, श्रीकृष्ण--उस प्रकार लीला ही किये हैं। कामिवृन्द के दैन्यादि वाक्य के द्वारा उस को कहा गया है। निज लीला महिमा द्वारा कामिवृन्द का--प्राकृत पुरुष वृन्द का,-दैन्य--रस सम्पत्ति हीनता एवं स्त्री गण का—प्राकृत स्त्री गण की श्रीकृष्ण को छोड़कर अन्य पुरुष का भजन करना इस हेतु जो दुरात्मता दुष्ट भावता है, उस को दर्शाने के निमित्त--श्रीकृष्ण, राधा के सहित विहार किये थे।

लक्ष्मी का वदन— चन्द्र पराभव कारी है, यह दिखाने के निमित्त निष्कलङ्क वदन उल्लसित हो रहा है—इस वाक्य से एक के उल्लास से जिस प्रकार अपर का आकर्ष सूचित होता है, उस प्रकार श्रीराधाके सहित श्रीकृष्ण विहार करके— त्रि जगत् में जो सब रमणी श्रीकृष्ण भिन्न अन्य पुरुष का भजन करती हैं, उन सब का अपकर्ष प्रदर्शन किये हैं।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं ।।२८८।।

२८६। इत्यालम्बनो व्याख्यातः। अथोद्दीपनेषु गुणाः, नारीमोहनशीलत्वम्, अवयव-वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-सल्लक्षण-नवयौवनानां कमनीयता, नित्यनूतनत्वम्, अभिव्यक्त-भावत्वम्, प्रेमवश्यत्वम्, सौबुद्ध्यसत्प्रतिभादयश्च। तत्र नारीमोहनशीलत्वादिकं यथा (भा० १०।२१।१२)—

(२८६) "कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलम्" इति।

स्पष्टम्॥ श्रीव्रजदेव्यः॥

२६०-१६४। नित्यनूतनत्वञ्च,—(भा० १।११।३४) "यद्यप्यसौ पार्श्वगतः" इत्यादौ दृष्टम्। अथाभिव्यक्तभावत्वम्। तत्र पूर्वरागे (भा० १०।३१।२) —

(२६०) "शरदुदाशये साधुजातसत्-,सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका, वरद निघ्नतो नेह किं बधः॥५७८॥

हे दृशैव सुरतयाचक! तत्रापि हे कात्यायन्यर्चनान्ते वरप्रद! तत्रापि भावविशेष-दर्शितया दृशा कृतवाशुल्कदासिकातुल्यत्वं प्राप्तास्तयैव पुनर्निघ्नतस्तव न किं बधः, स्त्रीहत्यापि न

---

२८६। यहाँतक उज्ज्वल रस का आलम्बन वर्णित हुआ। अनन्तर उसके उद्दीपन का वर्णन करते हैं। उस के मध्य में गुण—नारीमोहन शीलत्व, अवयव, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श- शब्द--सल्लक्षण नव यौवन की कमनीयता, नित्य नूतनत्व, अभिव्यक्त भावत्व, सौबुद्ध -अर्थात् उत्तम ज्ञानवत्त, सत्प्रतिभा प्रभृति हैं।

नारीमोहन शीलत्वादि का दृष्टान्त— भा० १०।२१।१२ में उक्त है—

(२८६) "कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलम्।"

व्रजदेवियों ने कही है—जिस से वनिता गण का आनन्द होता है—इस प्रकार रूप एवं सुस्वभाव शील सम्पन्न श्रीकृष्ण को देखकर देवीगण भी मुग्ध होती हैं। व्रजाङ्गना गण बोली थीं।।२८६।।

२६०--२६४। नित्य नूतनत्व—भा० १।११।३४ श्लोक में उक्त है—

"यद्यप्यसौ पार्श्वगतः रहोगतस्तथापितस्याङ्घ्रि युगं नवं नवम्।
पदे पदे का विरमेत तत्पदाच्चलापियच्छ्रीर्नजहाति कर्हिचित्॥

अभिव्यक्त भावत्व--भा० १०।३१।२ व्रज देवी गण के पूर्वराग में श्रीकृष्ण का भाव अभिव्यक्त का वर्णन है—श्रीकृष्ण को उद्देश्य कर वे कही थीं---

(२६०) 'शरदुदाशये साधुजातसत्--,सरसिजोदरश्रीमषा दृशा।
सुरतनाथ तेऽशुल्कदासिका, वरद निघ्नतो नेह किं बधः॥"५७८॥

हे सुरत नाथ! हे वरद! शरत् काल में सरोवर में सुजात उत्तम कमल गर्भकी शोभा को अपहरण कारी नयन द्वारा तुम्हारी विना मूल्य की दासी हम सब को जो बध कर रहे हो— यह क्या बध नहीं है?

श्लोक की व्याख्या—हे सुरत नाथ — हे सुरत याचक-तुम तो नयन द्वारा सुरत प्रार्थना करते हो। उस में भी तुम वरद हो। कात्यायनी पूजा के पश्चात् तुमने ही तो हम सब को वर प्रदान किया है। उसमें भी नयन भङ्गी से भाव विशेष प्रदर्शन कर हम सब को विना मूल्य की दासी कर लिया है। अधुना पुनर्वार तुम हम सब को नयन भङ्गि के द्वारा जो बध कर रहे हो. इस से क्या तुम को स्त्री हत्या नहीं लगेगी।

भवति ? इत्यस्तादृशत्वे महामोहनचौरत्वं दर्शयति—शरदुदाशय इत्यादि। तत्र मोहनत्वं द्विविधम्—स्वरूपकृतं दुष्करक्रियाकृतञ्च। तदुभयमपि तत्तद्विशेषणैर्व्यक्तम् ॥

तथा (भा० १०।३१।८) —

(२९१) "मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया, बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यती-,रधरशीधुनाप्याययस्व नः ॥" ५७९॥

मधुरयेति स्वरूपमाधुर्य्यम्, वल्गुवाक्ययेत्यर्थमाधुर्य्यम्, बुधमनोज्ञयेति बुधानां तादृशभावाभिज्ञजनानामेव मनोज्ञयेति भावविशेषमाधुर्य्यं व्यञ्जितम् ॥

तथा (भा० १०।३१।१०)—

(२९२) "प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षितं, विहरणञ्च ते ध्यानमङ्गलम्।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः, कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि ॥" ५८०॥

संविदः सङ्केतनर्म्माणि ॥

तथा (भा० १०।३१।१२)—

---

यह बध क्या स्त्री हत्या में पर्य्यवसित नहीं होगा ? निश्चय ही होगा।

शरत् काल में सरोवर में सुजात इत्यादि वाक्य के द्वारा श्रीकृष्ण के नयन युगल उस प्रकार होने से उसका महामोहन चोरत्व प्रदर्शित हुआ है। वह मोहनत्व द्विविध हैं, स्वरूप कृत एवं दुष्क्रियाकृत। नयन में जो जो विशेषण प्रयुक्त हुआ है। उससे उभय विध मोहनत्व प्रदर्शित हुआ है। अर्थात् "सुजात" एवं "उत्तम" विशेषण के द्वारा स्वरूपकृत, एवं "शोभाहरण कारी" विशेषण के द्वारा दुष्क्रियाकृत मोहनत्व प्रदर्शित हुआ है।

उस प्रकार अभिव्यक्त भाव का और भी कतिपय दृष्टान्त हैं। भा० १०।३१।८ में उक्त है—

(२९१) "मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया, बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यती,--रधरसीधुनाप्याययस्व नः ॥" ५७९॥

श्रीकृष्ण को लक्ष्य कर व्रजदेवी गण बोली थीं—हे कमल नयन ! तुम्हारी मधुर वाणी---मनोहर पदावली द्वारा अलङ्कृता एवं बुध जन मनोज्ञा है, इस वाणी के द्वारा हम सब में मोह उत्पन्न हुआ है, हम सब तुम्हारी किङ्करी हैं, तुम्हारे अधरामृत देकर हम सब को जीवित करो।

मधुर विशेषण से वाणी का स्वरूप माधुर्य्य, मनोहर इत्यादि विशेषण से अर्थ माधुर्य्य एवं बुध इत्यादि विशेषण से तादृश भाव विज्ञजन गण की मनोज्ञता द्वारा भाव विशेष माधुर्य्य व्यञ्जित हुआ है।

२९२। उसी प्रकार भा० १०।३१।१० में वर्णित है—

(२९२) "प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षितं, विहरणञ्च ते ध्यानमङ्गलम्।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः, कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि ॥" ५८०॥

हे प्रिय ! हे कपट ! तुम्हारा हास्य, सप्रेम दृष्टि, जिस का ध्यान से मङ्गल होता है, उस प्रकार विहार, निर्जन में हृदय स्पर्शी सङ्केत नर्म्म--अर्थात् वेणु ध्वनि प्रभृति द्वारा परिहास, ये सब हमारे मनको क्षुब्ध करते रहते हैं।

(२८३) "दिन-परिक्षये नीलकुन्तलै-,र्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम् ।
घनरजस्वलं दर्शयन्मुहुर्मनसि नः स्मरं बीर यच्छसि ।।"५८१।।

मुहुः पुनः पुनर्व्याजेन परावृत्येत्यर्थः ।।

तथा (भा० १०।३१।१६-१७) –

(२८४) "पतिसुतान्वय-भ्रातृबान्धवा,-नतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागता ।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः, कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि । ५८२।।
रहसि संविदं हृच्छयोदयं, प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम् ।
वृहदुरःश्रियो वीक्ष्य धाम ते, मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः ।।"५८३।।

गतिविदस्तवोद्गीतमोहिता इत्यस्माकं मोहनप्रकारज्ञानेनैव त्वं तथा वेणुना गीतवानित्यर्थः । श्रीगोप्यः परोक्षस्थितं श्रीभगवन्तम् ।।

२८५ । एवम्—

---

श्लोक में जो "संविदः" पद है – उस का अर्थ है – सङ्केत नर्म्म ।।२८२।।

२८३ । भा० १०।३१।१२ में भी उक्त है—

(२८३) "दिन--परिक्षये नीलकुन्तलै--,र्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम् ।
घनरजस्वलं दर्शयन्मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि ।।"५८१।।

हे वीर ! सायं काल में नील कुन्तलावृत, गोधूलि धूसर तुम्हारे वदन कमल को प्रकटन पूर्वक उस को पुनः पुनः दर्शन कराकर हमारे हृदय में कन्दर्प अर्पण करते हो । वारम्बार प्रदशन-गो सम्भालनादि त्रिविध छन्द से बारम्बार घुम फिर कर मुख कमल दर्शन कराना ।।२८३।।

२८४ । भा० १०।३१।१६-१७ में उक्त है—

(२८४) "पतिसुतान्वय-भ्रातृबान्धवा--नतिबिलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः ।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः, कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ।।५८२।।

हे अच्युत ! हे कपट ! तुम तो हमारे आगमन कारण को जानते हो, तुम्हारे उच्च वेणुगीत से मोहित होकर पति, पुत्र, उस के सम्पर्कित जन, भ्राता बान्धव गण को परित्याग पूर्वक तुम्हारे निकट आये हैं, रात्रि-काल में इस रीति से समागता रमणी वृन्द को परित्याग कौन करता है ?

"रहसि संविदं हृच्छयोदयं, प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम् ।
वृहदुरःश्रियो वीक्ष्य धाम ते, मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः ।।"५८२।।

निर्जन में तुम्हारा क्रीड़ा सङ्केत, कन्दर्पोद्रेक, हास्यवदन, स प्रेम दृष्टि, लक्ष्मी की विलास भूमि के तुल्य विशाल वक्षः को देखकर हमारी अत्यन्त स्पृहा तुम्हारे में हुई है, उससे हम सबका मुग्ध हो गया है ।

तुम हमारे आने का कारण को जानते हो, हम सब तुम्हारे उच्च वेणु गीत से मोहिता हैं, इस का अर्थ—हम सब कैसे मोहिता हैं, तुम जानते हो, जान कर ही हम सब जैसे मुग्धा बनें, वेणु द्वारा उसी प्रकार गान करते हो, श्रीकृष्ण, रास से अन्तर्हित होने पर उनको लक्ष्य करके व्रजदेवियों ने ये सब श्लोक गान किया । श्रीगोपीगण परोक्षस्थित भगवान् को बोली थीं ।।२९०-२९४।।

२९५ । इसी प्रकार स्कन्द पुराण के रेवाखण्डीय तुलसी स्तव से भी श्रीकृष्ण के पूर्व राग में श्रीव्रज

"गवां हिताय तुलसि गोपीनां रतिहेतवे। वृन्दावने त्वं वपिता सेविता विष्णुना स्वयम्॥"५८४॥

इति स्कान्दे रेवाखण्डीय-तुलसीस्तववचनमपि तत्पूर्वरागे दर्शनीयम्। तथा सम्भोगेऽपि (भा० १०।२९।४२) "इति विक्लवितं तासाम्" इत्यादौ "प्रहस्य" इति, (भा० १०।२९।४३) "ताभिः समेताभिरुदार-चेष्टितः" इति, 'उदारहासद्विजकुन्ददीधितिः' इति च, (भा० १०।२९।४४) 'उपगीयमानः' इत्यादौ 'उद्गायन्' इति, (भा० १०।२९।४६) 'बाहुप्रसार-' इत्यादिकं चाभिव्यक्त-भावत्वोदाहरणम्।

अथ प्रेम्णा वश्यत्वं द्विविधम्—प्रेमान्तरेण प्रेयसीप्रेम्णा च। तत्र पुर्वेण—(भा० १०।३५।२०) 'नर्मदः प्रणयिनां विजहार' इत्यत्र दर्शितम्। अथोत्तरेण, तत्र पूर्वरागात्मकेन यथा (भा० १०।५३।२)—

(२९५) 'तथाहमपि तच्चित्तो निद्राञ्च न लभे निशि'' इति।

---

देवी गण के सम्बन्ध में भावाभिव्यक्ति का परिचय उपलब्ध होता है।

"गवां हिताय तुलसि गोपीनां रतिहेतवे। वृन्दावने त्वं वपिता सेविता विष्णुना स्वयम्॥"५८४॥

गो गणों के हित एवं गोपी गण की रति के निमित्त स्वयं विष्णु श्रीकृष्ण—तुलसी तुम को वृन्दावन में रोपण किये हैं--एवं सेवा किये हैं।

यहाँ तक पूर्वराग में श्रीकृष्ण के अभिव्यक्त भावत्व का दृष्टान्त प्रस्तुत हुआ। सम्भोग में भी उसका दृष्टान्त दृष्ट होता है। भा० १०।२९ ४२

"इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः।
प्रहस्य सदयं गोपी रात्मा रामोऽप्यरीरमत्॥' भा० १०।२९।४३ में उक्त है—
"ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः।
उदारहास द्विज कुन्ददीधितिर्व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः॥"

इति विक्लवित श्लोक में—"प्रकृष्ट रूप से हास्य करके" एवं श्रीकृष्ण के उदार हास्य एवं कुन्द कुसुम के समान मनोहर दन्तद्युति भा० १०।२९।४४ में उक्त है---

"उपगीयमान उद्गायन् वनिता शत यूथपः।
मालां बिभ्रद्वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन् वनम्॥" भा० १०।२९।४६ में
"बाहु प्रसार परिरम्भ करालकोरु नीवीस्तनालभन नर्म्मनखाग्र पातैः।
क्ष्वेल्यावलोक हसितै र्व्रजसुन्दरीणा मुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार॥"

'उपगीयमान' श्लोक में उद्गायन्। एवं ४६ श्लोक में 'बाहुप्रसार' इत्यादि श्रीकृष्ण में उज्ज्वल रसोपयोगी भावाभिव्यक्ति का लक्षण है। ये सब उनके गुण विशेष रूप में उद्दीपन विभाव होते हैं।

अनन्तर प्रेम वश्यत्व गुणत्व का वर्णन करते हैं, वह द्विविध हैं। अन्य प्रेम वश्यत्व एवं प्रेयसी प्रेम वश्यत्व। अन्य प्रेमवश्यत्व गुण का दृष्टान्त यह है—(भा० १०।३५।२०)

"कुन्ददामकृत कौतुक वेषो गोप गोधन वृतोयमुनायाम्।
नन्द सूनुरनघे तव वत्सो नर्म्मदः प्रणयिनां विजहार॥"

श्रीकृष्ण, सखावृन्द के सहित सुखद होकर विहार करते हैं। प्रेयसी प्रेम वश्यत्व का दृष्टान्त—

स्पष्टम् ।। श्रीभगवान् रुक्मिणीदूतम् ॥

२६६-२६७ तथा (भा० १०।२६।१) —

(२६६) 'भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥'५८५॥

योगमायां तासामसंख्यानामसंख्यवाञ्छापूरिकां स्वशक्तिं स्वभावत एवाश्रित इत्यर्थः ॥ सम्भोगात्मकेन यथा (भा० १०।२६।४२)—

(२६७) 'इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः ।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत् ॥'५८६॥

अत्र विक्लवितमिति तासां प्रेमातिशयज्ञापकम्, सदयमिति तस्य तत्प्रेमवश्यत्वातिशयाभिधायकम्, आत्मारामोऽपीति तासां प्रेमगुणमाहात्म्यदर्शकम् (भा० १।७।१०) 'आत्मारामाश्च मुनयः' इत्यादौ 'इत्थम्भूतगुणो हरिः" इतिवत् ।। श्रीशुकः ।।

---

भा० १०।५३।२ (२६५) "तथाहमपि तच्चित्तो निद्रां च न लभे निशि ।
वेदाहं रुक्मिणा द्वेषान्ममोद्वाहो निवारितः ॥"

श्रीकृष्ण, श्रीरुक्मिणी देवी प्रेषित ब्राह्मण के निकट कहे थे मैं भी रुक्मिणी गत चित्त होकर रात्रि में निद्रित हो नहीं सकता हूँ । यह दृष्टान्त पूर्वरागात्मक वाक्य में है ।

भगवान् श्रीरुक्मिणी दूत को कहे थे ॥२६५॥

२६६--२६७ । प्रेम वश्यत्व का अपर दृष्टान्त भा० १०।२६।१ में है—

(२६६) "भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ।।"५८५।।

भगवान् भी शरत् ऋतु में प्रफुल्लमल्लिकामय रजनी समूह को देखकर योगमाया को अवलम्बन पूर्वक क्रीड़ा करना मनस्थ किये थे । योग माया — असंख्य व्रजाङ्गना गणकी असंख्य वाञ्छा पूरण कारिणी श्रीकृष्ण की निजशक्ति है । स्व भावतः ही उस शक्ति को अवलम्बन करके आप क्रीड़ा करने में उत्सुक हुये थे । यह दृष्टान्त पूर्व रागात्मक वाक्य में है । अनन्तर सम्भोगात्मक वाक्य से दृष्टान्त उपस्थित करते हैं ।

(भा० १०।२६।३२) (२६७) "इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः ।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत् ।।"

योगेश्वर श्रीकृष्ण, गोपी गणों की कातरोक्ति श्रवण पूर्वक आप आत्माराम होकर भी प्रकृष्ट रूपमे हास्य करके एवं सदय होकर उन सब के सहित क्रीड़ा किये थे । उक्त श्लोक में स्थित 'कातरोक्ति' शब्द उन सब का प्रेमाधिक्य एवं 'सदय' शब्द श्रीकृष्ण का प्रेम वश्यतातिशय का ज्ञापक है । आत्माराम होकर भी यह उक्ति व्रजदेवी वृन्द का प्रेम वल को दर्शाती है ।

भा० १।७।१० में उक्त—"आत्मारामाश्च मुनयः" आत्माराम गण भी– जो आत्मा व्यतीत अपर किसी का भजन नहीं करते हैं वे भी श्रीहरि का भजन करते हैं, आप इस प्रकार ही गुण शाली हैं । इस वाक्य में श्रीहरि के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है— उक्त श्लोक में व्रजदेवी गण के सम्बन्ध में भी उस प्रकार कथन-का इङ्गित हुआ है । अर्थात् आत्माराम गण—स्वभावतः किसी का भजन न करने पर भी

२९८--२९९ । एवम् (भा० १०।३३।२३)

(२९८) "रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः" इति ।

स्वासु तासु रतिर्यस्य सः, तथा (भा० १०।३३।२०) 'तासां रतिविहारेण" इत्यादिकम्, ( वि० पु० ५।१३।५४ ) "गोपीकपोलसंश्लेष-"इत्यादिकं विष्णुपुराणपद्यमप्युदाहृतम् ॥

किञ्च, (भा १०।३३।१६) —

(२९९) 'एवं परिष्वङ्गकराभिमर्श-,स्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः ।
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि,--र्यथार्भकः स्वप्रतिविम्बविभ्रमः ॥"५८७॥

अत्र रमेश इत्यनेन तस्य रमावणीकारित्वं दर्शितम् । परिष्वङ्गेत्यादिना, तत्रापि स्निग्धेक्षणेत्यादिना, रेम इत्यनेन च तासां प्रेम्णा तस्य वश्यत्वं व्यक्तम् । दृष्टान्तेन तु तदा तस्य तासां चार्भक-प्रतिविम्बयोरिव गान--नृत्यादिविलासेषु एकचेष्टतापत्तिसूचनया मिथः परमप्रेमासक्तिर्दर्शिता ॥

३०० । अपिच (भा० १०।३३।२५)—

---

श्रीहरि के गुण में बाध्य होकर जिस प्रकार उनका भजन करते हैं । उस प्रकार श्रीकृष्ण,—आत्माराम होने पर भी व्रजाङ्गना गण के गुणाकृष्ट होकर उनकी प्रेम बश्यता को स्वीकार किये हैं ।

प्रवक्ता श्रीशुकदेव हैं ॥२९६--२९७॥

२९८-२९९ । इसी प्रकार भा० १०।३३।२३ में उक्त है—

(२९८) "वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः ॥"

गजेन्द्र के तुल्य लीला प्रकाश करके स्वरति श्रीकृष्ण गोपी मण्डल के मध्य में क्रीड़ा किये थे ।

स्वरति—स्वा— अर्थात् निज प्रेयसी उन में रति है जिन की वह स्वरति हैं । भा० १०।३३।२० "तासां रति विहारेण" इत्यादि श्लोक एवं विष्णु पुराणोक्त "गोपी कपोल संश्लेष" इत्यादि श्लोक उस का दृष्टान्त है । और भी दृष्टान्त भा० १०।३३।१६ में है ।

(२९९) "एवं परिष्वङ्गकराभिमर्श--,स्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः ।
रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभि--,र्यथार्भकः स्वप्रतिविम्बविभ्रमः ॥"५८७॥

गोपीगण जिस प्रकार विविध विभ्रम प्रकाश पूर्वक विहार कर रही थीं, रमापति श्रीकृष्ण भी उस प्रकार आलिङ्गन, हस्त ग्रहण, स्निग्ध दृष्टि, उद्दाम विलास एवं हास्य के सहित उन सब के सहित विहार करने लगे थे । बालक जिस प्रकार निज छाया के सहित क्रीड़ा करता है, उनकी यह क्रीड़ा भी उसी प्रकार है । यहाँ रमापति शब्द से--श्रीकृष्ण जो लक्ष्मी की भी वशीभूत करने में समर्थ हैं, यह दर्शाया गया है । उन्होंने आलिङ्गन इत्यादि द्वारा स्निग्ध दृष्टि इत्यादि के सहित विहार किया है—इस से श्रीकृष्ण जो व्रजसुन्दरी वृन्द के प्रेमवश हैं—यह व्यक्त हुआ है । दृष्टान्त रूप में बालक एवं प्रतिबिम्ब का उल्लेख हुआ है—इस से गान नृत्यादि विलास में श्रीकृष्ण एवं व्रजाङ्गना वृन्द की एक प्रकार चेष्टा करना सूचित हुई है, एवं पारस्परिक परम प्रेमासक्ति भी प्रदर्शित हुई है ॥२९८--२९९॥

३०० । भा० १०।३०।२५ में और भी लिखित है—

(३००) 'एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः, स सत्यकामोऽनुरताबलागणः ।
सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः, सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयाः ॥'५८८॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण, अनुरतो निरन्तरमनुरक्तोऽबलागणो यत्र तादृशः स श्रीकृष्णचन्द्र आत्मनि चित्तेऽवरुद्धं समन्तान्निगुह्य स्थापितं सौरतं सुरतसम्बन्धि-भावहावादिकं येन तथाभूतः सन्, अतएव सत्यकामो व्यभिचाररहितप्रेमविशेषः सन् शरत्सम्बन्धिन्यो यावत्यो रसाश्रयाः काव्यकथाः सम्भवन्ति, ताः सर्वा एव सिषेवे । शरच्छब्दोऽत्राखण्डमेव वा संवत्सरं वदति । ततः शशाङ्कांशुविराजितत्वमुपलक्षणमिति व्याख्येयम् । (भा० १०।६०।५८) 'एवं सौरत-संलापैः' इति श्रीरुक्मिणीपरिहासेऽपि सौरत-शब्दस्तादृशत्वेन प्रयुक्तः ॥ श्रीशुकः ॥

३०१ । अत्रैवमपि स्वयमुक्तम्-(भा० १०।३२।२२) 'न पारयेऽहम्' इत्यादि । अथ प्रवासात्मकेन यथा (भा० १०।४६।१-४) —

(३०१) 'वृष्णीनां सम्मतो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा ।
शिष्यो वृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः ॥५८९॥
तमाह भगवान् प्रेष्ठं भक्तमेकान्तिनं क्वचित् ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्त्तिहरो हरिः । ५९०॥

---

(३००) ''एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः, स सत्यकामोऽनुरताबलागणः ।
सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः, सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयाः ॥''५८८॥

इस प्रकार जो सत्यकाम हैं, जिनके अनुरत--अवलागण हैं, आत्मा में सौरत को अवरुद्ध करके चन्द्र किरण शालिनी शरत् काव्य कथा रसाश्रया रजनी समूह की सेवा किये थे ।

श्लोक की व्याख्या—भा० १०।२९।४६ श्लोक में वर्णित प्रकार से--जिन के प्रति अबलागण अनुरत हैं, निरन्तर अनुरक्त चित्त है, वह श्रीकृष्ण, आत्मा में--चित्त में, सौरत – सुरत सम्बन्धि भाव हावादि अवरुद्ध चतुर्दिक् व्याप्त हाव भावादि को आयत्त करके स्थापन किये हैं, इस हेतु आप सत्यकाम हैं । उनका प्रेम व्यभिचार रहित है । इस प्रकार आप, शरत् सम्बन्धिनी यावतीय रसाश्रया काव्य कथा है, वे सब ही सेवा किये थे । इस श्लोक में शरत् शब्द से अखण्ड संवत्सर को ग्रहण किया गया है । तज्जन्य चन्द्र किरण शोभितत्व--यहाँ उपलक्षण है । इस प्रकार व्याख्या की जा सकती है ।

इस प्रकार भा० १०।६०।५८ में उक्त है, 'एवं सौरत संलापैः' रुक्मिणी परिहास वाक्य में प्रयुक्त सौरत शब्द का प्रयोग उस अर्थ में हुआ है । प्रवक्ता श्रीशुक हैं — ३००॥

३०१ । प्रेयसी व्रजाङ्गना गण के प्रेम परवश जो श्रीकृष्ण हैं - भा० १०।३२।२२ में 'न पारयेऽहम्' श्लोक में स्वयं ही कहे हैं । यहाँतक सम्भोगात्मक वाक्य में श्रीकृष्ण का प्रेयसी प्रेमवश्यत्व गुण प्रदर्शित हुआ । अनन्तर प्रवासात्मक जो सब वाक्य में विच्छेद वर्णित हुआ है, वे सब वाक्य के द्वारा प्रेयसीवश्यत्व गुण का प्रदर्शन करते हैं—भा० १०।४६।१-४ में उक्त है—

(३०१) ''वृष्णीनां सम्मतो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा ।
शिष्यो वृहस्पते साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तम ॥५८९॥

गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नः प्रीतिमावह ।
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय ॥५६१॥
ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदेहिकाः' इत्यादि ।

तथा च स्कान्दप्रह्लादसंहिता-द्वारकामाहात्म्ये ताः प्रति श्रीमदुद्धव-वाक्यम्-
"भगवानपि दाशार्हः कन्दर्पशरपीड़ितः । न भुङ्क्ते न स्वपिति च चिन्तयन् वो ह्यहर्निशम् ॥"५६२॥ इति ।
एवं राजकुमारीणां परिणयोऽपि ताभिर्गोपकुमारीभिरेकात्मत्वात् प्रायस्तद्विरहकालक्षपणार्थ एव तासां प्राणपरित्यागपरिहारार्थ एव च, यथोक्तं पाद्मे-'कैशोरे गोपकन्यस्ता यौवने राजकन्यकाः' इति, यथा च श्रीरुक्मिणीवाक्यम्— (भा० १०।५२।४३) 'यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय

---

तमाह भगवान् प्रेष्ठं भक्तमेकान्तिनं क्वचित् ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्त्तिहरो हरिः ॥५६०॥
गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नः प्रीतिमावह ।
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय ॥५६१॥
ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदेहिकाः"

उद्धव - यादव गण के विश्वास भाजन मन्त्री, श्रीकृष्ण के प्रिय सखा, वृहस्पति के साक्षात् शिष्य एवं बुद्धिमान् मानव वृन्द के मध्य में श्रेष्ठ हैं। शरणागत जन का दुःखहारी भगवान् हरि निज हस्त से प्रियतम एकान्ती भक्त उद्धव का हस्त ग्रहण कर कहे थे—हे उद्धव ! हे सौम्य ! तुम ब्रज गमन करो, हमारे माता पिता का सन्तोष विधान करो, एवं मेरे विच्छेद हेतु गोपी वृन्द का मनोदुःख को मेरा संवाद कह कर विदूरित करो। उन सब का मन मुझ में निबद्ध है. मैं ही उन सब का प्राण हूँ, मेरे निमित्त वे दैहिक व्यापार परित्याग किये हैं।

स्कन्द पुराणान्तर्गत प्रह्लादि संहिता के द्वारका माहात्म्य में ब्रजाङ्गना गण के प्रति श्रीमान् उद्धव का श्रीकृष्ण प्रेयसी प्रेमपारवश्यमय वाक्य है।

"भगवानपि दाशार्हः कन्दर्पशरपीड़ितः ।
न भुङ्क्ते न स्वपिति च चिन्तयन् वो ह्यहर्निशम् ॥"५६२॥

दाशार्ह भगवान् भी कन्दर्पशर पीड़ित हुये हैं। आप दिवस रजनी आप सब की चिन्ता करते करते भोजन निद्रा को भी परित्याग किये हैं।

प्रश्न हो सकता है कि—यदि श्रीकृष्ण ब्रजसुन्दरी गण के प्रति उस प्रकार प्रीतिमान ही होते हैं तो उन्होंने द्वारका में राज कुमारी गण को विवाह किया ? उत्तर में कहते हैं—राज कुमारी वृन्द का विवाह भी श्रीकृष्ण का गोपी प्रेम वश्यता-सूचक है, कारण—उस राज कुमारी गण की एवं गोप कुमारी गण एकात्मा थीं, प्रायशः उस विरह कालयापन एवं राज कुमारी गण के प्राण रक्षार्थ उन सब को कृष्ण विवाह किये थे। गोप कुमारी एवं राज कुमारी गण की एकात्मता के सम्बन्ध में पद्म पुराण में उक्त है—'कैशोरे गोपकन्यास्ता यौवने राजकन्यकाः' वे कैशोर में गोपकन्या एवं यौवन में राजकन्या हुये थे। श्रीकृष्ण को पति रूप में प्राप्त न करने से राज कुमारी गण का प्राण परित्याग करने का संवाद श्रीरुक्मिणी वाक्य में सुस्पष्ट है भा० १०।५२।४३ में उक्त है—

"यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं, जह्यामसून् व्रतकृशान् शतजन्मभिः स्यात् ॥"

भवत्प्रसादं, जह्यामसून् व्रतकृशान् शतजन्मभिः स्यात्' इति ।

३०२ । अथोद्दीपनेषु जातिः । तत्र गोपत्वरूपामाह, (भा० १०।३५।१५)—

(३०२) 'विविधगोपचरणेषु विदग्धो, वेणुवाद्य उरुधा' इत्यादिना ।

स्पष्टम् ॥ श्रीव्रजदेव्यः ॥

३०३ । यादवत्वरूपां सादृश्यरूपाञ्चाह, (भा० १०।९०।२०)—

(३०३) 'मेघः श्रीमंस्त्वमसि दयितो यादवेन्द्रस्य नूनम्' इत्यादिना ।

स्पष्टम् ॥ श्रीपट्टमहिष्यः ॥

३०४ । अथ क्रियाः, ताश्च द्विविधाः,–भावसम्बन्धिन्यः, स्वाभाविकविनोदमय्यश्च, पूर्वा यथा (भा० १०।२९।४) —

(३०४) निशम्य गीतं तदनङ्गवर्द्धनम्' इत्यादि ।

स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

३०५ । उत्तराः (भा० १०।३५।२) —

(३०५) 'वामबाहुकृतवामकपोलो, वल्गितभ्रुरधरार्पितवेणुम्' इत्यादि ।

---

श्रीकृष्ण के निकट रुक्मिणी ने संवाद भेजा, हे कमल नयन ! यदि आप की कृपालाभ न हो तो प्राण परित्याग करूँगी' तज्जन्य शत जन्म कठोर व्रत अवलम्बन करूँगी । यहाँतक उद्दीपन समूह के मध्य में श्रीकृष्ण के गुण वर्णित हुआ ॥३०१॥

३०२ । अनन्तर उद्दीपनों के मध्य में जाति रूप उद्दीपन का वर्णन करते हैं । श्रीकृष्ण की गोपत्व एवं क्षत्रियत्व भेद से जाति द्विविध हैं । भा० १०।३५।१४ में गोपत्व जाति का वर्णन है—

(३०२) "विविधगोपचरणेषु विदग्धो, वेणुवाद्य उरुधा"

व्रजदेवी वृन्द कही थीं— ३०२॥

३०३ । यादवत्वरूपा एवं सादृश्य रूपा जाति का वर्णन भा० १०।९०।२० में है ।

(३०३) "मेघ श्रीमंस्त्वमसि दयितो यादवेन्द्रस्य नूनम् ॥"

वे मेघ को सम्बोधन कर बोली थीं--हे श्रीमन् मेघ ! तुम निश्चय ही यादवेन्द्र के प्रियसख हो ॥'

श्रीपट्ट महिषी गण बोली थीं ॥३०३॥

३०४ । अनन्तर किया रूप उद्दीपन का वर्णन करते हैं—क्रिया–द्विविधा भाव सम्बन्धिनी एवं स्वाभाविक विनोदमयी, भाव सम्बन्धिनी क्रिया का वर्णन भा० १०।२९।४ में है—

(३०४) "निशम्य गीतं तदनङ्गवर्द्धनम्"

अनङ्ग बर्द्धन कारी श्रीकृष्ण के वेणुगीत को सुनकर--इत्यादि श्रीकृष्ण की वेणुगान भाव सम्बन्धिनी क्या है ।

श्रीशुक कहे थे — ३०४॥

३०५ । स्वाभाविकी विनोदमयी लीला का वर्णन भा० १०।३५।२ में है—

(३०५) "वामबाहुकृतवामकपोलो, वल्गितभ्रुरधरार्पितवेणुम्"

श्रीकृष्ण, वाम बाहु मूल में वाम कपोल स्थापन कर भ्रु नर्त्तन करते करते अधर में अर्पित वेणुरन्ध्र

स्पष्टम् ।। श्रीव्रजदेव्यः ।।

३०६ । (भा० १०।३५।१४) 'विविधगोपचरणेषु' इत्यादौ च ता ज्ञेयाः । अथ द्रव्याणि, तत्र तस्य प्रेयस्यो यथा (भा० १०।२२।६) —

(३०६) ऊषस्युत्थाय गोत्रैः स्वैरन्योन्याबद्धबाहवः ।
कृष्णमुच्चैर्जगुर्यान्त्यः कालिन्द्यां स्नातुमन्वहम् ।।'५६३।।

गोत्रैर्वर्गैः ।। श्रीशुकः ।।

३०७ । (भा० १०।२१।३) 'तद्व्रजस्त्रिय आश्रुत्य' इत्यादौ च 'स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन्' इत्युदाहार्य्यम् । तत्परिकराः (भा० १०।४७।१) —

(३०७) 'तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः' इत्यादि ।

स्पष्टम् ।। सः ।।

३०८--३०६ । मण्डनम् (भा० १०।२१।१७)—

(३०८) 'पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग-,श्रीकुङ्कुमेन दयिता-' इत्यादि ।

---

में सुकोमल अङ्गुलि स्थापन पूर्वक वाद्य करते हैं ।।' वृजदेवी गण बोली थीं—३०५।।

३०६ । भा० १०।३५।१४ में वर्णित "विविध गोप चरणेषु विदग्धः' श्लोक से भी श्रीकृष्ण की स्वाभाविकी विनोदमयी लीला जानी जाती है ।

अनन्तर द्रव्यरूप उद्दीपन का वर्णन करते हैं। उस के मध्य में श्रीकृष्ण की प्रेयसी गण का वर्णन भा० १०।२२।६ में है—

(३०६) "उषस्युत्थाय गोत्रैः स्वैरन्योन्याबद्धबाहवः ।
कृष्णमुच्चैर्जगुर्यान्त्यः कालिन्द्यां स्नातुमन्वहम् ।।"५६३।।

वृज कुमारी गण--प्रत्यूष में जागरित होकर निज निज गोत्र के सहित परस्पर हस्त ग्रहण पूर्वक यमुना में स्नान करने के निमित्त जाती थीं, एवं गमन समय में उच्चैःस्वर से श्रीकृष्ण के गुण गान करती थीं। गोत्र शब्द का अर्थ—वर्ग है, अर्थात् निज गोत्र—निज अन्तरङ्ग जन समूह ।

श्रीशुक कहे थे ।।३०६।।

३०७ । भा० १०।२१।३ में उक्त है—

"तद्वृजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम् ।
काश्चित् परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन् ।

श्रीकृष्ण के जिस वेणुगीत श्रवण से कन्दर्प उपस्थित होता है, उनका स्मरण कर एक गोपी निज सखी के निकट उस को कह रही थी । इस श्लोक में उक्त 'तद् वृजस्त्रिय आश्रुत्य' 'स्व सखीभ्योऽन्ववर्णयन्' यह वाक्य द्रव्यरूप उद्दीपन का दृष्टान्त है। जो सब कृष्ण प्रेयसी के निकट वर्णन करती हैं, वे वर्णन कारिणी के पक्ष में प्रेयसी द्रव्यरूप उद्दीपन है । परिकर रूप उद्दीपन का दृष्टान्त भा० १०।४७।१ में है—

(३०७) "तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं वृजस्त्रियः ।।'

वृजरमणी गण कृष्णानुचर उद्धव को देखकर कह रही थीं । प्रवक्ता श्रीशुक हैं---३०७।।

३०८--३०६ । मण्डन रूपउद्दीपन का वर्णन--भा० १०।२१।१७ में है--

वंशी (भा० १०।२१।६) —

(३०६) 'गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुः' इत्यादि ।

स्पष्टम् ॥ ताः ॥

३१०--३१२ । पदाङ्कः (भा० १०।३०।२५)—

(३१०) 'पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः' इत्यादि ।

पदधूलिः (भा० १०।३०।२६)—

(३११) 'धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः।
यान् ब्रह्मेशौ रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये ॥'' ५६४॥

अत्र प्रेमैव तदुत्कर्षं गमयति, न स्वैश्वर्य्यज्ञानम् । स्वभावः खल्वयं प्रीतिपरमोत्कर्षस्य, यत् स्वविषयं सर्वत उत्कर्षेणानुभावयति । यथादि-भरतेन मृगप्रेम्णा तदीय-खुरस्पर्शात् पृथिव्या अपि महाभागधेयत्वं वर्णितम्—(भा० ५।८।२३) 'किंवा अरे आचरितं तपस्तपस्विन्या यदियमवनिः'' इत्यादिना । एवमेव (भा० १०।३०।१०)—

---

(३०८) ''पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जराग--, श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तन मण्डितेन ।
तद् दर्शन स्मररुजस्तृण रुषितेन लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम् ॥''

प्रेयसी के स्तनानुलिप्त जो श्रीकुङ्कुम श्रीकृष्ण के चरण में संलग्न हुआ था । वृन्दावन में विचरण समय में वह तृण संलग्न हुआ था। उसे देखकर पुलिन्दी गण का कामोद्रेक हुआ है, उन्होने मुख एवं कुच में उस कुङ्कुम को लेपन कर उस काम पीड़ा को विदूरित किया ।

यहाँ वर्णित कुङ्कुम ही उद्दीपन द्रव्य है । वंशी--भा० १०।३०।२६ में उक्त है—

(३०६) ''गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुः ॥''

हे गोपी गण ! यह वेणु कौन शुभ कार्य्य करी थी ? इत्यादि वाक्य में वंशी उद्दीपन द्रव्य रूप में उक्त है । व्रजदेवी गण बोली थीं ॥३०६॥

३१०---३१२ । पदाङ्क का वर्णन भा० १०।३०।२५ में है---

(३१०) ''पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः''

महात्मा नन्दनन्दन के पद चिह्न समूह सुव्यक्त हैं । पदधूलि का वर्णन भा० १०।३०।२६ में है---

(३११) ''धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः ।
यान् ब्रह्मेशौ रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये ॥''५६४।।

हे सखीगण ! गोविन्द चरण कमल रेणु समूह धन्य हैं, जिस रेणु समूह को मस्तक में धारण-अघनिवृत्ति हेतु रमादेवी, ब्रह्मा, महेश्वर भी करते रहते हैं ।

यहाँ प्रेम ही पदधूली का उस उत्कर्ष ज्ञापन करता है । ऐश्वर्य्य ज्ञान नहीं है । प्रीति परमोत्कर्ष का स्वभाव ही यह है कि--सर्वापेक्षा निज विषय का अर्थात् प्रीति विषयालम्बन का उत्कर्ष अनुभव कराता है । जिस प्रकार आदि भरत अर्थात् राजर्षि भरत--मृग प्रेमाधीन होकर तदीय खुर स्पर्श हेतु पृथिवी का भी महासौभाग्य वर्णन किये थे । (भा० ५।८।२३) किंवा अरे आचरितं तपस्तपस्विन्या यदियमवनिः'

(३१२) 'किन्ते कृतं क्षिति तपो वत केशवाङ्घ्रि-
स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद्वा
आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन ॥"५६५॥

अत्र पूर्व्वार्द्धे प्रेम्णा श्रीकृष्णमाधुर्य्यमहिमोक्तिः, उत्तरार्द्धे तेनैवान्यत्र हेयतोक्तिः । अत्र च अपीति किमर्थे । ततश्च एषोऽङ्घ्रिसम्भवो हर्षविकार उरुक्रमस्य त्रिविक्रमस्य विक्रमाद्वापि पादविक्षेपाद्वापि किं जातः ? 'आहो' इति पक्षान्तरे । वराहवपुषः कान्तभावतोऽपि परिरम्भणेन वा एषोऽङ्घ्रिसम्भवः किं जातः ? न हि, न हीत्यर्थः । अपीति स्तोकार्थे वा, सर्पिषोऽपि स्यादितिवत् । ततश्चोरुक्रमविक्रमादप्येषोऽङ्घ्रिसम्भवो विकारः स्यात्, किन्तु स्तोक एव स्यादित्यर्थः ॥ ताः ॥

---

जिस के प्रभाव से उस विनीत कृष्णसार तनय के शुभ खुर चिह्न द्वारा स्थान स्थान अङ्कित है । इसी प्रकार भा० १०।३०।१० में उक्त है—

(३१२) "किन्ते कृतं क्षिति तपो वत केशवाङ्घ्रि स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद्वा आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन ॥"५६५॥

रास स्थल से श्रीकृष्ण अन्तर्हित होने पर व्रजदेवी गण उनका अनुसन्धान करते करते पृथिवी में उनका पदाङ्क को देखकर बोली थीं—'हे पृथिवि ! तुमने कौनसी तपस्या की है— जिस से केशव के चरण स्पर्श से पुलकिता हो रही हो, तुम्हारे यह उत्सव कृष्ण चरण स्पर्श से अथवा त्रिविक्रम के पदाक्रमण हेतु हुआ है, किंवा वराह देव के आलिङ्गन हेतु हुआ है ? इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में 'हे पृथिवि ! तुमने कौनसी तपस्या की है ?' प्रेमातिशय्य से श्रीकृष्ण माधुर्य्य महिमा कथित हुई है । शेषार्द्ध में उस महिमा वर्णन के द्वारा अन्यत्र तुच्छता का प्रकाश किया गया है । उक्त श्लोक के शेषार्द्ध में जो अपि शब्द है, वह किमर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उस से अर्थ हुआ है कि—यह चरण स्पर्श जात हर्ष विकार क्या त्रिविक्रम का विक्रम रूप सर्वव्यापीपादविक्षेप द्वारा हुआ है ? अहो अव्यय-पक्षान्तर में अर्थात् किम्बा अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । वराह देव के कान्तभाव सहकृत आलिङ्गन से क्या यह चरण स्पर्श सम्भूत हर्ष विकार उत्पन्न हुआ है ? ना, ना, यह श्रीकृष्ण के चरण स्पर्श का ही फल है ।

अथवा, 'अपि' अव्यय स्तोकार्थ में प्रयुक्त हुआ है, 'घृत का भी होता है' यहाँ उस अव्यय की जिस प्रकार सार्थकता है, उक्त श्लोक के शेषार्द्ध में उस प्रकार सार्थकता है । उस से अर्थ होता है-वामन देव के चरण द्वारा सर्वाक्रमण से भी यह चरण स्पर्श सम्भूतहर्ष विकार हो सकता है, किन्तु इतना नहीं हो सकता है, इस से कम उत्पन्न होता है ।

तात्पर्य्य यह—है—विरहिणी व्रजदेवी गण श्रीकृष्ण को अनुसन्धान करते करते पृथिवी के प्रति दृष्टि निक्षेप करके स्निग्ध दुर्वाङ्कुरादि दर्शन से उस को पृथिवी के पुलक माने थे । उस पुलकोद्गम का कारण, निरूपण हेतु उन्होंने वितर्क किया । वराह देव-रसातल से पृथिवी को उद्धार करने के समय उनको आलिङ्गन दान किये थे । अनन्तर बलि महाराज से दान ग्रहण च्छल से वामन देव एक पद से समस्त पृथिवी को आक्रमण किये थे । एवं रास से अन्तर्हित श्रीकृष्ण भी उस को पाद स्पर्श दान किये थे । इस

३१३ । नखाङ्कः (भा० १०।३०।३१) 'पृच्छतेमा लता बाहून्' इत्यादादेव ज्ञातः। एवं वृन्दावन-यमुनादीन्यप्युदाहार्याणि । अथ कालश्च रासोत्सवादि-सम्बन्धी, स यथा (भा० १०।४७।४३)—

(३१३) "ताः किं निशाः स्मरति यासु" इत्यादि ।

स्पष्टम् ॥ ताः ॥

३१४ । तदेवं यथा तदीय-गुणादय उद्दीपनास्तथैव तादृशसेवोपयोगित्वेन तत्प्रेयसीगुणा अपि ज्ञेयाः । ते च तासामात्मसम्बन्धिन आत्माभीष्ट-तद्वल्लभासम्बन्धिनश्चेत्युभयेऽप्यूह्याः । अथानुभावाः तत्र सैरिन्ध्र्यादीनां यथा (भा० १०।४८।५) —

(३१४) "सा मज्जनालेप-दुकूल-भूषण-,स्रग्गन्ध-ताम्बूल-सुधासवादिभिः ।

---

प्रकार त्रय के मध्य में पृथिवी के पुलक का कारण कौन है, ? उस का विचार कर श्रीकृष्ण चरण स्पर्श को ही कारण, निर्द्धारण किये हैं । घृत का भी होता है—इस दृष्टान्त वाक्य का तात्पर्य्य है—प्रधानतः अन्य द्रव्य से भी जब होता है, तब घृत से भी होता है, यहाँ 'अपि' अव्यय जिस प्रकार घृत द्वारा होने का गौणत्व सूचित हुआ है । दार्ष्टान्तिक 'अपि' अव्यय भी वामन देव के चरण स्पर्श से हर्ष विकार की अलभता को सूचित किया है । व्रजदेवी गण बोली थीं---३१२॥

३१३ । नखाङ्क रूप उद्दीपन द्रव्य का वर्णन भा० १०।३०।६ में उक्त है ।

"पृच्छतेमा लता बाहुनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः ।
नूनं तत् करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो ॥'

रास से अन्तर्हित होने से श्रीकृष्ण को अन्वेषण करते करते एक गोपी कही थी, सखी गण ! वनस्पति की शाखावलम्बिनी लता समूह को पूछो, अहो ! ये सब श्रीकृष्ण के नखर स्पर्श से पुलकायित हो रही हैं । वृन्दावन, यमुना प्रभृति भी इस प्रकार द्रव्य रूप उद्दीपन हैं ।

कालरूप उद्दीपन—रासोत्सवादि काल उज्ज्वल रस में काल रूप उद्दीपन है । श्रीव्रजदेवी वृन्द--भा० १०।४७।४३ में बोली थीं--

"ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभि
वृन्दावने कुमुद कुन्दशशाङ्क रम्ये ।
रेमे क्वणच्चरण नूपुर रास गोष्ठ्या
मस्माभिरीड़ित मनोज्ञकथः कदाचित् ॥

कुमुद, कुन्द, चन्द्र से रमणीय जो सब रजनी में वृन्दावन में नूपुर ध्वनि से शब्दायमान रास सभा में प्रेयसी हम सब के सहित क्रीड़ा किये थे, श्रीकृष्ण, वे सब रजनी का क्या स्मरण करते हैं ? उस समय हम सब उनकी मनोज्ञ कथा समूह का स्तव किये थे । व्रजाङ्गना गण बोली थीं ॥३१३॥

३१४ । श्रीकृष्ण के गुण समूह--जिस प्रकार उद्दीपन विभाव होते हैं, उसी प्रकार जो सब गुण पोषक-अर्थात् सेवोपयोगी हैं, उनकी प्रेयसी वृन्द के उक्त गुण समूह को भी उद्दीपन विभाव जानना होगा । उसके मध्य में कतिपय गुण--उनके निज सम्बन्धीय हैं, एवं कतिपय गुण---निजाभीष्ट कृष्ण प्रेयसी सम्बन्धीय हैं । इस रीति से उक्त गुण समूह द्विविध होते हैं । अनन्तर अनुभाव का वर्णन करते हैं-सैरिन्ध्री प्रभृति का अनुभाव भा० १०।४८।५ में उक्त है---

प्रसाधितात्मोपससार माधवम्" इत्यादि ।

स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

३१५ । श्रीपट्टमहिषीणाम् (भा० १०।५९।४४) "इत्थं रमापतिमवाप्य" इत्यादिद्वय एव विदिताः । श्रीव्रजदेवीनां यथा (भा० १०।४७।६१) "आसामहो "इत्यादौ "या दुस्त्यजम्' इत्यादि । तत्र च विवरणम् (भा० १०।१५।४२-४३) —

(३१५) "तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धवर्ह-,वन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम् ।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरुपगीतकीर्त्ति, गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन् समेताः ॥"५९६॥
पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृङ्गै-,स्तापं जहुर्विरहजं व्रजयोषितोऽह्नि ।

---

(३१४) "सा मज्जनालेप-दुकूल-भूषण,--स्रग् गन्ध--ताम्बूल सुधासवादिभिः ।
प्रसाधितात्मोपससार माधवम् "

सैरिन्ध्री—स्नान, अनुलेपन, वसन, भूषण, माल्य, गन्ध, ताम्बूल, मधु प्रभृति उपकरण द्वारा निज देह को श्रीकृष्ण के उपभोग योग्य करके सलज्जभाव से लीला से उद्गत हास्य एवं कटाक्ष दृष्टि के सहित कृष्ण के निकटे उपस्थित हुई थी । श्रीशुक कहे थे ।।३१४।।

३१५ । पट्ट महिषी वृन्द का अनुभाव वर्णन – भा० १०।५९।४४ के श्लोक द्वय में है—

"इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम् ।
भेजुर्मुदाविरतमेधितयानुराग हास.वलोकनवसङ्गम जल्पलज्जाः ।।
प्रत्युद्गमादरभरभयार्हण पादशौच ताम्बूल विश्रपण वीजन गन्ध माल्यैः ।
केशप्रसारशयन स्नपनोपहार्य्यैं र्दासीशता अपिविभो र्विदधुः स्म दास्यम् ।।"

ब्रह्मादि देवगण जिन की महिमा को नहीं जानते हैं, उन रमापति को पति रूप में प्राप्तकर षोड़श सहस्र महिषी निरन्तर वर्द्धन शील अनुराग, हास्य, नवसङ्गम लालसा प्रभृति बहु विभ्रम भजन करने लगी थीं । शत शत दासी विद्यमान होने पर भी महिषी वृन्द प्रत्युद्गमन आसन प्रदान, पुष्पाञ्जलि–रत्नाञ्जलि निक्षेप, पाद प्रक्षालन, ताम्बूल प्रदान, विश्रामार्थं व्यजन, गन्ध एवं माल्य प्रदान, केश संस्कार, शय्या, स्नान, उपहारादि द्वारा विभु श्रीकृष्ण का दास्य करती थीं ।

व्रजदेवी वृन्द का अनुभाव वर्णन भा० १०।४७।६१ में है—

आसामहो चरण रेणु जुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यज स्वजन मार्य्यपथञ्च हित्वा भेजुर्मुकुन्द पदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ।।"

उद्धव कहे थे—अहो वृन्दावन में जो सब गुल्म, लता, ओषधि व्रजललनावृन्द की चरणरेणु की सेवा करती रहती हैं, मैं जैसे उन सबके मध्य में किसी एक हो सकूँ । उन व्रजसुन्दरी वृन्द ने दुस्त्यज स्वजन आर्य्यपथ (शास्त्र सदाचार) को परित्याग करके श्रुति वृन्दके अन्वेषणीय मुकुन्द की संयोग पद्धति का भजन किया है । अर्थात्–स्वजन आर्य्यपथ त्याग उनकी प्रीति का अनुभाव है । उस अनुभाव का विवरण भा० १०।१५।४२–४३ में उक्त है—

(३१५) "तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धवर्ह-,वन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम् ।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरुपगीतकीर्त्ति, गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन् समेताः ॥"५९६॥
पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृङ्गै-,स्तापं जहुर्विरहजं व्रजयोषितोऽह्नि ।

ततसत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं, सव्रीड़हासविनयं यदपाङ्गमोक्षम् ॥"५९७॥ इत्यादि । स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

३१६--३१७ । अथ प्रायः सर्व्वासां ते चतुर्विधाः,-उद्भास्वर-सात्त्विकालङ्कार-वाचिकाख्याः । तत्रोद्भास्वरा उक्ताः (उ० नी०, अनुभाव-प्र० ६० )—

"नीव्यूत्तरीयधम्मिल्लस्रंसनं गात्रमोटनम् ।
जृम्भा घ्राणस्य फुल्लत्वं निश्वासाद्याश्च ते मताः ॥"५९८॥ इति ।

यथा (भा० १०।३३।१७)—

(३१६) "तदङ्गसङ्गप्रमुदाकुलेन्द्रियाः, केशान् दुकूलं कुचपट्टिकां वा ।
नाञ्जः प्रतिव्योढ़ुमलं व्रजस्त्रियो, विस्रस्तवस्त्राभरणाः कुरूद्वह ॥"५९९॥ इत्यादि ।

सात्त्विकाः (भा० १०।३३।११)—

(३१७) "तत्रैकांसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम् ।
चन्दनालिप्तमाघ्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह ॥"६००॥

---

ततसत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं, सव्रीड़हासविनयं यदपाङ्गमोक्षम् ॥"५९७॥

अपराह्न में व्रज प्रवेश समय में गोखुरोत्थित धूलि के द्वारा श्रीकृष्ण के केश कलाप धूसरित हुये थे, वे मयूर पुच्छ एवं कुसुम द्वारा शोभित हुये थे। उनकी दृष्टि एवं हास्य मनोहर था कृष्ण, वेणु वाद्य कर रहे थे अनुचर गण उनकी कीर्त्ति का गान कर रहे थे। गोपी उनके दर्शन करने के निमित्त उत्कण्ठिता थीं, सब मिलकर उनके दर्शन हेतु आई थीं। व्रजाङ्गना गण नेत्र भृङ्ग के द्वारा उनके मुख कमल का मधु पान करके दिवस के विरह जनित सन्ताप को विदूरित किये। उनके सलज्जहास्य, विनययुक्त अपाङ्ग दृष्टि रूप पूजा ग्रहण करके श्रीकृष्ण गोष्ठ में प्रवेश किये थे
श्रीशुक कहे थे—३१५॥

३१६–३१७। प्राय समस्त व्रजसुन्दरी वृन्द का अनुभाव--उद्भास्वर, सात्त्विक, अलङ्कार एवं वाचिक भेद से चतुर्विध होते हैं। उद्भास्वर समूह का वर्णन उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में है—

"नीव्युत्तरीयधम्मिल्लस्रंसनं गात्रमोटनम् ।
जृम्भा घ्राणस्य फुल्लत्वं निश्वासाद्याश्च ते मताः ॥"५९८॥ इति,

भा० १०।३३।१७ में उक्त है—

(३१६) "तदङ्गसङ्गप्रमुदाकुलेन्द्रियाः, केशान् दुकूलं कुचपट्टिकां वा ।
नाञ्जः प्रतिव्योढ़ुमलं व्रजस्त्रियो, विस्रस्तवस्त्राभरणाः कुरूद्वह ॥"५९९॥

टीका—तास्तु भगवद् विलासै राकुला बभूवरित्याह तदङ्गेति। तस्याङ्ग सङ्गेन प्रकृष्टाभूत प्रीतिस्तया आकुलानि अवशानि इन्द्रियाणि यासां ताः। विश्लथ बन्धान् केशादीन् अञ्जसा प्रतिव्योढ़ुं यथा पूर्वं धत्तुं नालं न समर्था बभूवुः। विस्रस्ता माला आभरणानि च यासां ताः।

हे कुरु श्रेष्ठ ! श्रीकृष्ण के अङ्ग सङ्ग से व्रजाङ्गना गण को अतिशय आनन्द हुआ, उस में उनके इन्द्रिय समूह इस प्रकार आकुल हुये थे कि उनके केश परिधेय क्षौमवस्त्र एवं उत्तरीय श्लथ होने पर भी यथा यथ धारण करने में असमर्थ रहे। उस समय उनके माला एवं अलङ्कार समूह विस्रस्त हो गये थे।

सात्त्विक का वर्णन भा० १०।३३।११ में है—

स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

३१८। अलङ्काराश्च विंशतिः । तेषां भाव-हाव-हेलास्त्रयोऽङ्गजाः, शोभा-माधुर्य्य-प्रागल्भ्यौदार्य्य-धैर्य्यादयः सप्त अयत्नजाः, लीला-विलास-विच्छित्ति-किलकिञ्चित-विभ्रम-विव्वोक-ललित-कुट्टमितमोट्टायित-विकृतादयो दश स्वभावजा इति। तत्र (उ० नी०, अनुभाव-प्र० ६ )—"निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथम विक्रिया", स यथा (भा० १०।२९।३४)—

(३१८) 'चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु' इत्यादि।

स्पष्टम् ॥ श्रीगोप्यः ॥

३१९। (उ० नी०, अनुभाव-प्र० ९)—

"ग्रीवारेचक-संयुक्तो भ्रूनेत्रादिविकाशकृत्। भावादीषत् प्रकाशो यः स हाव इति कथ्यते ॥"६०१॥

स यथा श्रीलक्ष्मणास्वयम्बरे (भा० १०।८३।२९)—

(३१९) 'उन्नीय वक्त्रमुरुकुन्तलकुण्डलत्विड्-,गण्डस्थलं शिशिरहास-कटाक्षमोक्षैः ।
राज्ञो निरीक्ष्य परितः शनकैर्मुरारे-,रंसेऽनुरक्तहृदया निदधे स्वमालाम् ॥'६०२॥

---

(३१७) 'तत्रैकांसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम्।
चन्दनालिप्तमाघ्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह ॥"६००॥

रास में एक गोपी ने निज स्कन्ध में अर्पित चन्दन लिप्त पद्मगन्धी श्रीकृष्णके बाहु को चुम्बन किया।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं–३१६–३१७

३१८। अलङ्कार विंशति प्रकार के हैं। उनके मध्य में–भाव, हाव, हेला–ये तीन अङ्गज हैं, शोभा माधुर्य्य प्रागल्भ्य, औदार्य्य, धैर्य्य, कान्ति एवं दीप्ति ये सात यत्नज हैं। लीला, विलास विच्छित्ति, किलकिञ्चित, विभ्रम, विव्वोक, ललित, कुट्टुमित, मोट्टायित एवं विकृत ये दश–स्वभावज हैं।

उज्ज्वल नीलमणि में उक्त है—'निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया' निर्विकारात्मक चित्त में प्रथम विक्रिया का नाम भाव है। उदाहरण–भा० १०।२९।३४ में है—

(३१८) 'चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु'।

रासोत्सव में समागता व्रजाङ्गना वृन्द श्रीकृष्ण को कही थीं– हमारा–चित्त सुख से गृह कर्म में रत था, आपने उस को हरण किया है। गोपीगण बोली थीं—३१८॥

३१९। उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ के अनुभाव प्रकरण में लिखित है—

'ग्रीवारेचकसंयुक्तो भ्रूनेत्रादिविकाशकृत्।
भावादीषत् प्रकाशो यः स हाव इति कथ्यते ॥'६०१॥

जो ग्रीवा को तिर्य्यक् एवं भ्रूनेत्रादि को विकशित करता है, जो भावसे कुछ व्यक्त है—उसको हाव कहते हैं। भा० १०।८३।२९ लक्ष्मणास्वयम्बर में उक्त है—

(३१९) 'उन्नीय वक्त्रमुरुकुन्तलकुण्डलत्विड्-गण्डस्थलं शिशिरहास-कटाक्षमोक्षैः।
राज्ञो निरीक्ष्य परितः शनकैर्मुरारे-,रंसेऽनुरक्तहृदया निदधे स्वमालाम् ॥"६०२॥

वदन को उन्नत करके सभा में समागत राजन्य वृन्द को चतुर्द्दिक में निरीक्षण कर मृदुहास्य एवं

वक्त्रमुन्नीय, राज्ञस्तत्रागतान् परितो निरीक्ष्य शिशिर-हास-कटाक्षैरुपलक्षिता मुरारेरंसे मालां शनकैर्निदध इत्यन्वयः। अत्र शनकैरिति लज्जया क्षण तिर्य्यग्ग्रीवाप्यतिष्ठदिति ग्रीवा-रेचकस्यापि सूचनम् ॥ सेव ॥

३२०--३२१। एवम् (उ० नी०, अनुभाव-प्र० ११)--'हाव एव भवेद्धेला व्यक्तशृङ्गार-सूचकः' इति लक्षणानुसारेण हेलाप्युदाहार्य्या। (उ० नी०, अनुभाव-प्र०) 'सा शोभा रूप-भोगाद्यैर्यत् स्यादङ्गविभूषणम्', सा यथा (भा० १०।३३।२०)—

(३२०) "तासां रतिविहारेण" इत्यादि, (भा० १०।३३।२१) "गोप्यः स्फुरत्पुरट-कुण्डल—; इत्याद्यन्त—द्वयम्। (उ० नी०, अनुभाव—प्र० १९) "माधुर्य्यं नाम चेष्टानां सर्वावस्थासु चारुता", तद्यथा (भा० १०।३३।१०)—

---

कटाक्ष दृष्टि युक्ता मैं मुरारि के गलदेश में माल्य अर्पण किया। इस प्रकार अर्थ जिस से सम्पन्न हो, श्लोकका अन्वय उस प्रकार ही करना है।

लक्ष्मणादेवी बोली थीं—स्वयम्बर सभामें कर्ण समीपस्थ चूर्ण कुन्तल एवं कुन्तल की दीप्ति से उज्ज्वल गण्डस्थल में शोभमान मुख उन्नत करके चतुर्दिकस्थ नृपति गण को निरीक्षण पूर्वक अनुरक्त हृदया मैं मृदुहास्य एवं कटाक्ष दृष्टि के सहित धीरे धीरे—श्रीकृष्ण के गलदेश में निजहस्तस्थित माला अर्पण किया। यहाँ धीरे धीरे कहने का तात्पर्य्य यह है—लज्जा से क्षणकाल ग्रीवा को तिर्य्यक करके अवस्थान किया था। इस से हाव नामक अलङ्कार का ग्रीवा तीर्य्यक् लक्षण सूचित हुआ है।

लक्ष्मणा कही थीं ॥

३२०-३२१। इसी प्रकार उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ के अनुभाव प्रकरणोक्त 'हाव एव भवेद्धेला व्यक्त शृङ्गार सूचकः' लक्षण के अनुसार हेला का निर्वचन करना कर्त्तव्य है। अर्थात् हाव यदि स्पष्ट भाव भाव से शृङ्गार सूचक होता है तो उस को हेला कहते हैं—इस लक्षण के अनुसार उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। रूप एवं भोगादि के द्वारा अङ्ग विभूषण का नाम शोभा है। सा शोभा रूपभोगाद्यैर्यत् स्यादङ्गविभूषम्' उस का उदाहरण भा० १०।३३।२० में है-

(३२०) 'तासां रतिविहारेण श्रान्तानां वदनानि सः।
प्रामृजत् करुणः प्रेम्णा शान्तमेनाङ्ग पाणिना ॥'

गोपाङ्गना गण रति विहार से परिश्रान्ता होने पर प्रेम से करुण श्रीकृष्ण, मङ्गलमय हस्त से उनके वदन मार्जन किये थे। एवं भा० १०।३३।२१ में उक्त है—

'गोप्यः स्फुरत् पुरट-कुण्डलत्विड् गण्डश्रिया सुधित हास निरीक्षणेन।
मानं दधत्य ऋषभस्य जगुः कृतानि पुण्यानि तत् कररुह स्पर्श प्रमोदाः ॥'

गोपी गण उज्ज्वल स्वर्ण कुण्डल एवं कुण्डल की कान्ति युक्त गण्ड शोभा से अमृतायमान हास्य एवं मनोहर अवलोकन द्वारा पति श्रीकृष्ण की पूजा करके उनके पवित्र कर्म्म समूह का गान किये एवं तदीय नखस्पर्श से आनन्द लाभ किये।

उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में लिखित है-'माधुर्य्यं नाम चेष्टानां सर्वावस्थासु चारुता' सर्वावस्था में चेष्टा समूह की चारुता का नाम माधुर्य्य है। भा० १०।३३ १० में उक्त है--

(३२१) 'काचिद्रासपरिश्रान्ता पार्श्वस्थास्य गदाभृतः।
जग्राह बाहुना स्कन्धं श्लथद्वलयमल्लिका ॥'६०३॥

स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

३२२। (उ० नी०, अनुभाव-प्र० २१) "निःशङ्कत्वं प्रयोगेषु बुधैरुक्ता प्रगल्भता", सा च (भा० १०।३३।११) 'तत्रैकांसगतं बाहुम्' इत्यादौ दर्शिता, (उ० नी०, अनुभाव-प्र० २२) 'औदार्य्यं विनयं प्राहुः सर्वावस्थागतं बुधाः', तद्यथा (भा० १०।३०।४०)—

(३२२) 'हा नाथ रमण प्रेष्ठ' इत्यादि।

स्पष्टम् ॥ स्वयमेव श्रीराधा ॥

३२३। तथा (भा० १०।४७।२१) 'अपि बत मधुपुर्य्याम्' इत्यादौ ज्ञेयम्। (उ० नी०, अनुभाव-प्र० २६) 'स्थिरा चित्तोन्नतिर्या तु तद्धैर्य्यमिति कीर्त्यते', तद्यथा (भा० १०।४७।१७)-

---

(३२१) 'काचिद्रासपरिश्रान्ता पार्श्वस्थास्य गदाभृतः।
जग्राह बाहुना स्कन्धं श्लथद्वलयमल्लिका ॥'६०३।

रास में परिश्रान्त एक गोपीने बाहु के द्वारा पार्श्वस्थित श्रीकृष्ण के स्कन्ध को अलम्बन किया, उस गोपी के हस्त के वलय एवं केश बन्धन में स्थित मल्लिका कुसुम ग्रथित माला श्लथ हुई थी।
श्रीशुकदेव कहे थे—३२१॥

३२२। उज्ज्वल में कथित है 'निःशङ्कत्वं प्रयोगेषु बुधैरुक्ता प्रगल्भता' प्रयोग में निःशङ्कत्व को प्रगल्भता कहते हैं। भा० १०।३३।११ में उक्त है—

"तत्रैकांसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पल सौरभम्।
चन्दनालिप्तमाघ्राय हृष्टरोमाचुचुम्ब ह ॥"

रास में एक गोपी ने अपने कंधे में अर्पित चन्दन लिप्त पद्म गन्धी श्रीकृष्ण के बाहु को चूम लिया।' उज्ज्वल में लिखित है—'औदार्य्यं विनयं प्राहुः सर्वावस्था गत बुधाः' सर्वावस्था गत विनय को पण्डित गण औदार्य्य कहते हैं। भा० १०।३०।४० में उक्त है—

(३२२) "हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम् ॥"

स्वयं राधा बोली थीं 'हा नाथ, हा रमण, हा प्रियतम, हे महाबाहो! हे सखे! तुम कहाँ हो, तुम्हारी मैं हूँ—मुझ को दर्शन दो।

३२३। विनय का अपर दृष्टान्त भा० १०।४७।२१ में है—

"अपि बत मधुपुर्य्यामार्य्यपुत्रोऽधुनास्ते स्मरति पितृगेहान् सौम्य बन्धूंश्च गोपान्।
क्वचिदपि स कथां नः किङ्करीणां गृणीते भुजमगुरुसुगन्धंमूर्द्ध्न्यधास्यत् कदानु ॥"

श्रीराधा—भ्रमर को दूत मान कर बोलीं—आर्य्य पुत्र श्रीकृष्ण क्या अधुना मधुपुरी में हैं? आप क्या पितृ गृह एवं बन्धुगण का स्मरण करते हैं? कभी क्या दासी हम सब की कथा स्मरण करते हैं? और कभी भी अगुरु के समान सुगन्धी निज हस्त को हमारे मस्तक में स्थापन करेंगे?

उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में लिखित है—"स्थिरा चित्तोन्नतिर्या तु तद्धैर्य्यमिति कीर्त्यते"

(३२३) 'मृगयुरिव कपीन्द्रम्' इत्यादौ 'दुस्त्यजस्तत्कथार्थः" इति । स्पष्टम् ॥ सेव ॥

३२४--३२५ । एवम् (उ० नी०, अनुभाव प्र० १५,१७)—

"शोभैव कान्तिराख्याता मन्मथाप्यायनोज्ज्वला । ६०४॥

"कान्तिरेव वयोभोग-देश-काल-गुणादिभिः । उद्दीपितातिविस्तारं प्राप्ता चेद्दीप्तिरुच्यते ॥"६०५॥

इत्यनुसारेण कान्ति-दीप्ती अप्युदाहार्य्ये । (उ० नी०, अनुभाव-प्र० २८) "प्रियानुकरणं लीला रम्यैर्वेशक्रियादिभिः", तस्यां वेश-क्रियया तच्चेष्टानुकरणं यथा (भा० १०।३०।१) —

(३२४) 'अन्तर्हिते भगवति' इत्याद्यनन्तरम्' (भा० १०।३०।२) 'गत्यानुरागस्मित-' इत्यादि ।

---

स्थिर चित्तोन्नति को धैर्य्य कहते हैं, अर्थात् उच्चमनोभाव यदि अविचलित हो उस को धैर्य्य कहते हैं। भा० १०।४७।१७ में उक्त है—

(३२३) 'मृगयुरिव कपीन्द्रम् विव्यधे लुब्धधर्म स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम् ।
बलिमपि बलिमत्वा वेष्टयद् ध्वाङ्क्षवद् य स्तदलमसित सख्यैर्दुस्त्यजस्तत् कथार्थः ॥'

श्रीकृष्ण की कथा रूप अर्थ दुस्त्यज है । अर्थात् उसको परित्याग कर नहीं सकती हूँ । स्वयं श्रीराधा बोली थीं—३२३॥

३२४-३२५ । उज्ज्वल नीलमणि में लिखित है—

"शोभैव कान्तिराख्याता मन्मथाप्यायनोज्ज्वला ॥६०४॥
कान्तिरेव वयोभोग-देश-काल-गुणादिभिः ।
उद्दीपितातिविस्तारं प्राप्ता चेद्दीप्तिरुच्यते ॥"६०५॥

कन्दर्पोद्रेक से उज्ज्वलता प्राप्त शोभा को ही कान्ति कहते हैं । वयस, भोग, देश, काल एवं गुणादि के द्वारा कान्ति अत्यन्त विस्तृत होने पर उस को दीप्ति कहते हैं । कान्ति एवं दीप्ति का जो लक्षण उद्धृत हुआ है, उस के अनुसार तदुभय का दृष्टान्त उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में अनुसन्धेय है ।

उक्त ग्रन्थ में लिखित है—"प्रियानुकरणं लीला रम्यैर्वेशक्रियादिभिः" रमणीय वेश एवं क्रिया के द्वारा प्रिय व्यक्ति का अनुकरण को लीला कहते हैं । लीला में वेश क्रिया द्वारा प्रियतम श्रीकृष्ण का अनुकरण भा० १०।३०।१ में वर्णित है-

(३४२) "अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः, अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इवयूथपम् ॥

रास से श्रीकृष्ण अन्तर्हित होने पर व्रजसुन्दरी गण अतिशय सन्तप्ता होकर उनका अनुसन्धान करने लगीं । अनन्तर भा० १०।३०।२ में उक्त है—

"गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितै र्मनोरमालाप विहारविभ्रमैः ।
आक्षिप्तचित्ताः प्रमदारमापतेस्तास्ताविचेष्टाजगृहुस्तदात्मिकाः ॥"

रमापति की गति, अनुराग एवं हास्य द्वारा सविलास निरीक्षण, मनोरम आलाप, विहार, विभ्रम द्वारा उन प्रमदा गणों का चित्त आकृष्ट हुआ । वे सब उन सब लीलाओं का अनुकरण करने लगीं ।

यहाँ श्रीकृष्ण की जो चेष्टा की कथा कही गई थी, वह व्रजाङ्गना के सम्बन्ध में भा० १०।२९।४६ में

तास्ता: (भा० १०।२९।४६) 'बाहु प्रसार-' इत्यादिनोक्तास्तदीयलीला इत्यर्थः। पश्चादावेशेन तदभेदभावनारूपम् (भा० १०।३०।३) —

(३२५) 'गति-स्मित-प्रेक्षणभाषणादिषु' इत्यादि।

एवं स्वविलासरूपां लीलामुद्भाव्यापि तासां निजो भावो निगूढ़ं तिष्ठत्येव, यथा वक्ष्यते (भा० १०।३०।२०) 'यतन्त्युचन्निदधेऽम्बरम्' इत्यत्र यतन्तीति। अर्थतदग्रेऽपि कालक्षेपार्थं या लीला याभिर्गातुं प्रवर्त्तिताः, प्रेमावेशेन ता लीला एव तास्वाविष्टा इति तत्तदनुकरणविशेषे हेतुर्ज्ञेयः। एतदनुकरणञ्च प्रायो न लीला-शब्दवाच्यम्,-बाल्यादिरूपस्यानालम्बनत्वेनोज्ज्वल-

---

वर्णित तदीय लीला है।

"बाहु प्रसार परिरम्भ करालकोरु नीवीस्तन लभननर्म्मनखाग्रपातैः।
क्ष्वेल्यावलोक हसितैर्व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार॥"

श्रीकृष्ण के अन्तर्धान के पश्चात् आवेश से उनके सहित निज अभेद भावना कर तदीय चेष्टा का जो अनुकरण किये थे, वह भा० १०।३०।३ में उक्त है—

(३२५) "गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितैर्मनोरमालाप विहार विभ्रमैः।
आक्षिप्त चित्ताः प्रमदा रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृहु स्तदात्मिकाः॥
गतिस्मित प्रेक्षण भाषणादिषु प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढ़मूर्त्तयः।
असावहन्त्वित्यबलास्तदात्मिका न्यवेदिषुः कृष्ण विहार विभ्रमाः॥"

प्रियतम की गति, ईषत् हास्य मनोहर दृष्टि, सुन्दर सम्भाषण प्रभृति में व्रजललना वृन्द की मूर्त्ति इतनी आविष्ट हुई थी कि, वे परस्पर 'मैं ही कृष्ण हूँ' इस प्रकार कहते कहते श्रीकृष्ण के समान क्रीड़ा एवं विलास करने लग गईं।

इस रीति से उनके निज भाव,-स्व विलासानुरूप लीला का उद्भावन करके भी निगूढ़ रूप में अवस्थित रहा। भा० १०।३०।२० में श्रीशुकने कहा है—

"मा भैष्ट वात वर्षाभ्यां तत्त्राणं विहितं मया'
इत्युक्तैकेन हस्तेन यतन्त्युन्निदधेऽम्बरम्॥"

एक गोपी ने गोवर्द्धन धारण लीला का अनुकरण कर स्वीय उत्तरीय वसन को उठ कर धरने का प्रयत्न किया।

यहाँ पर जो 'यत्न' शब्द का प्रयोग हुआ है, उससे निज भावस्थिति सुस्पष्ट होती है। अर्थात् यदि व्रजसुन्दरी वृन्द का निजभाव विलुप्त होता तो वस्त्र उत्तोलन हेतु प्रयत्न नहीं होता। श्रीकृष्ण के आवेश से ही उठाना सम्भव होता। इस के पहले भी कालातिपात करने के निमित्त श्रीव्रजाङ्गना गण के मध्य में जिस के जिस के गान हेतु जो जो लीला प्रवर्त्तित हुई थी, उस उस लीला उन सब में आविष्ट हो गई थीं। यही उन उस लीलानुकरण के हेतु है। यह अनुकरण प्राय लीला शब्द से ही अभिहित होता है। यहाँ 'प्राय' शब्द प्रयोग का तात्पर्य्य यह है कि—बाल्यादि रूप—मधुरारति का आलम्बन नहीं हैं, अतः वे सब उज्ज्वल रस के अङ्ग नहीं हो सकते हैं। पूतनादि का भाव सर्वविध प्रीति विरोधी है। और कृष्ण जननी प्रभृति का भाव—निज प्रीति विशेष—कान्ता प्रेम का विरोधी है। इस की चेष्टा का अनुकरण की जो कथा सुनी जाती है, वह श्रीकृष्णानुसारिणी गोपी वृन्द का विरह कालातिवाहित कराने के निमित्त उस उस भावपोषणार्थ उनके सखी वृन्द कृत्तिम भावसे ही अङ्गीकार किये थे—उस उस भावके वशवर्त्तिनी होकर

रसाङ्गत्वाभावात्। तत्र पूतनादीनां प्रीतिमात्रविरोधि-भावानामपि तथा श्रीकृष्णजनन्यादीनां निजप्रीतिविशेषविरोधि-भावानामपि चेष्टानुकरणं श्रीकृष्णानुकर्त्रीणां नायिकानां सखीभिस्तासां विरहकालक्षेपाय तत्तद्भावपोषार्थं कृत्रिमतयैवाङ्गीकृतम्, न तु तत्तद्भावेनेति समाधेयम्। केचित्त्वेवं व्याचक्षते-पूतना बधलीलास्मरणावेशे सति कासाञ्चित् पूतनानुकरणमपि श्रीकृष्णानिष्टाशङ्कया भयेनैव भवति। यथा लोकेऽप्यात्मनिष्ठाशङ्कया भयोन्मत्तस्य तद्भय-हेतु-व्याघ्राद्यनुकरणं भवति, ततस्तदनुकरणेऽप्यात्मनीव श्रीकृष्णे प्रीतिरेवोल्लसति, न तु द्वेषः। सा प्रीतिर्यथात्मानं तद्रूपतयैव तिष्ठति, तथैव तासां श्रीकृष्णेऽपि स्वभावोचितैवानुवर्त्तते। ततः (भा० १०।३०।२३) 'बद्धान्यया स्रजा काचित्' इत्यादौ श्रीयशोदानुकरणञ्च तथैव

---

उन सबों ने उस प्रकार आचरण नहीं किया। इस प्रकार समाधान करना चाहिये।

कतिपय व्यक्ति इस प्रकार व्याख्या करते हैं—पूतना बध लीला स्मरणावेश होने पर किसी किसी व्रजाङ्गना में श्रीकृष्णानिष्ट शङ्का से पूतना का अनुकरण भी सम्भव होता है। साधारण लोक निज अनिष्ट शङ्का से भयोन्मत्त होकर जिस प्रकार भय का कारण रूप व्याघ्रादि का अनुकरण करते हैं। यह भी तद्रूप है। यहाँ अनुकरण जिस प्रकार अपने में प्रीति को सूचित करता है, उस प्रकार श्रीव्रजाङ्गना गण के द्वारा पूतनादि अनुकरण से भी श्रीकृष्ण में प्रीति का उल्लास प्रतीत होता है। द्वेष का नहीं। साधारण लोक में वह प्रीति जिस प्रकार तादृश रूप में अवस्थित होती है। जिस से आत्म विस्मृति होकर व्याघ्रादि का अनुकरण सम्भव होता है। उस प्रकार व्रजाङ्गना गण की प्रीति भी स्वाभाविक रूप में निरन्तर विद्यमान है। तज्जन्य दाम बन्धन लीला का अनुकरण करके किसी गोपीने कृष्णानुकरण कारिणी गोपी को पुष्प माला के द्वारा बन्धन किया। भा० १० ३०।२३ "बद्धान्यया स्रजा काचित्'। श्रीयशोदानुकरण भी उस प्रकार मानना आवश्यक है। पहले दाम बन्धन लीला का स्मरण करके प्रथमोक्त गोपी में श्रीकृष्ण भाव हुआ, तदनन्तर भा० १।८।३१ में वर्णित है---

> "गोप्याददे त्वयि कृतागसि दामतावद् याते दशाश्रुकलिलाञ्जन सम्भ्रमाक्षम्।
> वक्त्रं निनीय भय भावनया स्थितस्य सामां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति॥"

'वदन को छिपा कर भय भावना स्थित' इत्यादि कुन्ती वाक्य में श्रीकृष्ण के भय की जो कथा कही गई, उक्त गोपी का वह भय भी हुआ था। बाल्य स्वभावानुस्मरण कर श्रीयशोदा का अनुकरण भी हुआ था। अनन्तर अपने को गोपी दाम बन्धन लीलावेश में अपर गोपी को जो कृष्ण मानी थी - उस को बंधी थी। ऐसा होने पर भी निज भावोचित प्रीति ही गोपी में अन्तर्निहित था। वह प्रीति ही निज भाव का परमाश्रयस्वरूपा है। सुतरां बाहर उस उस अनुकरण एवं निज भाव एवं श्रीयशोदाभाव के मध्य में श्रीकृष्ण भाव व्यवधान होने के कारण-श्रीयशोदा भाव व्रजदेवी के निज भाव को स्पर्श कर न सका। इस हेतु श्रीयशोदानुकरण से भी किसी प्रकार विरोध उपस्थित नहीं हो सकता है।

अभिप्राय यह है---यहाँ श्रीकृष्ण के चेष्टानुकरण से लीला नामक अनुभाव की व्याप्ति प्रदर्शन, एवं पूतना की चेष्टा, तथा श्रीयशोदा का चेष्टानुकरण का समाधान किया गया है। भा० १०।३० अध्याय में लीला नामक नायिकानुभाव वर्णित है। उस में श्रीकृष्ण विरहिणी व्रजाङ्गना गण श्रीकृष्ण की, पूतनादि की एवं यशोदा की चेष्टा का अनुकरण किये थे।

लीला लक्षण में कथित है– "प्रियानु करणं लीला" श्रीकृष्ण व्रजदेवी गण के प्रिय होने पर भी

मन्तव्यम् । पूर्व्वं हि श्रीदामोदरलीलास्मरणावेशेन तस्याः श्रीकृष्णभावः, ततश्च (भा० १।८।३१ 'वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य' इत्युक्तरीत्या श्रीयशोदातो भयमपि जातम् । बाल्य-स्वभावानुस्मरणेन तदनुकरणञ्च । ततश्च सैव स्वयमन्यां काञ्चित्तल्लीलावेशेनैव कृष्णायमानां च बबन्ध, तथापि पूर्व्ववत् स्वभावोचितैव प्रीतिरतस्यामन्तर्वर्त्तत एव । सा हि प्रीतिस्तत्तद्-भावस्य परमाश्रयरूपा । ततो वहिरेव तत्तदनुकरणात् श्रीयशोदा-भावस्य च मध्ये श्रीकृष्ण-भाव-व्यवधानेन निजभावास्पर्शान्न विरोध इति ॥ श्रीशुकः ॥

३२६ । (उ० नी,० अनुभाव-प्र० ३१)—

---

किशोर रूपमें ही नन्दनन्दन उनकी प्रीति के विषय हैं । अर्थात् प्रिय हैं । बालक अर्थात् शिशु रूपमें नहीं । सुतरां बालक श्रीकृष्ण की चेष्टा में उन्होंने जो अनुकरण किया था । वह लीला नामक अनुभाव नहीं है, इस हेतु श्रीव्रजगण के भा० १०।३० में उक्त अनुकरण को 'प्राय लीला' शब्द से उल्लेख किया हैं । प्राय शब्द के द्वारा बालक चेष्टानुकरण लीलाख्य अनुभाव से वहिष्कृत हुआ है । श्रीकृष्णके उज्ज्वल रसोपयोगी लीला समूह का अनुकरण ही लीलाख्य अनुभाव है ।

पूतना की चेष्टा सर्व प्रकार से प्रीति विरोधी है, और यशोदा की चेष्टा कान्ता प्रेम विरोधी है, वे सब चेष्टा कैसे व्रजाङ्गना गण के प्रीत्यनुभाव में व्यक्त हुये हैं । इस का समाधान दो प्रकार से किया गया है । प्रथम समाधान—यूथेश्वरी गण विरह वैवश्य से कृष्णाविष्ट हुई थीं, उनकी सखी वृन्द, यह देखकर सोची थीं कि—जब तक यह आवेश रहेगा । तब तक वे विरह दुःखानुभव नहीं करेंगी । कृष्णावेश के जिस जिस लीला का अनुकरण कर रही थीं, उस में विभोर रखना ही तो उस उस लीला परिकर का समावेश करना आवश्यक है, इस प्रकार विचार कर उक्त सखी वृन्दने परिकर वृन्द की कृत्रिम चेष्टा का अनुकरण किया । इस का वर्णन ही श्रीमद् भागवत के १०।३० में पूतनादि एवं श्रीयशोदादि चेष्टानुकरण रूप में हुआ है । वे सब चेष्टा कृत्रिम होने के कारण दोषावह नहीं है,—अर्थात् रस विघातक नहीं हैं ।
यूथेश्वरी व्रजाङ्गना गण श्रीकृष्ण की जो सब-चेष्टा का अनुकरण किये थे, उस की प्रवृत्ति के हेतु क्या है-- प्रसङ्गतः उस का वर्णन किया है ।

''जिस का जिस का गान हेतु' इत्यादि वाक्य के द्वारा उसका वर्णन हुआ है । श्रीव्रजदेवी गण में श्रीकृष्ण की जो सब लीला की स्फूर्त्ति हुई थीं, स्फुरणानुरूप ही उन्होंने गान भी किया । एवं उसमें आविष्ट भी हुआ ।

द्वितीय समाधान—पूतना बधादि लीला स्मरण से आविष्ट होने से व्रजदेवी गण प्रथमतः आत्मविस्मृत होकर अपने को कृष्ण मानने लगी थीं । उसी प्रकार दाम बन्धन लीला स्मरणावेश से प्रथम अपने को कृष्ण मानने लगीं, उस अभिमान से यशोदा के भय से भीत होकर उनकी चिन्ता करते करते तन्मय होकर अपने को यशोदा मानने लगीं ।

यहाँ श्रीकृष्ण प्रेयसी अभिमान के ऊपर यदि पूतना व, श्रीयशोदा अभिमान उपस्थित होता, तो, रसभङ्ग होता । किन्तु वेसा नहीं हुआ । हुआ है—प्रेयसी गोपी अभिमान के ऊपर कृष्ण अभिमान, व्याघ्र से भीत व्यक्ति जिस प्रकार व्याघ्र चिन्ता करते करते तन्मय होकर अपने को व्याघ्र मान लेता है, यह भा उसी प्रकार है । प्रवक्ता श्रीशुक हैं—३२५॥

३२६ । उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ के अनुभाव प्रकरण में उक्त है—

"गति-स्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम् । तात्कालिकन्तु वैशिष्टच विलासः प्रियसङ्गजम् ।।" ६०६।।

**स यथा** (भा० १०।३२।३) —

**(३२६) "तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्योत्फुल्लदृशोऽबलाः" इति ।**

**स्पष्टम् ।। सः ।।**

**३२७। (उ० नी०, अनुभाव-प्र० ४४)—**

"गर्वाभिलाषरुदित-स्मितासूयाभयक्रुधाम् । सङ्करीकरणं हर्षादुच्यते किलकिञ्चितम् ।।" ६०७।।

**तद्यथा** (भा० १०।२२।१२)—

**(३२७) "तस्य तत् क्ष्वेलितं श्रुत्वा गोप्यः प्रेम-परिप्लुताः" इत्यादि,** (भा० १०।१२।१३)— **"एवं ब्रुवति गोविन्दे" इत्यादि,** (भा० १०।२२।१४) **"माऽनयं भोः कृथाः" इत्यादि,** (भा० १०।२२।१५) **"श्यामसुन्दर ते दास्यः" इत्याद्यन्तम् । स्पष्टम् ।। सः ।।**

---

"गति--स्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्म्मणाम् ।
तात्कालिकन्तु वैशिष्टंच विलासः प्रियसङ्गजम् ।।" ६०६।।

गति, स्थान, आसनादि एवं मुख नेत्रादि कर्म्म का, प्रिय सङ्गम जन्य तात् कालिक वैशिष्टच को विलास कहते हैं । भा० १०।३२।३ में उक्त है—

(३२६) "तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्योत्फुल्लदृशोऽबलाः ।।"

प्रियतम श्रीकृष्ण को समागत देखकर अबला व्रजदेवी गण के नयन प्रीति से उत्फुल्ल हुये थे । श्रीशुकदेव कहे थे-- ३२६।।

३२७। किल किञ्चित का लक्षण उक्त ग्रन्थ में इस प्रकार है—

"गर्वाभिलाषरुदित स्मितासूयाभयक्रुधाम् । सङ्करीकरणं हर्षादुच्यते किलकिञ्चितम् ।।" ६०७।।

हर्ष हेतु गर्व, अभिलाष, रोदन, हास्य, असूया, भय एवं क्रोध का एकत्र सम्मिलन होने पर उसको किल किञ्चित कहते हैं । जिस प्रकार भा० १०।२२।१२–१५ के वस्त्रहरण प्रसङ्ग में उक्त है—

(३२७) "तस्य तत् क्ष्वेलितं दृष्ट्वा गोप्यः प्रेम परिप्लुताः ।
व्रीड़िताः प्रेक्ष्य चान्योन्यं जात हासानिर्ययुः ।।
एवं ब्रुवति गोविन्दे नर्म्मणा क्षिप्त चेतसः ।
आकण्ठ मग्नाः शीतोदे वेपमानास्तमब्रुवन् ।।
मानयं भो कृथास्त्वान्तु नन्दगोप सुतं प्रियम् ।
जानीमोऽङ्ग व्रजश्लाघ्यं देहि वासांसि वेपिताः ।।"
श्यामसुन्दर ते दास्यः करवाम तवोदितम् ।
देहि वासांसि धर्म्मज्ञ नो चेद्राज्ञे ब्रुवाम हे ।।"

श्रीकृष्ण की परिहासोक्ति को जानकर गोप कुमारी गण प्रेमरस में निमग्ना हो गई, एवं लज्जा के सहित परस्पर को निरीक्षण कर हँसते लगीं, किन्तु कोई भी जल से नहीं निकलीं ।

श्रीकृष्ण वारम्बार विभिन्न प्रकार कहने से परिहास से उन सब का चित्त आक्षिप्त हुआ । वे शीतल सलिल में आकण्ठ निमग्न होकर कम्पित कलेवर से कहने लगीं— हे कृष्ण ! तुम ऐसा अन्याय मत करो, हम सब तुम्हें जानते हैं, तुम हमारे प्रिय हो, तुम नन्द गोप के नन्दन हो एवं व्रजके प्रशंसा भाजन हो, हम

३२८। (उ० नी०, अनुभाव-प्र० ३८)—

"वल्लभप्राप्तिवेलायां मदनावेशसम्भ्रमात्। विभ्रमो हारमाल्यादिभूषास्थानविपर्य्ययः॥"६०८॥

स यथा (भा० १०।२९।७) —

(३२८) "व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः" इति।

(उ० नी०, अनुभाव-प्र० ५२) "इष्टेऽपि गर्व-मानाभ्यां विब्वोकः स्यादनादरः" स च (भा० १०।३२।६) "एका भ्रुकुटिमाबध्य" इत्यादावुदाहरिष्यते। (उ० नी०, अनुभाव-प्र० ५६)-

"विन्यासभङ्गिरङ्गानां भ्रूविलास-मनोहरा। सुकुमारा भवेद्यत्र ललितं तदुदाहृतम्॥"६०९॥

तच्च पूर्वत्रैव ज्ञेयम्॥ सः॥

३२९। (उ० नी०, अनुभाव-प्र० ४७)-

"कान्तस्मरणवार्त्तादौ हृदि तद्भाव--भावतः। प्राकट्यमभिलाषस्य मोट्टायितमितीर्य्यते॥"६१०॥

तच्च-(भा० १०।२१।१२) "कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सव-" इत्यादावेव ज्ञेयम्। (उ० नी०

---

शीत से कँप रहे हैं, हमारे वसन समूह प्रदान करो।

हे श्यामसुन्दर! हम सब तुम्हारी दासी हैं। तुम जैसा कहोगे, हम सब वैसा ही करेंगे। हे धर्मज्ञ! हमारे वस्त्र प्रदान करो, अन्यथा-राजा को कह देंगे। प्रवक्ता श्रीशुक हैं—३२७॥

३२८। उक्त ग्रन्थ में विभ्रम का लक्षण यह है—

'वल्लभ प्राप्ति वेलायां मदनावेश सम्भ्रमात्।
विभ्रमो हारमाल्यादिभूषास्थानविपर्य्ययः॥"६०८॥

वल्लभ समीप में अभिसार के समय प्रबल मदनावेश से हार माल्यादि का अयथास्थान में धारण का नाम विभ्रम है। उदाहरण भा० १०।२९।७ में—

(३२८) "व्यत्यस्त वस्त्राभरणाः, काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः॥"

रास रजनी में श्रीकृष्ण की वेणु ध्वनि को सुनकर व्रजदेवी गण--वसन भूषण धारण विपरीत रूपसे करके—अर्थात् एक अङ्ग के वसन भूषण-अन्य अङ्ग में धारण कर कृष्ण के निकट उपस्थित हुई थीं।

विव्वोक का लक्षण यह है— "इष्टेऽपि गर्वमानाभ्यां विव्वोकः स्यादनादरः" उदाहरण भा० १०।३०।६ में है। "एका भ्रूकुटि माबध्य" गर्व एवं मान हेतु कान्त एवं कान्तदत्त वस्तु के प्रति जो अनादर है, उसका नाम विव्वोक है। इस का उदाहरण--'एका भ्रूकुटि माबध्य' श्लोक में अग्रिम ग्रन्थ में प्रस्तुत करेंगे। ललित का लक्षण यह है—

"विन्यासभङ्गिरङ्गानां भ्रूविलास मनोहरा। सुकुमारा भवेद्यत्र ललितं तदुदाहृतम्॥"६०९॥

जिस से नायिका के अङ्ग समूह की विन्यास भङ्गि, सुकुमारता, भ्रूविन्यास की मनोहरता प्रकाशित होती है, उस को ललित कहते हैं। इस का उदाहरण विव्वोक के उदाहरण में प्रस्तुत करेंगे।

प्रवक्ता श्रीशुकदेव हैं—३२८॥

३२९। मोट्टायित का लक्षण –

"कान्तस्मरण वार्त्तादौ हृदि तद्भाव भावतः।
प्राकट्यमभिलाषस्य मोट्टायित मितीर्य्यते॥"६१०॥

कान्त का स्मरण एवं उनके वार्त्तादि श्रवण से स्थायिभाव की भावना हेतु हृदय में जो अभिलाष

(अनुभाव-प्र० ५८)—

"ह्री—मानेर्ष्यादिभिर्यत्र नोच्यते स्वविवक्षितम् । व्यज्यते चेष्टयैवेदं विकृतं तद्विदुर्बुधाः ।।"६११।।

तद्यथा (भा० १०।२२।२३)–

(३२९) "परिधाय स्ववासांसि प्रेष्ठसङ्गम-सज्जिताः ।
गृहीतचित्ता नो चेलुस्तस्मिन् लज्जायितेक्षणाः ।।"६१२।।

स्पष्टम् ।। सः ।।

"आकल्पकल्पनाल्पापि विच्छित्ति कान्तिपोषकृत्"

'कृष्णेनाङ्गस्य संस्पर्शे हृत्प्रीतावपि सम्भ्रमात् । वहिःक्रोधो व्यथितवत् प्रोक्तं कुट्टमितं बुधैः ।।"६१३।।

३३० । एवम् (उ० नी०, अनुभाव-प्र० ३४,४९ )–

इत्यनुसारेण विच्छित्ति—कुट्टमिते अपि ज्ञेये । अथ वाचिकाः, तत्र (उ० नी०, अनुभाव-प्र०

---

उदित होता है, उस को मोट्टायित कहते हैं । उदाहरण— भा० १०।२१।१२ "कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सव रूप वेषम्" है । विकृत का लक्षण यह है—

"ह्री—मानेर्ष्यादिभिर्यत्र नोच्यते स्वविवक्षितम् ।
व्यज्यते चेष्टयैवेदं विकृतं तद्विदुर्बुधा ।।"६११।।

लज्जा, मान, ईर्षादि द्वारा जिस से निज वक्तव्य प्रकाशित नहीं होता है, अथच चेष्टा द्वारा प्रकाश किया जाता है, नायिका की इस अवस्था को विकृत कहते हैं—उदाहरण भा० १०।२२।२३ में है—

(३२९) "परिधाय स्ववासांसि प्रेष्ठसङ्गम--सज्जिताः ।
गृहीतचित्ता नो चेलुस्तस्मिन् लज्जायितेक्षणाः ।।"६१२।।

वस्त्र हरण लीलामें जिस समय कृष्णने वस्त्रार्पण किया, उस समय गोपकुमारी गण निज निज वसन परिधान पूर्वक प्रियसङ्गम से वशीभूता हो गई थीं । श्रीकृष्ण कर्त्तृक उन सब का चित्त गृहीत होने से वे स्थानान्तर गमन में सक्षम नहीं हुईं, सलज्ज नयनों से उन को दर्शन करने लगीं ।

श्रीशुकदेव कहे थे—३२९।।

३३० । इस प्रकार विच्छत्ति का लक्षण उक्त ग्रन्थ में लिखित है—

"आकल्पकल्पनाल्पापि विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत्"

जो वेश रचना अल्प होकर भी देह कान्ति को पुष्ट करती है. उसको विच्छित्ति कहते हैं ।

"कृष्णेनाङ्गस्य संस्पर्शे हृत्प्रीतावपि सम्भ्रमात् ।
वहिःक्रोधो व्यथितवत् प्रोक्तं कुट्टमितं बुधैः ।।"६१३।।

कृष्ण कर्त्तृक अङ्ग संस्पर्श से हृदय प्रीत होने पर भी सम्भ्रम वशतः व्यथित के समान बाहर क्रोध को पण्डित गण कुट्टमित कहते हैं । उक्त लक्षण के अनुसार विच्छित्ति कुट्टमित को जानना चाहिये ।

पूर्व ग्रन्थ में कथित है कि—उद्भास्वर, सात्त्विक, अलङ्कार एवं वाचिक भेद से उज्ज्वल रस के अनुभाव चतुर्विध होते हैं । उद्भास्वर, सात्त्विक एवं अलङ्कार त्रिविध अनुभाव का वर्णन हुआ । अनन्तर वाचिक अलङ्कार का वर्णन करते हैं । आलाप, विलाप, संलाप, प्रलाप, अनुलाप, अपलाप, सन्देश,

८०)"चाटुप्रियोक्तिरालापः", स यथा (भा० १०।२९।४०)—

(३३०) "का स्त्र्यङ्ग ते कलपदामृत वेणुगीत-,सम्मोहित-" इत्यादि ।

स्पष्टम् ॥ श्रीगोप्यः ॥

३३१। (उ० नी०, अनुभाव-प्र० ८३) "विलापो दुःखजं वचः", स यथा (भा० १०।४७।४७)

(३३१) "परं सौख्यं हि नैराश्यम्" इत्यादि ।

स्पष्टम् ॥ ताः ॥

३३२। (उ० नी०, अनुभाव-प्र० ८५) 'उक्तिप्रत्युक्तिमद्वाक्यं संलाप इति कीर्त्यते" स यथा-(भा० १०।२९।१८) 'स्वागतं वो महाभागाः' इत्यादिकम्, (भा० १०।२९।४१)—

(३३२) "व्यक्तं भवान् व्रजभयार्त्तिहरोऽभिजातः" इत्याद्यन्तम् ।

---

अभिदेश, उपदेश निर्द्देश एवं व्यपदेश भेद से वाचिक द्वादशविध हैं । "चाटु प्रियोक्तिरालापः"

चाटु—अर्थात् प्रशंसा सूचक प्रियोक्ति का नाम आलाप है । भा० १०।२९।४० में उक्त है—

(३३०) 'का स्त्र्यङ्ग ते कलपदामृत वेणुगीत सम्मोहितार्य्य चरितान्नचलेत्त्रिलोक्याम् ।
त्रैलोक्य सौभगमिदञ्च निरीक्ष्य रूपं यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥"

हे गोविन्द ! तुम्हारे कलपदयुक्त दीर्घ मूर्च्छनामय जो वेणुगीत है, उस के श्रवण से सम्मोहित होकर त्रिलोक के मध्य में कौन रमणी निज धर्म से विचलिता नहीं होती है ? और तुम्हारे जो रूप है, उस को देखकर गो, मृग, पक्षी, वृक्ष पर्य्यन्त पुलकायित होते हैं, त्रैलोक्य सौभग उस रूप को देखकर कौन रमणी पथ भ्रष्ट नहीं होगी ? श्रीगोपी गण बोली थीं—॥३३०॥

३३१। "विलापो दुःखजं वचः" दुःख जनित वाक्य का नाम विलाप है ।

(३३१) "परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्याप्याह पिङ्गला ।
तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया ॥"

व्रजदेवी वृन्द को सान्त्वना दान हेतु समागत उद्धव के निकट तीव्रोत्कण्ठा हेतु कृष्ण प्राप्ति की असम्भावना कल्पना कर उन्होंने कहा---स्वैरिणी पिङ्गलाने भी कहा है— नैराश्य ही परम सुख है । हम जानते हैं, तथापि श्रीकृष्ण के प्रति हमारी आशा दूरतिक्रम्या है । व्रजदेवी गण बोली थीं-३३१॥

३३२। "उक्ति प्रत्युक्तिमद्वाक्यं संलापः"

उक्ति प्रत्युक्ति विशिष्ट वाक्य को संलाप कहते हैं। श्रीमद् भागवत के १०।२९।१८ में उक्त है-'स्वागतं भो महाभागाः' स्वागतं भो महाभागाः' से आरम्भ कर-(३३२) "व्यक्तं भवान् व्रजभयार्त्ति हरोऽभिजातः" पर्य्यन्त श्लोक समूह में संलाप वर्णित है ।

उक्त श्लोक समूह के श्रीकृष्ण वाक्य समूह में प्रथम अर्थ -वेणु गानादि से मोहिता होने परभी वाम्य प्रकटन कारिणी व्रजदेवी गण की सङ्ग प्रार्थना रूप है। द्वितीय अर्थ – परिहास एवं उनकी भावपरीक्षा हेतु उनके आगमन के हेतु भूत निज सङ्ग प्रत्याख्यान रूप है। तद्रूप व्रजदेवी वृन्द के वाक्य समूह में भी श्रीकृष्ण प्रार्थना प्रत्याख्यान रूप अर्थ द्वितीय है, अतएव यहाँ नायक नायिका उभय की उक्ति प्रत्युक्ति तुल्य वैदग्धीमयी होने के कारण रस की निरतिशय पुष्टि साधित हुई है ।

श्रीकृष्ण की उक्ति समूह का अर्थ प्रदर्शित हो रहा है। उसके मध्यमें प्रार्थना रूप प्रथम अर्थ यह है–

अत्र च श्रीकृष्ण-वाक्येषु प्रथमोऽर्थस्तासु वेण्वादिमोहितास्वपि वाम्यमाचरन्तीषु सङ्ग-प्रार्थनारूपः, द्वितीयस्तु परिहासाय तद्भाव-परीक्षणाय च तदागमनकारण-स्वसङ्गप्रत्याख्यान-रूपः। तथैव तासां वाक्येष्वपि तत्प्रार्थनाप्रत्याख्यानरूपः प्रथमः, द्वितीयस्तु-उत्कण्ठास्वभाव-व्यञ्जितस्तत्सङ्गप्रार्थनारूपः। अतएव पारस्परिक-समानवैदग्धीमयत्वं दाततरां रसः पुष्येत। स्वागतमित्युभयत्र समानमेव। (भा० १०।२९।१९) 'रजन्येषा' इति यदि कथञ्चिदागता एव, तदाधुना तु रजन्या घोररूपादित्वाद् व्रजं प्रति न यात, यातुं नार्हथ, किन्तु स्त्रीभिर्युष्माभिरिह मम वीरस्य सन्निधावेव स्थेयं स्थातुं योग्यमिति। सुमध्यमा इति पुनर्गमने खेदमपि दर्शितवान्। न च मत्सन्निधावस्थाने बन्धुभ्यो भेतव्यमित्याह,—(भा० १०।२९।२०) 'मातरः' इति। बन्धुभ्यः साध्वसं मा कुरुध्वम्, यतस्ते मात्रादयो बन्धवो रात्रावस्मिन्नपश्यन्त एव

---

"स्वागतं भो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।
व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमन कारणम्॥

हे भाग्यवती व्रजललना वृन्द! तुम सब सुख पूर्वक आई हों न! तुम्हारे प्रिय कार्य्य क्या करूँ? व्रज का कुशल एवं तुम्हारे आगमन के कारण कहो भा० १।२९।१९ में उक्त है—

"रजन्येषां घोररूपा घोरसत्त्व निषेविता।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः॥"

यह रजनी घोर रूपा है, अब यहाँ भयङ्कर प्राणी विचरण कर रहे हैं, आशु व्रजमें प्रत्यावर्त्तन करो। हे सुमध्यमा गण! अधुना यहाँ स्त्रीओं को रहना उचित नहीं है। मेरे समीप में अवस्थान करने से भय की सम्भावना नहीं है। इस अभिप्राय से कहते हैं—

"मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तोमाकृध्वं बन्धु साध्वसम्॥

तुम्हारे माता, पिता, पुत्र, भ्राता, पति, तुम सब को न देखकर अन्वेषण कर रहे हैं। बन्धु गण से क्या तुम सब भीत नहीं हों।

'रजन्येषा' इत्यादि श्लोकों से अर्थ प्रकाशित हुआ है—

यदि तुम सब आई हों तथापि यह रजनी घोर रूपा भयङ्करी होने के कारण—सम्प्रति तुम सब के पक्ष में व्रज में जाना सहज नहीं है। अर्थात् जाना उचित नहीं है। तुम सब स्त्री हों, तुम्हारे यहाँ वीर पुरुष मेरे निकट रहना ही उचित है। उक्त श्लोक जो 'सुमध्यमा' पद का प्रयोग हुआ है—उस से अर्थ होता है—पुनर्गमन में क्लेश होगा, अर्थात् सुमध्यमा तुम सब के कटिदेश अतिक्षीण है, एकबार यहाँ आना ही कष्ट साध्य है, उस से क्लिष्टा हो गई हों, व्रज में पुनर्वार प्रत्यावर्त्तन करने से अत्यधिक कष्ट होगा। यह अभिप्राय व्यक्त हुआ है। 'मातरः' श्लोक में कहा गया है— यहाँ रहना ही ठीक है। बन्धु गण से भय मत करो, कारण, माता, प्रभृति बान्धव गण-रात्रि में अनुसन्धान करने पर भी देख न सकेंगे। अतः उन सब का यहाँ आने की सम्भावना नहीं है। और जो पुत्र की कथा कही गई है— वे सब व्रज रमणी वृन्द के देवरम्मन्यादि के पुत्र हैं, अथवा सपत्नी वृन्द के पुत्र हैं।

पहले कहा गया है कि—श्रीव्रजदेवी गण के सहित कृष्ण व्यतीत अपर पुरुष का किसी प्रकार संसर्ग नहीं हुआ। सुतरां उन सब के पुत्र नहीं हैं। श्रीकृष्ण परिहास पूर्वक पुत्र की कथा कहे थे।

विचिन्वन्ति, ततो नास्ति तेषामत्रागमनसम्भावनेति भावः । पुत्रा देवरम्मन्यादिपुत्राः सपत्न्यादिपुत्रा वा । निजारामदर्शनया तासां भावमुद्दीपयति,-(भा० १०।२९।२१) "दृष्टं वनम्' इति । निगमयति (भा० १०।२९।२२) 'तद्यात' इति, यस्मात् 'रजन्येषा घोररूपा" इत्यादिको हेतुः, तत्तस्माच्चिरकालं व्याप्य घोषं मा यात, अचिरमधुनैव मा यातेति वा । ततस्तत्र गत्वा पतीन् युष्मत्पतित्वेन कल्पितांस्तानपि मा शुश्रूषध्वम् । हे सतीः ! सत्यः परमोत्तमाः ! ये च वत्सादयस्ते च मा क्रन्दन्ति, ततस्तान् मा पाययत, तदर्थं मा दुह्यत चेति । यदि स्वयमेव भवत्यो मदनुरागेणैवागताः, न तत्र मत्प्रार्थनापेक्षापि, तदा तदतीव युक्तमाचरितमित्याह-(भा० १०।२९।२३) 'अथवा' इति । मम मयि, यदि जन्तुमात्राण्येव मयि प्रीयन्ते, तदा भवतीनां कामिनीनां कान्तभावात्मक एव सः स्नेहो भवेदिति भावः । ननु भर्त्तृशुश्रूषणपरित्यागे स्त्रीणां दोषः ? तत्राह-(भा० १०।२९।२४) 'भर्त्तुः शुश्रूषणम्' इति । अमायया यो भर्त्ता, तस्यैव शुश्रूषणं

---

अनन्तर निज आराम को देखाकर उनका भावोद्दीप्त करते हैं--भा० १०।२९।२१

"दृष्ट वनं कुसुमितं राकेशकर रञ्जितम् ।
यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लव शोभितम् ।।"

यह कुसुमित वन, पूर्ण चन्द्र करोज्ज्वल, यमुना जल कण वाही समीरण सञ्चरण से आन्दोलित वृक्षराजि द्वारा सुशोभित है । बोध होता है कि— इस वन को देखने को आई हों, देखना तो हो गया ? उपसंहार करने के निमित्त भा० १०।२९।२२ में कहते हैं—

"तद्यात माचिरं घोषं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः ।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत ।।"

हे सती गण ! वृज को जाओ, विलम्ब न करो, घर में जाकर पति सेवा करो, वत्स एवं बालक गण रोदन कर रहे हैं, दुग्ध दोहन करो एवं पान कराओ ।

"दृष्टं वनं" इत्यादि श्लोकों में कहते हैं—यह रजनी घोर रूपा है, हिंस्रजन्तु समाकीर्णा है । अर्थात् यह वन कुसुम शोभित, पूर्ण चन्द्र किरण रञ्जत एवं यमुना जल कण वाही शीतल समीरण सञ्चरण से आन्दोलित तरुराजि शोभित है, अर्थान्तर में यह रजनी भयङ्करी है, हिंस्रजन्तु समाकीर्णा है । सुतरां 'तद्यात माचिरं" श्लोक में कहते हैं—दीर्घ काल के मध्य में तुम सब वृज में प्रत्यावर्त्तन करो । वहाँ जाकर पति रूप में कल्पित व्यक्ति की सेवा न करो, वृज में न जाने से वत्सगण को दुग्धपान कौन करायेगा ? कहते हैं —हे सती गण ! हे परमोत्तमा गण ! वृज में जो सब वत्सादि हैं, वे नहीं रोते हैं, उसको दुग्धपान कराने की आवश्यकता नहीं है । सुतरां दुग्ध दोहन भी नहीं करना पड़ेगा ।

यदि मेरी प्रार्थना की अपेक्षा न करके अनुराग से स्वयं ही आई हों तो, अतीव सङ्गत आचरण ही हुआ है, इस को कहते हैं—भा० १०।२९।२३ "अथवा मदभिस्नेहात् भवत्यो यन्त्रिताशया ।
आगता ह्युपपन्नं तत् प्रीयन्ते मयि जन्तवः ।।"

अथवा मेरे प्रति स्नेह परतन्त्र होकर तुम सब आई हों, यह सङ्गत है, कारण, समस्त प्राणी मुझ को प्रीति करते हैं । इस श्लोकमें 'मम 'मयि' शब्द का उल्लेख है, उसका अर्थ है— प्राणी मात्र ही जब मुझ को प्रीति करते हैं, तब कामिनी तुम सब के पक्ष में वह स्नेह कान्ताभावात्मक ही होगा ।

यहाँ रहने से पतिसेवा परित्याग हेतु दोष होगा ? पति सेवा त्याग पतिव्रता के पक्षमें अतीव दोषावह है ।

परो धर्म्मः, तथा तद्बन्धूनाञ्च । युष्माकन्तु अनुपभुक्तात्वेन लक्ष्यमाणानां दाम्पत्यव्यवहारा-भावात् केनापि माययैव तत् कल्पितमिति लक्ष्यते, ततो न दोष इति भावः । अङ्गीकृत्यापि पतित्वम्, प्रकारान्तरेण तत्सेवां स्मृतिवाक्यद्वारापि परिहरति,— (भा० १०।२६।२५) 'दुःशील:' इति । अपातक्येव न हातव्यः, ते तु पातकिन एवेति सासूयो भावः । अपातकित्वाङ्गीकार-माशङ्क्य छलेन स्मृतिवाक्यान्तरमन्यथार्थतया व्यञ्जयन्नपि तत्सेवां प्रत्याचष्टे,— (भा० १०।२६।२६) 'अस्वर्ग्यम्' इति । उप समीपे पतिर्यस्याः सा उपपतिस्तस्या भाव औपपत्यं पतिसामीप्यमित्यर्थः । तत् खल्वस्वर्ग्यादिति ।

अथ मय्यपि जातो भावः क्लेशायैव भवतीत्याशङ्क्यापि मा पराङ्मुखीभवतेत्याह—

---

भा० १०।२६।२४ में उक्त है—

"भर्त्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परोधर्म्मोह्यमायया ।
तद्बन्धूनाञ्च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम् ॥"

हे कल्याणी गण ! अकपट चित्त से पति सेवा, उनके बन्धु वर्ग की सेवा तथा पुत्रकन्या वृन्द का लालन पालन करना ही स्त्रीओं का परम धर्म है।

किन्तु तुम सब अनुपभुक्ता हों, तुम्हारे सहित किसी का दाम्पत्य बन्धन नहीं हुआ है । माया द्वारा तथा कथित पति कल्पित है । सुतरां उसकी सेवा त्याग करने से कोई दोष नहीं है ।

जो सब गोपों के सहित व्रजाङ्गना गण का विवाह कल्पित हुआ है, उस का पतित्व स्वीकार करके भी प्रकारान्तर में स्मृति वाक्य द्वारा कहते हैं— भा० १०।२६।२५

"दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जड़ा रोग्यधनोऽपि वा ।
पतिः स्त्रीभि र्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी ॥"

अपातकी पति दुःशील, दुर्भग, वृद्ध, जड़ रोगी वा निर्धन हो, तथापि परित्याग करना ठीक नहीं है । पति लोकाभिलाषिणी रमणी को उस का त्याग करना उचित नहीं है ।

अर्थ—अपात की पति त्याग करना उचित नहीं है, किन्तु वे पातकी ही हैं, यह असूया युक्तभाव है । अर्थात् व्रज में प्रसिद्ध पति गण यदि अपातकी होते तो उनकी सेवा त्याग करना दोष होता, वे पातकी हैं, सुतरां उनकी सेवा त्याग से दोष नहीं होगा । श्रीकृष्ण-असूया प्रकाश कर उन सब को पति कर कहे थे । वास्तविक पति को नहीं कहे हैं ।

यदि व्रजदेवी वृन्द पतिम्मन्य गोपसमूह को अपातकी मानकर सेवा कर्त्तव्य है— इस प्रकार निश्चय करें तो स्मृति वाक्य का विपरीत अर्थ करके भी सेवा प्रत्याख्यान किये हैं— भा० १०।२६।२६ में उक्त है—

"अस्वर्ग्यमयशस्यञ्च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम् ।
जुगुप्सितञ्च सर्वत्र ह्यौपपत्यं कुलस्त्रियः ॥"

कुलस्त्री गणों का औपपत्य-अर्थात् उपपतिसङ्ग सर्वत्र ही स्वर्ग प्राप्ति का प्रतिकूल है—अयशोजनक अति तुच्छ, दुःखोत्पादक एवं भयावह है । इस श्लोक में औपपत्य का अस्वर्ग्य- स्वर्ग कर नहीं है—कहे हैं । उसका अर्थ यह है—उप-समीप में पति जिसका वह है उपपति । उपपति का भाव--औपपत्य -पतिसामीप्य वह अस्वर्ग्य कर है । अर्थात् तुम सब के पक्ष में पति के समीप में अवस्थान स्वर्गकर नहीं है । छल पूर्वक

(भा० १०।२९।२७) 'श्रवणात्' इति। यथा श्रवणादिना मद्भावो मदप्राप्त्या दुःखमयस्तथा सन्निकर्षेण मत्प्राप्त्या न भवति। ततस्तस्माद्गृहान् गृहसदृशान् कुञ्जान् प्रतियात, प्रविशत, पर्य्युदासोऽत्र नञिति। तदेवं श्रीकृष्णवाक्यस्य प्रार्थनारूपोऽर्थो व्याख्यातः। अर्थान्तरं तु प्रसिद्धम्। तत्र पुत्रा इति सपरिहासदोषोद्गारेणापि प्रत्याख्यानम्। अथ तादृशश्रीकृष्णवाक्य श्रवणानन्तरं तासामवस्थावर्णनम्-(भा० १०।२९।२८) 'इति विप्रियमाकर्ण्य' इत्यादि-त्रिभिः। अर्थद्वितयस्यैव तर्केण तदभिप्रायनिश्चयाभावादुत्कण्ठास्वाभाव्येन प्रत्याख्यानस्यैव सुष्ठु स्फुरितत्वात्तद्वाक्यस्य विप्रियत्वं तासां विषादादिकञ्च। तत्रोभयत्रापि चिन्ताया युक्तत्वान्मुख-नमनादिचेष्टास्वपि न रसभङ्गः। पदा भूलेखनं चात्र नायिकया स्वयमभियोगेऽप्युक्तमस्ति।

---

इस प्रकार कहे हैं।

अनन्तर मुझ में समुत्पन्न भाव,-दुःख का कारण होता है। व्रजदेवी वृन्द की इस प्रकार आशङ्का कल्पना करके भी भा० १०।२९।२७ में कहे हैं— "श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्त्तनात्।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्॥"

श्रवण, दर्शन, ध्यान, एवं निरन्तर कीर्त्तन से मेरे प्रति जिस प्रकार भावोदय होता है, मेरा सन्निकर्ष में रहने से उस प्रकार प्रीति नहीं होती है। अर्थात् उन्होंने कहा--तुम सब पराङ्मुखी न बनों मुझ में समुत्पन्न भाव, मदीय अप्राप्ति निबन्धन श्रवणादि द्वारा जिस प्रकार दुःखमय होता है। सान्निध्य में अवस्थान से मत् प्राप्ति निबन्धन उस प्रकार दुःखमय नहीं होता है। इस हेतु गृह समूह में--गृह सदृश कुञ्ज समूहमें प्रवेश करो। यहाँ 'नञ्'पर्य्युदास है। जहाँ विधि बोधित वस्तुका ही प्राधान्य है, किन्तु निषेध का प्राधान्य नहीं है। और जो नञ् परवर्ती पद के सहित अन्वित है। किन्तु क्रियाके सहित अन्वित नहीं है। यही पर्य्युदास नञ् है। यहाँ सन्निकर्ष के सहित नञ् का अन्वय है। अतएव यहाँ पर्य्युदास नञ् हुआ है।

श्रीकृष्ण के उस प्रकार वाक्य श्रवण का व्रजदेवी वृन्द की जो अवस्था हुई थी—उस का वर्णन भा० १०।२९।२८-२९-३० में श्रीशुकदेव किये हैं—उक्त श्लोक त्रय यह हैं।

"इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्द भाषितम्।
विषण्णा भग्न सङ्कल्पाश्चिन्तामापुर्दुरत्ययाम्॥
कृत्वा मुखान्यवशुचः श्वसनेनशुष्यद् बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः।
अस्रैरुपात्तमसिभिः कुच कुङ्कुमानि तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम्।
प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रति भाषमाणं कृष्णं तदर्थ विनिवर्त्तित सर्वकामाः।
नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म किञ्चित् संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः॥"

गोपी गण, गोविन्द कथित ईदृश अप्रिय वाक्य श्रवण कर विषण्णा हो गईं। उन सब में नैराश्य एवं दुर्निवार चिन्ता उपस्थित हुई। गुरु तर दुःख उपस्थित हुआ। शोक सञ्जात उष्ण निश्वास से बिम्बाधर शुष्क हुआ। अवनत बदन से वे मौनावलम्बन कर चरण द्वारा भूमि में लिखने लग गईं। नयन सलिल से उनके कज्जल एवं कुच कुङ्कुम प्रक्षालित होने लगा। गोपी गण श्रीकृष्ण में अत्यन्त अनुरक्ता थीं, उनके निमित्त उन्होंने समस्त कामना का त्याग किया। अश्रु सलिल से आच्छन्न नयन युगल मार्जन पूर्वक ईषत् कोपावेश हेतु गद् गद् वाक्य से—जो प्रियतम होकर भी अप्रिय के समान कहते हैं, उन

अथ तासामपि तदनुरूपं वाक्यम्—(भा० १०।२९।३१) 'मैवम्' इत्यादि । मेति तत्प्रार्थना-निराकरणे सर्वविषयान् पतिपुत्रादीन् संत्यज्य यास्तव पादमूलं भक्तास्ता एव दुरवग्रहं निरर्गलं यथा स्यात्तथा भजस्व । पादमूलमिति तासु निजोत्कर्षख्यापनम् । अस्मान् पुनरतथाभूता आ सम्यग्दर्शनप्रसङ्गादिष्वपि त्यज । तत्रान्यासां भजने स्वेषां त्यागे च सदाचारं दृष्टान्तयति— देव इति । स हि त्यक्तविषयकर्मादितया त्वं भजतो मुमुक्षूनेव भजति, नान्यानिति । अथ शास्त्रार्थद्वारा तदुपदेशं निराकुर्वन्ति, (भा० १०।२९।३२) 'यत् पत्यपत्य-' इति । स्वधर्म्मः-सुष्ठु अधर्म्मः, धर्म्मविदेति सोपहासम्, उक्तं छलेन प्रतिपादितम्,-भर्त्तुः

---

श्रीकृष्ण को कहने लगीं।

श्रीकृष्णोक्ति श्लोक समूह का द्वितीय प्रकार अर्थ भी हो सकता है। इस प्रकार विचार कर तदीय अभिप्राय निर्णय में असमर्थ होकर उत्कण्ठा स्वभाव से प्रत्याख्यानमय अर्थ ही स्फुरित हुआ था। यही उक्त रूप अवस्था उपस्थित होने का कारण है। इस हेतु श्रीकृष्ण के वाक्य उन सब को अप्रिय लगा एवं उनके विषादादि भी उपस्थित हुये थे। उभयविध अर्थ ग्रहण से भी चिन्ता उपस्थित हो सकती है। इस हेतु मुख नमनादि चेष्टा से रस भङ्ग नहीं हुआ। पदद्वय के नखाग्र के द्वारा भूमि लेखन यहाँ नायिका का रस शास्त्रोक्त स्वाभियोग लक्षण पर्य्यवसित हुआ है।

अनन्तर श्रीकृष्ण के वाक्य के अनुरूप व्रजदेवी वृन्द के वाक्य भा० १०।२९।३१ में है—

'मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितं नृशंस सन्त्यज्य सर्व विषयांस्तवपादमूलम् ।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान् देवो यथादि पुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥''

हे विभो ! इस प्रकार निष्ठुर वाक्य प्रयोग करना आप के पक्ष में उचित नहीं है, हम सब समस्त विषय परित्याग कर आप के पाद मूल की सेवा करती हैं, आदि पुरुष नारायण, जिस प्रकार मुमक्षु गणको अङ्गीकार करते हैं, आप भी उस प्रकार हम सब को अङ्गीकार करें। इस प्रकार स्वच्छन्द चित्त से परित्याग न करें।

''मवं विभोऽर्हति'' श्लोक में जो 'मा' 'ना' शब्द का प्रयोग हुआ है, वह श्रीकृष्ण की प्रार्थना निवारण हेतु प्रयुक्त हुआ है। अनन्तर उन्होंने कहा। 'जो सब रमणी पति पुत्रादि सर्व विषय त्याग कर तुम्हारे पाद मूल का भजन करती हैं। उन सब का भजन निःसङ्कोच से करो ॥'' यहाँ पादमूल शब्द प्रयोग कर उनसब रमणी से निज उत्कर्ष स्थापन किया गया है। अर्थात् वे सब रमणी के तुल्य हम सब तुम्हारे पाद मूल का भजन नहीं करती हैं, आत्म सम्मान ज्ञान हम सब को है, यही उन सब का अभिप्राय है। तुम्हारे पाद मूल भजन कारिणी वृन्द का भजन करो, और जो उस के समान नहीं है- उस के प्रति दृष्टि निक्षेप भी नहीं करते हो, अर्थात् हम सब के प्रति साग्रह दृष्टि निक्षेप भी न करो। यह अभिप्राय प्रकाशित हुआ है। उन सब रमणी का भजन में-एवं अपना त्याग में दृष्टान्त दिया गया है—'आदि पुरुष इत्यादि।' आदि पुरुष नारायण, जो विषयादि त्याग कर उनका भजन करते हैं, उन मुमुक्षु का भजन करते हैं, अपर किसी का भजन नहीं करते हैं।

अनन्तर शास्त्रार्थ द्वारा श्रीकृष्ण के उपदेश का निराकरण हेतु कहती है— भा० १०।२९।३२

''यत् पत्यपत्य सुहृदामनुवृत्तिरङ्गस्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदात्वयोक्तम् ।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदेत्वयीशे प्रेष्ठोभवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥''

शुश्रूषणमित्यादावन्यथायोजनाभिप्रायात् । एतदधर्म्म-निराकरणोपदेशवाक्यम् । तत्पदे उपदेष्टरि ईशे स्वतन्त्राचारे त्वय्येवास्तु, त्वमेवाधर्म्मान्निवर्त्तस्वेत्यर्थः । ततो युष्माकं किमित्यत आहुः–प्रेष्ठ इति, बन्धुरात्मा सुन्दरस्वभावो भवान् प्राणिमात्राणां किल प्रेष्ठः, ततस्तेनैव सर्वे वयं मङ्गलिनः स्यामेत्यर्थः । 'अथवा मदभिस्नेहात' इत्यादिकं निराकुर्वन्ति, (भा० १०।२९।३३) कुर्वन्ति हीति । आर्त्ति द्यन्ति छिन्दन्तीति तादृशैः पत्यादिभिर्हेतुभूतैः स्वे आत्मनि देहादौ नित्यप्रिये सति याः कुशला भवन्ति, ताः किं त्वयि रतिं कान्तभावं कुर्वन्ति, अपि तु नैवेत्यर्थः । तत्तस्मात् नोऽस्मभ्यं प्रसीद,— इमं दुराग्रहं त्यजेत्यर्थः । तत्र वरदेश्वरेति सोपालम्भं सम्बोधनम्,–एष एव वरोऽस्मभ्यं दीयतामिति बोधकम् । तदेव व्यञ्जयन्ति-त्वयि चिराद्धृता अवस्थिता या आशा तृष्णा तां छित्त्वा वयं मा स्म, मा भवाम । तस्यां त्वन्मनः

---

हे प्रभो ! पति, पुत्र, बन्धु बान्धव वृन्द की अनुवृत्ति करना स्त्रीयों का स्वधर्म है, यह आपने कहा है । वह उपदिश्यमान—उपदेश के विषय आप ईश्वर हैं, आप में ही प्रयुक्त हो, आप ही देह धारि वृन्द के आत्मा, प्रियतम एवं बन्धु हैं ।

उक्त श्लोक में जो स्वधर्म पद है—उस का अर्थ–सु+अधर्म्म अत्यन्त अधर्म्म । और कृष्ण को धर्म्मवित् कहा गया है । वह परिहास मात्र है । 'धर्म्मविद् आपने जो कुछ कहा है—इसका अर्थ है–आपने छल से जो प्रति पादन किया है । कारण, पतिसेवादि जो सब उपदेश दिया गया है, उस में यथाश्रुत अर्थ को छोड़कर अन्य रूप अर्थ योजना करना ही आप का अभिप्राय है । आपने जो अधर्म निराकरण हेतु उपदेश दिया है, वह उपदेष्टा ईश—स्वतन्त्राचार स्वरूप आप में प्रयुक्त हो, आप अधर्म से निरस्त हों, इससे तुम सब को क्या होगा ? इस प्रकार श्रीकृष्ण प्रश्न की सम्भावना करके कहा गया है– आप प्रियतम हैं । इस हेतु आप अधर्म्म से निवृत्त होने से हम सब को कल्याण होगा ।

भा० १०।२९।२३ श्लोक में जो कहा गया है—

"अथवा मदभिस्नेहाद्भवत्यो यन्त्रिताशयाः ।
आगता ह्युपपन्नं तत्प्रीयन्ते मयि जन्तवः ॥"

अथवा मेरे प्रति स्नेह परतन्त्रा होकर तुम सब यहाँ आई हो, यह सङ्गत है, कारण सब प्राणी ही मेरे प्रति प्रीति करते रहते हैं । उस का निराकरण हेतु कही है—भा० १०।२९।३३

"कुर्वन्ति हि त्वयिरतिं कुशलाः स्व आत्मन्नित्यप्रियेपतिसुतादिभिरार्त्तिदैः किम् ?
तन्न प्रसीद वरदेश्वर मास्मछिन्द्या आशां धृतांत्वयिचिरादरविन्दनेत्र ॥"

हे आत्मन् ! सारासार विवेक निपुण व्यक्ति गण–स्वाभाविक प्रेमास्पद रूप आप को प्रीति करते रहते हैं, पति पुत्रादि केवल दुःखदायक हैं । उस से क्या होगा ? हे वरद ! हे ईश्वर ! हमारे प्रति प्रसन्न हों, हम सब चिर काल से आशा पोषण करती रहती हैं । उसे छेदन न करें ।

पति पुत्रादि को आर्त्तिद कहा गया है— उस का अर्थ है—जो आर्त्ति खण्डन करता है— वह आर्त्तिद है । जैसे पत्यादि को हेतु करके निज देहादि नित्य प्रिय होने के कारण--जो सब रमणी कुशल युक्ता होती हैं, वे कभी भी क्या तुम्हारे प्रति प्रीति--कान्त भाव करती हैं । कभी नहीं । इस हेतु हमारे प्रति प्रसन्न हो, हमारे प्रति दुराग्रह वर्जन करो । इस श्लोक में श्रीकृष्ण को जो वरदेश्वर कहा गया है- वह तिरस्कार सूचक है । उस का तात्पर्य्य है—तुम स्वीय दुराग्रह त्यागरूप वर प्रदान हम सब को करो, तुम्हारे हृदय में चिर-

स्थितायां तृष्णायां वयमुदासीना एव भवाम इत्यर्थः। ततस्तां छित्त्वा इति, अरविन्दनेत्रेति, एतादृशेऽपि नेत्रे कौटिल्यं न युक्तमिति भावः। मा स्मेत्यस्तेर्मा-योगे लङि रूपम्। आशायाः कर्म्मत्वञ्च गोदोहमस्तीतिवत्। 'श्रवणाद्दर्शनात्' इत्यादि-सूचितं निजभावजन्मापलपन्ति—(भा० १०।२९।३४) 'चित्तम्' इति। नोऽस्माकं चित्तं सुख एव वर्त्तते, न तु भवता तस्मादपहृतम्। यस्माद्गृहेषु निर्विशति। तत्र चिह्नम्–करावपि गृह्यकृत्यार्थं निर्विशत इति। यदुक्तं सुमध्यमा इति, तत्राहुः–पादौ कथं तव पादमूलात् पदमपि न चलतः, अपि तु दूरमेव चलतः। ततः कथं व्रजं न यामः, अपि तु याम एवेत्यर्थः। यत्तूक्तं व्रजं प्रति न यात, किन्त्विहैव स्थीयतामिति, तत्राहुः करवाम किं वेति। अगृहान् प्रतियातेति सतृष्णं यदुक्तम्, तत्राहुः—(भा० १०।२९।३५) "सिञ्च" इति। अङ्ग! हे कामुक! नोऽस्माकं स्वाभाविकात् हासावलोक-

---

काल जो--आशा-तृष्णा है, हम सब उस तृष्णा में व्याप्त होकर नहीं रहेंगी. हम सब वैसा नहीं बनेंगी। इस का तात्पर्य्य यह है-हमारे सङ्ग लाभ हेतु तु हमारे हृदयमें जो तृष्णा है, उस विषय में हम सब उदासीना हैं। सुतरां उस आशा को छेदन करो। अरविन्द नेत्र—कमल नयन सम्बोधन का अभिप्राय यह है--इस प्रकार नयनों में कुटिलता रहना सङ्गत नहीं है। 'मा--स्म स्थल में जो 'स्म' पद है, वह माधातु के योग से असधातु की लङ् विभक्ति का रूप है। यहाँ आशा कर्म्म कारक है। 'गो दोह है। कहने से गोदोह में जिस प्रकार कर्म्मत्व प्रतीत होता है, यहाँ भी उस प्रकार है।

भा० १०।२९।२७ में जो कहा गया है—

"श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्त्तनात्।
न तथा सन्निकर्षण प्रति यात ततो गृहान्॥"

श्रवण, दर्शन, ध्यान, एवं निरन्तर कीर्त्तन से मेरे प्रति जिस प्रकार भावोत्पन्न होता है। मदीय सन्निकर्ष में रहने से उस प्रकार भावोत्पन्न नहीं होता है, अतः तुम सब घर को लौट जाओ। इस श्लोक में श्रीकृष्ण ने व्रजदेवी गण में जो भावात्पत्ति की सूचना की है—भा० १०।२९।३४ श्लोक में उस को अस्वीकार किया गया है।

"चित्तं सुखेन भवता पहृतं गृहेषु यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्य कृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तवपादमूलाद् यामः कथं व्रजमथोकरवाम किं वा॥"

हमारे चित्त एतावत् काल पर्य्यन्त गृह कृत्य में रत था, उस को हरण आपने किया है, जो कर युगल गृह कार्य्य में रत थे, उस को भी हरण आपने किया है, हमारे पदद्वय आपके पद मूल से एक पद भी चलने में समर्थ नहीं हैं, हम सब व्रज को कैसे लौटें? जाकर भी क्या करेंगे?

गोपी वृन्द ने कहा, हमारे चित्त सुख से है, उस को चुराने में तुम सक्षम नहीं हुये हो, कारण, वह गृह समूह में निविष्ट है। उसका चिह्न है—हस्त द्वय भी गृह कर्म्म करने के निमित्त निविष्ट है। श्रीकृष्ण ने जो उन सब को सुमध्यमा कहे हैं—उत्तर में उन्होंने कहा हमारे पद युगल तुम्हारे पाद मूल से क्या एकपद भी नहीं चलेंगे, अनेक दूर में ही तो चल रहे हैं। सुतरां हम सब व्रज को क्यों नहीं जायेंगे। निश्चय ही जायेंगे।

और कृष्ण ने जो कहा है—तुम सब व्रज को न जाओ, यहीं रहो। उत्तर में उन्होने कहा--यहाँ रह कर क्या करेंगे! प्रति यात ततो गृहान्--ततः अगृहान् प्रति यात—इस प्रकार अन्वय करके अगृह के प्रति

सहितात् कलगीताज्जातो यस्तव हृच्छयाग्निस्तं त्वदधरामृतपूरकेणैव सिञ्च,–अस्मदीयस्य तस्य कथञ्चिदप्राप्यत्वादिति। अन्योऽपि रसलुब्धो लोभ्यवस्तुनोऽप्राप्तौ निजौष्ठमेव लेढ़ीति नर्म्म च व्यञ्जितम्। तत्र हेतुमाहुः–'नो इति, (भा० १०।४।१०) "धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्द्ध्नि" इत्यादिवदत्र चेच्छब्दोऽपि निश्चये। ततश्च यस्मान्निश्चितमेव वयं ते तव विरहजाग्न्युपयुक्तदेहा नो भवामः, ततो ध्याने विषयेऽपि तव पदयोः पदवीमपि न यामः, न स्पृशामः। 'सखे' इति सम्बोध्य प्राचीनमिथोबाल्यक्रीड़ागतसौहृद्य-प्रकटनेन निजवचस आर्जवं प्रकटितवत्यः। ननु सख्येन बाल्यक्रीड़ायामपि स्पर्शादिकं जातमेवास्ति, तर्हि कथमहो इदानीमुदासीनाः स्थ? तत्राहुः–(भा० १०।२९।३६) 'यर्हि" इति। हे अम्बुजाक्ष! अरण्यजनाः पशुपक्ष्यादयस्तेषां प्रियस्य बाल्यभावेन तैरेव कृतमैत्रस्य तव यर्हि यदा क्वचिदपि रमाया रमण्या दत्तावसरं पादतलं जातम्,–तदनुगतावुन्मुखं सम्भूवेत्यर्थः, तत्प्रभृत्येव वयं तदपि नास्प्राक्ष्म, न स्पृष्टवत्यः, किमुतान्यदङ्गम्। तदेवं निजदार्ढ्येनैव पूर्वं त्वयाभिरमिताः

---

गमन करो—इस प्रकार जो कहा गया है—उत्तर में कहा— भा० १०।२९।३५ "सिञ्चाङ्ग नस्तव धरामृतम्' हे अङ्ग! हे कामुक! हमारे स्वाभाविक हास्य अवलोकन के सहित जो फल - मधुर सङ्गीत है, उस से उत्पन्न तुम्हारे जो हृदयानल – का अनल है, उस से तुम्हारे अधरामृतपूर को सेचन करो।

हमारे किञ्चिन्मात्र अधरामृत लाभ करना तुम्हारे पक्ष में सम्भव नहीं है। अन्य रस लुब्ध व्यक्ति भी लोभ्य वस्तु लाभ न करने से निज ओष्ठ लेहन करता है। तुम भी उसी प्रकार करो। हमारे अधरामृत लाभ न करने के पक्ष में हेतु यह है –'नोचेत्' इत्यादि। तुम यदि रक्षक हो, तो 'विघ्न के मस्तक में पद धारण करता है' इस वाक्य में 'यदि' शब्द जिस प्रकार निश्चयार्थ सूचक है, उसी प्रकार यहाँ चेत्' यदि शब्द निश्चयार्थ को सूचित करता है। भा० ११।४।१० में उक्त है—

"धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्न मूर्द्धिन ॥

उस से अर्थ होता है—हम सब जब तुम्हारे विरहानल से निश्चय ही दग्ध शरीरा नहीं हैं, तब ध्यान विषय में भी तुम्हारे चरण युगल के समीप में नहीं जायेंगे। स्पर्श नहीं करेंगे। अनन्तर उन्होंने सखे सम्बोधन कर के परस्पर बाल्य क्रीड़ा गत पूर्व सौहृद्य प्रकटन पूर्वक निज वाक्य की सरलता को प्रकट किया है। इस में यदि श्रीकृष्ण कहें कि—सख्य भाव से बाल्य क्रीड़ा करने के समय तुम सब के सहित मेरे स्पर्शादि हुये थे, तब क्यों तुम सब इस समय उदासीन हो रही हो? उत्तरमें उन्होंने कहा--भा० १०.२९।३६

"यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया दत्तक्षणं क्वचिदरण्य जन प्रियस्य
अस्प्राक्ष्य तत् प्रभृति नान्य समक्षमङ्ग स्थातुं त्वयाभिरमिता वत पारयाम ॥"

हे कमल नयन! आप के चरण तल किसी समय व्रज रमा श्रीराधा को आनन्द प्रदान किया है, उस चरण तल स्पर्श से जब आनन्द लाभ हुआ है, तब अपर के समक्ष में क्या हम सब जा सकती हैं? अन्यत्र जाने में हम सब असमर्थ हैं।

अर्थ यह है—हे अम्बुजाक्ष! हे कमल नयन! अरण्य जन पशु पक्षी प्रभृति, उनके प्रिय--बाल्य भाव से जो तुम उन सब के सहित मित्रता किये थे, वही तुम्हारे – जब किसी समय किसी रूप में रमाका-रमणी प्रदत्त अवसर पाद तल को प्राप्त हुआ, उसकी अनुगति से उन्मुख हुआ, अर्थात् जिस समय से किसी रमणी

कारित-बाल्यक्रीड़ा अपि वयमधुनाऽञ्जोऽनायासेन अन्येषां गुरुजनादीनां समक्षं स्थातुं पारयामः। वतेति शङ्कायाम्। अन्यथा तैरपि त्यज्येमहीति भावः। अथ "प्रीयन्ते मयि जन्तवः" इत्यत्र कामिन्यो यूयं कान्तभावात्मकमेव स्नेहं कर्त्तुमर्हथेति यदभिप्रेतम्, तत्र लक्ष्म्यादिरूपमुदाहरणमाशङ्क्य परिहरन्ति,–(भा० १०।२९।३७) "श्रीः" इति, श्रीरपि वक्षसि तथाप्रसिद्धेः श्रीविष्णोरुरसि पदं लब्ध्वापि यस्य तव श्रीगोकुलवृन्दावनस्थितं पदाम्बुज-रजस्तुलस्या वृन्दया सह चकमे। त्वज्जन्मत आरभ्य नन्दस्य व्रजो रमाक्रीड़ो बभूवेति तुलसीलक्षणरूपान्तरा वृन्दादेवी वृन्दावने नित्यवासमकरोदिति च मुनिजन-प्रसिद्धेः। कथम्भूतमपि रजश्चकमे? भृत्यैर्व्रजसम्बन्धिभिर्जुष्टं शिरोधारणादिनोपभुक्तमपि। सा तु कीदृङ्महिमापि? यस्याः स्वविषयक-कृपावीक्षणे उत अपि, अन्यसुराणां तत्पार्षदादीनामपि

---

उस के अनुसरण करने के निमित्त तुम्हारे जो पद तल को अवसर प्रदान किया है, उस पद तल का स्पर्श भी हम सब नहीं करती हैं। अन्य अङ्ग की कथा तो दूर है। इस प्रकार दृढ़ता के द्वारा ही पहले तुम्हारे द्वारा अभिरमिता– तुम हम सब को बाल्य क्रीड़ा कराने पर भी अधुना हम सब अनायास अन्य गुरुजनादि के समक्ष में रहने में समर्था हैं, श्लोक में उक्त 'वत' शब्द--शङ्कार्थ में प्रयुक्त हुआ है। उस से अर्थ होता है— ऐसा न होने से हम सब का त्याग करते।

"प्रीयन्ते मयि जन्तवः" सकल प्राणी ही मुझ को प्रीति करते हैं। इस से कामिनी तुम सब हों तुम्हारे पक्ष में मेरे प्रति कान्त भावोचित स्नेह करना ही समीचीन है। श्रीकृष्ण इस प्रकार अभिप्राय प्रकाश किये हैं। उस में लक्ष्मी प्रभृति का दृष्टान्त अर्थात् लक्ष्मी प्रभृति जिस प्रकार स्नेह करती हैं, इस प्रकार दृष्टान्त यदि उपस्थित करें तो आशङ्का से कहती हैं –(भा० १०।२९।३७)

"श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्याः स्ववीक्षण उतान्य सुरप्रयास स्तद्वद्वयञ्च तव पादरजः प्रपन्नाः॥"

जिनकी कृपा दृष्टि लाभ हेतु ब्रह्मादि देवगण प्रयत्न शील है। वह लक्ष्मी वक्षः स्थल में स्थान लाभ करके भी तुलसी के सहित आप की जिस चरण रजः की कामना करती हैं, भृत्य गण--भक्त गण जिस चरण की सेवा करते हैं, हम सब लक्ष्मी के समान ही उस चरण रेणु की शरणापन्न हैं।

लक्ष्मी—श्रीविष्णु के वक्षः स्थल में स्थान प्राप्त कर भी तुम्हारे गोकुल वृन्दावन स्थित चरण कमल रजः तुलसी–वृन्दा के सहित कामना करती हैं, वह तुम्हारे जन्म समय से आरम्भ कर नन्द व्रज रमा का क्रीड़ास्पद हुआ था, एवं तुलसी लक्षणा अन्यरूपा वृन्दादेवी वृन्दावन में नित्यवास किया है। मुनि जन प्रसिद्ध इस प्रकार विवरण से बोध होता है। किस प्रकार रजः की कामना की है? भृत्य—व्रज सम्बन्धि भृत्य गण कर्तृक जुष्ट, वे मस्तक प्रभृति में धारण प्रभृति के द्वारा जो रजः उपभोग किये हैं। लक्ष्मी,--- तुलसी के सहित उस रजः की कामना किये हैं। वह लक्ष्मी किस प्रकार महिमा शालिनी हैं? निज विषय में जिन की कृपा दृष्टि लाभ हेतु अन्य देवता भगवत् पार्षद प्रभृति का भी प्रयास है, लक्ष्मी--उस प्रकार प्रभाव शालिनी हैं, अर्थात् निज कल्याण हेतु भगवत् पार्षदादि भी जिस लक्ष्मी की कृपा दृष्टि प्राप्त करने के निमित्त यत्न करते हैं। वह लक्ष्मी – श्रीकृष्ण की चरण रजः की कामना करती हैं।

'वयञ्च' पदस्थित चकार--काकु सूचक है, अपि शब्द 'वत' अर्थ का प्रकाश करता है। उस से अर्थ होता है-जिस प्रकार लक्ष्मी, जिस प्रकार वृन्दा, उस प्रकार हम सब क्या मुग्धा होकर तुम्हारी पद रजः की

प्रयासस्तादृशमहिमापि। वयञ्चेति च-शब्दः काकुसूचकस्यापि-शब्दस्य समानार्थः। ततो यथा श्रीर्यथा च वृन्दा, तद्वद्वयमपि मुग्धाः सत्यस्तस्य तव पादरजःप्रपन्नाः, अपि तु नैवेत्यर्थः। प्राक्तनं वाक्यं निगमयन्ति–(भा० १०।२९।३८) "तन्नः" इति। वृजिनार्द्दनेति कर्म्मण्यन्, हे सर्व्व दुःखनिवारक! ततस्तस्मान्नोऽस्मान् प्रति प्रसीद, इमां दुर्द्दृष्टिं त्यजेत्यर्थः। ननु यूयमपि गृहादित्यागेनात्रागत्य तद्वदेव मत्पादरजःप्रपन्नाः, ? तत्राहुः–न, तेऽङ्घ्रिमूलमिति। तद्वद्वसतीर्विसृज्य त्वदुपासनाशाः सत्यस्तवाङ्घ्रिमूलं न प्राप्ताः, अपि तु कौतुकेनैव ज्योत्स्न्यां वृन्दावनदर्शनार्थमागता इत्यर्थः। अतस्त्वदीय-तादृश-निरीक्षणजात-तीव्रकामेन तप्तात्मानो यास्तासामेव दास्यं देहि, न तु मादृशीनाम्। अत्र षष्ठी तात्यन्तदानाभावे सम्प्रदानत्वं न भवतीति विवक्षया। अतस्तदपि दानं गोकुलेऽस्मिन्नातिस्थिरीभविष्यतीति भावः। पुरुष-भूषणेति सम्बोधनञ्च श्लिष्टम्,–पुरुषान् गोकुलगतान् सखिजनानेव भूषयति, न त्वद्यापि गोकुल-रमणीं काञ्चिदपि। अतस्तादृश-तप्तात्मानोऽपि नायिकाः कल्पनामात्रमय्य इति भावः। अत भावान्तरेणागतिसूचनात् (भा० १०।२९।२१) "दृष्टं वनं कुसुमितम्" इत्यनेन तद्भावोद्दीपन-

---

शरणापन्ना हैं, कभी भी नहीं।

पूर्व वाक्य को उत्तम रूप से बोध कराने के निमित्त कहते हैं—भा० १०।२९।३८

"तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः।
त्वत् सुन्दर स्मित निरीक्षण तीव्रकाम तप्तात्मनां पुरुष भूषण देहि दास्यम्॥"

हे दुःख नाशन! हमारे प्रति प्रसन्न हो, आप की उपासना हेतु गृह परित्याग पूर्वक आप के पादमूल में हम सब उपस्थित हैं। आप के सुन्दर हास्य को निरीक्षण कर हम सब तीव्र काम सन्तप्ता हैं। हे पुरुष भूषण! हम सब को दास्य दान करें।

"तन्नः प्रसीद" वाक्यस्थ 'वृजिनार्दन' पदमें कर्म्म वाच्य में अन् प्रत्यय हुआ है, हे सर्व दुःख निवारक हम सब जब तुम्हारी पदरजः की कामना नहीं करते हैं, तब हमारे प्रति प्रसन्न हो जाओ, अन्य दृष्टि को परित्याग करो।

यदि कृष्ण कहें—कि—तुम सब गृहादि त्याग कर यहाँ आकर लक्ष्म्यादि के समान मेरी पादरजः की शरणापन्न हो गई हो,उस आशङ्का से कहती हैं—'नतेऽङ्घ्रि मूलम्' हम सब उस प्रकार गृह त्यागकर तुम्हारी उपासना की आशा से तुम्हारे पाद मूल में उपस्थित नहीं हुई हैं, हम सब कौतुक की वशवर्त्तिनी होकर ज्योत्स्नामयी रजनी में वृन्दावन की शोभा दर्शन हेतु आई हैं। इस हेतु तुम्हारी दृष्टि से उत्पन्न काम से जो सन्ताप है, उस को तुम दास्य दान करो, हम सब के समान जो है, उसको नहीं। यहाँ श्लोक में "तप्तात्मनां" जो षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है, उस से अत्यन्त दानाभाव से सम्प्रदानत्व नहीं होगा, उक्त अभिप्राय को प्रकाश करने के निमित्त ही उस प्रकार प्रयोग हुआ है। इस का तात्पर्य्य यह है कि—इस गोकुल में वह दान अत्यन्त स्थायी नहीं होगा। उक्त श्लोकस्थ पुरुष भूषण—पदश्लिष्ट है। पुरुष—गोकुल गत सखागण को ही भूषित करो, आज पर्य्यन्त किसी गोकुल रमणी को भूषित करने में समर्थ नहीं हुये हो, इस हेतु तुम्हारी दृष्टि जात काम सन्तप्त रमणी का कथा जो हमने कही है—वास्तविक उस प्रकार कोई रमणी नहीं है, वह कल्पना मात्र है। इस श्लोक में अन्य भाव से—ज्योत्स्नामयी रजनी में वृन्दावन शोभा

मपि नाहतम् । अथ (भा० १०।२९।२७) "श्रवणात्' इत्यादौ, 'दर्शनान्मयि भावः' इत्यनेन यन्निजसौन्दर्य्यबलं दर्शितम्, तत्राहुः—(भा० १०।२९।३९) "वीक्ष्य" इति । अत्राप्यन्त्यश्च-शब्दः काक्वाम्, पूर्वस्तु तत्तदुक्तसमुच्चये । एतदपि एतच्चापि विलोक्य दास्यो भवाम, अपि तु न सर्व्वथैवेत्यर्थः । ननु यद्येवं दृढ़व्रता भवथ, तर्हि कथमिहैव सर्व्वां रात्रिं न तिष्ठथेत्याशङ्क्य पुनः सशङ्कमाहुः—(भा० १०।२९।४०) "का स्त्र्यङ्ग ते" इति । यद्यप्येवम्, तथाप्यङ्ग ! हे कलपदायतवेणुगीत ! हे सम्मोहित ! सम्मोहनाख्य-कामवाणमोहित ! त्रिलोक्यामेषा का स्त्री, या ते त्वत्तः सकाशादार्य्यचरितात् सदाचाराद्धेतोरपि न चलेत् ?—अस्त्वस्माकं परम-साधु-मर्य्यादाव्रतानां दूरतो वार्त्ता । तदेव ततश्चलने हेतुं सम्बोधनद्वयेन गुणगतं भावगतं च तदीयं दोषमुक्त्वा रूपगतञ्चाहुः— त्रैलोक्येति । तथार्य्यचरितादेव हेतोरिदञ्च रूपं विलोक्य का न चलेत् ? यद्यस्माद्गोद्विजेति । सुन्दरीणां सुन्दरपरपुरुषनिकटस्थितौ तर्हि वाढ़ं लोकविगानाय स्यादिति । "रजन्येषा" इत्यादाविह वीरस्य मम सन्निधौ स्थेयमित्यत्र बलात्कारमप्याशङ्क्य

---

दर्शनार्थ आगमन सूचना करके भा० १०।२९।२१ के "दृष्टं वनं कुसुमितम्" वाक्य से सूचित श्रीकृष्ण के भावोद्दीपन का भी आदर उन्होंने नहीं किया है ।

अनन्तर भा० १०।२९।२७ "श्रवणात् दर्शनात् ध्यानात्" श्लोक में कहा गया है—'मेरा दर्शन से भावोत्पन्न होता है' कह कर श्रीकृष्ण जो निज सौन्दर्य्य बल प्रदर्शन किये हैं—उस के उत्तर में कहती हैं—(भा० १०।२९।३९)" वीक्ष्यालकावृत मुखं तव कुण्डल श्रीगण्डस्थलाधर सुधं हसितावलोकम् ।
दत्ताभयञ्च भुजदण्डयुगं विलोक्य वक्षः श्रियैकरमणञ्च भवाम दास्यः ।।"

तुम्हारे अलका वृत मुख, कुण्डल शोभा से शोभित गण्डस्थल सुधामय अधर, सहास दृष्टि, अभयप्रद कर युगल, लक्ष्मी का एकमात्र रति जनक वक्षः स्थल का दर्शन कर हम सब आप की दासी हो गई हैं । इस श्लोक में जो दो 'च' शब्द का प्रयोग हुआ है—"दत्ताभयं×च, रमणं ×च । इस के मध्य में अन्तिम 'च' काकु अर्थात् निषेध व्यञ्जक है । पूर्व का 'च' श्रीकृष्ण के मुखादि का जो वर्णन हुआ है, उस के समुच्चयार्थ में प्रयुक्त हुआ है । उस का तात्पर्य्य है—तुम्हारे अलकावृत मुख, कुण्डल शोभित गण्ड सुधामय अधर, सहासावलोकन, अभयप्रद भुज दण्ड युगल—इस के मध्य में केवल एक को देख कर दासी होने की बात तो दूर है—सब को देख कर भी क्या हम सब दासी बनेंगी ? कभी भी नहीं ।

अनन्तर कृष्ण यदि कहें—कि तुम सब यदि इस प्रकार ही दृढ़व्रता हो, तो समस्त रजनी यहाँ क्यों नहीं रहेंगी ? इस आशङ्का से कहती हैं—भा० १०।२९।४० "का स्त्र्यङ्गते" इस का अर्थ यह है—हे अङ्ग ! हे कलपदायत वेणुगीत ! हे सम्मोहित—हे सम्मोहन नामक कामवाण मोहित ! परम साधु व्रज धारिणी हम सब की कथा तो दूर है, त्रिजगत् के मध्य में ऐसी कौन नारी हैं, जो तुम्हारे निकट से आर्य्य चरित हेतु विचलिता नहीं होती हैं ? अर्थात् तुम्हारे तुल्य कामुक के निकट रहने से सदाचार-पवित्रता चली जायेगी यह सोचकर त्रिलोक की समस्त रमणी हीं अस्थिर होती हैं । हम सब के समान साधुशीला रमणी की कथा तो दूर है । इस रीति से आर्य्य चरित से विचलन के हेतुभूत तदीय गुणगत एवं भावगत दोषद्वय का उल्लेख-सम्बोधन में किया गया है । अर्थात् तुम्हारे गुण एवं भाव-जिस प्रकार नारीवृन्द के सदाचार भ्रंशन के प्रति हेतु है, तुम्हारा रूप भी उस प्रकार नारी वृन्द के सदाचार ध्वंस का कारण है ।

सस्तुतिकमिव प्रार्थयन्ते–(भा० १०।२९।४१) 'व्यक्तं भवान्" इति। यस्मादीदृशो जातस्तस्मात् हे आर्त्तबन्धो ! धर्म्मच्युतिभयतोऽपि व्रजजनांस्त्रायमाण ! किङ्करीणां गृहदासीनामपि भवद्-दर्शनजातकामतप्तेष्वपि स्तनेषु करपङ्कजं नो निधेहि, नार्पय, अस्तु तावत् स्तनानां वार्त्ता, तासां शिरःसु च मा निधेहि। तदेवं सति मादृशीनान्तु सत्कुलजातानां परमसतीनां तत्तद्वार्त्तां मनसापि न निधेहीति भावः। तदेवं श्रीकृष्णप्रार्थनाप्रत्याख्यानरूपोऽर्थो व्याख्यातः। स्वयं दूत्यविशेषेण प्रार्थनारूपो व्यङ्गोऽर्थश्च प्रायः प्रसिद्ध एव। तत्र धर्म्मशास्त्रोपदेशबलेन यत् पत्यादीनामनुवृत्तेर्नित्यत्वं श्रीभगवता स्थापितम्, ज्ञानशास्त्रमालम्ब्य तन्निराकर्त्तुं प्रतिभा-वचनेनैव तस्य परमात्मत्वं कल्पयन्त्यः सर्वोपदेशानां तदनुगतावेव तात्पर्य्यं स्थापयन्ति–(भा० १०।२९।३२) "यत् पत्यपत्य-" इति। एतत् स्वधर्मोपदेशवाक्यं सर्वोपदेशवाक्यानां तात्-पर्य्यास्पदे त्वय्येवास्तु, त्वद्भजन एव पर्य्यवस्यत्वित्यर्थः। कथमहं तदास्पदम् ? तत्राहुः–

---

तुम्हारे जिस रूप को देखकर गो, पक्षी, एवं वृक्ष भी पुलकित होते हैं, उस रूप को देखकर आर्य्य चरित हेतु—सदाचार विनष्ट होगा--इस शङ्का से कौन रमणी विचलित नहीं होती हैं ? अर्थात् सब भी विचलित होती हैं, कारण, सुन्दरी वृन्द का सुन्दर पुरुष के निकट अवस्थान– अत्यन्त लोक निन्दा का विषय होता है। "रजन्येषा" श्लोक में श्रीकृष्ण जो कहे हैं-'यहाँ वीर मेरे निकट रहना ही उचित है। इस में बलात्कार की आशङ्का करके जैसे स्तुति के सहित उन्होंने कही है– भा० १०।२९।४१

"व्यक्तं भवान् व्रजभयार्त्तिहरोऽभिजातो
देवो यथादि पुरुषः सुर लोक गोप्ता।
तन्नो निधेहि कर पङ्कज मात्मबन्धो
तप्तस्तनेषु च शिरःसु च किङ्करीणाम् ॥"

देव—नारायण—जिस प्रकार देवगण की रक्षा हेतु अदिति से जन्म ग्रहण किये थे। आप भी उस प्रकार व्रज भयार्त्तिहारी होकर जन्म ग्रहण किये हैं। तज्जन्य हे आर्त्तबन्धो ! किङ्करी वृन्द के तप्त स्तन में एवं मस्तक में आप के कर कमल अर्पण करें। जब आप व्रज जन के भयहारी होकर जन्म ग्रहण किये हैं, तब हे आर्त्तबन्धो ! धर्मच्युति भय से भी व्रजजन गण का त्राणकारी आप हैं। किङ्करी– गृह दासी आप के दर्शन हेतु कामतप्त स्तन के उपर निज कर कमल अर्पण न करें। वैसा करने से व्रजजन की धर्म्म-च्युति होगी। स्तन में हस्तार्पण की कथा तो दूर है। मस्तक में भी हस्तार्पण न करें। इस प्रकार व्यवहार ही जब आप के पक्ष में सङ्गत है, तब हम सब के समान सत् कुलोत्पन्न परम सती गण के सम्बन्ध में उस प्रकार व्यवहार मन में स्थान न दें। यही उन सब की कथा का तात्पर्य्य है।

उक्त रीति श्रीकृष्ण की प्रार्थना का प्रत्याख्यान रूप अर्थ का प्रदर्शन हुआ। श्रीव्रजदेवी वृन्दने उनकी प्रार्थना के प्रति आदर प्रकाश कर विशेष रूप से प्रार्थना रूप जो अर्थ व्यञ्जित किया है, वह प्रसिद्ध है।

श्रीकृष्ण ने जो धर्मशास्त्रोपदेश के द्वारा पत्यादि की अनुवृत्ति का नित्यत्व स्थापन किया है, व्रज देवी वृन्दने ज्ञान शास्त्रावलम्बन से उस का निरसन करने के निमित्त सुप्रतिभ वाक्य के द्वारा उन में परमात्मत्व कल्पना करके समस्त उपदेश का तात्पर्य्य श्रीकृष्णानु गति में स्थापन--(भा० १०।२९।३२) "यत् पत्यपत्य"इत्यादि श्लोकों में किया है।

तुम्हारे जो धर्म्मोपदेश वाक्य है, वह सर्वोपदेश वाक्य समूह के तात्पर्य्य विषयीभूत तुम्हारे प्रति

त्वमात्मा परमात्मेति, ततः (वृ० ४।४।२२) "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति" इत्यादि-शास्त्रबलेन त्वमेव तदास्पदमित्यर्थः। अथ मम परमात्मत्वमपि कुतः? तत्र सप्रतिभमाहुः—किल प्रसिद्धौ, तनुभृतां प्रेष्ठो निरुपाधिप्रेमास्पदम्, बन्धुर्निरुपाधिहितकारी च भवानिति। तच्च द्वयं परमात्मलक्षणत्वेन (वृ० २।४।५) "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इत्यादि-ज्ञानशास्त्रे प्रसिद्धम्। तस्मात् त्वमेव परमात्मेति सिद्धम्। तस्मात्त्वदुपासनोन्मुखानामस्माकं (मु० १।२।१२) "ब्राह्मणो निर्वेदमायात्, नास्त्यकृतः कृतेन" इति बलवत्तरज्ञानशास्त्रोपदेशेन स्वधर्म्मपरित्यागेऽपि न दोष इति भावः। तासां तदैश्वर्य्यज्ञानञ्च तन्माधुर्य्यानुभवातिशयेनोदेतुं न शक्नोतीति पूर्व्वमेव दर्शितम्। तत्र च विशेषतः सदाचारं प्रमाणयन्ति, (भा० १०।२९।३३) "कुर्व्वन्ति हि" इति, कुशलाः सारासारविद्वांसः सन्तः, हि प्रसिद्धौ, विशेषत इत्यर्थः। स्व आत्मनि परमात्मनीति पूर्व्वाभिप्रायेण। स्वे आत्मन्यन्तःकरणे नित्यप्रियत्वेनानुभूयमानो यस्त्वं तस्मिंस्त्वयीत्यर्थः, इत्यभिप्रायेण वा। यस्मात्ते चैवम्भूते त्वय्येव रतिं कुर्व्वन्ति,

---

प्रयोज्य हो, अर्थात् तुम्हारा भजन में ही पर्य्यवसित हो।

यदि श्रीकृष्ण कहें—कि—मैं उस प्रकार कैसे बना? उत्तर में उन्होंने कहा—तुम आत्मा—परमात्मा हो। वृहदारण्यक (४।४।३२) "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति" 'ब्रह्मचारिगण उनको वेदाध्ययन के द्वारा अवगत होते हैं। इस श्रुति प्रमाण के अनुसार तुम्हारे में निखिल शास्त्र का तात्पर्य्य पर्य्यवसित है। श्रीकृष्ण यदि कहें कि—मेरा परमात्मत्व कैसे है? सप्रतिभ रूप से उसके उत्तर में उन्होंने कहा—वह प्रसिद्ध है। तुम देहधारि वृन्द का निरुपाधि प्रेमास्पद एवं बन्धु—निरुपाधि हितकारी हो, तुम्हारा प्रेष्ठत्व, बन्धुत्व, परमात्मत्व निबन्धन वृहदारण्यक—"आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" आत्मा का प्रीति साधन निबन्धन सभी प्रिय होते हैं। ज्ञान शास्त्र में यह प्रसिद्ध है। सुतरां तुम जो परमात्मा हो, यह स्थिर हुआ। मुण्डक १।२।१२ में उक्त है—

'ब्राह्मणो निर्वेदमायात्, नास्त्यकृतः कृतेन" 'ब्राह्मण गण-वैराग्यावलम्बन करें, नित्य वस्तु अर्थात् भगवल्लोक लाभ कर्म्म के द्वारा नहीं हो सकता है। यह बलवत्तर ज्ञान शास्त्रोपदेश के बल से स्वधर्म त्याग,—दोषा वह नहीं है।

व्रजदेवीगण में श्रीकृष्ण का माधुर्य्य ज्ञान-प्रचुर विद्यमान होने के कारण—उनके निकट तदीय ऐश्वर्य्य ज्ञान उपस्थित नहीं हो सकता है, इस का वर्णन पूर्व ग्रन्थ में हुआ है। स्वधर्म त्याग के द्वारा श्रीकृष्ण भजन में सदाचार प्रमाण उपस्थापित करती हैं। भा० १०।२९।३३ 'कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं" कुशल—सारासार विवेकज्ञ साधुगण तुम्हारे प्रति विशेष रूप से प्रीति करते हैं। कीदृश तुम्हारे में रति कहते हैं,—स्व—आत्मा में—परमात्मा में, अर्थात् परमात्म ज्ञान से तुम्हारे प्रति साधुगण प्रीति करते हैं। अथवा—स्वीय आत्मा में अन्तःकरण में नित्यप्रिय रूप में जो तुम अनुभूत होते रहते हो उस प्रकार तुम्हारे में प्रीति करते हैं। इस अभिप्राय से भी उस प्रकार कह सकते हैं। जिस हेतु तुम्हारे में वे रति करते हैं—धर्म्मादि वा धर्म्मादि साधन गृहादि में प्रीति नहीं करते हैं, उस हेतु हम सब को पत्यादि का क्या प्रयोजन है? अर्थात् परमात्मा का नित्यप्रिय होने के कारण साधु गण श्रीकृष्ण प्रीति करते हैं। कृष्णभिन्न अपर वस्तु में परमात्मत्व वा नित्य प्रियत्व न होने के कारण उन सब में वे प्रीति नहीं करते हैं। जिस हेतु

न तु धर्म्मादौ, तद्धेतौ गृहादौ वा, तस्मादस्माकं पत्यादिभिः किम् ? (भा० १०।२९।३६) "यर्ह्यम्बुजाक्ष" इत्यादिषु रमादि-शब्दाः श्रीर्यत्पदाम्बुजेत्यादिवदेव व्याख्येयाः । इति वाचिकानुभावेषु संलापव्याख्या ।। श्रीशुकः ।।

३३३-३३४। (उ० नी०, अनुभाव-प्र० ६७) "सन्देशस्तु प्रोषितस्य स्ववार्त्ताप्रेषणं भवेत्' स यथा (भा० १०।४७।५२)—

(३३३) "हे कृष्ण हे रमानाथ व्रजनाथार्त्तिनाशन।
मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवे ।।"६१४।।

(उ० नी०, अनुभाव-प्र० ६१) "अन्यार्थकथनं यत्तु सोऽपदेश इतीर्य्यते", स यथा (भा० १०।४७।७-८) —

(३३४) "निःस्वं त्यजन्ति गणिकाः" इत्यादि, "जारा भुक्त्वा रतां स्त्रियम्" इत्यन्तम्। स्पष्टम् ।। श्रीगोप्य उद्धवम् ।।

३३५। (उ० नी०, अनुभाव-प्र० ६६) "यत्तु शिक्षार्थवचनमुपदेशः स उच्यते" स यथा श्रीबलदेवागमने (भा० १०।६५।१४)—

---

साधु गण श्रीकृष्ण में प्रीति करते हैं, व्रजदेवी गण भी उसी कारण से उनमें रति करते हैं जिस कारण से साधुगण को रति कृष्णेतर वस्तु में नहीं है, उसी कारण से उनकी प्रीति पत्यादि में नहीं है उन्होंने इस प्रकार अभिप्राय प्रकट किया है।

भा० १०।२९।३६ में उक्त "यर्ह्यम्बुजाक्ष !' में जो रमादि शब्द का प्रयोग है, उसकी व्याख्या-- "श्रीर्यत्पदाम्बुज" श्लोक के समान करनी चाहिये। वाचिक अनुभाव समूह के मध्य में संलाप की व्याख्या हुई। प्रवक्ता श्रीशुक हैं—३३२।।

३३३—३३४। उज्ज्वलनीलमणि के अनुभाव प्रकरण में उक्त है--

"सन्देशस्तु प्रोषितस्य स्ववार्त्ता प्रेषणं भवेत् "

विदेशगत व्यक्ति को निज वार्त्ता प्रेरण को सन्देश कहते हैं। भा० १०।४७।४२ में व्रजदेवी वृन्दने कहा है—

(३३३) "हे कृष्ण हे रमानाथ व्रजनाथार्त्तिनाशन।
मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवे ।।"६१४।।

हे कृष्ण ! हे व्रजनाथ ! हे रमानाथ ! हे आर्त्ति नाशन ! हे गोविन्द ! दुःख समुद्र में निमग्न गोकुल का उद्धार करो। "अन्यार्थ कथनं यत्तु सोऽपदेश इतीर्य्यते" भा० १०।४७।७-८ में उक्त है—

(३३४) "निःस्वं त्यजन्ति गणिकाः, "जारा भुक्त्वा रतां स्त्रियम्"

अन्यरूप कथन के द्वारा वक्तव्य विषय वर्णन को उपदेश कहते हैं। श्रीव्रजदेवी गण—श्रीकृष्ण की प्रीति के प्रति रोषारोप करके कही थीं—गणिका—निर्धन पुरुष को छोड़देती है, उपपति गण—उपभोग के पश्चात् अनुरक्त स्त्री को परित्याग करते हैं। गोपीगण--उद्धव को बोली थीं--३३४।।

३३५। "यत्तु शिक्षार्थवचनमुपदेशः स उच्यते" शिक्षार्थक वाक्य को उपदेश कहते हैं। श्रीबलदेव आगमन प्रसङ्ग भा० १०।६५।११ में उक्त है---द्वारका से श्रीबलदेव का व्रज में आगमन होने पर श्रीकृष्ण

(३३५) "किं नस्तत्कथया गोप्यः कथाः कथयतापराः।
यात्यस्माभिर्विना कालो यदि तस्य तथैव नः॥"६१५॥

स्पष्टम् ॥ ताः ॥

३३६। (उ० नी, अनुभाव-प्र० १०७) "व्याजेनात्माभिलाषोक्ति-र्व्यपदेश इतीर्य्यते" स यथा (भा० १०।२१।१२)—

(३३६) "कृष्णं निरीक्ष्य" इत्यादौ "देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसाराः" इत्यादि।

स्पष्टम् ॥ ताः ॥

३३७। एवं प्रलापानुलापापलापातिदेशनिर्देशा अपि पञ्च वाचिकेषु ज्ञेयाः। इत्यनुभावाः। अथ व्यभिचारिणः। तत्र निर्वेदः स्वावमाने स्यात्, (भा० १०।४७।१५)—

(३३७) "चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं काः" इति।

स्पष्टम् ॥ ताः ॥

३३८। अनुतापो विषादकः,–(भा० १०।२१।७) "अक्षण्वतां फलमिदम्" इत्यादौ दृश्यः। दैन्यमौजित्यराहित्ये, (भा० १०।२९।३८)—

---

के सम्बन्ध में आक्षेप कर एक गोपीने कहा—

(३३५) "किं नस्तत्कथया गोप्यः कथाः कथयतापराः।
यात्यस्माभिर्विना कालो यदि तस्य तथैव नः॥"६१५॥

हे गोपीगण! कृष्ण की कथा से हम सब को क्या होगा? अधुना अन्य कथा कहना ही ठीक है, हम सब को छोड़कर यदि वह कालातिपात कर सकता है तो हम सब भी उस को छोड़कर काल यापन कर सकती हैं।

गोपी गण बोली थीं ॥३३५॥

३३६। 'व्याजेनात्माभिलाषोक्तिर्व्यपदेश इतीर्य्यते" छल से निज अभिलाष प्रकाश करने का नाम व्यपदेश है। भा० १०।२१।२२ में उक्त है—

(३३६) "कृष्णं निरीक्ष्य" "देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसाराः"

पूर्वानुराग में वेणुगीत वर्णन में व्रजदेवी गण बोलीं थीं— कृष्ण का दर्शन कर—रथारोहण से गमन कारिणी देवी गण मोहित हुई थीं' यहाँ निज तादृश मोह वर्णन ही अभिप्रेत है।

व्रजदेवी गण बोली थीं—३३६॥

३३७। इस प्रकार प्रलाप, अनुलाप, अपलाप, अतिदेश एवं निर्देश भेद से और भी पञ्चविध वाचिक अनुभाव हैं। एतत् पर्य्यन्त अनुभाव का वर्णन हुआ। अनन्तर व्यभिचारिभाव समूह का वर्णन करते हैं। उसके मध्यमें 'निर्वेदः स्वावमाने स्यात्" निज अपमान से निर्वेद उदित होता है। भा० १०।४७।१५ में उक्त है—

(३३७) "चरण रज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं काः॥"

व्रजदेवी गण—आक्षेप कर उद्धव को बोली थीं, लक्ष्मी जो श्री कृष्ण की चरण रेणु की उपासना करती हैं, उस के निकट हम सब कौन हैं?

व्रजाङ्गना गण बोली थीं ॥३३७॥

३३८। 'अनुतापो विषादकः' भा० १०।२१।७ में उक्त है—"अक्षण्वतां फलमिदम्" अनुताप का

(३३८) "तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन" इत्यादि ।

स्पष्टम् ॥ ताः ॥

३३९। (भ० र० सि० २।४।२६) 'ग्लानिर्निष्प्राणता मता', (भा० १०।३३।१०) 'काचिद्रासपरिश्रान्ता' इत्यादौ दर्शिता। स्वेदात्मा श्रमः (भा० १०।३३।२०)—

(३३९) 'तासां रतिविहारेण' इत्यादि ।

३४०। उल्लासे विवेकशमने मदः (भा० १०।३३।१७)—

(३४०) 'तदङ्गसङ्गप्रमदाकुलेन्द्रियाः' इत्यादि ।

स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

३४१। अन्यस्य हेलने गर्वः (भा० १०।६०।४४)—

(३४१) 'तस्याः स्यु रच्युत नृपा भवतोपदिष्टाः' इत्यादि ।

स्पष्टम् ॥ श्रीरुक्मिणी ॥

३४२। शङ्का स्वानिष्टतर्किते, (भा० १०।५३।२४)—

(३४२) 'अपि मय्यनवद्यात्मा दृष्ट्वा किञ्चिज्जुगुप्सितम्' इत्यादि ।

स्पष्टम् ॥ सा ॥

---

नाम विषाद है। अक्षण्वतां फलमिदं श्लोक में विषाद देखने में आता है। "दैन्यमौर्जित्यराहित्ये" तेजस्विता का अभाव दैन्य है। भा० १०।२९।३८

(३३८) "तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन" श्लोक में वह दृष्ट होता है।

व्रज ललनागण बोली थीं—३३८॥

३३९। "ग्लानिर्निष्प्राणता मता" निष्प्राणता को ग्लानि कहते हैं। इस का वर्णन भा० १०।३३।१० "काचिद्रासपरिशान्ता" श्लोक में है। "स्वेदात्मा श्रमः" स्वेदपूर्ण होने का नाम श्रम है। भा० १०।३३।२०

(३३९) "तासां रति विहारेण" इस का वर्णन है ॥३३९॥

३४०। "उल्लासे विवेक शमने मदः" उल्लास से विवेकनष्ट होने का नाम मद है। उदाहरण-

(३४०) "तदङ्गसङ्गप्रमदाकुलेन्द्रियाः में है। प्रवक्ता श्रीशुक हैं—३४०॥

३४१। अन्यस्य हेलने गर्वः" अन्य को अवहेला करना गर्व है। भा० १०।६०।४४ में उक्त है—

(३४१) "तस्याः स्यु रच्युत नृपा भवतोपदिष्टाः"

श्रीरुक्मिणी श्रीकृष्ण को बोली थीं—हे अच्युत! हे शत्रुदमन! हर विरिञ्चि सभा में गीयमान तुम्हारी कथा का श्रवण जिस रमणी ने नहीं किया है, तुमने जिस राजन्य वृन्द का वृत्तान्त कहा है, जो स्त्री गण गृह में गर्द्दभ, अश्व, विड़ाल वा भृत्य के समान रहते हैं, वे उस रमणी वृन्द के पति होते हैं।

श्रीरुक्मिणी बोली थीं ॥३४१॥

३४२। "शङ्का स्वानिष्टतर्किते" निज अनिष्ट चिन्ता का नाम-शङ्का है। भा० १०।५३।२४ में उक्त है— (३४२) "अपि मय्यनवद्यात्मा दृष्ट्वा किञ्चिज्जुगुप्सितम्"

३४३। त्रासो भिया मनःक्षोभे, (भा० १०।३४।२८)—

(३४३) 'क्रोशन्तं राम कृष्णेति विलोक्य स्वपरिग्रहम्' इति।

स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

३४४। आवेगश्चित्तसम्भ्रमे, (भा० १०।२९।५)—

(३४४) 'दुहन्त्योऽभिययुः काश्चित्' इत्यादि।

स्पष्टम् ॥ सः ॥

३४५। उन्मादो हृदयभ्रान्तौ, (भा० १०।३०।४)—

(३४५) 'गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहताः" इत्यादि।

स्पष्टम् ॥ सः ॥

३४६-३४७। अपस्मारो मनोलये, (भा० १०।४६।५)—

(३४६) 'मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः ॥'६१६।

---

श्रीकृष्ण के समीप में प्रेषित विप्रके आगमन में विलम्बन को देखकर रुक्मिणी का वितर्क इस प्रकार है—आनन्दितात्मा–जिन के चित्त में काठिन्यादि दोष नहीं है, इस प्रकार श्रीकृष्ण आगमन में उद्यत होकर भी मेरे प्रति किसी कारण से घृणा प्रकाश कर मुझ को विवाह करने के निमित्त नहीं आयेंगे।

श्रीरुक्मिणी बोली थीं ॥३४२॥

३४३। "त्रासो भिया मनः क्षोभे" भय से मनः क्षोभ उपस्थित होने पर उस को त्रास कहते हैं। भा० १०।३४।२८ में उक्त है—

(३४३) "क्रोशन्तं राम कृष्णेति विलोक्य स्वपरिग्रहम्"

शङ्ख चूड़ सब को ले जा रहा है, देखकर व्रजाङ्गना गण हे राम! हे कृष्ण! कह कर चीत्कार किये थे।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं—३४३॥

३४४। "आवेगश्चित्तसम्भ्रमे" चित्त सम्भ्रम उपस्थित होने का नाम आवेग है। भा० १०।२९।५ में उक्त है— (३४४) "दुहन्त्योऽभिययुः काचित्"

एक गोपी दुग्ध दोहन कर रही थी। कृष्ण की वंशी ध्वनि को सुनकर दोहन त्याग कर अत्यन्त औत्सुक्य के सहित वह चली गई।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं—३४४॥

३४५। "उन्मादो हृदय भ्रान्तौ" भा० १०।३०।४ में लिखित है—

(३४५) "गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहताः।"

हृदय भ्रान्ति से उन्माद—व्यभिचारी होता है। जैसे रास से श्रीकृष्ण अन्तर्हित होने पर विरहिणी गोपी गण समवेत कण्ठ से उच्चैःस्वर से श्रीकृष्ण के नाम गान करने लगीं। श्रीशुक कहे थे-३४५॥

३४६-३४७। अपस्मारो मनोलये। भा० १०।४६।५ में उक्त है—

(३४६) "मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः ॥"६१६॥

व्याधिस्तत्प्रभवे भावे, (भा० १०।४६।६) —

(३४७) 'धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन" इति ।

स्पष्टम् ।। श्रीभगवानुद्धवम् ।।

३४८ । मोहो हृन्मूढ़तात्मनि, (भा० १०।३५।१६)—

(३४८) 'निजपदाब्जदलैः' इत्यादौ (भा० १०।३५।१७) 'कुजगतिं गमिताः' इत्यादि ।

स्पष्टम् ।। श्रीगोप्यः ।।

३४९ । प्राणत्यागे मृतिः सास्मिन्नसिद्धवपुषां रतौ, (भा० १०।२९।९) —'अन्तर्गृहगताः काश्चित्' इत्यादौ (१७७) श्रीकृष्णसन्दर्भे व्याख्याता ।

अन्यत्र कृष्णकृत्येभ्यो बलिनः क्लेशशङ्कया ।
आलस्यमचिकीर्षायां कृत्रिमं तेषु चोज्ज्वले ।।६१७।।

तत्र कृष्णकृत्येभ्योऽन्यत्र तद्यथा, (भा० १०।३३।१७)—

---

उद्धव के निकट श्रीकृष्ण कहे थे –गोपी गण के प्रिय वस्तु समूह के मध्य में प्रियतम मैं दूर में अवस्थित होने से वे मेरा स्मरण कर मूर्च्छित हो रही हैं। एवं वे विरह जनित उत्कण्ठा से विह्वल हैं।

व्याधिस्तत् प्रभवे भावे। मनोलय जनित अवस्था विशेष को व्याधि कहते हैं। भा० १०।४६।६ में लिखित है-- (३४७) "धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन ।।"

गोपी गण--अति कष्ट से किसी प्रकार प्राण धारण करती रहती है।

श्रीभगवान् उद्धव को कहे थे ।।३४६-३४७।।

३४८। मोहो हृन्मूढ़तात्मनि' हृदय की मूढ़ता अर्थात् बोध शून्यता उपस्थित होने का नाम मोह है, भा० १०।३५।१६ में लिखित है-

(३४८) "निजपदाब्जदलैः" (भा० १०।३५।१७) "कुजगतिं गमिताः" "निज पदाब्ज दलैः" इत्यादि श्लोक में व्रजदेवी गण कहीं हैं---श्रीकृष्ण की सविलास दृष्टि के द्वारा अर्पित कन्दर्प वेग से एवं वंशी ध्वनि श्रवण से हम सब वृक्ष अवस्था को प्राप्त करती हैं। श्रीगोपी गण बोली थीं।।३४८।।

३४९। "प्राणत्यागे मृतिः, सास्मिन्नसिद्धवपुषां रतौ" प्राण त्याग का नाम मृति है। उज्ज्वल रस में असिद्ध देहा गण की अवस्था में वह उपस्थित होती है। भा० १०।२९।९ में लिखित है---"अन्तर्गृह गताः काश्चित्" रास रजनी में श्रीकृष्ण की वंशी ध्वनि श्रवण के पश्चात् कतिपय गोपी गृह से निर्गत होने में असमर्थ थीं, वे गृह के मध्य में ही अवरुद्ध। रह गईं। उन सबने श्रीकृष्ण का ध्यान करते करते गुणमय देह त्याग किया। गोपी वृन्द का गुणमय देह त्याग की मीमांसा श्रीकृष्ण सन्दर्भ के १७७ अनुच्छेद है, वहाँ असिद्ध देहा गण की रति अवस्था में मृति नामक व्यभिचारी भाव का प्रदर्शन हुआ है।

"अन्यत्र कृष्णकृत्येभ्यो बलिनः क्लेशशङ्कया।
आलस्यमचिकीर्षायां कृत्रिमं तेषु चोज्ज्वले ।।६१७।।

कृष्ण विषयक कार्य्य व्यतीत अत्यन्त क्लेश शङ्का से आलस्य सम्भव है। उज्ज्वल रस में कृष्ण कार्य्य समूह में आलस्य कृत्रिम है। कृष्ण कार्य्य भिन्न अन्यत्र आलस्य का उदाहरण भा० १०।३०।१७ में है-

(३४९) 'तदङ्गसङ्ग' इत्यादौ "केशान् दुकूलं कुचपट्टिकां वा।
नाञ्जः प्रतिव्योढ़ुमलं व्रजस्त्रियः" इति।

अत्राञ्जः सुखेन न समर्था इति तादृशेऽपि कृत्ये क्लेशशङ्कां निगमयति ॥ श्रीशुकः ॥

३५०। अथोज्ज्वले कृष्णसहितविहारकृत्येषु च कृत्रिमं तद्यथा (भा० १०।३०।३७)—

(३५०) 'न पारयेऽहं चलितुम्' इत्यादि।

स्पष्टम् ॥ श्रीराधा ॥

३५१। जाड्यमप्रतिपत्तौ स्यात्, (भा० १०।५३।३१)—

(३५१) 'तमागतं समाज्ञाय वैदर्भी हृष्टमानसा।
अपश्यती ब्राह्मणाय प्रियमन्यन्ननाम सा ॥" ६१८॥

स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

३५२। व्रीड़ेत्याहुरधृष्टताम्, (भा० १०।५४।४)—

(३५२) 'पत्युर्बलं शरासारैश्छन्नं वीक्ष्य सुमध्यमा।
सव्रीड़मैक्षत्तद्वक्त्रं भयविह्वललोचना ॥" ६१९॥

---

(३४९) 'तदङ्गसङ्ग" "केशान् दुकूलं कुचपट्टिकां वा।
नाञ्जः प्रतिव्योढ़ुमलं व्रजस्त्रियः ॥"

श्रीकृष्ण के अङ्ग सङ्ग से अत्यन्त हर्ष के कारण व्रज रमणी गण के इन्द्रिय समूह शिथिल हो गई, केश, परिधेय वसन, एवं उत्तरीय वसन शिथिल हो जाने पर भी वे अनायास पूर्ववत् धारण करने में अक्षम रहीं। अनायास से—अर्थात सुख पूर्वक धारण करने में अक्षम रहीं-कहने से तादृश कार्य्य में भी उन सब की क्लेश शङ्का सूचित हुई है। यही आलस्य है। प्रवक्ता श्रीशुक हैं— ३४९॥

३५०। उज्ज्वल रस में श्रीकृष्ण के सहित विहार कार्य्य में आलस्य कृत्रिम है। भा० १०।३०।३७ में वर्णित है— (३५०) "न पारयेऽहं चलितुम्"

रास से श्रीराधा को लेकर अन्तर्हित होने के पश्चात् कुछ समय कृष्ण के सहित विहार किये थे। अनन्तर उन्होंने कहा मैं और चल नहीं सकती हूँ। यहाँ जो आलस्य व्यञ्जित हुआ है, वह कृत्रिम है।
श्रीराधा बोली थीं— ३५०॥

३५१। "जाड्यमप्रतिपत्तौ स्यात्" विचार शून्यता ही जाड्य है। भा० १०।५३।३१ मे उक्त है—

(३५१) "तमागतं समाज्ञाय वैदर्भी हृष्टमानसा।
अपश्यती ब्राह्मणाय प्रियमन्यन्ननाम सा ॥" ६१८॥

श्रीकृष्ण के आगमन को सम्यक् रूप से जान कर रुक्मिणी अतीव आह्लादित हो गई, जिस ब्राह्मण को श्रीकृष्ण के निकट भेजी थीं उस ब्राह्मण को प्रियवस्तु क्या देंगी देख नहीं पाई, अर्थात् सर्वस्व दान भी इस विषय में अकिञ्चित् कर मानने लगीं-केवल प्रणाम ही करी थीं। श्रीशुक कहे थे— ३५१॥

३५२। "व्रीड़ेत्याहुरधृष्टताम्, अधृष्टता को व्रीड़ा अर्थात् लज्जा कहते हैं। भा० १०।५४।४ में उक्त है—

(३५२) "पत्युर्बलं शरासारैश्छन्नं वीक्ष्य सुमध्यमा।
सव्रीड़मैक्षत्तद्वक्त्रं भयविह्वललोचना ॥" ६१९॥

इदं भावसाङ्कर्य्येऽप्युदाहार्य्यम् ॥ सः ॥

३५३। अवहित्थाकारगुप्तौ, (भा० १०।३२।१५)—

(३५३) "सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनम्' इत्यादि।

अत्र सभाजनादिना कोपाच्छादनम् ॥ सः ॥

३५४। स्मृतिः प्रागृज्ञातचिन्तने,—(भा० १०।४७।४३) 'ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभि-,वृन्दावने कुमुदकुन्द-शशाङ्क-रम्ये' इत्यादौ दर्शिता। ऊहो वितर्क इत्युक्तः (भा० १०।३०।३१)—

(३५४) 'न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र' इत्यादि।

स्पष्टम् ॥ श्रीगोप्यः ॥

३५५। ध्यानं चिन्तेति भण्यते (भा० १०।२९।२९)—

(३५५) 'कृत्वा मुखान्यवशुचः' इत्यादि।

---

सुमध्यमा रुक्मिणी, पति के सैन्य गण को शरवर्षण से आच्छन्न देखकर भीति व्याकुल नयनों से अथच सलज्ज भाव से श्रीकृष्ण के मुख निरीक्षण करने लगीं। यह श्लोक भाव साङ्कर्य्य का अर्थात भय एवं लज्जा उभय भाव सम्मिलन का भी दृष्टान्त है। प्रवक्ता श्रीशुक हैं—३५२॥

३५३। अवहित्था कार गुप्तौ" आकार गोपन का नाम अवहित्था है। भा० १०।३२।१५ में उक्त है—

(३५३) "सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनम्" इत्यादि।

व्रजदेवी गण— अनङ्गोद्दीपक श्रीकृष्ण का सम्मान करने के पश्चात् रास नृत्य से अन्तर्हित होने से कृष्ण श्रीकृष्ण के प्रति व्रजसुन्दरी वृन्द को क्रोध हुआ था। सम्मानादि द्वारा उस कोप को आच्छादित किये थे। श्रीशुकदेव कहे थे ॥३५३॥

३५४। स्मृतिः प्राग् ज्ञात चिन्तने। पूर्वज्ञात विषय की चिन्ता करने का नाम स्मृति है। भा० १०।४७।४३ में उक्त है—

"ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभि--,वृन्दावने कुमुदकुन्द-शशाङ्क--रम्ये"

श्रीव्रजदेवी वृन्द उद्धव के निकट कही थीं---कुमुद कुन्द एवं चन्द्र किरण से रमणीय वृन्दावन में नूपुर ध्वनि से शब्दायमान रास सभा में प्रिय वर्ग के सहित श्रीकृष्ण जो सब रजनी में विहार किये थे, उस सब रजनी का स्मरण कभी भी करते हैं ? उस समय हम सब उनकी मनोज्ञ कथा समूह का स्तव किये थे। "ऊहो बितर्क" वस्तु का तत्त्व निर्णायक विचार को वितर्क कहते हैं। भा० १०।३०।३१ में उक्त है— (३५४) "न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र"

रास से अन्तर्हित श्रीकृष्ण का अनुसन्धान करते करते उनके पदचिह्न के सहित श्रीराधा का पद चिह्न को देखे थे, अनन्तर केवल कृष्ण के पदचिह्न को देखकर उन्होंने कहाँ—"श्रीकृष्ण जिसको लेकर अन्तर्धान किये हैं— यहाँ उनका पद चिह्न देखने में नहीं आता है। प्रतीत होता है कि— तृणाङ्कुर के द्वारा प्रेयसी के सुकोमल पद तल खिन्न हो रहा है, देखकर प्रियतम उनको स्कन्धारोपण किये हैं। गोपी गण बोली थीं ॥३५४॥

३५५। ध्यानं चिन्तेति भण्यते। ध्यान को चिन्ता नामक सञ्चारी कहते हैं। भा० १०।२९।२९

स्पष्टम् ।। श्रीशुकः ।।

३५६। मतिः स्यादर्थनिर्द्धारे (भा० १०।६०।३९)—

(३५६) 'त्वं न्यस्तदण्डमुनिभिर्गदितानुभाव, आत्मात्मदश्च जगतामिति मे वृतोऽसि' इति।

स्पष्टम् ।। श्रीरुक्मिणी ।।

३५७। औत्सुक्यं समयाक्षमा (भा० १०।२९।४) —

(३५७) 'निशम्य गीतं तदनङ्गवर्द्धनम्'' इत्यादि।

स्पष्टम् ।। श्रीशुकः ।।

३५८। औग्रचं चान्त्ये कृत्रिमं क्वापि, यथा--(भा० १०।३९।२१) 'क्रूरस्त्वमक्रूर-'इत्यादौ। तच्च क्वापि कृत्रिमं यथा (भा० १०।२२।१५)—

(३५८) ''देहि वासांसि धर्म्मज्ञ नो चेद्राज्ञे ब्रुवाम हे'' इति।

स्पष्टम् ।। श्रीव्रजकुमार्य्यः ।।

३५९। अमर्षस्त्वसहिष्णुता (भा० १०।३१।१६) —

---

(३५५) ''कृत्वा मुखान्यवशुचः'' रास रजनी में गृह प्रत्यावर्त्तन का आदेश करने पर श्रीव्रजसुन्दरी गण को गुरुतर दुःख उपस्थित हुआ। शोक जात उष्ण निश्वास से उन सब का बिम्बाधर शुष्क हुआ। वे मौनावलम्बन पूर्वक अधोमुखी होकर चरण द्वारा भूमि लेखन करने लगीं। कज्ज्वल युक्त अश्रुजल से उन सब का कुच कुङ्कुम धौत होने लगा। श्रीशुक कहे थे--३५५।।

३५६। मतिः स्यादर्थ निर्द्धारे। अर्थ निर्द्धारण का नाम मति है। भा० १०।६०।३९ में उक्त है--
(३५६) ''त्वं न्यस्तदण्डमुनिभिर्गदितानुभाव, आत्मात्मदश्च जगतामिति मे वृतोऽसि''

श्रीरुक्मिणी देवी श्रीकृष्ण को बोली थीं गर्वादि रहित मुनिगण आप के कार्य्य का कीर्त्तन करते हैं,आप सर्वमूलस्वरूप हैं, एवं भजनकारिगण को आत्मदान करते हैं। एतज्जन्य मैंने आप को पति रूपमें वरण किया है। श्रीरुक्मिणी बोली थीं---३५६।।

३५७। औत्सुक्यं समयाक्षमा'' काल विलम्ब असहिष्णुताका नाम--औत्सुक्य है। भा० १०।२९।४ में उक्त है--- (३५७) ''निशम्य गीतं तदनङ्गवर्द्धनम् ।।''

राज रजनी में श्रीकृष्ण का कन्दर्प वृद्धि कारी वेणु गान श्रवण कर व्रजरमणी गण अन्य की चेष्टा में दृष्टि पात न करके जहाँ कान्त श्रीकृष्ण हैं, वहाँ चली आईं श्रीशुक कहे थे ।।३५७।।

३५८। औग्रचं चान्तेच कृत्रिमं क्वापि। उज्ज्वल रस में अन्य के प्रति उग्रता--क्रोध--प्रकाश पाती है। स्थल विशेष में श्रीकृष्ण के प्रति वा सखी के प्रति जो उग्रता है, वह कृत्रिम है। भा० १०।२९।२१ में उक्त ''क्रूरस्त्वमक्रूर'' व्रजदेवी गण बोली थीं—अक्रूर! तुम क्रूर हो। कहीं कृत्रिम उग्रता होती है-- भा० १०।२२।१५ में उक्त है—

(३५८) 'देहि वासांसि धर्म्मज्ञ नो चेद्राज्ञे ब्रुवाम हे''

वस्त्र हरणोपलक्ष्य में श्रीव्रज कुमारी गण बोली थीं—हे धर्म्मज्ञ! वस्त्र प्रदान करो। अन्यथा राजा को कह देंगे। व्रज कुमारी गण बोली थीं ।।३५८।

(३५६) "पतिसुतान्वय-' इत्यादौ, 'कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि" इति । स्पष्टम् ।। श्रीगोप्यः ।।

३६० । असूयान्योदयद्वेषे (भा० १०।३०।३०) 'तस्या अमूनि नः क्षोभम्, इत्यादौ, चापलं चित्तलाघवे (भा० १०।५२।४१)—

(३६०) 'श्वो भाविनि त्वमजितोद्वहने' इत्यादौ 'मां राक्षसेन विधिनोद्वह वीर्य्यशुल्काम्' इति । स्पष्टम् ।। श्रीरुक्मिणी ।।

३६१–३६२ । चेतोनिमीलने निद्रा (भा० १०।५३।२६)—

(३६१) "एवं चिन्तयती बाला गोविन्दहृतमानसा ।
न्यमीलयत कालज्ञा नेत्रे चाश्रुकलाकुले ।।"६२०।।

स्वप्नः सुप्तिरितीर्य्यते,एष चोषादृष्टान्तेनानुमेयः । बोधो निद्रादिविच्छेद इति त्रिंशत्त्रयाधिकाः,

---

३५६ । अमर्षस्त्वसहिष्णुता । असहिष्णुता का नाम अमर्ष है । भा० १०।३१।१६ में उक्त है—

(३५६) 'पतिसुतान्वय इत्यादौ, "कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि"

गोपी गीत में कृष्ण को उद्देश्य कर पतिसुतान्वय इत्यादि श्लोकमें गोपी गण बोली थीं--रात्रिकाल में कौन व्यक्ति स्त्री गण को परित्याग करता है। श्रीगोपी गण बोली थीं---३५६।।

३६० । असूया अन्योदयद्वेषे—अपर का उत्कर्ष हेतु द्वेष का नाम असूया है । भा० १०।३०।३० में उक्त है—"तस्या अमूनि नः क्षोभम्" रास रजनी में श्रीकृष्ण के अन्वेषण करते करते उनके पद चिह्न के सहित श्रीराधा का पद चिह्न को देखकर एक गोपी बोली थी—श्रीराधा के पदचिह्न समूह हम सब को दुःखी करते हैं ।

चापल्यं चित्तलाघवे । चित्त का लाघव अर्थात् गाम्भीर्य्य का अभाव को चापल कहते हैं । भा० १०। ५२।४१ में उक्त है—

(३६०) "श्वो भाविनि त्वमजितोद्वहने" इत्यादौ "मां राक्षसेन विधिनोद्वह वीर्य्यशुल्काम्"

श्रीरुक्मिणी देवी श्रीकृष्ण को श्वो भाविनि श्लोक में लिखी थीं, तुम वीर्य्य स्वरूप शुल्क के द्वारा राक्षस विधि से---अर्थात् हरण करके मुझ को विवाह करो । श्रीरुक्मिणी बोली थीं ।।३६०।।

३६१–३६२ । चेतो निमीलने निद्रा । चित्त का निमीलन अर्थात् वाह्य चेष्टा का अभाव का नाम निद्रा है । भा० १०।५३।२६ में उक्त है—

(३६१) "एवं चिन्तयतो बाला गोविन्द हृत मानसा ।
न्यमीलयत कालज्ञा नेत्रे चाश्रुकलाकुले ।।"६२०।।

गोविन्द कर्त्तृक अपहृत चित्ता तरुणी रुक्मिणी इस प्रकार चिन्ता करते करते गोविन्दागमन के समय अभी भी उपस्थित नहीं हुआ है । यह मान कर अश्रुसिक्त नयन युगल को मुद्रित किये ।

"स्वप्नसुप्तिरितीर्य्यते" स्वप्न को सुप्ति कहते हैं । ऊषा के दृष्टान्त द्वारा स्वप्न नामक व्यभिचारी भाव का अनुमान होता है । वाणराज नन्दिनी ऊषा श्रीकृष्ण पौत्र अनिरुद्ध को स्वप्न में देख कर उनके प्रति अनुरागिणी हुई थी, एवं सखी चित्र लेखा की सहायता से उनके सङ्ग लाभ भी उनको हुआ ।

"बोधो निद्रादि विच्छेदः" निद्रादि विच्छेद का नाम बोध है, ये तेतीस व्यभिचारी भाव का वर्णन

–'न्यमीलयत कालज्ञा नेत्रे' इत्यनन्तरम् (भा० १०।५३।२७)—

(३६२) "एवं बध्वाः प्रतीक्षन्त्या गोविन्दागमनं नृप ।
वाम ऊरुर्भुजो नेत्रमस्फुरन् प्रियभाषिणः ॥"६२१॥

तेन स्फुरणेन जजागारेत्यर्थः ॥ श्रीशुकः ॥

३६३--३६४ । अथ कान्तभावः स्थायी । तस्य च हेतुद्वयम्,–श्रीकृष्णस्वभावो वामाविशेषस्वभावश्चेति । प्रथमो यथा (भा० १०।६०।४२)—

(३६३) "कान्यं श्रयीत तव पादसरोजगन्ध,-माघ्राय" इत्यादिषु ।

उत्तरो यथा (भा० १०।६०।४७--४८)–

(३६४) "नैवालीकमहं मन्ये वचस्ते मधुसूदन ।
अम्बाया इव हि प्रायः कन्यायाः स्याद्रतिः क्वचित् ॥६२२॥
व्यूढाया अपि पुंश्चल्या मनोऽभ्येति नवं नवम्" इति ।

यद्भवतोक्तम् (भा० १०।६०।१७)'अथात्मनोऽनुरूपम्" इत्यादिकम् तत्तव वाक्यं स्त्रीजातौ

---

हुआ । भा० १०।५३।२६ श्लोक में उक्त--"न्यमीलयत कालज्ञा" श्रीरुक्मिणी देवी का निद्रात्मक व्यभिचारी भावका वर्णन के अनन्तर भा० १०।५ ।२७ में उनका बोध वर्णन हुआ है ।

(३६२) "एवं बध्वाः प्रतीक्षन्त्या गोविन्दागमनं नृप ।
वाम उरुर्भुजोनेत्रमस्फुरन् प्रियभाषिणः ॥"६२१॥

हे राजन् ! इस प्रकार गोविन्दागमन प्रतीक्षा कारिणी रुक्मिणी के प्रियागम सूचक वाम उरु, भुज एवं नेत्र स्फुरित होने लगे उस प्रकार स्फुरण के द्वारा रुक्मिणी का आगमन प्रतीत होता है ।

श्रीशुकदेव कहे थे ॥३६१--३६२॥

३६३--३६४ । उज्ज्वल रस में कान्तभाव स्थायी है । उसके हेतु द्विविध हैं, श्रीकृष्ण का स्वभाव एवं वामाविशेष का स्वभाव अर्थात् रमणी विशेष का स्वभाव । श्रीकृष्णका स्वभाव--भा० १०।६०।३२ में उक्त है— (३६३) "कान्यं श्रयीत तव पाद सरोजगन्धमाघ्राय"

श्रीरुक्मिणी देवी श्रीकृष्ण को बोली थीं— तुम्हारे चरण कमल का आघ्राण ग्रहण करने के पश्चात् कौन रमणी अन्य पुरुष को आश्रय करेगी ? अर्थात् केवल तुम्हारे चरणाश्रय ही करेगी । अन्य किसी का आश्रय ग्रहण नहीं करेगी ।

रमणी विशेष का स्वभाव भा० १०।६०।४७--४८ में लिखित है—

(३६४) नैवालीक महं मन्ये वचस्ते मधुसूदन ।
अम्बाया इव हि प्रायः कन्यायाः स्याद् रतिः क्वचित् ॥६२२॥
व्यूढाया अपि पुंश्चल्या मनोऽभ्येतिनवं नवम् ॥"

श्रीकृष्ण परिहास पूर्वक रुक्मिणी को कहे थे— मैं तुम्हारे योग्य नहीं हूँ ।" निजानुरूप किसी क्षत्रिय श्रेष्ठ का भजन करो । उत्तर में देवी बोली थीं— हे मधुसूदन ! तुम्हारा कथन को मिथ्या नहीं मानती हूँ । अम्बा के समान प्रायकर एक कन्या की रति एक पुरुष में होती है । असती स्त्री परिणीता होने पर भी

प्रायो नानृतं मन्ये। यतोऽम्बाया यथा क्वचिदेकत्र साल्व एव रतिर्जाता, तथान्यस्याः कन्याया एकत्र रतिः प्राय एव स्यात्, न तु नियमेन। किञ्च, "व्यूढ़ाया अपि, इति, यद्वा, कन्याया अपि क्वचिदेकत्र रतिः स्यात्। प्राय इति साध्व्या एवेत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः--अम्बाया इवेत्ति। पुंश्चल्यास्तु व्यूढ़ाया अपि मनो नवं नवमभ्येति। तस्मात् परमपुण्यशीलाया एव त्वयि स्वभावतो रतिर्भवेदिति भावः॥ श्रीरुक्मिणी॥

३६५। एष च स्थायी साक्षादुपभोगात्मकस्तदनुमोदनात्मकश्चेति द्विविधः। पूर्वः साक्षात् नायिकानाम्, उत्तरः सखीनाम्। उभयव्यपदेशानामुभावपि। तत्रोपभोगात्मकः स सामान्यतो यथा (भा० १०।२१।१२)—

(३६५) "कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलम्" इति।

स्पष्टम्॥ श्रीगोप्यः॥

३६६। स एव पुनः सम्भोगेच्छानिदानः सैरिन्ध्र्यादौ यथा (भा० १०।४८।१) —

---

नव नव पुरुष की अभिलाषिणी होती है। रुक्मिणी बोली थीं—भा० १०।६०।१७ में आपने जो कहा है—'अथात्मनोऽनुरूपम्' निजानुरूप पुरुष को वरण करना चाहिये, स्त्री जाति के पक्ष में वह कथन मिथ्या नहीं है। कारण, अम्बा की जिस प्रकार एक पुरुष में रति हुई थी, अन्य कन्या की एक पुरुष के प्रति प्रीति प्रायशः नहीं होती है। किन्तु यह कोई नियम बद्ध नहीं है। किन्तु विवाहिता रमणी की एक पुरुष में ही रति होती है।

अभिप्राय यह है—स्थल विशेष में कन्या की रति एक पुरुष में होती है। श्लोक में प्राय शब्द प्रयोग के द्वारा सूचित किया गया है कि—के साध्वी रमणी की प्रीति ही एक पुरुष में होती है।

उस में दृष्टान्त—केवल अम्बा के समान कन्या गण की रति ही उस प्रकार होती है। अर्थात् विवाहिता रमणी की प्रीति एक पुरुष में निर्दिष्ट रूप से होने का नियम होने पर भी अविवाहिता कन्या के पक्ष में एक पुरुष में रति होने का नियम न होने पर भी प्रायशः उसकी रति एक पुरुष में होती है। किसी विधि के अधीन होकर कन्या एक पुरुष में अनुरागिणी होती है, यह नहीं-वह उसकी एकनिष्ठता का परिचायक है। पुंश्चली अर्थात् असती रमणी विवाहिता होने पर भी उसके मन नूतन नूतन पुरुष में अनुरागी होता है। सुतरां अतिशय पुण्यवती रमणी की रति ही आपके प्रति होती है।

श्रीरुक्मिणी देवी बोली थीं।।३६३-३६४।।

३६५। यह कान्ता भाव – द्विविध हैं,– साक्षादुपभोगात्मक- एवं साक्षादुपभोग अनुमोदनात्मक।

प्रथम प्रकार का कान्ताभाव-नायिका वृन्द का होता है, एवं शेषोक्त कान्त भाव- उनकी सखीवृन्द का होता है। जो सब नायिका में नायिकात्व एवं सखीत्व का मिश्रण है, उस में उभयविध कान्त भावका मिश्रण रहता है। उस के मध्य में उपभोगात्मक कान्तभाव का दृष्टान्त भा० १०।२१।१२ में है --

(३६५) "कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलम्"

वेणुगीत में व्रजदेवी गण कही थीं – जिनके रूप गुण--वनिता गण के आनन्द दायक हैं. उन कृष्ण को देखकर इत्यादि। इस प्रकार जिन्होंने कहा है, उन्होंने जो श्रीकृष्ण के रूप माधुर्य्य का आस्वादन किया है, इसका स्पष्ट कारण इस से नहीं होता है। कारण--वह वणिता है, रूप को देखकर ही आनन्दिता हो गई थी, अतएव रूप को आनन्द दायक रूपमें उन्होंने कहा है। गोपीगण बोली थीं--३६५।।

(३६६) "सहोष्यतामिह प्रेष्ठ" इत्यादि ।

स्पष्टम् ॥ सैव ॥

३६७ । क्वचिद्भेदित-सम्भोगेच्छः पट्टमहिषीषु यथा—(भा० १०।६१।४) "स्मायावलोक-लवदर्शितः" इत्यादिषु, स्वरूपाभिन्नसम्भोगेच्छः श्रीव्रजदेवीषु यथा, (भा० १०।३१।१६) 'यत्ते सुजात-चरणाम्बुरुहम्" इत्यादिषु । आसां चैष स्वाभाविक एव । अतएव स्वपरित्यागजातेर्ष्यया दोषं कल्पयित्वापि तत्परित्यागासामर्थ्योक्तिः, यथा—(भा० १०।४७।१७) "मृगयुरिव कपीन्द्रम्" इत्यादौ "दुस्त्यजस्तत्कथार्थः" इति । एष चासु बहुभेदो वर्त्तते । एकत्र भावे खलु मिथुनस्य मिथ आदरविशेषः । तत्र प्रेयसीनां त्वदीयत्वाभिमानातिशयेन कान्तं प्रति पारतन्त्र्य-विनय-स्तुति-दाक्षिण्यप्राचुर्य्यम्, अन्यत्र मदीयत्वातिशयः, यत्र परतन्त्रकान्ततयान्तर्मर्मज्ञता नर्म,

---

३६६ । कान्त भाव वा मधुरा रति--साधारणी, समञ्जसा, एवं समर्था भेद से त्रिविध हैं । सम्भोगेच्छा ही साधारणी रतिका कारण, एतज्जन्य जो सब नायिका में साधारणी रति वर्त्तमान है--उन सब का कान्त भाव सम्भोगेच्छा निदान है । समञ्जसा रति में सम्भोगेच्छा कभी भी रति के सहित अभिन्न रहती है, कभी पृथक् रूप से प्रतीत होती है । समर्थारति में सम्भोगेच्छा रतिके सहित अभिन्ना रहती है, कान्त द्वारा निज सुख सम्पादन को ही सम्भोग कहते हैं । साधारणी रति में निज सुख साधनेच्छा सम्पूर्ण वर्त्तमान रहती है । समञ्जसा रति में निज एवं कान्त- उभय की सुख सम्पादनेच्छा रहती है । और समर्थारति में केवल कान्त की सुख सम्पादनेच्छा ही रहती है । यहाँ उक्त त्रिविध रति का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।

वह कान्त भाव—सैरिन्ध्री प्रभृति में सम्भोगेच्छा मूलक है । भा० १०।४८।६ में उक्त है—

(३६६) "सहोष्यतामिह प्रेष्ठ" इत्यादि" सैरिन्ध्री श्रीकृष्ण को बोली थीं--हे प्रियतम ! यहाँ मेरे सहित वास करो । सैरिन्ध्री बोली थी—३६६॥

३६७ । श्रीद्वारका महिषी गण में कभी कभी कान्त भाव से सम्भोगेच्छा पृथक् रूप से प्रकाशित होती है, जिस प्रकार भा० १०।६१।४ में उक्त है 'स्मायावलोकलवदर्शित." इत्यादि । व्रजदेवी गणमें कान्त भावसे सम्भोगेच्छा अभिन्ना है । अर्थात् श्रीकृष्ण रति व्यतीत उन सब की पृथक् सम्भोगेच्छा नहीं है । भा० १०।३१।१६ में उक्त है—'यत्ते सुजात चरणाम्बुजरुहम्" रास से श्रीकृष्ण अन्तर्हित होने पर उन के उद्देश्य में कहीं थीं—"यत्ते सुजात चरणाम्बुरुहम्" इत्यादि ।

व्रजदेवी वृन्द का ईदृश कान्त भाव--स्वाभाविक है । इस हेतु—उन सबको परित्याग पूर्वक श्रीकृष्ण मथुरा प्रस्थान करने पर तज्जनित ईर्षा से उन में दोष कल्पना करके उन्होंने कहा कि—श्रीकृष्ण को परित्याग करना उन सब के पक्ष में असम्भव है अर्थात् कृष्ण को छोड़ने में असमर्था हैं । भा० १०।४७।१७ में उक्त है—"मृगयुरिव कपीन्द्रम्" "दुस्त्यजस्तत् कथार्थः श्रीकृष्ण के कथारूप अर्थ--दुस्त्यज है ।

श्रीव्रजदेवी गणके कान्तभाव में बहुभेद हैं । वह भी स्थूलतः दो भागों में विभक्त है । एक प्रकार भावमें नायक नायिका परस्पर का आदर विशेष वर्त्तमान रहता है । उस में प्रेयसी गणका त्वदीयताभिमान 'मैं तुम्हारी हूँ' इस प्रकार मनोभाव विद्यमान होता है । अतः कान्त के प्रति निज पारतन्त्र्य-अधीनता, विनय, स्तुति, दाक्षिण्य-अनुकूलता प्रचुर रूप में व्यक्त होती हैं । अन्य प्रकार कान्त भाव में प्रेयसी गण में मदीयता 'तुम मेरा हो' अभिमान रहता है । उस में कान्त निज अधीन होने के कारण--उनका निगूढ़

कौटील्याभासप्राचुर्य्यम्, एतद्युगलस्य च भेदस्य बह्वंश-स्वल्पांश-तत्साङ्कर्य्यभेदेनापरासु च बहुविध इति । एते च भावा यथोक्ताः (भा० १०।३२।५-९) ---

(३६७) "काचित् कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा ।
काचिद्दधार तद्बाहुमंसे चन्दनरुषितम् ॥६२३॥
काचिदञ्जलिनागृह्णात्तन्वी ताम्बूलचर्वितम् ।
एका तदङ्घ्रिकमलं सन्तप्ता हृदये न्यधात् ॥६२४॥
एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला ।
घ्नतीवैक्षत् कटाक्षेपैर्निर्दष्टदशनच्छदा ॥६२५॥
अपरानिमिषद्दृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम् ।
आपीतमपि नातृप्यत् सन्तस्तच्चरणं यथा ॥६२६॥
तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च ।
पुलकाङ्गुचपगुह्यास्ते योगीवानन्दसंप्लुता ॥६२७॥
सर्वास्ताः केशवालोक-परमोत्सवनिर्वृताः ।
जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः ॥"६२८॥

अत्रादरविशेषमय--प्रागुक्तभावा काचित् कराम्बुजमित्यत्र प्रथमोक्ता । इयञ्च

---

अभिप्राय ज्ञान, परिहास एवं कोटिल्याभास प्रचुर वर्त्तमान रहता है । भेद की द्विविध जो बात कही गई हैं-तदुभय --स्वदीयता एवं मदीयता--के प्रचुरांश, अल्पांस, एवं सम्मिलन के द्वारा उक्त द्विविध प्रेयसी व्यतीत-अन्य प्रेयसी गण के भाव में अनेक भेद विद्यमान हैं । भा० १०।३२।४-९ में उक्त भाव समूह का वर्णन है ।

(३६७) "काचित् कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा ।
काचिद्दधार तद्बाहुमंसे चन्दनरुषितम् ॥६२३॥
काचिदञ्जलिनागृह्णात्तन्वी ताम्बूलचर्वितम् ।
एका तदङ्घ्रिकमलं सन्तप्ता हृदये न्यधात् ॥६२४॥
एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला ।
घ्नतीवैक्षत् कटाक्षेपैर्निर्दष्टदशनच्छदा ॥६२५॥
अपरानिमिषद्दृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम् ।
आपीतमपि नातृप्यत् सन्तस्तच्चरणं यथा ॥६२६॥
तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च ।
पुलकाङ्गुचपगुह्यास्ते योगीवानन्दसंप्लुता ॥६२७॥
सर्वास्ताः केशवालोक-परमोत्सवनिर्वृताः ।
जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः ॥"६२८॥

रास से अन्तर्द्धान के पश्चात् श्रीकृष्ण जब व्रजाङ्गना वृन्द के निकट आविर्भूत हुये थे तब एक गोपी ने आनन्द से अञ्जलि द्वारा उनके कर कमल को ग्रहण किया ।

सर्वाग्रस्थितत्वादादौ वर्ण्यते। ततो ज्येष्ठेति गम्यते। ततश्च सर्वादौ तयैव मिलनं कृष्णस्य, तथा तस्यामेव श्रीकृष्णस्याप्यादरातिशयोऽवगम्यते। एवं तयाञ्जलिना करग्रहणात्तस्या अपि तस्मिन्नादरो व्यक्तः, तत्पारतन्त्र्यादिकमपि, मध्यस्थितत्व चास्याः। ततः साध्वेवेदं प्रथमोदाहरणम्। अथ मदीयत्वातिशयमय-'द्वितीयोदाहरणम्--एका भ्रुकुटिमाबध्येत्यादि। एषा खलु मध्यतो वर्णनया मध्यस्थितेत्यवगम्यते। मध्यस्थितत्वं चास्याः परमदुर्लभतां व्यनक्ति। ततो भावविशेषधारिता चास्या गम्यते। तस्य साक्षात्प्रत्यायकञ्च मदीयत्वातिशयादिबोधक-भ्रूभङ्ग्यादिकमेवास्ति। इयञ्च श्रीराधैव ज्ञेया। ईदृश एव भावोऽस्याः कार्त्तिकप्रसङ्गे व्रतरत्नाकरधृत-भविष्यवचने दृश्यते—

---

अपर गोपीने चन्दन चर्चित तदीय बाहु को स्वीयस्कन्ध में स्थापन किया। एक ने अञ्जलि द्वारा उनका चर्वित ताम्बूल ग्रहण करने लगा। विरह सन्तप्ता एक गोपी ने श्रीकृष्ण के चरण कमल को निज वक्षोजोपरि स्थापन किया। एक गोपीने प्रणय कोप से विह्वला होकर भ्रु युल को कुटिल कर ओष्ठाधर दंशन पूर्वक कटाक्ष दृष्टि द्वारा जैसे आघात किया जाता है, वैसा उनको देखा। अपर गोपी ने अनिमेष नयनों से श्रीकृष्णकी मुख कमल माधुरी पान करने लगा। साधु पुरुष गण जिस प्रकार तदीय चरण कमलकी सेवा कर तृप्ति लाभ नहीं करते हैं, उस प्रकार उक्त गोपी भी सम्यग् रूप से वदन मण्डल का माधुर्य्य पान करके भी तृप्त नहीं हुई।

अपर गोपी स्वीय नेत्र रन्ध्र द्वारा श्रीकृष्ण को हृदय में धारण कर नयन मुद्रित करके मानस में आलिङ्गन करके अन्तः साक्षात् कार से योगी की जिस प्रकार अवस्था होती है, उस प्रकार पुलकिताङ्गी एवं आनन्द संयुक्त हुई।

श्रीकृष्ण को देखकर समस्त गोपी परमानन्द से पूर्णा हो गई थीं। परमेश्वर को प्राप्तकर मुमुक्षु जन जिस प्रकार ताप मुक्त होते हैं, वे भी उस प्रकार तापमुक्त हो गईं। उक्त श्लोक समूह की व्याख्या—

पूर्व में जो आदर विशेष कान्त भाव की कथा कही गई है—तादृश भावमयी—त्वदीयताभिमानमयी, किसी गोपी ने अञ्जलि के द्वारा श्रीकृष्ण के कर कमल को ग्रहण किया। यह सर्वाग्र में अवस्थिता थी, अतः इसकी कथा पहले कही गई है। सुतरां यह ज्येष्ठा है। इस हेतु सर्वत्र इसके सहित श्रीकृष्णका मिलन संघटित हुआ था। उस में श्रीकृष्ण का भी प्रचुर आदर प्रतीत होता है। अञ्जलि द्वारा श्रीकृष्ण के कर ग्रहण करने के कारण गोपी का भी उनके प्रति आदर व्यक्त हुआ है। उसके सहित व्रजाङ्गना का पारतन्त्र्य-श्रीकृष्णाधीनता, विनय प्रभृति भी व्यञ्जित हुये हैं। गोपी मण्डली के मध्यस्थल में अवस्थित निबन्धन प्रथम इसका उदाहरण समीचीन होता है।

अनन्तर प्रचुर मदीयताभिमानमयी द्वितीय कान्त भाव का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। एका भ्रुकुटि माबध्येत्यादि। एक गोपी प्रणय कोप से विह्वल होकर इत्यादि श्लोक के द्वारा।

मध्य भाग में इसका वर्णन करने से इसको मध्यस्थिता जाननी होगी। मध्यस्थल में अवस्थिति इस को परम दुर्ल्लभता व्यक्त करती है। इस से यह जो भाव विशेष धारिणी है—वह भी ज्ञात होता है। साक्षात् सम्बन्ध में उस भाव विशेष की कथा जिस से ज्ञात होती है, इस प्रकार प्रचुर मदीयता बोधक भ्रूभङ्गि प्रभृति उसमें ही व्यक्त हुये हैं। यह श्रीराधा हैं। इनका ईदृश भाव--कार्त्तिक प्रसङ्ग में व्रजरत्नाकर धृत भविष्यवचन में वर्णित है—

"तस्मिन् दिने च भगवान् रात्रौ राधागृहं ययौ। सा च क्रुद्धा तमुदरे काञ्चीदाम्ना बबन्ध ह ॥६२९॥ कृष्णस्तु सर्वमावेद्य निजगेह-महोत्सवम्। प्रियां प्रसादयामास ततः सा तममोचयत् ॥"६३०॥ इति।

ततः सिद्धे च तस्या भावस्य तादृशत्वे "यथा राधा प्रिया" इत्यादि-पाद्मादिवचनानुसारेण, (भा० १०।३०।२८) "अनयाराधितो नूनम्" इत्याद्यनुसारेण च तन्माहात्म्यात्तादृश-भावमाहात्म्यमेव स्फुटमुपलभ्यते। द्वारकायामेतदनुगतभावत्वेनैव श्रीसत्यभामापि सर्वतः प्रशस्ता। तत्र भाव-सादृश्यं सर्वतः प्रशस्तत्वञ्च यथा श्रीविष्णुपुराणे(५।३०।३३)—

"यदि ते तद्वचः सत्यं सत्यात्यर्थं प्रियेति मे। मद्गेहनिष्कुटार्थाय तदायं नीयतां तरुः ॥"६३१॥

इति, पाद्म-कार्त्तिक-माहात्म्ये श्रीकृष्णवाक्यञ्च यथा--"न मे त्वत्तः प्रियतमा" इत्यादि, हरिवंशे वैशम्पायनवचनञ्च तन्निर्द्धारकम्—"सौभाग्ये चाधिकाभवत्" इति।

अथ या च पूर्वभावोपलक्षिता, सापि तद्भावविरोधिभावत्वेन तत्प्रतिपक्ष-नायिका स्यात् चन्द्रावल्येव सेति च प्रसिद्धम्, यथोक्तं श्रीबिल्वमङ्गलेन—

"राधामोहनमन्दिरादुपगतश्चन्द्रावलीमूचिवान्,
राधे क्षेममिहेति तस्य वचनं श्रुत्वाह चन्द्रावली।

---

"तस्मिन् दिने च भगवान् रात्रौ राधागृहं ययौ।
सा च क्रुद्धा तमुदरे काञ्चीदाम्ना बबन्ध ह ॥६२९॥
कृष्णस्तु सर्वमावेद्य निजगेह--महोत्सवम्।
प्रियां प्रसादयामास ततः सा तममोचयत् ॥"६३०॥

उस दिन रात्रि में भगवान् राधा के गृह को गये थे। राधा ने क्रुद्ध होकर काञ्ची के द्वारा श्रीकृष्ण के उदर में बंध दिया। श्रीकृष्ण--निज गृह में महोत्सव का विवरण को कह कर प्रिया को प्रसन्न करने से प्रियाने उनको मुक्त कर दिया।

प्रेम प्राबल्य हेतु श्रीकृष्ण को भी उन्होंने बंधा अतः श्रीराधा का प्रेम वैशिष्ट्य सिद्ध होने के कारण–पद्म पुराणोक्ति के "यथा राधा प्रिया" अनुसार एवं 'भा० १०।३०।२८ "अनयाराधितो नूनम्" श्रीमद् भागवत वाक्य प्रमाण के अनुसार श्रीराधा का माहात्म्य से मदीयताभिमानमय कान्त भाव का माहात्म्य सुस्पष्ट प्रतिपन्न हुआ है। द्वारका में श्रीसत्यभामा का भाव श्रीराधा के भाव का अनुगत होने के कारण निखिल महिषी से उनकी प्रशंसा श्रेष्ठतरा है। श्रीविष्णु पुराण में उक्त है—

"यदि ते तद्वचः सत्यं सत्यात्यर्थं प्रियेति मे।
मद्गेह निष्कुटार्थाय तदायं नीयतां तरुः ॥"६३१॥

सत्यभामा श्रीकृष्ण को बोली थीं—तुमने मुझ को कहा है कि--"तुम मेरी अत्यन्त प्रिया हो" यह वाक्य यदि सत्य हो तो मदीय गृह प्राङ्गण में रोपण हेतु यह पारिजात वृक्ष ले चलो" पाद्म कार्त्तिक माहात्म्य में उनके प्रति श्रीकृष्ण वाक्य यह है—"न मे त्वत्तः प्रियतमा" तुम से अधिक प्रियतमा मेरी नहीं है ॥" श्रीहरिवंश में श्रीवैशम्पायन वाक्य भी श्रीसत्यभामा का उत्कर्ष निर्द्धारक है---'सौभाग्ये चाधिकाभवत्" सौभाग्य में सत्यभामा अधिका थीं ॥

त्वदीयतामय भाव के द्वारा जिनकी सूचना की गई है—उनका भाव,--श्रीराधा का भाव विरोधी

कंसक्षेममये विमुग्धहृदये कंस क्व दृष्टस्त्वया,
राधा क्वेति विलज्जितो नतमुखः स्मेरो हरिः पातु वः ।।"६३२।।

इति । अत्र चन्द्रावल्याः सदृशभावा काचिदञ्जलिनेत्यादिना वर्णिता, एका तदङ्घ्रिकमलमित्यादिना च । एते च तत्सख्यौ पद्मा-शैव्ये इत्यभियुक्तप्रसिद्धिः । श्रीराधायाः सदृशभावा च (भा० १०।३२।७) "अपरानिमिषद्दृग्भ्याम्" इत्यादिना वर्णिता, (भा० १०।३२।८) "तं काचित्" इत्यादिना च,—मदीयोऽसौ स्वयमेव मामनुसरिष्यतीति स्वयग्राहस्पर्शाद्यभावेन वाम्यस्पर्शात् । ततश्चैते तत्सख्यौ । एते च प्रायस्तत्सनामत्वात् तदनुगततया पाठाच्चानुराधा-विशाखे भवेताम् । ये खलु 'विशाखा ध्याननिष्ठिका' इति, 'राधानुराधा' इति भविष्योत्तर-पठिते, तत्रानुराधैव ललितेत्यभियुक्तप्रसिद्धिः । सङ्करभावा च (भा० १०।३२।४) 'काचिद्दधार'

---

होने के कारण—वह इनकी प्रतिपक्ष नायिका है, यह चन्द्रावली नाम से प्रसिद्धा है । श्रीबिल्वमङ्गल ने कहा है—

"राधामोहनमन्दिरादुपगतश्चन्द्रावलीमूचिवान्,
राधे क्षेममिहेति तस्य वचनं श्रुत्वाह चन्द्रावली ।
कंसक्षेममये विमुग्धहृदये कंसः क्व दृष्टस्त्वया,
राधा क्वेति विलज्जितो नतमुखः स्मेरो हरिः पातु वः ।।"६३२।।

राधा के मोहन मन्दिर से चन्द्रावली के निकट उपस्थित होकर श्रीकृष्ण कहे थे, राधे ! कुशल तो है ? यह सुनकर चन्द्रावली बोलीं 'कंसक्षेमं' वह कुशल क्या है ? उत्तर में श्रीकृष्ण बोले—अयिविमुग्ध हृदये ! तुमने कंस को कहाँ देखा ? चन्द्रावली बोलीं—यहाँ राधा कहाँ ? यह सुनकर ईषत् हास्य युक्त जो हरि—लज्जा से अवनत वदन हुये थे, वह हरि तुम सब का पालन करें ।

रास में श्रीकृष्ण का पुनराविर्भाव वर्णन में 'काचिदञ्जलिना' किसी गोपी अञ्जलि बद्ध होकर-इत्यादि वाक्य में चन्द्रावली सदृशभाववती नायिका का प्रसङ्ग उत्थित हुआ है । 'एका तदङ्घ्रिकमला' विरह संतप्ता एक गोपी श्रीकृष्ण के चरण कमल को' इत्यादि वाक्य में भी तादृशी नायिका का वर्णन हुआ है, ये दो चन्द्रावली की सखी-पद्म एवं शैव्या हैं । यह प्रसिद्धि है ।

श्रीराधा की सदृश भाववती की कथा-भा० १०।३२।७ में इस प्रकार है-"अपरा निमिषद् दृग्भ्याम्" अपर गोपी अनिमिष नयनों से" इत्यादि एवं भा० १०।३२।८ "तं काचित्नेत्र रन्ध्रेण" किसी गोपी स्वीय नेत्र द्वारा—इत्यादि श्लोकों में वर्णित है । चन्द्रावली एवं उनकी सखी गण आग्रह के सहित श्रीकृष्ण को स्पर्श किये थे" इन्होंने किन्तु स्पर्श नहीं किया । इन्होंने सोचा कि—श्रीकृष्ण तो हमारे ही हैं, हमें आलिङ्गनादि द्वारा अनुभव करेंगे, किन्तु कृष्ण--स्वयं आग्रह के सहित स्पर्शन करने के कारण—उन सब में वाम्य उपस्थित हुआ । इस हेतु उक्त रूप में अवस्थित रहीं । मदीयता अभिमानमयी होने के कारण ये सब श्रीराधा की सखी हैं, ये सब प्राय—श्रीराधा के समान हेतु एवं उनके अनुगत रूप में इनका वर्णन होने के कारण--ये अनुराधा एवं विशाखा हैं । भविष्योत्तर में 'विशाखा ध्यान निष्ठिका' राधा--अनुराधा लिखित है । ये दो वे ही हैं, अनुराधा--ललिता नाम से ख्यात हैं ।

सङ्कर भाववती--अर्थात् जिस में त्वदीयता एवं मदीयता--उभय भाव का सम्मिलन है— उस का विवरण भा० १०।३२।४ में "काचिद्दधार" इत्यादि श्लोक में लिखित है । अर्थात् किसी गोपी चन्दन चर्चित श्रीकृष्ण के बाहु को निजस्कन्ध में धारण करने से प्रथम वर्णित चन्द्रावली के दाक्षिण्यांश में एवं द्वेषोत्थ

इत्यादिनोक्ता,—तद्वाहोरंसे धारणेन पूर्वस्या दाक्षिण्यांशेन साम्यात् उत्तरस्या मदीयत्वातिशयांशेनेत्यादिकं ज्ञेयम् । अस्या मदीयत्वांशप्राबल्यात् श्रीराधया सौहार्द्दम् । एषा खलु श्यामलेत्यभियुक्तप्रसिद्धिः । अत्राष्टमी च विष्णुपुराणोक्ता यथा—

"काचिदायान्तमालोक्य गोविन्दमतिहर्षिता । कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति प्राह नान्यदुदैरयत् ।।"६३३।। इति । अस्या नातिस्फुटभावत्वात्ताटस्थ्यम् । एषा च भद्रेत्यभियुक्तप्रसिद्धिः । तेषां भावानां परमानन्दैकरूपत्वं दर्शयति—(भा० १०।३२।६) "सर्वाः" इति ।। श्रीशुकः ।।

३६८ । अथानुमोदनात्मक कान्तभावे साध्ये तत्सम्भावनार्थं तदीयलेशानुमोदनमात्रस्योदाहरणं यथा (भा० १०।५३।३७–३६) —

(३६८) "अस्यैव भार्य्या भवितुं रुक्मिण्यर्हति नापरा ।
असावप्यनवद्यात्मा भैष्म्याः समुचितः पतिः ।।६३४।।
किञ्चित् सुचरितं यन्नस्तेन तुष्टस्त्रिलोककृत् ।
अनुगृह्णातु गृह्णातु वैदर्भ्याः पाणिमच्युतः ।।६३५।।
एवं प्रेमकलाबद्धा वदन्ति स्म पुरौकसः"

---

श्रीराधा के प्रचुर मदीयतांश में साम्य हेतु— भावसाङ्कर्य्य सुस्पष्ट है । इस में मदीयतांश का प्राबल्य हेतु श्रीराधा में इनका सौहार्द्द्य है । यह श्यामला नाम से प्रसिद्ध है ।

यहाँ तक श्रीराधा, ललिता, विशाखा, चन्द्रावली, शैव्या, एवं पद्मा का उल्लेख हुआ है। अष्टमी नायिका का वर्णन करते हैं—विष्णु पुराण में वर्णित है—

"काचिदायान्तमालोक्य गोविन्दमति हर्षिता ।
कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति प्राह नान्यदुदैरयत् ।।"६३३।।

एक गोपी गोविन्द को आते देखकर परम हर्ष से केवल कृष्ण ! कृष्ण ! कृष्ण ! कही थी, और कुछ नहीं कही । इस का भाव सुस्पष्ट न होने के कारण यह तटस्था है । यह भद्रानामसे प्रसिद्ध है । भा० १०। ३२।६ में उक्त है—

"सर्वास्ताः केशवालोक परमोत्सव निर्वृताः ।
जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जन्मः ।।"

प्राज्ञ व्यक्ति को प्राप्त करने से लोक जिस प्रकार आनन्दित होते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णो देखकर समस्त गोपी आनन्दित हुई थी । प्रवक्ता श्रीशुक हैं—३६७।।

३६८ । साक्षादुपभोगात्मक एवं अनुमोदनात्मक भेद से कान्त भाव द्विविध हैं, एतत् पर्य्यन्त प्रथमोक्त भाव का वर्णन हुआ । अनन्तर शेषोक्त कान्त भाव का वर्णन करते हैं—अनुमोदनात्मक कान्त भाव जिस स्थल में परिनिष्पन्न हो सकता है, वहाँ उस भाव समुत्पादनार्थ उस का लेश मात्र अनुमोदन का दृष्टान्त भा० १०।३५।३७--३९ में है ।

(३६८) "अस्यैव भार्य्याभवितुं रुक्मिण्यर्हतिनापरा ।
असावप्यनवद्यात्मा भैष्मायाः समचितः पतिः ।।६३४।।

अत्र नानावासन-जनानामेषां हृदि तत्तन्नानाविलासमयस्य कान्तभावस्य पूर्णस्वरूपस्पर्शा-योग्यत्वात् कथञ्चित्तद्दाम्पत्यस्थितिमात्रलक्षणस्य तदीयसामान्यांशस्यैवानुमोदनमात्र जातम्। अतएव प्रेमकलाबद्धा इत्युक्तम्। प्रेम्णः कान्तभावस्य या कला कोऽपि लेशस्तेन बद्धास्तदनु-मोदनसुखानुकूला इत्यर्थः। तत एवं यस्य कलयापि विषमभावानामपि सर्वेषां पुरौकसां तथा चित्तवृन्दमुल्लासितम्, यथा युगपदेकमत्यमेव सर्वभावातिक्रमेण सर्वेषां जातम्, स एव यत्र भावराकाधीशः स्वयमुदयते, तच्चित्तानां तादृश उल्लासस्तु परात्पर एव स्यादिति भावः॥ सः॥

३६८। अथ साक्षात्तदनुमोदनात्मक-पूर्णकान्तभावस्योदाहरणमाह (भा० १०।३०।११-१२) -

(३६८) अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रै,-स्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः।
कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः, कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः।६३६।
बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो, रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः।
अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं, किं वाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः।"६३७।

---

किञ्चित् सुचरितं यन्नस्तेन तुष्टस्त्रिलोककृत।
अनुगृह्णातु वैदर्भ्याः पाणिमच्युतः॥६३५॥
एवं प्रेम कला बद्ध वदन्ति स्म पुरौकसः॥"

श्रीकृष्ण कुण्डीन नगर में उपस्थित होने से प्रेमकलाबद्ध नागरिक गण कहने लगे थे- इनकी भार्या होने की योग्या रुक्मिणी है,अपर कोई नहीं। अनिन्दय कलेवर यही रुक्मिणी के समुचित पति हैं, जो कुछ सुकृति है, उस के द्वारा त्रिलोक कर्त्ता सन्तुष्ट होकर यह अनुग्रह प्रकाश करें कि— जैसे अच्युत--रुक्मिणी का पाणि ग्रहण करें।

यहाँ विविध वासना विशिष्ट नागरिक वृन्द के हृदय में पूर्व वर्णित विविध विलासमय कान्तभाव का पूर्ण स्वरूप स्पष्ट अयोग्य होने के कारण,—किसी प्रकार केवल उक्त दाम्पत्य स्थितिरूप कान्त भाव का सामान्य अंश का ही अनुमोदन उत्पन्न हुआ था। अतएव उनसब को प्रेम कलाबद्ध कहा गया है। उस का अर्थ - प्रेकका—कान्त भाव की, जो कला, किञ्चित लेश,–उस के द्वारा बद्ध--उस सुखसे आकुल हो। जिस कान्त भाव की कला के द्वारा विषय भाव विशिष्ट होने पर भी समस्त नागरिक के चित्त वृत्त उस प्रकार उल्लसित हुये थे, सब के सब प्रकार भाव को अतिक्रम करके सब को एकमत करके जो भाव उत्पन्न हुआ था। उस कान्त भाव रूप पूर्ण शशधर स्वयं जिनके चित्त में उचित होता है. उनके चित्त में उस भाव का निरतिशय उल्लास होता है। उक्त श्लोक का यही तात् पर्य्य है। प्रवक्ता श्रीशुक हैं--३६८॥

३६९। अनन्तर साक्षात् उपभोग अनुमोदनात्मक कान्त भाव का उदाहरण भा० १०।३०।११--१२ में है— (३६९) अप्येण पत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रै, स्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः।
कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः, कुन्दस्रज कुलपतेरिह वाति गन्धः।६३६॥
बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो, रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः।
अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं, किं वाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः॥"६३७॥

एणपत्नि एणत्वप्रयोगेण हे प्रशस्तनेत्रे ! पत्नीत्वप्रयोगेण बुद्धया तु हे मादृशमानुषीतुल्ये इत्यर्थः । तत्रापि हे सखि ! वक्ष्यमाणसौभाग्यभरेण हे लब्धमद्विधसख्ये ! प्रियया सहाच्युतः श्रीकृष्णः, श्लेषेण तस्याः सकाशादविश्लिष्टः सन् गात्रैरुभयोः परस्परमासङ्गेन शोभाविशेषं प्राप्तैरङ्गैः कृत्वा वस्त्वादृशीनां दृशां नेत्राणां सुनिर्वृतिं केवल-श्रीकृष्णदर्शनजानन्दादप्यतिशयितमानन्दं तन्वन् विस्तारयन्नुत्तरोत्तरमुत्कर्षयन्नपि किमुपगतः, युष्मत्समीपं प्राप्तोऽभूत् ? ननु कथमिदं भवतीभिरनुमितम् ? इत्याशङ्क्यानुमानलिङ्गं तन्मिथुनश्लाघागर्भ-वचनेनाहु— कान्तेति । कुलपतेर्व्रजनाथवंश-तिलकस्य या कुन्दस्रक् तस्या गन्धः सौभरभ्यमिह वाति, वायुसङ्गेन प्रसरति । कथम्भूतायाः स्रजः ? कान्ता सर्वसाद्गुण्येन तस्यापि लालसास्पदरूपा या स्यात्तस्या अङ्गसङ्गे कुचकुङ्कुमेन रञ्जितायाः, अतः सन्ततपरिचयविशेषेण तत्तत्सौरभ्यविशेषस्यात्रास्माभिरवधारितत्वाद्भवतीनामत्र चरन्तीनां समीपं प्राप्त एवासौ तया युत इत्यर्थः ।

अथ तां तद्दर्शन-जातेन हर्षेण, सम्प्रति तद्वियोगजातेन दुःखेन च स्थगितवचनामाशङ्क्य तेन च तयोः सङ्गममेव निर्द्धार्य्य परमानन्देन तदवसरोचितं तदीयविलासविशेषं वर्णयन्त्यस्तत्र पुष्पादिभरनम्राणां तरूणामपि तदीयसौविदल्लादि-भृत्यविशेष-भावेन तन्नमस्कारमुत्प्रेक्ष्य

---

हे सखी एण पत्नि ! हरिणि ! प्रिया के सहित अच्युत--अङ्ग समूह के द्वारा तुम्हारे नयनों का परमानन्द विस्तार करते करते क्या यहाँ आये थे ? कारण, कान्ता के अङ्ग सङ्ग निबन्धन उनके कुचकुङ्कुम रञ्जित कुलपति की कुसुम माला की गन्ध यहाँ मिल रही है ।

हे तरु गण ! रामानुज श्रीकृष्ण, हस्त में कमल ग्रहण पूर्वक-प्रिया के स्कन्ध देश में बाहु स्थापन कर परस्पर सप्रणय दृष्टि के सहित विचरण करते करते यहाँ जब आये थे, तब क्या तुम्हारे प्रणाम को अभिनन्दित किये थे ? उस समय तुलसीस्थित मदान्ध अलिकुल उनका अनुगमन कर रहे थे ।

श्लोक की व्याख्या—एण पत्नि ! पद से एणत्व प्रयोग द्वारा हे प्रशस्त नेत्रे ! पत्नीत्व प्रयोग द्वारा बुद्धि से किन्तु हे मादृश मानुषी तुल्य ! यह अर्थ प्रकाश हुआ है । इस से भी परितृप्त न होकर कही थीं,— हे सखिगण ! वक्ष्यमाण सौभाग्य के आतिशय्य से हे लब्ध मद्विध सख्ये ! प्रिया के सहित अच्युत श्रीकृष्ण, श्लेष में अच्युत जो च्युत--वियुक्त नहीं होते हैं, इस अर्थ में प्रिया के निकट से अविमुक्त भाव से--परस्पर आलिङ्गन से शोभाविशेष प्राप्त उभयके अङ्गावयव समूह के द्वारा तुम्हारे मादृश नयन समूह की सुनिर्वृति-केवल श्रीकृष्ण दर्शन जनित आनन्द से अत्यधिक आनन्द विस्तार करते करते—उस आनन्द का उत्कर्ष साधन करके भी क्या उपगत हुये थे ? तुम्हारे निकट आये थे ? यदि हरिणि, कहे कि आपने कैसे यह अनुमान किया ! उत्तर में कहती हैं—अनुमान का चिह्न—उस स्त्री पुरुष–राधाकृष्ण की प्रशंसा गर्भ वाक्य से बोलीं—कान्ताङ्ग इत्यादि । कुल पति--व्रजराज वंश तिलक की जो कुन्दमाला है, उस की सुगन्धी सौरभ, यहाँ वायु के सङ्गमें विस्तृत है, वह माला किस प्रकार है ? कान्ता—सर्वरूद् गुण द्वारा जो श्रीकृष्ण की भी ललसा का विषय होती है, उनके अङ्ग सङ्ग से कुच कुङ्कुम द्वारा रञ्जिता । यहाँ उस माला की जो गन्ध उपलब्ध हैं, उस के सहित हम सब का सर्वदा विशेष परिचय है । उस परिचित गन्ध को अनुभव कर समझ जाते है कि-यहाँ विचरण शीला तुम्हारे निकट कान्ता के सहित मिलित होकर श्रीकृष्ण

पुनस्तेषामेव तत्सन्निधिजन्य-सौभाग्यविशेषं तान् प्रत्येव पृच्छन्त्यस्तयोस्तादृशविलासावेशातिशयमाहुः—बाहुं प्रियांस इति। अन्वीयमानोऽनुगम्यमानः, परस्परं प्रणयावलोकैश्चरन् क्रीड़न्, इह वो युष्माकं प्रणामं किं वाभिनन्दति, सादरं गृह्णाति ? अपि तु विलासाविष्टस्य तस्य तदभिनन्दनं न सम्भावयाम इत्यर्थः ॥ श्रीराधासख्यः ॥

३७०। तदेवमालम्बनादि-स्थाय्यन्तभावसम्बलनं चमत्कारावहतयोज्ज्वलाख्यो रसः स्यात्। तस्य च भेदद्वयम्—विप्रलम्भः सम्भोगश्चेति। तत्र विप्रलम्भो विप्रकर्षेण लम्भः प्राप्तिर्यस्य स तथा, यथोक्तम् (उ० नी०, शृङ्गारभेद-प्र० २)

"यूनोरयुक्तयोर्भावो युक्तयोर्वा तयोर्मिथः। अभीष्टालिङ्गनादीनामनवाप्तौ प्रकृष्यते।
स विप्रलम्भो विज्ञेयः सम्भोगोन्नतिकारकः॥"६३८॥ इति।

तदुन्नतिकारकत्वमन्यत्र चोक्तम् ( उ० नी०, शृङ्गारभेद-प्र० ३)—
"न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते। काषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागोऽभिवर्द्धते॥६३९॥ इति।

---

आये थे।

हरिणी वृन्द को उस दर्शन जनित हर्ष से एवं अधुना कृष्ण वियोग जनित दुःख से मौनावलम्बिनी को मानकर एवं श्रीकृष्ण के सङ्गम को निश्चय कर परमानन्द से उस अवसर योग्य श्रीकृष्ण के विलास विशेष का वर्णन में प्रवृत्त हुये। वहाँ पुष्पादि भर से अवनत तरु समूह को श्रीकृष्ण के कञ्चुकी--अन्तःपुर रक्षक भृत्य विशेष रूप में कल्पना करके उनके नमस्कार की उत्प्रेक्षा किये थे। एवं उसके श्रीकृष्ण दर्शन जनित सौभाग्य विशेष उन सब को जिज्ञासा करने में प्रवृत्त होकर श्रीराधा कृष्ण का तादृश प्रचुर विलासावेश का वर्णन कर कहे थे—प्रिया के स्कन्ध में बाहु रखकर इत्यादि। अन्वीयमान अनुगम्य मान अर्थात् तुलसी स्थित अलिकूल जिनके अनुगमन कर रहे थे। श्रीराधा कृष्ण--परस्पर प्रणयावलोकन के सहित विचरण—क्रीड़ा करते करते वहाँ क्या तुम्हारे प्रणाम—अभिनन्दन आदर पूर्वक ग्रहण किये थे ? हम सब किन्तु विलासाविष्ट श्रीकृष्ण कर्त्तृक तुम सब के अभिनन्दन की सम्भावना करने में असमर्थ हैं।

श्रीराधा सहचरी वृन्द बोली थीं ॥३६९॥

३७०। इस रीति से अलम्बनादि एवं स्थायि भाव की चरम सीमा की महाभाव की सम्मिलन चमत्कारिता से उज्ज्वल नामक रस परिनिष्पन्न होता है। उज्जल रस के सम्भोग एवं विप्रलम्भ नामक भेदद्वय है। उसके मध्यमें विप्रकर्ष-व्यवधान से प्राप्ति है जिसका वह विप्रलम्भ है। उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में लिखित है—

"यूनोरयुक्तयोर्भावो युक्तयोर्वा तयोर्मिथः। अभीष्टालिङ्गनादीनामनवाप्तौ प्रकृष्यते।
स विप्रलम्भो विज्ञेयः सम्भोगोन्नतिकारकः॥"६३८॥

नायक नायिका की युक्त वा अयुक्त अवस्था में परस्पर के अभीष्ट आलिङ्गनादि के अभाव से जो भाव प्रकटित होता है, उस को विप्रलम्भ कहते हैं। यह विप्रलम्भ सम्भोग का पोषक होता है। उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ के शृङ्गार भेद प्रकरण में लिखित है—

"न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते।
काषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागोऽभिवर्द्धते॥६३९॥

विप्रलम्भ व्यतीत सम्भोग की पुष्टि नहीं होती है। जिस प्रकार रञ्जित वस्त्र पुनर्वार रञ्जित होने

यदुक्तं स्वयं श्रीकृष्णेन (भा० १०।३२।२०)—"नाहन्तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्" इत्यादि। अन्यत्र च (भा० १०।४७।३४--३५) —

"यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्त्ते प्रियो दृशाम्।
मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया ॥६४०॥
यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्त्तते।
स्त्रीणाञ्च न तथा चेतः सन्निकृष्टेऽक्षिगोचरे"६४१॥

इति। तस्य विप्रलम्भस्य चत्वारो भेदाः,—पूर्व्वरागः, मानः, प्रेमवैचित्त्यम्, प्रवासश्चेति। अथ सम्भोगश्च युनोः सङ्गतयोः सम्वद्धतया भोगो यत्र स भाव उच्यते, यथोक्तम् (उ० नी०, शृङ्गारभेद-प्र० १८८)—

"दर्शनालिङ्गनादीनामानुकूल्यान्निषेवया। यूनोरुल्लासमारोहन् भावः सम्भोग उच्यते॥"६४२॥ इति।

स च पूर्वरागानन्तरज इत्यादिसंज्ञया चतुर्विधः। तत्र पूर्व्वरागः (उ० नी०, शृङ्गारभेद-प्र० ५)-

---

से उस का राग अत्यन्तवर्धित होता है। यह भी उस प्रकार है। भा० १०।३२।२० में श्रीकृष्ण स्वयं ही कहे हैं—"नाहन्तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्।

भजाम्यमीषामनुवृत्ति वृत्तये।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद॥"

जो लोक मेरा भजन करता है—मैं उसका भजन नहीं करता हूँ। कारण—भजन कारिव्यक्ति उस से मेरी चिन्ता निरन्तर करेगा। जिस प्रकार धन हीन व्यक्ति धन लाभ करने के पश्चात् धन अपहृत होने से निरन्तर उस धन की चिन्ता करता है, अन्य कुछ अनुसन्धान कर नहीं सकता, मैं भी भजन कारि व्यक्ति उस प्रकार करने के निमित्त उस का भजन नहीं करता हूँ।

भा० १०।४७।३४-३५ में उद्धव के द्वारा वार्त्ता प्रेरण के समय उक्त है—

"यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्त्ते प्रियो दृशाम्। मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया॥६४०॥
यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्त्तते। स्त्रीणाञ्च न तथा चेतः सन्निकृष्टेऽक्षिगोचरे॥"६४१॥

यथा दूरचरे प्रेष्ठ में रमणी वृन्द का मन आविष्ट होकर रहता है, निकट वर्त्ती दृष्टि गोचर प्रियतम में उस प्रकार निविष्ट नहीं होता है। मैं तुमसब के प्रिय हूँ, तुम सब की दृष्टि के दूर में अवस्थान करने के कारण--तुम सब जैसे ध्यान कर सको, इस अभिप्राय से ही मैं दूर में रहता हूँ। उस ध्यान का उपदेश्य है मेरे सहित तुम सब के मन का सन्निकर्ष उत्पन्न करना है।

उस विप्रलम्भ के चार भेद हैं—पूर्व राग, मान प्रेम वैचित्य, एवं प्रवास। अनन्तर सम्भोग का वर्णन करते हैं--सम्भोग—एकत्र नायक नायिका का मिलित रूप से जिस में भोग होता है, उस भाव को सम्भोग कहते हैं। उज्ज्वल नीलमणि में उक्त है—

"दर्शनालिङ्गनादीनामानुकूल्यान्निषेवया। यूनोरुल्लासमारोहन भावः सम्भोग उच्यते॥"६४२॥

नायक-नायिका पारस्परिक आनुकूल्य से दर्शनालिङ्गन की जो निरतिशय सेवा—अर्थात् आचरण उस के द्वारा भाव--उल्लास के ऊपर आरोहण करके सम्भोग नाम से अभिहित होता है।

"रतिर्या सङ्गमात् पूर्व्वं दर्शन-श्रवणादिजा। तयोरुन्मीलति प्राज्ञैः पूर्व्वरागः स उच्यते ॥"६४३॥

स च अष्टमहिषीषु श्रीरुक्मिण्या यथा (भा० १०।५२।२३)—

(३७०) "सोपश्रुत्य मुकुन्दस्य रूप-वीर्य्य-गुण-श्रियः।
गृहागतैर्गीयमानास्तं मेने सदृशं पतिम् ॥"६४४॥ इत्यादि।

स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

३७१। अथ व्रजदेवीनाम्। तत्र यदासां क्वचिद्बाल्येऽपि सम्भोगो वर्ण्यते, तत् खलु औपपत्तिक-भाववतीनां तासां मध्ये कासाञ्चिन्निमित्तविशेषं प्राप्य कदाचित् कदाचित्तद्-भावाविर्भाव--प्रभावेण कैशोराविर्भावात् सङ्गच्छते। यथा भविष्ये कार्त्तिकप्रसङ्गे-"बाल्येऽपि भगवान् कृष्णः कैशोरं रूपमाश्रितः" इत्यादिनोक्तम्। अन्यदा तदाच्छादने सति तत् कैशोरादिकमाच्छन्नमेव तिष्ठति। तस्माद्भावादीनामविच्छेदाभावान्नाति रसाधायकत्वमिति नात्रोट्टङ्क्यते। अथ महातेजस्वितया षष्ठवर्षमेवारभ्य कैशोराविर्भावाविच्छेदे सति

---

उक्त लक्षण में-आनुकूल्य शब्द का प्रयोग करके उभय के स्वसुख तात्पर्य्य को निषेध किया है, उस से यह जो काममय पाशविक क्रिया विशेष नहीं है—इस का प्रकाश भी हुआ है।

पूर्व रागादि चतुर्विध विप्रलम्भ के पश्चात् समुत्पन्न सम्भोग चतुर्विध हैं। पूर्वराग—का वर्णन करते हैं—उज्ज्वल नीलमणि में उक्त है—

"रतिर्या सङ्गमात् पूर्व्वं दर्शन श्रवणादिजा। तयोरुन्मीलति प्राज्ञैः पूर्व्वरागः स उच्यते ॥"६४३॥

जो रति, सङ्गम के पूर्वमें उत्पन्न होकर विभावादि के सम्मिलन से नायक नायिका उभय में आस्वादमयी होती है, उस को पूर्व राग कहते हैं। पट्टमहिषी वृन्द के मध्य में श्रीरुक्मिणी के पूर्वराग का दृष्टान्त भा० १०।५२।२३ में उक्त है—

(३७०) "सोपश्रुत्य मुकुन्दस्य रूप--वीर्य्य--गुण--श्रियः।
गृहागतैर्गीयमानास्तं मेने सदृशं पतिम् ॥"६४४॥

हे रुक्मिणी ! गृहागत लोकों के मुख से श्रीकृष्ण के रूप, गुण, वीर्य्य, एवं सौन्दर्य्य की कथा को सुनकर उनको निज योग्य पति मानी थीं। श्रीशुक कहे थे—३७०॥

३७१। श्रीव्रजदेवी वृन्द का पूर्वराग--को कहते हैं—इसमें इन सबों का सम्भोग वर्णन किसी स्थल में बाल्य काल में भी वर्णित है, वह स्वाभाविक भाववती उनके मध्य में किसी के पक्ष में कदाचित् उस भावाविर्भाव प्रभाव से कैशोराविर्भाव हेतु सङ्गत होता है। जिस प्रकार—भविष्य पुराण के कार्त्तिक प्रसङ्ग में उक्त है— "बाल्येऽपि भगवान् कृष्णः कैशोरं रूपमाश्रितः"

'भगवान् कृष्ण बाल्य काल में भी कैशोर भाव का आश्रय कर' इत्यादि श्लोक में उक्त विवरण कथित है। अन्य समय में उस भाव आच्छादित होने पर कैशोरादि भी आच्छादित होकर अवस्थित होते हैं। इस हेतु भावादि की अविच्छिन्नता का अभाव होने के कारण, बाल्य का सम्भोग अत्यन्त रस धायक नहीं है, तज्जन्य यह प्रसङ्ग का उल्लेख यहाँ नहीं होगा। अनन्तर महातेजस्विता प्रभाव से षष्ठ वर्ष से अविच्छेद से कैशोराविर्भाव होने से व्रजदेवी गण का पुनर्वार पूर्व राग उत्पन्न होता है। सुतरां उस के पश्चात् अपर जिनका भा० १०।१९।८ "गोपीनां परमानन्द आसीत्" में पूर्वराग वर्णित नहीं हुआ है, उन व्रज

तासामपि पुनः पूर्व्वरागो जायते । ततोऽन्यासान्तु सुतरां स तूदाह्रियते । यथा (भा० १०।२०।४५) —

(३७१) "आश्लिष्य समशीतोष्णं प्रसूनवनमारुतम् ।
जनास्तापं जहुर्गोप्यो न कृष्णहृतचेतसः ॥"६४५॥

गोप्यस्तु न जहुः । तत्र हेतुः--कृष्णेति । विरहे प्रत्युत तापकरत्वादिति भावः ॥ श्रीशुकः ।

३७२--३७३ । तद्विवरणञ्च (भा० १०।२१।१-६) —

(३७२) "इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगन्धिना ।
न्यविशद्वायुना वातं स-गो-गोपालको वनम् ॥६४६॥
कुसुमित-वनराजिशुष्मिभृङ्ग-,द्विजकुलघुष्टसरःसरिन्महीध्रम् ।
मधुपतिरवगाह्य चारयन् गाः, सहपशुपालबलश्चुकूज वेणुम् ।६४७।
तद्व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम् ।
काश्चित् परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन् ॥६४८॥
तद्वर्णयितुमारब्धाः स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम् ।
नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप ॥६४९॥
वर्हापीड़ं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीञ्च मालाम् ।

---

देवीयों का पूर्वराग वर्णित हुआ है । भा० १०।२०।४५॥

(३७१) "आश्लिष्य समशीतोष्णं प्रसूनवनमारुतम् ।
जनास्तापं जहुर्गोप्यो न कृष्णहृतचेतसः ॥"६४५॥

शरत् के समागम से समशीतोष्ण पुष्पवन के वायु स्पर्श से जन गण ताप मुक्त हुये थे, किन्तु कृष्ण कर्त्तृक हृतचित्ता गोपीगण तापमुक्ता नहीं हुई ।

जनगण जिससे तापमुक्त हुये थे, अथच गोपीगण उस से तापमुक्त नहीं हुईं, उस के प्रति हेतु--श्रीकृष्ण,उनके चित्त हरण किये थे । श्रीकृष्ण कर्त्तृक चित्त हरण अर्थात् पूर्वराग-विरह में तापकर होता है ।

३७२-३७३ । व्रजदेवी वृन्द के पूर्वराग का विवरण भा० १०।२१।१--६ में है ।

(३७२) "इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगन्धिना ।
न्यविशद्वायुना वातं स--गो--गोपालको वनम् ॥६४६॥
कुसुमित-वनराजिशुष्मिभृङ्ग ,द्विजकुलघुष्टसरः सरिन्महीध्रम् ।
मधुपतिरवगाह्य चारयन् गाः, सहपशुपालबलश्चुकूज वेणुम् ॥६४७॥
तद्व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम् ।
काश्चित् परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन् ॥६४८॥
तद्वर्णयितुमारब्धाः स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम् ।
नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नप ॥६४९॥

रन्धान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्त्तिः ॥६५०॥
इति वेणुरवं राजन् सर्वभूतमनोहरम्।
श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे ॥६५१॥

श्रीगोप्य ऊचुः,—

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः, सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं, यैर्वा निपीतमनुरक्त-कटाक्षमोक्षम् ॥६५२॥
चूतप्रवाल-वरहस्तवकोत्पलाब्ज-,मालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेशौ ।
मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां, रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ ॥६५३॥
गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु-,र्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम् ।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो, हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथार्य्याः ॥"६५४॥

---

वर्हापीड़ं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीञ्च मालाम् ।
रन्धान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै--
वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्त्तिः ॥६५०॥
इति वेणुरवं राजन् सर्वभूतमनोहरम् ।
श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे ॥६५१॥
अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः, सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः ।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं, यैर्वा निपीतमनुरक्त--कटाक्षमोक्षम् ॥६५२॥
चूतप्रवाल-वरहस्तवकोत्पलाब्ज--,मालानुपृक्त परिधानविचित्रवेशौ ।
मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां, रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ ॥६५३॥
गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु--,र्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम् ।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो, हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथार्य्या, ॥"६५४॥

इस प्रकार शरत् ऋतु के समागम में श्रीवृन्दावन का जल निर्म्मल हुआ, एवं प्रस्फुटित कमलमय सरोवर स्पर्श से सुगन्धी समीरण वहाँ प्रवाहित होने लगा। धेनुवृन्द एवं गोपवृन्द के सहित एवम्बिध वृन्दावन में श्रीकृष्ण प्रवेश किये थे ।१।

गोपगण एवं बलराम के सहित श्रीकृष्ण गोचारण करते करते कुसुमित वन समूह के मध्य में मत्त भ्रमर एवं पक्षिकुल कर्त्तृक निनादित सरोवर, नदी एवं पर्वत विशिष्ट वन में प्रवेश कर वेणु ध्वनि करने लगे ।२। जिस से कन्दर्पोद्रेक होता है, श्रीकृष्ण के इस प्रकार वेणुगीत श्रवण कर व्रजदेवी गण परोक्षरूप में निज सखी गण के निकट वर्णन करने लगीं ।३।

हे नृप ! उस प्रकार वर्णन करने में प्रवृत्त होकर भी कृष्ण चेष्टा स्मरण से व्रजदेवी गण कन्दर्प वेग से विक्षिप्त चित्ता हो गई थीं अतः वर्णन करने में असमर्था रहीं ।४।

किस प्रकार कृष्ण चेष्टा उनके स्मृति पथगत होकर उन सब को क्षुब्ध करी थी–उस को कहते हैं–

तथा-(भा० १०।२१।१०) "वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्त्तिम्" इत्यादि, (भा० १०।२१।११) "धन्याः स्म मूढ़मतयोऽपि हरिण्य एताः" इत्यादि, (भा० १०।२१।१२) 'कृष्णं निरीक्ष्य' इत्यादि (भा० १०।२१।१३) 'गावश्च कृष्णमुख-' इत्यादि, (भा० १०।२१।१४) 'प्रायो बताम्ब विहगा मुनयः' इत्यादि, (भा० १०।२१।१५) 'नद्यस्तदा तदुपधार्य्य' इत्यादि, (भा० १०।२१।१६) 'दृष्ट्वातपे व्रजपशून्' इत्यादि, (भा० १०।२१।१७) 'पूर्णाः पुलिन्द्यः' इत्यादि, (भा० १०।२१।१८) 'हन्तायमद्रिरबलाः' इत्यादि, (भा० १०।२१।१९) 'गा गोपकैः' इत्यादिकञ्च स्मर्त्तव्यम् ।

इत्थमिति, इत्थं पूर्वाध्यायवर्णित-प्रकारेण । कुसुमितेति वनमिति पूर्वेणान्वयः । अत्रत्यं वनं तदन्तर्वनम्, शुष्मिणो मत्ताः, तद्व्रजेति कृष्णस्य वेणुगीतमाश्रुत्य, तथापि परोक्षं लज्जया निजभावावरणाय तदग्रजादिवर्णनसहयोगेनाच्छन्नं यथा स्यात्तथैवावर्णयन् । समुचितवर्णनं हि प्रीतिमात्रं बोधयति, न तु कान्तभावमिति । तद्वर्णयितुमिति तथापि नाशकन्, परोक्षवर्णनायां न समर्था बभुवुः । तत्र हेतुः-स्मरन्त्य इति, तत्र च हेतुः-स्मरवेगेनेति । पूर्वोक्तं कृष्णचेष्टितं वर्णयन्ति,-बर्हापीड़मिति । अधरसुधयेति फुत्कारस्य तत्प्राचुर्य्यं विवक्षितम् ।

---

श्रीकृष्ण नटवर रूप धारण कर निज पदाङ्कित वृन्दावन में प्रवेश किये थे । उनके मस्तक में मयूर पुच्छ के मुकुट, कर्णद्वय में कर्णिकार, पद्म के समान पीतवर्ण पुष्प विशेष परिधान में कनक के समान कपिशवर्ण वसन, एवं गलदेश में वैजयन्ती माला थी । आप अधर सुधा द्वारा वेणुरन्ध्र को पूर्ण कर रहे थे । गोपगण चतुर्द्दिक में उनकी कीर्त्ति गान कर रहे थे ।

हे राजन् ! इस प्रकार सर्वभूत मनोहर वेणुगीत श्रवण कर समस्त व्रजाङ्गनागण श्रीकृष्ण के विषय वर्णन करते करते परस्पर को आलिङ्गन करने लगी थीं ।६।

गोपीगण बोलीं—हे सखीगण ! व्रजराज कुमार-युगल,-जिस समय पशुवृन्द के पश्चात् पश्चात् सखा वृन्द के सहित व्रज में प्रवेश करते हैं,—उस समय पश्चाद् गामी जिनके मुख में वेणु विराजित है, जो अनुरक्त जन गण के प्रति कटाक्ष निक्षेप करते हैं, उन श्रीकृष्ण के मुख माधुर्य्य पान जो करते हैं, उन चक्षुष्मान जन गण का नयन ही सार्थक है । इस से अधिक कुछ नहीं जानती हैं ।।८।।

हे गोपी गण ! श्रीकृष्ण का वेणु कैसा अनिर्वचनीय पुण्याचरण किया है, कहना सम्भव नहीं है । कारण, यह वेणु हम सब के भोग योग्य श्रीकृष्ण अधरामृत यथेष्ट निःशेष से पान कर रहा है । वेणु का सौभाग्य को देखकर जिस नदी के जल से वह पुष्ट हुआ था, वह कमलच्छल से रोमाञ्च प्रकाश कर रहा है, एवं जिस के वंश में वह वेणु उत्पन्न हुआ है— वे सब तरुवृन्द निज वंश में भगवद् भक्त को देखकर कुल वृद्ध पुरुष गण जिस प्रकार आनन्दाश्रु वर्षण करते हैं, उस प्रकार मधु धाराच्छल से आनन्द धारा वर्षण कर रहे हैं ।९।

उसी प्रकार भा० १०।२१।१० में उक्त है, "वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्त्तिम्" "धन्याः स्म मूढ़मतयोऽपि हरिण्य एताः" कृष्णं निरीक्ष्य वणितोत्सव रूपवेषम्" गावश्च कृष्णमुखम् । गा गोपकैरनुवनं' इत्यादि श्लोक भी श्रीव्रजदेवी गण के पूर्व पूर्वानुराग व्यञ्जक हैं । उद्धृत श्लोक समूह की टीका-'इत्थं' विंशति अध्याय में वर्णित प्रकार द्वितीय श्लोकस्थ-"कुसुमित" पद का अन्वय--पूर्व श्लोक के 'वन' पद के सहित है । इस श्लोक में जो वन का वर्णन हुआ है—वह पूर्वोक्त वन के अन्तर्गत है । शुष्मि-शब्द

ततश्च युक्त एव तदनुभवेन तासां तादृशो मोह इति भावः। नाशकन्नित्येतद्विवृणोति,–इतीति। अभिरेभिरे उन्मदा बभूवुः।

अथ यथा नाशकंस्तथा तद्वाक्यद्वारैव दर्शयति,--श्रीगोप्य ऊचुरित्यादिना। तत्र द्विधा परोक्षीकरणाशक्तिः,— एकत्राज्ञानतोऽपि भावप्राबल्येनैवार्थान्तराविर्भावेण अन्यत्र भावपारवश्येन ज्ञानत एव तदुद्घाटनेन। तत्र प्रथमेन यथा–अक्षण्वतामिति। अर्थान्तरं चात्र व्रजेशसुतयोर्मध्ये कनिष्ठत्वेन तदनु पश्चाद् वेणुजुष्टं मुखं तद् यैर्निपीतमिति योज्यम्। अथोत्तरेण यथा चुतप्रवालेत्यादिद्वयम्। तत्र प्रथमं परोक्षीकरणे, द्वितीयं तदशक्ताविति ज्ञेयम्। एवमग्रे

---

का अर्थ 'मत्त' है।

तृतीय श्लोक में वेणुगीत श्रवण की जो कथा है– उस से श्रीकृष्ण के वेणुगीत श्रवण को जानना होगा। अर्थात् तृतीय चरण के 'कृष्णस्य' पद का अन्वय द्वितीय चरण के वेणुगीग पद के सहित करना कर्त्तव्य है। उस में जो परोक्ष वर्णन की कथा है, वह लज्जा हेतु निजभाव आवरण करने के निमित्त श्रीकृष्ण के अग्रज--बलदेवादि का वर्णन के सहित हुआ है, जिस से श्रीकृष्ण की कथा आवृत हो, उस प्रकार वर्णन हुआ है। व्रजदेवी वृन्दने उस प्रकार वर्णन ही किया है। समुचित वर्णना से प्रीति मात्र प्रतीति होती है, कान्त भाव की प्रतीति नहीं होती है।

चतुर्थ श्लोक में श्रीव्रजदेवी वृन्द के परोक्ष वर्णन में भी जो असमर्थ की कथा है। उसका हेतु है— श्रीकृष्ण स्मरण। उससे उस समय-कन्दर्प वेग से उन सबका चित्त विक्षिप्त हुआ था, इस हेतु परोक्ष वर्णन करने में भी वे असमर्था हुई थीं।

पञ्चम श्लोक में–मूल श्लोकोक्त कृष्ण चेष्टा--श्रीकृष्ण, नटवर रूप धारण करके इत्यादि वाक्य उक्त है। उस में जो अधर सुधा द्वारा वेणु रन्ध्र पूर्त्ति की कथा है, उससे फुत्कार से अधर सुधा का प्राचुर्य्य वर्णन ही अभिप्रेत है। सुतरां अधर सुधा का प्राचुर्य्यानुभव से व्रजाङ्गना गण का तादृश मोह होना सङ्गत है। श्रीकृष्ण चेष्टा वर्णन में व्रजाङ्गना गण की असामर्थ्य की कथा–षष्ठ श्लोक के हे राजन् इत्यादि वाक्य के द्वारा विवृत हुई है। इस श्लोक में परस्पर आलिङ्गन की जो कथा है—उससे उन सब की प्रेमोन्माद अवस्था वर्णित हुई है।

अनन्तर, उन्होंने परोक्षभाव से वर्णन करने में असमर्थ होकर जिस प्रकार वर्णन किया है— उस का वर्णन–श्रीगोप्य ऊचुः। 'गोपीगण बोली थीं' इत्यादि कतिपय श्लोकों में हुआ है। श्रीगोपी वाक्य में परोक्षा करणा सामर्थ्य दो प्रकार से देखी जाती है। एक स्थल में अज्ञान से भी भाव प्राबल्य के कारण अर्थान्तर आविर्भाव के द्वारा, अन्यत्र, भाव पारवश्य हेतु ज्ञान पूर्वक भाव प्रकटन द्वारा। तन्मध्ये प्रथम प्रकार का दृष्टान्त--'हे सखीगण' इत्यादि सप्तम श्लोक है। यहाँ अर्थान्तर- व्रजराज कुमार युगल के मध्य में कनिष्ठ होने के कारण – अनुपश्चात् गामी वेणु सेवित वदन का पान जो करते हैं, इस प्रकार अर्थ योजना करनी चाहिये। अर्थात् व्रजराज कुमार श्रीराम कृष्ण के मध्य में श्रीकृष्ण कनिष्ठ होने के कारण–पश्चात् पश्चात् गमन करते हैं। सुतरां उनका वेणु युक्त वदन पश्चात् हो रहता है। उस मुख माधुर्य्य का पान जो करते हैं, उनका ही नयन सार्थक है। व्रजाङ्गना गण– श्रीकृष्णानुराग को गोपन करने के निमित्त श्रीबलदेव के सहित श्रीकृष्ण का वर्णन करने पर भी उनका विषय वर्णन विशेष रूप से करने के कारण उन सब का भाव व्यक्त हो गया है।

भाव पारवश्य में ज्ञानतः भावाभिव्यक्ति का दृष्टान्त--'चूत प्रवाल' 'आम्र का नव पल्लव' इत्यादि

च गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीतेत्यादिषु विजातीयभाववर्णनमपि परोक्षविधाने मन्तव्यम् । अथोपसंहारः (भा० १०।२१।२०)—

(३७३) "एवंविधा भगवतो या वृन्दावनचारिणः ।
वर्णयन्त्यो मिथो गोप्य क्रीड़ास्तन्मयतां ययुः ॥" ६५५॥

तन्मयतां तदाविष्टताम्,--स्त्रीमयः षिड़्ग इतिवत् ॥ श्रीशुकः ॥

३७४ । तथा तासु कुमारीणाम् (भा० १०।२२।१) —

(३७४) "हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिकाः ।
चेरुर्हविष्यं भुञ्जानाः कात्यायन्यर्च्चनव्रतम्" ६५६॥ इत्यादि ।

स्पष्टम् ॥ सः ॥

३७५ । अत्र कामलेखादिप्रस्थापनं मतम्, तत्रोदाहरणम्,—(भा० १०।५२।३७) श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते" इत्यादि श्रीरुक्मिणी-सन्देशादिकं ज्ञेयम् । अथ पूर्वरागानन्तरजः

---

दो श्लोक हैं । उक्त द्विविध दृष्टान्त के मध्य में प्रथम प्रकार का दृष्टान्त भाव गोपन है, और द्वितीय प्रकार का दृष्टान्त—उस में असामर्थ्य ज्ञापन है ।

इस प्रकार परोक्ष विधानार्थ ही—अग्रवर्त्ती ' गो गण-कृष्ण मुख निर्गत वेणुगीतामृत श्रवण करके" इत्यादि श्लोक समूह में विजातीय भाव वर्णन किये हैं । एवं विध पूर्वराग वर्णन का उपसंहार-भा० १०।२१।२० में हुआ है—

(३७३) "एवं विधा भगवतो या वृन्दावनचारिणः ।
वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीड़ास्तन्मयतां ययुः ॥" ६५५॥

वृन्दावन चारी भगवान् की इस प्रकार जो क्रीड़ा है, उसका वर्णन करते करते गोपीगण तन्मयता प्राप्त हो गई थीं । तन्मयता शब्द का अर्थ है—तदाविष्टता । 'स्त्रीमय कामुक' कहने से जिस प्रकार स्त्री में कामुक का जिस प्रकार परमावेश सूचित होता है, यहाँ पर भी तन्मयता शब्द से श्रीव्रजदेवी वृन्द का श्रीकृष्ण में परमावेश सूचित हुआ है । प्रवक्ता श्रीशुक हैं--३७२-३७३॥

३७४ । श्रीकृष्ण प्रेयसी गोपी गण के मध्य में कुमारी गण का पूर्वानुराग का वर्णन भा० १०।२२।१ में है— (३७४) "हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिकाः ।
चेरुर्हविष्यं भुञ्जानाः कात्यायन्यर्च्चनव्रतम् ॥" ६५६॥

हेमन्त ऋतु के प्रथममास में नन्द व्रज कुमारी गण हविष्य भोजन करके कात्यायनी अर्च्चन रूप व्रताचरण किये थे । इत्यादि वस्त्र हरणाध्याय में वर्णित है । श्रीशुक कहे थे—३७४॥

३७५ । इस अवस्था में कामलेखादि प्रेषण सङ्गत होता है । भा० १ ।५२।३७ में उदाहरण है—"श्रुत्वा गुणान् भुवन सुन्दर शृण्वतां ते" हे भुवन सुन्दर ! तुम्हारे गुण श्रवण करके इत्यादि श्रीरुक्मिणी प्रेषित संवादादि काम लेखा का उदाहरण है ।

अनन्तर पूर्व रागान्तर संघटित सम्भोग का वर्णन करते हैं । उस सम्भोग के साधारणतः सन्दर्शन, संजल्प, संस्पर्श एवं सम्प्रयोग रूप चतुर्विध भेद दृष्ट होते हैं । सम्यक् दर्शन है जिस में, उस भाव को सन्दर्शन

सम्भोगः । तत्र सम्भोगस्य सामान्याकारेण सन्दर्शन-सङ्कल्प-संस्पर्श-सम्प्रयोग-लक्षणभेद-चतुष्टय-भिन्नत्वं दृश्यते । सन्दर्शनं सम्यग्दर्शनं यत्र स भाव इत्यादि । अथ श्रीरुक्मिण्याः सन्दर्शन-संस्पर्शनाख्यौ तदनन्तरजौ सम्भोगौ यथा (भा० १०।५३।५४-५५) —

(३७५) "सैवं शनैश्चलयती चरणाब्जकोषौ, प्राप्तिं तदा भगवतः प्रसमीक्षमाणा।"
"उत्सार्य्य वामकरजैरलकानपाङ्गैः, प्राप्तान् ह्रियैक्षत नृपान् ददृशेऽच्युतं सा।
तां राजकन्यां रथमारुरुक्षतीं, जहार कृष्णो द्विषतां समीक्षताम् ॥" ६५७॥

भगवतः प्राप्तिं तत्रागमनं ह्रिया प्रसमीक्षमाणा सलज्जं द्रष्टुमारभमाणा प्राप्तान् पुरतः स्थितान् नृपानैक्षत । ततश्च व्याकुलचित्ता तत्रैव पुनरच्युतमपि ददृश इत्यर्थः ।। श्रीशुकः ॥

३७६-३७८ । अथ व्रजकुमारीणां सन्दर्शन-सञ्जल्पौ यथा (भा० १०।२२।९) —

(३७६) "तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरः।
हसद्भिः प्रहसन् बालैः परिहासमुवाच ह ॥" ६५८॥ इत्यादि ।

अत्रैवं विवेचनीयम्,— तेन यद्यपि तासां स्वविषयप्रेमोत्कर्षो जायत एव, तथापि तदभि-

---

कहते हैं । श्रीरुक्मिणी देवी का पूर्वराग के अनन्तर सञ्जात सन्दर्शन एवं संस्पर्शन नामक सम्भोग का उदाहरण भा० १०।५३।५४--५५ में है—

(३७५) "सैवं शनैश्चलयती चरणाब्जकोषौ, प्राप्तिं तदा भगवतः प्रसमीक्षमाणा."
उत्सार्य्य वामकरजैरलकानपाङ्गैः, प्राप्तान् ह्रियैक्षत नृपान् ददृशेऽच्युतं सा।
तां राजकन्यां रथमारुरुक्षतीं, जहार कृष्णो द्विषतां समीक्षताम् ॥" ६५७॥

शनैः शनैः चरण कमल द्वय सञ्चालन पूर्वक वहाँ भगवत् दर्शनार्थिनी रुक्मिणी वाम कराङ्गुलि के द्वारा अलकावली को उत्तोलन करके उपस्थित राजगण एवं श्रीकृष्ण का दर्शन करने लगीं, अनन्तर राज कन्या रुक्मिणी रथा रोहण में प्रवृत्ता होने से विद्वेषी राज वृन्द के साक्षात् में ही श्रीकृष्ण उनको हरण किये थे । भगवान् की प्राप्ति,—वहाँ उनका आगमन, दर्शनार्थिनी सलज्जभाव से देखने में प्रवृत्त होकर, उपस्थित-सम्मुखस्थित राज गण का दर्शन किये । अनन्तर व्याकुल चित्ता होकर उस स्थान में ही पुनर्वार श्रीकृष्ण का दर्शन किये थे । यही उक्त श्लोक का अभिप्राय है । श्रीशुक कहे थे— ३७५॥

३७६--३७७--७८ । अनन्तर व्रज कुमारी गण का सन्दर्शन एवं संजल्प का वर्णन करते हैं—भा० १०।२२।९ में उक्त है--

(३७६) "तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरः।
हसद्भिः प्रहसन् बालैः परिहासमुवाच ह ॥" ६५८॥

श्रीकृष्ण—व्रजकुमारी गणके वस्त्र ग्रहण पूर्वक सत्वर कदम्ब वृक्षमें आरोहण किये थे । हास्यकारी बालक गण के सहित उच्चहास्य के सहित परिहास वाक्य प्रयोग करने लगे थे ।

यहाँ विचारणीय यह है कि—श्रीकृष्ण, यद्यपि निज विषय में व्रजकुमारी गण का प्रेमोत्कर्ष को जानते थे, तथापि तत् प्रकाशक चेष्टा विशेष के द्वारा साक्षाद् भाव से उनका गरीयान् प्रेम का आस्वादन करने के निमित्त कौतुक के सहित तादृश-वस्त्र हरण लीला विस्तार किये थे । वनिता का -अर्थात्

व्यञ्जक-चेष्टाविशेषद्वारा साक्षात्तदास्वादाय तादृशी लीला सनर्म्मं विस्तारिता। विदग्धानाञ्च यथा वनितानुरागास्वादने वाञ्छा, न तथा तत्स्पर्शादावपि। तत्र लज्जाच्छेदो नाम पूर्वानुरागव्यञ्जको दशाविशेषो वर्त्तते। तथोक्तम् (उ० नी०, शृङ्गारभेद-प्र० ७१)

"नयनप्रीतिः प्रथमं, चिन्तासङ्गस्ततोऽथ सङ्कल्पः। निद्राच्छेदस्तनुता, विषयनिवृत्तिस्त्रपानाश।
उन्मादो मूर्च्छा मृति-,रित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः॥"६५९॥ इति।

तेषु च व्यञ्जकेषु कुलकुमारीणां लज्जाच्छेद एव परकाष्ठा। ता हि दशमीमप्यङ्गीकुर्वन्ति, न तु वैजात्यम्। ततोऽनुरागातिशयास्वादनार्थं तथा परिहसितम्। सखायश्च ते (भा० १०।२२।११) "न मयोदितपूर्वं वा अनृतं तदिमे विदुः" इति सन्तत-तदविनाभावव्यक्त्या (भा० १०।२२।९) "हसद्भिः" इत्यादौ बाल-शब्द प्रयुक्त्या च तदीयसख्यव्यतिरिक्त-भावान्तरास्पर्शिनस्तदङ्गनिविशेषा अत्र बाला एव च। ये चोक्ता गौतमीयतन्त्रे प्रथमावरणपूजायाम्—

"दाम-सुदाम-वसुदाम-किङ्किणीर्गन्धपुष्पकैः। अन्तः करणरूपास्ते कृष्णस्य परिकीर्त्तिताः।
आत्माभेदेन ते पूज्या यथा कृष्णस्तथैव ते॥"६६०॥ इति।

---

अनुरागवती रमणी का अनुराग आस्वादन करने में रसज्ञ गण की जिस प्रकार वाञ्छा होती है, उसके स्पर्शादि में उस प्रकार वाञ्छा नहीं होती है। वस्त्र हरण लीला में लज्जाच्छेद नामक पूर्वानुराग व्यञ्जक दशा विशेष है, उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में उक्त है—

"नयन प्रीतिः प्रथमं, चिन्तासङ्गस्ततोऽथ सङ्कल्पः।
निद्राच्छेदस्तनुता, विषय निवृत्तिस्त्रपानाशः।
उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः॥"६५९॥

नयन प्रीति—प्रथम सम्भोग, संजल्प, निद्राच्छेद, कृशता, विषय निवृत्ति, लज्जाच्छेद, उन्माद, मूर्च्छा, एवं मृत्यु-ये दशविध स्मरदशा हैं।

अनुराग व्यञ्जक दशा समूह के मध्य में कुल कुमारी वृन्द के लज्जाच्छेद हो अनुराग की पराकाष्ठा व्यक्त होती है। वे दशमीदशा मृत्युको भी अङ्गीकार करती है, तथापि लज्जात्याग नहीं करती हैं। सुतरां व्रजकुमारी वृन्दका प्रचुरतम अनुराग आस्वादन करने के निमित्त ही श्रीकृष्ण, उस प्रकार परिहास किये थे।

वस्त्र हरण प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण के जो सब सखा का उल्लेख हुआ है,—उन सब का विवरण भा० १०।२२।११ में है—'न मयोदितपूर्वं वा अनृतं तदिमे विदुः" मैंने पहले कभी भी मिथ्या नहीं कही है। बालक गण इस को जानते हैं। इस वाक्य से प्रतीत होता है कि—सखागण-श्रीकृष्ण सङ्ग को कभी भी नहीं छोड़ते हैं। यह भाव व्यक्त होने से एवं हास्यकारी इत्यादि वाक्य को उन सब को बालक शब्द से उल्लेख होने के कारण, जो श्रीकृष्ण के सख्य व्यतीत अन्य भाव का स्पर्श नहीं करते हैं, इस प्रकार तदीय अङ्ग निर्विशेष सखा वृन्द को उक्त श्लोक में बालक कहा गया है।

गौतमीयतन्त्र की प्रथमावरण पूजा में लिखित है—

"दाम--सुदाम—वसुदाम किङ्किणीर्गन्धपुष्पकैः। अन्तःकरणरूपास्ते कृष्णस्य परिकीर्त्तिताः।
आत्माभेदेन ते पूज्या यथा कृष्णस्तथैव ते॥"६६०॥

ततो रहस्यत्वात्तादृशानुरागास्वादकौतुक-प्रयोजनक-नर्मपरिपाटीमयत्वात्तस्यां लीलायां न रसवस्त्व-व्याघातः, प्रत्युत तदुल्लास एव। तथैव तस्यां लीलायां श्रीकृष्णस्याभिप्रायं मुनीन्द्र एव व्याचष्टे (भा० १०।२२।१८)—

(३७७) "भगवानाहता वीक्ष्य शुद्धभावप्रसादितः।
स्कन्धे निधाय वासांसि प्रीतः प्रोवाच सस्मितम् ॥" ६६१॥

आहता आगताः, लज्जात्यागेऽपि स्त्रीजाति-स्वभावेन लज्जांशावशेषात् नतदेहा ईषद्भग्नदेहा वा, एवमुत्कण्ठाभिव्यक्त्या तद्भावमुग्धत्वाभिव्यक्त्या च शुद्धः परमौज्ज्वल्येनावगतो यो भावस्तेन तदास्वादनेन जनितचित्तप्रसत्तिः।

अथ पुनरपि (भा० १०।२२।१९) "यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रताः" इत्यादिकं तल्लज्जांशावशेष-निःशेषता-दर्शनकौतुकार्थं श्रीकृष्णनर्मवाक्यम्, तदनन्तरम् (भा० १०।२२।२०) "इत्यच्युतेन" इत्यादिकं तासामपि तथैव तद्वचनस्थितत्व-व्यञ्जकं मुनीन्द्रवाक्यं पूर्वतोऽप्युत्कण्ठां भाव-मुग्धत्वञ्च व्यञ्जयति। तदनन्तरमपि स्वयं तथैव व्याचष्टे (भा० १० २२।२२)—

(३७८) "दृढं प्रलब्धास्त्रपया च हापिताः, प्रस्तोभिताः क्रीड़नवच्च कारिताः।

---

दाम, सुदाम, वसुदाम, किङ्किणी की पूजा गन्ध पुष्प के द्वारा करे वे श्रीकृष्ण के अन्तः करण स्वरूप हैं। वे श्रीकृष्ण के अभिन्न रूप में पूजनीय हैं। जिस प्रकार श्रीकृष्ण हैं, उसी प्रकार वे भी हैं।

सुतरां उक्त सखागण के समक्ष में प्रकाश करके परम वस्त्र हरण लीला गुप्तभाव से निष्पन्न हुआ है, इस हेतु-एवं तादृश अनुराग आस्वादन रूप कौतुक निर्वाहार्थ श्रीकृष्ण परिहास परिपाटी मय वाक्य प्रयोग किये थे। अतः वस्त्र हरण लीला में रस का व्याघात नहीं हुआ है—प्रत्युत रसका उल्लास ही हुआ है। श्रीशुकदेव उस लीला में श्रीकृष्ण का अभिप्राय की व्याख्या तदनुरूप ही किये हैं।

(३७७) "भगवानाहता वीक्ष्य शुद्धभावप्रसादितः।
स्कन्धे निधाय वासांसि प्रीतः प्रोवाच सस्मितम् ॥" ६६१॥

शुद्ध भाव से प्रसादित भगवान् उन सब को आहता देखकर सन्तुष्ट हुये थे। उनके वसन समूह को स्कन्ध में लेकर प्रसन्न वदन से कहे थे।

आहता—आगता! किंवा, व्रजकुमारी गण—लज्जा त्याग करने पर भी स्त्री स्वभाव से लज्जांश अवशिष्ट था। अतः नम्रता हेतु उनके देह ईषद् भग्न देखा गया था, इस हेतु उन सब को आहता कहते हैं। इस प्रकार उत्कण्ठा अभिव्यक्ति एवं भाव मुग्धता अभिव्यक्ति हेतु श्रीकृष्ण शुद्ध भाव प्रसादित थे। शुद्ध--परमोज्ज्वलता द्वारा जो भाव अवगत हुआ है, तद् द्वारा—उस भावास्वादन के द्वारा उनके प्रति श्रीकृष्ण का चित्त आकृष्ट होने के कारण उनको शुद्ध भाव प्रसादित कहा गया है।

अनन्तर पुनर्वार भा० १०।२२।१९ में श्रीकृष्ण उन सब को कहे थे—"यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता" तुम सबने व्रत धारण पूर्वक जो विवस्त्रा होकर जल में प्रवेश किया है, यह कथन उनके अवशिष्ट लज्जांश ध्वंस दर्शन करने के अभिप्राय से कौतुक वाक्य है।

इस के पश्चात् भा० १०।२२।२२ में श्रीशुक ने कहा है—

वस्त्राणि चैवापहृतान्यथाप्यमुं, ता नाभ्यसूयन् प्रियसङ्गनिर्वृताः ।।६६२।।

दृढ़मत्यर्थं प्रलब्धा वञ्चिताः,–यूयं विवस्त्रा इत्यादिना, त्रपया लज्जया च हापिताः,–अत्रागत्य स्ववासांसीत्याग्रहेण, प्रस्तोभिता उपहसिताः,–सत्यं ब्रवाणि नो नर्मेत्यादिना, क्रीड़नवत् कारिताश्च,–बद्धाञ्जलिमित्यादिप्रायश्चित्तच्छलेन । न च तासां तत्र दोषोऽस्ति, येन वञ्चनादिकं कृतम्, प्रत्युत तस्यैवेत्याह स्वयं तेनैव,–'वस्त्राणि च हृतानि' इति । तथापि तं प्रति ता नाभ्यसूयन्, प्रत्युत प्रियस्य तस्य सङ्गेन निर्वृताः,–परमानन्दमग्ना बभुवुरिति ।। श्रीशुकः ।।

३७९-३८२ । अथ यज्ञपत्नीनां ब्राह्मणीत्वेन योग्यत्वाभावात् श्रीकृष्णस्य तासु भावेऽनुदिते सति पूर्वराग इव प्रतीयमानो यो भावस्तदनन्तरं च सन्दर्शन-सञ्जल्परूपसम्भोग इव प्रतीयमानो यः,स तु सम्भोगाभासस्तस्य हेमन्तस्यानन्तरे निदाघे द्रष्टव्यः । यथाह (भा० १०।२२।२९)

---

(३७८) "दृढं प्रलब्धास्त्रपया च हापिता, प्रस्तोभिताः क्रीड़नवच्च कारिताः ।
वस्त्राणि चैवापहृतान्यथाप्यमुं, ता नाभ्यसूयन् प्रियसङ्गनिर्वृताः ।।"६६२।।

श्रीकृष्ण, विवस्त्र स्नान को दोषरूप में उल्लेख करने से व्रजकुमारी गण उसको व्रत भङ्ग का कारण मानी थीं, अनन्तर उक्त व्रत पूर्त्ति कामना से उस व्रत एवं अन्यान्य अशेष कर्म्म का साक्षात् साध्य फल स्वरूप श्रीकृष्ण को उन्होंने प्रणाम किया । कारण उस से निखिल दोष विनष्ट होते हैं ।

शुकदेव की उक्ति से व्रज कुमारी गण की कृष्णानुवर्त्तिता व्यञ्जित हुआ है, अर्थात् उन्होंने जो सम्पूर्ण रूप से लज्जा त्याग किया है, उससे उनकी पूर्वापेक्षा अधिक उत्कण्ठा एवं भाव मुग्धता व्यञ्जित हुआ है ।

अनन्तर शुकदेव स्वयं ही कहे हैं– व्रजकुमारी गण श्रीकृष्ण कर्त्तृक अत्यन्त प्रलब्धा, लज्जा द्वारा त्यजिता, प्रस्तोभिता हुई थीं, श्रीकृष्ण--उन सब को क्रीड़ा पुत्तलिका के समान किये थे । उन सब का वस्त्र हरण करने पर भी वे उनके प्रति दोषारोप नहीं किये । किन्तु वे प्रियतम का सङ्ग प्राप्त कर परमानन्दित हुई थीं ।

श्रीकृष्ण के प्रति दोषारोप करने के अनेक कारण थे । किन्तु व्रजकुमारी गण वैसा नहीं किये । दोषारोप के कारण समूह ये हैं—प्रलब्धा – "तुम सब विवस्त्रा होकर" इत्यादि वाक्य के द्वारा श्रीकृष्ण उन सब को वञ्चना किये थे ।

त्रपया लज्जया च हापिता—तुम सब यहाँ आकर निज निज वस्त्र ग्रहण करो— इत्यादि वाक्य से उन सब को लज्जा प्रदान कर उपेक्षा किये थे । प्रस्तोभिता—"सत्य कहता हूँ यह परिहास नहीं है, इस वाक्य से उपहास किये थे । विवस्त्रा होकर स्नान के प्रायश्चित्त रूप में बद्धाञ्जलि होकर आओ" इत्यादि कहकर उन सब को क्रीड़ा पुत्तलिकावत् किये थे । व्रज कुमारी वृन्द वञ्चनाभागी हो सकती हैं, इस प्रकार दोष उन सब का नहीं था, किन्तु दोष कृष्ण का ही था । इस हेतु श्रीशुक स्वयं ही कहे हैं—श्रीकृष्ण, उनके वस्त्र हरण किये थे, तथापि उन्होंने दोषारोप नहीं किया । किन्तु प्रिय हैं, उनके सङ्ग प्राप्त कर परमानन्द में निमग्न हो गई थीं" श्रीशुक कहे थे—३७८।।

३७९ । किन्तु यज्ञ पत्नी गण ब्राह्मणी होने के कारण—वे कृष्ण प्रेयसी होने की अयोग्या थीं । इस हेतु उनके प्रति पूर्वराग उदित न होने से पूर्वराग के समान प्रतीयमान जो भाव एवं तदनन्तर सन्दर्शन एवं संजल्प सम्भोग के समान प्रतीयमान जो सम्भोगाभास है, वह हेमन्त वर्णन के पश्चात् निदाघ वर्णन में

(३७९) "अथ गोपैः परिवृतो भगवान् देवकीसुतः ।
वृन्दावनाद्गतो दूरं चारयन् गाः सहाग्रजः ॥"६६३॥

अथ व्रजकुमार्य्यनुग्रहानन्तरं क्वचिन्निदाघदिन इत्यर्थः। आनन्तर्य्यमिह आगामिनिदाघान्तरं व्यवच्छिनत्ति । तस्मिंश्च दिने श्रीबलदेवोऽपि सङ्ग आसीदित्याह—सहाग्रज इति, वृन्दावनाद्गतो दूरमिति पर्वतमय-काम्यकवनगमनात्, ततश्च धातुरागवेशत्वेन (भा० १०।२२।३६) "तरूणां नम्रशाखानां मध्येन यमुनां गतः" इत्यनेन च लब्धत्वात् । तदेतन्न व्रजं दक्षिणीकृत्य गतत्वात् सङ्गतम् । यमुनोपकण्ठगत्या पश्चादेव भक्तक्रीड़नाख्यं कुट्टिमं च गत इति ज्ञेयम् । यस्य च दक्षिणतो मधुपुरादुत्तरतो याज्ञिकब्राह्मणा ऊषुरिति च । अतः कंससमीपवासत्वात् (भा० १०।२३।५२) "कंसाद्भीता न चाचलन्" इत्यनेन तेषां ब्राह्मणानां श्रीभगवन्मिलनं न जातमिति क्रमोऽत्र कर्त्तव्यः । तस्य दिनस्य गुणेन शब्देन च निदाघसम्बन्धित्वमाह (भा० १०।२२।३०)—

---

द्रष्टव्य है । भा० १०।२२।२९ में उक्त है—

(३७९) "अथ गोपैः परिवृतो भगवान् देवकीसुतः ।
वृन्दावनाद्गतो दूरं चारयन् गाः सहाग्रजः ॥"६६३॥

अनन्तर व्रज कुमारी गणके प्रति अनुग्रह करने के पश्चात् ग्रीष्म दिन में अर्थात् जिस वत्सर हेमन्त में व्रजकुमारी गण के प्रति अनुग्रह प्रकाश किये थे, उसी वत्सर ग्रीष्म ऋतु में यज्ञ पत्नी गण के प्रति भी अनुग्रह प्रकाश किये थे। किसी की धारणा ऐसी नहीं कि—व्रजकुमारी गण के अनुग्रह प्रकाश के परवर्त्ती वत्सर ग्रीष्म ऋतु में अनुग्रह प्रकाश किये थे । इस प्रकार धारणा निरासार्थ—अनन्तर शब्द का प्रयोग किया गया है। परवर्त्ती वत्सर की ग्रीष्म ऋतु होने से यज्ञ पत्नी गण के प्रति अनुग्रह रास के पश्चात् प्रतिपन्न होता है, किन्तु वैसा नहीं है। कारण, उस दिन श्रीबलदेव भी साथ थे । इस हेतु कहा गया है—

अग्रज के सहित पर्वतमय काम्यक वन में गये थे, अतः कहे हैं कि—वृन्दावन से दूर में गये थे। इस हेतु श्रीकृष्ण के धातुराग वेश—काम्यवन के सौगन्धिक नामक गैरिक द्वारा रचित तिलकादि सज्जा वर्णित है। भा० १०।२२।३६ में उक्त है—

"तरूणां नम्र शाखानां मध्येन यमुनां गतः"

नम्र शाख वृक्ष समूह के मध्यवर्त्ती पथ से यमुना गये थे। इस वर्णन के द्वारा भी काम्यवन गमन प्रतीत होता है । व्रज को दक्षिण में रख कर गये थे । अतः उक्तरूप गमन वर्णन सङ्गत होता है । यमुना के तीर तीर से जाकर पश्चात् भक्त क्रीड़न नामक कुट्टिम में गये थे, इस प्रकार जानना चाहिये । उस स्थान के दक्षिण में एवं मथुरापुरी के उत्तर याज्ञिक ब्राह्मण गण निवास करते थे । इस हेतु याज्ञिक गण कंस समीप में निवास करते थे, अतः वे श्रीकृष्ण दर्शन हेतु कंस भय से नहीं गये थे । भा० १०।२३।५२ "कंसाद् भीता न चाचलन्" इस वर्णना के अनुसार उन ब्राह्मण वृन्द का भगवत् सम्मिलन नहीं हुआ । इस प्रकार क्रम ही यहाँ करना कर्त्तव्य है ।

नैसर्गिक गुण वर्णना एवं स्पष्टोक्ति के द्वारा उस दिन जो ग्रीष्म सम्बन्धीय था—उस को कहते हैं—भा० १०।२२।३०

(३८०) "निदाघार्कातपे तिग्मे छायाभिः स्वाभिरात्मनः।
आतपत्रायितान् वीक्ष्य द्रुमानाह व्रजौकसः॥"६६४॥ इत्यादि।

निदाघस्यार्कातपे तिग्मे सति।

अथ सम्भोगाभासो यथा (भा० १०।२३।२१--२३) —

(३८१) "यमुनोपवने रम्ये तरुपल्लवमण्डिते।
विचरन्तं युतं गोपैर्ददृशुः साग्रजं स्त्रियः॥६६५॥
श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह-,धातुप्रवाल-नटवेशमनुव्रतांसे।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं, कर्णोत्पलालक-कपोलमुखाब्जहासम्॥६६६॥
प्रायः श्रुतप्रियतमोदयकर्णपूरै-,र्यस्मिन्निमग्नमनसस्तमथाक्षिरन्ध्रैः।
अन्तः प्रवेश्य सुचिरं परिरभ्य तापं, प्राज्ञं यथाभिमतयो विजहुर्नरेन्द्र॥"६६७॥

अभिमतयोऽहङ्कारवृत्तयो यथा प्राज्ञं सुषुप्तिसाक्षिणं प्राप्य नानाभिमन्तव्यकृतं तापं जहति, तथा ता अपि तदप्राप्तितापमित्यर्थः।

---

(३८०) "निदाघार्कातपेतिग्मे छायाभिः स्वाभिरात्मनः।
आतपत्रायितान् वीक्ष्य द्रुमानाह व्रजौकसः॥"६६४॥

निदाघ सूर्य्यताप प्रखर होने से वृक्ष समूह को छाया के द्वारा निज छत्र तुल्य देखकर श्रीकृष्ण व्रज बालक गण को कहने लगे। निदाघ–ग्रीष्म ऋतु का सूर्य्यताप प्रखर होने से--'निदाघ' शब्द के द्वारा स्पष्टोक्ति से एवं सूर्य्यताप प्रखर इत्यादि द्वारा गुण वर्णना में ग्रीष्म ऋतु की सूचना हुई है।

अनन्तर यज्ञपत्नी गण के सम्भोगाभास का वर्णन भा० १०।२३।२१।२३ में है—

(३८१) "यमुनोपवने रम्ये तरुपल्लव मण्डिते।
विचरन्तं युतं गोपैर्ददृशुः साग्रजं स्त्रियः॥"६६५॥
श्यामं हिरण्य परिधिं वनमाल्यबर्हधातुप्रवालनटवेशमनुव्रतां से।
विन्यस्त हस्तमितरेण धुनानमब्जं कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम्॥६६६॥
प्रायः श्रुतप्रियतमोदयकर्णपूरैर्यस्मिन्निमग्नमनसस्तमथाक्षिरन्ध्रैः।
अन्तः प्रवेश्य सुचिरं परिरभ्य तापं, प्राज्ञं यथाभिमतयोविजहुर्नरेन्द्र॥"६६७॥

तरु पल्लव मण्डित रमणीय यमुना के उपवन में यज्ञ पत्नी गणने गोप गण के सहित विचरण शील अग्रज के सहित कृष्ण को देखा। कृष्ण श्याम वर्ण, पीत वसन धारी वनमाला, मयूर पुच्छ, गौरिक धातु एवं प्रबाल द्वारा नटवर वेष से सज्जित हैं। सखा के स्कन्ध में एक हस्त स्थापन कर अपर हस्त के द्वारा लोला कमल घुमा रहे हैं। उनके कर्णद्वय में उत्पल, कपोल में अलका एवं वदन कमल में मनोहर हास्य शोभित है।

प्रियतम श्रीकृष्ण का उत्कर्ष बहु वार श्रवण कर उनकी कर्णेन्द्रिय कृतार्थ हो गई थी, जिन कृष्ण में उनका मन निमग्न था, नयनके द्वारा उनको हृदयमें प्रवेश कराकर सुदीर्घ काल आलिङ्गन उन्होंने किया, उससे प्राज्ञगण अभिमत विषय को प्राप्त कर जिस प्रकार सन्ताप मुक्त होते हैं--वे भी तद्रूप सन्ताप

तत्र तासां कस्याश्चित्तु तदैवायोग्यता-नाशेन स पूर्वरागान्तरजः सम्भोगः संस्पर्शनाद्यात्मकोऽपि बभुवेत्याह (भा० १०।२३।३४)—

(३८२) "तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम् ।
हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम् ।।"६६८।।

कर्मानुबन्ध ब्राह्मणदेह-परित्यागेन तदयोग्यत्वे नष्टे यथा हृदोपगूढ़ोऽसौ, तथैव तं प्राप्तवतीत्यर्थः,–(गी० ८।६) "यं यं वापि स्मरन् भावम्" इत्यादि श्रीगीतोपनिषदादिभ्यः । सा च तस्यास्तत्-प्राप्तिः श्रीगोपीरूपप्राप्तेरेव सम्भवति, न ब्राह्मणीरूपेणेति सूचितम्,-- (भा० १०।२३।३६) "एवं लीलानरवपुः" इत्यादौ गवादिका एव रमयन् रेमे, नान्या इत्यर्थेन । न चात्र व्रजे,तस्यास्तदैव तत्प्राप्तेरप्रसिद्धत्वादघटमानत्वाच्च न तत् सम्भावनीयम्,-श्रीकृष्णस्य व्रजस्य च लोकाप्रकटतयाप्यनन्तधाप्रकाशभेदानां श्रीकृष्णसन्दर्भादौ स्थापितत्वात् । तथात्र

---

मुक्त हुई थीं । अभिमतिऽअहङ्कार की वृत्ति समूह--प्राज्ञ को सुषुप्ति साक्षी को प्राप्तकर विविध अभिमान हेतु जो ताप--उस से मुक्त होते हैं । उस प्रकार यज्ञ पत्नी गण भी श्रीकृष्ण के अप्राप्ति हेतु जो ताप--उस से मुक्त हो गई थीं । उस के मध्य में किसी यज्ञ पत्नी की अयोग्यता का नाश पूर्वक पूर्वरागान्तरजात उस संस्पर्शनाद्यात्मक सम्भोग निष्पन्न हुआ था । भा० १०।२३।३४ में उक्त है—

(३८२) "तत्रैका विधृताभर्त्ता भगवन्तं यथाश्रुतम् ।
हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्म्मानु बन्धनम् ।।"६६८।।

यज्ञ पत्नी गण के मध्य में एक को उस का पति आबद्ध किया था । किन्तु ब्राह्मणी ने जैसी शुनी थी भगवान् को हृदय में उस प्रकार धारण कर कर्म्मानुबन्धन रूप देह विशेष को परित्याग किया ।

कर्म्मानुबन्ध—पूर्वजन्म का कर्म्म फल लब्ध, ब्राह्मण देह परित्याग से कृष्ण प्रेयसी लाभ की अयोग्यता विनष्ट हुई । हृदय में जिस प्रकार श्रीकृष्ण स्फुरित हुए थे— उस रूप को उन्होंने प्राप्त किया । गीता ८।६ में उक्त है—"यं यं वापि स्मरन् भावम्" अन्तः काल में जिस प्रकार चिन्ता करके देहत्याग करता है— देहान्त में उसी को प्राप्त करता है ।

श्रीमद् भगवद् गीतोक्त वाक्य प्रमाण से यज्ञ पत्नी की तादृशी प्राप्ति प्रतिपन्न होती है । वल्लभ रूप में श्रीकृष्ण प्राप्ति—गोपी देह प्राप्ति के अनन्तर ही सम्भव है । ब्राह्मणी रूप में नहीं यहाँ यह भी सूचित हुआ है । भा० १०।२३।३६ में उक्त है—"एवं लीला नरवपुः" "एवं लीला नरवपु' इत्यादि श्लोक के गो, गोप एवं गोपी वृन्द को क्रीड़ा कराने के निमित्त स्वयं क्रीड़ा करते हैं' अर्थ से भी प्रतिपन्न होता है कि— श्रीकृष्ण धेनु प्रभृति के सहित क्रीड़ा करते हैं, अपर के सहित नहीं । सुतरां यज्ञ पत्नी गण की कृष्ण प्राप्ति गोपी देह प्राप्ति के पश्चात् हो सङ्गता होती है । व्रज के अप्रकट प्रकाश में उक्त यज्ञ पत्नी की तत् काल में कृष्ण सङ्ग प्राप्ति अप्रसिद्ध एवं असम्भव होने के कारण उसकी सम्भावना नहीं की जा सकती है ।

श्रीकृष्ण सन्दर्भ भेद में श्रीकृष्ण एवं व्रज के लोक नयन के अन्तराल में स्थित अनन्त प्रकाश का वृत्तान्त प्रतिपन्न हुआ है । सुतरां व्रजके तदानीन्तन प्रकट प्रकाश में उक्त यज्ञ पत्नी की कृष्ण प्राप्ति न होने के कारण, अप्रकट प्रकाश में ही उक्त यज्ञ पत्नी की कृष्ण प्राप्ति निश्चित हुई है । प्रकट प्रकाश में कृष्ण प्राप्ति की असम्भावना हेतु उक्त यज्ञ पत्नी की साक्षात् दशमी दशा अर्थात् देह त्याग दोषावह नहीं है ।

साक्षाद्दशमीदशापि न दोषाय, —तादृश-कृच्छ्रेण तत्प्राप्तौ तदनुसन्धानाविच्छेदेनोत्कण्ठा-पुष्ट्या तस्या रसस्यैवोत्कर्षात् ॥ श्रीशुकः ॥

३८३। अथ तदनन्तरमेव शरदि सर्व्वासामेव श्रीव्रजदेवीनां सन्दर्शनादि-सर्व्वात्मक एव पूर्व्वरागान्तरजः सम्भोगो वर्ण्यते। तत्र कुमारीणामपि तादृशप्राप्त्याऽकृतार्थम्मन्यानां पूर्व-रागांशो नातिगतः। कस्याश्चित् (भा० १०।२१।१७) "पूर्णाः पुलिन्द्यः" इत्यनुसारेण, कासाञ्चित्तु (भा० १०।२९।३६) "यर्ह्यम्बुजाक्ष" इत्यादौ "अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति" इत्यनेन श्रुतो यः स्पर्शः, सोऽपि वेणुगीतकृत-तन्मूर्च्छादि-शमनानुरोधेनैव, न तु सम्भोग-रीत्येति मन्तव्यः। यत एव तस्य तासामप्यपूर्व्ववत् प्रत्याख्यान-प्रार्थनावाक्ये सङ्गच्छेते।

अथ तासां स यथा (भा० १०।२९।४) —

(३८३) "निशम्य गीतं तदनङ्गवर्द्धनं, व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः, स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥"६६९॥ इत्यादि।

स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

३८४। अथ तदन्तराले मानरूपो विप्रलम्भः, तत्र यथोक्तम् (उ० नी०, शृङ्गारभेद-प्र० १०२)

---

कारण, तादृश कष्ट के सहित श्रीकृष्ण प्राप्ति में अविच्छेद से कृष्णानुसन्धान विद्यमान होने के कारण उत्कण्ठा पुष्ट हुई थी। तज्जन्य उक्त यज्ञ पत्नी का रसोत्कर्ष प्रतिपन्न हुआ है।

श्रीशुकदेव कहे थे—३८१--३८२॥

३८३। ग्रीष्म ऋतु में यज्ञ पत्नी वृन्द का सम्भोगाभास वर्णन के पश्चात् शरत् ऋतु में—अर्थात् रास में समस्त व्रजदेवी वृन्द के पूर्व रागान्तर जात सन्दर्शनादि सर्व प्रकार— सन्दर्शन, संजल्प, संस्पर्श एवं सम्प्रयोग–सम्भोग वर्णित हुये हैं। शरद् ऋतु के पूर्वकी वस्त्र हरण लीला में व्रजकुमारी गण ने श्रीकृष्ण जिस भाव से प्राप्त किया, उससे अपने को कृतार्थ नहीं मानी थीं। इस हेतु उस प्राप्ति में उनके पूर्व रागांश अति क्रान्त नहीं हुआ। पूर्णा पुलिन्द्य इत्यादि श्लोक में किसी गोपी का, यर्ह्यम्बुजाक्ष श्लोक में किसी किसी गोपी को कृष्ण स्पर्श लाभ का विवरण जो है– वह भी उनके वेणु गीत श्रवण जो मूर्च्छादि प्रशमन हेतु उपस्थित हुआ था। सम्भोग रीति से वह स्पर्श संघटित नहीं हुआ। कारण, रास प्रारम्भ में श्रीकृष्ण-एवं व्रजदेवी गण का प्रत्याख्यान एवं प्रार्थना वाक्य से बोध होता है कि—पहले कभी भी मिलन नहीं हुआ था। श्रीव्रजदेवी गण के सहित रास में मिलन ही जो प्रथम मिलन है—यह उन सब का अभिसार वर्णन से ही ज्ञात होता है। भा० १०।२९।४ में उक्त है—

(३८३) "निशम्य गीतं तदनङ्गवर्द्धनं, व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः, स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥"६६९॥

कन्दर्प वृद्धि कारी श्रीकृष्ण के वेणु गीत श्रवण कर जिन व्रजाङ्गनावृन्द का चित्त कृष्ण कर्त्तृक गृहीत हुआ था वे अपर किसी को सूचित न करके वेणु वादक कृष्ण जहाँ हैं– वहाँ उपस्थित हो गईं। गमन समय में वेग से उनके कुण्डल समूह आन्दोलित होने लगे थे। प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥३८३॥

३८४। अनन्तर सम्भोग के मध्य में मानरूप जो विप्रलम्भ उपस्थित होता है— उस का वर्णन करते

"अहेरिव गतिः प्रेम्णः स्वभावकुटिला भवेत् । अतो हेतोरहेतोश्च यूनोर्मान उदञ्चति ॥६७०॥

तथा (उ० नी०, शृङ्गारभेद-प्र० ७६ )

"अहेतोर्नेति नेत्युक्तेर्हेतोर्यन्मान उच्यते । अस्य प्रणय एव स्यान्मानस्य पदमुत्तमम् ॥"६७१॥ इति ।

ततोऽस्य सहेतुर्निहेतुश्चेति भेदद्वये च सति हेतुरपि यथोक्तः (उ० नी०, शृङ्गारभेद-प्र० ७७)

हेतुरीर्ष्या विपक्षादेर्वैशिष्ट्ये च प्रेयसा कृते । भावः प्रणयमुख्योऽयमीर्ष्यामानत्वमृच्छति ॥"६७२॥ इति ॥

यथा च (उ० नी०, शृङ्गारभेद-प्र० ७८)—

"स्नेहं विना भयं न स्यान्नेर्ष्या च प्रणयं विना । तस्मान्मानप्रकारोऽयं द्वयोः प्रेमप्रकाशकः ॥"६७३॥ इति

अतएव हरिवंशे ( विष्णु-प० ६६।४, ६५।५० )—

"रुषितामिव तां देवीं स्नेहात् सङ्कल्पयन्निव । भीतभीतोऽति-शनकैर्विवेश यदुनन्दनः ॥६७४॥

रूपयौवनसम्पन्ना सौभाग्येन च गर्विता । अभिमानवती देवी श्रुत्वैवेर्ष्यावशं गता ॥"६७५॥ इति ।

---

हैं । उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में लिखित है—

"अहेरिव गतिः प्रेम्णः स्वभावकुटिला भवेत् ।
अतो हेतोरहेतोश्च यूनोर्मान उदञ्चति ।।६७०।।

सर्प की गति के समान प्रेम की गति कुटिला है । इस हेतु, स कारण वा अकारण युवक युवती में मान का उदय होता रहता है । उस प्रकार और भी कहा गया है—

"अहेतोर्नेति नेत्युक्तेर्हेतोर्यन्मान उच्यते ।
अस्य प्रणय एव स्यान्मानस्य पदमुत्तमम् ।।"६७१।।

'परस्पर अनुरक्त एवं एकत्रस्थित नायक नायिका का अभीष्ट आलिङ्गन दर्शनादि रोध कारी भाव को मान कहते हैं । प्रणय ही मानका उत्तम स्थान है ।

सकारण एवं अकारण से मानोदय की सम्भावना में, सहेतु एवं निर्हेतु भेद से मान द्विविध हैं । हेतु के सम्बन्ध में उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में उक्त है—

"हेतुरीर्ष्या विपक्षादेर्वैशिष्ट्ये च प्रेयसा कृते ।
भावः प्रणयमुख्योऽयमीर्ष्यामानत्वमृच्छति ।।"६७२।।

मान का कारण—ईर्ष्या है । प्रियव्यक्ति विपक्षादिका वैशिष्ट्य प्रकटन करने से प्रणय प्रधान भाव--ईर्ष्यारूपमान में परिणत होता है । उक्त ग्रन्थ में लिखित है—

"स्नेहं विना भयं न स्यान्नेर्ष्या च प्रणयं विना ।
तस्मान्मानप्रकारोऽयं द्वयोः प्रेमप्रकाशकः ।।"६७३।।

स्नेह व्यतीत भय नहीं होता है । प्रणय व्यतीत ईर्ष्या नहीं होती है । इस हेतु इसप्रकार मान नायक नायिका उभय का प्रेम प्रकाशक है । अतएव हरिवंश में उक्त है--

"रुषितामिव तां देवीं स्नेहां सङ्कल्पयन्निव ।
भीतभीतोऽति-शनकैर्विवेश यदुनन्दनः ।।६७३।।

श्रीसत्यभामा रुषिता के समान होने से यदुनन्दन चिन्तित के समान भीत भीत होकर धीरे धीरे प्रवेश किये थे । रूपयौवन सम्पन्ना सौभाग्येन च गर्विता ।
अभिमानवती देवी श्रुत्वैवेर्ष्यावशं गता ।।"६७५।।

सत्यभामा रूप यौवन सम्पन्ना एवं सौभाग्य गर्विता थीं । रुक्मिणी को श्रीकृष्णने पारिजात पुष्प

अतः प्रियकृतस्नेहभङ्गानुमानेन सहेतुरीर्ष्यामानो भवति। एष च विलासः श्रीकृष्णस्यापि परमसुखदः, यथा चोक्तं श्रीरुक्मिणीं प्रति स्वयमेव (भा० १०।६०।२९) "त्वद्वचः श्रोतुकामेन क्ष्वेल्याचरितमङ्गने", (भा० १०।६०।३०) "मुखञ्च प्रेमसंरम्भस्फुरिताधरमीक्षितुम्" इत्यादि। श्रीरुक्मिण्यामपि तदविक्षेपित्वं व्यक्तम्, (भा० १०।६०।४०)—'जाड्यं वचस्तव गदाग्रज" इत्यादौ, युक्तञ्च तत्,—कान्ताभावाख्यायाः प्रीतेः पोषकत्वेन तद्भावस्यावगमात्, प्राचीनार्व्वाचीन-कवि सम्प्रदाय-सम्मतत्वाच्च। तस्मादादरणीय एव मानाख्यो भावः। तत्र सर्व्वासां युगपत्त्यागेन सङ्गप्राथम्येन च तथानुदयान्निगूढ़स्तन्मानलेशो रासे श्रीव्रजदेवीनां जातः, स च परित्यागजेर्ष्याहेतुक एव ज्ञेयः, यथा (भा० १०।३२।१५)—

(३८४) "सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं, सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा।
संस्पर्शनेनाङ्कृताङ्घ्रिहस्तयोः, संस्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे॥"६७६॥ इति।

स्पष्टम्॥ श्रीशुकः॥

३८५। एष च स्तुत्यादिभिः शाम्यति, यथैव तास्तुष्टाव (भा० १०।३२।२१-२२) —

---

दिया है—सुनकर अभिमानवती होकर ईर्ष्या के वशीभूत हो गई।

इस प्रकार स्थल में प्रिय व्यक्ति ने स्नेह भङ्ग किया है, इस अनुमान से सहेतु ईर्ष्या मान में परिणत होती है। इस प्रकार मानमय विलास श्रीकृष्ण को अति सुखद है।

श्रीकृष्ण स्वयं श्रीरुक्मिणी को कहे थे—भा० १०।६०।२९ "त्वद्वचः श्रोतुकामेन क्ष्वेल्याचरितमङ्गने" भा० १०।६०।४०—"मुखञ्च प्रेमसंरम्भस्फुरिताधरमीक्षितुम्"

हे सुन्दरि! तुम मुझ को क्या कहोगी, उस को सुनने के निमित्त परिहास कर मैंने इस प्रकार आचरण किया है। मेरी और भी इच्छा थी कि—प्रणय कोप से कम्पित अधरविशिष्ट तुम्हारे मुख दर्शन करूँ।" भा० १०।६०।४० में रुक्मिणी वाक्य में मान का अविक्षेपित्व व्यक्त हुआ। वह सङ्गत भी है, कारण वह भाव अर्थात्—मान-कान्ताभावाख्य प्रीति का पोषक होता है। एवं प्राचीन कविगण कर्त्तृक अनुमोदित है। सुतरां मानाख्य भाव आदरणीय है।

शारदीय रासावसर में युगपद् समस्त श्रीव्रजदेवी को परित्याग करने के कारण एवं वह उन सब का प्रथम सङ्ग हेतु विपक्ष के वैशिष्ट्यादि प्रदर्शन जनित ईर्ष्या का उद्रेक उन सब में नहीं हुआ। सुतरां रास में उन सब में मान लेश उपस्थित हुआ था। वह परित्याग जनित ईर्ष्या हेतुक प्रतीत होता है। जिस प्रकार भा० १०।३२।१५ में उक्त है—

(३८४) "सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं, सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा।
संस्पर्शनेनाङ्कृताङ्घ्रिहस्तयोः, संस्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे॥"६७६॥

रास से श्रीकृष्ण के अन्तर्धान से ईषत् कुपिता व्रजसुन्दरी गण पुनर्मिलन के पश्चात् सहास्य लीला व लोक विलसित भ्रू युगल द्वारा कन्दर्प वर्द्धन कारी उनको सन्मानित किये थे। तत् पश्चात् क्रोड़स्थित उन के कर चरण संस्पर्शन पूर्वक स्तव करके कहने लगे। श्रीशुक कहे थे—३८४॥

३८५। स्तवादि के द्वारा ईदृशमान प्रशमित होता है। श्रीकृष्ण ने स्तव करके ही उन सब का मान

(३८५) "एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-,स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं, मासूयितुं मार्हथ तत्प्रियं प्रियाः॥" ६७७॥
"न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजाम्" इत्यादि।

स्पष्टम्॥ श्रीभगवान्॥

३८६। अथ निर्हेतुः प्रणयमानः। निर्हेतुत्वञ्चात्र केवलप्रणयविलसितत्वेन हेत्वभावान्मन्यते। एष नायकस्यापि भवति। भगवत्प्रीतिमये रसे स तूद्दीपनोऽपि प्रसङ्ग दत्तोदाहरणीयः, यथा (भा० १०।२९।४८)) "तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानञ्च केशवः" इत्यादिप्रकरणं योजनान्तरेण मन्यते, तत्र मानः प्रणयमानः। तस्य हेतुः—सौभगमदः। ततो मानस्य प्रशमरूपाय तासां प्रसादाय स्वयमपि प्रणयमानेनैवान्तरधीयत। तथाग्रेऽपि (भा० १०।३०।३६) "यां गोपीमनयत् कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने" इत्यादौ तस्याः प्रणयमानः, येनैवोक्तम् (भा० १०।३०।३८) — "न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः" इति।

अथ पूर्ववत्तस्यापि प्रणयमानः। प्रणयकोपेनैव सोऽप्येतदनन्तरमेनां (भा० १०।३८ ३९)

---

प्रशमित किया था। भा० १०।३२।२१--२२ में उक्त है—

(३८५) "एवं मदर्थोज्झितलोकवेद--,स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं, मासूयितुं मार्हथ तत्प्रियं प्रियाः॥" ६७७॥
"न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजाम्" इत्यादि।

हे अवला गण! तुम सबने मेरे हेतु इस प्रकार लोकापेक्षा, शास्त्रमर्य्यादा सब कुछ त्याग किया। किन्तु, तुम सब जैसे मेरी अनुवृत्ति कर सको, इस अभिप्राय से मैं अन्तर्हित हुआ। उस अवस्था में तुम सब का भजन मैंने किया है, मैं तुम सब का प्रिय हूँ। हे प्रिया गण! मेरे प्रति दोषारोप करना उचित नहीं है। मैं, किन्तु—मेरे सहित अनिन्द्य संयोगवती तुम सब के सम्बन्ध में स्वीय समुचित कर्त्तव्य सम्पादन करने में अक्षम हूँ। श्रीभगवान् कहे थे—३८५।

३८६। अनन्तर निर्हेतु प्रणयमान का वर्णन करते हैं—निर्हेतुक मान केवल प्रणय का विलास विशेष होने के कारण इस मान में हेतु का अभाव प्रतीत होत है। इस हेतु इस को निर्हेतुक मान कहा जाता है। निर्हेतुक प्रणयमान नायक का भी होता हैं। भगवत् प्रीतिमय रस में यह उद्दीपन होने पर भी जिस कारण से मन में उपस्थित होता है—क्रमशः उस का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। भा० १०।२९।४८ में उक्त है—"तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानञ्च केशवः" व्रजाङ्गनागण का सौभगमद एवं मान को देखकर केशव' इत्यादि प्रकरण का विचार करने से प्रतीत होता है कि इसमें जो मान का विवरण उक्त है, वह प्रणयमान है। उस मान का हेतु है। सौभगमद। तज्जन्य मान का प्रशमन रूप उन सब की प्रसन्नता लाभ हेतु श्रीकृष्ण स्वयं भी प्रणय मान युक्त होकर अन्तर्द्धान हुये थे। उक्त श्लोक के पश्चात भा० १०।३०।३६ में उक्त है—"यां गोपीमनयत् कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने" अन्य रमणी को परित्याग पूर्वक श्रीकृष्ण--जिस गोपी को ले आये थे, वह अपने को समस्त व्रजसुन्दरी श्रेष्ठ मानने लगीं' इस वाक्य में श्रीराधा का प्रणय मान चित्रित हुआ है। इस हेतु मानभर से भा० १०।३०।३८ में कही थीं "न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः" मैं चल नहीं सकती हूँ, तुम्हारी जहाँ ले जाने की इच्छा हो मुझ को ले चलो।

"स्कन्ध आरुह्यताम्" इत्युक्तवान्, ततोऽन्तर्हितवांश्च। अत्र श्रीव्रजदेवीनामहेतुः, श्रीकृष्णस्य तु हेत्वाभासजोऽसौ। यासां खलु प्रणयः स्वप्रवाहाद्युद्रेकेण स्वरसावर्त्तरूपं कौटिल्यं स्पृशन्मानाख्य–प्रीतिविशेषतां प्राप्नोति, तासामेव मानाख्य-विप्रलम्भोऽपि शुद्धो जायते। ततोऽन्यासां पुनर्हेतुलाभेऽपि विषाद-भय-चिन्ताप्राय एव जायते। यथा श्रीरुक्मिणीं प्रति श्रीकृष्णस्य सप्रणय-परिहासवचनमयेऽध्याये तद्वृत्तम्। तत्र श्रीकृष्णस्य सकौतुकोऽयमभिप्रायः- इयं खलु सरलप्रेमवती, परमगाम्भीर्य्यवती च। ततो ममाभीष्टः प्रियाकोपविलासः प्रेमनिर्ब्बन्ध-प्रकाशक-सविकारकण्ठोक्तिविशेषो वा नास्यां स्फुटमुपलभ्यते। तस्मात् कोपविलासो वा, तज्जननाभावे तु तादृशोक्तिर्वा यथास्यां प्रकाशते, तथा वाढ़ं परिहासेन प्रयतिष्ये। तत्र यस्यां कोपजनने भ्रातृवैरूप्यादिकमपि कारणं नासीत्, तस्यां तत्रान्यत् परमायोग्यमेव, किन्तु मदविश्लेषसुखमेवास्याः सर्व्वस्वमिति तद्दर्पन्यवकारेणैव कोपः सम्भवेत्। यदि ततोऽपि, कोपो नाविर्भवेत्, तथापि मद्विश्लेषभयेन पूर्वानुरागवदधुनापि विकार-विशेष-सहितनिगदेनैव प्रेम-निर्ब्बन्धः प्रकाश्येतेति। तथा हि तत्र (भा० १०।६०।१०) "तां रूपिणीम्" इत्यादौ "प्रीतः स्मयन्" इत्यनेन व्यक्तम्। परिहासमयत्वन्तु विशेषतोऽप्युक्तम्। प्रसङ्गेन तस्याः प्रेम-सारल्यादिद्वयमपि, (भा० १०।६०।२५)—

---

इस के पश्चात् श्रीकृष्ण का भी पूर्ववत् प्रणयमान हुआ था। प्रणय कोपातिशय्य से उन्होंने श्रीराधा को भा० १०।३०।३९ "स्कन्ध मारुह्यताम्" प्रणय कोप से कहा—"स्कन्धारोहण करो" अनन्तर अन्तर्हित हो गये। यहाँ व्रज देवीवृन्द का अहेतु एवं श्रीकृष्ण का हेत्वाभासज मान है।

व्रजाङ्गनागण का प्रणय–निज प्रवाहोद्रेक द्वारा स्वरसावर्त्तरूप कौटिल्य स्पर्श से मान नामक प्रीति वैशिष्ट्य प्राप्त होता है। उन सब का ही शुद्ध मानाख्य विप्रलम्भ उत्पन्न होता है। उस में अन्य कृष्ण प्रेयसी गण का हेतु विद्यमान होने पर भी बिषादमय चिन्ता प्रधान मान उपस्थित होता है। भा० १०।६०।१० अध्याय में रुक्मिणी के श्रीकृष्ण के प्रणय परिहास मय जो वचनसमूह हैं, उस में श्रीकृष्ण का सकौतुक अभिप्राय यह है—रुक्मिणी स्वभावतः प्रेमवती एवं गाम्भीर्य्यवती हैं। इस हेतु मैं जिस प्रिया का सकोप विलाप किंवा प्रेम निर्बन्ध प्रकाशक--'मैं अत्यन्त प्यार करता हूँ" सविकार–अश्रुकम्प पुलकादि समन्वित कण्ठोक्ति विशेष को सुनना चाहता हूँ।

उस का सम्यक् प्रकार रुक्मिणी में नहीं होगा। सुतरां कोप विलास क्रोधपूर्ण चेष्टा यदि न हो, तो तादृशोक्ति जैसे उन से प्रकाशित हो यथेष्ट परिहास के द्वारा मैं उस प्रकार प्रयत्न करूँगा इस में विवेच्य यह है कि – भ्रातृ बैरुप्यादि से जिनका क्रोध नहीं हुआ, उनके निकट अन्य चेष्टा अत्यन्त अयोग्य है। किन्तु अपर कौशलावलम्बन किया जा सकता है। मेरा मिलन सुख ही उनका सर्वस्व है। उस मिलन सुखके प्रति तुच्छता प्रकाश करने से उनका क्रोध उपस्थित होगा। यदि उस से भी क्रोध न हो तो मेरा विरह भय से पूर्वानुराग के सम्मान अभी भी विकार विशेषः के सहित सुस्पष्ट रूप से प्रेम निर्बन्ध प्रकाश करेगी। भा० १०।६०।१० में उसका वर्णन है "राज पुत्रीप्सिता भूपैः" हे राज पुत्रि! तुम को राजन्य गण चाहते थे। इत्यादि। भा० १०।६।९ के श्रीकृष्ण वाक्य जो प्रणय मय एवं परिहास मय है– उस का वर्णन "तां रूपिणीम्" श्लोक में श्रीकृष्ण प्रीति पूर्वक हँस हँस कर कहे थे इस में व्यक्त है, श्रीकृष्ण जो उनको

"तद्दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः प्रियायाः प्रेमबन्धनम् ।
हास्यप्रौढ़िमजानन्त्याः करुणः सोऽवकम्पत ।।"६७८।। इति ।

हास्यं परिहासः, तत्र प्रौढ़िः—अवश्यमेनां सरलप्रेमाणमपि गम्भीरामपि क्षोभयिष्यामीति गर्व्वः, तां प्रणयरसकौटिल्या भावेनाजानन्त्या इत्यर्थः । एवमग्रेऽपि (भा० १०।६०।२८) "हास्य-प्रौढ़-भ्रमच्चित्ताम्" इत्युक्तम् । तत्र तेन परिहासेन कोपविलासादि-दर्शनमेवाभीष्टमिति स्वयमेवोक्तम् (भा० १०।६०।२९--३१) —

"मा मां वैदर्भ्यसूयेथा जाने त्वां मत्परायणाम् ।
त्वद्वचः श्रोतुकामेन क्ष्वेल्याचरितमङ्गने ।।६७९।।
मुखञ्च प्रेमसंरम्भस्फुरिताधरमीक्षितुम् ।
कटाक्षेपारुणापाङ्गं सुन्दरभ्रुकुटीतटम् ।।६८०।।
अयं हि परमो लाभो गृहेषु गृहमेधिनाम् ।
यन्नर्मैर्नीयते यामः प्रियया भीरु भामिनि ।।"६८१।। इति ।

अत्र यद्यपि तस्याः प्रागभयमेव वर्णितम्, तथापि तत्रासूयाप्रयोगः प्रोत्तम्भनार्थं एव ।

---

परिहास किये थे—उसका विशेष कथन उन्होंने किया है । उस में प्रसङ्ग क्रम से रुक्मिणी का प्रेमसारल्य एवं गाम्भीर्य्य वर्णित हुआ है—भा० १०।६०।२५ में उक्त है—

"तद्दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः प्रियायाः प्रेमबन्धनम् ।
हास्यप्रौढ़िमजानन्त्याः करुणः सोऽन्वकम्पत ।।"६७८।।

भगवान् कृष्ण—प्रिया का प्रेम बन्धन को देखकर हास्य एवं प्रौढ़ में अनभिज्ञा जान कर सकरुण होकर अनुग्रह प्रकाश किये थे ।

हास्य परिहास, प्रौढ़ि—यह सरल प्रेमवती एवं गाम्भीर्य्य शालिनी होने पर भी मैं उसका कोधोत्पादन करूँगा । इस प्रकार गर्व है । रुक्मिणी में प्रणय कुटिलता न होने के कारण—आप परिहास को समझ नहीं पाई यहाँ पर वही व्यक्त हुआ है । इस के पश्चात् भा० १०।६०।२८ में उक्त है "हास्यप्रौढ़ि भ्रमच्चित्ताम्" रुक्मिणी—हास्य प्रौढ़ोक्ति में भ्रान्त चित्ता है" उस प्रकार कोप विलासादि के दर्शन करना ही कृष्ण का अभिप्रेत था । उसका कथन उन्होंने स्वयं ही किया है । भा० १०।६० २९-३१

"मा मां वैदर्भ्यसूयेथा जाने त्वां मत्परायणाम् ।
त्वद्वचः श्रोतुकामेन क्ष्वेल्याचरितमङ्गने ।।६७९।।
मुखञ्च प्रेमसंरम्भस्फुरिताधरमीक्तितुम् ।
कटाक्षेपारुणापाङ्ग सुन्दरभ्रुकुटीतटम् ।।६८०।।
अयं हि परमो लाभो गृहेषु गृहमेधिनाम् ।
यन्नर्मैर्नीयते यामः प्रियया भीरु भामिनि ।।"६८१।।

हे विदर्भि ! मेरे प्रति असूया न करो, हे सुन्दरि ! तुम्हें मैं मत् परायणा जानता हूँ । तुम्हारी कथा सुनने के निमित्त परिहास कर मैंने इस प्रकार किया। कटाक्ष विक्षेप से अरुण वर्ण एवं सुन्दर भ्रु कुटि

तत्प्रयोगेण हि स्वस्य तदधीनताभिप्यते । अतएव भामिनीत्यपि सम्बोधितम् ।

अथ तस्य प्रेम निर्बन्धप्रकाशक-विकारदर्शनेच्छापिप्राक्तनेनैव वाक्येन व्यक्ता, (भा० १०।६०।२५) "तद्दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः प्रियायाः प्रेमबन्धनम्" इत्यनेन । तथा निगदेनैव तद्वचक्ति-दर्शनेच्छा स्वयमेव व्यञ्जिता—(भा० १०।६०।४६) "साध्व्येतच्छ्रोतुकामैस्त्वं राजपुत्रुचपलम्भता" इति । पूर्वं हि (भा० १०।६०।३८) "त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मा" इत्यादिकं तयापि निगदितमस्ति । अत्र परिहासज्ञानानन्तरं तद्दिदृक्षिता किञ्चित् कोपव्यक्तिश्च जातास्ति (भा० १०।६०।४०) "जाडचं वचस्तव गदाग्रज" इत्यादिषु । जाडचस्य प्राचुर्य्यविवक्षया जाडचमेव वच इति सामानाधिकरण्येनोक्तम् (श्रीकृष्णकर्णामृतम् ६८) "माधुर्य्यमेव नु मनोनयनामृतं नु" इतिवत् ।

अथ तदविश्लेष-दर्पव्यवकार एव तत्क्षोभे हेतुरित्यत्रापि श्रीशुकवाक्यम् (भा० १०।६०।२१)

"एतावदुक्त्वा भगवानात्मानं वल्लभामिव ।
मन्यमानामविश्लेषात्तद्दर्पघ्न उपारमत् ॥"६८२॥ इति ।

---

समन्वित तुम्हारे वदन निरीक्षण हेतु मैंने इस प्रकार आचरण किया है ।

हे भीरु ! हे भामिनि ! गृह में प्रिया के सहित हास्य परिहास से कालाति पात होने से ही गृहस्थ गण को परम लाभ है ।

यहाँ यद्यपि प्रथम 'भय' शब्द का उल्लेख हुआ है, तथापि उनको प्रोत्साहित करने के निमित्त यहाँ असूया शब्द का प्रयोग हुआ है, उस शब्द प्रयोग के द्वारा अपने को उनका अधीन प्रकाश किया गया है । अतएव भामिनि । कोपन स्वभावा स्त्री कहकर सम्बोधन किया गया है ।

श्रीरुक्मिणी का प्रेम निर्बन्ध प्रकाशक विकार कि दर्शनेच्छा जो श्रीकृष्ण की थी, उस का विवरण पूर्ववर्त्ती वाक्य भा० १०।६०।२५ में "तद्दृष्ट्वा भगवान् कृष्णः प्रियायाः प्रेमबन्धनम्" व्यक्त हुआ है । केवल यही नहीं, उन्होंने स्पष्ट वाक्य से स्वयं उस को देखने की इच्छा की है । भा० १०।६०।४६

"साध्व्येतच्छ्रोतुकामैस्त्वं राजपुत्रुचपलम्भता"

हे साध्वि ! हे राज पुत्रि ! इस प्रकार सुनने के निमित्त मैंने तुम्हारे सहित परिहास किया । भा० १०।६०।३८ में उक्त है— "त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मा"

श्रीकृष्ण को बोली थीं—तुम ही समस्त पुरुषार्थमय फलात्मा हो ।

रुक्मिणी जब कृष्ण वाक्य को परिहासोक्ति जान गई थीं, उस समय कोपाभिव्यक्ति दर्शन की इच्छा कृष्ण को हुई थी— वह भी कियत् परिमाण में उपस्थित हुई थी भा० १०।६०।४० में उक्त है—"जाडच वचस्तव गदाग्रज" 'इत्यादिषु' हे गदाग्रज ! तुम्हारे वह जाडच वाक्य । यहाँ जाडच का प्राचुर्य्य वर्णनाभिप्राय से जो जाडच है वही वाक्य है—इस प्रकार सामानाधिकरण्य से कथित हुआ है—कर्णामृत में इस प्रकार प्रयोग हुआ है । "माधुर्य्यमेव नु मनोवचनामृतं नु" वह क्या माधुर्य्य नहीं है ? इस वाक्य के समान उक्त वाक्य को जानना होगा ।

अनन्तर श्रीकृष्ण के सहित मिलन दर्प की तुच्छता स्थापन ही श्रीरुक्मिणी के क्षोभ के हेतु है । इस

अन्यस्य च तत्र हेतुत्वं स्वयमेव निराकृतम् (भा० १०।६०।५६)—

"भ्रातुर्विरूपकरणं युधि निर्जितस्य, प्रोद्वाहपर्वणि च तद्‌बधमक्षगोष्ठ्याम् ।
दुःखं समुत्थमसहोऽस्मदयोगभीत्या, नैवाब्रवीः किमपि तेन वयं जितास्ते ।।"६८३।। इति ।

अत्र च प्रकरणे तस्याः प्रणयस्यापि तादृशत्वाभावान्मानायोग्यत्वमपि दर्शितम् । तस्मात् साधूक्तम् --यासां खलु प्रणय इत्यादि । अथ मानान्तरजः सम्भोगो यथा (भा० १०।३३।१) —

(३८६) "इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः ।
जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः ।।"६८४।। इत्यादि ।

स्पष्टम् श्रीशुकः ।।

३८७-३८८ । अथ प्रेमवैचित्त्यम् । तल्लक्षणञ्च (उ० नी०, शृङ्गारभेद-प्र० १४७)–

"प्रियस्य सन्निकर्षेऽपि प्रेमोन्मादभ्रमाद्भवेत् । या विश्लेषधियार्त्तिस्तत् प्रेमवैचित्त्यमुच्यते ।।"६८५।।

यद्‌यथा (भा० १०।९०।१३-१५)—

---

प्रसङ्ग में श्रीशुक वाक्य यह है– (भा० १०।६०।२१)

"एतावदुक्त्वा भगवानात्मानं वल्लभामिव ।
मन्यमानामविश्लेषात्तद्दर्पघ्न उपारमत् ।।"६८२।।

ये सब कहने के पश्चात् स्वीय वल्लभा को मानिनी देखकर उनका दर्पनाश पूर्वक विरत हुये थे ।

उनका मानोत्पादन का अपर हेतु का निराकरण श्रीकृष्ण स्वयं किये थे– अर्थात् अन्य कारण से जो रुक्मिणी का मान उपस्थित नहीं हो सकता है-इस विषय को श्रीकृष्ण स्वयं ही कहे हैं । भा० १०।६०।६५

"भ्रातुर्विरूपकरणं युधि निर्जितस्य, प्रोद्वाहपर्वणि च तद्‌बधमक्षगोष्ठ्याम् ।
दुःखं समुत्थमसहोऽस्मदयोगभीत्या, नैवाब्रवीः किमपि तेन वयं जितास्ते ।।"६८३।।

युद्ध में पराजित भ्राता का विरूप करण, विवाहोपलक्ष्य में पाशाक्रीड़ा के समय उस भ्राता का बध साधन-ये सब स्मरण करके भी हमारे विच्छेद भय से उस दारुण दुःख को भी तुमने सहन किया है, मेरे प्रति दोषारोपण प्रभृति कुछ भी नहीं किया है । इस प्रकार आचरण से तुमने हम सब को जीत लिया है ।

इस प्रकार श्रीरुक्मिणी के प्रणय में स्वरसावर्त्तरूप कौटिल्याभाव के कारण—मानायोग्यत्व प्रदर्शित हुआ है । सुतरां पूर्व में व्रजदेवी गण के सम्बन्ध में—जो कुछ कहा गया है—जिन का प्रणय निज प्रवाहोद्रेक के द्वारा स्वरसावर्त्त रूप कौटिल्यस्पर्श से मानाख्या प्रीति वैशिष्ट्य को प्राप्त करता है— वह समीचीन है ।

अनन्तर मानान्तर सञ्जात सम्भोग का वर्णन करते हैं—भा० १०।३३।१ में उक्त है—

(३८६) "इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः ।
जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः ।।"६८४।।

इस प्रकार श्रीकृष्ण के मनोहर वाक्य श्रवण पूर्वक उनके कर चरणादि अङ्ग समूह के द्वारा कल्याण समृद्ध होकर व्रजदेवीगणने विरह दुःख को परित्याग किया ।                                   श्रीशुक कहे थे-२८६।।

३८७-३८८ । अनन्तर प्रेम वैचित्त्य का वर्णन करते हैं—इस का लक्षण उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में उस प्रकार है—

"कृष्णस्यैवं विहरतो गत्यालापेक्षित-स्मितैः।
नर्मक्ष्वेलि-परिष्वङ्गैः स्त्रीणां किल हृता धियः ॥६८६॥
ऊचुर्मुकुन्दैकधियोऽगिर उन्मत्तवज्जड़म्।
चिन्तयन्त्योऽरविन्दाक्षं तानि मे गदतः शृणु ॥६८७॥

श्रीमहिष्य ऊचुः—

कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे, स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोधः।
वयमिव सखि कच्चिद्गाढ़निर्विद्धचेता, नलिन-नयनहासोदारलीलेक्षितेन ॥"६८८॥

तथा (भा० १०।९०।१६) 'नेत्रे निमीलयसि' इत्यादि, (भा० १०।९०।१७) 'भो भोः सदा निष्टनसे उदन्वन्" इत्यादि, (भा० १०।९०।१८) 'त्वं यक्ष्मणा' इत्यादि, (भा० १०।९०।१९) 'किं न्वाचरितम्' इत्यादि, (भा० १०।९०।२०) 'मेघ श्रीमन्" इत्यादि, (भा० १०।९०।२२) 'प्रियराव' इत्यादि

---

"प्रियस्य सन्निकर्षेऽपि प्रेमोन्मादभ्रमाद्भवेत्।
या विश्लेषधियार्त्तिस्तत् प्रेमवैचित्त्यमुच्यते ॥"६८९॥

प्रिय व्यक्ति सन्निधान में अवस्थित होने पर भी प्रेमोत्कर्ष हेतु विच्छेदमय से जो आर्त्ति-उसका नाम प्रेमवैचित्त्य है। भा० १०।९०।१३--१५ में उक्त है—

"कृष्णस्यैवं विहरतो गत्यालापेक्षित--स्मितैः।
नर्मक्ष्वेलि--परिष्वङ्गैः स्त्रीणां किल हृता धियः ॥६८६॥
ऊचुर्मुकुन्दैकधियोऽगिर उन्मत्तवज्जड़म्।
चिन्तयन्त्योऽरविन्दाक्षं तानि मे गदतः शृणु ॥६८७॥

श्रीकृष्ण महिषी वृन्द के सहित इस प्रकार विहार--(जल क्रीड़ा) कर रहे थे। गति आलाप, स्मित, दृष्टि, नर्म्म, एवं आलिङ्गन के द्वारा श्रीकृष्ण, उन सब की बुद्धि को हरण किये थे। एकमात्र मुकुन्द में ही जिन सब की बुद्धि निबद्ध थी, उन सब महिषी गण, श्रीकृष्ण की चिन्ता करते करते उन्मत्त के समान जड़ विचार शून्य होकर जो बोली थीं, उस को मैं कहता हूँ—सुनो।

श्रीमहिष्य ऊचुः—

"कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे, स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोधः।
वयमिव सखि कच्चिद्गाढ़निर्विद्धचेता, नलिन-नयनहासोदारलीलेक्षितेन ॥"६८८॥

हे चक्रवाकि! तुम रात्रि कालमें निज बन्धु को न देखकर ही क्या नेत्र युगल को मुद्रित नहीं करती हो? केवल कातर होकर रोदन करती हो, अथवा, दास्य प्राप्ता हमारे समान अच्युत पद सेवित माला को कवरी में धारण करने के निमित्त रो रही हो? उस प्रकार भा० १०।९०।१६ में-' नेत्रे निमीलयसि" हे जलनिधे! तुम सर्वदा रात्रिमें निद्रा लाभ न करके ही क्या जागरण पूर्वक रोदन करते रहते हो? अथवा, मुकुन्द--तुम्हारे धैर्य्य गाम्भीर्य्यादि हरण किये हैं, अतः हम सब के समान दारुण दुर्द्दशाग्रस्त हो गये हो। भा० (१०।९०।१७) 'भो भोः सदा निष्टनसे उदन्वन्' भा० १०।९०।१८ "त्वं यक्ष्मणा" हे चन्द्र! प्रबल यक्ष्मारोग से आक्रान्त होकर क्षीणता हेतु निज कान्ति के द्वारा क्या अन्धकार विनष्ट करने में अक्षम हो?

(भा० १०।६०।२२) 'न चलसि' इत्यादि, (भा० १०।६०।२३) 'शुष्यद्ध्रदाः' इत्यादि,

(३८७) "हंस स्वागतमास्यतां पिब पयो ब्रूह्यङ्ग शौरेः कथां
दूतं त्वां नु विदाम कच्चिदजितः स्वस्त्यास्त उक्तं पुरा।
किंवा नश्चलसौहृदः स्मरति तं कस्माद्भजामो वयं
क्षौद्रालापय कामदं श्रियमृते सैवैकनिष्ठा स्त्रियाम्॥"६८८॥

एवं विहरतः कृष्णस्य गत्यादिभिः स्त्रीणां धियो हृताः, ततश्च ता मुकुन्दैकाधियः समाहिता इव क्षणमगिरः सत्यः पुनरनुरागविशेषेणोन्मत्ता इव विहरन्तमपि तमरविन्दाक्षं परोक्षवत्-चिन्तयन्त्यो जड़ं विवेकशून्यं यथा स्यात्तथा ऊचुः। तानि वचनानि मे मम गदतो वाक्यतः शृण्विति।

---

किंवा हमारे समान मुकुन्द के वाक्य समूह विस्मृत होने के कारण ही तुम नीरव हो गये हो। भा० १०।६०।१६ "किं न्वाचरितम्" हे मलयानिल! हमने तुम्हारा अनिष्ट क्या किया है? जिस से तुम गोविन्द के कटाक्ष वाण से विदीर्ण हमारे हृदय में कन्दर्प प्रेरण कर रही हो? भा० १०।६०।२० "मेघ श्रीमान्" हे शोभा सम्पन्न मेघ! तुम यादवेन्द्र के सखा हो, इस हेतु हम सब के समान प्रेम बद्ध होकर उनके श्रीवत्स चिह्न का ध्यान कर रहे हो। और उनका दुःखद प्रसङ्ग का बारम्बार स्मरण कर हम सब के समान उत्कण्ठा के सहित दुःखित चित्त से पुनः पुनः वाष्पधारा मोचन कर रहे हो? भा० १०।६०।२१ "प्रियराव" हे रमणीय कण्ठ कोकिल! तुम, मतु सञ्जीवनी वाणी के द्वारा श्रीकृष्ण के वाक्य तुल्य शब्द कर रहे हो। अतएव तुम्हारा प्रिय आचरण क्या करें कहो। भा० १०।६०।२२ "न चलसि" हे क्षितिधर पर्वत! तुम तो अचल हो— चल नहीं रहे हो। कुछ नहीं बोलते हो, प्रतीत होता है—महच्चिन्ता में मग्न हो। किंवा, हमारे समान वसुदेव नन्दन के चरण कमल को हृदय में धारण करने के निमित्त कामना कर रहे हो? भा० १०।६०।२३ "शुष्यद्ध्रदाः" हे सिन्धु पत्नी गण! तुम्हारे गभीर प्रदेश शुष्क हो गया है। कमल की शोभा नहीं है, तुमसब अति कृश ही गई हो। हम सब मधु पति के प्रणयावलोकन से वञ्चित होकर जिस प्रकार कृशा एवं शुष्क हृदया हो गई हैं, तुम सब प्रियतम सिन्धु के प्रणयावलोकन से वञ्चित होकर उस प्रकार हो गई हैं। भा० १०।६०।२४

(३८७) "हंस स्वागतमास्यतां पिब पयो ब्रूह्यङ्ग शौरेः कथां
दूतं त्वां नु विदाम कच्चिदजितः स्वस्त्यास्त उक्तं पुरा।
किंवा नश्चलसौहृदः स्मरति तं कस्माद्भजामो वयं
क्षौद्रालापय कामदं श्रियमृते सैवैकनिष्ठा स्त्रियाम्॥"६८८॥

हे हंस! तुम सुख से आये हो न? आओ, आओ, यह लो दूध पिओ। हे प्रिय! कृष्ण का संवाद कहो, तुम्हें हम सब दूत मानती हैं। वह आनन्द में हैं न? प्रेम अस्थिर है। वह क्या हम सब की बात का स्मरण करते हैं? उनकी कथा में ही केवल मिष्टता है, वह अरति प्रद हैं। लक्ष्मी व्यतीत हम सब क्यों उनका भजन करेंगी? लक्ष्मी बारं बार अनादृता होकर भी उनका भजन करती हैं। सो करें। हम सब एक निष्ठ हैं— हमारे समान मानिनी स्त्री गण की निज सम्मान सिद्धि में ही एकमात्र निष्ठा है। उक्त श्लोक समूह की व्याख्या—

इस प्रकार जल क्रीड़ा में विहार शील श्रीकृष्ण के गत्यादि के द्वारा स्त्री गण की बुद्धि अपहृता हुई

अथ विरहस्पर्शीनि तान्येवोन्माद-वाक्यान्याहुः—कुररीत्यादि। हे कुररि ! जगति त्वमेवैका रात्र्यां विलपसि, अतएव न शेषे, न निद्रासि। ईश्वरोऽस्मत्स्वामी तु गुप्तबोधः क्वचिदाच्छन्नः स्वपिति। तस्मादस्माकं तव च विलापादि-साधर्म्यचाविदमनुमीयत इत्याहुः—वयमिवेति। एवमन्यत्रापि योजनीयम्। तदैव दैवादागतं हंसं दूतं कल्पयित्वाहुः—हंसेति। नोऽस्मान् प्रति पुरा रहसि उक्तं किं वा स्मरति ? स्मरतु मा वेत्याशयेनाहुः—तमिति। यदिच तदाग्रहस्तदा हे क्षौद्र ! सौहृद्यचाञ्चल्येन क्षुद्रस्य तस्य दूत ! तमेव कामदं युवतिजनक्षोभकमत्रालापय आह्वय, किन्तु यामासाद्य वयं त्यक्तास्तां श्रियमृते। तां सोल्लुण्ठं स्तौति—स्त्रियां मध्ये सैव एकत्र तस्मिन् निष्ठा यस्यास्तादृशी। ततः कथं तस्यां नासज्येतेति व्यञ्जितम्। काक्वा स्वेषामपि तन्निष्ठत्वं व्यज्य सोल्लुण्ठत्वं दर्शितम्।

अथ तासां तद्विधाशेषविप्रलम्भानन्तरजं नित्यमेव सर्वात्मकसम्भोगमाह (भा० १०।९०।२५)—

(३८८) "इतीदृशेन भावेन कृष्णे योगेश्वरेश्वरे।
क्रियमाणेन माधव्यो लेभिरे वैष्णवीं गतिम् ॥" ६९०॥

---

थी। अनन्तर, एकमात्र मुकुन्द में ही चित्त वृत्ति निबद्ध होने से, वे समाधिस्थ के समान क्षण काल मौनावलम्बन करके थीं। पुनर्वार, अनुराग विशेष से उन्मादिनी के समान हो गईं। उस अवस्था में कमल नयन श्रीकृष्ण—उन सब के सहित विहार करने पर भी उनको अगोचर के समान जानकर—जड़-विचार शून्य होकर जो बोली थीं—उक्त कथन समूह—श्रीशुकदेव के कथन से सुनो-उन्होंने परीक्षित् को कहे थे।

अनन्तर विरह स्पर्शी उक्त उन्माद वचन समूह-'कुररि' इत्यादि कतिपय श्लोकों में कहे हैं—हे कुररि ! जगत् में तुम्हीं एकमात्र रात्रि में विलाप करती रहती हो, अतएव तुम को नींद नहीं आई है। यह प्रतीत होता है। ईश्वर--हमारे स्वामी, गुप्त बोध--प्रच्छन्न होकर निद्रित हैं। हमारे और तुम्हारे विलापादि के साम्य से अनुमित हो रहा है, कमल नयन के हास्य एवं उदार दृष्टि के द्वारा तुम्हारा चित्त गाढ़ रूपसे विद्ध हुआ है। अन्यत्र भी इस प्रकार अर्थ योजना करनी चाहिये।

उसी समय दैवात् आगत हंस को दूत कल्पना करके बोलीं--हे हंस पहले श्रीकृष्ण गोपन में जो कुछ हम सब को कहे हैं उसका स्मरण क्या करते हैं ? मेरा स्मरण करें, उनका इस प्रकार अभिप्राय की कल्पना करके बोलीं हैं--हम सब क्यों उनका भजन करेंगी ? यदि उनका आग्रह हो तो, हे क्षौद्र ! सौहृद्य चापल्य हेतु अर्थात् सौहृद्य की स्थिरता न होने के कारण, वह क्षुद्र हैं, तुम तो उनका दूत हो ! हे क्षुद्रका दूत ! उस कामद युवती जन क्षोभ कारी को यहाँ ले आओ, किन्तु जिस को आश्रय करके हम सब का त्याग उन्होंने किया है, उन लक्ष्मी को यहाँ न लाओ, वह लक्ष्मी किस प्रकार हैं ? स्त्री वृन्द के मध्य में उनकी ही एक मात्र निष्ठा श्रीकृष्ण में है सुतरां वह क्यों लक्ष्मी में आसक्त नहीं होगा ? अवश्य ही आसक्त हैं—यह व्यञ्जित हुआ। काकु रीति से कथित है—स्त्री गण के मध्य में लक्ष्मी को ही एकमात्र कृष्ण में निष्ठा है ? हम सब क्या श्रीकृष्ण में निष्ठा शील नहीं हैं ? काकु—वितर्क अर्थ में होता है। निज निष्ठा कृष्ण में व्यक्त करके सोल्लुण्ठत्व का प्रदर्शन करते हैं।

सोल्लुण्ठ वचन रीति है—इस में मान, गर्व, व्याज स्तुति, कहीं निन्दा तो कहीं सम्मान होता है।

अनन्तर महिषी वृन्द का तादृश अशेष विप्रलम्भ के पश्चात् सञ्जात नित्य सर्वात्मक सम्भोग वर्णित हुआ है। भा० १०।९०।२५ में उक्त है—

विष्णोः श्रीकृष्णस्य एव सम्बन्धिनीं गतिं नित्यसंयोगं लेभिरे। अत्र हेतुः— माधव्यो मधुवंशोद्भवस्य श्रीकृष्णस्यैव नित्यप्रेयस्यस्ताः श्रीशुकः।

३८९–३९०। अथ प्रवासः। नानाविधश्चैषः तदनन्तरसङ्गश्च श्रीव्रजदेवीरेवाधिकृत्योदाहरणीयः। सङ्गत्यर्थं तत्र प्रवासलक्षणम् (उ० नी०, शृङ्गारभेद-प्र० १५२)—

"पूर्वसङ्गतयोर्यूनोर्भवेद्देशान्तरादिभिः। व्यवधानन्तु यत् प्राज्ञैः स प्रवास इतीर्य्यते। ५६१॥
तज्जन्यविप्रलम्भोऽयं प्रवासत्वेन कथ्यते" इत्यर्थः।

अत्र (उ० नी०, शृङ्गारभेद-प्र० १६७)—

"चिन्ता प्रजागरोद्वेगौ तानवं मलिनाङ्गता। प्रलापो व्याधिरुन्मादो मोहो मृत्युर्दशा दश॥"६६२॥

अयञ्च किञ्चिद्दूरगमनमयः सुदूरगमनमयश्च। तत्र पूर्वोऽपि द्विविधः,--एकलीलागतः, लीलापरम्परान्तरालगतश्च। पूर्वो यथा, (भा० १०।३०।१) —

(३८९) "अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः।
अतप्यं स्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम्॥"६६३॥ इत्यादि।

---

(३८८) "इतीदृशेन भावेन कृष्णे योगेश्वरेश्वरे।
क्रियमाणेन माधव्यो लेभिरे वैष्णवीं गतिम्॥"६६०॥

योगेश्वर श्रीकृष्ण के प्रति क्रियमाण इस प्रकार भाव के द्वारा माधवी गण वैष्णवी गति को प्राप्त किये। वैष्णवी गति-विष्णु—श्रीकृष्ण सम्बन्धनी गति-नित्य संयोग को प्राप्त किये। इसमें हेतु-वे माधवी थीं--मधु वंशोद्भव श्रीकृष्ण की नित्य प्रेयसी थीं। प्रवक्ता श्रीशुक हैं—३८८॥

३८९–३९०। अनन्तर प्रवास का वर्णन करते हैं—यह प्रवास अनेक प्रकार हैं। प्रवास के अनन्तर मिलन का दृष्टान्त—व्रजदेवी गण को अवलम्बन कर प्रदत्त हुआ है—अर्थ सङ्गति हेतु उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में वर्णित प्रवास लक्षण उद्धृत हो रहा है—

"पूर्वसङ्गतयोर्यूनोर्भवेद्देशान्तरादिभिः। व्यवधानन्तु यत् प्राज्ञैः स प्रवास इतीर्य्यते॥६६१॥
तज्जन्यविप्रलम्भोऽयं प्रवासत्वेन कथ्यते" इत्यर्थः।

पूर्व सङ्गत युवक युवती का देशान्तरादि का जो व्यवधान उपस्थित होता है— विज्ञ व्यक्ति गण उस को प्रवास कहते हैं। व्यवधान जनित विप्रलम्भ को प्रवास कहते हैं—इस में चिन्ता, प्रजागर निद्रानाश, उद्वेग, तानव (कृशता)मलिनाङ्गता, प्रलाप, व्याधि, उन्माद, मोह एवं मृत्यु ये दशदशा उपस्थित होती है-

"चिन्ता प्रजागरोद्वेगौ तानवं मलिनाङ्गता।
प्रलापो व्याधिरुन्मादो मोहो मृत्युर्दशा दश॥६६२॥

यह प्रवास किञ्चिद् दूर गमनमय एवं सुदूर गमन मय भेद से द्विविध हैं, उस के मध्य में किञ्चिद् दूर गमनमय प्रवास भी द्विविध हैं—एक लीलागत, एवं लीला परम्परान्तराल गत। लीलागत का उदाहरण भा० १०।३०।१ में उक्त है—

(३८९) "अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः।
अतप्यं स्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम्॥६६३॥

तथा, (भा० १०।३०।३६)—

(३६०) "ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा बधूरन्वतप्यत" इति ।

स्पष्टम् ।। सः ।।

३६१। अत्र प्रलापाख्या दशा च, (भा० १०।३०।४०) "हा नाथ रमण प्रेष्ठ" इत्यादि ।

स्पष्टम् ।। श्रीराधा ।।

३६२। तथा (भा० १०।३१।१) —

'जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः, श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि ।

दयित दृश्यतां दिक्षु तावका-, स्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ।।"६६४।।

तथा (भा० १०।३१।२) "शरदुदाशये साधुजातः" इत्यादि, (भा० १०।३१।३) 'विषजलाप्ययया-" इत्यादि, (भा० १०।३१।४) "न खलु गोपिकानन्दनः" इत्यादि, (भा० १०।३१।५) 'विरचिताभयम्

---

श्रीभगवान् अतर्कित भावसे अन्तर्हित होने पर व्रजाङ्गना गण उनको न देखकर यूथपति के अदर्शन से करिणी गण में जिस प्रकार सन्तप्ता होती हैं–उस प्रकार सन्तप्ता हो गईं । अन्य दृष्टान्त-- भा० १०।३०।३६ में उक्त है—

(३६०) "ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा बधूरन्वतप्यत"

श्रीकृष्ण अन्तर्हित हो गये । वह बधू राधा अनुताप करने लगीं । श्रीशुक कहे थे ।।३८९-३९०।।

३९१। प्रवास में प्रलापाख्या दशा का दृष्टान्त भा० १०।३०।४० में है— "हा नाथ रमण प्रेष्ठ" इत्यादि । श्रीकृष्ण के अन्तर्द्धान से श्रीराधा का प्रलाप–"हा नाथ ! हा रमण ! हा प्रेष्ठ ! इत्यादि ।

श्रीराधा बोली थीं—३९१।।

३९२। उसी प्रकार भा० १०।३१।१ में सामूहिक प्रलाप वर्णन है—

"जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः, श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि ।

दयित दृश्यतां दिक्षु तावका-, स्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ।।"६९४।।

हे प्रिय ! तुम्हारे जन्म हेतु व्रज सर्वाधिक जय युक्त हुआ है । महालक्ष्मी इस स्थान को अलङ्कृत कर निरन्तर विराजित हैं, तुम्हारे दर्शन की आशा से जो लोक प्राण धारण कर रही हैं, उस प्रकार गोपी गण चतुर्दिक में तुम्हारा अनुसन्धान कर रही है । तुम उन सब को दर्शन दान करो । इस प्रकार उक्त अध्याय में कतिपय दृष्टान्त है—भा० १०।३१।१

"विषजलाप्ययाद् व्याल राक्षसाद् वर्षमारुताद् वैद्युतानलात् ।

वृषमयात्मजाद् विश्वतोभयादृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः ।।"

हे श्रेष्ठ ! विषजलपानहेतु भृत्य से, अघासुर से, वात वृष्टि से,—वज्रपात से, वृषात्मज एवं मयात्मज से एवं अन्य सर्व प्रकार भय से हम सब की रक्षा वारं वार किये हो । भा० १०।३१।४—

"न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।

विखनसार्थितविश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ।।"

हे सखे ! तुम गोपिका नन्दन नहीं हो, किन्तु अखिल प्राणियों की बुद्धि साक्षी हो विश्व पालन हेतु ब्रह्मा प्रार्थना किये थे, तज्जन्य तुम सात्वत कुल में उदित हुये हो । भा० १०।३१।२

इत्यादि, (भा० १०।३१।६) 'व्रजजनार्त्तिहन्' इत्यादि, (भा० १०।३१।७) 'प्रणतदेहिनाम्' इत्यादि, (भा० १०।३१।८) 'मधुरया गिरा' इत्यादि, (भा० १०।३१।९) 'तव कथामृतम्' इत्यादि, (भा० १०।३१।१०) 'प्रहसितम्' इत्यादि, (भा० १०।३१।११) 'चलसि यद्व्रजात्' इत्यादि,

---

"शरदुदाशये साधुजात सत् सरसिजोदर श्रीमुषादृशा ।
सुरत नाथ तेऽशुल्क दासिका वरद निघ्नतो नेह किं बधः ॥"

हे सुरत नाथ ! हे वरद ! शरत कालमें सरोवर में सुजात उत्तम कमल गर्भ की शोभा हारी नयनों के द्वारा तुम्हारी विनामूल्य की दासी हम सब को जो बध कर रहे हो, यह क्या बध नहीं है ? भा० १०। ३१।५—

"विरचिता भयं वृष्णि धूर्य्य ते चरण मीयूषां संसृतेर्भयात् ।
करसरोरुहं कान्तकामदं शिरसिधेहिनः श्रीकर ग्रहम् ॥"

हे वृष्णि श्रेष्ठ ! संसार भीत प्राणिगण तुम्हारे चरण कमल को आश्रय करने से हो हस्त अभय दान करता है, जो वरद है, जिस के द्वारा कमला के कर कमल ग्रहण किये हो, हे कान्त, उस करसरोरुह हम सब के मस्तक में अर्पण करो । भा० १०।३१।६—

"व्रजजनर्त्तिहन् वीर योषितां निजजन स्मय ध्वंसनस्मित ।
भजसखे भवत् किङ्करीः स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय ॥"

सखे ! तुम व्रजजन के आर्त्तिहारी हो, हे वीर ! तुम्हारे हास्य--निजजन का गर्व नाशक है । हम सब तुम्हारी किङ्करी हैं, कृपा करके हम सब को आश्रय दान करो, हम सब योषित् हैं, हम सबको बदन कमल दर्शन कराओ । भा० १०।३१।७--

"प्रणत देहिनां पाप कर्षणं तृण चरानुगं श्रीनिकेतनं ।
फणि फणार्पितं ते पदाम्बुजं कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम् ॥'

तुम्हारे चरण कमल प्रणत प्राणि मात्र का पाप नाशन, तृणचर पशुगण के अनुगामी, लक्ष्मी का निकेतन, वह कालिय नाग की फण में अर्पित हुआ था । उस चरण हमारे स्तन में अर्पण करो एवं हमारे कामछेदन करो, भा० १०।३१।८--

"मधुरया गिरा वल्गु वाक्यया बुध मनोज्ञया पुष्करेक्षण ।
विधिकरी रिमा वीर मुह्यतीरधर सुधयाप्याययस्व न. ॥"

हे कमल नयन ! तुम्हारी मधुर वाणी मनोहर पदावली द्वारा अलङ्कृता हैं,एवं बुधजन की मनोज्ञा है । इस वाणीसे हम सब को मोह हुआ है, हम सब तुम्हारी किङ्करी हैं । तुम्हारा अधरामृत प्रदान कर हम सब को जीवित करो । भा० १०।३१।९

"तव कथामृतं तप्त जीवनं कविभिरीड़ितं कल्मषापहम् ।
श्रवण मङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ये भूरिदाजनाः ॥"

तुम्हारे कथारूप अमृत, तापित जनों के जीवन को रक्षा हेतु अवलम्बन है । ब्रह्मादि देवगण उसकी स्तुति करते हैं । उस से काम कर्म्म निवृत्त होता है । उस को सुनने से ही मङ्गल होता है, एवं वह शान्ति दायक हैं । रस जगत् में जो लोक उस कथा का कीर्त्तन करते हैं । वे ही सर्वार्थ दाता हैं । भा० १०।३१।१०

"प्रहसितं प्रिय प्रेम वीक्षणं विहरणञ्च ते ध्यान मङ्गलम् ।
रहसि संविदो या हृदि स्पृशः कुहकनोमनः क्षोभयन्ति हि ॥"

(भा० १०।३१।१२) "दिनपरिक्षये" इत्यादि, (भा० १०।३१।१३) 'प्रणतकामदम्' इत्यादि, (भा० १०।३१।१४) 'सुरतवर्द्धनम्' इत्यादि, (भा० १०।३१।१५) 'अटति यद्भवान् इत्यादि, (भा० १०।३१।१६) 'पतिसुतान्वय' इत्यादि, (भा० १०।३१।१७) 'रहसि सम्विदम्' इत्यादि,

---

हे प्रिय ! हे कपट ! तुम्हारा हास्य, स प्रेम दृष्टि, जिस का ध्यान से मङ्गल होता है—उस प्रकार विहार, निर्जन में हृदय स्पर्शी सङ्केत नर्म्म, ये सब हमारे मन को क्षुब्ध कर रहे हैं। भा० १०।३१।११

"चलसि यद् व्रजाच्चारयन् पशून् नलिन सुन्दर नाथ ते पदम् ।
शिल तृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति ।।"

हे नाथ ! हे कान्त ! तुम जब पशु चारण करते करते व्रज से जाते हो, तब तुम्हारे सु कोमल चरण शस्य मञ्जरी तृण एवं अङ्कुर में अर्पित होकर व्यथित हो रहा है—यह सोचकर हमारा मन अत्यन्त व्याकुल होता है । भा० १०।३१।१२

"दिन परिक्षये नील कुन्तलैर्वनरुहाननं बिभ्रदावृतम् ।
धन रजस्वलं दर्शयन् मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि ।।"

हे वीर ! सायं काल में नील कुन्तल से आवृत, गोधूलि धूसर तुम्हारे वदन कमल प्रकटन पूर्वक, उस को बारम्बार दर्शन कराकर हमारे हृदय में कन्दर्प अर्पण करो । भा० १०।३१।१३

"प्रणत कामदं पद्मजार्च्चितं धरणि मण्डनं ध्येयमापदि ।
चरण पङ्कजं शन्तमञ्च ते रमण नः स्तेनष्वर्पयाधिहन् ।।"

हे मनः दुःखोपशमन ! हे रमण ! तुम्हारे यह चरण कमल प्रणत जनों को अभीष्ट प्रद है, ब्रह्मादि कर्त्तृक पूजित है, धरणी का भूषण स्वरूप है, ध्यान मात्र से आपद् निवारण कारी है, सेवा समय में भी सुख स्वरूप है, उस चरण कमल को हमारे स्तन में अर्पण करो । भा० १०।३१।१४ में उक्त है

"सुरत वर्द्धनं शोक नाशनं स्वरित वेणुना सुष्ठु चुम्बितम् ।
इतर राग विस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ।।"

हे वीर ! तुम्हारे अधर ही अमृत है, वह सुरत—प्रेम विशेषमय सम्भोगेच्छा को वर्द्धित करता है, शोक–तुम्हारी अप्राप्ति हेतु दुःखानुभव को विनष्ट करता है, शब्दायमान वेणु के द्वारा सुन्दर रूप से चुम्बित अर्थात् वेणु द्वारा सुन्दर गायक एवं मानव गण की सार्व भौमादि सुखेच्छा को विस्मरण कराता है, हम सब को उस अधरामृत वितरण करो । भा० भा० १०।३१।१५ में उक्त है—

"अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम् ।
कुटिल कुन्तलं श्रीमुखञ्च ते जड़ उदीक्षतां पक्ष्म कृद्दृशाम् ।।

दिवस में जब तुम वृन्दावन गमन करते हो, तब तुम को न देखकर व्रजके प्राणिमात्र का क्षणार्द्धकाल भी युग के समान दुर्यापणीय होता है । दिवसावसान में तुम्हारा प्रत्यागमन होने से तुम्हारे कुटिल कुन्तल एवं श्रीमुखदर्शन समय में निमेष व्यवधान भी असह्य होने से उस के निकट चक्षु में पलक-पक्ष्म सृजन कारी ब्रह्मा भी निन्दित होते हैं । भा० १०।३१।१६—

"पति सुतान्वय भ्रातृबान्धवानति विलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युता गताः ।
गति विदस्तवोद्गीत मोहिताः, कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ।।

हे अच्युत ! हे कपट ! तुम हम सब के आगमन कारण को जानते हो, तुम्हारे उच्च वेणुगीत से

(भा० १०।३१।१८) 'व्रजवनौकसाम् इत्यादि, (भा० १०।३१।१९)—

(३९२) "यत्ते सुजात--चरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद्व्यथते न किं स्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥"६९५॥

अत्र विषजलाप्ययादित्यादिकं सर्वस्यैव गोकुलस्य स्वरक्षणीयता-दृष्ट्याप्यस्मानधुना रक्षेत्यभिप्रायम्। वृषात्मजाद्वत्सात्, मयात्मजाद्व्योमासुरादित्यर्थः। पुनश्च तत्तदलौकिकं

---

मोहिता होकर पति, पुत्र, उसके सम्पर्कित व्यक्ति--भ्राता, बान्धव गण को परित्याग कर तुम्हारे निकट आई हैं। रात्रि काल में इस रीति से समागता रमणी गण को कौन परित्याग करता है? भा० १०।३१।१७

"रहसि संविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम्।
बृहदुरःश्रियो वीक्ष्य धामते मुहुरति स्पृहा मुह्यते मनः ॥"

निर्जन में तुम्हारा क्रीड़ा सङ्केत, कन्दर्पोद्रेक, हास्य वदन, सप्रेम दृष्टि, लक्ष्मी का विलास भूमि स्वरूप विशाल वक्षः को देखकर हम सब की अत्यन्त स्पृहा हुई है, उस से हम सब का मन मुग्ध हो गया है। भा० १०।३१।१८

"व्रजवनौकसाम् व्यक्तिरङ्गते वृजिन हन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम्।
त्यजमनाक् च नस्त्वत् स्पृहात्मनां स्वजन हृद्रुजां यन्निसूदनम् ॥"

तुम्हारा आविर्भाव व्रजवासि समूह का दुःख निरसनार्थ एवं विश्व का परम मङ्गल स्वरूप है। तुम को प्राप्त करने के निमित्त जिस का अभिलाष है, इसी प्रकार अभिलाषिणी हम सब तुम्हारी निज जन हैं, हम सब की कन्दर्प क्रीड़ा जिस से विनष्ट हो, इस प्रकार प्रयत्न करो। भा० १०।३१।१९

(३९२) "यत्ते सुजात चरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहिकर्कशेषु।
तेनाटवी मटसि तद्व्यथते न किं स्वित् कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥"६९५॥

तुम्हारे जो सुकोमल चरण कमल, सम्मर्दन शङ्का से हम सब धीरे धीरे स्तनों के ऊपर धारण करती हैं, तुम तो उसी चरणों से वन वन में भ्रमण कर रहे हो! इस से क्या वह सूक्ष्म पाषाणादि के द्वारा व्यथित नहीं होता है? निश्चय होता है। यह सोचकर हमारी बुद्धि मुग्ध हो जाती है, कारण, तुम्हीं तो हमारे जीवन हो, उक्त श्लोक समूह की व्याख्या--"विषजलाप्ययात्" इत्यादि श्लोक में व्रजाङ्गनावृन्द का अभिप्राय यह है—समस्त गोकुल के प्रति जो तुम्हारी स्वरक्षणीयता दृष्टि हैं, अन्ततः उस के द्वारा हम सब की रक्षा करो। अर्थात् तुम समस्त गोकुल को निज रक्षणीय रूप में देखते हो। प्रेयसी बुद्धि से रक्षा करने से रक्षा करने में प्रवृत्त न होने पर भी अन्ततः गोकुल वासिनी मानकर हमारी रक्षा करो। उक्त श्लोक में लिखित वृषात्मज-शब्द से वत्सासुर--मयात्मज शब्द से व्योमासुर को जानना होगा।

पुनर्वार कृष्ण के जो सब कालियदमनादि अलौकिक कर्म्म को लक्ष्य करके श्लोक द्वय में "न खलु गोपिका नन्दनोभवान्" कहा गया है—यह कथन याचक रीति से हुआ है, कारण, व्रजाङ्गना गणकी कृष्ण में ईश्वर बुद्धि नहीं है, वे कृष्ण को नन्दन-दन जानती हैं। किन्तु याचक जिस प्रकार दाता को अत्यधिक महत्त्व वाचक शब्द के द्वारा कहता, यद्यपि दाता साधारण व्यक्ति है, किन्तु माँगने वाला उस का स्तव करता है। यहाँ व्रजाङ्गना ने भी उसी भाव से कृष्ण को ईश्वर कहा है, यह स्तुति है, दैन्य से श्रीकृष्ण में

कर्म लक्ष्यीकृत्य न खलु गोपिकानन्दनो भवानित्यादि-द्वये याचकरीत्या दैन्येन तत्र परमेश्वरत्वारोप इयं स्तुतिः। ततो विश्वस्यापि स्वरक्षणीयतादृष्ट्याप्यस्मानधुना रक्षेति पूर्ववत्,-तत्रापि सात्वतानां वैष्णवानां श्रीमन्नन्दादीनां कुलेऽवतीर्णत्वात्, तत्रापि बाल्येऽस्मत्-सखित्वाप्तेर्वैशिष्ट्यमेव युज्यत इत्यर्थः। वृष्णिधुर्य्य इति तेषामपि यदुवंशोत्पन्नत्वात्। तथा च स्कान्दे मथुरामाहात्म्ये—

"गोवर्द्धनश्च भगवान् यत्र गोवर्द्धनो धृतः। रक्षिता यादवाः सर्वे इन्द्रवृष्टिनिवारणात्॥"६६६॥ इति।

तत्रैवान्यत्रापि श्रीगोविन्दकुण्ड-प्रस्तावे-"यत्राभिषिक्तो भगवान् मघोना यदुवैरिणा" इति। अथवा विषजलाप्ययादित्यादिना स्तुत्वा पुनः सप्रणयेर्ष्यमाहुः-न खल्वित्यर्द्धेन। एवं दुरवस्थापन्नानामस्माकमुपेक्षया भवान् खलु निश्चयेन गोपिकायाः सर्वेसां व्रजवासिनामस्माकं रक्षाकारिण्याः श्रीव्रजेश्वर्य्या नन्दनो नास्ति, किन्तु कस्यापि सुखेन दुःखेन वास्पृष्टत्वादखिल-देहिनामन्तरात्मदृक् शुद्धजीवद्रष्टा परमात्मास्ति। एवमपि नूनं ब्राह्मणार्थितत्वेनानासक्ततयैव सर्वरक्षावतीर्णत्वान्नास्मानुपेक्षितुमर्हतीति पुनः सदैन्यमाहुः-विखनसेत्यर्द्धेन। पूर्ववत्तदभि-प्रायेणैव विरचिताभयमित्यादिकमप्युक्तम्। प्रणतदेहिनामिति, श्रीनिकेतनमपि प्रणतदेहि-

---

में परमेश्वरत्व आरोप किया गया है।

अभिप्राय यह है—परमेश्वर होने के कारण तुम जगत् को निज रक्षणीय रूप में देखते हो, उस दृष्टि से भी हमें रक्षा करो, अर्थात् जगत् रक्षक तुम अन्ततः जगद् वासिनी बुद्धि से हमारी रक्षा करो। केवल उस हेतु प्रार्थना नहीं करती हैं, किन्तु तुम तो सात्वत--वैष्णव--श्रीनन्दादि के कुल में अवतीर्ण हुये हो, उस में भी बाल्य काल में हम सब के सहित सख्य व्यवहार तुमने किया था। सुतरां हम सब के सम्बन्ध में विशेष कुछ करना तुम्हारे पक्ष में उचित है।

"विरचिताभयं" श्लोक में कृष्ण को "वृष्णि धुर्य्य" कहा गया है। वे जानती हैं—नन्दनन्दन कृष्ण हैं, तथापि उस प्रकार सम्बोधन क्यों किया गया? कहते हैं-श्रीनन्दादि भी यदु वंशोत्पन्न होने के कारण कृष्ण को वृष्णि धुर्य्य कहा गया है। स्कन्ध पुराण के मथुरामाहात्म्य में उक्त है—

"गोवर्द्धनश्च भगवान् यत्र गोवर्द्धनो धृतः।
रक्षिता यादवाः सर्वे इन्द्रवृष्टिनिवारणात्॥६६६॥

गोवर्द्धन धारण करके श्रीकृष्ण ने गोपीगण की रक्षा की। इन्द्र गोपगण के विरुद्धाचरण किये थे। सुतरां उक्त श्लोक द्वय में गोपगण का यादवत्व अभिप्रेत है। "जहाँ भगवान् गोवर्द्धन धारण किये हैं-वह स्थान गोवर्द्धन है। इन्द्र वृष्टि निवारण समस्त यादव गण की रक्षा उन्होंने की। स्कन्द पुराण के अन्यत्र लिखित है— "यत्राभिषिक्तो भगवान् मघोना यदुवैरिणा"

श्रीगोविन्द कुण्ड प्रस्ताव में लिखित है—जहाँ यदुवैरीइन्द्र कर्त्तृक भगवान् अभिषिक्त हुये थे-वह श्रीगोविन्द कुण्ड है।

गोवर्द्धन धारण करके श्रीकृष्ण गोप गण को रक्षा किये थे। इन्द्र गोपगण के विरुद्धाचरण किये थे। सुतरां उक्त श्लोकद्वय में गोपगण का यादवत्व कहा गया है।

अथवा "विषजलाप्ययात्" इत्यादि श्लोक में कृष्ण का स्तव करके पुनराय स प्रणय ईर्ष्या के सहित

प्रभृतीनां पापकर्षणादिरूपम्, ततः एव परमकरुणामयत्वेनावगतमस्माकं कुचेष्वपि हृच्छयकर्त्तनाय कर्त्तुमुचितमित्यर्थः। हृच्छयनिदानं तदनुरूपं प्रतीकारान्तरं चाहुः-मधुरयेति। नूनं यत्सौरभ्यदिग्धतयैव तव गीर्मधुरा मनो मोहयति, तदेवाधरसीधु भवेदत्रौषधमित्यर्थः। अहो तवाधरसीधु तादृशपुण्यहीनाभिः कथं सुलभं स्यात् ? यतः सा मधुरा गीरप्यस्तु दूरे, गुरुगोष्ठीनियमबन्धनकष्ट मापन्नाभिरस्माभिः प्रसङ्गान्तरेणापि जनपरम्पराप्रख्याप्यमानमपि तव चरितामृतमपि दुर्लभमित्याह—तव कथामृतमिति। तदये गृणन्ति, तेऽप्यस्मभ्यं भूरिदा जाताः, कुतः पुनर्युष्माकं मय्येतावाननुरागः ? तत्राहुः—प्रहसितमित्यादि। कथं मम प्रहसितादीनामेतादृशत्वम ? तत्राहुः— हे कुहकेति। तादृशी कापि कुहकता, या त्वयि विद्यते, तां त्वमेव वेत्सीत्यर्थः। एवमन्यान्यपि योजनीयानि। परम-प्रेमप्रकर्षेणाहुः-यत्ते सुजातेति॥ श्रीगोप्यः॥

३६३। एतदनन्तरं सम्भोगोदाहरणञ्च दर्शितम्— (भा० १०।३२।३) 'तं विलोक्यागतं

---

"न खलु गोपिका नन्दनोभवान्" इत्यादि अर्द्ध श्लोक में कहे हैं, इस प्रकार दूरवस्थापन्ना हम सब की रक्षा करने में औदासीन्य प्रकाश करने के कारण—आप निश्चय ही गोपिका के—समस्त व्रज वासिनी हम सब की रक्षा कारिणी व्रजेश्वरी के नन्दन नहीं हैं। किसी के भी सुख दुःख से अस्पृष्ट होने के कारण आप अखिल प्राणी के अन्तरात्मदृक् शुद्ध जीव द्रष्टा परमात्मा ही हैं। इस प्रकार होने पर भी निश्चय ही ब्रह्मा कर्त्तृक प्रार्थित होकर सर्व रक्षार्थ अवतीर्ण हुये हैं, अतः अनासक्त भाव से अवतीर्ण नहीं हुये हैं। इस हेतु हम सब के प्रति उपेक्षा प्रदर्शन करना उचित नहीं है। इस अभिप्राय से पुनर्वार दैन्य के सहित उन्होंने कहा--

"विखनसार्थित" पूर्ववत् निज रक्षाभिप्राय से उन्होंने कहा है--"विरचिताभयं" इत्यादि। 'प्रणत देहिनां' इत्यादि श्लोक का अभिप्राय— आप के चरण कमल श्री निकेतन--लक्ष्मी का वासस्थल होने पर भी प्रणत देहि प्रभृति का पाप कर्षणादि रूप है। इस हेतु वह परम करुणामय है, यह प्रतीत होता है। कन्दर्प विलास के निमित्त उस को हमारे स्तन समूह में स्थापन करना उचित है। कन्दर्प निदान एवं तदनुरूप--अर्थात् स्तन में चरण कमल अर्पण के द्वारा कन्दर्प पीड़ा का प्रतीकार के समान अन्य प्रतीकार को उन्होंने कहा--- 'मधुरया गिरा' जिस का सौरभ मिश्रण से आप की मधुर वाणी मनो मुग्ध करती है, उस अधर मधु इस अवस्था में अर्थात् कन्दर्प पीड़ा का परमौषध है। अहो ! आप का अधर मधु तादृश पुण्य हीना हम सब के पक्ष में कैसे सुलभ होगा ? कारण---वह मधुर वाणी हम सब से दूर में रहती है। गुरुजन वर्ग की सभा के नियम से अवरोध प्राप्त हम सबके पक्षमें अन्य प्रसङ्ग में एवं जन परम्परा में प्रकीर्त्तित आपका चरितामृत दुर्ल्लभ है। इस अभिप्राय से ही उन्होने कहा —"तव कथामृतं" इत्यादि। उक्त चरितामृत का कीर्त्तन जो लोक करते हैं, वे भी हम सब को प्रचुर दान कारी सिद्ध होते हैं।

श्रीकृष्ण यदि कहें— कि — मेरे प्रति तुम सब का इस प्रकार अनुराग कैसे हुआ ? उत्तर में उन्होंने कहा—"प्रहसितं" इत्यादि। यदि श्रीकृष्ण कहे कि— मेरे हास्यादि कैसे उस प्रकार अनुराग जनक हुए हैं ? कहती हैं—हे कुहक ! तुम्हारे में उस प्रकार कुहक है— जिस से तुम हम सब को अनुरागिणी किये हो, उस कुहक का विवरण तुम्हीं जानो। उस प्रकार अन्यान्य श्लोको की अर्थ योजना करनी चाहिये। अनुराग का परमोत्कर्ष स्थापन कर उन्हीं ने कही है--"यत्ते सुजात" इत्यादि　　　　श्रीगोपीवृन्द बोली थीं ॥३६२॥

प्रेष्ठम्" इत्यादिभिः। अत्र च क्रमेण विरहसन्तापधुतिः। तत्र प्रथमतो यथा (भा० १०।३२।९) —

'सर्व्वास्ताः केशवालोक-परमोत्सवनिर्वृताः।

जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः।।'६९७।।

द्वितीयो यथा—(भा० १०।३२।१२) 'तद्दर्शनाह्लाद-विधूतहृद्रुजः" इत्यादि, तृतीयो यथा—(भा० १०।३३।१) —

(३९३) "इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः।

जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः।।"६९८।।

स्पष्टम्।। श्रीशुकः।।

३९४--३९७। अथ द्वितीयं किञ्चिद्दूरप्रवासमाह (भा० १०।३५।१) —

(३९४) "गोप्यः कृष्णे वनं याते तदनुद्रुतचेतसः।

कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान्।।"६९९।।

तत्र च तासां प्रलापाख्यामवस्थामाह (भा० १०।३५।२) —

श्रीगोप्य ऊचुः—

(३९५) "वामबाहुकृतवामकपोलो, वल्गितभ्रूरधरार्पितवेणुम्।

कोमलाङ्गुलिभिराश्रितमार्गं, गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः।।७००।।

---

३९३। इस के पश्चात् संभोग का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—भा० १०।३२।३ "तं विलोक्यागतं प्रेष्ठम्" यहाँ क्रमशः व्रजदेवी वृन्द का विरह सन्ताप नाश वर्णित हुआ है। भा० १०।३२।९

"सर्व्वास्ताः केशवालोक--परमोत्सवानर्वृताः।

जहुर्विरहजं तापं प्राज्ञं प्राप्य यथा जनाः।।"६९७।।

भगवद् भक्तगण श्रीकृष्ण को प्राप्तकर जिस प्रकार तद्विरह जनित ताप को परित्याग करते हैं-गोपी गण केशव के ईषद् दर्शन से उस प्रकार परमानन्द लाभ किये थे। उनका विरह सन्ताप विदूरित हुआ। किञ्चिद् दूर गमन मय प्रवास का प्रथम प्रकार का एक लीलागत दृष्टान्त प्रस्तुत हुआ। द्वितीय प्रकार का लीला परम्परागत किञ्चिद् दूर प्रवास का दृष्टान्त भा० १०।३२।१३ 'तद्दर्शनाह्लाद-विधूत हृद्रुजः"

तृतीय का दृष्टान्त भा० १०।३३।१ है—

(३९३) "इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः।

जहुर्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः।।"६९८।। श्रीशुक कहे थे--३९३।।

३९४-३९७। अनन्तर द्वितीय प्रकार लीला परम्परागत किञ्चिद् दूर प्रवास का दृष्टान्त उपस्थित करते हैं — (३९४) "गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः।

कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान्।।"६९९।।

श्रीकृष्ण वन गमन करने पर जिनका मन वेग से उनका अनुगमन किया था, उन गोपीगण, तदीय लीला गान पूर्वक अतिकष्ट से दिवस अति वाहित करने लगीं।

व्योमयानवनिताः सह सिद्धै-,र्विस्मितास्तदुपधार्य्य सलज्जाः ।
काममार्गणसमर्पितचित्ताः, कश्मलं ययुरपस्मृतनीव्यः ॥७०१॥

तथा (भा० १०।३५।४) 'हन्त चित्रमबलाः शृणुतेदम्' इत्यादि, (भा० १०।३५।५) 'वृन्दशो व्रजवृषा' इत्याद्यन्तम्, (भा० १०।३५।६) 'बर्हिणस्तवक-' इत्यादि, (भा० १०।३५।७) 'तर्हि भग्नगतयः' इत्याद्यन्तम्, (भा० १०।३५।८) 'अनुचरैः' इत्यादि, (भा० १०।३५।९) 'वनलता' इत्याद्यन्तम्, (भा० १०।३५।१०) 'दर्शनीयतिलकः' इत्यादि, (भा० १०।३५।११) 'सरसि सारस-' इत्याद्यन्तम्, (भा० १०।३५।१२) 'सहबलः' इत्यादि, (भा० १०।३५।१३) 'महदतिक्रमण' इत्याद्यन्तम्"

---

उस अवस्था में उन सब का प्रभाव वर्णित हुआ है—भा० १०।३५।८

श्रीगोप्य ऊचुः—(३९५) ' वामबाहुकृतवामकपोलो, वल्गितभ्रूरधरार्पितवेणुम् ।
कोमलाङ्गुलिभिराश्रितमार्गं, गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः । ७००॥
व्योमयानवनिताः सह सिद्धै-, विस्मितास्तदुपधार्य्य सलज्जाः ।
काममार्गणसमर्पितचित्ताः, कश्मलं ययुरपस्मृतनीव्यः ॥"७०१॥

हे व्रजाङ्गना गण ! वामभुज मूल में वामगण्ड स्थापन कर भ्रूयुगल नर्त्तन पूर्वक जिस समय मुकुन्द अधर में अर्पित वेणुरन्ध्र में कोमल अङ्गुलि सञ्चालन कर वाद्य करते रहते हैं, उस समय देवनारी गण-सिद्ध निज पति के सहित अवस्थान करने पर भी उस वेणु गीत श्रवण कर विस्मित होते हैं, एवं कामशर को चित्त समर्पण करते हैं, उनकी नीविस्खलित होती है। वे सलज्ज भाव से मोहित होती हैं।

हे अबला गण ! अहो ! यह अत्यद्भुत है। श्रवण करो, जिनका हास्य मनोहर, जिनके वक्षःस्थल में स्थिर विद्युत के समान लक्ष्मी रेखा विद्यमान है, उन नन्दनन्दन जिस समय आर्त्तजन को सुखी करने निमित्त वेणु वादन करते हैं, उस समय--व्रजके वृष, गो मृग, दूरसे श्रेणीबद्ध रूप से उस वेणु वाद्य को सुनकर आत्म विस्मित अवस्था में उत्कर्ण होकर निद्रित एवं चित्त पुत्तलिकावत् तृण ग्रास को दन्तों से धारण कर चर्वण न करके स्थिर भाव से अवस्थान करते हैं।

भा० १०।३५।४ "हन्त चित्रमबलाः शृणुतेदम्" भा० १०।३५।५ "वृन्दशो व्रजवृषाः" भा० १०।३५।६ "वर्हिणस्तवक" हे सखि ! मुकुन्द जिस समय मयूर पुच्छ गौरिकादि धातु-पल्लव प्रभृति द्वारा सज्जित मल्लवत् बद्ध परिकर होकर बलदेव एवं गोपगण के सहित धेनुवृन्द को आह्वान करते हैं—उस समय समीरण समानीत श्रीकृष्ण के चरण कमल की रेणु लाभेच्छा से अबहु पुण्य शालिनी हम सबके समान नदी समूह की गति भग्न होती है। प्रेम से उनकी तरङ्ग समूह स्पन्दित होती रहती हैं। एवं जल स्तम्भित होता है। भा० १०।३५।७ "तर्हि भग्नगतयः" भा० १०।३५।८ "अनुचरैः" आदि पुरुष नारायण के समान अनुचर गोपगण सम्यक् रूप से जिनका वीर्य्य वर्णन करते हैं, लक्ष्मी जिनकी अचला हैं। उन श्रीकृष्ण-जिस समय वन में विचरण करते करते गिरितट में विचरण शील गो समूह को वेणुस्वर से आह्वान करते हैं, उस समय फल फुल से सुशोभित, फल भर से अवनत, प्रेम से पुलकित, वनलता एवं तरु समूह अपने में विष्णु प्रकाश है—इस को सूचित करके ही मानो मधुधारा वर्षण करते हैं। भा० १०।३५।९ "वनलतातरवः" भा० १०।३५।१० 'दर्शनीयतिलकः" सुन्दर श्रेष्ठ श्रीकृष्ण,-जिस समय दिव्यादि दिव्य कुसुम समूह रचित वन माला में विराजिता दिव्य गन्ध शालिनी तुलसी के मधुपान में मत्त भ्रमर का अभीष्ट उच्च सङ्गीत का समादर करके जब वेणु वादन करते हैं, उस समय सरोवर स्थित सारस, हंस एवं अन्य पक्षि समूह उस

(भा० १०।३५।१४) 'विविधगोपचरणेषु' इत्यादि, (भा० १०।३५।१५) 'सवनशः' इत्याद्यन्तम्, (भा० १०।३५।१६) 'निजपदाब्जदलैः इत्यादि, (भा० १०।३५।१७) 'व्रजति तेन वयम्' इत्याद्यन्तम्, (भा० १०।३५।१८) 'मणिधरः' इत्यादि, (भा० १०।३५।१९) 'क्वणितवेणुरव-' इत्याद्यन्तम्, (भा० १०।३५।२०) 'कुन्ददाम-' इत्यादि, (भा० १०।३५।२१) 'मन्दवायु-' इत्याद्यन्तञ्च तत्तद्युगलं स्मर्त्तव्यम् । अत्र सहसिद्धैरिति तेषामपि तादृशवेणुवाद्यमहिम्ना वनिताभावापत्तिः सूचिता ! अनुचरैरिति, अत्रादिपुरुष इवाचलभूतिरित्यनेनैव बोध्यते । एवमेव सर्वत्र तासां प्रेमकृत-सर्वोत्तमतास्फूर्त्या क्वचित्तदैश्वर्य्यवर्णनमुत्प्रेक्षैव,–यत्पत्यपत्येत्यादिवदिति । वनलता इति, अत्र विष्णुं सर्वत्रैव स्फुरन्तं श्रीकृष्णमित्यर्थः । निजपदाब्जेति, अत्र व्रजभू-शब्देन तत्स्थानि तृणादीनि लक्ष्यन्ते, तेषाञ्च खुरतोद–शमनं स्पर्श-माहात्म्येन नित्यमङ्कुरशालित्वकरणात्, अतएवापरिमित-चतुष्पदविगाहेऽपि तच्चारस्य समावेशः सिध्यतीति ज्ञेयम् । एतदनन्तरं दर्शनात्मक-सम्भोगो यथा (भा० १०।३५।२२--२३) —

(३९६) "वत्सलो व्रजगवां यदगध्रो, वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः ।
कृत्स्नगोधनमुपोह्य दिनान्ते, गीतवेणुरनुगेड़ितकीर्त्तिः ॥७०२॥

---

मनोहर गीत से आत्महारा होकर उनके निकट आगमन पूर्वक संयत भाव से उनकी उपासना करने लगे। भा० १०।३५।११ "सरसि सारस" भा० १०।३५।१२ "सहबलः" भा० १०।३५।१३ महदति क्रमण" हे व्रजदेवी वृन्द ! बलदेव के सहित विराजमान, कुसुमरचित कर्ण भूषण से शोभमान श्रीकृष्ण--हृष्ट होकर जगत् को आनन्दित करने के निमित्त जब वेणु ध्वनि से विश्व को पूर्ण करते हैं, उस समय महदतिक्रमण से शङ्कित चित्त मेघ--मन्द मन्द गर्जन करता है, सुहृद् के प्रति कुसुम वर्षण करता है, एवं छत्रवत् छाया दान करता है। भा० १०।३५।१४ "विविध गोप चरणेषु" भा० १०।३५।१५ "सवनश" इस प्रकार विविध गोप चरणेषु इत्यादि--निज पदाब्ज दलैः" भा० १०।३५।१६ "निजपदाब्जदलैः इत्यादि भा० १०।३५।१७ "व्रजति तेन वयम्" भा० १०।३५।१८ "मणिधरः" भा० १०।३५।१९ 'क्वणितवेणुरव" मणिधर इत्यादि—एवं कुन्ददाम इत्यादि युगल श्लोकों में व्रजदेवी वृन्द का प्रलाप वर्णित है।

यहाँ "सह सिद्धैः" सिद्ध स्वपति गण शब्द से जिन देवगण की कथा कही गई है, वेणु वाद्य महिमा से उन सब की भी वनिता भाव प्राप्ति सूचित हुई है। "अनुचरैः" इत्यादि श्लोकों के द्वारा आदि पुरुष नारायण के समान श्रीकृष्ण का स्थिर ऐश्वर्य्य का विवरण ज्ञापित हुआ है। इस प्रकार श्रीव्रजदेवी गण की सर्वत्र श्रीकृष्ण में प्रेमकृत सर्वोत्तमता स्फूर्त्ति हेतु किसी स्थल में उनका ऐश्वर्य्य वर्णन उत्प्रेक्षा ही है। वह भी "यत् पत्यपत्य" इत्यादि श्लोक के समान ही है। 'वनलता' इत्यादि श्लोक में उक्त विष्णु शब्द से सर्वत्र श्रीकृष्ण स्फुरण अभिप्रेत है।

"निज पदाब्ज" इत्यादि श्लोक में जो व्रजभूमि का उल्लेख है—उस से तृणादि सूचित हुये हैं। श्रीकृष्ण के चरण स्पर्श माहात्म्य से नित्य अङ्कुरोदय होने के कारण खुराघात वेदना शान्ति की कथा कही गई है। अतएव तृणादि की नित्य अङ्कुर शालिता द्वारा अपरिमित चतुष्पद के विचरण से विलोड़ित होने पर भी व्रजभूमि में पशुचारण सुसम्पन्न हुआ है। यह जानना होगा।

उत्सवं श्रमरुचापि दृशीना-,मुन्नयन् खुररजश्छुरितस्त्रक् ।
दित्सयैति सुहृदाशिष एव, देवकीजठरभूरुडु राजः ।।"७०३।।

अत्र देवकीजठरभूरिति सङ्केत-नामग्रहणम् । सङ्केतमूलन्तु (भा० १०।८।१४) "प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः" इति ज्ञेयम् । अथवा, अनेनैवाप्रसिद्धोऽपि देवकी-शब्दोऽत्र श्रीयशोदायामेव ज्ञेयः,-तत्र तस्या एव तन्मातृत्वेन प्रसिद्धत्वात् (भा० २।७।१०) "नाभेरसावृषभ आस सुदेवीसूनुः" इत्यत्र मेरुदेव्या एव सुदेवीति-संज्ञावत्, 'द्वे नाम्नी नन्दभार्य्याया यशोदा देवकीति च" इति पुराणान्तर-वचनञ्च तथा । एवं (भा० १०।३५।२६) "मदविघूर्णितलोचन ईषत्" इति, (भा० १०।३५।२५) 'यदुपतिर्द्विरदराजविहारः" इति स्मर्त्तव्यम् । व्रजगवामिति तत्र स्थिता बालवृद्धा गावस्तेषामप्युपलक्षणत्वेनोक्ताः । तथैन्दग्रे (भा० १०।३५।२६)—

---

इसके पश्चात् दर्शनात्मक सम्भोग का दृष्टान्त भा० १० ३५।२२-२३ में है ।

(३९६) "वत्सलो व्रजगवां यदगध्रो वन्द्यमान चरणः पथिवृद्धैः ।
कृत्स्न गोधन मुपोह्य दिनान्ते, गीतवेणुरनुगेड़ितकीर्त्तिः । ७०२।।
उत्सवं श्रमरुचापि दृशीनामुन्नयन् खुररजश्छुरित स्त्रक् ।
दित्सयैति सुहृदाशिष एव, देवकी जठरभूरुडु राजः ।।"७०३।।

श्रीकृष्ण को गोचारण से प्रत्यागत देखकर व्रजेश्वरी गण परस्पर आनन्द से कहने लगीं—जो व्रजके गो समूह के हितकारी हैं, जो गोवर्द्धन धारी हैं, वह देवकी जठरज गोकुल चन्द्र-सुहृज्जन के मनोरथ पूर्ण करने के निमित्त दिनान्त में गोधन समूह को एकत्र कर आ रहे हैं । पथ में ब्रह्मादि वृद्ध गण उनके चरण वन्दन कर रहे हैं, वह वेणु वाद्य कर रहे हैं, अनुचर गण उनके यशः की प्रशंसा कर रहे हैं, उनके गलदेश में माल्य--धेनु वृन्द की खुररजः से व्याप्त है । अहो ! श्रमजात कान्ति के द्वारा भी सब की आनन्द वृद्धि कर रहे हैं ।

यहां देवकी जठरज शब्द द्वारा सङ्केत से श्रीकृष्ण नाम ग्रहण हुआ है । व्रजमें श्रीकृष्ण, यशोदानन्दन रूप में प्रसिद्ध हैं, व्रजदेवी गणने उक्त प्रकार सङ्केत अङ्गीकार क्यों किया ? उनके पक्ष में यशोदानन्दन--सङ्केत करना ही समीचीन था । उत्तर में कहते हैं—सङ्केत का बीज यह है--नाम करण के समय व्रजराज को गर्ग कहे थे—यह पुत्र पूर्वमें वसुदेव के पुत्र हुये थे, अर्थात् इस के अनुसार श्रीकृष्ण, जन्मान्तर में देवकी वसुदेव के पुत्र हुये थे, व्रज में इस प्रसिद्ध हेतु इस के अनुसार उनको देवकी जठर जात कहा गया है । अथवा व्रजेश्वरी का अपर एक नाम देवकी है, वह अप्रसिद्ध है । यहाँ श्रीकृष्ण को देवकी जठरज कहने के कारण--अप्रसिद्ध देवकी शब्द भी यशोदा में प्रयुक्त हुआ है । कारण, यशोदा ही व्रज में श्रीकृष्ण की जननी विख्यात हैं । 'सुदेवी नन्दन ऋषभ देव नाभिराजा से आविर्भूत हुये थे । इस से मेरुदेवी जिस प्रकार सुदेवी नाम से अभिहिता हैं । यहाँ भी उस प्रकार यशोदा की भी देवकी संज्ञा है । ' नन्दभार्य्या, यशोदा, देवकी दो नामों से प्रसिद्धा थीं । आदि पुराण में इस का उल्लेख है, "द्वे नाम्नी नन्द भार्य्याया यशोदा देवकीति च"

भा० १०।३५।२४ में उक्त है "मद विघूर्णित लोचन ईषत्" इत्यादि एवं भा० १०।३५।२५ "यदुपति द्विरद राज विहारः" इत्यादि श्लोक युगल दर्शनात्मक सम्भोग का दृष्टान्त हैं । उस में जो "व्रजगवां" व्रज के धेनुवृन्द--शब्द है, उस से व्रजस्थित शिशु एवं वृद्ध गो जिस को श्रीकृष्ण वन को नहीं ले जाते हैं । उपलक्षण से उसका भी श्रीकृष्ण दर्शन योग वर्णित हुआ है । अर्थात् उक्त श्लोक में व्रजदेवी गण का

(३६७) "एवं व्रजस्त्रियो राजन् कृष्णलीलानुगायतीः ।
रेमिरेऽहःसु तच्चित्तास्तन्मनस्का महोदयाः ॥"७०४॥

एवमपराह्णेषु तदीयागमनानन्देन नित्यमहःस्वपि रेमिरे ॥ श्रीशुकः ॥

३६८-४०० । अथ दूरप्रवासः । स च भावी भवन् भूतश्चेति त्रिविधः । तत्र भावी यथा (भा० १०।३९।१३)—

(३६८) "गोप्यस्तास्तदुपश्रुत्य बभूवुर्व्यथिता भृशम् ।
रामकृष्णौ पुरीं नेतुमक्रूरं व्रजमागतम् ॥"७०५॥ इत्यादि ।

तासां विलापश्च (भा० १०।३९।१९)—

(३६९) 'अहो विधातस्तव न क्वचिद्दया, संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः ।
तांश्चाकृतार्थान् वियुनङ्क्ष्यपार्थकं, विचेष्टितं तेऽर्भकचेष्टितं यथा ॥"७०६॥

तथा, (भा० १०।३९।२०) 'यस्त्वं प्रदर्श्यासितकुन्तलावृतम्' इत्यादि, (भा० १०।३९।२१) 'क्रूरस्त्व-

---

दर्शनात्मक सम्भोग वर्णन अभिप्रेत होने पर भी आनुषङ्गिक भावसे गो समूह का विरहान्तर संघटित योग वर्णित हुआ है । उक्त श्लोक के पश्चात् भी भा० १०।३५।२६ में दर्शनात्मक, सम्भोग का दृष्टान्त है—

(३९७) ' एवं वृजस्त्रियो राजन् कृष्ण लीलानुगायतीः ।
रेमिरेऽहःसुतच्चित्तास्तन्मनस्का महोदयाः ॥"७०४॥

हे राजन् ! वृजरमणी गण कृष्णलीला गान करते करते इस प्रकार दिवस अतिवाहित किये थे, उन सब के मनः प्राण श्रीकृष्ण में निबद्ध थे । उनसब को महान् उत्सव हुआ था । प्रवक्ता श्रीशुक हैं--३९७॥

३९८--४०० । अनन्तर दूर प्रवास का वर्णन करते हैं—वह भावी---अर्थात् भविष्यत्--भवन्--वर्त्तमान् भूत--अतीत भेद से त्रिविध हैं । उस के मध्य में भावी का वर्णन भा० १०।३९'१३ में है ।

(३९८) "गोप्यस्तास्तदुपश्रुत्य बभूवुर्व्यथिताभृशम् ।
रामकृष्णौ पुरीं नेतुमक्रूरं वृजमागतम् ॥"७०५॥

राम कृष्ण को मधुपुरी में ले जाने के निमित्त अक्रूर का वृजागमन हुआ था, यह सुनकर गोपीगण अतिशय व्यथिता हो गईं ।

उस अवस्था में वृजदेवी वृन्द का विलाप भा० १०।३९।१९ में वर्णित है—

(३९९) "अहो विधातस्तव न क्वचिद्दया, संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः ।
तांश्चाकृतार्थान् वियुनङ्क्ष्यपार्थकं, विचेष्टितं तेऽर्भकचेष्टितं यथा ॥"७०६॥

विधातः ! दया का लेश भी तुम्हारे में नहीं है, तुम जीव गण को मैत्री एवं प्रणय के द्वारा संयुक्त करके मिलन सुख से कृतार्थ होते न होते ही, वियुक्त करते देते हो । तुम्हारी चेष्टा अज्ञ बालक की चेष्टावत् निरर्थक है । उसी प्रकार--भा० १०।३९।२० में उक्त है 'यस्त्वं प्रदर्श्यासितकुन्तलावृतम्" अक्रूर श्रीकृष्ण को लेकर मथुरा गमन करने से वृजाङ्गना गण बोली थीं—हे विधातः ! श्रीकृष्ण का जो वदन श्याम वर्ण कुण्डल से आवृत है, सुन्दर कपोल, उन्नत नासिका से मनोहर है, शोकनाश कारि ईषत् हास्य से सुन्दर है, तुम उस वदन को एकवार दिखाकर अदृश्य कर रहे हो, तुम्हारा यह कार्य्य निन्दनीय है । भा० १०।३९।२१

मक्रूर' इत्यादि, (भा० १०।३९।२२) 'न नन्दसूनुः क्षणभङ्गसौहृदः' इत्यादि, (भा० १०।३९।२३) 'सुखं प्रभाता रजनीयम्' इत्यादि, (भा० १०।३९।२४) 'तासां मुकुन्दः' इत्यादि, (भा० १०।३९।२५) 'अद्य ध्रुवं तत्र दृशो भविष्यते' इत्यादि, (भा० १०।३९।२६) 'मैतद्विधस्याकरुणस्य' इत्यादि, (भा० १०।३९।२७) 'अनार्द्रधी रेषः' इत्यादि, (भा० १०।३९ २८) 'निवारयामः' इत्यादि (भा० १०।३९।२९) 'यस्यानुराग-' इत्यादि, (भा० १०।३९।३०) 'योऽह्नः क्षये व्रजमनन्तसखः'' इत्यादिकञ्च स्मर्त्तव्यम् । भवन् यथा (भा० १०।३९।३४,३७) —

(४००) ''गोप्यश्च दयितं कृष्णमनुव्रज्यानुरञ्जिताः ।
प्रत्यादेशं भगवतः काङ्क्षन्त्यश्चावतस्थिरे ।।''७०७।। इत्यादि,
''ता निराशा निववृतुर्गोविन्द-विनिवर्त्तने ।
विशोका अहनी निन्युर्गायन्त्यः प्रियचेष्टितम् ।।''७०८।। इत्यन्तम् ।

विशोका त्रिविधशोकवृत्तयः सत्यः । तत्तद्गाने तत्तल्लीलायाः साक्षादिव स्फूर्त्तेर्वा विशोकप्राया

''क्रूरस्त्वमक्रूर'' भा० १०।३९।२२ ''न नन्दसूनुः क्षण भङ्गसौहृदः भा० १०।३९।२३ सुखं प्रभाता रजनीयम्'

अक्रूर तुम अति क्रूर हो. अक्रूर नाम धारण कर हमारे नयन को अज्ञवत् हरण कर रहे हो, हम सब उस के द्वारा श्रीकृष्ण के अङ्ग के एकदेश में समग्र सृष्टि नैपुण्य का दर्शन करतीं।

विधाता का प्रसङ्ग परित्याग करके परस्पर कहने लगीं— नन्दनन्दन का सौहार्द्द स्थिर नहीं है, हम सबने पति, पुत्र, गृह स्वजन को परित्याग करके साक्षाद् रूपसे उनका दास्य लाभ किया है। उनके कृतकार्य्य में व्यथिता हम सब के प्रति आप दृक् पात भी नहीं करते हैं, वह नूतन को चाहते हैं।

यह रजनी सु प्रभाता हो, कह कर मधुपुर नारीगण जो आशिष प्रार्थना करती थीं, अद्य वह सत्य हुआ। कारण, श्रीकृष्ण का जो वदन--नेत्र प्रान्त में वर्द्धमान हास्य द्वारा आसव स्वरूप है, उसका पान कर सकोगे। भा० १०।२९।२४ ''तासां मुकुन्दः'' भा० १०।३९।२५ ''अद्य ध्रुवं तत्र दृशो भविष्यते'' भा० १०।३९।२६ ''मैतद्विधस्याकरुणस्य'' भा० १०।२९।२७ ''अनार्द्रधी रेषः'' भा० १० ३९।२८ ''निवारयामः'' भा० १०।३९।२९ ''यस्यानुराग'' भा० १०।३९।३० ''योऽह्न क्षये वृजमनन्तसखः''

दिवावसान होने पर गो धूलि धूसर अलका एवं वनमाला शोभित श्रीकृष्ण--गोप ब लक गण के द्वारा परिवृत होकर वेणु गान के सहित वृजमें प्रवेश पूर्वक हमारे चित्त को हरण करते हैं, उनको छोड़कर हम सब कैसे जीवन धारण करेंगे ?

भवन् दूर प्रवास—मथुरा गमन समय में गोपी गण, प्रियतम कृष्ण के अनुगमन करके उनके निरीक्षणादि द्वारा यत् किञ्चित् आनन्दिता हुई, एवं उनके प्रत्यादेश की आकाङ्क्षा करके अवस्थान करने लगीं। भा० १०।३९।३४--३७

(४००) ''गोप्यश्च दयितं कृष्णमनुवृज्यानुरञ्जिताः ।
प्रत्यादेशं भगवतः काङ्क्षन्त्यश्चावतस्थिरे ।।''७०७।।
''ता निराशा निववृतुर्गोविन्द--विनिवर्त्तने ।
विशोका अहनी निन्युर्गायन्त्यः प्रियचेष्टितम् ।।''७०८।।

वे गोविन्द के प्रत्यावर्त्तन में निराश होकर निवृत्ता हो गईं, एवं प्रियतम के चरित्र गान से विशोका

अहनी अहोरात्रं निन्युर्यापयामासुः ।। श्रीशुकः ।।

४०१। भूतो यथा (भा० १०।४६।४) "ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः" इत्यादिना दर्शितः। अत्र दूतमुखेन परस्परसन्देशश्च दृश्यते। दूताः स्फुरितसख्यांशा उद्धव-बलदेवादयः। तत्र (भा० १०।४७।३) 'तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं, सव्रीड़हासेक्षणसूनृतादिभिः' इत्यादि-दिशा पूर्वं रचिताकारगुप्तीनामपि तासां महार्त्या महासङ्कोच-परित्यागमप्याह (भा० १०।४७।९) —

(४०१) 'इति गोप्यो हि गोविन्दे गतवाक्कायमानसाः।
कृष्णदूते व्रजायाते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः।।''७०९।।

(भा० १०।४७।३) 'अपृच्छन्' इति प्राक्तनक्रिययान्वयः ।। श्रीशुकः ।।

४०२। अतएव (भा० १०।६५।९) —

(४०२) 'गोप्यो हसन्त्यः पप्रच्छू राम-सन्दर्शनादृताः।
कच्चिदास्ते सुखं कृष्णः पुरस्त्रीजनवल्लभः ।।'७१०।। इत्यादि।

---

होकर दिन यापन करने लगीं। विशोका---विविध शोक वृत्ति विशिष्टा होकर किंवा श्रीकृष्ण के चरित्र समूह गान करते समय उक्त लीला समूह की स्फूर्त्ति साक्षात् दर्शन वत् होने से शोक रहिता के समान दिवस रजनी अति वाहित करने लगीं। प्रवक्ता श्रीशुक हैं—४००।।

४०१। भूत—दूर प्रवास—भा० १०।४६।४ में वर्णित है—

"ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः"

उद्धव के निकट श्रीकृष्ण-व्रजदेवी गण के सम्बन्ध में कहे थे—उन सबका मन मेरे में प्राण-मुझ में, मेरे निमित्त वे दैहिक चेष्टा को परित्याग किये हैं।

यहाँ दूत के द्वारा परस्पर सन्देश प्रेरण दृष्ट होता है; जिनके मध्य में सख्यांश स्फुरित हुआ है--इस प्रकार उद्धव बलदेवादि दूत हैं। उसके मध्य में भा० १०।४७।३ में उक्त है—

"तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं, सव्रीड़हासेक्षणसूनृतादिभिः"

उसके मध्य में गोपीगण ने विनयावनत होकर सलज्ज हास्य दृष्टि एवं सुमिष्ट वचनादि के द्वारा उद्धव की अभ्यर्थना की। इत्यादि श्लोक उद्धव के दूत कर्म्म का दृष्टान्त है। पूर्व में जो व्रजाङ्गना गण उनके निकट लज्जा से आत्म गोपन किये थे, एवं पश्चात् अत्यन्त दुःखिता होकर सङ्कोच परित्याग किये थे। इस का वर्णन भा० १०।४७।९ में है—

(४०१) "इति गोप्यो हि गोविन्दे गतवाक्कायमानसाः।
कृष्णदूते व्रजायाते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः।।"७०९।।

जिन के शरीर, वाक्य, मन गोविन्द में निवेशित थे, उन गोपी गण कृष्ण दूत उद्धव व्रज में आने पर--लोक व्यवहार विसर्जन पूर्वक उनको जिज्ञासा करने लगीं।

पूर्व वर्त्ति श्लोकमें लिखित 'अपृच्छन्" जिज्ञासा किये थे—क्रियाके सहित इस श्लोक का अन्वय है। श्रीशुक कहे थे ।।४०१।।

४०२। अतएव भा० १०।६५।९ में उक्त है—

हसन्त्यः प्रेमेर्ष्यया कृष्णमुपहसन्त्य इत्यर्थः ॥ सः ॥

४०३-४१३ । यथैव श्रीमदुद्धवसन्निधावुन्मादवचनमपि दर्शितम् (भा० १०।४७।११) —

(४०३) 'काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम् ।
प्रियप्रस्थापितं दूत कल्पयित्वेदमब्रवीत् ॥''७११॥

काचिच्छ्रीराधा, तथैव व्याख्यातं वासनाभाष्ये । एतद्विवरणञ्च श्रीदशमटिप्पन्यां द्रष्टव्यमिति । तत्रोन्मादेनैव मानिनीभङ्ग्याहाष्टभिः (भा० १०।४७।१२)—

(४०४) 'मधुप कितवबन्धो' इत्यादि ।

माने कारणमाह (भा० १०।४७।१३)—

(४०५) 'सकृदधरसुधाम्' इत्यादि ।

अत्र किम्वदन्तीमाश्रित्य पद्मायाः प्रतिनायिकात्वेनोपन्यासः क्रियते । दूतप्रस्तुति-प्रत्याख्यानम् (भा० १०।४७।१४)—

---

(४०२) ''गोप्यो हसन्त्यः पप्रच्छु राम-सन्दर्शनादृताः ।
कच्चिदास्ते सुखं कृष्णः पुरस्त्रीजनवल्लभः ॥''७१०॥

दूत में सख्यांशस्फुरन् होने के कारण — राम सन्दर्शन से आदरवती गोपीगण-हँस कर उनको पूछे थे-पुरस्त्रीजन वल्लभ कृष्ण सुख से विराजित हैं न ?

यहाँ हास्य का जो उल्लेख है — उसका तात्पर्य्य है—प्रेम जनित ईर्षा हेतु श्रीकृष्ण को उपहास करना है ।

श्रीशुक कहे थे—४०२॥

४०३-४१३ । श्रीउद्धव के समीप में जिस प्रकार उन्माद वचन प्रयोग किये थे । श्रीबलदेव के निकट विरहिणी व्रजदेवी वृन्द का हास्य भी उस प्रकार है । वह उन्माद वचन इस प्रकार है—भा० १०।४७।११)

(४०३) ''काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम् ।
प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत् ॥''७११॥

एक गोपी कृष्ण सङ्गम स्मरण पूर्वक मधुकर को देखकर उसको प्रिय प्रेरित दूत मानकर इस प्रकार कही थीं । यह गोपी—श्रीराधा हैं । वासना भाष्य में उस प्रकार व्याख्या ही है । इस का विवरण श्रीमद् भागवत की दशम टीप्पणी-अर्थात् वैष्णव तोषणी टीका में द्रष्टव्या आपने उन्मादावस्था में उद्धवके निकट मानिनी भङ्गि से मधुपकितव बन्धु इत्यादि आठ श्लोक को कहा है । भा० १० ४७।१२ में उक्त है-

(४०४) ''मधुप कितवबन्धो'' मान में हेतु है—

हे मधुकर ! तुम जिस प्रकार कुसुम को परित्याग करते हो, उस प्रकार श्रीकृष्ण--स्वीय मोहिनी अधर सुधा एकवार हम सब को पान कराकर सहसा त्याग किये हैं । पद्मा लक्ष्मी क्यों उनके पादपद्म को परित्याग नहीं करती हैं ? प्रतीत होता है—उत्तम श्लोक श्रीकृष्ण की मिथ्या कथा से उनका चित्त अपहृत हुआ है । किन्तु हम सब पद्मा के समान अचतुरा नहीं हैं । भा० १०।४७।१३

(४०५) 'सकृदधरसुधाम्''

यहाँ 'लक्ष्मी श्रीकृष्णानुरागिणी हैं, यह कथन किंवदन्ती को अवलम्बन कर लक्ष्मी को प्रतिपक्ष

(४०६) 'किमिह' इति ।

विजयते सर्वं वशीकरोतीति विजयः श्रीकृष्णः, स एव सखा त्वद्बन्धुः,तस्य सखीनां सम्प्रति माथुरीणामेवाग्रतस्तस्य विजयस्य तद्वशीकारपर्य्यन्तस्य प्रसङ्गः । तथापि तदासक्तौ तद्दोष एव कारणमिति स्वदोषं परिहरन्ती दैन्यमालम्ब्य तस्य निर्द्दयत्वं प्रतिपादयति (भा० १०।४७।१५)—

(४०७) 'दिवि भुवि' इत्यादि ।

अपिच, एवमपि, अस्मद्विध-कृपणपक्षपाते सत्येव तत्रोत्तमश्लोकशब्दो भवितुमर्हति, सम्प्रति तु तस्य तदभावदर्शनान्न सदयत्वम्, तदभावान्नतरामुत्तमश्लोकत्वमपीति भावः ।

स्वकौमल्यमुद्रया जनितं तच्चाटुकारोद्यमातिशयं मत्वाह (भा० १०।४७।१६)—

(४०८) 'विसृज शिरसि' इत्यादि ।

---

नायिका रूपमें कल्पना की गई है ।

उक्त श्लोक में जिस समय श्रीकृष्ण के प्रति दोषोद्‌गार कर रही थीं, उस समय भ्रमर श्रीराधा के चरण समीप में गुञ्जन कर रहा था । उस को उन्होंने उत्तम स्तुति मान ली है । अनन्तर दूत की उत्तम स्तुति प्रत्याख्यान का दृष्टान्त भा० १०।४७।१४ में है—

(४०६) "किमिह" हे षट् पद ! गृहहीन यदुपति के अधिपति की पुरातन कथा--का गान हमारे निकट क्यों कर रहे हो ? विजय सखा की सखी गण के सम्मुख में जाकर उनका प्रसङ्ग गान करो । सम्प्रति आप उन सब की काम पीड़ा को दूर करते हैं, वे तुम को इष्ट वस्तु प्रदान करेंगे ।

श्लोक की व्याख्या—श्रीकृष्ण सब को विजय अर्थात् वशीभूत करते हैं—इस हेतु आप विजय हैं। आप ही सखा, तुम्हारे बन्धु हैं । उनकी सखी—सम्प्रति माथुरी—मथुरा नागरी--वृन्द के सम्मुख में उनका विजय--उन सबका वशीकरण पर्य्यन्त प्रसङ्ग का गान करो । ऐसा होने पर भी श्रीकृष्ण में पुरनागरी गण की आसक्ति में आप सबका कोई दोष नहीं है । इस को प्रतिपन्न करके उनका निर्द्दयत्व प्रतिपादन करने के निमित्त कहती हैं—

(४०७) "दिवि भुवि" स्वर्ग, मर्त्य, रसातलमें जो सब रमणी हैं, कपट मनोहर हास्य एवं भ्रू कम्पन कारी श्रीकृष्ण के पक्ष में कौन स्त्री दुष्प्राप्य हैं ? कोई भी नहीं । लक्ष्मी उनकी चरण रेणु की उपासना करती हैं। लक्ष्मी के समीप में हम सब का मूल्य ही क्या है ? यद्यपि श्रीकृष्ण-इस प्रकार ही हैं—तथापि-उनको कहना, दीन जन में दयाशील पुरुष के प्रति ही उत्तम श्लोक शब्द प्रयुक्त होता है,

श्लोक की व्याख्या—श्रीकृष्ण इस रीति से निखल नारी का वाञ्छित एवं लक्ष्मी निषेवित चरण होने से भी हम सब के समान दीन जन के प्रति पक्षपात प्रदर्शन करने से उनको उत्तम श्लोक कहा जा सकता है । सम्प्रति उनमें दीन पक्षपात दृष्ट न होने से उनमें सदयत्व है ही नहीं, सदयता के अभाव से उन में उत्तम श्लोकत्व भी नहीं है ।

अपनी कोमलता के द्वारा भ्रमर के गुञ्जन को श्रीकृष्ण की चाटु कारिता एवं उसकी अतिरिक्त चेष्टा मानकर भ्रमर को बोलीं—

(४०८) "विसृज शिरसि" चरण को जो मस्तक में स्थापन किये हो, चरण तल में लोट लगा रहे हो-इस चेष्टा को परित्याग करो, मैं समझ गई हूँ । अनुनय विनय के सहित चाटु वाक्य द्वारा दूतकर्म्म

ततः प्रणयेर्ष्यया तस्मिन् दोषमारोप्यापि स्वस्यास्तदीयासक्ति-परित्यागासामर्थ्यं वर्णयन्ती तत्तद्दोषं परिहरति (भा० १०।४७।१७)—

(४०९) 'मृगयुरिव' इत्यादि।

यतस्तैऽव्यसिता एवंविधास्तस्मादसितस्य श्यामजातिमात्रस्य सख्यैः प्रणयबन्धैः। पुनस्तत्-कथाया यद्दुस्त्यजत्वम्, तत् खलु तस्यापि दोषत्वेनैव स्थापयति (भा० १०।४७।१८)—

(४१०) 'यदनुचरित'- इत्यादि।

कर्णस्यैव पीयूषम्, न तु मनस इत्यापातमात्रस्वाद्यत्वं बोधितम्। विधूतद्वन्द्वधर्म्मत्वादेव विनष्टा अचेतनप्राया जाताः। इह वृन्दावने विहङ्गाः शुकादयोऽपि भिक्षोः सन्न्यासिनश्चर्य्यां देहादिनैरपेक्ष्यं चरन्ति,—आचरन्तो दृश्यन्त इत्यर्थः।

ततः सानुतापमाह, (भा० १०।४७।१९)—

---

करना तुमने चतुर मुकुन्द से सीखा है। उनके निमित्त हम सबने पति, पुत्र, इह लोक परलोक का परित्याग किया है। किन्तु आप इस प्रकार ही अव्यवस्थित चित्त के हैं--कि—हम सब को परित्याग कर गये हैं। इस अवस्था में हम सब उनके सम्बन्ध में अनुसन्धान क्या करें?

अनन्तर प्रणय हेतु ईर्ष्या के कारण- श्रीकृष्ण में दोषारोप करने के पश्चात् भी उनके प्रति निज आसक्ति परित्याग करने की असामर्थ्य का वर्णन करते करते उन सब दोष के प्रति अवज्ञा प्रकार करती हैं—भा० १०।४७।१७

(४०९) "मृगयुरिव कपीन्द्रम्" मधुकर! श्रीकृष्ण के पूर्व जन्म के कर्म्म समूह का स्मरण करके हम सब भीत हैं। आप इतना क्रूर हैं-कि—रामावतार में व्याध के समान बालि को विद्ध किये हैं। सीता में आसक्त होकर भी शूर्पनखा के नासिका कर्ण छेदन किये हैं, वामनावतार मे बलिराजा का पूजोपहार भोजन करके उनको काकवत् बन्धन किये हैं। काक को भोजन प्रदान करने से, वह भोजन करने के पश्चात् भी स्वजातीय व्यक्ति वर्ग को आह्वान करके भोजन दाता को वेष्टन करता है। अतएव कृष्ण वर्ण जनके सहित सख्य का प्रयोजन नहीं है। किन्तु उनके कथारूप अर्थ— दुस्त्यज है।

कारण—श्रीरामचन्द्र एवं श्रीवामन देव—कृष्ण वर्ण -कृष्णके समान हैं। उस कृष्णवर्ण का—श्यामत्व जातिमात्र सख्य का - प्रणय बन्धन से आवश्यकता क्या है? उनकी कथा में जो दुस्त्यजत्व है, वह भी श्रीकृष्ण के दोषारोप रूप में स्थापन करती हैं—श्रीकृष्ण के चरित्र रूप जो लीला कथा है, वह कर्णका अमृत स्वरूप है, उसको कणिका मात्र पान करने से जिन का द्वन्द्व धर्म--सुख दु:खादि बोध तिरोहित होता है। वे सब तत्क्षणात् दीन गृह कुटुम्ब गण को परित्याग करके यहाँ विहङ्ग के समान भिक्षु चर्य्या अर्थात् किसी प्रकार प्राण रक्षा करते हैं।

(भा० १०।४७।१८) (४१०) "यदनुचरित"

श्रीकृष्ण की चरित कथा कर्ण का ही पीयूष, है, मनका नहीं इस से उसका आपात आस्वाद्यत्व बोधित हुता है, अर्थात् वह कथा सुनते समय ही अच्छी लगती है, किन्तु अर्थ के द्वारा मानसिक उल्लास वर्द्धित नहीं करती है। इस को ही प्रकाश किया गया है। उस कथा सुनने से जिनका द्वन्द्व धर्म तिरोहित हुआ है, वे विनष्ट अचेतन प्राय हुये हैं। यहाँ वृन्दावन में—विहङ्ग--शुकादि भी भिक्षु-सन्न्यासी हैं। वे

(४११) "वयमृतमिव" इति ।

तदेवमष्टकेन मानभङ्गीं व्यज्य स्व-काठिन्यातिशयेन दूतं निवर्त्तमानमाशङ्क्य कलहान्तरिता-भङ्ग्या द्वयेनाह (भा० १०।४७।२०)—

तत्रापि सकौटिल्यमर्द्धेनाह—नयसीति । द्वन्द्वं मिथुनीभावः । दुस्त्यज-द्वन्द्वत्वे हेतुः--सततमिति । अत्र तद्वक्षसि स्थिता लक्ष्मी रेखैव प्रेमेर्ष्यया साक्षात्तद्रूपत्वेनोत्प्रेक्षिता । अन्ते सदैन्यमाह (भा० १०।४७।२१)—

(४१३) 'अपि बत' इति ।

अत्र तासां सान्त्वनं तद्दूतेन द्विधा क्रियते,—स्वकृतस्तुतिवाक्येन, श्रीकृष्ण-सन्देशेन च । अत्र स्तुतिवाक्यम्,—(भा० १०।४७।२३) 'अहो यूयं स्म पूर्णार्थाः' इत्यादि । श्रीकृष्ण-सन्देशो

---

चर्य्य—देहादि नैरपेक्ष्य आचरण करते रहते हैं । इस प्रकार देखने में आते हैं । अनन्तर अनुताप के सहित कहते हैं—भा० १०।४७।१९

(४११) "वयमृतमिव" व्याध का सङ्गीत-अर्थात् वंशी ध्वनि के प्रति विश्वास करके कृष्णसार-मृगबधू हरिणी जिस प्रकार निज दुर्द्दशा को देखती है अर्थात् वाणाहत होती है । उनके नखराघात से उत्पन्न जो दारुण कन्दर्प पीड़ा को हम सब बारं बार देखती रहती हैं । अतएव हे उपमन्त्रिन्—हे दूत ! अब कृष्ण कथा को छोड़कर अन्य कथा को कहो ।

अष्ट श्लोकों के द्वारा मान भङ्गी प्रकाशित हुई है । अनन्तर निज कठोरता के द्वारा दूत प्रत्यावर्त्तन पर आचरण हुआ । इस प्रकार आशङ्का करके कलहान्तरिता भङ्गी से दो श्लोक कहती हैं ।

(भा० १०।४७।२०) (४१२) "प्रियसख"

अनन्तर भ्रमर जैसे गमन करके पुनरागत हुआ । यह मानकर बोलीं—भ्रमर ! तुम प्रिय श्रीकृष्ण के सखा हो, प्रिय कर्त्तृक प्रेरित होकर क्या प्रत्यावर्त्तन किये हो ? हे दूत ! तुम मेरा माननीय हो, तुम्हारी अभिलाषा क्या है—प्रकाश करो, जो कभी भी मिथुनी भाव को परित्याग कर नहीं सकते हैं-उन कृष्ण के समीप में हम सब को क्यों ले जाओगे ? वह लक्ष्मी नाम्नी बधू के सहित सतत विराजित हैं ।

श्लोक की व्याख्या—कलहान्तरिता भङ्गी से भी कुटिलता के सहित कहती हैं—श्रीकृष्ण के समीप में क्यों हम सब को ले जाओगे ? वह मिथुनी भाव को परित्याग करने में असमर्थ होने के कारण-लक्ष्मी बधू के सहित सतत विराजित हैं । श्रीकृष्ण के वक्ष में जो लक्ष्मी रेखा है, उस को ही साक्षात् लक्ष्मी रूप में वर्णना की गई है । अवशेष में भा० १०।४७।२१) दैन्य के सहित भ्रमर को बोलीं—

(४१३) "अपिबत" हे सौम्य ! आर्य्य पुत्र श्रीकृष्ण-क्या सम्प्रति मथुरा में हैं ? आप क्या पितृ गृह एवं बन्धु गोप गण का स्मरण करते हैं । उनकी दासी हम सब की कथा का कभी भी स्थान मन में देते हैं ? आप कब अगुरुवत् सुगन्ध हस्त हम सब के मस्तक में अर्पण करेंगे ?

इस अवस्था में वह दूत दो प्रकार से उन सब को सान्त्वना दान करते हैं,--निज कृत स्तुति के द्वारा एवं श्रीकृष्ण--सन्देश के द्वारा अर्थात् श्रीकृष्ण कथित संवाद के द्वारा भा० १०।४७।२३ "अहो यूयं स्म पूर्णार्थाः" व्रजाङ्गना गण के निकट स्तुति वाक्य-उद्धव कहे थे । अहो ! भगवान् वासुदेव में जिनका मन इस प्रकार महाप्रेम के द्वारा अर्पित हुआ है, वे ही आप सब हैं, अतः लोक पूजिता एवं कृतार्था आप सब

यथोदाहृतः (१५५ अनु०) श्रीकृष्णसन्दर्भे (भा० १०।४७।२६) 'भवतीनां वियोगो मे' इत्यादिकः। अत्र प्रकाशान्तरेण सर्वव्रजसहितस्य तस्य नित्यवृन्दावनविहाररूपोऽर्थस्तत्रैव प्रतिपादितः। यस्तु व्यक्तो ज्ञानयोग-प्रतिपादकः, स च दुःखादौ शमयितव्ये लोकरीत्या सम्भवतीत्येके। तत्र ज्ञानयोगोपदेशेन तासां न शान्तिरिति द्वितीयसन्देशो (भा० १०।४७।३४) "यत्त्वहं भवतीनां वै" इत्यादिकः, (भा० १०।४७।३७) 'या मया क्रीड़ता रात्र्याम्' इत्यन्तः। अत्र यत्त्वहमित्यादौ (भा० १०।८२।४२) 'अपि स्मरथ नः सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया, गतान्' इत्यादि-रक्ष्यमाणानुसारेण कार्य्यान्तरस्यापि भवत्प्रेमसुखवृद्धिफलत्वमेवेत्यभिप्रायः। (भा० १०।४७।५३)—

"ततस्ताः कृष्णसन्देशैर्व्यपेतविरहज्वराः।
उद्धवं पूजयाञ्चक्रुर्ज्ञात्वात्मानमधोक्षजम्॥"७१२॥

इत्यत्रापि व्यपेतविरहज्वरत्वं तदागमनादि-श्रवणेनापात-शान्तिरूपमेव,-(भा० १०।४७।४०)

---

ही हैं। श्रीकृष्ण सन्दर्भ के १५५ अनुच्छेद में श्रीकृष्ण सन्देश का उल्लेख है, भा० १०।४७।२६ "भवतीनां वियोगो मे" आप सब के सहित सर्व प्रकार से मेरा किसी प्रकार विच्छेद नहीं है। इस सन्देश में प्रकाश भेद से समस्त व्रज के सहित श्रीकृष्ण का नित्य वृन्दावन विहार--श्रीकृष्ण सन्दर्भ में प्रदर्शित हुआ है।

उक्त ग्रन्थ में इस श्लोक का ज्ञान योग प्रतिपादक जो अर्थ व्यक्त किया गया है, वह प्रशमन योग्य दुःखादि में लोक रीति के अनुसार सङ्गत हो सकता है। यह एक प्रकार सन्देश है।

सान्त्वना दान प्रसङ्ग में ज्ञान योग उपदेश प्रदान करने से विशुद्ध प्रेमवती व्रज सुन्दरी को शान्ति लाभ नहीं हो सकती है, यह मानकर द्वितीय प्रकार का सन्देश प्रेरण किये हैं। वह यह है -भा० १०।४७।३४ "यत्त्वहं भवतीनां वै" आप सब के प्रिय होकर भी मैं आप सब की दृष्टि के व्यवधान में हूँ, वह मेरा नियत ध्यान साधक का मनः सन्निकर्ष उत्पन्न कराने के निमित्त है। कारण --दूरवर्त्ती प्रियतम के प्रति स्त्री गण का चित्त जिस प्रकार आविष्ट होकर वर्त्तमान होता है, निकट वर्त्ती नयन गोचर प्रियतम के प्रति मन उस प्रकार निविष्ट नहीं होता है। आप सब अशेष वृत्ति रहित मन को मुझ में आविष्ट कराकर नियत बारं वार स्मरण करते करते आशु मुझ को प्राप्त करेंगे। भा० १०।४७।३७ "या मया क्रीड़ता रात्र्याम्" हे कल्याणी गण! इस वृन्दावन में रास विहार के समय जो सब अबला अवरुद्ध होकर मेरे सहित रास क्रीड़ा आस्वादन करने में असमर्थ थीं, वे मेरा प्रभाव की चिन्ता करके मुझ को प्राप्त किये हैं। अनन्तर कुरुक्षेत्र मिलन के समय भा० १०।८२।४२ "अपि स्मरथ नः सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया, गतान्" श्लोक में श्रीकृष्ण जो कार्य्यान्तर हेतु अर्थात् निज जन गण का स्वार्थ साधन हेतु गये हैं--यह जो कहेंगे—उसका उद्देश्य भी आप की—श्रीराधा की प्रेम सुख वृद्धि, 'यत्त्वहं' आप सब के प्रिय होकर भी इत्यादि श्लोक के द्वारा श्रीराधा के निकट इस अभिप्राय को प्रकाश किये हैं। अनन्तर भा० १०।४७।३५ में कहे हैं—

"ततस्ताः कृष्णसन्देशैर्व्यपेतविरहज्वराः।
उद्धवं पूजयाञ्चक्रुर्ज्ञात्वात्मानमधोक्षजम्॥"७१२॥

कृष्ण सन्देश के द्वारा गोपिका गण का विरह ज्वर विगत हुआ। वे आत्मा अधोक्षज जानकर उद्धव की पूजा किये।

यहाँ जो विरह ज्वर अपगम का वृत्तान्त है, वह श्रीकृष्ण के आगमनादि श्रवण से क्षणिक शान्ति

"क्वचिद्‌गदाग्रजः सौम्य" इत्याद्युक्तेः। आत्मानं तस्य तद्‌दूततया तत्प्रेर्य्यत्वेनान्तः करणाधिष्ठातारमधोक्षजं श्रीकृष्णमेव मत्वा तदात्मकत्वेनोद्धवं पूजयाञ्चक्रुरित्यर्थः। यथा चोक्तम् (भा० १०।४६।१४) —

"तमागतं समागम्य कृष्णस्यानुचरं प्रियम्।
नन्दः प्रीतः परिष्वज्य वासुदेवधियाऽर्च्चयत् ॥"७१३॥

इति ॥ श्रीशुकः ॥

४१४--४२१। एवं श्रीबलदेवद्वारक--सन्देशोऽप्यनुमेयः, (भा० १०।६५।१६)—

"सङ्कर्षणस्ताः कृष्णस्य सन्देशैर्हृदयङ्गमैः।
सान्त्वयामास भगवान् नानानुनयकोविदः ॥"७१४॥

इत्यनुसारेण। अथ तदनन्तरजः सन्दर्शनादिमयः सम्भोगः कुरुक्षेत्रे प्रसिद्धः, यथा (भा० १०।८२।३९)—

---

मात्र है। कारण कृष्ण सन्देश श्रवण के पश्चात् कहे हैं—हे सौम्य उद्धव ! गदाग्रज श्रीकृष्ण--हमारे प्रति जो प्रीति प्रकाश किये हैं, वे भी उन सब रमणी के स्निग्ध सलज्ज हास्य सहकृत उदार दृष्टि के द्वारा अच्चित हो रहे हैं। (भा० १०।४७।४०) "क्वचिद्‌गदाग्रजः सौम्य" उक्त कृष्ण सन्देश श्रवण के पश्चात् श्रीव्रजाङ्गना गण का क्षोभ व्यक्त हुआ। आत्मा—अधोक्षज जानकर उद्धव की पूजा जो उन्होंने की है—उस प्रकार कथन का अर्थ है--आत्मा—अन्तर्य्यामिरूप में सब के प्रेरक हैं। श्रीकृष्ण—उद्धव को प्रेरण किये हैं, अतः आप अन्तः करण अधिष्ठाता हैं। अधोक्षज--श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण मानकर--श्रीकृष्ण–उद्धव के अन्तर्य्यामी हैं—इस प्रकार मान कर उन्होंने उनकी पूजा की है। स्वतन्त्र रूप से नहीं।

भा० १०।४७।१४ में उक्त है—

"तमागतं समागम्य कृष्णस्यानुचरं प्रियम्।
नन्दः प्रीतः परिष्वज्य वासुदेवधियाऽर्च्चयत् ॥"७१३॥

गृह द्वारमें उपस्थित कृष्णानुचर प्रिय उद्धव के निकट समागमन पूर्वक नन्दप्रीत हुये थे, एवं आलिङ्गन करके वासुदेव बुद्धि से उनकी पूजा किये थे। इस श्लोक में जिस प्रकार पूजा वर्णित है, व्रजाङ्गना गण की उक्त पूजा भी उस प्रकार है। अर्थात् वैष्णव में वासुदेव अधिष्ठित हैं--मानकर वैष्णव--उद्धव, वासुदेव से अभिन्न हैं--इस प्रकार विचार कर व्रजराज जिस प्रकार पूजा किये थे, उस प्रकार उद्धव के अन्तर्य्यामी श्रीकृष्ण हैं—इस हेतु उद्धव श्रीकृष्ण से भिन्न नहीं हैं। इस बुद्धि से व्रजाङ्गना गण उनकी पूजा किये थे। व्रजराज की पूजा जिस प्रकार आतिथ्योचिता है, उन सब की पूजा भी उस प्रकार आतिथ्योचिता है।

श्रीशुक कहे थे ॥४१३॥

४१४–४२१। श्रीबलदेव के द्वारा श्रीकृष्ण जो सन्देश प्रेरण किये थे—वह भी सान्त्वना के निमित्त ही है। इस प्रकार अनुमित होता है। भा० १०।६५।१६ में उक्त है—

"सङ्कर्षणस्ताः कृष्णस्य सन्देशैर्हृदयङ्गमैः।
सान्त्वयामास भगवान् नानानुनयकोविदः ॥"७१४॥

विविध प्रकार अनुनय कार्य्य में सुपण्डित भगवान् बलदेव--श्रीकृष्ण के हृदयङ्गम सन्देश के द्वारा

(४१४) "गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं, यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति ।
दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य तापं, तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम् ॥"७१५॥

तदेवं तासामवस्थामुक्त्वा श्रीभगवतोऽपि तद्विषयकस्नेहमयीमीहामाह (भा० १०।८२।४०)

(४१५) "भगवांस्तास्तथाभूता विविक्त उपसङ्गतः ।
आश्लिष्यानामयं पृष्ट्वा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥"७१६॥

अन्तःसंक्षोभेणापि रुक्ष एव प्रहासोऽयं स्वापराध क्षमयता प्रदर्शितः । तत्र स्वव्यवहारोपपत्त्या सान्त्वयति (भा० १०।८२।४१)—

(४१६) "अपि स्मरथ नः सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया ।
गतांश्चिरायितान् शत्रुपक्षक्षपणचेतसः ॥"७१७॥

किंवा रोषेण स्मरणमपि न कुरुथेति भावः । तत्र स्वदोषनिवारणम्--स्वानामिति, स्वानां स्त्रेषामस्मत्पितुः श्रीव्रजराजस्य बन्धुवर्गाणां यादवानाम्,उभयेषामपि यादवत्वेन ज्ञातीनामिति

---

गोपी गण को सान्त्वनादान किये थे । इसमें सान्देश प्रेरणके द्वारा गोपी गण को सन्त्वना दान का विवरण सुस्पष्ट है । कुरुक्षेत्र में दूर प्रवासान्तर जात सन्दर्शनादि मय सम्भोग प्रसिद्ध है । भा० १०।८२।३९

(४१४) "गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं, यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति ।
दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरभ्य तापं, तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम् ॥"७१५॥

जिन के दर्शन में नयनों में पलक निर्म्माता विधाता को शाप देते हैं, गोपी गण उन प्राण कोटि प्रियतम श्रीकृष्ण की दीर्घ काल के पश्चात् प्राप्त कर नयनों के द्वारा हृदयस्थ करके आलिङ्गन पूर्वक नित्य युक्त व्यक्ति गण के पक्ष में दुर्ल्लभ–तद्भाव–श्रीकृष्ण विषयक महाभाव विशेष की अभिव्यक्ति को प्राप्त किये थे । कुरुक्षेत्र मिलन प्रसङ्गमें श्रीशुकदेव इस रीति से व्रजाङ्गना गण अवस्थाको कहकर उनकी श्रीभगवान् में स्नेहमयी चेष्टा का वर्णन किये हैं । भा० १०।८२।४० में उक्त है—

(४१५) "भगवांस्तास्तथाभूता विविक्त उपसङ्गतः ।
आश्लिष्यानामयं पृष्ट्वा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥"७१६॥

भगवान् निज विरह से अत्यन्त दुरवस्था प्राप्त श्रीव्रजदेवी गण के सहित निर्ज्जन में मिलित होकर आलिङ्गन एवं कुशल प्रश्न जिज्ञासा करने के पश्चात् हँसकर यह कहे थे—

उस समय श्रीकृष्ण का अन्तः करण क्षुब्ध ही था । तथापि जो हँसे थे । वह निज अपराध क्षमार्थी उनका रुक्ष हास्य है । यहाँ निज व्यवहार को प्रमाण रूप में उपस्थापित करके उन सब को सान्त्वना दान किये थे । भा० १०।८२।४१ में उक्त है—

(४१६) "अपि स्मरथ नः सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया ।
गतांश्चिरायितान् शत्रुपक्षक्षपणचेतसः ॥"

हे सखी गण ! हम दोनों निज जनगण के सार्थ साधन हेतु वहाँ जाकर शत्रु पक्ष को विनष्ट करने के निमित्त अनेक दिन अतिवाहित किये हैं, हम सब का स्मरण क्या तुम सब को है ? अथवा रोष के कारण हम दोनों का स्मरण नहीं करती हैं । इस प्रकार कहना ही श्रीकृष्ण का अभिप्रेत है । निज दोष निवारणार्थ

वा । तत्रातिविलम्बे कारणम्—शत्रुपक्षेति । ततश्च भवतीनां निर्विघ्नः संयोगोऽप्यनेन भविष्यतीति भावः ।

आत्मनो वामान्तरसङ्गमाशङ्क्य परमेश्वर-पारतन्त्र्योपपादनेन सान्त्वयति (भा० १०।८२।४२)—

(४१७) "अप्यवध्यायथास्मान् स्विदकृतज्ञाविशङ्कया ।
नूनं भूतानि भगवान् युनक्ति वियुनक्ति च ।।"७१८।। इत्यादि-द्वयम् ।

स्वस्य परमेश्वरत्वप्रसिद्धिमाशङ्क्य सङ्कुचंस्तथापि विरहजात-प्रेमातिशयोऽयं युष्मदभीष्टाव्याघातायैव जात इत्याह (भा० १०।८२।४४)—

(४१८) "मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ।।"७१९।।

टीका च—"मयि भक्तिमात्रमेव तावदमृतत्वाय कल्पते । यत्तु भवतीनां मत्स्नेह आसीत्, तद्दिष्ट्या अतिभद्रम् । कुतः ? मदापनः मत्प्रापणः" इत्येषा । तत्र स्वप्राप्तौ विश्वासार्थं

---

कहे थे—निज जन गण के स्वार्थ साधन हेतु--इत्यादि । निज जन—हमारे पिता श्रीव्रजराज के बन्धु वर्ग-यादवगण । कहीं पर स्वानां—निज जन गण के स्थान में ज्ञातीनां--ज्ञाति वृन्द के" इस प्रकार पाठ दृष्ट होता है । उस में समाधान—व्रजराजादि गोपगण एवं वसुदेवादि यादव गण ही यदुवंश सम्भूत होने के कारण-ज्ञातित्व सम्भव है । निज जन गण का स्वार्थ-सिद्धि हेतु--जाकर विलम्ब करने के हेतु शत्रु पक्ष को विनष्ट करने की इच्छा. शत्रुपक्ष विनष्ट होने से ही आप सबके सहित संयोग सिद्ध हो सकता है । इस प्रकार तात्पर्य्य प्रकाश किये हैं ।

उक्त कार्य्य हेतु विलम्ब की कथा को कहकर श्रीकृष्ण मन में किये थे—व्रजाङ्गना गण इस से सन्तुष्ट नहीं हुई हैं, श्रीरुक्मिणी प्रभृति में आसक्त होकर मैं विलम्ब किया हूँ—यही वे सोचती रहती हैं, उस में अपने को परमेश्वराधीन प्रतिपन्न करके उन सब को सान्त्वना दान करते हैं—भा० १०।८२।४२

(४१७) "अप्यवध्यायथास्मान् स्विदकृतज्ञाविशङ्कया ।
नूनं भूतानि भगवान् युनक्ति वियुनक्ति च ।।"७१८।।

हमें अकृतज्ञ मानकर क्या आप सबने अवज्ञा की है ? वैसा उचित नहीं है । भगवान् ही जीव गण को युक्त एवं वियुक्त करते हैं । वायु जिस प्रकार मेघ, तृण, धूली प्रभृति को मिलित करके पुनर्वार वियुक्त करता है--जीव स्रष्टा ईश्वर भी जीव समूह को तद्रूप करते हैं ।

इस में व्रजाङ्गनागण कह सकती हैं—कि अन्य परमेश्वर की कथा को कहकर हम सब को प्रतारित कर रहे हो ? तुम्हारे में ही परमेश्वरत्व प्रसिद्ध है । इस आशङ्काके उत्तर में कहते हैं—भा० १०।८२।४४

(४१८) 'मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ।।"७१९।।

यह विरह जात प्रेम प्राचुर्य्य-निरुपद्रव इष्ट सिद्धि के हेतु हुआ है । कारण-मेरे प्रति जो भक्ति है--उस से निखिल प्राणी अमृतत्व-नित्य पार्षदत्व--लाभ करते हैं । मेरे प्रति आप सब का जो स्नेह है—यह अतीव मङ्गलमय है । कारण, यही मेरी प्राप्ति का साधक है ।

देशान्तरस्थितस्यापि स्वस्य श्रीकृष्णाख्य-नराकृतिपरब्रह्मणः सर्वाश्रयत्वमनुभावयति (भा० १०।८२।४५)—

(४१९) "अहं हि सर्वभूतानाम्" इत्यादि-द्वये ।

उक्तञ्च दामोदरलीलायाम् (भा० १०।९।१३) "न चान्तर्न बहिर्यस्य" इत्यादि । अत्र च पद्यद्वये प्रकाशान्तरेण वृन्दावन एव सर्वव्रजसहित-तदीयनित्यविहारः (१७४-१७५ अनु०) श्रीकृष्णसन्दर्भे दर्शितः । स एवात्रानुसन्धेयः । तत्र च तासां तथैवानुभवोदयो जात इत्याह (भा० १०।८२।४७)—

(४२०) "अध्यात्मशिक्षया" इति ।

आत्मानं स्वं श्रीकृष्णमधिकृत्य या शिक्षा तया, विरहोद्भूत-तदनुस्मरणजीर्णदेहास्तं श्रीकृष्णं तथैवान्वभवन्निति । एके त्वाहुः—अहं हीत्यादिकं लोकरीत्या दुःखनिवारणार्थमेव ब्रह्मज्ञानमुक्तम्, न तु तत्र तात्पर्य्यम् । यथा रुक्मिवैरूप्यकृतौ श्रीबलदेवेन श्रीरुक्मिण्यैः

---

उक्त श्लोक की टीका यह है—मेरे प्रति जिस किसी प्रकार से भक्ति ही अमृतत्व दान कर सकती है । आप सब जो स्नेह मेरे प्रति है, वह परम सौभाग्यका विषय है, कारण—वही स्नेह मुझको प्राप्त कराता है । देशान्तर में अवस्थान हेतु निज प्राप्ति को विश्वस्त कराने निमित्त नराकृति परम ब्रह्म कृष्ण का सर्वाश्रयत्व अनुभव करा रहे है—(भा० १०।८२।४५)

(४१९) "अहं हि सर्वभूतानाम्" हे अङ्गनागण ! भौतिक पदार्थ के आदि, अवस्थान, अन्तर, बाहर में जिस प्रकार क्षिति, अप, तेज, मरुत्, व्योम वर्त्तमान है, मैं उस प्रकार सर्वभूतों के आदि, अन्त अन्तर, में विद्यमान हूँ ।

जीव देह समूह में आकाशादि पञ्चभूत वर्त्तमान हैं, जीव देह समूह में आकाशादि पञ्चभूत वर्त्तमान हैं, किन्तु आत्मा स्वयं ही समस्त शरीर में व्याप्त होकर अवस्थान करता है, देह, आत्मा-उभय ही परमेश्वर मुझ में वर्त्तमान है, इस हेतु निज देह आत्मा—उभय को अक्षर मुझ से-पृथक् नहीं करता हूँ । अर्थात् जो मैं श्रीवृन्दावन में गोपालनादि क्रीड़ा से क्षरित—विचलित नहीं होता हूँ, वही मुझ में सदा रासादि क्रीड़ा को देखो ।

(भा० १०।९।१३) नराकृति परम ब्रह्म श्रीकृष्ण का सर्वाश्रयत्व का वर्णन "न चान्तर्न बहिर्यस्य" श्लोक में हुआ है । उक्त श्लोक द्वयकी व्याख्या के द्वारा कृष्ण सन्दर्भ (१७४-१७५ अनु) में वृन्दावन में ही प्रकाश भेद से समस्त व्रज के सहित श्रीकृष्ण की नित्य विहार प्रदर्शित हुआ है । यहाँ वह अनुसन्धेय हैं । अर्थात् यहाँ उस प्रकार को दर्शाया जा सकता है ।

व्रजाङ्गना गण का उस प्रकार— नित्य विहार—अनुभूत हुआ था, इस अभिप्राय से भा० १०।८२।४७ में श्रीशुकदेवने कहा है—(४२०) "अध्यात्मशिक्षया"

कृष्ण कर्त्तृक इस प्रकार अध्यात्मशिक्षा से शिक्षिता जीर्णदेहा गोपीगण उसका अनुसरण कर उनको जान गई थीं ।

अध्यात्म शिक्षा—आत्मा-अपने को अधिकार कर निज सम्बन्ध में श्रीकृष्ण ने जो शिक्षा दी है, उस से विरहमें निरन्तर उनका स्मरण करते करते जिनका देह जीर्ण हो गया था, उन सब गोपीगणने श्रीकृष्ण

तदुपदिष्टम्,–तस्याः साक्षाल्लक्ष्मीत्वात् लौकिकलीलाविशेषत्वमेव वहति, न तु तत्र तात्पर्य्यम्, तद्वत् । तदेवमेव तादृशाध्यात्मशिक्षयापि तास्तमेवाध्यगन्, न तु ब्रह्मेति । तथापि तासां साक्षात् प्राप्त्युत्कण्ठामाह (भा० १०।८२।४८)–

(४२१) "आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दम्" इत्यादि ।

तत्र हे नलिननाभ ! नोऽस्माकं दुःखोद्रेकेण त्वच्चिन्तनारम्भजायमान-मूर्च्छानां ते तव पदारविन्दं मनस्यप्युदियात् । यत् खलु यथा भवतोपदिष्टम्, तदनुसारेणाक्षुभितबोधै र्योगेश्वरै-र्हृदि विचिन्त्यमित्यादि (१७० अनु०) श्रीकृष्णसन्दर्भ-व्याख्या द्रष्टव्या ॥ श्रीशुकः ॥

४२२। तदेवं सन्दर्शन-संस्पर्शन-सङ्कल्पात्मक-सम्भोगोऽत्र दर्शितः । तस्मिन्मासत्रय-संवासात्मके च वैशिष्ट्यान्तरमप्यूह्यम् । अथ पुनस्तदनन्तरजात-विप्रलम्भानन्तरमपि भावी योऽपुनर्विच्छेदः सम्भोगः, स च तत्रैव सूचितोऽस्ति, यथा, (भा० १०।८३।१) –

(४२२) "तथानुगृह्य भगवान् गोपीनां स गुरुर्गतिः" इति ।

आहुश्चेत्यादिना यथा तासां साक्षात्तत्प्राप्तिपर्य्यन्तमभीष्टं, तथानुगृह्य, गतिर्नित्यतया प्राप्तव्यः ॥ श्रीशुकः ॥

---

की तदीय शिक्षा के अनुरूप अनुभव किया।

कतिपय व्यक्ति कहते हैं—"हे अङ्गनागण ! इत्यादि श्लोक में लोक रीति से दुःख निवारण हेतु ही ब्रह्म ज्ञान उक्त है । उसमें ब्रह्म ज्ञानोपदेश तात्पर्य्य नहीं है । जिस प्रकार श्रीकृष्ण-रुक्मी को विरूप करने से बलदेव श्रीरुक्मिणी को तत्त्व ज्ञान उपदेश दिये थे, रुक्मिणी साक्षात् लक्ष्मी, हेतु, वह लौकिक लीला का विशेषत्व स्थापक है, ब्रह्म ज्ञान में उस का तात्पर्य्य नहीं है, यहाँ पर भी उस प्रकार जानना होगा । सुतरां तादृश अध्यात्म शिक्षा के द्वारा भी व्रजदेवी गण-अप्रकट लीला में नित्य विहार ही श्रीकृष्ण को जान गई थीं, ब्रह्म को नहीं ।

भा० १०।८२।४८ में उन सब की साक्षात् प्राप्त्युत्कण्ठा वर्णित है—

(४२१) "आहुश्चते नलिन नाभ पदार विन्दम्"

हे नलिन नाभ ! अगाध ज्ञान सम्पन्न योगेश्वर गण कर्त्तृक हृदयमें चिन्तनीय—संसार कूप में पतित जन उद्धार-का एकमात्र अवलम्बन तुम्हारे चरण कमल गृह सेविनी हम सब के मन में सर्वदा उदित हो। हे नलिननाभ ! दुःखोद्रेक के समय जिस समय आप की चिन्ता करना आरम्भ करती हैं, उस समय हम सब मूर्च्छा प्राप्त होती हैं, इस प्रकार हम सब के मन में आप के चरण कमल उदित हो । आपने जिस प्रकार उपदेश दिया है—उसके अनुसार जिनका भाव-ज्ञान-अक्षोभित रहता है, उन सब योगेश्वर गण के हृदय में आप के चरण कमल चिन्तनीय है । श्रीकृष्ण सन्दर्भ के १७० अनुच्छेद की व्याख्या द्रष्टव्य है ।

श्रीशुक--कहे थे – ४२१॥

४२२। उक्त रीति से-सन्दर्शन, संस्पर्शन--संङ्कल्पात्मक सम्भोग का वर्णन यहाँ हुआ । कुरुक्षेत्र में मासत्रयात्मक सम्यक् रूप से एकत्र अवस्थान रूप सम्भोग का अन्य वैशिष्ट्य यहाँ ऊह्य है ।

उसके अनन्तर भविष्य में पुत्र विच्छेद एवं सम्भोग का विवरण वहीं पर सूचित हुआ है ।

४२३। एवमेव (१७६ अनु० श्रीकृष्णसन्दर्भे पाद्मोत्तरखण्डाद्यनुसारेण दर्शितमस्ति। तत्र हि श्रीकृष्णस्य द्वारकातो वृन्दावने पुनरागमनम्। तदा प्रापञ्चिक-लोकप्रकटतया मासद्वयं ताभिः क्रीड़ा। तदनन्तरञ्च तदप्रकटतया ताभ्यो नित्य-स्वसंयोग दानमिति। एकादशेऽपि स्वयमेवोद्धवं प्रति तदेव स्पष्टमुक्तम्। तत्र (भा० ११।१२।१०) "रामेण सार्द्धं मथुरां प्रणीते" इत्यादिद्वये वियोगतीव्राधयस्ता मत्तोऽन्यं सुखाय न ददृशुरिति, (भा० ११।१२।११) "तास्ताः क्षपा मया हीनाः कल्पसमा बभूवुः' इति चातीतप्रयोगेन तदानीं विरहस्य नास्तित्वं बोधितम्। तदनन्तरं स्वप्राप्तिसुखोल्लासश्च वर्णितः, (भा० ११।१२।१२) 'ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्ध-,धियः' इत्यादि-द्वयेन,अनु महाविरहस्य पश्चाद् यः सङ्गस्तेन बद्धधियः सत्यः परमानन्दावेशेन तदानीं किमपि नाविदन्,—हर्षमोहं प्रापुरित्यर्थः। तत्र तज्ज्ञानस्य कृष्णैकतानतायां दृष्टान्तः-यथेति।

(भा० १०।३१।२ (४२२) "तथानुगृह्य भगवान् गोपीनां स गुरुर्गतिः'

गोपीगण के गुरु एवं गति स्वरूप भगवान्--उस प्रकार अनुग्रह किये थे।' अनुग्रह--इस के पूर्ववर्त्ती हे नलिन नाभ इत्यादि श्लोक में व्रजसुन्दरी गण की साक्षात् भाव से कृष्ण प्राप्ति पर्य्यन्त जिस अभीष्ट की कथा कही गई है, उस अभीष्ट सिद्धि रूप अनुग्रह है, कारण-आप--उन सब की गति नित्य प्राप्तव्य हैं !

श्रीशुक कहे थे—४२२।

४२३। श्रीकृष्ण सन्दर्भ के १७६ अनुच्छेद में पाद्मोत्तर खण्ड के प्रमाणानुसार नित्य प्राप्ति इस प्रकार वर्णित है। दन्त वक्र बध के पश्चात् श्रीकृष्ण द्वारका से व्रज में आये थे। उस समय प्रापञ्चिक लोक समूह के निकट वर्त्तमान होकर दो मास व्रजदेवी वृन्द के सहित विहार किये थे। अनन्तर प्रापञ्चिक लोक के निकट अप्रकट भाव से व्रजसुन्दरी गण को नित्य संयोग प्रदान किये थे। श्रीमद् भागवत के एकादश स्कन्ध में श्रीकृष्ण- स्वयं ही उद्धव को स्पष्ट रूप से कहे थे--भा० ११।१२।१० "रामेण सार्द्धं मथुरां प्रणीते" अक्रूर बलदेव के सहित मुझ को मथुरा ले जाने से मुझ में अनुरक्त चित्त गोपीगण मेरे विच्छेद से अत्यन्त व्यथित होकर मुझ को छोड़कर अपर किसी भी वस्तु को सुखकर रूप से नहीं मानी थीं। (भा० ११।१२।११) में उक्त है— "तास्ताः क्षपा मया हीनाः कल्पसमा बभूवुः"

उन सबके प्रियतम मैं--जिस समय वृन्दावन में था, इस समय मेरे सहित जो सब रजनी अति वाहित हुई थीं, वे सब रजनी क्षणार्द्धकाल के समान प्रतीत हुई थीं, एवं मुझ से वियुक्त होकर जो सब रात्रि अति वाहित हुई थीं, वे सब रात्रि—उन सब के निकट कल्प काल के समान दीर्घ प्रतीत हुई थीं।

उक्त श्लोक द्वय में व्रजदेवी गण के सहित अतीत विरह की कथा कहे थे। उस समय प्रकट व्रज में श्रीकृष्ण की अवस्थिति न होने के कारण, व्रजाङ्गना गण का विरह विद्यमान होता। किन्तु उस समय अतीत विरह का वर्णन होने से उस समय प्रकाशान्तर में अप्रकट व्रज लीला में उन सब के सहित श्रीकृष्ण का विहार सूचित हुआ है। सुतरां,--उस समय व्रजाङ्गना गण का विरह नहीं था- यह ज्ञापित हुआ है। उस के बाद श्रीकृष्ण स्वयं ही उनके स्वप्राप्ति सुखोल्लास का वर्णन किये हैं। (भा० ११।१२।१२) "ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्ध-,धियः" समाधि के समय मुनिगण जिस प्रकार नाम रूप को नहीं जानते हैं, उस प्रकार मदीय अनुषङ्ग-बद्ध बुद्धि गोपीगण -स्व, आत्मा, को नहीं जानती थीं। समुद्र सलिल में जिस प्रकार नदी प्रवेश करती है, उस प्रकार वे नाम रूप को परित्याग कर प्रविष्टा हुई थीं।

अस्यार्थान्तरमपि (१७७ अनु० श्रीकृष्णसन्दर्भे कृतमस्ति (भा० ११।१२।१३) 'मत्कामा रमणं जारम्' इत्यादौ, तदनन्तरपद्ये तञ्च यादृशं प्रापुस्तथा विशिनष्टि। विवृतञ्च तत्रैव संक्षेपतश्च। मां श्रीकृष्णाख्यं परमं ब्रह्म प्रापुः, तञ्च मन्नित्यप्रेयसीलक्षणं स्वस्वरूपमजानन्त्यो जाररूपं पूर्वं प्रापुः। तथापि मयि कामो रमणत्वेनाभिलाषो यासां तादृश्यः सत्यो रमणरूपं तु पश्चादिति। अतः परकीयाभासत्वञ्चासां कालकतिपयमयत्वेनैव व्याख्यातम्। एवमेवाभिप्रेतमस्मदुपजीव्य-श्रीमच्चरणानामुज्ज्वलनीलमणौ तत्रोपक्रमे (उ० नी०, नायिकाभेद-प्र० ३)-

"नेष्टा यदङ्गिनि रसे कविभिः परोढ़ा, तद्गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेण।
आशंसया रसविधेरवतारितानां, कंसारिणा रसिकमण्डलशेखरेण॥"७२०॥

इत्यत्रावतारसमय एव तथा व्यवहारनिगमनात्, उपसंहारे च (७।१८) ललितमाधवस्य "दग्धं हन्त दधानया वपुः" इत्यादावौपपत्य-भ्रमहानानन्तरलीलायां सर्व्वफलस्य समृद्धि-

---

मदीय अनुषङ्ग बद्ध बुद्धि--अनु महाविरह के पश्चात् जो श्रीकृष्ण मेरा सङ्ग। उस में जिन सब की बुद्धि वृत्ति-निश्चल भाव से अवस्थित रही, वे गोपी गण--उस समय परमानन्दावेश से कुछ भी अनुसन्धान करने में असमर्था रहीं ! हर्ष एवं मोह ने उन सब को ग्रास किया था। उस अवस्था में उन सब के ज्ञान की एकतानता का दृष्टान्त यह है—मयेति-समुद्र में जिस प्रकार नदी प्रवेश करती है, श्रीकृष्ण सन्दर्भ में इस श्लोक का अन्य रूप अर्थ भी हो सकता है।

उन्होंने श्रीकृष्ण को जिस रूप में प्रीति किया उस का वर्णन कृष्ण सन्दर्भ के १७७ अनुच्छेद में है। भा० ११।१२।१३ में उक्त है "मत्कामा रमणं जारम्" मदीय-,श्रीकृष्ण की स्वरूप ज्ञानवती मत्कामा अबलागण ने जार रूप में प्रतीत रमण--परम ब्रह्म मुझ को प्राप्त किया। उन सब के सङ्ग प्रभाव से अपर अनेक व्यक्तियों ने भी प्राप्त किया है। श्रीकृष्ण सन्दर्भ में उक्त प्राप्ति का विवरण संक्षेप से लिखित हुआ हैं। 'मां' मुझ को- श्रीकृष्णाख्य परम ब्रह्म मुझ को प्राप्त किये हैं। वे मदीय नित्य प्रेयसी लक्षण निज स्वरूप को न जान कर पहले मुझ को जार रूप में प्राप्त किये हैं, तथापि मत् कामा--मुझमें काम--रमण-पति भाव में अभिलाष जिन सब का है, उन सब के समान होकर पश्चात् रमण रूप में मुझ को प्राप्त किया।

व्रजदेवी गण में जो परकीया भाव प्रसिद्ध है, वह कतिपय समय व्यापी है, इस की व्याख्या श्रीकृष्ण सन्दर्भ में हुई है। अस्मदुपजीव्य श्रीमद्रूप गोस्वामी चरण कृत उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ के उपक्रम में लिखित 'नेष्टा यदङ्गिनिरसे" श्लोक में उस प्रकार अभिप्राय प्रकटित हुआ है।

"नेष्टा यदङ्गिनि रसे कविभिः परोढ़ा, तद्गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेण।
आशंसया रसविधेरवतारितानां, कंसारिणा रसिकमण्डलशेखरेण॥"७२०॥

इस के अनुसार प्रतीत होता है कि—अवतार समय में ही परकीया के समान व्यवहार है। उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ के उपसंहार में ललित माधव नाटक ग्रन्थ का--"दग्धं हन्त दधानयावपुः" जो श्लोक उट्टङ्कित है—उस से औपपत्य भ्रम निवृत्ति के पश्चात् पर वर्त्तिनी लीला में सर्व फल स्वरूप समृद्धिमान् नामक सम्भोग प्रदर्शित हुआ है।

इस प्रकार विप्रलम्भ चतुष्टय पुष्ट सन्दर्शनादि भेदत्रयात्मक सम्भोग का अन्य भेद भी प्रतीत होता है। जिस प्रकार--लीला चौर्य्य, सङ्गान, रास, जल क्रीड़ा, वृन्दावन विहार इत्यादि।

मदाख्यस्य सम्भोगस्य दर्शितत्वात् । तदेवमस्य विप्रलम्भचतुष्टयपुष्टस्य सम्भोगचतुष्टयस्य सन्दर्शनादित्रयात्मकस्यावान्तरभेदा अन्येऽपि ज्ञेयाः । यथा लीलाचौर्य्यम्, सङ्गानम्, रासः, जलक्रीड़ा, वृन्दावन विहार इत्यादयः । तत्र लीलाचौर्य्यं यथा (भा० १०।२२।९) —

(४२३) "तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरः" इत्यादि ।

स्पष्टम् ।। श्रीशुकः ।।

४२४ । सङ्गानम् (भा० १०।३३।९) "काचित् समं मुकुन्देन" इत्यादौ । एवं (भा० १०।३४।२१-२१) —

(४२४) "कदाचिदथ गोविन्दो रामश्चाद्भुतविक्रमः ।
विजह्रतुर्व्रजे रात्र्यां मध्यगौ व्रजयोषिताम् ।।७२१।।
उपगीयमानौ ललितं स्त्रीजनैर्बद्धसौहृदैः ।
स्वलङ्कृतानुलिप्ताङ्गौ स्रग्विणौ विरजोऽम्बरौ ।७२२।" इत्यादि ।

प्रायो होरिकावसरोऽयम्,-व्रज एव गानेन सभ्रातृकस्यापि तस्य स्त्रीजनैर्विहारात्, तथा भविष्योत्तरविधानात् । तथैवाद्याप्यार्य्यावर्त्तीय-प्रजानामाचारोऽपि दृश्यते । अत्र च (भा० १०।३४।२३) "निशामुखं मानयन्तावुदितोड़ुपतारकम्" इति तन्महोत्सवशालिन्यां

---

भा० १०।२२।९ में लीलाचौर्य्य का उदाहरण है—

(४२३) "तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वर ।।" श्रीशुक कहे थे-४२३।।

४२४ । भा० १०।३३।९ में सङ्गान का दृष्टान्त है—"काचित् रामं मुकुन्देन" इस प्रकार भा० १०। ३४।२१-२२ में उक्त है—

(४२४) "कदाचिदथ गोविन्दो रामश्चाद्भुतविक्रमः ।
विजह्नतु र्व्रजेरात्र्यां मध्यगौव्रज योषिताम् ।।७२१।।
उपगीयमानौ ललितं स्त्रीजनैर्बद्ध सौहृदैः ।
स्वलङ्कृतानुलिप्ताङ्गौ स्रग्विणौ विरजाम्बरौ ।।७२२।।

एक समय अद्भुत विक्रम शाली गोविन्द एवं बलराम व्रजरमणी गण के मध्य गत होकर रात्रिकाल में व्रज में विहार किये थे।

सौहार्द्द बन्धन से बद्ध रमणी गण ने ललिताक्षर से उनका गुणगान किया। उभय ही उत्तम भूषण से भूषित एवं अनुलेपन, माल्य, एवं विशुद्ध वसन से सज्जित हुये थे।

यह वृत्तान्त होरिका उत्सव का है। कारण, व्रज में ही सभ्रातृक--अर्थात् भ्राता बलराम के सहित श्रीकृष्ण--रमणी गण के सहित गान विहार किये थे। भविष्य पुराण के उत्तर खण्ड में तादृश विहार का विधान है। अद्यापि होरिका उत्सव में आर्य्यावर्त्तीय प्रजागण का तादृश आचरण दृष्ट होता है।

भा० १०।३४।२३ में उक्त है—"निशामुखं मानयन्तावुदितोड़ुप तारकम्" उस निशा के प्रारम्भ में चन्द्र एवं तारका निकर उदित हुये थे। इत्यादि। इस श्लोक में हेमन्त, शीत, ऋतु के अवसान में उस महोत्सव शालिनी फाल्गुनी पूर्णिमा के चन्द्रादि के उल्लास से उक्त उल्लास वर्णित हुआ है।

फाल्गुनपौर्णमास्यां हेमन्त-शिशिरहिमकुज्झटिकान्ते चन्द्राद्युल्लासे तदोल्लासो वर्णितः। तस्मात्तदानीं सख्योल्लासधारिणा श्रीरामेणापि युतिः सङ्गतैव वने रात्र्यामिति पाठस्तु क्वाचित्क एव । तत्र च व्रजान्तस्थमेव वनं ज्ञेयम् ॥ श्रीशुकः ॥

४२५-४२७ । रासः (भा० १०।३३।२) —

(४२५) "तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीड़ामनुव्रतैः" इत्यादि ।

जलक्रीड़ा (भा० १०।३३।२३)—

(४२६) "सोऽम्भस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः" इत्यादि ।

वृन्दावनविहारः (भा० १०।३३।२४)—

(४२७) "ततश्च कृष्णोपवने जलस्थल,-प्रसूनगन्धानिल-जुष्टदिक्तटे" इत्यादि ।

स्पष्टम् ॥ सः ॥

४२८ । अथ सम्प्रयोगो यथा (भा० १०।२९।४६)—

(४२८) "बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु,-नीवी" इत्यादि ।

स्पष्टम् ॥ सः ॥

---

होरिका उत्सव हेतु सख्योल्लास धारी श्रीबलराम के सम्मिलित विहार सङ्गत होता है। "वृज में रात्रि काल में" इस प्रकार पाठ के स्थान में ग्रन्थान्तर में "वने रात्र्यां" वनमें रात्रिकाल में पाठ दृष्ट होता है। उस से वृजस्थित वन को ही समझना होगा। प्रवक्ता श्रीशुक हैं ।।४२४।।

४२५-४२७। अनन्तर रास का वर्णन करते हैं—भा० १०।३३।२ में उक्त है—

(४२५) "तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीड़ामनुव्रतैः ।।"

गोविन्द—अनुवृत स्त्री रत्नगण के सहित रास क्रीड़ा आरम्भ किये थे।

जलक्रीड़ा—भा० १०।३३।२५ में लिखित है—

(४२६) "सोऽम्भस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः ।।"

जल के मध्य में युवती गण श्रीकृष्ण को बारम्बार जल सेचन करने लगीं।

वृन्दावन विहार—भा० १०।३३।२४ में वर्णित है—

(४२७) "ततश्च कृष्णोपवने जलस्थल प्रसूनगन्धानिलजुष्टदिक्तटे"

तदनन्तर मदमत्त मातङ्ग जिस प्रकार करेणु गण के सहित विहार करता है, उस प्रकार भ्रमर एवं प्रमदागण परिवृत होकर श्रीकृष्ण--यमुना के उपवन--वृन्दावन में विहार करने लगे।

श्रीशुक कहे थे—४२५--४२७।।

४२८। अनन्तर सम्प्रयोग—भा० १०।२९।४६ में उक्त है—

(४२८) "बाहु प्रसार परिरम्भ करालकोरुनीवी ।

श्रीकृष्ण,--बाहु प्रसारण आलिङ्गन, हस्तद्वारा चूर्ण कुन्तल उरु-स्तननीवि इत्यादि स्पर्श, नखाग्र पात, कटाक्ष निक्षेप, परिहास एवं क्रीड़ा के द्वारा वृजाङ्गना गण के प्रेमात्मक काम उद्दीप्त करके उन सब को क्रीड़ा कराने लगे थे।

४२८। इयञ्च श्रीकृष्णचन्द्रस्योज्ज्वल-लीला राससम्बन्धिन्यप्यनन्तत्वेन सम्मता (भा० १०।३३।२५) "एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः" इत्यादौ। अथ सर्वसौभाग्यवतीमूर्द्धमणेः श्रीराधिकायाः सम्बन्धिनीं लीलां वर्णयन्ति, (भा० १०।३०।२७–३४) —

(४२८) "कस्याः पदानि चैतानि यातायाः नन्दसूनुना।
अंसन्यस्त-प्रकोष्ठायाः करेणोः करिणा यथा।।७२३।।
अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः।।७२४।।
धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः।
यान् ब्रह्मेशो रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये।।७२५।।
तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत्।
यैकापहृत्य गोपीनां धनं भुङ्क्तेऽच्युताधरम्। ७२६।।
न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्या नूनं तृणाङ्कुरैः।
खिद्यत्सुजाताङ्घ्रितलामुन्निन्ये प्रेयसीं प्रियः।।७२७।।
इमान्यधिकमग्नानि पदानि वहतो बधूम्।
गोप्यः पश्यत कृष्णस्य भाराक्रान्तस्य कामिनः।
अत्रावरोपिता कान्ता पुष्पहेतोर्महात्मना।।७२८।।

---

४२९। श्रीकृष्ण चन्द्र की यह उज्ज्वल रसमयी लीला रास सम्बन्धिनी होने पर भी भा० १०।३३।२५ में उक्त है—"एवं शशाङ्काशु विराजिता निशाः" इत्यादि श्लोक में शरत् शब्दसे अखण्ड संवत्सर ही कथित हुआ है, तज्जन्य चन्द्र किरण शोभितत्व यहाँ उप लक्षण है, श्रीशुक देव के मत में यह अनन्त हैं, अनन्तर सर्व सौभाग्यवती मुकुटमणि स्वरूपा श्रीराधा की लीला वर्णना करते हैं— भा० १०।३०।२७-३४

(४२९) "कस्याः पदानि चैतानि जातायाः नन्दसूनुना।
असंन्यस्त प्रकोष्ठायाः करेणोः करिणा यथा।
अनया राधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।।७२४।।
धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरणेवः
यान् ब्रह्मेशो रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये।।७२५।।
तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्व्वन्त्युच्चै पदानियत्।
यैकापहृत्य गोपीनां धनं भुङ्क्तेऽच्युताधरम्।।७२६।।
न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्या नूनं तृणाङ्कुरैः।
खिद्यत् सुजाताङ्घ्रितलामुन्निन्ये प्रेयसीं प्रियः।।७२७।।
इमान्यधिकमग्नानि पदानि वहतो बधूम्।
गोप्यः पश्यत कृष्णस्य भाराक्रान्तस्य कामिनः।
अत्रावरोपिता कान्ता पुष्पहेतोर्महात्मना।।७२८।।

अत्र प्रसूनावचयः प्रियार्थे प्रेयसा कृतः।
प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे ॥७२९॥
केशप्रसाधनञ्चात्र कामिन्याः कामिना कृतम्।
तानि चूड़यता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम् ॥७३०॥

अत्र कस्या इति सर्वासां वाक्यम्, 'अनया' इति सुहृदाम्, धन्या इति तटस्थानाम्, तस्या इति प्रतिपक्षाणाम्, न लक्ष्यन्त इति ताः खेदयन्तीनां सखीनाम्, इमानीति तदसहमानानां प्रतिपक्षाणाम्, अत्रावरोपितेति सार्द्धं पुनः सखीनाम्, केशेति पुनः प्रतिपक्षाणामर्द्धम्, तानीति पुनः सखीनामिति ज्ञेयम्,—तन्मिथुनविषयक-तत्तच्छब्द-प्रयोगेण सौहृदादि-व्यञ्जनात्। या तु (भा० १०।३०।२६) "विलोक्यार्त्ताः समब्रुवन्" इति सर्वासामेवार्त्तिरुक्ता, सापि स्वस्योत्कण्ठा-विशेषेण सर्वत्र सङ्गच्छत एव॥ श्रीव्रजदेव्यः॥

तत्र तस्याः श्रीवृन्दावनेश्वर्य्या लीलायां प्राक्प्रदर्शित--(भा० १०।३०।११) "अप्येणपत्नी" इत्यादि-द्वयं चानुसन्धेयम्॥

---

अत्र प्रसूनावचयः प्रियार्थे प्रेयसा कृतः।
प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे ॥७२९॥
केशप्रसाधनञ्चात्र कामिन्याः कामिना कृतम्।
तानि चूड़यता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम् ॥"७३०॥

रास रजनी में विरहिणी व्रजाङ्गना गण श्रीकृष्ण को अनुसन्धान करने में प्रवृत्त होकर तदीय पद चिह्न के सहित श्रीराधा का पदचिह्न को देखकर कही थीं। ये सब पदचिह्न किस के हैं ? हस्तिनी जिस प्रकार हस्ती के सहित गमन करती है, यह सुभागा उसी प्रकार नन्द नन्दन के सहित गई है। श्रीकृष्ण-उस के स्कन्ध में निज बाहु अर्पण किये हैं।

इस के द्वारा भगवान्, हरि, ईश्वर निश्चय ही आराधित हुये हैं। कारण, उस से सन्तुष्ट होकर गोविन्द हम सब को परित्याग करके उसको लेकर निभृतस्थान में चले गये हैं।

श्रीगोविन्द की चरण रेणु लाभकारी व्यक्ति श्रेष्ठ भाग्य सम्पन्न है, ब्रह्मा महेश एवं रमादेवी जिस चरण रेणु का मस्तक में धारण–पाप विनाश हेतु करते हैं।

इस के पद चिह्न समूह हम सब को क्षुब्ध कर रहे हैं, कारण, समस्त गोपिका के भोग्य श्रीकृष्ण का अधरामृत हरण कर एकक भोग कर रही है।

अनन्तर अमिश्रित श्रीकृष्ण पदचिह्न को देख कर कही थीं यहाँ उस सुभगा का पदचिह्न देखने में नहीं आता है। प्रतीत होता है कि– प्रेयसी के चरण सुकोमल तृणाङ्कुर द्वारा खिन्न हो रहा है, देखकर प्रियतम ने उस को स्कन्ध में आरोपण किये हैं।

हे गोपी गण ! देखो, बधू को वहन करते करते कामी कृष्ण–भारा क्रान्ता हुये थे। तज्जन्य यहाँ उनके पदचिह्न समूह गभीर हुये हैं।

कुछ दूर आगे चलकर उन्होंने कहा—

अत्र विस्तरशङ्कातो या या व्याख्या न विस्तृता ।
सा श्रीदशमटिप्पन्यां दृश्या रसमभीप्सुभिः ॥७३१॥

तदेवमनेन सन्दर्भेण शास्त्रप्रयोजनं व्याख्यातम् तथा चैवमस्तु,—

आलीभिः परिपालितः प्रबलितः सानन्दमालोकितः
प्रत्याशं सुमनः फलोदयविधौ सामोदमास्वादितः ।

---

यहाँ पुष्प चयन हेतु वह कान्ता माहात्मा के स्कन्ध से अवरोपिता हुई है ।

यहाँ प्रियतम, प्रिया के निमित्त कुसुम चयन किये हैं। यहाँ के पदचिह्न समूह असम्पूर्ण दृष्ट होते है। पदाग्र भाग केद्वारा दण्डायमान हुये हैं। इस प्रकार अनुमित होता है। देखो सखि ! यहाँ कामी कृष्ण, उस कामिनी का केश प्रसाधन किये थे। एवं उस कुसुम समूह के द्वारा उसकी चूड़ा रचना हेतु यहाँ निश्चय ही उपवेशन किये थे।

यहाँ 'कस्याः पदानि' श्लोक, समस्त व्रजसुन्दरी उक्ति है। 'अनया' श्लोक – सुहृद् वृन्द की उक्ति है। 'धन्या अहो' श्लोक--तटस्था वृन्द की उक्ति है, "तस्याः। श्लोक-प्रतिपक्ष गण का है। 'न लक्ष्यन्त' श्लोक--खेद कारिणी सखी वृन्द का है। इमानि अधिक मग्नानि' श्लोक--जिनके पक्ष में राधा का उक्त सौभाग्य असह्य है, उन प्रतिपक्षा गण की उक्ति है। "अत्रावरोपिता" "अत्र प्रसूनावचनः प्रियार्थे प्रेयसा कृतः। प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे ॥" यहाँ पर प्रियतम, प्रिया के निमित्त कुसुम चयन किये थे। अत्रत्य पदचिह्न समूह असम्पूर्ण देखने में आते हैं। पदाग्र भाग के द्वारा खड़े थे--यह अनुमित होता है। यह उक्ति सखी गणों की है। "केश प्रसाधनञ्चात्र कामिन्याः कामिनाकृतम्" देखो सखि ! यहाँ कामी कृष्ण, उस कामिनी के केश प्रसाधन किये थे' यह उक्ति प्रतिपक्षागण की है। "तानिचूड़यता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम्" उस कुसुम समूह को द्वारा उस की चूड़ा रचना हेतु निश्चय ही यहाँ उपवेशन किये थे। यह उक्ति सखी वृन्द की है।

उक्त स्त्री पुरुष के सम्बन्ध में अर्थात् राधाकृष्ण के सम्बन्ध में जो सब शब्द प्रयोग हुये हैं, उस के द्वारा उन सब के सौहृदादि व्यक्त हुये हैं।

भा० १०।३०।२६ में उक्त है—

"रुतैस्तैः पदैस्तत् पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः ।
बध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्त्ताः समब्रुवन् ॥',

"बधू के पद चिह्न के सहित श्रीकृष्ण के पद चिह्न समूह को देखकर दुःखित होकर कही थीं' इस वाक्य में सब की आर्त्ति की जो कथा कही गई है, वह उत्कण्ठा विशेष हेतु सुहृदादि सब के पक्ष में ही सङ्गत है।

श्रीव्रजदेवी वृन्द बोली थीं—४२६॥

उक्त विषय में अर्थात् आर्त्ति विषय में, श्रीवृन्दावनेश्वरी की लीला के पूर्व में प्रदर्शित भा० "अप्येण पत्नी" इत्यादि श्लोक का अनुसन्धान करना आवश्यक है।

"अत्र विस्तरशङ्कातो या या व्याख्या न विस्तृता ।
सा श्रीदशमटिप्पन्यां दृश्या रसमभीप्सुभिः ॥७३१॥

ग्रन्थ विस्तार के भय से यहाँ पर जो जो व्याख्या विस्तृत रूप से नहीं की गई हैं, रस लिप्सु व्यक्ति उन सब व्याख्याओं का अवलोकन--श्रीमद् भागवत के दशम स्कन्ध की वैष्णव तोषणी टीका में करें।

वृन्दारण्यभुवि प्रकाशमधुरः सर्वातिशायि-श्रिया
राधामाधवयोः प्रमोदयतु मामुल्लासकल्पद्रुमः ॥७३२॥
तादृशभावं भावं, प्रथयितुमिह योऽवतारमायातः ।
आदुर्जनगणशरणं, स जयति चैतन्यविग्रहः कृष्णः ॥७३३॥

इति कलियुगपावन-स्वभजन-विभजन-प्रयोजनावतार-श्रीश्रीभगवत्कृष्ण-चैतन्यदेव-चरणानुचर-विश्ववैष्णव-राजसभा-सभाजन-भाजन-श्रीरूप-सनातनानुशासन-भारतीगर्भे

षट्सन्दर्भात्मके

## श्रीश्रीभागवतसन्दर्भे श्रीश्रीप्रीतिसन्दर्भो
## नाम षष्ठः सन्दर्भः ॥

श्रीभागवतसन्दर्भे सर्व-सन्दर्भगर्भगे ।
प्रीत्याख्यः षष्ठसन्दर्भः समाप्तिमिह सङ्गतः ।

## समाप्तोऽयं षष्ठः श्रीश्रीप्रीतिसन्दर्भः ॥

मूलम्—४२९, लेख्याः ४३०० श्लोकाः

## सम्पूर्णोऽयं ग्रन्थः ॥

---

इस रीति से प्रीति सन्दर्भ के द्वारा शास्त्र प्रयोजन कथित हुआ है । वह है—

"आलीभिः परिपालितः प्रबलितः सानन्दमालोकितः
प्रत्याशं सुमनः फलोदयविधौ सामोदमास्वादितः ।
वृन्दारण्यभुवि प्रकाशमधुरः सर्वातिशायि--श्रिया
राधामाधवयोः प्रमोदयतु मामुल्लासकल्पद्रुमः ॥७३३॥

वृन्दावन भूमि में मधुर प्रकाश शील राधामाधव के उल्लास कल्पद्रुम का परिपालन पुष्प फलोदय की आशा से सखी वृन्द करती रहती हैं, वृद्धि करती हैं, एवं आनन्द से निरीक्षण तथा आमोद के सहित आस्वादन कर रही हैं, वह सर्वाति शायी सौन्दर्य्य के द्वारा मुझ को प्रमोदित करे

"तादृशभावं भावं, प्रथयितुमिह योऽवतारमायातः ।
आदुर्जनगणशरणं, स जयति चैतन्यविग्रहः कृष्णः ॥७३३

तादृश भावमयी भक्ति विस्तार करने के निमित्त इस जगत् में जो आगमन किये थे, जो--दुर्ज्जन पर्य्यन्त समस्त जन गण के आश्रय हैं, उन चैतन्य विग्रह कृष्ण की---अर्थात् श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु की जय हो ।

—※—

कलियुग पावन जो निज भजन, उस को प्रदान करने के निमित्त जो भगवान् श्रीकृष्ण चैतन्य देव अवतीर्ण हुये थे—उनके चरणानुचर एवं विश्व वैष्णव राज सभा के पूज्य पात्र जो श्रीरूप सनातन हैं उनकी उपदेश वाणी जिस में वर्त्तमान है—उस श्रीभागवत सन्दर्भ में प्रीति सन्दर्भ नामक यह षष्ठ सन्दर्भ है ।

समस्त सन्दर्भ जिस में है, उस श्रीभागवत सन्दर्भ के मध्य में यह प्रीत्याख्य षष्ठ सन्दर्भ है । वह यहाँ समाप्त हुआ । मूलम्—४२९, लेख्याः ४३०० श्लोकाः सम्पूर्णोऽयं ग्रन्थः ।

| | | |
|---|---|---|
| तत्त्वसन्दर्भस्य मूलम्–२५ | श्लोकाः। | लेख्याः–४३५ श्लोकाः॥ |
| भागवत सन्दर्भस्य मूलम्–११२ | श्लोकाः। | लेख्याः–२७४० श्लोकाः। |
| परमात्मसन्दर्भस्य मूलम्–१०८ | श्लोकाः। | लेख्याः–२७५८ श्लोकाः। |
| श्रीकृष्ण सन्दर्भस्य मूलम्–१८६ | श्लोकाः। | लेख्याः–३१७५ श्लोकाः। |
| भक्ति सन्दर्भस्य मूलम्–३४० | श्लोकाः। | लेख्याः–४६२६ श्लोकाः। |
| प्रीतिसन्दर्भस्य मूलम्–४२६ | श्लोकाः। | लेख्याः–४३०० श्लोकाः॥ |

—*—

भूदेव कुलजातेन श्रीभूगर्भानुयायिना
हरिदासेन शास्त्रिणा कृता टीका विनोदिनी ॥
नेत्र वेद वियत्पक्षे आषाढ़े रविवासरे ।
वृन्दारण्येऽसितेपक्षे ग्रन्थोऽयं पूर्णतां गतः ॥

—*—

श्रीगुरवे नमः

